श्रीमद् राजचंद्र

(मूल गुजरातीका हिंदी अनुवाद)

जिसने आत्माको जाना उसने सब जाना ।

—निर्ग्रंथ प्रवचन

अनुवादक

हंसराज जैन

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम

अगास

प्रकाशक
मनुभाई भ० मोदी, अध्यक्ष
श्रीमद् राजचद्र आश्रम,
स्टे० अगास, पो० बोरिया-३८८१३०
वाया-आणद (गुजरात)

ॐ

अहो !

सर्वोत्कृष्ट शात रसमय सन्मार्ग-

अहो !

उस सर्वोत्कृष्ट शात रसप्रधान मार्गके

मूल सर्वज्ञदेव,—

अहो !

उस सर्वोत्कृष्ट शातरसको जिन्होंने सुप्रतीत कराया

ऐसे परमकृपालु सद्गुरुदेव—

इस विश्वमें सर्वकाल

आप

जयवत रहे, जयवत रहे ।

—सस्मरण पोथी ३।२३

द्वितीय सस्करण
प्रतियाँ ३२००
ईस्वी सन् १९८५
विक्रम सवत् २०४१
वीर सवत् २५१०

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल,
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी

श्रीमद् राजचंद्र विचाररत्न

"परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखधाम।
जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम॥" —आक २६६

★

"सर्व भावथी औदासीन्यवृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो॥
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?" —आक ७३८ गाथा २

★

"जिसके एक रोममे किंचित् भी अज्ञान, मोह या असमाधि नही रहो उस सत्पुरुषके वचन और बोधके लिये कुछ भी नही कहते हुए, उसीके वचनमे प्रशस्तभावसे पुनः पुनः प्रसक्त होना, यह भी अपना सर्वोत्तम श्रेय है।

कैसी इसकी शैली! जहाँ आत्माके विकारमय होनेका अनंताश भी नही रहा है। शुद्ध, स्फटिक, फेन और चद्रसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यानकी श्रेणीसे प्रवाहरूपसे निकलते हुए उस निर्ग्रंथके पवित्र वचनोकी मुझे और आपको त्रिकाल श्रद्धा रहे !

यही परमात्माके योगबलके आगे प्रयाचना !" —आक ५२

★

"अनन्तकालसे जो ज्ञान भवहेतु होता था, उस ज्ञानको एक समयमात्रमे जात्यंतर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप किया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार।" —आक ८३९

★

"जगतके अभिप्रायकी ओर देखकर जीवने पदार्थका बोध पाया है। ज्ञानीके अभिप्रायकी ओर देखकर पाया नही है। जिस जीवने ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाया है उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है।" —आक ३५८

★

"विचारवानको देह छूटने सम्बन्धी हर्षविषाद योग्य नही है। आत्मपरिणामकी विभावता ही हानि और वही मुख्य मरण है। स्वभावसन्मुखता तथा उसकी दृढ इच्छा भी उस हर्षविषादको दूर करती है।" —आक ६०५

★

"श्री सद्गुरुने कहा है ऐसे निर्ग्रंथमार्गका सदैव आश्रय रहे।

मैं देहादिस्वरूप नहीं हूँ, और देह, स्त्री, पुत्र आदि कोई भी मेरे नही है, शुद्ध चैतन्य स्वरूप, अविनाशी ऐसा मै आत्मा हूँ, इस प्रकार आत्मभावना करते हुए रागद्वेषका क्षय होता है।" —आक ६९२

★

"अनन्तबार देहके लिये आत्माका उपयोग किया है। जिस देहका आत्माके लिये उपयोग होगा उस देहमे आत्मविचारका आविर्भाव होने योग्य जानकर, सर्व देहार्थकी कल्पना छोडकर, एकमात्र आत्मार्थमे ही उसका उपयोग करना, ऐसा निश्चय मुमुक्षुजीवको अवश्य करना चाहिये।" —आक ७१९

★

"विषयमे जिसकी इद्रियाँ आर्त्त है उसे शीतल आत्मसुख, आत्मतत्त्व कहाँसे प्रतीतिमे आयेगा ?
'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि वहा सर्वोत्कृष्ट सिद्धि।'
हे आर्यजनो ! इस परम वाक्यका आत्मभावसे आप अनुभव करे।" —आक ८३२

★

"लोकसंज्ञा जिसकी जिदगीका लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे जैसी श्रीमंतता, सत्ता या कुटुम्ब परिवार आदिके योगवाली हो तो भी वह दु खका ही हेतु है। आत्मशाति जिस जिंदगीका लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे तो एकाकी, निर्धन और निर्वस्त्र हो तो भी परम समाधिका स्थान है।" —आक ९४९

★

"श्रीकृष्ण महात्मा थे और ज्ञानी होते हुए भी उदयभावसे ससारमे रहे थे, इतना जैन शास्त्रसे भी जाना जा सकता है, और यह यथार्थ है; तथापि उनकी गतिके विषयमे जो भेद बताया है उसका भिन्न कारण है। और भागवत आदिमे तो जिन श्रीकृष्णका वर्णन किया है वे तो परमात्मा ही है। परमात्माकी लीलाको महात्मा कृष्णके नामसे गाया है। और इस भागवत और इस कृष्णको यदि महापुरुषसे समझ ले तो जीव ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह बात हमे बहुत प्रिय है।" —आक २१८

★

"सबकी अपेक्षा वीतरागके वचनको सपूर्ण प्रतीतिका स्थान कहना योग्य है, क्योंकि जहाँ राग आदि दोषोका सपूर्ण क्षय होता है वहाँ संपूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होना योग्य है ऐसा नियम है।

श्री जिनेन्द्रमे सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता होना संभव है, क्योकि उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस किसी पुरुषमे जितने अशमे वीतरागताका सभव है, उतने अशमे उस पुरुषका वाक्य मानने योग्य है।" —सस्मरण पोथी १/६१

★

"जैसे भगवान जिनेन्द्रने निरूपण किया है वैसे ही सर्व पदार्थका स्वरूप है।
भगवान जिनेन्द्रका उपदिष्ट आत्माका समाधिमार्ग श्री गुरुके अनुग्रहसे जानकर, परम प्रयत्नसे उसकी उपासना करे।" —सस्मरण पोथी २/२१

★

"सर्व प्रकारसे ज्ञानीकी शरणमें बुद्धि रखकर निर्भयताका, शोकरहितताका सेवन करनेकी शिक्षा श्री तीर्थंकर जैसोने दी है, और हम भी यही कहते हैं। किसी भी कारणसे इस संसारमें क्लेशित होना योग्य नही है। अविचार और अज्ञान ये सर्व क्लेशके, मोहके और अशुभगतिके कारण है। सद्विचार और आत्मज्ञान आत्मगतिके कारण हैं।" —आक ४६०

★

श्रीमद् राजचन्द्र

७ अवस्था

प्रकाशकीय निवेदन

'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थ मूल गुजराती भाषामें है। इसका प्रथम हिन्दी अनुवाद प० जगदीशचन्द्र शास्त्री, एम० ए० कृत विक्रम संवत् १९८४ (ई० सन् १९३८) मे श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित हुआ था जो काफी समयसे अप्राप्य था। इस दौरान 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थका गुजरातीमें नवीन संशोधित परिवर्धित संस्करण वि० स० २००७ मे इसी आश्रम द्वारा प्रकाशित हुआ जिसका हिन्दी अनुवाद स्वतंत्र रूपसे करनेकी आवश्यकता थी।

प्रसगवशात् ललितपुरके प० परमेष्ठीदास जैनका आश्रममे आना हुआ। उनकी भावना एवं उत्साह देखकर उन्हे अनुवादका काम सौपा गया। उन्होने आक ३७५ तक अनुवाद किया भी, परन्तु बादमे शारीरिक अस्वस्थताके कारण वे स्वेच्छासे इस अनुवादकी जिम्मेदारीसे मुक्त हुए। उसी अरसेमे संयोगवश श्री हसराजजी जैनका परिचय हुआ और अनुवाद पूरा करनेके लिये उनसे कहा गया जिसे उन्होंने सहर्ष एव सोत्साह मान्यकर, दृढ निष्ठा एव बडे परिश्रमसे यह कार्य यथासम्भव शीघ्र ही पूरा कर दिया। संस्कृतमे एम० ए० होनेसे उनका संस्कृत भाषाका ज्ञान अच्छा था और मूल पजाबी होते हुए भी बरसोसे गुजरातमे रहनेसे उनका गुजराती भाषाका ज्ञान भी प्रशस्त था। इस प्रकार वि० स० २०३० मे इस ग्रन्थका सशोधित-परिवर्धित प्रथम हिन्दी संस्करण श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमके अन्तर्गत श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डलकी ओरसे दो भागोंमे प्रगट हुआ।

तत्पश्चात् सभी प्रतियाँ बिक जानेसे इसके पुनर्मुद्रणकी आवश्यकता प्रतीत हुई परन्तु शीघ्र मुद्रणके कारण प्रथम संस्करणमे काफी अशुद्धियाँ रह गई थी तथा अमुक जगह वाक्यांश छूट गये थे अतः अनुवादको फिरसे मूलके साथ मिलान करना अत्यन्त जरूरी था। सद्भाग्यसे दो-तीन मुमुक्षुओने यह कार्य हाथमे लिया और सम्पूर्ण ग्रन्थको यथासम्भव शुद्ध कर दिया। उसीका परिणाम है कि आज हिंदी-भाषी मुमुक्षुओंके समक्ष वि० स० २००७ के आश्रम प्रकाशित गुजराती संस्करणके अनुसार ही यह द्वितीय हिन्दी संस्करण श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमकी ओरसे प्रस्तुत हो रहा है। सन्दर्भकी दृष्टिसे दो भागके बदले एक ही भागमे ग्रन्थ मुद्रित करना योग्य लगनेसे वैसा किया है।

प्रथम संस्करणकी तरह इसमे भी मूल गुजराती काव्योंके भावार्थ (छायामात्र अर्थ) पादटिप्पणीमे दिये हैं जिससे हिन्दीभाषी जिज्ञासु उन काव्योका सामान्य अर्थ समझ सके। विशेषार्थके जिज्ञासुओंको "नित्यनियमादि पाठ (भावार्थ सहित)" का हिन्दी अनुवाद देखनेका अनुरोध है।

अन्तमे लिखना है कि अनुवाद अनुवाद ही होता है, वह मूलकी समानता कभी नही कर सकता। यथासम्भव शुद्ध करनेका पूरा प्रयास करने पर भी कही पर आशय-भेद (अर्थस्खलना) हुआ हो अथवा त्रुटियाँ रह गई हों तो पाठकगण हमारे ध्यानमे लानेकी कृपा करें ताकि भविष्यमे उन्हें शुद्ध किया जा सके।

ग्रंथका विशेष परिचय न देकर मूल गुजराती प्रथम एवं द्वितीय संस्करणकी प्रस्तावनाओंका हिन्दी-रूपान्तर ही दे दिया है जिससे ग्रन्थकर्ता, ग्रन्थका विषय तथा ग्रन्थकी संकलना एवं उसका आधार इत्यादिका परिचय मिल ही जाता है।

यह आत्मश्रेयसाधक ग्रन्थ मुमुक्षुबन्धुओको आत्मानन्दकी साधनामे सहायक सिद्ध हो यही प्रार्थना।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
चैत्र वदी ५ स० २०४१

—प्रकाशक

प्रथमावृत्तिका निवेदन

(हिन्दी-रूपान्तर)

"जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत।
समजाव्यु ते पद नमु, श्री सद्गुरु भगवंत॥" —आत्मसिद्धि, दोहा १

अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम !
सुषुप्त चेतनको जागृत करनेवाले,
गिरती वृत्तिको स्थिर रखनेवाले,
दर्शनमात्रसे भी निर्दोष अपूर्व स्वभावके प्रेरक,
स्वरूपप्रतीति, अप्रमत्त संयम और
पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणभूत,
अन्तमें अयोगी स्वभाव प्रगट करके,
अनंत अव्याबाध स्वरूपमें स्थिति करानेवाले !
त्रिकाल जयवंत रहे ! —आंक ८७५

"... हम ऐसा ही जानते हैं कि एक अंश सातासे लेकर पूर्णकामता तककी सर्व समाधिका कारण सत्पुरुष ही है।" —आंक २१३

आत्माके अस्तित्वका किसी भी प्रकारसे स्वीकार करनेवाले दर्शनोंके सभी महात्मा इस बातको मानते हैं कि यह जीव निजस्वरूपके अज्ञानसे, भ्रांतिसे अनादिकालसे इस संसारमें भटक रहा है और अनेक प्रकारके अनंत दुःखोंका अनुभव कर रहा है। उस जीवको किसी भी प्रकारसे निजस्वरूपका भान कराकर शुद्धस्वरूपमें स्थिति करानेवाला यदि कोई हो तो वह मात्र एक सत्पुरुष और उनकी बोधवाणी है।

जिस पुण्यश्लोक महापुरुषके आत्मोपकारकी पुनीत स्मृति श्रीमान् लघुराजस्वामीको इस श्रीमद् राजचंद्र आश्रमके नामसंस्करणमें हेतुभूत हुई—ऐसी समीपवर्ती परम माहात्म्यवान विभूति श्रीमद् राजचंद्रके सर्व पारमार्थिक प्राप्त लेखोंका यह संग्रह-ग्रन्थ श्रीमद् राजचंद्र आश्रमकी ओरसे प्रसिद्ध करनेकी दीर्घकालसेवित शुभ भावना आज साकार होनेसे हृदय आनंदसे भर उठता है। सर्व साधकादिको यह अक्षरदेह आत्मश्रेय साधनाका एक सत्य साधन सिद्ध हो यही हार्दिक अभिलाषा है।

जिन महापुरुषके वचनोंका यह ग्रन्थ संग्रह है उन श्रीमद् राजचंद्र जैसे परम उत्कृष्ट कोटिके शुद्धात्माके बारेमें लिखते हुए अपनी अयोग्यताके कारण क्षोभ हुए बिना नहीं रहता। इस ग्रंथमें संग्रहित पत्रोंमें अपने अंतरंग अनुभव, आत्मदशा, कर्म उदयकी विचित्रतामें भी अंतरंग आत्मवृत्तिकी स्थिरता और अन्य अनेक गहन विषयों संबंधी सहज, सरल भाववाही भाषामें उन्होंने स्वयं ही अपना मंथन और नवनीत प्रगट किया है। विपरीत कर्मसंयोगोंमेंसे निज शुद्ध स्वरूपस्थितिकी ओर गमन करते हुए, अंतरमें प्रज्वलित आत्मज्योतके प्रकाशको मंद न होने देते हुए, इस आत्मप्रकाशके प्रकाशसे बाह्यजीवनको उज्ज्वल

करता हुआ अद्‌भुत जीवनदर्शन दृष्टिगोचर होता है। उनके लेख निर्भयतासे, निर्दंभतासे स्वानुभूत परम-सत्यका निरूपण करते है।

छोटी आयुमे ही जातिस्मरणज्ञानकी प्राप्ति, आश्चर्यकारी तीव्र स्मरणशक्ति, शतावधान जैसे एकाग्रता और स्मरणशक्तिके विरल प्रयोग, साक्षात् सरस्वतीकी उपाधिसे सन्मानित सहज काव्यस्फुरणा (कला) आदि पूर्व जन्मके उत्कट आत्मसंस्कारोकी झांकी कराते है।

कृष्णादि अवतारोमे भक्ति तथा प्रीति, फिर जैनसूत्रोंकी प्रियता और मुक्तिमार्गमे एक साधनरूप मूर्तिकी उपयोगिता—इनकी जिस तरह सत्य प्रतीति इन्हे हुई उसी तरह उन्हे सरलतासे माना और प्ररूपित किया। अन्य दर्शनोकी अपेक्षा श्री वीर आदि वीतराग पुरुषों द्वारा प्ररूपित वीतराग दर्शन ज्यादा प्रमाणयुक्त और प्रतीति-योग्य लगा, ऐसा 'मोक्षमाला' मे दर्शनाभ्यासकी तुलनात्मक शैलीसे प्रगट किया है।

निज अनुभवकी परिपक्व विचारणाके फलस्वरूप प्राप्त सत्यदर्शनको अपनानेमे महापुरुष जितने तत्पर होते है उतने ही उसे पकड रखनेमे दृढ होते हैं। अत इसमे विघ्न करनेवाले सभी दोषोंका नाश करनेके लिये ये उतने ही तत्पर और दृढ पुरुषार्थी होते है। हम श्रीमद्‌जीके जीवनमे देखते है कि जो कर्मबध किया है उसे भोगनेके लिये वे दीर्घकाल तक धैर्य धारण करते है, परन्तु उनका हृदय आत्मवृत्ति-की असमाधि समयमात्र भी सहन करनेके लिये तैयार नही है, इतना ही नही किन्तु असमाधिसे प्रवृत्ति करनेकी अपेक्षा वे देहत्याग उचित मानते है। (आक ११३)

इसी आत्मवृत्तिके कारण, अपनेको पर्याप्त ज्योतिषज्ञान होनेपर भी (आक ११६/७) वह परमार्थ-मार्गमे कल्पित लगनेसे, तथा शतावधान जैसे विरल प्रयोगोमे प्राप्त लोगोका आदर और प्रशसा आदि कि जिसे पानेके लिये जगतके जीव आकाश-पाताल एक कर देते है, वह भी आत्ममार्गमे अविरोधी न लगनेसे, उनका त्याग करते हुए उन्हे अशमात्र भी रज नही होता।

गृहस्थभावमे बाह्यजीवन जीते हुए, अतरग निर्ग्रंथभावसे अलिप्त रहते हुए, इस ससारमे प्राप्त होनेवाली अनेक उपाधियाँ सहन करनेमे अतरात्मवृत्तिका भूले बिना कैसी धीरज, कैसी आत्मविचारणा और पुरुषार्थमय तीक्ष्ण उपयोगदृष्टि रखी है यह उनके कई पत्रोमे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है जो आत्मश्रेय-साधकके लिये एक ज्वलन्त दृष्टातरूप है।

सत्पुरुषोका जीवन आत्माकी अतरविशुद्धि पर अवलबित होनेसे, जब तक जीवकी अतर्दृष्टि खुली न हो तब तक उसे पहचान होना दुर्घट है; इसलिये सत्पुरुषकी पहचान उनके बाह्यजीवन और प्रवृत्तिसे हो या न भी हो। यद्यपि उनके अंतरमे आविर्भूत आत्मज्योति तो उनके प्रत्येक कार्यमे झलकती है ही परन्तु जगतके जीवोको आत्मलक्ष्य न होनेसे इस ज्योतिके दर्शनकी अंतर्दृष्टि उनमे नही होती। यह सत्य, है कि यदि महापुरुष स्वय अपनी अतरगदशाके बारेमे न बताते तो अन्य जीवोको महापुरुषोकी पहचान होना दुर्लभ ही होता। (आक १८) आत्मानुभवी पुरुषके बिना कोई यथार्थरूपसे आत्मकथन नही कर सकता। अनुभवहीन वाणी आत्मा प्रगट करनेमे समर्थ नही होती। जब तक आत्मलक्ष्य नही होता तब तक आत्मप्राप्ति स्वप्नवत् है इसमे आश्चर्य नही है।

अपनी अंतरंगदशाके बारेमे उल्लेख करते हुए श्रीमद्‌जी लिखते हैं—"नि सदेहस्वरूप ज्ञानावतार है और व्यवहारमे रहते हुए भी वीतराग है।" (आक १६७) "आत्माने ज्ञान पा लिया यह तो नि.संशय है; ग्रंथिभेद हुआ यह तीनो कालमे सत्य बात है।" (आक १७०) "अविषमतासे जहाँ आत्मध्यान रहता है ऐसे 'श्री रायचद्र' के प्रति बार-बार नमस्कार करते हैं।" (आक ३७६) "हममे मार्गानुसारिता कहना

संगत नही है। अज्ञानयोगिता तो जबसे इस देहको धारण किया तभीसे नही होगी ऐसा लगता है। सम्यक्‌दृष्टिपन तो जरूर सम्भव है।" (आक ४५०)—इत्यादि अपनी अतरदशा संबधी अनेक उल्लेख कई पत्रामे दृष्टिगोचर होते है। स्वय अपने बारेमे ऐसा क्यो कहा ? ऐसा विकल्प, श्रीमद्‌जी जैसे उच्च कोटि-के आत्माके लिये, अनुचित है। परन्तु जैसा कि पहले कहा है कि सत्यनिरूपणके लिये यह जरूरी है, जिससे उनकी सच्ची पहचान हो और परमार्थप्रेमी जिज्ञासु जीव उनके वचनोकी आराधना करके त्रिविध तापाग्निको शात कर सके।

श्रीमद्‌जीके साहित्यमे, जैन, वेदात आदि संप्रदायोके ग्रथोका विशाल वाचन, निदिध्यासन और अपने अंतरमे ओतप्रोत आत्मानुभवका प्रवाह सहज बहता है। आत्मसमाधिके लिये जैसे उनका सारा जीवन है, वैसे ही मात्र परमार्थ कहनेके लिये उनका साहित्य है।

धर्म-प्रवर्तन करनेकी तीव्र करुणाबुद्धि होने पर भी (आक ७०८) अपनी उस कार्यकी योग्य तैयारी न होनेसे परम सयमितभावमे उस भावनाको अपनेमे समाविष्ट कर देनेकी शक्ति—उनके अंतरकी, प्रवृत्ति-की और लेखनकी सत्यता प्रगट करती है।

आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके बिना जगतके जीवोके दुःखोका अत आनेवाला नही है आत्मा जिन्होने जाना है ऐसे सत्पुरुषके सत्सगके बिना, उनकी आज्ञाके आराधनके बिना आत्मप्राप्ति होनेवाली नही है—ऐसा कहकर बारबार सत्पुरुष और सत्सगकी आराधना करनेके लिए बलपूर्वक कहा है। सत्सग और सत्पुरुषके आज्ञाराधनमे विघ्नरूप मिथ्याग्रह, स्वच्छद, इंद्रियविषय, कषाय, प्रमाद आदि दोषोका त्याग करनेके लिये भी उतने ही बलपूर्वक कहा है। फिर भी इस कालके जीवोकी वीर्यहीनता तथा अनारा-धकता देखकर सत्संगका ही उत्कटरूपसे वर्णन किया है।

आत्मप्राप्तिमे एक बडा विघ्न मतमतातर है। मताग्रह दूर करनेके लिये वे अपने प्रसगमे आनेवाले मुमुक्षुओको वेदात, जैन आदि भिन्न भिन्न सप्रदायोके ग्रथ पढनेका अनुरोध करते है। उनके विचारो और पत्रोमे जैन और वेदात—दोनो शैलीका दर्शन होता है। अपना अतर अनुभव प्रगट करनेके लिये उन्होने दोनो शैलीका उपयोग किया है। साथ ही यह भी स्पष्ट बनाया है कि जैन या वेदातका आग्रह मोक्षका कारण नही है, परन्तु जिस प्रकारसे आत्मा आत्मभावको प्राप्त हो वही मोक्षका साधन है। वह परमतत्त्व परमसत्, सत्, परमज्ञान, आत्मा, सर्वात्मा, सत्-चित्-आनंद, हरि, पुरुषोत्तम, सिद्ध, ईश्वर आदि अनत नामोमे कहा गया है। (आक २०९) "मै किसी गच्छमे नही हूँ, परन्तु आत्मामे हूँ, इसे न भूलियेगा।" (आक ३७) तात्पर्य कि परमार्थ-वाचन आत्मा जाननेके लिये है, आत्माको बधन होनेके लिये नही है।

"बंध-मोक्षकी यथार्थ व्यवस्था कहने योग्य यदि किसीको हम विशेषरूपसे मानते हो तो वे श्री तीर्थंकरदेव है।" (आक ३२२) यो लिखकर उन्होने श्री तीर्थंकरके वचनोकी सत्यताकी अपनी आत्मानुभव-जन्य अंतर प्रतीति प्रगट की है।

इसके अतिरिक्त उन्होने अनेक गूढ प्रश्नोके भी सरल अर्थ समझाये है, और अपने आत्मानुभवके बलसे केवलज्ञानकी व्याख्या, अधिष्ठान आदिके संबधमे, तथा इस कालमे मोक्ष नही होता, क्षायिक सम्यक्त्व नही होता इत्यादि मान्यताओके संबंधमे आत्महितकारी स्पष्टीकरण किये है।

सोलह वर्षकी लघु वयमे तीन दिनमे "मोक्षमाला" जैसी विविध विषयोका शास्त्रोक्त विवेचन करनेवाली १०८ शिक्षापाठयुक्त उत्तम पुस्तक लिखना; और सभी शास्त्रोके निचोड़रूप आत्मज्ञानप्राप्तिका

सरल, सत्य और अचूक मार्ग दिखानेवाला १४२ दोहोंका "आत्मसिद्धिशास्त्र" मात्र डेढ घंटेमें चाहे जहाँ, चाहे जिस स्थितिमे लिखना—यह गूढ और गहन आत्मज्ञानका विषय उन्हे कैसा हस्तामलकवत् था इसका सहज सूचन करता है।

'धन्य रे दिवस आ अहो !' (स्मरण पोथी १/३२) और 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?' (आक ७३८) इत्यादि काव्योमे श्रीमद्‌जीने अपनी अंतर्दशा और भावना सुवाच्यरूपमे प्रगट की है।

श्रीमद्‌जीके जीवनप्रसगोमे सर्वोच्च प्रामाणिकता, सत्यनिष्ठा, नीतिमत्ता, अन्यको लेशमात्र भी दुभानेकी अनिच्छा और अनुकपा आदि अनेक अनुकरणीय गुणोंका स्वाभाविक दर्शन होता है। ऐसे प्रसंग तथा विस्तृत जीवन जाननेके लिये इस आश्रमसे प्रकाशित '[1]श्रीमद् राजचंद्र जीवनकला' नामकी पुस्तक पढनेका अनुरोध करता हूँ।

श्रीमद्‌जीके हस्ताक्षरोका एक लघु ग्रथ 'श्री सद्‌गुरु प्रसाद' के नामसे इस आश्रमकी ओरसे प्रकाशित हुआ है। उस ग्रथकी प्रस्तावनामे श्रीमद्‌जीके वचनोके बारेमे परमकृपालु मुनिवर्य महात्मा श्री लघुराजस्वामीने जो लिखा है वह इस ग्रथके पाठकोको उपकारक होनेसे यहाँ देता हूँ—

"परम माहात्म्यवान सद्‌गुरु श्रीमद् राजचद्र देवके वचनोंमे जिसे तल्लीनता, श्रद्धा हुई है या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमे मोक्ष पाने योग्य है ऐसी अतरग प्रतीति—विश्वास होनेसे मुझे सद्‌गुरुकृपासे प्राप्त हुए वचनोंमेसे यह संग्रह 'श्री सद्‌गुरु प्रसाद' के नामसे प्रकाशित किया गया है। इसमेके पत्र तथा काव्य सरल भाषामे होते हुए भी गहन विषयोकी समृद्धिसे भरपूर है, अत अवश्य मनन करने योग्य है, भावना करने योग्य है, अनुभव करने योग्य है।

लघु कद होने पर भी श्री सद्‌गुरुके गौरवसे गौरवान्वित यह 'श्री सद्‌गुरु प्रसाद' सर्व आत्मार्थी जीवोको मधुरताका आस्वाद करायेगा, तत्त्वप्रीतिरसका पान करायेगा और मोक्षरुचिको प्रदीप्त करेगा। मुझे तो उनके हस्ताक्षर और मुद्रासहित यह ग्रथ देखकर वृद्धको लकड़ीकी तरह आधार, उल्लासपरिणाम-के कारण, प्राप्त हुआ है।'

श्रीमद्‌जीकी विद्यमानतामे ही उनके परमभक्त खभातवासी भाई श्री अबालाल लालचदने, श्रीमद्‌जी की अनुमतिसे, मुमुक्षुओको लिखे गये पत्र तथा अन्य लेखोका सग्रह किया था और उसमेसे श्री अबालाल-भाईने परमार्थ सबधी लेखोका एक पुस्तक तैयार की थी जिसे खुद श्रीमद्‌जीने जाँच ली थी और अपने हाथसे कुछ शुद्धि-वृद्धि की थी।

यह संशोधित मूल पुस्तक श्रीमद्‌जीके हस्ताक्षरके मूल पत्र, जो मूल पत्र मुमुक्षुओने वापिस माग लिये थे उन पत्रोंकी नकले, तथा अन्य लेखोकी हस्तलिखित नकले—इत्यादि जो-जो साहित्य श्री अबा-लालभाईने संग्रहित किया था वह सारा साहित्य श्री परमश्रुत प्रभावक मडलको सौप दिया गया है।

इस श्री परमश्रुत प्रभावक मडलकी स्थापना श्रीमद्‌जीने अपनी विद्यमानतामे सवत् १९५६ मे श्री वीतरागश्रुतके प्रकाशन तथा प्रचारके लिये की थी। यह मडल आज भी श्री वीतरागश्रुतके प्रकाशनका सुदर कार्य कर रहा है। इस श्री परमश्रुत प्रभावक मडलने इस श्रीमद् राजचद्र वचनामृतका प्रथम सस्करण वि० सवत् १९६१ मे प्रकट किया था और द्वितीय सस्करण वि० सवत् १९८२ मे प्रगट किया था जिसमे बहुत-कुछ अप्रगट साहित्यका समावेश कर दिया गया था। श्रीमद्‌जीके लेख गुजराती भाषामे होते हुए भी दोनो सस्करण महत्तादर्शक नागरी लिपिमे मुद्रित किये गये थे। श्री परमश्रुत प्रभावक मडलने

१. इसका हिंदी अनुवाद भी प्रकट हो चुका है।

यह सारा वचनामृत हिंदी भाषामे अनुवादित करा कर वि० संवत् १९९४ मे प्रकट किया था जिसमे अनुवादक पं० श्री जगदोशचंद्र शास्त्रीने श्रीमद्‌जीके जीवन और विचारो संबंधी विस्तृत विवेचन किया है।

इस संस्करणके संबंधमें :—

श्रीमद्‌जीके अनन्य उपासक, परम भक्तिमान श्री लघुराजस्वामीके आश्रयमे स्थापित इस श्रीमद् राजचंद्र आश्रमके व्यवस्थापकोकी बहुत समयसे अपने आराध्यदेव श्रीमद्‌जीके लेख प्रकाशित करनेकी भावना थी। तत्संबंधी श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलकी अनुमति मिलनेसे इस कार्यके लिये संशोधन कर पूरी नयी पाण्डुलिपि निम्न साधनोके आधार पर तैयार की गई है—

१. श्रीमद्‌जीके हस्ताक्षरके मूल पत्र, अन्य लेख तथा संस्मरणपोथियाँ तथा मूल हस्ताक्षरके पत्रो परसे इस आश्रम द्वारा तैयार कराये हुए चित्र (फोटो)।
२ श्री अंबालालभाई द्वारा तैयार की गई पुस्तक जिसमे श्रीमद्‌जीने स्वयं शुद्धि-वृद्धि की है।
३ श्री दामजीभाई केशवजी द्वारा मूल पत्र तथा अन्य साहित्यकी कराई गई नकलें।
४ श्रीमद्‌जीकी सूचनासे श्री अंबालालभाईने श्री लघुराजस्वामी आदि मुनियोको नकल कर दी हुई डायरियाँ।
५ मुमुक्षुओसे प्राप्त मूलपत्रोंकी नकलें।
६ उपदेशछाया, उपदेशनोध, व्याख्यानसार आदिकी लिखी हुई डायरियाँ।
७ अब तक प्रकाशित संस्करण।

संग्रहका विवरण :—

इस सग्रहमे (१) श्रीमद्‌जी द्वारा मुमुक्षुओको लिखे गये पत्र, (२) स्वतत्र काव्य, (३) मोक्षमाला, भावनाबोध, आत्मसिद्धिशास्त्र ये तीन स्वतत्र ग्रन्थ, (४) मुनिसमागम, प्रतिमासिद्धि आदि स्वतत्र लेख, (५) पुष्पमाला, बोधवचन, वचनामृत, महानीति आदि स्वतत्र बोधवचनमालायें, (६) 'पचास्तिकाय' ग्रन्थका गुजराती भाषान्तर, (७) श्री रत्नकरंड श्रावकाचारमसे तीन भावनाओका अनुवाद तथा स्वरोदयज्ञान, द्रव्यसग्रह, दशवैकालिक आदि ग्रन्थोमेसे कुछ गाथाओका भाषान्तर, आनन्दघनचौबीसीमेसे कुछ-एक स्तवनोके अर्थ, (८) वेदान्त और जैनदर्शन सम्बन्धी टिप्पणियाँ, (९) स० १९४६ की दैनंदिनी आदि श्रीमद्‌जीके लेख आक १ से ९५५, पृष्ठ ६७२ तक दिये गये है। आक ७१८ मे आत्मसिद्धिशास्त्रके दोहोका श्री अंबालालभाई कृत सक्षिप्त विवेचन दिया गया है जिसे श्रीमद्‌जी देख गये थे। उस विवेचनके साथ खुद श्रीमद्‌जीका लिखा हुआ किसी-किसी दोहेका विस्तृत विवेचन भी दिया गया है। पृष्ठ ६७३ से ८०० तक उपदेशनोध, उपदेशछाया, व्याख्यानसार १ और २ दिये गये हैं जो श्रीमद्‌जीके उपदेश और व्याख्यानकी मुमुक्षुओ द्वारा की गई नोध पर आधारित है। इसमेसे 'उपदेशछाया' शीर्षकातर्गत बोध श्रीमद्‌जीकी नजरसे निकल चुका है ऐसा सुना जाता है।

पृष्ठ ८०१ से ८४९ तक श्रीमद्‌जीकी स्वहस्तलिखित तीन संस्मरण-पोथियाँ (Diaries) दी गई है।

इस संस्करण संबंधी सामान्य विवरण :—

१ इस सस्करणमे, पूर्व सस्करणोमे अप्रकाशित ऐसा बहुतसा साहित्य समाविष्ट कर लिया गया है।
२ मूल लेखमे—जितना श्रीमद्‌जीका स्वयं लिखा हुआ प्रतीत हुआ उतना ही लिया है। पूर्व सस्करणोमे मूल लेखरूपमे प्रकाशित, किन्तु वस्तुतः उपदेशनोध होनेसे ऐसे लेख वर्तमान सस्करणमे उपदेशनोधके अन्तर्गत दिये हैं।

३ श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलके द्वितीय संस्करणमे तीनो संस्मरण-पोथियोंके लेख—लेख परसे मितीका अनुमान करके संबंधित वर्षके अन्तर्गत मुद्रित किये गये हैं। इस संस्करणमे वैसा नही किया परन्तु प्रथम संस्करणके अनुसार तीनो संस्मरण-पोथियाँ एक साथ दी है।

४ पूर्व संस्करणोंमे कई स्थलो पर एक ही लेखके भागकर भिन्न-भिन्न आकके अंतर्गत दिये गये है तथा कई लेख अलग होने पर भी एक आकके अंतर्गत दिये गये है, परन्तु इस सस्करणमे मूल आधारका अनुसरण करके एक लेख एक ही आकके अतर्गत दिया गया है।

५ मूल लेखमें आनेवाले व्यक्तियोंके नाम प्रायः रहने दिये हैं।

६ मूल स्थितिमे ही लेख प्रकाशित हो ऐसा लक्ष्य रखा गया है। अत पूर्व सस्करणोके लेखका अपेक्षा इसमे कई स्थलो पर न्यूनाधिक लगेगा परन्तु वह शुद्धि-वृद्धि मूलके आधार पर ही की गई है।

७ पूर्वापर सम्बन्ध बना रहे यह ध्यानमे रखकर व्यक्तिगत और व्यावहारिक लेख पत्रमेसे निकाल दिये गये है और इसे सूचित करनेके लिये कोई चिह्न भी नही रखा है। फिर भी सामान्यत उपकारक ऐसा व्यक्तिगत लेख ले लिया गया है।

८ पाठक स्वतत्रतासे और सुगमतासे पढ-विचार कर अपना निर्णय कर सके इस हेतुसे किसी वाक्य या शब्दके नीचे न तो लीटी खीची है और न ही उसे बडे अक्षरोमे लिया है। परन्तु मूल लेखके अनुसार ही मुद्रित किया है। खास आवश्यकताके बिना या हकीकत विदित करनेके सिवाय पादटिप्पण भी नही दिया है। क्रमबद्ध एक सरीखे अक्षरोमे पूरा वचनामृत मुद्रित किया है।

९ स्वतत्र रीतिसे नये अनुक्रमाक दिये है।

१० श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलके *द्वितीय संस्करणके आक दायी ओर [ ] ऐसे कोष्ठकमे दिये गये है। जहाँ ऐसा आक नही है उसे अप्रगट साहित्य समझें।

११ सामान्यतया श्री परमश्रुत प्रभावक मंडलके द्वितीय सस्करणके क्रमका अनुसरण कर, लेख वयक्रममे रखे हैं। जहाँ मितीमे प्रमाणभूत भूल लगी, वह लेख नयी मितीके अनुसार अन्यत्र रखा है।

१२ प्रत्येक लेखके ऊपर प्राप्त मिती दी गई है।

१३ विस्तृत अनुक्रमणिका तथा परिशिष्ट देकर, हो सका उतना ग्रन्थका अभ्यास सुगम करनेका प्रयास किया है।

परिशिष्टोमे—इस ग्रन्थमे आनेवाले अन्य ग्रन्थोके उद्धरण और उनके मूल स्थान, पत्रो सम्बन्धी विशेष जानकारी, पारिभाषिक और कठिन शब्दोके अर्थ, ग्रन्थनाम, स्थल, विशेषनाम तथा विषयसूची भी दिये गये है। इस तरहके विवरणसे ग्रन्थ समझनेमे सुगमता होगी।

अवधान-समयके काव्य, स्त्रीनीतिबोधक, अन्य पत्रिकाओमे प्रकाशित काव्य—इत्यादि सोलह वर्षकी आयुके पहलेके काव्य आदि 'सुबोध सग्रह' ग्रन्थरूपसे अलग प्रकाशित करनेकी भावनासे इस सग्रहमे नही दिये हैं।

अवधान सम्बन्धी लिखित एक पत्र (आंक १८) इस ग्रन्थमे दिया है।

* ये आक प्रस्तुत संस्करणमेंसे निकाल दिये गये हैं।

आत्मसिद्धिशास्त्रका अंग्रेजी, मराठी और संस्कृतमे भाषान्तर हुआ है।

यह आत्मसाधन जो आज हमे प्राप्त हो रहा है उसका संग्रह कर श्री अंबालालभाईने आजके साधकवर्ग पर परम उपकार किया है।

श्रीमद्जीके ससर्गमे आनेवाले मुमुक्षुओमेसे श्री अबालालभाई, श्री जूठाभाई, श्री सौभाग्यभाई, मुनि श्री लघुराजस्वामी जैसे आत्मा श्रीमद्जीकी आश्रयभक्तिसे आत्मसाक्षात्कार कर परम श्रेयको प्राप्त हुए है। ऐसे परमभक्तिवान आत्माओके निमित्तसे उद्भूत यह साहित्य आज हमे आत्मार्थ-साधनमे परम निमित्तरूप बनो यह प्रार्थना है।

श्री परमश्रुत प्रभावक मडल और उसके व्यवस्थापक श्री मणिलाल रेवाशंकर जौहरीने यह ग्रन्थ प्रकाशित करनेकी अनुमति दी एतदर्थ उनका आभार मानते हैं।

इस सत्साधनके प्रकाशनमे जिन व्यक्तियोने तन, मन, धन और वचनसे उल्लासपूर्वक सहयोग दिया है, उन सबको यह आत्मश्रेयका कारण बनो।

श्री वसत प्रिन्टीग प्रेसके व्यवस्थापक श्री जयति दलालने इस ग्रन्थके मुद्रणमे रसपूर्वक सद्भावना-से कार्य किया है जिसमे यह ग्रन्थ इतनी सुन्दरतासे प्रकाशित हो सका है।

इस आत्मश्रेयसाधक ग्रन्थका विनय और विवेकपूर्वक उपयोग करनेका अनुरोध अनुचित नही होगा।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
स्टे० अगास, वाया आणद
स० २००७ आषाढ वदी १२, सोम
ता० ३०-७-५१

लि०
ब्रह्मचारी गोवर्धनदास

द्वितीयावृत्तिकी प्रस्तावना

(हिन्दी रूपान्तर)

दृश्यन्ते भुवि किं न तेऽल्पमतयः संख्याव्यतीताश्चिरम्
ये लीलां परमेष्ठिनो निजनिजैस्तन्वन्ति वाग्भिः परम् ।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन-
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजंति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥—श्री ज्ञानार्णव

जो पुरुष मात्र अपने अपने वचनोसे परमेष्ठीकी अर्थात् परमात्माकी लीलाका या उनके गुणानुवाद-का दीर्घकाल तक विस्तार करते है ऐसे अल्पमति तो इस जगतमे प्राय: असख्य नजर नही आते ? अर्थात् ऐसे जीव तो कई नजर आते है। परन्तु जो पुरुष नित्य शाश्वत परमानन्दरूप अमृतसागर शुद्ध सहजात्मस्वरूपरूप परमात्मपदका साक्षात् अनुभव कर संसारके भ्रमको शीघ्र ही छोड देते है ऐसे पुरुष तो इस जगतमे दुर्लभ ही है, और ऐसे पुरुष धन्य हैं, कृतार्थ हैं, जयवन्त हैं। ऐसे पुरुषोका योगबल जगतका कल्याण करनेके लिये समर्थ है।

ऐसे धन्यरूप स्वरूपनिष्ठ महापुरुषो द्वारा निष्कारण करुणाशीलतासे प्रकाशित वाणीयोग सत्साधक-वृन्दके लिये परमोत्कृष्ट अमूल्य अवलंबनरूप जानकर, मुमुक्षु इस अमूल्य वचनामृतकी परम आदरपूर्वक उपासना कर कृतार्थ होते हैं।

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक् तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते ॥—श्री ज्ञानार्णव

सत्पुरुषोंकी उत्तम वाणी जीवोको आत्मजागृतिरूप प्रकृष्ट ज्ञान, विवेक, हित, प्रशमता और सम्यक् प्रकारसे तत्त्वोपदेश देनेके लिये प्रवर्तित होती है।

तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः ।
अयमात्मा यदासाद्य स्वस्वरूपे लयं व्रजेत् ॥—श्री ज्ञानार्णव

यही सत्श्रुत है, यही प्रकृष्ट ज्ञान अथवा विज्ञान है, यही ध्यान है और यही उत्तम तप है कि जिसे प्राप्तकर यह जीव निज शुद्ध सहजात्मस्वरूपमे लीन हो जाये, स्वरूपनिष्ठ हो जाये।

ब्रह्मस्थो ब्रह्मज्ञो ब्रह्म प्राप्नोति तत्र किं चित्रम् ।
ब्रह्मविदां वचसाऽपि ब्रह्मविलासाननुभवामः ॥—श्री अध्यात्मसार

ब्रह्मरूप शुद्ध सहजात्मस्वरूपमें लीन हुए हैं ऐसे स्वरूपनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त हो इसमें क्या आश्चर्य ? परन्तु ऐसे ब्रह्मज्ञके वचनसे भी हम ब्रह्मविलासका, आत्मरमणताका अनुभव करते हैं।

अहो श्री सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम !

श्रीमद् राजचन्द्र ऐसे विरल स्वरूपनिष्ठ तत्त्ववेत्ताओमेसे एक है। श्रीमद् राजचन्द्र यानि अध्यात्म-गगनमे झिलमिलाती हुई अद्भुत ज्ञानज्योति ! मात्र भारतकी ही नही, अपितु विश्वकी एक विरल विभूति ! अमूल्य आत्मज्ञानरूप दिव्यज्योतिके जाज्वल्यमान प्रकाशसे, पूर्वमहापुरुषों द्वारा प्रकाशित सनातन मोक्षमार्गका उद्योतकर भारतकी पुनीत पृथ्वीको विभूषित कर इस अवनीतलको पावन करनेवाले परम ज्ञानावतार, ज्ञाननिधान, ज्ञानभास्कर, ज्ञानमूर्ति !

शास्त्रके ज्ञाता तथा उपदेशक तो हमे अनेक मिल जायेंगे परन्तु जिनका जीवन ही सत्शास्त्रका प्रतीक हो ऐसी विभूति प्राप्त होना दुर्लभ है। श्रीमद् राजचन्द्रके पास तो जाज्वल्यमान आत्मज्ञानमय उज्ज्वल जीवनका अतरग प्रकाश था और इसीलिये इन्हें अद्भुत अमृतवाणीकी सहज स्फुरणा थी।

"काका साहेब कालेलकरने श्रीमद्के लिये 'प्रयोगवीर' ऐसा सूचक अर्थगर्भित शब्द प्रयोग किया है सो सर्वथा यथार्थ है। श्रीमद् सचमुच प्रयोगवीर ही थे। प्रयोगसिद्ध समयसारका दर्शन करना हो अथवा परमात्मप्रकाशका दर्शन करना हो प्रयोगसिद्ध समाधिशतकका दर्शन करना हो अथवा प्रशमरति-का दर्शन करना हो, प्रयोगसिद्ध योगदृष्टिका दर्शन करना हो अथवा आत्मसिद्धिका दर्शन करना हो तो 'श्रीमद्' को देख लीजिये ! उन उन समयसार आदि शास्त्रोमे वर्णित भावोका जीता-जागता अवलम्बन उदाहरण चाहिये तो देख लीजिये श्रीमद्का जीवनवृत्त ! श्रीमद् ऐसे प्रत्यक्ष प्रगट परम प्रयोगसिद्ध आत्मसिद्धिको प्राप्त हुए पुरुष है, इसीलिये उनके द्वारा रचित आत्मसिद्धि आदिमे इतना अपूर्व सामर्थ्य दिखाई देता है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र जीवनरेखा।

भारतकी विश्वविख्यातविभूति राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजी लिखते हैं—

"मेरे जीवनको श्रीमद् राजचन्द्रने मुख्यतया प्रभावित किया है। महात्मा टॉल्स्टॉय तथा रस्किनकी अपेक्षा भी श्रीमद्ने मेरे जीवन पर गहरा असर किया है। बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतोके जीवनमेसे बहुत कुछ लिया है; परन्तु सबसे अधिक किसीके जीवनमेसे मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद् राजचन्द्र) के जीवनमेसे है। ..."

श्रीमद् राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख अनुभवबिंदुस्वरूप है। उन्हें पढ़नेवाले, विचारनेवाले और तदनुसार आचरण करनेवालेको मोक्ष सुलभ होता है। उसके कषाय मन्द पडते हैं, उसे संसारमे उदासीनता रहती है और वह देह-मोह छोड़कर आत्मार्थी हो जाता है।

इस परसे पाठक देखेगा कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिये है। सभी पाठक उसमेसे रस नही ले सकते। टीकाकारको उसमे टीकाका कारण मिलेगा, परन्तु श्रद्धावान तो उसमेसे रस ही लूटेगा। उनके लेखोमे सत् ही टपक रहा है ऐसा मुझे हमेशा भास होता है। उन्होंने अपना ज्ञान दिखानेके लिये एक भी अक्षर नही लिखा। लेखकका हेतु पाठकको अपने आत्मानंदमे साझीदार बनानेका था। जिसे आत्म-क्लेश दूर करना है, जो अपना कर्तव्य जाननेको उत्सुक है उसे श्रीमद्के लेखोंमेसे बहुत-कुछ मिल जायेगा ऐसा मुझे विश्वास है, फिर भले ही वह हिन्दु हो या अन्य धर्मी। ..

जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इन पद्योमे झलकता रहा है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ परिचयमे प्रतिक्षण उनमे देखा है। उनके लेखोमे एक असाधारणता यह है कि उन्होने स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमे कही भी कृत्रिमता नही है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पंक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नही देखा।"...

खाते, बैठते, सोते प्रत्येक क्रिया करते उनमे वैराग्य तो होता ही। किसी समय इस जगतके किसी भी वैभवके प्रति उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैंने नही देखा।''

यह वर्णन संयमीमें संभवित है। बाह्याडंबरसे मनुष्य वीतराग नही हो सकता। वीतरागता आत्माकी प्रसादी है। अनेक जन्मोके प्रयत्नसे मिल सकती है ऐसा प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सकता है। रागभावोको दूर करनेका प्रयत्न करनेवाला जानता है कि रागरहित होना कितना कठिन है? यह रागरहित दशा कविको स्वाभाविक थी, ऐसा मुझ पर प्रभाव पडा था।

मोक्षकी प्रथम सीढी वीतरागता है। जब तक जगतकी एक भी वस्तुमे मन धँसा हुआ है, तब तक मोक्षकी बात कैसे रुचे? अथवा रुचे तो केवल कानको ही—अर्थात् जैसे हमे अर्थ जाने-समझे बिना किसी संगीतका केवल स्वर ही रुच जाये वैसे। ऐसे मात्र कर्णप्रिय आनन्दमे मोक्षानुसारी वर्तन आते तो बहुत काल बीत जायें। अन्तर्वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नही होती। ऐसी वैराग्यकी लगन कविको थी।''

इसके अलावा इनके जीवनमेंसे दो मुख्य बाते सीखने जैसी है—सत्य और अहिंसा। स्वय जिसे सच्चा मानते थे वही कहते है और तदनुसार ही आचरण करते थे।

इनके जीवनमेसे ये चार बाते ग्रहण की जा सकती है—

(१) शाश्वत वस्तुमे तन्मयता; (२) जीवनकी सरलता, समस्त संसारके साथ एक-सी वृत्तिसे व्यवहार, (३) सत्य और (४) अहिंसामय जीवन।''

मात्र क्लेश और दुःखके सागररूप इस असार ससारमे जन्म-जरा-मरण, आधि-व्याधि-उपाधि आदि त्रिविध तापमय दुःखदावानलसे प्राय सभी जीव सदैव जल रहे है। उससे बचनेवाले ज्ञान और वैराग्यकी मूर्ति समान, परमशातिके धामरूप मात्र एक आर्षद्रष्टा तत्त्ववेत्ता स्वरूपनिष्ठ महापुरुष ही भाग्यशाली है। उन्हीकी शरण, उन्हीकी वाणीका अवलबन—यही त्रिलोकको त्रिविध तापाग्निसे बचानेके लिये समर्थ उपकारक है।

''मायामय अग्निसे चौदह राजूलोक प्रज्वलित है। उस मायामे जीवकी बुद्धि अनुरक्त हो रही है, और इस कारणसे जीव भी उस त्रिविध ताप-अग्निसे जला करता है, उसके लिये परम कारुण्यमूर्तिका उपदेश ही परम शीतल जल है, तथापि जीवको चारो ओरसे अपूर्ण पुण्यके कारण उसकी प्राप्ति होना दुर्लभ हो गया है।''

—आक २३८

''तत्त्वज्ञानकी गहरी गुफाका दर्शन करने जायें तो वहाँ नेपथ्यमेसे ऐसी ध्वनि ही निकलेगी कि आप कौन हैं? कहाँसे आये हैं? क्यो आये है? आपके पास यह सब क्या है? आपको अपनी प्रतीति है? आप विनाशी, अविनाशी अथवा कोई त्रिराशी है? ऐसे अनेक प्रश्न उस ध्वनिसे हृदयमे प्रवेश करेंगे। और इन प्रश्नोंसे जब आत्मा घिर गया तब फिर दूसरे विचारोके लिये बहुत ही थोड़ा अवकाश रहेगा। यद्यपि इन विचारोसे ही अंतमे सिद्धि है 'इन्ही विचारोके मननसे अनतकालकी उलझन दूर होनेवाली है'''' बहुतसे आर्य पुरुष इसके लिये विचार कर गये है, उन्होने इस पर अधिकाधिक मनन किया है। जिन्होने आत्माकी शोध करके, उसके अपार मार्गकी बहुतोको प्राप्ति करानेके लिये अनेक क्रम बाँधे है; वे महात्मा जयवान हो! और उन्हे त्रिकाल नमस्कार हो!''

—आक ८३

यो ऐसे समर्थ तत्त्वविज्ञानी स्वरूपनिष्ठ महापुरुषकी अनुभवयुक्त वाणीका अवलम्बन कोई महाभाग्यके योगसे ही प्राप्त होने योग्य है।

तत्त्वजिज्ञासुओंकी ज्ञानपिपासाको परितृप्त करनेवाले और आत्मार्थियोंके हृदयमे आत्मज्योति जगानेवाले ऐसे एक समर्थ तत्त्ववेत्ता श्रीमद् राजचन्द्र इस कालमे हमारे महाभाग्यसे प्रगट हुए है।

उनकी अमृततुल्य अमूल्य वाणी हमे संप्राप्त हुई है यही हमारा महाभाग्य है। उसके पठन, मनन और परिशीलनसे हम अपना श्रेय कर ले तो ही उसकी प्राप्तिकी सार्थकता है।

उनका जो कुछ साहित्य उपलब्ध है वह सारा इस ग्रन्थमे प्रसिद्ध किया गया है। यह साहित्य तत्त्वज्ञान या अध्यात्मके क्षेत्रमे अत्युत्तम कक्षाका अमूल्य साहित्य है। तत्त्वरसिकोकी तत्त्वपिपासाके सतोषके लिये अथवा आत्मार्थियोको आत्मोन्नतिमे प्रगतिमान होनेके लिये गूर्जर भाषामे यह एक अपूर्व साहित्य है। मोक्षार्थियोको निज शुद्ध सहज आत्मतत्त्वकी उपासनासे परमानदमय मोक्षमहलमे सुगमतासे चढनेके लिये यह एक दुषमकालमे अनोखा ही अवलम्बन है जो सोपान समान उपकारी हो सकता है। इसमे विविध पारमार्थिक विषयोको छूनेवाला, मुख्यत. मोक्षमार्गको स्पष्टतासे और सुगमतासे दर्शानेवाला, अमूल्य यत्र-तत्र बिखरे हुए वचनरत्नोके प्रकाशसे सर्वत्र चमकता हुआ, रत्नाकरकी तरह अगाध और सर्वत्र शातरसगर्भित उच्चतम आध्यात्मिक साहित्य भरा पड़ा है. जो शोधकके लिये अमूल्य रत्नत्रयकी प्राप्तिमे परमश्रेयको प्राप्त करानेवाले निधान समान है। यह साहित्य तत्त्वसाधकोको परमानदकी साधनामे सहायक बनकर परम श्रेयका कारण होओ ! अथवा विदग्धमुखमडन भवतु—विद्वानोके मुखका आभूषणरूप होओ !

अज्ञानवश बाह्यदृष्टिसे, लौकिकभावसे, वैसे किसी आग्रहसे या संकुचित मनोवृत्तिसे यदि श्रीमद्को मात्र गृहस्थ, जौहरी या कविके रूपमे पहचाननेकी क्वचित् भूल होती हो तो कुछ गुणानुराग या प्रमोदभावसे, सत्यको खोजनेकी एव स्वीकार करनेकी विशाल दृष्टि रखकर आग्रहरहित होकर इस ग्रन्थका अवलोकन या अभ्यास करेगे तो अवश्य इतना तो दृष्टिगोचर होगा ही कि श्रीमद् कोई सामान्य कोटिके मनुष्य नही प्रत्युत् ईश्वर कोटिके मनुष्य हैं अथवा वे मनुष्यदेहमे परमात्मा, परम ज्ञानावतार, साक्षात् धर्ममूर्तिरूपसे इस भारतको विभूषित कर गये है। पूर्वकालमे अनेक भवोमे आराधित योगके फलस्वरूप इस भवमे अपूर्व आत्मसमाधि साध्य करनेवाले कोई अद्भुत योगीश्वर ही है।

"एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसपत्तिके बिना हमे कुछ भी अच्छा नही लगता, हमे किसी पदार्थमे रुचिमात्र नही रही है; कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नही होती, व्यवहार कैसे चलता है इसका भान नही है, जगत किस स्थितिमे है इसकी स्मृति नही रहती, शत्रुमित्रमे कोई भेदभाव नही रहा, कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसका ख्याल रखा नही जाता, हम देहधारी हैं या नही इसे जब याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते है, हमे क्या करना है, यह किसीसे जाना नही जा सकता ।" —आक २५५

"किसी भी प्रकारसे विदेही दशाके बिनाका, यथायोग्य जीवन्मुक्तदशारहित और यथायोग्य निर्ग्रंथदशा रहित एक क्षणका जीवन भी देखना जीवको सुलभ नही लगता।''' एक पर राग और एक पर द्वेष ऐसी स्थिति एक रोममे भी उसे प्रिय नही है। " —आक १३४

"चैतन्यका निरन्तर अविच्छिन्न अनुभव प्रिय है, यही चाहिये है। दूसरी कोई स्पृहा नही रहती। रहती हो तो भी रखनेकी इच्छा नही है। एक 'तू ही, तू ही' यही यथार्थ अस्खलित प्रवाह चाहिये।" —आक १४४

"निरजनपदको समझनेवालेको निरजन कैसी स्थितिमे रखते है यह विचार करते हुए अकल गति पर गभीर एव समाधियुक्त हास्य आता है! अब हम अपनी दशाको किसी भी प्रकारसे नही कह सकेंगे, तो फिर लिख कैसे सकेंगे ?" —आक १८७

"मुझे भी असगता बहुत ही याद आती है, और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उ

असंगताके बिना परम दु.ख होता है। यम अतकालमे प्राणीको दुःखदायक नही लगता होगा, परन्तु हमे संग दुःखदायक लगता है।"
—आक २१७

"समय समय पर अनन्तगुणविशिष्ट आत्मभाव बढता हो ऐसी दशा रहती है, जिसे प्राय भाँपने नही दिया जाता, अथवा भाँप सकनेवालेका प्रसंग नही है।"
—आक ३१३

"देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है। क्योंकि हम भी निश्चयसे उसी स्थितिको प्राप्त करनेवाले हैं, यों हमारा आत्मा अखण्डरूपसे कहना है, और ऐसा ही है, अवश्य ऐसा ही है। पूर्ण वीतरागकी चरणरज निरन्तर मस्तकपर हो, ऐसा रहा करता है। अत्यन्त विकट ऐसा वीतरागत्व अत्यन्त आश्चर्यकारक है, तथापि यह स्थिति प्राप्त होती है, सदेह प्राप्त होती है, यह निश्चय है, प्राप्त करनेके लिये पूर्ण योग्य हैं, ऐसा निश्चय है। सदेह ऐसे हुए बिना हमारी उदासीनता दूर हो ऐसा मालूम नही होता और ऐसा होना सम्भव है, अवश्य ऐसा ही है।"
—आक ३३४

"मनमे वारंवार विचार करनेसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिरकर अन्य-भावमे ममत्व नही होता, और अखण्ड आत्मध्यान रहा करता है ·· ।"
—आक ३६६

"हम कि जिनका मन प्राय क्रोधसे, मानसे, मायासे, लोभसे, हास्यसे, रतिसे, अरतिसे, भयसे, शोकसे, जुगुप्सासे या शब्द आदि विषयोसे अप्रतिबद्ध जैसा है, कुटुम्बसे, धनसे, पुत्रसे, 'वैभव'से, स्त्रीसे या देहसे मुक्त जैसा है, ऐसे मनको भी सत्संगमे बाँध रखनेकी अत्यधिक इच्छा रहा करती है।"
—आक ३४७

जगह जगह पर ऐसे असग, अप्रतिबद्ध स्वदशासूचक वचन उनकी अंतरगचर्या या आत्ममग्नताका अवश्य दिग्दर्शन कराते है। उनका ज्ञान एव वैराग्यको अखड धारारूप अतरग पुरुषार्थ-पराक्रम बाह्य-दृष्टिसे भाँपा नही जा सकता। इसीलिये कहा है कि "मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं।" अंतरग चर्या तक दृष्टि जानेके लिये मुमुक्षुतारूप नेत्रोकी जरूरत है।

जैसे जनक राजा राज्य करते हुए भी विदेहीरूपसे रहते थे और त्यागी सन्यासियोसे भी उत्कृष्ट असग अप्रतिबद्ध विदेही दशामे रहकर आत्मानदमे मग्न थे तथा भरत महाराजा चक्रवर्तीपदका समर्थ ऐश्वर्य तथा छ खण्डके साम्राज्यकी उपाधि वहन करते हुए भी अतरग ज्ञान-वैराग्यके बलसे आत्मदशा संभालते हुए अलिप्तभावमे रहकर आत्मानंदकी मजा लूटते थे, वैसे ये महात्मा भी, प्रतिसमय अनतगुण-विशिष्ट आत्मभाव वर्धमान होता रहे ऐसी बलवान त्यागवैराग्यकी अखण्ड अप्रमत्तधारासे किसी अपूर्व अंतरग चर्यामे रागद्वेष आदिका पराजय करके मोक्षपुरी पहोचनेके लिये मानो वायुवेगसे, त्वरित गतिसे दौडे न जा रहे हो! यों अत्यन्त उदासीनता पूर्वक आत्मानदमें लीन, अन्तर्मग्न रहते थे। ऐसा उनके इस ग्रन्थमे संग्रहित लेखोमे जगह-जगहपर दृष्टिगोचर होने योग्य है, और अनेक शास्त्रोके पठनसे भी जो लाभ प्राप्त होना मुश्किल है, वह लाभ इस एक ही ग्रन्थके शातभावसे पठन, मनन, परिशीलन व अभ्यास द्वारा सरलतासे प्राप्त कर जिज्ञासु अपनेको धन्यरूप, कृतार्थरूप कर सकते है।

इसके अतिरिक्त उनकी अंतरंग असंग, अप्रतिबद्ध, जीवन्मुक्त, वैराग्यपूर्ण, विदेही, वीतराग, समाधि-बोधिमय, अद्भुत, अलौकिक, अचिंत्य, आत्ममग्न, परमशांत, शुद्ध, सच्चिदानंदमय सहजात्मदशाकी झाँकी होनेसे, सद्गुणानुरागीको तो अपनी मोहाधीन पामर दशा देखकर समस्त गर्व नष्ट होकर ऐसी उच्चतम दशाके प्रति सहज ही सिर झुके बिना नही रहता। और उस अलौकिक असग दशाके प्रति प्रेम, प्रतीति, भक्ति प्रगट होकर उनके शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परमार्थस्वरूप, सत्यस्वरूपकी पहचान होनेसे उनमे आविर्भूत शुद्ध आत्मदर्शन, आत्मज्ञान व आत्मरमणतारूप रत्नत्रयादि आत्मिक गुण जो साक्षात् मूर्तिमान मोक्ष-

मार्ग है, उसके प्रति अत्यन्त प्रमोद, प्रेम एवं उल्लास आने योग्य है। अन्तमे, अनादिसे अप्रगट जो अपना परमात्मस्वभाव है उसका भी भान होता है और उसे प्रगट करनेका लक्ष्य और पुरुषार्थ जागृत होनेपर, आत्मा परमात्मा होकर परम श्रेयको प्राप्तकर शाश्वतपदमे स्थित होनेरूप भाग्यशाली हो तब तकका सन्मार्ग और सत्साधन संप्राप्त होने योग्य है। मुनि श्री लघुराज स्वामी, श्री सौभाग्यभाई, श्री जूठाभाई, श्री अंबालालभाई आदि उज्ज्वल आत्मा इस सद्गुणानुरागसे मुमुक्षुतारूप नेत्र अथवा अलौकिक दृष्टि पाकर श्रीमद्की सच्ची पहचान करनेवाले भाग्यशाली हुए और फलस्वरूप आत्मज्ञानादि गुणोसे विभूषित होकर स्वपरका श्रेय कर गये, यह प्रत्यक्ष दृष्टातरूप है।

सत्पदाभिलाषी सज्जनोंको सत्पदकी साधनामे इस अत्युत्तम सद्ग्रन्थका विनय और विवेकपूर्वक सदुपयोग आत्मश्रेय साधनमे प्रबल उपकारी हो यही अभ्यर्थना!

जेना प्रतापे अतरे परमात्म पूर्ण प्रकाशतो,
जेथो अनादिनो महा मोहांधकार टळी जतो।
बोधि समाधि शांति सुखनो सिंधु जेथो ऊछळतो,
ते राजचंद्र प्रशान्त किरणो उर अम उजाळजो ॥

श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास
ता० १-१-६४, सं० २०२० पौष वदी २

सतसेवक
रावजीभाई छ. देसाई

अनुवादकका नम्र निवेदन

(प्रथम संस्करण)

'श्रीमद् राजचंद्र' शब्द व्यक्ति और कृति दोनोंका बोधक है। श्रीमद् राजचंद्र जन्मसे महान हैं और उनकी आध्यात्मिकता जन्मसिद्ध है। श्रीमद्जी नीति एवं न्यायसे सासारिक कार्य करते हुए आत्मविकासकी पराकाष्ठा तक पहुँचे हैं, यह उनके जीवनकी एक अनोखी अनुकरणीय विशेषता है। श्रीमद्जीने खुद ही अपने संस्कार, विचार और आचार अपनी विविध रचनाओं—मुख्यत. मुमुक्षुओंको लिखे गये पत्रोंमे अति स्पष्टता एवं सुदृढतासे प्रदर्शित किये है। धर्म और अध्यात्म जीवन है, इस सनातन सत्यके श्रीमद्जी एक ज्वलंत तथा अनुपम उदाहरण है अर्थात् वे धर्ममूर्ति एवं अध्यात्ममूर्ति हैं। उन्होने अपनी अलौकिक स्मृति, प्रज्ञा आदि अनेकविध शक्तियोका उपयोग लौकिक ऐश्वर्यकी प्राप्ति या सिद्धिके लिये नहीं किया है, किन्तु आत्मिक ऐश्वर्यकी सिद्धिके लिये किया है। और इसके लिये उन्होने अपनी देहकी भी आहुति देकर मनुष्यदेहकी सार्थकताका एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनका जीवन गृहस्थ तथा साधु दोनोंके लिये प्रेरक एवं उत्साहवर्धक है। उनकी कृति ही उनके जीवनका दर्पण है। यदि उन्होने 'आत्मसिद्धि' की भाँति सपूर्ण आत्मकथा लिखी होती तो वह भी एक अपूर्व देन होती। उनके जीवनको जानने और समझनेके लिये इन आकोका तो अध्ययन, मनन और निदिध्यासन करना ही चाहिये —३०, ५०, ७७, ७८, ८२, ८३, ८९ (समुच्चय वयचर्या), ११३, १२६, १२८, १३३, १५७, (दैनंदिनी) के ७ व १३, १६१, १६२, १६३, १७०, २४७, २५५, २६४, ३२२, ३२९, ३३४, ३३९, ३९८, ५८६, ६८०, ७०८, ७३८ (अपूर्व अवसर) ९५१, ९५४, ९६० (संस्मरण पोथी १/३२ धन्य रे दिवस आ अहो)

३३ वर्षके जीवनका दिग्दर्शन

जन्म—सवत् १९२४ कार्तिक सुदी पूर्णिमा, रविवार रातको २ बजे ववाणिया गाँव (काठियावाड़) मे, **नामपरिवर्तन**—चौथे वर्षमे प्यारा नाम लक्ष्मीनंदन बदलकर रायचन्द, **जातिस्मरणज्ञान**—७वें वर्षमें बबूलके पेड़ पर, **शिक्षा**—७वें से ११वें वर्ष तक, गुजराती ७ श्रेणि, **लेखन-प्रवृत्ति**—८वे वर्षमे ही कविता करनेका श्रीगणेश, ५००० कड़ियाँ, ९वे वर्षमे संक्षिप्त रामायण और महाभारत काव्य; 'स्वदेशीओने विनंति' (स्वदेशियोको विनती) 'श्रीमंत जनोने शिखामण' (श्रीमंतोंको सिखावन), 'हुन्नरकळा वधारवा विषे' (हुनरकला बढानेके विषयमे) 'आर्यप्रजानी पड़ती' (आर्यप्रजाकी अधोगति), 'स्त्रीनीतिबोधक' आदि सामाजिक और देशोन्नति-विषयक अनेक काव्य; **अवधान**—१६वेंसे १९वें वर्ष तक, सं० १९४२ में बंबईमे शतावधान, **विवाह**—१९वे वर्षमे—सं० १९४३ माघ सुदी १२, गृहस्थजीवन लगभग १२ साल; **व्यापार**—२२वें वर्षमे श्री रेवाशंकर जगजीवनदासके साझेमे बंबईमे जवाहरातका व्यवसाय, व्यापारी जीवन लगभग ११ साल; **क्षायिक सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान)**—२३वें वर्षमें (स० १९४७), तभीसे कल्पित एवं आध्यात्मिक प्रगतिमे महत्त्वहीन ज्योतिषका त्याग, **कंचनकामिनीत्याग**—मुनि शिष्योंके सामने ३२वें वर्षमें (सं० १९५६); **श्रीपरमश्रुतप्रभावक-मण्डल**—सं० १९५६ में स्थापना; **अस्वस्थता**—विशेषतः सं० १९५६ में उनकी शरीरप्रकृति अधिक बिगड़ने लगी। युवावस्थामे उनका वजन १३२ पौंड था, जो कम होते-होते ६५ पौंड हो गया। **समाधिमरण**—सं०१९५७ चैत्र वदी पंचमी मंगलवार, दिनके २ बजे राजकोटमें,वजन ४५ पौंड।

श्रीमद्जी समय-समयपर अपने प्रवृत्तिमय जीवनसे निवृत्ति लेने और सत्संग करनेके लिये बड़वा,

खंभात, काविठा, राळज, उत्तरसंडा, नडियाद, खेडा, नरोडा, ईडर आदि स्थलोंमे जाया करते थे और कभी-कभी गुप्तरूपसे भी रहते थे। उसी दौरान एक बार अगास (आश्रम) भी पधारे थे जहाँ तब जंगल था।

'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रथ भी अपने ढंगका एक मौलिक एवं अद्वितीय ग्रन्थ है। लगभग पन्द्रह बरस पहले मुझे इसे पढनेका सद्भाग्य प्राप्त हुआ था। तब मुझे यह प्रतीत हुआ था कि आत्मदशाका चित्रण जैसा इसमे है वैसा अन्यत्र मिलना मुश्किल है। इसका भाषान्तर करते हुए मेरी प्रतीति सुदृढ हो गयी है। जिन्हे अध्यात्मको प्यास है उन्हे इस ग्रथका, विशेषत: आत्मदशादर्शक आकोका वारंवार स्वाध्याय करना चाहिये ताकि वे आत्म-विकासके पथ पर अग्रेसर हो सके।

यह ग्रन्थ एक सकलन है। इसकी कुल आक-सख्या ९६० है, जिसमे लगभग ८०० तो पत्र है। संभवत: पत्र-साहित्यमे यह बेजोड़ है।

अनुवाद

'श्रीमद् राजचद्र' के सं० २००७ (सन् १९५१) मे प्रकाशित गुजराती सस्करणका यह हिन्दी अनुवाद है। प० परमेष्ठीदास जैनने आक ३७५ तक अनुवाद किया था, और मैने अपना अनुवाद आक ३७६ से शुरू किया था। कुछ एक मासके बाद मुझे विचार आया कि अनुवाद-शैलीकी एकरूपताकी दृष्टिसे पूर्वकृत अनुवादको भी फिरसे करना ठीक होगा। श्री रावजीभाई देसाईकी अनुमतिसे उसे भी किया गया है। अनुवाद मुख्यत: शाब्दिक है। सामान्यत: श्रीमद्जी द्वारा प्रयुक्त सस्कृत शब्दोंको ज्यो का त्यो रहने दिया है। परन्तु आशयको ध्यानमे रखकर कही कही मूल संस्कृत शब्द बदलने पड़े हैं, जैसे कि 'जिज्ञासा' के लिये 'अभिलाषा', 'जिज्ञासु' के लिये 'अभिलाषी', 'लक्ष' के लिये 'ध्यान', 'ज्ञानीदृश्य' के लिये 'ज्ञानीदृष्ट', 'साध्य' के लिये 'सिद्ध', 'अवश्य' के लिये 'आवश्यकता', 'दुर्लभ' के लिये 'दुष्कर', 'अनुभव' के लिये 'अनुभवसिद्ध' इत्यादि शब्दोका उपयोग किया गया है। फिर यह भी कोशिश की गयी है कि गुजराती शब्दोके लिये वैसे या मिलते-जुलते हिंदी शब्द रखे जायें।

मैने अनुवादकी यथार्थता एव शुद्धताके लिये भरसक प्रयत्न किया है। श्रीमद्जीके आशयको समझनेके लिये समय-समयपर श्री रावजीभाई देसाई, श्री कचनभाई परीख, श्री बाबूलाल जैन आदिसे परामर्श करता रहा हूं। फिर भी भाषाकी प्राचीनता, शैलीकी विलक्षणता और विषयकी तात्त्विकतासे अपेक्षित यथार्थता एवं शुद्धताके बाधित तथा दूषित हो जानेकी पूरी-पूरी सभावना है। आशा है कि सहृदय पाठक उसके लिये मुझे क्षमा करेंगे और त्रुटियोंकी ओर ध्यान दिलाकर मुझे आभारी करेंगे।

श्री रावजीभाई और श्री कचनभाई दोनोंने मेरे नमूनेके अनुवादको परखा और मान्य किया, जिससे अनुवाद करनेका मुझे शुभ अवसर मिला। इसलिये मेरे अनुवादका श्रेय मुख्यत: उन्हीको है।

अनुवादकी यथार्थता एव शुद्धताके सबधमे विचार-विमर्श करनेके लिये श्री कंचनभाईको अनेक बार कष्ट देना पड़ा है, जिसके लिये क्षमायाचनापूर्वक उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

'श्रीमद् राजचद्र' के गूढ एवं संदिग्ध स्थलोंको समझनेमे उपर्युक्त महाशयों और अन्य अनेक बधुओने मेरी बहुत सहायता की है। उन सबका मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। मैंने मुख्यत संस्कृत तथा प्राकृत अवतरणोके सशोधनमे श्रद्धेय प० बेचरदास दोशी, पं० लालचद भगवानदास गाधी और श्री दलसुखभाई मालवणियासे सहायता ली है, जिसके लिये उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास
ता० ७-१२-७३

हंसराज जैन

विषय-सूची

१९ वाँ वर्ष

२० वाँ वर्ष

२१ वाँ वर्ष

२२ वाँ वर्ष

२७ वाँ वर्ष

२८ वाँ वर्ष

२९ वाँ वर्ष

३० वाँ वर्ष

३१ वाँ वर्ष

३२ वाँ वर्ष

३४ वाँ वर्ष

९५६ उपदेश नोंध

निष्काम भक्तिसे ज्ञान, ज्ञानी-अज्ञानीका उपदेश, कदाग्रह छुड़ानेके लिये तिथियाँ, बड़ा पाप अज्ञानका, अपनी शिथिलताके बदले उदयको दोष, पुरुषार्थ करना श्रेष्ठ ७१८

८ पुरुषार्थजयका आलंबन, साधन मिलनेसे आत्मज्ञान, ज्ञानके दो प्रकार—बीजभूत और वृक्षभूत, आत्मा अरूपी, बंधकी मूल प्रकृति आठ, गच्छके भेद, कल्याणका मार्ग एक ही, आत्माकी सामायिक, आत्माकी पहचानसे कर्मनाश, सम्यक्त्वके प्रकार, सात प्रकृतियोंके क्षयसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति, सच्ची भक्तिकी प्राप्ति, व्रतादि नियमसे कोमलता ७२०

९ गृहस्थाश्रममें सत्पुरुषका त्याग-वैराग्य, सत्पुरुषके गृहस्थाश्रमकी स्थिति प्रशस्त, सदाचार सत्पुरुष और योग्यता, स्वयं जागृत रहें, दोषोंका ही दोष, मुमुक्षुका त्याग-वैराग्य, सम्यक्त्व अपने पास ही, सच्चा शिष्य, आज्ञामें कल्याण, ममत्व मिथ्यात्व, सच्चा सग, भेद भासना अनादि भूल, मोक्ष क्या है ? सम्यक्त्वका मार्ग, षड्दर्शन, केवलज्ञान, सम्यक्त्व कैसे ज्ञात हो ? सम्यक्त्व सर्वोत्कृष्ट साधन, अंतरात्मा होनेके बाद परमात्मत्व, उपयोग और मन, कदाग्रह, आत्मा तिलमात्र दूर नहीं है, ग्रन्थिभेद, उपशम सम्यक्त्व, व्रतम उपयोग ७२२

१० कामना पाप, आत्मामें आंटी, आत्मज्ञान, जीवन्मुक्त होना, निष्क्रियता, विचारानुसार भावात्मा, ब्रह्मचर्य, देहकी मूर्च्छा, जीव कैसे वर्तन करे ? ज्ञानीका सदाचरण परोपकारके लिये, जैनधर्मकी स्थिति, तीन प्रकारके जीव, पडिक्कमामि आदिका अर्थ, सूत्र आदि साधन आत्मपहचानके लिये, समकितीमें गुण, नय आत्माको समझनेके लिये, समकितीको देशकेवलज्ञान, व्रतनियम, सच्चे-झूठेकी परीक्षा, उपवास तिथिके लिए नहीं परंतु आत्माके लिये, तप बारह प्रकारका, समकित और सामायिक, ज्ञान, दर्शन और चारित्र, आत्मा और सद्गुरु एक, सच्ची सामायिक, महावीरके दीक्षाजुलूसकी बात, सत्पुरुषके लक्षण, तरनेका कामी, आत्मस्वरूप, केवलज्ञान, सम्यक्त्वके प्रकार, स्वभावस्थिति ७२६

११ इस कालमें मोक्ष, शुभाशुभ क्रिया, सहज-समाधि, कुगुरु, समकित देशचारित्र, देशकेवलज्ञान, मोक्षमार्ग है, भगवानका स्वरूप, समकित सर्वोत्कृष्ट, उलटे मार्गपर सिद्धका मुख, वृत्ति रोकना, ममत्व दुःख, आहार आदिकी बातें तुच्छ, क्रोध आदि कृश करना, विवेक, शम और उपशमसे मोक्ष, वेदांती और पूर्वमीमांसककी मुक्तिमान्यता, सिद्धमें संवर-निर्जरा नहीं, धर्मसंन्यास, जीव सदा ही जीवित, आत्माकी निंदा करें, पुरुषार्थमें पाँच कारण, चौथे गुणस्थानकमें व्यवहार, पुरुषार्थवृद्धिके लिये नय, सत्संगसे अनायास गुणोत्पत्ति, सत्य बोलना बिलकुल सहज, सच्चा नय, सदाचारका सेवन, ज्ञानका अभ्यास, विभावके त्यागके लिये सत्साधन, समकितके मूल बारह व्रत, सत्पुरुषके योगसे व्रतादि सफल, सत्संगमें शल्य दूर हो, सदा भिखारी, सदा सुखी, सच्चे देव, गुरु और धर्मकी पहचान, सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ ७३३

१२ मिथ्यात्व जानेपर फल, जैनके साधु, सच्चा ज्ञान, मनुष्यभव भी वृथा, सत्पुरुषकी पहचान, सचमुच पाप अल्प व्यवहारमें बड़प्पन और अहंकार, परिग्रहकी मर्यादा, क्रोधादिका त्याग, ब्रह्मचर्य, मेरा स्वरूप भिन्न, क्षणिक आयु, बड़प्पनकी तृष्णा, अज्ञानीकी क्रिया निष्फल, विभाव ही मिथ्यात्व, अधमाधम पुरुषके लक्षण, नाककी राख, देहका स्वरूप, संसारप्रीतिसे पराधीनताके दुःख, सच्चा श्रावक, जीव अविचारसे भूला है। ७४०

९६० आभ्यंतर-परिणामावलोकन

संस्मरण पोथी—१

संस्मरणपोथी—२

संस्मरणपोथी—३

श्रीमद् राजचंद्र

•

श्रीमद् राजचंद्र

१७वें वर्षसे पहले

१

प्रथम शतक

शार्दूलविक्रीडितवृत्त

*ग्रंथारंभ प्रसंग रंग भरवा, कोडे करुं कामना;
बोधुं धर्मद मर्म भर्म हरवा, छे अन्यथा काम ना;
भाखुं मोक्ष सुबोध धर्म धनना, जोडे कथुं कामना;
एमां तत्त्व विचार सत्त्व सुखदा, प्रेरो प्रभु कामना ॥ १ ॥

छप्पय

नाभिनंदन नाथ, विश्ववंदन विज्ञानी;
भव बंधनना फंद, करण खंडन सुखदानी;
ग्रंथ पंथ आद्यंत, खंत प्रेरक भगवंता;
अखडित अरिहंत तंतहारक जयवंता;
श्री मरणहरण तारणतरण, विश्वोद्धारण अघ हरे;
ते ऋषभदेव परमेशपद, रायचंद वंदन करे ॥ २ ॥

प्रभुप्रार्थना

दोहा

जळहळ ज्योति स्वरूप तुं, केवळ कृपानिधान ।
प्रेम पुनित तुज प्रेरजे, भयभंजन भगवान ॥ ३ ॥

---

* **भावार्थ**—१. ग्रथके आरभरूप प्रसगको सुन्दर एव मनोहर बनानेकी उल्लासपूर्ण कामना करता हूँ। इस ग्रथमे भ्रम—अज्ञानको दूर करनेके लिये धर्मका बोध करानेवाले मर्मको प्रकाशित करना चाहता हूँ, अन्य कोई प्रयोजन नही है। इसमे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंके सुबोध—सम्यग्ज्ञानका वर्णन करना चाहता हूँ। वीतराग प्रभो ! आप मुझे सुखद तत्त्वविचारकी शक्ति प्रदान करें।

२ नाभिनंदन, नाथ, विश्ववद्य, विज्ञानी—विशिष्ट ज्ञानी, भवबधनके फदेका खडन करनेवाले, सुखदानी, ग्रथके पथमे आदिसे अन्त तक उत्साहित करनेवाले भगवान, अखडित, अरिहत, कर्मसततिके नाशक, विजयी, मरण-हरण, तरनतारन, विश्वोद्धारक प्रभु पापको दूर करे। उन श्री ऋषभदेव परमेश्वरके चरणोंमे रायचद वदन करते हैं।

३ हे भयभंजन भगवान ! तू प्रकाशमान, ज्योतिस्वरूप और सर्वथा कृपानिधान है। तेरा पुनित प्रेम मुझे प्रेरित करे।

नित्य निरंजन नित्य छो, गंजन गंज गुमान।
अभिवदन अभिवदना, भयभंजन भगवान ॥ ४ ॥

धर्मधरण तारणतरण, शरण चरण सन्मान।
विघ्नहरण पावनकरण, भयभंजन भगवान ॥ ५ ॥

भद्रभरण भीतिहरण, सुधाझरण शुभवान।
क्लेशहरण चिंताचूरण, भयभंजन भगवान ॥ ६ ॥

अविनाशी अरिहंत तुं, एक अखंड अमान।
अजर अमर अणजन्म तुं, भयभंजन भगवान ॥ ७ ॥

आनंदी अपवर्गी तुं, अकळ गति अनुमान।
आशिष अनुकूळ आपजे, भयभंजन भगवान ॥ ८ ॥

निराकार निर्लेप छो, निर्मळ नीतिनिधान।
निर्मोहक नारायणा, भयभंजन भगवान ॥ ९ ॥

सचराचर स्वयंभू प्रभु, सुखद सोंपजे सान।
सृष्टिनाथ सर्वेश्वरा, भयभजन भगवान ॥१०॥

संकट शोक सकळ हरण, नौतम ज्ञान निदान।
इच्छा विकळ अचळ करो, भयभजन भगवान ॥ ११ ॥

आधि व्याधि उपाधिने, हरो तत तोफान।
करुणाळु करुणा करो, भयभंजन भगवान ॥ १२ ॥

किंकरनी कंकर मति, भूल भयंकर भान।
शंकर ते स्नेहे हरो, भयभंजन भगवान ॥ १३ ॥

---

४ हे भयभजन भगवान ! तू नित्य निरजन, नित्य और अहकारपुजका नाशक है। तुझे वारवार अभिवन्दन हो।

५ हे भयभजन भगवान ! तू धर्मका धारक, तरनतारन विघ्नहार्ता एव पावनकारी है। तेरे चरणोकी उपासना मेरी शरण है।

६ हे भयभजन भगवान ! तू कल्याणकारी, भीतिहारी, सुधाका झरना, मगलमय, क्लेशहर और चिन्तानाशक है।

७ हे भयभजन भगवान ! तू अविनाशी, अरिहत, एक अखड एव असीम है। तू अजन्मा, अजर और अमर है।

८. हे भयभजन भगवान ! तू आनन्दमय, मोक्षमय और अनुमानसे अगोचर है। मुझे अनुकूल आशीर्वाद दे।

९ हे भयभजन भगवान ! तू निराकार, निर्लेप, निर्मल, नीतिनिधान और निर्मोहक नारायण है।

१०. हे भयभजन भगवान ! तू सचराचर, स्वयभू, प्रभु, विश्वनाथ और सर्वश्वर है। मुझे सुखद बोध दे।

११. हे भयभजन भगवान ! तू समस्त सकट और शोकका निवारक और नूतन ज्ञानका मूल कारण है। मेरी विकल इच्छाको अचल कर।

१२ हे भयभजन भगवान ! करुणालु करुणा कर। आधि, व्याधि, उपाधि और कर्मसन्ततिका उपद्रव दूर कर।

१३. हे भयभजन भगवान ! किंकरकी मति ककड जैसी है, आत्मभानकी भयकर भूल है। हे शकर ! उसे प्रेमसे दूर कर।

शक्ति शिशुने आपशो, भक्ति मुक्तिनुं दान।
तुज जुक्ति जाहेर छे, भयभंजन भगवान ॥ १४ ॥

नीति प्रीति नम्रता, भली भक्तिनुं भान।
आर्य प्रजाने आपशो, भयभंजन भगवान ॥ १५ ॥

दया शांति औदार्यता, धर्म मर्म मनध्यान।
सप जंप वण कंप दे, भयभंजन भगवान ॥ १६ ॥

हर आळस एदीपणु, हर अघ ने अज्ञान।
हर भ्रमणा भारत तणी, भयभंजन भगवान ॥ १७ ॥

तन, मन, धन ने अन्ननुं, दे सुख सुधा समान।
आ अवनीनुं कर भलु, भयभंजन भगवान ॥ १८ ॥

विनय विनति रायनी, धरो कृपाथी ध्यान।
मान्य करो महाराज ते, भयभंजन भगवान ॥ १९ ॥

धर्म विषे

कवित

दिनंकर विना जेवो, दिननो देखाव दीन,
शशि विना जेवी जोजो, शर्वरी सुहाय छे;
प्रतिपाळ विना जेवी, प्रजा पुरतणी पेखो,
सुरस विनानो जेवी, कविता कहाय छे;
सलिल विहीन जेवी सरितानी शोभा अने,
भर्त्तार विहोन जेवी भामिनी भळाय छे;
वदे रायचंद वीर एम धर्ममर्म विना,
मानवी महान पण, कुकर्मी कळाय छे ॥ २० ॥ (अपूर्ण)

---

१४ हे भयभंजन भगवान ! तेरी युक्ति प्रसिद्ध है। शिशुको शक्ति, भक्ति और मुक्तिका दान दे।

१५ हे भयभंजन भगवान ! तू नीति, प्रीति, नम्रता और सद्भक्तिका ज्ञान आर्य प्रजाको दे।

१६ हे भयभंजन भगवान ! तू आर्य प्रजाको दया, शांति, उदारता, धर्म-मर्मका ध्यान, एकता और निश्चल शांति दे।

१७ हे भयभंजन भगवान ! तू भारतका आलस्य एवं अकर्मण्यता दूर कर, और पाप, अज्ञान तथा भ्रान्ति दूर कर।

१८ हे भयभंजन भगवान ! तन, मन, धन तथा अन्नका सुधाके समान सुख दे। इस विश्वका भला कर।

१९ हे भयभंजन भगवान ! रायचंदकी सविनय विनति पर कृपया ध्यान दे; हे महाराज ! उसे मान्य कर।

२० देखिये, दिनकरके बिना जैसे दिन निस्तेज दीखता है, शशिके बिना जैसे रात शोभाहीन लगती है, प्रतिपाल—रक्षकके बिना जैसे नगरकी प्रजा सुरक्षित नहीं है, सुरसके बिना जैसे कविता नीरस कहलाती है, जलके बिना जैसे नदी शोभित नहीं होती, पतिके बिना जैसे स्त्री दुःखी होती है, वैसे, रायचंद कहते हैं कि वीर भगवानके धर्मका मर्म जाने बिना महान मानव भी अधार्मिक-पापी समझा जाता है। (अपूर्ण)

२

ॐ

पुष्पमाला

१. रात्रि बीत गई, प्रभात हुआ, निद्रासे मुक्त हुए। भावनिद्राको दूर करनेका प्रयत्न करें।

२. व्यतीत रात्रि और अतीत जीवन पर दृष्टि डाल जायें।

३ सफल हुए समयके लिये आनन्द माने, और आजका दिन भी सफल करें। निष्फल हुए दिनके लिये पश्चात्ताप करके निष्फलताको विस्मृत करें।

४. क्षण क्षण करके अनन्त काल व्यतीत हुआ, तो भी सिद्धि नही हुई।

५ यदि तुझसे एक भी कृत्य सफल न बन पाया हो तो बार-बार शरमा।

६ यदि तुझसे अघटित कृत्य हुए हो तो लज्जित होकर मन, वचन और कायके योगसे उन्हें न करनेकी प्रतिज्ञा ले।

७ यदि तू स्वतत्र हो तो ससार-समागममे अपने आजके दिनके निम्नलिखित विभाग कर—

(१) १ प्रहर—भक्तिकर्तव्य।
(२) १ प्रहर—धर्मकर्तव्य।
(३) १ प्रहर—आहारप्रयोजन।
(४) १ प्रहर—विद्याप्रयोजन।
(५) २ प्रहर—निद्रा।
(६) २ प्रहर—ससारप्रयोजन।

८ प्रहर

८ यदि तू त्यागी हो तो त्वचारहित वनिताके स्वरूपका विचार करके ससारकी ओर दृष्टि कर।

९ यदि तुझे धर्मका अस्तित्व अनुकूल न आता हो तो नीचेके कथन पर विचार कर देख—

(१) तू जिस स्थितिको भोग रहा है वह किस प्रमाणसे?
(२) आगामी कालकी बातको क्यो नही जान सकता?
(३) तू जो चाहता है वह क्यो नही मिलता?
(४) चित्रविचित्रताका प्रयोजन क्या है?

१०. यदि तुझे धर्मका अस्तित्व प्रमाणभूत लगता हो, और उसके मूल तत्त्वमे आशका हो तो नीचे कहता हूँ—

११ सर्व प्राणियोमे समदृष्टि,—

१२ अथवा किसी प्राणीको प्राणरहित नही करना, शक्तिसे अधिक उससे काम नही लेना।

१३. अथवा सत्पुरुष जिस मार्ग पर चले, उस मार्गको ग्रहण कर।

१४ मूल तत्त्वमे कही भी भेद नही है, मात्र दृष्टिमे भेद है, ऐसा मानकर और आशयको समझकर पवित्र धर्ममे प्रवृत्ति कर।

१५ तू चाहे जिस धर्मको मानता हो, मुझे उसका पक्षपात नही है। मात्र कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस मार्गसे ससारमलका नाश हो, उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर।

१६ तू चाहे जितना परतत्र हो तो भी मनसे पवित्रताका विस्मरण किये बिना आजका दिन रमणीय कर।

१७. यदि आज तू दुष्कृतकी ओर जा रहा हो, तो मरणका स्मरण कर।

१८. यदि आज किसीको दुःख देनेमें तत्पर हो तो अपने दुःखसुखकी घटनाओंकी सूची याद कर ले।

१९. तू राजा हो या रंक हो, चाहे जो हो, परंतु यह विचार करके सदाचारकी ओर आ कि इस कायाके पुद्गल थोडे समयके लिये मात्र साढे तीन हाथ भूमि माँगनेवाले हैं।

२० तू राजा हो तो फिक्र नही, परन्तु प्रमाद न कर, क्योंकि नीचसे नीच, अधमसे अधम, व्यभिचारका, गर्भपातका, निर्वंशका, चाण्डालका, कसाईका और वेश्याका कण तू खाता है। तो फिर ?

२१. प्रजाके दुःख, अन्याय और करकी जाँच करके आज कम कर। तू भी हे राजन्! कालके घर आया हुआ अतिथि है।

२२ यदि तू वकील हो तो इससे आधे विचारका मनन कर जा।

२३. यदि तू श्रीमत हो तो पैसेके उपयोगका विचार कर। कमानेका कारण आज खोजकर कह।

२४. धान्यादिके व्यापारमे होनेवाली असख्य हिंसाका स्मरण करके आज न्यायसपन्न व्यापारमे अपने चित्तको लगा।

२५. यदि तू कसाई हो तो अपने जीवके सुखका विचार करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

२६ यदि तू समझदार बालक हो तो विद्या और आज्ञाकी ओर दृष्टि कर।

२७ यदि तू युवान हो तो उद्यम और ब्रह्मचर्यकी ओर दृष्टि कर।

२८ यदि तू वृद्ध हो तो मृत्युकी ओर दृष्टि करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

२९ यदि तू स्त्री हो तो अपने पति सम्बन्धी धर्मकर्तव्यको याद कर,—दोष हुए हो उनकी क्षमा माँग और कुटुम्बकी ओर दृष्टि कर।

३० यदि तू कवि हो तो असभवित प्रशसाका स्मरण करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

३१ यदि तू कृपण हो तो,—

३२ यदि तू अमलमग्न हो तो नेपोलियन बोनापार्टका, दोनो स्थितियोसे स्मरण कर।

३३ यदि कल कोई कार्य अपूर्ण रह गया हो तो उसे पूर्ण करनेका सुविचार करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

३४ यदि आज किसी कृत्यका आरभ करना चाहता हो तो समय, शक्ति और परिणामका विवेकपूर्वक विचार करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

३५. कदम रखनेमे पाप है, देखनेमे जहर है, और सिर पर मौत सवार है, यह विचार करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

३६ यदि आज तुझे अघोर कर्म करनेमे प्रवृत्त होना हो तो, राजपुत्र हो तो भी भिक्षाचर्या मान्य करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

३७ यदि तू भाग्यशाली हो तो उसके आनदमे दूसरेको भी भाग्यशाली कर, परतु दुर्भाग्यशाली हो तो दूसरेका बुरा करनेसे रुककर आजके दिनमे प्रवेश कर।

३८. धर्माचार्य हो तो अपने अनाचारकी ओर कटाक्षदृष्टि करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

३९. अनुचर हो तो प्रियमे प्रिय ऐसे शरीरको निभानेवाले अपने अधिराजकी नमकहलाली चाहकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

४०. दुराचारी हो तो अपने आरोग्य, भय, परतत्रता, स्थिति और सुखका विचार करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

४१. दुःखी हो तो (आजकी) आजीविका जितनी आशा रखकर आजके दिनमे प्रवेश कर।

४२. धर्मकर्मके लिये अवश्य समय निकालकर तू आजकी व्यवहारसिद्धिमे प्रवेश कर।

४३. कदाचित् प्रथम प्रवेशमे अनुकूलता न हो तो भी रोज जाते हुए दिनके स्वरूपका विचार करके आज कभी भी उस पवित्र वस्तुका मनन कर।

४४ आहार, विहार और निहार सबधी अपनी प्रक्रियाकी जाँच करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

४५ यदि तू कारीगर हो तो आलस्य और शक्तिके दुरुपयोगका विचार करके आजके दिनमे प्रवेश कर।

४६ तू चाहे जो धधा करता हो, परतु आजीविकाके लिये अन्यायसपन्न द्रव्यका उपार्जन मत कर।

४७. यह स्मृति ग्रहण करनेके बाद शौचक्रियायुक्त होकर भगवद्भक्तिमे लीन होकर क्षमा माँग।

४८ यदि तू ससार प्रयोजनमे अपने हितके लिये अमुक समुदायका अहित कर डालता हो तो रुक जा।

४९ अत्याचारी, कामी और अनाडीको उत्तेजन देता हो तो रुक जा।

५० कमसे कम आधा प्रहर भी धर्मकर्तव्य और विद्यासपादनमे लगा।

५१ जिदगी छोटी है और जजाल लम्बा है, इसलिये जजाल कम कर, तो सुखरूपसे जिदगी लंबी लगेगी।

५२ स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि सभी सुख तेरे घरमे हो तो भी इन सुखोमे गौणतासे दुःख रहा हुआ है, ऐसा मानकर आजके दिनमे प्रवेश कर।

५३ पवित्रताका मूल सदाचार है।

५४ चंचल हो जाते हुए मनको सँभालनेके लिये,—

५५ शात, मधुर, कोमल, सत्य और पवित्र वचन बोलनेकी सामान्य प्रतिज्ञा लेकर आजके दिनमे प्रवेश कर।

५६ काया मलमूत्रका पिण्ड है, इसके लिये 'मै यह क्या अयोग्य कार्य करके आनद मानता हूँ,' ऐसा आज विचार कर।

५७ तेरे द्वारा आज किसीकी आजीविका नष्ट होनेवाली हो तो,—

५८ अब तूने आहारक्रियामे प्रवेश किया। मिताहारी अकबर सर्वोत्तम बादशाह माना गया है।

५९ यदि आज दिनमे सोनेका तेरा मन हो, तो उस समय ईश्वरभक्ति-परायण हो जा, अथवा सत्शास्त्रका लाभ उठा ले।

६० मै समझता हूँ कि ऐसा होना दुष्कर है, तो भी अभ्यास सबका उपाय है।

६१ चला आता हुआ वैर आज निर्मूल किया जाये तो उत्तम, नही तो उसकी सावधानी रख।

६२ इस तरह नया वैर मत बढा, क्योकि वैर करके कितने समयका सुख भोगना है यह विचार तत्त्वज्ञानी करते है।

६३ आज महारभी एव हिंसायुक्त व्यापारमे लगना पडता हो तो रुक जा।

६४ बहुत लक्ष्मी मिलने पर भी आज अन्यायसे किसीकी जान जाती हो तो रुक जा।

६५ समय अमूल्य है, इस बातका विचार करके आजके दिनके २,१६,००० विपलोका उपयोग कर।

६६ वास्तविक सुख मात्र विरागमे है, इसलिये आज जजालमोहनीसे अभ्यतरमोहनीको मत बढा।

६७ फुरसतका दिन हो तो आगे कही हुई स्वतत्रताके अनुसार चल।

६८ किसी प्रकारका निष्पाप विनोद किंवा अन्य कोई निष्पाप साधन आजके आनदके लिये खोज।

६९. सुयोजक कृत्य करनेमे प्रवृत्त होना हो तो विलम्ब करनेका आजका दिन नही है, क्योंकि आज जैसा मंगलदायक दिन दूसरा नहीं है।

७० अधिकारी हो तो भी प्रजाहितको मत भूल, क्योंकि जिसका (राजाका) तू नमक खाता है, वह भी प्रजाका प्रिय सेवक है।

७१ व्यावहारिक प्रयोजनमे भी उपयोगपूर्वक विवेकी रहनेकी सत्प्रतिज्ञा लेकर आजके दिनमे प्रवृत्ति कर।

७२. सायंकाल होनेके बाद विशेष शान्ति ले।

७३ आजके दिनमे इतनी वस्तुओंको बाधा न आये तभी वास्तविक विचक्षणता मानी जाये —
१ आरोग्य, २ महत्ता, ३ पवित्रता और ४ कर्तव्य।

७४ यदि आज तुझसे कोई महान कार्य होना हो, तो अपने सर्व सुखका त्याग भी कर दे।

७५ करज यह नीच रज (क · रज) है, ★ करज यह यमके हाथसे उत्पन्न वस्तु है, (कर+ज) कर यह राक्षसी राजाका क्रूर कर उगाहनेवाला है। यह हो तो आज चुका दे, और नया करते हुए रुक जा।

७६ दैनिक कृत्यका हिसाब अब देख जा।

७७ सवेरे याद दिलायी है, फिर भी कुछ अयोग्य हुआ हो तो पश्चात्ताप कर और शिक्षा ले।

७८ कोई परोपकार, दान, लाभ अथवा दूसरेका हित करके आया हो तो आनन्द मान और निरभिमान रह।

७९. जाने-अनजाने भी यदि कुछ विपरीत हुआ हो तो अब ऐसा काम मत कर।

८० व्यवहारका नियम रख और अवकाशमे संसारकी निवृत्ति खोज।

८१ आज तूने जैसा उत्तम दिन भोगा है वैसा अपना जीवन भोगनेके लिये तू आनंदित हो, तो ही आ०—

८२ आज जिस पलमे तू मेरी कथाका मनन करता है, उसीको अपनी आयु समझकर सद्वृत्तिमें लग जा।

८३ सत्पुरुष विदुरके कहे अनुसार आज ऐसा कृत्य कर कि रातमे सुखसे सोया जा सके।

८४ आजका दिन सुनहरा है, पवित्र है, कृतकृत्य होनेरूप है, ऐसा सत्पुरुषोने कहा है, इसलिये मान्य कर।

८५ जैसे हो सके वैसे आजके दिनमे और स्वपत्नीसे भी विषयासक्त कम रहना।

८६ आत्मिक और शारीरिक शक्तिकी दिव्यताका वह मूल है, यह ज्ञानियोंका अनुभवसिद्ध वचन है।

८७ तम्बाकू सूंघने जैसा छोटा व्यसन भी हो तो आज उसे छोड दे।—(०) नवीन व्यसन करनेसे रुक जा।

८८ देश, काल, मित्र इन सबका विचार सभी मनुष्योंको इस प्रभातमे यथाशक्ति करना उचित है।

८९ आज कितने सत्पुरुषोंका समागम हुआ, आज वास्तविक आनन्दस्वरूप क्या हुआ? यह चिन्तन विरले पुरुष करते है।

९० आज तू चाहे जैसे भयकर किंतु उत्तम कृत्यके लिये तत्पर हो तो हिम्मत मत हार।

९१ शुद्ध, सच्चिदानद, करुणामय परमेश्वरकी भक्ति आजके तेरे सत्कृत्यका जीवन है।

९२ तेरा, तेरे कुटुम्बका, मित्रका, पुत्रका, पत्नीका, मातापिताका, गुरुका, विद्वानका, सत्पुरुषका यथाशक्ति हित, सन्मान, विनय और लाभका कर्तव्य हुआ हो तो वह आजके दिनका सुगंध है।

९३ जिसके घर यह दिन क्लेशरहित, स्वच्छतासे, शुचितासे, एकतासे, संतोषसे, सौम्यतासे, स्नेहसे, सभ्यतासे और सुखसे बीतेगा उसके घरमे पवित्रताका वास है।

★ करज (कर+ज)

९४. कुशल और आज्ञाकारी पुत्र, आज्ञावलंबी धर्मयुक्त अनुचर, सद्गुणी सुन्दरी, मेलजोलवाला कुटुम्ब, सत्पुरुष जैसी अपनी दशा जिस पुरुषकी होगी उसका आजका दिन हम सबके लिए वन्दनीय है।

९५. इन सब लक्षणोंसे संयुक्त होनेके लिये जो पुरुष विचक्षणतासे प्रयत्न करता है, उसका दिन हमारे लिये माननीय है।

९६. इससे विपरीत बर्ताव जहाँ हो रहा है वह घर हमारी कटाक्षदृष्टिकी रेखा है।

९७ भले ही तू अपनी आजीविका जितना प्राप्त करता हो, परन्तु यदि निरुपाधिमय हो तो उस उपाधिमय राजसुखकी इच्छा करके अपने आजके दिनको अपवित्र मत कर।

९८ किसीने तुझे कटुवचन कहा हो तो उस समय सहनशीलता—निरुपयोगी भी,

९९ दिनकी भूलके लिये रातमे हँसना, परतु वैसा हँसना फिरसे न हो, यह ध्यानमे रख।

१०० आज कुछ बुद्धिप्रभाव बढाया हो, आत्मिक शक्ति उज्ज्वल की हो, पवित्र कृत्यकी वृद्धि की हो तो वह,—

१०१ आज अपनी किसी शक्तिका अयोग्य रीतिसे उपयोग मत कर,—मर्यादालोपनसे करना पड़े तो पापभीरु रह।

१०२ सरलता धर्मका बीजस्वरूप है। प्रज्ञापूर्वक सरलताका सेवन किया गया हो तो आजका दिन सर्वोत्तम है।

१०३ स्त्री, राजपत्नी हो या दीनजनपत्नी हो, परन्तु मुझे उसकी कोई परवा नही है। मर्यादासे चलनेवालीकी, मैने तो क्या परतु पवित्र ज्ञानियोंने भी प्रशसा की है।

१०४ सद्गुणके कारण यदि आप पर जगतका प्रशस्त मोह होगा तो हे स्त्री! मै आपको वंदन करता हूँ।

१०५. बहुमान, नम्रभाव और विशुद्ध अन्त:करणसे परमात्माका गुणसबधी चिन्तन, श्रवण, मनन, कीर्तन, पूजा, अर्चा—इनकी ज्ञानी पुरुषोंने प्रशसा की है, इसलिये आजके दिनको सुशोभित कर।

१०६ सत्-शीलवान् सुखी है, दुराचारी दुखी है, यह बात यदि मान्य न हो तो अभीसे आप ध्यान रखकर इस बातका विचार कर देखे।

१०७ इन सबका सरल उपाय आज कहे देता हूँ कि दोषको पहचानकर दोषको दूर करना।

१०८ लबी छोटी या क्रमानुक्रम चाहे जिस स्वरूपमे यह मेरी कही हुई, पवित्रताके पुष्पोसे गूँथी हुई माला प्रातःकाल, सायंकाल और अन्य अनुकूल निवृत्तिके समय विचार करनेसे मगलदायिका होगी। विशेष क्या कहूँ?

३

काळ कोईने नहि मूके !

हरिगीत

*मोतीतणी माळा गळामा मूल्यवंती मलकती,
हीरातणा शुभ हारथी बहु कंठकांति झळकती;
आभूषणोथी ओपता भाग्या मरणने जोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ १ ॥

काल किसीको नही छोड़ता !

*भावार्थ—१ जिनके गलेमे मोतियोकी मूल्यवती माला सुशोभित हो रही थी, जिनकी कठकांति हीरेके उत्तम हारसे बहुत प्रकाशित हो रही थी, और जो अनेक आभूषणोसे विभूषित हो रहे थे, वे भी मृत्युको देखकर

मणिमय मुगट माथे धरीने कर्ण कुंडल नाखता,
कांचन कडां करमां धरी कशीये कचाश न राखता;
पळमां पड्या पृथ्वीपति ए भान भूतळ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ २ ॥

दश आंगळीमां मांगलिक मुद्रा जडित माणिक्यथी,
जे परम प्रेमे पे'रता पोंची कळा बारीकथी;
ए वेढ वींटी सर्व छोडी चालिया मुख धोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ३ ॥

मूछ वांकडी करी फांकडा थई लींबु धरता ते परे,
कापेल राखो कातरा हरकोईनां हैयां हरे;
ए सांकडीमां आविया छटक्या तजो सहु सोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ४ ॥

छो खंडना अधिराज जे चंडे करीने नीपज्या,
ब्रह्मांडमां बळवान थईने भूप भारे ऊपज्या;
ए चतुर चक्री चालिया होता नहोता होईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ५ ॥

जे राजनीतिनिपुणतामां न्यायवंता नीवड्या,
अवळा कर्ये जेना बधा सवळा सदा पासा पड्या;
ए भाग्यशाळी भागिया ते खटपटो सौ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ६ ॥

भाग गये। अर्थात् कालकवलित हो गये। इसलिये हे मनुष्यो! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नही छोड़ता।

२ जो मस्तक पर मणिमय मुकुट धारण करते थे, कानोंमें कुण्डल पहनते थे, हाथोंमें सोनेके कड़े पहनते थे, और वस्त्रालंकारसे सुशोभित होनेमें कोई कमी न रखते थे, ऐसे पृथ्वीपति भी क्षणभरमें बेहोश होकर भूतल पर गिर पड़े। इसलिये हे मनुष्यो! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नही छोड़ता।

३. जो दसों अंगुलियोंमें माणिकसे जड़ित मांगलिक अँगूठियाँ पहनते थे, और कलाइयोंमें सूक्ष्म कलामय पहुँचियाँ परम प्रेमसे पहनते थे, वे अँगूठियाँ आदि सब छोड़कर, मुँह धोकर चल बसे। इसलिये हे मनुष्यो! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नही छोड़ता।

४. जो मूँछें बांकी कर, फक्कड़ बनकर मूँछोंपर निंबू रखते थे, और जो सुंदर कटे हुए बालोंसे हर किसीके मनको हरते थे, वे भी संकटमें आ गये और सब सुविधाएँ छोड़कर चल दिये। इसलिये हे मनुष्यों! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नही छोड़ता।

५. जो अपने प्रतापसे छ खंडके अधिराज बने हुए थे, और ब्रह्माण्डमें बलवान होकर महान सम्राट् कहलाते थे, ऐसे चतुर चक्रवर्ती भी इस तरह चल बसे कि मानो वे हुए ही न थे। इसलिये हे मनुष्यों! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नही छोड़ता।

६. जो राजनीतिकी निपुणतामें न्यायवान सिद्ध हुए थे, और जिनके उलटे पासे सदा सीधे ही पड़ते थे; ऐसे भाग्यशाली भी सब खटपटें छोड़कर भाग निकले। इसलिये हे मनुष्यो! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नहीं छोड़ता।

तरवार बहादुर टेकधारी पूर्णतामां पेखिया,
हाथी हणे हाथे करी ए केशरी सम देखिया;
एवा भला भडवीर ते अंते रहेला रोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ७ ॥

४
धर्म विषे

कवित्त

* साह्यबी सुखद होय, मानतणो मद होय,
खमा खमा खुद होय, ते ते कशा कामनुं?
जुवानीनुं जोर होय, एशनो अंकोर होय,
दोलतनो दोर होय, ए ते सुख नामनुं;
वनिता विलास होय, प्रौढता प्रकाश होय,
दक्ष जेवा दास होय, होय सुख धामनुं,
वदे रायचंद एम, सद्धर्मने धार्या विना,
जाणी लेजे सुख ए तो, बेए ज बदामनुं! ॥ १ ॥

मोह मान मोडवाने, फेलपणुं फोडवाने,
जाळफंद तोडवाने, हेते निज हाथथी;
कुमतिने कापवाने, सुमतिने स्थापवाने,
ममत्वने मापवाने, सकल सिद्धांतथी;
महा मोक्ष माणवाने, जगदीश जाणवाने,
अजन्मता आणवाने, वळी भली भातथी;
अलौकिक अनुपम, सुख अनुभववाने,
धर्म धारणाने धारो, खरेखरी खांतथी ॥ २ ॥

---

७ जो तलवार चलानेमे बहादुर थे, जो अपनी टेकपर मरनेवाले थे, सब प्रकारसे परिपूर्ण दीखते थे, जो अपने हाथोंसे हाथीको मारकर केसरीके समान दिखायी देते थे, ऐसे सुभटवीर भी अंतमें रोते ही रह गये। इसलिये हे मनुष्यो! इसे भली भाँति जानें और मनमें ठानें कि काल किसीको नही छोडता।

धर्मविषयक

* **भावार्थ**—१. सुखद वैभव हो, मानका मद हो, 'जीते रहें', 'जीते रहें' के उद्गारोंसे बधाई मिलती हो—यह सब किस कामके? जवानीका जोर हो, ऐशका सामान हो, दौलतका दौर हो—यह सब सुख तो नामका है। वनिताका विलास हो, प्रौढताका प्रकाश हो, दक्ष जैसे दास हो, सुविधायुक्त घर हो। रायचंद यह कहते हैं कि सद्धर्मको धारण किये बिना यह सब सुख दो ही कौडीका है।

२. अपने ही हाथसे प्रेमपूर्वक मोह और मानको दूर करनेके लिये, ढोंगको मिटानेके लिये, कपटजालके फंदको तोडनेके लिये, सकल सिद्धान्तकी सहायतासे कुमतिको काटनेके लिये, सुमतिको स्थापित करनेके लिये और ममत्वको मापनेके लिये, भली भाँति महामोक्षको भोगनेके लिये, जगदीशको जाननेके लिये, अजन्मताको प्राप्त करनेके लिये, तथा अलौकिक एवं अनुपम सुखका अनुभव करनेके लिये सच्चे उत्साहसे धर्मको धारण करें।

दिनकर विना जेवो, दिननो देखाव दीसे,
शशी विना जेवी रीते, शर्वरी सुहाय छे;
प्रजापति विना जेवो, प्रजा पुरतणी पेखो,
सुरस विनानी जेवी, कविता कहाय छे;
सलिल विहीन जेवी, सरितानी शोभा अने,
भर्तार विहीन जेवी, भामिनी भळाय छे;
वदे रायचंद वीर, सद्धर्मने धार्या विना,
मानवी महान तेम, कुकर्मी कळाय छे ॥ ३ ॥

चतुरो चोंपेथी चाहो चितामणि चित्त गणे,
पंडितो प्रमाणे छे, पारसमणि प्रेमथी;
कविओ कल्याणकारी, कल्पतरु कथे जेने,
सुधानो सागर कथे, साधु शुभ क्षेमथी;
आत्मना उद्धारने उमंगथी अनुसरो जो,
निर्मळ थवाने काजे, नमो नीति नेमथी;
वदे रायचंद वीर, एवुं धर्मरूप जाणी,
"धर्मवृत्ति ध्यान धरो, विलखो न वे'मथी" ॥ ४ ॥

५

ॐ

बोधवचन

१ आहार नहीं करना।
२ यदि आहार करना तो पुद्गलके समूहको एकरूप मानकर करना, परंतु लुब्ध नहीं होना।
३ आत्मश्लाघाका चिन्तन नहीं करना।
४. त्वरासे निरभिमान होना।
५. स्त्रीका रूप नहीं देखना।
६ स्त्रीका रूप देखा जाये तो रागयुक्त नहीं होना, परंतु अनित्यभावका विचार करना।
७. यदि कोई निंदा करे तो उसपर द्वेषबुद्धि नहीं रखना।
८. मतमतांतरमें नहीं पड़ना।
९. महावीरके पथका विसर्जन नहीं करना।
१०. त्रिपदके उपयोगका अनुभव करना।

---

३. इस पद्यका भावार्थ पृष्ठ ३ पर देखें।

४. जिसे चतुर लोग उत्कंठासे चाहकर चित्तमें चितामणि मानते हैं, जिसे प्रेमसे पंडित लोग पारसमणि मानते हैं, जिसे कवि कल्याणकारी कल्पतरु कहते हैं, जिसे साधु शुभ क्षेमसे सुधाका सागर कहते है—ऐसा धर्मका स्वरूप है। यदि उत्साहपूर्वक आत्माका उद्धार करना चाहते हों तो निर्मल होनेके लिये नियमपूर्वक नीति-धर्मका पालन करें। रायचन्द वीर कहते हैं कि ऐसा धर्मका स्वरूप जानकर धर्मवृत्तिमें ध्यान रखें और भ्रान्त मान्यतासे दुःखी न हों।

११. अनादिका जो स्मृतिमे है उसे भूल जाना।
१२. जो स्मृतिमे नही है उसे याद करें।
१३ वेदनीय कर्मका उदय हुआ हो तो पूर्वकर्मस्वरूपका विचार करके घबराना नही।
१४ वेदनीयका उदय हो तो निश्चय रूप 'अवेद' पदका चिंतन करना।
१५ पुरुष वेदका उदय हो तो स्त्रीका शरीर पृथक्करणपूर्वक देखना—ज्ञानदशासे।
१६ त्वरासे आग्रह-वस्तुका त्याग करना, त्वरासे आग्रह 'स' दशाका ग्रहण करना।
१७. परंतु बाह्य उपयोग नही देना।
१८ ममत्व ही बंध है।
१९ बंध ही दुःख है।
२० दुःखसुखसे पराङ्मुख होना।
२१ संकल्प-विकल्पका त्याग करना।
२२ आत्म-उपयोग कर्मत्यागका उपाय है।
२३. रसादिक आहारका त्याग करना।
२४ पूर्वोदयमे न छोड़ा जाये तो अबंधरूपसे भोगना।
२५. जो जिसकी है उसे वह सौंप दें (विपरीत परिणति)।
२६ जो है सो है परंतु मन विचार करनेके लिये शक्तिमान नही है।
२७. क्षणिक सुख पर लुब्ध नही होना।
२८ समदृष्टिके लिये गजसुकुमारके चरित्रका विचार करना।
२९ रागादिसे विरक्त होना यही सम्यग्ज्ञान है।
३० सुगंधी पुद्गलोंको नही सूँघना। स्वभावत वैसी भूमिकामे आ गये तो राग नही करना।
३१ दुर्गंधसे द्वेष नही करना।
३२ पुद्गलकी हानिवृद्धिसे खेदखिन्न या प्रसन्न नही होना।
३३ आहार अनुक्रमसे कम करना (लेना)।
३४. हो सके तो कायोत्सर्ग अहोरात्र करना, नही तो एक घंटा करनेसे नही चूकना।
३५ ध्यान एकचित्तसे रागद्वेष छोड़कर करना।
३६ ध्यान करनेके बाद चाहे जैसा भय उत्पन्न हो तो भी नही डरना। अभय आत्मस्वरूपका विचार करना। 'अमर दशा जानकर चलविचल नही होना।'
३७. अकेले शयन करना।
३८ अंतरंगमे सदा एकाकी विचार लाना।
३९. शंका, कंखा या वितिगिच्छा नही करना। ऐसेकी संगति करना कि जिससे शीघ्र आत्महित हो।
४० द्रव्यगुण देखकर भी राजी नही होना।
४१ षड् द्रव्यके गुणपर्यायका विचार करें।
४२ सबको समदृष्टिसे देखें।
४३ बाह्य मित्रसे जो जो इच्छा रखते हो, उसकी अपेक्षा अभ्यंतर मित्रको शीघ्र चाहें।
४४ बाह्य स्त्रीकी जिस प्रकारसे इच्छा रखते हो, उससे विपरीत प्रकारसे आत्माकी स्त्री तद्रूप वही चाहे।
४५ बाहर लड़ते है, उसकी अपेक्षा तो अभ्यंतर महाराजाको हरायें।

४६. अहंकार न करें।
४७. भले कोई द्वेष करे परंतु आप वैसा न करें।
४८. क्षण क्षणमे मोहका संग छोड़ें।
४९. आत्मासे कर्मादिक अन्य है, तो ममत्वरूप परिग्रहका त्याग करें।
५०. सिद्धके सुख स्मृतिमे लायें।
५१. एकचित्तसे आत्माका ध्यान करें। प्रत्यक्ष अनुभव होगा।
५२. बाह्य कुटुम्ब पर राग न करें।
५३. अभ्यंतर कुटुंब पर राग न करें।
५४. स्त्री पुरुषादिक पर अनुरक्त न हो।
५५. वस्तुधर्मको याद करें।
५६ कोई बाँधनेवाला नही है, अपनी भूलसे बँधता है।
५७ एकको उपयोगमे लायेंगे तो सब शत्रु दूर हो जायेंगे।
५८ गीत और गायनको विलापतुल्य जाने।
५९ आभरण ही द्रव्यभार (भाव) भारकर्म।
६० प्रमाद ही भय है।
६१ अप्रमाद भाव ही अभयपद है।
६२. जैसे भी हो, त्वरासे प्रमाद छोड़ें।
६३ विषमता छोड़े।
६४ कर्मयोगसे आत्मा नयी नयी देह धारण करते है।
६५ अभ्यंतर दयाका चिन्तन करना।
६६ स्व और परके नाथ बने।
६७ बाह्य मित्र आत्महितका मार्ग बताये, उसे अभ्यंतर मित्रके रूपमे—
६८. जो बाह्य मित्र पौद्गलिक बातों और पर वस्तुका सग कराये, उन्हे त्वरासे छोडा जा सके तो छोडे और कदाचित् छोडा न जा सके तो अभ्यतरसे लुब्ध एव आसक्त न हो। उन्हे भी, जो जानते हो उसका बोध दे।
६९. जैसे चेतनरहित काष्ठका छेदन करनेसे काष्ठ दुःख नही मानता, वैसे आप भी समदृष्टि रखिये।
७०. यतनासे चलना।
७१. विकारको घटाये।
७२ सत्पुरुषके समागमका चिंतन करें और मिल जाने पर दर्शनलाभसे न चूके।
७३. कुटुंबपरिवारके प्रति आन्तरिक चाह न रखें।
७४. अत्यंत निद्रा न ले।
७५. व्यर्थ समय न जाने दे।
७६. व्यावहारिक कामसे जिस समय मुक्त हो जाये, उस समय एकांतमे जाकर आत्मदशाका विचार करें।
७७. संकट आने पर भी धर्म न चूके।
७८. असत्य न बोलें।
७९. आर्त्त एवं रौद्र ध्यानका शीघ्र त्याग करें।

८०. धर्मध्यानके उपयोगमे चलना ।
८१. शरीर पर ममत्व न रखें ।
८२ आत्मदशा नित्य अचल है, इसमे संशय न करें ।
८३ किसीकी गुप्त बात किसीसे न करे ।
८४ किसी पर जन्म पर्यन्त द्वेषबुद्धि न रखें ।
८५ यदि किसीको कुछ द्वेपवश कहा गया हो, तो अति पश्चाताप करें, और क्षमा मांगें । फिर कभी वैसा न करे ।
८६. कोई तुझसे द्वेषबुद्धि करे, परतु तू वैसा नहीं करना !
८७ जैसे भी हो, ध्यान शीघ्र करें ।
८८ यदि किसीने कृतघ्नता की हो तो उसे भी समदृष्टिसे देखे ।
८९ दूसरेको उपदेश देनेका लक्ष्य है, इसकी अपेक्षा निजधर्ममे अधिक लक्ष्य देना ।
९०. कथनकी अपेक्षा मथनपर अधिक ध्यान देना ।
९१ वीरके मार्गमे सशय न करें ।
९२ ऐसा न हो तो केवलीगम्य है, ऐसा चिंतन करें, जिससे श्रद्धा बदलेगी नही ।
९३ बाह्य करनीकी अपेक्षा अभ्यंतर करनी पर अधिक ध्यान देना ।
९४ 'मैं कहाँसे आया ?' 'मै कहाँ जाऊँगा ?' 'मुझे क्या बंधन है ?' 'क्या करनेसे बधन चला जाये ?' 'कैसे छूटना हो ?' ये वाक्य स्मृतिमे रखे ।
९५. स्त्रियोके रूप पर ध्यान रखते हैं, इसकी अपेक्षा आत्मस्वरूप पर ध्यान दें तो हित होगा ।
९६. ध्यानदशा पर ध्यान रखते है, इसकी अपेक्षा आत्मस्वरूप पर ध्यान देंगे तो उपशम भाव सहजतासे होगा और समस्त आत्माओको एक दृष्टिसे देखेंगे । एकचित्तसे अनुभव होगा तो आपके लिये यह इच्छा अन्तरसे अमर हो जायेगी । यह अनुभवसिद्ध वचन है ।
९७ किसीके अवगुणोकी ओर ध्यान न देना । परन्तु अपने अवगुण हो तो उन पर अधिक दृष्टि रखकर गुणस्थ हो जाना ।
९८ बद्ध आत्माको जैसे बाँधा उससे विपरीत वर्तन करनेसे वह छूट जायेगा ।
९९ स्वस्थानक पर पहुँचनेका उपयोग रखें ।
१००. महावीर द्वारा उपदिष्ट बारह भावनाएँ भावें ।
१०१ महावीरके उपदेशवचनोका मनन करें ।
१०२ महावीर प्रभु जिस मार्गसे तरे और उन्होने जैसा तप किया वैसा तप निर्मोहतासे करना ।
१०३. परभावसे विरक्त हो ।
१०४ जैसे भी हो, आत्माका आराधन त्वरासे करे ।
१०५ सम, दम, खमका अनुभव करे ।
१०६. स्वराज पदवी स्वतप आत्माका लक्ष रख (दे) ।
१०७. रहन-सहन पर ध्यान देना ।
१०८. स्वद्रव्य और अन्य द्रव्यको भिन्न-भिन्न देखें ।
१०९ स्वद्रव्यके रक्षक शीघ्र हो ।
११० स्वद्रव्यके व्यापक शीघ्र हो ।
१११. स्वद्रव्यके धारक शीघ्र हो ।
११२. स्वद्रव्यके रमक शीघ्र हो ।

११३. स्वद्रव्यके ग्राहक शीघ्र हों।
११४. स्वद्रव्यकी रक्षकता पर ध्यान रखें (दें)।
११५. परद्रव्यकी धारकता शीघ्र छोड़ें।
११६. परद्रव्यकी रमणता शीघ्र छोड़ें।
११७. परद्रव्यकी ग्राहकता शीघ्र छोड़ें।
११८. जब ध्यानकी स्मृति हो तब स्थिरता करें, उसके बाद सर्दी, गर्मी, छेदन, भेदन इत्यादि-इत्यादि देहके ममत्वका विचार न करे।
११९. जब ध्यानकी स्मृति हो तब स्थिरता करें; उसके बाद देव, मनुष्य, तिर्यंचके परिषह आयें तो एक उपयोगसे, आत्मा अविनाशी है, ऐसा विचार लाये, तो आपको भय नही होगा, और शीघ्र कर्मबंधसे मुक्त होगे। आत्मदशाको अवश्य देखेंगे। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन इत्यादि-इत्यादि ऋद्धि प्राप्त करेंगे।
१२०. फुर्सतके वक्त व्यर्थ कूट और निंदा करते है, इसकी अपेक्षा वह वक्त ज्ञानध्यानमें लगायें तो कैसा योग्य गिना जाये!
१२१. देनदार मिल जाये किन्तु आप कर्ज़ सोच-बूझ कर लेना।
१२२ देनदार चक्रवृद्धि व्याज लेनेके लिये कर्ज दे, परंतु आप उस पर ख्याल रखें।
१२३. यदि तू कर्ज़का ख्याल नही रखेगा तो बादमे पछतायेगा।
१२४. द्रव्यऋणको चुकानेकी चिता करते है, इसकी अपेक्षा भावऋण चुकानेकी अधिक तत्परता रखें।
१२५ कर्ज़ चुकानेके लिये अधिक शीघ्रता करे।

६
जहाँ उपयोग वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार।

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिये।
२ सर्व प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमे है।
३. आहार, विहार, निहारकी नियमितता।
४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोने आचरण किया है।

७
नित्यस्मृति

१. जिस महान कार्यके लिये तू जन्मा है, उस महान कार्यका अनुप्रेक्षण कर।
२ ध्यान धारण कर, समाधिस्थ हो जा।
३. व्यवहारकार्यका विचार कर ले। जिसका प्रमाद हुआ है, उसके लिये अब प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिसमे साहस हुआ हो, उससे ऐसा बोध ले कि अब वैसा न हो।
४. तू दृढ योगी है, वैसा ही रह।
५. कोई भी अल्प भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती यह महाकल्याण है।

६ लिप्त नही होना ।
७ महागंभीर हो ।
८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका विचार कर ले ।
९. यथार्थ कर ।
१०. कार्यसिद्धि करके चला जा ।

८

सहजप्रकृति

१. परहितको ही निजहित समझना, और परदु.खको अपना दु ख समझना ।
२ सुखदु'ख दोनों मनकी कल्पनाएँ है ।
३. क्षमा ही मोक्षका भव्य द्वार है ।
४ सबके साथ नम्रभावमे रहना ही सच्चा भूषण है ।
५. शान्त स्वभाव ही सज्जनताका सच्चा मूल है ।
६ सच्चे स्नेहीकी चाह सज्जनताका विशेष लक्षण है ।
७. दुर्जनका कम सहवास ।
८ विवेकबुद्धिसे सब आचरण करना ।
९. द्वेषभावको विषरूप समझना ।
१०. धर्मकर्ममे वृत्ति रखना ।
११ नीतिके विधान पर पैर नही रखना ।
१२. जितेन्द्रिय होना ।
१३ ज्ञानचर्चा और विद्याविलासमे तथा शास्त्राध्ययनमे जुट जाना ।
१४ गंभीरता रखना ।
१५. ससारमे रहते हुए भी तथा उसे नीतिसे भोगते हुए भी विदेही दशा रखना ।
१६ परमात्माकी भक्तिमे रत होना ।
१७ परनिंदाको ही प्रबल पाप मानना ।
१८ दुर्जनता करके जीतना यही हारना है, ऐसा मानना ।
१९ आत्मज्ञान और सज्जन-सगति रखना ।

९

ॐ

प्रश्नोत्तर

प्रश्न	उत्तर
१ जगतमे आदरणीय क्या है ?	१ सद्गुरुका वचन ।
२ शीघ्र करने योग्य क्या ?	२ कर्मका निग्रह ।
३ मोक्षतरुका बीज क्या ?	३ क्रियासहित सम्यग्ज्ञान ।
४ सदा त्याज्य क्या ?	४. अकार्य काम ।
५ सदा पवित्र कौन ?	५. जिसका अन्तःकरण पापरहित हो ।
६ सदा यौवनवान् कौन ?	६. तृष्णा (लोभ दशा) ।

७. शूरवीर कौन ?	७ जो स्त्रीके कटाक्षसे बीधा न जाये।
८ महत्ताका मूल क्या ?	८. किसीसे प्रार्थना (याचना) नहीं करना।
९. सदा जागृत कौन ?	९. विवेकी।
१०. इस संसारमे नरक जैसा दुःख क्या ?	१०. परतंत्रता (परवश रहना)।
११ अस्थिर वस्तु क्या ?	११ यौवन, लक्ष्मी और आयु।
१२. इस जगतमें अति गहन क्या ?	१२ स्त्रीचरित्र और उससे अधिक पुरुषचरित्र।
१३. चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत कीर्तिके धारक कौन ?	१३ सुमति और सज्जन।
१४ जिसे चोर भी न ले सके वह खजाना कौनसा ?	१४ विद्या, सत्य और शीलव्रत।
१५ जीवका सदा अनर्थ करनेवाला कौन ?	१५ आर्त्त और रौद्र ध्यान।
१६ अधा कौन ?	१६ कामी तथा रागी।
१७ बहरा कौन ?	१७. जो हितकारी वचन न सुने।
१८ गूँगा कौन ?	१८ जो अवसर आने पर प्रिय वचन न बोल सके।
१९. शल्यकी भाँति सदा दुःखदायी क्या ?	१९. गुप्त किया हुआ काम।
२०. अविश्वास करने योग्य कौन ?	२० युवती और असज्जन (दुर्जन) मनुष्य।
२१ सदा ध्यान रखने योग्य क्या ?	२१ ससारकी असारता।
२२ सदा पूजनीय कौन ?	२२ वीतराग देव, सुसाधु और सुधर्म।

१०

द्वादशानुप्रेक्षा*

आत्माके लिये परमहितकारी द्वादशानुप्रेक्षा अर्थात् वैराग्यादि भाव-भावित बारह चिन्तनाओके स्वरूपका चिन्तन करता हूं।

१ अनित्य, २ अशरण, ३ ससार, ४ एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचि, ७. आस्रव, ८. सवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११. बोधिदुर्लभ और १२ धर्म। इन बारह चिन्तनाओके नाम प्रथम कहे हैं। भगवान तीर्थंकर भी इनके स्वभावका चिन्तन करके संसार, देह एव भोगसे विरक्त हुए है। ये चिन्तनाएँ वैराग्यकी माता है। समस्त जीवोका हित करनेवाली है। अनेक दुःखोसे व्याप्त ससारी जीवोके लिये ये चिन्तनाएँ अति उत्तम शरण है। दुःखरूप अग्निसे संतप्त जीवोके लिये शीतल पद्मवनके मध्यमे निवासके समान हैं। परमार्थ मार्गको दिखानेवाली हैं। तत्त्वका निर्णय करानेवाली है। सम्यक्त्व उत्पन्न करनेवाली हैं। अशुभ ध्यानका नाश करनेवाली हैं। इन द्वादश चिन्तनाओंके समान इस जीवका हित करनेवाला दूसरा कोई नही है। ये द्वादशांगका रहस्य है। इसलिये इन बारह अनुप्रेक्षाओमेंसे अब अनित्य अनुप्रेक्षाका भावसहित चिन्तन करते हैं।

अनित्य अनुप्रेक्षा

देव, मनुष्य और तिर्यंच, यह सब देखते ही देखते पानीकी बूँद और ओसके पुंजकी भाँति विनष्ट हो जाते हैं। देखते ही देखते विलीयमान होकर चले जाते हैं। और यह सब ऋद्धि, संपदा और परिवार स्वप्न-समान है। जिस तरह स्वप्नमे देखी हुई वस्तु पुनः दिखायी नही देती, उसी तरह ये विनाशको

* रत्नकरड श्रावकाचारमेंसे प्रथम तीन अनुप्रेक्षाओंका यह अनुवाद है, जो अपूर्ण है।

प्राप्त होते हैं। इस जगतमें धन, यौवन, जीवन और परिवार सब क्षणभंगुर है। संसारी मिथ्यादृष्टि जीव इन्हें अपना स्वरूप, अपना हित मानता है। अपने स्वरूपकी पहचान हो तो परको अपना स्वरूप क्यों माने? समस्त इन्द्रियजनित सुख जो दृष्टिगोचर होता है, वह इन्द्रधनुषके रंगोंकी भाँति देखते ही देखते नष्ट हो जाता है। जवानीका जोश संध्याकालकी लालीकी भाँति क्षण क्षणमे विनाशको प्राप्त होता है। इसलिये, यह मेरा गाव, यह मेरा राज्य, यह मेरा घर, यह मेरा धन, यह मेरा कुटुम्ब, इत्यादि विकल्प करना ही महामोहका प्रभाव है। जो-जो पदार्थ आँखसे देखनेमे आते है, वे सब नष्ट हो जायेंगे, इन्हें देखने-जाननेवाली इंद्रियाँ भी अवश्य नष्ट हो जायेंगी। इसलिये आत्महितके लिये ही शीघ्र उद्यम करें। जैसे एक जहाजमे अनेक देशो और अनेक जातियोके मनुष्य इकट्ठे होकर बैठते है और फिर किनारे पर पहुँचकर विविध देशोकी ओर चले जाते है, वैसे कुलरूप जहाजमे अनेक गतियोसे आये हुए प्राणी एक साथ रहते है. फिर आयु पूरी होने पर अपने-अपने कर्मानुसार चारो गतियोमे जाकर उत्पन्न होते हैं। जिस देहसे स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई आदिके साथ सबंध मानकर रागी हो रहा है, वह देह अग्निसे भस्म हो जायेगी, फिर मिट्टीमे मिल जायेगी। तथा इसे जीव खायेंगे तो विष्ठा एव कृमिकलेवररूप हो जायेगी। इसके परमाणु एक-एक करके जमीन और आकाशमे अनंत विभागरूपमे बिखर जायेंगे, फिर कहाँसे मिलेंगे? इसलिये यह निश्चित समझें कि इसका संबंध फिर प्राप्त नही होगा। स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुंब आदिमें ममता करके धर्म बिगाडना, यह महान अनर्थ है। जिन पुत्र, स्त्री भाई, मित्र, स्वामी, सेवक आदिके सहवासके सुखसे जीवन चाहते है, वह समस्त कुटुंब शरत्कालके बादलोंकी तरह बिखर जायेगा। यह संबंध जो इस समय दिखायी देता है वह नही रहेगा, जरूर बिखर जायेगा, ऐसा नियम समझें। जिस राज्यके लिये और जमीनके लिये तथा हाट, हवेली, मकान एव आजीविकाके लिये हिंसा, असत्य, छल-कपटमे प्रवृत्ति करते है, भोले भालोको ठगते है, स्वय बलवान होकर निर्बलको मारते है, उस समस्त परिग्रहका संबध आपसे अवश्य बिछुड जायेगा। अल्प जीवनके लिये नरक व तिर्यंचगतिक अनंतकाल पर्यंत अनंत दुःखसतानको ग्रहण न करें। उनके स्वामित्वका अभिमान करके अनेक चले गये, और अनेक प्रत्यक्ष चले जाते हुए देखते है। इसलिये अब तो ममता छोडकर, अन्यायका परिहार करके अपने आत्माके कल्याणके कार्यमे प्रवृत्ति करें। जैसे ग्रीष्म ऋतुमे चौराहेके वृक्षकी छायामें अनेक देशोके राहगीर विश्राम लेकर अपने-अपने स्थानको चले जाते है, वैसे कुलरूप वृक्षकी छायामे साथमे रहे हुए भाई, मित्र, पुत्र, कुटुंब आदि कर्मानुसार अनेक गतियोमे चले जाते हैं। जिनमे आप अपनी प्रीति मानते हैं वे सभी मतलबके है। आँखके रागकी भांति क्षणमात्रमे प्रीतिका राग नष्ट हो जाता है। जैसे पक्षी पूर्व सकेत किये बिना ही एक वृक्ष पर आकर बसते है, वैसे ही कुटुम्बके मनुष्य संकेत किये बिना कर्म-वश इकट्ठे होकर बिखर जाते हैं। यह सब धन, सपदा, आज्ञा, ऐश्वर्य, राज्य और इंद्रियोके विषयोकी सामग्री देखते ही देखते अवश्य ही वियोगको प्राप्त हो जायेगी। युवानी मध्याह्नकी छायाकी तरह ढल जायेगी, स्थिर नही रहेगी। चद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि तो अस्त होकर पुनः उदित होते है, और हेमत, वसंत आदि ऋतुएँ भी चली जाकर फिर आ जाती है, परंतु गई हुई इंद्रियाँ, युवानी, आयु, काया आदि वापस नही आती। जैसे पर्वतसे गिरनेवाली नदीकी तरगे रुके बिना चली जाती हैं, वैसे ही आयु रुके बिना क्षण क्षणमे व्यतीत होती है। जिस देहके अधीन जीना है उस देहको जर्जरित करनेवाली वृद्धावस्था प्रति समय आती है। यह वृद्धावस्था युवानीरूप वृक्षको दग्ध करनेके लिये दावाग्निके समान है। यह भाग्यरूप पुष्पो (मौर) के नाशक कुहरेकी वृष्टिके समान है। स्त्रीकी प्रीतिरूप हरिणीके लिये व्याघ्रके समान है। ज्ञाननेत्रको अन्ध करनेके लिये धूलकी वृष्टिके समान है। तपरूप कमलवनके लिये हिमके समान है। दीनताकी जननी है। तिरस्कारको बढानेवाली धायके समान है। उत्साह घटानेके लिये तिरस्कार जैसी है। रूपधनको चुरानेवाली है। बलका नाश करनेवाली है। जंघाबलको बिगाड़ने-

वाली है। आलस्यको बढानेवाली है। स्मृतिका नाश करनेवाली है। ऐसी यह वृद्धावस्था है। मौतसे मिलाप करानेवाली दूती जैसी वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेसे अपने आत्महितका विस्मरण करके स्थिर हो रहे हैं, यह महान अनर्थ है। वारवार मनुष्यजन्मादि सामग्री नही मिलती। नेत्र आदि इंद्रियोका जो तेज है उसका क्षण-क्षणमे नाश होता है। समस्त संयोग वियोगरूप समझे। इन इद्रियोके विषयोमे राग करके कौन-कौन नष्ट नही हुए ? ये सभी विषय भी नष्ट हो जायेंगे, और इंद्रियाँ भी नष्ट हो जानेवाली हैं। किसके लिये आत्महितको छोडकर घोर पापरूप अशुभ ध्यान कर रहे हैं? विषयोमे राग करके अधिकाधिक लीन हो रहे है ? सभी विषय आपके हृदयमे तीव्र दाह उत्पन्न करके विनाशको प्राप्त होंगे। इस शरीरको सदा रोगसे व्याप्त जानें। जीवको मरणसे घिरा हुआ जानें। ऐश्वर्यको विनाशके सन्मुख जानें। यह जो सयोग है उसका नियमसे वियोग होगा। ये समस्त विषय आत्मस्वरूपको भुलानेवाले हैं। इनमे अनुरक्त होकर त्रिलोक नष्ट हो गया है। जिन विषयोंके सेवनसे सुख चाहते हैं, वह जीनेके लिये विष पीना है, शीतल होनेके लिये अग्निमे प्रवेश करनेके समान है, मीठे भोजनके लिये जहरके वृक्षको पानी देना है। विषय महामोहमदके उत्पादक है, उनका राग छोडकर आत्मकल्याण करनेका यत्न करें। अचानक मृत्यु आयेगी, फिर यह मनुष्यजन्म तथा जिनेन्द्रका धर्म चले जानेके बाद पुनः प्राप्त होने अनंतकालमे दुर्लभ है। जैसे नदीका प्रवाह निरतर चला जाता है, फिर नही आता, वैसे आयु, काया, रूप, बल, लावण्य और इंद्रियशक्ति चले जानेके बाद वापस नहीं आते। जो ये प्रिय माने हुए स्त्री, पुत्र आदि नजरसे दिखायी देते है, उनका संयोग नही रहेगा। स्वप्न-संयोगके समान जान कर, इनके लिये अनीति-पाप छोडकर शीघ्र ही संयमादि धारण करें। वह इंद्रजालकी भाँति लोगोमे भ्रम पैदा करनेवाला है। इस ससारमे धन, यौवन, जीवन, स्वजन और परजनके समागममे जीव अंधा हो रहा है। यह धन-सपत्ति चक्रवर्तियोंके यहाँ भी स्थिर नही रही, तो फिर दूसरे पुण्यहीनके यहाँ कैसे स्थिर रहेगी ? यौवन वृद्धावस्थामे नष्ट होगा। जीवन मरणसहित है। स्वजन परजन वियोगके सन्मुख है। किसमे स्थिर बुद्धि करते है ? इस देहको नित्य स्नान कराते है, सुगन्ध लगाते है, आभरण, वस्त्र आदिसे विभूषित करते हैं; विविध प्रकारके भोजन कराते है, वारंवार इसीकी दासतामे समय व्यतीत करते हैं; शय्या, आसन, कामभोग, निद्रा, शीतल, उष्ण आदि अनेक उपचारोसे इसे पुष्ट करते है। इसके रागमे ऐसे अंधे हो गये हैं कि भक्ष्य-अभक्ष्य, योग्य-अयोग्य, न्याय-अन्यायके विचारसे रहित होकर आत्मधर्मको बिगाड़ना, यशका विनाश करना, मरणको प्राप्त होना, नरकमे जाना, निगोदमे वास करना—इन सबको नहीं गिनते। इस शरीरका जलसे भरे हुए कच्चे घडेकी तरह शीघ्र विनाश हो जायेगा। इस देहका उपकार कृतघ्नके उपकारकी भाँति विपरीत फलित होगा। सर्पको दूध-मिसरीका पान करानेके समान अपनेको महान दुःख, रोग, क्लेश, दुर्ध्यान, असयम, कुमरण और नरकके कारणरूप शरीरका मोह है, ऐसा निश्चयपूर्वक जाने। इस शरीरको ज्यो-ज्यो विषयादिसे पुष्ट करेंगे त्यों त्यो यह आत्माका नाश करनेमे समर्थ होगा। एक दिन इसे आहार नही देंगे तो यह बहुत दुःख देगा। जो-जो शरीरके रागी हुए है, वे-वे ससारमें नष्ट होकर एव आत्मकार्यको बिगाड़कर अनतानंत काल नरक और निगोदमे भ्रमण करते हैं। जिन्होने इस शरीरको तपसयममे लगाकर कृश किया है उन्होंने अपना हित किया है। ये इंद्रियाँ ज्यों ज्यों विषयोंको भोगती है, त्यो-त्यो तृष्णाको बढाती है। जैसे अग्नि ईंधनसे तृप्त नही होती, वैसे ही इंद्रियाँ विषयोंसे तृप्त नही होती। एक-एक इंद्रियके विषयकी वांछा करके बड़े-बडे चक्रवर्ती राजा भ्रष्ट होकर नरकमे जाते है, तो फिर दूसरोंका तो क्या कहना ? इन इंद्रियोंको दुःखदायी, पराधीन करनेवाली, नरकमे ले जानेवाली जानकर, इन इन्द्रियोका राग छोडकर इन्हे वश करें।

संसारमें हम जितने निंद्य कर्म करते हैं, वे सब इद्रियोंके अधीन होकर करते है। इसलिये इंद्रियरूपी सर्पके विषसे आत्माकी रक्षा करें। यह लक्ष्मी क्षणभगुर है। यह लक्ष्मी कुलीनमे नहीं रमती। धीरमें,

शूरमे, पंडितमे, मूर्खमे, रूपवानमे, कुरूपमें, पराक्रमीमे, कायरमें, धर्मात्मामें, अधर्मीमे, पापीमे, दानीमे, कृपणमे—कहीं भी नही रमती। यह तो पूर्व जन्ममे जिसने पुण्य किया हो उसकी दासी है। कुपात्र दानादि एव कुतप करके उत्पन्न हुए जीवको, बुरे भोगमे, कुमार्गमे, मदमे लगाकर दुर्गतिमे पहुँचानेवाली है। इस पचमकालमे तो कुपात्र दान करके, कुतपस्या करके लक्ष्मी पैदा होती है। यह बुद्धिको बिगाड़ती है, महादु खसे उत्पन्न होती है, महादु खसे भोगी जाती है। पापमे लगाती है। दानभोगमे खर्च किये बिना मरण होने पर, आर्तध्यानसे लक्ष्मीको छोड़कर जीव तिर्यंच गतिमे उत्पन्न होता है। इसलिये लक्ष्मीको तृष्णा बढानेवाली और मद उत्पन्न करनेवाली जानकर दु खित और दरिद्रीके उपकारमे, धर्मवर्धक धर्मस्थानोमे, विद्यादानमे, वीतराग-सिद्धान्तके लिखवानेमे लगाकर सफल करें। न्यायके प्रामाणिक भोगमे, जैसे धर्म न बिगडे वैसे लगाये। यह लक्ष्मी जलतरगवत् अस्थिर है। अवसर पर दान एवं उपकार कर लें। यह परलोकमे साथ नही आयेगी। इसे अचानक छोड़कर मरना पड़ेगा। जो निरतर लक्ष्मीका संचय करते है, दान-भोगमे इसका उपयोग नही कर सकते, वे अपने आपको ठगते हैं। पापका आरभ करके, लक्ष्मीका सग्रह करके, महामूर्च्छासे जिसका उपार्जन किया है, उसे दूसरेके हाथमे देकर, अन्य देशोमे व्यापारादिसे बढानेके लिये उसे स्थापित करके, जमीनमे अति दूर गाडकर, और दिनरात उसीका चिंतन करते-करते दुर्ध्यानसे मरकर दुर्गतिमे जा पहुँचते है। कृपणको लक्ष्मीका रखवाला और दास समझना। दूर जमीनमे गाड़कर लक्ष्मीको पत्थर-सा कर दिया है। जैसे जमीनमे दूसरे पत्थर पड़े रहते है, वैसे लक्ष्मीको समझे। राजाके, उत्तराधिकारीके तथा कुटुबके कार्य सिद्ध किये, परतु अपनी देह तो भस्म होकर उड़ जायेगी, इसे प्रत्यक्ष नही देखते ? इस लक्ष्मीके समान आत्माको ठगनेवाला दूसरा कोई नहीं है। जीव अपने समस्त परमार्थको भूलकर लक्ष्मीके लोभका मारा रात और दिन घोर आरभ करता है। समय पर भोजन नही करता। सर्दी-गर्मीकी वेदना सहन करता है। रागादिकके दु खको नही जानता। चितातुर होकर रातको नीद नही लेता। लक्ष्मीका लोभी यह नही समझता कि मेरा मरण हो जायेगा। वह सग्रामके घोर सकटमे चला जाता है। समुद्रमे प्रवेश करता है। घोर भयानक वीरान पर्वत पर जाता है। धर्मरहित देशमे जाता है, जहाँ अपनी जाति, कुल या घरका कोई व्यक्ति देखनेमे नही आता। ऐसे स्थानमे केवल लक्ष्मीके लोभमे भ्रमण करता-करता मरकर दुर्गतिमे जा पहुँचता है। लोभी नही करने योग्य और नीच भीलके करने योग्य काम करता है। अत तू अब जिनेंद्रके धर्मको पाकर सतोष धारण कर। अपने पुण्यके अनुरूप न्यायमार्गको प्राप्त होकर, धनका संतोषी होकर, तीव्र राग छोडकर, न्यायके विषय भोगोमे और दु खित, बुभुक्षित, दीन एव अनाथके उपकारके लिये दान एव सन्मानमे लक्ष्मीको लगा। इस लक्ष्मीने अनेकोको ठग कर दुर्गतिमे पहुँचाया है। लक्ष्मीका संग करके जगतके जीव अचेत हो रहे है। पुण्यके अस्त होते ही यह भी अस्त हो जायगी। लक्ष्मीका सग्रह करके मर जाना ऐसा लक्ष्मीका फल नही है। इसके फल हैं केवल उपकार करना ओर धर्मका मार्ग चलाना। जो इस पापरूप लक्ष्मीको ग्रहण नही करते वे धन्य है। और जिन्होने इसे ग्रहण करके इसकी ममता छोड़कर क्षण मात्रमे इसका त्याग कर दिया है वे धन्य है। विशेष क्या लिखे ? इस धन, यौवन, जीवन, कुटुम्बके सगको पानीके बुलबुलेके समान अनित्य जानकर आत्महितरूप कार्यमे प्रवृत्ति करें। संसारके जितने-जितने सम्बन्ध है उतने-उतने सभी विनाशी है।

इस प्रकार अनित्य भावनाका विचार करें। पुत्र, पौत्र, स्त्री, कुटुम्ब आदि कोई परलोकमे न तो साथ गया है और न जायेगा। अपने उपार्जित किये हुए पुण्यपापादि कर्म साथ आयेंगे। यह जाति, कुल, रूप आदि तथा नगर आदिका सबंध देहके साथ ही नष्ट हो जायेगा। इस अनित्य अनुप्रेक्षाका क्षण मात्र भी विस्मरण न हो, जिससे परका ममत्व छूट कर आत्मकार्यमे प्रवृत्ति हो ऐसी अनित्य भावनाका वर्णन किया ॥१॥

अशरण अनुप्रेक्षा

अब अशरण अनुप्रेक्षाका चिन्तन करते हैं—

इस संसारमे कोई देव, दानव, इन्द्र, मनुष्य ऐसा नही है कि जिसपर यमराजकी फाँसी न पड़ी हो। मृत्युके वश होने पर कोई आश्रय नही है। आयु पूर्ण हो जानेके समय इन्द्रका पतन क्षण मात्रमे हो जाता है। जिसके असख्यात देव आज्ञाकारी सेवक हैं, जो सहस्रो ऋद्धियोवाला है, जिसका स्वर्गमें असंख्यात कालसे निवास है, जिसका शरीर रोग, क्षुधा, तृषादि उपद्रवोसे रहित है, जो असख्यात बल-पराक्रमका धारक है, ऐसे इन्द्रका पतन हो जाये वहाँ भी अन्य कोई शरण नही है। जैसे उजाड़ वनमे शेरसे पकड़े हुए हिरनके बच्चेकी रक्षा करनेके लिये कोई समर्थ नही है, वैसे मृत्युसे प्राणीकी रक्षा करनेके लिये कोई समर्थ नही है। इस संसारमे पहले अनन्तानन्त पुरुष प्रलयको प्राप्त हुए है। कोई शरण है ? कोई ऐसा औषध, मत्र, यंत्र अथवा देवदानव आदि नही हैं कि जो एक क्षण मात्र भी कालसे रक्षा करें। यदि कोई देव, देवी, वैद्य, मंत्र, तत्र आदि एक मनुष्यकी मरणसे रक्षा कर पाते तो मनुष्य अक्षय हो जाता। इसलिये मिथ्या बुद्धिको छोड़कर अशरण अनुप्रेक्षाका चिन्तन करे। मूढ मनुष्य ऐसा विचार करता है कि मेरे सगेका हितकारी इलाज नही हुआ, औषधि न दी, देवताकी शरण नही ली, उपाय किये बिना मर गया, इस प्रकार अपने स्वजनका शोक करता है। परन्तु अपनी चिन्ता नही करता कि मैं यमकी दाढोके बीच बैठा हूँ। जिस कालको करोडों उपायोमे भी इन्द्र जैसे भी न रोक सके, उसे बेचारा मनुष्य भला क्या रोकेगा ? जैसे हम दूसरेका मरण होते हुए देखते है वैसे हमारा भी अवश्य होगा।

जैसे दूसरे जीवोका स्त्री, पुत्रादिसे वियोग होता देखते है, वैसे हमारे लिये भी वियोगमे कोई शरण नही है। अशुभ कर्मकी उदीरणा होने पर बुद्धिनाश होता है, प्रबल कर्मोदय होने पर एक भी उपाय काम नही आता। अमृत विषमे परिणमित हो जाता है, तृण भी शस्त्रमे परिणत हो जाता है, अपना प्रिय मित्र भी शत्रु हो जाता है, अशुभ कर्मके प्रबल उदयसे बुद्धि विपरीत होकर स्वय अपना ही घात करता है। जब शुभ कर्मका उदय होता है, तब मूर्खको भी प्रबल बुद्धि उत्पन्न होती है। किये बिना अनेक सुखकारी उपाय अपने आप प्रगट होते है। शत्रु मित्र हो जाता है, विष भी अमृतमे परिणत हो जाता है। जब पुण्यका उदय होता है तब समस्त उपद्रवकारी वस्तुएँ नाना प्रकारके सुख देनेवाली हो जाती है। यह पुण्यकर्मका प्रभाव है।

पापके उदयसे हाथमे आया हुआ धन क्षण मात्रमे नष्ट हो जाता है। पुण्यके उदयसे बहुत ही दूरकी वस्तु भी प्राप्त हो जाती है। जब लाभांतरायका क्षयोपशम होता है तब यत्नके बिना निधिरत्न प्रगट होता है। जब पापोदय होता है तब सुन्दर आचरण करनेवालेको भी दोष एव कलक लग जाते है, अपवाद तथा अपयश होते है। यश नाम कर्मके उदयसे समस्त अपवाद दूर होकर दोष गुणमे परिणत हो जाते है।

यह संसार पुण्यपापके उदयरूप है।

परमार्थसे दोनो उदयो (पुण्यपाप) को परकृत और आत्मासे भिन्न जानकर उनके ज्ञाता अथवा साक्षी मात्र रहे, हर्ष एव खेद न करे। पूर्वमे बाँधे हुए कर्म अब उदयमे आये है। अपने किये हुए कर्म दूर नही होते। उदयमे आनेके बाद उपाय नही है। कर्मके फल जो जन्म, जरा, मरण, रोग, चिंता, भय, वेदना, दुःख आदि है, उनके आने पर मत्र, तत्र, देव, दानव, औषध आदि कोइ उनसे रक्षा करनेके लिये समर्थ नही है। कर्मका उदय आकाश, पाताल अथवा कही भी नही छोड़ता। औषधादि बाह्य निमित्त, अशुभ कर्मका उदय मन्द होने पर उपकार करते है। दुष्ट, चोर, भील, वैरी तथा सिंह, बाघ, सर्प आदि गाँवमें या वनमे मारते हैं, जलचरादि जीव पानीमे मारते है, परन्तु अशुभ कर्मका उदय तो जलमे

स्थलमें, वनमे, समुद्रमे, पर्वतमे, गढमे, घरमे, शय्यामे, कुटुम्बमे, राजादि सामन्तोके बीचमें शस्त्रोंसे रक्षा करते हुए भी कही भी नहीं छोडता। इस लोकमे ऐसे स्थान है कि जहाँ सूर्य व चन्द्रका प्रकाश, पवन तथा वैक्रियिक ऋद्धिवाले नही जा सकते, परन्तु कर्मका उदय तो सर्वत्र जाता है। प्रबल कर्मका उदय होने पर विद्या, मंत्र, बल, औषधि, पराक्रम, प्रिय मित्र, सामन्त, हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सेना, गढ़, कोट, शस्त्र, साम, दाम दंड, भेद आदि सभी उपाय शरणरूप नही होते। जैसे उदित होते हुए सूर्यको कौन रोक सकता है? वैसे कर्मके उदयको नही रोका जा सकता, ऐसा समझकर समताभावकी शरण ग्रहण करें, तो अशुभ कर्मकी निर्जरा होनी है और नया बंध नही होता। रोग, वियोग, दारिद्रय, मरण आदिका भय छोडकर परम धैर्य ग्रहण करे, अपना वीतराग भाव, संतोषभाव, और परम समताभाव ही शरण है, अन्य कोई शरण नही है। इस जीवके उत्तम क्षमादि भाव स्वयमेव शरणरूप है।

क्रोधादि भाव इस लोक एव परलोकमे इस जीवके घातक है। इस जीवके लिये कषायकी मंदता इस लोकमे हजारो विघ्नोका नाश करनेवाली परम शरणरूप है, और परलोकमे नरक व तिर्यंच गतिसे रक्षा करती है। मन्दकषायी जीव देवलोक तथा उत्तम मनुष्यजातिमे उत्पन्न होता है। यदि पूर्वकर्मके उदयके समय आर्त्त एवं रौद्र परिणाम करेगे तो उदीरणाको प्राप्त हुए कर्मोंको रोकनेमे कोई समर्थ नही है। केवल दुर्गतिके कारण नवीन कर्म और बढेगे। कर्मोदयके लिये अपेक्षित बाह्य निमित्त—क्षेत्र, काल और भावके मिलनेके बाद उस कर्मोदयको इन्द्र, जिनेन्द्र, मणि, मत्र, औषध आदि कोई भी रोकनेमे समर्थ नही है। रोगके इलाज तो औषधादि जगतमे हम देखते है, परन्तु प्रबल कर्मोदयको रोकनेके लिये औषध आदि समर्थ नहो है, प्रत्युत वे विपरीतरूपसे परिणत होते है।

इस जीवको जब असातावेदनीय कर्मका उदय तीव्र होता है तब औषध आदि विपरीत रूपसे परिणत होते है। असाताका मंद उदय हो अथवा उपशम हो तब औषध आदि उपकार करते है। क्योंकि मन्द उदयको रोकनेमे समर्थ तो अल्प शक्तिवाले भी होते है। प्रबल शक्तिवालेको रोकनेमे अल्प शक्ति-वाला समर्थ नही है। इस पंचम कालमे अल्प मात्र बाह्य द्रव्य, क्षेत्रादि सामग्री है, अल्प मात्र ज्ञानादि, है, अल्प मात्र पुरुषार्थ है। और अशुभका उदय आनेसे बाह्य सामग्री प्रबल है, तो वह अल्प सामग्री अल्प पुरुषार्थसे प्रबल असाताके उदयको कैसे जीत सकती है? बडी नदियोका प्रवाह प्रबल तरंगोको उछालता हुआ चला आता हो तो उसमे तैरनेकी कलामे समर्थ पुरुष भी तैर नही सकता। जब नदीके प्रवाहका वेग मन्द होता जाता है तब तैरनेकी विद्याका जानकार तैर कर पार हो जाता है, उसी प्रकार प्रबल कर्मोदयमे अपनेको अशरण जाने। पृथ्वी और समुद्र दोनो विशाल है, परन्तु पृथ्वीका छोर पानेके लिये और समुद्रको तैरनेके लिये बहुतसे समर्थ देखे जाते हैं, परन्तु कर्मोदयको तैरनेके लिये समर्थ दिखायी नही देते। इस संसारमे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप—संयम शरण है। इन चार आराधनाओके बिना और कोई शरण नही है। तथा उत्तम क्षमादि दश धर्म इस लोकमे समस्त क्लेश, दुःख, मरण, अपमान और हानिसे प्रत्यक्ष रक्षा करनेवाले हैं। मद कषायके फल स्वाधीन सुख, आत्मरक्षा, उज्ज्वल यश, क्लेशाभाव तथा उच्चता इस लोकमे प्रत्यक्ष देखकर उसकी शरण ग्रहण करे। परलोकमे उसका फल स्वर्गलोक है। विशेषत व्यवहारमे चार शरण हैं—अर्हंत, सिद्ध, साधु और केवल ज्ञानी द्वारा प्ररूपित धर्म। इन्हीको शरण जाने। इस प्रकार यहाँ इनकी शरणके बिना आत्माकी उज्ज्वलता प्राप्त नही होती, ऐसा बतानेवाली अशरण अनुप्रेक्षाका विचार किया ॥२॥

संसार अनुप्रेक्षा

अब ससार अनुप्रेक्षाके स्वरूपका विचार करते है—

इस ससारमे अनादि कालके मिथ्यात्वके उदयसे अचेत हुआ जीव, जिनेन्द्र सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित सत्यार्थ धर्मको प्राप्त न होकर चारो गतियोमे भ्रमण करता है। संसारमे कर्मरूप दृढ़ बन्धनसे

बँध कर पराधीन होकर, त्रसस्थावरमे निरन्तर घोर दुःखको भोगता हुआ वारंवार जन्ममरण करता है। जो-जो कर्मका उदय आकर रस देता है, उस उदयमे तन्मय होकर अज्ञानी जीव अपने स्वरूपको छोड़कर नया-नया कर्मबंध करता है। कर्मबधके अधीन हुए प्राणीके लिये ऐसी कोई दुःखकी जाति बाकी नहीं रही कि जिसे उसने न भोगा हो। सभी दुःखोको अनंतानत वार भोगकर अनन्तानत काल व्यतीत हो गया है। इस प्रकार इस ससारमे इस जीवके अनन्त परिवर्तन हुए है। ससारमे ऐसा कोई पुद्गल नही रहा कि जिसे इस जीवने शरीररूपसे, आहाररूपसे ग्रहण न किया हो। अनन्त जातिके अनन्त पुद्गलोके शरीर धारणकर आहाररूप (भोजनपानरूप) किया है।

तीन सौ तैंतालीस घनरज्जुप्रमाण लोकमे ऐसा कोई एक भी प्रदेश नही है कि जहाँ ससारी जीवने अनंतानंत जन्म-मरण नही किये हो। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालका ऐसा एक भी समय बाकी नहीं रहा कि जिस समयमे यह जीव अनतवार जन्मा नही हो और मरा नहीं हो। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चारो पर्यायोमे इस जीवने जघन्य आयुसे लेकर उत्कृष्ट आयु पर्यंत समस्त आयुओके प्रमाण धारण करके अनतवार जन्म ग्रहण किया है। केवल अनुदिश अनुत्तर विमानमे वह उत्पन्न नही हुआ, क्योंकि इन चौदह विमानोंमे सम्यग्दृष्टिके बिना अन्यका जन्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टिको संसार-भ्रमण नही है। कर्मकी स्थितिबधके स्थान और स्थितिबधके कारण असख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान, उसके कारण असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग बधाध्यवसायस्थान तथा जगतश्रेणीके संख्यातवें भाग जितने योग-स्थानोंमेसे ऐसा कोई भाव बाकी नही रहा कि जो संसारी जीवको न हुआ हो। केवल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके यागभाव नही हुए। अन्य समस्त भाव ससारमे अनतानत बार हुए है। जिनेंद्रके वचनके अवलम्बनसे रहित पुरुषको मिथ्या ज्ञानके प्रभावसे अनादिसे विपरीत बुद्धि हो रही है इसलिये सम्यग्मार्गको ग्रहण न करके संसाररूप वनमे नष्ट होकर जीव निगोदमे जा गिरता है। कैसी है निगोद ? अनंतानंत काल बीत जाने पर भी जिसमेसे निकलना बहुत मुश्किल है। कदाचित् पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय और साधारण वनस्पतिकायमे लगभग समस्त ज्ञानका नाश होनेसे जडरूप होकर, एक स्पर्शेन्द्रिय द्वारा कर्मोदयके अधीन होकर आत्मशक्तिरहित, जिह्वा, नासिका, नेत्र, कर्णादि इंद्रियसे रहित होकर दुःखमे दीर्घकाल व्यतीत करता है। और द्वीद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रियरूप विकलत्रय जीव, आत्मज्ञानरहित केवल रसना आदि इंद्रियोके विषयोकी अति तृष्णाके मारे उछल-उछलकर विषयोंके लिये गिर-गिर कर मरते है। असख्यात काल विकलत्रयमे रहकर पुन एकेंद्रियमे फिर-फिर कर वारंवार कुएँके रहँटकी घटीकी भाँति नयी-नयी देह धारण करते-करते चारो गतियोमे निरंतर जन्म, मरण, भूख, प्यास रोग, वियोग और संताप भोगकर अनंतकाल तक परिभ्रमण करते है। इसका नाम संसार है।

जैसे उबलते हुए अदहनमे चावल सब तरफ फिरते हुए भी सीझ जाते है, वैसे ससारी जीव कर्मसे तप्तायमान होकर परिभ्रमण करते है। आकाशमे उडते हुए पक्षीको दूसरा पक्षी मारता है, जलमे विचरते हुए मत्स्यादिको दूसरे मत्स्यादि मारते है, स्थलमे विचरते हुए मनुष्य, पशु आदिको स्थलचारी सिंह, बाघ, सर्प आदि दुष्ट तिर्यंच तथा भील, म्लेच्छ चोर, लुटेरे तथा महान निर्दय मनुष्य मारते है। इस संसारमे सभी स्थानोमे निरतर भयभीत होकर निरंतर दुःखमय परिभ्रमण करते है। जैसे शिकारीके उपद्रवसे भयभीत हुए जीव मुँह फाडकर बैठे हुए अजगरके मुँहमे बिल समझकर प्रवेश करते है, वैसे अज्ञानी जीव भूख, प्यास, काम, कोप इत्यादि तथा इंद्रियोके विषयोकी तृष्णाके आतापसे सतप्त होकर, विषयादिरूप अजगरके मुँहमे प्रवेश करते है। विषयकषायमे प्रवेश करना ससाररूप अजगरके मुँहमे प्रवेश करना है। इसमे प्रवेश करके अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्ता आदि भावप्राणोंका नाश करके, निगोदमे अचेतन तुल्य होकर, अनंतवार जन्म-मरण करते हुए अनतानंत काल व्यतीत करते है। वहाँ आत्मा अभाव तुल्य है; जब ज्ञानादिका अभाव हुआ तब नाश भी हुआ।

निगोदमे अक्षरका अनतवाँ भाग ज्ञान है, यह सर्वज्ञने देखा है। त्रस पर्यायमें जितने दुःखके प्रकार है वे सब दुःख जीव अनतवार भोगता है। दुःखकी ऐसी कोई जाति बाकी नहीं रही, कि जिसे इस जीवने संसारमें नही पाया। इस ससारमे यह जीव दुःखमय अनंत पर्याय पाता है, तब कही एक बार इंद्रिय-जनित सुखका पर्याय प्राप्त करता है, और वह भी विषयोंके आताप सहित, भय शंकासे संयुक्त अल्पकाल-के लिये प्राप्त करता है। पश्चात् अनंत पर्याय दुःखके, फिर इंद्रियजनित सुखका कोई एक पर्याय कदाचित् प्राप्त होता है।

अब चतुर्गतिके कुछ स्वरूपका परमागमके अनुसार चिंतन करते हैं। नरककी सात पृथ्वियाँ हैं, उनमे उनचास भूमिकाएँ है। उन भूमिकाओमे चौरासी लाख बिल हैं, जिन्हे नरक कहते है। उनकी वज्रमय भूमि दीवारकी भाँति छजी हुई है। कितने ही बिल सख्यात योजन लंबे-चौडे हैं और कितने ही बिल असख्यात योजन लबे-चौडे है। उस एक एक बिलकी छतमे नारकीके उत्पत्तिस्थान है। वे ऊँटके मुखके आकार आदि वाले, तंग मुखवाले और उलटे मुँह होते है। उनमे नारकी जीव उत्पन्न होकर नीचे सिर और ऊपर पैर किये हुए आकर वज्राग्निमय पृथ्वीमे पडकर नारकी जोरसे गिरी हुई गेदकी तरह इधर-उधर उछलते और लोटते है। कैसी है नरकभूमि? असंख्यात बिच्छूके एक साथ काटनेसे जो वेदना होती है, उससे भी असख्यातगुनी अधिक वेदना देनेवाली है।

ऊपरकी चार पृथ्वियोंके चालीस लाख बिल और पाँचवी पृथ्वीके दो लाख बिल, यों बयालीस लाख बिलोमे तो केवल आताप, अग्निकी उष्ण वेदना है। उस नरककी उष्णता बतानेके लिये यहाँ कोई पदार्थ देखने-जाननेमे नही आता कि जिसकी उपमा दी जा सके। तो भी भगवानके आगममे उष्णताका ऐसा अनुमान कराया गया है कि यदि लाख योजनप्रमाण मोटा लोहेका गोला छोडे तो वह नरकभूमिमे न पहुँचकर, पहुँचनेसे पहले ही नरक क्षेत्रकी उष्णतासे रसरूप होकर बह जाता है। (अपूर्ण)

११

मुनिसमागम

राजा—हे मुनिराज! आज मैं आपके दर्शन करके कृतार्थ हुआ हूँ। एक बार मेरा अभी और आगे घटित सुनने योग्य चरित्र सुननेके बाद आप मुझे अपने पवित्र जैन धर्मका सत्त्वगुणी उपदेश दे। इतना बोलनेके बाद वह चुप हो गया।

मुनि—हे राजन्! तेरा चरित्र धर्म सबधी हो तो भले आनंदके साथ कह सुना।

राजा—(स्वगत) अहो! इन महान मुनिराजने 'मै राजा हूँ', ऐसा कहाँसे जाना! भले, यह बात फिर। अभी तो अवसरके ही गीत गाऊँ। (प्रकट) हे भगवन्! मैंने एकके बाद एक इस तरह अनेक धर्म देखे। परतु उस प्रत्येक धर्ममेसे कुछ कारणोसे मेरी आस्था उठ गयी। मैं जब प्रत्येक धर्मका ग्रहण करता तब उसके गुण विचार कर, परन्तु बादमे न मालूम क्या हो जाता कि जमी हुई आसक्ति एकदम नष्ट हो जाती। यद्यपि ऐसा होनेके कुछ कारण भी थे। केवल मेरी मनोवृत्ति ही ऐसी थी, यह बात नही थी। किसी धर्ममे धर्मगुरुओकी धूर्तता देख कर, उस धर्मको छोडकर मैंने दूसरा स्वीकार किया, फिर उसमे कोई व्यभिचार जैसी दुर्गंध देखकर उसे छोडकर तीसरा ग्रहण किया। फिर उसमे हिंसायुक्त सिद्धांत देखने-से, उसे छोडकर चौथा ग्रहण किया। फिर किसी कारणसे उसे छोड देनेका फरज आ पड़नेसे उसे छोड़कर पाँचवाँ धर्म स्वीकार किया। इस तरह जैन धर्मके सिवाय अनेक धर्म अपनाये और छोड़े। जैन धर्मका केवल वैराग्य ही देखकर मूलत. उस धर्म पर मुझे भाव हुआ ही नही था। बहुतसे धर्मोंकी उधेड़बुनमे आखिर ऐसा सिद्धात निश्चित किया कि सभी धर्म मिथ्या है। धर्माचार्योंने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार

पाखंडी जाल फैला रखे हैं। बाकी कुछ भी नही है। यदि धर्मपालन करनेका सृष्टिका स्वाभाविक नियम होता तो सारी सृष्टिमे एक ही धर्म क्यों न होता ? ऐसी-ऐसी तरंगोंसे मैं केवल नास्तिक हो गया। संसारी शृंगारको ही मैने मोक्ष ठहरा दिया। न पाप है और न पुण्य है, न धर्म है और न कर्म है, न स्वर्ग है और न नरक है, ये सब पाखड हैं। जन्मका कारण मात्र स्त्रीपुरुषका सयोग है। और जैसे जीर्ण वस्त्र कालक्रमसे नाशको प्राप्त होता है, वैसे यह काया धीरे-धीरे क्षीण होकर अतमे निष्प्राण होकर नष्ट हो जाती है। बाकी सब मिथ्या है। इस प्रकार मेरे अतःकरणमे दृढ हो जानेसे मुझे जैसा रुचा, जैसा अच्छा लगा, जैसा रास आया वैसा करने लगा। अनीतिके आचरण करने लगा। बेचारी दीन प्रजाको पीड़ित करनेमे मैने किसी भी प्रकारकी कसर नही रखी। शीलवती सुन्दरियोंका शीलभग कराकर मैने हाहाकार मचानेमे किसी भी प्रकारकी कसर नही छोडी। सज्जनोंको दडित करनेमे, संतोको सतानेमे और दुर्जनोको सुख देनेमे मैने इतने पाप किये है कि किसी भी प्रकारकी न्यूनता नही रहने दी। मै मानता हूँ कि मैने इतने पाप किये है कि उन पापोका एक प्रबल पर्वत खडा किया जाये तो वह मेरु पर्वतसे भी सवाया हो। यह सब होनेका कारण मात्र धूर्त धर्माचार्य थे। ऐसीकी ऐसी मेरी चाडालमति अभी तक रही है। मात्र अद्भुत कौतुक हुआ कि जिससे मुझमे शुद्ध आस्तिकता आ गयी। अब मै यह कौतुक आपके समक्ष निवेदन करता हूँ—

मैं उज्जयिनी नगरीका अधिपति हूँ। मेरा नाम चन्द्रसिह है। विशेषत. दयालुओका दिल दुखानेके लिये मै प्रबल दलके साथ शिकारके लिये निकला था। एक रक हिरनके पीछे दौडते हुए मै सैन्यसे बिछुड़ गया। और उस हिरनके पीछे अपने घोडेको दौडाता-दौडाता इस तरफ निकल पडा। अपनी जान बचाने-की किसे इच्छा न हो ? और वैसा करनेके लिये उस बेचारे हिरनने दौड़नेमे कुछ भी कसर नही रखी। परन्तु इस पापी प्राणीने अपना जुल्म गुजारनेके लिये उस बेचारे हिरनके पीछे घोड़ा दौडाकर उसके नजदीक आनेमे कुछ कम प्रयास नही किया। आखिर उस हिरनको इस बागमे प्रवेश करते हुए देखकर मैने धनुष पर बाण चढा कर छोड दिया। उस समय मेरे पापी अन्त करणमे लेशमात्र भी दयादेवीका अश न था। मानो दुनियाके धीवरो और चाण्डालोका सरदार मै ही न होऊँ, ऐसा मेरा कलेजा क्रूरावेशमें बांसो उछल रहा था। मैने ताककर मारा हुआ तीर व्यर्थ जानेसे मुझे दुगुना पापावेश आ गया। इस लिये मैंने अपने घोडेको एडी मार कर इस तरफ खूब दौडाया! दौडाते-दौडाते ज्यो ही इस सामनेवाली झाडीके गहरे मध्य भागमे आया त्यो ही घोडा ठोकर खाकर लडखडाया। लड़खडानेके साथ वह चौंक गया। और चौकते ही खडा रह गया। जैसे ही घोडा लडखडाया था वैसे ही मेरा एक पैर एक ओर की रकाब पर और दूसरा पैर नीचे भूमिसे एक बित्ता दूर लटक रहा था। म्यानमेसे चमकती तलवार भी निकल पडी थी। जिससे यदि मैं घोडे पर चढने जाऊँ तो वह तेज तलवार मेरे गलेके आर-पार होनेमे एक पलकी भी देर करनेवाली न थी। और नीचे जहाँ दृष्टि करके देखता हूँ वहाँ एक काला एव भयकर नाग नजर आया। मुझ जैसे पापीका प्राण लेनेके लिये ही अवतरित उस काले नागको देखकर मेरा कलेजा काँप उठा। मेरा अंग-अग थरथराने लगा। मेरी छाती धडकने लगी। मेरी जिन्दगी अब पूरी हो जायेगी! हाय! अब पूरी हो जायेगी! ऐसा भय मुझे लगा। हे भगवान्! ऊपर कहे अनुसार, उस समय मैं न तो नीचे उतर सकता था और न घोडे पर चढ सकता था। इसीलिये अब मै कोई उपाय खोजनेमे निमग्न हुआ। परन्तु निरर्थक! केवल व्यर्थ और बेकार!! धीरे से आगे खिसक कर रास्ता लूं, ऐसा विचार करके मै ज्यो ही दृष्टि उठाकर सामने देखता हूँ त्यों ही वहाँ एक विकराल सिंहराज नजर आया। रे! अब तो मै जाड़ेकी ठंडमे भी सौगुना थर्राने लग गया। और फिर विचारमे पड गया, 'खिसक कर पीछे मुड़ूँ तो कैसा ?' ऐसा लगा, वहाँ तो उस तरफ घोडेकी पीठ पर नंगी पैनी तलवार देखी। इसलिये यहाँ अब मेरे विचार तो पूरे हो चुके। जहाँ देखूँ वहाँ मौत। फिर विचार किस कामका ? चारो दिशाओंमे मौतने अपना जबरदस्त पहरा बिठा दिया। हे महामुनिराज! ऐसा चमत्कारिक परन्तु भयकर दृश्य देखकर मुझे

अपने जीवनकी शका होने लगी। मेरा प्यारा जीव कि जिससे मै सारे ब्रह्माण्डके राज्य जैसा वैभव भोग रहा हूँ, वह अब इस नरदेहको छोड कर चला जायेगा ! रे चला जायेगा ! अरे ! अब मेरी कैसी विपरीत गति हो गयी ! मेरे जैसे पापीको ऐसा ही उचित है। ले पापी जीव ! तू ही अपने कर्तव्यको भोग। तूने अनेकोंके कलेजे जलाये है। तूने अनेक रक प्राणियोका दमन किया है; तूने अनेक सतोको सतप्त किया है। तूने अनेक सती सुन्दरियोका शील भग किया है। तूने अनेक मनुष्योको अन्यायसे दंडित किया है। संक्षेपमे तूने किसी भी प्रकारके पापमे कमी नही रखी। इसलिये रे पापी जीव ! अब तू ही अपना फल भोग। तू अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता रहा, और साथ ही मदाध होकर ऐसा भी मानता था कि मै क्या दु खी होनेवाला था ? मुझे क्या कष्ट आने वाले थे ? परन्तु रे पापी प्राण ! अब देख ले। तू अपने इस मिथ्या मदका फल भोग ले। तू मानता था कि पापका फल है ही नही। परन्तु देख ले, अब यह क्या है ? इस तरह मैं पश्चात्तापमे डूब गया। अरे हाय ! मै अब बचूँगा ही नही ? यह विडम्बना मुझे हो गयी। इस समय मेरे पापी अन्त करणमे यह आया कि यदि अभी कोई आकर मुझे एकदम बचा ले तो कैसा मागलिक हो ! वह प्राणदाता इसी क्षण जो माँगे उसे देनेके लिये बँध जाऊँ। वह मेरे सारे मालवा देशका राज्य माँगे तो देनेमे ढील न करूँ। और इतना सब देते हुए भी और माँगे तो अपनी एक हजार नव-यौवना रानियाँ दे दूँ। वह माँगे तो अपनी विपुल राजलक्ष्मी उसके चरणकमलोमे धर दूँ। और इतना सब देते हुए भी वह कहता हो तो मै जीवन पर्यंत उसके किंकरका किंकर होकर रहूँ। परन्तु मुझे इस समय कौन जीवनदान दे ? ऐसी-ऐसी तरगोमे झोके खाता-खाता मै आपके पवित्र जैन धर्मके चिन्तनमे पड गया। इसके कथनका मुझे उस समय भान हो आया। इसके पवित्र सिद्धान्त उस समय मेरे अन्तःकरणमे प्रभावक ढगसे अंकित हो गये। और उसने उनका यथार्थ मनन शुरू कर दिया, कि जिससे आपके समक्ष आनेके लिये यह पापी प्राणी समर्थ हुआ।

१ **अभयदान**—यह सर्वोत्कृष्ट दान है। इसके जैसा एक भी दान नही है। इस सिद्धातका प्रथम मेरा अन्त करण मनन करने लगा। अहो ! इसका यह सिद्धात कैसा निर्मल और पवित्र है ! किसी भी प्राणीभूतको पीडा देना महापाप है। यह बात मेरे रोम-रोममे व्याप्त हो गयी—व्याप्त हुई तो ऐसी कि हजार जन्मान्तरमे भी न छूटके ! ऐसा विचार भी आया कि कदाचित् पुनर्जन्म न हो, ऐसा क्षणभरके लिये मान ले, तो भी की गयी हिंसाका किंचित् फल भी इस जन्ममे मिलता जरूर है। नही तो तेरी ऐसी विपरीत दशा कहाँसे होती ? तुझे सदा शिकारका पापी शौक लगा था, और इसीलिये तूने आज जान-बूझकर दयालुओका दिल दुखानेका उपाय किया था, तो अब यह उसका फल तुझे मिला। तू अब केवल पापी मौतके पजेमे फँसा। तुझमे केवल हिंसामति न होती, तो ऐसा वक्त तुझे मिलता ही क्यो ? मिलता ही नही। केवल यह तेरी नीच मनोवृत्तिका फल है। हे पापी आत्मन् ! अब तू यहाँसे अर्थात् इस देहसे मुक्त होकर चाहे कही जा, तो भी इस दयाका ही पालन करना। अब तेरे और इस कायाके अलग होनेमे क्या देर है ? इसलिये इस सत्य, पवित्र और अहिंसायुक्त जैन धर्मके जितने सिद्धात तुझसे मनन किये जा सकें उतने कर और अपने जीवकी शाति चाह। इसके सभी सिद्धात, ज्ञानदृष्टिसे देखते हुए और सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करते हुए सत्य ही है। जैसे अभयदान सबधी इसका अनुपम सिद्धात इस समय तुझे अपने इस अनुभवसे यथार्थ प्रतीत हुआ, वैसे इसके दूसरे सिद्धात भी सूक्ष्मतासे मनन करनेसे यथार्थ ही प्रतीत होगे। इसमे कुछ न्यूनाधिक है ही नही। सभी धर्मोमे दया संबधी थोडा-थोडा बोध जरूर है, परन्तु इसमें जैन तो जैन ही है। हर किसी प्रकारसे भी सूक्ष्मसे सूक्ष्म जन्तुओकी रक्षा करना, उन्हे किसी भी प्रकारसे दु ख न देना ऐसे जैनके प्रबल और पवित्र सिद्धान्तोसे दूसरा कौनसा धर्म अधिक सच्चा था ! तूने एकके बाद एक ऐसे अनेक धर्म अपनाये और छोडे, परतु तेरे हाथ जैन धर्म आया ही नही। रे ! कहाँसे आये ? तेरे प्रचुर पुण्यके उदयके बिना कहासे आये ? यह धर्म तो गदा है, । नही नही, म्लेच्छ जैसा

है। इस धर्मको भला कौन ग्रहण करे ? ऐसा मानकर ही तूने इस धर्मकी ओर तनिक दृष्टि तक भी नही की। अरे ! तू दृष्टि क्या कर सके ? अपने अनेक भवोके तपके कारण तू राजा हुआ। तो अब नरकमे जानेसे कैसे रुके ? 'तपेश्वरी सो राजेश्वरी और राजेश्वरी सो नरकेश्वरी' यह कहावत, तेरे हाथ यह धर्म आनेसे मिथ्या ठहरती। और तू नरकमे जानेसे रुक जाता। हे मूढात्मन् ! यह सब विचार अब तुझे रह रहकर सूझते हैं। परंतु अब यह सूझा हुआ किस कामका ? कुछ भी नही। प्रथमसे ही सूझा होता तो यह दशा कहाँसे होती ? होनेवाला हुआ। परतु अब अपने अत करणमे दृढ कर कि यही धर्म सच्चा है, यही धर्म पवित्र है। और अब इसके दूसरे सिद्धानोका अवलोकन कर।

२. **तप** -- इस विषय सबंधी भी इसने जो उपदेश दिया है, वह अनुपम है। और तपके महान योगसे मैने मालवा देशका राज्य पाया है, ऐसा कहा जाता है, यह भी सच्चा ही है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, ये तीन इसने तपके भाग किये हैं। ये भी सच्चे है। ऐसा करनेसे उत्पन्न होनेवाले सभी विकार शात होते-होते कालक्रमसे विलीन हो जाते है। जिससे बँधनेवाला कर्मजाल रुक जाता है। वैराग्य सहित धर्म भी पाला जा सकता है। और अंतमे यह महान सुखप्रद सिद्ध होता है। देख ! इसका यह सिद्धात भी कैसा उत्कृष्ट है !

३. **भाव**—भावके विषयमे इसने कैसा उपदेश दिया है ! यह भी सच्चा ही है। भावके बिना धर्म कैसे फलीभूत हो ? भावके बिना धर्म हो ही कहाँसे ? भाव तो धर्मका जीवन है। जब तक भाव न हो तब तक कौनसी वस्तु भली प्रतीत हो सकती थी ? भावके बिना धर्मका पालन नही हो सकता। तब धर्मके पालनके बिना मुक्ति कहासे हो सकती है ? इसका यह सिद्धात भी सच्चा और अनुपम है।

४. **ब्रह्मचर्य**—अहो ! ब्रह्मचर्य सबंधी इसका सिद्धात भी कहाँ कम है ? सभी महाविकारोमे काम विकार अग्रेसर है। उसका दमन करना महा दुर्घट है। इसे दहन करनेसे फल भी महा शांतिकारक होता है, इसमे अतिशयोक्ति क्या ? कुछ भी नही। दु साध्य विषयको सिद्ध करना तो दुर्घट ही है ! इसका यह सिद्धात भी कैसा उपदेशजनक है !

५. **संसारत्याग** - साधु होने संबंधी इसका उपदेश कुछ लोग व्यर्थ मानते है। परंतु यह उनकी केवल मूर्खता है। वे ऐसा मत प्रदर्शित करते है कि तब स्त्रीपुरुषका जोडा उत्पन्न होनेकी क्या आवश्यकता थी ? परतु यह उनकी भ्राति है। सारी सृष्टि कही मोक्ष जानेवाली नही है, ऐसा जैनका एक वचन मैने सुना था। तदनुसार थोडे ही जीव मोक्षवासी हो सकते है, ऐसा मेरी अल्पबुद्धिमे आता है। फिर संसारका त्याग भी थोडे ही जीव कर सकते है, यह बात कौन नही जानता ? ससारत्याग किये बिना मुक्ति कहासे हो ? स्त्रीके शृगारमे लुब्ध हो जानेसे कितने ही विषयोमे लुब्ध हो जाना पडता है। सतान उत्पन्न होती है। उसका पालन-पोषण और सवर्धन करना पडता है। मेरा-तेरा करना पडता है। उदर-भरणादिके लिये प्रपंचसे व्यापारादिमे छलकपटका आयोजन करना पड़ता है। मनुष्योको ठगनेके लिये 'सोलह पाँचे बियासी और दो गये छूटके' ऐसे प्रपंच करने पडते है। अरे ! ऐसी तो अनेक झझटोमे जुटना पडता है। तब फिर ऐसे प्रपंचोमेसे मुक्तिको कौन सिद्ध कर सकनेवाला था ? और जन्म, जरा, मरणके दु:खोको कहाँसे दूर करने वाला था ? प्रपचमे रहना ही बधन है। इसलिये इसका यह उपदेश भी महा मंगलदायक है।

६. **सुदेवभक्ति**—इसका यह सिद्धात भी जैसा-तैसा नही है। जो केवल संसारसे विरक्त होकर, सत्य धर्मका पालन करके अखड मुक्तिमे विराजमान हुए है, उनकी भक्ति क्यों न सुखप्रद हो ? उनकी भक्तिके स्वाभाविक गुण अपने सिरसे भवबधनके दुःख दूर कर दें, यह बात कोई संशयात्मक नही है। ये अखंड परमात्मा कुछ राग या द्वेषवाले नही है, परंतु परम भक्तिका यह फल स्वत: होता है। अग्निका स्वभाव जैसे उष्णता है वैसे, ये तो रागद्वेषरहित है परंतु इनकी भक्ति न्यायदृष्टिसे गुणदायक है। परंतु जो

भगवान जन्म, जरा तथा मरणके दु खमे डुबकियाँ लगाया करते है, वे क्या तार सकते है ? पत्थर पत्थर-का कैसे तारे ? इसलिये इनका यह उपदेश भी दृढ हृदयसे मान्य करने योग्य है।

७. निःस्वार्थी गुरु—जिसे किसी भी प्रकारका स्वार्थ नही है वैसा गुरु धारण करना चाहिये, यह बात इसकी एकदम सच्ची ही है। जितना स्वार्थ होता है उतना धर्म और वैराग्य कम होता है। सभी धर्मोंमे मैने धर्मगुरुओका स्वार्थ देखा, केवल एक जैन धर्मके सिवा ! उपाश्रयमे आते वक्त चपटी चावल या आधी अंजलि ज्वार लानेका भी इन्होने बोध नही दिया और इसी तरह इन्होने किसी भी प्रकारका स्वार्थ नही चलाया। तब ऐसे धर्मगुरुओके आश्रयसे मुक्ति क्यो न मिले ? मिले ही। इनका यह उपदेश महा श्रेयस्कर है। नाव पत्थरको तारती है, इसी तरह सुगुरु उपदेश देकर अपने शिष्योको तार सकता है, इसमे असत्य क्या ?

८. कर्म—सुख और दु ख, जन्म और मरण आदि सब कर्मके अधीन है। जीव अनादिकालसे जैसे कर्म करता आ रहा है वैसे फल पा रहा है। यह उपदेश भी अनुपम ही है। कुछ कहते हे कि भगवान अपराध क्षमा करे तो यह हो सकता है। परन्तु नही। यह उनकी भूल हे। इससे वह परमात्मा भी रागद्वेषवाला सिद्ध होता है। और इससे कालक्रममे मनमाना बरताव करना होता है। इस तरह इन सभी दोषोका कारण परमेश्वर होता है। तब यह बात सत्य कैसे कही जाय ? जनियोका सिद्धात है कि फल कर्मानुसार होता है, यही सत्य है। ऐसा ही मत उनके तीर्थंकरोने भी प्रदर्शित किया हे। इन्होने अपनी प्रशसा नही चाही। और यदि चाहे तो वे मानवाले ठहरें। इसलिये उन्होने सत्य प्ररूपित किया है। कीर्तिके बहाने धर्मवृद्धि नहीं की। तथा उन्होने किसी भी प्रकारसे अपने स्वार्थकी गन्ध तक भी नही आने दी। कर्म सभीके लिये बाधक हे। मुझे भी किये हुए कर्म नही छोडते और उन्हे भोगना पडता है। ऐसे विमल वचन भगवान श्री वर्धमानने कहे है। और फिर दृष्टान्त सहित वर्णन करके उन्हे दृढ किया है। भरतेश्वरजीने भगवान श्रीऋषभदेवजीसे पूछा—'हे भगवन् ! अब अपने वशमे कोई तीर्थंकर होगा ?' तब आदि तीर्थंकर भगवानने कहा—'हा, यह बाहर बैठा हुआ त्रिदडी वर्तमान चौबीसीमे चौबीसवा तीर्थंकर होगा।' यह सुनकर भरतेश्वरजी आनदित हुए, और विनययुक्त अभिवन्दन करके वहासे उठे। बाहर आकर त्रिदडीको वदन किया और सूचित किया—'तेरा अभीका पराक्रम देखकर मै कुछ वदन नही करता; परन्तु तू वर्तमान चौबीसीमे भगवान वर्धमानके नामसे अतिम तीर्थंकर होनेवाला है, उस पराक्रमके कारण वंदन करता हूँ।' यह सुनकर त्रिदडीजीका मन प्रफुल्लित हुआ, और अह आ गया—'मै तीर्थंकर होऊँ इसमे क्या आश्चर्य ? मेरा दादा कौन है ? आद्य तीर्थंकर श्रीऋषभदेवजी। मेरा पिता कौन हे ? छ खण्डके राजाधिराज चक्रवर्ती भरतेश्वर। मेरा कुल कौनसा है ? इक्ष्वाकु। तब मै तीर्थंकर होऊँ इसमे क्या ?' इस प्रकार अभिमानके आवेशमे हँसे, खेले और उछले-कूदे, जिससे सत्ताईस श्रेष्ठ व अनिष्ट भव बाँधे और उन भवोको भोगनेके बाद वर्तमान चौबीसीके अतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हुए। यदि उन्होने स्वार्थ या कीर्तिके लिये धर्मप्रवर्तन किया होता तो वे इस बातको प्रगट भी करते ? परन्तु उनका धर्म स्वार्थरहित था। इसलिये सच कहनेमे क्यो रुकते ? देखो भाई ! मुझे भी कर्म नही छोड़ते, तो आपको कैसे छोडेगे ? इसलिये इनका यह कर्मसिद्धात भी सच्चा है। यदि उनका स्वार्थी और कीर्तिके बहाने भुलावा देनेवाला धर्म होता तो वे यह बात प्रदर्शित भी करते ? जिन्हे स्वार्थ हो वे तो ऐसी बातको केवल भूमिम ही दफना दे, और दिखावे कि, नही नही, मुझे कर्म पीडा नही देते। मे सबका जैसे चाहूँ वैसे कर सकता हूँ, तरनतारन हूँ ऐसी शान बघारते। परतु भगवान वर्धमान जैसे निःस्वार्थी और सत्यनिष्ठको अपनी झूठी प्रशसा कहना-करना छाजे ही क्यो ? ऐसे निर्विकारी परमात्मा ही यथार्थ उपदेश दे सकते है। इसलिये इनका यह सिद्धात भी किसी भी प्रकारसे शका करने योग्य नही है।

९. सम्यग्दृष्टि—सम्यग्दृष्टि अर्थात् भली दृष्टि। निष्पक्षतासे सदसद्का विचार करना। इसका नाम

विवेकदृष्टि और द्विवेकदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि। इनका यह बोध संपूर्ण सत्य ही है। विवेकदृष्टिके बिना सत्य कहाँसे सूझे ? और सत्य सूझे बिना सत्यका ग्रहण भी कहाँसे हो ? इसलिये सभी प्रकारसे सम्यग्दृष्टिका उपयोग करना चाहिये। यह भी इसका सूचन क्या कम श्रेयस्कर है ?

हे पापी आत्मन् ! तूने अनेक स्थलो पर जैन मुनीश्वरोको अहिंसा सहित इन नौ सिद्धातोका उपदेश देते हुए सुना था। परन्तु उस समय तुझे भली दृष्टि ही कहाँ थी ? इसके ये नवो सिद्धात कैसे निर्मल हैं ! इसमे तिलभर बढती या जौ भर घटती नही है। इनके धर्ममे किंचित् विरोध नही है। इसमे जितना कहा है उतना सत्य ही है। मन, वचन और कायाका दमन करके आत्माकी शाति चाहो। यही इसका स्थल-स्थल पर उपदेश है। इसका प्रत्येक सिद्धात सृष्टिनियमका स्वाभाविक रूपसे अनुसरण करता है। इसने शील सबधी जो उपदेश दिया है, वह कैसा प्रभावशाली है ! पुरुषोको एक पत्नीव्रत और स्त्रियोको एक पतिव्रतका तो (ससार न छोडा जा सके, और कामका दहन न हो सके तो) पालन करना ही चाहिये। इसमे उभय पक्षमें कितना फल है ! एक तो मुक्तिमार्ग और दूसरा ससारमार्ग, इन दोनोमे इससे लाभ है। आज केवल ससारका लाभ तो देख। एक पत्नीव्रत (स्त्रीको पतिव्रत) को पालते हुए प्रत्यक्षमे भी उसकी सुमनोकामना धारणानुसार पूरी हो जाती है। यह कीर्तिकर और शरीरसे भी आरोग्यप्रद है। यह भी ससारी लाभ है। परस्त्रीगामी कलकित होता है। आतशक, प्रमेह, और क्षय आदि रोग सहन करने पड़ते हैं। और दूसरे अनेक दुराचार लग जाते है। यह सब ससारमे भी दु:खकारक है, तो वे मुक्तिमार्गमे किसलिये दु:खप्रद न हो ? देख, किसीको अपनी पुनीत स्त्रीसे वैसा राग हुआ सुना है ? इसलिये इसके सिद्धात दोनो पक्षोमे श्रेयस्कर है। सच्चा तो सर्वत्र अच्छा ही हो न ? गरम पानी पीने सबधी इसका उपदेश सभीके लिये है और अन्तमे जो वैसा न कर सके वह भी छाने बिना तो पानी न ही पिये। यह सिद्धांत दोनो पक्षमे लाभदायक है। परन्तु हे दुरात्मन् ! तू मात्र ससारपक्ष ही (तेरी अल्पबुद्धि है तो) देख। एक तो रोग होनेका सभव कम ही रहता है। अनछना पानी पीनेसे कितने-कितने प्रकारके रोगोकी उत्पत्ति होती है। नारू, हैजा आदि अनेक प्रकारके रोगोकी उत्पत्ति इसीसे होती है। जब यहाँ पवित्र रूपसे लाभकारक है, तब मुक्तिपक्षमे किसलिये न हो ? इन नौ सिद्धातोमे कितना अधिक तत्त्व रहा है ! जो एक सिद्धान्त है वह एक जवाहरातकी लडी है। वैसे नौ सिद्धातोसे बनी हुई यह नौलडी माला जो अत:करणरूपी गलेमे पहने वह किसलिये दिव्य सुखका भोक्ता न हो ? यथार्थ एव नि:स्वार्थ धर्म तो यह एक ही है। हे दुरात्मन् ! यह काला नाग अब करवट बदल कर तेरी ओर ताकनेको तैयार हुआ है। इसलिये तू अब इस धर्मके 'नवकार स्तोत्र'का स्मरण कर। और अब आगेके जन्ममे भी इसी धर्मको माग। ऐसा जब मेरा मन हो गया और "नमो अरिहंताणं" यह शब्द मुखसे कहता हूँ तब दूसरा कौतुक हुआ। जो भयंकर नाग मेरे प्राण लेनेके लिये करवट बदल रहा था वह काला नाग वहाँसे धीरेसे खिसककर बाबीकी ओर जाता हुआ मालूम हुआ। इसके मनसे ही ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि मै धीरे-धीरे खिसक जाऊँ, नही तो यह बेचारा पामर प्राणी अब भयमे ही कालधर्मको प्राप्त हो जायेगा। ऐसा सोच कर वह खिसककर दूर चला गया। दूर जाते हुए वह बोला—'हे राजकुमार ! तेरे प्राण लेनेमे मै एक पलकी भी देर करनेवाला न था, परन्तु तुझे शुद्ध वैराग्य और जैनधर्ममे निमग्न देखकर मेरा दिल धीरे-धीरे पिघलता गया। वह ऐसा तो कोमल हो गया कि हद हो गयी ! यह सब होनेका कारण मात्र जैनधर्म ही है। तेरे अत:करणमे जब उस धर्मकी तरंगे उठ रही थीं तब मेरे मनमे उसी धर्मकी तरगसे तुझे न मारना ऐसा स्फुरित हो आया था। जैसे-जैसे धीरे-धीरे तुझपर उस धर्मका असर बढता गया वैसे-वैसे मेरी सुमनोवृत्ति तेरी ओर होती गयी। अन्तमे तूने जब "नमो अरिहंताणं" इतना कहा तब तुझे पूरा जैनास्तिक हुआ देखकर मैने अपना शरीर खिसका दिया। इसलिये तू मन, वचन और कायासे उस धर्मका पालन करना। तू यह मान कि मै जैनधर्मके प्रतापसे ही अब तुझे जिदा छोड़ रहा हूँ। यह धर्म तो धर्म

ही है। रे! मुझे मनुष्यजन्म मिला नही है। नही तो इस धर्मका ऐसा सेवन करता कि बस! परंतु जैसा मेरा कर्मप्रभाव। तो भी मुझसे जैसे हो सकेगा वैसे मै इस धर्मका शुद्ध आचरण करूँगा। हे राजकुमार! अब तू आनंदसे पैर नीचे रख कर अपनी तलवारको म्यानमे डाल। जिनशासनके शृगार-तिलकरूप महा-मुनीश्वर यहाँ सामनेवाले सुन्दर बागमे विराजते है। इसलिये तू वहाँ जा। उनके मुखकमलसे पवित्र उपदेशका श्रवण करके अपना मानवजन्म कृतार्थ कर।' हे महामुनिराज! मणिधरके ऐसे वचन सुनकर मैं तो दंग रह गया कैसा जैनधर्मका प्रताप! मै मौतके पजेसे छटक गया। तब मै सचमुच दंग तो रह गया, परंतु उस आश्चर्यके साथ अहो! जीवनदान देनेवाला तो यही जैनधर्म है। उस समय मेरे आनदका कोई पार नही रहा। मेरा सारा शरीर ही मानो हर्षसे बना हुआ हो ऐसा हो गया, और तुरंत ही मै उस दया करनेवाले नागदेवको प्रणाम करके और तलवारको म्यानमे रखकर दूसरे रास्तेसे होकर आपका पवित्र दर्शन करनेके लिये इस तरफ मुडा। अब मुझे उस धर्मकी यथार्थ सूक्ष्मताका उपदेश करें। एक नवकार मत्रके प्रतापसे मैंने जीवनदान पाया तो इस सारे धर्मका पालन करते हुए क्या नही हो सकेगा? हे भगवन्! अब आप मुझे उस नौलडी मालाका अनुपम उपदेश दे।

शार्दूलविक्रीडितवृत्त

***पाम्या मोद मुनि सुणी मन विषे, वृत्तांत राजा तणो,**
पाछुं निज चरित्र ते वरणव्युं, उत्साह राखी घणो;
थाशे त्यां मन भूपने दृढ दया, ने बोध जारी थशे,
त्रीजो खंड खचीत मान सुखदा, आ मोक्षमाला विषे। (अपूर्ण)

१२

श्री परमात्मने नमः।

ॐ नमः सच्चिदानंदाय।

सज्जनता तीन भुवनका तिलकरूप है।
सज्जनता सच्ची प्रीतिके मूल्यसे भरपूर चमकदार हीरा है।
सज्जनता आनदका पवित्र धाम है।
सज्जनता मोक्षका सरल और उत्तम राजमार्ग है।
सज्जनता धर्म विषयकी प्यारी जननी है।
सज्जनता ज्ञानीका परम एव दिव्य भूषण है।
सज्जनता सुखका ही केवल स्थान है।
सज्जनता ससारकी अनित्यतामे मात्र नित्यतारूप है।
सज्जनता मनुष्यके दिव्य भागका प्रकाशित सूर्य है।
सज्जनता नीतिके मार्गमे समझदार मार्गदर्शक है।
सज्जनता निरतर स्तुतिपात्र लक्ष्मी है।
सज्जनता सभी स्थलोमे प्रेम करनेका प्रबल मूल है।
सज्जनता भव एव परभवमे अनुसरणके योग्य सुदर सड़क है।
(दूसरे स्थलमे इसका विवेचन करनेका विचार है।)

***भावार्थ**—राजाका वृत्तान सुनकर मुनि मनमे मुदित हुए, और पश्चात् अति उत्साहसे अपना चरित्र सुनाया। उधर राजाके मनमे दया दृढ होगी और इधर मुनिराजका उपदेश जारी होगा। इस तरह इस मोक्ष-मालाके तीसरे खडको सुखकारी अवश्य मानो।

आप इस सज्जनताका सन्मान करते है यह सचमुच इस लेखकके अत:करणको ठडा करनेके लिये पवित्र औषध है।

प्यारे भाई! इस सज्जनता संबंधी मुझमे कुछ भी ज्ञान नही है, तो भी जो स्वाभाविक रूपसे लिखना सूझा उसे यहाँ प्रदर्शित करता हूँ।

वृन्दसतसईमे एक दोहा ऐसे भावार्थसे सुशोभित है कि—"कानको बीध कर बढ़ाया जा सकता है। परंतु आँखके लिये वैसा नही हो सकता।" इसी तरह विद्या बढानेसे बढ़ती है, परंतु सज्जनता बढाये नही बढती।

इस महान कविराजके मतका बहुधा हम अनुसरण करेंगे तो कुछ अयोग्य नही माना जायेगा। मेरे मतके अनुसार तो सज्जनता जन्मके साथ ही जोडी जानी चाहिये। ईश्वरकृपासे अति यत्नसे भी प्राप्त अवश्य होती है। मन जीतनेकी यह सच्ची कसौटी है।

सज्जनताके लिये शंकराचार्यजी एक श्लोकमे ऐसा भावार्थ प्रदर्शित करते है कि (सत्संगका) एक क्षण भी, मूखके जन्मभरके सहवासकी अपेक्षा, उत्तम फलदायक सिद्ध होता है।

संसारमे सज्जनता ही सुखप्रद है ऐसा यह श्लोक बताता है—

संसारविषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
काव्यामृतरसास्वाद आलापः सज्जनैः सह ॥*

इसके बिना भी यह समझा जा सकता है कि जो नीति है वह सकल आनदका विधान है।

१३
श्री शांतिनाथ भगवान

स्तुति

***परिपूर्ण ज्ञाने परिपूर्ण ध्याने,**
परिपूर्ण चारित्र बोधित्व दाने;
नीरागी महाशांत मूर्ति तमारी,
प्रभु प्रार्थना शांति लेशो अमारी।
बऊं उपमा तो अभिमान मारुं,
अभिमान टाळ्या तणुं तत्त्व तारुं;
छतां बालरूपे रह्यो शिर नामी,
स्वीकारो घणी शुद्धिए शांतिस्वामी।
स्वरूपे रहो शांतता शांति नामे,
बिराज्या महा शांति आनंद धामे।

. .. .

(अपूर्ण)

*संसाररूपी विषवृक्षके अमृततुल्य दो फल हैं—एक काव्यामृतका रसास्वाद और दूसरा सज्जनोके साथ वार्तालाप।

***भावार्थ**—हे शातिनाथ भगवन्! आप ज्ञान, ध्यान, और चारित्रमे परिपूर्ण है एव बोधित्व देनेमें परिपूर्ण है, आप वीतराग हैं और आपकी मूर्ति महाशात है। हे शांति प्रभो! हमारी प्रार्थना स्वीकार करे। यदि मैं आपके लिये कोई उपमा दूँ, तो यह मेरा अभिमान ठहरता है, और आपका तत्त्वबोध तो अभिमानका नाशक है। फिर भी मैं बालरूपमे अति शुद्ध भावसे सिर झुकाकर वन्दना कर रहा हूँ। हे शातिनाथ! मेरी वन्दना स्वीकार करें। आपके स्वरूपमें शातता है, आपके नाममे शाति है, और आप महाशाति एव आनन्दके धाममें विराजमान है।

छत्रप्रबंधस्थ प्रेमप्रार्थना **१४** जेतपुर, कार्तिक सुदी १५, १९४१

१

अन्तर्गत-भुजगी छन्द
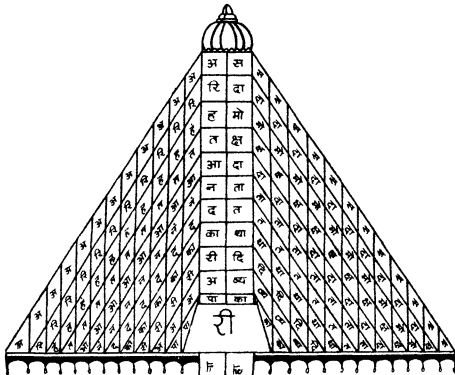
अरिहंत आनंदकारी अपारी,
सदा मोक्षदाता तथा दिव्यकारी;
विनंति वणिके विवेके विचारी,
वडी वंदना साथ हे ! दुःखहारो ॥

३

प्रयोजन प्रमाणिका

वणिक जेतपुरना, रिझाववा कसूर ना;
रच्यो प्रबंध चित्तथी, चतुरभुज हितथी ॥

२

कर्ता उपजाति

ववाणियावासी वणिक ज्ञाति,
रचेल तेणे शुभ हित काति;
सुबोध दाख्यो रवजी तनुजे,
आ रायचंदे मनथी रमूजे ॥

४

इस प्रबंधमे दृष्टिदोष, हस्तदोष या मनोदोष दृष्टिगोचर हों तो उनके लिये क्षमा चाहते हुए विनयपूर्वक वंदना करता हूँ। मैं हूँ,

रायचंद्र रवजी

---

१ अरिहत सदा आनद देनेवाले अपार गुणवाले, मोक्षके देनेवाले, दिव्यकर्म करनेवाले है। हे दु.खहारी! यह वणिक् विवेकपूर्वक विचार करके वदनाके साथ आपसे विनती करता है।

२ जो ववाणियावासी और वणिक जातिका है उसने शुभ, हित और कांतिके लिये यह रचना की है। श्री रवजीभाईके पुत्र इस रायचदने मनसे विनोदमे यह सुबोध दिया है।

३ जेतपुरके वणिक निर्दोष चतुर्भुजकी प्रसन्नता तथा हितके लिये चित्तकी उमगमे यह प्रबंध रचा है।

१५

दोहे

ज्ञानी के अज्ञानी जन, सुख दुःख रहित न कोय।
ज्ञानी वेदे धैर्यथी, अज्ञानी वेदे रोय॥

मंत्र तंत्र औषध नहीं, जेथी पाप पलाय।
वीतराग वाणी विना, अवर न कोई उपाय॥

वचनामृत वीतरागनां, परम शांतरस मूल।
औषध जे भवरोगनां, कायरने प्रतिकूल॥

जन्म, जरा ने मृत्यु, मुख्य दुःखना हेतु।
कारण तेनां बे कह्यां, राग द्वेष अणहेतु॥

नथी धर्यो देह विषय वधारवा।
नथी धर्यो देह परिग्रह धारवा॥

भावार्थ—ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी मनुष्य सुखदुःखसे रहित नही है। ज्ञानी सुखदुःखको धैर्यसे भोगता है और अज्ञानी रो रोकर भोगता है।

ससारमे कोई भी मत्र, तंत्र और औषध नही है कि जिससे पाप दूर किया जाये। वीतरागकी वाणीके सिवाय पापका नाशक अन्य कोई उपाय नही है।

वीतरागके वचनामृत परम शातरसके मूल है, जो भवरोगके औषध है; परन्तु कायरके लिये प्रतिकूल हैं।

जन्म, जरा और मृत्यु दुःखके मुख्य हेतु हैं। अनावश्यक राग और द्वेष ही उनके दो कारण कहे हैं।

हे जीव! तूने विषयको बढानेके लिये देह धारण नही की है, और परिग्रहको अपनानेके लिये भी देह धारण नही की है।

श्रीमद् राजचंद्र

वर्ष १६ मुं वि. स. १९४०

की है वे सब वस्तुएँ संसारमे मुख्यतः सुखरूप मानी गयी हैं। संसारका सर्वोत्तम सुखका साधन जो भोग है वह तो रोगका धाम ठहरा। मनुष्य ऊँचे कुलसे सुख मानता है, वहाँ पतनका भय दिखाया। ससारचक्र मे व्यवहारका ठाठ चलानेके लिये दडरूप लक्ष्मी है वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है। कोई भी कृत्य करके यश-कीर्तिसे मान प्राप्त करना या मानना, ऐसो संसारके पामर जीवोकी अभिलाषा है, तो उसमे महादीनता और दरिद्रताका भय है। बल-पराक्रमसे भी ऐसी ही उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रही है तो उसमे शत्रुका भय रहा हुआ है। रूप-कांति भोगीके लिये मोहिनीरूप है तो उसे धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरतर भययुक्त ही है। अनेक प्रकारसे गूँथी हुई शास्त्रजालमे विवादका भय रहा है। किसी भी सांसारिक सुखका गुण प्राप्त करनेमे जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्यकी निंदाके कारण भयान्वित है। जिसमे अनत प्रियता रही है वह काया एक समय कालरूपी सिंहके मुखमे पड़नेके भयसे भरी है। इस प्रकार ससारके मनोहर परतु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है, जहाँ शोक हो वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना यथोचित है।

योगींद्र भर्तृहरि एक ही ऐसा कह गये है ऐसा नही है। कालानुसार सृष्टिके निर्माण समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ ऐसे असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये है। ऐसा कोई काल या आर्य देश नही है जिसमे तत्त्वज्ञानियोकी उत्पत्ति बिलकुल न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओने ससार-सुखकी प्रत्येक सामग्रीको शोकरूप बताया है. यह इनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पतंजलि, कपिल और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोमे मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश दिया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोमे कुछ आ जाता है —

"अहो लोगो ! ससाररूपी समुद्र अनंत एव अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो ! उपयोग करो !!"

ऐसा उपदेश करनेमे इनका हेतु प्रत्येक प्राणीको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरके वचन सर्वत्र यही हैं कि ससार एकात और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो भव्य लोगो ! इसमे मधुरी मोहिनी न लाकर इससे निवृत्त होओ ! निवृत्त होओ !!

महावीरका एक समयमात्रके लिये भी ससारका उपदेश नही है। इन्होंने अपने सभी प्रवचनोमे यही प्रदर्शित किया है तथा स्वाचरणसे वैसा सिद्ध भी कर दिया है। कचनवर्णी काया, यशोदा जैसी रानी, अपार साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उनकी मोहिनीका त्यागकर ज्ञान-दर्शनयोगपरायण होकर इन्होने जो अद्भुतता प्रदर्शित की है वह अनुपम है। यहीका यही रहस्य प्रकट करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें महावीर कपिल केवलीके समाप तत्त्वाभिलाषीके मुखकमलसे कहलवाते है :—

अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥

'अध्रुव एव अशाश्वत संसारमे अनेक प्रकारके दुःख हैं, मै ऐसी कौनसी करनी करूँ कि जिस करनी से दुर्गतिमे न जाऊँ ?' इस गाथामे इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिलमुनि फिर आगे उपदेश चलाते है :—

अधुवे असासयम्मि—ये महान तत्त्वज्ञानप्रसादीभूत वचन प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके सतत वैराग्यवेगके है। अति बुद्धिशालियोको संसार भी उत्तमरूपसे मान्य रखता है, फिर भी वे बुद्धिशाली उसका त्याग करते हैं; यह तत्त्वज्ञानका स्तुतिपात्र चमत्कार है। वे अति मेधावी अतमे पुरुषार्थकी स्फुरणा कर महायोग साधकर आत्माके तिमिरपटको दूर करते है। संसारको शोकाब्धि कहनेमे तत्त्वज्ञानियोकी भ्रांति नही है, परंतु ये सभी तत्त्वज्ञानी कही तत्त्वज्ञानचंद्रकी सोलह कलाओसे पूर्ण नही होते; इसी कारणसे सर्वज्ञ

महावीरके वचन तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण देते हैं वे महत्त्वपूर्ण, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय हैं। महावीरके तुल्य ऋषभदेव जैसे जो जो सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए है, उन्होंने नि:स्पृहतासे उपदेश देकर जगत्-हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमे जो एकात और अनत भरपूर ताप है वह ताप तीन प्रकारका है—आधि, व्याधि और उपाधि। इससे मुक्त होनेके लिये सभी तत्त्वज्ञानी कहते आये है। ससारत्याग, शम, दम, दया, शाति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनोंकी विनय, विवेक, नि:स्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान, इन सबका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अनबन, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान और मिथ्यात्व, इन सबका त्याग करना। यही सभी दर्शनोका सामान्यत. सार है। नीचेके दो चरणोमे इस सारका समावेश हो जाता है—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार।

सचमुच! यह उपदेश स्तुतिपात्र है। यह उपदेश देनेमे किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता प्रदर्शित की है। यह सब उद्देशकी दृष्टिसे तो समतुलित-से दिखायी देते है। परंतु सूक्ष्म उपदेशकके तौरपर सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान प्रथम पदवीके धनी हो जाते है। निवृत्तिके लिये जिन-जिन विषयोंको पहले बताया है उन-उन विषयोके सच्चे स्वरूपको समझकर सर्वांशमे मगलमय बोध देनेमे ये राजपुत्र बाजी ले गये हैं। इसके लिये उन्हे अनंत धन्यवाद छाजता है!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन अथवा क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करे। सभी उपदेशक यो कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना, और प्रयोजन दु:खकी निवृत्ति है। इसीलिये सब दर्शनोमे सामान्यत: मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। द्वितीय अंग सूत्रकृतागके प्रथम श्रुतस्कधके छठे अध्ययनकी चौबीसवी गाथाके तीसरे चरणमे कहा है कि—

निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा।

सभी धर्मोंमे मुक्तिको श्रेष्ठ कहा है।

साराश यह है कि मुक्ति अर्थात् ससारके शोकसे मुक्त होना। परिणाममे ज्ञानदर्शनादि अनुपम वस्तुओंको प्राप्त करना। जिसमे परम सुख और परमानदका अखड निवास है, जन्म-मरणकी विडबनाका अभाव है, शोक एवं दु:खका क्षय है, ऐसे इस वैज्ञानिक विषयका विवेचन अन्य प्रसंगमे करेंगे।

यह भी निर्विवाद मान्य रखना चाहिये कि उस अनत शोक एवं अनंत दु.खकी निवृत्ति इन्ही सांसारिक विषयोंसे नही है। रुधिरसे रुधिरका दाग नही जाता, परतु जलसे वह दूर हो जाता है, इसी तरह शृंगारसे या शृंगारमिश्रित धर्मसे संसारकी निवृत्ति नही होती। इसीलिये वैराग्यजलकी आवश्यकता नि:सशय सिद्ध होती है, और इसीलिये वीतरागके वचनोमे अनुरक्त होना उचित है। निदान इससे विषय-रूप विषका जन्म नही होता। परिणाममे यही मुक्तिका कारण है। इन वीतराग सर्वज्ञके वचनोका विवेकबुद्धिसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके हे मनुष्य! आत्माको उज्ज्वल कर।

प्रथम दर्शन

इसमे वैराग्यबोधिनी कुछ भावनाओका उपदेश करेंगे। वैराग्य एव आत्महितैषी विषयोंकी सुदृढ़ता होनेके लिये तत्त्वज्ञानी बारह भावनाएँ बताते है—

१. अनित्यभावना—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब-परिवार आदि सर्व विनाशी हैं। जीवका मूल धर्म अविनाशी है, ऐसा चिन्तन करना, यह पहली अनित्यभावना।

२. **अशरणभावना**—संसारमे मरणके समय जीवको शरणमे रखनेवाला कोई नही है, मात्र एक शुभ धर्मकी शरण ही सत्य है, ऐसा चिंतन करना, यह दूसरी अशरणभावना।

३. **संसारभावना**—इस आत्माने संसारसमुद्रमे पर्यटन करते-करते सर्व भव किये है। इस संसार बेड़ीसे मै कब छूटूंगा ? यह संसार मेरा नही है, मैं मोक्षमयी हूँ, इस तरह चिंतन करना, यह तीसरी संसारभावना।

४. **एकत्वभावना**—यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला जायेगा, अपने किये हुए कर्मोंको अकेला भोगेगा; अंतःकरणसे इस तरह चिंतन करना, यह चौथी एकत्वभावना।

५. **अन्यत्वभावना**—इस ससारमे कोई किसीका नही है, इस तरह चिंतन करना, यह पाँचवी अन्यत्वभावना।

६. **अशुचिभावना**—यह शरीर अपवित्र है, मल-मूत्रकी खान है, रोग-जराका निवासधाम है, इस शरीरसे मैं न्यारा हूँ; इस तरह चिंतन करना, यह छठो अशुचिभावना।

७. **आस्रवभावना**—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आस्रव है, इस तरह चिंतन करना, यह सातवी आस्रवभावना।

८. **संवरभावना**—ज्ञान, ध्यानमे प्रवर्तमान होकर जीव नये कर्म नही बाँधता, यह आठवी संवर-भावना।

९. **निर्जराभावना**—ज्ञानसहित क्रिया करना यह निर्जराका कारण है, इस तरह चिंतन करना, यह नौवी निर्जराभावना।

१०. **लोकस्वरूपभावना**—चौदह राजूलोकके स्वरूपका विचार करना, यह दसवाँ लोकस्वरूप-भावना।

११. **बोधिदुर्लभभावना**—संसारमे भ्रमण करते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानको प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है, अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ तो चारित्र-सर्वविरतिपरिणामरूप धर्म प्राप्त होना दुर्लभ है; इस तरह चिंतन करना, यह ग्यारहवी बोधिदुर्लभभावना।

१२. **धर्मदुर्लभभावना**—धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके बोधक गुरु और उनके उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, इस तरह चिंतन करना, यह बारहवी धर्मदुर्लभभावना।

इस प्रकार मुक्ति साध्य करनेके लिये जिस वैराग्यकी आवश्यकता है उस वैराग्यको दृढ़ करनेवाली बारह भावनाओमेसे कुछ भावनाओका इस दर्शनके अन्तर्गत वर्णन करेंगे। कुछ भावनाएँ कुछ विषयोमे बाँट दी गयी है, और कुछ भावनाओके लिये अन्य प्रसंगकी आवश्यकता है, अतः यहा उनका विस्तार नही किया है।

प्रथम चित्र

अनित्यभावना

(उपजाति)

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग,
आयुष्य ते तो जळना तरंग;
पुरंदरी चाप अनंग रंग,
शुं राचीए त्यां क्षणनो प्रसंग !

विशेषार्थ—लक्ष्मी बिजलीके समान है। जैसे बिजलीका चमकारा होकर विलीन हो जाता है, वैसे लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। पतंगका रंग जैसे चार दिनकी चाँदनी है, वैसे अधिकार मात्र थोडा समय रहकर हाथसे चला जाता है। आयुष्य पानीकी हिलोरके समान है। जैसे पानीकी हिलोर आयी कि गयी वैसे जन्म पाया और एक देहमे रहा या न रहा, इतनेमे दूसरी देहमें जाना पडता है। कामभोग आकाशमें उत्पन्न होनेवाले इंद्रधनुषके सदृश है। जैसे इन्द्रधनुष वर्षाकालमें उत्पन्न होकर क्षणभरमे विलीन हो जाता है, वैसे यौवनमे कामविकार फलीभूत होकर जरावस्थामें चले जाते है। संक्षेपमे हे जीव! इन सभी वस्तुओका सम्बन्ध क्षणभरका है, इनमे प्रेमबंधनकी साँकलसे बँधकर क्या प्रसन्न होना? तात्पर्य कि ये सब चपल एवं विनाशी है, तू अखंड एवं अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर!

भिखारीका खेद

दृष्टांत—इस अनित्य और स्वप्नवत् सुखके विषयमे एक दृष्टात कहते है—

एक पामर भिखारी जंगलमे भटकता था। वहा उसे भूख लगी। इसलिये वह बिचारा लड़खडाता हुआ एक नगरमे एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारकी आजिजी की। उसकी गिड़गिड़ाहटसे करुणार्द्र होकर उस गृहपतिकी स्त्रीने घरमेसे जीमनेसे बचा हुआ मिष्टान्न लाकर उसे दिया। ऐसा भोजन मिलनेसे भिखारी बहुत आनन्दित होता हुआ नगरके बाहर आया। आकर एक वृक्षके नीचे बैठा। वहां जरा सफाई करके उसने एक ओर अपना बहुत पुराना पानीका घडा रख दिया, एक ओर अपनी फटी पुरानी मलिन गुदड़ी रखी और फिर एक ओर वह स्वयं उस भोजनको लेकर बैठा। खुशी-खुशीसे उसने कभी न देखे हुए भोजनको खाकर पूरा किया। भोजनको स्वधाम पहुँचानेके बाद सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे जरासी देरमे उसकी आँखे मिच गयी। वह निद्रावश हुआ कि इतनेमे उसे एक स्वप्न आया। मानो वह स्वयं महा राजऋद्धिको प्राप्त हुआ है, इसलिये उसने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये हैं, सारे देशमे उसकी विजयका डंका बज गया है, समीपमें उसकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अनुचर खडे है, आसपास छड़ीदार 'खमा! खमा!' पुकार रहे है, एक उत्तम महालयमे सुन्दर पलंगपर उसने शयन किया है, देवागना जैसी स्त्रियाँ उसकी पाँव-चप्पी कर रही हैं, एक ओरसे मनुष्य पखेसे सुगन्धी पवन कर रहे है, इस प्रकार उसने अपूर्व सुखकी प्राप्तिवाला स्वप्न देखा। स्वप्नावस्थामे उसके रोमाच उल्लसित हो गये। वह मानो स्वयं सचमुच वैसा सुख भोग रहा है ऐसा वह मानने लगा। इतनेमे सूर्यदेव बादलोसे ढँक गया, बिजली कौंधने लगी, मेघ महाराज चढ आये, सर्वत्र अँधेरा छा गया, मूसलधार वर्षा होगी ऐसा दृश्य हो गया, और घनगर्जनाके साथ बिजलीका एक प्रबल कड़ाका हुआ। कडाकेकी प्रबल आवाजसे भयभीत हो वह पामर भिखारी शीघ्र जाग उठा। जागकर देखता है तो न है वह देश कि न है वह नगरी, न है वह महालय कि न है वह पलंग, न है वे चामरछत्रधारी कि न है वे छड़ीदार, न है वह स्त्रीवृन्द कि न है वे वस्त्रालंकार, न है वे पंखे कि न है वह पवन, न हैं वे अनुचर कि न है वह आज्ञा, न है वह सुखविलास कि न है वह मदोन्मत्तता। देखता है तो जिस जगह पानीका पुराना घड़ा पड़ा था उसी जगह वह पड़ा है, जिस जगह फटी-पुरानी गुदड़ी पड़ी थी उसी जगह वह फटी-पुरानी गुदड़ी पड़ी है। महाशय तो जैसे थे वैसेके वैसे दिखायी दिये। स्वयं जैसे मलिन और अनेक जाली-झरोखेवाले वस्त्र पहन रखे थे वैसेके वैसे वही वस्त्र शरीरपर विराजते हैं। न तिलभर घटा कि न रत्तीभर बढ़ा। यह सब देखकर वह अति शोकको प्राप्त हुआ। 'जिस सुखाडंबरसे मैंने आनन्द माना, उस सुखमेसे तो यहाँ कुछ भी नही है। अरे रे! मैंने स्वप्नके भोग तो भोगे नही और मुझे मिथ्या खेद प्राप्त हुआ।' इस प्रकार वह बिचारा भिखारी ग्लानिमे आ पड़ा।

प्रमाणशिक्षा—स्वप्नमें जैसे उस भिखारीने सुखसमुदायको देखा, भोगा और आनन्द माना, वैसे पामर प्राणी संसारके स्वप्नवत् सुखसमुदायको महानन्दरूप मान बैठे है। जैसे वह सुखसमुदाय जागृतिमे उस भिखारीको मिथ्या प्रतीत हुआ, वैसे तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिसे संसारके सुख मिथ्या प्रतीत होते हैं। स्वप्नके भोग न भोगे जानेपर भी जैसे उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई, वैसे पामर भव्य जीव संसारमें सुख मान बैठते हैं, और भोगे हुएके तुल्य मानते है, परन्तु उस भिखारीकी भाँति परिणाममें खेद, पश्चात्ताप और अधोगतिको प्राप्त होते है। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तुका सत्यत्व नहीं है, वैसे संसारकी एक भी वस्तुका सत्यत्व नही है। दोनों चपल और शोकमय हैं। ऐसा विचार करके बुद्धिमान पुरुष आत्मश्रेयको खोजते हैं।

इति श्री 'भावनाबोध' ग्रन्थके प्रथम दर्शनका प्रथम चित्र 'अनित्यभावना' इस विषयपर सदृष्टान्त वैराग्योपदेशार्थ समाप्त हुआ।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

(उपजाति)

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी,
आराध्य आराध्य प्रभाव आणी।
अनाथ एकांत सनाथ थाशे,
एना विना कोई न बांह्य स्हाशे॥

विशेषार्थ—सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निःस्पृहतासे उपदिष्ट धर्मको उत्तम शरणरूप जानकर, मन, वचन और कायाके प्रभावसे हे चेतन! उसका तू आराधन कर, आराधन कर। तू केवल अनाथरूप है सो सनाथ होगा। इसके बिना भवाटवीभ्रमणमे तेरी बाँह पकडनेवाला कोई नही है।

जो आत्मा संसारके मायिक सुखको या अवदर्शनको शरणरूप मानते है, वे अधोगतिको प्राप्त करते हैं, तथा सदैव अनाथ रहते है, ऐसा बोध करनेवाले भगवान अनाथी मुनिका चरित्र प्रारम्भ करते हैं, इससे अशरणभावना सुदृढ होगी।

अनाथी मुनि

दृष्टान्त—अनेक प्रकारको लीलाओमे युक्त मगध देशका श्रेणिक राजा अश्वक्रीडाके लिये मंडिकुक्ष नामके वनमे निकल पडा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। नाना प्रकारके तरुकुञ्ज वहाँ नजर आ रहे थे, नाना प्रकारकी कोमल वल्लिकाएँ घटाटोप छायी हुई थी, नाना प्रकारके पक्षी आनन्दसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोके मधुर गान वहा सुनायी दे रहे थे, नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था, नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बह रहे थे; संक्षेपमे सृष्टिसौंदर्यका प्रदर्शनरूप होकर वह वन नंदनवनकी तुल्यता धारण कर रहा था। वहाँ एक तरुके नीचे महान समाधिमान पर सुकुमार एव सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। उनका रूप देखकर वह राजा अत्यन्त आनन्दित हुआ। उस अतुल्य उपमारहित रूपसे विस्मित होकर मनमे उनकी प्रशसा करने लगा—'अहो! इस मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! अहो! इसका कैसा मनोहर रूप है! अहो! इस आर्यकी कैसी अद्भुत सौम्यता है! अहो! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाके धारक है! अहो! इसके अगसे वैराग्यकी कैसी उत्तम स्फुरणा है! अहो! इसकी कैसी निर्लोभता मालूम होती है! अहो! यह संयति कैसा निर्भय अप्रभुत्व-नम्रता धारण किये हुए है! अहो! इसकी भोगकी निःसंगता कितनी सुदृढ है।" यों चिंतन करते-करते मुदित होते-होते, स्तुति करते-करते, धीरेसे चलते-चलते, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वंदन करके, न अति समीप और न

अति दूर वह बैठा। फिर अंजलिबद्ध होकर विनयसे उसने मुनिको पूछा—"हे आर्य ! आप प्रशंसा करने योग्य तरुण हैं, भोगविलासके लिये आपकी वय अनुकूल है, संसारमे नाना प्रकारके सुख हैं; ऋतु-ऋतुके कामभोग, जलसंबधी कामभोग, तथा मनोहारिणी स्त्रियोके मुखवचनोंका मधुर श्रवण होने पर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमे आप महान उद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण ? यह मुझे अनुग्रहसे कहिये।"

राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा, "मैं अनाथ था। हे महाराजन् ! मुझे अपूर्व वस्तुको प्राप्त करानेवाला तथा योगक्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकपा लानेवाला, करुणा करके परम सुखका देनेवाला सुहृत्-मित्र लेशमात्र भी कोई न हुआ। यह कारण मेरी अनाथताका था।"

श्रेणिक, मुनिके भाषणसे मुस्कराया। "अरे ! आप जैसे महान ऋद्धिमानको नाथ क्यों न हो ? लीजिये, कोई नाथ नही है तो मै होता हूँ। हे भयत्राण ! आप भोग भोगिये। हे संयति ! मित्र ! जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्य-भवको सफल कीजिये।"

अनाथीने कहा—"परन्तु अरे श्रेणिक, मगधदेशके राजन् ! तू स्वयं अनाथ है तो मेरा नाथ क्या होगा ? निर्धन धनाढ्य कहाँसे बना सके ? अबुध बुद्धिदान कहाँसे दे सके ? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सके ? वध्या संतान कहाँसे दे सके ? जब तू स्वयं अनाथ है, तब मेरा नाथ कहाँसे होगा ?" मुनिके वचनोसे राजा अति आकुल ओर अति विस्मित हुआ। जिन वचनोका कभी श्रवण नही हुआ, उन वचनोका यति-मुखसे श्रवण होनेसे वह शकाग्रस्त हुआ और बोला—"मै अनेक प्रकारके अश्वोका भोगी हूँ, अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोका धनी हूँ, अनेक प्रकारकी सेना मेरे अधीन है, नगर, ग्राम, अंतःपुर, तथा चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नही है, मनुष्यसम्बन्धी सभी प्रकारके भोग मुझे प्राप्त है, अनुचर मेरी आज्ञाका भली-भाँति पालन करते हैं, पाँचो प्रकारकी सपत्ति मेरे घरमे है, सर्व मनोवाछित वस्तुएँ मेरे पास रहती है। ऐसा मैं जाज्वल्यमान होते हुए भी अनाथ कैसे हो सकता हूँ ? कही हे भगवन् ! आप मृषा बोलते हो।" मुनिने कहा—"हे राजन् ! मेरे कहे हुए अर्थकी उपपत्तिको तूने ठीक नही समझा। तू स्वयं अनाथ है, परन्तु तत्सम्बन्धी तेरी अज्ञता है। अब मै जो कहता हूं उसे अव्यग्र एवं सावधान चित्तसे तू सुन, सुनकर फिर अपनी शंकाके सत्यासत्यका निर्णय करना। मैंने स्वय जिस अनाथतासे मुनित्वको अंगीकृत किया है उसे मैं प्रथम तुझे कहता हूँ—

कौशाम्बी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारके भेदोको उत्पन्न करनेवाली एक सुन्दर नगरी थी। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसचय नामके मेरे पिता रहते थे। प्रथम यौवनावस्थामे हे महाराजन् ! मेरी आँखोमे अतुल्य एव उपमारहित वेदना उत्पन्न हुई। दुःखप्रद दाहज्वर सारे शरीरमे प्रवर्तमान हुआ। शस्त्रसे भी अतिशय तीक्ष्ण वह रोग वैरीकी भाँति मुझपर कोपायमान हुआ। आँखोकी उस असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। इन्द्रके वज्रके प्रहार सरीखी, अन्यको भी रौद्र भय उत्पन्न करानेवाली उस अत्यंत-परम दारुण वेदनामे मै बहुत शोकार्त था। शारीरिक विद्यामें निपुण, अनन्य मंत्रमूलके सुज्ञ वैद्यराज मेरी उस वेदनाका नाश करनेके लिये आये; अनेक प्रकारके औषधोपचार किये परतु वे वृथा गये। वे महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त नही कर सके। हे राजन् ! यही मेरी अनाथता थी। मेरी आँखोकी वेदनाको दूर करनेके लिये मेरे पिता सारा धन देने लगे, परन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नही हुई। हे राजन् ! यही मेरी अनाथता थी। मेरी माता पुत्रके शोकसे अति दुःखार्त हुई, परन्तु वह भी मुझे उस रोगसे नही छुडा सकी, हे महाराजन् ! यही मेरी अनाथता थी। एक उदरसे उत्पन्न हुए मेरे ज्येष्ठ एव कनिष्ठ भाई भरसक प्रयत्न कर चुके परंतु मेरी वेदना दूर नहीं हुई, हे राजन् ! यही मेरी अनाथता थी। एक उदरसे उत्पन्न हुई मेरी ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा भगिनियोंसे मेरा दुःख दूर नहीं हुआ। हे महाराजन् ! यही मेरी अनाथता थी। मेरी स्त्री जो पतिव्रता, मुझपर अनुरक्त और प्रेमवती थी, वह

अश्रुपूर्ण आँखोंसे मेरे हृदयको सींचती और भिगोती थी। उसके अन्न-पानी देनेपर और नाना प्रकारके उबटन, चूवा आदि सुगंधी द्रव्य तथा अनेक प्रकारके फूल-चंदनादिके ज्ञात अज्ञात विलेपन किये जानेपर भी मैं उस यौवनवती स्त्रीको भोग नहीं सका। जो मेरे पाससे क्षणभर भी दूर नही रहती थी, अन्यत्र जाती नही थी, हे महाराजन्! ऐसी वह स्त्री भी मेरे रोगको दूर नही कर सकी, यही मेरी अनाथता थी। यों किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे या किसीके परिश्रमसे वह रोग उपशात नही हुआ। मैंने उस समय पुन: पुन: असह्य वेदना भोगी।

फिर मै अनंत संसारसे खिन्न हो गया। यदि एक बार मैं इस महाविडंबनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खंती, दंती और निरारंभी प्रव्रज्याको धारण करूँ, यों चिन्तन करता हुआ मैं शयन कर गया। जब रात्रि व्यतीत हो गयी तब हे महाराजन्! मेरी उस वेदनाका क्षय हो गया, और मैं नीरोग हो गया। मात, तात और स्वजन, बाधव आदिसे प्रभातमें पूछकर मैंने महाक्षमावान, इन्द्रियनिग्रही और आरंभोपाधिसे रहित अनगारत्वको धारण किया। तत्पश्चात् मैं आत्मा परात्माका नाथ हुआ। सर्व प्रकारके जीवोका मैं नाथ हूँ।" अनाथी मुनिने इस प्रकार उस श्रेणिकराजाके मनपर अशरण भावनाको दृढ़ किया। अब उसे दूसरा अनुकूल उपदेश देते हैं—

"हे राजन्! यह अपना आत्मा ही दु:खसे भरपूर वैतरणीको करनेवाला है। अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मली वृक्षके दु:खको उत्पन्न करनेवाला है। अपना आत्मा ही मनोवाछित वस्तुरूपी दूध देनेवाली कामधेनु गायके सुखको उत्पन्न करनेवाला है। अपना आत्मा ही नदनवनकी भाँति आनंदकारी है। अपना आत्मा ही कर्मका करनेवाला है। अपना आत्मा ही उस कर्मको दूर करनेवाला है। अपना आत्मा ही दु:खोपार्जन करनेवाला है। अपना आत्मा ही सुखोपार्जन करनेवाला है। अपना आत्मा ही मित्र और अपना आत्मा ही वैरी है। अपना आत्मा ही निकृष्ट आचारमे स्थित और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमे स्थित रहता है।" इस प्रकार तथा अन्य अनेक प्रकारसे उस अनाथी मुनिने श्रेणिक राजाको संसारकी अनाथता कह सुनायी। इससे श्रेणिकराजा अति संतुष्ट हुआ। वह अंजलिबद्ध होकर यों बोला, "हे भगवन्! आपने मुझे भलीभाँति उपदेश दिया। आपने जैसी थी वैसी अनाथता कह सुनायी। हे महर्षि! आप सनाथ, आप सबाधव और आप सधर्म हैं, आप सर्व अनाथोके नाथ है। हे पवित्र संयति! मै आपसे क्षमा माँगता हूँ। ज्ञानरूपी आपकी शिक्षाको चाहता हूँ। धर्मध्यानमे विघ्न करनेवाले भोग भोगने सबंधी, हे महाभाग्यवान्! मैंने आपको जो आमन्त्रण दिया तत्सबधी अपने अपराधकी नत-मस्तक होकर क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकार स्तुति करके राजपुरुष-केसरी परमानन्दको पाकर रोमाचसहित प्रदक्षिणा देकर सविनय वंदन करके स्वस्थानको चला गया।

प्रमाणशिक्षा—अहो भव्यो! महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान, महायशस्वी, महानिर्ग्रंथ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो बोध दिया है वह सचमुच अशरणभावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन किये गये दु:खोंके तुल्य अथवा इससे अति विशेष असह्य दु:ख अनंत आत्मा सामान्य दृष्टिसे भोगते हुए दिखायी देते है। तत्संबधी तुम किंचित् विचार करो। संसारमे छायी हुई अनन्त अशरणताका त्याग करके सत्य शरणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन करो, अन्तमे ये ही मुक्तिके कारणरूप है। जिस प्रकार संसारमे रहे हुए अनाथी अनाथ थे, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिये पुरुषार्थ करना यही श्रेय है!

इति श्री 'भावनाबोध' ग्रन्थके प्रथम दर्शनके द्वितीय चित्रमे 'अशरणभावना' के उपदेशार्थ महानिर्ग्रंथका चरित्र समाप्त हुआ।

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

(उपजाति)

शरीरमां व्याधि प्रत्यक्ष थाय,
ते कोई अन्ये लई ना शकाय।
ए भोगवे एक स्व-आत्म पोते,
एकत्व एथी नयसुज्ञ गोते ॥

विशेषार्थ—शरीरमे प्रत्यक्ष दीखनेवाले रोग आदि जो उपद्रव होते है वे स्नेही, कुटुम्बी, पत्नी या पुत्र किसीसे लिये नही जा सकते, उन्हे मात्र एक अपना आत्मा स्वयं ही भोगता है। इसमे कोई भी भागी नही होता। तथा पाप-पुण्य आदि सभी विपाक अपना आत्मा ही भोगता है। यह अकेला आता है, अकेला जाता है, ऐसा सिद्ध करके विवेकको भलीभाँति जाननेवाले पुरुष एकत्वको निरन्तर खोजते है।

दृष्टांत—महापुरुषके इस न्यायको अचल करनेवाले नमिराजर्षि और शक्रेंद्रका वैराग्योपदेशक सवाद यहाँपर प्रदर्शित करते हैं। नमिराजर्षि मिथिला नगरीके राजेश्वर थे। स्त्री, पुत्र आदिसे विशेष दुःख-समूह को प्राप्त न होते हुए भी एकत्वके स्वरूपको परिपूर्ण पहचाननेमे राजेश्वरने किंचित् विभ्रम किया नही है। शक्रेंद्र पहले जहाँ नमिराजर्षि निवृत्तिमे विराजते हैं, वहाँ विप्ररूपमे आकर परीक्षा हेतुसे अपना व्याख्यान शुरू करता है :—

विप्र—हे राजन्! मिथिला नगरीमे आज प्रबल कोलाहल व्याप्त हो रहा है। हृदय एव मनको उद्वेग करनेवाले विलापके शब्दोसे राजमदिर और सामान्य घर छाये हुए है। मात्र तेरी दीक्षा ही इन सब दुःखोका हेतु है। परके आत्माको जो दुःख अपनेसे होता है उस दुःखको संसारपरिभ्रमणका कारण मानकर तू वहाँ जा, भोला न बन।

नमिराज—(गौरवभरे वचनोसे) हे विप्र! तू जो कहता है वह मात्र अज्ञानरूप है। मिथिला नगरी में एक बगीचा था, उसके मध्यमे एक वृक्ष था, शीतल छायाके कारण वह रमणीय था, पत्र, पुष्प और फलसे वह युक्त था, नाना प्रकारके पक्षियोको वह लाभदायक था, वायु द्वारा कपित होनेसे उस वृक्षमे रहनेवाले पक्षी दुःखार्त एवं शरणरहित हो जानेसे आक्रद करते है। वे स्वयं वृक्षके लिये विलाप करते नही हैं, अपना सुख नष्ट हो गया, इसलिये वे शोकार्त है।

विप्र—परन्तु यह देख! अग्नि और वायुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरे अन्तःपुर और मन्दिर जल रहे हैं, इसलिये वहाँ जा और उस अग्निको शात कर।

नमिराज—हे विप्र! मिथिला नगरी, उन अन्तःपुरो और उन मन्दिरोके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जलता है, जैसे सुखोत्पत्ति है वैसे मैं वर्तन करता हूँ। उन मदिर आदिमे मेरा अल्पमात्र भी नही है। मैंने पुत्र, स्त्री आदिके व्यवहारको छोड दिया है। मुझे इनमेसे कुछ प्रिय नही है और अप्रिय भी नहीं है।

विप्र—परन्तु हे राजन्! तू अपनी नगरीके लिये सघन किला बनाकर, सिंहद्वार, कोठे, किवाड़ और भुंगाल बनाकर और शतघ्नी खाई बनवानेके बाद जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०[1]) हे विप्र! मैं शुद्ध श्रद्धारूपी नगरी बनाकर, संवररूपी भुंगाल बनाकर, क्षमारूपी शुभ गढ बनाऊँगा; शुभ मनोयोगरूपी कोठे बनाऊँगा, वचनयोगरूपी खाई बनाऊँगा, कायायोगरूपी शतघ्नी बनाऊँगा, पराक्रमरूपी धनुष् करूँगा, ईर्यासमितिरूपी पनच करूँगा, धीरतारूपी कमान पकडनेकी मूठ करूँगा, सत्यरूपी चापसे धनुष्को बाँधूँगा, तपरूपी बाण करूँगा और कर्मरूपी वैरीकी सेनाका भेदन करूँगा। लौकिक संग्रामकी मुझे रुचि नही है। मैं मात्र वैसे भावसंग्रामको चाहता हूँ।

---

१. हेतु और कारणसे प्रेरित।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) हे राजन् ! शिखरबंध ऊँचे आवास करवाकर, मणिकंचनमय गवाक्षादि रखवाकर और तालाबमे क्रीड़ा करनेके मनोहर महालय बनवाकर फिर जाना।

नमिराज—(हेतु कारण-प्रे०) तूने जिस प्रकारके आवास गिनाये है उस उस प्रकारके आवास मुझे अस्थिर एवं अशाश्वत मालूम होते है। वे मार्गके घररूप लगते हैं। इसलिये जहाँ स्वधाम है, जहाँ शाश्वतता है, और जहाँ स्थिरता है वहाँ मैं निवास करना चाहता हूँ।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) हे क्षत्रियशिरोमणि ! अनेक प्रकारके तस्करोके उपद्रवको दूर करके, और इस तरह नगरीका कल्याण करके तू जाना।

नमिराज—हे विप्र ! अज्ञानी मनुष्य अनेक बार मिथ्या दड देते है। चोरी न करनेवाले जो शरीरादिक पुद्गल है वे लोकमे बाधे जाते है, और चोरी करनेवाले जो इन्द्रियविकार है उन्हे कोई बाँध नही सकता। तो फिर ऐसा करनेको क्या आवश्यकता ?

विप्र—हे क्षत्रिय ! जो राजा तेरी आज्ञाका पालन नही करते है और जो नराधिप स्वतंत्रतासे चलते हैं उन्हे तू अपने वशमे करनेके बाद जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) दस लाख सुभटोको संग्राममे जीतना दुष्कर गिना जाता है; तो भी ऐसी विजय करनेवाले पुरुष अनेक मिल जाते है, परन्तु एक स्वात्माको जीतनेवाला मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। उन दस लाख सुभटोपर विजय पानेवालेकी अपेक्षा एक स्वात्माको जीतनेवाला पुरुष परमोत्कृष्ट है। आत्माके साथ युद्ध करना उचित है। बहिर्युद्धका क्या प्रयोजन है ? ज्ञानरूप आत्मासे क्रोधादि युक्त आत्माको जीतनेवाला स्तुतिपात्र है। पाचो इन्द्रियोको, क्रोधको, मानको, मायाको तथा लोभको जीतना दुष्कर है। जिसने मनोयोगादिको जीता उसने सबको जीता।

विप्र—(हेतु-कारण प्रे०) समर्थ यज्ञ करके, श्रमण, तपस्वी, ब्राह्मण आदिको भोजन देकर, सुवर्ण आदिका दान देकर, मनोज्ञ भोगोको भोगकर हे क्षत्रिय ! तू बादमे जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) हर महीने यदि दस लाख गायोका दान दे तो भी उस दस लाख गायोके दानकी अपेक्षा जो सयम ग्रहण करके सयमकी आराधना करता है, वह उसका अपेक्षा विशेष मंगल प्राप्त करता है।

विप्र—निर्वाह करनेके लिये भिक्षासे सुशील प्रव्रज्यामे असह्य परिश्रम सहना पड़ता है; इसलिये उस प्रव्रज्याका त्याग करके अन्य प्रव्रज्यामे रुचि होती है, इसलिये इस उपाधिको दूर करनेके लिये तू गृहस्थाश्रममे रहकर पौषधादि व्रतमे तत्पर रहना। हे मनुष्याधिपति ! मैं ठीक कहता हूँ।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) हे विप्र ! बाल अविवेकी चाहे जैसा उग्र तप करे परतु वह सम्यक्श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्मके तुल्य नही हो सकता। एकाध कला सोलह कलाओ जैसी कैसे माना जाये ?

विप्र—अहो क्षत्रिय ! सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वस्त्रालंकार और अश्वादिकी वृद्धि करके पीछे जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) मेरु पर्वत जैसे कदाचित् सोने-चांदीके असंख्यात पर्वत हो तो भी लोभी मनुष्यकी तृष्णा नही बुझती। वह किंचित् मात्र संतोषको प्राप्त नही होता। तृष्णा आकाश जैसी अनंत है। धन, सुवर्ण, चतुष्पाद इत्यादिसे सकल लोक भर जाये इतना सब लोभी मनुष्यकी तृष्णा दूर करनेके लिये समर्थ नही है। लोभकी ऐसी निकृष्टता है। इसलिये सतोषनिवृत्तिरूप तपका विवेकी पुरुष आचरण करते है।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) हे क्षत्रिय ! मुझे अद्भुत आश्चर्य होता है कि तू विद्यमान भोगोको छोड़ता है। फिर अविद्यमान कामभोगके संकल्प-विकल्प करके भ्रष्ट होगा। इसलिये इस सारी मुनित्वसंबंधी उपाधिको छोड़।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) कामभोग शल्य सरीखे है, कामभोग विष सरीखे है, कामभोग सर्पके तुल्य है, जिनकी इच्छा करनेसे जीव नरकादिक अधोगतिमे जाता है, तथा क्रोध एव मानके कारण दुर्गति होती है, मायाके कारण सद्गतिका विनाश होता है, लोभसे इस लोक व परलोकका भय होता है। इसलिये हे विप्र ! इसका तू मुझे बोध न दे। मेरा हृदय कभी भी विचलित होनेवाला नही है, इस मिथ्या मोहिनीमे अभिरुचि रखनेवाला नही है। जानबूझ कर जहर कौन पिये ? जानबूझ कर दीपक लेकर कुएँमे कौन गिरे ? जानबूझकर विभ्रममे कौन पड़े ? मैं अपने अमृत जैसे वैराग्यके मधुर रसको अप्रिय करके इस विषको प्रिय करनेके लिये मिथिलामे आनेवाला नही हूँ।

महर्षि नमिराजकी सुदृढता देखकर शक्रेंद्रको परमानंद हुआ, फिर ब्राह्मणके रूपको छोडकर इन्द्रका रूप धारण किया। वंदन करनेके बाद मधुर वाणीसे वह राजर्षीश्वरकी स्तुति करने लगा—"हे महायशस्विन् ! बडा आश्चर्य है कि तूने क्रोधको जीता। आश्चर्य, तूने अहंकारका पराजय किया। आश्चर्य, तूने मायाको दूर किया। आश्चर्य, तूने लोभको वशमे किया। आश्चर्य, तेरी सरलता। आश्चर्य, तेरा निर्ममत्व। आश्चर्य, तेरी प्रधान क्षमा। आश्चर्य, तेरी निर्लोभता। हे पूज्य ! तू इस भवमे उत्तम है, और परभवमे उत्तम होगा। तू कर्मरहित होकर प्रधान सिद्धगतिमे जायेगा।" इस प्रकार स्तुति करते-करते प्रदक्षिणा देते-देते श्रद्धाभक्तिसे उस ऋषिके पादाबुजको वंदन किया। तदनतर वह सुदर मुकुटवाला शक्रेंद्र आकाशमार्गसे चला गया।

प्रमाणशिक्षा—विप्ररूपमे नमिराजके वैराग्यको परखनेमे इंद्रने क्या न्यूनता की है ? कुछ भी नही की। ससारकी जो-जो लोलुपताएँ मनुष्यको विचलित करनेवाली है, उन-उन लोलुपताओं सबधी महागौरव से प्रश्न करनेमे उस पुरदरने निर्मल भावसे स्तुतिपात्र चातुर्य चलाया है। फिर भी निरीक्षण तो यह करना है कि नमिराज सर्वथा कचनमय रहे है। शुद्ध एव अखड वैराग्यके वेगमे अपने बहनेका उन्होंने उत्तरमे प्रदर्शित किया है—'हे विप्र ! तू जिन-जिन वस्तुओंको मेरी कहलवाता है वे-वे वस्तुएं मेरी नही है। मै एक ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ, और मात्र प्रशसनीय एकत्वको ही चाहता हूं।' ऐसे रहस्यमे नमिराज अपने उत्तर और वैराग्यको दृढीभूत करते गये है। ऐसी परम प्रमाणशिक्षासे भरा हुआ उन महर्षिका चरित्र है। दोनो महात्माओंका पारस्परिक सवाद शुद्ध एकत्वको सिद्ध करनेके लिये तथा अन्य वस्तुओंका त्याग करनेके उपदेशके लिये यहाँ दर्शित किया है। इसे भी विशेष दृढीभूत करनेके लिये नमिराजने एकत्व कैसे प्राप्त किया, इस विषयमे नमिराजके एकत्व-सबधको किंचित् मात्र प्रस्तुत करते है।

वे विदेह देश जैसे महान राज्यके अधिपति थे। अनेक यौवनवती मनोहारिणी स्त्रियोंके समुदायसे घिरे हुए थे। दर्शनमोहनीयका उदय न होनेपर भी वे ससारलुब्धरूप दिखायी देते थे। किसी समय उनके शरीरमे दाहज्वर नामके रोगकी उत्पत्ति हुई। सारा शरीर मानो प्रज्वलित हो जाता हो ऐसी जलन व्याप्त हो गयी। रोम-रोममे सहस्र बिच्छुओंकी दंशवेदनाके समान दुःख उत्पन्न हो गया। वैद्य-विद्यामे प्रवीण पुरुषोके औषधोपचारका अनेक प्रकारसे सेवन किया, परन्तु वह सब वृथा गया। लेशमात्र भी वह व्याधि कम न होकर अधिक होती गयी। औषधमात्र दाहज्वरके हितैषी होते गये। कोई औषध ऐसा न मिला कि जिसे दाहज्वरसे किंचित् भी द्वेष हो ! निपुण वैद्य हताश हो गये, और राजेश्वर भी उस महाव्याधिसे तग आ गये। उसे दूर करनेवाले पुरुषकी खोज चारो तरफ चलती थी। एक महाकुशल वैद्य मिला, उसने मलयगिरि चदनका विलेपन करनेका सूचन किया। मनोरमा रानियाँ चन्दन घिसनेमे लग गयी। चदन घिसनेसे प्रत्येक रानीके हाथोमे पहने हुए कंकणोका समुदाय खलभलाहट करने लग गया। मिथिलेश के अगमे एक दाहज्वरकी असह्य वेदना तो थी ही और दूसरी उन कंकणोके कोलाहलसे उत्पन्न हुई। वे खलभलाहट सहन नही कर सके, इसलिये उन्होने रानियोंको आज्ञा की; "तुम चंदन न घिसो, क्यो खलभलाहट करती हो ? मुझसे यह खलभलाहट सहन नही हो सकती। एक तो मै महाव्याधिसे ग्रसित हूँ, और

यह दूसरा व्याधितुल्य कोलाहल होता है सो असह्य है।" सभी रानियोने मंगलके तौर पर एक एक कंकण रखकर कंकण-समुदायका त्याग कर दिया, जिससे वह खलभलाहट शांत हो गयी। नमिराजने रानियोंसे कहा, "तुमने क्या चंदन घिसना बन्द कर दिया ?" रानियोने बताया, "नही, मात्र कोलाहल शात करनेके लिये एक एक कंकण रखकर, दूसरे ककणोंका परित्याग करके हम चंदन घिसती है। कंकणके समूहको अब हमने हाथमे नही रखा है, इससे खलभलाहट नही होती।" रानियोके इतने वचन सुनते ही नमिराज के रोम-रोममे एकत्व स्फुरित हुआ, व्याप्त हो गया और ममत्व दूर हो गया—"सचमुच! बहुतोंके मिलनेसे बहुत उपाधि होती है। अब देख, इस एक ककणमे लेशमात्र भी खलभलाहट नही होती, ककणके समूहके कारण सिर चकरा देनेवाली खलभलाहट होती थी। अहो चेतन! तू मान कि एकत्वमे ही तेरी सिद्धि है। अधिक मिलनेसे अधिक उपाधि है। संसारमे अनन्त आत्माओंके सम्बन्धसे तुझे उपाधि भोगनेकी क्या आवश्यकता है ? उसका त्याग कर और एकत्वमे प्रवेश कर। देख! यह एक कंकण अब खलभलाहटके बिना कैसी उत्तम शातिमे रम रहा है ? जब अनेक थे तब यह कैसी अशान्ति भोगता था ? इसी तरह तू भी ककणरूप है। इस ककणकी भाँति तू जब तक स्नेही कुटुम्बीरूपी ककणसमुदायमे पड़ा रहेगा तब तक भवरूपी खलभलाहटका सेवन करना पडेगा, और यदि इस कंकणकी वर्तमान स्थितिकी भाँति एकत्वका आराधन करेगा तो सिद्धगतिरूपी महा पवित्र शाति प्राप्त करेगा।" इस तरह वैराग्यमें उत्तरोत्तर प्रवेश करते हुए उन नमिराजको पूर्वजातिकी स्मृति हो आयी। प्रव्रज्या धारण करनेका निश्चय करके वे शयन कर गये। प्रभातमे मागल्यरूप बाजोंकी ध्वनि गूँज उठी, दाहज्वरसे मुक्त हुए। एकत्वका परिपूर्ण सेवन करनेवाले उन श्रीमान् नमिराज ऋषिको अभिवन्दन हो!

(शार्दूलविक्रीडित)

राणी सर्व मळी सुचंदन घसी, ने चर्चवामां हती,
बूझ्यो त्यां ककळाट कंकणतणो, श्रोती नमि भूपति।
संवादे पण इन्द्रथी वृढ रह्यो, एकत्व साचुं कर्युं,
एवा ए मिथिलेशनुं चरित आ, संपूर्ण अत्रे थयुं॥

विशेषार्थ—रानियोका समुदाय चदन घिसकर विलेपन करनेमे लगा हुआ था, उस समय कंकणकी खलभलाहटको सुनकर नमिराज प्रतिबुद्ध हुए। वे इन्द्रके साथ सवादमे भी अचल रहे; और उन्होने एकत्व को सिद्ध किया।

ऐसे उन मुक्तिसाधक महावैरागीका चरित्र 'भावनाबोध' ग्रन्थके तृतीय चित्रमे पूर्ण हुआ।

चतुर्थ चित्र
अन्यत्वभावना

(शार्दूलविक्रीडित)

ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहीओ स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना।
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना;
रे! रे! जीव विचार एम ज सदा, अन्यत्वना भावना॥

विशेषार्थ—यह शरीर मेरा नही, यह रूप मेरा नही, यह काति मेरी नही, यह स्त्री मेरी नही, ये पुत्र मेरे नही, ये भाई मेरे नही, ये दास मेरे नही, ये स्नेही मेरे नही, ये संबधी मेरे नही, यह गोत्र मेरा नही, यह जाति मेरी नही, यह लक्ष्मी मेरी नही, ये महालय मेरे नही, यह यौवन मेरा नही और यह भूमि

मेरी नहीं, यह मोह मात्र अज्ञानताका है। सिद्धगति साधनेके लिये हे जीव! अन्यत्वका बोध देनेवाली अन्यत्वभावनाका विचार कर! विचार कर!

मिथ्या ममत्वकी भ्रांति दूर करनेके लिये और वैराग्यकी वृद्धिके लिये उत्तम भावसे मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतका चरित्र यहाँ पर उद्धृत करते है :—

दृष्टांत—जिसकी अश्वशालामे रमणीय, चतुर और अनेक प्रकारके तेज अश्वोका समूह शोभा देता था; जिसकी गजशालामे अनेक जातिके मदोन्मत्त हस्ती झूम रहे थे, जिसके अंतःपुरमे नवयौवना, सुकुमारी और मुग्धा सहस्रो स्त्रियाँ विराजित हो रही थीं, जिसकी निधिमे समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी, जिसे विद्वान चंचलाकी उपमासे जानते है, स्थिर हो गयी थी, जिसकी आज्ञाको देवदेवागनाएँ अधीन होकर मुकुटपर चढा रहे थे, जिसके प्राशनके लिये नाना प्रकारके षड्रस भोजन पल-पलमे निर्मित होते थे, जिसके कोमल कर्णके विलासके लिये बारीक एवं मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारागनाएँ तत्पर थी, जिसके निरीक्षण करनेके लिये अनेक प्रकारके नाटक चेटक थे; जिसकी यशःकीर्ति वायुरूपसे फैलकर आकाशकी तरह व्याप्त थी, जिसके शत्रुओको सुखसे शयन करनेका वक्त नही आया था, अथवा जिसके वैरियोकी वनिताओंके नयनोसे सदैव आँसू टपकते थे, जिससे कोई शत्रुता दिखानेके लिये तो समर्थ न था, परन्तु जिसकी ओर निर्दोषतामे उँगली उठानेमे भी कोई समर्थ न था, जिसके समक्ष अनेक मन्त्रियो का समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था, जिसके रूप, कान्ति और सौंदर्य मनोहारी थे, जिसके अंगमे महान बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे, जिसके क्रीडा करनेके लिये महासुगन्धिमय बाग-बगीचे और वनोपवन थे, जिसके यहाँ प्रधान कुलदीपक पुत्रोका समुदाय था, जिसकी सेवामे लाखो अनुचर सज्ज होकर खडे रहते थे, वह पुरुष जहाँ-जहाँ जाता था वहाँ-वहाँ खमा-खमाके उद्गारोसे, कंचनके फूलो से और मोतियोके थालोसे उसका स्वागत होता था, जिसके कुकुमवर्णी पादपकजका स्पर्श करनेके लिये इन्द्र जैसे भी तरसते रहते थे, जिसकी आयुधशालामे महायशस्वी दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी; जिसके यहाँ साम्राज्यका अखड दीपक प्रकाशमान था, जिसके सिरपर महान छ खंडकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था। कहनेका आशय यह है कि जिसके दलकी, जिसके नगर-पुरपट्टनकी, जिसके वैभवकी और जिसके विलासकी ससारकी दृष्टिसे किसी भी प्रकारकी न्यूनता न थी, ऐसा वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत अपने सुन्दर आदर्शभुवनमे वस्त्राभूषणोसे विभूषित होकर मनोहर सिंहासनपर बैठा था। चारो ओरके द्वार खुले थे, नाना प्रकारके धूपोका धूम्र सूक्ष्म रीतिसे फैल रहा था; नाना प्रकारके सुगन्धी पदार्थ खूब महक रहे थे, नाना प्रकारके सुस्वरयुक्त बाजे यांत्रिक कलासे बज रहे थे, शीतल, मंद और सुगधी यो त्रिविध वायुकी लहरें उठ रही थी, आभूषण आदि पदार्थोंका निरीक्षण करते-करते वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत उस भुवनमें अपूर्वताको प्राप्त हुआ।

उसके हाथकी एक उँगलीमेसे अगूठी निकल पडी। भरतका ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ और उँगली सर्वथा शोभाहीन दिखायी दी। नौ उँगलियां अगूठियोंसे जो मनोहरता रखती थी उस मनोहरतासे रहित इस उँगलीको देखकर भरतेश्वरको अद्भुत मूलभूत विचारकी प्रेरणा हुई। किस कारणसे यह उँगली ऐसी लगती है? यह विचार करनेपर उसे मालूम हुआ कि इसका कारण अगूठीका निकल जाना है। इस बातको विशेष प्रमाणित करनेके लिये उसने दूसरी उँगलीकी अगूठी खींच निकाली। ज्यो ही दूसरी उँगली-मेसे अंगूठी निकली त्यो ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखायी दी; फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिये उसने तीसरी उँगलीमेसे भी अगूठी सरका ली, इससे यह बात और अधिक प्रमाणित हुई। फिर चौथी उँगलीमेसे अगूठी निकाल ली, जिससे यह भी वैसी ही दिखायी दी। इस प्रकार अनुक्रमसे दसों उँगलियाँ खाली कर डाली, खाली हो जानेसे सभीका देखाव शोभाहीन मालूम हुआ। शोभाहीन दीखनेसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनासे गद्गद होकर इस प्रकार बोला—

'अहोहो ! कैसी विचित्रता है कि भूमिमे उत्पन्न हुई वस्तुको पीटकर कुशलतासे घड़नेसे मुद्रिका बनी; इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुन्दर दिखायी दी, इस उँगलीमेंसे मुद्रिका निकल पड़नेसे विपरीत दृश्य नजर आया, विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता और बेहूदापन खेदका कारण हुआ। शोभाहीन लगने का कारण मात्र अँगूठी नही, यही ठहरा न ? यदि अँगूठी होती तब तो ऐसी अशोभा मैं न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई, इस उँगलीसे यह हाथ शोभा पाता है, और इस हाथसे यह शरीर शोभा पाता है। तब इसमे मैं किसकी शोभा मानूँ ? अति विस्मयता ! मेरी इस मानी जानेवाली मनोहर कातिको विशेष दीप्त करनेवाले ये मणिमाणिक्यादिके अलकार और रग-बिरंगे वस्त्र ठहरे। यह काति मेरी त्वचाकी शोभा ठहरी। यह त्वचा शरीरको गुप्तताको ढँककर उसे सुन्दर दिखाती है। अहोहो ! यह महाविपरीतता है ! जिस शरीरको मै अपना मानता हूँ, वह शरीर मात्र त्वचासे, वह त्वचा कातिसे और वह कांति वस्त्रालंकारसे शोभा पाती है। तो फिर क्या मेरे शरीरकी तो कुछ शोभा ही नही न ? रुधिर, मास और हड्डियोंका ही केवल यह ढाँचा है क्या ? और इस ढाँचेको मै सर्वथा अपना मानता हूँ। कैसी भूल ! कैसी भ्राति ! और कैसी विचित्रता है ! मैं केवल पर पुद्गलकी शोभासे शोभित होता हूँ। किसीसे रमणीयता धारण करनेवाले इस शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ ? और कदाचित् ऐसा मानकर मैं इसमें ममत्वभाव रखूँ तो वह भी केवल दुःखप्रद और वृथा है। इस मेरी आत्माका इस शरीरसे एक समय वियोग होनेवाला है ! आत्मा जब दूसरी देहको धारण करनेके लिये जायेगा तब इस देहके यही रहनेमे कोई शंका नही है। यह काया मेरी न हुई और न होगी तो फिर मै इसे अपनी मानता हूँ या मानूँ, यह केवल मूर्खता है। जिसका एक समय वियोग होनेवाला है, और जो केवल अन्यत्वभाव रखती है उसमे ममत्वभाव क्या रखना ? यह जब मेरी नही होती तब मुझे इसका होना क्या उचित है ? नही, नही, यह जब मेरी नही तब मै इसका नही, ऐसा विचार करूँ, दृढ करूँ, और प्रवर्तन करूँ, यह विवेकबुद्धिका तात्पर्य है। यह सारी सृष्टि अनंत वस्तुओमे और पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके जितनी किसी भी वस्तुपर मेरी प्रीति नही है, वह वस्तु भी मेरी न हुई, तो फिर दूसरी कौनसी वस्तु मेरी होगी ? अहो ! मै बहुत भूल गया। मिथ्या मोहमे फँस गया। वे नवयौवनाएँ, वे माने हुए कुलदीपक पुत्र, वह अतुल लक्ष्मी, वह छ खंडका महान राज्य, ये मेरे नही है। इनमेंसे लेशमात्र भी मेरा नही है। इनमें मेरा किंचित् भाग नही है। जिस कायासे मै इन सब वस्तुओका उपभोग करता हूँ, वह भोग्य वस्तु जब मेरी न हुई तब अपनी मानी हुई अन्य वस्तुएँ—स्नेही, कुटुम्बी इत्यादि—क्या मेरी होनेवाली थी ? नही, कुछ भी नही। यह ममत्वभाव मुझे नही चाहिये ! ये पुत्र, ये मित्र, ये कलत्र, यह वैभव और यह लक्ष्मी, इन्हे मुझे अपना मानना ही नही है ! मै इनका नही और ये मेरे नही ! पुण्यादिको साधकर मैने जो जो वस्तुएँ प्राप्त की वे वस्तुएँ मेरी न हुई, इसके जैसा ससारमे क्या खेदमय है ? मेरे उग्र पुण्यत्वका परिणाम यही न ? अतमे इन सबका वियोग ही न ? पुण्यत्वका यह फल प्राप्त कर इसकी वृद्धिके लिये मैने जो जो पाप किये वह सब मेरे आत्माको ही भोगना है न ? और वह अकेले ही न ? इसमे कोई सहभोक्ता नही ही न ? नही नही। इन अन्यत्वभाववालोके लिये ममत्वभाव दिखाकर आत्माका अहितैषी होकर मैं इसे रौद्र नरकका भोक्ता बनाऊँ इसके जैसा कौनसा अज्ञान है ? ऐसी कौनसी भ्राति है ? ऐसा कौनसा अविवेक है ? त्रेसठ शलाकापुरुषोमे मैं एक गिना गया, फिर भी मै ऐसे कृत्यको दूर न कर सकूँ और प्राप्त प्रभुताको खो बैठूँ, यह सर्वथा अयुक्त है। इन पुत्रोका, इन प्रमदाओंका, इस राजवैभवका और इन वाहन आदिके सुखका मुझे कुछ भी अनुराग नही है ! ममत्व नही है !''

राजराजेश्वर भरतके अन्तःकरणमे वैराग्यका ऐसा प्रकाश पडा कि तिमिरपट दूर हो गया। शुक्ल-ध्यान प्राप्त हुआ। अशेषकर्म जलकर भस्मीभूत हो गये !!! महादिव्य और सहस्र किरणसे भी अनुपम कांतिमान केवलज्ञान प्रकट हुआ। उसी समय इन्होने पंचमुष्टि केशलुंचन किया। शासनदेवीने इन्हें संत-

साज दिया, और ये महाविरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर चतुर्गति, चौबीस दंडक, तथा आधि, व्याधि एवं उपाधिसे विरक्त हुए। चपल संसारके सकल सुख-विलाससे इन्होंने निवृत्ति ली, प्रियाप्रियका भेद चला गया, और ये निरन्तर स्तवन करने योग्य परमात्मा हो गये।

प्रमाणशिक्षा—इस प्रकार ये छः खंडके प्रभु, देवोंके देव जैसे, अतुल साम्राज्यलक्ष्मीके भोक्ता, महायुके धनी, अनेक रत्नोंके धारक, राजराजेश्वर भरत आदर्शभुवनमें केवल अन्यत्वभावना उत्पन्न होनेसे शुद्ध विरागी हुए!

सचमुच भरतेश्वरका मनन करने योग्य चरित्र संसारकी शोकार्तता और उदासीनताका पूरा-पूरा भाव, उपदेश और प्रमाण प्रदर्शित करता है। कहिये! इनके यहाँ क्या कमी थी? न थी इन्हे नवयौवना स्त्रियोंकी कमी कि न थी राजऋद्धिकी कमी, न थी विजयसिद्धिकी कमी कि न थी नवनिधिकी कमी, न थी पुत्र समुदायकी कमी कि न थी कुटुम्ब-परिवारकी कमी, न थी रूपकांतिकी कमी कि न थी यशःकीर्तिकी कमी।

इस तरह पहले कही हुई इनकी ऋद्धिका पुनः स्मरण कराकर प्रमाणसे शिक्षाप्रसादीका लाभ देते है कि भरतेश्वरने विवेकसे अन्यत्वके स्वरूपको देखा, जाना और सर्पकंचुकवत् संसारका परित्याग करके उसके मिथ्या ममत्वको सिद्ध कर दिया। महावैराग्यकी अचलता, निर्ममता और आत्मशक्तिकी प्रफुल्लितता, यह सब इस महायोगीश्वरके चरित्रमे गर्भित है।

एक पिताके सौ पुत्रोंमेसे निन्यानवें पुत्र पहलेसे ही आत्मसिद्धिको साधते थे। सौवें इन भरतेश्वरने आत्मसिद्धि साधी। पिताने भी यही सिद्धि साधी। उत्तरोत्तर आनेवाले भरतेश्वरी राज्यासनके भोगी इसी आदर्शभुवनमें इसी सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ऐसा कहा जाता है। यह सकल सिद्धिसाधक मंडल अन्यत्वको ही सिद्ध करके एकत्वमे प्रवेश कराता है। अभिवन्दन हो उन परमात्माओंको!

(शार्दूलविक्रीडित)

देखी आंगळी आप एक अडवी, वैराग्य वेगे गया,
छांडी राजसमाजने भरतजी, कैवल्यज्ञानी थया।
चोथुं चित्र पवित्र ए ज चरिते, पाम्युं अहीं पूर्णता,
ज्ञानीना मन तेह रंजन करो, वैराग्य भावे यथा॥

विशेषार्थ—जिसने अपनी एक उँगलीको शोभाहीन देखकर वैराग्यके प्रवाहमे प्रवेश किया, और जिसने राजसमाजको छोडकर केवलज्ञान प्राप्त किया, ऐसे उस भरतेश्वरके चरित्रको धारण करके यह चौथा चित्र पूर्णताको प्राप्त हुआ। यह यथोचित वैराग्य भाव प्रदर्शित करके ज्ञानीपुरुषोके मनको रंजन करनेवाला हो!

भावनाबोध ग्रन्थमें अन्यत्वभावनाके उपदेशके लिये प्रथम दर्शनके चतुर्थ चित्रमें भरतेश्वरका दृष्टान्त और प्रमाणशिक्षा पूर्णताको प्राप्त हुए।

पंचम चित्र

अशुचिभावना

(गीतिवृत्त)

खाण मूत्र ने मळनी, रोग जरानुं निवासनुं धाम।
काया एवी गणीने, मान त्यजीने कर सार्थक आम॥

विशेषार्थ—हे चैतन्य ! इस कायाको मल और मूत्रकी खानरूप, रोग और वृद्धताके रहनेके धाम जैसी मानकर उसका मिथ्या मान त्याग करके सनत्कुमारकी भाँति उसे सफल कर !

इस भगवान सनत्कुमारका चरित्र अशुचिभावनाकी प्रामाणिकता बतानेके लिये यहाँ पर शुरू किया जाता है।

दृष्टान्त—जो जो ऋद्धि, सिद्धि और वैभव भरतेश्वरके चरित्रमे वर्णित किये, उन सब वैभवादिसे युक्त सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। उनका वर्ण और रूप अनुपम था। एक बार सुधर्मसभामे उस रूपकी स्तुति हुई। किन्ही दो देवोको यह बात न रुची। बादमे वे उस शंकाको दूर करनेके लिये विप्रके रूपमे सनत्-कुमारके अंतःपुरमे गये। सनत्कुमारकी देहमे उस समय उबटन लगा हुआ था, उसके अंगोपर मर्दनादिक पदार्थोंका मात्र विलेपन था। एक छोटी अङ्गोछी पहनी हुई थी। और वे स्नानमज्जन करनेके लिये बैठे थे। विप्रके रूपमे आये हुए देवता उनका मनोहर मुख, कंचनवर्णी काया और चन्द्र जैसी कान्ति देखकर बहुत आनन्दित हुए और जरा सिर हिलाया। इसपर चक्रवर्तीने पूछा, "आपने सिर क्यो हिलाया ?" देवोंने कहा, "हम आपके रूप और वर्णका निरीक्षण करनेके लिये बहुत अभिलाषी थे। हमने जगह-जगह आपके वर्ण, रूपकी स्तुति सुनी थी, आज वह बात हमे प्रमाणित हुई, अत. हमे आनन्द हुआ, और सिर इसलिये हिलाया कि जैसा लोगोमे कहा जाता है वैसा ही आपका रूप है। उसमे अधिक है परन्तु कम नही।" सनत्कुमार स्वरूपवर्णकी स्तुतिसे गर्वमे आकर बोले, "आपने इस समय मेरा रूप देखा सो ठीक है, परन्तु मैं जब राजसभामे वस्त्रालंकार धारण करके सर्वथा सज्ज होकर सिंहासनपर बैठता हूँ, तब मेरा रूप और मेरा वर्ण देखने योग्य है, अभी तो मैं शरीरमे उबटन लगाकर बैठा हूँ। यदि उस समय आप मेरा रूप वर्ण देखेंगे तो अद्भुत चमत्कारको प्राप्त होगे और चकित हो जायेंगे।" देवोने कहा, "तो फिर हम राजसभामे आयेगे," यो कहकर वे वहाँसे चले गये।

तत्पश्चात् सनत्कुमारने उत्तम और अमूल्य वस्त्रालकार धारण किये। अनेक प्रसाधनोंसे अपने शरीरको विशेष आश्चर्यकारी ढगसे सजाकर वे राजसभामें आकर सिंहासनपर बैठे। आसपास समर्थ मत्री, सुभट, विद्वान और अन्य सभासद अपने-अपने आसनोपर बैठ गये थे। राजेश्वर चमरछत्रसे और खमा-खमाके उद्‌गारोसे विशेष शोभित तथा सत्कारित हो रहे थे। वहाँ वे देवता फिर विप्रके रूपमे आये। अद्भुत रूपवर्णसे आनन्दित होनेके बदले मानो खिन्न हुए हो ऐसे ढगसे उन्होंने सिर हिलाया। चक्रवर्तीने पूछा, "अहो ब्राह्मणो ! गत समयकी अपेक्षा इस समय आपने और ही तरहसे सिर हिलाया है, इसका क्या कारण है सो मुझे बतायें।" अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोने कहा, "हे महाराजन् ! उस रूपमे और इस रूपमे भूमि-आकाशका फर्क पड गया है।" चक्रवर्तीने उसे स्पष्ट समझानेके लिये कहा। ब्राह्मणोने कहा, "अधिराज ! पहले आपकी कोमल काया अमृततुल्य थी, इस समय विषतुल्य है। इसलिये जब अमृततुल्य अग था तब हमे आनन्द हुआ था। इस समय विषतुल्य है अत. हमे खेद हुआ है। हम जो कहते हैं उस बातको सिद्ध करना हो तो आप अभी ताबूल थूकें, तत्काल उस पर मक्षिका बैठेगी और परधामको प्राप्त होगी।"

सनत्कुमारने यह परीक्षा की तो सत्य सिद्ध हुई। पूर्व कर्मके पापके भागमे इस कायाके मदका मिश्रण होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गयी थी। विनाशी और अशुचिमय कायाका ऐसा प्रपच देखकर सनत्कुमारके अंत करणमे वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह संसार सर्वथा त्याग करने योग्य है। ऐसीकी ऐसी अशुचि स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके शरीरमे है। यह सब मोह-मान करने योग्य नही है, यो कहकर वे छः खण्डकी प्रभुताका त्याग करके चल निकले। वे जब साधुरूपमे विचरते थे तब महारोग उत्पन्न हुआ। उनके सत्यत्वकी परीक्षा लेनेके लिये कोई देव वहाँ वैद्यके रूपमे आया। साधुको कहा, "मै बहुत कुशल राजवैद्य हूँ, आपकी काया रोगका भोग बनी हुई है; यदि इच्छा हो तो तत्काल मै उस रोगको दूर कर

दूँ।" साधु बोले, "हे वैद्य ! कर्मरूपी रोग महोन्मत्त है, इस रोगको दूर करनेकी यदि आपकी समर्थता हो तो भले मेरा यह रोग दूर करें। यह समर्थता न हो तो यह रोग भले रहे।" देवताने कहा, "इस रोगको दूर करनेकी समर्थता तो मैं नहीं रखता।" बादमें साधुने अपनी लब्धिके परिपूर्ण बलसे थूकवाली अंगुलि करके उसे रोगपर लगाया कि तत्काल वह रोग नष्ट हो गया और काया फिर जैसी थी वैसी हो गयी। बादमें उस समय देवने अपना स्वरूप प्रगट किया, धन्यवाद देकर, वंदन करके वह अपने स्थानको चला गया।

प्रमाणशिक्षा—रक्तपित्त जैसे सदैव खून-पीपसे खदबदाते हुए महारोगकी उत्पत्ति जिस कायामें है, पलभरमें विनष्ट हो जानेका जिसका स्वभाव है, जिसके प्रत्येक रोममें पौने दो दो रोगोंका निवास है, वैसे साढ़े तीन करोड़ रोमोंसे वह भरी होनेसे करोड़ों रोगोंका वह भंडार है, ऐसा विवेकसे सिद्ध है। अन्नादिकी न्यूनाधिकतासे वह प्रत्येक रोग जिस कायामें प्रगट होता है, मल, मूत्र, विष्ठा, हड्डी, मांस, पीप और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, मात्र त्वचासे जिसकी मनोहरता है, उस कायाका मोह सचमुच ! विभ्रम ही है ! सनत्कुमारने जिसका लेशमात्र मान किया वह भी जिससे सहन नहीं हुआ उस कायामें अहो पामर ! तू क्या मोह करता है ? 'यह मोह मंगलदायक नहीं है।'[1]

ऐसा होनेपर भी आगे[2] चलकर मनुष्यदेहको सर्व-देहोत्तम कहना पड़ेगा। इससे सिद्धगतिकी सिद्धि है, यह कहनेका आशय है। वहाँपर निःशंक होनेके लिये यहाँ नाममात्रका व्याख्यान किया है।

आत्माके शुभ कर्मका जब उदय आता है तब उसे मनुष्यदेह प्राप्त होती है। मनुष्य अर्थात् दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो ओष्ठ और एक नाकवाली देहका अधीश्वर ऐसा नहीं है। परन्तु उसका मर्म कुछ और ही है। यदि इस प्रकार अविवेक दिखायें तो फिर वानरको मनुष्य माननेमें क्या दोष है ? उस बेचारेने तो एक पूँछ भी अधिक प्राप्त की है। पर नहीं, मनुष्यत्वका मर्म यह है—विवेकबुद्धि जिसके मनमें उदित हुई है, वही मनुष्य है, बाकी सभी इसके बिना दो पैरवाले पशु ही हैं। मेधावी पुरुष निरंतर इस मानवत्वका मर्म इसी प्रकार प्रकाशित करते हैं। विवेकबुद्धिके उदयसे मुक्तिके राजमार्गमें प्रवेश किया जाता है। और इस मार्गमें प्रवेश यही मानवदेहकी उत्तमता है। फिर भी इतना स्मृतिमें रखना उचित है कि यह देह केवल अशुचिमय और अशुचिमय ही है। इसके स्वभावमें और कुछ भी नहीं है।

भावनाबोध ग्रन्थमें अशुचिभावनाके उपदेशके लिये प्रथम दर्शनके पाँचवें चित्रमें सनत्कुमारका दृष्टांत और प्रमाणशिक्षा पूर्ण हुए।

अंतर्दर्शन : षष्ठ चित्र

निवृत्तिबोध

(नाराच छंद)

अनंत सौख्य नाम दुःख त्यां रही न मित्रता !
अनंत दुःख नाम सौख्य प्रेम त्यां, विचित्रता !!
उघाड न्याय-नेत्र ने निहाळ रे ! निहाळ तुं;
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी ते प्रवृत्ति बाळ तुं ॥

विशेषार्थ—जिसमें एकांत और अनंत सुखकी तरंगें उछलती हैं ऐसे शील, ज्ञानको नाममात्रके दुःखसे तंग आकर, मित्ररूप न मानते हुए उनमें अप्रीति करता है; और केवल अनंत दुःखमय ऐसे जो

---

१. द्वि० आ० पाठा०-'यह किंचित् स्तुतिपात्र नहीं है।'　　२. देखिये मोक्षमाला शिक्षापाठ ४—मानवदेह।

संसारके नाममात्रके सुख है, उनमे तेरा परिपूर्ण प्रेम है, यह कैसी विचित्रता है ! अहो चेतन ! अब तू अपने न्यायरूपी नेत्रोको खोलकर देख ! रे देख !!! देखकर शीघ्रमेव निवृत्ति अर्थात् महावैराग्यको धारण कर, और मिथ्या कामभोगकी प्रवृत्तिको जला दे !

ऐसी पवित्र महानिवृत्तिको दृढीभूत करनेके लिये उच्च विरागी युवराज मृगापुत्रका मनन करने योग्य चरित्र यहाँ प्रस्तुत करते है। तूने कैसे दु खको सुख माना है ? और कैसे सुखको दुःख माना है ? इसे युवराजके मुखवचन तादृश सिद्ध करेंगे।

दृष्टान्त—नाना प्रकारके मनोहर वृक्षोंसे भरे हुए उद्यानोसे सुशोभित सुग्रीव नामक एक नगर है। उस नगरके राज्यासनपर बलभद्र नामका एक राजा राज्य करता था। उसकी प्रियंवदा पटरानीका नाम मृगा था। इस दम्पतीमे बलश्री नामके एक कुमारने जन्म लिया था। वे मृगापुत्रके नामसे प्रख्यात थे। वे मातापिताको अत्यन्त प्रिय थे। उन युवराजने गृहस्थाश्रममे रहते हुए भी सयतिके गुणोको प्राप्त किया था; इसलिये वे दमीश्वर अर्थात् यतियोमे अग्रेसर गिने जाने योग्य थे। वे मृगापुत्र शिखरबद्ध आनन्दकारी प्रासादमे अपनी प्राणप्रिया सहित दोगुंदक देवताकी भाँति विलास करते थे। वे निरंतर प्रमुदित मनमे रहते थे। प्रासादका दीवानखाना चद्रकान्तादि मणियो तथा विविध रत्नोसे जड़ित था। एक दिन वे कुमार अपने झरोखेमे बैठे हुए थे। वहाँसे नगरका परिपूर्ण निरीक्षण होता था। जहाँ चार राजमार्ग मिलते थे ऐसे चौकमे उनकी दृष्टि वहाँ पडी कि जहाँ तीन राजमार्ग मिलते थे। वहाँ उन्होंने महातप, महानियम, महासंयम, महाशील, और महागुणोके धामरूप एक शान्त तपस्वी साधुको देखा। ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है त्यो-त्यो मृगापुत्र उस मुनिको खूब गौरसे देख रहे है।

इस निरीक्षणमे वे इस प्रकार बोले—"जान पडता है कि ऐसा रूप मैने कही देखा है।" और यों बोलते-बोलते वे कुमार शुभ परिणामको प्राप्त हुए। मोहपट दूर हुआ और वे उपशमनाको प्राप्त हुए। जातिस्मृतिज्ञान प्रकाशित हुआ। पूर्वजातिकी स्मृति उत्पन्न होनेसे महाऋद्धिके भोक्ता उन मृगापुत्रको पूर्वके चारित्रका स्मरण भी हो आया। शीघ्रमेव वे विषयमे अनासक्त हुए और सयममे आसक्त हुए। मातापिताके पास आकर वे बोले, "पूर्व भवमे मैने पाँच महाव्रत सुने थे, नरकमे जो अनन्त दु ख है वे भी मैंने सुने थे, तिर्यंचमे जो अनन्त दु:ख है वे भी मैने सुने थे। उन अनन्त दुःखोसे खिन्न होकर मै उनसे निवृत्त होनेका अभिलाषी हुआ हूँ। ससाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये हे गुरुजनो ! मुझे उन पाँच महाव्रतोंको धारण करनेकी अनुज्ञा दीजिये।"

कुमारके निवृत्तिपूर्ण वचन सुनकर मातापिताने उन्हें भोग भोगनेका आमत्रण दिया। आमंत्रण-वचनसे खिन्न होकर मृगापुत्र यों कहते है—"अहो मात ! और अहो तात ! जिन भोगोका आप मुझे आमत्रण देते हैं उन भोगोका मै भोग चुका हूँ। वे भोग विषफल—किंपाक वृक्षके फलके समान है, भोगनेके बाद कड़वे विपाकको देते है और सदैव दु:खोत्पत्तिके कारण है। यह शरीर अनित्य और केवल अशुचिमय है, अशुचिसे उत्पन्न हुआ है, यह जीवका अशाश्वत वास है, और अनन्त दु खोका हेतु है। यह शरीर रोग, जरा और क्लेशादिका भाजन है, इस शरीरमे मै कैसे रति करूँ ? फिर ऐसा कोई नियम नही है कि यह शरीर बचपनमे छोड़ना है या बुढापेमे। यह शरीर पानीके फेनके बुलबुले जैसा है, ऐसे शरीरमे स्नेह करना कैसे योग्य हो सकता है ? मनुष्यभवमे भी यह शरीर कोढ़, ज्वर आदि व्याधियोसे तथा जरा-मरणमें ग्रसित होना सम्भाव्य है। इससे मै कैसे प्रेम करूँ ?

जन्मका दुःख, जराका दु ख, रोगका दुःख, मृत्युका दु ख, इस तरह केवल दुःखके हेतु संसारमें हैं। भूमि, क्षेत्र, आवास, कंचन, कुटुम्ब, पुत्र, प्रमदा, बाधव, इन सबको छोड़कर मात्र क्लेशित होकर इस शरीरसे अवश्यमेव जाना है। जैसे किंपाक वृक्षके फलका परिणाम सुखदायक नहीं है वैसे भोगका परिणाम

भी सुखदायक नही है। जैसे कोई पुरुष महा प्रवासमे अन्न-जल साथमे न ले तो क्षुधा-तृषासे दुःखी होता है वैसे ही धर्मके अनाचरणसे परभवमे जानेपर वह पुरुष दु.खी होता है, जन्म-जरादिकी पीड़ा पाता है। महाप्रवासमे जाता हुआ जो पुरुष अन्न-जलादि साथमे लेता है वह पुरुष क्षुधा-तृषासे रहित होकर सुख पाता है उसी प्रकार धर्मका आचरण करनेवाला पुरुष परभवमे जानेपर सुख पाता है, अल्प कर्मरहित होता है और असातावेदनीयसे रहित होता है। हे गुरुजनो ! जैसे किसी गृहस्थका घर प्रज्वलित होता है तब उस घरका मालिक अमूल्य वस्त्रादिको ले जाकर जीर्ण वस्त्रादिको वही छोड़ देता है, वैसे ही लोकको जलता देखकर जीर्ण वस्त्ररूप जरामरणको छोड़कर अमूल्य आत्माको उस दाहमे (आप आज्ञा दे तो मैं) बचाऊँगा।"

मृगापुत्रके वचन सुनकर उसके मातापिता शोकार्त होकर बोले, "हे पुत्र ! यह तू क्या कहता है? चारित्रका पालन अति दुष्कर है। यतिको क्षमादिक गुण धारण करने पडते है, निभाने पडते है, और यत्नासे सँभालने पडते है। सयतिको मित्र और शत्रुमे समभाव रखना पडता है, सयतिको अपने आत्मा और परात्मापर समबुद्धि रखनी पडती है, अथवा सर्व जगतपर समान भाव रखना पडता है। ऐसा पालनेमे दुष्कर प्राणातिपातविरति प्रथम व्रत, उसे जीवनपर्यन्त पालना पडता है। सयतिको सदैव अप्रमत्ततासे मृषा वचनका त्याग करना और हितकारी वचन बोलना, ऐसा पालनेमे दुष्कर दूसरा व्रत धारण करना पडता है। सयतिको दंत-शोधनके लिये एक सलाईके भी अदत्तका त्याग करना और निरवद्य एव दोषरहित भिक्षाका ग्रहण करना, ऐसा पालनेमे दुष्कर तीसरा व्रत धारण करना पडता है। कामभोगके स्वादका जानने और अब्रह्मचर्यके धारण करनेका त्याग करके ब्रह्मचर्यरूप चौथा व्रत सयतिको धारण करना तथा उसका पालन करना बहुत दुष्कर है। धनधान्य, दास-समुदाय, परिग्रहके ममत्वका वर्जन और सभी प्रकारके आरंभका त्याग करके केवल निर्ममत्वसे यह पाँचवाँ महाव्रत सयतिको धारण करना अति विकट है। रात्रिभोजनका वर्जन तथा घृतादि पदार्थोंके वासी रखनेका त्याग करना अति दुष्कर है।

हे पुत्र ! तू चारित्र चारित्र क्या करता है? चारित्र जैसी दुःखप्रद वस्तु दूसरी कौनसी है? क्षुधाका परिषह सहन करना, तृषाका परिषह सहन करना, शीतका परिषह सहन करना, उष्ण तापका परिषह सहन करना, डाँस-मच्छरका परिषह सहन करना, आक्रोशका परिषह सहन करना, उपाश्रयका परिषह सहन करना, तृणादिके स्पर्शका परिषह सहन करना, तथा मैलका परिषह सहन करना, हे पुत्र ! निश्चय मान कि ऐसा चारित्र कैसे पाला जा सकता है? वधका परिषह और बन्धका परिषह कैसे विकट हैं? भिक्षाचरी कैसी दुष्कर है? याचना करना कैसा दुष्कर है? याचना करनेपर भी प्राप्त न हो, यह अलाभ-परिषह कैसा दुष्कर है? कायर पुरुषके हृदयका भेदन कर डालनेवाला केशलुंचन कैसा विकट है? तू विचार कर, कर्मवैरीके लिये रौद्र ऐसा ब्रह्मचर्य व्रत कैसा दुष्कर है? सचमुच ! अधीर आत्माके लिये यह सब अति-अति विकट है।

प्रिय पुत्र ! तू सुख भोगनेके योग्य है। तेरा सुकुमार शरीर अति रमणीय रीतिमे निर्मल स्नान करनेके योग्य है। प्रिय पुत्र ! निश्चय ही तू चारित्र पालनेके लिये समर्थ नही है। जीवन पर्यन्त इसमे विश्राम नही है। संयतिके गुणोका महासमुदाय लोहेकी भाँति बहुत भारी है। सयमका भार वहन करना अति अति विकट है। जैसे आकाशगगाके प्रवाहके सामने जाना दुष्कर है वैसे ही यौवनवयमे सयम महादुष्कर है। जैसे प्रतिस्रोत जाना दुष्कर है, वैसे ही यौवनमे सयम महादुष्कर है। भुजाओंसे जैसे समुद्रको तरना दुष्कर है वैसे ही यौवनमे सयम-गुणसमुद्र पार करना महादुष्कर है। जैसे रेतका कौर नीरस है वैसे ही संयम भी नीरस है। जैसे खड्ग-धारापर चलना विकट है वैसे ही तपका आचरण करना महाविकट है। जैसे सर्प एकात दृष्टिसे चलता है, वैसे ही चारित्रमें ईर्यासमितिके लिये एकातिक चलना महादुष्कर है। हे

प्रिय पुत्र ! जैसे लोहेके चने चबाना दुष्कर है वैसे ही संयमका आचरण करना दुष्कर है। जैसे अग्निकी शिखाको पीना दुष्कर है, वैसे ही यौवनमे यतित्व अंगीकार करना महादुष्कर है। सर्वथा मंद सहननके धनी कायर पुरुषके लिये यतित्व प्राप्त करना तथा पालना दुष्कर है। जैसे तराजूसे मेरु पर्वतका तौलना दुष्कर है वैसे ही निश्चलतासे, नि शकतासे दशविध यतिधर्मका पालन करना दुष्कर है। जैसे भुजाओंसे स्वयभूरमणसमुद्रको पार करना दुष्कर है वैसे ही उपशमहीन मनुष्यके लिये उपशमरूपी समुद्रको पार करना दुष्कर है।

हे पुत्र ! शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकारसे मनुष्यसबधी भोगोको भोगकर भुक्तभोगी होकर तू वृद्धावस्थामे धर्मका आचरण करना।"

मातापिताका भोगसंबंधी उपदेश सुनकर वे मृगापुत्र मातापितासे इस तरह बोल उठे—

"जिसे विषयकी वृत्ति न हो उसे संयम पालना कुछ भी दुष्कर नही है। इस आत्माने शारीरिक एव मानसिक वेदना असातारूपसे अनत बार सहन की है, भोगी है। महादुःखसे भरी, भयको उत्पन्न करनेवाली अति रौद्र वेदनाएँ इस आत्माने भोगी है। जन्म, जरा, मरण—ये भयके धाम है। चतुर्गतिरूप संसाराटवीमे भटकते हुए अति रौद्र दुःख मैने भोगे हैं। हे गुरुजनो ! मनुष्यलोकमे जो अग्नि अतिशय उष्ण मानी गयी है, उस अग्निसे अनत गुनी उष्ण तापवेदना नरकमे इस आत्माने भोगी है। मनुष्यलोकमे जो ठड अति शीतल मानी गयी है उस ठडसे अनत गुनी ठड नरकमे इस आत्माने असातासे भोगी है। लोहमय भाजनमे ऊपर पैर बाँधकर और नीचे मस्तक करके देवतासे वैक्रिय की हुई धायँ धायँ जलती हुई अग्निमे आक्रंदन करते हुए इस आत्माने अत्युग्र दुःख भोगे हैं। महा दवकी अग्नि जैसे मरुदेशमे जैसी बालू है उस बालू जैसी वज्रमय बालू कदंब नामक नदीकी बालू है, उस सरीखी उष्ण बालूमे पूर्वकालमे मेरे इस आत्माको अनंत बार जलाया है।

आक्रदन करते हुए मुझे पकानेके लिये पकानेके बरतनमे अनंत बार डाला है। नरकमे महारौद्र परमाधामियोने मुझे मेरे कडवे विपाकके लिये अनंत बार ऊँचे वृक्षकी शाखासे बाँधा था। बान्धवरहित मुझे लम्बी करवतसे चीरा था। अति तीक्ष्ण काँटोसे व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्षसे बाँधकर मुझे महाखेद दिया था। पाशमे बाँधकर आगे-पीछे खीचकर मुझे अति दुःखी किया था। अत्यन्त असह्य कोल्हूमे ईखकी भाँति आक्रंदन करता हुआ मै अति रौद्रतासे पेला गया था। यह सब जो भोगना पडा वह मात्र मेरे अशुभ कर्मके अनंत बारके उदयसे ही था। साम नामके परमाधामीने मुझे कुत्ता बनाया, शबल नामके परमाधामीने उस कुत्तेके रूपमे मुझे जमीन पर पटका, जीर्ण वस्त्रकी भाँति फाडा, वृक्षकी भाँति छेदा; उस समय मैं अतीव तडफड़ाता था।

विकराल खड्गसे, भालेसे तथा अन्य शस्त्रोंसे उन प्रचडोने मुझे विखडित किया था। नरकमे पाप कर्मसे जन्म लेकर विषम जातिके खडोका दुःख भोगनेमे कमी नही रही। परतत्रतासे अनंत प्रज्वलित रथ मे रोझकी भाँति बरबस मुझे जोता था। महिषकी भाँति देवताकी वैक्रिय की हुई अग्निमे मैं जला था। मै भुरता होकर असातासे अत्युग्र वेदना भोगता था। ढंक-गीध नामके विकराल पक्षियोकी सँडसे जैसी चोचोसे चूँथा जाकर अनत बिलबिलाहटसे कायर होकर मै विलाप करता था। तृषाके कारण जलपानके चिन्तनसे वेगमे दौड़ते हुए, वैतरणीका छरपलाकी धार जैसा अनत दुःखद पानी मुझे प्राप्त हुआ था। जिसके पत्ते खड्गकी तीव्र धार जैसे है, जो महातापसे तप रहा है, वह असिपत्रवन मुझे प्राप्त हुआ था, वहाँ पूर्वकालमे मुझे अनन्त बार छेदा गया था। मुद्गरसे, तीव्र शस्त्रसे, त्रिशूलसे, मूसलसे तथा गदासे मेरे शरीरके टुकड़े किये गये थे। शरणरूप सुखके बिना मैंने अशरणरूप अनन्त दुःख पाया था। वस्त्रकी भाँति मुझे छरपलाकी तीक्ष्ण धारसे, छुरीसे और कैंचीसे काटा गया था। मेरे खंड खंड टुकड़े किये गये थे। मुझे

तिरछा छेदा गया था। चररर शब्द करती हुई मेरी त्वचा उतारी गयी थी। इस प्रकार मैंने अनंत दुःख पाया था।

मै परवशतासे मृगकी भाँति अनत बार पाशमे पकड़ा गया था। परमाधामियोने मुझे मगर-मच्छ के रूपमे जाल डालकर अनत बार दु ख दिया था। बाजके रूपमे पक्षीकी भाँति जालमे बाँध कर मुझे अनन्त बार मारा था। फरसा इत्यादि शस्त्रोसे मुझे अनन्त बार वृक्षकी तरह काटकर मेरे सूक्ष्म टुकड़े किये गये थे। जैसे लुहार घनसे लोहेको पीटता है वैसे ही मुझे पूर्व कालमे परमाधामियोने अनन्त बार पीटा था। ताँबे, लोहे और सीसेको अग्निसे गला कर उनका उबलता हुआ रस मुझे अनन्त बार पिलाया था। अति रौद्रतासे वे परमाधामी मुझे यो कहते थे कि पूर्व भवमे तुझे माँस प्रिय था, अब ले यह माँस। इस तरह मैंने अपने ही शरीरके खण्ड-खण्ड टुकड़े अनन्त बार निगले थे। मद्यकी प्रियताके कारण भी मुझे इससे कुछ कम दु ख उठाना नही पड़ा। इस प्रकार मैने महाभयसे, महात्रासमे और महादु.खसे कंपायमान काया द्वारा अनन्त वेदनाएँ भागी थी। जो वेदनाएँ सहन करनेमे अति तीव्र, रौद्र और उत्कृष्ट कालस्थितिवाली है, और जो सुननेमे भी अति भयंकर है, वे मैने नरकमे अनन्त बार भागी थी। जैसी वेदना मनुष्यलोकमें है वैसी दीखती परन्तु उससे अनन्त गुनी अधिक असातावेदना नरकमे थी। सभी भवोमे असातावेदना मैंने भोगी है। निमेषमात्र भी वहाँ साता नही है।"

इस प्रकार मृगापुत्रने वैराग्यभावसे ससार परिभ्रमणके दु.ख कह सुनाये। इसके उत्तरमे उसके माता पिता इस प्रकार बाले—"हे पुत्र! यदि तेरी इच्छा दीक्षा लेनेकी है तो दीक्षा ग्रहण कर, परन्तु चारित्रमे रोगोत्पत्तिके समय चिकित्सा कौन करेगा? दु ख-निवृत्ति कौन करेगा? इसके बिना अति दुष्कर है।" मृगापुत्रने कहा—"यह ठीक है, परन्तु आप विचार कीजिये कि अटवीमे मृग तथा पक्षी अकेले होते है, उन्हे रोग उत्पन्न होता है तब उनकी चिकित्सा कौन करता है? जैसे वनमे मृग विहार करता है वैसे ही मैं चारित्रवनमे विहार करूँगा, और सत्रह प्रकारके शुद्ध सयमका अनुरागी बनूँगा, बारह प्रकारके तपका आचरण करूँगा, तथा मृगचर्यासे विचरूँगा। जब मृगको वनमे रोगका उपद्रव होता है, तब उसकी चिकित्सा कौन करता है?" ऐसा कहकर वे पुन बोले "कौन उस मृगको औषध देता है? कौन उस मृग को आनन्द, शाति और सुख पूछता है? कौन उस मृगको आहार जल लाकर देता है? जैसे वह मृग उपद्रवमुक्त होनेके बाद गहन वनमे जहाँ सरोवर होता है वहा जाता है, तृण-पानी आदिका सेवन करके फिर जैसे वह मृग विचरता है वैसे ही मैं विचरूँगा। साराश यह कि मैं तद्रूप मृगचर्याका आचरण करूँगा। इस तरह मैं भी मृगकी भाँति सयमवान बनूँगा। अनेक स्थलोंमे विचरता हुआ यति मृगकी भाँति अप्रतिबद्ध रहे। मृगकी तरह विचरण करके, मृगचर्याका सेवन करके और सावद्यको दूर करके यति विचरे। जैसे मृग तृण, जल आदिकी गोचरी करता है वैसे ही यति गोचरी करके सयमभारका निर्वाह करे। दुराहारके लिये गृहस्थकी अवहेलना न करे, निंदा न करे, ऐसे सयमका मै आचरण करूँगा।"

"एव पुत्ता जहासुखं—हे पुत्र! जैसे तुम्हे सुख हो वैसे करो!" इस प्रकार मातापिताने अनुज्ञा दी। अनुज्ञा मिलनेके बाद ममत्वभावका छेदन करके जैसे महा नाग कचुकका त्याग करके चला जाता है वैसे ही वे मृगापुत्र ससारका त्याग कर संयम-धर्ममे सावधान हुए। कंचन, कामिनी, मित्र, पुत्र, जाति और सगे संबंधियोके परित्यागी हुए। जैसे वस्त्रको झटक कर धूलको झाड़ डालते है वैसे ही वे सब प्रपंचका त्याग कर दीक्षा लेनेके लिये निकल पड़े। वे पवित्र पाँच महाव्रतसे युक्त हुए, पच समितिसे सुशोभित हुए, त्रिगुप्तिसे अनुगुप्त हुए, बाह्याभ्यतर द्वादश तपसे सयुक्त हुए, ममत्वरहित हुए, निरहंकारी हुए। स्त्री आदिके सगसे रहित हुए, और सभी प्राणियामे उनका समभाव हुआ। आहार जल प्राप्त हो या न हो, सुख प्राप्त हो या दुःख, जीवन हो या मरण, कोई स्तुति करे या कोई निन्दा करे, कोई मान दे या कोई अपमान करे, उन सब पर वे समभावी हुए। ऋद्धि, रस और सुख इस त्रिगारवके अहपदसे वे विरक्त हुए।

मनदंड, वचनदंड और तनदंडको दूर किया। चार कषायसे विमुक्त हुए। मायाशल्य, निदानशल्य तथा मिथ्यात्वशल्य इन त्रिशल्यसे विरागी हुए। सप्त महाभयसे वे अभय हुए। हास्य और शोकसे निवृत्त हुए। निदानरहित हुए। रागद्वेषरूपी बन्धनसे छूट गये। वाञ्छारहित हुए। सभी प्रकारके विलासोंसे रहित हुए। कोई तलवारसे काटे और कोई चन्दनका विलेपन करे, उसपर समभावी हुए। उन्होंने पाप आनेके सभी द्वार रोक दिये। शुद्ध अन्तःकरणसहित धर्मध्यानादिके व्यापारमे वे प्रशस्त हुए। जिनेन्द्रके शासनतत्त्वमे परायण हुए। ज्ञानसे, आत्मचारित्रसे, सम्यक्त्वसे, तपसे, प्रत्येक महाव्रतकी पाँच भावनाओंसे अर्थात् पाँच महाव्रतोकी पच्चीस भावनाओंसे और निर्मलतासे वे अनुपम विभूषित हुए। सम्यक् प्रकारसे बहुत वर्ष तक आत्मचारित्रका परिसेवन करके एक मासका अनशन करके उन महाज्ञानी युवराज मृगापुत्रने प्रधान मोक्ष-गतिमें गमन किया।

प्रमाणशिक्षा—तत्त्वज्ञानियो द्वारा सप्रमाण सिद्ध की हुई द्वादश भावनाओंमेसे संसार भावनाको दृढ करनेके लिये मृगापुत्रके चरित्रका यहाँ वर्णन किया है। ससाराटवीमे परिभ्रमण करते हुए अनन्त दुःख हैं, यह विवेकसिद्ध है, और इसमे भी, निमिषमात्र भी जिसमे सुख नही है ऐसी नरकाधोगतिके अनन्त दुःखोका वर्णन युवज्ञानी योगीद्र मृगापुत्रने अपने मातापिताके समक्ष किया है, वह केवल संसारसे मुक्त होनेका विरागी उपदेश प्रदर्शित करता है। आत्मचारित्रको धारण करनेमे तपपरिषहादिके बहिर्दुःखको दुःख माना है, और महाधोगतिके परिभ्रमणरूप अनन्त दुःखको बहिर्भावमोहिनीसे सुख माना है, यह देखो, कैसी भ्रमविचित्रता है? आत्मचारित्रका दुःख दुःख नही परन्तु परम सुख है, और परिणाममे अनन्त सुखतरगकी प्राप्तिका कारण है, और भोगविलासादिका सुख जो क्षणिक एव बहिर्दृष्ट सुख है वह केवल दुःख ही है, और परिणाममे अनन्त दुःखका कारण है, इसे सप्रमाण सिद्ध करनेके लिये महाज्ञानी मृगापुत्र-का वैराग्य यहाँ प्रदर्शित किया है। इन महाप्रभावक, महायशस्वी मृगापुत्रकी भाँति जो तपादिक और आत्मचारित्रादिक शुद्धाचरण करे, वह उत्तम साधु त्रिलोकमे प्रसिद्ध और प्रधान परमसिद्धिदायक सिद्ध-गतिको पाये। संसारममत्वको दुःखवृद्धिरूप मानकर तत्त्वज्ञानी इन मृगापुत्रको भाँति परम सुख और परमानन्दके लिये ज्ञानदर्शनचारित्ररूप दिव्य चिन्तामणिकी आराधना करते हैं।

महर्षि मृगापुत्रका सर्वोत्तम चरित्र (संसारभावनारूपसे) ससार परिभ्रमणकी निवृत्तिका और उसके साथ अनेक प्रकारकी निवृत्तिका उपदेश देता है। इस परसे अतर्दर्शनका नाम निवृत्तिबोध रखकर आत्म-चारित्रकी उत्तमताका वर्णन करते हुए मृगापुत्रका यह चरित्र यहाँ पूर्ण होता है। तत्त्वज्ञानी ससारपरि-भ्रमणनिवृत्ति और सावद्यउपकरणनिवृत्तिका पवित्र विचार निरंतर करते है।

इति अन्तर्दर्शनके ससारभावनारूप छठे चित्रमें मृगापुत्रचरित्र समाप्त हुआ।

सप्तम चित्र

आस्रवभावना

द्वादश अविरति, षोडश कषाय, नव नोकषाय, पंच मिथ्यात्व, और पंचदश योग यह सब मिलकर सत्तावन आस्रव-द्वार अर्थात् पापके प्रवेश करनेके प्रणाल हैं।

दृष्टान्त—महाविदेहमे विशाल पुंडरीकिणी नगरीके राज्यसिंहासनपर पुंडरीक और कुंडरीक नामके दो भाई आरूढ थे। एक बार वहाँ महातत्त्वज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए आये। मुनिके वैराग्य वचनामृतसे कुंडरीक दीक्षानुरक्त हुआ और घर आनेके बाद पुडरीकको राज्य सौंपकर चारित्र अंगीकार किया। सरस-नीरस आहार करनेसे थोड़े समयमें वह रोगग्रस्त हुआ, जिससे वह चारित्रपरिणामसे भ्रष्ट हो गया।

पुंडरीकिणी महानगरीकी अशोकवाटिकामे आकर उसने ओघा, मुखपटी वृक्षपर लटका दिये। वह निरन्तर यह परिचिंतन करने लगा कि पुंडरीक मुझे राज देगा या नही? वनरक्षकने कुडरीकको पहचान लिया। उसने जाकर पुंडरीकको विदित किया कि आकुलव्याकुल होता हुआ आपका भाई अशोकबागमे ठहरा हुआ है। पुंडरीकने आकर कुंडरीकके मनोभाव देखे और उसे चारित्रसे डगमगाते हुए देखकर कुछ उपदेश देनेके बाद राज सौंपकर घर आया।

कुंडरीककी आज्ञाको सामंत या मत्री कोई भी नही मानते थे, बल्कि वह हजार वर्ष तक प्रव्रज्या पालकर पतित हुआ, इसलिये उसे धिक्कारते थे। कुडरीकने राज्यमे आनेके बाद अति आहार किया। इस कारण वह रात्रिमे अति पीडित हुआ और वमन हुआ। अप्रीतिके कारण उसके पास कोई आया नही, इससे उसके मनमे प्रचण्ड क्रोध आया। उसने निश्चय किया कि इस पीडासे यदि मुझे शाति मिले तो फिर प्रभातमे इन सबको मै देख लूँगा। ऐसे महादुर्ध्यानसे मर कर वह सातवी नरकमे अपयठाण पाथडमे तैंतीस सागरोपमकी आयुके साथ अनन्त दु खमे जाकर उत्पन्न हुआ। कैसा विपरीत आस्रवद्वार !!

इति सप्तम चित्रमे आस्रवभावना समाप्त हुई।

अष्टम चित्र
संवरभावना

संवरभावना—उपर्युक्त आस्रवद्वार और पापप्रणालको सर्वथा रोकना (आते हुए कर्म-समूहको रोकना) यह संवरभाव है।

दृष्टांत—(१) (कुंडरीकका अनुसंबंध) कुंडरीकके मुखपटी इत्यादि उपकरणोको ग्रहण करके पुडरीकने निश्चय किया कि मुझे पहले महर्षि गुरुके पास जाना चाहिये और उसके बाद ही अन्न-जल ग्रहण करना चाहिये। नंगे पैरोमे चलनेके कारण पैरोमें कंकर एवं काँटे चुभनेसे लहूकी धाराएँ बह निकली, तो भी वह उत्तम ध्यानमे समताभावसे रहा। इस कारण यह महानुभाव पुंडरीक मृत्यु पाकर समर्थ सर्वार्थसिद्ध विमानमे तैंतीस सागरोपमकी उत्कृष्ट आयुसहित देव हुआ। आस्रवसे कुंडरीककी कैसी दु खदशा! और संवरसे पुंडरीककी कैसी सुखदशा !!

दृष्टांत—(२) श्री वज्रस्वामी कंचनकामिनीके द्रव्यभावसे सर्वथा परित्यागी थे। एक श्रीमतकी रुक्मिणी नामकी मनोहारिणी पुत्री वज्रस्वामीके उत्तम उपदेशको सुनकर उनपर मोहित हो गयी। घर आकर उसने मातापितासे कहा, "यदि मैं इस देहसे पति करूँ, तो मात्र वज्रस्वामीको ही करूँ, अन्यके साथ संलग्न न होनेकी मेरी प्रतिज्ञा है।" रुक्मिणीको उसके मातापिताने बहुत ही कहा, "पगली! विचार तो सही कि क्या मुनिराज भी कभी विवाह करते है? उन्होंने तो आस्रवद्वारकी सत्य प्रतिज्ञा ग्रहण की है।" तो भी रुक्मिणीने कहना नही माना। निरुपाय होकर धनावा सेठने कुछ द्रव्य और सुरूपा रुक्मिणीको साथ लिया, और जहाँ वज्रस्वामी विराजते थे वहाँ आकर कहा, "यह लक्ष्मी है, इसका आप यथारुचि उपयोग करें, और वैभवविलासमें लगाये, और इस मेरी महासुकोमला रुक्मिणी नामकी पुत्रीसे पाणिग्रहण करे।" यो कहकर वह अपने घर चला आया।

यौवनसागरमे तैरती हुई रूपराशि रुक्मिणीने वज्रस्वामीको अनेक प्रकारसे भोगसंबंधी उपदेश किया, भोगके सुखोका अनेक प्रकारसे वर्णन किया, मनमोहक हावभाव तथा अनेक प्रकारके अन्य चलित करनेके उपाय किये, परंतु वे सर्वथा वृथा गये, महासुंदरी रुक्मिणी अपने मोहकटाक्षमे निष्फल हुई। उग्रचरित्र विजयमान वज्रस्वामी मेरुकी भाँति अचल और अडोल रहे। रुक्मिणीके मन, वचन और तनके

सभी उपदेशों तथा हावभावोंसे वे लेशमात्र न पिघले। ऐसी महाविशाल दृढ़तासे रुक्मिणीने बोध प्राप्त करके निश्चय किया कि ये समर्थ जितेंद्रिय महात्मा कभी चलित होनेवाले नहीं हैं। लोहे और पत्थरको पिघलाना सरल है, परन्तु इन महापवित्र साधु वज्रस्वामीको पिघलानेकी आशा निरर्थक होते हुए भी अधोगतिका कारणरूप है। इस प्रकार सुविचार करके उस रुक्मिणीने पिताकी दी हुई लक्ष्मीको शुभ क्षेत्रमें लगाकर चारित्र ग्रहण किया, मन, वचन और कायाका अनेक प्रकारसे दमन करके आत्मार्थ साधा। इसे तत्त्वज्ञानी संवरभावना कहते हैं।

इति अष्टम चित्रमें संवरभावना समाप्त हुई।

नवम चित्र
निर्जरा भावना

द्वादश प्रकारके तपसे कर्म-समूहको जलाकर भस्मीभूत कर डालनेका नाम निर्जराभावना है। तपके बारह प्रकारमे छ बाह्य और छः अभ्यंतर प्रकार है। अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस-परित्याग, काय-क्लेश और संलीनता ये छ बाह्य तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, शास्त्र-पठन, ध्यान और कायोत्सर्ग ये छः अभ्यंतर तप है। निर्जरा दो प्रकारकी है—एक अकाम निर्जरा और दूसरी सकाम निर्जरा। निर्जरा-भावनापर एक विप्र-पुत्रका दृष्टात कहते है।

दृष्टांत—किसी ब्राह्मणने अपने पुत्रको सप्तव्यसनभक्त जानकर अपने घरसे निकाल दिया। वह वहांसे निकल पडा और जाकर उसने तस्करमंडलीसे स्नेहसंबंध जोड़ा। उस मंडलीके अग्रेसरने उसे अपने काममे पराक्रमी जानकर पुत्र बनाकर रखा। वह विप्रपुत्र दुष्टदमन करनेमे दृढप्रहारी प्रतीत हुआ। इससे उसका उपनाम दृढप्रहारी रखा गया। वह दृढ़प्रहारी तस्करोंमे अग्रेसर हुआ। नगर, ग्रामका नाश करनेमें वह प्रबल हिंमतवाला सिद्ध हुआ। उसने बहुतसे प्राणियोंके प्राण लिये। एक बार अपने संगति समुदायको लेकर उसने एक महानगरको लूटा। दृढप्रहारी एक विप्रके घर बैठा था। उस विप्रके यहाँ बहुत प्रेमभावसे क्षीरभोजन बना था। उस क्षीरभोजनके भाजनको उस विप्रके मनोरथी बाल-बच्चे घेरे बैठे थे। दृढ़प्रहारी उस भाजनको छूने लगा, तब ब्राह्मणीने कहा, "हे मूर्खराज! इसे क्यो छूता है? यह फिर हमारे काम नही आयेगा इतना भी तू नही समझता?" दृढ़प्रहारीको उन वचनोंसे प्रचंड क्रोध आ गया और उसने उस दीन स्त्रीको मौतके घाट उतार दिया। नहाता नहाता ब्राह्मण सहायताके लिये दौड़ आया, उसे भी उसने परभवको पहुँचा दिया। इतनेमे घरमेसे गाय दौड़ती हुई आयी, और वह सींगोसे दृढप्रहारीको मारने लगी। उस महादुष्टने उसे भी कालके हवाले कर दिया। उस गायके पेटमेसे एक बछडा निकल पड़ा, उसे तड़-फड़ाता देखकर दृढप्रहारीके मनमे बहुत बहुत पश्चात्ताप हुआ। "मुझे धिक्कार है कि मैने महाघोर हिंसाएँ कर डाली! मेरा इस महापापसे कब छुटकारा होगा? सचमुच! आत्मकल्याण साधनेमे ही श्रेय है!"

ऐसी उत्तम भावनासे उसने पंचमुष्टि केशलुंचन किया। नगरके द्वार पर आकर वह उग्र कायोत्सर्गमे स्थित रहा। वह पहिले सारे नगरके लिये संतापरूप हुआ था, इसलिये लोग उसे बहुविध संताप देने लगे। आते जाते हुए लोगोंके धूल-ढेलों, ईंट-पत्थरों और तलवारकी मूठोसे वह अति संतापको प्राप्त हुआ। वहाँ लोगोंने डेढ़ महीने तक उसे तिरस्कृत किया, फिर थके और उसे छोड़ दिया। दृढप्रहारी वहांसे कायो-त्सर्ग पूरा कर दूसरे द्वार पर ऐसे ही उग्र कायोत्सर्गमे स्थित रहा। उस दिशाके लोगोने भी उसी तरह तिरस्कृत किया, डेढ़ महीने तक छेड़छाड़ कर छोड़ दिया। वहाँसे कायोत्सर्ग पूरा कर दृढ़प्रहारी तीसरे द्वारपर स्थित रहा। वहांके लोगोंने भी बहुत तिरस्कृत किया। डेढ़ महीने बाद छोड देनेसे वह वहांसे चौथे द्वार पर डेढ़ मास तक रहा। वहाँ अनेक प्रकारके परिषह सहन करके वह क्षमाधर रहा। छठे मासमे अनन्त कर्म-समु-

दायको जलाकर उत्तरोत्तर शुद्ध होकर वह कर्मरहित हुआ। सर्व प्रकारके ममत्वका उसने त्याग किया। अनुपम केवलज्ञान पाकर वह मुक्तिके अनंत सुखानंदसे युक्त हो गया। यह निर्जराभावना दृढ़ हुई। अब—

दशम चित्र

लोकस्वरूपभावना

लोकस्वरूपभावना—इस भावनाका स्वरूप यहाँ संक्षेपमे कहना है। जैसे पुरुष दो हाथ कमरपर रखकर पैरोको चौडा करके खडा रहे, वैसा ही लोकनाल किंवा लोकस्वरूप जानना चाहिये। वह लोकस्वरूप तिरछे थालके आकारका है। अथवा खड़े मर्दलके समान है। नीचे भवनपति, व्यतर और सात नरक हैं। मध्य भागमे अढाई द्वीप हैं। ऊपर बारह देवलोक, नव ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान और उन-पर अनन्त सुखमय पवित्र सिद्धोकी सिद्धशिला है। यह लोकालोकप्रकाशक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और निरुपम केवलज्ञानियोने कहा है। संक्षेपमें लोकस्वरूपभावना कही गयी।

पापप्रणालको रोकनेके लिये आस्रवभावना और संवरभावना, महाफल तपके लिये निर्जराभावना और लोकस्वरूपका किंचित् तत्त्व जाननेके लिये लोकस्वरूपभावना इस दर्शनके इन चार चित्रोमे पूर्ण हुई।

दशम चित्र समाप्त।

---

[1]ज्ञान ध्यान वैराग्यमय, उत्तम जहाँ विचार।
ए भावे शुभ भावना, ते ऊतरे भव पार॥

---

१. भावार्थ—ज्ञान, ध्यान और वैराग्यमय उत्तम विचारोंके साथ जो इन शुभ भावनाओंका चिंतन करता है, वह संसार से पार हो जाता है।

१७

मोक्षमाला

(बालावबोध)

उपोद्घात

निर्ग्रंथ प्रवचनके अनुसार अति सक्षेपमे इस ग्रंथकी रचना करता हूँ। प्रत्येक शिक्षाविषयरूपी मन-कसे इसकी पूर्णाहूति होगी। आडबरी नाम ही गुरुत्वका कारण है, यो समझते हुए भी परिणाममे अप्रभुत्व रहा होनेसे इस प्रकार किया है, सो उचित सिद्ध होओ! उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका उपदेश करनेवाले पुरुष कुछ कम नही हुए है, और फिर यह ग्रंथ उससे कुछ उत्तम अथवा समान नही हैं; परन्तु विनयरूपमे उन उपदेशकोक धुरधर प्रवचनोके आगे यह कनिष्ठ है। यह भी प्रमाणभूत है कि प्रधान पुरुषके समीप अनुचरकी आवश्यकता है, उसी तरह वैसे धुरधर ग्रन्थोके उपदेशबीजको बोनेके लिये तथा अतः-करणको कोमल करनेके लिये ऐसे ग्रन्थका प्रयोजन है।

इस प्रथम दर्शन और दूसरे अन्य दर्शनोमे तत्त्वज्ञान और सुशीलकी प्राप्तिके लिये और परिणा-मत अनत सुखतरगको प्राप्त करनेके लिये जो-जो साध्य-साधन श्रमण भगवान ज्ञातपुत्रने प्रकाशित किये है, उनका स्वल्पतासे किंचित् तत्त्वसंचय करके उसमे महापुरुषोके छोटे-छोटे चरित्र एकत्र करके इस भावनाबोध और इस मोक्षमालाको विभूषित किया है। यह—"विदग्धमुखमंडन भवतु।"

[संवत् १९४३] —कर्त्ता पुरुष

शिक्षणपद्धति और मुखमुद्रा

यह एक स्याद्वाद तत्त्वावबोध वृक्षका बीज है। यह ग्रथ तत्त्वप्राप्तिकी जिज्ञासा उत्पन्न कर सकने-की कुछ अंशमे भी सामर्थ्य रखता है। यह समभावसे कहता हूँ। पाठक और वाचक वर्गसे मुख्य अनुरोध यह है कि शिक्षापाठोको मुखाग्र करनेकी अपेक्षा यथाशक्ति मनन करे, उनके तात्पर्यका अनुभव करें, जिनकी समझमे न आता हो वे ज्ञाता शिक्षक या मुनियोसे समझें और ऐसा योग न मिले तो पाँच सात बार उन पाठोको पढ़ जायें। एक पाठ पढ़ जानेके बाद आधी घडी उसपर विचार करके अन्तःकरणसे पूछे कि क्या तात्पर्य मिला? उस तात्पर्यमेसे हेय, ज्ञेय और उपादेय क्या है? ऐसा करनेसे पूरा ग्रन्थ समझा जा सकेगा। हृदय कोमल होगा, विचारशक्ति खिलेगी और जैन तत्त्वपर सम्यक् श्रद्धा होगी। यह ग्रन्थ कुछ पठन करने-के लिये नही है, मनन करनेके लिये है। इसमे अर्थरूप शिक्षाकी योजना की है। यह योजना **'बालावबोध'** रूप है। **'विवेचन'** और **'प्रज्ञावबोध'** भाग भिन्न है, यह उनका एक खण्ड है, फिर भी सामान्य तत्त्वरूप है।

जिन्हे स्वभाषासंबंधी अच्छा ज्ञान है, और नव तत्त्व तथा सामान्य प्रकरण ग्रन्थोको जो समझ सकते हैं, उन्हे यह ग्रन्थ विशेष बोधदायक होगा। इतना तो अवश्य अनुरोध है कि छोटे बालकोको इन शिक्षापाठोका तात्पर्य सविधि समझायें।

ज्ञानशालाके विद्यार्थियोको शिक्षापाठ मुखाग्र करायें और वारंवार समझाये। जिन-जिन ग्रन्थोंकी इसके लिये सहायता लेनी योग्य हो वह ली जाये। एक-दो बार पुस्तकको पूरा सीख लेनेके बाद उसका अभ्यास उल्टेसे कराये।

मैं मानता हूँ कि सुज्ञ वर्ग इस पुस्तककी ओर कटाक्ष दृष्टिसे नही देखेगा। बहुत गहराईसे मनन करनेपर यह मोक्षमाला मोक्षका कारणरूप हो जायेगी ! इसमे मध्यस्थतासे तत्त्वज्ञान और शीलका बोध देनेका उद्देश्य है।

इस पुस्तकको प्रसिद्ध करनेका मुख्य हेतु यह भी है कि जो उगते हुए बाल युवक अविवेकी विद्या प्राप्त करके आत्मसिद्धिसे भ्रष्ट होते है, उनकी भ्रष्टता रोकी जाये।

मनमाना उत्तेजन नही होनेसे लोगोकी भावना कैसी होगी इसका विचार किये बिना ही यह साहस किया है, मै मानता हूँ कि यह फलदायक होगा। शालामे पाठकोंको भेटरूप देनेमे उत्साहित होनेके लिये और जैनशालामे अवश्य इसका उपयोग करनेके लिये मेरा अनुरोध है। तभी पारमार्थिक हेतु सिद्ध होगा।

शिक्षापाठ १ : वाचकसे अनुरोध

वाचक ! मै आज तुम्हारे हस्तकमलमे आती हूँ। मुझे यत्नापूर्वक पढना। मेरे कहे हुए तत्त्वको हृदयमे धारण करना। मैं जो-जो बात कहूँ उस-उसका विवेकसे विचार करना। यदि ऐसा करोगे तो तुम ज्ञान, ध्यान, नीति, विवेक, सद्‌गुण और आत्मशांति पा सकोगे।

तुम जानते होगे कि कितने ही अज्ञानी मनुष्य न पढने योग्य पुस्तकें पढकर अपना वक्त खो देते है, और उल्टे रास्ते पर चढ जाते है। वे इस लोकमे अपकीर्ति पाते है, तथा परलोकमे नीच गतिमे जाते है।

तुमने जिन पुस्तकोंको पढा है, और अभी पढते हो, वे पुस्तकें मात्र ससारकी है, परन्तु यह पुस्तक तो भव और परभव दोनोमे तुम्हारा हित करेगी। भगवानके कहे हुए वचनोका इसमे थोड़ा उपदेश किया है।

तुम किसी प्रकारसे इस पुस्तककी अविनय न करना, इसे न फाडना, इसपर दाग न लगाना या दूसरी किसी भी तरहसे न बिगाड़ना। विवेकसे सारा काम करना। विचक्षण पुरुषोने कहा है कि जहाँ विवेक है वही धर्म है।

तुमसे एक यह भी अनुरोध है कि जिन्हें पढना न आता हो और उनकी इच्छा हो तो यह पुस्तक अनुक्रमसे उन्हें पढ सुनाना।

तुम जिस बातको न समझ पाओ उसे सयाने पुरुषसे समझ लेना। समझनेमे आलस्य या मनमे शंका न करना।

तुम्हारे आत्माका इसमे हित हो, तुम्हे ज्ञान शांति और आनद मिले, तुम परोपकारी, दयालु, क्षमावान, विवेकी और बुद्धिशाली बनो, ऐसी शुभ याचना अर्हत भगवानसे करके यह पाठ पूर्ण करता हूँ।

शिक्षापाठ २ : सर्वमान्य धर्म

चौपाई

***धर्मतत्त्व जो पूछ्युं मने, तो संभळावुं स्नेहे तने;**
जे सिद्धांत सकळनो सार, सर्वमान्य सहुने हितकार ॥ १ ॥

*भावार्थ – यदि तूने धर्मतत्त्व मुझसे पूछा है, तो उसे तुझे स्नेहसे सुनाता हूँ। जो सकल सिद्धांतका सार है, सर्वमान्य और सर्वहितकर है ॥ १ ॥

भाख्युं भाखणमां भगवान, धर्म न बीजो दया समान;
अभयदान साथे संतोष, द्यो प्राणीने, दळवा दोष ॥ २ ॥

सत्य शीळ ने सघळां दान, दया होईने रह्यां प्रमाण;
दया नहीं तो ए नहीं एक, विना सूर्य किरण नहि देख ॥ ३ ॥

पुष्पपांखडी ज्यां दूभाय, जिनवरनी त्यां नहि आज्ञाय;
सर्व जीवनुं इच्छो सुख, महावीरनी शिक्षा मुख्य ॥ ४ ॥

सर्व दर्शने ए उपदेश, ए एकांते, नहीं विशेष;
सर्व प्रकारे जिननो बोध, दया दया निर्मळ अविरोध ! ॥ ५ ॥

ए भवतारक सुंदर राह, धरिये तरिये करी उत्साह;
धर्म सकळनुं ए शुभ मूळ, ए वण धर्म सदा प्रतिकूळ ॥ ६ ॥

तत्त्वरूपथी ए ओळखे, ते जन पहोंचे शाश्वत सुखे;
शांतिनाथ भगवान प्रसिद्ध, राजचंद्र करुणाए सिद्ध ॥ ७ ॥

शिक्षापाठ ३ : कर्मके चमत्कार

मैं तुम्हें बहुतसी सामान्य विचित्रताएँ बताये देता हूँ, इनपर विचार करोगे तो तुम्हें परभवकी श्रद्धा दृढ होगी।

एक जीव सुन्दर पलगपर पुष्पशय्यामे शयन करता है, और एकको फटी-पुरानी गुदडी भी नसीब नहीं होती। एक भाँति-भाँतिके भोजनोसे तृप्त रहता है और एक दाने-दानेको तरसता है। एक अगणित लक्ष्मीका उपभोग करता है और एक फूटी कौडीके लिये दर-दर भटकता है। एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता है और एक मूक-सा होकर रहता है। एक सुन्दर वस्त्रालकारसे विभूपित होकर फिरता है और एकको कडे जाडेमे चीथडा भी ओढनेको नही मिलता। एक रोगी है और एक प्रबल है। एक बुद्धिशाली है और एक जडभरत है। एक मनोहर नयनवाला है और एक अंधा है। एक लूला है और एक लंगडा है। एक कीर्तिमान् है और एक अपयश भोगता है। एक लाखो अनुचरोपर हुक्म चलाता है और एक लाखोके ताने सहन करता है। एकको देखकर आनन्द होता है और एकको देखकर वमन होता है। एककी

भगवानने प्रवचनमे कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नही है। दोषोका नाश करनेके लिये प्राणियोको अभयदानके साथ संतोष दो ॥ २ ॥

सत्य, शील और सभी दान दयाके होनेपर ही प्रमाणित है। जैसे सूर्यके बिना किरणे नही है, वैसे ही दयाके न होनेपर सत्य, शील, दान आदि एक भी गुण नही है ॥ ३ ॥

जिससे पुष्पकी एक पंखडीको भी दु.ख होता है, वह करनेकी जिनवरकी आज्ञा ही नही है। सब जीवोका सुख चाहो यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है ॥ ४ ॥

सब दर्शनोंमें दयाका उपदेश है। यह एकात है, विशेष नही। सर्व प्रकारसे जिन भगवानका यही बोध है कि दया एव विरोधरहित निर्मल दया परम धर्म है ॥ ५ ॥

यह संसारसे पार करनेवाला सुदर मार्ग है, इसे उत्साहसे अपनाओ और ससार-सागरको तर जाओ। यह सकल धर्मका शुभ मूल है। इसके बिना धर्म सदा अधर्म है ॥ ६ ॥

जो मनुष्य इसे तत्त्वरूपसे जान-समझ लेते हैं, वे इसके आचरणसे शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं। राजचद्र कहते हैं कि शांतिनाथ भगवान करुणासे सिद्ध हुए हैं यह बात प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

इन्द्रियाँ सम्पूर्ण है और एककी अपूर्ण है। एकको दीनदुनियाका लेश भान नही है और एकके दुःखका अन्त भी नही है।

एक गर्भमे आते ही मर जाता है, एक जन्म लेते ही मर जाता है एक मरा हुआ जन्म लेता है, और एक सौ वर्षका वृद्ध होकर मरता है।

किसीका मुख, भाषा और स्थिति समान नही है। मूर्ख राजगद्दीपर खमा-खमाके उद्गारोसे अभिनन्दन पाते है और समर्थ विद्वान धक्के खाते है!

इस प्रकार सारे जगतकी विचित्रता भिन्न-भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो, इस परसे तुम्हे कुछ विचार आता है? मैने कहा है, फिर भी विचार आता हो तो कहो कि यह सब किस कारणसे होता है?

अपने बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मसे। कर्मसे सारे ससारमे भ्रमण करना पड़ता है। परभव नही माननेवाला स्वय यह विचार किससे करता है? यह विचार करे तो अपनी यह बात वह भी मान्य रखे।

शिक्षापाठ ४ : मानवदेह

[1]तुमने सुना तो होगा कि विद्वान मानवदेहको दूसरी सभी देहोकी अपेक्षा उत्तम कहते है। परतु उत्तम कहनेका कारण तुम नही जानते होगे इसलिये मै उसे कहता हूँ।

यह ससार बहुत दुःखसे भरा हुआ है। ज्ञानी इसमेसे तरकर पार होनेका प्रयत्न करते है। मोक्षको साधकर वे अनत सुखमे विराजमान होते है। यह मोक्ष दूसरी किसी देहसे मिलनेवाला नही है। देव, तिर्यच या नरक इनमेसे एक भी गतिमे मोक्ष नही है, मात्र मानवदेहसे मोक्ष है।

अब तुम पूछोगे कि सभी मानवोको मोक्ष क्यो नही होता? इसका उत्तर भी मै कह दूँ। जो मानवताको समझते है वे ससारशोकसे पार हो जाते है। जिनमे विवेकबुद्धिका उदय हुआ हो उनमे विद्वान मानवता मानते है। उससे सत्यासत्यका निर्णय समझकर परम तत्त्व, उत्तम आचार और सद्धर्मका सेवन करके वे अनुपम मोक्षको पाते है। मनुष्यके शरीरके देखावसे विद्वान उसे मनुष्य नही कहते; परतु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते है। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँखे, दो कान, एक मुख, दो होठ और एक नाक हो उसे मनुष्य कहना, ऐसा हमे नही समझना चाहिये। यदि ऐसा समझे तो फिर बंदरको भी मनुष्य मानना चाहिये। उसने भी तदनुसार सब प्राप्त किया है। विशेषरूपसे उसके एक पूँछ भी है। तब क्या उसे महामनुष्य कहे? नही, जो मानवता समझे वही मानव कहलाये।

ज्ञानी कहते है कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्यके प्रभावसे यह देह मिलती है, इसलिये इससे शीघ्र आत्मसार्थकता कर लेनी चाहिये। अयमंतकुमार, गजसुकुमार जैसे छोटे बालक भी मानवताको समझनेसे मोक्षको प्राप्त हुए। मनुष्यमे जो शक्ति विशेष है उस शक्तिसे वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणीको भी वशमे कर लेता है, इसी शक्तिसे यदि वह अपने मनरूपी हाथीको वशमे कर ले तो कितना कल्याण हो!

किसी भी अन्य देहमे पूर्ण सद्विवेकका उदय नही होता और मोक्षके राजमार्गमे प्रवेश नही हो सकता। इसलिये हमे मिली हुई अति दुर्लभ मानवदेहको सफल कर लेना आवश्यक है। बहुतसे मूर्ख दुराचारमे, अज्ञानमे, विषयमे और अनेक प्रकारके मदमे, मिली हुई मानवदेहको वृथा गँवा देते है। अमूल्य कौस्तुभ खो बैठते है। ये नामके मानव गिने जा सकते है, बाकी तो वे वानररूप ही है।

मौतके पलको निश्चितरूपसे हम नही जान सकते, इसलिये यथासभव धर्ममे त्वरासे सावधान होना चाहिये।

---

1. देखिये 'भावनाबोध', पचम चित्र—प्रमाणशिक्षा।

शिक्षापाठ ५ : अनाथी मुनि—भाग १

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगधदेशका श्रेणिक नामक राजा अश्वक्रीडाके लिये मंडिकुक्ष नामके वनमें निकल पड़ा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। नाना प्रकारके वृक्ष वहाँ नज़र आ रहे थे, नाना प्रकारकी कोमल बेले घटाटोप छायी हुई थीं, नाना प्रकारके पक्षी आनंदसे उसका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोके मधुर गान वहाँ सुनायी दे रहे थे, नाना प्रकारके फूलोसे वह वन छाया हुआ था; नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बह रहे थे; संक्षेपमे वह वन नदनवन जैसा लग रहा था। उस वनमे एक वृक्षके नीचे महान् समाधिमान्, पर सुकुमार एव सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। उसका रूप देखकर वह राजा अत्यन्त आनंदित हुआ। उपमारहित रूपसे विस्मित होकर मनमे उसकी प्रशंसा करने लगा—"इस मुनिका कैसा अद्‌भुत वर्ण है! इसका कैसा मनोहर रूप है! इसकी कैसी अद्‌भुत सौम्यता है! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाका धारक है! इसके अगमे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश निकल रहा है! इसकी कैसी निर्लोभता मालूम होती है! यह सयति कैसी निर्भय नम्रता धारण किये हुए है! यह भोगमे कैसा विरक्त है!" यो चिंतन करते करते, मुदित होते-होते, स्तुति करते-करते, धीरे-से चलते-चलते, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वन्दन करके, न अति समीप और न अति दूर वह श्रेणिक बैठा। फिर अजलिबद्ध होकर विनयसे उसने उस मुनिसे पूछा—"हे आर्य! आप प्रशसा करने योग्य तरुण है; भोगविलासके लिये आपकी वय अनुकूल है, ससारमे नाना प्रकारके सुख है, ऋतु-ऋतुके कामभोग, जलसबधी विलास, तथा मनोहारिणी स्त्रियोके मुखवचनोका मधुर श्रवण होनेपर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमे आप महान् उद्यम कर रहे है, इसका क्या कारण? यह मुझे अनुग्रहसे कहिये।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा—'हे राजन्! मै अनाथ था। मुझे अपूर्व वस्तुको प्राप्त करानेवाला तथा योगक्षेमका करनेवाला, मुझ पर अनुकपा लानेवाला, करुणासे परम सुखका देनेवाला ऐसा मेरा कोई मित्र नही हुआ, यह कारण था मेरी अनाथताका।"

शिक्षापाठ ६ : अनाथी मुनि—भाग २

श्रेणिक, मुनिके भाषणसे मुस्कराकर बोला—"आप जैसे महान ऋद्धिमानको नाथ क्यों न हो? यदि कोई नाथ नही है तो मै होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोग भोगिये। हे सयति! मित्र, जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्यभवको सफल कीजिये।" अनाथीने कहा—"अरे श्रेणिक राजन्! परंतु तू स्वयं अनाथ है तो मेरा नाथ क्या होगा? निर्धन धनाढ्य कहाँसे बना सके? अबुध बुद्धिदान कहाँसे दे सके? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सके? वध्या संतान कहाँसे दे सके? जब तू स्वयं अनाथ है, तब मेरा नाथ कहाँसे होगा?" मुनिके वचनोंसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। जिन वचनोका कभी श्रवण नही हुआ उन वचनोंका यति मुखसे श्रवण होनेसे वह शकित हुआ और बोला—"मै अनेक प्रकारके अश्वोंका भोगी हूँ; अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोंका धनी हूँ; अनेक प्रकारकी सेना मेरे अधीन है; नगर, ग्राम, अन्तःपुर और चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नही है, मनुष्य संबंधी सभी प्रकारके भोग मैने प्राप्त किये है, अनुचर मेरी आज्ञाका भलीभाँति आराधन करते हैं; पाँचों प्रकारकी संपत्ति मेरे घरमें है; अनेक मनोवांछित वस्तुएँ मेरे पास रहती हैं। ऐसा मैं महान् होते हुए भी अनाथ कैसे हो सकता हूँ? कहीं हे भगवन्! आप मृषा बोलते हो।" मुनिने कहा—"राजन्! मेरा कहना तू न्यायपूर्वक समझा नहीं है। अब मैं जैसे अनाथ हुआ; और जैसे मैंने संसारका त्याग किया वह तुझे कहता हूँ। उसे एकाग्र एव सावधान चित्तसे सुन; सुनकर फिर अपनी शंकाके सत्यासत्यका निर्णय करना—

कौशाम्बी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारकी भव्यतासे भरी हुई एक सुन्दर नगरी थी। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसंचय नामके मेरे पिता रहते थे। हे महाराजन्! यौवनवयके प्रथम भागमे मेरी

आँखें अति वेदनासे ग्रस्त हुई, मारे शरीरमे अग्नि जलने लगी; शस्त्रसे भी अतिशय तीक्ष्ण वह रोग वैरीकी भाँति मुझ पर कोपायमान हुआ। आँखोकी उस असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। वज्रके प्रहार सरीखी, दूसरेको भी रौद्र भय उत्पन्न करानेवाली उस दारुण वेदनासे मै अत्यन्त शोकमे था। बहुतसे वैद्यशास्त्र-निपुण वैद्यराज मेरी उस वेदनाका नाश करनेके लिये आये, अनेक औषधोपचार किये, परन्तु वे वृथा गये। वे महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त नही कर सके, यही हे राजन्! मेरी अनाथता थी। मेरी आँखकी वेदनाको दूर करनेके लिये मेरे पिता सारा धन देने लगे; परन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नही हुई; हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी माता पुत्रके शोकसे अति दुःखार्त हुई, परन्तु वह भी मुझे उस रोगसे छुडा नही सकी, यही हे राजन्! मेरी अनाथता थी। एक पेटमे जन्मे हुए मेरे ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाई भरसक प्रयत्न कर चुके; परन्तु मेरी वह वेदना दूर नहीं हुई, हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। एक पेटसे जन्मी हुई मेरी ज्येष्ठा और कनिष्ठा भगिनियोंसे मेरा वह दुःख दूर नही हुआ, हे महाराजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी स्त्री जो पतिव्रता, मुझपर अनुरक्त और प्रेमवती थी वह आँसुओसे मेरे हृदयको भिगोती थी। उसके अन्न-पानी देनेपर भी और नाना प्रकारके उबटन चूवा आदि सुगधी पदार्थों तथा अनेक प्रकारके फूल-चदनादिके ज्ञात अज्ञात विलेपन किये जानेपर भी मै उन विलेपनोंसे अपना रोग शात नही कर सका, क्षणभर भी दूर न रहती थी ऐसी वह स्त्री भी मेरे रोगको मिटा न सकी, यही हे महाराजन्! मेरी अनाथता थी। इस प्रकार किसीके प्रेमसे, किसी-के औषधसे, किसीके विलापसे या किसीके परिश्रमसे वह रोग शांत नही हुआ। उस समय मैंने पुनः पुनः असह्य वेदना भोगी। फिर मै प्रपची ससारसे खिन्न हो गया। एक बार यदि इस महान् विडम्बना-मय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खती, दती और निरारंभी प्रव्रज्याको धारण करूँ, यो चिन्तन करके मैं शयन कर गया। जब रात्रि व्यतीत हो गयी तब हे महाराजन्! मेरी उस वेदनाका क्षय हो गया, और मैं नीरोग हो गया। माता, पिता, स्वजन, बाधव आदिसे पूछकर प्रभातमे मैने महाक्षमावान, इन्द्रिय-निग्रही, और आरंभोपाधिसे रहित अनगारत्वको धारण किया।

शिक्षापाठ ७ : अनाथी मुनि—भाग ३

हे श्रेणिक राजन्! तदनन्तर मै आत्मा परात्माका नाथ हुआ। अब मै सर्व प्रकारके जीवोका नाथ हूँ। तुझे जो शका हुई थी वह अब दूर हो गयी होगी। इस प्रकार सारा जगत चक्रवर्ती पर्यन्त अशरण और अनाथ है। जहाँ उपाधि है वहा अनाथता है। इसलिये मैं जो कहता हूँ उस कथनको तू मनन कर जाना। निश्चयसे मानना कि अपना आत्मा ही दुःखसे भरपूर वैतरणीको करनेवाला है, अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मली वृक्षके दुःखको उत्पन्न करनेवाला है। अपना आत्मा ही वाछित वस्तुरूपी दूध देनेवाली कामधेनु गायके सुखको उत्पन्न करनेवाला है; अपना आत्मा ही नन्दनवनकी तरह आनन्दकारी है; अपना आत्मा ही कर्मको करनेवाला है, अपना आत्मा ही इस कर्मको दूर करनेवाला है। अपना आत्मा ही दुःखोपार्जन करनेवाला है। अपना आत्मा ही सुखोपार्जन करनेवाला है। अपना आत्मा ही मित्र और अपना आत्मा ही वैरी है। अपना आत्मा ही निकृष्ट आचारमे स्थित और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमे स्थित रहता है।"

इस प्रकार उन अनाथी मुनिने श्रेणिकको आत्मप्रकाशक बोध दिया। श्रेणिक राजा बहुत संतुष्ट हुआ। अंजलिबद्ध होकर वह इस प्रकार बोला—"हे भगवन्! आपने मुझे भलीभाँति उपदेश दिया। आपने जैसी थी वैसी अनाथता कह सुनायी। महर्षि! आप सनाथ, आप सबांधव, और आप सधर्म हैं, आप सर्व अनाथोंके नाथ हैं। हे पवित्र संयति! मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आपकी ज्ञानपूर्ण शिक्षासे

मुझे लाभ हुआ है। धर्मध्यानमें विघ्न करनेवाले भोग भोगने सम्बन्धी, हे महाभाग्यवान् ! मैंने आपको जो आमन्त्रण दिया तत्सम्बन्धी अपने अपराधकी नतमस्तक होकर क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुषकेसरी श्रेणिक विनयसे प्रदक्षिणा करके अपने स्थानको गया।

महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान्, महायशस्वी, महानिर्ग्रन्थ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगध देशके राजा श्रेणिकको अपने बीते हुए चरित्रसे जो बोध दिया है वह सचमुच अशरणभावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीसे भोगी हुई वेदना जैसी अथवा उससे अति विशेष वेदनाको भोगते हुए अनन्त आत्माओंको हम देखते है, यह कैसा विचारणीय है! संसारमे अशरणता और अनन्त अनाथता छाई हुई है; उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शीलका सेवन करनेसे ही होता है। यही मुक्तिका कारणरूप है। जैसे ससारमे रहते हुए अनाथी अनाथ थे, वैसे ही प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिये सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुको जानना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ८ : सद्देवतत्त्व

तीन तत्त्व हमे अवश्य जानने चाहिये। जब तक इन तत्त्वोके सम्बन्धमे अज्ञानता रहती है तब तक आत्महित नही होता। ये तीन तत्त्व है—सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरु। इस पाठमे सद्देवस्वरूपके विषयमे कुछ कहता हूँ।

जिन्हे केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है; जो कर्मसमुदायको महोग्रतपोपध्यानसे विशोधन करके जला डालते हैं, जिन्होने चन्द्र और शंखसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यान प्राप्त किया है, चक्रवर्ती राजाधिराज अथवा राजपुत्र होते हुए भी जो संसारको एकात अनंत शोकका कारण मानकर उसका त्याग करते है, जो केवल दया, शाति, क्षमा, वीतरागता और आत्मसमृद्धिसे त्रिविध तापका नाश करते हैं; संसारमे मुख्य माने जानेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अतराय इन चार कर्मोंको भस्मीभूत करके जो स्व-स्वरूपमे विहार करते है; जो सर्व कर्मोंके मूलको जला डालते हैं; जो केवल मोहिनीजनित कर्मका त्याग करके निद्रा जैसी तीव्र वस्तुको एकाततः दूर करके शिथिल कर्मोंके रहने तक उत्तम शीलका सेवन करते है, जो विरागतासे कर्मग्रीष्मसे अकुलाते हुए पामर प्राणियोको परम शांति प्राप्त होनेके लिये शुद्धबोधबीजका मेघधारा वाणीसे उपदेश करते है, किसी भी समय किंचित्मात्र भी संसारी वैभव विलासका स्वप्नाश भी जिनको नही रहा है, जो कर्मदलका क्षय करनेसे पहले छद्मस्थता मानकर श्रीमुखवाणीसे उपदेश नही करते, जो पाँच प्रकारके अतराय, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा और काम इन अठारह दूषणोसे रहित है; जो सच्चिदानन्द स्वरूपमे विराजमान है, और जिनमे महोद्योतकर बारह गुण प्रकट होते है, जिनका जन्म, मरण और अनन्त संसार चला गया है, उन्हे निर्ग्रन्थ आगममे सद्देव कहा है। वे दोषरहित शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होनेसे पूजनीय परमेश्वर कहलाते है। जहाँ अठारह दोषोंमेसे एक भी दोष होता है वहाँ सद्देवका स्वरूप नही है। इस परम तत्त्वको उत्तम सूत्रोसे विशेष जानना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ९ : सद्धर्मतत्त्व

अनादिकालसे कर्मजालके बन्धनसे यह आत्मा संसारमें भटका करता है। समयमात्र भी इसे सच्चा सुख नही है। यह अधोगतिका सेवन किया करता है; और अधोगतिमे गिरते हुए आत्माको धारण करनेवाली जो वस्तु है उसका नाम 'धर्म' है। इस धर्मतत्त्वके सर्वज्ञ भगवानने भिन्न-भिन्न भेद कहे हैं। उनमेंसे मुख्य दो हैं—१. व्यवहार धर्म, २ निश्चय धर्म।

व्यवहार धर्ममे दया मुख्य है। शेष चार महाव्रत भी दयाकी रक्षाके वास्ते है। दयाके आठ भेद हैं—१ द्रव्यदया, २ भावदया, ३ स्वदया, ४ परदया, ५. स्वरूपदया, ६ अनुबन्धदया, ७ व्यवहारदया, ८ निश्चयदया।

१ प्रथम द्रव्यदया—किसी भी कामको यत्नापूर्वक जीवरक्षा करके करना यह 'द्रव्यदया' है।

२ दूसरी भावदया—दूसरे जीवको दुर्गतिमे जाते देखकर अनुकपाबुद्धिसे उपदेश देना यह 'भावदया' है।

३ तीसरी स्वदया—यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यात्वसे ग्रसित है, तत्त्वको नही पाता है, जिनाज्ञाको पाल नही सकता है, इस प्रकार चिन्तन करके धर्ममे प्रवेश करना यह 'स्वदया' है।

४. चौथी परदया—छःकाय जीवकी रक्षा करना यह 'परदया' है।

५ पाँचवी स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूपका विचार करना यह 'स्वरूपदया' है।

६ छठी अनुबन्धदया—गुरु या शिक्षकका शिष्यको कडवे वचनसे उपदेश देना, यह देखनेमे तो अयोग्य लगता है, परंतु परिणाममे करुणाका कारण है, इसका नाम 'अनुबन्धदया' है।

७ सातवी व्यवहारदया—उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक दया पालनेका नाम 'व्यवहारदया' है।

८ आठवी निश्चयदया—शुद्ध साध्य उपयोगमे एकता भाव और अभेद उपयोगका होना यह 'निश्चयदया' है।

इन आठ प्रकारकी दयायुक्त व्यवहार धर्म भगवानने कहा है। इसमे सर्व जीवोका सुख, संतोष और अभयदान, ये सब विचारपूर्वक देखनेसे आ जाते है।

दूसरा निश्चयधर्म—अपने स्वरूपका भ्रम दूर करना, आत्माको आत्मभावसे पहचानना। 'यह संसार मेरा नही है, मै इससे भिन्न, परम असंग सिद्धसदृश शुद्ध आत्मा हूँ', ऐसी आत्मस्वभाववर्तना यह निश्चयधर्म है।

जिसमे किसी प्राणीका दुःख, अहित या असंतोष रहा है वहाँ दया नही है, और जहाँ दया नही है वहाँ धर्म नही है। अर्हत भगवानके कहे हुए धर्मतत्त्वसे सर्व प्राणी अभय होते है।

शिक्षापाठ १० : सद्गुरुतत्त्व—भाग १

पिता—पुत्र! तू जिस शालामे अभ्यास करने जाता है उस शालाका शिक्षक कौन है?

पुत्र—पिताजी! एक विद्वान और समझदार ब्राह्मण है।

पिता—उसकी वाणी, चाल-चलन आदि कैसे हैं?

पुत्र—उनकी वाणी बहुत मधुर है। वे किसीको अविवेकसे नही बुलाते और बहुत गभीर है। जब बोलते है तब मानो मुखसे फूल झड़ते है। वे किसीका अपमान नही करते, और हमे समझपूर्वक शिक्षा देते है।

पिता—तू वहाँ किसलिये जाता है? यह मुझे कह तो सही।

पुत्र—आप ऐसा क्यों कहते है, पिताजी? ससारमे विचक्षण होनेके लिये युक्तियाँ समझूँ, व्यवहार-नीति सीखूँ, इसीलिये तो आप मुझे वहाँ भेजते है।

पिता—तेरे ये शिक्षक दुराचारी अथवा ऐसे होते तो?

पुत्र—तब तो बहुत बुरा होता। हमे अविवेक और कुवचन बोलना आता, व्यवहारनीति तो फिर सिखाता भी कौन?

पिता—देख पुत्र, इसपरसे मैं अब तुझे एक उत्तम शिक्षा देता हूँ। जैसे संसारमें पड़नेके लिये व्यवहारनीति सीखनेका प्रयोजन है, वैसे ही परभवके लिये धर्मतत्त्व और धर्मनीतिमे प्रवेश करनेका प्रयोजन है। जैसे यह व्यवहारनीति सदाचारो शिक्षकसे उत्तम मिल सकती है, वैसे ही परभवमे श्रेयस्कर धर्मनीति उत्तम गुरुसे मिल सकती है। व्यवहारनीतिके शिक्षक तथा धर्मनीतिके शिक्षकमे बहुत भेद है। बिल्लौरके टुकडे जैसा व्यवहार-शिक्षक है और अमूल्य कौस्तुभ जैसा आत्मधर्म शिक्षक है।

पुत्र—सिरछत्र ! आपका कहना वाजिब है। धर्मके शिक्षककी संपूर्ण आवश्यकता है। आपने वारंवार संसारके अनन्त दुःखोके संबधमे मुझे कहा है। इससे पार पानेके लिये धर्म ही सहायभूत है। तब धर्म कैसे गुरुसे प्राप्त किया जाये तो वह श्रेयस्कर सिद्ध हो, यह मुझे कृपा करके कहिये।

शिक्षापाठ ११ : सद्गुरुतत्त्व—भाग २

पिता—पुत्र ! गुरु तीन प्रकारके कहे जाते है—१. काष्ठस्वरूप, २. कागजस्वरूप, ३. पत्थरस्वरूप। १ काष्ठस्वरूप गुरु सर्वोत्तम है, क्योकि ससाररूपी समुद्रको काष्ठस्वरूप गुरु ही तरते है, और तार सकते है। २ कागजस्वरूप गुरु मध्यम है। ये संसारसमुद्रको स्वय तर नही सकते, परतु कुछ पुण्य उपार्जन कर सकते है। ये दूसरेको तार नही सकते। ३. पत्थरस्वरूप गुरु स्वयं डूबते है और परको भी डुबाते है। काष्ठस्वरूप गुरु मात्र जिनेश्वर भगवानके शासनमे है। बाकी दो प्रकारके जो गुरु है वे कर्मावरणकी वृद्धि करनेवाले है। हम सब उत्तम वस्तुको चाहते है, और उत्तमसे उत्तम वस्तु मिल सकती है। गुरु यदि उत्तम हो तो वे भवसमुद्रमे नाविकरूप होकर सद्धर्मनावमे बैठाकर पार पहुँचा दे। तत्त्वज्ञानके भेद, स्व-स्वरूपभेद, लोकालोक विचार, ससार स्वरूप यह सब उत्तम गुरुके बिना मिल नही सकते। अब तुझे प्रश्न करनेकी इच्छा होगी कि ऐसे गुरुके लक्षण कौन-कौनसे है ? उन्हे मै कहता हूँ। जो जिनेश्वर भगवानकी कही हुई आज्ञाको जाने, उसे यथातथ्य पाले, और दूसरेको उसका उपदेश करें, कचनकामिनी के सर्वभावमे त्यागी हो, विशुद्ध आहार-जल लेते हो, बाईस प्रकारके परिषह सहन करते हो, क्षात, दात, निरारंभी और जितेन्द्रिय हो, सैद्धांतिक ज्ञानमे निमग्न रहते हो, मात्र धर्मके लिये शरीरका निर्वाह करते हो, निर्ग्रन्थ पथ पालते हुए कायर न हो, सलाई मात्र भी अदत्त न लेते हो, सर्व प्रकारके रात्रि-भोजनके त्यागी हो, समभावी हो और नीरागतासे सत्योपदेशक हो। संक्षेपमे उन्हे काष्ठस्वरूप सद्गुरु जानना। पुत्र ! गुरुके आचार एव ज्ञानके सबधमे आगममे बहुत विवेकपूर्वक वर्णन किया है। ज्यो-ज्यो तू आगे विचार करना सीखता जायेगा, त्यो त्यो फिर मै तुझे उन विशेष तत्त्वोका उपदेश करता जाऊँगा।

पुत्र—पिताजी ! आपने मुझे सक्षेपमे भी बहुत उपयोगी और कल्याणमय बताया है। मै निरन्तर इसका मनन करता रहूँगा।

शिक्षापाठ १२ : उत्तम गृहस्थ

संसारमे रहते हुए भी उत्तम श्रावक गृहाश्रमसे आत्मसाधनको साध्य करते है, उनका गृहाश्रम भी सराहा जाता है।

ये उत्तम पुरुष सामायिक, क्षमापना, चौविहार-प्रत्याख्यान इत्यादि यमनियमोका सेवन करते है।

परपत्नीकी ओर माँ-बहनकी दृष्टि रखते है।

यथाशक्ति सत्पात्रमे दान देते हैं।

शांत, मधुर और कोमल भाषा बोलते हैं।

सत्शास्त्रका मनन करते हैं।

यथासंभव उपजीविकामे भी माया, कपट इत्यादि नही करते ।
स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मुनि ओर गुरु इन सबका यथायोग्य सन्मान करत हे ।
माँ-बापको धर्मका बोध देते हैं ।
यत्नासे घरकी स्वच्छता, राँधना, शयन इत्यादिको कराते है ।
स्वयं विचक्षणतासे आचरण करके स्त्री-पुत्रको विनयी और धर्मी बनाते है ।
सारे कुटुम्बमे ऐक्यकी वृद्धि करते है ।
आये हुए अतिथिका यथायोग्य सन्मान करते है ।
याचकको क्षुधातुर नहीं रखते ।
सत्पुरुषोका समागम और उनका बोध धारण करते है ।
निरन्तर मर्यादासहित और सन्तोषयुक्त रहते है ।
यथाशक्ति घरमे शास्त्रसंचय रखते है ।
अल्प आरम्भसे व्यवहार चलाते है ।
ऐसा गृहस्थाश्रम उत्तम गतिका कारण होता है, ऐसा ज्ञानी कहते हैं ।

शिक्षापाठ १३ : जिनेश्वरकी भक्ति—भाग १

जिज्ञासु—विचक्षण सत्य ! कोई शंकरकी, कोई ब्रह्माकी, कोई विष्णुकी, कोई सूर्यकी, कोई अग्निकी, कोई भवानीकी, कोई पैगम्बरकी और कोई ईसाकी भक्ति करता है । ये भक्ति करके क्या आशा रखते होगे ?

सत्य—प्रिय जिज्ञासु ! ये भाविक मोक्ष प्राप्त करनेकी परम आशासे इन देवोंकी भक्ति करते है ।

जिज्ञासु—तब कहिये, क्या आपका ऐसा मत है कि ये इससे उत्तम गति प्राप्त करेंगे ?

सत्य—ये उनकी भक्तिसे मोक्ष प्राप्त करेंगे, ऐसा मै नही कह सकता । जिनको ये परमेश्वर कहते हैं वे कुछ मोक्षको प्राप्त नही हुए हैं, तो फिर वे उपासकको मोक्ष कहाँसे देगे ? शंकर इत्यादि कर्मक्षय नही कर सके हैं और दूषणसहित हे, इसलिये वे पूजनीय नही है ।

जिज्ञासु—वे दूषण कौन-कौनसे हैं ? यह कहिये ।

सत्य—[1]"अज्ञान, काम, हास्य, रति, अरति इत्यादि मिलकर अठारह' दूषणोमेंसे एक दूषण हो तो भी वे अपूज्य है । एक समर्थ पंडितने भी कहा है कि, 'मैं परमेश्वर हूँ' यो मिथ्या रीतिसे मनानेवाले पुरुष स्वयं अपनेको ठगते है, क्योंकि पासमे स्त्री होनेसे वे विषयी ठहरते है, शस्त्र धारण किये होनेसे वे द्वेषी ठहरते हैं । जप माला धारण करनेसे यह सूचित होता है कि उनका चित्त व्यग्र है । 'मेरी शरणमे आ, मै सब पापोको हर लूँगा', यो कहनेवाले अभिमानी और नास्तिक ठहरते है । ऐसा है तो फिर वे दूसरेको कैसे तार सकते हे ? और कितने ही अवतार लेनेके रूपमे अपनेको परमेश्वर कहलवाते है, तो [2]ऐसी स्थितिमे यह सिद्ध होता है कि अमुक कर्मका प्रयोजन शेष है ।'

जिज्ञासु—भाई ! तब फिर पूज्य कौन और भक्ति किसकी करनी कि जिससे आत्मा स्वशक्तिका प्रकाश करे ?

द्वि० आ० पाठा०—१ 'अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, भय, शोक, जुगुप्सा, दानांतराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय, काम, हास्य, रति और अरति, ये अठारह ।'

२ 'ऐसी स्थितिमें यह सिद्ध होता है कि उनके लिये अमुक कर्मका भोगना बाकी है ।'

सत्य – शुद्धसच्चिदानन्दस्वरूप [1]'अनन्त सिद्धकी' भक्तिसे तथा सर्वदूषणरहित, कर्ममलहीन, मुक्त, नीराग, सकलभयरहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवानकी भक्तिसे आत्मशक्ति प्रकाशित होती है।

जिज्ञासु—इनकी भक्ति करनेसे ये हमे मोक्ष देते है, ऐसा मानना ठीक है ?

सत्य—भाई जिज्ञासु ! ये अनन्तज्ञानी भगवान तो नीराग और निर्विकार है। इन्हें स्तुति-निंदाका हमे कुछ भी फल देनेका प्रयोजन नही है। हमारा आत्मा जो कर्मदलसे घिरा हुआ है, तथा अज्ञानी एव मोहांध बना हुआ है, उसे दूर करनेके लिये अनुपम पुरुषार्थकी आवश्यकता है। सर्व कर्मदलका क्षय करके [2]'अनन्त जीवन, अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनसे स्वस्वरूपमय हुए' ऐसे जिनेश्वरोका स्वरूप आत्माकी निश्चयनयसे ऋद्धि होनेसे [3]'यह पुरुषार्थता देता है', विकारसे विरक्त करता है, शान्ति और निर्जरा देता है। जैसे हाथमे तलवार लेनेसे शौर्य और भाँगसे नशा उत्पन्न होता है, वैसे ही इस गुण-चिन्तनसे आत्मा स्वस्वरूपानदकी श्रेणि पर चढता जाता है। हाथमे दर्पण लेनेसे जैसे मुखाकृतिका भान होता है वैसे ही सिद्ध या जिनेश्वर-स्वरूपके चिन्तनरूप दर्पणसे आत्मस्वरूपका भान होता है।

शिक्षापाठ १४ : जिनेश्वरकी भक्ति—भाग २

जिज्ञासु—आर्य सत्य ! सिद्धस्वरूपको प्राप्त जिनेश्वर तो सभी पूज्य है, तो फिर नामसे भक्ति करनेकी कुछ जरूरत है ?

सत्य—हाँ, अवश्य है। अनन्त सिद्धस्वरूपका ध्यान करते हुए जो शुद्ध स्वरूपका विचार आता है वह तो कार्य है, परन्तु वे जिनसे उस स्वरूपको प्राप्त हुए वे कारण कौनसे है ? इसका विचार करते हुए उग्र तप, महान वैराग्य, अनन्त दया, महान ध्यान, इन सबका स्मरण होगा। अपने अर्हंत तीर्थंकर-पदमे जिस नामसे वे विहार करते थे उस नामसे उनके पवित्र आचार और पवित्र चरित्रका अन्तःकरणमे उदय होगा, जो उदय परिणाममे महा लाभदायक है। जैसे महावीरका पवित्र नामस्मरण करनेसे वे कौन थे ? कब हुए ? उन्होने किस प्रकारसे सिद्धि पायी ? इन चरित्रोकी स्मृति होगी, और इससे हमे वैराग्य, विवेक इत्यादिका उदय होगा।

जिज्ञासु—परन्तु 'लोगस्स' मे तो चौबीस जिनेश्वरोके नाम सूचित किये है, इसका क्या हेतु है ? यह मुझे समझाइये।

सत्य—इस कालमे इस क्षेत्रमे जो चौबीस जिनेश्वर हुए, उनके नाम और चरित्रका स्मरण करनेसे शुद्ध तत्त्वका लाभ हो, यह इसका हेतु है। वैरागीका चरित्र वैराग्यका बोध देता है। अनन्त चौबीसीके अनन्त नाम सिद्धस्वरूपमे समग्रत: आ जाते है। वर्तमानकालके चौबीस तीर्थंकरोके नाम इस कालमे लेनेसे कालकी स्थितिका अति सूक्ष्म ज्ञान भी याद आ जाता है। जैसे इनके नाम इस कालमे लिये जाते हैं वैसे ही चौबीसी चौबीसीके नाम, काल और चौबीसी बदलने पर लिये जाते रहते है। इसलिये अमुक नाम लेना ऐसा कुछ निश्चित नही है, परन्तु उनके गुण और पुरुषार्थकी स्मृतिके लिये वर्तमान चौबीसीकी स्मृति करना, ऐसा तत्त्व निहित है। उनका जन्म, विहार, उपदेश यह सब नामनिक्षेपसे जाना जा सकता है। इससे हमारा आत्मा प्रकाश पाता है। सर्प जैसे बासुरीके नादसे जागृत होता है वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुननेसे मोहनिद्रासे जागृत होता है।

जिज्ञासु—आपने मुझे जिनेश्वरकी भक्तिसम्बन्धी बहुत उत्तम कारण बताया। आधुनिक शिक्षासे जिनेश्वरकी भक्ति कुछ फलदायक नही है ऐसी मेरी आस्था हुई थी, वह नष्ट हो गयी है। जिनेश्वर भगवानकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये, यह मै मान्य रखता हूँ।

द्वि० आ० पाठा०—१ 'सिद्ध भगवानकी।' २. 'अनत ज्ञान, अनत दर्शन, अनत चारित्र, अनत वीर्य, और स्वस्वरूपमय हुए।' ३. 'उन भगवानका स्मरण, चितन, ध्यान और भक्ति ये पुरुषार्थता देते है।'

सत्य—जिनेश्वर भगवानकी भक्तिसे अनुपम लाभ है। इसके कारण महान है। 'उनके उपकारसे उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। उनके पुरुषार्थका स्मरण होता है, जिससे कल्याण होता है। इत्यादि इत्यादि मात्र सामान्य कारण मैने यथामति कहे है। वे अन्य भाविकोके लिये भी सुखदायक हो।'[1]

शिक्षापाठ १५ : भक्तिका उपदेश

तोटक छन्द

*शुभ शीतळतामय छांय रही, मनवांछित ज्या फळपंक्ति कही।
जिनभक्ति ग्रहो तरु कल्प अहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥१॥

निज आत्मस्वरूप मुदा प्रगटे, मनताप उताप तमाम मटे।
अति निर्जरता वणदाम ग्रहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥२॥

समभावी सदा परिणाम थशे, जड मंद अधोगति जन्म जशे।
शुभ मंगळ आ परिपूर्ण चहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥३॥

शुभ भाव वडे मन शुद्ध करो, नवकार महापदने समरो।
नहि एह समान सुमंत्र कहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥४॥

करशो क्षय केवल रागकथा, धरशो शुभ तत्त्वस्वरूप यथा।
नृपचंद्र प्रपंच अनंत दहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥५॥

शिक्षापाठ १६ : सच्ची महत्ता

कितने मानते है कि लक्ष्मीसे महत्ता मिलती है, कितने मानते है कि महान कुटुम्बसे महत्ता मिलती है, कितने मानते है कि पुत्रसे महत्ता मिलती है, कितने मानते है कि अधिकारसे महत्ता मिलती है। परंतु उनका यह मानना विवेकदृष्टिसे मिथ्या सिद्ध होता है। वे जिसमे महत्ता मानते है उसमे महत्ता नही, परन्तु लघुता है। लक्ष्मीसे ससारमे खानपान, मान, अनुचरोपर आज्ञा, वैभव, ये सब मिलते है और यह

---

१ द्वि० आ० पाठा०—'उनके परम उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। और उनके पुरुषार्थका स्मरण होनेसे भी शुभ वृत्तियोका उदय होता है। ज्यो-ज्यो श्रीजिनेद्रके स्वरूपमे वृत्तिका लय होता है, त्यो-त्यो परम शाति प्रगट होती है। इस प्रकार जिनभक्तिके कारण यहाँ सक्षेपमे कहे है, वे आत्मार्थियोके लिये विशेषरूपसे मनन करने योग्य है।'

*भावार्थ—जिसकी शुभ शीतलतामय छाया है, जिसमे मनोवाछित फलोकी पंक्ति लगी है। अहो भव्यो! तुम कल्पतरुरूपी जिनभक्तिका आश्रय लो, और भगवद्भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥१॥

इससे अपने आत्मस्वरूपका आनद प्रगट होता है, मनका ताप एव अन्य सब उत्ताप मिट जाते है। मुफ्तमे कर्मोकी अति निर्जरा होती है। तुम भगवद्भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥२॥

इससे परिणाम सदा समभावी होगे, जड, मद और अधोगतिके जन्म नष्ट होगे; इस परिपूर्ण शुभ मगलकी इच्छा करो और भगवद्-भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥३॥

शुभ भावसे मनको शुद्ध करो, नवकार महामत्रका स्मरण करो, इसके समान दूसरा कोई सुमंत्र नही है। तुम भगवद्भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥४॥

रागकथाका सर्वथा क्षय करो, यथार्थ शुभ तत्त्वस्वरूपको धारण करो। राजचद्र कहते है कि भगवद्भक्तिसे संसारके अनंत प्रपचका दहन करो, और भगवद्भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥५॥

महत्ता है, ऐसा तुम मानते होंगे; परन्तु इतनेमे उसे महत्ता माननेकी जरूरत नहीं है। लक्ष्मी अनेक पापोसे पैदा होती है। आनेके बाद यह अभिमान, बेभानता और मूढता लाती है। कुटुम्बसमुदायकी महत्ता पानेके लिये उसका पालन-पोषण करना पडता है। उससे पाप और दुःख सहन करने पडते है। हमे उपाधिसे पाप करके उसका उदर भरना पडता है। पुत्रसे कोई शाश्वत नाम नही रहता। इसके लिये भी अनेक प्रकारके पाप और उपाधि सहने पडते है, फिर भी इससे अपना क्या मगल होता है? अधिकारसे परतत्रता या सत्तामद आता है और इससे जुल्म, अनीति, रिश्वत तथा अन्याय करने पड़ते हैं अथवा होते है। तब कहिये, इसमेसे महत्ता किसकी होती है? मात्र पापजन्य कर्मकी। पापकर्मसे आत्माकी नीच गति होती है, जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नही है परन्तु लघुता है।

आत्माकी महत्ता तो सत्य वचन, दया, क्षमा, परोपकार और समतामे रही है। लक्ष्मी आदि तो कर्ममहत्ता है। ऐसा होने पर भी सयाने पुरुष लक्ष्मीको दानमे देते है, उत्तम विद्याशालाएँ स्थापित करके परदुःखभंजन होते है। [1]'एक स्त्रीसे विवाह करके' मात्र उसमे वृत्ति रोककर परस्त्रीकी ओर पुत्रीभावसे देखते हैं। कुटुम्ब द्वारा अमुक समुदायका हितकाम करते है। पुत्र होनेसे उसे संसारभार देकर स्वयं धर्म-मार्गमे प्रवेश करते हैं। अधिकार द्वारा चतुराईसे आचरण करके राजा-प्रजा दोनोंका हित करके धर्म-नीतिका प्रकाश करते हैं। ऐसा करनेसे कुछ सच्ची महत्ता प्राप्त होती है, फिर भी यह महत्ता निश्चित नही है। मरण-भय सिर पर सवार है। धारणा धरी रह जाती है। योजित योजना या विवेक शायद हृदयमेसे चला जाय, ऐसी ससारमोहिनी है, इसलिये हमे यह निःसंशय समझना चाहिये कि सत्य वचन, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य और समता जैसी आत्ममहत्ता किसी भी स्थलमे नही है। शुद्ध पंच महाव्रतधारी भिक्षुकने जो ऋद्धि और महत्ता प्राप्त की है उसे ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्तीने लक्ष्मी, कुटुब, पुत्र या अधिकारसे प्राप्त नही की, ऐसा मेरा मानना है।

शिक्षापाठ १७ : बाहुबल

बाहुबल अर्थात् अपनी भुजाका बल यह अर्थ यहाँ नही करना है, क्योंकि बाहुबल नामके महा-पुरुषका यह एक छोटा परन्तु अद्भुत चरित्र है।

ऋषभदेवजी भगवान सर्वसंगका परित्याग करके भरत और बाहुबल नामके अपने दो पुत्रोंको राज्य सौंप कर विहार करते थे। तब भरतेश्वर चक्रवर्ती हुआ। आयुधशालामे चक्रकी उत्पत्ति होनेके बाद उसने प्रत्येक राज्य पर अपना आम्नाय स्थापित किया और छः खंडकी प्रभुता प्राप्त की। मात्र बाहुबलने ही यह प्रभुता अंगीकार नही की। इससे परिणाममे भरतेश्वर और बाहुबलके बीच युद्ध शुरू हुआ। बहुत समय तक भरतेश्वर या बाहुबल इन दोनोमेसे एक भी पीछे नही हटा, तब क्रोधावेशमे आकर भरतेश्वरने बाहुबल पर चक्र छोडा। एक वीर्यसे उत्पन्न हुए भाई पर वह चक्र प्रभाव नही कर सकता, इस नियमसे वह चक्र फिरकर वापस भरतेश्वरके हाथमे आया। भरतके चक्र छोड़नेसे बाहुबलको बहुत क्रोध आया। उसने महाबलवत्तर मुष्टि उठायी। तत्काल वहाँ उसकी भावनाका स्वरूप बदला। उसने विचार किया, "मैं यह बहुत निंदनीय कर्म करता हूँ। इसका परिणाम कैसा दुःखदायक है! भले भरतेश्वर राज्य भोगे। व्यर्थ ही परस्परका नाश किसलिये करना? यह मुष्टि मारनी योग्य नही है; तथा उठायी है तो इसे अब पीछे हटाना भी योग्य नही है।" यों कहकर उसने पचमुष्टि केशलुंचन किया; और वहाँसे मुनित्वभावसे चल निकला। उसने, भगवान आदीश्वर जहाँ अठानवे दीक्षित पुत्रो और आर्यआर्याके साथ विहार करते थे, वहाँ जानेकी इच्छा की; परन्तु मनमे मान आया। "वहाँ मैं जाऊँगा तो अपनेसे छोटे

१. द्वि० आ० पाठा०—'एक विवाहिता स्त्रीमे ही।'

अठानवें भाइयोंको वदन करना पडेगा। इसलिये वहाँ तो जाना योग्य नही।" फिर वनमें वह एकाग्र ध्यानमें रहा। धीरे-धीरे बारह मास हो गये। महातपसे काया हड्डियोंका ढाचा हो गयी। वह सूखे पेड जैसा दीखने लगा, परतु जब तक मानका अकुर उसके अन करणमे हटा न था तब तक उसने सिद्धि नहीं पायी। ब्राह्मी और सुंदरीने आकर उसे उपदेश दिया, "आर्य वीर! अब मदोन्मत्त हाथीसे उतरिये, इसके कारण तो बहुत सहन किया।" उनके इन वचनोसे बाहुबल विचारमे पडा। विचार करते-करते उसे भान हुआ, "सत्य है। मैं मानरूपी मदोन्मत्त हाथीसे अभी कहाँ उतरा हूँ? अब इससे उतरना ही मंगलकारक है।" ऐसा कहकर उसने वंदन करनेके लिये कदम उठाया कि वह अनुपम दिव्य कैवल्यकमलाको प्राप्त हुआ।

पाठक! देखो, मान कैसी दुरित वस्तु है!!

शिक्षापाठ १८ : चार गति

'[1] सातावेदनीय और असातावेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मका फल भोगनेके लिये इस ससारवनमे जीव चार गतियोमे भ्रमण करता रहता है।' ये चार गति अवश्य जाननी चाहिये।

१ नरकगति—महारभ, मदिरापान, मासभक्षण इत्यादि तीव्र हिंसाके करनेवाले जीव भयानक नरकमे पडते है। वहा लेशमात्र भी साता, विश्राम या सुख नही है। महान अधकार व्याप्त है। अगछेदन सहन करना पडता है, अग्निमे जलना पडता है, और छुरपलाकी धार जैसा जल पीना पडता है। जहाँ अनत दु खसे प्राणीभूतोको तंगी, असाता और बिलबिलाहटको सहन करना पडता है, जिन दु खोको केवलज्ञानी भी नही कह सकते। अहोहो!! वे दु ख अनत बार इस आत्माने भोगे है।

२ तिर्यंचगति—छल, झूठ, प्रपच इत्यादिके कारण जीव सिंह, बाघ, हाथी, मृग, गाय, भैंस, बैल इत्यादि तिर्यंचके शरीर धारण करता है। इस तिर्यंचगतिमे भूख, प्यास, ताप, वध, बधन, ताडन, भारवाहन इत्यादिके दु ख सहन करता है।

३ मनुष्यगति—खाद्य, अखाद्यके विषयमे विवेकरहित हैं, लज्जाहीन, माता-पुत्रीके साथ कामगमन करनेमे जिन्हे पापापापका भान नही है; निरतर मास-भक्षण, चोरी, परस्त्रीगमन इत्यादि महापातक किया करते है, ये तो मानो अनार्य देशके अनार्य मनुष्य है। आर्य देशमे भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि मतिहीन, दरिद्री, अज्ञान और रोगसे पीडित मनुष्य है। मान-अपमान इत्यादि अनेक प्रकारके दुःख वे भोग रहे है।

४ देवगति—परस्पर वैर, द्वेष, क्लेश, शोक, मत्सर, काम, मद, क्षुधा, इत्यादिमे देवता भी आयु व्यतीत कर रहे हैं, यह देवगति है।

इस प्रकार चार गति सामान्यरूपसे कही। इन चारो गतियोंमे मनुष्यगति सबमे श्रेष्ठ और दुर्लभ है। आत्माका परम हित मोक्ष इस गतिसे प्राप्त होता है। इस मनुष्यगतिमे भी कितने ही दुःख और आत्मसाधन करनेमे अतराय हैं।

एक तरुण सुकुमारको रोम रोममे लाल अगारे सूएँ भोकनेसे जो असह्य वेदना उत्पन्न होती है, उससे आठ गुनी वेदना गर्भस्थानमे रहते हुए जीव पाता है। मल, मूत्र, लहू, पीप आदिमे लगभग नौ महीने अहोरात्र मूर्च्छागत स्थितिमे वेदना भोग भोगकर जन्म पाता है। जन्मके समय गर्भस्थानकी वेदनासे अनंत गुनी वेदना उत्पन्न होती है। उसके बाद बाल्यावस्था प्राप्त होती है। मल, मूत्र, धूल और नग्नावस्थामे नासमझीसे रो-भटककर यह बाल्यावस्था पूर्ण होती है, और युवावस्था आती है। धन-उपार्जन करनेके लिये नाना प्रकारके पाप करने पडते हैं। जहाँसे उत्पन्न हुआ है वहाँ अर्थात् विषय-विकारमे वृत्ति जाती है। उन्माद आलस्य, अभिमान, निद्यदृष्टि, संयोग, वियोग आदिके चक्करमे युवा-

---

१ द्वि० आ० पाठा०—'ससारवनमें जीव सातावेदनीय-असातावेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मफल भोगनेके लिये इन चार गतियोमें भ्रमण करता रहता है।'

वस्था चली जाती है। फिर वृद्धावस्था आती है। शरीर काँपता है, मुखसे लार झरती है; त्वचा पर झुर्री पड जाती है; सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ सर्वथा मंद हो जाती हैं; केश सफेद होकर झडने लगते हैं। चलनेकी शक्ति नहीं रहती, हाथमें लकड़ी लेकर लडखड़ाते हुए चलना पडता है, या तो जीवनपर्यंत खाट पर पडा रहना पडता है। श्वास, खासी इत्यादि रोग आकर घेर लेते हैं, और थोड़े कालमें काल आकर कवलित कर जाता है। इस देहमेसे जीव चल निकलता है। काया हुई न हुई हो जाती है। मरण के समय कितनी अधिक वेदना होती है? चतुर्गतिमें श्रेष्ठ जो मनुष्य-देह है उसमें भी कितने अधिक दुःख रहे हुए हैं! फिर भी ऊपर कहे अनुसार अनुक्रमसे काल आता है ऐसा नही है। चाहे जब वह आकर ले जाता है। इसीलिये विचक्षण पुरुष प्रमाद किये बिना आत्मकल्याणकी आराधना करते हैं।

शिक्षापाठ १९ : संसारकी चार उपमाएँ—भाग १

१ महातत्त्वज्ञानी संसारको एक समुद्रकी उपमा भी देते हैं। संसाररूपी समुद्र अनत और अपार है। अहो लोगो! इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो! इस प्रकार उनके स्थान-स्थान पर वचन हैं। ससारको समुद्रकी उपमा छाजती भी है। समुद्रमे जैसे मौजोंकी उछालें उछला करती है, वैसे ससारमे विषयरूपी अनेक मौजें उछलती है। समुद्रका जल जैसे ऊपरसे सपाट दिखाई देता है वैसे संसार भी सरल दिखायी देता है। समुद्र जैसे कही बहुत गहरा है, और कहीं भँवरोंमें डाल देता है, वैसे ससार कामविषयप्रपंचादिमे बहुत गहरा है, वह मोहरूपी भँवरोमे डाल देता है। थोड़ा जल होते हुए भी समुद्रमे खडे रहनेसे जैसे कीचडमें धँस जाते हैं, वैसे संसारके लेशभर प्रसंगमें वह तृष्णारूपी कीचड़मे फँसा देता है। समुद्र जैसे नाना प्रकारकी चट्टानो और तूफानोंसे नाव या जहाजको हानि पहुँचाता है, वैसे स्त्रियोंरूपी चट्टानो और कामरूपी तूफानोंसे संसार आत्माको हानि पहुँचाता है। समुद्र जैसे अगाध जलसे शीतल दिखायी देने पर भी उसमे वडवानल नामकी अग्निका वास है, वैसे संसारमें मायारूपी अग्नि जला ही करती है। समुद्र जैसे चौमासेमें अधिक जल पाकर गहरा हो जाता है, वैसे पापरूपी जल पाकर संसार गहरा हो जाता है, अर्थात् जड जमाता जाता है।

२ ससारको दूसरी उपमा अग्निकी छाजती है। अग्निसे जैसे महातापकी उत्पत्ति होती है, वैसे ससारसे भी त्रिविध तापकी उत्पत्ति होती है। अग्निसे जला हुआ जीव जैसे महान बिलबिलाहट करता है, वैसे ससारमे जला हुआ जीव अनत दुःखरूप नरकसे असह्य बिलबिलाहट करता है। अग्नि जैसे सब वस्तुओका भक्षण कर जाती है वैसे अपने मुखमे पडे हुओको ससार भक्षण कर जाता है। अग्निमे ज्यो-ज्यों घी और ईंधन होमे जाते है त्यो-त्यों वह वृद्धि पाती है, [1]'वैसे संसारमे ज्यों-ज्यो तीव्र मोहिनीरूपी घी और विषयरूपी ईंधन होमे जाते है त्यो-त्यों वह वृद्धि पाता है।'

३ ससारको तीसरी उपमा अंधकारकी छाजती है। अधकारमे जैसे रस्सी सर्पका ज्ञान कराती है, वैसे संसार सत्यको असत्यरूप बताता है। अंधकारमें जैसे प्राणी इधर-उधर भटक कर विपत्ति भोगते हैं; वैसे संसारमें बेभान होकर अनत आत्मा चतुर्गतिमें इधर-उधर भटकते हैं। अधकारमे जैसे कॉच और हीरेका ज्ञान नही होता, वैसे संसाररूपी अधकारमे विवेक-अविवेकका ज्ञान नही होता। जैसे अधकारमे प्राणी आँखें होने पर भी अंधे बन जाते है, वैसे शक्तिके होनेपर भी संसारमे वे मोहांध बन जाते हैं। अधकारमें जैसे उल्लू इत्यादिका उपद्रव बढ जाता है, वैसे संसारमे लोभ, माया आदिका उपद्रव बढ जाता है। अनेक प्रकारसे देखते हुए ससार अंधकाररूप ही प्रतीत होता है।

---

१. द्वि० आ० पाठा०—'उसी प्रकार ससाररूपी अग्निमे तीव्र मोहिनीरूपी घी और विषयरूपी ईंधन होमा जानेसे वह वृद्धि पाती है।'

शिक्षापाठ २० : संसारकी चार उपमाएँ—भाग २

४. संसारको चौथी उपमा शकटचक्र अर्थात् छकड़ेके पहियेकी छाजती है। चलता हुआ शकटचक्र जैसे घूमता रहता है, वैसे संसारमे प्रवेश करनेसे वह फिरता रहता है। शकटचक्र जैसे धुराके बिना नही चल सकता, वैसे संसार मिथ्यात्वरूपी धुराके बिना नही चल सकता। शकटचक्र जैसे आरोमे टिका हुआ है, वैसे संसार शंका, प्रमाद आदि आरोंसे टिका हुआ है। इस तरह अनेक प्रकारसे शकटचक्रकी उपमा भी संसारको लागू हो सकती है।

[1]'संसारको' जितनी हीन उपमाएँ दे उतनी थोड़ी है। हमने ये चार उपमाएँ जानी। अब इनमें-से तत्त्व लेना योग्य है।

१. जैसे सागर मजबूत नाव और जानकार नाविकसे तैरकर पार किया जाता है, वैसे सद्धर्मरूपी नाव और सद्गुरुरूपी नाविकसे संसारसागर पार किया जा सकता है। सागरमे जैसे चतुर पुरुषोंने निर्विघ्न मार्ग खोज निकाला होता है, वैसे जिनेश्वर भगवानने तत्त्वज्ञानरूप उत्तम मार्ग बताया है, जो निर्विघ्न है।

२. जैसे अग्नि सबका भक्षण कर जाती है परन्तु पानीसे बुझ जाती है, वैसे वैराग्यजलसे संसाराग्नि बुझाई जा सकती है।

३. जैसे अंधकारमे दीया ले जानेसे प्रकाश होनेपर देखा जा सकता है, वैसे तत्त्वज्ञानरूपी न बुझनेवाला दीया संसाररूपी अंधकारमे प्रकाश करके सत्य वस्तुको बताता है।

४. जैसे शकटचक्र बैलके बिना नही चल सकता, वैसे संसारचक्र रागद्वेषके बिना नही चल सकता।

इस प्रकार इस संसार रोगका निवारण उपमा द्वारा अनुपानके साथ कहा है। आत्महितैषी निरंतर इसका मनन करे और दूसरोको उपदेश दे।

शिक्षापाठ २१ : बारह भावना

वैराग्यकी और ऐसे आत्महितैषी विषयोकी सुदृढताके लिये तत्त्वज्ञानी बारह भावनाओंका चिन्तन करनेको कहते है—

१ शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब, परिवार आदि सर्व विनाशी है। जीवका मूल धर्म अविनाशी है, ऐसा चिन्तन करना, यह पहली 'अनित्यभावना'।

२. संसारमे मरणके समय जीवको शरण देनेवाला कोई नही है; मात्र एक शुभ धर्मकी ही शरण सत्य है, ऐसा चिन्तन करना, यह दूसरी 'अशरणभावना'।

३ इस आत्माने संसारसमुद्रमे पर्यटन करते-करते सर्व भव किये है। इस संसारकी बेडीसे मैं कब छूटूंगा ? यह संसार मेरा नही है, मैं मोक्षमयी हूँ ऐसा चिंतन करना, यह तीसरी 'संसारभावना'।

४ यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला जायेगा; अपने किये हुए कर्मोंको अकेला भोगेगा, ऐसा चिंतन करना, यह चौथी 'एकत्वभावना'।

५ इस संसारमें कोई किसीका नही है, ऐसा चिन्तन करना, यह पाँचवी 'अन्यत्वभावना'।

६ यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्रकी खान है, रोग-जराके रहनेका धाम है, इस शरीरसे मैं भिन्न हूँ, ऐसा चिन्तन करना, यह छठी 'अशुचिभावना'।

७. राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आस्रव है, ऐसा चिन्तन करना, यह सातवी 'आस्रव-भावना'।

---

१. द्वि० आ० पाठा०—'इस प्रकार संसारको'।

८. ज्ञान, ध्यानमे प्रवर्त्तमान होकर जीव नये कर्म नही बाँधता, ऐसा चिन्तन करना, यह आठवी 'संवरभावना'।

९. ज्ञानसहित क्रिया करना यह निर्जराका कारण है, ऐसा चिन्तन करना, यह नौवी 'निर्जराभावना'।

१० लोकस्वरूपकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके स्वरूपका विचार करना, यह दसवी 'लोकस्वरूपभावना'।

११. संसारमे परिभ्रमण करते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है, अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ तो चारित्र—सर्वविरतिपरिणामरूप धर्म—प्राप्त होना दुर्लभ है, ऐसा चिन्तन करना, यह ग्यारहवी 'बोधिदुर्लभभावना'।

१२. धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके बोधक गुरु तथा उनके उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, ऐसा चिन्तन करना, यह बारहवी 'धर्मदुर्लभभावना'।

इन बारह भावनाओंका मननपूर्वक निरन्तर विचार करनेसे सत्पुरुष उत्तम पदको प्राप्त हुए हैं, प्राप्त होते हैं, और प्राप्त होंगे।

शिक्षापाठ २२ : कामदेव श्रावक

महावीर भगवानके समयमे द्वादश व्रतको विमल भावसे धारण करनेवाला, विवेकी और निर्ग्रंथ-वचनानुरक्त कामदेव नामका एक श्रावक उनका शिष्य था। एक समय इन्द्रने सुधर्मासभामे कामदेवकी धर्म-अचलताकी प्रशसा की। उस समय वहाँ एक तुच्छ बुद्धिमान देव बैठा हुआ था। [1]"वह बोला—"यह तो समझमे आया, जब तक नारी न मिले तब तक ब्रह्मचारी तथा जब तक परिषह न पडे हों तब तक सभी सहनशील और धर्मदृढ।' यह मेरी बात मैं उसे चलायमान करके सत्य कर दिखाऊँ।" धर्मदृढ कामदेव उस समय कायोत्सर्गमे लीन था। देवताने विक्रियासे हाथीका रूप धारण किया; और फिर कामदेवको खूब रौंदा तो भी वह अचल रहा. फिर मूसल जैसा अंग बनाकर काले वर्णका सर्प होकर भयंकर फुँकार किये, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे लेशमात्र चलित नही हुआ। फिर अट्टहास्य करते हुए राक्षसकी देह धारण करके अनेक प्रकारके परिषह किये, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे डिगा नही। सिंह आदिके अनेक भयंकर रूप किये, तो भी कामदेवने कायोत्सर्गमे लेश हीनता नही आने दी। इस प्रकार देवता रात्रिके चारों प्रहर उपद्रव करता रहा, परंतु वह अपनी धारणामे सफल नही हुआ। फिर उसने उपयोगसे देखा तो कामदेवको मेरुके शिखरकी भाँति अडोल पाया। कामदेवकी अद्भुत निश्चलता जानकर उसे विनयभावसे प्रणाम करके अपने दोषोंकी क्षमा माँगकर वह देवता स्वस्थानको चला गया।

[2]'कामदेव श्रावककी धर्मदृढता हमे क्या बोध देती है, यह बिना कहे भी समझमे आ गया होगा। इसमेसे यह तत्त्वविचार लेना है कि निर्ग्रंथ-प्रवचनमे प्रवेश करके दृढ रहना। कायोत्सर्ग इत्यादि जो ध्यान करना है उसे यथासभव एकाग्र चित्तसे और दृढतासे निर्दोष करना।' चलविचल भावसे कायोत्सर्ग बहुत दोषयुक्त होता है। [3]'पाईके लिये धर्मकी सौगन्ध खानेवाले धर्ममे दृढता कहाँसे रखे? और रखें तो कैसी रखें?' यह विचारते हुए खेद होता है।

द्वि० आ० पाठा०—१. 'उसने ऐसी सुदृढताके प्रति अविश्वास बताया और कहा कि जब तक परिषह न पड़े हों तब तक सभी सहनशील और धर्मदृढ़ मालूम होते हैं।' २ 'कामदेव श्रावककी धर्मदृढता ऐसा बोध करती है कि सत्य धर्म और सत्य प्रतिज्ञामे परम दृढ़ रहना और कायोत्सर्गादिको यथासभव एकाग्र चित्तसे और सुदृढ़तासे निर्दोष करना।' ३. 'पाई जैसे द्रव्यलाभके लिये धर्मकी सौगन्ध खानेवालेकी धर्ममें दृढ़ता कहाँसे रह सके? और रह सके तो कैसी रहे?'

शिक्षापाठ २३ : सत्य

सामान्य कथनमे भी कहा जाता है कि सत्य इस [1]'सृष्टिका आधार' है, अथवा सत्यके आधार पर यह [2]'सृष्टि टिकी है'। इस कथनसे यह शिक्षा मिलती है कि धर्म, नीति, राज और व्यवहार ये सब सत्य द्वारा चल रहे हैं, और ये चार न हो तो जगतका रूप कैसा भयंकर हो? इसलिये सत्य [1]'सृष्टिका आधार' है, यह कहना कुछ अतिशयोक्ति जैसा या न मानने योग्य नही है।

वसुराजाका एक शब्दका असत्य बोलना कितना दु खदायक हुआ था, [3]'उसे तत्त्वविचार करनेके लिये मै यहाँ कहता हूँ।'

वसुराजा, नारद और पर्वत ये तीनो एक गुरुके पास विद्या पढे थे। पर्वत अध्यापकका पुत्र था। अध्यापक चल बसा! इसलिये पर्वत अपनी माँके साथ वसुराजाके राजमे आकर रहा था। एक रात उसकी माँ पासमे बैठी थी, और पर्वत तथा नारद शास्त्राभ्यास कर रहे थे। इस दौरानमे पर्वतने 'अजैर्यष्टव्यम्' ऐसा एक वाक्य कहा। तब नारदने कहा, "अजका अर्थ क्या है, पर्वत?" पर्वतने कहा, "अज अर्थात् बकरा।" नारद बोला "हम तीनो जब तेरे पिताके पास पढते थे तब तेरे पिताने तो 'अज' का अर्थ तीन वर्षके 'व्रीहि' बताया था; और तू उलटा अर्थ क्यो करता है?" इस प्रकार परस्पर वचन-विवाद बढा। तब पर्वतने कहा, "वसुराजा हमे जो कहे वह सही।" यह बात नारदने भी मान ली और जो जीते उसके लिये अमुक शर्त की। पर्वतकी माँ जो पासमे बैठी थी उसने यह सब सुना। 'अज' अर्थात् 'व्रीहि' ऐसा उसे भी याद था। शर्तमे अपना पुत्र हार जायेगा इस भयसे पर्वतकी मा रातको राजाके पास गयी और पूछा, 'राजन्! 'अज' का क्या अर्थ है?" वसुराजाने संबधपूर्वक कहा, "अजका अर्थ 'व्रीहि' है।" तब पर्वतकी माँने राजासे कहा, "मेरे पुत्रने अजका अर्थ बकरा कह दिया है, इसलिये आपको उसका पक्ष लेना पडेगा। आपसे पूछनेके लिये वे आयेंगे।" वसुराजा बोला, 'मै असत्य कैसे कहूँ? मुझसे यह नही हो सकेगा।" पर्वतकी माताने कहा, "परंतु यदि आप मेरे पुत्रका पक्ष नही लेंगे, तो मैं आपको हत्याका पाप दूँगी।" राजा विचारमे पड गया—"सत्यके कारण मै मणिमय सिंहासन पर अधरमे बैठता हूँ। लोकसमुदायका न्याय करता हूँ। लोग भी यह जानते है कि राजा सत्य गुणके कारण सिंहासनपर अंतरिक्षमे बैठता है। अब क्या करूँ? यदि पर्वतका पक्ष न लूँ तो ब्राह्मणी मरती है, और यह तो मेरे गुरुकी स्त्री है।" लाचार होकर अतमे राजाने ब्राह्मणीसे कहा, "आप खुशीसे जाइये। मै पर्वतका पक्ष लूँगा।" ऐसा निश्चय कराकर पर्वतकी माता घर आयी। प्रभातमे नारद, पर्वत और उसकी माता विवाद करते हुए राजाके पास आये। राजा अनजान होकर पूछने लगा—"पर्वत, क्या है?' पर्वतने कहा, "राजाधिराज! 'अज' का अर्थ क्या है? यह बताइये।" राजाने नारदसे पूछा—"आप क्या कहते है?" नारदने कहा—" 'अज' अर्थात् तीन वर्षके 'व्रीहि', आपको कहाँ याद नही है?" वसुराजाने कहा—"अजका अर्थ है बकरा, व्रीहि नही।" उसी समय देवताने उसे सिंहासनसे उछालकर नीचे पटक दिया, वसु काल-परिणामको प्राप्त हुआ।

इसपरसे यह मुख्य बोध मिलता है कि [4]'हम सबको सत्य और राजाको सत्य एव न्याय दोनों ग्रहण करने योग्य है।'

---

१ द्वि० आ० पाठा०—'जगतका आधार।'

२. द्वि० आ० पाठा०—'जगत टिका है।'

३. द्वि० आ० पाठा०—'वह प्रसंग विचार करनेके लिये यहाँ कहूंगे।'

४. द्वि० आ० पाठा०—'सामान्य मनुष्योंको सत्य तथा राजाको न्यायमें अपक्षपात और सत्य दोनों ग्रहण करने योग्य हैं।

भगवानने जो पाँच महाव्रत प्रणीत किये हैं, उनमेंसे प्रथम महाव्रतकी रक्षाके लिये शेष चार व्रत बाड़रूप हैं, और उनमें भी पहली बाड़ सत्य महाव्रत है। इस सत्यके अनेक भेदोंको सिद्धांतसे श्रवण करना आवश्यक है।

शिक्षापाठ २४ सत्संग

सत्संग सर्व सुखका मूल है। [1]"सत्संग मिला" कि उसके प्रभावसे वाछित सिद्धि हो ही जाती है। चाहे जैसा पवित्र होनेके लिये सत्संग श्रेष्ठ साधन है। सत्संगकी एक घडी जो लाभ देती है वह लाभ कुसंगके एक करोड़ वर्ष भी नही दे सकते, अपितु वे अधोगतिमय महापाप कराते हैं, तथा आत्माको मलिन करते हैं। सत्संगका सामान्य अर्थ यह कि उत्तमका सहवास। जहाँ अच्छी हवा नही आती वहाँ रोगकी वृद्धि होती है, वैसे जहाँ सत्संग नही वहाँ आत्मरोग बढता है। दुर्गंधसे तग आकर जैसे नाक पर वस्त्र रख लेते हैं, वैसे ही कुसंगका सहवास बंद करना आवश्यक है। संसार भी एक प्रकारका संग है, और वह अनंत कुसंगरूप एव दु:खदायक होनेसे त्याग करने योग्य है। चाहे जिस प्रकारका सहवास हो परंतु जिससे आत्मसिद्धि नही है वह सत्सग नही है। आत्माको जो सत्यका रग चढाये वह सत्सग है। जो मोक्षका मार्ग बताये वह मैत्री है। उत्तम शास्त्रमे निरंतर एकाग्र रहना यह भी सत्सग है; सत्पुरुषोका समागम भी सत्सग है। मलिन वस्त्रको जैसे साबुन तथा जल स्वच्छ करते है वैसे आत्माकी मलिनताको, शास्त्रबोध और सत्पुरुषोका समागम दूर करके शुद्ध करते है। जिसके साथ सदा परिचय रहकर राग, रंग, गान, तान और स्वादिष्ट भोजन सेवित होते हो वह तुम्हे चाहे जैसा प्रिय हो, तो भी निश्चित मानो कि वह सत्संग नही प्रत्युत कुसग है। सत्सगसे प्राप्त हुआ एक वचन अमूल्य लाभ देता है। तत्त्वज्ञानियोने मुख्य बोध यह दिया है कि सर्वसगका परित्याग करके, अंतरमे रहे हुए सर्व विकारसे भी विरक्त रहकर एकातका सेवन करो। इसमें सत्सगकी स्तुति आ जाती है। सर्वथा एकात तो ध्यानमे रहना या योगाभ्यासमे रहना यह है, परंतु समस्वभावीका समागम, जिसमेसे एक ही प्रकारकी वर्तनताका प्रवाह निकलता है वह, भावसे एक ही रूप होनेसे बहुत मनुष्योके होने पर भी और परस्परका सहवास होनेपर भी एकातरूप ही है और ऐसा एकांत मात्र सत समागममे रहा है। कदाचित् कोई ऐसा विचार करेगा कि विषयीमडल मिलता है वहाँ समभाव होनेसे उसे एकात क्यो न कहा जाये? इसका समाधान तत्काल हो जाता है कि वे एक-स्वभावी नही होते। उनमे परस्पर स्वार्थबुद्धि और मायाका अनुसधान होता है; और जहाँ इन दो कारणों-से समागम होता है वह एकस्वभावी या निर्दोष नही होता। निर्दोष और समस्वभावी समागम तो परस्पर शांत मुनीश्वरोंका है, तथा धर्म-ध्यानप्रशस्त अल्पारंभी पुरुषोका भी कुछ अशमे है। जहाँ स्वार्थ और माया-कपट ही है वहाँ समस्वभावता नही है और वह सत्संग भी नही है। सत्सगसे जो सुख, आनन्द मिलता है वह अति स्तुति-पात्र है। जहाँ शास्त्रोंके सुन्दर प्रश्न होते हो, जहाँ उत्तम ज्ञान-ध्यानकी सुकथा होती हो, जहाँ सत्पुरुषोके चरित्र पर विचार किया जाता हो, जहा तत्त्वज्ञानके तरगकी लहरें उठती हों, जहाँ सरल स्वभावसे सिद्धातविचारकी चर्चा होती हो और जहाँ मोक्षजनक कथनपर पुष्कल विवेचन होता हो, ऐसा सत्संग महादुर्लभ है। कोई यो कहे कि सत्संगमडलमे क्या कोई मायावी नही होता? तो इसका समाधान यह है--जहाँ माया और स्वार्थ होता है वहाँ सत्सग ही नही होता। राजहंसकी सभामें काग देखावसे कदाचित् न भाँपा जाये तो रागसे अवश्य भाँपा जायेगा, मौन रहा तो मुखमुद्रासे ताड़ा जायेगा; परन्तु वह छिपा नहीं रह पायेगा। उसी प्रकार मायावी स्वार्थसे सत्संगमे जाकर क्या करेंगे? वहाँ पेट भरनेकी बात तो होती नही। दो घडी वहाँ जाकर विश्रांति लेते हो तो भले लें कि जिससे रंग लगे, और रंग न लगे, तो दूसरी बार उनका आगमन नही होगा। जैसे पृथ्वी पर तैरा नही जाता, वैसे ही

---

१. द्वि० आ० पाठा०—'सत्संगका लाभ मिला'

सत्संगसे डूबा नही जाता, ऐसी सत्संगमे चमत्कृति है। निरतर ऐसे निर्दोष समागममे माया लेकर आये भी कौन ? कोई दुर्भागी ही; और वह भी असंभव है। सत्संग आत्माका परम हितैषी औषध है।

शिक्षापाठ २५ : परिग्रहको मर्यादित करना

जिस प्राणीको परिग्रहकी मर्यादा नही है, वह प्राणी सुखी नही है। उसे जो मिला वह कम है; क्योंकि उसे जितना मिलता जाये उतनेसे विशेष प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा होती है। परिग्रहकी प्रबलतामे जो कुछ मिला हो उसका सुख तो भोगा नही जाता, परन्तु जो होता है वह भी कदाचित् चला जाता है। परिग्रहसे निरन्तर चलविचल परिणाम और पापभावना रहती है; अकस्मात् योगसे ऐसी पापभावनामे यदि आयु पूर्ण हो जाये तो बहुधा अधोगतिका कारण हो जाता है। संपूर्ण परिग्रह तो मुनीश्वर त्याग सकते है, परन्तु गृहस्थ उसकी अमुक मर्यादा कर सकते है। मर्यादा हो जानेसे उससे अधिक परिग्रहकी उत्पत्ति नही है, और इसके कारण विशेष भावना भी बहुधा नही होती, और फिर जो मिला है उसमे सन्तोष रखनेकी प्रथा पडती है, जिससे सुखमे समय बीतता है। न जाने लक्ष्मी आदिमे कैसी विचित्रता है कि ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है त्यो-त्यो लोभ बढता जाता है। धर्मसंबधी कितना ही ज्ञान होने पर, धर्मकी दृढता होने पर भी परिग्रहके पाशमे पडा हुआ पुरुष कोई विरल ही छूट सकता है, वृत्ति इसीमे लटकी रहती है, परन्तु यह वृत्ति किसी कालमे सुखदायक या आत्महितैषी नही हुई है। जिन्होंने इसकी मर्यादा कम नही की वे बहुत दु खके भोगी हुए है।

छ खंडोको जीतकर आज्ञा मनानेवाले राजाधिराज चक्रवर्ती कहलाते है। इन समर्थ चक्रवर्तियोमे सुभूम नामक एक चक्रवर्ती हो गया है। उसने छः खड जीत लिये इसलिये वह चक्रवर्ती माना गया, परन्तु इतनेसे उसकी मनोवाछा तृप्त न हुई अभी वह प्यासा रहा। इसलिये धातकी खडके छ. खड जीतनेका उसने निश्चय किया। "सभी चक्रवर्ती छ खड जीतते है, और मै भी इतने ही जीतूँ, इसमे महत्ता कौनसी ? बारह खड जीतनेसे मै चिरकाल तक नामाकित रहूँगा, और उन खडोपर जीवनपर्यंत समर्थ आज्ञा चला सकूँगा।" इस विचारसे उसने समुद्रमे चर्मरत्न छोड़ा, उसपर सर्व सैन्यादिका आधार था। चर्मरत्नके एक हजार देवता सेवक कहे जाते है, उनमेसे प्रथम एकने विचार किया कि न जाने कितने हो वर्षोमे इससे छुटकारा होगा ? इसलिये देवागनासे तो मिल आऊँ, ऐसा सोचकर वह चला गया; फिर दूसरा गया, तीसरा गया, और यो करते-करते हजारके हजार देवता चले गये। तब चर्मरत्न डूब गया, अश्व, गज और सर्व सैन्यसहित सुभूम नामका वह चक्रवर्ती भी डूब गया। पापभावनामे और पापभावनामे मरकर वह अनन्त दु खसे भरे हुए सातवे तमतमप्रभा नरकमे जाकर पडा। देखो ! छः खडका आधिपत्य तो भोगना एक ओर रहा, परन्तु अकस्मात् और भयंकर रीतिसे परिग्रहकी प्रीतिमे इस चक्रवर्तीकी मृत्यु हुई, तो फिर दूसरेके लिये तो कहना ही क्या ? परिग्रह पापका मूल है; पापका पिता है, अन्य एकादश व्रतको महादूषित कर दे ऐसा इसका स्वभाव है। इसलिये आत्महितैषीको यथासंभव इसका त्याग करके मर्यादापूर्वक आचरण करना चाहिये।

शिक्षापाठ २६ : तत्त्वको समझना

जिन्हे शास्त्रोके शास्त्र मुखाग्र हो, ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते है परंतु जिन्होंने थोडे वचनोपर प्रौढ और विवेकपूर्वक विचार करके शास्त्र जितना ज्ञान हृदयगत किया हो, ऐसे पुरुष मिलने दुर्लभ हैं। तत्त्वको पा जाना यह कोई छोटी बात नही है, कूदकर समुद्र लाँघ जाना है।

अर्थ अर्थात् लक्ष्मी, अर्थ अर्थात् तत्त्व और अर्थ अर्थात् शब्दका दूसरा नाम। इस प्रकार 'अर्थ' शब्दके बहुत अर्थ होते है। परंतु यहाँ 'अर्थ' अर्थात् 'तत्त्व' इस विषयपर कहना है। जो निर्ग्रंथ-प्रवचनमें

आये हुए पवित्र वचनोंको मुखाग्र करते हैं, वे अपने उत्साहके बलसे सत्फलका उपार्जन करते हैं, परंतु यदि उनका मर्म पाया हो तो इससे वे सुख, आनन्द, विवेक और परिणाममें महान फल पाते हैं। अनपढ पुरुष सुन्दर अक्षर और खीची हुई मिथ्या लकीरें इन दोनोंके भेदको जितना जानता है, उतना ही मुखपाठी अन्य ग्रंथ-विचार और निर्ग्रंथ-प्रवचनको भेदरूप मानता है, क्योकि उसने अर्थपूर्वक निर्ग्रंथ-वचनामृतको धारण नही किया है और उस पर यथार्थ तत्त्व-विचार नही किया है। यद्यपि तत्त्वविचार करनेमे समर्थ बुद्धिप्रभावकी आवश्यकता है, तो भी कुछ विचार कर सकता है, पत्थर पिघलता नही तो भी पानीसे भीग जाता है। इसी प्रकार जो वचनामृत कंठस्थ किये हों, वे अर्थसहित हों तो बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, नही तो तोतेवाला रामनाम। तोतेको कोई परिचयसे रामनाम कहना सिखला दे; परन्तु तोतेकी बला जाने कि राम अनार है या अंगूर। सामान्य अर्थके समझे बिना ऐसा होता है। कच्छी वैश्योंका एक दृष्टात कहा जाता है, वह कुछ हास्ययुक्त जरूर है परन्तु इससे उत्तम शिक्षा मिल सकती है। इसलिये उसे यहाँ कह देता हूँ।

कच्छके किसी गाँवमे श्रावक धर्मको पालते हुए रायसी, देवसी और खेतसी नामके तीन ओसवाल रहते थे। वे मध्याकाल और प्रातःकालमे नियमित प्रतिक्रमण करते थे। प्रातःकालमे रायसी और संध्याकालमे देवसी प्रतिक्रमण कराते थे। रात्रिसबंधी प्रतिक्रमण रायसी कराता था, और रात्रिके संबधसे, 'रायसी पडिक्कमणु ठायंमि' इस तरह उसे बुलवाना पडता था। इसी तरह देवसीको दिनका संबध होनेसे 'देवसी पडिक्कमणु ठायंमि' ऐसा बुलवाना पड़ता था। योगानुयोगसे बहुतोंके आग्रहसे एक दिन संध्याकालमे खेतसीको प्रतिक्रमण बुलवानेके लिये बैठाया। खेतसीने जहाँ 'देवसी पडिक्कमणुं ठायंमि', ऐसा आया, वहाँ 'खेतसी पडिक्कमणु ठायंमि' यह वाक्य लगा दिया! यह सुनकर सब हास्यग्रस्त हो गये और पूछा, ऐसा क्यो? खेतसी बोला, "क्यों, इसमे क्या हो गया?" वहाँ उत्तर मिला, 'खेतसी पडिक्कमणु ठायंमि' ऐसा आप क्यो बोलते हैं? खेतसीने कहा, "मै गरीब हूँ इसलिये मेरा नाम आया कि तुरन्त ही तकरार खडी कर दी, परन्तु रायसी और देवसीके लिये तो किसी दिन कोई बोलता भी न था। ये दोनो क्यों 'रायसी पडिक्कमणु ठायंमि' और 'देवसी पडिक्कमणु ठायमि' ऐसा कहते हैं, तो फिर मैं 'खेतसी पडिक्कमणुं ठायंमि' यों क्यो न कहूँ?" इसकी भद्रिकताने तो सबका मन बहलाया, बादमे उसे प्रतिक्रमणका कारण सहित अर्थ समझाया, जिससे खेतसी अपने रटे हुए प्रतिक्रमणसे शर्मिन्दा हुआ।

यह तो एक सामान्य वार्ता है, परन्तु अर्थकी खूबी न्यारी है। तत्त्वज्ञ उसपर बहुत विचार कर सकते है। बाकी तो गुड़ जैसे मीठा ही लगता है वैसे निर्ग्रन्थ-वचनामृत भी सत्फल ही देते है। अहो! परन्तु मर्म पानेकी बातकी तो बलिहारी ही है!

शिक्षापाठ २७ : यत्ना

जैसे विवेक धर्मका मूलतत्त्व है, वैसे ही यत्ना धर्मका उपतत्त्व है। विवेकसे धर्मतत्त्वको ग्रहण किया जाता है और यत्नासे वह तत्त्व शुद्ध रखा जा सकता है, उसके अनुसार आचरण किया जा सकता है। पाँच समितिरूप यत्ना तो बहुत श्रेष्ठ है; परन्तु गृहस्थाश्रमीसे वह सर्व भावसे पाली नहीं जा सकती, फिर भी जितने भावांशमें पाली जा सके उतने भावाशमे भी असावधानीसे वे पाल नही सकते। जिनेश्वर भगवान द्वारा बोधित स्थूल और सूक्ष्म दयाके प्रति जहाँ बेपरवाही है वहाँ बहुत दोषसे पाली जा सकती है। इसका कारण यत्नाकी न्यूनता है। उतावली और वेगभरी चाल, पानी छानकर उसकी जीवानी रखनेकी अपूर्ण विधि, काष्ठादि ईंधनका बिना झाड़े, बिना देखे उपयोग, अनाजमें रहे हुए सूक्ष्म जन्तुओंकी अपूर्ण देखभाल, पोंछे-माँजे बिना रहने दिये हुए बरतन, अस्वच्छ रखे हुए कमरे, आँगनमें पानीका

गिराना, जूठनका रख छोड़ना, पटरेके बिना खूब गरम थालीका नीचे रखना, इनसे अपनेको अस्वच्छता, असुविधा, अनारोग्य इत्यादि फल मिलते है, और ये महापापके कारण भी हो जाते है। इसलिये कहनेका आशय यह है कि चलनेमे, ठनेम, उठनेमे, जीमनेमे और दूसरी प्रत्येक क्रियामे यत्नाका उपयोग करना चाहिये। इससे द्रव्य एव भाव दोनो प्रकारसे लाभ है। चाल धामी और गम्भीर रखनी, घर स्वच्छ रखना, पानी विधिसहित छनवाना, काष्ठादि ईंधन झाडकर डालना, ये कुछ हमारे लिये असुविधाजनक कार्य नही है और इनमे विशेष वक्त भी नही जाता। ऐसे नियम दाखिल कर देनेके बाद पालने मुश्किल नही हैं। इनसे बिचारे असंख्यात निरपराधी जन्तु बचते है।

प्रत्येक कार्य यत्नापूर्वक ही करना यह विवेकी श्रावकका कर्तव्य है।

शिक्षापाठ २८ : रात्रिभोजन

अहिंसादिक पच महाव्रत जैसा भगवानने रात्रिभोजनत्याग व्रत कहा है। रात्रिमे जो चार प्रकारका आहार है वह अभक्ष्यरूप है। जिस प्रकारका आहारका रंग होता है उस प्रकारके तमस्काय नामके जीव उस आहारमे उत्पन्न होते हैं। रात्रिभोजनमें इसके अतिरिक्त भी अनेक दोष हैं। रात्रिमे भोजन करनेवालेको रसोईके लिये अग्नि जलानी पड़ती है; तब समीपकी भीतपर रहे हुए निरपराधी सूक्ष्म जन्तु नष्ट होते हैं। ईंधनके लिये लाये हुए काष्ठादिकमे रहे हुए जन्तु रात्रिमे न दीखनेसे नष्ट होते है; तथा सर्पके विषका, मकडीकी लारका और मच्छरादिक सूक्ष्म जन्तुओंका भी भय रहता है। कदाचित् यह कुटुम्ब आदिको भयङ्कर रोगका कारण भी हो जाता है।

पुराण आदि मतोमे भी सामान्य आचारके लिये रात्रिभोजनके त्यागका विधान है, फिर भी उनमे परम्परागत रूढ़िसे रात्रिभोजन घुस गया है, परन्तु ये निषेधक तो है ही।

शरीरके अन्दर दो प्रकारके कमल है, वे सूर्यास्तसे सङ्कुचित हो जाते हैं, इसलिये रात्रिभोजनमे सूक्ष्म जीवोंका भक्षण होनेरूप अहित होता है, जो महारोगका कारण है, ऐसा कई स्थलोपर आयुर्वेदका भी मत है।

सत्पुरुष तो दो घडी दिन रहनेपर ब्यालू करते हैं, और दो घडी दिन चढनेमे पहले किसी भी प्रकारका आहार नही करते। रात्रिभोजनके लिये विशेष विचार मुनि-समागमसे या शास्त्रसे जानना चाहिये। इस सम्बन्धमे बहुत सूक्ष्म भेद जानने आवश्यक है। रात्रिमे चारो प्रकारके आहारका त्याग करनेसे महान फल है, यह जिन-वचन है।

शिक्षापाठ २९ : सर्व जीवोंकी रक्षा—भाग १

दया जैसा एक भी धर्म नही है। दया ही धर्मका स्वरूप है। जहाँ दया नही वहाँ धर्म नही। जगतीतलमे ऐसे अनर्थकारक धर्ममत विद्यमान है जो, जीवका हनन करनेमें लेश भी पाप नही होता, बहुत तो मनुष्यदेहकी रक्षा करो, ऐसा कहते हैं। इसके अतिरिक्त ये धर्ममतवाले जनूनी और मदान्ध हैं, और दयाका लेश स्वरूप भी नही जानते। यदि ये लोग अपने हृदयपटको प्रकाशमे रखकर विचार करे तो उन्हे अवश्य मालूम होगा कि एक सूक्ष्मसे सूक्ष्म जन्तुके हननमें भी महापाप है। जैसा मुझे अपना आत्मा प्रिय है, वैसा उसे भी अपना आत्मा प्रिय है। मैं अपने थोड़ेसे व्यसनके लिये या लाभके लिये ऐसे असंख्यात जीवोका बेधड़क हनन करता हूँ, यह मुझे कितने अधिक अनन्त दुःखका कारण होगा? उनमें बुद्धिका बीज भी न होनेसे वे ऐसा विचार नही कर सकते। वे दिन-रात पाप ही पापमें मग्न रहते हैं। वेद और वैष्णव आदि पन्थोंमे भी सूक्ष्म दया सम्बन्धी कोई विचार देखनेमे नही आता, तो भी ये दयाको

सर्वथा न समझनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं। स्थूल जीवोकी रक्षा करनेमे ये ठोक समझे है; परन्तु इन सबकी अपेक्षा हम कैसे भाग्यशाली है कि जहाँ एक पुष्पपखुड़ीको भी पीड़ा हो वहाँ पाप है, इस यथार्थ तत्त्वको समझे हैं और यज्ञ-यागादिकी हिंसासे तो सर्वथा विरक्त रहे है। जहाँ तक हो सके वहाँ तक जीवोंको बचाते हैं, फिर भी जानबूझकर जीवहिंसा करनेकी हमारी लेशमात्र इच्छा नहीं है। अनन्तकाय अभक्ष्यसे प्राय· हम विरक्त ही है। इस कालमे यह समस्त पुण्यप्रताप सिद्धार्थ भूपालके पुत्र महावीरके कहे हुए परम तत्त्वबोधके योगबलसे बढा हैं। मनुष्य ऋद्धि पाते हैं, सुन्दर स्त्री पाते हैं, आज्ञाकारी पुत्र पाते है, बड़ा कुटुम्ब-परिवार पाते है, मानप्रतिष्ठा और अधिकार पाते हैं, और यह सब पाना कुछ दुर्लभ नही है, परन्तु यथार्थ धर्मतत्त्व या उसकी श्रद्धा या उसका थोड़ा अंश भी पाना महादुर्लभ है। यह ऋद्धि इत्यादि अविवेकसे पापका कारण होकर अनन्त दुःखमे ले जाती है, परन्तु यह थोड़ी श्रद्धाभावना भी उत्तम पदवीपर पहुँचाती है। ऐसा दयाका सत्परिणाम है। हमने धर्मतत्त्वयुक्त कुलमें जन्म पाया है, तो अब यथासम्भव हमे विमल दयामय वर्तनको अपनाना चाहिये। वारम्वार यह ध्यानमें रखना चाहिये कि सब जीवोकी रक्षा करनी है। दूसरोंको भी युक्ति-प्रयुक्तिसे ऐसा ही बोध देना चाहिये। सर्व जीवोकी रक्षा करनेके लिये एक बोधदायक उत्तम युक्ति बुद्धिशाली अभयकुमारने की थी उसे मैं अगले पाठमे कहता हूँ। इसी प्रकार तत्त्वबोधके लिये यौक्तिक न्यायसे अनार्य जैसे धर्ममतवादियोंको शिक्षा देनेका अवसर मिले तो हम कैसे भाग्यशाली !

शिक्षापाठ ३० : सर्व जीवोंकी रक्षा—भाग २

मगध देशकी राजगृही नगरीका अधिराज श्रेणिक एक बार सभा भरकर बैठा था। प्रसगोपात्त बातचीतके दौरान जो मासलुब्ध सामत थे वे बोले कि आजकल मास विशेष सस्ता है। यह बात अभयकुमारने सुनी। इसलिये उसने उन हिंसक सामतोको बोध देनेका निश्चय किया। सायं सभा विसर्जित हुई; राजा अंतःपुरमे गया। उसके बाद अभयकुमार कर्तव्यके लिये जिस-जिसने मांसकी बात कही थी उस-उसके घर गया। जिसके घर गया वहाँ स्वागत करनेके बाद उसने पूछा—"आप किसलिये परिश्रम उठा कर मेरे घर पधारे है ?" अभयकुमारने कहा—"महाराजा श्रेणिकको अकस्मात् महारोग उत्पन्न हुआ है। वैद्योको इकट्ठे करनेपर उन्होने कहा कि कोमल मनुष्यके कलेजेका सवा टंकभर मास हो तो यह रोग मिटे। आप राजाके प्रियमान्य हैं, इसलिये आपके यहाँ यह मास लेने आया हूँ।" सामंतने विचार किया—"कलेजेका मास मैं मरे बिना किस तरह दे सकूँ ?" इसलिये अभयकुमारसे पूछा—"महाराज, यह तो कैसे हो सके ?" ऐसा कहनेके बाद अपनी बात राजाके आगे प्रकट न करनेके लिये अभयकुमारको बहुतसा द्रव्य [1]"दिया जिसे वह" अभयकुमार लेता गया। इस प्रकार अभयकुमार सभी सामंतोके घर फिर आया। सभी मास न दे सके और अपनी बातको छुपानेके लिये उन्होने द्रव्य दिया।

फिर जब दूसरे दिन सभा मिली तब सभी सामत अपने-अपने आसनपर आकर बैठे। राजा भी सिंहासनपर विराजमान था। सामत आ-आकर राजासे कलकी कुशल पूछने लगे। राजा इस बातसे विस्मित हुआ। अभयकुमारकी ओर देखा। तब अभयकुमार बोला—"महाराज ! कल आपके सामंत सभामे बोले थे कि आजकल मास सस्ता मिलता है, इसलिये मैं उनके यहाँ मांस लेने गया था; तब सबने मुझे बहुत द्रव्य दिया; परंतु कलेजेका सवा पैसा भर मास नही दिया। तब यह मास सस्ता या महँगा ?" यह सुनकर सब सामंत शरमसे नीचे देखने लगे, कोई कुछ बोल न सका। फिर अभयकुमारने कहा—"यह मैने कुछ आपको दुःख देनेके लिये नही किया परंतु बोध देनेके लिये किया है। यदि हमे अपने

---

१. द्वि० आ० पाठा० 'प्रत्येक सामत देता गया और वह'

शरीरका मांस देना पडे नो अनंत भय होता है, क्योंकि हमें अपनी देह प्रिय है। इसी प्रकार जिस जीवका वह मांस होगा उसे भी अपना जीव प्यारा होगा। जैसे हम अमूल्य वस्तुएँ देकर भी अपनी देहको बचाते हैं वैसे ही उन बिचारे पामर प्राणियोको भी होना चाहिये। हम समझवाले, बोलते-चालते प्राणी हैं, वे बिचारे अवाचक और नासमझ है। उन्हे मौतका दुःख दें यह कैसा पापका प्रबल कारण है? हमे इस वचनको निरंतर ध्यानमे रखना चाहिये कि सब प्राणियोंको अपना जीव प्यारा है, और सब जीवोंकी रक्षा करना इसके जैसा एक भी धर्म नही है।" अभयकुमारके भाषणसे श्रेणिक महाराजा संतुष्ट हुए, सभी सामंत भी प्रतिबुद्ध हुए। उन्होंने उस दिनसे मास न खानेकी प्रतिज्ञा की, क्योकि एक तो यह अभक्ष्य है, और किसी जीवको मारे बिना मिलता नही है, यह बड़ा अधर्म है। इसलिये अभय मत्रीका कथन सुनकर उन्होने अभयदानमे ध्यान दिया, जो आत्माके परम सुखका कारण है।

शिक्षापाठ ३१ : प्रत्याख्यान

'पच्चक्खान' शब्द वारंवार तुम्हारे सुननेमे आया है। इसका मूल शब्द 'प्रत्याख्यान' है, और यह अमुक वस्तुकी ओर चित्त न जाने देनेका जो नियम करना उसके लिये प्रयुक्त होता है। प्रत्याख्यान करनेका हेतु अति उत्तम तथा सूक्ष्म है। प्रत्याख्यान न करनेसे चाहे किसी वस्तुको न खाओ अथवा उसका भोग न करो तो भी उससे सवर नही होता, कारण कि तत्त्वरूपसे इच्छाका निरोध नही किया है। रातमे हम भोजन न करते हो, परन्तु उसका यदि प्रत्याख्यानरूपसे नियम न किया हो तो वह फल नही देता, क्योंकि अपनी इच्छाके द्वार खुले रहते है। जैसे घरका द्वार खुला हो और श्वान आदि प्राणी या मनुष्य भीतर चले आते हैं वैसे ही इच्छाके द्वार खुले हो तो उनमे कर्म प्रवेश करते हे। अर्थात् उस ओर अपने विचार यथेच्छरूपसे जाते हैं, यह कर्मबंधनका कारण है। और यदि प्रत्याख्यान हो तो फिर उस ओर दृष्टि करनेकी इच्छा नहीं होती। जैसे हम जानते है कि पीठका मध्य भाग हमसे देखा नही जा सकता, इसलिये उस ओर हम दृष्टि भी नही करते, वैसे ही प्रत्याख्यान करनेसे अमुक वस्तु खायी या भोगी नही जा सकती; इसलिये उस ओर अपना ध्यान स्वाभाविकरूपसे नही जाता। यह कर्मोंको रोकनेके लिये बीचमे दुर्गरूप हो जाता है। प्रत्याख्यान करनेके बाद विस्मृति आदिके कारण कोई दोष लग जाये तो उसके निवारणके लिये महात्माओंने प्रायश्चित्त भी बताये है।

प्रत्याख्यानसे एक दूसरा भी बड़ा लाभ है, वह यह कि अमुक वस्तुओमे ही हमारा ध्यान रहता है, बाकी सब वस्तुओका त्याग हो जाता है। जिस-जिस वस्तुका त्याग किया है, उस-उस वस्तुके सबधमे फिर विशेष विचार, उसका ग्रहण करना, रखना अथवा ऐसी कोई उपाधि नही रहती। इससे मन बहुत विशालताको पाकर नियमरूपी सड़कपर चला जाता है। अश्व यदि लगाममे आ जाता है तो फिर चाहे जैसा प्रबल होनेपर भी उसे इच्छित रास्तेसे ले जाया जाता है, वैसे ही मन इस नियमरूपी लगाममे आनेके बाद चाहे जैसी शुभ राहमे ले जाया जाता है, और उसमे वारवार पर्यटन करानेसे वह एकाग्र, विचारशील और विवेकी हो जाता है। मनका आनद शरीरको भी नीरोग बनाता है। और अभक्ष्य, अनंतकाय, परस्त्री आदिका नियम करनेसे भी शरीर नीरोग रह सकता है। मादक पदार्थ मनको उलटे रास्तेपर ले जाते हैं, परंतु प्रत्याख्यानसे मन वहाँ जाता हुआ रुकता है; इससे वह विमल होता है।

प्रत्याख्यान यह कैसी उत्तम नियम पालनेकी प्रतिज्ञा है, यह बात इस परसे तुम समझे होंगे। विशेष सद्गुरुके मुखसे और शास्त्रावलोकनसे समझनेका मै बोध करता हूँ।

शिक्षापाठ ३२ : विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है

राजगृही नगरीके राज्यासनपर जब श्रेणिक राजा विराजमान था तब उस नगरीमे एक चांडाल रहता था। एक बार उस चांडालकी स्त्रीको गर्भ रहा तब उसे आम खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उसने आम ला देनेके लिये चाडालसे कहा। चांडालने कहा, "यह आमका मौसम नही है, इसलिये मैं निरुपाय हूँ, नही तो मैं आम चाहे जितने ऊँचे स्थानपर हो वहांसे अपनी विद्याके बलसे लाकर तेरी इच्छा पूर्ण करूँ।" चाडालीने कहा, "राजाकी महारानीके बागमे एक असमयमे आम देनेवाला आम्रवृक्ष है, उसपर अभी आम लचक रहे होंगे, इसलिये वहाँ जाकर आम ले आओ।" अपनी स्त्रीकी इच्छा पूरी करनेके लिये चाडाल उस बागमे गया। गुप्तरूपसे आम्रवृक्षके पास जाकर मन्त्र पढकर उसे झुकाया और आम तोड़ लिये। दूसरे मंत्रसे उसे जैसाका तैसा कर दिया। बादमे वह घर आया और अपनी स्त्रीकी इच्छापूर्तिके लिये निरन्तर वह चांडाल विद्याके बलसे वहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते-फिरते मालीकी दृष्टि आम्रवृक्षकी ओर गयी। आमोकी चोरी हुई देखकर उसने जाकर श्रेणिक राजाके सामने नम्रतापूर्वक कहा। श्रेणिककी आज्ञासे अभयकुमार नामके बुद्धिशाली मन्त्रीने युक्तिसे उस चाडालको खोज निकाला। चांडालको अपने सामने बुलाकर पूछा, "इतने सब मनुष्य बागमे रहते हैं, फिर भी तू किस तरह चढ़कर आम ले गया कि यह बात किसीके भाँपनेमे भी न आई? सो कह।" चाडालने कहा, "आप मेरा अपराध क्षमा करे। मै सच कह देता हूं कि मेरे पास एक विद्या है, उसके प्रभावसे मै उन आमोको ले सका।" अभयकुमारने कहा, "मुझसे तो क्षमा नही दी जा सकती, परन्तु महाराजा श्रेणिकको तू यह विद्या दे तो उन्हे ऐसी विद्या लेनेकी अभिलाषा होनेसे तेरे उपकारके बदलेमे मै अपराध क्षमा करा सकूँ।" चाडालने वैसा करना स्वीकार किया। फिर अभयकुमारने चाडालको जहाँ श्रेणिक राजा सिंहासन-पर बैठा था वहाँ लाकर सामने खडा रखा, और सारी बात राजाको कह सुनायी। इस बातको राजाने स्वीकार किया। फिर चाडाल सामने खडे रहकर थरथराते पैरोसे श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा; परन्तु वह बोध लगा नही। तुरन्त खडे होकर अभयकुमार बोले, "महाराज! आपको यदि यह विद्या अवश्य सीखनी हो तो सामने आकर खडे रहे, और इसे सिंहासन दे।" राजाने विद्या लेनेके लिये वैसा किया तो तत्काल विद्या सिद्ध हो गयी।

यह बात केवल बोध लेनेके लिये है। एक चाडालकी भी विनय किये विना श्रेणिक जैसे राजाको विद्या सिद्ध न हुई, तो इसमेसे यह तत्त्व ग्रहण करना है कि सद्विद्याको सिद्ध करनेके लिये विनय करनी चाहिये। आत्मविद्या पानेके लिये यदि हम निर्ग्रंथ गुरुकी विनय करें तो कैसा मंगलदायक हो!

विनय यह उत्तम वशीकरण है। भगवानने उत्तराध्ययनमे विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णित किया है। गुरुकी, मुनिकी, विद्वानकी, माता-पिताकी, और अपनेसे बड़ोकी विनय करनी यह अपनी उत्तमताका कारण है।

शिक्षापाठ ३३ : सुदर्शन सेठ

प्राचीन कालमे शुद्ध एकपत्नीव्रतको पालनेवाले असख्य पुरुष हो गये है, उनमेसे सकट सहन करके प्रसिद्ध होनेवाला सुदर्शन नामका एक सत्पुरुष भी है। वह धनाढ्य, सुन्दर मुखाकृतिवाला, कातिमान और युवावस्थामे था। जिस नगरमे वह रहता था, उस नगरके राजदरबारके सामनेसे किसी कार्य-प्रसंगके कारण उसे निकलना पडा। वह जब वहाँसे निकला तब राजाकी अभया नामकी रानी अपने आवासके झरोखेमें बैठी थी। वहाँसे सुदर्शनकी ओर उसकी दृष्टि गयी। उसका उत्तम रूप और काया देखकर उसका मन ललचाया। एक अनुचरीको भेजकर कपटभावसे निर्मल कारण बताकर सुदर्शनको ऊपर

बुलाया। अनेक प्रकारकी बातचीत करनेके बाद अभयाने सुदर्शनको भोग भोगनेका आमन्त्रण दिया। सुदर्शनने बहुत-सा उपदेश दिया तो भी उसका मन शात नहीं हुआ। आखिर तग आकर सुदर्शनने युक्तिसे कहा, "बहिन! मैं पुरुषत्वहीन हूँ!" तो भी रानीने अनेक प्रकारके हावभाव किये। परतु उन सारी काम-चेष्टाओंसे सुदर्शन विचलित नही हुआ; इससे तंग आकर रानीने उसे जाने दिया।

एक बार उस नगरमे उत्सव था, इसलिये नगरके बाहर नगरजन आनंदसे इधर-उधर घूमते थे। धूमधाम मची हुई थी। सुदर्शन सेठके छ. देवकुमार जैसे पुत्र भी वहाँ आये थे। अभया रानी कपिला नाम-की दासीके साथ ठाटबाटसे वहाँ आयी थी। सुदर्शनके देवपुतले जैसे छः पुत्र उसके देखनेमे आये। उसने कपिलासे पूछा, "ऐसे रम्य पुत्र किसके हैं?" कपिलाने सुदर्शन सेठका नाम लिया। यह नाम सुनते ही रानीकी छातीमे मानो कटार भोकी गयी, उसे घातक चोट लगी। सारी धूमधाम बीत जानेके बाद माया-कथन गढ़कर अभया और उसकी दासीने मिलकर राजासे कहा—"आप मानते होगे कि मेरे राज्यमे न्याय और नीतिका प्रवर्तन है, दुर्जनोसे मेरी प्रजा दुःखी नही है, परतु यह सब मिथ्या है। अतःपुरमे भी दुर्जन प्रवेश करे यहाँ तक अभी अधेर है! तो फिर दूसरे स्थानोंके लिये तो पूछना ही क्या? आपके नगरके सुदर्शन नामके सेठने मुझे भोगका आमन्त्रण दिया, न कहने योग्य कथन मुझे सुनने पड़े; परतु मैने उसका तिरस्कार किया। इससे विशेष अधेर कौनसा कहा जाय!" राजा मूलतः कानके कच्चे होते हैं, यह बात तो यद्यपि सर्वमान्य ही है, उसमे फिर स्त्रीके मायावी मधुर वचन क्या असर न करे? तप्ते तेलमे ठंडे जल जैसे वचनोसे राजा क्रोधायमान हुआ। उसने सुदर्शनको शूलीपर चढा देनेकी तत्काल आज्ञा कर दी, और तदनुसार सब कुछ हो भी गया। मात्र सुदर्शनके शूली पर चढ़नेकी देर थी।

चाहे जो हो परन्तु "सृष्टिके[1] दिव्य भण्डारमे उजाला है। सत्यका प्रभाव ढका नही रहता। सुदर्शनको शूलीपर बिठाया कि शूली मिट कर जगमगाता हुआ सोनेका सिंहासन हो गयी, और देव-दुदुभिका नाद हुआ, सर्वत्र आनन्द छा गया। सुदर्शनका सत्य शील विश्वमण्डलमे झलक उठा। सत्य शीलकी सदा जय है। शील और सुदर्शनकी उत्तम दृढता ये दोनो आत्माको पवित्र श्रेणिपर चढाते है।

शिक्षापाठ ३४ : ब्रह्मचर्य सम्बन्धी सुभाषित

(दोहे)

* नीरखीने नवयौवना, लेश न विषयनिदान।
गणे काष्ठनी पूतळी, ते भगवान समान ॥१॥
आ सघळा संसारनी, रमणी नायकरूप।
ए त्यागी, त्याग्युं बधुं, केवळ शोकस्वरूप ॥२॥
एक विषयने जीततां, जीत्यो सौ संसार।
नृपति जीततां जीतिये, दळ, पुर ने अधिकार ॥३॥

---

१ द्वि० आ० पाठा०—'जगतके'

* भावार्थ—नवयौवनाको देखकर जिसके मनमे विषय-विकारका लेश भी उदय नही होता और जो उसे काठकी पुतली समझता है, वह भगवानके समान है ॥१॥

इस सारे संसारकी नायकरूप रमणी सर्वथा दुःख-स्वरूप है; जिसने इसका त्याग कर दिया उसने सब कुछ त्याग दिया ॥२॥

जैसे एक नृपतिको जीतनेसे उसका सैन्य, नगर और अधिकार जीते जाते हैं, वैसे एक विषयको जीतनेसे सारा ससार जीता जाता है ॥३॥

विषयरूप अंकुरथी, टळे ज्ञान ने ध्यान।
लेश मदिरापानथी, छाके ज्यम अज्ञान ॥४॥

जे नव वाड विशुद्धथी, धरे शियल सुखदाई।
भव तेनो लव पछी रहे, तत्त्ववचन ए भाई ॥५॥

सुन्दर शियल सुरतरु, मन वाणी ने देह।
जे नरनारी सेवशे, अनुपम फळ ले तेह ॥६॥

पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान।
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान ॥७॥

शिक्षापाठ ३५ : नवकारमंत्र

नमो अरिहन्ताणं।
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्वसाहूणं।

इन पवित्र वाक्योको निर्ग्रन्थप्रवचनमे नवकारमन्त्र, नमस्कारमन्त्र या पंचपरमेष्ठीमन्त्र कहते है।

अर्हंत भगवानके बारह गुण, सिद्ध भगवानके आठ गुण, आचार्यके छत्तीस गुण, उपाध्यायके पच्चीस गुण, और साधुके सत्ताईस गुण मिलकर एक सौ आठ गुण होते है। अँगूठेके बिना बाकीकी चार अँगुलियोकी बारह पोरें होती हैं, और इनसे इन गुणोंका चिन्तन करनेकी योजना होनेसे बारहको नौसे गुणा करनेपर १०८ होते हैं। इसलिये नवकार कहनेमे ऐसा सूचन भी गर्भित मालूम होता है कि हे भव्य ! अपनी अँगुलियोंकी पोरोसे नवकार मन्त्र नौ बार गिन। 'कार' शब्दका अर्थ 'करनेवाला' भी होता है। बारहको नौसे गुणा करनेपर जितने हों उतने गुणोंसे भरा हुआ मन्त्र, इस प्रकार नवकारमन्त्रके तौरपर इसका अर्थ हो सकता है। और पचपरमेष्ठी अर्थात् इस सकल जगतमे पाँच वस्तुएँ परमोत्कृष्ट हैं, वे कौन-कौनसी ? तो कह बतायी कि अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन्हें नमस्कार करनेका जो मन्त्र वह परमेष्ठीमन्त्र, और पाँच परमेष्ठियोको एक माथ नमस्कार होनेसे 'पंचपरमेष्ठीमन्त्र' ऐसा शब्द हुआ। यह मन्त्र अनादिसिद्ध माना जाता है, कारण कि पचपरमेष्ठी अनादिसिद्ध है अर्थात् ये पाँचों पात्र आदिरूप नही है। ये प्रवाहमे अनादि है, और उसके जपनेवाले भी अनादिसिद्ध हैं, इसलिये यह जाप भी अनादिसिद्ध ठहरता है।

प्रश्न—इस पंचपरमेष्ठीमन्त्रको परिपूर्ण जाननेसे मनुष्य उत्तम गति पाता है, ऐसा सत्पुरुष कहते है। इस विषयमे आपका क्या मत है ?

जैसे लेश भर मदिरापानसे मनुष्य ज्ञान खोकर नशेसे उन्मत्त हो जाता है, वैसे थोडी-सी विषय-वासनासे ज्ञान और ध्यान नष्ट हो जाते है ॥४॥

जो नौ बाडपूर्वक विशुद्ध एव सुखदायी ब्रह्मचर्यका पालन करता है, उसका भवभ्रमण लवलेश रह जाता है; हे भाई ! यह तत्त्ववचन है ॥५॥

जो नर-नारी मन-वचन-कायासे शीलरूप सुन्दर कल्पवृक्षका सेवन करेंगे वे अनुपम फलको पायेंगे ॥६॥

पात्रके बिना वस्तु नही रहती, पात्रमे ही आत्मज्ञान होता है। हे मतिमान मनुष्यो ! पात्र बननेके लिये सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करो ॥७॥

उत्तर—यह कहना न्यायपूर्वक है, ऐसा मै मानता हूँ।

प्रश्न—इसे किस कारणसे न्यायपूवक कहा जा सकता है ?

उत्तर—हाँ। यह मै तुम्हे समझाता हू—मनके निग्रहके लिये एक तो सर्वोत्तम जगद्भूषणके सत्य गुणोका यह चिन्तन है तथा तत्त्वसे देखनेपर अर्हत्स्वरूप, सिद्धस्वरूप, आचार्यस्वरूप, उपाध्यायस्वरूप और साधुस्वरूप, इनका विवेकपूर्वक विचार करनेका भी यह सूचक है। क्योकि वे किस कारणसे पूजने योग्य हैं ? ऐसा विचार करनेपर इनके स्वरूप, गुण इत्यादिका विचार करनेकी सत्पुरुषको तो सच्ची आवश्यकता है। अब कहो कि इससे यह मन्त्र कितना कल्याणकारक है ?

प्रश्नकर्त्ता—सत्पुरुष नवकारमन्त्रको मोक्षका कारण कहते है, इसे इस व्याख्यानसे मैं भी मान्य रखता हूँ।

अर्हत भगवान, सिद्ध भगवान, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका एक-एक प्रथम अक्षर लेनेसे "असिआउसा" यह महान वाक्य बनता है। जिसका ॐ एसा योगबिन्दुका स्वरूप होता है। इसलिये हमे इस मन्त्रका अवश्य ही विमलभावसे जाप करना चाहिये।

शिक्षापाठ ३६ : अनानुपूर्वी

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

पिता—इस प्रकारके कोष्ठकसे भरी हुई एक छोटी पुस्तक है उसे तूने देखा है ?

पुत्र—हाँ, पिताजी।

पिता—इसमे उलटे-सीधे अक रखे है उसका कुछ भी कारण तेरी समझमे आता है ?

पुत्र—नही पिताजी, मेरी समझमे नही आता। इसलिये आप वह कारण बताइये।

पिता—पुत्र ! यह प्रत्यक्ष है कि मन एक बहुत चंचल वस्तु है, और इसे एकाग्र करना अत्यन्त विकट है। वह जब तक एकाग्र नही होता तब तक आत्ममलिनता नही जाती, पापके विचार कम नही होते। इस एकाग्रताके लिये बारह प्रतिज्ञा आदि अनेक महान साधन भगवानने कहे हैं। मनकी एकाग्रतासे महायोगकी श्रेणिपर चढनेके लिये और उसे अनेक प्रकारसे निर्मल करनेके लिये सत्पुरुषोंने यह एक कोष्ठकावली बनायी है। इसमे पहले पंचपरमेष्ठी मन्त्रके पाँच अक रखे हैं, और फिर लोमविलोमस्वरूपमे लक्ष्यबद्ध इन्ही पाँच अंकोको रखकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे कोष्ठक बनाये हैं। ऐसा करनेका कारण भी यही है कि मनकी एकाग्रता प्राप्त करके निर्जरा की जा सके।

पुत्र—पिताजी, अनुक्रमसे लेनेसे ऐसा क्यों नही हो सकता ?

पिता—यदि लोमविलोम हो तो उन्हे व्यवस्थित करते जाना पड़े और नाम याद करते जाना पड़े। पाँचका अंक रखनेके बाद दोका अंक आये कि 'नमो लोए सव्वसाहूणं'के बाद 'नमो अरिहन्ताणं'

यह वाक्य छोडकर 'नमो सिद्धाणं' यह वाक्य याद करना पडे। इस प्रकार पुनः पुनः लक्ष्यकी दृढ़ता रखनेसे मन एकाग्रतापर पहुँचता है। यदि ये अंक अनुक्रमबद्ध हों तो वैसा नही हो सकता, क्योंकि विचार करना नही पडता। इस सूक्ष्म समयमे मन परमेष्ठीमन्त्रमेसे निकलकर संसारतन्त्रकी खटपटमे जा पडता है, और कदाचित् धर्म करते हुए अनर्थ भी कर डालता है, इसलिये सत्पुरुषोने इस अनानुपूर्वीकी योजना की है, यह बहुत सुन्दर और आत्मशान्तिको देनेवाली है।

शिक्षापाठ ३७ : सामायिकविचार–भाग १

आत्मशक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्यग्ज्ञानदर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध समाधि-भावमें प्रवेश करानेवाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देनेवाला, रागद्वेषमे मध्यस्थबुद्धि करनेवाला ऐसा सामायिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम + आय + इक इन शब्दोसे होती है। 'सम' अर्थात् रागद्वेष-रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' अर्थात् उस समभावसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञानदर्शनचारित्ररूप मोक्षमार्गका लाभ, और 'इक'का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिससे मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो वह 'सामायिक'। आर्त्त और रौद्र इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके, मन, वचन और कायाके पाप भावोको रोककर विवेकी श्रावक सामायिक करता है।

मनके पुद्गल[1] दोरंगे है। सामायिकमे जब विशुद्ध परिणामसे रहना कहा है तब भी यह मन आकाश-पातालकी योजनाएँ बनाया करता है। इसी तरह भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचनकायामे भी दूषण आनेसे सामायिकमे दोष लगता है। मन, वचन और कायाके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। दस मनके, दस वचनके और बारह कायाके इस प्रकार बत्तीस दोषोको जानना आवश्यक है। जिन्हे जाननेसे मन सावधान रहता है।

मनके दस दोष कहता हूँ—

१. **अविवेकदोष**—सामायिकका स्वरूप न जाननेसे मनमे ऐसा विचार करे कि इससे क्या फल होनेवाला है? इससे तो कौन तरा होगा? ऐसे विकल्पोंका नाम 'अविवेकदोष' है।

२. **यशोवांछादोष**—स्वयं सामायिक करता है यह अन्य मनुष्य जाने तो प्रशंसा करे, इस इच्छासे सामायिक करे इत्यादि, यह 'यशोवाछादोष' है।

३. **धनवांछादोष**—धनकी इच्छासे सामायिक करना, यह 'धनवाछादोष' है।

४. **गर्वदोष**—मुझे लोग धर्मी कहते है और मै सामायिक भी वैसी ही करता हूँ, यह 'गर्वदोष' है।

५. **भयदोष**—मै श्रावक कुलमे जन्मा हूँ, मुझे लोग बड़ा समझकर सम्मान देते है; और यदि मैं सामायिक नही करूँ तो कहेंगे कि इतना भी नही करता, इससे निंदा होगी, यह 'भयदोष' है।

६. **निदानदोष**—सामायिक करके उसके फलसे धन, स्त्री, पुत्र आदि प्राप्त करनेकी इच्छा करना, यह 'निदानदोष' है।

७. **संशयदोष**—सामायिकका परिणाम होगा या नही? यह विकल्प करना 'सशयदोष' है।

८. **कषायदोष**—क्रोध आदिसे सामायिक करने बैठ जाय अथवा किसी कारणसे फिर क्रोध, मान, माया और लोभमे वृत्ति रखे, यह 'कषायदोष' है।

९. **अविनयदोष**—विनयरहित सामायिक करे, यह 'अविनयदोष' है।

१०. **अबहुमानदोष**—भक्तिभाव और उमंगपूर्वक सामायिक न करे, यह 'अबहुमानदोष' हैं।

---

१. द्वि० आ० पाठा०—तरंगी।

शिक्षापाठ ३८ : सामायिकविचार—भाग २

मनके दस दोष कहे; अब वचनके दस दोष कहता हूँ :—

१. **कुवचनदोष**—सामायिकमे कुवचन बोलना, यह 'कुवचनदोष' है।

२. **सहसात्कारदोष**—सामायिकमे साहससे अविचारपूर्वक वाक्य बोलना, यह 'सहसात्कारदोष' है।

३. **असदारोपणदोष**—दूसरेको खोटा उपदेश दे, यह 'असदारोपणदोष' है।

४. **निरपेक्षदोष**—सामायिकमें शास्त्रकी अपेक्षा बिना वाक्य बोले, यह 'निरपेक्षदोष' है।

५. **संक्षेपदोष**—सूत्रके पाठ इत्यादिक संक्षेपमे बोल डाले, और यथार्थ उच्चारण नही करे, यह संक्षेपदोष' है।

६. **क्लेशदोष**—किसीसे झगड़ा करे, यह 'क्लेशदोष' है।

७. **विकथादोष**—चार प्रकारकी विकथा ले बैठे यह 'विकथादोष' है।

८. **हास्यदोष**—सामायिकमे किसीकी हँसी, मसखरी करे, यह 'हास्यदोष' है।

९. **अशुद्धदोष**—सामायिकमे सूत्रपाठ न्यूनाधिक और अशुद्ध बोले, यह 'अशुद्धदोष' है।

१०. **मुणमुणदोष**—सामायिकमे गडबड़ीसे सूत्रपाठ बोले, जिसे स्वयं भी पूरा मुश्किलसे समझ सके, यह 'मुणमुणदोष' है।

ये वचनके दस दोष कहे, अब कायाके बारह दोष कहता हूँ :—

१. **अयोग्यासनदोष**—सामायिकमे पैरपर पैर चढ़ाकर बैठे यह गुर्वादिकका अविनयरूप आसन है, इसलिये यह पहला 'अयोग्यासनदोष' है।

२. **चलासनदोष**—डगमगाते आसनसे बैठकर सामायिक करे, अथवा जहाँसे वारंवार उठना पडे ऐसे आसनपर बैठे यह 'चलासनदोष' है।

३. **चलदृष्टिदोष**—कायोत्सर्गमे आँखें चंचल रखे, यह 'चलदृष्टिदोष' है।

४. **सावद्यक्रियादोष**—सामायिकमे कोई पाप क्रिया या उसकी सज्ञा करे, यह 'सावद्यक्रियादोष' है।

५. **आलंबनदोष**—भीत आदिका सहारा लेकर बैठे, इससे वहाँ बैठे हुए जन्तु आदिका नाश हो और खुदको प्रमाद हो, यह 'आलंबनदोष' है।

६. **आकुंचनप्रसारणदोष**—हाथ-पैरको सिकोडे, लम्बा करे आदि, यह 'आकुचनप्रसारणदोष' है।

७. **आलसदोष**—अंगको मरोडे, उँगलियाँ चटकावे आदि, यह 'आलसदोष' है।

८. **मोटनदोष**—उँगली आदिको टेढी करे, उसे चटकावे यह 'मोटनदोष' है।

९. **मलदोष**—घिस-घिस कर सामायिकमे खुजाकर मैल उतारे, यह 'मलदोष' है।

१०. **विमासणदोष**—गलेमे हाथ डालकर बैठे इत्यादि, यह 'विमासणदाष' है।

११. **निद्रादोष**—सामायिकमे ऊँघ आना, यह 'निद्रादोष' है।

१२. **वस्त्रसंकोचनदोष**—सामायिकमे ठंड आदिकी भीतिसे वस्त्रसे शरीरको सिकोडे, यह 'वस्त्र-सकोचनदोष' है।

इन बत्तीस दूषणोसे रहित सामायिक करनी चाहिये और पाँच अतिचार टालने चाहिये।

शिक्षापाठ ३९ : सामायिकविचार—भाग ३

एकाग्रता और सावधानीके बिना इन बत्तीस दोषोमेसे कोई न कोई दोष लग ही जाते हैं। विज्ञान-वेत्ताओने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घड़ीका बाँधा है। यह व्रत सावधानीपूर्वक करनेसे परम शांति देता है। कितने ही लोगोका यह दो घड़ीका काल जब नही बीतता तब वे बहुत तंग आ जाते हैं। सामा-

यिकमें निठल्ले बैठनेसे काल बीते भी कहाँसे ? आधुनिक कालमे सावधानीसे सामायिक करनेवाले बहुत ही थोडे है। प्रतिक्रमण सामायिकके साथ करना होता है तब तो वक्त गुजरना सुगम पड़ता है। यद्यपि ऐसे पामर लक्षपूर्वक प्रतिक्रमण नही कर सकते, फिर भी केवल निठल्ले बैठनेकी अपेक्षा इसमे जरूर कुछ अन्तर पड़ता है। जिन्हे सामायिक भी पूरी नही आती वे बिचारे फिर सामायिकमे बहुत व्याकुल हो जाते हैं। बहुतसे बहुलकर्मी इस अवसरमे व्यवहारके प्रपच भी गढ़ रखते है। इससे सामायिक बहुत दूषित होती है।

विधिपूर्वक सामायिक न हो यह बहुत खेदकारक और कर्मकी बहुलता है। साठ घडीका अहोरात्र व्यर्थ चला जाता है। असख्यात दिनोसे भरपूर अनत कालचक्र व्यतीत करते हुए भी जो सार्थक नहीं हुआ उसे दो घडीकी विशुद्ध सामायिक सार्थक कर देती है। लक्षपूर्वक सामायिक होनेके लिये सामायिकमे प्रवेश करनेके बाद चार लोगस्ससे अधिक लोगस्सका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता लाना। फिर सूत्रपाठ या उत्तम ग्रन्थका मनन करना। वैराग्यके उत्तम काव्य बोलना। पिछले अध्ययन किये हुयेका स्मरण कर जाना। नूतन अभ्यास हो सके तो करना। किसीको शास्त्राधारसे बोध देना। इस तरह सामायिकका काल व्यतीत करना। [1]यदि मुनिराजका समागम हो तो आगमवाणी सुनना और उसका मनन करना, वैसा न हो और शास्त्रपरिचय न हो तो विचक्षण अभ्यासीसे वैराग्यबोधक कथन श्रवण करना, अथवा कुछ अभ्यास करना। यह सारा योग न हो तो कुछ समय लक्षपूर्वक कायोत्सर्गमे लगाना, और कुछ समय महापुरुषोकी चरित्रकथामे उपयोगपूर्वक लगाना। परन्तु जैसे बने वैसे विवेक और उत्साह से सामायिकका काल व्यतीत करना। कोई साधन न हो तो पचपरमेष्ठीमत्रका जप ही उत्साहपूर्वक करना। परन्तु कालको व्यर्थ नही जाने देना। धैर्यसे, शातिसे और यत्नासे सामायिक करना। जैसे बने वैसे सामायिकमे शास्त्रपरिचय बढाना।

साठ घडीके वक्तमेसे दो घडी अवश्य बचाकर सामायिक तो सद्भावसे करना।

शिक्षापाठ ४० : प्रतिक्रमण विचार

प्रतिक्रमण अर्थात् सामने जाना—स्मरण कर जाना—फिरसे देख जाना—ऐसा इसका अर्थ हो सकता है। '[1]जिस दिन जिस समय प्रतिक्रमण करनेके लिये बैठे उस समयसे पहले उस दिन जो-जो दोष हुए हैं उन्हे एकके बाद एक देख जाना और उनका पश्चात्ताप करना या दोषोका स्मरण कर जाना इत्यादि सामान्य अर्थ भी है।'

उत्तम मुनि और भाविक श्रावक सध्याकालमे और रात्रिके पिछले भागमे दिन और रात्रिमे यो अनुक्रमसे हुए दोषोका पश्चात्ताप या क्षमापना करते है, इसका नाम यहाँ प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण हमे भी अवश्य करना चाहिये, क्योंकि आत्मा मन, वचन और कायाके योगसे अनेक प्रकारके कर्म बाँधता है। प्रतिक्रमणसूत्रमे इसका दोहन किया हुआ है, जिससे दिन-रातमे हुए पापोंका पश्चात्ताप उसके द्वारा हो सकता है। शुद्ध भावसे पश्चात्ताप करनेसे लेश पाप होते हुए परलोकभय और अनुकपा प्रगट होते है, आत्मा कोमल होता है। त्याग करने योग्य वस्तुका विवेक आता जाता है। भगवानकी साक्षीसे, अज्ञान इत्यादि जिन-जिन दोषोका विस्मरण हुआ हो उनका पश्चात्ताप भी हो सकता है। इस प्रकार यह निर्जरा करनेका उत्तम साधन है।

---

१ द्वि० आ० पाठा०—'भावकी अपेक्षासे जिस दिन जिस समय प्रतिक्रमण करना हो, उस समयसे पहले अथवा उस दिन जो-जो दोष हुए हो उन्हे एकके बाद एक अंतरात्मभावसे देख जाना और उनका पश्चात्ताप करके दोषोंसे पीछे हटना, यह प्रतिक्रमण है।'

इसका 'आवश्यक' ऐसा भी नाम है। आवश्यक अर्थात् अवश्य करने योग्य, यह सत्य है। इससे आत्माकी मलिनता दूर होती है, इसलिये अवश्य करने योग्य ही है।

सायंकालमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसका नाम 'देवसिय पडिक्कमण' अर्थात् दिवससंबंधी पापका पश्चात्ताप, और रात्रिके पिछले भागमे जो प्रतिक्रमण किया जाता है, वह 'राइय पडिक्कमण' कहलाता है। 'देवसिय' और 'राइय' ये प्राकृत भाषाके शब्द हैं। पक्षमे किया जानेवाला प्रतिक्रमण पाक्षिक और संवत्सरमे किया जानेवाला प्रतिक्रमण सावत्सरिक कहलाता है। सत्पुरुषोने योजनासे बाँधा हुआ यह सुन्दर नियम है।

कितने ही सामान्य बुद्धिमान ऐसा कहते है कि दिन और रात्रिका सवेरे प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण किया हो तो कुछ हानि नही हैं, परंतु यह कहना प्रामाणिक नही है। रात्रिमे यदि अकस्मात् कोई कारण या मृत्यु हो जाये तो दिवससंबंधी भी रह जाये।

प्रतिक्रमणसूत्रकी योजना बहुत सुन्दर है। इसके मूल तत्त्व बहुत उत्तम है। जैसे बने वैसे प्रतिक्रमण धैर्यसे, समझमे आये ऐसी भाषासे, शांतिसे, मनकी एकाग्रतासे और यत्नापूर्वक करना चाहिये।

शिक्षापाठ ४१ : भिखारीका खेद—भाग १

एक पामर भिखारी जंगलमें भटकता था। वहाँ उसे भूख लगी इसलिये वह बिचारा लडखडाता हुआ एक नगरमे एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारकी आजिजी की, उसकी गिड़गिडाहटसे करुणार्द्र होकर उस गृहस्थकी स्त्रीने उसे घरमेसे जीमनेसे बचा हुआ मिष्टान्न भोजन लाकर दिया। भोजन मिलनेसे भिखारी बहुत आनंदित होता हुआ नगरके बाहर आया, आकर एक वृक्षके नीचे बैठा, वहाँ जरा सफाई करके उसने एक ओर अपना बहुत पुराना पानीका घड़ा रख दिया। एक ओर अपनी फटी-पुरानी मलिन गुदड़ी रखी और एक ओर वह स्वयं उस भोजनको लेकर बैठा। बहुत खुश होते हुए उसने वह भोजन खाकर पूरा किया। फिर सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे जरासी देरमे उसकी आँख लग गयी। वह निद्रावश हुआ कि इतनेमे उसे एक स्वप्न आया। वह स्वयं मानो महा राजऋद्धिको प्राप्त हुआ है; उसने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये है, सारे देशमे उसकी विजयका डंका बज गया है, समीपमे उसकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अनुचर खड़े है, आसपास छड़ीदार खमा-खमा पुकार रहे है, एक रमणीय महलमे सुन्दर पलगपर उसने शयन किया है, देवागना जैसी स्त्रियाँ उसकी पाँवचप्पी कर रही है, एक ओरसे पखेसे मंद-मंद पवन दिया जा रहा है, ऐसे स्वप्नमे उसका आत्मा तन्मय हो गया। उस स्वप्नका भोग करते हुए उसके रोम उल्लसित हो गये। इतनेमे मेघ महाराज चढ आये, बिजली कौंधने लगी, सूर्यदेव बादलोंसे ढक गया, सर्वत्र अंधकार छा गया, मूसलधार वर्षा होगी ऐसा मालूम हुआ और इतनेमे घनगर्जनाके साथ बिजलीका एक प्रबल कडाका हुआ। कड़ाकेकी आवाजसे भयभीत होकर वह बिचारा पामर भिखारी जाग उठा।

शिक्षापाठ ४२ : भिखारीका खेद—भाग २

देखता है तो जिस जगह पानीका टूटा-फूटा घडा पडा था उसी जगह वह घडा पडा है; जहाँ फटी-पुरानी गुदडी पडी थी वही वह पड़ी है। उसने जैसे मलिन और जाली झरोखेवाले कपड़े पहन रखे थे वैसे के वैसे वे वस्त्र शरीरपर विराजते हैं। न तिलभर बढा कि न जौभर घटा। न हैं वह देश कि न है वह नगरी, न है वह महल कि न है वह पलंग, न हैं वे चमरछत्रधारी कि न हैं वे छड़ीदार, न हैं वे स्त्रियाँ

कि न है वे वस्त्रालंकार, न है वह पखा कि न है वह पवन, न है वे अनुचर कि न है वह आज्ञा, न है वह सुख-विलास कि न है वह मदोन्मत्तता। महाशय तो स्वय जैसे थे वैसेके वैसे दिखायी दिये। इससे उस देखावको देखकर वह खेदको प्राप्त हुआ। स्वप्नमे मैने मिथ्या आडबर देखा, उससे आनद माना, उसमेंसे तो यहाँ कुछ भी नही है। मैने स्वप्नके भोग तो भोगे नही, और उसका परिणाम जो खेद है उसे मैं भोग रहा हूँ, इस प्रकार वह पामर जीव पश्चात्तापमे पड़ गया।

अहो भव्यो! भिखारीके स्वप्नकी भाँति संसारके सुख अनित्य हैं। जिस प्रकार स्वप्नमे उस भिखारीने सुखसमुदायको देखा और आनंद माना, उसी प्रकार पामर प्राणी संसारस्वप्नके सुखसमुदायमें आनंद मानते है। जैसे वह सुखसमुदाय जागृतिमे मिथ्या मालूम हुआ वैसे ही ज्ञान प्राप्त होने पर ससारके सुख वैसे मालूम होते है। स्वप्नके भोग न भोगनेपर भी जैसे भिखारीको खेदकी प्राप्ति हुई, वैसे ही मोहाध प्राणी ससारमे सुख मान बैठते है, और उन्हे भोगे हुओके समान मानते है, परतु परिणाममे खेद, दुर्गति और पश्चात्ताप पाते है। वे चपल और विनाशी होनेपर भी उनका परिणाम स्वप्नके खेद जैसा रहा है। इसलिये बुद्धिमान पुरुष आत्महितको खोजते है। ससारकी अनित्यतापर एक काव्य है कि—

(उपजाति)

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जळना तरंग;
पुरदरी चाप अनंगरंग, शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग?

विशेषार्थ—लक्ष्मी बिजली जैसी है। जैसे बिजलीकी चमक उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है, वैसे लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतगके रग जैसा है। पतगका रंग जैसे चार दिनकी चाँदनी है, वैसे अधिकार मात्र थोडा समय रहकर हाथमेसे चला जाता है। आयु पानीकी लहर जैसी है। जैसे पानीकी हिलोर आयी कि गयी वैसे जन्म पाया, और एक देहमे रहा या न रहा कि इतनेमे दूसरी देहमे जाना पड़ता है। कामभोग आकाशमे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रधनुष जैसे है। जैसे इद्रधनुष वर्षाकालमे उत्पन्न होकर क्षण-भरमे विलीन हो जाता है, वैसे यौवनमे कामके विकार फलीभूत होकर जरावयमे चले जाते है। संक्षेपमे हे जीव! इन सारी वस्तुओका सबध क्षणभरका है। इसमे प्रेमबधनकी सांकलसे बँधकर क्या प्रसन्न होना? तात्पर्य यह कि ये सब चपल और विनाशी हैं, तू अखंड और अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर! यह बोध यथार्थ है।

शिक्षापाठ ४३ : अनुपम क्षमा

क्षमा अतर्शत्रुको जीतनेका खड्ग है। पवित्र आचारकी रक्षा करनेका बख्तर है। शुद्धभावसे असह्य दुःखमे समपरिणामसे क्षमा रखनेवाला मनुष्य भवसागरको तर जाता है।

कृष्ण वासुदेवके गजसुकुमार नामके छोटे भाई महा सुरूपवान एव सुकुमार मात्र बारह वर्षकी आयुमे भगवान नेमिनाथके पास ससारत्यागी होकर स्मशानमे उग्र ध्यानमे स्थित थे; तब वे एक अद्भुत क्षमामय चरित्रसे महा सिद्धिको पा गये, उसे मै यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामके ब्राह्मणकी सुरूपवर्णसंपन्न पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगाई हुई थी। परतु विवाह होनेसे पहले गजसुकुमार तो संसार त्यागकर चले गये। इसलिये अपनी पुत्रीके सुखनाशके द्वेषसे उस सोमल ब्राह्मणको भयकर क्रोध व्याप्त हो गया। गजसुकुमारकी खोज करता करता वह उस स्मशानमे आ पहुँचा जहाँ महा मुनि गजसुकुमार एकाग्र विशुद्ध भावसे कायोत्सर्गमे थे। उसने कोमल गजसुकुमारके माथेपर चिकनी मिट्टीकी बाड़ बनाई और उसके अदर धधकते हुए अंगारे भरे और ईंधन भरा जिससे महा ताप उत्पन्न हुआ। इससे गजसुकुमारकी कोमल देह जलने लगी, तब सोमल वहाँसे

जाता रहा। उस समय गजसुकुमारके असह्य दुःखके बारेमे भला क्या कहा जाये ? परंतु तब वे समभाव परिणाममें रहे। किंचित् क्रोध या द्वेष उनके हृदयमे उत्पन्न नही हुआ। अपने आत्माको स्वरूपस्थित करके बोध दिया, "देख! यदि तूने इसकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह कन्यादानमे तुझे पगड़ी देता। वह पगडी थोडे समयमे फट जाने वाली तथा परिणाममे दुःखदायक होती। यह इसका बड़ा उपकार हुआ कि उस पगडीके बदले इसने मोक्षकी पगडी बँधवायी।" ऐसे विशुद्ध परिणामोसे अडिग रहकर समभावसे उस असह्य वेदनाको सहकर, सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर वे अनत जीवनसुखको प्राप्त हुए। कैसी अनुपम क्षमा और कैसा उसका सुन्दर परिणाम! तत्त्वज्ञानियोके वचन है कि आत्मा मात्र स्वसद्भावमे आना चाहिये, और वह उसमे आया तो मोक्ष हथेलीमे ही है। गजसुकुमारकी प्रसिद्ध क्षमा कैसा विशुद्ध बोध देती है!

शिक्षापाठ ४४ : राग

श्रमण भगवान महावीरके अग्रेसर गणधर गौतमका नाम तुमने बहुत बार पढा है। गौतमस्वामीके प्रबोधित कितने ही शिष्य केवलज्ञानको प्राप्त हुए, फिर भी गौतम स्वय केवलज्ञानको पाते न थे, क्योंकि भगवान महावीरके अगोपाग, वर्ण, वाणी, रूप इत्यादि पर अभी गौतमको मोहनी थी। निर्ग्रन्थ प्रवचन-का निष्पक्ष न्याय ऐसा है कि किसी भी वस्तुका राग दुःखदायक है। राग ही मोहिनी और मोहिनी ही ससार है। गौतमके हृदयसे यह राग जब तक दूर नही हुआ तब तक वे केवलज्ञानको प्राप्त नही हुए। फिर श्रमण भगवान ज्ञातपुत्र जब अनुपमेय सिद्धिको प्राप्त हुए, तब गौतम नगरमेसे आ रहे थे। भगवानके निर्वाणके समाचार सुनकर उन्हे खेद हुआ। वे विरहसे अनुरागपूर्ण वचन बोले, "हे महावीर! आपने मुझे साथ तो न लिया, परन्तु याद भी न किया। मेरी प्रीतिकी ओर आपने दृष्टि भी नही की! ऐसा आपको छाजता न था।" ऐसे विचार करते-करते उनका लक्ष्य बदला और वे नीरागश्रेणि पर आरूढ हुए। "मै बहुत मूर्खता करता हूँ। ये वीतराग निर्विकारी और नीरागी भला मुझमे कैसे मोहिनी रखे ? इनकी शत्रु और मित्र पर सर्वथा समानदृष्टि थी। मैं इन नीरागीका मिथ्या मोह रखता हूँ। मोह संसारका प्रबल कारण है।" इस प्रकार विचार करते-करते वे शोक छोडकर नीरागी हुए। तब उन्हे अनंतज्ञान प्रकाशित हुआ और अन्तमे वे निर्वाण पधारे।

गौतम मुनिका राग हमे बहुत सूक्ष्म बोध देता है। भगवान पर का मोह गौतम जैसे गणधरको दुःखदायक हुआ, तो फिर ससारका और वह भी पामर आत्माओका मोह कैसा अनन्त दुःख देता होगा! संसाररूपी गाडीके रागद्वेषरूप दो बैल हैं। यदि ये न हो तो संसारका रोध है। जहाँ राग नही है वहाँ द्वेष नही है; यह मान्य सिद्धान्त है। राग तीव्र कर्मबंधका कारण है, इसके क्षय से आत्मसिद्धि है।

शिक्षापाठ ४५ सामान्य मनोरथ

(सवैया)

***मोहिनीभाव विचार अधीन थई, ना नीरखु नयने परनारी;**
पथ्थरतुल्य गणु परवैभव, निर्मळ तात्त्विक लोभ समारी!
द्वादश व्रत अने दीनता धरी, सात्त्विक थाउं स्वरूप विचारी;
ए मुज नेम सदा शुभ क्षेमक, नित्य अखंड रहो भवहारी ॥१॥

---

*भावार्थ—मोहिनीभावके विचारोके अधीन होकर नयनोसे परनारीको नही देखूँ, लोभको निर्मल एव तात्त्विक बनाकर परवैभवको पत्थरतुल्य समझूँ। द्वादश व्रत और दीनता धारण कर स्वरूपका विचार करके सात्त्विक बनूँ। यह मेरा सदा शुभ क्षेमकारी और भवहारी नियम नित्य अखड रहे ॥१॥

ते त्रिशलातनये मन चिंतवी, ज्ञान, विवेक, विचार वधारुं ;
नित्य विशोध करी नव तत्त्वनो, उत्तम बोध अनेक उच्चारुं ।
संशयबीज ऊगे नहीं अन्दर, जे जिननां कथनो अवधारुं ,
राज्य, सदा मुज ए ज मनोरथ, धार, थशे अपवर्ग उतारु ॥२॥

शिक्षापाठ ४६ कपिलमुनि—भाग १

कौशाम्बी नामकी एक नगरी थी। वहाँके राजदरबारमे राज्यका आभूषणरूप काश्यप नामका एक शास्त्री रहता था। उसकी स्त्रीका नाम श्रीदेवी था। उसके पेटसे कपिल नामका एक पुत्र जन्मा था। जब वह पद्रह वर्षका हुआ तब उसके पिताका स्वर्गवास हो गया। कपिल लाड़प्यारमे पला होनेसे विशेष विद्वत्ताको प्राप्त नही हुआ था, इसलिये उसके पिताका स्थान किसी दूसरे विद्वानको मिला। काश्यप शास्त्री जो पूंजी कमाकर गये थे, उसे कमानेमे अशक्त कपिलने खाकर पूरी कर दी। एक दिन श्रीदेवी घरके दरवाजेमे खड़ी थी कि इतनेमे दो-चार नौकरो सहित अपने पतिकी शास्त्रीय पदवीको प्राप्त विद्वान जाता हुआ उसके देखनेमे आया। बहुत मानसे जाते हुए उस शास्त्रीको देखकर श्रीदेवीको अपनी पूर्वस्थितिका स्मरण हो आया। "जब मेरे पति इस पदवीपर थे तब मैं कैसा सुख भोगती थी! यह मेरा सुख तो गया, परन्तु मेरा पुत्र भी पूरा पढा ही नही।" इस प्रकार विचारमे डोलते-डोलते उसकी आँखोमेसे टपाटप आँसू गिरने लगे। इतनेमे घूमता-घूमता कपिल वहाँ आ पहुँचा। श्रीदेवीको रोती हुई देखकर उसका कारण पूछा। कपिलके बहुत आग्रहसे श्रीदेवीने जो था वह कह बताया। फिर कपिल बोला, "देख माँ! मै बुद्धिशाली हूँ, परन्तु मेरी बुद्धिका उपयोग जैसा चाहिये वैसा नही हो सका। इसलिये विद्याके बिना मैने यह पदवी प्राप्त नहीं की। तू जहाँ कहे वहाँ जाकर अब मै यथाशक्ति विद्या सिद्ध करूँ।" श्रीदेवीने खेदपूर्वक कहा, "यह तुझसे नही हो सकेगा, नहीं तो आर्यावर्तकी सीमापर स्थित श्रावस्ती नगरीमे इन्द्रदत्त नामका तेरे पिताका मित्र रहता है, वह अनेक विद्यार्थियोंको विद्यादान देता है; यदि तू वहाँ जा सके तो अभीष्ट सिद्धि अवश्य होगी।" एक दो दिन रुक कर सज्ज होकर 'अस्तु' कह कर कपिलजीने रास्ता पकडा।

अवधि बीतनेपर कपिल श्रावस्तीमे शास्त्रीजीके घर आ पहुँचा। प्रणाम करके अपना इतिहास कह सुनाया। शास्त्रीजीने मित्रपुत्रको विद्यादान देनेके लिये बहुत आनन्द प्रदर्शित किया। परन्तु कपिलके पास कोई पूंजी न थी कि उसमेसे वह खाये और अभ्यास कर सके, इसलिये उसे नगरमे भिक्षा माँगनेके लिये जाना पडता था। माँगते-माँगते दोपहर हो जाती थी, फिर रसोई बनाता और खाता कि इतनेमे संध्याका थोडा समय रहता था, इसलिये वह कुछ भी अभ्यास नही कर सकता था। पण्डितजीने उसका कारण पूछा तो कपिलने सब कह सुनाया। पण्डितजी उसे एक गृहस्थके पास ले गये और उस गृहस्थने कपिलपर अनुकंपा करके एक विधवा ब्राह्मणीके घर ऐसी व्यवस्था कर दी कि उसे हमेशा भोजन मिलता रहे, जिससे कपिलकी यह एक चिंता कम हुई।

शिक्षापाठ ४७ कपिलमुनि—भाग २

यह छोटी चिन्ता कम हुई, वहाँ दूसरी बड़ी झझट खडी हुई। भद्रिक कपिल अब जवान हो गया था, और जिसके यहाँ वह खाने जाता था वह विधवा स्त्री भी जवान थी। उसके साथ उसके घरमे

उन त्रिशलातनयका मनमें चिन्तन करके ज्ञान, विवेक और विचारको बढाऊँ, नित्य नव तत्त्वोका विशोधन करके अनेक प्रकारके उत्तम बोधवचन मुखसे कहूँ। जिनभगवानके जो कथन है उनका अवधारण करूँ ताकि मनमें संशयबीजका उदय न हो। राजचन्द्र कहते है कि मेरा सदा यही मनोरथ है, इसे धारण कर मोक्षपथिक बनूँ ॥२॥

दूसरा कोई आदमी नही था। दिन प्रतिदिन पारस्परिक बातचीतका संबध बढ़ा, बढकर हास्य-विनोद-रूपमे परिणत हुआ, यो होते होते दोनो प्रेमपाशमे बँध गये। कपिल उससे लुभाया! एकात बहुत अनिष्ट वस्तु है!!

वह विद्या प्राप्त करना भूल गया। गृहस्थकी ओरसे मिलने वाले सीधेसे दोनोका मुश्किलसे निर्वाह होता था, परन्तु कपडे लत्तेकी तकलीफ हुई। कपिलने गृहस्थाश्रम बसा लेने जैसा कर डाला। चाहे जैसा होनेपर भी लघुकर्मी जीव हानेसे उसे ससारके प्रपचकी विशेष जानकारी भी नही थी। इसलिये वह बेचारा यह जानता भी न था कि पैसा कैसे पैदा करना। चंचल स्त्रीने उसे रास्ता बताया कि व्याकुल होनेसे कुछ नही होगा, परतु उपायसे सिद्धि है। इस गाँवके राजाका ऐसा नियम है कि सबेरे पहले जा कर जो ब्राह्मण आशीर्वाद दे उसे वह दो माशा सोना देता है। वहाँ यदि जा सको और प्रथम आशीर्वाद दे सको तो वह दो माशा सोना मिले। कपिलने यह बात मान ली। आठ दिन तक धक्के खाये परन्तु समय बीत जानेके बाद पहुँचनेसे कुछ हाथ नही आता था। इसलिये उसने एक दिन निश्चय किया कि यदि मै चौकमे सोऊँ तो सावधानी रखकर उठा जायगा। फिर वह चोकमे सोया। आधी रात बीतनेपर चद्रका उदय हुआ। कपिल प्रभात समीप समझकर मुट्ठियाँ बाँधकर आशीर्वाद देनेके लिये दौड़ते हुए जाने लगा। रक्षपालने उसे चोर जानकर पकड लिया। लेनेके देने पड गये। प्रभात होने पर रक्षपालने उसे ले जाकर राजाके समक्ष खडा किया। कपिल बेसुध-सा खडा रहा, राजाको उसमे चोरके लक्षण दिखाई नही दिये। इसलिये उससे सारा वृत्तान्त पूछा। चद्रके प्रकाशको सूर्यके समान माननेवालेकी भद्रिकतापर राजाको दया आयी। उसकी दरिद्रता दूर करनेकी राजाकी इच्छा हुई, इसलिये कपिलसे कहा, "आशीर्वाद देनेके लिये यदि तुझे इतनी झंझट खडी हो गई है तो अब तू यथेष्ट माँग ले, मै तुझे दूँगा।" कपिल थोडी देर मूढ जैसा रहा। इससे राजाने कहा, "क्यों विप्र! कुछ माँगते नही हो?" कपिलने उत्तर दिया, "मेरा मन अभी स्थिर नही हुआ है, इसलिये क्या माँगूँ यह नही सूझता।" राजाने सामनेके बागमे जाकर वहाँ बैठकर स्वस्थतापूर्वक विचार करके कपिलको माँगनेके लिये कहा। इसलिये कपिल उस बागमे जाकर विचार करने बैठा।

शिक्षापाठ ४८ : कपिलमुनि—भाग ३

दो माशा सोना लेनेकी जिसकी इच्छा थी, वह कपिल अब तृष्णातरंगमे बहने लगा। पाँच मुहरें माँगनेकी इच्छा की, तो वहाँ विचार आया कि पाँचसे कुछ पूरा होनेवाला नही है। इसलिये पच्चीस मुहरें माँगूँ। यह विचार भी बदला। पच्चीस मुहरोसे कही सारा वर्ष नही निकलेगा, इसलिये सौ मुहरें माँग लूँ। वहाँ फिर विचार बदला। सौ मुहरोंमे दो वर्ष कट जायेगे, वैभव भोगकर फिर दुःखका दुःख, इसलिये एक हजार मुहरोकी याचना करना ठीक है; परन्तु एक हजार मुहरोसे, बाल-बच्चोके दो चार खर्च आ जायें, या ऐसा कुछ हो तो पूरा भी क्या हो? इसलिये दस हजार मुहरें माँग लूँ कि जिससे जीवन-पर्यंत भी चिन्ता न रहे। वहाँ फिर इच्छा बदली। दस हजार मुहरें खत्म हो जायेगी तो फिर पूँजीहीन होकर रहना पडेगा। इसलिये एक लाख मुहरोंकी मांग करूँ कि जिसके ब्याजमे सारा वैभव भोगूँ; परन्तु जीव! लक्षाधिपति तो बहुतसे हैं, इनमे मैं नामांकित कहाँसे हो पाऊँगा? इसलिये करोड़ मुहरें माँग लूँ कि जिससे मैं महान श्रीमान कहा जाऊं। फिर रग बदला। महती श्रीमत्तासे भी घरमे सत्ता नही कहलायेगी, इसलिये राजाका आधा राज्य माँगूँ। परन्तु यदि आधा राज्य माँगूँगा तो भी राजा मेरे तुल्य गिना जायेगा, और फिर मै उसका याचक भी माना जाऊँगा। इसलिये माँगूँ तो पूरा राज्य ही माँग लूँ। इस तरह वह तृष्णामे डूबा, परन्तु वह था तुच्छ संसारी, इसलिये फिरसे पीछे लौटा। भले जीव! मुझे ऐसी कृतघ्नता किसलिये करनी पड़े कि जो मुझे इच्छानुसार देनेको तत्पर हुआ उसीका राज्य ले लेना और

उसीको भ्रष्ट करना ? यथार्थ दृष्टिसे तो इसमे मेरी ही भ्रष्टता है। इसलिये आधा राज्य माँगना, परन्तु यह उपाधि भी मुझे नही चाहिये। तब पैसेकी उपाधि भी कहाँ कम है ? इसलिये करोड लाख छोडकर सौ दो सौ मुहरें ही माँग लूं। जीव ! सौ दो सौ मुहरें अभी मिलेगी तो फिर विषय-वैभवमे वक्त चला जायेगा, और विद्याभ्यास भी धरा रहेगा, इसलिये अभी तो पाँच मुहरें ही ले जाऊँ, पीछेकी बात पीछे। अरे ! पाँच मुहरोकी भी अभी कुछ जरूरत नही है; मात्र दो मासा सोना लेने आया था वही माँग लूँ। जीव ! यह तो हद हो गई। तृष्णासमुद्रमे तूने बहुत गोते खाये। सम्पूर्ण राज्य माँगते हुए भी जो तृष्णा नही बुझती थी, मात्र संतोष एवं विवेकसे उसे घटाया तो घट गई। यह राजा यदि चक्रवर्ती होता तो फिर मैं इससे विशेष क्या माँग सकता था ? और जब तक विशेष न मिलता तब तक मेरी तृष्णा शात भी न होती, जब तक तृष्णा शात न होती तब तक मै सुखी भी न होता। इतनेसे भी मेरी तृष्णा दूर न हो तो फिर दो माशेसे कहाँसे दूर होगी ? उसका आत्मा सुलटे भावमे आया और वह बोला, "अब मुझे दो माशे सोनेका भी कुछ काम नही, दो माशेसे बढकर मै किस हद तक पहुँचा ! सुख तो संतोषमे ही है। यह तृष्णा ससारवृक्षका बीज है। इसकी हे जीव ! तुझे क्या आवश्यकता है ? विद्या ग्रहण करते हुए तू विषयमे पड गया, विषयमे पडनेसे इस उपाधिमे पडा, उपाधिके कारण तू अनत तृष्णासमुद्रकी तरंगोंमें पडा। इस प्रकार एक उपाधिसे इस ससारमे अनत उपाधियाँ सहनी पड़ती है। इसलिये इसका त्याग करना उचित है। सत्य संतोष जैसा निरुपाधि सुख एक भी नही है।" यो विचार करते करते तृष्णाको शान्त करनेमे उस कपिलके अनेक आवरण क्षय हो गये। उसका अन्तःकरण प्रफुल्लित और बहुत विवेकशील हो गया। विवेक ही विवेकमे उत्तम ज्ञानमे वह स्वात्माका विचार कर सका। अपूर्व श्रेणिपर चढकर वह केवलज्ञानको प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है।

तृष्णा कैसी कनिष्ठ वस्तु है ! ज्ञानी ऐसा कहते है कि तृष्णा आकाश जैसी अनंत है। निरंतर वह नवयौवना रहती है। कुछ चाह जितना मिला कि वह चाहको बढा देती है। संतोष ही कल्पवृक्ष है; और यही मात्र मनोवाछाको पूर्ण करता है।

शिक्षापाठ ४९ : तृष्णाकी विचित्रता

मनहर छद

(एक गरीबकी बढती हुई तृष्णा)

*हती दीनताई त्यारे ताकी पटेलाई अने,
मळी पटेलाई त्यारे ताकी छे शेठाईने;
सांपडी शेठाई त्यारे ताकी मंत्रिताई अने,
आवी मंत्रिताई त्यारे ताकी नृपताईने;
मळी नृपताई त्यारे ताकी देवताई अने,
दीठी देवताई त्यारे ताकी शंकराईने;
अहो ! राजचंद्र मानो मानो शंकराई मळी,
वधे तृषनाई तोय जाय न मराईने ॥१॥

---

*भावार्थ—जब गरीब था तब मुखिया होनेकी इच्छा हुई, जब मुखिया हो गया तब नगरसेठ होनेकी इच्छा हुई, जब नगरसेठ हुआ तब मन्त्री होनेकी इच्छा हुई, जब मन्त्री हुआ तब राजा होनेकी इच्छा हुई, जब राजा हुआ तब देव होनेकी इच्छा हुई, जब देव हुआ तब शकर —महादेव होनेकी इच्छा हुई। राजचंद्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि यदि वह शंकर हो जाये तो भी उसकी तृष्णा बढ़ती ही रहे, मरे नही ॥१॥

करोचली पड़ी दाढी डाचां तणो दाट वळ्यो,
काळी केशपटी विषे श्वेतता छवाई गई;
सूंघवुं, सांभळवुं, ने देखवुं ते मांडी वाळ्युं,
तेम दांत आवली ते, खरी के खवाई गई।
वळी केड वांकी, हाड गयां, अंगरंग गयो,
ऊठवानी आय जतां लाकडी लेवाई गई;
अरे! राजचंद्र एम, युवानी हराई पण,
मनथी न तोय रांड ममता मराई गई ॥२॥

करोडोना करजना शिर पर डंका वागे,
रोगथी रूंधाई गयुं, शरीर सुकाईने;
पुरपति पण माथे, पीडवाने ताकी रह्यो,
पेट तणी वेठ पण, शके न पुराईने।
पितृ अने परणी ते, मचावे अनेक धंध,
पुत्र, पुत्री भाखे खाउं खाउं दुःखदाईने;
अरे! राजचंद्र तोय जीव झावा दावा करे,
जंजाळ छंडाय नहीं, तजी तृषनाईने ॥३॥

थई क्षीण नाडी अवाचक जेवो रह्यो पडी,
जीवन दीपक पाम्यो केवळ झंखाईने;
छेल्ली ईसे पड्यो भाळी भाईए त्यां एम भाख्युं;
हवे टाढी माटी थाय तो तो ठीक भाईने।
हाथने हलावी त्यां तो खीजी बुड्ढे सूचव्युं ए,
बोल्या विना बेस बाळ तारी चतुराईने!
अरे! राजचंद्र देखो देखो आशापाश केवो?
जतां गई नहीं डोशे ममता मराईने ॥४॥

मुँहपर झुर्रियाँ पड गई, गाल पिचक गये, काली केशपट्टियाँ सफेद हो गई, सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्ति जाती रही, दाँत गिर गये या सड गये, कमर टेढी हो गई, हड्डियाँ कमजोर हो गई, शरीरकी शोभा जाती रही, उठने-बैठनेकी शक्ति जाती रही, और चलने-फिरनेमें लकडी लेनी पडी। राजचन्द्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि इस तरह जवानी तो चली गई, परन्तु फिर भी मनसे यह राड ममता नही मरी ॥२॥

करोडोके कर्जका सिरपर डका बज रहा है शरीर सूखकर रोगोका घर हो गया है, राजा भी पीडा देनेके लिये मौका ताक रहा है और पेट भी पूरी तरहसे भरा नही जा सकता, माता-पिता और स्त्री अनेक उपद्रव मचाते हैं, पुत्र-पुत्री दु खदायीको खानेको दौडते हैं। राजचन्द्र कहते है कि यह आश्चर्य है कि तो भी यह जीव मिथ्या प्रयत्न करता रहता है परन्तु इससे तृष्णाको छोडकर जजाल नही छोडा जाता ॥३॥

नाडी क्षीण हो गई है, अवाचककी भाति पडा हुआ है, जीवनका दीया बुझनेको है, इस अन्तिम अवस्थामे पडा देखकर भाईने यों कहा कि अब मिट्टी ठडी हो जाय तो ठीक है। इतनेमे उस बुड्ढेने खीजकर हाथको हिलाकर ईशारेसे कहा--"अरे मूर्ख! चुप रह, अपनी चतुराईको चूल्हेमें डाल।" राजचन्द्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि देखिये, देखिये आशापाश कैसा है! मरते-मरते भी बुड्ढेकी ममता नही मरी ॥४॥

शिक्षापाठ ५० : प्रमाद

धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य और कषाय ये सब प्रमादके लक्षण हैं।

भगवानने उत्तराध्ययनसूत्रमे गौतमसे कहा—"हे गौतम ! मनुष्यकी आयु कुशकी अनीपर पड़े हुए जलके बिन्दु जैसी है। जैसे उस बिंदुके गिरनेमे देर नही लगती, वैसे इस मनुष्यकी आयुके बीत जानेमे देर नहीं लगती।" इस बोधके काव्यमे चौथी पक्ति स्मरणमें अवश्य रखने योग्य है। **'समयं गोयम मा पमायए !'** इस पवित्र वाक्यके दो अर्थ होते है। एक तो यह कि हे गौतम ! समय अर्थात् अवसर पाकर प्रमाद नहीं करना, और दूसरा यह कि निमिषोन्मेपमे बीतते हुए कालका असंख्यातवाँ भाग जो समय कहलाता है उतने वक्तका भी प्रमाद नही करना। क्योंकि देह क्षणभंगुर है। कालशिकारी सिरपर धनुषबाण चढाकर खडा है। उसने शिकारको लिया अथवा लेगा यह दुविधा हो रही है, वहाँ प्रमादसे धर्मकर्तव्यका करना रह जायेगा।

अति विचक्षण पुरुष ससारकी सर्वोपाधिका त्याग करके अहोरात्र धर्ममे सावधान होते हैं; पलका भी प्रमाद नही करते। विचक्षण पुरुष अहोरात्रके थोडे भागको भी निरन्तर धर्मकर्तव्यमे बिताते हैं, और अवसर अवसरपर धर्मकर्तव्य करते रहते है। परन्तु मूढ पुरुष निद्रा, आहार, मौज-शौक और विकथा एव रागरंगमे आयु व्यतीत कर डालते है। इसके परिणाममे वे अधोगतिको प्राप्त करते हैं।

यथासम्भव यत्ना और उपयोगसे धर्मको सिद्ध करना योग्य है। साठ घड़ीके अहोरात्रमे बीस घडी तो हम निद्रामे बिता देते हैं। बाकीकी चालीस घड़ी उपाधि, गपशप और बेकार घूमने-फिरनेमे गुजार देते है। इसकी अपेक्षा साठ घडीके समयमेसे दो चार घड़ी विशुद्ध धर्मकर्तव्यके लिये उपयोगमें लें तो यह आसानीसे हो सकता है। इसका परिणाम भी कैसा सुन्दर हो ?

पल एक अमूल्य वस्तु है। चक्रवर्ती भी यदि एक पल पानेके लिये अपनी सारी ऋद्धि दे दे तो भी वह उसे पा नही सकता। एक पल व्यर्थ खोनेसे एक भव हार जाने जैसा है, यह तात्त्विक दृष्टिसे सिद्ध है !

शिक्षापाठ ५१ : विवेक किसे कहते है ?

लघु शिष्य—भगवन् ! आप हमे स्थान-स्थानपर कहते आये है कि विवेक महान श्रेयस्कर है। विवेक अन्धकारमे पडे हुए आत्माको पहचाननेका दीपक है। विवेकसे धर्म टिकता है। जहाँ विवेक नही वहाँ धर्म नही, तो विवेक किसे कहते हे ? यह हमे कहिये।

गुरु—आयुष्मानो ! सत्यासत्यको अपने-अपने स्वरूपसे समझना, इसका नाम विवेक है।

लघु शिष्य—सत्यको सत्य और असत्यको असत्य कहना तो सभी समझते हैं। तब महाराज ! वे धर्मके मूलको पा गये ऐसा कहा जा सकता है ?

गुरु—तुम जो बात कहते हो उसका एक दृष्टांत भी तो दो।

लघु शिष्य—हम स्वय कड़वेको कडवा ही कहते है, मधुरको मधुर कहते है, जहरको जहर और अमृतको अमृत कहते हैं।

गुरु—आयुष्मानो ! ये सब द्रव्य पदार्थ हैं। परन्तु आत्माको कौनसी कटुता और कौनसी मधुरता, कौनसा विष और कौनसा अमृत है इन भावपदार्थोंकी इससे क्या परीक्षा हो सकती है ?

लघु शिष्य—भगवन् ! इस ओर तो हमारा लक्ष्य भी नही है।

गुरु—तब यही समझना है कि ज्ञानदर्शनरूप आत्माके सत्य भावपदार्थको अज्ञान और अदर्शनरूप असत् वस्तुने घेर लिया है। इसमें इतनी अधिक मिश्रता हो गई है कि परीक्षा करना अति अति दुष्कर है। आत्माने संसारके सुख अनन्त बार भोगे फिर भी उसमेसे अभी तक मोह दूर नही हुआ और उसे अमृत जैसा माना यह अविवेक है; क्योंकि संसार कड़वा है, कड़वे विपाकको देता है। इसी प्रकार

वैराग्य जो इस कडवे विपाककी औषध है, उसे कडवा माना; यह भी अविवेक है । ज्ञान, दर्शन आदि गुणोंको अज्ञान और अदर्शनने घेरकर जो मिश्रता कर डाली है उसे पहचान कर भाव अमृतमे आना, इसका नाम विवेक है । अब कहो कि विवेक कैसी वस्तु ठहरी ?

लघु शिष्य--अहो ! विवेक ही धर्मका मूल और धर्मरक्षक कहलाता है, यह सत्य है। आत्म-स्वरूपको विवेकके बिना पहचाना नही जा सकता, यह भी सत्य है ! ज्ञान, शील, धर्म, तत्त्व और तप ये सब विवेकके बिना उदयको प्राप्त नही होते, यह आपका कहना यथार्थ है । जो विवेकी नही है वह अज्ञानी और मन्द है । वही पुरुष मतभेद और मिथ्यादर्शनमे लिपटा रहता है । आपकी विवेकसम्बन्धी शिक्षाका हम निरन्तर मनन करेंगे ।

शिक्षापाठ ५२ : ज्ञानियोंने वैराग्यका बोध क्यों दिया ?

संसारके स्वरूपके सम्बन्धमे पहले कुछ कहा गया है वह तुम्हारे ध्यानमे होगा ।

ज्ञानियोंने इसे अनन्त खेदमय, अनन्त दुःखमय, अव्यवस्थित, चलविचल और अनित्य कहा है। ये विशेषण लगानेसे पहले उन्होने संसारसम्बन्धी सम्पूर्ण विचार किया है, ऐसा मालूम होता है । अनन्त भवोका पर्यटन, अनन्त कालका अज्ञान, अनन्त जीवनका व्याघात, अनन्त मरण और अनन्त शोकसे आत्मा संसारचक्रमे भ्रमण किया करता है । ससारकी दीखती हुई इन्द्रवारुणी जैसी सुन्दर मोहिनीने आत्माको सम्पूर्ण लीन कर डाला है । इस जैसा सुख आत्माको कही भी भासित नही होता । मोहिनीसे सत्य सुख और उसके स्वरूपको देखनेकी इसने आकाक्षा भी नही की है। पतंगकी जैसे दीपकके प्रति मोहिनी है वैसे आत्माकी संसारके प्रति मोहिनी है । ज्ञानी इस ससारको क्षणभरके लिये भी सुखरूप नही कहते । इस संसारकी तिलभर जगह भी जहरके बिना नही रही है। एक सूअरसे लेकर एक चक्रवर्ती तक भावकी अपेक्षासे समानता है, अर्थात् चक्रवर्तीकी ससारमे जितनी मोहिनी है उतनी ही बल्कि उससे अधिक मोहिनी सूअरकी है। चक्रवर्ती जैसे समग्र प्रजापर अधिकार भोगता है वैसे उसकी उपाधि भी भोगता है । सूअरको इसमेसे कुछ भी भोगना नही पड़ता । अधिकारकी अपेक्षा उलटे उपाधि विशेष है। चक्रवर्तीका अपनी पत्नीके प्रति जितना प्रेम होता है, उतना ही बल्कि उससे विशेष सूअरका अपनी सूअरनीके प्रति प्रेम रहा है। चक्रवर्ती भोगमे जितना रस लेता है उतना ही रस सूअर भी मान बैठा है। चक्रवर्तीको जितनी वैभवकी बहुलता है, उतनी ही उपाधि है। सूअरको उसके वैभवके अनुसार उपाधि है। दोनो उत्पन्न हुए हैं और दोनो मरनेवाले हैं। इस प्रकार अति सूक्ष्म विचार करनेपर क्षणिकता, रोग और जरासे दोनो ग्रसित हैं । द्रव्यसे चक्रवर्ती समर्थ है, महापुण्यशाली है, सातावेदनीय भोगता है, और सूअर बेचारा असातावेदनीय भोग रहा है । दोनोंको असाता-साता भी है, परन्तु चक्रवर्ती महासमर्थ है। परन्तु यदि वह जीवनपर्यन्त मोहाध रहा तो सारी बाजी हार जाने जैसा करता है । सूअरका भी यही हाल है। चक्रवर्ती शलाकापुरुष होनेसे सूअरसे इस रूपमे उसकी तुलना ही नही है, परन्तु इस स्वरूपमे है । भोग भोगनेमे भी दोनो तुच्छ हैं, दोनोके शरीर माँस, मज्जा आदिके हैं। संसार-की यह उत्तमोत्तम पदवी ऐसी है, उसमे ऐसा दुःख, क्षणिकता, तुच्छता और अन्धता रहे है तो फिर अन्यत्र सुख किसलिये मानना चाहिये ? ये सुख नही हैं, फिर भी सुख मानो तो जो सुख भयवाले और क्षणिक है वे दुःख ही हैं। अनन्त ताप, अनन्त शोक, अनन्त दुःख देखकर ज्ञानियोंने इस संसारको पीठ दी है, यह सत्य है। इस ओर पीछे मुडकर देखने जैसा नही है, वहाँ दुःख, दुःख और दुःख ही है। दुःखका यह समुद्र है ।

वैराग्य ही अनंत सुखमे ले जानेवाला उत्कृष्ट मार्गदर्शक है ।

शिक्षापाठ ५३ : महावीरशासन

अभी जो शासन प्रवर्तमान है वह श्रमण भगवान महावीरका प्रणीत किया हुआ है। [1]भगवान महावीरको निर्वाण पधारे २४१४ वर्ष हो गये। मगध देशके क्षत्रियकुण्ड नगरमे त्रिशलादेवी क्षत्रियाणीकी कोखसे सिद्धार्थ राजासे भगवान महावीर जन्मे थे। महावीर भगवानके बडे भाईका नाम नन्दिवर्धन था। महावीर भगवानकी स्त्रीका नाम यशोदा था। ये तीस वर्ष गृहस्थाश्रममे रहे। एकांतिक विहारमे साढे बारह वर्ष एक पक्ष, तपादिक सम्यक् आचारसे इन्होने अशेष घनघाती कर्मोंको जलाकर भस्मीभूत किया; और अनुपमेय केवलज्ञान तथा केवलदर्शन ऋजुवालिका नदीके किनारे प्राप्त किया। कुल लगभग ७२ वर्षकी आयु भोगकर सब कर्मोंको भस्मीभूत करके सिद्धस्वरूपको प्राप्त किया। वर्तमान चौबीसीके ये अंतिम जिनेश्वर थे।

इनका यह धर्मतीर्थ प्रवर्तमान है। यह २१००० वर्ष अर्थात् पंचम कालकी पूर्णता तक प्रवर्तमान रहेगा, ऐसा भगवतीसूत्रमे प्रवचन है।

यह काल दस अपवादोसे युक्त होनेसे इस धर्मतीर्थपर अनेक विपत्तियाँ आ गयी है, आती है और प्रवचनके अनुसार आयेगी भी सही।

जैन समुदायमे परस्पर मतभेद बहुत पड़ गये है। परस्पर निंदाग्रंथोसे जंजाल माँड बैठे हैं। मध्यस्थ पुरुष विवेक-विचारसे मतमतांतरमे न पडते हुए जैनशिक्षाके मूल तत्त्व पर आते है, उत्तम शीलवान मुनियोपर भक्ति रखते है, और सत्य एकाग्रतासे अपने आत्माका दमन करते है।

समय समयपर शासन कुछ सामान्य प्रकाशमे आता है, परन्तु कालप्रभावके कारण वह यथेष्ट प्रफुल्लित नही हो पाता।

'वंक जडा य पच्छिमा' ऐसा उत्तराध्ययनसूत्रमे वचन है, इसका भावार्थ यह है कि अंतिम तीर्थंकर (महावीरस्वामी) के शिष्य वक्र एवं जड होंगे, और उनकी सत्यताके विषयमे किसीको कुछ बोलने जैसा नही रहता। हम कहाँ तत्त्वका विचार करते है? कहाँ उत्तम शीलका विचार करते हैं? नियमित समय धर्ममे कहाँ व्यतीत करते है? धर्मतीर्थके उदयके लिये कहाँ ध्यान रखते है? कहाँ लगनसे धर्मतत्त्वकी खोज करते है? श्रावककुलमे जन्मे इसलिये श्रावक, यह बात हमे भावकी दृष्टिसे मान्य नही करनी चाहिये, इसके लिये आवश्यक आचार, ज्ञान, खोज अथवा इनमेसे कोई विशेष लक्षण जिसमे हो उसे श्रावक मानें तो वह यथायोग्य है। अनेक प्रकारकी द्रव्यादिक सामान्य दया श्रावकके घर जन्म लेती है और वह उसका पालन भी करता है, यह बात प्रशंसा करने योग्य है, परन्तु तत्त्वको कोई विरले ही जानते हैं, जाननेकी अपेक्षा अधिक शंका करनेवाले अर्धदग्ध भी है, जानकर अहंकार करनेवाले भी है; परन्तु जान-कर तत्त्वके काँटेमे तोलनेवाले कोई विरले ही है। परंपर आम्नायसे केवल, मन पर्यय और परमावधि-ज्ञानका विच्छेद हो गया। दृष्टिवादका विच्छेद हो गया, सिद्धांतके बहुतसे भागका विच्छेद हो गया; मात्र थोड़े रहे हुए भागपर सामान्य समझसे शंका करना योग्य नही है। जो शंका हो उसे विशेष जानकारसे पूछना चाहिये। वहाँसे मनमाना उत्तर न मिले तो भी जिन-वचनकी श्रद्धा चलविचल नही करनी चाहिये। अनेकांत शैलीके स्वरूपको विरले जानते है।

भगवानके कथनरूप मणिके घरमे कई पामर प्राणी दोषरूपी छिद्रको खोजनेका मथन करके अधो-गतिजनक कर्म बाधते है। हरी शाकभाजीके बदलेमे उसे सुखाकर उपयोगमे लेनेकी बात किसने और किस विचारसे ढूँढ निकाली होगी?

यह विषय बहुत बड़ा है। इस संबंधमे यहाँ कुछ कहना योग्य नही है। संक्षेपमे कहना यह है कि

---

१. मोक्षमालाकी प्रथमावृत्ति वीर संवत् २४१४ अर्थात् विक्रम संवत् १९४४ मे छपी थी।

हमे अपने आत्माकी सार्थकताके लिये मतभेदमे नही पडना चाहिये। उत्तम और शात मुनिका समागम, विमल आचार, विवेक, दया, क्षमाका सेवन करना चाहिये। हो सके तो महावीर तीर्थके लिये विवेकी बोध कारण सहित देना चाहिये। तुच्छ बुद्धिसे शंकित नही होना चाहिये, इसमे अपना परम मगल है, इसका विसर्जन नही करना चाहिये।

शिक्षापाठ ५४ : अशुचि किसे कहना ?

जिज्ञासु—मुझे जैन मुनियोंके आचारकी बात बहुत अच्छी लगी है। इनके जैसा किसी दर्शनके संतोका आचार नही है। चाहे जैसे जाडेकी ठडमे इन्हे अमुक वस्त्रोसे निभाना पडता है, गरमीमे चाहे जैसा ताप पड़नेपर भी ये पैरमे जूते अथवा सिरपर छत्री नही रख सकते। इन्हे गरम रेतमे आतप लेना पड़ता है। यावज्जीवन गरम पानी पीते है। गृहस्थके घर ये बैठ नही सकते। शुद्ध ब्रह्मचर्य पालते है। फूटी कौड़ी भी पासमे नही रख सकते। ये अयोग्य वचन नही बोल सकते। ये वाहन नही ले सकते। ऐसे पवित्र आचार, सचमुच! मोक्षदायक है। परंतु नौ बाड़मे भगवानने स्नान करनेका निषेध किया है यह बात तो मुझे यथार्थ नही जँचती।

सत्य—किसलिये नही जँचती ?

जिज्ञासु—क्योकि इससे अशुचि बढ़ती है।

सत्य—कौनसी अशुचि बढती है ?

जिज्ञासु—शरीर मलिन रहता है यह।

सत्य—भाई! शरीरकी मलिनताको अशुचि कहना, यह बात कुछ विचारपूर्ण नही है। शरीर स्वय किसका बना है, यह तो विचार करो। रक्त, पित्त, मल, मूत्र, श्लेष्मका यह भडार है। इसपर मात्र त्वचा है तब फिर यह पवित्र कैसे हो ? और फिर साधुओने ऐसा कोई संसारी कर्तव्य किया नही होता कि जिससे उन्हे स्नान करनेकी आवश्यकता रहे।

जिज्ञासु—परतु स्नान करनेसे उन्हे हानि क्या है ?

सत्य—यह तो स्थूल बुद्धिका ही प्रश्न है। नहानेसे असंख्यात जन्तुओका विनाश, कामाग्निकी प्रदीप्तता, व्रतका भग, परिणामका बदलना, यह सारी अशुचि उत्पन्न होती है और इसस आत्मा महा मलिन होता है। प्रथम इसका विचार करना चाहिये। शरीरकी, जीवहिंसायुक्त जो मलिनता है वह अशुचि है। अन्य मलिनतासे तो आत्माकी उज्ज्वलता होती है, इसे तत्त्वविचारसे समझना है। नहानेसे व्रत भंग होकर आत्मा मलिन होता है; और आत्माकी मलिनता ही अशुचि है।

जिज्ञासु—मुझे आपने बहुत सुन्दर कारण बताया। सूक्ष्म विचार करनसे जिनेश्वरके कथनसे बोध और अत्यानद प्राप्त होता है। अच्छा, गृहस्थाश्रमियोको जीवहिंसा या संसार-कर्तव्यसे हुई शरीरकी अशुचि दूर करनी चाहिये या नही ?

सत्य—समझपूर्वक अशुचि दूर करनी ही चाहिये। जैन जैसा एक भी पवित्र दर्शन नही है, और वह अपवित्रताका बोध नही करता। परन्तु शौचाशौचका स्वरूप समझना चाहिये।

शिक्षापाठ ५५ : सामान्य नित्यनियम

प्रभातसे पहले जागृत होकर नमस्कार मंत्रका स्मरण करके मन विशुद्ध करना चाहिये। पाप-व्यापारकी वृत्तिको रोककर रात्रि-संबंधी हुए दोषोका उपयोगपूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये।

प्रतिक्रमण करनेके बाद यथावसर भगवानकी उपासना, स्तुति तथा स्वाध्यायसे मनको उज्ज्वल करना चाहिये।

माता-पिताकी विनय करके, आत्महितका लक्ष विस्मृत न हो इस तरह यत्नासे संसारी काममे प्रवृत्ति करनी चाहिये।

स्वयं भोजन करनेसे पहले सत्पात्रमे दान देनेकी परम आतुरता रखकर वैसा योग मिलनेपर यथोचित प्रवृत्ति करनी चाहिये।

आहार-विहारका नियमित समय रखना चाहिये, तथा सत्शास्त्रके अभ्यासका और तात्त्विक ग्रन्थके मननका भी नियमित समय रखना चाहिये।

सायंकालमे सध्यावश्यक उपयोगपूर्वक करना चाहिये।

चौविहार प्रत्याख्यान करना चाहिये।

नियमित निद्रा लेनी चाहिये।

सोनेसे पहले अठारह पापस्थान, द्वादशव्रतदोष और सर्व जीवोसे क्षमा मॉगकर, पंचपरमेष्ठी मन्त्रका स्मरण करके महा शातिसे समाधिभावसे शयन करना चाहिये।

ये सामान्य नियम बहुत लाभदायक होगे। ये तुम्हे सक्षेपमे कहे है। सूक्ष्म विचारसे और तदनुसार प्रवर्तन करनेसे ये विशेष मंगलदायक होंगे।

शिक्षापाठ ५६ : क्षमापना

हे भगवन्! मै बहुत भूल गया, मैंने आपके अमूल्य वचनोंको ध्यानमे लिया नही। आपके कहे हुए अनुपम तत्त्वोका मैने विचार किया नही। आपके प्रणीत किये हुए उत्तम शीलका सेवन किया नही। आपकी कही हुई दया, शाति, क्षमा और पवित्रताको मैने पहचाना नही। हे भगवन्! मैं भूला, भटका, घूमा-फिरा और अनंत संसारकी विडंबनामे पडा हूँ। मैं पापी हूँ। मैं बहुत मदोन्मत्त और कर्मरजसे मलिन हूँ। हे परमात्मन्! आपके कहे हुए तत्त्वोंके बिना मेरा मोक्ष नही। मैं निरतर प्रपंचमे पड़ा हूँ। अज्ञानसे अध हुआ हूँ, मुझमे विवेकशक्ति नही है और मै मूढ हूँ, मैं निराश्रित हूँ, अनाथ हूँ। नीरागी परमात्मन्! मैं अब आपकी, आपके धर्मकी और आपके मुनियोकी शरण लेता हूँ। मेरे अपराधोका क्षय होकर मै उन सब पापोसे मुक्त होऊँ यह मेरी अभिलाषा है। पूर्वकृत पापोका मै अब पश्चात्ताप करता हूँ। ज्यो-ज्यो मै सूक्ष्म विचारसे गहरा उतरता हूँ त्यो त्यो आपके तत्त्वोके चमत्कार मेरे स्वरूपका प्रकाश करते है। आप नीरागी, निर्विकारी, सच्चिदानंदस्वरूप, सहजानंदी, अनंतज्ञानी, अनतदर्शी और त्रैलोक्यप्रकाशक है। मै मात्र अपने हितके लिये आपकी साक्षीमे क्षमा चाहता हूँ। एक पल भी आपके कहे हुए तत्त्वोकी शका न हो, आपके बताये हुए मार्गमे अहोरात्र मैं रहूँ, यही मेरी आकाक्षा और वृत्ति हो! हे सर्वज्ञ भगवन्! आपसे मै विशेष क्या कहूँ? आपसे कुछ अज्ञात नही है। मात्र पश्चात्तापसे मै कर्मजन्य पापकी क्षमा चाहता हूँ।

ॐ शाति. शांति शांति.।

शिक्षापाठ ५७ : वैराग्य धर्मका स्वरूप है

एक वस्त्र खूनसे रगा गया। उसे यदि खूनसे धोयें तो वह धोया नही जा सकता, परतु अधिक रंगा जाता है। यदि पानीसे उस वस्त्रको धोये तो वह मलिनता दूर होना सभव है। इस दृष्टातसे आत्माका विचार करें। आत्मा अनादिकालसे संसाररूप खूनसे मलिन हुआ है। यह मलिनता रोम-रोममे व्याप्त हो गई है! इस मलिनताको हम विषयशृगारसे दूर करना चाहे तो यह दूर नही हो सकती। खूनसे जैसे खून नही धोया जाता, वैसे शृंगारसे विषयजन्य आत्म-मलिनता दूर होनेवाली नही है यह मानो निश्चित ही है। अनेक धर्ममत इस जगतमे प्रचलित हैं, उनके सबंधमे अपक्षपातसे विचार करते हुए पहले इतना विचार करना आवश्यक है कि, जहाँ स्त्रियाँ भोगनेका उपदेश किया हो, लक्ष्मी-लीलाकी शिक्षा दी

हो, रंग, राग, मौज-शौक और ऐशो-आराम करनेका तत्त्व बताया हो वहाँसे अपने आत्माको सत्-शांति नही है। कारण कि इसे धर्ममत माना जाये तो सारा संसार धर्ममतयुक्त ही है। प्रत्येक गृहस्थका घर इसी योजनासे भरपूर होता है। बाल-बच्चे, स्त्री, राग-रंग, गान-तान वहाँ जमा रहता है, और उस घरको धर्म-मंदिर कहे तो फिर अधर्म-स्थान कौन-सा ? और फिर जैसे हम बरताव करते है वैसे बरताव करनेसे बुरा भी क्या ? यदि कोई यों कहे कि उस धर्म-मंदिरमे तो प्रभुकी भक्ति हो सकती है तो उनके लिये खेदपूर्वक इतना ही उत्तर देना है कि वे परमात्मतत्त्व और उसकी वैराग्यमय भक्तिको जानते नही हैं। चाहे जो हो परन्तु हमे अपने मूल विचारपर आना चाहिये। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे आत्मा संसारमें विषयादिक मलिनतासे पर्यटन करता है। उस मलिनताका क्षय विशुद्ध भावजलसे होना चाहिये। अर्हतके कहे हुए तत्त्वरूपी साबुन और वैराग्यरूपी जलसे उत्तम आचाररूप पत्थरपर रखकर आत्मवस्त्रको धोनेवाला निर्ग्रन्थ गुरु है। इसमे यदि वैराग्यजल न हो तो सभी साधन कुछ नही कर सकते, इसलिये वैराग्यको धर्मका स्वरूप कहा जा सकता है। यदि अर्हतप्रणीत तत्त्व वैराग्यका ही बोध देते हैं तो वही धर्मका स्वरूप है ऐसा समझना चाहिये।

शिक्षापाठ ५८. धर्मके मतभेद—भाग १

इस जगतीतलपर अनेक प्रकारके धर्ममत विद्यमान हैं। ऐसे मतभेद अनादिकालसे है, यह न्यायसिद्ध है। परन्तु ये मतभेद कुछ-कुछ रूपान्तरित होते रहते है। इस सम्बन्धमे कुछ विचार करें।

कितने मतभेद परस्पर मिलते हुए और कितने परस्पर विरुद्ध है; कितने ही मतभेद केवल नास्तिको द्वारा फैलाये हुए भी हैं। कितने सामान्य नीतिको धर्म कहते है। कितने ज्ञानको ही धर्म कहते हैं। कितने अज्ञानको धर्ममत कहते है। कितने भक्तिको कहते है, कितने क्रियाको कहते है, कितने विनयको कहते है और कितने शरीरकी रक्षा करना इसे धर्ममत कहते है।

इन धर्ममतस्थापकोने ऐसा उपदेश किया मालूम होता है कि हम जो कहते हैं वह सर्वज्ञवाणीरूप और सत्य है, बाकीके सभी मत असत्य और कुतर्कवादी हैं, इसलिये उन मतवादियोने परस्पर योग्य या अयोग्य खडन किया है। वेदान्तके उपदेशक यही उपदेश देते है, सांख्यका भी यही उपदेश है, बुद्धका भी यही उपदेश है, न्याय-मतवालोका भी यही उपदेश है, वैशेषिकोका यही उपदेश है, शक्तिपंथीका यही उपदेश है, वैष्णवादिकका यही उपदेश है, इस्लामका यही उपदेश है, और ईसा मसीहका यही उपदेश है कि यह हमारा कथन आपको सर्व सिद्धि देगा। तब हमे अब क्या विचार करना ?

वादी प्रतिवादी दोनो सच्चे नही होते और दोनों झूठे भी नही होते। बहुत हुआ तो वादी कुछ अधिक सच्चा और प्रतिवादी कुछ कम झूठा होता है।[1] दोनोकी बात सर्वथा झूठी नही होनी चाहिये। ऐसा विचार करने पर तो एक धर्ममत सच्चा ठहरता है और बाकीके झूठे ठहरते हैं।

जिज्ञासु—यह एक आश्चर्यकारक बात है। सबको असत्य और सबको सत्य कैसे कहा जा सकता है ? यदि सबको असत्य कहे तो हम नास्तिक ठहरते है और धर्मकी सच्चाई जाती रहती है। यह तो निश्चित है कि धर्मकी सच्चाई है, और सृष्टिपर उसकी आवश्यकता है। एक धर्ममत सत्य और बाकीके सब असत्य ऐसा कहे तो इस बातको सिद्ध करके बतलाना चाहिये। सबको सत्य कहे तो फिर यह बालूकी भीत हुई; क्योंकि फिर इतने सारे मतभेद किसलिये हो ? सब एक ही प्रकारके मत स्थापित करनेका यत्न किसलिये न करें ? इस तरह अन्योन्यके विरोधाभासके विचारसे थोड़ी देर रुकना पड़ता है।

---

१. द्वितीयावृत्तिमे यह पाठ विशेष है—'अथवा प्रतिवादी कुछ अधिक सच्चा और वादी कुछ कम झूठा होता है।'

तो भी तत्संबंधी यथामति मै कुछ स्पष्टता करता हूँ। यह स्पष्टता सत्य और मध्यस्थ-भावनाकी है, एकातिक या मताग्रही नही है, पक्षपाती या अविवेकी नहीं है, परन्तु उत्तम और विचार करने योग्य है। देखनेमे यह सामान्य लगेगी, परन्तु सूक्ष्म विचारसे बहुत मर्मवाली लगेगी।

शिक्षापाठ ५९ . धर्मके मतभेद—भाग २

इतना तो तुम्हे स्पष्ट मानना चाहिये कि कोई भी एक धर्म इस सृष्टिपर संपूर्ण सत्यता रखता है। अब एक दर्शनको सत्य कहते हुए बाकीके धर्ममतोको सर्वथा असत्य कहना पड़े, परन्तु मै ऐसा नही कह सकता। शुद्ध आत्मज्ञानदाता निश्चयनयसे तो वे असत्यरूप सिद्ध होते है; परन्तु व्यवहारनयसे वे असत्य नही कहे जा सकते। एक सत्य और बाकीके अपूर्ण और सदोष है ऐसा मैं कहता हूँ। तथा कितने ही कुतर्कवादी और नास्तिक हैं वे सर्वथा असत्य है, परन्तु जो परलोकसंबधी या पापसंबंधी कुछ भी बोध या भय बताते हैं उस प्रकारके धर्ममतोंको अपूर्ण और सदोष कहा जा सकता है। एक दर्शन जिसे निर्दोष और पूर्ण कहनेका है उसकी बात अभी एक ओर रखे।

अब तुम्हे शंका होगी कि सदोष और अपूर्ण कथनका उपदेश उसके प्रवर्तकने किसलिये दिया होगा? उसका समाधान होना चाहिये। उन धर्ममतवालोकी जहाँ तक बुद्धिकी गति पहुँची वहाँ तक उन्होंने विचार किये। अनुमान, तर्क और उपमा आदिके आधारसे उन्हे जो कथन सिद्ध प्रतीत हुआ वह प्रत्यक्षरूपसे मानो सिद्ध है ऐसा उन्होंने बताया। जो पक्ष लिया उसमे मुख्य एकातिकवाद लिया, भक्ति, विश्वास, नीति ज्ञान या क्रिया इनमेसे एक विषयका विशेष वर्णन किया, इससे दूसरे मानने योग्य विषयोको उन्होने दूषित कर दिया। फिर जिन विषयोका उन्होने वर्णन किया वे सर्व भावभेदसे उन्होने कुछ जाने नही थे, फिर भी अपनी महाबुद्धिके अनुसार उनका बहुत वर्णन किया। तार्किक सिद्धात तथा दृष्टात आदिसे सामान्य बुद्धिवालो या जडभरतोके आगे उन्होने सिद्ध कर बताया। कीर्ति, लोकहित या भगवान मनवानेकी आकाक्षा इनमेसे एकाध भी उनके मनका भ्रम होनेसे अत्युग्र उद्यमादिसे वे विजयको प्राप्त हुए। कितनोने शृगार और लहरी[1] साधनोसे मनुष्योके मन जीत लिये। दुनिया मोहिनीमे तो मूलतः डूबी पडी है, इसलिये ऐसे लहरी दर्शनसे भेडियाधसानरूप होकर उन्होने प्रसन्न होकर उनका कहना मान्य रखा। कितनोंने नीति तथा कुछ वैराग्य आदि गुण देखकर उस कथनको मान्य रखा। प्रवर्तककी बुद्धि उनकी अपेक्षा विशेष होनेसे उसे फिर भगवानरूप ही मान लिया। कितनोने वैराग्यसे धर्ममत फैलाकर पीछे से कुछ सुखशील साधनोका बोध घुसेड दिया। अपने मतका स्थापन करनेके महान भ्रमसे और अपनी अपूर्णता इत्यादि चाहे जिस कारणसे दूसरेका कहा हुआ स्वयंको न रुचा इसलिये उसने अलग ही मार्ग निकाला। इस प्रकार अनेक मतमतातरोका जाल फैलता गया। चार-पाच पीढियो तक एकका एक धर्मका पालन हुआ इसलिये फिर वह कुलधर्म हो गया। इस प्रकार स्थान-स्थानपर होता गया।

शिक्षापाठ ६० : धर्मके मतभेद—भाग ३

यदि एक दर्शन पूर्ण और सत्य न हो तो दूसरे धर्ममतोको अपूर्ण और असत्य किसी प्रमाणसे नही कहा जा सकता; इसलिये जो एक दर्शन पूर्ण और सत्य है उसके तत्त्वप्रमाणसे दूसरे मतोंकी अपूर्णता और एकांतिकता देखे।

इन दूसरे धर्ममतोंमे तत्त्वज्ञानसंबंधी यथार्थ सूक्ष्म विचार नहीं है। कितने ही जगत्कर्ताका उपदेश करते हैं, परन्तु जगत्कर्ता प्रमाणसे सिद्ध नही हो सकता। कितने ज्ञानसे मोक्ष है ऐसा कहते हैं वे एकांतिक हैं; इसी प्रकार क्रियासे मोक्ष है, ऐसा कहनेवाले भी एकातिक है। ज्ञान और क्रिया इन दोनोसे मोक्ष

---

१. द्वि० आ० पाठा० लोकेच्छित।

कहनेवाले उसके यथार्थ स्वरूपको नही जानते और वे इन दोनोके भेदको श्रेणिबद्ध नही कह सके, इसीसे उनकी सर्वज्ञताकी कमी सिद्ध होती है। सद्देवतत्त्वमे कहे हुए अठारह दूषणोसे वे धर्ममतस्थापक रहित नही थे ऐसा उनके रचे हुए चरित्रोसे भी तत्त्वको दृष्टिसे दिखायी देता है। कितने ही मतोंमे हिंसा, अब्रह्मचर्य इत्यादि अपवित्र विषयोका उपदेश है वे तो सहज ही अपूर्ण और सरागी द्वारा स्थापित दिखायी देते है। इनमेसे किसीने सर्वव्यापक मोक्ष, किसीने शून्यरूप मोक्ष, किसीने साकार मोक्ष, किसीने अमुक काल तक रहकर पतित होनेरूप मोक्ष माना है, परन्तु इनमेसे उनकी कोई भी बात सप्रमाण नही हो सकती। [1]'उनके अपूर्ण विचारोका खंडन वस्तुत: देखने जैसा है और वह निर्ग्रंथ आचार्योंके रचे हुए शास्त्रोंमें मिल सकेगा।'

वेदके अतिरिक्त दूसरे मतोंके प्रवर्तक, उनके चरित्र, विचार इत्यादि पढ़नेसे वे अपूर्ण हैं ऐसा मालूम हो जाता है। [2]'वेदने प्रवर्तकोंको भिन्न-भिन्न करके बेधडकतामे बातको मर्ममे डालकर गभीर डौल भी किया है। फिर भी उसके पुष्कल मतोको पढनेसे यह भी अपूर्ण और एकातिक मालम हो जायेगा।'

जिस पूर्ण दर्शनके विषयमे यहाँ कहना है वह जैन अर्थात् नीरागीके स्थापन किये हुए दर्शनके विषयमे है। इसके बोधदाता सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। कालभेद है तो भी यह बात सैद्धातिक प्रतीत होती है। दया, ब्रह्मचर्य, शील, विवेक, वैराग्य, ज्ञान, क्रिया आदिका इनके जैसा पूर्ण वर्णन एकने भी नही किया है। उसके साथ शुद्ध आत्मज्ञान, उसकी कोटियां, जीवके च्यवन, जन्म, गति, विगति, योनिद्वार, प्रदेश, काल और उनके स्वरूपके विषयमे ऐसा सूक्ष्म बोध है कि जिससे उनकी सर्वज्ञताकी नि:शकता होती है। कालभेदसे परम्परास्नायमे केवलज्ञानादि ज्ञान देखनेमे नही आते, फिर भी जो जो जिनेश्वरके कहे हुए सैद्धान्तिक वचन हैं वे अखड है। उनके कतिपय सिद्धात ऐसे सूक्ष्म है कि जिनमेसे एक एकका विचार करते हुए सारी जिंदगी बीत जाये ऐसा है। आगे इस सबंधमे बहुत कुछ कहना है।

जिनेश्वरके कहे हुए धर्मतत्त्वोंसे किसी भी प्राणीको लेशमात्र खेद उत्पन्न नही होता। सर्व आत्माओकी रक्षा और सर्वात्मशक्तिका प्रकाश इसमे निहित है। इन भेदोको पढनेसे, समझनेसे और इन पर अति अति सूक्ष्म विचार करनेसे आत्मशक्ति प्रकाश पाकर जैनदर्शनकी सर्वज्ञताके लिये, सर्वोत्कृष्टता-के लिये हाँ कहलवाती है। बहुत मननपूर्वक सभी धर्ममतोको जानकर फिर तुलना करनेवालेको यह कथन अवश्य सत्य सिद्ध होगा।

इस सर्वज्ञदर्शनके मूल तत्त्वो और दूसरे मतोके मूल तत्त्वोके विषयमे यहाँ विशेष कह सकने जितनी जगह नही है।

शिक्षापाठ ६१ सुखसंबंधी विचार—भाग १

एक ब्राह्मण दरिद्रावस्थासे बहुत पीडित था। उसने तंग आकर आखिर देवकी उपासना करके लक्ष्मी प्राप्त करनेका निश्चय किया। स्वयं विद्वान होनेसे उसने उपासना करनेसे पहले विचार किया कि कदाचित् कोई देव तो सतुष्ट होगा, परन्तु फिर उससे कौन-सा सुख माँगना? तप करनेके बाद माँगनेमे कुछ सूझे नही, अथवा न्यूनाधिक सूझे तो किया हुआ तप भी निरर्थक हो जाये; इसलिये एक बार सारे देशमे प्रवास करूँ। ससारके महापुरुषोके धाम, वैभव और सुख देखूँ। ऐसा निश्चय करके वह प्रवासमे निकल पडा। भारतके जो जो रमणीय और ऋद्धिमान शहर थे वे देखे। युक्ति-प्रयुक्तिसे राजाधिराजोंके अन्त:पुर सुख और वैभव देखे। श्रीमानोके आवास, कारोबार, बाग-बगीचे और कुटुम्ब परिवार देखे;

द्वि० आ० पाठा०—१ 'उनके विचारोकी पूर्णता नि स्पृही तत्त्ववेत्ताओंने बतायी है उसे यथास्थित जानना योग्य है।' २ 'वर्तमानमें जो वेद है वे बहुत प्राचीन ग्रथ हैं, इसलिये उस मतकी प्राचीनता है। परतु वे भी हिंसाके कारण दूषित होनेसे अपूर्ण है, और सरागी के वाक्य हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।'

परन्तु इससे उनका मन किसी तरह माना नही। किसीको स्त्रीका दुःख, किसीको पतिका दुःख, किसीको अज्ञानसे दुःख, किसीको प्रियजनोके वियोगका दुःख, किसीको निर्धनताका दुःख, किसीको लक्ष्मीकी उपाधिका दुःख, किसीको शरीरसबंधी दुःख, किसीको पुत्रका दुःख, किसीको शत्रुका दुःख, किसीको जडताका दुःख, किसीको माँ-बापका दुःख, किसीको वैधव्यदुःख, किसीको कुटुम्बका दुःख, किसीको अपने नीच कुलका दुःख, किसीको प्रीतिका दुःख, किसीको ईर्ष्याका दुःख, किसीको हानिका दुःख, इस प्रकार एक, दो, अधिक अथवा सभी दुःख स्थान स्थानपर उस ब्राह्मणके देखनेमे आये। इससे उसका मन किसी स्थानमे नही माना, जहाँ देखे वहाँ दुःख तो था ही। किसी भी स्थानमे संपूर्ण सुख उसके देखनेमे नही आया। अब फिर क्या माँगना ? यों विचार करते-करते एक महाधनाढ्यको प्रशसा सुनकर वह द्वारिकामें आया। द्वारिका महाऋद्धिसम्पन्न, वभवयुक्त, बागबगीचोसे सुशोभित और बस्तीसे भरपूर शहर उसे लगा। सुन्दर एव भव्य आवासोको देखता हुआ और पूछता-पूछता वह उस महाधनाढ्यके घर गया। श्रीमान् दीवानखानेमे बैठा हुआ था। उसने अतिथि जानकर ब्राह्मणका सन्मान किया, कुशलता पूछी और उसके लिये भोजनकी व्यवस्था करवाई। थोडी देरके बाद सेठने धीरजसे ब्राह्मणको पूछा, "आपके आगमनका कारण यदि मुझे कहने योग्य हो तो कहिये।" ब्राह्मणने कहा, "अभी आप क्षमा कीजिये। पहले आपको अपने सभी प्रकारके वैभव, धाम, बागबगीचे इत्यादि मुझे दिखाने पडेगे, उन्हे देखनेके बाद मैं अपने आगमनका कारण कहूँगा।" सेठने इसका कुछ मर्मरूप कारण जानकर कहा, "भले आनदपूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार करिये।" भोजनके बाद ब्राह्मणने सेठको स्वय साथ चलकर धामादिक बतानेके लिये विनती की। धनाढ्यने उसे मान्य रखा, और स्वय साथ जाकर बागबगीचा, धाम, वैभव यह सब दिखाया। सेठकी स्त्री, पुत्र भी वहाँ ब्राह्मणके देखनेमे आये। उन्होंने योग्यतापूर्वक उस ब्राह्मणका सत्कार किया। उनके रूप, विनय स्वच्छता तथा मधुरवाणीसे ब्राह्मण प्रसन्न हुआ। फिर उसकी दुकानका कारोबार देखा। सौ एक कारिंदे वहा बैठे हुए देखे। वे भी मायालु, विनयी और नम्र उस ब्राह्मणके देखनेमे आये। इससे वह बहुत सतुष्ट हुआ। उसके मनको यहाँ कुछ संतोष हुआ। सुखी तो जगतमे यही मालूम होता है ऐसा उसे लगा।

शिक्षापाठ ६२ : सुखसम्बन्धी विचार—भाग २

कैसे सुन्दर इसके भवन हैं! इनकी स्वच्छता और संभाल कैसी सुन्दर है! कैसी सयानी और मनोज्ञा इसकी सुशील स्त्री है! इसके कैसे कातिमान और आज्ञाकारी पुत्र है! कैसा मेलजोलवाला इसका कुटुम्ब है! लक्ष्मीकी कृपा भी इसके यहाँ कैसी है! सारे भारतमे इसके जैसा दूसरा कोई सुखी नही है। अब तप करके यदि मै माँगूं तो इस महाधनाढ्य जैसा ही सब माँगूं, दूसरी चाह न करूँ।

दिन बीत गया और रात्रि हुई। सोनेका वक्त हुआ। धनाढ्य और ब्राह्मण एकातमें बैठे थे; फिर धनाढ्यने विप्रसे आगमनका कारण कहनेकी विनता की।

विप्र—मैं घरसे ऐसा विचार करके निकला था कि सबसे अधिक सुखी कौन है यह देखूं; और तप करके फिर उस जैसा सुख प्राप्त करूँ। सारा भारत और उसके सभी रमणीय स्थल देखे, परन्तु किसी राजाधिराजके वहाँ भी सम्पूर्ण सुख मेरे देखनेमे नही आया। जहाँ देखा वहाँ आधि, व्याधि और उपाधि देखनेमे आई। इस ओर आने पर आपकी प्रशसा सुनी, इसलिये मैं यहाँ आया; और सन्तोष भी पाया। आपके जैसी ऋद्धि, सत्पुत्र, कमाई, स्त्री, कुटुम्ब, घर आदि मेरे देखनेमे कही भी नही आये। आप स्वयं भी धर्मशील, सद्गुणी और जिनेश्वरके उत्तम उपासक है। इससे मै ऐसा मानता हूँ कि आपके जैसा सुख अन्यत्र नही है। भारतमे आप विशेष सुखी है। उपासना करके कदाचित् देवसे माँगूं तो आपके जैसी सुखस्थिति माँगूं।

धनाढ्य—पंडितजी, आप एक बडे मर्मभरे विचारसे निकले है, इसलिये मै अवश्य आपसे अपने अनुभवकी बात ज्यो की त्यों कहता हूँ, फिर आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करे। मेरे यहाँ आपने जो-जो सुख देखे वे वे सुख भारत भरमे कही भी नहीं हैं यह आपने कहा, तो वैसा होगा, परन्तु सचमुच यह मुझे सम्भव नही लगता। मेरा सिद्धान्त ऐसा है कि जगतमें किसी स्थानमें वास्तविक सुख नही है। जगत दु:खसे जल रहा है। आप मुझे सुखी देखते है परन्तु वस्तुत मै सुखी नही हूँ।

विप्र—आपका यह कहना कोई अनुभव-सिद्ध और मार्मिक होगा। मैने अनेक शास्त्र देखे हैं; फिर भी ऐसे मर्मपूर्वक विचार ध्यानमे लेनेका मैने परिश्रम ही नही उठाया और मुझे ऐसा अनुभव सबके लिये नही हुआ। अब आपको क्या दु ख है, वह मुझसे कहिये।

धनाढ्य—पंडितजी, आपकी इच्छा है तो मै कहता हूँ, वह ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य है; और इस पर से कोई मार्गदर्शन मिल सकता है।

शिक्षापाठ ६३ · सुखसम्बन्धी विचार—भाग ३

आप अभी मेरी जैसी स्थिति देखते है वैसी स्थिति लक्ष्मी, कुटुम्ब और स्त्रीके सम्बन्धमे पहले भी थी। जिस समयकी मैं बात कर रहा हूँ, उस समयको लगभग बीस वर्ष हो गये। व्यापार और वैभवकी बहुलता यह सब कारोबार उलटा पडनेसे घटने लगी। करोड़पति कहलानेवाला मैं लगातार घाटेका भार वहन करनेसे मात्र तीन वर्षमे लक्ष्मीहीन हो गया। जहाँ सर्वथा सीधा समझकर दाव लगाया था वहाँ उलटा दाव पडा। उस अरसेमे मेरी स्त्री भी गुजर गई। उस समय मेरे कोई सन्तान न थी। प्रबल हानियोके कारण मुझे यहाँसे निकल जाना पडा। मेरे कुटुम्बियोने यथाशक्ति रक्षा की, परन्तु वह आकाश फटनेपर थिगली लगाना था। अन्न और दाँतमे वैर होनेकी स्थितिमे मै बहुत आगे निकल पड़ा। जब मैं वहाँसे निकला तब मेरे कुटुम्बी मुझे रोककर कहने लगे—"तूने गाँवका दरवाजा भी नही देखा, इसलिये तुझे जाने नही दिया जा सकता। तेरा कोमल शरीर कुछ भी कर नही सकेगा, और तू वहाँ जाये और सुखी हो जाये तो फिर वापस भी नहीं आयेगा, इसलिये यह विचार तुझे छोड देना चाहिये।" मैंने अनेक प्रकारसे उन्हें समझाया और यदि मै अच्छी स्थिति प्राप्त करूँगा तो यहाँ अवश्य आऊँगा ऐसा वचन देकर मैं जावाबन्दरके पर्यटनमें निकल पडा।

प्रारब्ध पलटनेकी तैयारी हुई। दैवयोगसे मेरे पास एक दमड़ी भी रही न थी। एक या दो महीने उदरपोषण चलाने जितना साधन भी रहा न था। फिर भी मैं जावामे गया। वहाँ मेरी बुद्धिने मेरे प्रारब्धको चमकाया। जिस जहाजमे मैं बैठा था उस जहाजके नाविकने मेरी चपलता और नम्रता देखकर अपने सेठसे मेरे दु खकी बात की। उस सेठने मुझे बुलाकर एक काममें लगा दिया, जिसमे मैं अपने पोषणसे चौगुना पैदा करता था। इस व्यापारमे मेरा चित्त जब स्थिर हो गया तब भारतके साथ इस व्यापारको बढानेका मैंने प्रयत्न किया और उसमे सफल हुआ। दो वर्षमे पाँच लाख जितनी कमाई हुई। फिर सेठसे राजी-खुशीसे आज्ञा लेकर मै कुछ माल खरीदकर द्वारिकाकी ओर चल दिया। थोड़े समयमें वहाँ आ पहुँचा, तब बहुतसे लोग मेरा स्वागत करने आये थे। मैं अपने कुटुम्बियोंसे आनन्दपूर्वक जाकर मिला। वे मेरे भाग्यकी प्रशंसा करने लगे। जावेसे लिये हुए मालने मुझे एकके पाँच कराये। पंडितजी! वहाँ अनेक प्रकारसे मुझे पाप करने पडे थे, पेटभर खानेको भी मुझे नही मिला था; परन्तु एक बार लक्ष्मी सिद्ध करनेकी जो मैंने प्रतिज्ञा की थी वह प्रारब्धयोगसे पूर्ण हुई। जिस दु:खदायक स्थितिमे मैं था उसमें दु:खकी क्या कमी थी? स्त्री, पुत्र ये तो यद्यपि थे ही नहीं; माँ-बाप पहलेसे परलोक सिधार गये थे। कुटुम्बियोंके वियोगसे और बिना दमडीके जिस समय मैं जावा गया था उस समयकी स्थिति अज्ञान-दृष्टिसे आँखोमे आँसू ला देती है। ऐसे समयमें भी मैंने धर्ममें ध्यान रखा था, दिनका अमुक भाग उसमें

लगाता था, वह लक्ष्मी या ऐसी किसी लालचसे नही, परन्तु यह मानकर कि यह संसारदुःखसे पार करनेवाला साधन है। मौतका भय क्षणभर भी दूर नही है, इसलिये यथासम्भव यह कर्तव्य कर लेना चाहिये, यह मेरी मुख्य नीति थी। दुराचारसे कोई सुख नही है, मनकी तृप्ति नही है, और आत्माकी मलिनता है। इस तत्त्वकी ओर मैंने अपना ध्यान लगाया था।

शिक्षापाठ ६४ : सुखसम्बन्धी विचार—भाग ४

यहाँ आनेके बाद मैंने अच्छे घरकी कन्या प्राप्त की। वह भी सुलक्षणी और मर्यादाशील निकली। उससे मेरे तीन पुत्र हुए। कारोबार प्रबल होनेसे और पैसा पैसेको खीचता है इस न्यायसे मैं दस वर्षमे महान करोडपति हो गया। पुत्रोकी नीति, विचार और बुद्धिको उत्तम रखनेके लिये मैंने बहुत सुन्दर साधनोकी व्यवस्था की, जिससे वे इस स्थितिको प्राप्त हुए है। अपने कुटुम्बियोंको यथायोग्य स्थानोमे लगाकर उनकी स्थितिको सुधारा। दुकानके मैने अमुक नियम बनाये। उत्तम मकान बनवानेका आरम्भ कर दिया। यह मात्र एक ममत्वके लिये किया। गया हुआ फिर प्राप्त किया, और कुल परंपराकी प्रसिद्धिको जानेसे रोका ऐसा कहलवानेके लिये मैंने यह सब किया। इसे मै सुख नही मानता। यद्यपि मैं दूसरोंकी अपेक्षा सुखी हूँ, तो भी यह सातावेदनीय है, सत्सुख नही है। जगतमे बहुधा असातावेदनीय है। मैंने धर्ममे अपना समय बितानेका नियम रखा है। सत्शास्त्रोंका वाचन, मनन, सत्पुरुषोका समागम, यमनियम, एक मासमे बारह दिन ब्रह्मचर्य, यथाशक्ति गुप्तदान, इत्यादि धर्ममे अपना समय बिताता हूँ। सर्व व्यवहारसंबधी उपाधियोमेसे कितना ही भाग मैने अधिकतर छोड दिया है। पुत्रोंको व्यवहारमे यथायोग्य बनाकर मै निर्ग्रंथ होनेकी इच्छा रखता हूँ। अभी निर्ग्रंथ हो सकूं ऐसी स्थिति नही है; इसमे संसारमोहिनी या ऐसा कोई कारण नही है, परन्तु वह भी धर्मसंबधी कारण है। गृहस्थधर्मके आचरण बहुत निकृष्ट हो गये है, और मुनि उन्हे सुधार नही सकते। गृहस्थ गृहस्थको विशेष बोध दे सकता है, आचरणसे भी असर डाल सकता है। इसीलिये मै गृहस्थवर्गको प्रायः धर्मसंबधी बोध देकर यमनियममे लगाता हूँ। प्रति सप्ताह अपने यहाँ लगभग पाँचसौ सद्गृहस्थोकी सभा होती है। उन्हे आठ दिनके नये अनुभव और बाकीके पिछले धर्मानुभवका दो-तीन मुहूर्त्त तक बोध देता हूँ। मेरी स्त्री धर्मशास्त्रकी कुछ जानकार होनेसे वह भी स्त्रीवर्गको उत्तम यमनियमका बोध देकर साप्ताहिक सभा करती है। पुत्र भी शास्त्रोका यथाशक्ति परिचय रखते है। विद्वानोका सन्मान, अतिथिका सन्मान, विनय और सामान्य सत्यता, एक ही भाव—ऐसे नियम बहुधा मेरे अनुचर भी पालते है। इसलिये ये सब साता भोग सकते है। लक्ष्मीके साथ-साथ मेरी नीति, धर्म, सद्गुण और विनयने जनसमुदायपर बहुत अच्छा असर किया है। राजा तक भी मेरी नीतिकी बातको अङ्गीकार करे, ऐसी स्थिति हो गयी है। यह सब मै आत्मप्रशंसाके लिये कहता नही हूँ, यह आप ध्यानमें रखें, मात्र आपकी पूछी हुई बातकी स्पष्टताके लिये यह सब सक्षेपमे कह रहा हूँ।

शिक्षापाठ ६५ : सुखसंबंधी विचार—भाग ५

इन सब बातोंसे आपको ऐसा लग सकेगा कि मै सुखी हूँ और सामान्य विचारसे आप मुझे बहुत सुखी मानें तो माना जा सकता है। धर्म, शील और नीतिसे तथा शास्त्रावधानसे मुझे जो आनन्द प्राप्त होता है वह अवर्णनीय है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे मैं सुखी न माना जाऊँ। जब तक मैंने बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहका सब प्रकारसे त्याग नहीं किया तब तक रागदोषका भाव है। यद्यपि वह बहुत अंशमें नही है, परंतु है सही; तो वहाँ उपाधि भी है। सर्वसंगपरित्याग करनेकी मेरी सम्पूर्ण आकाक्षा है, परन्तु जब तक ऐसा नही हुआ है तब तक अभी किसी माने गये प्रियजनका वियोग, व्यवहारमे हानि और कुटुम्बीका दुःख ये थोडे अंशमे भी उपाधि दे सकते हैं। अपनी देहमें मौतके सिवाय भी नाना प्रकारके रोगोंका

होना सभव है। इसलिये जब तक सर्वथा निर्ग्रंथ बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग, अल्पारभका त्याग यह सब नही हुआ तब तक मै अपनेको सर्वथा सुखी नही मानता। अब आपको तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होगा कि लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र या कुटुम्बसे सुख नही है, और इसे यदि सुख मानूँ तो जब मेरी स्थिति पतित हुई थी तब यह सुख कहाँ गया था? जिसका वियोग है, जो क्षणभगुर है और जिसमे एकत्व या अव्याबाधत्व नही है वह सुख सम्पूर्ण नही है। इसलिये मै अपनेको सुखी नही कह सकता। मैं बहुत विचार विचारकर व्यापार कारोबार करता था, तो भी मुझे आरम्भोपाधि, अनीति और लेश भी कपटका सेवन करना नही पडा, ऐसा तो है हो नही। अनेक प्रकारके आरम्भ और कपटका मुझे सेवन करना पडा था। आप यदि मानते हो कि देवोपासनासे लक्ष्मी प्राप्त करना, तो वह यदि पुण्य न हो तो कदापि मिलनेवाली नही है। पुण्यसे लक्ष्मी प्राप्त करके महारभ, कपट और मान इत्यादि बढाना ये महापापके कारण है, पाप नरकमे डालता है। पापसे आत्मा, प्राप्त की हुई महान मनुष्यदेहको व्यर्थ गवाँ देता है। एक तो मानो पुण्यको खा जाना, और फिर पापका बध करना; लक्ष्मीकी और उसके द्वारा सारे ससारकी उपाधि भोगना, यह बात विवेकी आत्माको मान्य नही होगी ऐसा मै मानता हूँ। मैने जिस कारणसे लक्ष्मीका उपार्जन किया था, वह कारण मैने पहले आपको बताया था। जैसी आपकी इच्छा हो वैसा करें। आप विद्वान है, मै विद्वानका चाहता हूँ। आपकी अभिलाषा हो तो धर्मध्यानमे प्रसक्त होकर सहकुटुम्ब यहाँ भले रहे। आपकी आजीविकाकी सरल योजना जैसे कहे वैसे मै रुचिपूर्वक करा दूँ। यहाँ शास्त्राध्ययन और सद्वस्तुका उपदेश करे। मिथ्या-रंभोपाधिकी लोलुपतामे, मै समझता हूँ कि न पडे, फिर आपकी जैसी इच्छा।

पंडित—आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करने जैसी आख्यायिका कही। आप अवश्य कोई महात्मा है, पुण्यानुबधी पुण्यवान जीव हैं, विवेकी है, आपकी शक्ति अद्भुत है। मै दरिद्रतासे तग आकर जो इच्छा रखता था वह एकातिक थी। ऐसे सर्व प्रकारके विवेकी विचार मैने किये नही थे। ऐसा अनुभव, ऐसी विवेकशक्ति, मै चाहे जैसा विद्वान हूँ फिर भी मुझमे है हो नही। यह मै सत्य ही कहता हूँ। आपने मेरे लिये जो योजना बताई है उसके लिये आपका बहुत उपकार मानता हूँ; और नम्रतापूर्वक उसे अंगीकार करनेके लिये मै हर्ष प्रकट करता हूँ। मै उपाधिका नही चाहता। लक्ष्मीका फदा उपाधि ही देता है। आपका अनुभवसिद्ध कथन मुझे बहुत अच्छा लगा है। ससार जलता ही है, इसमे सुख नही है। आपने निरुपाधिक मुनिसुखकी प्रशसा की वह सत्य है। वह सन्मार्ग परिणाममे सर्वोपाधि, आधि, व्याधि और सर्व अज्ञानभावसे रहित ऐसे शाश्वत मोक्षका हेतु है।

शिक्षापाठ ६६ : सुखसंबंधी विचार—भाग ६

धनाढ्य—आपको मेरी बात अच्छी लगी इससे मुझे निरभिमानपूर्वक आनन्द होता है। आपके लिये मै योग्य योजना करूँगा। मैं अपने सामान्य विचार कथानुरूप यहाँ कहनेकी आज्ञा चाहता हूँ।

जो केवल लक्ष्मीको उपार्जन करनेमे कपट, लोभ और मायाम उलझे पड़े है व बहुत दु.खी है। व उसका पूरा या अधूरा उपयोग नही कर सकते, मात्र उपाधि ही भोगते है। वे असख्यात पाप करते है। उन्हे काल अचानक उठा ले जाता है। अधोगतिको पाकर वे जीव अनंत ससारकी वृद्धि करते है। प्राप्त मनुष्यदेहको वे निर्मूल्य कर डालते है, जिससे वे निरंतर दु.खी ही है।

जिसने अपनी आजीविका जितने ही साधन अल्पारभसे रखे है, शुद्ध एकपत्नीव्रत, संतोष, परात्मा-की रक्षा, यम, नियम, परोपकार, अल्पराग, अल्प द्रव्यमाया और सत्य तथा शास्त्राध्ययन रखे है, जो सत्पुरुषोकी सेवा करता है, जिसने निर्ग्रंथताका मनोरथ रखा है, जो बहुत प्रकारसे ससारसे विरक्त जैसा है, जिसके वैराग्य और विवेक उत्कृष्ट हैं, वह पवित्रतामे सुखपूर्वक काल निर्गमन करता है।

जो सर्व प्रकारके आरंभ और परिग्रहसे रहित हुए हैं, द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जो अप्रतिबंधरूपसे विचरते हैं, शत्रु-मित्रके प्रति जो समान दृष्टिवाले हे और शुद्ध आत्म-ध्यानमे जिनका समय व्यतीत होता है, अथवा स्वाध्याय एवं ध्यानमे जो लीन है, ऐसे जितेन्द्रिय और जितकषाय निर्ग्रंथ परम सुखी हैं।

सर्व घनघाती कर्मोंका जिन्होंने क्षय किया है, जिनके चार कर्म दुर्बल पड़ गये हैं, जो मुक्त हैं, जो अनंतज्ञानी और अनंतदर्शी है, वे तो सम्पूर्ण सुखी ही है। वे मोक्षमे अनंत जीवनके अनंत सुखमे सर्व कर्मविरक्ततासे विराजते हैं।

इस प्रकार सत्पुरुषो द्वारा कहा हुआ मत मुझे मान्य है। पहला तो मुझे त्याज्य है, दूसरा अभी मान्य है, और प्राय: इसे ग्रहण करने का मेरा बोध है। तीसरा बहु मान्य है। और चौथा तो सर्वमान्य तथा सच्चिदानदस्वरूप ही है।

इस प्रकार पण्डितजी! आपकी और मेरी सुखसंबधी बातचीत हुई। प्रसंगोपात्त इस बातकी चर्चा करते रहेगे और इसपर विचार करेगे। ये विचार आपको कहनेसे मुझे बहुत आनन्द हुआ है। आप ऐसे विचारोके अनुकूल हुए इससे तो आनंदमे और वृद्धि हुई है। परस्पर यो बातचीत करते करते हर्षके साथ वे समाधिभावसे शयन कर गये।

जो विवेकी यह सुखसम्बन्धी विचार करेगे वे बहुत तत्त्व और आत्मश्रेणिकी उत्कृष्टताको प्राप्त करेंगे। इसमे कहे हुए अल्पारभी, निरारंभी और सर्वमुक्तके लक्षण लक्ष्यपूर्वक मनन करने योग्य है। यथासंभव अल्पारभी होकर समभावसे जनसमुदायके हितकी ओर लगना, परोपकार, दया, शान्ति, क्षमा और पवित्रताका सेवन करना यह बहुत सुखदायक है। निर्ग्रंथताके विषयमे तो विशेष कहनेकी जरूरत ही नही है। मुक्तात्मा तो अनत सुखमय ही है।

शिक्षापाठ ६७. अमूल्य तत्त्वविचार

(हरिगीत छद)

*बहु पुण्यकेरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मळ्यो,
तोये अरे! भवचक्रनो आंटो नहि एक्के टळ्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो? ॥१॥

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो?
शु कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो;
वधवापणुं संसारनु नर देहने हारी जवो,
एनो विचार नही अहोहो! एक पळ तमने हवो!!! ॥२॥

---

*भावार्थ—बहुत पुण्यके पुजसे यह शुभ मानवदह मिला, तो भी यह खेदकी बात है कि भवचक्रका एक भी चक्कर दूर नही हुआ। इसे जरा ध्यानमे लो कि सुख प्राप्त करते हुए सुख दूर होता है। यह आश्चर्य है कि क्षण-क्षणमे होनेवाले भावमरणमे तुम क्यो खुश हो रहे हो? ॥१॥

भला यह तो बताओ कि लक्ष्मी और अधिकार बढनेसे तुम्हारा क्या बढा? कुटुम्ब और परिवार बढ़नेसे तुम्हारी क्या बढ़ती हुई? इस रहस्यको समझो। क्योकि ससारका बढ़ना तो मनुष्यदेहको हार जाना है। यह कितना आश्चर्य है कि तुम्हे इसका विचार एक क्षणभरको भी नही हुआ!! ॥२॥

निर्दोष सुख और निर्दोष आनद चाहे जहाँसे भले लो, जिससे यह दिव्य शक्तिमान आत्मा बधनसे मुक्त हो।

निर्दोष सुख निर्दोष आनंद, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्य शक्तिमान जेथी जंजीरेथी नीकळे;
परवस्तुमां नहि मूझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवा सिद्धांत के पश्चात्दुःख ते सुख नहीं ॥३॥
हुं कोण छु? क्यांथी थयो? शु स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वळगणा छे? राखु के ए परहरुं?
एना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धांततत्त्व अनुभव्यां ॥४॥
ते प्राप्त करवा वचन कोनु सत्य केवळ मानवु?
निर्दोष नरनुं कथन मानो 'तेह' जेणे अनुभव्यु;
रे! आत्म तारो! आत्म तारो! शीघ्र एने ओळखो,
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो ॥५॥

शिक्षापाठ ६८ : जितेन्द्रियता

जब तक जीभ स्वादिष्ट भोजन चाहती है, जब तक नासिका सुगंध चाहती है, जब तक कान वारांगनाके गायन और वाद्य चाहते है, जब तक आँखें वनोपवन देखनेका लक्ष रखती है, जब तक त्वचा सुगन्धीलेपन चाहती है, तब तक यह मनुष्य नीरागी, निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही, निरारंभी और ब्रह्मचारी नही हो सकता। मनको वश करना यह सर्वोत्तम है। इससे सभी इन्द्रियाँ वश की जा सकती है। मनको जीतना बहुत-बहुत दुष्कर है। एक समयमे असंख्यात योजन चलनेवाला अश्व यह मन है। इसे थकाना बहुत दुष्कर है। इसकी गति चपल और पकड़मे न आ सकनेवाली है। महाज्ञानियोंने ज्ञानरूपी लगामसे इसे स्तंभित करके सब पर विजय प्राप्त की है।

उत्तराध्ययनसूत्रमे नमिराज महर्षिने शक्रेन्द्रसे ऐसा कहा कि दस लाख सुभटोको जीतनेवाले कई पड़े हैं, परन्तु स्वात्माको जीतनेवाले बहुत दुर्लभ हैं; और वे दस लाख सुभटोको जीतनेवालोकी अपेक्षा अति उत्तम है।

मन ही सर्वोपाधिकी जन्मदात्री भूमिका है। मन ही बंध और मोक्षका कारण है। मन ही सर्व संसारकी मोहिनीरूप है। यह वश हो जानेपर आत्मस्वरूपको पाना लेशमात्र दुष्कर नही है।

मनसे इन्द्रियोकी लोलुपता है। भोजन, वाद्य, सुगन्ध, स्त्रीका निरीक्षण, सुन्दर विलेपन यह सब मन ही माँगता है। इस मोहिनीके कारण यह धर्मको याद तक नही करने देता। याद आनेके बाद सावधान नही होने देता। सावधान होनेके बाद पतित करनेमे प्रवृत्त होता है अर्थात् लग जाता है। इसमे

परवस्तुमें तुम मोह मत करो। परवस्तुमे तुम मोह कर रहे हो इसकी मुझे दया आती है। परवस्तुके मोहको छोडनेके लिये इस सिद्धातको ध्यानमे रखो कि जिस वस्तुके अतमे दुख है वह सुख नही है ॥३॥

मैं कौन हूँ? कहाँसे आया हूँ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है? ये सारे लगाव किसके संबधसे है? इन्हे रखूँ या छोड दूँ? यदि विवेकपूर्वक और शातभावसे इन बातोका विचार किया तो आत्मज्ञानके सभी सिद्धाततत्त्व अनुभवमें आ गये ॥४॥

इसे प्राप्त करनेके लिये किसके वचनको सर्वथा सत्य मानना? जिसने इसका अनुभव किया है उस निर्दोष पुरुषके कथनको सत्य मानो। हे भव्यो! अपने आत्माको तारो! अपने आत्माको तारो! उसे शीघ्र पहचानो, और सभी आत्माओंमें समदृष्टि रखो, इस वचनको हृदयमे अकित करो ॥५॥

सफल नहीं होता तो सावधानीमे कुछ न्यूनता पहुँचाता है। जो इस न्यूनताको भी न पाकर अडिग रहकर मनको जीतते हैं वे सर्वसिद्धिको प्राप्त करते है।

मन अकस्मात् किसीसे ही जीता जा सकता है, नही तो अभ्यास करके ही जीता जाता है। यह अभ्यास निर्ग्रंथतामे बहुत हो सकता है, फिर भी गृहस्थाश्रममे हम सामान्य परिचय करना चाहें तो उसका मुख्य मार्ग यह है कि यह जो दुरिच्छा करे उसे भूल जायें, वैसा न करें। यह जब शब्द, स्पर्श आदि विलासकी इच्छा करे तब इसे न दे। संक्षेपमें, हम इससे प्रेरित न हों, परन्तु हम इसे प्रेरित करें और वह भी मोक्षमार्गमें। जितेन्द्रियताके बिना सर्व प्रकारकी उपाधि खड़ी ही रहती है। त्यागने पर भी न त्यागने जैसा हो जाता है, लोक-लज्जासे उसे निभाना पड़ता है। इसलिये अभ्यास करके भी मनको जीतकर स्वाधीनतामे लाकर अवश्य आत्महित करना चाहिये।

शिक्षापाठ ६९ · ब्रह्मचर्यकी नौ बाड़ें

ज्ञानियोंने थोड़े शब्दोंमे कैसे भेद और कैसा स्वरूप बताया है? इससे कितनी अधिक आत्मोन्नति होती है? ब्रह्मचर्य जैसे गंभीर विषयका स्वरूप संक्षेपमें अति चमत्कारी ढंगसे दिया है। ब्रह्मचर्यरूपी एक सुन्दर वृक्ष और उसकी रक्षा करनेवाली जो नौ विधियाँ हैं उसे बाड़का रूप देकर ऐसी सरलता कर दी है कि आचारके पालनमे विशेष स्मृति रह सके। ये नौ बाड़ें जैसी है वैसी यहाँ कह जाता हूँ।

१. **वसति**—जो ब्रह्मचारी साधु है वह जहाँ स्त्री, पशु या पण्डग से संयुक्त वसति हो वहाँ न रहे। स्त्री दो प्रकारकी है: मनुष्यिणी और देवांगना। इस प्रत्येकके फिर दो-दो भेद हैं। एक तो मूल और दूसरी स्त्रीकी मूर्ति या चित्र। इस प्रकारका जहाँ वास हो वहाँ ब्रह्मचारी साधु न रहे। पशु अर्थात् तिर्यंचिणी गाय, भैंस इत्यादि जिस स्थानमे हों उस स्थानमे न रहे; और जहाँ पण्डग अर्थात् नपुंसकका वास हो वहाँ भी न रहे। इस प्रकारका वास ब्रह्मचर्यकी हानि करता है। उनकी कामचेष्टा, हावभाव इत्यादिक विकार मनको भ्रष्ट करते है।

२. **कथा**—केवल अकेली स्त्रियोंको ही या एक ही स्त्रीको ब्रह्मचारी धर्मोपदेश न करे। कथा मोहकी जननी है। स्त्रीके रूपसम्बन्धी ग्रन्थ, कामविलाससम्बन्धी ग्रन्थ ब्रह्मचारी न पढे, या जिससे चित्त चलित हो ऐसी किसी भी प्रकारकी शृङ्गारसम्बन्धी कथा ब्रह्मचारी न करे।

३. **आसन**—स्त्रियोंके साथ एक आसनपर न बैठे। जहाँ स्त्री बैठी हो वहाँ दो घड़ी तक ब्रह्मचारी न बैठे। यह स्त्रियोंकी स्मृतिका कारण है, इससे विकारकी उत्पत्ति होती है; ऐसा भगवानने कहा है।

४ **इन्द्रियनिरीक्षण**—ब्रह्मचारी साधु स्त्रियोंके अंगोपाग न देखे, उनके अमुक अंगपर दृष्टि एकाग्र होनेसे विकारकी उत्पत्ति होती है।

५. **कुड्यांतर**—भीत, कनात अथवा टाटका व्यवधान बीचमें हो और जहाँ स्त्री-पुरुष मैथुन करते हों वहाँ ब्रह्मचारी न रहे। क्योंकि शब्द चेष्टादिक विकारके कारण है।

६. **पूर्वक्रीड़ा**—स्वयं गृहस्थावासमे चाहे जिस प्रकारके शृंगारसे विषयक्रीडा की हो उसकी स्मृति न करे, वैसा करनेसे ब्रह्मचर्यका भंग होता है।

७. **प्रणीत**—दूध, दही, घृतादि मधुर और चिकने पदार्थोंका बहुधा आहार न करे। इससे वीर्यकी वृद्धि और उन्माद होते हैं और उससे कामकी उत्पत्ति होती है; इसलिये ब्रह्मचारी वैसा न करे।

८. **अतिमात्राहार**—पेट भरकर आहार न करे तथा जिससे अति मात्राकी उत्पत्ति हो ऐसा न करे। इससे भी विकार बढ़ता है।

९. **विभूषण**—स्नान, विलेपन, पुष्प आदिको ब्रह्मचारी ग्रहण न करे। इससे ब्रह्मचर्यकी हानि होती है।

इस प्रकार भगवानने नौ बाड़े विशुद्ध ब्रह्मचर्यके लिये कही है। बहुधा ये तुम्हारे सुननेमें आयी होगी। परन्तु गृहस्थावासमे अमुक अमुक दिन ब्रह्मचर्य धारण करनेमे अभ्यासियोके ध्यानमे रहनेके लिये यहाँ कुछ समझाकर कही है।

शिक्षापाठ ७० . सनत्कुमार—भाग १

चक्रवर्तीके वैभवमे क्या कमी हो ? सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। उनका वर्ण और रूप अत्युत्तम था। एक बार सुधर्मसभामे उस रूपकी स्तुति हुई। किन्ही दो देवोको यह बात न रुची। फिर वे उस शंकाको दूर करनेके लिये विप्रके रूपमे सनत्कुमारके अंतःपुरमे गये। सनत्कुमारकी देहमे उस समय उबटन लगा हुआ था। उसके अगोपर मर्दनादिक पदार्थोंका मात्र विलेपन था। एक छोटी अगोछी पहनी हुई थी और वे स्नानमज्जन करनेके लिये बैठे थे। विप्रके रूपमे आये हुए देवता उनका मनोहर मुख, कंचनवर्णी काया और चन्द्र जैसी काति देखकर बहुत आनदित हुए और सिर हिलाया। इस पर चक्रवर्तीने पूछा, "आपने सिर क्यो हिलाया ?" देवोंने कहा, "हम आपके रूप और वर्णका निरीक्षण करनेके लिये बहुत अभिलाषी थे। हमने स्थान-स्थानपर आपके वर्ण-रूपकी स्तुति सुनी थी, आज उसे हमने प्रत्यक्ष देखा, इससे हमे पूर्ण आनद हुआ। सिर हिलानेका कारण यह है कि जैसा लोगोमे कहा जाता है वैसा ही आपका रूप है, उससे अधिक है, परन्तु कम नही।" सनत्कुमार स्वरूपवर्णकी स्तुतिसे गर्वमे आकर बोले, "आपने इस समय मेरा रूप देखा सो ठीक है, परन्तु मै जब राजसभामे वस्त्रालकार धारण करके सर्वथा सज्ज होकर सिंहासनपर बैठता हूँ, तब मेरा रूप और मेरा वर्ण देखने योग्य है। अभी तो मै शरीरमे उबटन लगाकर बैठा हूँ। यदि उस समय आप मेरे रूप-वर्णको देखेगे तो अद्भुत चमत्कारको प्राप्त होगे और चकित हो जायेगे।" देवोने कहा, "तो फिर हम राजसभामे आयेंगे" ऐसा कहकर वे वहाँसे चले गये।

तत्पश्चात् सनत्कुमारने उत्तम वस्त्रालंकार धारण किये। अनेक प्रसाधनोसे अपने शरीरको विशेष आश्चर्यकारी ढगसे सजाकर वे राजसभामे आकर सिंहासनपर बैठे। आसपास समर्थ मत्री, सुभट, विद्वान और अन्य सभासद अपने-अपने योग्य आसनोपर बैठे हुए थे। राजेश्वर चमरछत्रसे और खमा खमाके उद्गारोसे विशेष शोभित तथा सत्कारित हो रहे थे। वहाँ वे देवता फिर विप्रके रूपमे आये। अद्भुत रूप-वर्णसे आनंदित होनेके बदले मानो खिन्न हुए हो ऐसे ढंगसे उन्होने सिर हिलाया। चक्रवर्तीने पूछा, "अहो ब्राह्मणो! गत समयकी अपेक्षा इस समय आपने और ही तरहसे सिर हिलाया है, इसका क्या कारण है सो मुझे बतायें।" अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोने कहा, "हे महाराजन्! उस रूप और इस रूपमे भूमि-आकाशका फर्क पड गया है।" चक्रवर्तीने उसे स्पष्ट समझानेके लिये कहा। ब्राह्मणोने कहा, "अधिराज! पहले आपकी कोमल काया अमृततुल्य थी, इस समय विषतुल्य है। जब अमृततुल्य अंग था तब हमे आनद हुआ था और इस समय विषतुल्य है अत हमे खेद हुआ है। हम जो कहते हैं उस बातको सिद्ध करना हो तो आप ताम्बूल थूके। तत्काल उसपर मक्खी बैठेगी और परलोक पहुँच जायेगी।"

शिक्षापाठ ७१ : सनत्कुमार—भाग २

सनत्कुमारने यह परीक्षा की तो सत्य सिद्ध हुई। पूर्व कर्मके पापके भागमे इस कायाके मदका मिश्रण होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गई थी। विनाशी और अशुचिमय कायाका ऐसा प्रपंच देखकर सनत्कुमारके अत करणमे वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह संसार सर्वथा त्याग करने योग्य है। ऐसीकी ऐसी अशुचि स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके शरीरमे रही है। यह सब मोह-मान करने योग्य नही हैं, यों कहकर वे छ खडकी प्रभुताका त्याग करके चल निकले। वे जब साधुरूपमे विचरते थे तब महारोग उत्पन्न

हुआ। उनके सत्यत्वकी परीक्षा लेनेके लिये कोई देव वहाँ वैद्यरूपमे आया। साधुसे कहा, "मै बहुत कुशल राजवैद्य हूँ, आपकी काया रोगका भोग बनी हुई है, यदि इच्छा हो तो तत्काल मैं उस रोगको दूर कर दूँ।" साधु बोले, 'हे वैद्य! कर्मरूपी रोग महोन्मत्त है; इस रोगको दूर करनेकी आपकी समर्थता हो तो भले मेरा यह रोग दूर करें। यह समर्थता न हो तो यह रोग भले रहे।" देवताने कहा, "इस रोगको दूर करनेकी समर्थता तो मैं नही रखता।" साधुने अपनी लब्धिके परिपूर्ण बलसे थूकवाली अंगुलि करके उसे रोग पर लगाया कि तत्काल वह रोग नष्ट हो गया, और काया फिर जैसी थी वैसी हो गई। बादमे उस समय देवने अपना स्वरूप प्रकट किया, धन्यवाद देकर वदन करके वह अपने स्थानको चला गया।

रक्तपित्त जैसे सदैव खून-पीपसे खदबदाते हुए महारोगकी उत्पत्ति जिस कायामे है, पलभरमे विनष्ट हो जानेका जिसका स्वभाव है, जिसके प्रत्येक रोममे पौने दो दो रोगोका निवास है, ऐसे साढे तीन करोड रोमोसे भरी होनेसे वह रोगोका भडार है ऐसा विवेकसे सिद्ध है। अन्न आदिकी न्यूनाधिकतासे वह प्रत्येक रोग जिस कायामे प्रगट होता है, मल, मूत्र, विष्ठा, हड्डी, मास, पीप और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, मात्र त्वचासे जिसकी मनोहरता है, उस कायाका मोह सचमुच विभ्रम ही है! सनत्-कुमारने जिसका लेशमात्र मान किया, वह भी जिससे सहन नही हुआ, उस कायामे अहो पामर! तू क्या मोह करता है? यह मोह मगलदायक नही है।

शिक्षापाठ ७२ : बत्तीस योग

सत्पुरुष नीचेके बत्तीस योगोका सग्रह करके आत्माको उज्ज्वल करनेके लिये कहते है—

१ 'शिष्य अपने जैसा हो इसके लिये उसे श्रुतादिका ज्ञान देना।'[1]
२. 'अपने आचार्यत्वका जो ज्ञान हो उसका दूसरेको बोध देना और उसे प्रकाशित करना।'[2]
३ आपत्तिकालमे भी धर्मकी दृढताका त्याग नही करना।
४. लोक-परलोकके सुखके फलकी इच्छाके बिना तप करना।
५ जो शिक्षा मिली है उसके अनुसार यत्नासे वर्त्तन करना, और नयी शिक्षाको विवेकसे ग्रहण करना।
६. ममत्वका त्याग करना।
७ गुप्त तप करना।
८. निर्लोभता रखना।
९. परिषहउपसर्गको जीतना।
१०. सरल चित्त रखना।
११ आत्मसयम शुद्ध पालना।
१२ सम्यक्त्व शुद्ध रखना।
१३ चित्तकी एकाग्र समाधि रखना।
१४. कपटरहित आचार पालना।
१५ विनय करने योग्य पुरुषोंकी यथायोग्य विनय करनी।
१६. संतोषसे तृष्णाकी मर्यादा कम कर डालना।
१७. वैराग्यभावनामें निमग्न रहना।
१८ मायारहित वर्तन करना।

द्वि० आ० पाठा०—१ 'मोक्षसाधक योगके लिये शिष्य आचार्यके पास आलोचना करे।' २. 'आचार्य आलोचनाको दूसरेके पास प्रकाशित न करे।'

१९. शुद्ध करनीमे सावधान होना।
२०. संवरको अपनाना और पापको रोकना।
२१. अपने दोषोको समभावपूर्वक दूर करना।
२२ सर्व प्रकारके विषयसे विरक्त रहना।
२३. मूल गुणोंमे पचमहाव्रतोको विशुद्ध पालना।
२४. उत्तर गुणोमे पंचमहाव्रतोको विशुद्ध पालना।
२५. उत्साहपूर्वक कायोत्सर्ग करना।
२६ प्रमादरहित ज्ञान व ध्यानमें प्रवर्तन करना।
२७. सदैव आत्मचारित्रमें सूक्ष्म उपयोगसे प्रवृत्त रहना।
२८. जितेन्द्रियताके लिये एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना।
२९. मरणांत दुःखसे भी भयभीत नही होना।
३०. स्त्री आदिके संगका त्याग करना।
३१. प्रायश्चित्तसे विशुद्धि करना।
३२ मरणकालमे आराधना करना।

यह एक एक योग अमूल्य है। इन सबका संग्रह करनेवाला परिणाममे अनत सुखको प्राप्त होता है।

शिक्षापाठ ७३ : मोक्षसुख

इस सृष्टिमंडलमें भी कितनी ही ऐसी वस्तुएँ और मनकी इच्छाएँ रही हैं कि जिन्हे कुछ अशमे जानते हुए भी कहा नही जा सकता। फिर भी ये वस्तुएँ कुछ सम्पूर्ण शाश्वत या अनंत भेदवाली नहीं हैं। ऐसी वस्तुका जब वर्णन नही हो सकना तब अनन्त सुखमय मोक्षसम्बन्धी उपमा तो कहाँसे मिलेगी ? गौतम स्वामीने भगवानसे मोक्षके अनन्त सुखके विषयमे प्रश्न किया तब भगवानने उत्तरमे कहा— "गौतम ! यह अनंतसुख ! मैं जानता हूँ, परन्तु उसे कहा जा सके ऐसी यहाँ पर कोई उपमा नही है। जगतमे इस सुखके तुल्य कोई भी वस्तु या सुख नही है।" ऐसा कहकर उन्होने निम्न आशयका एक भील-का दृष्टान्त दिया था।

एक जंगलमे एक भद्रिक भील अपने बालबच्चो सहित रहता था। शहर आदिकी समृद्धिकी उपाधिका उसे लेश भान भी न था। एक दिन कोई राजा अश्वक्रीड़ाके लिये घूमता घूमता वहाँ आ निकला। उसे बहुत प्यास लगी थी, जिससे उसने इशारेसे भीलसे पानी माँगा। भीलने पानी दिया। शीतल जलसे राजा सन्तुष्ट हुआ। अपनेको भीलकी तरफसे मिले हुए अमूल्य जलदानका बदला चुकानेके लिये राजाने भीलको समझाकर अपने साथ लिया। नगरमे आनेके बाद राजाने भीलको उसने जिन्दगीमे न देखी हुई वस्तुओमे रखा। सुन्दर महल, पासमे अनेक अनुचर, मनोहर छत्रपलंग, स्वादिष्ट भोजन, मंद मंद पवन और सुगन्धी विलेपनसे उसे आनन्दमय कर दिया। विविध प्रकारके हीरा, माणिक, मौक्तिक, मणिरत्न और रंग-बिरंगी अमूल्य वस्तुएँ निरन्तर उस भीलको देखनेके लिये भेजा करता था, और उसे बाग-बगीचोंमे घूमने-फिरनेके लिये भेजा करता था। इस प्रकार राजा उसे सुख दिया करता था। एक रात जब सब सो रहे थे तब उस भीलको बालबच्चे याद आये, इसलिये वह वहाँसे कुछ लिये किये बिना एकाएक निकल पडा। जाकर अपने कुटुम्बियोसे मिला। उन सबने मिलकर पूछा, "तू कहाँ था ?" भीलने कहा, "बहुत सुखमें। वहाँ मैंने बहुत प्रशंसा करने योग्य वस्तुएँ देखी।"

कुटुम्बी—परंतु वे कैसी थीं ? यह तो हमे बता।

भील—क्या कहूँ ? यहाँ वैसी एक भी वस्तु नही है।

कुटुम्बी—भला ऐसा हो क्या ? ये शख, सोप, कौड़ा कैसे मनोहर पड़े है ! वहाँ ऐसी कोई देखने लायक वस्तु थी ?

भील—नही, नही भाई, ऐसी वस्तु तो यहाँ एक भी नही है। उनके सौवे या हजारवे भाग जितनी भी मनोहर वस्तु यहाँ नहीं है।

कुटुम्बी—तब तो तू चुपचाप बैठा रह, तुझे भ्रम हुआ है, भला, इससे अच्छा और क्या होगा ?

हे गौतम ! जैसे यह भील राजवैभवसुख भोगकर आया था, और जानता भी था, फिर भी उपमा-योग्य वस्तु न मिलनेसे वह कुछ कह नही सकता था, वैसे ही अनुपमेय मोक्षको, सच्चिदानन्द स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असख्यातवें भागके भी योग्य उपमेय न मिलनेसे मैं तुझे नही कह सकता।

मोक्षके स्वरूपके विषयमे शका करनेवाले तो कुतर्कवादी है, उन्हे क्षणिक सुखसंबंधी विचारके कारण सत्सुखका विचार नही आता। कोई आत्मिकज्ञानहीन यो भी कहता है कि इससे कोई विशेष सुख-का साधन वहाँ है नही, इसलिये अनत अव्याबाध सुख कह देते है। उसका यह कथन विवेकपूर्ण नही है। निद्रा प्रत्येक मानवको प्रिय है, परन्तु उसमे वह कुछ जान या देख नही सकता, और यदि कुछ जाननेमे आये तो मात्र स्वप्नोपाधिका मिथ्यापना आता है जिसका कुछ असर भी हो। वह स्वप्नरहित निद्रा जिसमे सूक्ष्म एव स्थूल सब जाना और देखा जा सके, और निरुपाधिसे शात ऊँघ ली जा सके तो उसका वह वर्णन क्या कर सकता है ? उसे उपमा भी क्या दे सकता है ? यह तो स्थूल दृष्टात है, परन्तु बाल, अविवेकी इस परसे कुछ विचार कर सके, इसलिये कहा है।

भीलका दृष्टान्त समझानेके लिये भाषाभेदके फेरफारसे तुम्हे कह बताया।

शिक्षापाठ ७४ : धर्मध्यान—भाग १

भगवानने चार प्रकारके ध्यान कहे है—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। पहले दो ध्यान त्यागने योग्य है। पिछले दो ध्यान आत्मसार्थकरूप है। श्रुतज्ञानके भेदोको जाननेके लिये, शास्त्रविचारमे कुशल होनेके लिये, निर्ग्रंथप्रवचनका तत्त्व पानेके लिये, सत्पुरुषोके द्वारा सेवन करने योग्य, विचारने योग्य और ग्रहण करने योग्य धर्मध्यानके मुख्य सोलह भेद है। पहले चार भेद कहता हूँ। १. आणाविजय (आज्ञा-विचय), २ अवायविजय (अपायविचय), ३. विवागविजय (विपाकविजय), ४ सठाणविजय (सस्थान-विचय)।

१. आज्ञाविचय—आज्ञा अर्थात् सर्वज्ञ भगवानने धर्मतत्त्व सम्बन्धी जो-जो कहा है वह वह सत्य है, इसमे शंका करने योग्य नहीं है। कालकी हीनतासे, उत्तम ज्ञानका विच्छेद होनेसे, बुद्धिकी मदतासे या ऐसे अन्य किसी कारणसे मेरी समझमे वह तत्त्व नही आता। परन्तु अर्हत भगवानने अशमात्र भी मायायुक्त या असत्य कहा ही नही है, क्योकि वे नीरागी, त्यागी और नि.स्पृही थे। मृषा कहनेका उन्हे कोई कारण न था, और वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होनेसे अज्ञानसे भी मृषा नही कहगे। जहाँ अज्ञान ही नही है, वहाँ तत्संबधी मृषा कहाँसे होगा ? ऐसा जो चितन करना वह 'आज्ञाविचय' नामका प्रथम भेद है।

२. अपायविचय—राग, द्वेष, काम, क्रोध इनसे जो दु.ख उत्पन्न होता है उसका जो चिंतन करना वह 'अपायविचय' नामका दूसरा भेद है। अपाय अर्थात् दु.ख।

३. विपाकविचय—मैं क्षण-क्षणमे जो जो दुःख सहन करता हूँ, भवाटवीमे पर्यटन करता हूँ, अज्ञानादिक पाता हूँ, वह सब कर्मके फलके उदयसे है, इस प्रकार जो चितन करना वह धर्मध्यानका तीसरा भेद है।

४. **संस्थानविचय**—तीन लोकके स्वरूपका चिंतन करना। लोकस्वरूप सुप्रतिष्ठकके आकारका है, जीव-अजीवसे सम्पूर्ण भरपूर है। असख्यात योजनकी कोटानुकोटिसे तिरछा लोक है, जहाँ असख्यात द्वीप-समुद्र है। असख्यात ज्योतिषी, वाणव्यंतर आदिके निवास है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विचित्रता इसमे लगी हुई है। ढाई द्वीपमे जघन्य तीर्थकर बीस, उत्कृष्ट एक सौ सत्तर होते है, तथा केवली भगवान और निर्ग्रंथ मुनिराज विचरते है, उन्हे "वंदामि, नमसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवय, चेइय, पज्जुवासामि" इस प्रकार तथा वहाँ रहनेवाले श्रावक श्राविकाओका गुणगान करें। उस तिरछे लोकसे असंख्यातगुना अधिक ऊर्ध्वलोक है। वहाँ अनेक प्रकारके देवताओके निवास है। फिर ईषत् प्राग्भारा है। उसके बाद मुक्तात्मा विराजते है, उन्हे "वदामि यावत् पज्जुवासामि।" उस ऊर्ध्वलोकसे कुछ विशेष अधोलोक है, वहाँ अनन्त दु खसे भरे हुए नरकावास है और भवनपतिके भवनादिक है। इन तीन लोकके सर्व स्थानकोको इस आत्माने सम्यक्त्वरहित करनीसे अनतवार जन्ममरण करके स्पर्श किया है, ऐसा जो चिंतन करना वह 'संस्थानविचय' नामका धर्मध्यानका चौथा भेद है। इन चार भेदोको विचारकर सम्यक्त्वसहित श्रुत और चारित्रधर्मकी आराधना करनी चाहिये जिससे ये अनत जन्ममरण दूर हो। धर्मध्यानके इन चार भेदोको स्मरणमे रखना चाहिये।

शिक्षापाठ ७५ : धर्मध्यान—भाग २

धर्मध्यानके चार लक्षण कहता हूँ। १. **आज्ञारुचि**—अर्थात् वीतराग भगवानकी आज्ञा अगीकार करनेकी रुचि उत्पन्न होना। २. **निसर्गरुचि**—आत्मा स्वाभाविकरूपसे जातिस्मरणादि ज्ञानसे श्रुतसहित चारित्रधर्मको धारण करनेकी रुचि प्राप्त करे उसे निसर्गरुचि कहते है। ३. **सूत्ररुचि**—श्रुतज्ञान और अनत तत्त्वके भेदोके लिये कहे हुए भगवानके पवित्र वचनोका जिनमे गूँथन हुआ है उन सूत्रोका श्रवण करने, मनन करने और भावसे पठन करनेकी रुचि उत्पन्न हो, उसे सूत्ररुचि कहते है। ४. **उपदेशरुचि**—अज्ञानसे उपार्जित कर्मोंको हम ज्ञानसे खपाये, तथा ज्ञानसे नये कर्मोंको न बाँधे, मिथ्यात्वसे उपार्जित कर्मोको सम्यक्‌भावसे खपायें और सम्यक् भावसे नये कर्मोंको न बाँधे, अवैराग्यसे उपार्जित कर्मोको वैराग्यसे खपाये और वैराग्यसे फिर नये कर्मोंको न बाँधे, कषायसे उपार्जित कर्मोको कषायको दूर करके खपाये और क्षमादिसे नये कर्मोंको न बाँधे, अशुभयोगसे उपार्जित कर्मोंको शुभयोगसे खपाये और शुभयोगसे नये कर्मोको न बाँधे, पाँच इन्द्रियोके स्वादरूप आस्रवसे उपार्जित कर्मोंको सवरसे खपाये, और तपरूप संवरसे नये कर्मोंको न बाँधे; इसके लिये अज्ञानादिक आस्रव मार्ग छोडकर ज्ञानादिक सवर मार्ग ग्रहण करनेके लिये तीर्थंकर भगवानके उपदेशको सुननेकी रुचि उत्पन्न हो, उसे उपदेशरुचि कहते है। ये धर्मध्यानके चार लक्षण कहे गये।

धर्मध्यानके चार आलबन कहता हूँ। १. वाचना, २ पृच्छना, ३. परावर्त्तना, ४. धर्मकथा। १. **वाचना**—अर्थात् विनय सहित निर्जरा तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सूत्र-सिद्धानके मर्मके जानकार गुरु अथवा सत्पुरुषके समीप सूत्र तत्त्वका वाचन ले, उसका नाम वाचनालबन है। २. **पृच्छना**—अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, जिनेश्वर भगवानके मार्गको रोशन करनेके लिये तथा शकाशल्यके निवारणके लिये तथा अन्यके तत्त्वोकी मध्यस्थ परीक्षाके लिये यथायोग्य विनय सहित गुरु आदिको प्रश्न पूछें, उसे पृच्छनालंबन कहते हैं। ३. **परावर्त्तना**—पूर्वमे जो जिनभाषित सूत्रार्थ पढे हो उन्हे स्मरणमे रखनेके लिये, निर्जराके लिये शुद्ध उपयोग सहित शुद्ध सूत्रार्थका वारंवार स्वाध्याय करे, उसका नाम परावर्त्तनालंबन है। ४. **धर्मकथा**—वीतराग भगवानने जो भाव जैसे प्रणीत किये हैं, उन भावोंको उसी तरह समझ करके, ग्रहण करके, विशेषरूपसे निश्चय करके, शका, कंखा और वितिगिच्छारहितरूपसे, अपनी निर्जराके लिये सभामे उन भावोको उसी तरह प्रणीत करें, उसे धर्मकथालंबन कहते है। इससे सुननेवाला और

श्रद्धा करनेवाला दोनो भगवानकी आज्ञाके आराधक होते है। ये धर्मध्यानके चार आलबन कहे गये। धर्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षा कहता हूँ। १ एकत्वानुप्रेक्षा, २. अनित्यानुप्रेक्षा, ३. अशरणानुप्रेक्षा, ४. ससारानुप्रेक्षा। इन चारोका बोध बारह भावनाके पाठमे कहा जा चुका है वह तुम्हे स्मरणमे होगा।

शिक्षापाठ ७६ : धर्मध्यान–भाग ३

धर्मध्यानको पूर्वाचार्योंने और आधुनिक मुनीश्वरोने भी विस्तारपूर्वक बहुत समझाया है। इस ध्यानसे आत्मा मुनित्वभावमे निरतर प्रवेश करता है।

जो जो नियम अर्थात् भेद, आलबन और अनुप्रेक्षा कहे है वे बहुत मनन करने योग्य है। अन्य मुनीश्वरोके कथनानुसार मैने उन्हे सामान्य भाषामे तुम्हे कहा है, इसके साथ निरतर यह ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि इनमेसे हमने कौनसा भेद प्राप्त किया, अथवा किस भेदकी ओर भावना रखी है? इन सोलह भेदोंमेसे कोई भी भेद हितकारी और उपयोगी है, परतु जिस अनुक्रमसे लेना चाहिये उस अनुक्रमसे लिया जाये तो वह विशेष आत्मलाभका कारण होता है।

कितने ही लोग सूत्र-सिद्धातके अध्ययन मुखाग्र करते है, यदि वे उनके अर्थ और उनमे कहे हुए मूलतत्त्वोकी ओर ध्यान दें तो कुछ सूक्ष्मभेदको पा सकते है। जैसे केलेके पत्रमे, पत्रमे पत्रकी चमत्कृति है वैसे ही सूत्रार्थमे चमत्कृति है। इस पर विचार करनेसे निर्मल और केवल दयामय मार्गका जो वीतराग-प्रणीत तत्त्वबोध है उसका बीज अत.करणमे अकुरित हो उठेगा। वह अनेक प्रकारके शास्त्रावलोकनसे, प्रश्नोत्तरसे, विचारसे और सत्पुरुषके समागमसे पोषण पाकर बढकर वृक्षरूप होगा। फिर वह वृक्ष निर्जरा और आत्मप्रकाशरूप फल देगा।

श्रवण, मनन और निदिध्यासनके प्रकार वेदातवादियोने बताये है, परतु जैसे इस धर्मध्यानके पृथक्-पृथक् सोलह भेद यहा कहे है वैसे तत्त्वपूर्वक भेद किसी स्थानमे नहीं है, ये अपूर्व है। इनसे शास्त्रको श्रवण करनेका, मनन करनेका, विचारनेका, अन्यका बोध करनेका शका कखा दूर करनेका, धर्मकथा करनेका, एकत्व विचारनेका, अनित्यता विचारनेका, अशरणता विचारनेका, वैराग्य पानेका, संसारके अनंत दु खका मनन करनेका और वीतराग भगवानकी आज्ञासे सारे लोकालोकका विचार करनेका अपूर्व उत्साह मिलता है। भेद-प्रभेद करके इनके फिर अनेक भाव समझाये है।

इनमेसे कतिपय भावोको समझनेसे तप, शाति, क्षमा, दया, वैराग्य और ज्ञानका बहुत बहुत उदय होगा।

तुम कदाचित् इन सोलह भेदोका पठन कर गये होगे, फिर भी पुन पुनः उसका परावर्त्तन करना।

शिक्षापाठ ७७ : ज्ञानसंबधी दो शब्द––भाग १

जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप जाना जाता है वह ज्ञान है। ज्ञान शब्दका यह अर्थ है। अब यथामति यह विचार करना है कि इस ज्ञानकी कुछ आवश्यकता है? यदि आवश्यकता है तो इसकी प्राप्तिके कुछ साधन है? यदि साधन है तो उसके अनुकूल देश, काल और भाव है? यदि देशकालादि अनुकूल हैं तो कहाँ तक अनुकूल है? विशेषमे यह भी विचार करना है कि इस ज्ञानके भेद कितने है? जानने योग्य क्या है? इसके फिर कितने भेद हैं? जाननेके साधन कौन-कौनसे है? उन साधनोको किस-किस मार्गसे प्राप्त किया जाता है? इस ज्ञानका उपयोग या परिणाम क्या है? यह सब जानना आवश्यक है।

१ ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? पहले इस विषयमे विचार करे। इस चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोकमें चतुर्गतिमे अनादिकालसे सकर्मस्थितिमे इस आत्माका पर्यटन है। निमेषमात्र भी सुखका जहाँ भाव

नही है ऐसे नरक-निगोदादिक स्थानोंका इस आत्माने बहुत बहुत काल तक वारम्वार सेवन किया है; असह्य दुःखोको पुनः पुनः अथवा यो कहिये कि अनन्तवार सहन किया है। इस उत्तापसे निरंतर संतप्त होता हुआ आत्मा मात्र स्वकर्मविपाकसे पर्यटन करता है। पर्यटनका कारण अनत दुःखद ज्ञानावरणीयादि कर्म है, जिनके कारण आत्मा स्वस्वरूपको पा नही सकता, और विषयादिक मोह बंधनको स्वस्वरूप मान रहा है। इन सबका परिणाम मात्र ऊपर कहा वही है कि अनत दुःखको अनंत भावोसे सहन करना; चाहे जितना अप्रिय, चाहे जितना दुःखदायक और चाहे जितना रौद्र होनेपर भी जो दुःख अनंतकालसे अनंतवार सहन करना पडा, वह दुःख मात्र उस अज्ञानादिक कर्मके कारण सहन किया, उस अज्ञानादिकको दूर करनेके लिये ज्ञानकी परिपूर्ण आवश्यकता है।

शिक्षापाठ ७८ : ज्ञानसंबंधी दो शब्द—भाग २

२ अब ज्ञानप्राप्तिके साधनोके विषयमे कुछ विचार करे। अपूर्ण पर्याप्तिसे परिपूर्ण आत्मज्ञान सिद्ध नही होता, इसलिये छ पर्याप्तिसे युक्त देह ही आत्मज्ञानको सिद्ध कर सकती है। ऐसी देह एक मात्र मानवदेह है। यहाँ पर यह प्रश्न उठेगा कि मानवदेहको प्राप्त तो अनेक आत्मा हैं, तो वे सब आत्मज्ञानको क्यो नही प्राप्त करते ? इसके उत्तरमे हम यह मान सकेगे कि जिन्होने सपूर्ण आत्मज्ञानको प्राप्त किया है उनके पवित्र वचनामृतकी उन्हे श्रुति नही है। श्रुतिके बिना सस्कार नही है। यदि सस्कार नही है तो फिर श्रद्धा कहाँसे होगी ? और जहाँ यह एक भी नही है वहाँ ज्ञानप्राप्ति कहाँसे होगी ? इसलिये मानवदेहके साथ सर्वज्ञवचनामृतकी प्राप्ति और उसकी श्रद्धा यह भी साधनरूप है। सर्वज्ञवचनामृत अकर्मभूमि या केवल अनार्यभूमिमे नही मिलते, तो फिर मानवदेह किस उपयोगकी ? इसलिये आर्यभूमि भी साधनरूप है। तत्त्वकी श्रद्धा उत्पन्न होनेके लिये और बोध होनेके लिये निर्ग्रन्थ गुरुकी आवश्यकता है। द्रव्यसे जो कुल मिथ्यात्वी है उस कुलमे हुआ जन्म भी आत्मज्ञानकी प्राप्तिमे हानिरूप ही है। क्योकि धर्ममतभेद अति दुःखदायक है। परपरासे पूर्वजो द्वारा ग्रहण किये हुए दर्शनमे ही सत्यभावना बनती है, इससे भी आत्मज्ञान रुकता है। इसलिये उत्तम कुल भी आवश्यक है। इन सबको प्राप्त करनेके लिये भाग्यशाली होना चाहिये। इसमे सत्पुण्य अर्थात् पुण्यानुबधी पुण्य इत्यादि उत्तम साधन है। यह द्वितीय साधनभेद कहा।

३ यदि साधन है तो उनके अनुकूल देश और काल है ? इस तीसरे भेदका विचार करे। भारत, महाविदेह इत्यादि कर्मभूमि और उसमे भी आर्यभूमि यह देशकी अपेक्षासे अनुकूल है। जिज्ञासु भव्य ! तुम सब इस कालमे भारतमे हो, इसलिये भारत देश अनुकूल है। कालकी अपेक्षासे मति और श्रुत प्राप्त किये जा सके इतनी अनुकूलता है, क्योकि इस दुःषम पचमकालमे परम्पराम्नायसे परमावधि, मनःपर्यय और केवल ये पवित्र ज्ञान देखनेमे नही आते, इसलिये कालकी परिपूर्ण अनुकूलता नही है।

४ देश, काल आदि यदि अनुकूल है तो कहाँ तक है ? इसका उत्तर है कि शेष रहा हुआ सैद्धांतिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान सामान्यमतसे कालकी अपेक्षासे इक्कीस हजार वर्ष तक रहेगा। इनमेसे ढाई हजार वर्ष बीत गये, बाकी साढे अठारह हजार वर्ष रहे, अर्थात् पचमकालकी पूर्णता तक कालको अनुकूलता है। इसलिये देश, काल अनुकूल है।

शिक्षापाठ ७९ ज्ञानसंबंधी दो शब्द—भाग ३

अब विशेष विचार करें :—

१. आवश्यकता क्या है ? इस महान विचारका मंथन पुनः विशेषतासे करे। मुख्य आवश्यक यह है कि स्वस्वरूप स्थितिकी श्रेणिपर चढ़ना। जिससे अनंत दुःखका नाश हो, दुःखके नाशसे आत्माका

श्रेयस्कर सुख है; और सुख निरंतर आत्माको प्रिय ही है, परंतु जो स्वस्वरूपसुख है वह। देश, काल और भावकी अपेक्षासे श्रद्धा, ज्ञान इत्यादि उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है। सम्यग्भावसहित उच्चगति, वहाँसे महाविदेहमें मानवदेहके रूपमें जन्म, वहाँ सम्यग्भावकी पुनः उन्नति, तत्त्वज्ञानकी विशुद्धता और वृद्धि, अन्तमें परिपूर्ण आत्मसाधन ज्ञान और उसका सत्य परिणाम सर्वथा सर्व दुःखका अभाव अर्थात् अखंड, अनुपम, अनंत शाश्वत पवित्र मोक्षकी प्राप्ति, इस सबके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है।

२ ज्ञानके भेद कितने हैं तत्संबंधी विचार कहता हूँ। इस ज्ञानके भेद अनंत हैं; परंतु सामान्यदृष्टि समक्ष सके इसलिये सर्वज्ञ भगवानने मुख्य पाँच भेद कहे हैं। उन्हें मैं ज्यो का त्यो कहता हूँ। प्रथम मति, द्वितीय श्रुत, तृतीय अवधि, चतुर्थ मनःपर्यय और पंचम संपूर्ण स्वरूप केवल। इनके पुनः प्रतिभेद हैं। और फिर उनके अतींद्रिय स्वरूपसे अनंत भंग जाल है।

३ जानने योग्य क्या है? इसका अब विचार करें। वस्तुके स्वरूपको जाननेका नाम जब ज्ञान है, तब वस्तुएँ तो अनंत हैं, उन्हें किस क्रमसे जानना? सर्वज्ञ होनेके बाद सर्वदर्शितासे वे सत्पुरुष उन अनंत वस्तुओंके स्वरूपको सर्व भेदोंसे जानते हैं और देखते हैं, परंतु वे किन किन वस्तुओंको जाननेसे इस सर्वज्ञश्रेणिको प्राप्त हुए? जब तक अनंत श्रेणियोंको नहीं जाना तब तक किन वस्तुओंको जानते-जानते उन अनंत वस्तुओंको अनंतरूपसे जान सकें? इस शंकाका समाधान अब करें। जो अनंत वस्तुएँ मानी है वे अनंत भंगोंकी अपेक्षासे है, परन्तु मुख्य वस्तुत्व-स्वरूपसे उनकी दो श्रेणियाँ हैं—जीव और अजीव। विशेष वस्तुत्व-स्वरूपसे नव तत्त्व किंवा षड्द्रव्यकी श्रेणियाँ जानने योग्य हो जाती है। इस क्रमसे चढ़ते-चढ़ते सर्व भावसे ज्ञात होकर लोकालोकस्वरूप हस्तामलकवत् जाना देखा जा सकता है। इसलिये जानने योग्य पदार्थ जीव और अजीव है। ये जानने योग्य मुख्य दो श्रेणियाँ कही गई।

शिक्षापाठ ८० : ज्ञानसंबंधी दो शब्द–भाग ४

४ इनके उपभेदोंको संक्षेपमे कहता हूँ। 'जीव' चैतन्य लक्षणसे एकरूप है, देहस्वरूपसे और द्रव्यस्वरूपसे अनंतानंत है। देहस्वरूपसे उसकी इन्द्रिय आदि जानने योग्य है, उसकी गति, विगति इत्यादि जानने योग्य है, उसकी संसर्गऋद्धि जानने योग्य है। इसी प्रकार 'अजीव', उसके रूपी-अरूपी पुद्गल, आकाशादिक विचित्र भाव, कालचक्र इत्यादि जानने योग्य है। प्रकारान्तरसे जीव-अजीवको जाननेके लिये सर्वज्ञ सर्वदर्शीने नौ श्रेणीरूप नौ तत्त्व कहे है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। इनमेसे कुछ ग्रहण करने योग्य, कुछ जानने योग्य और कुछ त्यागने योग्य है। ये सभी तत्त्व जानने योग्य तो है ही।

५ जाननेके साधन—यद्यपि सामान्य विचारसे इन साधनोंको जान तो लिया है, तो भी विशेषरूपसे कुछ जानें। भगवानकी आज्ञा और उसका शुद्ध स्वरूप यथातथ्य जानना चाहिये। स्वयं तो कोई ही जानता है, नहीं तो निर्ग्रंथ ज्ञानी गुरु बता सकते है। नीरागी ज्ञाता सर्वोत्तम है। इसलिये श्रद्धाके बीजका रोपण करनेवाले या उसका पोषण करनेवाले गुरु साधनरूप है। इस साधन आदिके लिये संसारकी निवृत्ति अर्थात् शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि अन्य साधन है। यदि इन्हें साधन प्राप्त करनेका मार्ग कहें तो भी योग्य है।

६ इस ज्ञानके उपयोग अथवा परिणामके उत्तरका आशय ऊपर आ गया है, परंतु कालभेदसे कुछ कहना है, और वह इतना ही कि दिनमे दो घडीका समय भी नियमित रखकर जिनेश्वर भगवानके कहे हुए तत्त्वबोधका परिशीलन करो। वीतरागके एक सैद्धांतिक शब्दसे ज्ञानावरणीयका बहुत क्षयोपशम होगा यह मैं विवेकसे कहता हूँ।

शिक्षापाठ ८१ : पंचमकाल

कालचक्रके विचार अवश्य जानने योग्य है। जिनेश्वरने इस कालचक्रके दो भेद कहे हैं—१ उत्सर्पिणी, २ अवसर्पिणी। एक-एक भेदके छः छः आरे हैं। आधुनिक प्रवर्तमान आरा पंचमकाल कहलाता है और वह अवसर्पिणी कालका पाँचवाँ आरा है। अवसर्पिणी अर्थात् उतरता हुआ काल। इस उतरते हुए कालके पाँचवें आरेमें इस भरतक्षेत्रमें कैसा वर्तन होना चाहिये इसके बारेमें सत्पुरुषोंने कुछ विचार बताये है, वे अवश्य जानने योग्य है।

वे पंचमकालके स्वरूपको मुख्यतः इस आशयमें कहते है। निर्ग्रंथ प्रवचनमें मनुष्योंकी श्रद्धा क्षीण होती जायेगी। धर्मके मूल तत्त्वोंमें मतमतान्तर बढ़ेंगे। पाखंडी और प्रपंची मतोंका मंडन होगा। जनसमूहकी रुचि अधर्मकी ओर जायेगी। सत्य, दया धीरे-धीरे पराभवको प्राप्त होंगे। मोहादिक दोषोंकी वृद्धि होती जायेगी। दंभी और पापिष्ठ गुरु पूज्य होंगे। दुष्टवृत्तिके मनुष्य अपने प्रपंचमें सफल होंगे। मीठे परंतु धूर्त वक्ता पवित्र माने जायेंगे। शुद्ध ब्रह्मचर्य आदि शीलसे युक्त पुरुष मलिन कहलायेंगे। आत्मिक-ज्ञानके भेद नष्ट होते जायेंगे। हेतुहीन क्रियाएँ बढ़ती जायेंगी। अज्ञान क्रियाका बहुधा सेवन किया जायेगा। व्याकुल करनेवाले विषयोंके साधन बढ़ते जायेंगे। एकांतिक पक्ष सत्ताधीश होंगे। शृंगारसे धर्म माना जायेगा।

सच्चे क्षत्रियोंके बिना भूमि शोकग्रस्त होगी। निस्सत्त्व राजवंशी वेश्याके विलासमें मोहित होंगे। धर्म, कर्म और सच्ची राजनीतिको भूल जायेंगे, अन्यायको जन्म देंगे, जैसे लूट सकेंगे वैसे प्रजाको लूटेंगे। स्वयं पापिष्ठ आचरणोंका सेवन करके प्रजासे उनका पालन करायेंगे। राजबीजके नामपर शून्यता आती जायेगी। नीच मंत्रियोंकी महत्ता बढ़ती जायेगी। वे दीन प्रजाको चूसकर भंडार भरनेका राजाको उपदेश देंगे। शील भंग करनेका धर्म राजाको अंगीकार करायेंगे। शौर्य आदि सद्गुणोंका नाश करायेंगे। मृगया आदि पापोंमें अंध बनायेंगे। राज्याधिकारी अपने अधिकारसे हजारगुना अहंकार रखेंगे। विप्र लालची और लोभी हो जायेंगे। वे सद्विद्याको दबा देंगे, संसारी साधनोंको धर्म ठहरायेंगे। वैश्य मायावी, केवल स्वार्थी और कठोर हृदयके होते जायेंगे। समग्र मनुष्यवर्गकी सद्वृत्तियाँ घटती जायेंगी। अकृत्य और भयंकर कृत्य करते हुए उनकी वृत्ति नहीं रुकेगी। विवेक, विनय, सरलता इत्यादि सद्गुण घटते जायेंगे। अनुकंपाके नामपर हीनता होगी। माताकी अपेक्षा पत्नीमें प्रेम बढ़ेगा, पिताकी अपेक्षा पुत्रमें प्रेम बढ़ेगा, नियमपूर्वक पतिव्रत पालनेवाली सुन्दरियाँ घट जायेंगी। स्नानसे पवित्रता मानी जायेगी, धनसे उत्तम कुल माना जायेगा। शिष्य गुरुसे उलटे चलेंगे। भूमिका रस घट जायेगा। संक्षेपमें कहनेका भावार्थ यह है कि उत्तम वस्तुओंकी क्षीणता होगी और निकृष्ट वस्तुओंका उदय होगा। पंचमकालका स्वरूप इनका प्रत्यक्ष सूचन भी कितना अधिक करता है?

मनुष्य सद्धर्मतत्त्वमें परिपूर्ण श्रद्धावान नहीं हो सकेगा, संपूर्ण तत्त्वज्ञान नहीं पा सकेगा; जम्बुस्वामीके निर्वाणके बाद दस निर्वाणी वस्तुओंका इस भरतक्षेत्रसे व्यवच्छेद हो गया।

पंचमकालका ऐसा स्वरूप जानकर विवेकी पुरुष तत्त्वको ग्रहण करेंगे, कालानुसार धर्मतत्त्वश्रद्धाको पाकर उच्चगतिको साधकर परिणाममें मोक्षको साधेंगे। निर्ग्रन्थ प्रवचन, निर्ग्रन्थ गुरु इत्यादि धर्मतत्त्वकी प्राप्तिके साधन है। इनकी आराधनासे कर्मकी विराधना है।

शिक्षापाठ ८२ : तत्त्वावबोध—भाग १

दशवैकालिकसूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकेगा? इस वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा एवं अनात्माके स्वरूपको जानो, इसे जाननेकी परिपूर्ण आवश्यकता है।

आत्मा-अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रंन्थ प्रवचनमेसे प्राप्त हो सकता है, अनेक मतोमें इन दो तत्त्वोके विषयमे विचार प्रदर्शित किये है वे यथार्थ नही है। महाप्रज्ञावान आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नव तत्त्वोको जो विवेकबुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्मस्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादशैली अनुपम और अनंत भेदभावसे भरपूर है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते है, फिर भी उनके वचनामृतोके अनुसार आगमकी सहायतासे यथामति नव तत्त्वके स्वरूपको जानना आवश्यक है। इस नव तत्त्वको प्रिय श्रद्धाभावसे जाननेसे परम विवेकबुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभावक आत्मज्ञानका उदय होता है। नव तत्त्वमे लोकालोकका सपूर्ण स्वरूप आ जाता है। जिनकी जितनी बुद्धिकी गति है वे उतनी तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते है; और भावानुसार उनके आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्मज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं। जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो,सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानकी उपासना करते है वे पुरुष बड़भागी है।

इन नव तत्त्वोके नाम मैं पिछले शिक्षापाठमे कह गया हूँ, इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान आचार्योंके महान ग्रन्थोमे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धांतमे जो जो कहा है उन सबको विशेष भेदसे समझनेके लिये प्रज्ञावान आचार्यो द्वारा विरचित ग्रन्थ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्यरूप भी है। नव तत्त्वके ज्ञानमें नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद आवश्यक हैं, और उनका यथार्थ बोध उन प्रज्ञावानोंने दिया है।

शिक्षापाठ ८३ : तत्त्वावबोध—भाग २

सर्वज्ञ भगवानने लोकालोकके सपूर्ण भावोको जाना और देखा। उसका उपदेश भव्य लोगोंको किया। भगवानने अनत ज्ञानसे लोकालोकके स्वरूपविषयक अनत भेद जाने थे; परंतु सामान्य मनुष्योंको उपदेशसे श्रेणी चढनेके लिये उन्होने मुख्य दीखते हुए नौ पदार्थ बताये। इससे लोकालोकके सर्वभावोका इसमे समावेश हो जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म बोध है वह तत्त्वकी दृष्टिसे नव तत्त्वमे समा जाता है; तथा सभी धर्ममतोका सूक्ष्म विचार इस नव तत्त्व विज्ञानके एक देशमे आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ आवरित हो रही है उन्हे प्रकाशित करनेके लिये अर्हत भगवानका पवित्र बोध है। ये अनत शक्तियाँ तब प्रफुल्लित हो सकती है जब आत्मा नवतत्त्वविज्ञानमे पारगत ज्ञानी हो।

सूक्ष्म द्वादशागीका ज्ञान भी इन नवतत्त्वके स्वरूपज्ञानमें सहायरूप है। यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे नवतत्त्वके स्वरूपज्ञानका बोध करता है, इसलिये यह नि.शक मानने योग्य है कि जिसने नव तत्त्वको अनंत भाव-भेदसे जाना, वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुआ।

इन नव तत्त्वोको त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना योग्य है। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य और ग्रहण करने योग्य—ये तीन भेद नव-तत्त्वस्वरूपके विचारमें निहित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर क्या करना? जिस गाँवको जाना नही उसका मार्ग किसलिये पूछना?

उत्तर—आपकी इस शंकाका समाधान सहजमे हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोको जान रहे है। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूलतत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो अत्याज्य समझकर किसी समय उसका सेवन हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमे पहुँचने तक रास्तेमें जो जो गाँव आनेवाले हो उनका रास्ता भी पूछना पडता है, नही तो जहाँ जाना है वहाँ नहीं पहुँचा जा सकता। जैसे वे गाँव पूछे परंतु वहाँ वास नही किया, वैसे ही पापादि तत्त्वोको

जानना तो चाहिये परन्तु ग्रहण नही करना चाहिये। जैसे रास्तेमे आनेवाले काँटोका त्याग किया वैसे उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ८४ : तत्त्वावबोध—भाग ३

जो सत्पुरुष गुरुगम्यतासे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक नवतत्त्वका ज्ञान कालभेदसे प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली तथा धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषको मेरा विनयभावभूषित यही बोध है कि वे नव तत्त्वको स्वबुद्धिके अनुसार यथार्थ जाने।

महावीर भगवानके शासनमे बहुत मतमतातर पड गये है, उनका एक मुख्य कारण यह भी है कि तत्त्वज्ञानकी ओर उपासक वर्गका ध्यान नही रहा। वह मात्र क्रियाभावमे अनुरक्त रहा, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमे आई हुई पृथ्वीकी आबादी लगभग डेढ अरब मानी गयी है; उसमें सब गच्छोको मिलाकर जैन प्रजा केवल बीस लाख है। यह प्रजा श्रमणोपासक है। मैं मानता हूँ कि इसमेसे दो हजार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पठनरूपसे जानते होगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले तो उँगलिकी नोक पर गिने जा सके उतने पुरुष भी नही होगे। जब तत्त्वज्ञानकी ऐसी पतित स्थिति हो गयी है तभी मतमतातर बढ गये हैं। एक लौकिक कथन है कि 'सौ सयाने एक मत'। इस तरह अनेक तत्त्व-विचारक पुरुषोके मतमे बहुधा भिन्नता नही आती।

इस नवतत्त्वके विचारके सबंधमे प्रत्येक मुनिसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेष वृद्धि करें। इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ होगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनंदकी प्रसादी मिलेगी, मुनित्वके आचारका पालन सरल हो जायेगा, ज्ञान और क्रिया विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; परिणाममे भवांत हो जायेगा।

शिक्षापाठ ८५ : तत्त्वावबोध—भाग ४

जो जो श्रमणोपासक नव तत्त्वको पठनरूपसे भी नही जानते वे उसे अवश्य जानें। जाननेके बाद बहुत मनन करें। जितना समझमे आ सके, उतने गम्भीर आशयको गुरुगम्यतासे सद्भावसे समझें। इससे आत्मज्ञान उज्ज्वलताको प्राप्त होगा; और यमनियम आदिका पालन होगा।

नवतत्त्व अर्थात् नवतत्त्व नामकी कोई रचित सामान्य पुस्तक नही, परतु जिस जिस स्थलमे जो जो विचार ज्ञानियोंने प्रणीत किये हैं वे सब विचार नवतत्त्वमेंसे किसी एक दो या अधिक तत्त्वके होते हैं। केवली भगवानने इन श्रेणियोंसे सकल जगतमंडल दिखा दिया है, इससे ज्यो ज्यो नय आदिके भेदसे यह तत्त्वज्ञान मिलेगा त्यों त्यों अपूर्व आनंद और निर्मलताकी प्राप्ति होगी; मात्र विवेक, गुरुगम्यता और अप्रमाद चाहिये। यह नवतत्त्वज्ञान मुझे बहुत प्रिय है। इसके रसानुभवी भी मुझे सदैव प्रिय हैं।

कालभेदसे इस समय भरतक्षेत्रमे मात्र मति और श्रुत ये दो ज्ञान विद्यमान है, बाकीके तीन ज्ञान परंपराम्नायसे देखनेमे नही आते; फिर भी ज्यो ज्यो पूर्ण श्रद्धाभावसे इस नवतत्त्वज्ञानके विचारोकी गुफामें उतरा जाता है, त्यो त्यों उसके अंदर अद्भुत आत्मप्रकाश, आनंद, समर्थ तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा, उत्तम विनोद और गंभीर चमक चकित करके वे विचार शुद्ध सम्यग्ज्ञानका बहुत उदय करते हैं। स्याद्वाद-वचनामृतके अनंत सुन्दर आशयोंको समझनेकी परम्परागत शक्तिका इस कालमें इस क्षेत्रसे विच्छेद हो गया है, फिर भी उस संबंधी जो जो सुन्दर आशय समझमे आते हैं वे सब आशय अति अति गंभीर तत्त्वसे भरे हुए हैं। उन आशयोंका पुन: पुनः मनन करनेसे चार्वाकमतिके चंचल मनुष्य भी सद्धर्ममें स्थिर हो

जाते है। संक्षेपमे सर्व प्रकारकी सिद्धि, पवित्रता, महाशील, निर्मल गहन और गंभीर विचार, स्वच्छ वैराग्यकी भेंट ये सब तत्त्वज्ञानसे मिलते हैं।

शिक्षापाठ ८६ : तत्त्वावबोध—भाग ५

एक बार एक समर्थ विद्वानसे निर्ग्रंथ प्रवचनकी चमत्कृतिके सबधमे बातचीत हुई। उसके संबंधमें उस विद्वानने बताया—"मै इतना तो मान्य रखता हूँ कि महावीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष थे, उन्होंने जो बोध दिया है, उसे ग्रहण करके प्रज्ञावान पुरुषोने अंग, उपागकी योजना की है, उनके जो विचार है वे चमत्कृतिसे भरे हुए है, परन्तु इससे मै यह नही कह सकता कि इनमे सारी सृष्टिका ज्ञान निहित है। ऐसा होने पर भी यदि आप इस सबधमे कुछ प्रमाण देते हो तो मै इस बात पर कुछ श्रद्धा कर सकता हूँ।" इसके उत्तरमे मैने यह कहा कि मैं कुछ जैन वचनामृतको यथार्थ तो क्या परन्तु विशेष भेदसे भी नही जानता, परन्तु सामान्य भावसे जो जानता हूँ उससे भी प्रमाण अवश्य दे सकता हूँ। फिर नवतत्त्वविज्ञान-सबधी बातचीत निकली। मैने कहा कि इसमे सारी सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, परन्तु यथार्थ समझनेकी शक्ति चाहिये। फिर उन्होने इस कथनका प्रमाण माँगा, तब मैने आठ कर्म कह बताये। उसके साथ यह सूचित किया कि इनके सिवाय इनसे भिन्न भाव बतानेवाला कोई नौवाँ कर्म खोज निकालें। पाप और पुण्यकी प्रकृतियोंको बताकर कहा कि इनके सिवाय एक भी अधिक प्रकृति खोज निकाले। यो कहते कहते अनुक्रमसे बात चलायी। पहले जीवके भेद कहकर पूछा कि क्या इनमे आप कुछ न्यूनाधिक कहना चाहते हैं? अजीवद्रव्यके भेद कहकर पूछा कि क्या आप इससे कुछ विशेष कहते हैं? यो नवतत्त्वसंबंधी बातचीत हुई तब उन्होने थोडी देर विचार करके कहा—"यह तो महावीरकी कहनेकी अद्‌भुत चमत्कृति है कि जीवका एक भी नया भेद नही मिलता, इसी तरह पापपुण्य आदिकी एक भी विशेष प्रकृति नही मिलती, और नौवाँ कर्म भी नही मिलता। ऐसे ऐसे तत्त्वज्ञानके सिद्धात जैनदर्शनमे है यह मेरे ध्यानमे नही था। इसमे सारी सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछेक अशोमे अवश्य आ सकता है।"

शिक्षापाठ ८७ : तत्त्वावबोध—भाग ६

इसका उत्तर हमारी ओरसे यह दिया गया कि अभी आप जो इतना कहते है वह भी तब तक कि जब तक आपके हृदयमे जैनधर्मके तत्त्वविचार नही आये है; परन्तु मै मध्यस्थतासे सत्य कहता हूँ कि इसमे जो विशुद्ध ज्ञान बताया है वह कहीं भी नही है, और सर्व मतोने जो ज्ञान बताया है वह महावीरके तत्त्वज्ञानके एक भागमे आ जाता है। इनका कथन स्याद्वाद है, एकपक्षी नही।

आपने यो कहा कि इसमे सारी सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछेक अशोमे अवश्य आ सकता है परंतु यह मिश्र वचन है। हमारी समझानेकी अल्पज्ञतासे ऐसा अवश्य हो सकता है, परन्तु इससे इन तत्त्वोंमे कुछ अपूर्णता है ऐसा तो है ही नहीं। यह कुछ पक्षपाती कथन नही है। विचार करनेपर सारी सृष्टिमेसे इनके सिवाय कोई दसवाँ तत्त्व खोजनेसे कभी मिलनेवाला नही है। इस संबधमे प्रसंगोपात्त हमारी जब बात-चीत और मध्यस्थ चर्चा होगी तब निःशंकता होगी।

उत्तरमे उन्होंने कहा कि इसपरसे मुझे यह तो निःशंकता है कि जैन एक अद्‌भुत दर्शन है। आपने मुझे श्रेणिपूर्वक नवतत्त्वके कुछ भाग कह बताये, इससे मैं यह बेधडक कह सकता हूँ कि महावीर गुप्तभेदको प्राप्त पुरुष थे। इस प्रकार थोडीसी बात करके 'उप्पन्ने वा', 'विगमे वा', 'धुवेइ वा' यह लब्धिवाक्य उन्होने मुझे कहा। यह कहनेके बाद उन्होने यो बताया—"इन शब्दोके सामान्य अर्थमें तो कोई चमत्कृति नही दीखती। उत्पन्न होना, नाश होना और अचलता ऐसा इन तीन

शब्दोका अर्थ है। परन्तु श्रीमान गणधरोंने तो ऐसा उल्लेख किया है कि इन वचनोको गुरुमुखसे श्रवण करनेसे पहलेके भाविक शिष्योको द्वादशागीका आशयपूर्ण ज्ञान हो जाता था। इसके लिये मैंने बहुत कुछ विचार किये, फिर भी मुझे तो ऐसा लगा कि यह होना असभव है, क्योंकि अतीव सूक्ष्म माना हुआ सैद्धातिक ज्ञान इसमे कहाँसे समा सकता है ? इस संबंधमे आप कुछ प्रकाश डाल सकेंगे ?"

शिक्षापाठ ८८ : तत्त्वावबोध—भाग ७

मैंने उत्तरमे कहा कि इस कालमे तीन महाज्ञान परम्पराम्नायसे भारतमे देखनेमे नही आते, ऐसा होनेपर भी मैं कोई सर्वज्ञ या महाप्रज्ञावान नही हूँ, फिर भी मै सामान्य बुद्धिसे जितना विचार कर सकूँगा, उतना विचार करके कुछ समाधान कर सकूँगा ऐसा मुझे सभव लगता है। तब उन्होने कहा कि यदि ऐसा संभव हो तो यह त्रिपदी जीवपर 'ना' और 'हाँ' के विचारसे घटित करें वह यो कि जीव क्या उत्पत्तिरूप है ? नही। जीव क्या व्ययरूप है ? नही। जीव क्या ध्रुवरूप है ? नही। इस तरह एक बार घटित करें। और दूसरी बार, जीव क्या उत्पत्ति रूप है ? हा। जीव क्या व्ययरूप है ? हाँ। जीव क्या ध्रुवरूप है ? हाँ। इस तरह घटित करें। ये विचार सारे मडलने एकत्र करके योजित किये है। यदि ये यथार्थ न कहे जा सकें तो अनेक प्रकारसे दूषण आ सकते हैं। जो वस्तु व्ययरूप हो वह ध्रुवरूप न हो, यह पहली शंका। यदि उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता नही है तो जीवको किन प्रमाणोसे सिद्ध करेंगे ? यह दूसरी शंका। व्यय और ध्रुवतामे परस्पर विरोधाभास है, यह तीसरी शका। जीव केवल ध्रुव है तो उत्पत्तिमे जो 'हाँ' कही वह असत्य ठहरेगी, यह चौथा विरोध। उत्पत्तियुक्त जीवका ध्रुवभाव कहे तो उत्पत्ति किसने की ? यह पाँचवाँ विरोध। अनादिता जाती रहती है यह छठी शंका। केवल ध्रुव-व्ययरूप है ऐसा कहे तो चार्वाकमिश्र वचन हुआ, यह सातवाँ दोष। उत्पत्ति और व्ययरूप कहेंगे तो केवल चार्वाकका सिद्धात होगा, यह आठवाँ दोष। उत्पत्तिकी ना, व्ययकी ना और ध्रुवताकी ना कहकर फिर तीनोंकी हाँ कही इसके पुनः रूपमे छ दोष। इस प्रकार कुल मिलाकर चौदह दोष हुए। केवल ध्रुवता चली जानेसे तीर्थंकरके वचन खडित हो जाते है, यह पन्द्रहवाँ दोष। उत्पत्ति, ध्रुवता लेनेपर कर्त्ताकी सिद्धि हो जानेसे सर्वज्ञवचन खंडित हो जाते है, यह सोलहवाँ दोष। उत्पत्ति-व्ययरूपमे पापपुण्यादिकका अभाव अर्थात् धर्माधर्म सबका लोप हो जाता है, यह सत्रहवाँ दोष। उत्पत्ति, व्यय और सामान्य स्थितिमे (केवल अचलता नही) त्रिगुणात्मक माया सिद्ध होती है, यह अठारहवाँ दोष।

शिक्षापाठ ८९ : तत्त्वावबोध—भाग ८

ये कथन सिद्ध न होनेसे इतने दोष आते है। एक जैनमुनिने मुझे और मेरे मित्रमडलसे यो कहा था कि जैन सप्तभगी नय अपूर्व है, और इससे सर्व पदार्थ सिद्ध होते है। इसमे नास्ति-अस्तिके अगम्य भेद निहित है। यह कथन सुनकर हम सब घर आये, फिर योजना करते-करते इस लब्धिवाक्यको जीवपर योजित किया। मैं मानता हूँ कि ऐसे नास्ति-अस्तिके दोनो भाव जीवपर घटित नही हो सकते। लब्धिवाक्य भी क्लेशरूप हो पडेंगे। यद्यपि इस ओर मेरी कोई तिरस्कारकी दृष्टि नही है। इसके उत्तरमे मैंने कहा कि आपने जो नास्ति और अस्ति नय जीवपर घटित करनेका सोचा है वह सनिक्षेप शैलीसे नही है, इसलिये कदाचित् इसमेसे एकातिक पक्ष भी लिया जा सकता है। और फिर मैं कोई स्याद्वाद शैलीका यथार्थ ज्ञाता नही हूँ। मन्दमतिसे लेश भाग जानता हूँ। नास्ति-अस्ति नयको भी आपने शैलीपूर्वक घटित नही किया है; इसलिये मैं तर्कसे जो उत्तर दे सकता हूँ, उसे आप सुनें।

उत्पत्तिमे 'नास्ति' की जो योजना की है वह यों यथार्थ हो सकती है कि 'जीव अनादि अनन्त है।' व्ययमे 'नास्ति'की जो योजना की है वह यों यथार्थ हो सकती है कि 'इसका किसी कालमे नाश नहीं है।'

ध्रुवतामें 'नास्ति'की जो योजना की है वह यो यथार्थ हो सकती है कि 'एक देहमे वह सदैवके लिये रहनेवाला नहीं है।'

शिक्षापाठ ९० : तत्त्वावबोध—भाग ९

उत्पत्तिमे 'अस्ति'की जो योजना की है वह यो यथार्थ हो सकती है कि 'जीवका मोक्ष होने तक एक देहमेसे च्युत होकर वह दूसरी देहमें उत्पन्न होता है।'

व्ययमे 'अस्ति'की जो योजना की है वह यो यथार्थ हो सकती है कि 'वह जिस देहमेसे आया वहाँ से व्ययको प्राप्त हुआ, अथवा प्रतिक्षण इसकी आत्मिक ऋद्धि विषयादि मरणसे रुद्ध हो रही है', इस प्रकार व्ययको घटित कर सकते हैं।

ध्रुवतामे 'अस्ति'की जो योजना की है वह यो यथार्थ हो सकती है कि 'द्रव्यकी अपेक्षासे जीव किसी कालमे नाशरूप नही है, त्रिकाल सिद्ध है।'

मै समझता हूँ कि अब इस प्रकारसे योजित दोष भी दूर हो जायेंगे।

१ जीव व्ययरूप नही है, इसलिये ध्रुवता सिद्ध हुई। यह पहला दोष दूर हुआ।

२ उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता ये न्यायसे भिन्न भिन्न सिद्ध हुए, इसलिये जीवका सत्यत्व सिद्ध हुआ, यह दूसरा दोष दूर हुआ।

३ जीवकी सत्यस्वरूपसे ध्रुवता सिद्ध हुई इसलिये व्यय चला गया। यह तीसरा दोष दूर हुआ।

४ द्रव्यभावसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई। यह चौथा दोष दूर हुआ।

५ जीव अनादि सिद्ध हुआ, इसलिये उत्पत्तिसबधी पाँचवाँ दोष दूर हुआ।

६ उत्पत्ति असिद्ध हुई इसलिये कर्त्तासबधी छठा दोष दूर हुआ।

७. ध्रुवताके साथ व्यय लेनेमे अबाध हुआ इसलिये चार्वाकमिश्रवचनका सातवाँ दोष दूर हुआ।

८ उत्पत्ति और व्यय पृथक् पृथक् देहमे सिद्ध हुआ, इसलिये केवल चार्वाकसिद्धात नामका आठवाँ दोष दूर हुआ।

९. से १४ शंकाका पारस्परिक विरोधाभास दूर हो जानेसे चौदह तकके दोष दूर हो गये।

१५ अनादि अनंतता सिद्ध हो जानेसे स्याद्वादवचन सत्य हुआ, यह पद्रहवाँ दोष दूर हुआ।

१६ कर्त्ता नही है, यह सिद्ध होनेसे जिनवचनकी सत्यता सिद्ध हुई, यह सोलहवाँ दोष दूर हुआ।

१७ धर्म, अधर्म, देह आदिका पुनरावर्तन सिद्ध होनेसे सत्रहवाँ दोष दूर हुआ।

१८. ये सब बातें सिद्ध होनेसे त्रिगुणात्मक माया असिद्ध हुई, यह अठारहवाँ दोष दूर हुआ।

शिक्षापाठ ९१ तत्त्वावबोध—भाग १०

मै समझता हूँ कि आपकी योजित योजनाका इससे समाधान हुआ होगा। यह कोई यथार्थ शैली घटित नही की है, तो भी इसमे कुछ भी विनोद मिल सकता है। इसपर विशेष विवेचन करनेके लिये बहुतसा वक्त चाहिये, इसलिये अधिक नही कहता, परन्तु एक दो संक्षिप्त बातें आपसे कहनी है, सो यदि इससे योग्य समाधान हुआ हो तो कहूँ। बादमे उनकी ओरसे मनमाना उत्तर मिला और उन्होने कहा कि एक दो बातें जो आपको कहनी हो उन्हे सहर्ष कहे।

फिर मैंने अपनी बातको संजोवित करके लब्धिके सबंधमे कहा। आप इस लब्धिके संबंधमे शंका करें या इसे क्लेशरूप कहें तो इन वचनोके प्रति अन्याय होता है। इसमें अति-अति उज्ज्वल आत्मिक शक्ति, गुरुगम्यता और वैराग्यकी आवश्यकता है। जब तक ऐसा नही है तब तक लब्धिके विषयमे शंका अवश्य रहेगी। परंतु मै समझता हूँ कि इस समय इस सबधमे कहे हुए दो शब्द निरर्थक नही होंगे। वे ये हैं कि जैसे इस योजनाको नास्ति-अस्तिपर योजित करके देखा, वैसे इसमे भी बहुत सूक्ष्म विचार करना है। प्रत्येक देहको पृथक्-पृथक् उत्पत्ति, च्यवन, विश्राम, गर्भाधान, पर्याप्ति, इंद्रिय, सत्ता, ज्ञान, संज्ञा, आयु, विषय इत्यादि अनेक कर्मप्रकृतियोको प्रत्येक भेदसे लेनेपर जो विचार इस लब्धिसे निकलते हैं वे अपूर्व हैं। जहाँ तक लक्ष पहुँचता है वहाँ तक सभी विचार करते हैं, परतु द्रव्यार्थिक और भावार्थिक नयसे सारी सृष्टिका ज्ञान इन तीन शब्दोमे निहित है उसका विचार कोई विरला ही करता है, वह सद्गुरुमुख-की पवित्र लब्धिके रूपमे जब आये तब द्वादशागीका ज्ञान किसलिये न हो? 'जगत' ऐसा कहनेसे जैसे मनुष्य, एक घर, एक वास, एक गाँव, एक शहर, एक देश, एक खड, एक पृथ्वी इन सबको छोड़कर असंख्यात द्वीप समुद्र आदिसे भरपूर वस्तु एकदम कैसे समझ जाता है? इसका कारण मात्र इतना ही है कि इस शब्दकी विशालताको उसने समझा है, किंवा लक्षकी अमुक विशालताको समझा है; जिससे 'जगत' यों कहते हो इतने बड़े मर्मको समझ सकता है, इसी तरह ऋजु और सरल सत्पात्र शिष्य निर्ग्रन्थ गुरुसे इन तीन शब्दोंकी गम्यता लेकर द्वादशागीका ज्ञान प्राप्त करते थे। और वह लब्धि अल्पज्ञतासे भी विवेकपूर्वक देखनेपर क्लेशरूप भी नही है।

शिक्षापाठ ९२ : तत्त्वावबोध—भाग ११

इसी प्रकार नव तत्त्वके सबधमे है। जिस मध्यवयके क्षत्रियपुत्रने 'जगत अनादि है', यों बेधड़क कहकर कर्त्ताको उड़ाया होगा, उस पुरुषने क्या कुछ सर्वज्ञताके गुप्त भेदके बिना किया होगा? इसी तरह जब आप इनकी निर्दोषिताके विषयमे पढ़ेंगे तब अवश्य ऐसा विचार करेंगे कि ये परमेश्वर थे। कर्त्ता न था और जगत अनादि था, इसलिये ऐसा कहा। इनके अपक्षपाती और केवल तत्त्वमय विचार आपको अवश्य विशोधन करने योग्य हैं। जैनदर्शनके अवर्णवादी मात्र जैनदर्शनको नही जानते इसलिये अन्याय करते हैं। मैं समझता हूँ कि वे ममत्वसे अधोगतिको प्राप्त करेंगे।

इसके बाद बहुत-सी बातचीत हुई। प्रसंगोपात्त इस तत्त्वका विचार करनेका वचन लेकर मै सहर्ष वहाँसे उठा था।

तत्त्वावबोधके सबंधमे यह कथन कहा गया। अनंत भेदसे भरे हुए ये तत्त्वविचार जितने कालभेदसे जितने ज्ञेय प्रतीत हो उतने ज्ञेय करना, जितने ग्राह्य हो उतने ग्रहण करना और जितने त्याज्य दिखायी दें उतने त्यागना।

इन तत्त्वोंको जो यथार्थ जानता है वह अनत चतुष्टयसे विराजमान होता है यह मैं सत्यतासे कहता हूँ। इन नव तत्त्वोके नाम रखनेमे भी मोक्षकी निकटताका अर्थ सूचन मालूम होता है।

शिक्षापाठ ९३ : तत्त्वावबोध—भाग १२

यह तो आपके ध्यानमे है कि जीव, अजीव—इस अनुक्रमसे अंतमें मोक्षका नाम आता है। अब इन्हें एकके बाद एक रखते जायें तो जीव और मोक्षको अनुक्रमसे आद्यंत रहना पड़ेगा।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष।

मैंने पहले कहा था कि इन नामोंके रखनेमें जीव और मोक्षकी निकटता है। फिर भी यह निकटता तो न हुई, परन्तु जीव और अजीवकी निकटता हुई, परन्तु ऐसा नहीं है। अज्ञानसे तो इन दोनोंकी ही निकटता है। ज्ञानसे जीव और मोक्षकी निकटता है, जैसे कि :—

अब देखो, इन दोनोंमे कुछ निकटता आई है ? हाँ, कही हुई निकटता आ गई है। परंतु यह निकटता तो द्रव्यरूप है। जब भावसे निकटता आये तब सर्व सिद्धि हो। इस निकटताका साधन सत्परमात्मतत्त्व, सद्गुरुतत्त्व और सद्धर्मतत्त्व है। केवल एक ही रूप होनेके लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।

इस चक्रमे ऐसी भी आशंका हो सकती है कि जब दोनो निकट हैं तब क्या बाकीका त्याग करना ? उत्तरमे यों कहता हूँ कि यदि सबका त्याग कर सकते हों तो त्याग कर दो, जिससे मोक्षरूप ही हो जाओगे। नही तो हेय, ज्ञेय, उपादेयका बोध लो, इससे आत्मसिद्धि प्राप्त होगी।

शिक्षापाठ ९४ : तत्त्वावबोध—भाग १३

जो जो मैं कह गया हूँ वह सब केवल जैनकुलमे जन्म पानेवाले पुरुषोके लिये नही है परन्तु सबके लिये है। इसी तरह यह भी निःशक मानो कि मै जो कहता हूँ वह अपक्षपातसे और परमार्थबुद्धिसे कहता हूँ।

तुमसे जो धर्मतत्त्व कहना है वह पक्षपात या स्वार्थबुद्धिसे कहनेका मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। पक्षपात या स्वार्थसे मैं तुम्हें अधर्मतत्त्वका बोध देकर अधोगतिको किसलिये साधूँ ? वारंवार मैं तुमसे निर्ग्रन्थके वचनामृतके लिये कहता हूँ, उसका कारण यह है कि वे वचनामृत तत्त्वमें परिपूर्ण हैं। जिनेश्वरोंके लिये ऐसा कोई भी कारण न था कि जिसके निमित्तसे वे मृषा या पक्षपाती बोध देते; और वे अज्ञानी भी न थे कि जिससे मृषा उपदेश दिया जाय। आशंका करेंगे कि वे अज्ञानी नही थे यह किस प्रमाणसे मालूम हो ? तो इसके उत्तरमे कहता हूँ कि उनके पवित्र सिद्धान्तोंके रहस्यका मनन करो; और जो ऐसा करेगा वह तो फिर लेश भी आशंका नही करेगा। जैनमतप्रवर्तकोंने मुझे कोई भूरसी दक्षिणा नही दी है; और वे मेरे कोई कुटुम्ब-परिवारी भी नही हैं कि उनके पक्षपातसे मैं तुम्हे कुछ भी कह दूँ। इसी तरह अन्यमतप्रवर्तकोंके प्रति मेरी कोई वैरबुद्धि नही है कि मिथ्या ही उनका खंडन करूँ। दोनोंके प्रति मै तो मंदमति मध्यस्थरूप हूँ। बहुत बहुत मनन करनेसे और मेरी मति जहाँ तक पहुँची वहाँ तक विचार करनेसे

मै विनयपूर्वक इतना कहता हूँ कि प्रिय भव्यो ! जैन जैसा एक भी पूर्ण और पवित्र दर्शन नही है; वीतराग जैसा एक भी देव नही है, तैरकर अनत दु:खसे पार पाना हो तो इस सर्वज्ञ-दर्शनरूप कल्पवृक्षका सेवन करो।

शिक्षापाठ ९५ : तत्त्वावबोध—भाग १४

जैनदर्शन इतनी अधिक सूक्ष्म विचारसंकलनासे भरा हुआ दर्शन है कि जिसमे प्रवेश करनेमें भी बहुत वक्त चाहिये। ऊपर-ऊपरसे या किसी प्रतिपक्षीके कहनेसे अमुक वस्तुसंबंधी अभिप्राय बना लेना या अभिप्राय दे देना, यह विवेकीका कर्तव्य नही है। एक तालाब संपूर्ण भरा हुआ हो, उसका जल ऊपरसे समान लगता है, परन्तु ज्यो-ज्यो आगे चलते हैं त्यो त्यो अधिक-अधिक गहराई आती जाती है फिर भी ऊपर तो जल सपाट ही रहता है, इसी प्रकार जगतके सभी धर्ममत एक तालाबरूप है। उन्हे ऊपरसे सामान्य सतह देखकर समान कह देना यह उचित नही है। यो कहनेवाले तत्त्वको पाये हुए भी नही है। जैनके एक एक पवित्र सिद्धान्तपर विचार करते हुए आयु भी पूर्ण हो जाये तो भी पार न पाये, ऐसी स्थिति है। बाकीके सभी धर्ममतोके विचार जिनप्रणीत वचनामृतसिंधुके आगे एक बिन्दुरूप भी नही हैं। जिसने जैनदर्शनको जाना और सेवन किया वह सर्वथा नीरागी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुष थे ? इसके सिद्धात कैसे अखड, सपूर्ण और दयामय है ? इसमे दूषण कोई भी नही है। सर्वथा निर्दोष तो मात्र इनका दर्शन है। ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नही है कि जो जैनदर्शनमे न हो और ऐसा एक भी तत्त्व नही है कि जो जैनदर्शनमे नही है। एक विषयको अनत भेदोंसे परिपूर्ण कहनेवाला तो जैनदर्शन ही है। प्रयोजनभूत तत्त्व इसके जैसे कही भी नहीं हैं। एक देहमे दो आत्मा नही है, इसी प्रकार सारी सृष्टिमे दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य एक भी दर्शन नही है। ऐसा कहनेका कारण क्या ? मात्र उसकी परिपूर्णता, नीरागिता, सत्यता और जगद्हितैषिता।

शिक्षापाठ ९६ : तत्त्वावबोध—भाग १५

न्यायपूर्वक इतना मुझे भी मान्य रखना चाहिये कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करनी हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अपूर्णता दिखानी चाहिये। और इन दो बातोपर विवेचन करने जितना यहाँ स्थान नही है, तो भी थोडा थोड़ा कहता आया हूँ। मुख्यत जो बात है वह यह है कि मेरी यह बात जिसे रुचिकर न लगती हो या असम्भव लगती हो उसे जैनतत्त्वविज्ञानी शास्त्रोंको और अन्य तत्त्वविज्ञानी शास्त्रोको मध्यस्थबुद्धिसे मनन करके न्यायके काँटेपर तौलना चाहिये। इसपरसे अवश्य ही इतना महावाक्य फलित होगा कि जो पहले डकेकी चोटसे कहा गया था वह सच था।

जगत भेडियाधसान है। धर्मके मतभेदसम्बन्धी शिक्षापाठमे प्रदर्शित किये अनुसार अनेक धर्ममतोका जाल फैला हुआ है। विशुद्ध आत्मा कोई ही होती है। विवेकसे कोई ही तत्त्वको खोजता है। इसलिये मुझे कुछ विशेष खेद नही है कि अन्य दार्शनिक जैनतत्त्वको किसलिये नही जानते ? यह आशका करने योग्य नही है।

फिर भी मुझे बहुत आश्चर्य लगता है कि केवल शुद्ध परमात्मतत्त्वको पाये हुए, सकल दूषणरहित, मृषा कहनेका जिन्हे कोई निमित्त नही है ऐसे पुरुषोके कहे हुए पवित्र दर्शनको स्वयं तो जाना नही, अपने आत्माका हित तो किया नही, परन्तु अविवेकसे मतभेदमें पडकर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक किसलिये कहा होगा ? मैं समझता हूँ कि ऐसा कहनेवाले इसके तत्त्वोंको जानते न थे। तथा इसके तत्त्वोको जाननेसे अपनी श्रद्धा बदल जायेगी, तब लोग फिर अपने पहले कहे हुए मतको नही मानेंगे;

जिस लौकिक मतसे अपनी आजीविका चल रही है, ऐसे वेदोकी महत्ता घटानेसे अपनी महत्ता घटेगी, अपना मिथ्या स्थापित किया हुआ परमेश्वरपद नही चलेगा, इसलिये जैनतत्त्वमे प्रवेश करनेकी रुचिको मूलसे ही बंद करनेके लिये लोगोको ऐसी भ्रमभस्म दी कि जैनदर्शन नास्तिक है। लोग तो बेचारे भोले भेड़ें हैं, इसलिये वे फिर विचार भी कहाँसे करे ? यह कहना कितना अनर्थकारक और मृषा है, इसे वे ही जानते हैं जिन्होंने वीतरागप्रणीत सिद्धान्त विवेकसे जाने है। सभवतः मंदबुद्धि मेरे कहनेको पक्षपातपूर्ण मान लें।

शिक्षापाठ ९७ : तत्त्वावबोध–भाग १६

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलवानेमे वे एक दलीलसे व्यर्थ ही सफल होना चाहते है कि जैनदर्शन इस जगतके कर्त्ता परमेश्वरको नही मानता, और जो परमेश्वरको नही मानता वह तो नास्तिक ही है। यह बात भद्रिक जनोंका शीघ्र जम जाती है, क्योकि उनमे यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नही है। परन्तु यदि इस परसे यह विचार किया जाये कि फिर जैन जगतको अनादि अनंत तो कहता है सो किस न्यायसे कहता है ? जगतकर्त्ता नही है यो कहनेमे इसका कारण क्या है ? यों एकके बाद एक भेदरूप विचारसे वे जैनकी पवित्रताको समझ सकते है। जगतको रचनेकी परमेश्वरको क्या आवश्यकता थी ? रचा तो सुख-दुःख रखनेका क्या कारण था ? रचकर मौत किसलिये रखी ? यह लीला किसे दिखानी थी ? रचा तो किस कर्मसे रचा ? उससे पहले रचनेको इच्छा क्यों नही थी ? ईश्वर कौन है ? जगतके पदार्थ क्या है ? और इच्छा क्या है ? रचा तो जगतमे एक ही धर्मका प्रवर्तन रखना था, यों भ्रममें डालनेकी क्या आवश्यकता थी ? कदाचित् मान लें कि यह सब उस बेचारेसे भूल हुई ! खैर, क्षमा करें, परन्तु ऐसी सवाई बुद्धि कहाँसे सूझी कि उसने अपनेको ही जड-मूलसे उखाडनेवाले महावीर जैसे पुरुषोको जन्म दिया ? इनके कहे हुए दर्शनको जगतमे क्यो विद्यमान रखा ? अपने ही हाथसे अपने ही पाँव पर कुल्हाडी मारनेकी उसे क्या आवश्यकता थी ? एक तो मानो इस प्रकारसे विचार और बाकी दूसरे प्रकारसे ये विचार कि जैनदर्शनके प्रवर्तकोको इससे कोई द्वेष था ? यह जगतकर्त्ता होता तो यो कहनेसे उनके लाभको कोई हानि पहुँचती थी ? जगतकर्त्ता नही है, जगत अनादि अनंत है यो कहनेमें उन्हें कुछ महत्ता मिल जाती थी ? ऐसे अनेक विचार करनेसे मालूम होगा कि जैसा जगतका स्वरूप था वैसा ही उन पवित्र पुरुषोंने कहा है। इसमे भिन्न रूपमे कहनेका उन्हे लेशमात्र प्रयोजन नही था। सूक्ष्मसे सूक्ष्म जीवकी रक्षाका जिन्होंने विधान किया है, एक रजकणसे लेकर सारे जगतके विचार जिन्होने सर्व भेदोंसे कहे है, ऐसे पुरुषोंके पवित्र दर्शनको नास्तिक कहनेवाले किस गतिको प्राप्त होगे यह सोचते हुए दया आती है !

शिक्षापाठ ९८ : तत्त्वावबोध–भाग १७

जो न्यायसे जय प्राप्त नही कर सकता वह फिर गालियाँ देने लगता है, इसी तरह जब शंकराचार्य, दयानन्द संन्यासी इत्यादि पवित्र जैनदर्शनके अखण्ड तत्त्व-सिद्धान्तोका खण्डन नही कर सके तब फिर वे 'जैन नास्तिक है', 'वह चार्वाकमेसे उत्पन्न हुआ है', ऐसा कहने लगे। परन्तु यहाँ कोई प्रश्न करे कि महाराज ! यह विवेचन आप बादमे करे। ऐसे शब्द कहनेमे कुछ समय, विवेक या ज्ञानकी जरूरत नही है; परन्तु इसका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस बातमे कम है, इसका ज्ञान, इसका बोध, इसका रहस्य और इसका सत्शील कैसा है उसे एक बार कहे ! आपके वेदविचार किस विषयमे जैनदर्शनसे उत्तम हैं ? इस प्रकार जब बात मर्मस्थानपर आती है तब मौनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नही रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगबलसे इस सृष्टिमे सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील

उदयको प्राप्त होते हैं, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुष शृंगारमे रचे पचे पडे हैं, सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नहीं जानते, जिनका आचार भी पूर्ण नही है, उन्हे उत्तम कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना, सत्यस्वरूपकी निन्दा करना तथा परमात्मस्वरूपको प्राप्त पुरुषोंको नास्तिक कहना, यह सब उनकी कितनी अधिक कर्मकी बहुलताका सूचन करता है ! परन्तु जगत मोहान्ध है, जहाँ मतभेद है वहाँ अँधेरा है, जहाँ ममत्व या राग है वहाँ सत्यतत्त्व नही है यह बात हम किसलिये न विचारें ?

मैं एक मुख्य बात तुमसे कहता हूँ कि जो ममत्वरहित और न्याययुक्त है। वह यह है कि तुम चाहे जिस दर्शनको मानों, फिर चाहे जो तुम्हारी दृष्टिमे आये वैसे जैनदर्शनको कहो, सब दर्शनोंके शास्त्रतत्त्वको देखो उसी तरह जैनतत्त्वको भी देखो। स्वतन्त्र आत्मिक शक्तिसे जो योग्य लगे उसे अंगीकार करो। मेरी या किसी दूसरेकी बातको भले एकदम तुम मान्य न करो, परन्तु तत्त्वका विचार करो।

शिक्षापाठ ९९ : समाजकी आवश्यकता

आग्लभौमिक संसारसम्बन्धी अनेक कला-कौशलमे किस कारणसे विजयको प्राप्त हुए ? यह विचार करनेसे हमे तत्काल मालूम होगा कि उनका बहुत उत्साह और उस उत्साहमे अनेकोका मिल जाना उनकी विजयका कारण है। कला-कौशलके इस उत्साही काममे उन अनेक पुरुषोकी खडी हुई सभा या समाजने क्या परिणाम पाया ? तो उत्तरमे यह कहा जायेगा कि लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार। उनके इस उदाहरणसे उस जातिके कला-कौशलोकी खोज करनेका मै यहाँ उपदेश नही करता, परन्तु यह बतलाता हूँ कि सर्वज्ञ भगवानका कहा हुआ गुप्त तत्त्व प्रमादस्थितिमे आ पड़ा है, उसे प्रकाशित करनेके लिये तथा पूर्वाचार्योंके रचे हुए महान शास्त्रोको एकत्र करनेके लिये, गच्छोके पडे हुए मतमतान्तरको दूर करनेके लिये तथा धर्मविद्याको प्रफुल्लित करनेके लिये सदाचारी श्रीमान और धीमान दोनोको मिलकर एक महान समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है। पवित्र स्याद्वादमतके ढँके हुए तत्त्वको प्रसिद्धिमें लानेका जब तक प्रयत्न नही होता तब तक शासनकी उन्नति भी नही होगी। संसारी कला-कौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं, परन्तु इस धर्मकलाकौशलसे तो सर्व सिद्धि सम्प्राप्त होगी। महान समाजके अन्तर्गत उपसमाज स्थापित करना। साम्प्रदायिक बाडेमे बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतान्तर छोडकर ऐसा करना उचित है। मै चाहता हूँ कि इस कृत्यकी सिद्धि होकर जैनके अन्तर्गच्छ-मतभेद दूर हो, सत्य वस्तुपर मनुष्य मण्डलका ध्यान आओ और ममत्व जाओ।

शिक्षापाठ १०० : मनोनिग्रहके विघ्न

वारवार जो बोध करनेमें आया है उसमेसे मुख्य तात्पर्य यह निकलता है कि आत्माको तारो और तारनेके लिये तत्त्वज्ञानका प्रकाश करो तथा सत्शीलका सेवन करो। इसे प्राप्त करनेके लिये जो-जो मार्ग बतलाये हैं वे सब मार्ग मनोनिग्रहके अधीन है। मनोनिग्रहके लिये लक्ष्यकी विशालता करना यथोचित है। इसमे निम्नलिखित दोष विघ्नरूप है :—

१ आलस्य
२ अनियमित निद्रा
३ विशेष आहार
४ उन्माद प्रकृति
५. माया प्रपच
६. अनियमित काम
७. अकरणीय विलास
८. मान
९. मर्यादासे अधिक काम
१०. आत्मप्रशसा
११. तुच्छ वस्तुसे आनन्द
१२. रसगारवलुब्धता

१३ अतिभोग
१४. दूसरेका अनिष्ट चाहना
१५. निष्कारण कमाना
१६. बहुतोका स्नेह
१७ अयोग्य स्थानमे जाना
१८. एक भी उत्तम नियमको सिद्ध नही करना।

अष्टादश पापस्थानकका क्षय तब नक नही होगा जब तक इन अष्टादश विघ्नोंसे मनका सम्बन्ध है। ये अष्टादश दोष नष्ट होनेसे मनोनिग्रह और अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। जब तक ये दोष मनसे निकटना रखते है तब तक कोई भी मनुष्य आत्मसार्थकता नही कर सकता। अति भोगके स्थानपर सामान्य भोग नही परन्तु जिसने सर्वथा भोगत्यागव्रत धारण किया है तथा जिसके हृदयमे इनमेसे एक भी दोषका मूल नही है वह सत्पुरुष बडभागी है।

शिक्षापाठ १०१ : स्मृतिमे रखने योग्य महावाक्य

१ एक भेदसे नियम ही इस जगतका प्रवर्तक है।

२ जो मनुष्य सत्पुरुषोके चरित्ररहस्यको पाता है वह मनुष्य परमेश्वर हो जाता है।

चचल चित्त ही सर्व विषम दु खोका मूल है।

४ बहुतोका मिलाप और थोडोके साथ अति समागम ये दोनो समान दु.खदायक है।

५ ममस्वभावीका मिलना इसे ज्ञानी एकान्त कहते है।

६ इन्द्रियाँ तुम्हे जीते और तुम सुख मानो इसकी अपेक्षा उन्हे जीतनेमे ही तुम सुख, आनन्द और परमपद प्राप्त करोगे।

७ रागके बिना ससार नही और ससारके बिना राग नही।

८ युवावस्थाका सर्वसंगपरित्याग परमपदको देता है।

९ उस वस्तुके विचारमे लगो कि जो वस्तु अतीन्द्रियस्वरूप है।

१०. गुणीके गुणमे अनुरक्त होओ।

शिक्षापाठ १०२ विविध प्रश्न—भाग १

आज मै तुमसे कितने ही प्रश्न निर्ग्रन्थप्रवचनके अनुसार उत्तर देनेके लिये पूछता हूँ।

प्र०—कहो धर्मकी आवश्यकता क्या है ?

उ०—अनादिकालीन आत्माके कर्मजालको दूर करनेके लिये।

प्र०—जीव पहले या कर्म ?

उ०—दोनो अनादि ही है, यदि जीव पहले हो तो इस विमल वस्तुको मल लगनेका कोई निमित्त चाहिये। कर्म पहले कहो तो जीवके बिना कर्म किये किसने ? इस न्यायसे दोनो अनादि ही है।

प्र०—जीव रूपी या अरूपी ?

उ०—रूपी भी है और अरूपी भी है।

प्र०—रूपी किस न्यायसे और अरूपी किस न्यायसे ? यह कहो।

उ०—देहके निमित्तसे रूपी और स्वस्वरूपसे अरूपी है।

प्र०—देह निमित्त किस कारणसे है ?

उ०—स्वकर्मके विपाकसे।

प्र०—कर्मकी मुख्य प्रकृतियाँ कितनी है ?

उ०—आठ।

प्र०—कौन कौन-सी ?

उ०—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, आयु और अन्तराय।

प्र०—इन आठो कर्मोकी सामान्य जानकारी दो।

उ०—ज्ञानावरणीय आत्माकी ज्ञानसम्बन्धी जो अनन्त शक्ति है उसका आच्छादन करता है। दर्शनावरणीय आत्माकी जो अनन्त दर्शनशक्ति है उसका आच्छादन करता है। वेदनीय अर्थात् देहनिमित्तसे साता असाता दो प्रकारके वेदनीय कर्मोसे अव्याबाधसुखरूप आत्माकी शक्ति जिससे अवरुद्ध रहती है वह। मोहनीय कर्मसे आत्मचारित्ररूप शक्ति अवरुद्ध रही है। नामकर्मसे अमूर्तरूप दिव्य शक्ति अवरुद्ध रही है। गोत्रकर्मसे अटल अवगाहनारूप आत्मशक्ति अवरुद्ध रही है। आयुकर्मसे अक्षयस्थिति गुण अवरुद्ध रहा है। अन्तरायकर्मसे अनन्त दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोगकी शक्ति अवरुद्ध रही है।

शिक्षापाठ १०३ : विविध प्रश्न–भाग २

प्र०—इन कर्मोके दूर होनेसे आत्मा कहाँ जाता है ?

उ०—अनन्त और शाश्वत मोक्षमे।

प्र०—इस आत्माका मोक्ष कभी हुआ है ?

उ०—नही।

प्र०—कारण ?

उ०—मोक्षप्राप्त आत्मा कर्ममलरहित है, इसलिये उसका पुनर्जन्म नही है।

प्र०—केवलीके लक्षण क्या है ?

उ०—चार घनघाती कर्मोका क्षय करके और शेष चार कर्मोको दुर्बल करके जो पुरुष त्रयोदश गुणस्थानमे विहार करता है।

प्र०—गुणस्थानक कितने ?

उ०—चौदह।

प्र०—उनके नाम कहो।

उ०— १. मिथ्यात्व गुणस्थानक
२ सास्वादन गुणस्थानक
३. मिश्र गुणस्थानक
४ अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थानक
५. देशविरति गुणस्थानक
६ प्रमत्तसयत गुणस्थानक
७ अप्रमत्तसयत गुणस्थानक
८ अपूर्वकरण गुणस्थानक
९ अनिवृत्तिबादर गुणस्थानक
१० सूक्ष्मसापराय गुणस्थानक
११ उपशातमोह गुणस्थानक
१२. क्षीणमोह गुणस्थानक
१३. सयोगीकेवली गुणस्थानक
१४ अयोगीकेवली गुणस्थानक

शिक्षापाठ १०४ : विविध प्रश्न—भाग ३

प्र०—केवली और तीर्थंकर इन दोनोमे क्या अन्तर है ?

उ०—केवली और तीर्थंकर शक्तिमे समान है, परन्तु तीर्थंकरने पूर्वमे तीर्थंकरनामकर्मका उपार्जन किया है, इसलिये वे विशेषरूपसे बारह गुण और अनेक अतिशय प्राप्त करते है।

प्र०—तीर्थंकर पर्यटन करके किसलिये उपदेश देते है ? वे तो नीरागी है।

उ०—पूर्वमे जो तीर्थंकरनामकर्म बाँधा है उसे वेदन करनेके लिये उन्हे अवश्य ऐसा करना पड़ता है।

प्र०—अभी प्रवर्तमान शासन किसका है ?

उ०—श्रमण भगवान महावीरका ।

प्र०—महावीरसे पहले जैनदर्शन था ?

उ०—हाँ ।

प्र०—उसे किसने उत्पन्न किया था ?

उ०—उनसे पहलेके तीर्थंकरोने ।

प्र०—उनके और महावीरके उपदेशमे कोई भिन्नता है क्या ?

उ०—तत्त्वस्वरूपसे एक ही है । पात्रको लेकर उपदेश होनेसे और कुछ कालभेद होनेसे सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य मालूम होती है, परन्तु न्यायसे देखते हुए यह भिन्नता नही है ।

प्र०—उनका मुख्य उपदेश क्या है ?

उ०—आत्माको तारो, आत्माकी अनंत शक्तियोका प्रकाश करो और उसे कर्मरूप अनंत दुःखसे मुक्त करो ।

प्र०—इसके लिये उन्होने कौनसे साधन बताये हैं ?

उ०—व्यवहारनयसे सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुका स्वरूप जानना, सद्देवका गुणगान करना, त्रिविध धर्मका आचरण करना और निर्ग्रन्थ गुरुसे धर्मका बोध पाना ।

प्र०—त्रिविध धर्म कौनसा ?

उ०—सम्यग्ज्ञानरूप, सम्यग्दर्शनरूप और सम्यक्‌चारित्ररूप ।

शिक्षापाठ १०५ : विविध प्रश्न—भाग ४

प्र०—ऐसा जैनदर्शन जब सर्वोत्तम है तब सभी आत्मा इसके बोधको क्यो नही मानते ?

उ०—कर्मकी बहुलतासे, मिथ्यात्वके जमे हुए दलसे और सत्समागमके अभावसे ।

प्र०—जैनमुनियोके मुख्य आचार क्या हैं ?

उ०—पाँच महाव्रत, दशविध यतिधर्म, सप्तदशविध संयम, दशविध वैयावृत्य, नवविध ब्रह्मचर्य, द्वादश प्रकारका तप, क्रोधादिक चार प्रकारके कषायका निग्रह, इनके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र-का आराधन इत्यादि अनेक भेद है ।

प्र०—जैनमुनियोके जैसे ही संन्यासियोके पाँच याम है, बौद्धधर्ममे पाँच महाशील हैं । इसलिये इस आचारमे तो जैनमुनि, सन्यासी तथा बौद्धमुनि एक-से है न ?

उ०—नही ।

प्र०—क्यों नही ?

उ०—उनके पाँच याम और पाँच महाशील अपूर्ण है । महाव्रतके प्रतिभेद जैनमे अति सूक्ष्म हैं । उन दोनोके स्थूल है ।

प्र०—सूक्ष्मताके लिये कोई दृष्टान्त भी तो दो ।

उ०—दृष्टान्त प्रत्यक्ष ही है । पचयामी कंदमूलादिक अभक्ष्य खाते है, सुखशय्यामे सोते है, विविध प्रकारके वाहनो और पुष्पोका उपभोग करते है, केवल शीतल जलसे व्यवहार करते है, रात्रिमे भोजन करते है । इसमे होनेवाला असख्यात जतुओंका विनाश, ब्रह्मचर्यका भंग इत्यादिकी सूक्ष्मता वे नही जानते ।

इसी प्रकार बौद्धमुनि मांसादिक अभक्ष्य और सुखशील साधनोंसे युक्त हैं। जैनमुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त ही हैं।

शिक्षापाठ १०६ : विविध प्रश्न—भाग ५

प्र०—वेद और जैनदर्शनमे प्रतिपक्षता है क्या ?

उ०—जैनदर्शनकी वेदसे किसी द्वेषसे प्रतिपक्षता नही है, परन्तु जैसे सत्यका असत्य प्रतिपक्षी गिना जाता है वैसे जैनदर्शनसे वेदका सबध है।

प्र०—इन दोनोमे आप किसे सत्यरूप कहते है ?

उ०—पवित्र जैनदर्शनको।

प्र०—वेददर्शनवाले वेदको कहते है, उसका क्या ?

उ०—यह तो मतभेद और जैनदर्शनके तिरस्कारके लिये है। परन्तु न्यायपूर्वक दोनोके मूलतत्त्व आप देख जाइये।

प्र०—इतना तो मुझे लगता है कि महावीरादिक जिनेश्वरोका कथन न्यायके काँटे पर है, परन्तु जगतकर्त्ताका वे निषेध करते हैं, और जगत अनादि अनत है ऐसा कहते है, इस विषयमे कुछ कुछ शंका होती है कि यह असंख्यात द्वीप-समुद्रयुक्त जगत बिना बनाये कहाँसे हुआ ?

उ०—आपको जब तक आत्माकी अनत शक्तिकी लेश भी दिव्य प्रसादी नही मिली तब तक ऐसा लगता है, परन्तु तत्त्वज्ञानसे ऐसा नही लगेगा। 'सम्मतितर्क' ग्रन्थका आप परिशीलन करेंगे तो यह शंका दूर हो जायेगी।

प्र०—परंतु समर्थ विद्वान अपनी मृषा बातको भी दृष्टांतादिकसे सैद्धान्तिक कर देते हैं, इसलिये वह खंडित नहीं हो सकती, परन्तु वह सत्य कैसे कही जाये ?

उ०—परन्तु उन्हे कुछ मृषा कहनेका प्रयोजन न था, और थोडी देरके लिये यो मानें कि हमे ऐसी शंका हुई कि यह कथन मृषा होगा तो फिर जगतकर्त्ताने ऐसे पुरुषको जन्म भी क्यो दिया ? नामडुबाऊ पुत्रको जन्म देनेका क्या प्रयोजन था ? और फिर वे सत्पुरुष सर्वज्ञ थे; जगतकर्त्ता सिद्ध होता तो ऐसा कहनेसे उन्हे कुछ हानि न थी।

शिक्षापाठ १०७ : जिनेश्वरकी वाणी

(मनहर छन्द)

***अनंत अनंत भाव भेदथी भरेली भली,**
अनंत अनंत नय निक्षेपे व्याख्यानी छे;
सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि मोक्षचारिणी प्रमाणी छे;
उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निज मति मपाई में मानी छे;

---

*भावार्थ—जिनेश्वरकी वाणी अनतानत भावभेदोसे भरी हुई है, इसलिये मनोहर है, अनतानत नय-निक्षेपों-से जिसकी व्याख्या की गई है, जो सकल जगतका हित करनेवाली, मोहको हरनेवाली, भवसागरसे तारनेवाली है और जिसे मोक्ष देनेके लिये समर्थ एव प्रमाणभूत माना है, जिसे उपमा देनेकी लालसा रखना व्यर्थ है, और उपमा देनेसे

अहो ! राजचन्द्र, बाळ ख्याल नथी पामता ए,
जिनेश्वर तणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे ॥१॥

शिक्षापाठ १०८ : पूर्णमालिका मंगल

(उपजाति)

*तपोपध्याने रविरूप थाय,
ए साधीने सोम रही सुहाय;
महान ते मंगळ पंक्ति पामे,
आवे पछी ते बुधना प्रणामे ॥१॥

निर्ग्रन्थ ज्ञाता गुरु सिद्धिदाता,
कां तो स्वयं शुक्र प्रपूर्ण ख्याता;
त्रियोग त्यां केवळ मंद पामे,
स्वरूप सिद्धे विचरी विरामे ॥२॥

अपनी मतिका माप निकल जाता है, ऐसा मैंने माना है। राजचन्द्र कहते है कि यह कितना आश्चर्य है कि अज्ञानी जीवोंको जिनवाणीका ख्याल भी नहीं आता अर्थात् वे उसकी महिमाको नहीं जानते हैं। जिनेश्वरकी वाणीको जिसने जाना है उसीने जाना है ॥ १ ॥

*भावार्थ—आत्मा तप और ध्यानसे सूर्यकी भाँति तेजस्वी होता है। तप और ध्यानकी सिद्धिसे शान्त तथा शीतल होकर आत्मा चंद्रकी तरह शोभता है। फिर महामंगलकी महापदवीको प्राप्त होता है। फिर वह बुधके परिणाममें आता है अर्थात् बोधिस्वरूप हो जाता है ॥ १ ॥

फिर वह सिद्धिदाता एवं ज्ञाता निर्ग्रन्थ गुरु अथवा पूर्ण व्याख्याता स्वयं शुक्रका स्थान ग्रहण करता है। उस दशामें त्रियोग सर्वथा मंद हो जाते है। परिणामतः आत्मा स्वरूप सिद्ध होनेपर ऊर्ध्वगमन करके सिद्धालयमें विराजता है ॥ २ ॥

श्रीमद् राजचद्र

जन्म ववाणिया	देहविलय · राजकोट
वि सं १९२४, कार्तिक पूर्णिमा, रविवार	वि स १९५७, चैत्र वद ५, मंगळवार

इस प्रकार किये गये बावन अवधानोंके संबंधमें लिखनेकी यहाँपर पूर्णाहुति होती है।

ये बावन काम एक समयमे एक साथ मनःशक्तिमें धारण करने पड़ते हैं। अज्ञात भाषाके विकृत अक्षर सुकृत करने पड़ते हैं। संक्षेपमे आपसे कह देता हूँ कि यह सब याद ही रह जाता है। (अभी तक कभी विस्मृति नही हुई है।) इसमें बहुत-कुछ मर्म समझना रह जाता है। परन्तु दिलगीर हूँ कि वह समझाना प्रत्यक्षमे ही संभव है। इसलिये यहाँ लिखना वृथा है। आप निश्चय कीजिये कि यह एक घंटेका कितना कौशल्य है? संक्षिप्त हिसाब गिनें तो भी बावन श्लोक तो एक घंटेमे याद रहे या नहीं? सोलह नये (विषय), आठ समस्याएँ, सोलह भिन्न-भिन्न भाषाके अनुक्रमविहीन अक्षर और बारह दूसरे काम कुल मिलाकर एक विद्वानने गिनती करनेपर मान्य रखा था कि ५०० श्लोकोंका स्मरण एक घंटेमें रह सकता है। यह बात अब यहाँपर इतनेसे ही समाप्त कर देते है।

आ—तेरह महीने हुए देहोपाधि और मानसिक व्याधिके परिचयसे कितनी ही शक्ति दबाकर रखने जैसी ही हो गई है। (बावन जैसे सौ अवधान तो अभी भी हो सकते हैं।) नहीं तो आप चाहे जिस भाषाके सौ श्लोक एक बार बोल जायें तो उन्हें पुनः उसी प्रकार स्मृतिमे रखकर कह सुनानेकी समर्थता इस लेखकमे थी। और इसके लिये तथा अवधानोंके लिये इस मनुष्यको 'सरस्वतीका अवतार' ऐसा उप-नाम मिला हुआ है। अवधान आत्मशक्तिका कार्य है, यह मुझे स्वानुभवसे प्रतीत हुआ है। आपका प्रश्न ऐसा है कि "एक घंटेमे सौ श्लोक स्मरणमे रह सकते है?" इसकी मार्मिक स्पष्टता तो उपर्युक्त विषय कर ही देंगे, ऐसा मानकर उसे यहाँ नही लिखा है। आश्चर्य, आनन्द और संदेहमेसे अब आपको जो योग्य लगे उसे ग्रहण करें।

इ—मेरी क्या शक्ति है? कुछ भी नही। आपकी शक्ति अद्भुत है। आप मेरे लिये आश्चर्यचकित होते हैं और मैं आपके लिये आनंदित होता हूँ।

आप सरस्वती सिद्ध करनेके लिये काशीक्षेत्रको ओर पधारनेवाले हैं, यह पढ़कर मैं अत्यानंद-कुशल हुआ हूँ। अस्तु! आप कौनसे न्यायशास्त्रकी बात करते हैं? गौतम मुनिका या मनुस्मृति, हिंदू धर्मशास्त्र, मिताक्षरा, व्यवहार, मयूख आदि प्राचीन न्यायग्रन्थ या आधुनिक ब्रिटिश लॉ प्रकरण? इसकी स्पष्टता मुझे नही हुई। मुनिका न्यायशास्त्र मुक्ति-प्रकरणमें समाविष्ट होने योग्य है। दूसरे ग्रन्थ राज्य-प्रकरणमे—"[1]ब्रिटिशमां माठां"—समाविष्ट होते हैं। तीसरा खास ब्रिटिशके लिये ही है, परन्तु वह अँग्रेजीमे है। तो अब आपने इनमेंसे किसे पसन्द किया है? यह मर्म खुलना चाहिये। यदि मुनिशास्त्र और प्राचीन शास्त्रके सिवाय गिना हो तो इसका अभ्यास काशीमे नही होता। परन्तु मेट्रिक्युलेशन पास होनेके बाद बम्बई और पूनामे होता है। दूसरे शास्त्र समयानुकूल नही हैं। आपका विचार जाने बिना ही यह सब लिख डाला है। परन्तु लिख डालनेमें भी एक कारण है। वह यह है कि आपने साथमे अँग्रेजी विद्याभ्यासकी बात लिखी है, तो मैं मानता हूँ कि इसमें आप कुछ भूल करते होंगे। बम्बईकी अपेक्षा काशीकी तरफ अँग्रेजी-अभ्यास कुछ उत्कृष्ट नहीं है; जब उत्कृष्ट न हो तब दूर जानेका हेतु कुछ और होगा। आप लिखें तो जानूँ, तब तक शंकाग्रस्त हूँ।

१. मुझे अभ्यासके बारेमें पूछा है इसकी जो स्पष्टता मुझे करनी है, वह उपर्युक्त बातकी स्पष्टता हुए बिना नही की जा सकती; और जो स्पष्टता मैं करनेवाला हूँ वह दलीलोंसे करूँगा।

ज्ञानवर्धक सभाके व्यवस्थापकका उपकार मानता हूँ, क्योंकि वे इस अनुचरके लिये कष्ट उठाते हैं। यह सारी स्पष्टता संक्षेपमे कर दी है। विशेषकी आवश्यकता हो तो पूछिये।

---

[1]. यह किसी ग्रन्थका नाम है।

२० वाँ वर्ष

१९

[1]महानीति

(वचन सप्तशती)

१. सत्य भी करुणामय बोलना।
२. निर्दोष स्थिति रखना।
३. वैरागी हृदय रखना।
४. दर्शन भी वैरागी रखना।
५. पहाड़की तलहटीमें अधिक योग साधना।
६. बारह दिन पत्नी संसर्गका त्याग करना।
७. आहार, विहार, आलस्य, निद्रा इत्यादिको वशमे करना।
८. संसारकी उपाधिसे यथासंभव विरक्त रहना।
९. सर्व-संगउपाधिका त्याग करना।
१०. गृहस्थाश्रमको विवेकी बनाना।
११. तत्त्वधर्मको सर्वज्ञतासे प्रणीत करना।
१२. वैराग्य और गम्भीरभावसे बैठना।
१३ सारी स्थिति वैसी ही।
१४. विवेकी, विनयी और प्रिय भी मर्यादित बोलना।
१५. साहसिक कार्य करनेसे पहले विचार करना।
१६. प्रत्येक प्रकारसे प्रमादको दूर करना।
१७ सभी कार्य नियमित ही रखना।
१८. शक्ल भावसे मनुष्यका मन हरना।
१९. सिर जाते हुए भी प्रतिज्ञा भंग न करना।
२०. मन, वचन और कायाके योगसे परपत्नीका त्याग।
२१. इसी प्रकार वेश्या, कुमारी, विधवाका त्याग।
२२ मन, वचन और कायाका अविचारसे उपयोग न करूँ।
२३. निरीक्षण नही करूँ।
२४. हावभावसे मोहित न होऊँ।
२५. बातचीत नही करूँ।
२६. एकान्तमें नही रहूँ।
२७. स्तुति नहीं करूँ।

---

१. देखें आक २१ मे न० १६ तथा आक २७।

श्रीमद राजचंद्र

वर्ष १९ मुं वि. स. १९४३

२८. चिंतन नही करूँ ।
२९. शृंगार-साहित्य नही पढूं ।
३०. विशेष प्रसाद नही लूं ।
३१. स्वादिष्ट भोजन नही लूं ।
३२. सुगंधी द्रव्यका उपयोग नही करूँ ।
३३. स्नान व मंजन नही करूँ ।
३४.
३५. काम विषयको ललित भावसे नही चाहूँ ।
३६. वीर्यका व्याघात नही करूँ ।
३७. अधिक जलपान नही करूँ ।
३८ कटाक्ष दृष्टिसे स्त्रीको नहीं देखूं ।
३९ हँसकर बात नही करूँ । (स्त्रीसे)
४० शृङ्गारी वस्त्र नही देखूं ।
४१. दंपती-सहवासका सेवन नही करूँ ।
४२. मोहनीय स्थानकमे नही रहूँ ।
४३ इस प्रकार महापुरुषोंको पालन करना चाहिये । मै पालन करनेमे प्रयत्नशील हूँ ।
४४ लोकनिंदासे नही डरूँ ।
४५. राज्यभयसे त्रस्त न होऊँ ।
४६ असत्य उपदेश नही दूं ।
४७ सदोष क्रिया नही करूँ ।
४८ अहंपद रखूं या बोलूं नही ।
४९ सम्यक् प्रकारसे विश्वकी ओर दृष्टि करूँ ।
५० नि स्वार्थभावसे विहार करूँ ।
५१ अन्यमे मोहनी उत्पन्न करनेवाला देखाव नही करूँ ।
५२ धर्मानुरक्त दर्शनसे विचरण करूँ ।
५३. सब प्राणियोमे समभाव रखूं ।
५४ क्रोधी वचन नही बोलूं ।
५५. पापी वचन नही बोलूं ।
५६ असत्य आज्ञा नही दूं ।
५७. अपथ्य प्रतिज्ञा नही दूं ।
५८. सृष्टिसौंदर्यमे मोह नही रखूं ।
५९. सुख-दुःखमे समभाव रखूं ।
६०. रात्रिभोजन नहीं करूँ ।
६१ नशीली वस्तुका सेवन नही करूं ।
६२ प्राणीको दु ख देनेवाला असत्य नहीं बोलूं ।
६३. अतिथिका सन्मान करूँ ।
६४. परमात्माकी भक्ति करूँ ।
६५. प्रत्येक स्वयंबुद्धको भगवान मानूं ।

६६. उसकी प्रतिदिन पूजा करूँ।
६७. विद्वानोंका सन्मान करूँ।
६८. विद्वानोंसे माया नहीं करूँ।
६९. मायावीको विद्वान नही कहूँ।
७०. किसी दर्शनकी निंदा नही करूँ।
७१. अधर्मकी स्तुति नही करूँ।
७२. एक पक्षीय मतभेद नहीं बनाऊँ।
७३. अज्ञान पक्षकी आराधना नही करूँ।
७४ आत्मप्रशंसा नही चाहूँ।
७५. किसी कृत्यमें प्रमाद नही करूँ।
७६. मांसादिक आहार नहीं करूँ।
७७. तृष्णाको शांत करूँ।
७८. तापसे मुक्त होनेमें मनोज्ञता मानूं।
७९ उस मनोरथको पूरा करनेके लिये परायण होऊँ।
८०. योगसे हृदयको शुक्ल करूँ।
८१. असत्य प्रमाणसे वार्तापूर्ति नही करूँ।
८२. असंभव कल्पना नही करूँ।
८३ लोक-अहितका विधान नही करूँ।
८४. ज्ञानीकी निंदा नही करूँ।
८५ वैरीके गुणकी भी स्तुति करूँ।
८६. किसीसे वैरभाव नही रखूं।
८७. माता-पिताको मुक्तिमार्गपर चढाऊँ।
८८ सुमार्गसे उनका बदला चुकाऊँ।
८९. उनकी मिथ्या आज्ञा नही मानूं।
९०. स्वस्त्रीसे समभावसे बर्ताव करूँ।
९१.
९२. जल्दीसे नही चलूं।
९३. तीव्र वेगसे नहीं चलूं।
९४. ऐंठकर नही चलूं।
९५. उच्छृङ्खल वस्त्र नही पहनूं।
९६. वस्त्रका अभिमान नही करूँ।
९७. अधिक बाल नही रखूं।
९८. तंग वस्त्र नही पहनूं।
९९. अपवित्र वस्त्र नहीं पहनूं।
१००. ऊनके वस्त्र पहननेका प्रयत्न करूँ।
१०१ रेशमी वस्त्रका त्याग करूँ।
१०२. शात चालसे चलूं।
१०३. मिथ्या आडंबर नहीं करूँ।

१०४. उपदेशकको द्वेषसे नहीं देखूं।
१०५. द्वेषमात्रका त्याग करूं।
१०६. रागदृष्टिसे एक भी वस्तुका आराधन नहीं करूं।
१०७. वैरीके सत्य वचनका मान करूं।
१०८.
१०९.
११०.
१११.
११२.
११३.
११४.
११५
११६ बाल नही रखूं। (गृ०)
११७ कचरा नही रखूं।
११८. कीचड़ नही करूं—आंगनके पास।
११९. मुहल्लेमे अस्वच्छता नही रखूं। (साधु)
१२० फटे कपड़े नही रखूं।
१२१. अनछना पानी नही पीऊँ।
१२२ पापी जलसे नही नहाऊं।
१२३. अधिक जल नही गिराऊं।
१२४ वनस्पतिको दु ख नही दूं।
१२५ अस्वच्छता नही रखूं।
१२६. प्रहरका पकाया हुआ भोजन नही करूं।
१२७ रसेंद्रियकी वृद्धि नही करूं।
१२८. रोगके बिना औषधका सेवन नही करूं।
१२९. विषयका औषध नही खाऊं।
१३०. मिथ्या उदारता नही करूं।
१३१. कृपण नहीं होऊँ।
१३२. आजीविकाके सिवाय किसीमे माया नही करूं।
१३३. आजीविकाके लिये धर्मका उपदेश नही करूं।
१३४. समयका अनुपयोग नही करूं।
१३५. बिना नियम कार्य नही करूं।
१३६. प्रतिज्ञा-व्रत नही तोडूं।
१३७. सत्य वस्तुका खंडन नही करूं।
१३८ तत्त्वज्ञानमे शकित नही होऊं।
१३९ तत्त्वका आराधन करते हुए लोकनिंदासे नही डरूँ।
१४०. तत्त्व देते हुये माया नही करूं।
१४१. स्वार्थको धर्म नही कहूँ।

१४२. चारो वर्गका मंडन करूँ।
१४३ धर्मसे स्वार्थ सिद्ध नही करूँ।
१४४ धर्मपूर्वक अर्थ कमाऊँ।
१४५ जड़ता देखकर रोष नही करूँ।
१४६. खेदकी स्मृति नही लाऊँ।
१४७. मिथ्यात्वका विसर्जन करूँ।
१४८. असत्यको सत्य नहीं कहूँ।
१४९. शृंगारको उत्तेजन नही दूँ।
१५०. हिंसासे स्वार्थ नही चाहूँ।
१५१. सृष्टिका खेद नही बढ़ाऊं।
१५२. मिथ्या मोह उत्पन्न नही करूँ।
१५३. विद्याके बिना मूर्ख नही रहूँ।
१५४. विनयकी आराधना करके रहूँ।
१५५. मायाविनयका त्याग करूँ।
१५६. अदत्तादान नही लूं।
१५७ क्लेश नहीं करूँ।
१५८. दत्ता अनीति नही लूं।
१५९. दु:खी करके धन नही लूं।
१६०. झूठा तौल नही तौलूं।
१६१. झूठी गवाही नही दूँ।
१६२. झूठी सौगंध नही खाऊँ।
१६३. हँसी नही करूँ।
१६४. मृत्युको समभावसे देखूं।
१६५ मौतसे हर्ष मानना।
१६६ किसीकी मौतपर नही हँसना।
१६७. हृदयको विरागी करता जाऊँ।
१६८. विद्याका अभिमान नही करूँ।
१६९ गुरुका गुरु नही बनूं।
१७० अपूज्य आचार्यकी पूजा नही करूँ।
१७१. उसका मिथ्या अपमान नहीं करूँ।
१७२ अकरणीय व्यापार नही करूँ।
१७३. गुणहीन वक्तृत्वका सेवन नही करूँ।
१७४. तात्त्विक तप अकालिक नही करूँ।
१७५. शास्त्र पढूं।
१७६. अपने मिथ्या तर्कको उत्तेजन नही दूं।
१७७ सर्व प्रकारकी क्षमा चाहूँ।
१७८. संतोषकी प्रयाचना करूँ।
१७९. स्वात्मभक्ति करूँ।
१८०. सामान्य भक्ति करूँ।

१८१. अनुपासक होऊँ ।
१८२. निरभिमानी होऊँ ।
१८३. मनुष्यजातिमे भेद न गिनूँ ।
१८४. जडकी दया खाऊँ ।
१८५. विशेषसे नयन ठंडे करूँ ।
१८६ सामान्यसे मित्रभाव रखूँ ।
१८७ प्रत्येक वस्तुका नियम करूँ ।
१८८. सादी पोशाकको चाहूँ ।
१८९. मधुर वाणी बोलूँ ।
१९०. मनोवीरत्वकी वृद्धि करूँ ।
१९१. प्रत्येक परिषह सहन करूँ ।
१९२ आत्माको परमेश्वर मानूँ ।
१९३ पुत्रको तेरे मार्गपर चढाऊँ । (पिता इच्छा करता है ।)
१९४ खोटे लाड़ नही लडाऊँ । ,,
१९५ मलिन नही रखूँ । ,,
१९६. उलटी बातमे स्तुति नही करूँ । ,,
१९७ मोहभावसे नहीं देखूँ । ,,
१९८. पुत्रीकी सगाई योग्य गुणवालेसे करूँ । ,,
१९९ समवयस्क देखूँ । ,,
२००. समगुणी देखूँ । ,,
२०१. तेरे सिद्धातका भग करनेवाला ससारव्यवहार न चलाऊ ।
२०२ प्रत्येकको वात्सल्यका उपदेश दूँ ।
२०३ तत्त्वम नही उकताऊँ ।
२०४ विधवा हूँ । तेरे धर्मको अगोकार करूँ । (विधवा इच्छा करती है ।)
२०५ सुवासिनी साज नही सजूँ ।
२०६. धर्मकथा करूँ ।
२०७ निठल्ली नही रहूँ ।
२०८. तुच्छ विचारपर नही जाऊँ ।
२०९ सुखकी ईर्ष्या नही करूँ ।
२१०. संसारको अनित्य मानूँ ।
२११. शुद्ध ब्रह्मचर्यका सेवन करूँ ।
२१२. परघरमे नही जाऊँ ।
२१३ किसी पुरुषके साथ बात नही करूँ ।
२१४. चंचलतासे नही चलूँ ।
२१५. ताली देकर बात नही करूँ ।
२१६. पुरुष-लक्षण नहीं रखूँ ।
२१७. किसीके कहनेसे रोष नही लाऊँ ।
२१८. त्रिदंडसे खेद नही मानूँ ।

२१९. मोहदृष्टिसे वस्तुको नही देखूँ।
२२०. हृदयसे दूसरा रूप नही रखूँ।
२२१. सेव्यकी शुद्ध भक्ति करूँ। (सामान्य)
२२२. नीतिसे चलूँ।
२२३. तेरी आज्ञाका भङ्ग नही करूँ।
२२४. अविनय नही करूँ।
२२५. छाने बिना दूध नही पीऊँ।
२२६ तेरे द्वारा निषिद्ध वस्तु उपयोगमे नहीं लाऊँ।
२२७. पापमे जय करके आनन्द नही मानूँ।
२२८ गायनमे अधिक अनुरक्त नही होऊँ।
२२९. नियम तोड़नेवाली वस्तु नही खाऊँ।
२३० गृहसौंदर्यकी वृद्धि करूँ।
२३१ अच्छे स्थानोकी इच्छा नही करूँ।
२३२. अशुद्ध आहार-जल नही लूँ। (मुनित्व भाव)
२३३. केशलुचन करूँ।
२३४. प्रत्येक प्रकारसे परिषह सहन करूँ।
२३५ तत्त्वज्ञानका अभ्यास करूँ।
२३६ कदमूलका भक्षण नही करूँ।
२३७ किसी वस्तुको देखकर प्रसन्न न होऊँ।
२३८ आजीविकाके लिये उपदेशक नही बनूँ।(२)
२३९. तेरे नियमको नही तोड़ूँ।
२४० श्रुतज्ञानकी वृद्धि करूँ।
२४१ तेरे नियमका मडन करूँ।
२४२. रसगारव नही होऊँ।
२४३. कषाय धारण नही करूँ।
२४४ बन्धन नही रखूँ।
२४५ अब्रह्मचर्यका सेवन नहीं करूँ।
२४६ आत्मा परात्माको समान मानूँ। (२)
२४७ लिये हुए त्यागका त्याग नही करूँ।
२४८ मृषा इत्यादि भाषण नही करूँ।
२४९ किसी पापका सेवन नही करूँ।
२५० अबंध पापकी क्षमापना करूँ।
२५१. क्षमायाचनामे अभिमान नही रखूँ। (मुनि सामान्य)
२५२. गुरुके उपदेशका भङ्ग नहीं करूँ।
२५३. गुरुका अविनय नही करूँ।
२५४. गुरुके आसनपर नही बैठूँ।
२५५. उससे किसी प्रकारकी महत्ताका भोग नही करूँ।
२५६. उससे शुक्लहृदयसे तत्त्वज्ञानकी वृद्धि करूँ।

२५७. मनको अंतःस्थिर रखूँ ।
२५८. वचनको रामबाण रखूँ ।
२५९. कायाको कूर्मरूप रखूँ ।
२६०. हृदयको भ्रमररूप रखूँ ।
२६१ हृदयको कमलरूप रखूँ ।
२६२. हृदयको पत्थररूप रखूँ ।
२६३. हृदयको निंबूरूप रखूँ ।
२६४ हृदयको जलरूप रखूँ ।
२६५ हृदयका तेलरूप रखूँ ।
२६६. हृदयको अग्निरूप रखूँ ।
२६७ हृदयको आदर्शरूप रखूँ ।
२६८. हृदयको समुद्ररूप रखूँ ।
२६९. वचनको अमृतरूप रखूँ ।
२७०. वचनको निद्रारूप रखूँ ।
२७१ वचनको तृषारूप रखूँ ।
२७२ वचनको स्वाधीन रखूँ ।
२७३. कायाको कमानरूप रखूँ ।
२७४ कायाको चंचल रखूँ ।
२७५ कायाको निरपराधी रखूँ ।
२७६ किसी प्रकारको चाह नही रखूं । (परमहस)
२७७ नपस्वी हूँ, वनमे तपश्चर्या किया करूँ । (तपस्वीकी इच्छा)
२७८ शीतल छाया लेता हूँ ।
२७९ समभावसे सर्व सुखका संपादन करता हूँ ।
२८० मायासे दूर रहता हूँ ।
२८१ प्रपचका त्याग करता हूँ ।
२८२ मर्व त्यागवस्तुको जानता हूँ ।
२८३. मिथ्या प्रशंसा नही करूँ । (मु०, ब्र०, उ०, गृ०, सामान्य)
२८४ झूठा कलंक नही लगाऊँ ।
२८५ मिथ्या वस्तु प्रणीत नहीं करूँ ।
२८६. कुटुम्बक्लेश नही करूँ । (गृ०, उ०)
२८७. अभ्याख्यान धारण नही करूँ । (सा०)
२८८ पिशुन नही बनूं ।
२८९. असत्यसे प्रसन्न नही होऊँ । (२)
२९०. खिलखिलाकर नही हँसूं । (स्त्री)
२९१. बिना कारण नहीं मुस्कराऊँ ।
२९२. किसी समय नही हँसूं ।
२९३ मनके आनन्दको अपेक्षा आत्मानन्दको चाहूँ ।
२९४. सबको यथातथ्य मान दूँ । (गृहस्थ)

२९५. स्थितिका गर्व नही करूँ। (गृ०, मु०)
२९६. स्थितिका खेद नहीं करूँ।
२९७. मिथ्या उद्यम नही करूँ।
२९८ अनुद्यमी नही रहूँ।
२९९. खोटी सलाह नही दूँ। (गृ०)
३०० पापी सलाह नही दूँ।
३०१. न्यायविरुद्ध कृत्य नही करूँ। (२-३)
३०२ किसीको झूठी आशा नही दूँ। (गृ०, मु०, ब्र०, उ०)
३०३. असत्य वचन नही दूँ।
३०४ सत्य वचनका भंग नही करूँ।
३०५ पाँच समितिको धारण करूँ। (मु०)
३०६. अविनयसे नही बैठूँ।
३०७. बुरे मण्डलमे नही जाऊँ। (गृ०, मु०)
३०८. वेश्याकी ओर दृष्टि नही करूँ।
३०९. इसके वचनोंका श्रवण नही करूँ।
३१०. वाद्य नही सुनूं।
३११. विवाह विधि नही पूछूँ।
३१२. इसकी प्रशंसा नही करूँ।
३१३. मनोरममे मोह नही मानूँ।
३१४ कर्माधर्मी नही करूँ। (गृ०)
३१५. स्वार्थसे किसीकी आजीविकाका नाश नही करूँ। (गृ०)
३१६. वधबंधनकी शिक्षा नहीं करूँ।
३१७. भय तथा वात्सल्यसे राज्य चलाऊँ। (रा०)
३१८ नियमके बिना विहार नही करूँ। (मु०)
३१९. विषयकी स्मृति होनेपर ध्यान किये बिना न रहूँ। (मु०, गृ०, ब्र०, उ०)
३२० विषयकी विस्मृति ही करूँ। (मु०, गृ०, ब्र०, उ०)
३२१. सर्व प्रकारकी नीति सीखूँ। (मु०, गृ०, ब्र०, उ०)
३२२. भयभाषा नही बोलूँ।
३२३. अपशब्द नही बोलूँ।
३२४. किसीको नही सिखाऊँ।
३२५. असत्य मर्मभाषा नही बोलूँ।
३२६. लिया हुआ नियम कर्णोपकर्णिकाकी रीतिसे नही तोडूँ।
३२७. पीठचौर्य नही करूँ।
३२८. अतिथिका तिरस्कार नहीं करूँ। (गृ०, उ०)
३२९. गुप्त बातको प्रसिद्ध नहीं करूँ। (गृ०, उ०)
३३०. प्रसिद्ध करने योग्यको गुप्त नहीं रखूँ।
३३१. उपयोगके बिना द्रव्य नहीं कमाऊँ। (गृ०, उ०, ब्र०)
३३२. अयोग्य करार नहीं कराऊँ। (गृ०)

३३३. अधिक व्याज नही लूँ।
३३४. हिसाबमे नहीं भुलाऊँ।
३३५. स्थूल हिंसासे आजीविका नही चलाऊँ।
३३६. द्रव्यका दुरुपयोग नही करूँ।
३३७. नास्तिकताका उपदेश नही दूँ। (उ०)
३३८. वयमे विवाह नही करूँ। (गृ०)
३३९. वयके बाद विवाह नही करूँ।
३४०. वयके बाद स्त्रीका भोग नही करूँ।
३४१. वयमें स्त्रीका भोग नही करूँ।
३४२. कुमार पत्नीको नही बुलाऊँ।
३४३ विवाहितपर अभाव नही लाऊँ।
३४४ वैरागी अभाव नही गिनूँ। (गृ०, मु०)
३४५ कटु वचन नहीं कहूँ।
३४६. हाथ नही उठाऊँ।
३४७. अयोग्य स्पर्श नही करूँ।
३४८ बारह दिन स्पर्श नही करूँ।
३४९. अयोग्य उलाहना नही दूँ।
३५० रजस्वलाका भोग नही करूँ।
३५१. ऋतुदानमे अभाव नही लाऊँ।
३५२ शृङ्गार भक्तिका सेवन नही करूँ।
३५३. सबपर यह नियम, न्याय लागू करूँ।
३५४ नियममे खोटी दलीलसे नही छूटूँ।
३५५ खोटी रीतिसे नही उकसाऊँ।
३५६. दिनमे भोग नही भोगूँ।
३५७ दिनमे स्पर्श नही करूँ।
३५८ अवभाषासे नही बुलाऊँ।
३५९. किसीका व्रतभंग नही कराऊँ।
३६०. अधिक स्थानोमे नही भटकूँ।
३६१. स्वार्थके बहानेसे किसीका त्याग नही छुड़ाऊँ।
३६२. क्रियाशीलकी निंदा नही करूँ।
३६३. नग्नचित्र नही देखूँ।
३६४. प्रतिमाकी निंदा नही करूँ।
३६५. प्रतिमाको नही देखूँ।
३६६. प्रतिमाकी पूजा करूँ। (केवल गृहस्थ स्थितिमें)
३६७. पापसे धर्म नही मानूँ। (सर्व)
३६८. सत्य व्यवहारको नही छोडूँ। (सर्व)
३६९. छल नहीं करूँ।
३७०. नग्न नहीं सोऊँ।

३७१. नग्न नही नहाऊँ।
३७२ मलीन कपड़े नही पहनूँ।
३७३. अधिक अलंकार नही पहनूँ।
३७४. अमर्यादासे नही चलूँ।
३७५. तेज आवाजसे नही बोलूँ।
३७६. पतिपर दबाव नही रखूँ। (स्त्री)
३७७. तुच्छ संभोग नही भोगना। (गृ०, उ०)
३७८. खेदमें भोग नही भोगना।
३७९. सायंकालमे भोग नही भोगना।
३८०. सायंकालमे भोजन नही करना।
३८१. अरुणोदयमे भोग नही भोगना।
३८२. ऊँघमेसे उठकर भोग नही भोगना।
३८३. ऊँघमेसे उठकर भोजन नही करना।
३८४. शौचक्रियासे पहले कोई क्रिया नही करना।
३८५. क्रियाकी कोई आवश्यकता नही है। (परमहंस)
३८६ ध्यानके बिना एकातमे नही रहूँ। (मु०, गृ०, ब्र०, उ०, प०)
३८७. लघुशकामे तुच्छ नही होऊँ।
३८८. दीर्घशकामे समय नही लगाऊँ।
३८९. प्रत्येक ऋतुके शरीरधर्मकी रक्षा करूँ। (गृ०)
३९०. मात्र आत्माकी ही धर्मकरनीकी रक्षा करूँ। (मु०)
३९१ अयोग्य मार, बंधन नही करूँ।
३९२ आत्मस्वतंत्रता नही खोऊँ। (मु०, गृ०, ब्र०)
३९३. बंधनमे पड़नेसे पहले विचार करूँ। (सा०)
३९४ पूर्वकृत भोगको याद नही करूँ। (मु०, गृ०)
३९५. अयोग्य विद्या नही साधूँ। (मु०, गृ०, ब्र०, उ०)
३९६. बोध भी नही दूँ।
३९७. अनुपयोगी वस्तु नही लूँ।
३९८. नही नहाऊँ। (मु०)
३९९. दातुन नही करूँ।
४०० संसार-सुख नही चाहूँ।
४०१. नीतिके बिना संसारका भोग नही करूँ। (गृ०)
४०२. प्रकट रूपमे कुटिलतासे भोगका वर्णन नही करूँ। (गृ०)
४०३. विरहग्रंथ नही रचूँ। (मु०, गृ०, ब्र०)
४०४ अयोग्य उपमा नही दूँ। (मु०, गृ०, ब्र०, उ०)
४०५. स्वार्थके लिये क्रोध नही करूँ। (मु०, गृ०)
४०६. वादयश प्राप्त नही करूँ। (उ०)
४०७. अपवादसे खेद नही करूँ।
४०८. धर्मद्रव्यका उपयोग नहीं कर सकूँ। (गृ०)

४०९. दशांश या—धर्ममे निकालूं। (गृ०)
४१०. सर्वसंगका परित्याग करूँ। (परमहंस)
४११. तेरा कहा हुआ अपना धर्म नही भूलूं। (सर्व)
४१२. स्वप्नानंदखेद नही करूँ।
४१३. आजीविक विद्याका सेवन नही करूँ। (मु०)
४१४. तपको नही बेचूं। (गृ०, ब्र०)
४१५. दो बारसे अधिक नही खाऊँ। (गृ०, मु०, ब्र०, उ०)
४१६. स्त्रीके साथ नही खाऊँ। (गृ०, उ०)
४१७. किसीके साथ नही खाऊँ। (स०)
४१८. परस्पर कवल नही दूं, नही लूं। (स०)
४१९. न्यूनाधिक पथ्यका साधन नही करूँ। (स०)
४२०. नीरागीके वचनोको पूज्यभावसे मान दूँ।
४२१. नीरागी ग्रंथोको पढ़ूँ।
४२२. तत्त्वको ही ग्रहण करूँ।
४२३. निःसार अध्ययन नही करूँ।
४२४ विचारशक्तिका विकास करूँ।
४२५ ज्ञानके बिना तेरे धर्मको अंगीकार नही करूँ।
४२६. एकातवादको नही अपनाऊँ।
४२७ नीरागी अध्ययनोको मुखाग्र करूँ।
४२८ धर्मकथाका श्रवण करूँ।
४२९ नियमित कर्तव्य नही चूकूं।
४३० अपराधशिक्षाका भंग नही करूँ।
४३१ याचककी हँसी नही करूँ।
४३२ सत्पात्रमे दान दूँ।
४३३ दीनपर दया करूँ।
४३४ दुःखीकी हँसी नही करूँ।
४३५. क्षमापनाके बिना शयन नही करूँ।
४३६. आलस्यको उत्तेजन नही दूं।
४३७. सृष्टिक्रम-विरुद्ध कर्म नही करूँ।
४३८. स्त्रीशय्याका त्याग करूँ।
४३९. निवृत्ति-साधनके सिवाय सबका त्याग करता हूँ।
४४०. मर्मलेख नही लिखूँ।
४४१ पर दुःखसे दुःखी होऊँ।
४४२. अपराधीको भी क्षमा करूँ।
४४३. अयोग्य लेख नही लिखूँ।
४४४. आशुप्रज्ञकी विनयको सँभालूं।
४४५. धर्मकर्तव्यमे द्रव्य देते हुए माया नही करूँ।
४४६. नम्रवीरत्वसे तत्त्वका उपदेश करूँ।

४४७. परमहंसकी हँसी नही उड़ाऊँ।
४४८. आदर्श नही देखूँ।
४४९. आदर्शमे देखकर नही हँसूँ।
४५० प्रवाही पदार्थमे मुख नहीं देखूँ।
४५१. तसवीर नही खिचवाऊँ।
४५२. अयोग्य तसवीर नही खिचवाऊँ।
४५३. अधिकारका दुरुपयोग नही करूँ।
४५४. झूठी हाँ नही कहूँ।
४५५ क्लेशको उत्तेजन नही दूँ।
४५६ निंदा नही करूँ।
४५७. कर्तव्य नियम नही चूकूँ।
४५८ दिनचर्याका दुरुपयोग नही करूँ।
४५९. उत्तम शक्तिको सिद्ध करूँ।
४६०. बिना शक्तिका कृत्य नही करूँ।
४६१. देश, काल आदिको पहचानूँ।
४६२ कृत्यका परिणाम देखूँ।
४६३. किसीके उपकारका लोप नही करूँ।
४६४. मिथ्या स्तुति नही करूँ।
४६५. कुदेवकी स्थापना नही करूँ।
४६६ कल्पित धर्मको नही चलाऊँ।
४६७. सृष्टिस्वभावको अधर्म नही कहूँ।
४६८. सर्व श्रेष्ठ तत्त्वको लोचनदायक मानूँ।
४६९. मानता नही मानूँ।
४७०. अयोग्य पूजन नही करूँ।
४७१. रातमे शीतल जलसे नही नहाऊँ।
४७२. दिनमे तीन बार नही नहाऊँ।
४७३. मानकी अभिलाषा नही रखूँ।
४७४. आलापादिका सेवन नही करूँ।
४७५. दूसरेके पास बात नही करूँ।
४७६. छोटा लक्ष्य नही रखूँ।
४७७. उन्मादका सेवन नही करूँ।
४७८. रौद्रादि रसका उपयोग नही करूँ।
४७९. शात रसकी निंदा नहीं करूँ।
४८०. सत्कर्मके आड़े नहीं आऊँ। (मु०, गृ०)
४८१. पीछे हटानेका प्रयत्न नहीं करूँ।
४८२. मिथ्या हठ नही पकड़ूँ।
४८३. अवाचकको दुःख नही दूँ।
४८४. अपंगकी सुखशांति बढ़ाऊँ।
४८५. नीतिशास्त्रको मान दूँ।

४८६. हिंसक धर्मको ग्रहण नही करूँ।
४८७. अनाचारी धर्मसे लगाव नही रखूँ।
४८८. मिथ्यावादीसे लगाव नहो रखूँ।
४८९. शृङ्गारी धर्मको ग्रहण नहीं करूँ।
४९० अज्ञान धर्मसे दूर रहूँ।
४९१ केवल ब्रह्मको नहीं पकडूँ।
४९२ केवल उपासनाका सेवन नही करूँ।
४९३. नियतिवादका सेवन नही करूँ।
४९४. भावसे सृष्टिको अनादि अनंत नही कहूँ।
४९५. द्रव्यसे सृष्टिको सादिसांत नही कहूँ।
४९६. पुरुषार्थको निंदा नही करूँ।
४९७. निष्पापको चंचलतासे नही छलूँ।
४९८. शरीरका भरोसा नही करूँ।
४९९. अयोग्य वचनसे नही बुलाऊँ।
५००. आजीविकाके लिये नाटक नहीं करूँ।
५०१ माँ, बहनके साथ एकांतमें नहीं रहूँ।
५०२. पूर्वके स्नेहियोंके यहाँ आहार लेने नहीं जाऊँ।
५०३ तत्त्वधर्मनिंदकपर भी रोष नहीं करना।
५०४. धैर्यको नहीं छोडना।
५०५ चरित्रको अद्भुत बनाना।
५०६ सर्व पक्षी विजय, कीर्ति और यश प्राप्त करना।
५०७. किसीके घरसंसारको नही तोडना।
५०८. अतराय नही डालना।
५०९. शुक्लधर्मका खंडन नही करना।
५१०. निष्काम शीलका आराधन करना।
५११. त्वरित भाषा नहीं बोलना।
५१२ पापग्रंथ नही रचूँ।
५१३. क्षौरके समय मौन रहूँ।
५१४. विषयके समय मौन रहूँ।
५१५. क्लेशके समय मौन रहूँ।
५१६ जल पीते हुए मौन रहूँ।
५१७. खाते हुए मौन रहूँ।
५१८. पशु पद्धतिसे जलपान नहीं करूँ।
५१९. छलांग मारकर जलमे नही पडूँ।
५२० श्मशानमें वस्तुमात्रको नही चखूँ।
५२१ औंधे शयन नही करूँ।
५२२. दो पुरुष साथमें न सोएँ।
५२३. दो स्त्रियाँ साथमें न सोएँ।

५२४ शास्त्रकी आशातना नही करूँ ।
५२५. उसी प्रकार गुरु आदिकी भी ।
५२६ स्वार्थसे योग और तप नही साधूँ ।
५२७. देशाटन करूँ ।
५२८. देशाटन नहीं करूँ ।
५२९ चातुर्मासमे स्थिरता करूँ ।
५३० सभामे पान नही खाऊँ ।
५३१ स्वस्त्रीके साथ मर्यादाके सिवाय नही फिरूँ ।
५३२. भूलकी विस्मृति नही करना ।
५३३. कं० कलाल, सुनारकी दुकानपर नही बैठूँ ।
५३४. कारीगरके यहाँ (गुरुभावसे) नही जाना ।
५३५. तम्बाकूका सेवन नही करना ।
५३६ सुपारी दो बार खाना ।
५३७ गोल कूपमे नहानेके लिये नही पड़ूँ ।
५३८ निराश्रितको आश्रय दूँ ।
५३९. समयके बिना व्यवहारकी बात नहीं करना ।
५४० पुत्रका विवाह करूँ ।
५४१. पुत्रीका विवाह करूँ ।
५४२. पुर्नविवाह नही करूँ ।
५४३ पुत्रीको पढाये बिना नही रहूँ ।
५४४ स्त्री विद्याशाली ढूँढूँ, करूँ ।
५४५ उन्हे धर्मपाठ सिखलाऊँ ।
५४६ प्रत्येक घरमे शातिविराम रखना ।
५४७ उपदेशकका सन्मान करूँ ।
५४८ अनंत गुणधर्मसे भरपूर सृष्टि है, ऐसा मानूं ।
५४९ किसी समय तत्त्व द्वारा दुनियामेसे दुःख चला जायेगा ऐसा मानूं ।
५५०. दुःख और खेद भ्रम हैं ।
५५१ मनुष्य चाहे सो कर सकता है ।
५५२ शौर्य, बुद्धि इत्यादिका सुखद उपयोग करूँ ।
५५३. किसी समय अपनेको दुःखी नही मानूं ।
५५४ सृष्टिके दुःखोका प्रणाशन करूँ ।
५५५ सर्व साध्य मनोरथ धारण करूँ ।
५५६. प्रत्येक तत्त्वज्ञानीको परमेश्वर मानूं ।
५५७ प्रत्येकका गुणतत्त्व ग्रहण करूँ ।
५५८ प्रत्येकके गुणको प्रफुल्लित करूँ ।
५५९. कुटुबको स्वर्ग बनाऊँ ।
५६०. सृष्टिको स्वर्ग बनाऊँ तो कुटुबको मोक्ष बनाऊँ ।
५६१ तत्त्वार्थसे सृष्टिको सुखी करते हुए मैं स्वार्थका त्याग करूँ ।
५६२. सृष्टिके प्रत्येक (–) गुणकी वृद्धि करूँ ।

५६३. सृष्टिके प्रवेश होने तक पाप पुण्य है ऐसा मानूं।
५६४. यह सिद्धांत तत्त्वधर्मका है, नास्तिकताका नही ऐसा मानूं।
५६५. हृदयको शोकातुर नही करूँ।
५६६ वात्सल्यसे वैरीको भी वश करूँ।
५६७. तू जो करता है उसमे असभव नही मानूं।
५६८. शंका न करूँ, खण्डन न करूँ, मंडन करूँ।
५६९ राजा होनेपर भी प्रजाको तेरे मार्गपर लगाऊँ।
५७०. पापीका अपमान करूँ।
५७१. न्यायको चाहूँ और पालूं।
५७२. गुणनिधिका मान करूँ।
५७३ तेरा मार्ग सर्व प्रकारसे मान्य रखूं।
५७४ धर्मालय स्थापित करूँ।
५७५ विद्यालय स्थापित करूँ।
५७६ नगर स्वच्छ रखूँ।
५७७ अधिक कर नही लगाऊँ।
५७८ प्रजापर वात्सल्य रखूँ।
५७९. किसी व्यसनका सेवन नहीं करूँ।
५८० दो स्त्रियोसे विवाह नही करूँ।
५८१ तत्त्वज्ञानके प्रायोजनिक अभावमे दूसरा विवाह करूँ तो यह अपवाद।
५८२ दोनो (   ) पर समभाव रखूं।
५८३ तत्त्वज्ञ सेवक रखूं।
५८४. अज्ञान क्रियाको छोड़ दूँ।
५८५. ज्ञान क्रियाका सेवन करनेके लिये।
५८६ कपटको भी जानना।
५८७. असूयाका सेवन नही करूँ।
५८८ धर्मकी आज्ञाको सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ।
५८९. सद्गति मूलक धर्मका ही सेवन करूँगा।
५९० सिद्धात मानूंगा, प्रणोत करूँगा।
५९१. धर्म महात्माओका सन्मान करूँगा।
५९२. ज्ञानके सिवाय सभी याचनाएँ छोड़ता हूँ।
५९३. भिक्षाचरी याचनाका सेवन करता हूँ।
५९४. चातुर्मासमे प्रवास नहीं करूँ।
५९५. जिसका तूने निषेध किया उसे नहीं खोजूं या उसका कारण नही पूछूँ।
५९६. देहघात नहीं करूँ।
५९७. व्यायामादिका सेवन करूँगा।
५९८. पौषधादिक व्रतका सेवन करता हूँ।
५९९. अपनाये हुए आश्रमका सेवन करता हूँ।
६०० अकरणीय क्रिया और ज्ञानकी साधना नहीं करूँ।

६०१. पाप व्यवहारके नियम नही बनाऊँ।
६०२. द्युतरमण नही करूँ।
६०३ रातमे क्षौरकर्म नही कराऊँ।
६०४. पैरसे सिर तक खूब खीचकर नही ओढूं।
६०५ अयोग्य जागृतिका सेवन नही करूँ।
६०६. रसास्वादसे तनधर्मको मिथ्या नही करूँ।
६०७. शारीरिक धर्मका एकांत आराधन नहीं करूँ।
६०८. अनेक देवोंकी पूजा नहीं करूँ।
६०९. गुणस्तवनको सर्वोत्तम मानूं।
६१०. सद्गुणका अनुकरण करूँ।
६११. शृंगारी ज्ञाता प्रभु नही मानूं।
६१२ सागर-प्रवास नही करूँ।
६१३. आश्रमके नियमोंको जानूं।
६१४. क्षौरकर्म नियमित रखना।
६१५. ज्वरादिमे स्नान नही करना।
६१६. जलमें डुबकी नही लगाना।
६१७. कृष्णादि पाप लेश्याका त्याग करता हूँ।
६१८. सम्यक् समयमे अपध्यानका त्याग करता हूँ।
६१९. नामभक्तिका सेवन नही करूँगा।
६२०. खडे खड़े पानी नही पीऊँ।
६२१. आहारके अंतमे पानी नही पीऊँ।
६२२ चलते हुए पानी नही पीऊँ।
६२३. रातमे छाने बिना पानी नही पीऊँ।
६२४. मिथ्या भाषण नही करूँ।
६२५. सत्शब्दोका सन्मान करूँ।
६२६. अयोग्य आँखसे पुरुष नही देखूं।
६२७. अयोग्य वचन नहीं बोलूं।
६२८. नंगे सिर नही बैठूं।
६२९. बारबार अवयवोको नही देखूं।
६३०. स्वरूपकी प्रशंसा नही करूँ।
६३१ कायापर गृद्धभावसे प्रसन्न नही होऊँ।
६३२. भारी भोजन नही करूँ।
६३३. तीव्र हृदय नही रखूं।
६३४. मानार्थ कृत्य नहीं करूँ।
६३५. कीर्तिके लिये पुण्य नही करूँ।
६३६. कल्पित कथा-दृष्टांतको सत्य नहीं कहूँ।
६३७. अज्ञात मार्गपर रातमे नहीं चलूं।
६३८. शक्तिका दुरुपयोग नहीं करूँ।

६३९. स्त्री पक्षसे धन प्राप्त नहीं करूँ।
६४०. वंध्याका मातृभावसे सत्कार करूँ।
६४१. अकृतधन नही लूं।
६४२. बलदार पगड़ी नही बांधूं।
६४३. बलदार—चूड़ीदार पायजामा नही पहनूं।
६४४. मलिन वस्त्र पहनूं।
६४५. मृत्युपर रागसे नही रोऊँ।
६४६. व्याख्यानशक्तिकी आराधना करूँ।
६४७. धर्मके नामपर क्लेशमें नहीं पडूं।
६४८ तेरे धर्मके लिये राजद्वारमे केस नहीं चलाऊँ।
६४९. यथासंभव राजद्वारमें नही जाऊँ।
६५० श्रीमतावस्थामे वि० शालासे करूँ।
६५१. निर्धनावस्थाका शोक नहीं करूँ।
६५२ परदुःखमे हर्ष नही मानूं।
६५३ यथासंभव धवल वस्त्र पहनूं।
६५४. दिनमे तेल नही लगाऊँ।
६५५ स्त्री रातमे तेल न लगाये।
६५६ पापपर्वका सेवन नही करूँ।
६५७. धर्मी, यशस्वी एक कृत्य करनेका मनोरथ रखता हूँ।
६५८ गाली सुनूं परन्तु गाली दूं नहीं।
६५९ शुक्ल एकांतका निरंतर सेवन करता हूँ।
६६०. सभी धूमधाममे नहीं जाऊँ।
६६१. रातमे वृक्षके नीचे नहीं सोऊँ।
६६२. रातमे कुएँके किनारे नही बैठूँ।
६६३ ऐक्य नियमको नही तोड़ूं।
६६४. तन, मन, धन, वचन और आत्माका समर्पण करता हूँ।
६६५. मिथ्या परद्रव्यका त्याग करता हूँ।
६६६. अयोग्य शयनका त्याग करता हूँ।
६६७. अयोग्य दानका त्याग करता हूँ।
६६८. बुद्धिकी वृद्धिके नियमोको नही छोड़ूं।
६६९. दासत्व—परम—लाभका त्याग करता हूँ।
६७०. धर्मधूर्तताका त्याग करता हूँ।
६७१ मायासे निवृत्त होता हूँ।
६७२. पापमुक्त मनोरथका स्मरण करता हूँ।
६७३. विद्यादान देते हुए छलका त्याग करता हूँ।
६७४. संतको संकट नही दूं।
६७५. अनजानको रास्ता बताऊँ।
६७६. दो भाव नहीं रखूं।

६७७. वस्तुमें मिलावट नहीं करूँ ।
६७८. जीवहिंसक व्यापार नहीं करूँ ।
६७९. निषिद्ध अचार आदि नहीं खाऊँ ।
६८०. एक कुलमें कन्या नहीं दूँ, नहीं लूँ।
६८१. दूसरे पक्षके सगे (संबंधी) स्वधर्मी ही ढूँढूँगा ।
६८२. धर्मकर्तव्यमें उत्साह आदिका उपयोग करूँगा ।
६८३. आजीविकाके लिये सामान्य पाप करते हुए भी डरता रहूँगा ।
६८४. धर्ममित्रसे माया नहीं करूँ ।
६८५ चातुर्वर्ण्य धर्मको व्यवहारमे नहीं भूलूँगा ।
६८६. सत्यवादीका सहायक बनूँगा ।
६८७. धूर्त त्यागका त्याग करता हूँ ।
६८८. प्राणीपर कोप नहीं करना ।
६८९. वस्तुका तत्त्व जानना ।
६९०. स्तुति, भक्ति और नित्यकर्मका विसर्जन नहीं करूँ ।
६९१. अनर्थ पाप नहीं करूँ ।
६९२ आरंभोपाधिका त्याग करता हूँ।
६९३. कुसंगका त्याग करता हूँ ।
६९४. मोहका त्याग करता हूँ।
६९५. दोषका प्रायश्चित्त करूंगा ;
६९६. प्रायश्चित्त आदिकी विस्मृति नहीं करूँ ।
६९७. सबकी अपेक्षा धर्मवर्गको प्रिय मानूँगा ।
६९८. तेरे धर्मका त्रिकरण शुद्ध सेवन करनेमे प्रमाद नहीं करूँगा ।
६९९.
७००.

२०

हे वादियों ! मुझे आपके लिये एकातवाद ही ज्ञानकी अपूर्णताका लक्षण दिखाई देता है, क्योंकि "नौसिखिये" कवि काव्यमे जैसे तैसे दोष दबानेके लिये 'ही' शब्दका उपयोग करते हैं, वैसे आप भी 'ही' अर्थात् 'निश्चितता', 'नौसिखिया' ज्ञानसे कहते हैं। मेरा महावीर ऐसा कभी नहीं कहेगा, यही इसकी सत्कविकी भाँति चमत्कृति है !!!

२१

वचनामृत

१. इसे तो अखण्ड सिद्धांत मानिये कि संयोग, वियोग, सुख, दुःख, खेद, आनन्द, अराग, अनुराग इत्यादिका योग किसी व्यवस्थित कारणपर आधारित हैं।

२. एकांत भावी अथवा एकांत न्यायदोषका सन्मान न कीजिये ।

३. किसीका भी समागम करना योग्य नहीं है, फिर भी जब तक वैसी दशा न हो तब तक सत्पुरुष-का समागम अवश्य करना योग्य है ।

४. जिस कृत्यके परिणाममे दु:ख है उसका सन्मान करनेसे पहले विचार करें।

५. किसीको अन्त:करण न दीजियेगा, जिसे दे उससे भिन्नता न रखियेगा; भिन्नता रखे तो अंत:-करण दिया न दिया समान है।

६. एक भोग भोगता है फिर भी कर्मकी वृद्धि नही करता, और एक भोग नही भोगता फिर भी कर्मकी वृद्धि करता है; यह आश्चर्यकारक परंतु समझने योग्य कथन है।

७. योगानुयोगसे बना हुआ कृत्य बहुत सिद्धि देता है।

८ आपने जिससे अंतर्भेद पाया उसे सर्वस्व अर्पण करते हुए न रुकियेगा।

९. तभी लोकापवाद सहन करना कि जिससे वे ही लोग अपने किये हुए अपवादका पुनः पश्चात्ताप करें।

१० हजारों उपदेश-वचन और कथन सुननेकी अपेक्षा उनमेमे थोड़े भी वचनोंका विचार करना विशेष कल्याणकारी है।

११. नियमसे किया हुआ कार्य त्वरासे होता है, निर्धारित सिद्धि देता है, और आनंदका कारण हो जाता है।

१२. ज्ञानियों द्वारा एकत्र की हुई अद्‌भुत निधिके उपभोगी बने।

१३. स्त्री जातिमे जितना मायाकपट है उतना भोलापन भी है।

१४ पठन करनेकी अपेक्षा मनन करनेकी ओर अधिक ध्यान दीजिये।

१५. महापुरुषके आचरण देखनेकी अपेक्षा उनका अंत:करण देखना, यह अधिक परीक्षा है।

१६. वचनसप्तशतीको[1] पुनः पुनः स्मरणमे रखे।

१७. महात्मा होना हो तो उपकारबुद्धि रखें; सत्पुरुषके समागममे रहे, आहार, विहार आदिमे अलुब्ध और नियमित रहे, सत्शास्त्रका मनन करें, और ऊँची श्रेणिमे ध्यान रखें।

१८ इनमेसे एक भी न हो तो समझकर आनद रखना सीखें।

१९ वर्तनमे बालक बने, सत्यमे युवक बनें और ज्ञानमे वृद्ध बनें।

२०. राग नही करना, करना तो सत्पुरुषसे करना; द्वेष नही करना, करना तो कुशीलसे करना।

२१ अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र और अनतवीर्यसे अभिन्न ऐसे आत्माका एक पल भी विचार करें।

२२ जिसने मनको वश किया उसने जगतको वश किया।

२३ इस ससारको क्या करे ? अनंत बार हुई माँको आज हम स्त्रीरूपसे भोगते है।

२४ निर्ग्रन्थता धारण करनेसे पहले पूर्ण विचार कीजिये; इसे अपनाकर दोष लगानेकी अपेक्षा अल्पारम्भी बनें।

२५ समर्थ पुरुष कल्याणका स्वरूप पुकार पुकारकर कह गये है; परन्तु किसी विरलेको ही वह यथार्थ समझमे आया है।

२६. स्त्रीके स्वरूपपर होनेवाले मोहको रोकनेके लिये उसके त्वचारहित रूपका वारम्वार चिंतन करना योग्य है।

२७ कुपात्र भी सत्पुरुषके रखे हुए हाथसे पात्र हो जाता है, जैसे छाछसे शुद्ध किया हुआ संखिया शरीरको नीरोग करता है।

२८. आत्माका सत्यस्वरूप केवल शुद्ध सच्चिदानंदमय है, फिर भी भ्रांतिसे भिन्न भासित होता है, जैसे कि तिरछी आँख करनेसे चद्र दो दिखायी देते है।

---

१. देखें महानीति, आक १९

२९. यथार्थ वचन ग्रहण करनेमे दंभ न रखियेगा या देनेवालेके उपकारका लोप न कीजियेगा।

३०. हमने बहुत विचार करके यह मूल तत्त्व खोजा है कि,—गुप्त चमत्कार ही सृष्टिके ध्यानमें नही है।

३१. रुलाकर भी बच्चेके हाथमे रहा हुआ सखिया ले लेना।

३२. निर्मल अंत करणसे आत्माका[१] विचार करना योग्य है।

३३ जहाँ 'मै' मानता है वहाँ 'तू' नही है; जहाँ 'तू' मानता है वहाँ 'तू' नही है।

३४. हे जीव ! अब भोगसे शात हो, शात। विचार तो सही कि इसमे कौनसा सुख है?

३५. बहुत परेशान होकर संसारमे मत रहना।

३६. सत्ज्ञान और सत्शीलको साथ-साथ बढ़ाना।

३७. एकसे मैत्री न कर, करना हो तो सारे जगतसे कर।

३८. महा सौंदर्यसे परिपूर्ण देवांगनाके क्रीडाविलासका निरीक्षण करते हुए भी जिसके अंतःकरणमें कामसे विशेषातिविशेष विराग स्फुरित होता है, वह धन्य है, उसे त्रिकाल नमस्कार है।

३९. भोगके समय योग याद आये यह लघुकर्मीका लक्षण है।

४०. इतना हो तो मै मोक्षकी इच्छा नही करता—सारी सृष्टि सत्शीलका सेवन करे, नियमित आयु, नीरोग शरीर, अचल प्रेमी प्रमदा, आज्ञाकारी अनुचर, कुलदीपक पुत्र, जीवनपर्यन्त बाल्यावस्था और आत्मतत्त्वका चितन।

४१ ऐसा कभी होनेवाला नही है, इसलिये मैं तो मोक्षको ही चाहता हूँ।

४२. सृष्टि सर्व अपेक्षासे अमर होगी?

४३ किसी अपेक्षासे मैं ऐसा कहता हूँ कि यदि सृष्टि मेरे हाथसे चलती होती तो बहुत विवेकी स्तरसे परमानंदमे विराजमान होती।

४४. शुक्ल निर्जनावस्थाको मैं बहुत मान्य करता हूँ।

४५ सृष्टिलीलामें शातभावसे तपश्चर्या करना यह भी उत्तम है।

४६. एकांतिक कथन करनेवाला ज्ञानी नही कहा जा सकता।

४७. शुक्ल अंतःकरणके बिना मेरे कथनको कौन दाद देगा?

४८. ज्ञातपुत्र भगवानके कथनकी ही बलिहारी है।

४९ मैं आपकी मूर्खतापर हँसता हूँ कि—नही जानते गुप्त चमत्कारको फिर भी गुरुपद प्राप्त करनेके लिये मेरे पास क्यों पधारें?

५०. अहो! मुझे तो कृतघ्नी ही मिलते मालूम होते हैं, यह कैसी विचित्रता है!

५१. मुझ पर कोई राग करे इससे मैं प्रसन्न नही हूँ, परन्तु कंटाला देगा तो मैं स्तब्ध हो जाऊँगा और यह मुझे पुसायेगा भी नही।

५२. मैं कहता हूँ ऐसा कोई करेगा? मेरा कहा हुआ सब मान्य रखेगा? मेरा कहा हुआ शब्दशः अंगीकृत करेगा? हाँ हो तो ही हे सत्पुरुष! तू मेरी इच्छा करना।

५३ संसारी जीवोंने अपने लाभके लिये द्रव्यरूपसे मुझे हँसता-खेलता लीलामय मनुष्य बनाया!

५४. देवदेवीकी तुष्यमानताका क्या करेंगे? जगतकी तुष्यमानताको क्या करेगे? तुष्यमानता तो सत्पुरुषकी चाहे।

५५. मैं सच्चिदानंद परमात्मा हूँ।

---

१. पाठा० गुप्त चमत्कारका।

५६. ऐसा समझें कि आपको अपने आत्माके हितकी ओर जानेकी अभिलाषा रखते हुए भी निराशा प्राप्त हुई तो वह भी आपका आत्महित ही है।

५७. आप अपने शुभ विचारमे सफल होवें, नही तो स्थिर चित्तसे ऐसा समझें कि सफल हुए हैं।

५८. ज्ञानी अंतरंग खेद और हर्षसे रहित होते है।

५९. जब तक उस तत्त्वकी प्राप्ति न हो तब तक मोक्षकी तात्पर्यता नही मिली।

६०. नियम-पालनको दृढ करते हुए भी वह नही पलता यह पूर्वकर्मका ही दोष है ऐसा ज्ञानियोका कहना है।

६१. संसाररूपी कुटुम्बके घरमे अपना आत्मा अतिथि तुल्य है।

६२ वही भाग्यशाली है कि जो दुर्भाग्यशालीपर दया करता है।

६३ महर्षि कहते हैं कि शुभ द्रव्य शुभ भावका निमित्त है।

६४ स्थिर चित्त होकर धर्म और शुक्ल ध्यानमे प्रवृत्ति करे।

६५ परिग्रहकी मूर्च्छा पापका मूल है।

६६ जिस कृत्यको करते समय व्यामोहसंयुक्त खेदमे हैं और परिणाममें भी पछताते हैं, तो उस कृत्यको ज्ञानी पूर्वकर्मका दोष कहते है।

६७ जडभरत और विदेही जनककी दशा मुझे प्राप्त हो।

६८ सत्पुरुषके अंतःकरणने जिसका आचरण किया अथवा जिसे कहा वह धर्म है।

६९ जिसकी अतरग मोहग्रंथि चली गई वह परमात्मा है।

७०. व्रत लेकर उल्लासित परिणामसे उसका भंग न करें।

७१ एक निष्ठासे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है।

७२ क्रिया ही कर्म, उपयोग ही धर्म, परिणाम ही बंध, भ्रम ही मिथ्यात्व, ब्रह्म ही आत्मा और शंका ही शल्य है। शोकका स्मरण न करें; यह उत्तम वस्तु ज्ञानियोंने मुझे दी।

७३ जगत जैसा है वैसा तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखें।

७४. श्री गौतमको पठन किये हुए चार वेद देखनेके लिये श्रीमान महावीरस्वामीने सम्यक्नेत्र दिये थे।

७५. भगवतीमें कही हुई [1]पुद्गल नामके परिव्राजककी कथा तत्त्वज्ञानियोंका कहा हुआ सुन्दर रहस्य हैं।

७६ वीरके कहे हुए शास्त्रोंमें सुनहरी वचन जहाँ तहाँ अलग-अलग और गुप्त है।

७७ सम्यक्नेत्र प्राप्त करके आप चाहे जिस धर्मशास्त्रका विचार करें तो भी आत्महित प्राप्त होगा।

७८ हे कुदरत! यह तेरा प्रबल अन्याय है कि मेरी निर्धारित नीतिसे मेरा काल व्यतीत नहीं कराती! [कुदरत अर्थात् पूर्वकृत कर्म]

७९. मनुष्य परमेश्वर होता है ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

८०. उत्तराध्ययन नामके जैनसूत्रका तत्त्वदृष्टिसे पुनः पुनः अवलोकन करें।

८१ जीते हुए मरा जाये तो फिर मरना न पडे ऐसे मरणकी इच्छा करना योग्य है।

८२. कृतघ्नता जैसा एक भी महा दोष मुझे नही लगता।

८३. जगतमें मान न होता तो यही मोक्ष होता!

८४. वस्तुको वस्तुरूपसे देखें।

---

१. शतक ११, उद्देश १२ में।

८५ धर्मका मूल वि० है।

८६. उसका नाम विद्या है कि जिससे अविद्या प्राप्त न हो।

८७. वीरके एक वाक्यको भी समझें।

८८ अहंपद, कृतघ्नता, उत्सूत्रप्ररूपणा और अविवेकधर्म ये दुर्गतिके लक्षण हैं।

८९. स्त्रीका कोई अग लेशमात्र भी सुखदायक नही है, फिर भी मेरी देह उसे भोगती है।

९० देह और देहार्थममत्व यह मिथ्यात्वका लक्षण है।

९१. अभिनिवेशके उदयमे उत्सूत्रप्ररूपणा न हो उसे मै ज्ञानियोंके कहनेसे महाभाग्य कहता हूँ।

९२. स्याद्वाद शैलीसे देखते हुए कोई मत असत्य नही है।

९३. ज्ञानी स्वादके त्यागको आहारका सच्चा त्याग कहते है।

९४. अभिनिवेश जेसा एक भी पाखंड नही है।

९५. इस कालमे इतना बढ़ा—अतिशय मत, अतिशय ज्ञानी, अतिशय माया और अतिशय परिग्रह-विशेष।

९६. तत्त्वाभिलाषासे मुझे पूछे तो मैं आपको नीरागीधर्मका उपदेश जरूर कर सकूँगा।

९७ जिसने सारे जगतका शिष्य होनेरूप दृष्टिका वेदन नही किया वह सद्गुरु होने योग्य नही है।

९८ कोई भी शुद्धाशुद्ध धर्मकरनी करता हो तो उसे करने दें।

९९ आत्माका धर्म आत्मामें ही है।

१००. मुझपर सभी सरल भावसे हुक्म चलायें तो मैं राजी हूँ।

१०१ मैं संसारसे लेश भी रागसंयुक्त नही, फिर भी उसीको भोगता हूँ, मैंने कुछ त्याग नही किया।

१०२ निर्विकारी दशासे मुझे अकेला रहने दें।

१०३. महावीरने जिस ज्ञानसे इस जगतको देखा है वह ज्ञान सब आत्माओंमे है, परंतु उसका आविर्भाव करना चाहिये।

१०४ बहुत बहक जाएँ तो भी महावीरकी आज्ञाका भंग न कीजियेगा। चाहे जैसी शंका हो तो भी मेरी ओरसे वीरको निःशंक मानिये।

१०५ पार्श्वनाथस्वामीके ध्यानका स्मरण योगियोंको अवश्य करना चाहिये। नि०—नागकी छत्र-छायाके समयका वह पार्श्वनाथ और ही था।

१०६. गजसुकुमारकी क्षमा और राजेमती रहनेमीको जो बोध देती है वह बोध मुझे प्राप्त होवें।

१०७. भोग भोगने तक [जब तक वह कर्म है तब तक] मुझे योग ही प्राप्त रहे।

१०८ सब शास्त्रोका एक तत्त्व मुझे मिला है ऐसा कहूँ तो यह मेरा अहंपद नही है।

१०९. न्याय मुझे बहुत प्रिय है। वीरकी शैली ही न्याय है, समझना दुष्कर है।

११०. पवित्र पुरुषोकी कृपादृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

१११. भर्तृहरिका कहा हुआ त्याग, विशुद्ध बुद्धिसे विचार करनेसे बहुत ऊर्ध्वज्ञानदशा होने तक रहता है।

११२. मै किसी धर्मसे विरुद्ध नही हूँ। मै सब धर्मोका पालन करता हूं। आप सभी धर्मोंसे विरुद्ध है यों कहनेमे मेरा उत्तम हेतु है।

११३ आपके माने हुए धर्मका उपदेश मुझे किस प्रमाणसे देते है उसे जानना मेरे लिये आवश्यक है।

११४. शिथिल बंध दृष्टिसे नीचे आकर ही बिखर जाये (—यदि निर्जरामें आये तो)

११५. किसी भी शास्त्रमे मुझे शंका न हो।

११६. दुःखके मारे वैराग्य लेकर ये लोग जगतको भ्रममे डालते है।

११७. अभी मैं कौन हूँ इसका मुझे पूर्ण भान नही है।

११८. तू सत्पुरुषका शिष्य है।

११९. यही मेरी आकाक्षा है।

१२० मेरे लिये गजसुकुमार जैसा कोई समय आये।

१२१. राजेमती जैसा कोई समय आये।

१२२. सत्पुरुष कहते नही, करते नही, फिर भी उनकी सत्पुरुषता निर्विकार मुखमुद्रामे निहित है।

१२३. संस्थानविचयध्यान पूर्वधारियोको प्राप्त होता होगा, ऐसा मानना योग्य लगता है। आप भी उसका ध्यान करें।

१२४ आत्मा जैसा कोई देव नही है।

१२५. भाग्यशाली कौन ? अविरति सम्यग्दृष्टि या विरति ?

१२६ किसीकी आजीविका नष्ट न करें।

---

२२ बंबई, कार्तिक, १९४३

स्वरोदयज्ञान

यह 'स्वरोदयज्ञान' ग्रन्थ पाठकके करकमलमे रखते हुए इस विषयमे कुछ प्रस्तावना लिखना योग्य मानकर उसे लिखता हूं। हम यह देख सकेंगे कि 'स्वरोदयज्ञान'की भाषा आधी हिन्दी और आधी गुजराती है। इसके कर्ता एक आत्मानुभवी व्यक्ति थे, परन्तु ऐसा कुछ मालूम नही होता कि उन्होने दोनोमेसे किसी एक भी भाषाका विधिपूर्वक पढा हो। इससे उनकी आत्मशक्ति या योगदशामे कोई बाधा नही आती। और यह बात भी नही है कि वे भाषाशास्त्री होनेकी कुछ इच्छा भी रखते थे। इसलिये उन्हे स्वय जो कुछ अनुभवसिद्ध हुआ है उसमेसे लोगोंको मर्यादापूर्वक कुछ भी बोध दे देनेकी उनकी अभिलाषासे इस ग्रन्थकी उत्पत्ति हुई है। और ऐसा होनेसे ही भाषा या छन्दकी टीमटाम अथवा युक्ति-प्रयुक्तिका अधिक दर्शन इस ग्रन्थमे नही कर सकते।

जगत जब अनादि अनन्त कालके लिये है तब फिर उसकी विचित्रताके लिये क्या विस्मय करें ? आज जडवादके बारेमे जो शोधन चल रहा है वह कदाचित् आत्मवादको उड़ा देनेका प्रयत्न है, परन्तु ऐसे भी अनन्त काल आये है कि जब आत्मवादका प्राधान्य था, और इसी तरह कभी जडवादका भी बोलबाला था। इसके लिये तत्त्वज्ञानी किसी विचारमे नही पड़ जाते, क्योकि जगतकी ऐसी ही स्थिति है, तो फिर विकल्पसे आत्माको दुःखी क्यो करना ? परन्तु सब वासनाओका त्याग करनेके बाद जिस वस्तुका अनुभव हुआ, वह वस्तु क्या है, अर्थात् स्व और पर क्या है ? अथवा इस बातका निर्णय किया कि स्व तो स्व है, फिर तो भेदवृत्ति रही नही। इसलिये सम्यक्दर्शनसे उनकी यही सम्मति रही कि मोहाधीन आत्मा अपने-आपको भूलकर जडत्व स्वीकार करता है, इसमे कुछ आश्चर्य नही है। फिर उसका स्वीकार करना शब्दकी तकरारमे—

× × × ×

वर्तमान शताब्दीमे और फिर उसके भी कितने ही वर्ष व्यतीत होने तक आत्मज्ञ चिदानन्दजी विद्यमान थे। बहुत ही समीपका समय होनेसे जिन्हे उनके दर्शन हुए थे, समागम हुआ था और जिन्हे उनकी दशाका अनुभव हुआ था उनमेसे कुछ प्रतीतिवाले मनुष्योसे उनके विषयमे जाना जा सका है, तथा अब भी वैसे मनुष्योसे जाना जा सकता है।

जेन मुनि होनेके बाद अपनी निर्विकल्प दशा हो जानेमे उन्हे ऐमा प्रतीत हुआ कि वे अब क्रमपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे यम-नियमोका पालन नही कर सकेंगे। जिस पदार्थकी प्राप्तिके लिये यम-नियमका क्रमपूर्वक पालन करना होता है, उस वस्तुकी प्राप्ति हो गयी तो फिर उस श्रेणिसे प्रवृत्ति करना और न करना दानो समान है ऐसी तत्त्वज्ञानियोकी मान्यता है। जिसे निर्ग्रन्थ प्रवचनमे अप्रमत्त गुणस्थान-वर्ती मुनि माना है, उसमेसे सर्वोत्तम जातिके लिये कुछ कहा नही जा सकता। परन्तु एकमात्र उनके वचनोका मेरे अनुभवज्ञानके कारण परिचय होनेसे ऐसा कहा जा सका है कि वे प्राय: मध्यम अप्रमत्त-दशामे थे। फिर उस दशामे यम-नियमका पालन गौणतासे आ जाता है। इसलिये अधिक आत्मानन्दके लिये उन्होने यह दशा मान्य रखी। इस कालमे ऐमी दशाको पहुँचे हुए बहुत ही थोड़े मनुष्योको प्राप्ति भी दुर्लभ है। उस अवस्थामे अप्रमत्तता विषयक बानका असम्भव त्वरासे होगा ऐसा मानकर उन्होंने अपना जीवन अनियतरूपसे और गुप्तरूपसे बिताया। यदि ऐसी ही दशामे वे रहे होते तो बहुतसे मनुष्य उनके मुनिपनेकी स्थितिशिथिलता समझते और ऐसा समझनेसे उनपर ऐसे पुरुषका अभीष्ट प्रभाव नही पडता। ऐसा हार्दिक निर्णय होनेसे उन्होने यह दशा स्वीकार की।—

× × ×

णमो जहट्ठियवत्थुवाईणं।

× × ×

रूपातीत व्यतीतमल, पूर्णानंदी ईस।
चिदानन्द ताकूं नमत, विनय सहित निज शीस॥[1]

जो रूपसे रहित है, कर्मरूपी मल जिनका नष्ट हो गया है, और जो पूर्णानदके स्वामी है, उन्हे चिदानन्दजी अपना मस्तक झुकाकर विनयसहित नमस्कार करते है।

रूपातीत—इस शब्दसे यह सूचित किया कि परमात्म-दशा रूपरहित है।

व्यतीतमल—इस शब्दसे यह सूचित किया कि कर्मका नाश हो जानेसे वह दशा प्राप्त होती है।

पूर्णानन्दी ईस—इस शब्दसे उस दशाका सुख बताया कि जहाँ सम्पूर्ण आनन्द है, अर्थात् यह सूचित किया कि परमात्मा पूर्ण आनन्दके स्वामी है। फिर रूपरहित तो आकाश भी है, इसलिये कर्ममलके नाशसे आत्मा जडरूप सिद्ध हो जाये। इस शंकाको दूर करनेके लिये यह कहा कि उस दशामे आत्मा पूर्णानन्दका ईश्वर है, और ऐसी उसकी रूपातीतता है।

चिदानन्द ताकूं नमत—इन शब्दोसे अपनी उनपर नाम लेकर अनन्य प्रीति बतायी है। सर्वाङ्ग नमस्कार करनेकी भक्तिमे अपना नाम लेकर अपना एकत्व बता करके विशेष भक्तिका प्रतिपादन किया है।

विनयसहित—इस शब्दसे यथायोग्य विधिका बोध दिया। यह सूचित किया कि भक्तिका मूल विनय है।

निज शीस—इन शब्दोमे यह बताया कि देहके सब अवयवोमे मस्तक श्रेष्ठ है, और उसके झुकानेसे सर्वाङ्ग नमस्कार हुआ। तथा यह भी सूचित किया कि मस्तक झुकाकर नमस्कार करनेकी विधि श्रेष्ठ है। 'निज' शब्दसे आत्मत्व भिन्न बताया कि मेरे उपाधिजन्य देहका जो उत्तमाग वह····(शीस)

कालज्ञानादिक थकी, लही आगम अनुमान।
गुरु करुना करी कहत हूं, शुचि स्वरोदयज्ञान॥[2]

'कालज्ञान' नामके ग्रन्थ इत्यादिसे, जैनसिद्धातमे कहे हुए बोधके अनुमानसे और गुरुकी कृपाके प्रतापसे स्वरोदयका पवित्र ज्ञान कहता हूँ।

---

१. पद्य संख्या ८ २. पद्य संख्या ९

'कालज्ञान' इस नामका अन्य दर्शनमे आयुका बोधक उत्तम ग्रंथ है और उसके सिवाय 'आदि' शब्दसे दूसरे ग्रन्थोंका भी आधार लिया है, ऐसा कहा ।

आगम अनुमान—इन शब्दोंसे यह बताया कि जैनशास्त्रमे ये विचार गौणतासे प्रदर्शित किये हैं; इसलिये मैंने अपनी दृष्टिमे जहाँ जहा जैसा बोध लिया वैसा प्रदर्शित किया है । मेरी दृष्टिसे अनुमान है, क्योंकि मैं आगमका प्रत्यक्ष ज्ञानी नही हूँ, यह हेतु है ।

गुरु करुना—इन शब्दोमे यह कहा कि कालज्ञान और आगमके अनुमानसे कहनेकी मेरी समर्थता न होती, क्योंकि वह मेरी काल्पनिक दृष्टिका ज्ञान था, परन्तु उस ज्ञानका अनुभव करा देनेवाली जो गुरु महाराजकी कृपादृष्टि—

स्वरका उदय पिछानिये, अति थिरता चित्त धार ।
ताथी शुभाशुभ कीजिये, भावि वस्तु विचार ।।[१]

चित्तकी अतिशय स्थिरता करके भावी वस्तुका विचार करके "शुभाशुभ" यह,

अति थिरता चित्त धार—इस वाक्यसे यह सूचित किया कि चित्तकी स्वस्थता करनी चाहिये ताकि स्वरका उदय यथायोग्य हो ।

शुभाशुभ भावि वस्तु विचार—इन शब्दोसे यह सूचित किया कि वह ज्ञान प्रतीतभूत है, अनुभव कर देखें ।

अब विषयका प्रारंभ करते है—

नाड़ी तो तनमे घणी, पण चौबीस प्रधान ।
तामे नव पुनि ताहुमे, तीन अधिक कर जान ।।[२]

शरीरमे नाड़ियाँ तो बहुत है, परन्तु उन नाड़ियोमे चौबीस मुख्य है, और उनमे नौ मुख्य है और उनमे भी तीनको तो विशेष जाने ।

अब उन तीन नाडियोंके नाम कहते है—

इगला पिंगला सुषुमना, ये तीनुंके नाम ।
भिन्न भिन्न अब कहत हूँ, ताके गुण अरु धाम ।।[३]

इगला, पिंगला, सुषुम्ना ये तीन नाडियोंके नाम है । अब उनके भिन्न भिन्न गुण और रहनेके स्थान कहता हूँ ।

× × ×

अल्पाहार निद्रा वश करे,
हेत स्नेह जगथी परिहरे ।
लोकलाज नवि धरे लगार,
एक चित्त प्रभुथी प्रीत धार ।।[४]

अल्प आहार करनेवाला, निद्राको वशमे करनेवाला अर्थात् नियमित निद्रा लेनेवाला, जगतके हेत-प्रेमसे दूर रहनेवाला, (कार्यसिद्धिके प्रतिकूल ऐसे) लोककी जिसे तनिक लज्जा नही है, चित्तको एकाग्र करके परमात्मामे प्रीति रखनेवाला ।

आशा एक मोक्षकी होय,
दूजी दुविधा नवि चित्त कोय ।

---

१. पद्य संख्या १० इसका पूरा अर्थ यह है—चित्तको अति स्थिर करके स्वरके उदय एव अस्तको पहचाने । फिर उसके आधारसे भावी वस्तुका विचार करके शुभाशुभ कार्य कीजिये । २ पद्य संख्या ११ ३. पद्य संख्या १२ ४. पद्य संख्या ८२

ध्यान जोग जाणो ते जीव;
जे भवदुःखथी डरत सदीव ॥[१]

जिसने मोक्षके अतिरिक्त सभी प्रकारकी आशाका त्याग किया है, और जो ससारके भयंकर दुःखोंसे निरंतर कॉंपता है, ऐसे जीवात्माको ध्यान करने योग्य जानें।

परनिंदा मुखथी नवि करे,
निज निंदा सुणी समता धरे।
करे सहु विकथा परिहार,
रोके कर्म आगमन द्वार ॥[२]

जिसने अपने मुखसे परकी निंदाका त्याग किया है; अपनी निंदा सुनकर जो समता धारण करके रहता है, स्त्री, आहार, राज, देश इत्यादि सबकी कथाओका जिसने नाश कर दिया है, और कर्मके प्रवेश करनेके द्वार जो अशुभ मन, वचन और काया हैं, उन्हे जिसने रोक रखा है।

× × ×

अहर्निश अधिका प्रेम लगावे, जोगानल घटमांहि जगावे।
अल्पाहार आसन दृढ करे, नयन थकी निद्रा परिहरे ॥[३]

दिनरात ध्यानविषयमे बहुत प्रेम लगाकर घटमे योगरूपी अग्नि (कर्मको जला देनेवाली) जगाये। (यह मानो ध्यानका जीवन है।) अब इसके अतिरिक्त उसके दूसरे साधन बताते हैं।

थोडा आहार और आसनकी दृढता करे। पद्म, वीर, सिद्ध अथवा चाहे जो आसन कि जिससे मन वारंवार विचलित न हो ऐसा आसन यहाँ समझाया है। इस प्रकार आसनका जय करके निद्राका परित्याग करे। यहाँ परित्यागका देशपरित्याग बताया है। जिस निद्रासे योगमे बाधा आती है उस निद्रा अर्थात् प्रमत्तताका कारण और दर्शनावरणकी वृद्धि इत्यादिसे उत्पन्न होनेवाली अथवा अकालिक निद्राका त्याग करे।

× × ×

मेरा मेरा मत करे, तेरा नहि है कोय।
चिदानन्द परिवारका, मेला है दिन दोय ॥[४]

चिदानदजी अपने आत्माको उपदेश देते है कि हे जाव! मेरा मेरा मत कर, तेरा काई नही है। हे चिदानद! परिवारका मेला तो दो दिनका है।

ऐसा भाव निहार नित, कोजे ज्ञान विचार।
मिटे न ज्ञान बिचार बिन, अंतर भाव-विकार ॥[५]

ऐसा क्षणिक भाव निरतर देखकर हे आत्मन्! ज्ञानका विचार कर। ज्ञानविचार किये बिना (मात्र अकेली बाह्य क्रियासे) अंतरमे भाव-कर्मके रहे हुए विकार नही मिटते।

ज्ञान-रवि वैराग्य जस, हिरदे चंद समान।
तास निकट कहो क्यों रहे, मिथ्यातम दुःख जान ॥[६]

जीव! समझ कि जिसके हृदयमे ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश हुआ है, और जिसके हृदयमे वैराग्यरूपी चद्रका उदय हुआ है, उसके समीप क्योकर रह सकता है?—क्या? मिथ्या भ्रमरूपो अधकारका दुःख।

× × ×

---

१ पद्य सख्या ८३ २. पद्य सख्या ८४ ३ पद्य सख्या ८८ ४. पद्य सख्या ३८१ ५. पद्य संख्या ३८२ ६. पद्य सख्या ३८३

जैसे कंचुक-त्यागसे, बिनसत नहीं भुजंग।
देह त्यागसे जीव पुनि, तैसे रहत अभंग ॥[1]

जैसे काँचलीका त्याग करनेमे साँपका नाश नही होता, वैसे देहका त्याग करनेसे जीव भी अभंग रहता है अर्थात् नष्ट नही होता। यहाँ इस बातकी सिद्धि की है कि जीव देहसे भिन्न है।

बहुतसे लोग कहते है कि देह और जीवकी भिन्नता नही है, देहका नाश होनेसे जीवका भी नाश हो जाता है। यह मात्र विकल्परूप है, परन्तु प्रमाणभूत नही है, क्योकि वे काँचलीके नाशसे साँपका भी नाश हुआ समझते है। और यह बात तो प्रत्यक्ष है कि साँपका नाश काचलीके त्यागसे नही है। उसी प्रकार जीवके लिये है।

देह तो जीवकी काँचली मात्र है। जब तक काँचली साँपके साथ लगी हुई है तब तक जैसे साँप चलता है वैसे वह उसके साथ चलती है, उसकी भाँति मुडती है और उसको सभी क्रियाएँ साँपकी क्रियाके अधीन है। साँपने उसका त्याग किया कि फिर उनमेसे एक भी क्रिया काँचली नही कर सकती। पहले वह जिन क्रियाओको करती थी, वे सब क्रियाएँ मात्र साँपकी थी उनमे काँचलीका मात्र संबध था। इसी प्रकार जैसे जीव कर्मानुसार क्रिया करता है वैसे देह भी क्रिया करती है—चलती है, बैठती है, उठती है—यह सब होता है जीवरूप प्रेरकसे, उसका वियोग होनेके बाद कुछ नही होता, [अपूर्ण]

२३

जीवतत्त्वसम्बन्धी विचार[2]

एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार प्रकारसे, पाँच प्रकारसे और छः प्रकारसे जीवतत्त्व समझा जा सकता है।

सब जीवोको कमसे कम श्रुतज्ञानका अनतवाँ भाग प्रकाशित रहनेसे सब जीव चैतन्यलक्षणसे एक ही प्रकारके है।

त्रस जीव अर्थात् जो धूपमेसे छायामे आये, छायामेसे धूपमे आयें, चलनेकी शक्तिवाले हो और भय देखकर त्रास पाते हो, ऐसे जीवोकी एक जाति है। दूसरे स्थावर जीव अर्थात् जो एक ही स्थलमे स्थिति-वाले हो, ऐसे जीवोकी दूसरी जाति है। इस तरह सब जीव दो प्रकारसे समझे जा सकते है।

सब जीवोको वेदसे जाँचकर देखे तो स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदमे उनका समावेश होता है। कोई जीव स्त्रीवेदमे, कोई जीव पुरुषवेदमे और कोई जीव नपुसकवेदमे होते है। इनके अतिरिक्त चौथा वेद न होनेसे वेददृष्टिसे सब जीव तीन प्रकारसे समझे जा सकते है।

कितने ही जीव नरकगतिमे, कितने ही तिर्यंचगतिमे, कितने ही मनुष्यगतिमे और कितने ही देवगतिमे रहते है। इनके अतिरिक्त पाँचवी संसारी गति न होनेसे जीव चार प्रकारसे समझे जा सकते है। [अपूर्ण]

---

१ पद्य सख्या ३८६।

२ नव तत्त्व प्रकरण, गाथा ३—

एगविह दुविह तिविहा, चउव्विहा पच छव्विहा जीवा।
चेयण-तस-इयरेहिं, वेय-गई-करण-काएहिं ॥३॥

भावार्थ—जीव अनुक्रमसे चेतनरूप एक ही भेद द्वारा एक प्रकारके है, त्रस और स्थावररूपसे दो प्रकारके है, वेदरूपसे तीन प्रकारके, गतिरूपसे चार प्रकारके, इन्द्रियरूपसे पाँच प्रकारके और कायाके भेदसे छ प्रकारके भी कहलाते हैं।

२४
जीवाजीव विभक्ति

जीव और अजीवके विचारको एकाग्र मनसे श्रवण करें। जिसे जानकर भिक्षु सम्यक् प्रकारसे संयममे यत्न करते है।

जीव और अजीव (जहाँ हो उसे) लोक कहा है। अजीवके आकाश नामके भागको अलोक कहा है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे जीव और अजीवका बोध हो सकता है।

रूपी और अरूपी इस प्रकार अजीवके दो भेद होते हैं। अरूपीके दस प्रकार और रूपीके चार प्रकार कहे है।

धर्मास्तिकाय, उसका देश, और उसके प्रदेश, अधर्मास्तिकाय, उसका देश, और उसके प्रदेश, आकाश, उसका देश, और उसके प्रदेश; अद्धासमय कालतत्त्व, इस प्रकार अरूपीके दस प्रकार होते है।

धर्म और अधर्म ये दोनो लोक प्रमाण कहे है।

आकाश लोकालोकप्रमाण और अद्धासमय समयक्षेत्र[1]-प्रमाण है। धर्म, अधर्म और आकाश ये अनादि अपर्यवस्थित है।

निरंतरकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे समय भी इसी प्रकार है। सतति एक कार्यकी अपेक्षासे सादि-सात है।

स्कंध, स्कंधदेश, उसके प्रदेश और परमाणु इस तरह रूपी अजीव चार प्रकारके है।

जिसमे परमाणु एकत्र होते है और जिससे परमाणु पृथक् होते है वह स्कंध है। उसका विभाग देश और उसका अतिम अभिन्न अश प्रदेश है।

वह लोकके एक देशमे क्षेत्री है। उसके कालके विभाग चार प्रकारके कहे जाते है।

निरन्तर उत्पत्तिकी अपेक्षासे अनादि अपर्यवस्थित है। एक क्षेत्रकी स्थितिकी अपेक्षासे सादिसपर्य-वस्थित है। [अपूर्ण]

(उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३६)

२५

कार्तिक, १९४३

१ प्रमादके कारण आत्मा प्राप्त हुए स्वरूपको भूल जाता है।

२ जिस जिस कालमे जो जो करना है उसे सदा उपयोगमे रखे रहे।

३ फिर क्रमसे उसकी सिद्धि करें।

४. अल्प आहार, अल्प विहार, अल्प निद्रा, नियमित वाचा, नियमित काया और अनुकूल स्थान, ये मनको वश करनेके उत्तम साधन है।

५. श्रेष्ठ वस्तुकी अभिलाषा करना ही आत्माकी श्रेष्ठता है। कदाचित् वह अभिलाषा पूरी न हुई तो भी वह अभिलाषा भी उसीके अंशके समान है।

६ नये कर्मोंको नही बाँधना और पुरानोको भोग लेना, ऐसी जिसकी अचल अभिलाषा है, वह तदनुसार वर्तन कर सकता है।

७ जिस कृत्यका परिणाम धर्म नही है, उस कृत्यको करनेकी इच्छा मूलसे ही नहीं रहने देनी चाहिये।

---

१. मनुष्यक्षेत्र—ढाईद्वीप प्रमाण।

८ यदि मन शंकाशील हो गया हो तो 'द्रव्यानुयोग' का विचार करना योग्य है, प्रमादी हो गया हो तो 'चरणकरणानुयोग' का विचार करना योग्य है, और कषायी हो गया हो तो 'धर्मकथानुयोग' का विचार करना योग्य है; और जड हो गया हो तो 'गणितानुयोग' का विचार करना योग्य है।

९ किसी भी कामकी निराशा चाहना, परिणाममे फिर जितनी सिद्धि हुई उतना लाभ; ऐसा करनेसे सतोषी रहा जायेगा।

१०. पृथ्वीसबधी क्लेश हो तो यो समझ लेना कि वह साथ आनेवाली नही है; प्रत्युत मै उसे देह देकर चला जानेवाला हूँ, और वह कुछ मूल्यवान नही है। स्त्रीसबधी क्लेश, शका भाव हो तो यो समझकर अन्य भोक्ताके प्रति हँसना कि वह मल-मूत्रकी खानमे मोहित हो गया, (जिस वस्तुका हम नित्य त्याग करते हैं उसमें!) धनसम्बन्धी निराशा या क्लेश हो तो वे ऊँची जातिके ककर है यो समझकर सतोष रखना, तो क्रमसे तू निस्पृही हो सकेगा।

११. उसका तू बोध प्राप्त कर कि जिससे समाधिमरणकी प्राप्ति हो।

१२ एक बार यदि समाधिमरण हुआ तो सर्व कालके असमाधिमरण दूर हो जायेंगे।

१३ सर्वोत्तम पद सर्वत्यागीका है।

---

२६ ववाणिया बंदर, १९४३

मुज्ञश्री चत्रभुज बेचर,

पत्रका उत्तर नही लिख सका। यह सब मनकी विचित्र दशाके कारण है। रोष या मान इन दोमेसे कोई नही है। कुछ ससार भावकी खिन्नता तो जरूर है। इससे आपको परेशान नही होना चाहिये। क्षमा चाहते है। बातका विस्मरण करनेके लिये विनती है।

× × × ×

सावधानी शूरवीरका भूषण है।

जिनाय नमः

---

२७ बंबई, सं० १९४३

महाशय,

आपकी पत्रिका मिली थी। समाचार विदित हुए। उत्तरमे निवेदन है कि मुझे किसी भी प्रकारसे बुरा नहीं लगा। वैराग्यके कारण अपेक्षित स्पष्टीकरण लिख नही सकता। यद्यपि अन्य किसीको तो पहुँच भी नही लिख सकता, तो भी आप मेरे हृदयरूप है, इसलिये पहुँच इत्यादि लिख सकता हूँ। मैं केवल हृदयत्यागी हूँ। थोड़े समयमे कुछ अद्भुत करनेके लिये तत्पर हूँ। संसारसे तंग आ गया हूँ।

मैं दूसरा महावीर हूँ, ऐसा मुझे आत्मिक शक्तिसे मालूम हुआ है। दस विद्वानोने मिलकर मेरे ग्रहोंको परमेश्वरग्रह ठहराया है। सत्य कहता हूँ कि मै सर्वज्ञ जैसी स्थितिमें हूँ। वैराग्यमे झूमता हूँ।

आशुप्रज्ञ राजचंद्र

दुनिया मतभेदके बंधनसे तत्त्वको पा नहीं सकी। इसमें सत्य सुख और सत्य आनंद नही हैं। उसके स्थापित होनेके लिये और एक सच्चे धर्मको चलानेके लिये आत्माने साहस किया है। उस धर्मका प्रवर्तन करूँगा ही।

महावीरने अपने समयमे मेरा धर्म कुछ अंशोंमें प्रचलित किया था। अब वैसे पुरुषोंके मार्गको ग्रहण करके श्रेष्ठ धर्मकी स्थापना करूँगा।

यहाँ इस धर्मके शिष्य बनाये है। यहाँ इस धर्मकी सभाकी स्थापना कर ली है।

[1]सात सौ महानीति अभी इस धर्मके शिष्योके लिये एक दिनमे तैयार की है।

सारी सृष्टिमे पर्यटन करके भी इस धर्मका प्रवर्तन करेगे। आप मेरे हृदयरूप और उत्कंठित हैं, इसलिये यह अद्भुत बात बतायी है। अन्यको न बताइयेगा।

अपनी जन्मकुण्डली मुझे लौटती डाकसे भेज दीजिये। मुझे आशा है कि उस धर्मका प्रचार करनेमे आप मुझे बहुत सहायक सिद्ध होगे, और मेरे महान शिष्योमें आप अग्रेसरता भोगेगे। आपकी शक्ति अद्भुत होनेसे ऐसे विचार लिखनेमे मैंने संकोच नही किया है।

अभी जो शिष्य बनाये हैं उन्हे संसार छोडनेके लिये कहे तो खुशीसे छोड़ सकते हैं। अभी भी उनकी ना नही है, ना हमारी है। अभी तो सौ दो सौ व्यक्ति चौतरफा तैयार रखना कि जिनकी शक्ति अद्भुत हो।

धर्मके सिद्धातोको दृढ करके, मै ससारका त्याग करके, उनसे त्याग कराऊँगा। कदाचित् मै पराक्रमके लिये थोडे समय तक त्याग न करूँ तो भी उनसे त्याग करवाऊँगा।

सर्व प्रकारसे अब मैं सर्वज्ञके समान हो चुका हूँ ऐसा कहूँ तो चले।

देखें तो सही! सृष्टिको किस रूपमे बदलते हैं!

पत्रमें अधिक क्या बनाऊँ? रूबरूमे लाखों विचार बताने हैं। सब अच्छा ही होगा। मेरे प्रिय महाशय, ऐसा ही मानें।

हर्षित होकर लौटती डाकसे उत्तर लिखें। बातको ग प्त होकर सुरक्षित रखियेगा।

त्यागीके यथायोग्य।

---

२८ बबई बंदर, सोम, १९४३

प्रिय महाशय,

रजिस्टर्ड पत्रके साथ जन्मकुण्डली मिली है।

अभी मेरे धर्मको जगतमे प्रवर्तन करनेके लिये कुछ समय बाकी है। अभी मै ससारमे आपकी निर्धारित अवधिसे अधिक रहनेवाला हूँ। हमे जिन्दगी ससारमे अवश्य गुजारनी पड़ेगी तो वैसा करेंगे। अभी तो इससे अधिक अवधि तक रहनेका बन पायेगा। स्मरण रखिये कि किसीको निराश नही करूँगा। धर्मसम्बन्धी आपने-अपने विचार बतानेका परिश्रम उठाया यह उत्तम किया है। किसी प्रकारकी अड्चन नही आयेगी। पंचमकालमे प्रवर्तन करनेके लिये जो जो चमत्कार चाहिये वे सब एकत्रित हैं और होते जाते हैं। अभी इन सब विचारोको पवनसे भी सर्वथा गुप्त रखिये। यह कृत्य सृष्टिमे विजयी होनेवाला ही है।

आपकी जन्मकुण्डली, दर्शनसाधना, धर्म इत्यादि सम्बन्धी विचार समागममे बताऊँगा। मैं थोडे समयमे ससारी होनेके लिये वहाँ आनेवाला हूँ। आपको पहलेसे ही मेरा आमंत्रण है।

अधिक लिखनेकी सहज आदत न होनेसे क्षेमकुशल और शुक्लप्रेम चाहकर पत्रिका पूर्ण करता हूँ।

लि० रायचंद्र।

---

१. देखें आक १९

२१ वाँ वर्ष

२९ बंबई, कार्तिक सुदी ५, १९४४

रा रा चत्रभुज बेचरकी सेवामे सविनय विनती है कि :—

मेरे सम्बन्धमे निरतर निश्चिन्त रहियेगा। आपके लिये मैं चितातुर रहूँगा।

जैसे बने वैसे अपने भाइयोमे प्रीति, एकता और शांतिकी वृद्धि करें। ऐसा करनेसे मुझपर बड़ी कृपा होगी।

समयका सदुपयोग करते रहियेगा, गाँव छोटा है तो भी।

'प्रवीणसागर' की व्यवस्था करके भिजवा दूँगा।

निरंतर सभी प्रकारसे निश्चिन्त रहियेगा।

लि० रायचंदके जिनाय नमः

---

३० बंबई, पौष वदी १०, बुध, १९४४

[1]विवाह सबधी उन्होने जो मिती निश्चित की है, उसके विषयमे उनका आग्रह है तो भले वह मिती निश्चित रहे।

लक्ष्मीपर प्रीति न होनेपर भी किसी भी परार्थिक कार्यमे वह बहुत उपयोगी हो सकती है ऐसा लगनेसे मौन धारणकर यहाँ उसकी सुव्यवस्था करनेमे लगा हुआ था। उस व्यवस्थाका अभीष्ट परिणाम आनेमे बहुत समय नही था। परन्तु इनकी ओरका केवल ममत्वभाव शीघ्रता कराता है, जिससे उस सबको छोड़कर वदी १३ या १४ (पौषकी) के दिन यहाँसे रवाना होता हूँ। परार्थ करते हुए कदाचित् लक्ष्मी अंधता, बधिरता और मूकता दे देती है, इसलिये उसकी परवाह नही है।

हमारा अन्योन्य सम्बन्ध कोई कौटुम्बिक रिश्ता नहीं है; परन्तु दिलका रिश्ता है। परस्पर लोहचुम्बकका गुण प्राप्त हुआ है, यह प्रत्यक्ष है; तथापि मै तो इससे भी भिन्नरूपसे आपको हृदयरूप करना चाहता हूँ। जो विचार सारे सम्बन्धोको दूर कर, संसार योजनाको दूर कर तत्त्वविज्ञानरूपसे मुझे बताने हैं; और आपको स्वय उनका अनुकरण करना है। इतना संकेत बहुत सुखप्रद होनेपर भी मार्मिक रूपमे आत्मस्वरूपके विचारसे यहाँ लिखे देता हूँ।

---

१. स १९४४ माघ सुदी १२—गृहस्थाश्रममे प्रवेश।

वे शुभ प्रसगमे सिद्विवेकी सिद्ध हों और रूढिसे प्रतिकूल रहें जिसमे परस्पर कौटुम्बिक स्नेह निष्पन्न हो सके—ऐसी सुंदर योजना उनके हृदयमे है क्या ? आप ठसायेगे क्या ? कोई दूसरा ठसायेगा क्या ? यह विचार पुन पुन' हृदयमे आया करता है।

निदान, साधारण विवेकी जिन विचारोको हवाई समझें, वैसे विचार, जो वस्तु और जो पद आज सम्राज्ञी विक्टोरियाके लिये दुर्लभ—केवल असंभवित है—उन विचारो, उस वस्तु और उस पदकी ओर संपूर्ण इच्छा होनेसे, ऊपर लिखा है उससे लेश मात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पदाभिलाषी पुरुषके चरित्रको परम लाछन लगने जैसा है। ये सारे हवाई (अभी लगनेवाले) विचार केवल आपको ही बताता हूँ। अंत'करण शुक्ल—अद्भुत—विचारोसे भरपूर है। परन्तु आप वहाँ रहे और मै यहाँ रहा !

---

३१ ववाणिया, प्र० चैत्र सुदी ११॥ रवि, १९४४

क्षणभगुर दुनियामे सत्पुरुषका समागम ही अमूल्य और अनुपम लाभ है।

---

३२ ववाणिया, आषाढ वदी ३, बुध, १९४४

यह एक अद्भुत बात है कि चार पाँच दिन हुए बायी आँखमे एक छोटे चक्र जैसा बिजलीके समान चमकारा हुआ करता है, जो आँखसे जरा दूर जाकर अदृश्य हो जाता है। लगभग पाँच मिनिट होता है या दिखायी देता है। मेरी दृष्टिमे वारंवार यह देखनेमे आता है। इस बारेमे किसी प्रकारकी भ्रान्ति नही है। इसका कोई निमित्त कारण मालूम नही होता। बहुत आश्चर्यकारी है। आँखमे दूसरा किसी भी प्रकारका असर नही है। प्रकाश और दिव्यता विशेष रहते है। चारेक दिन पहले दोपहरके २–२० मिनिटपर एक आश्चर्यभूत स्वप्न आनेके बाद यह हुआ हो ऐसा मालूम होता है। अन्त करणमे बहुत प्रकाश रहता है, शक्ति बहुत तेजस्वी है। ध्यान समाधिस्थ रहता है। कोई कारण समझमे नही आता। यह बात गुप्त रखनेके लिये ही बता देता हूँ। अब इस सम्बन्धमे विशेष फिर लिखूँगा।

---

३३ ववाणिया, आषाढ वदी ४, शुक्र, १९४४

आप भी आर्थिक बेपरवाही न रखियेगा। शरीर और आत्मिकसुखकी इच्छा करके, व्ययका कुछ सकोच करेंगे तो मै मानूँगा कि मुझपर उपकार हुआ। भवितव्यताका भाव होगा तो मै आपके अनुकूल सुविधायुक्त समागमका लाभ उठा सकूँगा।

---

३४ ववाणिया, श्रावण वदी १३, सोम, १९४४

वामनेत्रसम्बन्धी चमत्कारसे आत्मशक्तिमे अल्प परिवर्तन हुआ है।

---

३५ ववाणिया, श्रावण वदी ३०, १९४४

उपाधि कम है, यह आनन्दजनक है। धर्मकरनीके लिये कुछ समय मिलता होगा।

धर्मकरनीके लिये थोड़ा समय मिलता है, आत्मसिद्धिके लिये भी थोड़ा समय मिलता है, शास्त्र-पठन और अन्य वाचनके लिये भी थोडा समय मिलता है, थोड़ा समय लेखनक्रियामें जाता है, थोडा समय आहार-विहार-क्रिया ले लेती है, थोडा समय शौचक्रियामे जाता है, छ. घंटे निद्रा ले लेती है, थोडा समय मनोराज ले जाता है, फिर भी छः घटे बचते है। सत्संगका लेश अंश भी न मिलनेसे बिचारा यह आत्मा विवेक-विकलताका वेदन करता है।

---

३६ बम्बई, भाद्रपद वदी १, शनि, १९४४

वंदामि प्रभुवर्द्धमानपादम्

प्रतिमाके कारण यहाँ समागममे आनेवाले लोग बहुत प्रतिकूल रहते है। यो ही मतभेदसे अनन्तकाल और अनन्त जन्ममे भी आत्माने धर्म नही पाया। इसलिये सत्पुरुष उसे नही चाहते, परन्तु स्वरूप-श्रेणिको चाहते हैं।

---

३७ बम्बई बन्दर, आसोज वदी २, गुरु, १९४४

पार्श्वनाथ परमात्माको नमस्कार

प्रिय भाई सत्याभिलाषी उजमसी, राजनगर।

आपका हस्तलिखित शुभ पत्र मुझे कल सायकाल मिला। आपकी तत्त्वजिज्ञासाके लिये विशेष सन्तोष हुआ।

जगतको अच्छा दिखानेके लिये अनन्त बार प्रयत्न किया, फिर भी उससे अच्छा नही हुआ। क्योंकि परिभ्रमण और परिभ्रमणके हेतु अभी प्रत्यक्ष विद्यमान है। यदि एक भव आत्माका भला करनेमे व्यतीत हो जायेगा, तो अनन्त भवोका बदला मिल जायेगा, ऐसा मै लघुत्वभावसे समझा हूँ, और वैसा करनेमे ही मेरी प्रवृत्ति है। इस महाबन्धनसे रहित होनेमे जो-जो साधन और पदार्थ श्रेष्ठ लगें, उन्हे ग्रहण करना, यही मान्यता है तो फिर उसके लिये जगतकी अनुकूलता-प्रतिकूलता क्या देखनी? वह चाहे जैसे बोले, परन्तु आत्मा यदि बन्धनरहित होना हो, समाधिमय दशा पाता हो तो वैसे कर लेना। जिससे सदाके लिये कीर्ति-अपकीर्तिसे रहित हुआ जा सकेगा।

अभी उनके और इनके पक्षके लोगोके जो विचार मेरे विषयमे है, वे मेरे ध्यानमे है ही, परन्तु उन्हे विस्मृत कर देना ही श्रेयस्कर है। आप निर्भय रहिये। मेरे लिये कोई कुछ कहे उसे सुनकर मौन रहिये, उनके लिये कुछ शोक-हर्ष न कीजियेगा। जिस पुरुषपर आपका प्रशस्त राग है, उसके इष्ट देव परमात्मा जिन, महायोगीन्द्र पार्श्वनाथ आदिका स्मरण रखिये और यथासम्भव निर्मोही होकर मुक्त दशाकी इच्छा करिये। जीवितव्य या जीवनपूर्णता सम्बन्धी कुछ सकल्प-विकल्प न कीजियेगा। उपयोगको शुद्ध करनेके लिये इस जगतके सकल्प-विकल्पोको भूल जाइये, पार्श्वनाथ आदि योगीश्वरकी दशाका स्मरण करिये, और वही अभिलाषा रखे रहिये, यही आपको पुन पुन आशीर्वादपूर्वक मेरी शिक्षा है। यह अल्पज्ञ आत्मा भी उस पदका अभिलाषी और उस पुरुषके चरणकमलमे तल्लीन हुआ दीन शिष्य है। आपको वैसी श्रद्धाकी ही शिक्षा देता है। वीरस्वामी द्वारा उपदिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे सर्वस्वरूप यथातथ्य है, इसे न भूलियेगा। उनकी शिक्षाकी किसी भी प्रकारसे विराधना हुई हो तो उसके लिये पश्चात्ताप कीजिये। इस कालकी अपेक्षासे मन, वचन और कायाको आत्मभावसे उनकी गोदमें अर्पण करें, यही मोक्षका मार्ग है। जगतके सब दर्शनोकी—मतोकी श्रद्धाको भूल जाइये, जैनसम्बन्धी सब विचार भूल जाइये, मात्र उन सत्पुरुषोके अद्भुत, योगस्फुरित चरित्रमे ही उपयोगको प्रेरित कीजियेगा।

इस आपके माने हुए 'पूज्य'के लिये किसी भी प्रकारसे हर्ष-शोक न कीजियेगा, उसकी इच्छा मात्र सकल्प-विकल्पसे रहित होनेकी ही है, उसका इस विचित्र जगतसे कुछ सम्बन्ध या लेना-देना नही है। इसलिये उसमे उसके लिये चाहे जो विचार किये जायें या कहे जायें उनकी ओर अब ध्यान देनेकी इच्छा नही है। जगतमेसे जो परमाणु पूर्वकालमे इकट्ठे किये है उन्हे धीरे-धीरे उसे देकर ऋणमुक्त होना, यही उसकी सदा उपयोगसहित, प्रिय, श्रेष्ठ और परम अभिलाषा है, बाकी उसे कुछ नही आता; वह दूसरा कुछ नही चाहता, पूर्वकर्मके आधारसे उसका सारा विचरना है, ऐसा समझकर परम सन्तोष रखिये; यह

बात गुप्त रखिये। हम क्या मानते हैं? अथवा कैसे बरताव करते हैं? उसे जगतको दिखानेकी जरूरत नहीं है, परन्तु आत्माको इतना ही पूछनेकी जरूरत है कि यदि तू मुक्तिको चाहता है तो संकल्प-विकल्प, रागद्वेषको छोड़ दे और उसे छोड़नेमे तुझे कुछ बाधा हो तो उसे कह। वह अपने आप मान जायेगा और वह अपने आप छोड़ देगा।

जहाँ-तहाँसे रागद्वेषरहित होना यही मेरा धर्म है, और वह अभी आपको बताये देता हूँ। परस्पर मिलेगे तब फिर आपको कुछ भी आत्म-साधना बता सकूँगा तो बताऊँगा। बाकी धर्म तो वही है जो मैने ऊपर कहा है और उसीमे उपयोग रखिये। उपयोग ही साधना है। विशेष साधना मात्र सत्पुरुषके चरणकमल हैं; यह भी कहे देता हूँ।

आत्मभावमे सब कुछ रखिये, धर्मध्यानमे उपयोग रखिये, जगतके किसी भी पदार्थ, सगे सबधी, कुटुबी और मित्रका कुछ हर्ष-शोक करना योग्य ही नही है। परमशातिपदकी इच्छा करे यही हमारा सवसम्मत धर्म है और यही इच्छा करते-करते वह मिल जायेगा, इसलिये निश्चित रहे। मै किसी गच्छमे नही हूँ, परन्तु आत्मामे हूँ, इसे न भूलियेगा।

जिसकी देह धर्मोपयोगके लिये है, उस देहको रखनेके लिये जो प्रयत्न करता है, वह भी धर्मके लिये ही है।

वि० रायचन्द्र

---

३८ वि० स० १९४४

(१) सहज स्वभावसे मुक्त, अत्यत प्रत्यक्ष अनुभव स्वरूप आत्मा है, तो फिर ज्ञानी पुरुषोको आत्मा है, आत्मा नित्य है, बध है, मोक्ष है इत्यादि अनेक प्रकारका निरूपण करना योग्य न था।

(२) आत्मा यदि अगम अगोचर है तो फिर वह किसीको प्राप्त होने योग्य नही है, और यदि सुगम सुगोचर है तो फिर प्रयत्न करना योग्य नही है।

---

३९ वि० सं० १९४४

नेत्रोकी श्यामता विषे जो पुतलियाँरूप स्थित है, अरु रूपको देखता है, साक्षीभूत है, सो अंतर कैसे नही देखता? जो त्वचा विषे स्पर्श करता है, शीतउष्णादिकको जानता है, ऐसा सर्व अग विषे व्यापक अनुभव करता है; जैसे तिलों विषे तेल व्यापक होता है, तिसका अनुभव कोऊ नही करता। जो शब्द श्रवणइन्द्रियके अन्तर ग्रहण करता है, तिस शब्दशक्तिको जाननेहारी सत्ता है, जिस विषे शब्दशक्तिका विचार होता है, जिसकरि रोम खडे होई आते है, सो सत्ता दूर कैसे होवे? जो जिह्वाके अग्रविषे रसस्वादको ग्रहण करता है, तिस रसका अनुभव करनेहारी अलेप सत्ता है, सो सन्मुख कैसे न होवे? वेद वेदात, सप्तसिद्धात, पुराण, गीता करि जो ज्ञेय, जानने योग्य आत्मा है तिसको जब जान्या तब विश्राम कैसे न होवे?

---

४० बंबई, १९४४

विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता इतने गुण जिस आत्मामे हो, वह तत्त्व पानेके लिये उत्तम पात्र है।

अनंत जन्ममरण कर चुकनेवाले इस आत्माकी करुणा वेसे अधिकारीको उत्पन्न होती है और वही कर्ममुक्त होनेका अभिलाषी कहा जा सकता है। वही पुरुष यथार्थ पदार्थको यथार्थ स्वरूपसे समझकर मुक्त होनेके पुरुषार्थमें लग जाता है।

जो आत्मा मुक्त हुए है वे आत्मा कुछ स्वच्छंदवर्तनसे मुक्त नही हुए है, परन्तु आप्त पुरुष द्वारा उपदिष्ट मार्गके प्रबल अवलंबनसे मुक्त हुए हैं।

अनादिकालके महाशत्रुरूप राग, द्वेष और मोहके बधनमे वह अपने सम्बन्धमे विचार नही कर सका। मनुष्यत्व, आर्यदेश, उत्तमकुल और शारीरिक सपत्ति ये अपेक्षित साधन है, और अन्तरङ्ग साधन मात्र मुक्त होनेकी सच्ची अभिलाषा है।

इस प्रकार यदि आत्मामे सुलभबोधिताकी योग्यता आयी हो तो वह, जो पुरुष मुक्त हुए हैं, अथवा वर्तमानमे मुक्तरूपसे या आत्मज्ञानदशासे विचरते है, उनके उपदिष्ट मार्गमें निःसंदेह श्रद्धाशील होगा।

जिसमे राग, द्वेष और मोह नही हैं, वह पुरुष इन तीन दोषोंसे रहित मार्गका उपदेश कर सकता है अथवा तो उसी पद्धतिसे निःसंदेहरूपसे आचरण करनेवाले सत्पुरुष उस मार्गका उपदेश दे सकते हैं।

सभी दर्शनोकी शैलीका विचार करनेपर राग, द्वेष और मोह रहित पुरुषका उपदिष्ट निर्ग्रंथदर्शन विशेष मानने योग्य है।

इन तीन दोषोंसे रहित, महातिशयसे प्रतापी तीर्थंकरदेवने मोक्षके कारणरूप जिस धर्मका उपदेश दिया है, उस धर्मको चाहे जो मनुष्य स्वीकार करते हो, परन्तु वह एक पद्धतिसे होना चाहिये, यह बात निःशंक है।

अनेक पद्धतिसे अनेक मनुष्य उस धर्मका प्रतिपादन करते हो और वह मनुष्योमे परस्पर मतभेद का कारण होता हो तो उसमे तीर्थंकरदेवकी एक पद्धतिका दोष नही है परन्तु उन मनुष्योकी समझशक्तिका दोष माना जा सकता है।

इस तरह हम निर्ग्रंथधर्मप्रवर्तक है, यो भिन्न-भिन्न मनुष्य कहते हो, तो उनमेसे उन मनुष्योको प्रमाणाबाधित गिना जा सकता है कि जो वीतरागदेवकी आज्ञाके सद्भावसे प्ररूपक और प्रवर्तक हो।

यह काल 'दुःषम' नामसे प्रख्यात है। दुःषम काल उसे कहा जाता है कि जिस कालमे मनुष्य महादुःखसे आयु पूर्ण करते हो, और धर्माराधनाके पदार्थोको प्राप्त करनेमे दुःषमता अर्थात् महाविघ्न आते हो।

हालमे वीतरागदेवके नामसे जैनदर्शनमे इतने अधिक मत प्रचलित है कि वे मत, केवल मतरूप है; परन्तु जब तक वीतरागदेवकी आज्ञाका अवलबन करके उनका प्रवर्तन न होता हो तब तक वे सत्रूप नही कहे जा सकते।

इस मतप्रवर्तनमे इतने मुख्य कारण मुझे सम्भाव्य लगते है—(१) अपनी शिथिलताके कारण कितने ही पुरुषोने निर्ग्रंथदशाकी प्रधानता कम कर दी हो, (२) परस्पर दो आचार्योका वाद-विवाद, (३) मोहनीय कर्मका उदय और तदनुरूप प्रवर्तन हो जाना, (४) ग्रहण करनेके बाद उस बातका मार्ग मिलता हो तो भी उसे दुर्लभबोधिताके कारण ग्रहण न करना, (५) मतिकी न्यूनता, (६) जिसपर राग हो उसकी इच्छानुसार प्रवर्तन करनेवाले अनेक मनुष्य, (७) दुःषम काल और (८) शास्त्रज्ञानका घट जाना।

इन सब मतोके सबधमे समाधान होकर निःशकतासे वीतरागकी आज्ञा रूप मार्ग प्रवर्तित हो तो महाकल्याण हो, परन्तु ऐसी संभावना कम है। जिसे मोक्षकी अभिलाषा है उसकी प्रवर्तना तो उसी मार्ग-में होती है, परन्तु लोक अथवा ओघदृष्टिसे प्रवर्तन करनेवाले पुरुष, और पूर्वके दुर्घट कर्मके उदयके कारण मतकी श्रद्धामे पड़े हुए मनुष्य उस मार्गका विचार कर सकें, या बोध ले सकें; ऐसा उनके कितने ही दुर्लभबोधी गुरु करने दे और मतभेद दूर होकर परमात्माकी आज्ञाका सम्यक्रूपसे आराधन करते

हुए उन मतवादियोको देखे, यह बहुत असंभवित है। सबमे एकसी बुद्धि प्रगट होकर, उसका सशोधन होकर, वीतरागकी आज्ञारूप मार्गका प्रतिपादन हो, यह यद्यपि सर्वथा असभव जैसा है, फिर भी सुलभबोधी आत्मा अवश्य इसके लिये प्रयत्न करते रहे तो परिणाम श्रेष्ठ आये यह बात मुझे संभवित लगती है।

दु:षम कालके प्रतापसे जो लोग विद्याका बोध ले सके है उन्हे धर्मतत्त्वपर मूलसे ही श्रद्धा दिखाई नही देती। जिस सरलताके कारण कुछ श्रद्धा होती है उसे इस विषयकी कुछ सूझबूझ नहीं होती। यदि कोई सूझबूझवाला निकल आये तो उसे उस वस्तुकी वृद्धिमे विघ्नकर्त्ता मिलेगे, परन्तु सहायक नहीं होगे, ऐसी आजकी कालचर्या है। इस प्रकार शिक्षितोके लिये धर्मकी दुर्लभता हो गयी है।

अशिक्षित लोगोमे यह एक स्वाभाविक गुण रहा है कि हमारे बापदादा जिस धर्मको मानते आये हैं, उस धर्ममे ही हमे प्रवर्तन करना चाहिये, और वही मत सत्य होना चाहिये, और अपने गुरुके वचनोंपर ही हमे विश्वास रखना चाहिये, फिर चाहे वह गुरु शास्त्रोंके नाम भी न जानता हो, परन्तु वही महाज्ञानी है ऐसा मानकर प्रवृत्ति करनी चाहिये। और हम जो मानते है वही वीतरागका उपदिष्ट धर्म है, बाकी जो जैन नामसे प्रचलित हैं वे सभी मत असत् है। ऐसी उनकी समझ होनेसे वे बिचारे उसी मतमे रचेपचे रहते है। अपेक्षासे देखे तो उनका भी दोष नही है।

जो जो मत जैनमे प्रचलित है उनमे प्राय जैनसम्बन्धी ही क्रियाएँ हो यह मानी हुई बात है। तदनुसार प्रवृत्ति देखकर जिस मतमे स्वय दीक्षित हुए हो, उस मतमे ही दीक्षित पुरुषोका रचा-पचा रहना होता है। दीक्षितोमे भी भद्रिकताके कारण ली हुई दीक्षा, या भिक्षा माँगने जैसी स्थितिसे घबराकर ग्रहण की गई दीक्षा, या स्मशानवैराग्यसे ली गयी दीक्षा होती है। शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणासे प्राप्त हुई दीक्षा-वाला पुरुष आप विरल ही देखेगे, और देखेंगे तो वह मतसे तग आकर वीतरागदेवकी आज्ञामे राचनेके लिये अधिक तत्पर होगा।

जिसे शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणा हुई है, उसके सिवाय दूसरे जितने मनुष्य दीक्षित या गृहस्थ हैं वे सब जिस मतमे स्वयं पडे होते हैं उसीमे रागी होते हैं, उन्हे विचारकी प्रेरणा देनेवाला कोई नही मिलता। अपने मतसबंधी नाना प्रकारके आयोजित विकल्प (चाहे फिर उनमे यथार्थ प्रमाण हो या न हो) समझाकर गुरु अपने पंजेमे रखकर उन्हे चला रहे है।

इसी प्रकार त्यागी गुरुओके अतिरिक्त बरबस बन बैठे महावीरदेवके मार्गरक्षक गिने जानेवाले यति हैं, उनको तो मार्गप्रवर्तनकी शैलीके लिये कुछ कहना ही नही रहता। क्योंकि गृहस्थके तो अणुव्रत भी होते है, परतु ये तो तीर्थंकरदेवकी भाँति कल्पातीत पुरुष हो बैठे है।

सशोधक पुरुष बहुत कम हैं। मुक्त होनेकी अत करणमे अभिलाषा रखनेवाले और पुरुषार्थ करने-वाले बहुत कम हैं। उन्हे साधन जैसे कि सद्गुरु, सत्सग या सत्शास्त्र मिलने दुर्लभ हो गये हैं। जहाँ पूछने जायें वहाँ सब अपना अपना राग आलापते है। फिर वह सच्चा या झूठा इसका कोई भाव नही पूछता। भाव पूछनेवालेके आगे मिथ्या विकल्प करके अपनी ससारस्थिति बढाते है और दूसरेको वैसा निमित्त बनाते है।

अधूरेमे पूरा कोई संशोधक आत्मा होगा तो वह अप्रयोजनभूत पृथ्वी इत्यादिक विषयोंमे शंका होने-से रुक गया है। अनुभव धर्म पर आना उसके लिये भी दुष्कर हो गया है।

इस परसे मैं ऐसा नही कहता कि वर्तमानमे कोई भी जैनदर्शनके आराधक नही है, है सही, परन्तु बहुत ही थोड़े, बहुत ही थोडे, और जो है वे ऐसे कि जिन्हे मुक्त होनेके अतिरिक्त और कोई अभिलाषा नहीं है, और जिन्होने अपना आत्मा वीतरागकी आज्ञामें समर्पित कर दिया है और वे भी अंगुलियो पर गिने

जा सके उतने होंगे। बाकी तो दर्शनकी दशा देखकर करुणा उत्पन्न होने जैसा है। आप स्थिर चित्तसे विचार कर देखेंगे तो यह मेरा कथन आपको सप्रमाण लगेगा।

इन सभी मतोंमे कितनोंका तो साधारण-सा विवाद है। मुख्य विवाद यह है कि एकका कथन प्रतिमाकी सिद्धिके लिये है, दूसरे उसका सर्वथा खण्डन करते है।

दूसरे पक्षमे पहले मैं भी गिना गया था। मेरी अभिलाषा वीतरागदेवकी आज्ञाके आराधनकी ओर है। ऐसा सत्यताके लिये कह कर बता देता हूँ कि प्रथम पक्ष सत्य है, अर्थात् जिनप्रतिमा और उसका पूजन शास्त्रोक्त, प्रमाणोक्त, अनुभवोक्त और अनुभवमे लेने योग्य है! मुझे उन पदार्थोंका जिस रूपसे बोध हुआ अथवा उस विषय सम्बन्धी मुझे जो अल्प शका थी वह दूर हो गयी, उस वस्तुका किंचित् भी प्रतिपादन होनेसे कोई भी आत्मा तत्सम्बन्धी विचार कर सकेगा, और उस वस्तुकी सिद्धि प्रतीत हो तो तत्सम्बन्धी उसके मतभेद दूर हो जायेंगे, यह सुलभबोधिताका कार्य होगा ऐसा समझकर, संक्षेपमे कुछेक विचार प्रतिमासिद्धिके लिये प्रदर्शित करता हूँ।

मेरी प्रतिमामे श्रद्धा है, इसलिये आप सब श्रद्धा करें, इसके लिये मेरा कहना नही है, परन्तु यदि उससे वीर भगवानकी आज्ञाका आराधन होता दिखाई दे, तो वैसा करे। परन्तु इतना स्मरण रखें कि —

कतिपय आगमप्रमाणोकी सिद्धिके लिये परपरा, अनुभव इत्यादिकी आवश्यकता है। यदि आप कहे तो कुतर्कसे पूरे जैनदर्शनका भी खण्डन कर दिखाऊँ, परन्तु उसमे कल्याण नही है। जहाँ प्रमाणसे और अनुभवसे सत्य वस्तु सिद्ध हो गई हो, वहाँ जिज्ञासु पुरुष अपने चाहे जैसे हठको भी छोड़ देते हैं।

यदि ये महान विवाद इस कालमे न पड़े होते तो लोगोको धर्मप्राप्ति बहुत सुलभ होती।

सक्षेपमे मै इस बातको पाँच प्रकारके प्रमाणोंसे सिद्ध करता हूँ—

१ आगमप्रमाण, २ इतिहासप्रमाण, ३ परंपराप्रमाण, ४ अनुभवप्रमाण, ५ प्रमाणप्रमाण।

---

१. आगमप्रमाण

आगम किसे कहा जाये इसकी पहले व्याख्या होनेकी जरूरत है। जिसका प्रतिपादक मूल पुरुष आप्त हो और जिसमे उसके वचन होते है वह आगम है!

गणधरोने वीतरागदेव द्वारा उपदिष्ट अर्थकी योजना करके सक्षेपमे मुख्य वचनोंको लिया, वे आगम या सूत्रके नामसे पहचाने जाते है। सिद्धात, शास्त्र ये उसके दूसरे नाम है।

गणधरोने तीर्थंकरदेव द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंकी द्वादशागीरूपसे योजना की, उन बारह अगोके नाम कह देता हूँ—आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशाग, अतकृतदशाग, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद।

× × × ×

१ जिससे वीतरागकी किसी भी आज्ञाका पालन हो ऐसी प्रवृत्ति करना यह मुख्य मान्यता है।

२. मैं पहले प्रतिमाको नही मानता था और अब मानता हूँ, इसमें कोई पक्षपाती कारण नही है, परन्तु मुझे उसकी सिद्धि प्रतीत हुई इसलिये मान्य रखता हूँ, और सिद्धि होनेपर भी नही माननेसे पहलेकी मान्यताकी भी सिद्धि नही है, और वैसा होनेसे आराधकता नही है।

३ मेरी इस मत या उस मतकी मान्यता नही है, परन्तु रागद्वेषरहित होनेकी परमाकांक्षा है, और उसके लिये जो जो साधन हों, उन सबको चाहना और करना ऐसी मान्यता है; और इसके लिये महावीरके वचनोंपर मुझे पूर्ण विश्वास है।

४ अभी मात्र इतनी प्रस्तावना करके प्रतिमासंबंधी अनेक प्रकारसे जो सिद्धि मुझे प्रतीत हुई उसे अब कहता हूँ। उस सिद्धिका मनन करनेसे पहले वाचक निम्न विचारोको कृपया ध्यानमे रखें—

(अ) आप भी तरनेके इच्छुक हैं, और मै भी हूँ; दोनो महावीरके बोध, आत्महितैषी बोधको चाहते है और वह न्याययुक्त है। इसलिये जहाँ सत्यता हो वहाँ दोनों अपक्षपातसे सत्यता कहे।

(आ) कोई भी बात जब तक योग्य रीतिसे समझमे न आये तब तक उसे समझें; तत्संबंधी कुछ कहते हुए मौन रखें।

(इ) अमुक बात सिद्ध हो तभी ठीक है, ऐसा न चाहें, परंतु सत्य, सत्य सिद्ध हो ऐसा चाहें। प्रतिमाको पूजनेसे ही मोक्ष है किंवा उसे न माननेसे मोक्ष है; इन दोनों विचारोके बारेमे, इस पुस्तकका योग्य प्रकारसे मनन करने तक मौन रहें।

(ई) शास्त्रकी शैलीसे विरुद्ध अथवा अपने मानकी रक्षाके लिये कदाग्रही होकर कोई भी बात न कहें।

(उ) एक बातको असत्य और दूसरोको सत्य माननेमे जब तक अटूट कारण न दिया जा सके, तब तक अपनी बातको मध्यस्थवृत्तिमे रोक रखें।

(ऊ) किसी धर्मको माननेवाला सारा समुदाय कही मोक्षमे चला जायेगा ऐसा शास्त्रकारका कहना नही है, परन्तु जिसका आत्मा धर्मत्वको धारण करेगा वह सिद्धिसंप्राप्त होगा, ऐसा कहना है। इसलिये स्वात्माको धर्मबोधकी पहले प्राप्ति करानी चाहिये। उसका एक साधन यह भी है, उसका परोक्ष या प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना खंडन कर डालना योग्य नही है।

(ए) यदि आप प्रतिमाको माननेवाले हैं तो उससे जिस हेतुको सिद्ध करनेकी परमात्माकी आज्ञा है उसे सिद्ध कर ले, और यदि आप प्रतिमाके उत्थापक है तो इन प्रमाणोको योग्य रीतिसे विचारकर देख ले। दोनो मुझे शत्रु या मित्र कुछ भी न माने। चाहे जो कहनेवाला है, ऐसा समझकर ग्रन्थको पढ़ जायें।

(ऐ) इतना ही सच्चा है अथवा इतनेमेसे ही प्रतिमाकी सिद्धि हो तो हम माने ऐसा आग्रह न रखियेगा। परन्तु वीरके उपदिष्ट शास्त्रोसे सिद्धि हो ऐसी इच्छा कीजियेगा।

(ओ) इसीलिये पहले इस बातको ध्यानमे लेना पडेगा कि वीरके उपदिष्ट शास्त्र कौनसे कहे जा सकते हैं, अथवा माने जा सकते हैं, इसलिये मैं पहले इस संबंधमे कहूँगा।

(औ) मुझे संस्कृत, मागधी या किसी भाषाका अपनी योग्यताके अनुसार परिचय नही है, ऐसा मानकर मुझे अप्रामाणिक ठहरायेंगे तो न्यायके प्रतिकूल जाना पडेगा। इसलिये मेरे कथनकी शास्त्र और आत्ममध्यस्थतासे जाँच कीजियेगा।

(अं) यदि मेरे कोई विचार योग्य न लगे तो सहर्ष पूछियेगा, परतु उससे पहले उस विषयमे अपनी समझमे शंकायुक्त निर्णय न कर बैठियेगा।

(अ:) संक्षेपमें कहना यह है कि जैसे कल्याण हो वैसे प्रवर्तन करनेके संबंधमे मेरा कहना अयोग्य लगता हो, तो उसके लिये यथार्थ विचार करके फिर जैसा हो वैसा मान्य करे।

शास्त्र-सूत्र कितने ?

१ एक पक्ष यो कहता है कि आजकल पैंतालीस या उससे अधिक सूत्र है। और उनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका इन सबको मानना चाहिये। दूसरा पक्ष कहता है कि बत्तीस ही सूत्र हैं, और वे

बत्तीस ही भगवानके उपदिष्ट हैं, बाकी मिश्र हो गये है, और निर्युक्ति इत्यादि भी वैसे ही हैं, इसलिये बत्तीस मानना चाहिये। इस मान्यताके लिये पहले अपनी समझमे आये हुए विचार बताता हूँ।

दूसरे पक्षकी उत्पत्तिको आज लगभग चार सौ वर्ष हुए हैं। वे जो बत्तीस सूत्र मानते हैं वे निम्न-लिखित हैं :—

११ अंग, १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद, १ आवश्यक

× × × ×

अंतिम अनुरोध

अब इस विषयको सक्षेपमे पूर्ण किया है। केवल प्रतिमासे ही धर्म है, ऐसा कहनेके लिये अथवा प्रतिमापूजनकी ही सिद्धिके लिये मैंने इस लघु ग्रन्थमे कलम नही चलायी। प्रतिमाके विषयमे मुझे जो जो प्रमाण ज्ञात हुए थे उन्हे संक्षेपमे बतला दिया। शास्त्रविचक्षण और न्यायसंपन्न पुरुषोंको उसमे औचित्य अनौचित्य देखना है, और फिर जैसे मप्रमाण लगे वैसे प्रवृत्ति करना या प्ररूपण करना यह उनके आत्मापर आधार रखता है। इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध न करता, क्योंकि जिस मनुष्यने एक बार प्रतिमा-पूजनका विरोध किया हो, वही मनुष्य जब उसका समर्थन करे तब वह प्रथम पक्षवालोके लिये बहुत खेद और कटाक्षका विषय हो जाता है। मे मानता हूँ कि आप भी मेरे प्रति कुछ समय पहले ऐसी स्थितिमे आ गये थे। यदि उस समय इस पुस्तकको मैने प्रसिद्ध किया होता तो आपके अतःकरण अधिक दुःखी होते और दु खी करनेका निमित्त मै होता। इसलिये मैने वैसा नही किया। कुछ समय बीतनेपर मेरे अत -करणमे एक ऐसे विचारने जन्म लिया कि तेरे लिये उन लोगोको सक्लिष्ट विचार आते रहेगे, तूने जिन प्रमाणोसे इसे माना है वे भी केवल तेरे हृदयमे रह जायेंगे, इसलिये उन्हे सत्यतापूर्वक अवश्य प्रसिद्ध किया जाये। इस विचारको मैने अपना लिया। तब उसमेसे बहुत निर्मल विचारकी प्रेरणा हुई; उसे सक्षेपमे बता देता हूँ। प्रतिमाको मानें इस आग्रहके लिये यह पुस्तक लिखनेका कोई हेतु नहीं है, तथा वे प्रतिमाको मानें इससे मै कुछ धनवान होनेवाला नही हूँ, तत्सबंधी जो विचार मुझे आये थे

(अपूर्ण प्राप्त)

२२ वाँ वर्ष

४१ भरुच, मार्गशीर्ष सुदी ३, गुरु, १९४५

पत्रसे समाचार मालूम हुए। अपराध नहीं, परंतु परतंत्रता है। निरंतर सत्पुरुषकी कृपादृष्टि चाहें और शोकरहित रहें, यह मेरा परम अनुरोध है। उसे स्वीकार कीजियेगा। विशेष न लिखे तो भी इस आत्माको उसका ध्यान है। बडोंको प्रसन्न रखें। सच्चा धैर्य रखें। पूर्ण खुशीमें हूँ।

---

४२ भरुच, मार्गशीर्ष सुदी १२, १९४५

चि० जूठाभाई,

जहाँ पत्र देने जाते हैं, वहाँ निरन्तर कुशलता पूछते रहियेगा। प्रभुभक्तिमे तत्पर रहियेगा। नियमका पालन कीजियेगा, और सब बडोंकी आज्ञाके अनुकूल रहियेगा, यह मेरा अनुरोध है।

जगतमे नीरागत्व, विनय और सत्पुरुषकी आज्ञा न मिलनेसे यह आत्मा अनादिकालसे भटकता रहा; परन्तु निरुपायता हुई सो हुई। अब हमें पुरुषार्थ करना उचित है। जय हो!

यहाँ चारेक दिन ठहरना होगा।

वि० रायचन्द

---

४३ बंबई, मार्गशीर्ष वदी ७, मंगल, १९४५

जिनाय नमः

सुज्ञ,

आपका सूरतसे लिखा हुआ पत्र मुझे आज सवेरे ११ बजे मिला। उसका ब्योरा पढ़कर एक प्रकारसे शोच हुआ, क्योकि आपको निष्फल चक्कर काटना पडा। यद्यपि मैने यह बतलानेके लिये पहलेसे एक पत्र लिखा था कि मैं सूरतमे कम ठहरनेवाला हूँ, मैं मानता हूँ कि वह पत्र आपको समय पर नही मिला होगा। अस्तु। अब हम थोडे समयमे वतनमे मिल सकेंगे। यहाँ मैं कुछ बहुत समय रुकनेवाला नही हूँ। आप धैर्य रखें, और शोचका त्याग करें, ऐसी विनती है। मिलनेके बाद मैं यह चाहता हूँ कि आपको प्राप्त हुआ नाना प्रकारका खेद दूर हो! और ऐसा होगा। आप उदास न हों।

साथका चि० का विनतीपत्र मैंने पढ़ा था। उन्हे भी धीरज दे। दोनों भाई धर्ममें प्रवृत्ति करे।

मेरे प्रति मोहदशा न रखे, मै तो एक अल्पशक्तिवाला पामर मनुष्य हूँ। सृष्टिमें अनेक सत्पुरुष गुप्तरूपमें मौजूद हैं। प्रगटरूपमे भी मौजूद हैं। उनके गुणोका स्मरण करे। उनका पवित्र समागम करे और आत्मिक लाभसे मनुष्यभवको सार्थक करे यह मेरी निरन्तर प्रार्थना है।

दोनों साथ मिलकर यह पत्र पढे। जल्दी होनेसे इतनेसे ही अटकता हूँ।

लि० रायचन्दके प्रणाम विदित हो।

---

४४ बंबई, मार्गशीर्ष वदी १२, शनि, १९४५

सुज्ञ,

विशेष विदित हुआ होगा।

मैं यहाँ समयानुसार आनन्दमे हूँ। आपका आत्मानन्द चाहता हूँ। चि० जूठाभाईका आरोग्य सुधरनेके लिये पूर्ण धीरज दीजियेगा। मैं भी अब यहाँ कुछ समय रहनेवाला हूँ।

एक बडी विज्ञप्ति है कि पत्रमे निरन्तर शोचसम्बन्धी न्यूनता और पुरुषार्थकी अधिकता प्राप्त हो, इस तरह पत्र लिखनेका परिश्रम लेते रहें। विशेष अब फिर।

रायचंदके प्रणाम।

---

४५ बंबई, मार्गशीर्ष वदी ३०, १९४५

सुज्ञ,

जूठाभाईकी स्थिति विदित हुई। मै निरुपाय हूँ। यदि न चले तो प्रशस्त राग रखें, परन्तु मुझे खुदको, आप सबको इस रास्तेके अधीन न करे।

प्रणाम लिखूं इसकी भी चिन्ता न करे। अभी प्रणाम करने लायक ही हूँ, करवानेके नही।

वि० रायचंदके प्रणाम।

---

४६ मार्गशीर्ष, १९४५

आपका प्रशस्तभावभूषित पत्र मिला। संक्षेपमे उत्तर यह है कि जिस मार्गसे आत्मत्व प्राप्त हो उस मार्गको खोजे। मुझपर प्रशस्तभाव लायें ऐसा मै पात्र नही हूँ, फिर भी यदि आपको इस तरह शाति मिलती हो तो करें।

दूसरा चित्रपट तैयार नही होनेसे जो है वह भेजता हूँ। मुझसे दूर रहनेमे आपके आरोग्यको हानि हो ऐसा नहीं होना चाहिये। सब कुछ आनन्दमय ही होगा। अभी इतना ही।

रायचंदके प्रणाम।

---

४७ ववाणिया बंदर, माघ सुदी १४, बुध, १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

सुज्ञ,

मेरी ओरसे एक पत्र पहुँचा होगा।

आपके पत्रका मैंने मनन किया। आपकी वृत्तिमे हुआ परिवर्तन मुझे आत्महितकारी लगता है।

अनंतानुबधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया और अनंतानुबंधी लोभ ये चार तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय ये तीन इस तरह इन सात प्रकृतियोका जब तक क्षयोपशम, उपशम या क्षय नही होता तब तक सम्यक्दृष्टि होना सम्भव नही है। ये सात प्रकृतियाँ ज्यों ज्यों मंद होती जाती हैं त्यों त्यो सम्यक्त्वका उदय होता है। इन प्रकृतियोंका ग्रन्थिछेदन परम दुष्कर है।

जिसका यह ग्रन्थिछेदन हो गया उसे आत्मप्राप्ति होना सुलभ है। तत्त्वज्ञानियोने इसी ग्रन्थिभेदनका पुनः पुनः उपदेश किया है। जो आत्मा अप्रमत्ततासे उस ग्रन्थिभेदनकी ओर दृष्टि रखेगा वह आत्मा आत्मत्वको प्राप्त होगा यह निःसंदेह है।

इस [1]वस्तुसे आत्मा अनंत कालसे सर्वथा बद्ध रहा है। इसपर दृष्टि होनेसे निजगृहपर उसकी यथार्थ दृष्टि नहीं हुई है। सच्ची तो पात्रता है, परन्तु मैं इस कषायादिके उपशमनमे आपके लिये निमित्त-भूत हुआ ऐसा आप मानते हैं, इसलिये मुझे आनन्द माननेका यही कारण है कि निर्ग्रंथ शासनकी कृपा प्रसादीका लाभ लेनेका सुन्दर समय मुझे मिलेगा ऐसा संभव है। ज्ञानीदृष्ट सो सच्चा।

जगतमे सत्परमात्माकी भक्ति, सद्गुरु, सत्सग, सत्शास्त्राध्ययन, सम्यग्दृष्टित्व और सत्योग, ये कभी प्राप्त नही हुए। हुए होते तो ऐसी दशा नही होती। परन्तु 'जब जागे तभी सवेरा' यों सत्पुरुषोका बोध विनयपूर्वक ध्यानमे लेकर उस वस्तुके लिये प्रयत्न करना, यही अनत भवकी निष्फलताका एक भवमे दूर होना मेरी समझमे आता है।

सद्गुरुके उपदेशके बिना और जीवकी सत्पात्रताके बिना ऐसा होना रुका हुआ है। उसकी प्राप्ति करके संसारतापसे अत्यन्त संतप्त आत्माको शीतल करना, यही कृतकृत्यता है।

इस प्रयोजनमे आपका चित्त आकर्षित हुआ, यह भाग्यका सर्वोत्तम अंश है। आशीर्वचन है कि इसमे आप फलीभूत होवें।

भिक्षासंबंधी प्रयत्न अभी स्थगित करे। जब तक संसारको जैसे भोगनेका निमित्त होगा वैसे भोगना पडेगा। इसके बिना छुटकारा भी नही है। अनायास योग्य स्थान मिल जाये तो ठीक, नही तो प्रयत्न करें। और भिक्षाटनके सम्बन्धमे योग्य समय पर पुनः पूछें। विद्यमानता होगी तो उत्तर दूँगा।

"धर्म" यह वस्तु बहुत गुप्त रही है। यह बाह्य शोधनसे मिलनेवाली नही है। अपूर्व अन्तःशोधनसे यह प्राप्त होती है। यह अन्तःशोधन कोई एक महाभाग्य सद्गुरुके अनुग्रहसे पाता है।

आपके विचारोंको सुन्दर श्रेणिमे आये हुए देखकर मेरे अन्तःकरणने जो भाव उत्पन्न किया है उसे यहाँ बतानेसे सकारण रुक जाता हूँ।

चि० दयालभाईके पास जायें। वे कुछ कहे तो मुझे बतायें।

लिखनेके सम्बन्धमे अभी मुझे कुछ कंटाला रहता है। इसलिये जितना सोचा था उसके आठवें भागका भी उत्तर नही लिख सकता।

यह मेरी विनयपूर्वक अन्तिम शिक्षा ध्यानमें रखियेगा :—

एक भवके थोड़े सुखके लिये अनंत भवके अनंत दुःखको नही बढ़ानेका प्रयत्न सत्पुरुष करते हैं।

स्याद्वाद शैलीसे यह बात भी मान्य है कि जो होनेवाला है वह बदलनेवाला नही है और जो बदलनेवाला है वह होनेवाला नही है। तो फिर धर्मप्रयत्नमे, आत्महितमे अन्य उपाधिके अधीन होकर प्रमाद क्यों करना ? ऐसा है फिर भी देश, काल, पात्र और भाव देखने चाहिये।

सत्पुरुषोका योगबल जगतका कल्याण करे।

ऐसी इच्छा करके वापसी डाकसे पत्र लिखनेकी विनती करके पत्रिका पूर्ण करता हूँ।

मात्र

रवजी आत्मज रायचंदके प्रणाम—नीराग श्रेणी समुच्चयसे।

---

१. ग्रन्थिसे

४८ ववाणिया, माघ, १९४५

जिज्ञासु,

आपके प्रश्नको उद्धृत करके अपनी योग्यताके अनुसार आपके प्रश्नका उत्तर लिखता हूँ।

प्रश्न—व्यवहारशुद्धि कैसे हो सकती है ?

उत्तर—व्यवहारशुद्धिकी आवश्यकता आपके ध्यानमे होगी, फिर भी विषयके प्रारंभके लिये आवश्यक समझकर यह बतलाना योग्य है कि जो संसारप्रवृत्ति इस लोक और परलोकमे सुखका कारण हो उसका नाम व्यवहारशुद्धि है। सुखके सब अभिलाषी है, जब व्यवहारशुद्धिसे सुख मिलता है तब उसकी आवश्यकता भी निःशक है।

१. जिसे धर्मसंबंधी कुछ भी बोध हुआ है, और जिसे कमानेकी जरूरत नही है, उसे उपाधि करके कमानेका प्रयत्न नही करना चाहिये।

२ जिसे धर्मसम्बन्धी बोध हुआ है, फिर भी स्थितिका दुःख हो तो उसे यथाशक्ति उपाधि करके कमानेका प्रयत्न करना चाहिये।

(जिसकी अभिलाषा सर्वसगपरित्यागी होनेकी है उसका इन नियमोंसे सम्बन्ध नही है।)

३ उपजीवन सुखसे चल सके ऐसा होनेपर भी जिसका मन लक्ष्मीके लिये बेचैन रहता हो वह पहले उसकी वृद्धि करनेका कारण अपने आपको पूछे। यदि उत्तरमे परोपकारके सिवाय कुछ भी प्रतिकूल बात आती हो, अथवा पारिणामिक लाभको हानि पहुँचनेके सिवाय कुछ भी आता हो तो मनको संतोषी बना ले, ऐसा होनेपर भी मन न मुड़ सकनेकी स्थितिमे हो तो अमुक मर्यादामे आ जाये। वह मर्यादा ऐसी होनी चाहिये कि जो सुखका कारण हो।

४ परिणामतः आर्त्तध्यान करनेकी जरूरत पड़े, तो वैसा करके बैठ रहनेकी अपेक्षा कमाना अच्छा है।

५ जिसका उपजीवन अच्छी तरह चलता है, उसे किसी भी प्रकारके अनाचारसे लक्ष्मी प्राप्त नहीं करनी चाहिये। जिससे मनको सुख नही होता उससे काया या वचनको भी सुख नही होता। अनाचारसे मन सुखी नही होता, यह स्वतः अनुभवमे आने जैसा कथन है।

६ लाचारीसे उपजीवनके लिये कुछ भी अल्प अनाचार (असत्य और सहज माया) का सेवन करना पड़े तो महाशोचसे सेवन करना, प्रायश्चित्त ध्यानमे रखना। सेवन करनेमे निम्नलिखित दोष नही आने चाहिये :—

१ किसीसे महान विश्वासघात
२ मित्रसे विश्वासघात
३. किसीकी धरोहर हड़प कर जाना
४. व्यसनका सेवन करना
५. मिथ्या दोषारोपण
६. झूठा दस्तावेज लिखना
७. हिसाबमे भुलाना
८ अन्यायी भाव कहना
९. निर्दोषको अल्प मायासे भी ठगना
१० न्यूनाधिक तोल देना
११ एकके बदले दूसरा अथवा मिश्रण करके देना
१२ कर्मादानी धंधा।
१३ रिश्वत अथवा अदत्तादान

—इन मार्गोंसे कुछ भी कमाना नही।

यह मानो उपजीवनके लिये सामान्य व्यवहारशुद्धि कह गया। [अपूर्ण]

४९ ववाणिया, माघ वदी ७, शुक्र, १९०५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

कल सबेरे आपका पत्र मिला। किसी भी प्रकारसे खेद न कीजियेगा। ऐसा होनहार था सो ऐसा हुआ, यह कोई विशेष बात न थी।

आत्माकी इस दशाको यथासंभव रोककर योग्यताके अधीन होकर, उन सबके मनका समाधान करके इस संगतको चाहे और यह संगत या यह पुरुष उस परमात्मतत्त्वमे लीन रहे, यह आशीर्वाद देते ही रहे। तन, मन, वचन और आत्मस्थितिको सँभाले। धर्मध्यान करनेके लिये अनुरोध है।

यह पत्र जूठाभाईको तुरत दें।

वि० रायचंदके प्रणाम विदित हो।

---

५० ववाणिया, माघ वदी ७, शुक्र, १९४५

ॐ

सत्पुरुषोंको नमस्कार

सुज्ञ,

आप मेरे वैराग्यसंबंधी आत्मवर्तनके बारेमे पूछते हैं, इस प्रश्नका उत्तर किन शब्दोमे लिखूँ? और उसके लिये आपको क्या प्रमाण दे सकूँगा? तो भी सक्षेपमे यह कि ज्ञानीके माने हुए (तत्त्व ?) को मान्य करें कि उदयमे आये हुए प्राचीन कर्मोंको भोग लेना और नूतन कर्म न बँधने पायें इसीमे अपना आत्महित है। इस श्रेणिमे वर्तन करनेकी मेरी प्रपूर्ण आकाक्षा है, परन्तु वह ज्ञानीगम्य है, इसलिये अभी उसका एक अंश भी बाह्य-प्रवृत्ति नही हो सकती।

आंतर-प्रवृत्ति चाहे जितनी नीरागश्रेणिकी ओर जाती हो परन्तु बाह्यके अधीन अभी बहुत बरतना पड़े यह स्पष्ट है। —बोलते, चलते, बैठते, उठते और कुछ भी काम करते हुए लौकिक श्रेणिका अनुसरण करके चलना पड़े। यदि ऐसा न हो सके तो लोग कुतर्कमे ही लग जायें, ऐसा मुझे संभव लगता है तो भी कुछ प्रवृत्ति रखी है।

आप सबकी दृष्टिमे मेरी (वैराग्यमयी) चर्या कुछ आपत्तिपूर्ण है, तथा किसीकी दृष्टिमे मेरी वह श्रेणि शंकापूर्ण भी हो सकती है, इसलिये आप इत्यादि वैराग्यमे जाते हुए मुझे रोकनेका प्रयत्न करें और शंकावाले उस वैराग्यसे उपेक्षित होकर माने नही, इससे खिन्न होकर ससारकी वृद्धि करनी पड़े, इसलिये मेरी मान्यता यही है कि प्राय भूमितलपर सत्य अत करणको प्रदर्शित करनेके स्थान बहुत ही कम संभवित है; जैसे हो वैसे आत्माको आत्मामे समाकर जीवनपर्यन्त समाधिभाव संयुक्त रहा जाये तो फिर संसारके उस खेदमे पड़ना ही न हो। अभी तो आप जैसा देखते हैं वैसा हूँ। जो संसारी प्रवर्तन होता है वह करता हूँ। धर्मसम्बन्धी मेरी चर्या उस सर्वज्ञ परमात्माके ज्ञानमे दीखती हो वह ठीक; उसके बारेमे पूछना नही चाहिये था। पूछनेसे वह कही भी नही जा सकती। सहज उत्तर देना योग्य था, सो दिया है। क्या होता है और पात्रता कहां है, यह देखना हूँ। उदयमे आये हुए कर्म भोगता हूँ। यथार्थ स्थितिमें अभी एकाध अंश भी आया होऊँ यों कहनेमे तो आत्मप्रशंसाकी ही सभावना है।

यथाशक्ति प्रभुभक्ति, सत्संग, सत्य व्यवहारके साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ प्राप्त करते रहे। प्रयत्नसे जैसे आत्मा ऊर्ध्वगतिका परिणामी हो वैसे करें।

प्रति समय क्षणिक जीवन व्यतीत होता जाता है, इसमे हम प्रमाद करते है यही महामोहनीयका बल है।

वि० रायचंदके सत्पुरुषोंको नमस्कारसहित प्रणाम।

---

५१ ववाणिया बंदर, माघ वदी ७, १९४५

नीरागी पुरुषोंको नमस्कार

उदयमें आये हुए कर्मोंको भोगते हुए नये कर्म न बँधे इसके लिये आत्माको सचेत रखना यह सत्पुरुषोंका महान बोध है।

आत्माभिलाषी,—

यदि वहाँ आपको समय मिलता हो तो जिनभक्तिमें विशेष विशेष उत्साहकी वृद्धि करते रहियेगा, और एक घड़ी भी सत्संग या सत्कथाका संशोधन करते रहियेगा।

(किसी समय) शुभाशुभ कर्मके उदयके समय हर्ष-शोकमें न पड़ते हुए भोगनेसे ही छुटकारा है, और यह वस्तु मेरी नहीं है ऐसा मानकर समभावकी श्रेणिको बढ़ाते रहियेगा।

विशेष लिखनेसे अब रुक जाता हूँ।

वि० रायचंदके सत्पुरुषोंको नमस्कारसहित प्रणाम विदित हो।

---

५२ ववाणिया बंदर, माघ वदी १०, सोम, १९४५

नीरागी पुरुषोंको नमस्कार

आत्महिताभिलाषी आज्ञाकारी,

आपका आत्मविचारपूर्ण पत्र कल प्रभातमे मिला।

निर्ग्रंथ भगवान प्रणीत पवित्र धर्मके लिये जो जो उपमाएँ दें वे सब न्यून ही हैं। आत्मा अनंत काल भटका, यह मात्र उसके निरुपम धर्मके अभावसे। जिसके एक रोममे किंचित् भी अज्ञान, मोह या असमाधि नही रही उस सत्पुरुषके वचन और बोधके लिये कुछ भी नही कहते हुए, उसीके वचनमे प्रशस्त-भावसे पुन पुन. प्रसक्त होना, यह भी अपना सर्वोत्तम श्रेय है।

कैसी इसकी शैली ! जहाँ आत्माके विकारमय होनेका अनंताश भी नही रहा है। शुद्ध, स्फटिक, फेन और चंद्रसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यानकी श्रेणिसे प्रवाहरूपसे निकलते हुए उस निर्ग्रंथके पवित्र वचनोंकी मुझे और आपको त्रिकाल श्रद्धा रहे !

यही परमात्माके योगबलके आगे प्रयाचना !

दयालभाईने जो बताया उसके अनुसार आपने लिखा है, और मै मानता हूँ कि वैसा ही होगा। दयालभाई सहर्ष पत्र लिखे ऐसा उन्हें कहे और धर्मध्यानकी ओर प्रवृत्ति हो, इस कर्तव्यकी सूचना दे। "प्रवीणसागर" संबंधी कोई उत्तर नही है सो लिखे।

यथासंभव आत्माको पहचाननेकी ओर ध्यान दे यही प्रार्थना है। कविराज—आपके निःस्वार्थ प्रेमके लिये विशेष क्या लिखे ? मैं धनादिकसे तो आपका सहायक नही हो सकता, (और वैसा परमात्माका योगबल भी न करे !) परन्तु आत्मासे सहायक होऊँ और कल्याणके मार्गपर आपको ला सकूँ, तो सर्व जय मंगल ही है। इतना उन्हे पढ़वाएँ। इसमेसे आपके लिये भी कुछ मनन करने योग्य है।

दयालभाईके पास जाते रहें। नौकरीके दौरान जब-जब समय मिले तब-तब उनके सत्संगमें रहें, ऐसा मेरा अनुरोध है। अभी इतना ही।

वि० रायचन्दके प्रणाम सत्पुरुषोंको नमस्कारसहित।

---

५३ ववाणिया, फागुन सुदी ६, गुरु, १९४५

चि०,

जो जो आपकी अभिलाषाएँ हैं उन्हें भलीभाँति नियममे लायें और फलीभूत हों ऐसा प्रयत्न करें। यह मेरी इच्छा है। शोच न करे। योग्य होकर रहेगा।

सत्संग खोजें। सत्पुरुषकी भक्ति करें।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

५४ ववाणिया, फाल्गुन सुदी ९, रवि, १९४५

निर्ग्रंथ महात्माओंको नमस्कार

मोक्षके मार्ग दो नही हैं। जिन जिन पुरुषोंने मोक्षरूप परमशान्तिको भूतकालमे पाया है, उन सब सत्पुरुषोंने एक ही मार्गसे पाया है, वर्तमानकालमे भी उसीसे पाते हैं, और भविष्यकालमे भी उसीसे पायेंगे। उस मार्गमे मतभेद नही है, असरलता नही है, उन्मत्तता नही है, भेदाभेद नही हैं, मान्यामान्य नही है। वह सरल मार्ग है, वह समाधिमार्ग है, तथा वह स्थिर मार्ग है, और स्वाभाविक शान्तिस्वरूप है। सर्व कालमे उस मार्गका अस्तित्व है, जिस मार्गके मर्मको पाये बिना कोई भूतकालमे मोक्षको प्राप्त नही हुआ, वर्तमानकालमे प्राप्त नही होता और भविष्यकालमे प्राप्त नहीं होगा।

श्री जिनने इस एक ही मार्गको बतानेके लिये सहस्रशः क्रियाएँ कही हैं और सहस्रशः उपदेश दिये हैं, और इस मार्गके लिये वे क्रियाएँ और उपदेश ग्रहण किये जायें तो सब सफल है। और इस मार्गको भूलकर वे क्रियाएँ और उपदेश ग्रहण किये जायें तो सब निष्फल है।

श्री महावीर जिस मार्गसे तरे उस मार्गसे श्रीकृष्ण तरेंगे। जिस मार्गसे श्रीकृष्ण तरेंगे उस मार्गसे श्री महावीर तरे है। यह मार्ग चाहे जिस स्थानमे, चाहे जिस कालमे, चाहे जिस श्रेणिमे, और चाहे जिस योगमे जब प्राप्त होगा, तब उस पवित्र और शाश्वत सत्पदके अनन्त अतीन्द्रिय सुखका अनुभव होगा। यह मार्ग सर्वत्र सम्भव है। योग्य सामग्री न प्राप्त करनेसे भव्य भी इस मार्गको पानेसे रुके हुए हैं, तथा रुकेंगे और रुके थे।

किसी भी धर्मसम्बन्धी मतभेद रखना छोडकर एकाग्र भावसे सम्यक्योगसे जिस मार्गका शोधन करना है, वह यही है। मान्यामान्य, भेदाभेद अथवा सत्यासत्यके लिये विचार करनेवालो या बोध देनेवालोंको मोक्षके लिये जितने भवोका विलम्ब होगा उतने समयका (गौणतासे) शोधक और उस मार्गके द्वारपर आ पहुँचे हुओको विलम्ब नहीं होगा।

विशेष क्या कहना? वह मार्ग आत्मामे रहा है। आत्मत्वप्राप्त पुरुष—निर्ग्रंथ आत्मा—जब योग्यता समझकर उस आत्मत्वका अर्पण करेगा—उदय करेगा—तभी वह प्राप्त होगा, तभी वह मार्ग मिलेगा, और तभी वे मतभेद आदि दूर होगे।

मतभेद रखकर किसीने मोक्ष नही पाया है। विचारकर जिसने मतभेद दूर किया, वह अन्तर्वृत्तिको पाकर क्रमशः शाश्वत मोक्षको प्राप्त हुआ है, प्राप्त होता है और प्राप्त होगा।

किसी भी अव्यवस्थित भावसे अक्षरलेख हुआ हो तो वह क्षम्य होवे।

---

५५ ववाणिया, फाल्गुन सुदी ९, रवि, १९४५

नीरागी महात्माओंको नमस्कार

कर्म जड़ वस्तु है। जिस जिस आत्माको इस जड़से जितना जितना आत्मबुद्धिसे समागम है, उतनी उतनी जड़ताकी अर्थात् अबोधताकी उस उस आत्माको प्राप्ति होती है, ऐसा अनुभव होता है। आश्चर्य है

कि स्वयं जड होते हुए भी चेतनको अचेतन मनवा रहा है ! चेतन चेतनभावको भूलकर उसे स्वस्वरूप ही मानता है। जो पुरुष उस कर्मसंयोग और उसके उदयसे उत्पन्न हुए पर्यायोको स्वस्वरूप नही मानते और पूर्वसंयोग सत्तामें हैं, उन्हे अबध परिणामसे भोग रहे है, वे आत्मा स्वभावकी उत्तरोत्तर ऊर्ध्वश्रेणि पाकर शुद्ध चेतनभावको पायेंगे ऐसा कहना सप्रमाण है। क्योकि अतीत कालमे वैसा हुआ है, वर्तमान-कालमें वैसा होता है और अनागत कालमे वैसा ही होगा।

कोई भी आत्मा उदयो कर्मको भोगते हुए समत्वश्रेणिमे प्रवेश करके अबंध परिणामसे प्रवृत्ति करेगा तो वह अवश्य चेतनशुद्धि प्राप्त करेगा।

आत्मा विनयी होकर, सरल और लघुत्वभावको पाकर सदैव सत्पुरुषके चरणकमलमे रहे तो जिन महात्माओंको नमस्कार किया है उन महात्माओकी जिस प्रकारकी ऋद्धि हैं उस प्रकारकी ऋद्धि संप्राप्त की जा सकती है।

अनन्तकालमें या तो सत्पात्रता नही हुई और या तो सत्पुरुष (जिसमे सद्गुरुत्व, सत्संग और सत्कथा निहित है) नही मिले, नहो तो निश्चय है कि मोक्ष हथेलीमे है, ईषत्प्राग्भारा अर्थात् सिद्ध-पृथ्वीपर उसके बाद है। इसमे सर्वशास्त्र भी सम्मत है, (मनन कीजियेगा) और यह कथन त्रिकाल सिद्ध है।

---

५६ मोरबी, चैत्र सुदी ११, बुध, १९४५

चि०,

आपके आरोग्यकी स्थिति मालूम हुई। आप देहकी सँभाल रखें। देह हो तो धर्म हो सकता है। इसलिये वैसे साधनकी सँभाल रखनेके लिये भगवानका भी उपदेश है।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

५७ मोरबी, चैत्र वदी ९, १९४५

चि०,

कर्मगति विचित्र है। निरन्तर मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा भावना रखियेगा।

मैत्री अर्थात् सर्व जगतसे निर्वैरबुद्धि, प्रमोद अर्थात् किसी भी आत्माके गुण देखकर हर्षित होना; करुणा अर्थात् ससारतापसे दु खी आत्माके दु खसे अनुकम्पा आना; और उपेक्षा अर्थात् निःस्पृहभावसे जगतके प्रतिबन्धको भूलकर आत्महितमे आना। ये भावनाएँ कल्याणमय और पात्रता देनेवाली हैं।

---

५८ मोरबी, चैत्र वदी १०, १९४५

आप दोनोंके पत्र मिले। स्याद्वाद-दर्शनका स्वरूप जाननेके लिये आपकी परम अभिलाषासे मुझे सन्तोष हुआ है। परन्तु यह एक वचन अवश्य स्मरणमे रखे कि शास्त्रमे मार्ग कहा है, मर्म नही कहा। मर्म तो सत्पुरुषके अन्तरात्मामे रहा है। इसके बारेमे मिलने पर विशेष चर्चा की जा सकेगी।

धर्मका रास्ता सरल, स्वच्छ और सहज है, परन्तु वह विरल आत्माओंको प्राप्त हुआ है, प्राप्त होता है और प्राप्त होगा।

अपेक्षित काव्य मौका मिलने पर भेज दूँगा। दोहोके अर्थके लिये भी यही बात है। अभी तो ये चार भावनाएँ भाये—

मैत्री (सर्व जगतपर निर्वैरबुद्धि); अनुकंपा (उनके दु खपर करुणा); प्रमोद (आत्मगुण देखकर आनंद); उपेक्षा (निःस्पृह बुद्धि)। इससे पात्रता आयेगी।

---

५९ ववाणिया, वैशाख सुदी १, १९४५

आपकी देहसम्बन्धी शोचनीय स्थिति जानकर व्यवहारकी अपेक्षासे खेद होता है। मुझपर अतिशय भावना रखकर बरतनेकी आपकी इच्छाको मै रोक नही सकता, परन्तु वैसी भावना भानेसे आपकी देहको यत्किंचित् हानि हो ऐसा न करें। मुझपर आपका राग रहता है, इस कारण आपपर राग रखनेकी मेरी इच्छा नहीं हैं, परन्तु आप एक धर्मपात्र जीव हैं और मुझे धर्मपात्रपर कुछ विशेष अनुराग उत्पन्न करनेकी परम इच्छा है, इस कारण किसी भी तरह आपके प्रति कुछ अंशमे भी चाह रहती है।

निरन्तर समाधिभावमे रहे। यो समझें कि मैं आपके समीप ही बैठा हूँ। अब मानो देह दर्शनका ध्यान हटाकर आत्मदर्शनमे स्थिर रहे। समीप ही हूँ, यो समझकर शोक कम करे। जरूर कम करें। आरोग्य बढ़ेगा; जिन्दगीकी सँभाल रखे; अभी देहत्यागका भय न समझें; ऐसा वक्त होगा तो और ज्ञानी-दृष्ट होगा तो जरूर पहलेसे कोई बता देगा अथवा कोई सहायक हो जायेगा। अभी तो वैसा नही है।

प्रत्येक लघु कामके आरम्भमे भी उस पुरुषको याद करें, समीप ही है। यदि ज्ञानीदृष्ट होगा तो कुछ समय वियोग रहकर संयोग होगा और सब अच्छा ही होगा।

अभी दशवैकालिक शास्त्रका पुनः मनन करता हूँ। अपूर्व बात है।

यदि पद्मासन लगाकर अथवा स्थिर आसनमे बैठा जा सकता हो, लेटा जा सकता हो तो भी चलेगा; परन्तु स्थिरता चाहिये। देह चल विचल न होती हो, तो आँखें बन्द करके नाभिके भाग पर दृष्टि पहुँचाकर, फिर छातीके मध्य भागमे लाकर, ठेठ कपालके मध्य भागमे उस दृष्टिको लाकर सर्व जगतका शून्याभासरूप चिन्तन करके, अपनी देहमे सर्वत्र एक तेज व्याप्त हुआ है ऐसी कल्पना करके जिस रूपसे पार्श्वनाथ आदि अर्हतकी प्रतिमा स्थिर एवं धवल दिखायी देती है, ऐसा विचार छातीके मध्य भागमे करें। इनमेसे कुछ न हो सकता हो तो सवेरे चार या पाँच बजे जागकर मेरे दुपट्टे (मैने जो रेशमी किनारीका रखा था) को ओढकर मुंह ढँककर एकाग्रताका चिन्तन करना। हो सके तो अर्हत्स्वरूपका चिन्तन करना, नही तो कुछ भी चिन्तन न करते हुए समाधि या बोधि इन शब्दोंका ही चिन्तन करना। अभी इतना ही। परम कल्याणकी एक श्रेणि होगी। कमसे कम बारह पल और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तकी स्थिति रखना।

वि० रायचन्द

---

६० वैशाख, १९४५

(१)

संयत धर्म

१ अयतनासे चलते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोकी हिंसा होती है, जिससे वह पापकर्म बाँधता है, उसका उसे कडवा फल मिलता है।

२. अयतनासे खड़े होते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, जिससे वह पापकर्म बाँधता है; उसका उसे कडवा फल मिलता है।

४. अयतनासे सोते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, जिससे वह पापकर्म बाँधता है; उसका उसे कडवा फल मिलता है।

५ अयतनासे भोजन करते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोकी हिंसा होती है, जिससे वह पापकर्म बाँधता है; उसका उसे कडवा फल मिलता है।

६. अयतनासे बोलते हुए प्राणभूत-त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा होती है जिससे वह पापकर्म बाँधता है, उसका उसे कड़वा फल मिलता है।

७ किस तरह चले ? किस तरह खडा रहे ? किस तरह बैठे ? किस तरह सोये ? किस तरह भोजन करे ? किस तरह बोले ? तो वह पापकर्म न बाँधे।

८. यतनासे चले, यतनासे खडा रहे, यतनासे बैठे, यतनासे सोये, यतनासे भोजन करे, यतनासे बोले, तो वह पापकर्म नही बाँधता।

९. जो सब जीवोंको अपने आत्माके समान समझता है, जो सब जीवोको मन, वचन, कायासे सम्यक् प्रकारसे देखता है, जिसने आस्रवोके निरोधसे आत्माका दमन किया है, वह पापकर्म नहीं बाँधता।

१०. 'पहले ज्ञान और फिर दया' इस सिद्धातमे सब संयमी स्थित हैं अर्थात् मानते हैं। अज्ञानी (सयममे) क्या करेगा यदि वह कल्याण या पापको नही जानता ?

११ श्रवण कर कल्याणको जानना चाहिये, पापको जानना चाहिये; दोनोंको श्रवण कर जाननेके बाद जो श्रेय हो उसका सम्यक् प्रकारसे आचरण करना चाहिये।

१२. जो जीव अर्थात् चैतन्यके स्वरूपको नही जानता, जो अजीव अर्थात् जड़के स्वरूपको नही जानता, अथवा जो उन दोनोंके तत्त्वको नही जानता वह साधु संयमको बात कहाँसे जानेगा ?

१३ जो चैतन्यका स्वरूप जानता है, जो जड़का स्वरूप जानता है और जो दोनोंका स्वरूप जानता है, वही साधु संयमका स्वरूप जानता है।

१४. जब जीव और अजीव इन दोनोको जानता है, तब सब जीवोंकी बहुत प्रकारसे गति-आगतिको जानता है।

१५ जब सब जीवोकी बहुविध गति-आगतिको जानता है, तभी पुण्य, पाप, बंध और मोक्षको जानता है।

१६ जब पुण्य, पाप, बध और मोक्षको जानता है, तब मनुष्यसम्बन्धी और देवसम्बन्धी भोगोंकी इच्छासे निवृत्त होता है।

१७. जब देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोसे निवृत्त होता है, तब सब प्रकारसे बाह्य और अभ्यंतर संयोगोंका त्याग कर सकता है।

१८ जब बाह्य और अभ्यतर सयोगका त्याग करता है, तब द्रव्य और भावसे मुंडित होकर मुनिकी दीक्षा लेता है।

१९. जब मुडित होकर मुनिकी दीक्षा लेता है, तब उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है और उत्तम धर्मका अनुभव करता है।

२०. जब उत्कृष्ट सवरकी प्राप्ति करता है और उत्तम धर्ममय होता है तब कर्मरूप रज, जो अबोधि-मिथ्याज्ञानजन्य कलुषरूपसे जीवको मलिन कर रही है, उसे दूर करता है।

२१ जब अबोधि-मिथ्याज्ञानजन्य कलुषसे उपार्जित कर्मरजको दूर करता है, तब सर्वव्यापी केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त होता है।

२२. जब सर्वव्यापी केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त होता है, तब नीरागी होकर वह केवली लोकालोकके स्वरूपको जानता है।

२३. जब नीरागी होकर केवली लोकालोकके स्वरूपको जानता है तब मन, वचन और कायाके योगका निरोध कर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होता है।

२४. जब योगका निरोधकर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होता है, तब सर्व कर्मक्षय करके निरंजन होकर सिद्धि अर्थात् सिद्धगतिको प्राप्त हो जाता है।

(दशवैकालिक, अध्ययन ४, गाथा १ से २४)

(२)

१. उसमे [1]प्रथम स्थानमे महावीर देवने, सब जीवोके साथ संयमपूर्वक बरतना यही सुखद एवं उत्तम अहिंसा है, ऐसा उपदेश दिया है।

२ संसारमे जितने त्रस और स्थावर प्राणी है, उन सबका साधु जाने-अनजाने स्वय वध न करे और दूसरेसे वध न कराये।

३ सब जीव जीना चाहते है, मरना नही चाहते। इसलिये निर्ग्रंथ भयंकर प्राणीवधका त्याग करे।

४ साधु क्रोध या भयसे अपने लिये तथा दूसरोके लिये प्राणियोको पीडाकारी असत्य स्वय न बोले और न दूसरेसे बुलवाये।[2]

५ सब सत्पुरुषोंने मृषावादका निषेध किया है। वह प्राणियोमे अविश्वास उत्पन्न करता है। इस-लिये साधु उसका त्याग करे।

६ सचित्त या अचित्त पदार्थ—थोड़े या बहुत, यहाँ तक कि दंतशोधनके लिये एक तृण भी साधु बिना माँगे न ले।[3]

७ स्वय अयाचित वस्तु न ले, तथा दूसरेसे न लिवावें, और अन्य लेनेवालेका अनुमोदन न करे। जो संयत पुरुष है वे ऐसा करते है।

८ महारौद्र, प्रमादके रहनेका स्थान तथा चारित्रका नाश करनेवाला ऐसे अब्रह्मचर्यका इस जगतमे मुनि सेवन न करे।[4]

९ अधर्मका मूल, और महादोषोकी जन्मभूमि ऐसे मैथुनके आलाप-प्रलापका निर्ग्रंथ त्याग करे।

१० ज्ञातपुत्र महावीरके वचनोमे प्रीति रखनेवाले मुनि सेंधा और समुद्री नमक, तेल, घी, गुड आदि खाद्य-पदार्थ अपने पास रातमे नही रखे।[5]

११ लोभसे तृणका भी स्पर्श न करे। जो ऐसे किसी पदार्थको रात्रिमे अपने पास रखना चाहे वह मुनि नही, किन्तु गृहस्थ है।

१२ जो वस्त्र, पात्र, कम्बल तथा रजोहरण है, उन्हे भी संयमकी रक्षाके लिये ही साधु धारण करे, नही तो त्याग करे।

१३ जो पदार्थ संयमकी रक्षाके लिये रखने पडते है उन्हें परिग्रह नही कहना, ऐसा छ कायके रक्षक ज्ञातपुत्रने कहा है, परन्तु मूर्च्छाको परिग्रह कहना ऐसा पूर्वमहर्षियोने कहा है।

१४. तत्त्वज्ञानको प्राप्त मनुष्य छ कायकी रक्षाके लिये मात्र उतना ही परिग्रह रखे, परन्तु ममत्व तो अपनी देहमे भी न रखे। (यह देह मेरी नही है इसी उपयोगमे रहे।)

१५ आश्चर्य! निरंतर तपश्चर्या और जिसकी सर्व सर्वज्ञोने प्रशंसा की है ऐसे संयमका अविरोधी एव जीवननिर्वाहरूप एक बार भोजन लेना।

१६ स्थूल और सूक्ष्म प्रकारके त्रस और स्थावर जीव रात्रिमे दिखाई नही देते, इसलिये साधु उस समय आहार कैसे करे?[6]

१७. पानीसे भीगी हुई और बीज आदिसे युक्त पृथ्वीपर प्राणी बिखरे पड़े हो, वहाँ दिनमे भी चलने-का निषेध है, तो फिर रातको मुनि भिक्षाके लिये कैसे जा सकता है?

१८. इन हिंसा आदि दोषोंको देखकर ज्ञातपुत्र भगवानने ऐसा कहा है कि निर्ग्रंथ साधु रात्रिमे सभी प्रकारका आहार न करे।

---

१. अठारह संयमस्थानमें पहला सयमस्थान २. दूसरा सयमस्थान ३ तीसरा सयमस्थान ४. चौथा संयमस्थान ५. पाँचवाँ सयमस्थान ६. छठा संयमस्थान।

१९ सुसमाधिवाले साधु मन, वचन और कायासे स्वयं पृथ्वीकायकी हिंसा नही करते, दूसरोंसे नहीं करवाते और करनेवालोंका अनुमोदन नहीं करते ।[१]

२०. पृथ्वीकायकी हिंसा करते हुए तदाश्रित चक्षुगोचर और अचक्षुगोचर विविध त्रस और स्थावर प्राणियोंकी हिंसा होती है ।

२१ इसलिये दुर्गतिको बढ़ानेवाले इस पृथ्वीकायके समारंभरूप दोषका जीवनपर्यन्त त्याग करे ।

२२ सुसमाधिवाले साधु मन, वचन और कायासे स्वयं जलकायकी हिसा नही करते, दूसरोसे नही करवाते और करनेवालोका अनुमोदन नही करते ।[२]

२३ जलकायकी हिंसा करते हुए तदाश्रित चक्षुगोचर और अचक्षुगोचर विविध त्रस एवं स्थावर प्राणियोकी हिंसा होती है ।[३]

२४ इसलिये जलकायका समारम्भ दुर्गतिको बढानेवाला दोष जानकर जीवनपर्यंत उसका त्याग करे ।

२५ मुनि अग्नि जलानेकी इच्छा नही करते क्योंकि वह जीवघातके लिये सबसे भयंकर तीक्ष्ण शस्त्र है ।[३]

२६ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर इन चार दिशाओमे और चार विदिशाओमे और ऊपर एव नीचेकी दो दिशाओमे रहे हुए जीवोको यह अग्नि जलाकर भस्म कर देती है ।

२७ यह अग्नि प्राणियोकी घातक है ऐसा निःसशय माने, और ऐसा है इसलिये साधु प्रकाश या तापनेके लिये अग्नि न जलाये ।

२८ इसलिये दुर्गतिको बढ़ानेवाले हिसारूप दोषको जानकर साधु अग्निकायके समारंभका जीवन-पर्यंत त्याग कर दे ।*

(दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ६, गाथा ९ से ३६)

---

६१ ववाणिया, वैशाख सुदी ६, सोम, १९४५

सत्पुरुषोको नमस्कार

आपके दर्शन मुझे यहाँ लगभग सवा मास पहले हुए थे । धर्म सम्बन्धी जो कुछ मौखिक चर्चा हुई थी वह आपको याद होगी, ऐसा समझकर उस चर्चा सम्बन्धी कुछ विशेष बतानेकी आज्ञा नही लेता । धर्मसम्बन्धी माध्यस्थ, उच्च और अदंभी विचारोसे आप पर मेरी कुछ विशेष प्रशस्त अनुरक्तता हो जानेसे कभी कभी आध्यात्मिक शैली सम्बन्धी प्रश्न आपके समक्ष रखनेकी आज्ञा लेनेका आपको कष्ट देता हूँ, योग्य लगे तो आप अनुकूल होवे ।

मै अर्थ या वयकी दृष्टिसे वृद्ध स्थितिवाला नही हूँ, तो भी कुछ ज्ञानवृद्धता प्राप्त करनेके लिये आप जैसोके सत्सगका, उनके विचारोका और सत्पुरुषकी चरणरजका सेवन करनेका अभिलाषी हूँ । मेरी यह बालवय विशेषतः इसी अभिलाषामे बीती है, इससे जो कुछ भी मेरी समझमे आया है, उसे दो शब्दोमे समयानुसार आप जैसोके समक्ष रखकर विशेष आत्महित कर सकूँ, यह प्रयाचना इस पत्रसे करता हूँ ।

---

१ सातवाँ संयमस्थान २. आठवाँ संयम-स्थान ३ नौवाँ सयम-स्थान ।

* शेष सयम-स्थान निम्नलिखित है—

१०. वायुकायकी हिंसा नही करना । ११. वनस्पतिकायकी हिंसा नही करना । १२. त्रसकायकी हिंसा नही करना । १३ अकल्पित वस्तुका त्याग । १४ गृहस्थके पात्रमे नही खाना । १५ गृहस्थकी शय्यापर नही सोना । १६. गृहस्थके आसनपर नही बैठना । १७ स्नान नही करना । १८. शृङ्गार नही करना ।

इस कालमे आत्मा पुनर्जन्मका निश्चय किससे, किस प्रकार और किस श्रेणिमे कर सकता है, इस सम्बन्धमे जो कुछ मेरी समझमे आया है, उसे यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके समक्ष रखूँगा।

वि० आपके माध्यस्थ विचारोका अभिलाषी
रायचद रवजीभाईके पञ्चांगी प्रशस्त भावसे प्रणाम।

---

६२ ववाणिया, वैशाख सुदी १२, १९४५

सत्पुरुषोको नमस्कार

परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्मा हुआ जाता है। परन्तु आत्मा उस ध्यानको सत्पुरुषके चरण-कमलकी विनयोपासनाके बिना प्राप्त नही कर सकता, यह निर्ग्रंथ भगवानका सर्वोत्कृष्ट वचनामृत है।

मैने आपको चार भावनाओके बारेमे पहले कुछ सूचन किया था। उस सूचनको यहाँ विशेषतासे किंचित् लिखता हूँ।

आत्माको अनन्त भ्रांतिमेसे स्वरूपमय पवित्र श्रेणिमे लाना यह कैसा निरुपम सुख है, यह कहनेसे कहा नही जाता, लिखनेसे लिखा नही जाता और मनसे विचारनेमे विचारा नही जाता।

इस कालमे शुक्लध्यानकी मुख्यताका अनुभव भारतमे असभव है। उस ध्यानकी परोक्ष कथारूप अमृतताका रस कुछ पुरुष प्राप्त कर सकते हैं, परतु मोक्षके मार्गकी अनुकूलता प्रथम धर्मध्यानके राजमार्गसे है।

इस कालमे रूपातीत तकके धर्मध्यानकी प्राप्ति कितने ही सत्पुरुषोको स्वभावसे, कितनोको सद्गुरुरूप निरुपम निमित्तसे और कितनोको सत्सग आदि अनेक साधनोसे हो सकती है, परन्तु वैसे पुरुष–निर्ग्रंथमतके—लाखोमें भी विरले ही निकल सकते है। प्राय: वे सत्पुरुष त्यागी होकर एकात भूमिमे वास करते हैं, कितने ही बाह्य अत्यागके कारण संसारमे रहते हुए भी संसारीपन ही दिखाते हैं। पहले पुरुषका मुख्योत्कृष्ट और दूसरे पुरुषका गौणोत्कृष्ट ज्ञान प्राय गिना जा सकता है।

चौथे गुणस्थानकमे आया हुआ पुरुष पात्रताको प्राप्त हुआ माना जा सकता है, वहाँ धर्मध्यानकी गौणता है। पाँचवेमे मध्यम गौणता है। छठेमे मुख्यता तो है परन्तु वह मध्यम है। सातवेमे मुख्यता है। हम गृहवासमे सामान्य विधिसे उत्कृष्टत. पाँचवे गुणस्थानमे आ सकते है, इसके सिवाय भावकी अपेक्षा तो और ही है।

इस धर्मध्यानमे चार भावनाओसे भूषित होना सभव है —

१ मैत्री—सर्व जगतके जीवोको ओर निर्वैरबुद्धि।
२. प्रमोद—अशमात्र भी किसीका गुण देखकर उल्लासपूर्वक रोमाचित होना।
३ करुणा—जगतके जीवोके दु:ख देखकर अनुकपित होना।
४. माध्यस्थ या उपेक्षा—शुद्ध समदृष्टिके बलवीर्यके योग्य होना।

इसके चार आलवन हैं। इसकी चार रुचि हैं। इसके चार पाये हैं। इस प्रकार धर्मध्यान अनेक भेदोमे विभक्त है।

जो पवन (श्वास) का जय करता है, वह मनका जय करता है। जो मनका जय करता है वह आत्मलीनता प्राप्त करता है। यह जो कहा वह व्यवहार मात्र है। निश्चयसे निश्चय-अर्थकी अपूर्व योजना तो सत्पुरुषके अन्तरमे निहित है।

श्वासका जय करते हुए भी सत्पुरुषकी आज्ञासे पराङ्मुखता है, तो वह श्वासजय परिणाममें संसारको ही बढ़ाता है। श्वासका जय वहाँ है कि जहाँ वासनाका जय है। उसके दो साधन हैं—सद्गुरु

और सत्संग। उसकी दो श्रेणियाँ हैं—पर्युपासना और पात्रता। उसकी दो वर्धमानताएँ है—परिचय और पुण्यानुबंधी पुण्यता। सबका मूल आत्माकी सत्पात्रता है।

अभी इस विषयके संबंधमे इतना ही लिखना हूँ।

दयालभाईके लिये "प्रवीणसागर" भेज रहा हूँ। "प्रवीणसागर" को समझकर पढा जाये तो दक्षता देनेवाला ग्रन्थ है, नही तो अप्रशस्तछंदी ग्रन्थ है।

---

६३ ववाणिया, वैशाख वदी १३, १९४५

अतिम समागमके समय चित्तकी जो दशा थी, वह आपने लिखी, सो योग्य है। वह दशा ज्ञात थी, ज्ञात है ऐसा मालूम हो तो भी यथावसर आत्मार्थी जीवको वह दशा उपयोगपूर्वक विदित करनी चाहिये; इससे जीवका विशेष उपकार होता है।

जो प्रश्न लिखे है उनका समागमयोगमें समाधान होनेकी वृत्ति रखना योग्य है, उससे विशेष उपकार होगा। इस ओर विशेष समय अभी स्थिति होना सभव नही है।

---

६४ ववाणिया बंदर, ज्येष्ठ सुदी ४, रवि, १९४५

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥ —श्री हरिभद्राचार्य

आपका वैशाख वदी ६ का धर्मपत्र मिला। आपके विशेष अवकाशके लिये विचार करके उत्तर लिखनेमे मैने इतना विलब किया है; जो विलब क्षमापात्र है।

उस पत्रमे आप लिखते है कि किसी भी मार्गसे आध्यात्मिक ज्ञानका संपादन करना चाहिये, यह ज्ञानियोका उपदेश है, यह वचन मुझे भी मान्य है। प्रत्येक दर्शनमे आत्माका ही उपदेश है; और मोक्षके लिये सबका प्रयत्न है, तो भी इतना तो आप भी मान्य कर सकेंगे कि जिस मार्गसे आत्मा आत्मत्व—सम्यग्ज्ञान—यथार्थदृष्टि—प्राप्त करे वह मार्ग सत्पुरुषकी आज्ञानुसार मान्य करना चाहिये। यहाँ किसी भी दर्शनके लिये कुछ कहना उचित नही है, फिर भी यो तो कहा जा सकता है कि जिस पुरुषका वचन पूर्वापर अखण्डित है उसका उपदिष्ट दर्शन पूर्वापर हितकारी है। आत्मा जहाँसे 'यथार्थदृष्टि' अथवा 'वस्तुधर्म' प्राप्त करे वहाँसे सम्यग्ज्ञान संप्राप्त होता है यह सर्वमान्य है।

आत्मत्व प्राप्त करनेके लिये क्या हेय, क्या उपादेय और क्या ज्ञेय है, इस विषयमे प्रसंगोपात्त सत्पुरुषकी आज्ञानुसार आपके समक्ष कुछ न कुछ रखता रहूँगा। यदि ज्ञेय, हेय और उपादेयरूपसे किसी पदार्थको, एक भी परमाणुको नही जाना तो वहाँ आत्माको भी नही जाना। महावीरके उपदिष्ट 'आचारांग' नामके एक सैद्धांतिक शास्त्रमे ऐसा कहा है कि—**जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।** अर्थात् जिसने एकको जाना उसने सबको जाना और जिसने सबको जाना उसने एकको जाना। यह वचनामृत ऐसा उपदेश करता है कि कोई एक आत्मा जब जाननेका प्रयत्न करेगा, तब सबको जाननेका प्रयत्न होगा, और सबको जाननेका प्रयत्न एक आत्माको जाननेके लिये है; तो भी जिसने विचित्र जगतका स्वरूप नहीं जाना वह आत्माको नही जानता। यह उपदेश अयथार्थ नही ठहरता।

आत्मा किससे, क्यो और किस प्रकारसे बँधा हुआ है यह ज्ञान जिसे नही हुआ, उसे वह किससे, क्यो और किस प्रकारसे मुक्त हो, इसका ज्ञान भी नही हुआ; और न हुआ हो तो यह वचनामृत भी प्रमाणभूत है। महावीरके उपदेशका मुख्य आधार उपर्युक्त वचनामृतसे शुरू होता है; और इसका स्वरूप उन्होंने सर्वोत्तम बताया है। इसके लिये आपकी अनुकूलता होगी तो आगे कहूँगा।

यहाँ आपको एक यह भी विज्ञापना करना योग्य है कि महावीर या किसी भी दूसरे उपदेशकके पक्षपातके लिये मेरा कोई भी कथन अथवा मानना नहीं है, परंतु आत्मत्व प्राप्त करनेके लिये जिसका उपदेश अनुकूल है, उसके लिये पक्षपात ('), दृष्टिराग, प्रशस्त राग या मान्यता है, और उसके आधारपर मेरी प्रवृत्ति है, इसलिये यदि मेरा कोई भी कथन आत्मत्वको बाधा करनेवाला हो, तो उसे बताकर उपकार करते रहे। प्रत्यक्ष सत्संगकी तो बलिहारी है; और वह पुण्यानुबंधी पुण्यका फल है; फिर भी जब तक ज्ञानीदृष्टानुसार परोक्ष सत्संग मिलता रहेगा तब तक भी मेरे भाग्यका उदय ही है।

२ निर्ग्रंथशासन ज्ञानवृद्धको सर्वोत्तम वृद्ध मानता है। जातिवृद्धता, पर्यायवृद्धता ऐसे वृद्धताके अनेक भेद है, परन्तु ज्ञानवृद्धताके बिना ये सारी वृद्धताएँ नामवृद्धताएँ है, अथवा शून्यवृद्धताएँ है।

३ पुनर्जन्मसंबंधी मेरे विचार प्रदर्शित करनेके लिये आपने सूचित किया था उसके लिये यहाँ प्रसगोचित सक्षेपमात्र बताता हूँ :—

(अ) कुछ निर्णयोंके आधारपर मै यह मानने लगा हूँ कि इस कालमे भी कोई कोई महात्मा गत-भवको जातिस्मरणज्ञानसे जान सकते है, जो जानना कल्पित नही परन्तु सम्यक् होता है। उत्कृष्ट संवेग, ज्ञानयोग और सत्सगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवरूप हो जाता है।

जब तक पूर्वभव अनुभवगम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकालका धर्मप्रयत्न शंकासहित किया करता है, और शकासहित प्रयत्न योग्य सिद्धि नही देता।

(आ) 'पुनर्जन्म है,' इतना परोक्ष या प्रत्यक्षसे निःशकत्व जिस पुरुषको प्राप्त नही हुआ, उस पुरुषको आत्मज्ञान प्राप्त हुआ हो ऐसा शास्त्रशैली नही कहती। पुनर्जन्मके संबधमे श्रुतज्ञानसे प्राप्त हुआ जो आशय मुझे अनुभवगम्य हुआ है उसे यहाँ थोडासा बतलाये देता हूँ।

(१) 'चैतन्य' और 'जड' इन दोनोको पहचाननेके लिये इन दोनोंके बीच जो भिन्न धर्म है उनका पहले ज्ञान होना चाहिये, और उन भिन्न धर्मोंमे भी जिस मुख्य भिन्न धर्मको पहचानना है वह यह है कि 'चैतन्य'मे 'उपयोग' (अर्थात् जिससे किसी भी वस्तुका बोध होता है वह गुण) रहता है, और 'जड'मे वह नही है। यहाँ कदाचित् कोई यह निर्णय करना चाहे कि 'जड'मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये गुण रहते है और चैतन्यमे वे नही है, परन्तु यह भिन्नता आकाशकी अपेक्षा लेनेसे समझमे नही आ सकती, क्योंकि निरजनता, निराकारता, अरूपिता इत्यादि कितने ही गुण आत्माकी भाँति आकाशमे भी रहते हैं तो फिर आकाशको आत्माके सदृश गिना जा सकता है क्योकि दोनोमे भिन्न धर्म न रहे। परन्तु भिन्न धर्म आत्माका पूर्वोक्त 'उपयोग' नामका गुण है जो जड-चैतन्यकी भिन्नता सूचित करता है और फिर जड चैतन्यका स्वरूप समझना सुगम हो जाता है।

(२) जीवका मुख्य गुण या लक्षण 'उपयोग' (किसी भी वस्तुसबधी संवेदन, बोध, ज्ञान) है। जिसमे अशुद्ध और अपूर्ण उपयोग रहता है वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे जीव है। निश्चयनयसे आत्मा स्वस्वरूपसे परमात्मा ही है, परंतु जब तक आत्माने स्वस्वरूपको यथार्थ नही समझा तब तक वह छद्मस्थ जीव है अर्थात् वह परमात्मदशामे नही आया। जिसे शुद्ध और सपूर्ण यथार्थ उपयोग रहता है उसे परमात्मदशाको प्राप्त हुआ आत्मा माना जाता है। अशुद्ध उपयोगी होनेसे ही आत्मा कल्पितज्ञान (अज्ञान) को सम्यग्ज्ञान मान रहा है और सम्यग्ज्ञानके बिना पुनर्जन्मका निश्चय किसी अंशमे भी यथार्थ नही होता। अशुद्ध उप-योग होनेका कुछ भी निमित्त होना चाहिये। वह निमित्त अनुपूर्वीसे चले आते हुए बाह्यभावसे गृहीत कर्म-पुद्गल हैं। (उस कर्मका यथार्थ स्वरूप सूक्ष्मतासे समझने योग्य है, क्योंकि आत्माकी ऐसी दशा किसी भी निमित्तसे ही होनी चाहिये; और जब तक वह निमित्त जिस प्रकारसे है उस प्रकारसे समझमें न आये तब तक जिस मार्गसे जाना है उस मार्गकी निकटता नही होती।) जिसका परिणाम विपर्यय हो उसका प्रारंभ

अशुद्ध उपयोगके बिना नही होता, और अशुद्ध उपयोग भूतकालकी किसी भी संलग्नताके बिना नही होता। वर्तमान कालमेसे हम एक-एक पलको निकालते जायें और देखते जायें, तो प्रत्येक पल भिन्न-भिन्न स्वरूपसे बीता हुआ मालूम होगा। (उसके भिन्न-भिन्न होनेका कोई कारण तो होगा ही।) एक मनुष्यने ऐसा दृढ संकल्प किया कि यावज्जीवन स्त्रीका चिंतन भी मुझे करना नही है, फिर भी पाँच पल न बीत पाये कि उसका चिंतन हो गया तो फिर उसका कारण होना चाहिये। मुझे जो शास्त्रसंबंधी अल्प बोध हुआ है उससे यह कह सकता हूँ कि वह पूर्वकर्मका किसी भी अशमें उदय होना चाहिये। कैसे कर्मका ? तो कह सकूँगा कि मोहनीयकर्मका। उसकी किस प्रकृतिका ? तो कह सकूँगा कि पुरुषवेदका। (पुरुषवेदकी पद्रह प्रकृतियाँ है।) पुरुषवेदका उदय दृढ संकल्पसे रोकनेपर भी हुआ, उसका कारण अब कहा जा सकेगा कि वह कोई भूतकालका होना चाहिये, और अनुपूर्वीसे उसके स्वरूपका विचार करनेसे पुनर्जन्म सिद्ध होगा। यहाँ इस बातको बहुत दृष्टातोसे कहनेकी मेरी इच्छा थी, परन्तु निर्धारितसे अधिक कहा गया है, और आत्माको जो बोध हुआ उसे मन यथार्थ नही जान सकता और मनके बोधको वचन यथार्थ नही कह सकते। वचनका कथनबोध भी कलम नही लिख सकती, ऐसा होनेसे और इस विषयके सबंधमे कुछ पारिभाषिक शब्दोके उपयोगकी आवश्यकता होनेसे अभी इस विषयको अपूर्ण छोड़ देता हूँ। यह अनुमानप्रमाण कह गया। प्रत्यक्ष प्रमाणसबधी ज्ञानीदृष्ट होगा, तो उसे फिर, अथवा प्रत्यक्ष समागम होगा तब कुछ बता सकूँगा। आपके उपयोगमे रम रहा है, फिर भी यहाँ दो-एक वचन प्रसन्नतार्थ लिखता हूँ —

१ सबकी अपेक्षा आत्मज्ञान श्रेष्ठ है।
२ धर्मविषय, गति, आगति निश्चयसे हैं।
३ ज्यों ज्यो उपयोगकी शुद्धता होती जाती है, त्यो-त्यों आत्मज्ञान प्राप्त होता जाता है।
४ इसके लिये निर्विकार दृष्टिकी आवश्यकता है।
५ 'पुनर्जन्म है', यह योगसे, शास्त्रसे और सहजरूपसे अनेक सत्पुरुषोंको सिद्ध हुआ है।

इस कालमे इस विषयमे अनेक पुरुषोको निःशकता नही होती इसके कारण—मात्र सात्त्विकताकी न्यूनता, त्रिविधतापकी मूर्च्छना, 'श्रीगोकुलचरित्र'मे आपकी बतायी हुई निर्जनावस्थाकी कमी, सत्संगका अभाव, स्वमान और अयथार्थ दृष्टि है।

आपकी अनुकूलता होगी तो इस विषयमे विशेष फिर बताऊँगा। इससे मुझे आत्मोज्ज्वलताका परम लाभ है। इसलिये आपको अनुकूल होगा ही। अवकाश हो तो दो चार बार इस पत्रका मनन होनेसे मेरा कहा हुआ अल्प आशय आपको बहुत दृष्टिगोचर होगा। शैलीके कारण विस्तारसे कुछ लिखा है, फिर भी जैसा चाहिये वैसा नही समझाया गया ऐसा मेरा मानना है। परन्तु मै समझता हूँ कि धीरे-धीरे आपके समक्ष सरलरूपमे रख सकूँगा।

× × × ×

बुद्ध भगवानका जीवनचरित्र मेरे पास नही आया। अनुकूलता हो तो भिजवानेकी सूचना करें। सत्पुरुषोके चरित्र दर्पणरूप है। बुद्ध और जैनके उपदेशमे महान अतर है।

सब दोषोकी क्षमा चाहकर यह पत्र पूरा (अपूर्ण स्थितिमे) करता हूँ। आपकी आज्ञा होगी तो ऐसा वक्त निकाला जा सकेगा कि जिससे आत्मत्व दृढ हो।

असुगमतासे लेख दूषित हुआ है, परन्तु कितनी ही निरुपायता थी। नही तो सरलताका उपयोग करनेसे आत्मत्वकी प्रफुल्लितता विशेष हो सकती है।

वि० धर्मजीवनके इच्छुक
रायचद रवजीभाईके विनयभावसे प्रशस्त प्रणाम।

---

६५ मोरबी, ज्येष्ठ सुदी १०, सोम, १९४५

आपका अतिशय आग्रह है और न हो तो भी एक धर्मनिष्ठ आत्माको यदि मुझसे कुछ शांति होती हो तो एक पुण्य समझकर आना चाहिये। और ज्ञानीदृष्ट होगा तो मैं जरूर कुछ ही दिनोंमे आता हूँ। विशेष समागममे।

---

६६ अहमदाबाद, ज्येष्ठ वदी १२, मंगल, १९४५

मैंने आपको ववाणियाबंदरसे पुनर्जन्मसंबंधी परोक्षज्ञानकी अपेक्षासे दो-एक विचार लिखे थे; और इस विषयमे अवकाश पाकर कुछ बतानेके बाद प्रत्यक्ष अनुभवगम्य ज्ञानसे इस विषयका जो कुछ निश्चय मेरी समझमे आया है उसे बतानेकी इच्छा रखी है।

वह पत्र आपको ज्येष्ठ सुदी पंचमीको मिल गया होगा। अवकाश प्राप्तकर कुछ उत्तर देना ठीक लगे तो उत्तर, नही तो पहुँच मात्र लिखकर प्रशम दीजियेगा, यह विज्ञापना है।

निर्ग्रंथ द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोकी शोधके लिये सातेक दिनोंसे मेरा यहाँ आना हुआ है।

धर्मोपजीवनके इच्छुक
रायचन्द रवजीभाईके यथाविधि प्रणाम।

---

६७ वढवाणकेम्प, आषाढ सुदी ८, शनि, १९४५

आत्माका कल्याण खोजनेके लिये आपकी जो अभिलाषाएँ दिखायी देती है, वे मुझे प्रसन्न करती है। धर्म प्रशस्त ध्यान करनेके लिये विज्ञापन करके अब यह पत्र पूरा करता हूँ।

रायचन्द

---

६८ बजाणा-काठियावाड, आषाढ सुदी १५, शुक्र, १९४५

आपका आषाढ सुदी ७ का लिखा हुआ पत्र मुझे वढवाणकेम्पमे मिला। उसके बाद मेरा यहाँ आना हुआ, इसलिये पहुँच लिखनेमे विलम्ब हुआ। पुनर्जन्मसबधी मेरे विचार आपको अनुकूल होनेमे मुझे इस विषयमे आपकी सहायता मिली। आपने 'अंत:करणीय—आत्मभावजन्य जो अभिलाषा प्रदर्शित की है उसे सत्पुरुष निरतर रखते आये है, उन्होने मन, वचन, काया और आत्मासे वैसी दशा प्राप्त की है, और उस दशाके प्रकाशसे दिव्यताको प्राप्त आत्माने वाणी द्वारा सर्वोत्तम आध्यात्मिक वचनामृत प्रदर्शित किये हैं; जिनका आप जैसे सत्पात्र मनुष्य निरतर सेवन करते है, और यही अनन्तभवके आत्मिक दु खको दूर करनेका परमौषध है।

सभी दर्शन पारिणामिकभावसे मुक्तिका उपदेश करते है, यह नि सशय है, परन्तु यथार्थदृष्टि हुए बिना सब दर्शनोका तात्पर्यज्ञान हृदयगत नही होता। जिसके होनेके लिये सत्पुरुषोकी प्रशस्त भक्ति, उनके पादपंकज और उपदेशका अवलंबन और निर्विकार ज्ञानयोग आदि जो साधन हैं, वे शुद्ध उपयोगसे मान्य होने चाहिये।

पुनर्जन्मका प्रत्यक्ष निश्चय तथा अन्य आध्यात्मिक विचार अब फिर प्रसंगानुकूल प्रदर्शित करनेकी आज्ञा लेता हूँ।

बुद्ध भगवानका चरित्र मनन करने योग्य है, यह मानो निष्पक्षपाती कथन है।

कितने ही आध्यात्मिक तत्त्वोसे भरपूर वचनामृत अब लिख सकूँगा।

धर्मोपजीवनके इच्छुक
रायचन्दके विनययुक्त प्रणाम।

---

६९ ववाणिया, आषाढ वदी १२, बुध, १९४५

महासतीजी 'मोक्षमाला' का श्रवण करती हैं, यह बहुत सुखद और लाभदायक है। उनसे मेरी ओरसे विनती कीजियेगा कि इस पुस्तकका यथार्थ श्रवण करें और मनन करें। इसमें जिनेश्वरके सुन्दर मार्गसे बाहरका एक भी विशेष वचन रखनेका प्रयत्न नहीं किया है। जैसा अनुभवमें आया और कालभेद देखा वैसे मध्यस्थतासे यह पुस्तक लिखी है। मैं मानता हूँ कि महासतीजी इस पुस्तकका एकाग्रभावसे श्रवण करके आत्मश्रेयमें वृद्धि करेंगी।

---

७० भरुच, श्रावण सुदी १, रवि, १९४५

आपके आत्मबोधके कारण प्रसन्नता होती है। यहाँ आत्मचर्चा श्रेष्ठ चलती है। सत्संगकी बलवत्तरता है।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

७१ भरुच, श्रावण सुदी ३, बुध, १९४५

बजाणा नामके गाँवमें मेरा लिखा हुआ एक विनयपत्र आपको प्राप्त हुआ होगा।

मैं अपनी निवासभूमिसे लगभग दो माससे सत्योग और सत्संगकी वृद्धिके लिये प्रवासरूपसे कितने ही स्थानोंमें विहार कर रहा हूँ। प्रायः एक सप्ताहमें आपके दर्शन और समागमके लिये मेरा वहाँ आगमन होना संभव है।

सब शास्त्रोंके बोधका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका और भक्तिका प्रयोजन स्वस्वरूपप्राप्तिके लिये है, और ये सम्यक्श्रेणियाँ आत्मगत हों तो ऐसा होना प्रत्यक्ष संभव है, परन्तु इन वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिये सर्वसंगपरित्यागकी आवश्यकता है। निर्जनावस्था–योगभूमिमें वास–से सहज समाधिकी प्राप्ति नहीं है, वह तो सर्वसंगपरित्यागमें नियमसे रहती है। देश (भाग) संगपरित्यागमें उसकी भजना संभव है। जब तक पूर्वकर्मके बलसे गृहवास भोगना बाकी है, तब तक धर्म, अर्थ और कामको उल्लासित उदासीनभावसे सेवन करना योग्य है। बाह्यभावसे गृहस्थश्रेणि होनेपर भी अंतरंग निर्ग्रंथश्रेणि चाहिये, और जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ सर्व सिद्धि है।

मेरी आत्माभिलाषा बहुत माससे उस श्रेणिमें रहा करती है। धर्मोपजीवनकी पूर्ण अभिलाषा कई एक व्यवहारोपाधियोंके कारण पूरी नहीं हो सकती, परन्तु आत्माको सत्पदकी सिद्धि प्रत्यक्ष होती है, यह बात तो मान्य ही है, और इसमें कुछ वय-वेषकी विशेष अपेक्षा नहीं है। निर्ग्रन्थके उपदेशको अचलभावसे और विशेषतः मान्य करते हुए अन्य दर्शनके उपदेशमें मध्यस्थता प्रिय है।

चाहे जिस मार्गसे और चाहे जिस दर्शनसे कल्याण होता हो तो उसमें फिर मत-मतांतरकी कोई अपेक्षा खोजनी योग्य नहीं है। जिस अनुप्रेक्षासे, जिस दर्शनसे या जिस ज्ञानसे आत्मत्व प्राप्त हो, वह अनुप्रेक्षा, वह दर्शन या वह ज्ञान सर्वोपरि है, और जितने आत्मा तरे, वर्तमानमें तरते हैं और भविष्यमें तरेंगे वे सब इस एक ही भावको पाकर। हम इसे सर्व भावसे प्राप्त करें यह मिले हुए अनुत्तर जन्मका साफल्य है।

कितने ही ज्ञानविचारोंको लिखते हुए उदासीन भावकी वृद्धि हो जानेसे इच्छित लिखा नहीं जा सकता और न ही उसे आप जैसोंको बताया जा सकता है। यह किसी ' '' का कारण।

नाना प्रकारके विचार चाहे जिस रूपमें अनुक्रमविहीन आपके पास रखूँ, तो उन्हें योग्यतापूर्वक आत्मगत करते हुए दोषके लिये—भविष्यके लिये भी—क्षमाभाव ही रखें।

इस बार लघुत्व भावसे एक प्रश्न करनेकी आज्ञा लेता हूँ। आपके ध्यानमें होगा कि प्रत्येक पदार्थकी प्रज्ञापनीयता चार प्रकारसे है—द्रव्य (उसके वस्तुस्वभाव) से, क्षेत्र (कुछ भी उसका व्याप्त होना—

उपचार या अनुपचारसे) से, कालसे और भाव (उसके गुणादिक भाव) से । अब हम आत्माकी व्याख्या भी इसके बिना नही कर सकते । आप यदि इस प्रज्ञापनीयतामे आत्माकी व्याख्या अवकाशानुकूल बतलायें, तो संतोषका कारण होगी । इसमेसे एक अद्भुत व्याख्या निकल सकती है, परंतु आपके विचार पहलेसे कुछ सहायक हो सकेंगे ऐसा मानकर यह प्रयाचना की है। धर्मोपजीवन प्राप्त करनेमे आपकी सहायताकी प्रायः आवश्यकता पडेगी, ऐसा लगता है, परन्तु सामान्यत. वृत्ति-भाव सबंधी आपके विचार जान लेनेके बाद उस बातको जन्म देना, ऐसी इच्छा है । शास्त्र परोक्षमार्ग है, और·· प्रत्यक्षमार्ग है । इस बार इतना ही लिखकर इस पत्रको विनय-भावसे पूरा करता हूँ ।

यह भूमिका एक श्रेष्ठ योगभूमिका है । यहाँ मुझे एक सन्मुनि इत्यादिका प्रसग रहता है ।

वि० आ० रायचद रवजीभाईके प्रणाम ।

---

७२ भरुच, श्रावण सुदी १०, १९४५

बाह्यभावसे जगतमे रहे और अंतरगमे एकात शीतलीभूत—निर्लेप रहे, यही मान्यता और उपदेश है ।

---

७३ बबई, श्रावण वदी ७, शनि, १९४५

आपके आरोग्यकी खबर अभी नही मिली है । उसे अवश्य लिखें, और शरीरकी स्थितिके लिये यथासंभव शोकरहित होकर प्रवृत्ति करें ।

---

७४ ववाणिया, भादो सुदी २, १९४५

सुज्ञ चि०,

संवत्सरी संबंधी हुए अपने दोषोकी शुद्ध बुद्धिसे क्षमा-याचना करता हूँ । आपके सारे कुटुम्बसे अविनय आदिके लिये क्षमा चाहता हूँ ।

परतंत्रताके लिये खेद है । परन्तु अभी तो निरुपायता है ।

पत्रका उत्तर लिखनेमे सावधानी रखियेगा । महासतीजीको अभिवंदन कीजियेगा ।

राज्य० के य० आ०

---

७५ बंबई, भादो वदी ४, शुक्र, १९४५

मुझ पर शुद्ध राग समभावसे रखें । विशेषता न करें । धर्मध्यान और व्यवहार दोनोकी रक्षा करे । लोभी गुरु, गुरु-शिष्य दोनोके लिये अधोगतिका कारण है । मै एक ससारी हूं । मुझे अल्प ज्ञान है । आपको शुद्ध गुरुकी जरूरत है ।

---

७६ माहमयी, आसोज वदी १०, शनि, १९४५

दूसरा कुछ मत खोज, मात्र एक सत्पुरुषको खोजकर उसके चरणकमलमे सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह । फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना ।

सत्पुरुष वही है कि जो रात दिन आत्माके उपयोगमे है, जिसका कथन शास्त्रमे नहीं मिलता, सुननेमे नही आता, फिर भी अनुभवमे आ सकता है, अंतरग स्पृहारहित जिसका गुप्त आचरण है; बाकी तो कुछ कहा नही जा सकता और ऐसा किये बिना तेरा कभी छुटकारा होनेवाला नही है, इस अनुभव-प्रवचनको प्रामाणिक मान ।

एक सत्पुरुषको प्रसन्न करनेमे, उसकी सर्व इच्छाओकी प्रशंसा करनेमे, उसे ही सत्य माननेमे पूरी जिन्दगी बीत गई तो अधिकसे अधिक पद्रह भवमे तू अवश्य मोक्षमे जायेगा।

वि० रायचंदके प्रणाम

---

७७ वि० सं० १९४५

*"सुखकी सहेली है, अकेली उदासीनता"।
अध्यात्मनी जननी ते उदासीनता॥

लघु वयथी अद्भुत थयो, तत्त्वज्ञाननो बोध।
ए ज सूचवे एम के, गति आगति कां शोध? ॥ १ ॥

जे संस्कार थवो घटे, अति अभ्यासे काय।
विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्यांय? ॥ २ ॥

जेम जेम मति अल्पता, अने मोह उद्योत।
तेम तेम भवशंकना, अपात्र अन्तर ज्योत ॥ ३ ॥

करी कल्पना दृढ करे, नाना नास्ति विचार।
पण अस्ति ते सूचवे, ए ज खरो निर्धार ॥ ४ ॥

आ भव वण भव छे नही, ए ज तर्क अनुकूळ।
विचारतां पामी गया, आत्मधर्मनुं मूळ ॥ ५ ॥ [अंगत]

---

७८ वि० स० १९४५

स्त्रीके संबंधमे मेरे विचार

(१)

अति अति स्वस्थ विचारणासे ऐसा सिद्ध हुआ है कि शुद्ध ज्ञानके आश्रयमे निराबाध सुख रहा है; और वही परम समाधि रही है।

---

*भावार्थ—अकेली उदासीनता सुखकी सहेली है। यह उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

छोटी उमरमे ही तत्त्वज्ञानका अद्भुत बोध हुआ। यही सूचित करता है कि अब गमन-आगमन अर्थात् जन्म-मरणकी खोज किसलिये? वैयक्तिक दृष्टिसे इस पद्यका अर्थ यह है—छोटी उमरमे ही तत्त्वज्ञानका बोध हो जानेसे यह फलित होता है कि 'पुनर्जन्म है' इसलिये तुझे जन्म-मरणकी खोज करनेकी जरूरत नही है ॥१॥

जो ज्ञान-संस्कार अत्यंत अभ्याससे होने योग्य है, वह परिश्रमके बिना ही सहज हो गया, तो फिर अब पुनर्भवकी शंका कैसी? ॥२॥

ज्यो ज्यो बुद्धि-ज्ञान कम होता जाता है, और मोह बढ़ता जाता है, त्यो त्यो अपात्र जीवोके अंतरमे अज्ञानकी अधिकता होनेसे, पुनर्भव संबंधी शंका प्रबल होती जाती है ॥३॥

कोई कल्पना करके नाना प्रकारके नास्तिक विचारो—आत्मा नही है, मोक्ष नही है इत्यादि—को दृढ करता है, परन्तु वे विविध 'नास्ति' विचार ही 'अस्ति' का सूचन करते है, क्योंकि 'नास्ति'—न + अस्तिमे ही 'अस्ति'का सूचन निहित है। और यही निर्णय वास्तविक है ॥४॥

यही एक बड़ा अनुकूल तर्क है कि यह भव दूसरे भवके बिना नही हो सकता। यह न्याययुक्त तर्क तत्त्वप्राप्तिके लिये अनुकूल योग्य साधन है। इस तरह उत्तरोत्तर विचार करते-करते विचारशील जीव आत्मधर्मका मूल प्राप्त करके कृतार्थ हो गये है ॥५॥ [निजो]

स्त्री संसारका सर्वोत्तम सुख है, यह मात्र आवरणिक दृष्टिसे कल्पित किया गया है परंतु वह वैसा है ही नही। स्त्रीसे संयोगसुख भोगनेका जो अंग है वह विवेक-दृष्टिसे देखनेपर वमन करने योग्य भूमिके भी योग्य नही ठहरता। जिन-जिन पदार्थोपर जुगुप्सा आती है, वे सभी पदार्थ तो उसके शरीरमे रहे हुए है; और उनकी वह जन्मभूमि है। फिर यह सुख क्षणिक, खेदमय और खुजलीके दर्द जैसा ही है। उस समयका दृश्य हृदयमे चित्रित होकर हँसाता है कि यह कैसा भुलावा है? संक्षेपमे यह कहना है कि उसमे कुछ भी सुख नही है, और यदि सुख हो तो उसका अपरिच्छेद रूपसे वर्णन कर देखें तो यही मालूम होगा कि मात्र मोहदशाके कारण वैसी मान्यता हुई है। यहाँ मै स्त्रीके अवयव आदि भागोका विवेक करने नही बैठा हूँ, परन्तु उस ओर आत्मा पुनः आकर्षित ही न हो, यह विवेक आया है, उसका सहज सूचन किया है। स्त्रीमे दोष नही है, परन्तु आत्मामे दोष है और इस दोषके चले जानेसे आत्मा जो देखता है वह अद्भुत आनन्दमय ही है; इसलिये इस दोषसे रहित होनेकी ही परम अभिलाषा है।

यदि शुद्ध उपयोगकी प्राप्ति हो गई तो फिर वह प्रति समय पूर्वोपार्जित मोहनीयको भस्मीभूत कर सकेगा। यह अनुभवगम्य प्रवचन है।

परन्तु पूर्वोपार्जित कर्म अभी तक मुझे उदयमे है, तब तक मेरी किस प्रकारसे शान्ति हो? इसका विचार करते हुए मुझे निम्न प्रकारसे समाधान हुआ :—

स्त्रीको सदाचारी ज्ञान देना। उसे एक सत्संगी मानना। उसके साथ धर्मबहनका सम्बन्ध रखना। अन्तःकरणसे किसी भी प्रकारसे माँ-बहन और उसमे अन्तर नही समझना। उसके शारीरिक भागका किसी भी तरह मोहकर्मके वश होकर उपभोग किया जाता है, वहाँ योगकी ही स्मृति रखकर, 'यह है तो मैं कैसे सुखका अनुभव करता हूँ!' इसे भूल जाना। (तात्पर्य—वह मानना असत् है।) मित्र परस्पर जैसे साधारण वस्तुका उपभोग करते है वैसे उस वस्तु (वि०) का सखेद उपभोग करके पूर्वबंधनसे छूट जाना। उसके साथ यथासम्भव निर्विकारी बात करना। कायासे विकारचेष्टाका अनुभव करते हुए भी उपयोग लक्ष्य पर ही रखना।

उससे कोई सन्तानोत्पत्ति हो तो वह एक साधारण वस्तु है, ऐसा समझकर ममत्व नही करना। परन्तु ऐसा चिंतन करना कि जिस द्वारसे लघुशंका की जाती है उस द्वारसे उत्पन्न हुआ पदार्थ (यह जीव) पुनः उसमे क्यो भूल जाता है—महान अँधेरी कोठरीसे परेशान होकर आनेके बाद भी फिर वही मित्रता करने जाता है। यह कैसी विचित्रता है! चाहना यह कि दोनोंके संयोगसे कुछ हर्षशोक या बाल-बच्चेरूप फलकी उत्पत्ति न हो। मुझे इस चित्रकी याद भी न करने दें। नही तो एक मात्र सुन्दर मुखमंडल और सुंदर वर्ण (जड पदार्थका) आत्माको कितना बाँध कर संपत्तिहीन करता है, उसे यह आत्मा किसी भी प्रकारसे न भुला दे।

(२)

स्त्रीके संबंधमे किसी भी प्रकारसे रागद्वेष रखनेकी मेरी अंश मात्र इच्छा नही है, परंतु पूर्वोपार्जन-के कारण इच्छाके प्रवर्तनमे अटका हूँ।

---

७९ वि० सं० १९४५

जगतमे भिन्न भिन्न मत और दर्शन देखनेमे आते हैं यह दृष्टिभेद है।

***भिन्न भिन्न मत देखीए, भेद दृष्टिनो एह।**
एक तत्त्वना मूळमां, व्याप्या मानो तेह ॥१॥

---

*भावार्थ—यह दृष्टिका भेद है कि भिन्न भिन्न मत दिखायी देते हैं। वे सब मत मानो एक ही तत्त्वके मूलमें व्याप्त हैं ॥१॥

तेह तत्त्वरूप वृक्षनुं, आत्मधर्म छे मूळ।
स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म ते ज अनुकूळ ॥२॥
प्रथम आत्मसिद्धि थवा, करीए ज्ञान विचार।
अनुभवी गुरुने सेवीए, बुधजननो निर्धार ॥३॥
क्षण क्षण जे अस्थिरता, अने विभाविक मोह।
ते जेनामांथी गया, ते अनुभवी गुरु जोय ॥४॥
बाह्य तेम अभ्यन्तरे, ग्रंथ ग्रंथि नहि होय।
परम पुरुष तेने कहो, सरळ दृष्टिथी जोय ॥५॥
बाह्य परिग्रह ग्रंथि छे, अभ्यंतर मिथ्यात्व।
स्वभावथी प्रतिकूळता,— ॥६॥

---

८० वि० सं० १९४५

जिसकी मनोवृत्ति निराबाधरूपमे बहा करती है, जिसके सकल्प-विकल्प मंद हो गये है, जिसमे पाँच विषयोसे विरक्त बुद्धिके अंकुर फूट निकले है, जिसने क्लेशके कारण निर्मूल कर दिये है, जो अनेकातदृष्टियुक्त एकातदृष्टिका सेवन किया करता है, और जिसकी मात्र एक शुद्ध वृत्ति ही है, वह प्रतापी पुरुष जयवत रहे।

हमे वैसा बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

---

८१ वि० सं० १९४५

अहो हो! कर्मकी कैसी विचित्र बधस्थिति है? जिसकी स्वप्नमे भी इच्छा नही होती, जिसके लिये परम शोक होता है, उसी अगंभीरदशामे प्रवृत्त होना पडता है।

वे जिन—वर्धमान आदि सत्पुरुष कैसे महान मनोजयी थे! उन्हे मौन रहना—अमौन रहना दोनो ही सुलभ थे, उन्हे सर्व अनुकूल प्रतिकूल दिन समान थे उन्हे लाभ हानि समान थी, और उनका क्रम मात्र आत्मसमताके लिये था। यह कैसा आश्चर्यकारक है कि एक कल्पनाका जय एक कल्पमे होना दुष्कर है, ऐसी अनत कल्पनाओंको उन्होने कल्पके अनतवे भागमे शात कर दिया!

---

८२ वि. सं १९४५

दु खी मनुष्योंका प्रदर्शन करनेमे आये तो जरूर उनका सिरताज मैं बन सकूँ। मेरे इन वचनोंको पढ़कर कोई विचारमे पड़कर, भिन्न-भिन्न कल्पनाएं करेगा अथवा इसे मेरा भ्रम मान बैठेगा, परंतु इसका समाधान यही सक्षेपमे किये देता हूँ। आप मुझे स्त्री सबधी दु ख न समझे, लक्ष्मी संबधी दुःख न समझे,

---

उस तत्त्वरूप वृक्षका मूल आत्मधर्म है। जो धर्म स्वभावकी सिद्धि करता हैं, वही धर्म उपादेय है ॥२॥

आत्मसिद्धिके लिये पहले तो ज्ञानका विचार करे, और फिर ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अनुभवी गुरुकी सेवा करे, ऐसा ज्ञानियोंका निश्चय है ॥३॥

जिसके आत्मामेसे क्षण-क्षणकी अस्थिरता और वैभाविक मोह दूर हो गये हैं, वही अनुभवी गुरु है ॥४॥

जिसकी बाह्य एव अभ्यतर परिग्रहकी ग्रंथियाँ छिन्न हो चुकी हैं और जो सरल दृष्टिसे देखते है, उसे परम पुरुष मानें ॥५॥

परिग्रह बाह्य ग्रंथि है और मिथ्यात्व अभ्यंतर ग्रंथि है। स्वभावसे प्रतिकूलता,—॥६॥

पुत्र संबधी दु ख न समझे, कीर्ति सबंधी दु.ख न समझे, भय सबधी दु ख न समझे, काया संबधी दु ख न समझे अथवा सबमे दु ख न समझे। मुझे दु ख अन्य प्रकारका है। वह दु ख वातका नही है, कफका नही है या पित्तका नही है, वह शरीरका नही है, वचनका नही है या मनका नही है। समझें तो सभीका है और न समझे तो एकका भी नही है। परतु मेरी विज्ञापना उसे न समझनेके लिये है, क्योकि इसमे कोई और मम निहित है। आप जरूर मानिये कि मै बिना किसी पागलपनके यह कलम चला रहा हूँ। मै राजचंद्र नामसे पहचाना जानेवाला, ववाणिया नामके छोटे गाँवका, लक्ष्मीमे साधारण परतु आर्य गिने जाते दशाश्रीमाली—वैश्यका पुत्र माना जाता हूँ। मैने इस देहमे मुख्य दो भव किये है, अमुख्यका हिसाब नही है। बचपनकी छोटी समझमे कौन जाने कहाँसे बडी-बडी कल्पनाएँ आया करती थी। सुखकी अभिलाषा भी कम न थी और सुखमे भी महालय, बागबगीचे, और लाडीवाडीके कुछ सुख माने थे। बड़ी कल्पना इसकी थी कि यह सब क्या है। इस कल्पनाका एक बार ऐसा परिणाम देखा कि—पुनर्जन्म भी नही है, पाप भी नही है, पुण्य भी नही है, सुखसे रहना और ससार भोगना, यही कृतकृत्यता है। परिणामस्वरूप दूसरी झझटमे न पडते हुए धर्मकी वासनाएँ निकाल डाली। किसी धर्मके लिये न्यूनाधिक भाव या श्रद्धाभाव नही रहा। कुछ समय बीतनेके बाद इसमेसे कुछ और ही हुआ। जिसके होनेकी मैने कोई कल्पना नही की थी तथा उसके लिये मेरा ऐसा कोई प्रयत्न न था कि जो मेरे ख्यालमे हो, फिर भी अचानक परिवर्तन हो गया, कोई और अनुभव हुआ, और यह अनुभव ऐसा था कि जो प्राय. न तो शास्त्रमे लिखा है और न जडवादियोकी कल्पनामे भी है। वह क्रमसे बढ़ा, बढकर अब एक 'तू ही', 'तू ही' का जाप करता है। अब यहाँ समाधान हो जायेगा। भूतकालमे न भोगे हुए अथवा भविष्य कालके भय आदिके दु खोमेसे कोई दु ख नही है। ऐसा अवश्य समझमे आयेगा। स्त्रीके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ खास करके मुझे नही रोक सकता। दूसरा कोई भी संसारी साधन मेरी प्रीतिका विषय नही बना, और किसी भयने बहुलतासे मुझे आक्रात नही किया। स्त्रीके संबंधमे मेरी अभिलाषा कुछ और है तथा वर्तन कुछ और है। एक पक्षने उसका कुछ काल तक सेवन करना सम्मत किया है। तथापि उसमे सामान्य प्रीति-अप्रीति है। परतु दु ख यह है कि अभिलाषा नही होने पर भी पूर्वकर्म क्यो घेरते है? इतनेसे पूरा नही होता, परन्तु उसके कारण अरुचिकर पदार्थोको देखना सूंघना और छूना पडता है, और इसी कारणसे प्रायः उपाधिमे रहना पडता है।

महारभ, महा परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ या ऐसा वैसा जगतमे कुछ भी नही है, ऐसा विस्मरणध्यान करनेसे परमानद रहता है। उसे उपर्युक्त कारणोसे देखना पडता है यह महाखेद है। अतरग चर्या भी कही प्रगट नही की जा सकती, ऐसे पात्र मेरे लिये दुर्लभ हो गये है, यही महा दु खकी बात है।

---

८३ वि सं १९४५

यहाँ कुशलता है। आपकी कुशलता चाहता हूँ। आज आपका जिज्ञासु पत्र मिला। उस जिज्ञासु पत्रके उत्तरमे जो पत्र भेजना चाहिये वह पत्र यह है —

इस पत्रमे गृहाश्रमसबधी अपने कुछ विचार आपके सामने रखता हूँ। इन्हे रखनेका हेतु मात्र इतना ही है कि किसी भी प्रकारके उत्तम क्रममे आपके जीवनका झुकाव हो, और उस क्रमका जबसे आरंभ होना चाहिये वह काल अभी आपके पास आया है, इसलिये उस क्रमको बतानेका उचित समय है, और बताये हुए क्रमके विचार अति सास्कारिक होनेसे पत्र द्वारा प्रगट हुए हैं। आपको और किसी भी आत्मोन्नति या प्रशस्त क्रमके इच्छुकको वे अवश्य अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसी मेरी मान्यता है।

तत्त्वज्ञानकी गहरी गुफाका दर्शन करने जायें तो वहाँ नेपथ्यमेसे ऐसी ध्वनि ही निकलेगी कि आप कौन हैं ? कहाँसे आये है ? क्यों आये है ? आपके पास यह सब क्या है ? आपको अपनी प्रतीति है ? आप विनाशी, अविनाशी अथवा कोई त्रिराशी है ? ऐसे अनेक प्रश्न उस ध्वनिसे हृदयमें प्रवेश करेंगे। और इन प्रश्नोंसे जब आत्मा घिर गया तब फिर दूसरे विचारोके लिये बहुत ही थोड़ा अवकाश रहेगा। यद्यपि इन विचारोसे ही अतमे सिद्धि है, इन्ही विचारोके विवेकसे जिस अव्याबाध सुखकी इच्छा है, उसकी प्राप्ति होती है, इन्ही विचारोके मननसे अनंतकालकी उलझन दूर होनेवाली है, तथापि ये सबके लिये नही है। वास्तविक दृष्टिसे देखनेपर उसे अंत तक पानेवाले पात्रोंकी न्यूनता बहुत है, काल बदल गया है; इस वस्तुका अधीरता अथवा अशौचतासे अत लेने जानेपर जहर निकलता है; और भाग्यहीन अपात्र दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होता है। इसलिये अमुक सन्तोंको अपवादरूप मानकर बाकीको उस क्रममें आनेके लिये उस गुफाका दर्शन करनेके लिये बहुत समय तक अभ्यासकी जरूरत है। कदाचित् उस गुफाके दर्शन करनेकी उसकी इच्छा न हो तो भी अपने इस भवके सुखके लिये भी जन्म और मरणके बीचके भागको किसी तरह बितानेके लिये भी इस अभ्यासकी अवश्य जरूरत है। यह कथन अनुभवसिद्ध है, बहुतोंको यह अनुभवमे आया है। बहुतसे आर्य पुरुष इसके लिये विचार कर गये हैं, उन्होंने इसपर अधिकाधिक मनन किया है। जिन्होने आत्माकी शोध करके, उसके अपार मार्गकी बहुतोंको प्राप्ति करानेके लिये, अनेक क्रम बाँधे है, वे महात्मा जयवान हो ! और उन्हे त्रिकाल नमस्कार हो !

हम थोडी देरके लिये तत्त्वज्ञानकी गुफाका विस्मरण करके आर्यों द्वारा उपदिष्ट अनेक क्रमोपर आनेके लिये परायण है, उस समयमे यह बता देना योग्य ही है कि जिसे पूर्ण आह्लादकर माना है और जिसे परमसुखकर, हितकर और हृदयमय माना है, वह वैसा है, अनुभवगम्य है, वह तो उसी गुफाका निवास है, और निरन्तर उसीकी अभिलाषा है। अभी कुछ उस अभिलाषाके पूर्ण होनेके चिह्न नही है; तो भी क्रमसे, इसमे इस लेखकका भी जय होगा ऐसी उसकी अवश्य शुभाकांक्षा है, और यह अनुभवगम्य भी है। अभीसे ही यदि योग्य रीतिसे उस क्रमकी प्राप्ति हो जाये, तो इस पत्रके लिखने जितनी देर करनेकी इच्छा नहीं है, परन्तु कालकी कठिनता है, भाग्यकी मदता है, सन्तोकी कृपादृष्टि दृष्टिगोचर नहीं है, सत्संगकी कमी है, वहाँ, कुछ ही—

तो भी उस क्रमका बीजारोपण हृदयमे अवश्य हो गया है, और यही सुखकर हुआ है। सृष्टिके राजसे जिस सुखके मिलनेकी आशा न थी, तथा किसी भी तरह चाहे जैसे औषधसे, साधनसे, स्त्रीसे, पुत्रसे, मित्रसे या दूसरे अनेक उपचारसे जो अतःशाति होनेवाली न थी, वह हुई है। निरतरकी—भविष्य कालकी—भीति चली गई है और एक साधारण उपजीवनमे प्रवृत्ति करता हुआ ऐसा आपका यह मित्र इसीको लेकर जीता है, नही तो जीनेमे अवश्य शका ही थी; विशेष क्या कहना ? यह भ्रम नही है, वहम नहीं है, अवश्य सत्य ही है। त्रिकालमे इस एक ही परम प्रिय और जीवनवस्तुकी प्राप्ति, उसका बीजारोपण क्यो और कैसे हुआ इस व्याख्याका प्रसंग यहाँ नही है, परन्तु अवश्य यही मुझे त्रिकाल मान्य हो। इतना ही कहनेका प्रसंग है। क्योकि लेखन समय बहुत थोड़ा है।

इस प्रियजीवनको सभी पा जाये, सभी इसके योग्य हो, सभीको यह प्रिय लगे, सभीको इसमे रुचि हो, ऐसा भूतकालमे हुआ नही है, वर्तमानकालमे होनेवाला नही है, और भविष्यकालमे भी होना असम्भव है; और इसी कारणसे इस जगतकी विचित्रता त्रिकाल है।

मनुष्यके सिवाय दूसरे प्राणीकी जाति देखते हैं तो उसमें तो इस वस्तुका विवेक मालूम नही होता; अब जो मनुष्य रहे, उन सब मनुष्योमे भी वैसा नही देख सकेंगे। [अपूर्ण]

---

२३ वाँ वर्ष

८४ वि० सं० १९४६

भाई, इतना तो तेरे लिये अवश्य करने योग्य है :—

१. देहमे विचार करनेवाला बैठा है वह देहसे भिन्न है ? वह सुखी है या दुःखी है ? यह याद कर ले।

२. दुःख लगेगा ही, और दुःखके कारण भी तुझे दृष्टिगोचर होंगे, फिर भी कदाचित् न हो त मेरे० किसी भागको पढ जा, इससे सिद्ध होगा। उसे दूर करनेका जो उपाय है वह इतना ही कि उससे बाह्याभ्यन्तररहित होना।

३. रहित हुआ जाता है, और ही दशाका अनुभव होता है, यह प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं।

४. उस साधनके लिये सर्वसंगपरित्यागी होनेकी आवश्यकता है। निर्ग्रन्थ सद्गुरुके चरणमे जाकर पड़ना योग्य है।

५. जैसे भावसे पड़ा जाये वैसे भावसे सर्वकाल रहनेका विचार पहले कर ले। यदि तुझे पूर्वकर्म बलवान लगते हों तो अत्यागी, देशत्यागी रहकर भी उस वस्तुको मत भुलाना।

६. प्रथम चाहे जैसे करके तू अपने जीवनको जान। जानना किसलिये ? भविष्यसमाधि होनेके लिये। अब अप्रमादी होना।

७ इस आयुका मानसिक आत्मोपयोग तो निर्वेदमें रख।

८ जीवन बहुत छोटा है, उपाधि बहुत है, और उसका त्याग नही हो सकता है, तो नीचेकी बातें पुनः पुनः ध्यानमे रख—

१ उस वस्तुकी अभिलाषा रखना।

२. ससारको बंधन मानना।

३. पूर्वकर्म नही है ऐसा मानकर प्रत्येक धर्मका सेवन किये जाना। फिर भी यदि पूर्वकर्म दुःख दे तो शोक नही करना।

४. देहकी जितनी चिन्ता रखता है उतनी नही परन्तु उससे अनन्तगुनी चिंता आत्माकी रख, क्योंकि अनन्त भवोंको एक भवमे दूर करना है।

५ न चले तो प्रतिश्रोती हो जा।

६. जिसमेंसे जितना हो उतना कर।

७. पारिणामिक विचारवाला हो जा।

८ अनुत्तरवासी होकर रह।

९. अंतिमको किसी भी समय न चूकियेगा। यही अनुरोध और यही धर्म।

---

८५ बम्बई, वि० सं० १९४६

समझकर अल्पभाषी होनेवालेको पश्चात्ताप करनेका अवसर कम ही सम्भव है।

हे नाथ ! सातवे तमतमप्रभा नरकको वेदना मिली होती तो शायद मान्य करता, परंतु जगतकी मोहिनी मान्य नहो होती।

पूर्वके अशुभकर्मके उदय आनेपर वेदन करते हुए शोक करते है तो अब यह भी ध्यान रखें कि नये कर्मोंको बाँधते हुए परिणाममे वैसे ही तो नही बँधते ?

आत्माको पहचानना हो तो आत्माका परिचयी होना और परवस्तुका त्यागी होना।

जो जितना अपना पौद्गलिक बड़प्पन चाहते है वे उतने ही हलके होने संभव है।

प्रशस्त पुरुषकी भक्ति करे, उसका स्मरण करे, गुणचिंतन करें।

---

८६ सं० १९४६

निःस्पृह महात्माओंको अभेदभावसे नमस्कार

[1]"जीवको परिभ्रमण करते हुए अनंतकाल हुआ, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नही होती, और वह क्या करनेसे हो ?" इस वाक्यमे अनेक अर्थ समाये हुए है। उनका विचार किये बिना या दृढ विश्वाससे व्यथित हुए बिना मार्गके अशका अल्प भान नही होता। दूसरे सब विकल्प दूर करके इस एक ऊपर लिखे हुए सत्पुरुषोंके वचनामृतका वारंवार विचार कर लें।

[2]संसारमे रहना और मोक्ष होना कहना यह होना असुलभ है।

मैत्री—सब जीवोके प्रति हितचिन्तन।

प्रमोद—गुणी जीवके प्रति उल्लासपरिणाम।

करुणा—कोई भी जीव जन्म-मरणसे मुक्त हो ऐसा प्रयत्न करना।

मध्यस्थता—निर्गुणी जीवके प्रति मध्यस्थता।

---

८७ बंबई, कार्तिक सुदी ७, गुरु, १९४६

'अष्टक' और 'योगबिंदु' नामकी दो पुस्तकें आपकी दृष्टिसे निकल जानेके लिये मै इसके साथ भेज रहा हूँ। 'योगबिंदु' का दूसरा पन्ना ढूंढनेपर मिल नही सका; तो भी बाकीका भाग समझा जा सकता है इसलिये यह पुस्तक भेज रहा हूँ। 'योगदृष्टिसमुच्चय' बादमे भेजूँगा। परमतत्त्वको सामान्य ज्ञानमे प्रस्तुत करनेकी हरिभद्राचार्यकी चमत्कृति स्तुत्य है। किसी स्थलमे खडन-मंडनका भाग सापेक्ष होगा, उस ओर आपकी दृष्टि नही होनेसे मुझे आनन्द है।

अथसे इति तक अवलोकन करनेका समय निकालनेसे मेरे पर एक कृपा होगी। (जैनदर्शन ही मोक्षका अखण्ड उपदेश करनेवाला और वास्तविक तत्त्वमे श्रद्धा रखनेवाला दर्शन है। फिर भी कोई 'नास्तिक' के उपनामसे उसका पहले खण्डन कर गये हैं, यह यथार्थ नही हुआ, यह बात इस पुस्तकके पढ़नेसे प्राय आपकी दृष्टिमे आ जायेगी।)

मैं आपको जैनसम्बन्धी कुछ भी अपना आग्रह नही बताता। और आत्मा जिस रूपमे हो उस रूपमें चाहे जिससे हो जाये इसके सिवाय दूसरी कोई मेरी अंतरंग अभिलाषा नही है, ऐसा कुछ कारणसे कहकर,

१. देखें आक १९५। २. देखें आक १५३ मे भी यह वाक्य है।

जैन भी एक पवित्र दर्शन है ऐसा कहनेकी आज्ञा लेता हूँ। यह मात्र यों समझकर कहता हूँ कि जो वस्तु जिस रूपमे स्वानुभवमें आयी हो उसे उस रूपमे कहना चाहिये।

सभी सत्पुरुष मात्र एक ही मार्गसे तरे है, और वह मार्ग वास्तविक आत्मज्ञान और उसकी अनुचारिणी देहस्थितिपर्यंत सत्क्रिया या रागद्वेष और मोहसे रहित दशा होनेसे वह तत्त्व उन्हे प्राप्त हुआ हो ऐसा मेरा निजी मत है।

आत्मा ऐसा लिखनेके लिये अभिलाषी था, इसलिये लिखा है। इसकी न्यूनाधिकता क्षमापात्र है।

वि० रायचंदके विनयपूर्वक प्रणाम।

---

८८ बबई, कार्तिक, १९४६

(१)

यह पूरा कागज है, यह [1]सर्वव्यापक चेतन है। उसके कितने भागमे माया समझनी? जहाँ जहाँ वह माया हो वहाँ-वहाँ चेतनको बंध समझना या नही? उसमे भिन्न-भिन्न जीव किस तरह मानने? और उन जीवोको बध किस तरह मानना? और उस बधकी निवृत्ति किस तरह माननी? उस बंधकी निवृत्ति होनेपर चेतनका कौनसा भाग मायारहित हुआ माना जाये? जिस जिस भागमेसे पूर्वमे मुक्त हुए हो उस उस भागको निरावरण समझना अथवा किस तरह? और एक जगह निरावरणता, तथा दूसरी जगह आवरण, तीसरी जगह निरावरण ऐसा हो सकता है या नहीं? इसका चित्र बनाकर विचार करे।

सर्वव्यापक आत्मा :—

इस तरह तो यह घटित नही होता।

---

१. 'मानो कि' अध्याहार।
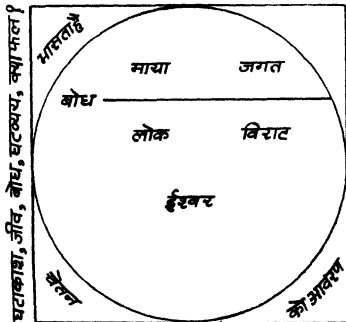
(२)

प्रकाशस्वरूप धाम
उसमें अनंत अप्रकाश भासमान अंतःकरण।
इससे क्या होता है ?
जहाँ जहाँ वे अंतःकरण व्याप्त हो वहाँ वहाँ माया भासमान हो, आत्मा असंग होनेपर भी सगवान मालूम हो, अकर्ता होनेपर भी कर्ता मालूम हो, इत्यादि विपरीतताएँ होती है।
इससे क्या होता है ?
आत्माको बंधकी कल्पना होती है उसका क्या करना ?
अंतःकरणका सम्बन्ध दूर करनेके लिये उससे अपनी भिन्नता समझनी।
भिन्नता समझनेसे क्या होता है ?
आत्मा स्वस्वरूपमे अवस्थित रहता है।
एकदेश निरावरण होता है या सर्वदेश निरावरण होता है ?

---

८९ बंबई, कार्तिक सुदी १५,१९४६

समुच्चयवयचर्या

सम्वत् १९२४ की कार्तिक सुदी १५, रविवारको मेरा जन्म होनेसे आज मुझे सामान्य गणनासे बाईस वर्ष पूरे हुए। बाईस वर्षकी अल्प वयमे मैंने अनेक रग आत्माके सम्बन्धमे, मनके सम्बन्धमे, वचनके सम्बन्धमे, तनके सम्बन्धमे और धनके सम्बन्धमे देखे हैं। नाना प्रकारकी सृष्टिरचना, नाना प्रकारकी सासारिक तरंगें, अनंत दु.खमूल, इन सबका अनेक प्रकारसे मुझे अनुभव हुआ है। समर्थ तत्त्वज्ञानियोंने और समर्थ नास्तिकोंने जो जो विचार किये हैं उस प्रकारके अनेक विचार इस अल्प वयमे मैंने किये है। महान चक्रवर्ती द्वारा किये गये तृष्णाके विचार और एक निःस्पृही महात्मा द्वारा किये गये नि स्पृहताके विचार मैंने किये है। अमरत्वकी सिद्धि और क्षणिकत्वकी सिद्धिका खूब विचार किया है। अल्प वयमें महान विचार कर डाले हैं। महान विचित्रताकी प्राप्ति हुई है। यह सब बहुत गम्भीर भावसे आज मैं दृष्टि डालकर देखता हूँ तो पहलेकी मेरी उगती हुई विचारश्रेणि, आत्मदशा और आजकी, दोनोमे आकाश-पातालका अंतर है; उसका सिरा और इसका सिरा किसी कालमे मानो मिलाया मिले वैसा नही है। परन्तु आप सोचेंगे कि इतनी सारी विचित्रताका किसी स्थलपर कुछ लेखन—चित्रण किया है या नही ? तो इस विषयमे इतना ही कह सकूँगा कि लेखन—चित्रण सब स्मृतिके चित्रपट पर है। किन्तु पत्र-लेखनीका समागम करके जगतमे दर्शानेका प्रयत्न नही किया है। यद्यपि मैं ऐसा समझ सकता हूँ कि वह वयचर्या जनसमूहके लिये बहुत उपयोगी, पुनः पुन मनन करने योग्य तथा परिणाममे उनकी ओरसे मुझे श्रेयकी प्राप्ति हो वैसी है; परन्तु मेरी स्मृतिने वह परिश्रम उठानेकी मुझे स्पष्ट ना कही थी, इसलिये निरुपायतासे क्षमा माँग लेता हूँ। पारिणामिक विचारसे उस स्मृतिकी इच्छाको दबाकर उसी स्मृतिको समझाकर, वह वयचर्या धीरे धीरे संभव हुआ तो अवश्य धवल-पत्रपर रखूँगा, तो भी समुच्चयवयचर्याको याद कर जाता हूँ :—

सात वर्ष तक बालवयकी खेलकूदका अत्यंत सेवन किया था। उस समयकी मुझे इतनी तो याद आती है कि विचित्र कल्पना—कल्पनाका स्वरूप या हेतु समझे बिना—मेरे आत्मामे हुआ करती थी। खेलकूदमें भी विजय पानेकी और राजेश्वर जैसी उच्च पदवी प्राप्त करनेकी परम अभिलाषा थी। वस्त्र पहनेकी, स्वच्छ रखनेकी, खाने-पीनेकी, सोने-बैठनेकी, सारी विदेही दशा थी; फिर भी अतःकरण कोमल

था। वह दशा आज भी बहुत याद आती है। आजका विवेकी ज्ञान उस वयमे होता तो मुझे मोक्षके लिये विशेष अभिलाषा न रहती। ऐसी निरपराध दशा होनेसे पुन पुनः वह याद आती है।

सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका समय शिक्षा लेनेमे बीता। आज मेरी स्मृतिको जितनी ख्याति प्राप्त है, उतनी ख्याति प्राप्त होनेसे वह किंचित् अपराधी हुई है, परन्तु उस समय निरपराध स्मृति होनेसे एक ही बार पाठका अवलोकन करना पडता था, फिर भी ख्यातिका हेतु न था, अत उपाधि बहुत कम थी। स्मृति ऐसी बलवत्तर थी कि वैसी स्मृति बहुत हो थोडे मनुष्योमे इस कालमे, इस क्षेत्रमे होगी। पढ़नेमे प्रमादी बहुत था। बातोमे कुशल, खेलकूदमे रुचिवान और आनंदी था। जिस समय शिक्षक पाठ पढ़ाता, मात्र उसी समय पढकर उसका भावार्थ कह देता। इस ओरकी निश्चितता थी। उस समय मुझमे प्रीति—सरल वात्सल्यता—बहुत थी, सबसे ऐक्य चाहता, सबमे भ्रातृभाव हो तभी सुख, इसका मुझे स्वाभाविक ज्ञान था। लोगोमे किसी भी प्रकारसे जुदाईके अकुर देखता कि मेरा अतःकरण रो पडता। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आदत थी। आठवे वर्षमे मैने कविता की थी, जो बादमे जाँचनेपर समाप थी।

अभ्यास इतनी त्वरासे कर सका था कि जिस व्यक्तिने मुझे प्रथम पुस्तकका बोध देना आरम्भ किया था उसीको गुजराती शिक्षण भली भाँति प्राप्त कर उसी पुस्तकका पुन. मैने बोध किया था। तब कितने ही काव्यग्रन्थ मैने पढे थे। तथा अनेक प्रकारके इधर-उधरके छोटे-मोटे बोधग्रन्थ मैने देखे थे; जो प्राय. अभी तक स्मृतिमे विद्यमान है। तब तक मुझसे स्वाभाविकरूपसे भद्रिकताका ही सेवन हुआ था। मै मनुष्यजातिका बहुत विश्वासी था। स्वाभाविक सृष्टिरचनापर मुझे बहुत प्रीति थी।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति करते थे। उनसे उस वयमे कृष्णकीर्तनके पद मैने सुने थे; तथा भिन्न-भिन्न अवतारोंके सम्बन्धमे चमत्कार सुने थे, जिससे मुझे भक्तिके साथ-साथ उन अवतारोमे प्रीति हो गयी थी, और रामदासजी नामके साधुके पास मैंने बाललीलामे कंठी बँधवाई थी। नित्य कृष्णके दर्शन करने जाता; समय समयपर कथाएँ सुनता, बार-बार अवतारो सम्बन्धी चमत्कारोमे मै मुग्ध होता और उन्हे परमात्मा मानता, जिससे उनके रहनेका स्थान देखनेकी परम अभिलाषा थी। उनके सम्प्रदायके महत होवें, जगह-जगहपर चमत्कारसे हरिकथा करते होवें और त्यागी होवें तो कितना आनन्द आये ? यही कल्पना हुआ करती, तथा कोई वैभवी भूमिका देखता कि समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा होती। 'प्रवीणसागर' नामका ग्रन्थ उस अरसेमे मैने पढा था, उसे अधिक समझा नही था; फिर भी स्त्रीसम्बन्धी नाना प्रकारके सुखोमे लीन होवे और निरुपाधिरूपसे कथाकथन श्रवण करते होवें तो कैसी आनंददायक दशा, यह मेरी तृष्णा थी। गुजराती भाषाकी वाचनमालामे जगतकर्त्तासम्बन्धी कितने ही स्थलोमे उपदेश किया है वह मुझे दृढ हो गया था, जिससे जैन लोगोके प्रति मुझे बहुत जुगुप्सा आती थी; बिना बनाये कोई पदार्थ नही बन सकता, इसलिये जैन लोग मूर्ख है, उन्हे कुछ मालूम नही है। तथा उस समय प्रतिमाके अश्रद्धालु लोगोकी क्रियाएँ मेरे देखनेमे आती थी, जिससे वे क्रियाएँ मलिन लगनेसे मैं उनसे डरता था अर्थात् वे मुझे प्रि न थी।

जन्मभूमिमे जितने वणिक रहते हैं, उन सबकी कुलश्रद्धा भिन्न भिन्न होनेपर भी कुछ प्रतिमाके अश्रद्धालु जैसी ही थी, इससे मुझे उन लोगोका ही ससर्ग था। लोग मुझे पहलेसे ही समर्थ शक्तिशाली और गाँवका नामाकित विद्यार्थी मानते थे, इसलिये मै अपनी प्रशसाके कारण जानबूझकर वैसे मडलमे बैठकर अपनी चपलशक्ति दर्शानेका प्रयत्न करता। कंठीके लिये बारबार वे मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, फिर भी मैं उनसे वाद करता और उन्हे समझानेका प्रयत्न करता। परन्तु धीरे-धीरे मुझे उनके प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढ़नेके लिये मिली; उनमे बहुत विनयपूर्वक जगतके सब जीवोसे मित्रता चाही है अतः मेरी

प्रीति इसमें भी हुई और उसमें भी रही। धीरे-धीरे यह प्रसंग बढ़ा। फिर भी स्वच्छ रहनेके तथा दूसरे आचारविचार मुझे वैष्णवोंके प्रिय थे और जगनकर्त्ताकी श्रद्धा थी। उस अरसेमे कंठी टूट गई, इसलिये उसे फिरसे मैंने नही बाँधा। उस समय बाँधने, न बाँधनेका कोई कारण मैंने ढूंढा न था। यह मेरी तेरह वर्षकी वयचर्या है। फिर मैं अपने पिताकी दूकानपर बैठता और अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छदरबारके उतारेपर मुझे लिखनेके लिये बुलाते तब मै वहाँ जाता। दूकानपर मैंने नाना प्रकारकी लीलालहर की है, अनेक पुस्तकें पढी हैं; राम इत्यादिके चरित्रोपर कविताएँ रची हैं, सासारिक तृष्णाएँ की है; फिर भी किसी को मैंने न्यूनाधिक दाम नही कहा या किसीको न्यून-अधिक तौल कर नही दिया, यह मुझे निश्चित याद है।

---

९० बंबई, कार्तिक, १९४६

दो भेदोमे विभक्त धर्मको तीर्थंकरने दो प्रकारका कहा है—

१. सर्वसंगपरित्यागी।

२ देशपरित्यागी।

सर्व परित्यागी :—

भाव और द्रव्य।

उसका अधिकारी।

पात्र, क्षेत्र, काल, भाव।

पात्र –

वैराग्य आदि लक्षण, त्यागका कारण और पारिणामिक भावकी ओर देखना।

क्षेत्र—

उस पुरुषकी जन्मभूमि, त्यागभूमि ये दो।

काल—

अधिकारीकी वय, मुख्य वर्तमान काल।

भाव—

विनय आदि, उसकी योग्यता, शक्ति।

गुरु उसे प्रथम क्या उपदेश करे ?

'दशवैकालिक', 'आचाराग' इत्यादि सम्बन्धी विचार,

उसके नवदीक्षित होनेके कारण उसे स्वतंत्र विहार करने देनेकी आज्ञा इत्यादि।

नित्यचर्या।

वर्ष कल्प।

अतिम अवस्था।

(तत्सम्बन्धी परम आवश्यकता है।)

देशत्यागी :—

आवश्यक क्रिया।

नित्य कल्प।

भक्ति।

अणुव्रत।

दान-शील-तप-भावका स्वरूप।

ज्ञानके लिये उसका अधिकार।

(तत्सबंधी परम आवश्यकता है।)

ज्ञानका उद्धार :—

श्रुत ज्ञानका उदय करना चाहिये ।
योगसम्बन्धी ग्रन्थ ।
त्यागसम्बन्धी ग्रन्थ ।
प्रक्रियासम्बन्धो ग्रन्थ ।
अध्यात्मसम्बन्धी ग्रन्थ ।
धर्मसम्बन्धी ग्रन्थ ।
उपदेश ग्रन्थ ।
आख्यान ग्रन्थ ।
द्रव्यानुयोगी ग्रन्थ ।

(इत्यादि विभाग करने चाहिये ।)

उसका क्रम और उदय करना चाहिये ।
निर्ग्रंथधर्म ।

आचार्य ।	गच्छ ।
उपाध्याय ।	प्रवचन ।
मनि ।	द्रव्यलिंगी ।
गृहस्थ ।	अन्य दर्शन सम्बन्ध ।

(इन सबकी योजना करनी चाहिये ।)

मतमतांतर ।	मार्गकी शैली ।
उसका स्वरूप ।	जीवनका बिताना ।
उसको समझाना ।	उद्योत ।
	(यह विचारणा ।)

---

९१ बंबई , कार्तिक, १९४६

वह पवित्र दर्शन होनेके बाद चाहे जैसा वर्तन हो, परन्तु उसे तीव्र बंधन नही है, अनन्त ससार नही है, सोलह भव नही है, अभ्यतर दुःख नही है, शंकाका निमित्त नही है, अंतरग मोहिनी नही है सत् सत् निरुपम, सर्वोत्तम, शुक्ल, शीतल, अमृतमय दर्शनज्ञान, सम्यक् ज्योतिर्मय, चिरकाल आनन्दकी प्राप्ति, अद्भुत सत्स्वरूपदर्शिताकी बलिहारी है !

जहाँ मतभेद नही है, जहाँ शंका, कंखा, वितिगिच्छा, मूढदृष्टि इनमेंसे कुछ भी नही है । जो है उसे कलम लिख नही सकती, वचन कह नही सकता, और मन जिसका मनन नही कर सकता ।

है वह ।

---

९२ बंबई, कार्तिक, १९४६

सब दर्शनोसे उच्च गति है । परंतु ज्ञानियोंने मोक्षका मार्ग उन शब्दोंमे स्पष्ट नही बताया है, गौणतासे रखा है । उस गौणताका सर्वोत्तम तत्त्व यह मालूम होता है :—

निश्चय, निर्ग्रंथ ज्ञानी गुरुकी प्राप्ति, उसकी आज्ञाका आराधन, सदैव उसके पास रहना, अथवा सत्संगकी प्राप्तिमे रहना, आत्मदर्शिता तब प्राप्त होगी ।

---

९३ बंबई,, कार्तिक, १९४६

नवपदके ध्यानियोंकी वृद्धि करनेकी मेरी अभिलाषा है।

---

९४ बंबई, मगसिर सुदी ९, रवि, १९४६

सुज्ञश्री,

आपने मेरे विषयमे जो जा प्रशंसा प्रदर्शित की है, उस सबपर मैंने बहुत मनन किया है। वैसे गुण प्रकाशित हों ऐसी प्रवृत्ति करनेकी अभिलाषा है। परंतु वैसे गुण कुछ मुझमे प्रकाशित हुए हों, ऐसा मुझे नही लगता। मात्र रुचि उत्पन्न हुई है, ऐसा मानें तो माना जा सकता है। हम यथासंभव एक ही पदके इच्छुक होकर प्रयत्नशील होते है, वह यह कि "बँधे हुओको छुडाना।" यह बधन जिससे छूटे उससे छोड़ लेना, यह सर्वमान्य है। वि० रायचंदके प्रणाम।

---

९५ बंबई, पौष, १९४६

इस प्रकारसे तेरा समागम मुझे किसलिये हुआ? कहाँ तेरा गुप्त रहना हुआ था?

सर्वगुणांश सम्यक्त्व है।

---

९६ बंबई, पौष सुदी ३, बुध, १९४६

कोई ऐसा योजक पुरुष (होना चाहे तो) धर्म, अर्थ, कामकी एकत्रता प्रायः एक पद्धति—एक समुदायमे, कितने ही उत्कृष्ट साधनोसे, साधारण श्रेणिमे लानेका प्रयत्न करे, और वह प्रयत्न अनासक्त भावसे—

१ धर्मका प्रथम साधन।

२ फिर अर्थका साधन।

३ कामका साधन।

४. मोक्षका साधन।

---

९७ बंबई, पौष सुदी ३, १९४६

सत्पुरुषोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेका उपदेश दिया है। ये चार पुरुषार्थ नीचेके दो प्रकारसे समझमे आये है—

१. वस्तुके स्वभावको धर्म कहा गया है।

२ जडचैतन्यसम्बन्धी विचारोंको अर्थ कहा है।

३. चित्तनिरोधको काम कहा है।

४. सर्व बंधनसे मुक्त होना मोक्ष है।

इस प्रकार सर्वसंगपरित्यागीकी अपेक्षासे घटित हो सकता है। सामान्यतः निम्न प्रकारसे है :—

धर्म—जो संसारमे अधोगतिमें गिरनेसे रोककर धारण कर रखता है वह धर्म है।

अर्थ—वैभव, लक्ष्मी, उपजीवनमे सासारिक साधन।

काम—नियमितरूपसे स्त्री-सहवास करना काम है।

मोक्ष—सब बन्धनोंसे मुक्ति मोक्ष है।

'धर्म' को पहले रखनेका हेतु इतना ही है कि 'अर्थ' और 'काम' ऐसे होने चाहिये कि जिनका मूल 'धर्म' हो।

इसीलिये 'अर्थ' और 'काम' बादमे रखे गये हैं।

गृहस्थाश्रमी सर्वथा धर्मसाधन करना चाहे तो वैसा नही हो सकता, सर्वसंगपरित्याग ही चाहिये। गृहस्थके लिये भिक्षा आदि कृत्य योग्य नही है।

और गृहस्थाश्रम यदि— [अपूर्ण]

---

९८ बंबई, पौष वदी ९, मंगल, १९४६

आपका पत्र आज मिला, समाचार विदित हुए।

किसी प्रकारसे उसमे शोक करने जैसा कुछ नही है। आप शरीरसे सुखी हो ऐसा चाहता हूँ। आपका आत्मा सद्भावको प्राप्त हो यही प्रार्थना है।

मेरा आरोग्य अच्छा है। मुझे समाधिभाव प्रशस्त रहता है। इसके लिये भी निश्चित रहियेगा।

एक वीतरागदेवमे वृत्ति रखकर प्रवृत्ति करते रहियेगा।

आपका शुभचितक रायचंद्र।

---

९९ बबई, पौष, १९४६

आर्य ग्रन्थकर्ताओ द्वारा उपदिष्ट चार आश्रम जिस कालमे देशकी विभूषाके रूपके प्रचलित थे उस कालको धन्य है!

चार आश्रमोका अनुक्रम यह है—पहला ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरा गृहस्थाश्रम, तीसरा वानप्रस्थाश्रम और चौथा सन्यासाश्रम। परतु आश्चर्यके साथ यह कहना पड़ता है कि यदि जीवनका ऐसा अनुक्रम हो तो वे भोगनेमे आवे। कुल मिलाकर सौ वर्षको आयुवाला व्यक्ति वैसे ही ढंगसे चलता आये तो वह आश्रमोका उपभोग कर सकता है। प्राचीनकालमे अकालिक मौते कम होती होगी ऐसा इस आश्रम-व्यवस्थासे प्रतीत होता है।

---

१०० बंबई, पौष, १९४६

प्राचीनकालमे आर्यभूमिमे चार आश्रम प्रचलित थे, अर्थात् आश्रमधर्म मुख्यत चलता था। परमर्षि नाभिपुत्रने भारतमे निर्ग्रंथधर्मको जन्म देनेसे पहले उस कालके लोगोको व्यवहारधर्मका उपदेश इसी आशयसे किया था। उन लोगोका व्यवहार कल्पवृक्षसे मनोवाछित पदार्थ मिलनेसे चलता था, जो अब क्षीण होता जाता था। उनमे भद्रता और व्यवहारकी भी अज्ञानता होनेसे, कल्पवृक्षकी सम्पूर्ण क्षीणताके समय वे बहुत दु:ख पायेंगे, ऐसा अपूर्वज्ञानी ऋषभदेवजीने देखा। प्रभुने अपनी परम करुणादृष्टिसे उनके व्यवहारकी क्रममालिका बना दी।

जब भगवान तीर्थंकररूपमे विहार करते थे, तब उनके पुत्र भरतने व्यवहारशुद्धि होनेके लिये, उनके उपदेशका अनुसरण कर, तत्कालीन विद्वानोसे चार वेदोकी योजना करायी और उसमे चार आश्रमधर्म और चार वर्णका नीतिरीतिका समावेश किया। भगवानने परम करुणासे जिन लोगोको भविष्यमे धर्मप्राप्ति होनेके लिये व्यवहारशिक्षा और व्यवहारधर्म बताया था, उन्हे भरतजीके इस कार्यसे परम सुगमता हो गयी।

इसपरसे चार वेद, चार आश्रम, चार वर्ण और चार पुरुषार्थके सम्बन्धमे यहाँ कुछ विचार करनेकी इच्छा है, उसमे भी मुख्यत. चार आश्रम और चार पुरुषार्थके सम्बन्धमे विचार करेंगे, और अतमें हेयोपादेयके विचारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको देखेंगे।

चार वेद, जिनमे आर्यगृहधर्मका मुख्य उपदेश था, वे इस प्रकार थे।

---

१०१ बंबई, पौष, १९४६

'जो मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंकी प्राप्ति कर सकना चाहते हो, उनके विचारमे सहायक होना' इस वाक्यमे इस पत्रको जन्म देनेका सब प्रकारका प्रयोजन बता दिया है। उसे कुछ प्रेरणा देना योग्य है।

इस जगतमे विचित्र प्रकारके देहधारी है, और प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाणसे यो सिद्ध हो सका है, कि उनमे मनुष्यरूपमे प्रवर्तमान देहधारी आत्मा इन चारो वर्गोंको सिद्ध कर सकनेके लिये विशेष योग्य है। मनुष्यजातिमे जितने आत्मा है उतने सब कही एकसी वृत्तिके, एकसे विचारके या समान जिज्ञासा और इच्छावाले नही हैं, ऐसा हम प्रत्यक्ष देख सकते है। प्रत्येकको सूक्ष्मदृष्टिसे देखते हुए वृत्ति, विचार और इच्छाकी इतनी अधिक विचित्रता लगती है कि आश्चर्य होता है। इस आश्चर्यका बहुत प्रकारसे अवलोकन करनेसे यह फलित होता है कि सर्व प्राणियोंकी अपवादके बिना सुख प्राप्त करनेकी जो इच्छा है वह अधिकाश मनुष्यदेहमे सिद्ध हो सकती है, ऐसा होनेपर भी वे सुखके बदले दुःख ले लेते है; यह मात्र मोह-दृष्टिसे हुआ है।

१०२

ॐ ध्यान

दुरत तथा सारवर्जित इस अनादि ससारमे गुणसहित मनुष्यजन्म जीवको दुष्प्राप्य अर्थात् दुर्लभ है।

हे आत्मन्! तूने यदि यह मनुष्यजन्म काकतालीय न्यायसे प्राप्त किया है, तो तुझे अपनेमे अपना निश्चय करके अपना कर्तव्य सफल करना चाहिये। इस मनुष्य जन्मके सिवाय अन्य किसी भी जन्ममे अपने स्वरूपका निश्चय नही होता। इसीलिये यह उपदेश है।

अनेक विद्वानोंने पुरुषार्थ करनेको इस मनुष्यजन्मका फल कहा है। यह पुरुषार्थ धर्म आदि के भेदसे चार प्रकारका है। प्राचीन महर्षियोने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यो चार प्रकारका पुरुषार्थ कहा है। इन पुरुषार्थोमे पहले तीन पुरुषार्थ नाशसहित और ससाररोगसे दूषित है ऐसा जानकर तत्त्वज्ञ ज्ञानीपुरुष अंतके परमपुरुषार्थ अर्थात् मोक्षका साधन करनेमे ही यत्न करते है। कारण कि मोक्ष नाशरहित अविनाशी है।

प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप समस्त कर्मोंके सम्बन्धके सर्वथा नाशरूप लक्षणवाला तथा जो ससारका प्रतिपक्षी है वह मोक्ष है। यह व्यतिरेक प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप है। दर्शन और वीर्यादि गुणसहित तथा ससारके क्लेशोंसे रहित चिदानदमयी आत्यतिक अवस्थाको साक्षात् मोक्ष कहा है। यह अन्वय प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप कहा है।

जिसमे अतीन्द्रिय, इंद्रियोंसे अतिक्रांत, विषयोसे अतीत, उपमारहित और स्वाभाविक विच्छेद रहित पारमार्थिक सुख हो उसे मोक्ष कहा जाता है। जिसमे यह आत्मा निर्मल, शरीररहित, क्षोभरहित, शात-स्वरूप, निष्पन्न (सिद्धरूप), अत्यंत अविनाशी सुखरूप, कृतकृत्य तथा समीचीन सम्यग्ज्ञान स्वरूप हो जाता है उस पदको मोक्ष कहते हैं।

धीर वीर पुरुष इस अनन्त प्रभाववाले मोक्षरूप कार्यके निमित्त समस्त प्रकारके भ्रमोंको छोडकर, कर्मबधके नाश करनेके कारणरूप तपको अंगीकार करते हैं।

श्री जिन सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको मुक्तिका कारण कहते है। अतएव जो मुक्तिकी इच्छा करते हैं वे सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको ही मोक्षका साधन कहते है।

मोक्षके साधन जो सम्यक्दर्शन आदि है उनमे 'ध्यान' गर्भित है। इसलिये ध्यानका उपदेश अब प्रकट करते हुए कहते है—"हे आत्मन्! तू ससारदुःखके विनाशके लिये ज्ञानरूपी सुधारसको पी और संसारसमुद्रको पार करनेके लिये ध्यानरूप जहाजका अवलबन कर। [अपूर्ण]

---

१०३ बंबई, माघ, १९४६

कुटुम्बरूपी काजलकी कोठरीमे रहनेसे संसार बढता है। चाहे जितना उसका सुधार करें; तो भी एकान्तवाससे जितना ससार क्षय होनेवाला है उसका सौवाँ हिस्सा भी उस काजलगृहमे रहनेसे नही होनेवाला है। वह कषायका निमित्त है, मोहके रहनेका अनादिकालीन पर्वत है। वह प्रत्येक अंतर गुफामे जाज्वल्यमान है। सुधार करते हुए कदाचित् श्राद्धोत्पत्ति[1] होना सभव है, इसलिये वहाँ अल्पभाषी होना, अल्पहासी होना, अल्प परिचयी होना, अल्पसत्कारी होना, अल्पभावना बताना, अल्प सहचारी होना, अल्पगुरु होना, परिणामका विचार करना, यही श्रेयस्कर है।

---

१०४ बबई, माघ वदी २, शुक्र, १९४६

आपका पत्र कल मिला। खम्भातवाले भाई मेरे पास आते है। मै उनकी यथाशक्ति उपासना करता हूँ। वे किसी तरह मताग्रही हो ऐसा अभी तक उन्होने मुझे नही दिखलाया है। जीव धर्मजिज्ञासु मालूम होते है। सत्य केवलीगम्य।

आपका आरोग्य चाहता हूँ। आपकी जिज्ञासाके लिये मै निरुपाय हूँ। व्यवहारक्रमको तोडकर मैं कुछ भी नही लिख सकता यह आपको अनुभव है, तो अब क्यो पुछवाते हो?

आपकी आत्मचर्या शुद्ध रहे ऐसी प्रवृत्ति करें।

जिनेन्द्रके कहे हुए पदार्थ यथार्थ ही है। अभी यही विज्ञापन।

---

१०५ बंबई, फागुन सुदी ६, १९४६

महावीरके बोधका पात्र कौन?

१. सत्पुरुषके चरणोका इच्छुक,
२ सदैव सूक्ष्म बोधका अभिलाषी,
३ गुणपर प्रशस्त भाव रखनेवाला,
४ ब्रह्मव्रतमे प्रीतिमान,
५ जब स्वदोष देखे तब उसे दूर करनेका उपयोग रखनेवाला,
६ एक पल भी उपयोगपूर्वक बितानेवाला,
७. एकातवासकी प्रशसा करनेवाला,
८. तीर्थादि प्रवासका उमंगी,
९ आहार, विहार और निहारका नियम रखनेवाला,
१० अपनी गुरुताको छिपानेवाला,

ऐसा कोई भी पुरुष महावीरके बोधका पात्र है, सम्यग्दशाका पात्र है। पहले जैसा एक भी नही है।

---

१. 'श्राद्ध' अर्थात् श्रावक धर्म और 'उत्पत्ति' अर्थात् प्रगटता।

१०६ बंबई, फागुन सुदी ८, १९४६

सुज्ञ भाईश्री,

आपके दोनों पत्र मिले थे। आपने पत्रके लिये तृषा प्रदर्शित की उसे समय निकालकर लिख सकूंगा। व्यवहारोपाधि चल रही है। रचनाकी विचित्रता सम्यग्ज्ञानका उपदेश करनेवाली है।

त्रिभोवन यहाँसे सोमवारको रवाना होनेवाले थे। आपको मिलने आ सके होंगे। आप, वे और दूसरे आपके मडलके साथी धर्मकी इच्छा रखते है। यह यदि सबकी अतरात्माकी इच्छा होगी तो परम कल्याणरूप है। मुझे आपकी धर्म-अभिलाषाका औचित्य देखकर संतोष होता है।

जनसमूहकी अपेक्षासे यह बहुत ही निकृष्ट काल है। अधिक क्या कहना?

एक अंतरात्मा ज्ञानी साक्षी है। वि॰ रायचदके प्रणाम—आपको और उन्हे।

---

१०७ बबई, फागुन वदी १, १९४६

१. लोक पुरुषसंस्थाने कह्यो, एनो भेद तमे कई लह्यो?
एनु कारण समज्या काई, के समजाव्यानी चतुराई? ॥१॥
शरीर परथी ए उपदेश, ज्ञान दर्शने के उद्देश।
जेम जणावो सुणीए तेम, का तो लईए दईए क्षेम ॥२॥

---

२. शु करवाथी पोते सुखी? शु करवाथी पोते दु.खी?
पोते शु? क्याथी छे आप? एनो मागो शीघ्र जवाप ॥१॥

३. ज्या शंका त्यां गण संताप, ज्ञान तहा शंका नहि स्थाप।
प्रभुभक्ति त्यां उत्तम ज्ञान, प्रभु मेळववा गुरु भगवान ॥१॥
गुरु ओळखवा घट वैराग्य, ते ऊपजवा पूर्वित भाग्य।
तेम नहीं तो कई सत्संग, तेम नहीं तो कई दु:खरंग ॥२॥

---

१ भावार्थ—कमरपर दोनो हाथोको रखकर और पाँवोको फैलाकर खडे हुए पुरुषके आकारके समान लोकका स्वरूप बताया है। क्या आपने इसके रहस्यको समझा है? इसके कारणको आपने समझा है? अथवा तो उपमा द्वारा उसे समझानेकी चतुराई दिखाई है क्या? ॥१॥ 'पिडे सो ब्रह्माडे' की उक्ति यहाँ लागू होती है। 'पुरुष' अर्थात् मनुष्य शरीरपरसे लोकस्वरूपका बोध कराना है कि पुरुष अर्थात् आत्मा, जिसमे आत्माके ज्ञान-दर्शन गुण आत्माकार है, जिनमे लोकस्वरूप प्रतिभासित होता है, इसलिये अध्यात्मदृष्टिसे लोकको पुरुषाकार कहा है? इस तरह दोनो प्रकारसे जो प्रश्न होता है उसका समाधान आपको कुछ समझमे आता है? इस विषयमे विचार करनेसे आपने जो समझा हो वह कहे तो सुने और हमने जो कुछ समझा है उसे हम कहे। इस तरह परस्पर विचार-विनिमयसे आत्मकल्याण एव सुखशातिका आदानप्रदान करे ॥२॥

२ भावार्थ—क्या करनेसे हम सुखी है? क्या करनेसे हम दु खी है? हम कौन हैं? हम कहाँसे आये है? इत्यादि प्रश्न अतरमे खडे होते है। इनके यथार्थ उत्तर शीघ्र माँगे ॥१॥

३. भावार्थ—जहाँ शका है वहाँ सताप समझे, और जहाँ ज्ञान है वहाँ शका नही रहती। जहाँ प्रभुभक्ति है वहाँ उत्तम ज्ञान है। प्रभुप्राप्तिके लिये गुरु भगवानकी शरण ले ॥१॥ गुरुको पहचाननेके लिये हृदयमे वैराग्यकी आवश्यकता है, और इस वैराग्यकी उत्पत्तिके लिये पूर्वके पुण्यरूप भाग्यकी आवश्यकता है। यदि भाग्योदय नही है तो कुछ सत्संगकी अपेक्षा है। यदि सत्संग नही है तो कुछ दु खरग देखनेपर यह आता है ॥२॥

४. जे गायो ते सघळे एक, सकळ दर्शने ए ज विवेक।
समजाव्यानी शैली करी, स्याद्वाद समजण पण खरी ॥१॥
मूळ स्थिति जो पूछो मने, तो सोंपी दउ योगी कने।
प्रथम अंत ने मध्ये एक, लोकरूप अलोके देख ॥२॥
जीवाजीव स्थितिने जोई, टळ्यो ओरतो शंका खोई।
एम ज स्थिति त्यां नही उपाय, "उपाय का नहीं ?" शंका जाय ॥३॥
ए आश्चर्य जाणे ते जाण, जाणे ज्यारे प्रगटे भाण।
समजे बंधमुक्तियुत जीव, नीरखो टाळे शोक सदीव ॥४॥
बंधयुक्त जीव कर्म सहित, पुद्गल रचना कर्म खचीत।
पुद्गलज्ञान प्रथम ले जाण, नर देहे पछी पामे ध्यान ॥५॥
जो के पुद्गलनो ए देह, तो पण ओर स्थिति त्या छेह।
समजण बीजी पछी कहीश, ज्यारे चित्ते स्थिर थईश ॥६॥

---

५. जहां राग अने वळी द्वेष, तहां सर्वदा मानो क्लेश।
उदासीनतानो ज्यां वास, सकळ दुःखनो छे त्यां नाश ॥१॥
सर्व कालनुं छे त्यां ज्ञान, देह छतां त्या छे निर्वाण।
भव छेवटनो छे ए दशा, राम धाम आवीने वस्या ॥२॥

---

४. **भावार्थ**—सब धर्मोमे एक परम तत्त्वका ही गुणगान है, और सब दर्शनोंने भिन्न-भिन्न शैलीसे उसी परम तत्त्वका विवेचन किया है। परन्तु स्याद्वाद शैली सम्पूर्ण एव यथार्थ है ॥१॥ यदि आप मुझे मूल स्थिति अर्थात् लोकस्वरूप अथवा आत्मस्वरूपके बारेमे पूछते है तो मै आपसे कहता हू कि आत्मज्ञानी योगी अथवा सयोगी केवलीने जो लोकस्वरूप बताया है वही यथार्थ एव मान्य करने योग्य है। अलोकाकाशमे जीव, पुद्गल आदि छः द्रव्यसमूहरूप लोक पुरुषाकारसे स्थित है और जो आदि, मध्य और अन्तमे अर्थात् तीन कालमे उसी रूपमे रहनेवाला है ॥२॥ उसमे जीवाजीवकी स्थितिको देखकर तत्सबधी जिज्ञासा शात हुई, व्याकुलता मिट गई और शका दूर हो गई। लोककी यही स्थिति है, उसे किसी भी उपायसे अन्यथा करनेके लिये कोई भी समर्थ नही है। उसे अन्यथा करनेका उपाय क्यो नही ? इत्यादि शकाओका समाधान हो गया ॥३॥ जो इस आश्चर्यकारी स्वरूपको जानता है वह ज्ञानी है। और जब केवलज्ञानरूपी भानु (सूर्य) का उदय हो तभी इस लोकका स्वरूप जाना जा सकता है। फिर वह समझ जाता है कि जीव बध और मुक्तिसे युक्त है। ससारकी ऐसी स्थिति देखकर हर्ष-शोक सदाके लिये दूरकर वह वीतराग सदैव समता सुखमे निमग्न हो जाता है ॥४॥ ससारी जीव बधयुक्त है और वह बध पुद्गल वर्गणारूप कर्मोसे हुआ है। अनत शक्तिशाली जीवको पुद्गल परमाणुओकी कर्मरूप रचनासे बधनकी अवस्थाको प्राप्त होकर ससारमे अनत दुखद परिभ्रमण करना पडता है। इसलिये पहले वह पुद्गलस्वरूपको जाने और अनुक्रमसे धर्मध्यान एव शुक्लध्यानमे एकाग्र होकर परम पुरुषार्थ मोक्षमे प्रवृत्ति करे। नरदेहमे ही ऐसा पुरुषार्थ हो सकता है ॥५॥ देह यद्यपि पुद्गलका ही है, तो भी भेदज्ञानको प्राप्त होकर आत्मज्ञानी ध्यानमे एकाग्र होकर अपूर्व आनंदको प्राप्त होता है। जब चित्त सकल्प-विकल्पसे रहित होकर स्थिर होगा तब फिर दूसरा बोध दूँगा ॥६॥

५ **भावार्थ**—जहाँ राग और द्वेष होते है वहाँ सदा क्लेश ही बना रहता है। जब जीव ससारसे उदासीन एवं विरक्त हो जाता है तभी सर्व दुखोका अन्त आता है ॥१॥ उस दशामे जीव त्रिकालज्ञानी होता है और देह होते हुए भी देहातीत जीवन्मुक्तदशाका अनुभव होता है। चरमशरीरी जीव ही ऐसी दशाको प्राप्त करता है और वह आत्मस्वरूपमे रमण करता हुआ सदाके लिये परमपद मोक्षमें स्थित हो जाता है ॥२॥

१०८ बंबई, फागुन, १९४६

हे जीव ! तू भ्रममे मत पड, तुझे हितकी बात कहता हूँ।

अंतरमे सुख है, बाहर खोजनेसे नही मिलेगा।

अंतरका सुख अतरकी समश्रेणीमे है, उसमे स्थिति होनेके लिये बाह्य पदार्थोंका विस्मरण कर, आश्चर्य भूल।

समश्रेणी रहना बहुत दुर्लभ है, निमित्ताधीन वृत्ति पुन पुन चलित हो जायेगी, चलित न होनेके लिये अचल गंभीर उपयोग रख।

यह क्रम यथायोग्यरूपसे चलता आया तो तू जीवनका त्याग करता रहेगा, हताश नही होगा, निर्भय होगा।

भ्रममे मत पड, तुझे हितकी बात कहता हूँ।

यह मेरा है, ऐसे भावकी व्याख्या प्रायः न कर।

यह उसका है ऐसा न मान बैठ।

इसके लिये ऐसा करना है यह भविष्यनिर्णय न कर रख।

इसके लिये ऐसा न हुआ होता तो सुख होना ऐसा स्मरण न कर।

इतना इस प्रकारसे हो तो अच्छा, ऐसा आग्रह न कर रख।

इसने मेरे प्रति अनुचित किया, ऐसा स्मरण करना न सीख।

इसने मेरे प्रति उचित किया ऐसा स्मरण न रख।

यह मुझे अशुभ निमित्त है ऐसा विकल्प न कर।

यह मुझे शुभ निमित्त है ऐसी दृढता न मान बैठ।

यह न होता तो मै नही बँधता ऐसी अचल व्याख्या न कर।

पूर्वकर्म बलवान है, इसलिये ये सब प्रसंग मिल गये ऐसा एकातिक ग्रहण न कर।

पुरुषार्थकी जय नही हुई ऐसी निराशाका स्मरण न कर।

दूसरेके दोषसे तुझे बंधन है ऐसा न मान।

अपने निमित्तसे भी दूसरेको दोष करते हुए रोक।

तेरे दोषसे तुझे बंधन है यह संतकी पहली शिक्षा है।

तेरा दोष इतना ही कि अन्यको अपना मानना, और अपने आपको भूल जाना।

इन सबमे तेरा मनोभाव नही है इसलिये भिन्न भिन्न स्थलोमे तूने सुखकी कल्पना की है। हे मूढ़! ऐसा न कर—

यह तूने अपनेको हितकी बात कही।

अतरमे सुख है।

जगतमे ऐसी कोई पुस्तक या लेख या कोई ऐसा अपरिचित साक्षी तुझे यो नहीं कह सकता कि यह सुखका मार्ग है, अथवा आप ऐसा वर्तन करें अथवा सबको एक ही क्रमसे विचार आये; इसीसे सूचित होता है कि यहाँ कुछ प्रबल विचारधारा रही है।

एक भोगी होनेका उपदेश करता है।

एक योगी होनेका उपदेश करता है।

इन दोनोंमेसे किसे मान्य करेंगे ?

दोनो किसलिये उपदेश करते है ?

दोनों किसको उपदेश करते है ?
किसकी प्रेरणासे करते है ?
किसीको किसीका और किसीको किसीका उपदेश क्यो लगता है ?
इसके कारण क्या है ?
इसका साक्षी कौन है ?
आप क्या चाहते है ?
वह कहाँसे मिलेगा ? अथवा किसमे है ?
उसे कौन प्राप्त करेगा ?
कहाँ होकर लायेंगे ?
लाना कौन सिखायेगा ?
अथवा सीखे हुए है ?
सीखे है तो कहाँसे सीखे है ?
अपुनर्वृत्तिरूपसे सीखे है ?
नही तो शिक्षण मिथ्या ठहरेगा।
जीवन क्या है ?
जीव क्या है ?
आप क्या हैं ?
आपकी इच्छानुसार क्यो नही होता ?
उसे कैसे कर सकेंगे ?
बाधता प्रिय है या निराबाधता प्रिय है ?
वह कहाँ कहाँ और किस किस प्रकारसे है ?
इसका निर्णय करें।
अंतरमे सुख है।
बाहरमे नही है।
सत्य कहता हूँ।

हे जीव ! भूल मत, तुझे सत्य कहता हूँ।

सुख अन्तरमे है, वह बाहर खोजनेसे नही मिलेगा।

अतरका सुख अतरकी स्थितिमे है; स्थिति होनेके लिये बाह्य पदार्थोंका आश्चर्य भूल।

स्थिति रहनी बहुत विकट है; निमित्ताधीन वृत्ति पुन पुनः चलित हो जाती है। इसका दृढ़ उपयोग रखना चाहिये।

इस क्रमको यथायोग्य निभाता चलेगा तो तू हताश नही होगा, निर्भय होगा।

हे जीव ! तू भूल मत। समय-समयपर उपयोग चूककर किसीका रजित करनेमे, किसीसे रजित होनेमे अथवा मनकी निर्बलताके कारण तू दूसरेके पास मद हो जाता है, यह भूल होती है। इसे न कर।

१०९

आत्मा नाममात्र है या वस्तुस्वरूप है ?
यदि वस्तुस्वरूप है तो किसी भी लक्षणादिसे वह जाना जा सकने योग्य है या नहीं ?

यदि वह लक्षणादिसे किसी भी प्रकारसे जाना जा सकने योग्य नही है ऐसा माने तो जगतमें उपदेशमार्गकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? अमुकके वचनसे अमुकको बोध होता है इसका हेतु क्या है ?

अमुकके वचनसे अमुकको बोध होता है, यह सारी बात कल्पित है, ऐसा मानें तो प्रत्यक्ष वस्तुका बाध होता है क्योंकि वह प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दिखायी देती है। केवल वंध्यापुत्रवत् नही है।

किसो भी आत्मवेत्तासे किसी भी प्रकारसे आत्मस्वरूपका वचन द्वारा उपदेश—

[अपूर्ण]

११०

आत्मा चक्षुगोचर हो सकता है या नही ? अर्थात् आत्मा किसी भी तरह आंखसे देखा जा सकता है या नही ?

आत्मा सर्वव्यापक है या नही ?

मैं या आप सर्वव्यापक हैं या नही ?

आत्माका देहातरमे जाना होता है या नही ? अर्थात् आत्मा एक गतिमेसे दूसरी गतिमे जाता है या नही ? जा सकने योग्य है या नही ?

आत्माका लक्षण क्या है ?

किसी भी प्रकारसे आत्मा ध्यानमे आ सकता है या नहीं ?

सबसे अधिक प्रामाणिक शास्त्र कौनसे है ?

---

१११ बंबई, फागुन, १९४६

परम सत्य है। ⎫
परम सत्य है। ⎬ त्रिकाल ऐसा ही है।
परम सत्य है। ⎭

व्यवहारके प्रसगको सावधानीसे मंद उपयोगसे और समताभावसे निभाते आना।

दूसरे तेरा क्यो नही मानते ऐसा प्रश्न तेरे अन्तरमे न उठे।

दूसरे तेरा मानते हैं यह बहुत योग्य है, ऐसा स्मरण तुझे न हो।

तू सर्व प्रकारसे स्वतः प्रवृत्ति कर।

जीवन-अजीवनपर समवृत्ति हो।

जीवन हो तो इसी वृत्तिसे पूर्ण हो।

जब तक गृहवास प्रारब्धमे हो तब तक व्यवहार प्रसगमे भी सत्य सो सत्य ही हो।

गृहवासमे उसमे ही ध्यान हो।

गृहवासमे प्रसगमे आनेवालोको उचित वृत्ति रखना सिखा, सबको समान ही मान।

तब तकका तेरा समय बहुत हो उचित बीते।

अमुक व्यवहार-प्रसगका काल।

उसके सिवाय तत्सम्बन्धी कार्यकाल।

पूर्वकृत कर्मोदयकाल।

निद्राकाल।

यदि तेरी स्वतंत्रता और तेरे क्रमसे तेरा उपजीवन—व्यवहारसम्बन्धी सन्तोषयुक्त हो तो उचित प्रकारसे अपने व्यवहारको चलाना।

उसको इससे दूसरे चाहे जिस कारणसे सन्तोषयुक्त वृत्ति न रहती हो तो तू उसके कहे अनुसार प्रवृत्ति करके उस प्रसगको पूरा करना, अर्थात् प्रसगकी पूर्णाहुति तक ऐसा करनेमे तू विषम नही होना।

तेरे क्रमसे वे सन्तुष्ट रहे तो औदासीन्यवृत्ति द्वारा निराग्रहभावसे उनका भला हो वैसा करनेकी सावधानी तू रखना।

---

११२ बबई, चैत्र, १९४६

मोहाच्छादित दशासे विवेक न हो यह सत्य है, नही तो वस्तुत· यह विवेक यथार्थ है।

बहुत ही सूक्ष्म अवलोकन रखे।

१. सत्यको तो सत्य ही रहने देना।

२ कर सके उतना कहे, अशक्यता न छिपाएँ।

३. एकनिष्ठ रहे।

चाहे जिस किसी प्रशस्त कार्यमे एकनिष्ठ रहे।

वीतरागने सत्य कहा है।

अरे आत्मन्! अन्त स्थित दशा ले।

यह दु ख किसे कहना? और कैसे दूर करना?

आप अपना वैरी, यह कैसी सच्ची बात है!

---

११३ बबई, वैशाख वदी १२, १९४६

सुज्ञ भाईश्री,

आज आपका एक पत्र मिला। यहाँ समय अनुकूल है। वहाँकी समयकुशलता चाहता हूँ। आपको जो पत्र भेजनेकी मेरी इच्छा थी, उसे अधिक विस्तारसे लिखनेकी आवश्यकता होनेसे और वैसा करनेसे उसकी उपयोगिता भी अधिक सिद्ध होनेसे, वैसा करनेकी इच्छा थी, और अब भी है। तथापि कार्योपाधिकी ऐसी प्रबलता है कि इतना शान्त अवकाश मिल नही सकता, मिल नही सका और अभी कुछ समय तक मिलना भी सम्भव नही है। आपको इस समय यह पत्र मिला होता तो अधिक उपयोगी होता, तो भी इसके बाद भी इसकी उपयोगिता तो आप भी अधिक ही मान सकेंगे। आपकी जिज्ञासाको कुछ शान्त करनेके लिये उस पत्रका सक्षिप्त वर्णन दिया है।

मैं इस जन्ममे आपसे पहले लगभग दो वर्षसे कुछ अधिक समयसे गृहाश्रमी हुआ हूँ, यह आपको विदित है। जिसके कारण गृहाश्रमी कहा जा सकता है, उस वस्तुका और मेरा इस अरसेमे कुछ अधिक परिचय नही हुआ है, फिर भी इससे मै उसका कायिक, वाचिक और मानसिक झुकाव बहुत करके समझ सका हूँ, और इस कारणसे उसका और मेरा सम्बन्ध असन्तोषपात्र नही हुआ है, ऐसा बतलानेका हेतु यह है कि गृहाश्रमका वर्णन अल्प मात्र भी देते हुए तत्सम्बन्धी अनुभव अधिक उपयोगी होता है, मुझे कुछ सात्कारिक अनुभव स्फुरित हो आनेसे ऐसा कह सकता हूँ कि मेरा गृहाश्रम अभी तक जैसे असन्तोषपात्र नही है, वैसे उचित सन्तोषपात्र भी नही है। वह मात्र मध्यम है, और उसके मध्यम होनेमे भी मेरी कितनी ही उदासीनवृत्तिकी सहायता है।

तत्त्वज्ञानकी गुप्त गुफाका दर्शन करने पर गृहाश्रमसे विरक्त होना अधिकतर सूझता है, और अवश्य ही उस तत्त्वज्ञानका विवेक भी इसे उदित हुआ था; कालकी बलवत्तर अनिष्टताके कारण, उसे यथायोग्य समाधिसंगकी अप्राप्तिके कारण उस विवेकको महाखेदके साथ गौण करना पड़ा; और सचमुच! यदि वैसा न हो सका होता तो उसके (इस पत्रलेखकके) जीवनका अन्त अन्त आ जाता।

जिस विवेकको महाखेदके साथ गौण करना पड़ा है, उस विवेकमे ही चित्तवृत्ति प्रसन्न रह जाती है, *उसको बाह्य प्रधानता नही रखी जा सकती*, इसके लिये *अकथ्य खेद होता है*। *तथापि जहाँ निरुपायता* है, वहाँ सहनशीलता सुखदायक है, ऐसी मान्यता होनेसे मौन रखा है।

कभी-कभी सगी और प्रसगी तुच्छ निमित्त हो पड़ते है, उस समय उस विवेकपर किसी तरहका आवरण आ जाता है तब आत्मा बहुत ही दुविधामे पड़ जाता है। जीवनरहित होनेकी, देहत्याग करनेकी दु खस्थितिकी अपेक्षा उस समय भयकर स्थिति हो जाती है; परन्तु ऐसा अधिक समय तक नही रहता; और ऐसा जब रहेगा तब अवश्य ही देह त्याग करूँगा। परन्तु असमाधिसे प्रवृत्ति नही करूँगा ऐसी अब तककी प्रतिज्ञा स्थिर बनी हुई है।

---

११४ मोरबी, आषाढ़ सुदी ४, गुरु, १९४६

मोरबीका निवास व्यवहारनयसे भी अस्थिर होनेसे उत्तर भेजा नही जा सकता था।

आपके प्रशस्त भावके लिये आनन्द होता है। उत्तरोत्तर यह भाव आपके लिये सत्फलदायक हो।

उत्तम नियमानुसार और धर्मध्यानप्रशस्त व्यवहार करे, यह मेरी वारवार मुख्य विज्ञप्ति है। शुद्ध-भावकी श्रेणीको विस्मृत नही करते, यह एक आनन्दकथा है।

---

११५ बंबई, आषाढ़ सुदी ५, रवि, १९४६

धर्मेच्छुक भाई श्री,

आपके दोनो पत्र मिले। पढ़कर सन्तोष हुआ।

उपाधिकी प्रबलता विशेष रहती है। जीवन कालमे ऐसा कोई योग आना निर्मित हो, तो मौनभाव–उदासीनभावसे प्रवृत्ति कर लेना ही श्रेयस्कर है।

भगवतीजीके पाठके सम्बन्धमे सक्षिप्त स्पष्टीकरण नीचे दिया है :—

सुहजोगं पडुच्चं अणारंभी, असुहजोगं पडुच्चं आयारंभी, परारंभी, तदुभयारंभी।

शुभ योगकी अपेक्षासे अनारंभी, अशुभयोगकी अपेक्षासे आत्मारभी, परारभी, तदुभयारभी (आत्मा-रभी और परारभी)।

यहाँ शुभका अर्थ पारिणामिक शुभ लेना चाहिये, यह मेरी दृष्टि है। पारिणामिक अर्थात् जो परि-णाममें शुभ अथवा जैसा था वैसा रहना है।

यहाँ योगका अर्थ मन, वचन और काया है।

शास्त्रकारका यह व्याख्यान करनेका मुख्य हेतु यथार्थ दिखानेका और शुभयोगमे प्रवृत्ति करानेका है। पाठमे बोध बहुत सुंदर है।

आप मेरा मिलाप चाहते है; परन्तु यह कोई अनुचित काल उदयमे आया है। इसलिये आपके लिये मिलापमे भी मै श्रेयस्कर सिद्ध हो सकूँ ऐसी आशा थोड़ी ही है।

जिन्होने यथार्थ उपदेश किया है, ऐसे वीतरागके उपदेशमे परायण रहे, यह मेरा विनयपूर्वक आप दोनो भाइयोसे और दूसरोसे अनुरोध है।

मोहाधीन ऐसा मेरा आत्मा बाह्योपाधिसे कितने प्रकारसे घिरा हुआ है, यह आप जानते हैं, इसलिये अधिक क्या लिखूं?

अभी तो आप अपनेसे ही धर्मशिक्षा लें। योग्य पात्र बनें। मै भी योग्य पात्र बनूं। अधिक फिर देखेंगे।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

११६[1] बंबई, वैशाख सुदी ३, १९४६

इस उपाधिमे पडनेके बाद यदि मेरा लिंगदेहजन्यज्ञान-दर्शन वैसा ही रहा हो,—यथार्थ ही रहा हो तो जूठाभाई आषाढ सुदी ९ गुरुकी रातको समाधिपूर्वक इस क्षणिक जीवनका त्याग कर जायेंगे, ऐसा वह ज्ञान सूचित करता है।

---

११७ बंबई, आषाढ सुदी १०, १९४६

लिंगदेहजन्यज्ञानमे उपाधिके कारण यत्किंचित् परिवर्तन मालूम हुआ। पवित्रात्मा जूठाभाईके उपर्युक्त तिथिको परन्तु दिनमे स्वर्गवासी होनेकी आज खबर मिली।

इस पावन आत्माके गुणोका क्या स्मरण करें? जहाँ विस्मृतिको अवकाश नही वहाँ स्मृति हुई मानी ही कैसे जाये?

इसका लौकिक नाम ही देहधारीरूपसे सत्य था, यह आत्मदशाके रूपमे सच्चा वैराग्य था।

जिसकी मिथ्यावासना बहुत क्षीण हो गई थी, जो वीतरागका परमरागी था, संसारसे परम जुगुप्सित था, जिसके अतरमे भक्तिका प्राधान्य सदैव प्रकाशित था, सम्यक्भावसे वेदनीय कर्म वेदन करनेकी जिसकी अद्भुत समता थी, मोहनीय कर्मका प्राबल्य जिसके अंतरमे बहुत शून्य हो गया था, जिसमे मुमुक्षुता उत्तम प्रकारसे दीपित हो उठी थी, ऐसा यह जूठाभाईका पवित्रात्मा आज जगतके इस भागका त्याग करके चला गया। इन सहचारियोंसे मुक्त हो गया। धर्मके पूर्णाह्लादमे आयुष्य अचानक पूर्ण किया।

अरेरे! इस कालमे ऐसे धर्मात्माका अल्प जीवन हो यह कुछ अधिक आश्चर्यकारक नही है। ऐसे पवित्रात्माकी इस कालमे कहाँसे स्थिति हो? दूसरे साथियोके ऐसे भाग्य कहाँसे हों कि ऐसे पवित्रात्माके दर्शनका लाभ उन्हें अधिक काल तक मिले? मोक्षमार्गको देनेवाला सम्यक्त्व जिसके अतरमे प्रकाशित हुआ था, ऐसे पवित्रात्मा जूठाभाईको नमस्कार हो! नमस्कार हो!

---

११८ बंबई, आषाढ़ सुदी १५, बुध, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयो,

चि० सत्यपरायणके स्वर्गवाससूचक शब्द भयंकर हैं। परन्तु ऐसे रत्नोका दीर्घ जीवन कालको नही पुसाता। धर्मेच्छुकके ऐसे अनन्य सहायकको रहने देना मायादेवीको योग्य नही लगा।

इस आत्माके इस जीवनके रहस्यमय विश्रामको कालकी प्रबल दृष्टिने खीच लिया। ज्ञानदृष्टिसे शोकका अवकाश नही माना जाता, तथापि उसके उत्तमोत्तम गुण वैसा करनेकी आज्ञा करते है, बहुत स्मरण होता है, ज्यादा नही लिख सकता।

सत्यपरायणके स्मरणार्थ यदि हो सका तो एक शिक्षाग्रन्थ लिखनेका विचार करता हूँ।

[2]**न छिज्जइ**। यह पाठ पूरा लिखेंगे तो ठीक होगा। मेरी समझके अनुसार इस स्थलपर आत्माका शब्दवर्णन है "छेदा नही जाता, भेदा नही जाता", इत्यादि।

"आहार, विहार और निहारका नियमित" इस वाक्यका संक्षेपार्थ इस प्रकार है—

जिसमे योगदशा आती है, उसमें द्रव्य आहार, विहार और निहार (शरीरके मलकी त्याग क्रिया) यह नियमित अर्थात् जैसी चाहिये वैसी, आत्माको निर्बाधक क्रियासे यह प्रवृत्ति करनेवाला।

---

१. यह लेख श्रीमद्की दैनिक नोंधका है। २. श्री आचाराग, अध्य० ३, उद्देशक ३, देखें आक २९६

धर्ममें प्रसक्त रहे यही वारंवार अनुरोध है। सत्यपरायणके मार्गका सेवन करेंगे तो जरूर सुखी होंगे और पार पायेंगे, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस भवकी और परभवकी निरुपाधिता जिस रास्तेसे की जा सके उस रास्तेसे कीजियेगा, ऐसी विनती है। उपाधिग्रस्त रायचंदके यथायोग्य

---

११९ बंबई, आषाढ वदी ७, मंगल, १९४६

निरतर निर्भयतासे रहित इस भ्रातिरूप ससारमे वीतरागत्व ही अभ्यास करने योग्य है; निरंतर निर्भयतासे विचरना ही श्रेयस्कर है, तथापि कालकी और कर्मकी विचित्रतासे पराधीनतासे यह ... ... करते है।

दोनो पत्र मिले। संतोष हुआ। आचाराग सूत्रका पाठ देखा। यथाशक्ति विचारकर अन्य प्रसगपर अर्थ लिखूँगा।

धर्मेच्छुक त्रिभोवनदासके प्रश्नका उत्तर भी प्रसगपर दे सकूँगा।

जिसका अपार माहात्म्य है, ऐसी तीर्थंकरदेवकी वाणोकी भक्ति करें।

वि० रायचंद

---

१२० बंबई, आषाढ़ वदी ३०, १९४६

आपकी 'योगवासिष्ठ' पुस्तक इसके साथ भेजता हूँ। उपाधिका ताप शमन करनेके लिये यह शीतल चदन है, इसके पढ़नेमे आधि-व्याधिका आगमन सम्भव नही है। इसके लिये आपका उपकार मानता हूँ।

आपके पास कभी कभी आनेमे भी एक मात्र इसी विषयकी अभिलाषा है। बहुत वर्षोंसे आपके अन्तःकरणमे रही हुई ब्रह्मविद्याका आपके ही मुखसे श्रवण हो तो एक प्रकारकी शाति मिले। किसी भी रास्तेसे कल्पित वासनाओका नाश होकर यथायोग्य स्थितिकी प्राप्तिके सिवाय अन्य इच्छा नही है, परन्तु व्यवहारके सम्बन्धमे कितनी ही उपाधियाँ रहती हैं, इसलिये सत्समागमका यथेष्ट अवकाश नही मिलता, तथा आपको भी कुछ कारणोसे उतना समय देना अशक्य समझता हूँ, और इसी कारणसे अन्त.-करणकी अन्तिम वृत्ति पुन पुनः आपको बता नही सकता; तथा तत्सम्बन्धी अधिक बातचीत नही हो सकती। यह एक पुण्यकी न्यूनता है, अधिक क्या ?

आपके सम्बन्धसे किसी तरह व्यावहारिक लाभ लेनेकी इच्छा स्वप्नमे भी नही की है, तथा आप जैसे दूसरोसे भी इसकी इच्छा नही रखी है। एक जन्म और वह भी थोड़े ही कालका, प्रारब्धानुसार बिता लेना, उसमे दीनता उचित नही है, यह निश्चय प्रिय है। सहज भावसे व्यवहार करनेकी अभ्यासप्रणालिका कुछ (थोड़ेसे) वर्षोंसे आरभ की है; और इससे निवृत्तिकी वृद्धि है। यह बात यहाँ बतानेका हेतु इतना ही है कि आप अशंकित होगे, तथापि पूर्वापरसे भी अशंकित रहनेके लिये जिस हेतुसे आपकी ओर मेरा देखना है, उसे बताया है; और यह अशंकितता संसारसे औदासीन्य भावको प्राप्त दशाके लिये सहायक होगी, ऐसा माना होनेसे (बताया है)।

'योगवासिष्ठ' के सम्बन्धमे आपको कुछ बताना चाहता हूँ (प्रसंग मिलनेपर)।

जैनधर्मके आग्रहसे ही मोक्ष है; ऐसा मानना आत्मा बहुत समयसे भूल चुका है। मुक्तभावमें (!) मोक्ष है ऐसी धारणा है, इसलिये बातचीतके समय आप कुछ अधिक कहते हुए न रुके ऐसी विज्ञप्ति है।

---

१२१ बंबई, आषाढ, १९४६

जिस पुस्तकके पढनेसे उदासीनता, वैराग्य या चित्तकी स्वस्थता होती हो ऐसी कोई भी पुस्तक पढ़ना। जिससे योग्यता प्राप्त हो ऐसी पुस्तक पढ़नेका विशेष परिचय रखना।

धर्मकथा लिखनेके विषयमे लिखा, तो वह धार्मिक कथा मुख्यत तो सत्संगमे ही निहित है। दुषम-कालरूप इस कालमे सत्सगका माहात्म्य भी जीवके ध्यानमे नही आता।

कल्याणके मार्गके साधन कौनसे है उनका ज्ञान बहुत बहुत सी क्रियादि करनेवाले जीवको भी हो ऐसा मालूम नही होता।

त्याग करने योग्य स्वच्छद आदि जो कारण है उनमे तो जीव रुचिपूर्वक प्रवृत्त हो रहे है। जिनका आराधन करना योग्य है ऐसे आत्मस्वरूप सत्पुरुषोमे जीवको या तो विमुखता और या तो अविश्वास रहता है, और ऐसे असत्सगियोके सहवासमे किन्ही किन्ही मुमुक्षुओंको भी रहना पड़ता है। उन दु.खियोमे आप और मुनि आदि भी किसी न किसी अशमे गिनने योग्य है। असत्सग और स्वेच्छाचार न हो अथवा उनका अनुसरण न हो ऐसे प्रवर्तनसे अंतर्वृत्ति रखनेका विचार बनाये ही रखना यह सुगम साधन है।

---

१२२ बंबई, आषाढ, १९४६

पूर्वकर्मका उदय बहुत विचित्र है। अब 'जब जागे तभी सवेरा'।

तीव्ररससे और मंदरससे कर्मका बध होता है। उसमे मुख्य हेतु रागद्वेष है। इससे परिणाममे अधिक पछताना पड़ता है।

शुद्धयोगमे रहा हुआ आत्मा अनारंभी है और अशुद्धयोगमे रहा हुआ आत्मा आरंभी है। यह वाक्य वीरकी भगवतीका है। मनन कीजियेगा।

परस्पर ऐसा होनेसे, धर्म-विस्मृत आत्माको स्मृतिमे योगपद याद आता है। बहुल कर्मके योगसे पचमकालमे उत्पन्न हुए, परतु कुछ शुभके उदयसे जो योग मिला है, वैसा बहुत ही थोड़े आत्माओंको मर्मबोध मिलता है, और वह रुचिकर होना बहुत दुर्घट है। वह सत्पुरुषोंकी कृपादृष्टिमे निहित है। अल्प-कर्मका योग होगा तो बनेगा। नि सशय जिस पुरुषका योग मिला उस पुरुषको शुभोदय हो तो अवश्य बनेगा; फिर न बने तो बहुल कर्मका दोष!

---

१२३ बंबई, आषाढ, १९४६

धर्मध्यान लक्ष्यार्थसे हो यही आत्महितका रास्ता है। चित्तके संकल्प-विकल्पसे रहित होना यह महावीरका मार्ग है। अलिप्तभावमे रहना, यह विवेकीका कर्तव्य है।

---

१२४ ववाणिया बंदर, १९४६

जं ण जं णं दिसं इच्छइ तं णं तं णं दिसं अप्पडिबद्धे।

जिस जिस दिशाकी ओर जाना चाहे वह वह दिशा जिसके लिये अप्रतिबद्ध अर्थात् खुली है। (रोक नही सकती।)

जब तक ऐसी दशाका अभ्यास न हो तब तक यथार्थ त्यागकी उत्पत्ति होना कैसे सम्भव है?

पौद्गलिक रचनामे आत्माको स्तम्भित करना उचित नहीं हैं।

बि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१२५ ववाणिया, श्रावण वदी १३, बुध, १९४६

धर्मेच्छुक भाईश्री,

आज मतांतरसे उत्पन्न हुआ पहला पर्युषण आरम्भ हुआ। अगले मासमें दूसरा पर्युषण आरंभ होगा। सम्यक्दृष्टिसे मतांतर दूर करके देखनेसे यही मतांतर दुगुने लाभका कारण है, क्योंकि दुगुना धर्म सम्पादन किया जा सकेगा।

चित्त गुफाके योग्य हो गया है। कर्मरचना विचित्र है।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१२६ ववाणिया, प्रथम भादों सुदी ३, सोम, १९४६

आपके दर्शनका लाभ लिये लगभग एक माससे कुछ अधिक समय हुआ। बंबई छोडे एक पक्ष हुआ। बंबईका एक वर्षका निवास उपाधिग्रस्त रहा। समाधिरूप तो एक आपका समागम था, उसका यथेष्ट लाभ प्राप्त न हुआ।

ज्ञानियों द्वारा कल्पित सचमुच यह कलिकाल ही है। जनसमुदायकी वृत्तियाँ विषय-कषाय आदिसे विषमताको प्राप्त हुई हैं। इसकी बलवत्तरता प्रत्यक्ष है। राजसी वृत्तिका अनुकरण उसे प्रिय हुआ है। तात्पर्य यह कि विवेकियोकी और यथायोग्य उपशमपात्रोकी छाया भी नही मिलती। ऐसे विषमकालमे जन्मा हुआ यह देहधारी आत्मा अनादिकालके परिभ्रमणकी थकानसे विश्रांति लेनेके लिये आया, प्रत्युत अविश्रांति पाकर फँस गया है। मानसिक चिंता कही भी कही नही जा सकती। कहने योग्य पात्रोकी भी कमी है। ऐसी स्थितिमे अब क्या करना ? यद्यपि यथायोग्य उपशमभावको प्राप्त आत्मा संसार और मोक्षमे समवृत्तिवाला होता है। इसलिये अप्रतिबद्धतासे विचर सकता है। परन्तु इस आत्माको तो अभी वह दशा प्राप्त नही हुई है। उसका अभ्यास है। तो फिर उसके पास यह प्रवृत्ति किसलिये खड़ी होगी ?

जिसमे निरुपायता है उसमे सहनशीलता सुखदायक है और ऐसा ही प्रवर्तन है, परन्तु जीवन पूर्ण होनेसे पहले यथायोग्यरूपसे नीचेकी दशा आनी चाहिये—

१ मन, वचन और कायासे आत्माका मुक्तभाव।

२. मनका उदासीनतासे प्रवर्तन।

३ वचनकी स्याद्वादता (निराग्रहता)।

४. कायाकी वृक्षदशा (आहार-विहारकी नियमितता)।

अथवा सर्व संदेहोकी निवृत्ति, सर्व भयमुक्ति और सर्व अज्ञानका नाश।

सतोंने शास्त्रो द्वारा अनेक प्रकारसे उसका मार्ग बताया है, साधन बताये हैं, योगादिकसे उत्पन्न हुआ अपना अनुभव कहा है, तथापि उससे यथायोग्य उपशमभाव आना दुष्कर है। वह मार्ग है, परन्तु उपादानकी बलवान स्थिति चाहिये। उपादानकी बलवान स्थिति होनेके लिये निरन्तर सत्संग चाहिये, वह नही है।

शिशुवयसे ही इस वृत्तिका उदय होनेसे किसी प्रकारका परभाषाभ्यास न हो सका। अमुक संप्रदाय-से शास्त्राभ्यास न हो सका। संसारके बंधनसे ऊहापोहाभ्यास भी न हो सका; और वह न हो सका इसके लिये कोई दूसरा विचार नहीं हैं। उससे आत्मा अधिक विकल्पी होता (सबके लिये विकल्पिता नहीं, परन्तु मैं केवल अपनी अपेक्षासे कहता हूँ।) और विकल्पादिक क्लेशका तो नाश ही करना चाहा था, इस-लिये जो हुआ वह कल्याणकारक ही है। परन्तु अब जैसे महानुभाव वसिष्ठ भगवानने श्रीरामको इसी दोषका विस्मरण कराया था वैसे कौन कराये ? अर्थात् भाषाभ्यासके बिना भी शास्त्रका बहुत परिचय

हुआ है, धर्मके व्यावहारिक ज्ञाताओका भी परिचय हुआ है, तथापि इस आत्माका आनंदावरण इससे दूर नही हो सकता, मात्र सत्सगके सिवाय और योगसमाधिके सिवाय, तब क्या करना ? इतना भी बतलानेके लिये कोई सत्पात्र स्थल नही था। भाग्योदयसे आप मिले कि जिन्हे रोम-रोममे यही रुचिकर है।

---

१२७ ववाणिया, प्रथम भादो सुदी ४, १९४६

पत्र मिला।

सारे वर्षमे आपके प्रति हुए अपने अपराधकी, नम्रतासे, विनयसे और मन, वचन, कायाके प्रशस्त योगसे पुनः पुनः क्षमा चाहता हूँ। सब प्रकारसे मेरे अपराधका विस्मरण कर आत्मश्रेणीमे प्रवर्तन करते रहे, यह विनती है।

आजके पत्रमे, मतातरसे दुगुना लाभ होता है ऐसा इस पर्युषण पर्वको सम्यक्‌दृष्टिसे देखते हुए मालूम हुआ, यह बात अच्छी लगी। तथापि कल्याणके लिये यह दृष्टि उपयोगी है। समुदायके कल्याणकी दृष्टिसे देखते हुए दो पर्युषण दुःखदायक हैं। प्रत्येक समुदायमे मतांतर बढ़ने नही चाहिये, कम होने चाहिये।

वि० रायचंदके यथायोग्य

---

१२८ ववाणिया, प्रथम भादो सुदी ६, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयो,

प्रथम सवत्सरीसे लेकर आजके दिन तक किसी भी प्रकारसे आपकी अविनय, आशातना, असमाधि मेरे मन, वचन, कायाके किसी भी योगाध्यवसायसे हुई हों उनके लिये पुनः पुनः क्षमा चाहता हूँ।

अंतर्ज्ञानसे स्मरण करते हुए ऐसा कोई काल ज्ञात नही होता अथवा याद नही आता कि जिस कालमे, जिस समयमे इस जीवने परिभ्रमण न किया हो, संकल्प-विकल्पका रटन न की हो, और इससे 'समाधि'को न भूला हो। निरंतर यह स्मरण रहा करता है, और यह महावैराग्यको देता है।

और स्मरण होता है कि यह परिभ्रमण केवल स्वच्छदसे करते हुए जीवको उदासीनता क्यो न आई ? दूसरे जीवोंके प्रति क्रोध करते हुए, मान करते हुए, माया करते हुए, लोभ करते हुए या अन्यथा करते हुए, यह बुरा है, ऐसा यथायोग्य क्यों न जाना ? अर्थात् ऐसा जानना चाहिये था, फिर भी न जाना; यह भी पुनः परिभ्रमण करनेसे विरक्त बनाता है।

और स्मरण होता है कि जिनके बिना एक पल भी मैं न जी सकूँ, ऐसे कितने ही पदार्थ (स्त्री आदि), उनको अनत बार छोडते, उनका वियोग हुए अनंत काल भी हो गया, तथापि उनके बिना जीवित रहा गया, यह कुछ कम आश्चर्यकारक नही है। अर्थात् जिस जिस समय वैसा प्रीतिभाव किया था उस उस समय वह कल्पित था। ऐसा प्रीतिभाव क्यों हुआ ? यह पुनः पुनः वैराग्य देता है।

और जिसका मुख किसी कालमे भी न देखूँ, जिसे किसी कालमे मैं ग्रहण ही न करूँ; उसके घर पुत्रके रूपमे, स्त्रीके रूपमे, दासके रूपमे, दासीके रूपमे, नाना जंतुके रूपमे क्यों जन्मा ? अर्थात् ऐसे द्वेषसे ऐसे रूपमे जन्म लेना पडा! और वैसा करनेकी तो इच्छा न थी! कहिये, यह स्मरण होने पर इस क्लेशित आत्माके प्रति जुगुप्सा नही आती होगी ? अर्थात् आती है।

अधिक क्या कहना ? जो जो पूर्वके भवातरमे भ्रातिरूपसे भ्रमण किया; उसका स्मरण होने पर अब कैसे जीना यह चिंतना हो पड़ी है। फिर जन्म लेना ही नही और फिर ऐसा करना ही नही ऐसा दृढ़त्व आत्मामे प्रकाशित होता है। परंतु कितनी ही निरुपायता है वहाँ क्या करना ? जो दृढ़ता है उसे पूर्ण करना, अवश्य पूर्ण करना यही रटन है; परन्तु जो कुछ आड़े आता है उसे एक ओर करना

पड़ता है, अर्थात् खिसकाना पड़ता है; और उसमे काल व्यतीत होता है, जीवन चला जाता है, उसे न जाने देना, जब तक यथायोग्य जय न हो तब तक, ऐसी दृढ़ता है, उसका क्या करना ? कदापि किसी तरह उसमेसे कुछ करें तो वैसा स्थान कहाँ है कि जहाँ जाकर रहें ? अर्थात् वैसे सत कहाँ हैं कि जहाँ जाकर इस दशामे बैठकर उसका पोषण प्राप्त करें ? तो फिर अब क्या करना ?

"चाहे जो हो, चाहे जितने दुःख सहो, चाहे जितने परिषह सहन करो, चाहे जितने उपसर्ग सहन करो, चाहे जितनी व्याधियाँ सहन करो, चाहे जितनी उपाधियाँ आ पड़ो, चाहे जितनी आधियाँ आ पड़ो, चाहे तो जीवनकाल एक समय मात्र हो, और दुर्निमित्त हो, परंतु ऐसा करना ही।

तब तक हे जीव! छुटकारा नही है।"

इस प्रकार नेपथ्यमेसे उत्तर मिलता है और वह यथायोग्य लगता है।

क्षण-क्षणमे पलटनेवाली स्वभाववृत्ति नही चाहिये। अमुक काल तक शून्यके सिवाय कुछ नही चाहिये, वह न हो ता अमुक काल तक सतके सिवाय कुछ नही चाहिये; वह न हो तो अमुक काल तक सत्संगके सिवाय कुछ नही चाहिये; वह न हो ता आर्याचरण (आर्यपुरुषो द्वारा किये गये आचरण) के सिवाय कुछ नही चाहिये, वह न हो ता जिनभक्तिमे अति शुद्ध भावसे लीनताके सिवाय कुछ नही चाहिये; वह न हो तो फिर माँगनेकी इच्छा भी नही है।

समझमे आये बिना आगम अनर्थकारक हो जाते है। सत्संगके बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है। संतके बिना अतकी बातका अंत नही पाया जाता। लोकसज्ञासे लोकाग्रमे नही पहुँचा जाता। लोकत्यागके बिना वैराग्य यथायोग्य पाना दुर्लभ है।

"यह कुछ झूठा है ?" क्या ?

परिभ्रमण किया सो किया; अब उसका प्रत्याख्यान लें तो ?

लिया जा सकता है।

यह भी आश्चर्यकारक है।

अभी इतना ही, फिर सुयोगसे मिलेंगे।

यही विज्ञापन।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१२९ ववाणिया, प्रथम भादों सुदी ७, शुक्र, १९४६

बम्बई इत्यादि स्थलोंमे सहन की हुई उपाधि, यहाँ आनेके बाद एकांतादिका अभाव (नही होना) और वक्ताकी अप्रियताके कारण यथासम्भव त्वरासे उधर आऊँगा।

---

१३० ववाणिया, प्रथम भादों सुदी ११, मंगल, १९४६

धर्मेच्छुक भाई खीमजी,

कितने वर्ष हुए एक महती इच्छा अन्त करणमें रहा करती है, जिसे किसी स्थलपर नही कहा, कहा नहीं जा सका, कहा नहीं जा सकता, नहीं कहना आवश्यक है। महान परिश्रमसे प्रायः उसे पूरा किया जा सकता है, तथापि उसके लिये यथेष्ट परिश्रम नही हो पाता, यह एक आश्चर्य और प्रमत्तता है। यह इच्छा सहज उत्पन्न हुई थी। जब तक वह यथायोग्य रीतिसे पूरी न की जाये तब तक आत्मा समाधिस्थ होना नहीं चाहता, अथवा नही होगा। यदि कभी अवसर होगा तो उस इच्छाकी झाँकी करा देनेका प्रयत्न करूँगा। इस इच्छाके कारण जीव प्रायः विडम्बनदशामे ही जीवन व्यतीत करता रहता है।

यद्यपि वह विडंबनदशा भी कल्याणकारक ही है, तथापि दूसरोके प्रति वैसी कल्याणकारक होनेमें कुछ कमीवाली है।

अन्त करणसे उदित अनेक ऊर्मियाँ आपको बहुत बार समागममे बतायी है। सुनकर उन्हे कुछ अंशोंमें धारण करनेकी आपकी इच्छा होती हुई देखनेमे आयो है। पुन अनुरोध है कि जिन जिन स्थलोमे वे ऊर्मियाँ बतायी हों उन उन स्थलोंमे जानेपर पुनः पुन. उनका अधिक स्मरण अवश्य कीजियेगा।

१ आत्मा है।
२. वह बंधा हुआ है।
३. वह कर्मका कर्ता है।
४. वह कर्मका भोक्ता है।
५ मोक्षका उपाय है।
६ आत्मा साध सकता है।

ये जो छः महा प्रवचन है उनका निरंतर शोधन करें।

दूसरेकी विडबनाका अनुग्रह न करके अपना अनुग्रह चाहनेवाला जय नही पाता ऐसा प्रायः होता है। इसलिये चाहता हूँ कि आपने स्वात्माके अनुग्रहमे दृष्टि रखी है उसकी वृद्धि करते रहिये; और उससे आप परका अनुग्रह भी कर सकेंगे।

धर्म ही जिसकी अस्थि और धर्म ही जिसकी मज्जा है, धर्म ही जिसका रुधिर है, धर्म ही जिसका आमिष है, धर्म ही जिसकी त्वचा है, धर्म ही जिसकी इंद्रियाँ हैं, धर्म ही जिसका कर्म है, धर्म ही जिसका चलना है, धर्म ही जिसका बैठना है, धर्म ही जिसका उठना है, धर्म ही जिसका खडा रहना है, धर्म ही जिसका शयन है, धर्म ही जिसकी जागृति है, धर्म ही जिसका आहार है, धर्म ही जिसका विहार है, धर्म ही जिसका निहार ['] है, धर्म ही जिसका विकल्प है, धर्म ही जिसका संकल्प है, धर्म ही जिसका सर्वस्व है, ऐसे पुरुषकी प्राप्ति दुर्लभ है, और वह मनुष्यदेहमे परमात्मा है। इस दशाको क्या हम नही चाहते? चाहते है, तथापि प्रमाद और असत्संगके आडे आनेसे उसमे दृष्टि नही देते।

आत्मभावकी वृद्धि कीजिये, और देहभावको कम कीजिये।

वि० रायचंदके यथोचित।

---

१३१ जेतपर (मोरबी), प्रथम भादों वदी ५, बुध, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयो,

भगवतीसूत्रके[१] पाठके सम्बन्धमें दोनोके अर्थ मुझे तो ठीक ही लगते है। बालजीवोकी अपेक्षासे टबेके लेखक द्वारा किया गया अर्थ हितकारक है, मुमुक्षुके लिये आपका कल्पित अर्थ हितकारक है, सतोके लिये दोनो हितकारक हे। मनुष्य ज्ञानके लिये प्रयत्न करें इसके लिये इस स्थलपर प्रत्याख्यानको दु:प्रत्याख्यान कहनेकी अपेक्षा है। यदि यथायोग्य ज्ञानकी प्राप्ति न हुई हो तो जो प्रत्याख्यान किये हो वे देव आदि गति देकर संसारके ही अगभूत होते है। इसलिये उन्हे दु.प्रत्याख्यान कहा है। परन्तु इस स्थलपर ज्ञानके बिना प्रत्याख्यान करने ही नही ऐसा कहनेका हेतु तीर्थंकर देवका है ही नही। प्रत्याख्यान आदि क्रियासे ही मनुष्यत्व मिलता है, उच्च गोत्र और आर्यदेशमे जन्म मिलता है, तो फिर ज्ञानकी प्राप्ति होती है; इसलिये ऐसी क्रिया भी ज्ञानकी साधनभूत ही समझनी चाहिये।

वि० रायचंदके यथोचित।

---

१. श्री भगवतीसूत्र, शतक ७, उद्देशक २।

१३२ ववाणिया, प्रथम भादों वदी १३, शुक्र, १९४६

"क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका"

सत्पुरुषका क्षणभरका भी समागम संसाररूपी समुद्र तरनेके लिये नौकारूप होता है। यह वाक्य महात्मा शंकराचार्यजीका है, और यह यथार्थ ही लगता है।

आपने मेरे समागमसे हुआ आनद और वियोगसे हुआ अनानद प्रदर्शित किया है, वैसा ही आपके समागमके लिये मुझे भी हुआ है।

अंतःकरणमे निरतर ऐसा ही आया करता है कि परमार्थरूप होना, और अनेकको परमार्थ सिद्ध करनेमे सहायक होना यही कर्तव्य है, तथापि कुछ वैसा योग अभी वियोगमे है।

भविष्यज्ञानको जिसमे आवश्यकता है, उस बातपर अभी ध्यान नही रहा।

---

१३३ ववाणिया, द्वितीय भादों सुदी २, मंगल, १९४६

आत्मविवेकसपन्न भाई श्री सोभागभाई, मोरबी।

आज आपका एक पत्र मिला। पढ़कर परम संतोष हुआ। निरतर ऐसा ही सतोष देते रहनेके लिये विज्ञप्ति है।

यहाँ जो उपाधि है, वह एक अमुक कामसे उत्पन्न हुई है, और उस उपाधिके लिये क्या होगा, ऐसी कुछ कल्पना भी नही होती, अर्थात् उस उपाधिसम्बन्धी कोई चिता करनेकी वृत्ति नही रहती। यह उपाधि कलिकालके प्रसगमे एक पहलेकी सगतिसे उत्पन्न हुई है। और उसके लिये जैसा होना होगा वैसा थोडे समयमे हो रहेगा। इस ससारमे ऐसी उपाधियाँ आना यह कोई आश्चर्यकी बात नही है।

ईश्वरपर विश्वास रखना यह एक सुखदायक मार्ग है। जिसका दृढ विश्वास होता है वह दुःखी नही होता, अथवा दुःखी होता है तो दुःखका वेदन नही करता। दुःख उलटा सुखरूप हो जाता है।

आत्मेच्छा ऐसी ही रहती है कि ससारमे प्रारब्धानुसार चाहे जैसे शुभाशुभ उदयमे आयें, परन्तु उनमे प्रीति-अप्रीति करनेका हम सकल्प भी न करें।

रात-दिन एक परमार्थ विषयका ही मनन रहता है। आहार भी यही है, निद्रा भी यही है, शयन भी यही है, स्वप्न भी यही है, भय भी यही है, भोग भी यही है, परिग्रह भी यही है, चलना भी यही है, आसन भी यही है। अधिक क्या कहना? हाड़, मांस और उसकी मज्जा सभी इसी एक ही रंगमे रगे हुए है। एक रोम भी मानो इसीका ही विचार करता है, और उसके कारण न कुछ देखना भाता है, न कुछ सूँघना भाता है, न कुछ सुनना भाता है, न कुछ चखना भाता है कि न कुछ छूना भाता है, न बोलना भाता है कि न मौन रहना भाता है, न बैठना भाता है कि न उठना भाता है, न सोना भाता है कि न जागना भाता है, न खाना भाता है कि न भूखे रहना भाता है, न असग भाता है कि न सग भाता है, न लक्ष्मी भाती है कि न अलक्ष्मी भाती है ऐसा है; तथापि उसके प्रति आशा निराशा कुछ भी उदित होती मालूम नही होती। वह हो तो भी ठीक और न हो तो भी ठीक, यह कुछ दुःखका कारण नही है। दुःखका कारण मात्र विषमात्मा है, और वह यदि सम है तो सब सुख ही है। इस वृत्तिके कारण समाधि रहती है। तथापि बाहरसे गृहस्थीकी प्रवृत्ति नही हो सकती, देहभाव दिखाना नही पुसाता, आत्मभावसे प्रवृत्ति बाहरसे करनेमे कितना ही अंतराय है। तो अब क्या करना? किस पर्वतकी गुफामे जाना और ओझल हो जाना, यही रटन रहा करती है। तथापि बाहरसे अमुक सासारिक प्रवृत्ति करनी पड़ती है। उसके लिये शोक तो नही है तथापि जीव सहन करना नही चाहता। परमानंदको छोड़कर इसे चाहे भी क्यो? और इसी कारणसे ज्योतिष आदिकी ओर अभी चित्त नही है। चाहे जैसे भविष्यज्ञान अथवा सिद्धियोंकी

इच्छा नहीं है, तथा उनका उपयोग करनेमे उदासीनता रहती है। उसमें भी अभी तो अधिक ही रहती हैं। इसलिये इस ज्ञानके सम्बन्धमे चित्तकी स्वस्थतासे विचार करके पूछे हुए प्रश्नोके विषयमे लिखूँगा अथवा समागममे बताऊँगा।

जो प्राणी ऐसे प्रश्नोके उत्तर पाकर आनद मानते है वे मोहाधीन हैं, और वे परमार्थके पात्र होने दुर्लभ है ऐसी मान्यता है। इसलिये वैसे प्रसंगमें आना भी नही भाता, परन्तु परमार्थ हेतुसे प्रवृत्ति करनी पड़ेगी तो किसी प्रसंगसे करूँगा। इच्छा तो नही होती।

आपका समागम अधिकतासे चाहता हूँ। उपाधिमे यह एक अच्छी विश्राति है। कुशलता है, चाहता हूँ।

वि० रायचदके प्रणाम

---

१३४ ववाणिया, द्वितीय भादो सुदी ८, रवि, १९४६

दोनों भाइयों,

देहधारीको विडबनाका होना तो एक धर्म है। उसमे खेद करके आत्मविस्मरण क्यों करना? धर्मभक्तियुक्त आपसे ऐसी प्रयाचना करनेका योग मात्र पूर्वकर्मने दिया है। इसमे आत्मेच्छा कंपित है। निरुपायताके आगे सहनशीलता ही सुखदायक है।

इस क्षेत्रमे इस कालमे इस देहधारीका जन्म होना योग्य न था। यद्यपि सब क्षेत्रोमे जन्म लेनेकी इच्छा उसने रोक ही दी है, तथापि प्राप्त हुए जन्मके लिये शोक प्रदर्शित करनेके लिये ऐसा रुदनवाक्य लिखा है। किसी भी प्रकारसे विदेही दशाके बिनाका, यथायोग्य जीवन्मुक्तदशा रहित और यथायोग्य निर्ग्रंथदशा रहित एक क्षणका जीवन भी देखना जीवको सुलभ नही लगता तो फिर बाकी रही हुई अधिक आयु कैसे बीतेगी यह विडबना आत्मेच्छाकी है।

यथायोग्य दशाका अभी मुमुक्षु हूँ। कितनी तो प्राप्त हुई है। तथापि सम्पूर्ण प्राप्त हुए बिना यह जीव शांति प्राप्त करे ऐसी दशा प्रतीत नही होती। एक पर राग और एक पर द्वेष ऐसी स्थिति एक रोममे भी उसे प्रिय नही है। अधिक क्या कहे? परके परमार्थके सिवायकी तो देह ही नही भाती। आत्म-कल्याणमे प्रवृत्ति कीजियेगा।

वि० रायचदके यथायोग्य

---

१३५ ववाणिया, द्वितीय भादो सुदी १४, रवि, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयो,

मुमुक्षुताके अशोसे गृहीत हुआ आपका हृदय परम सन्तोष देता है। अनादिकालका परिभ्रमण अब समाप्तिको प्राप्त हो ऐसी अभिलाषा, यह भी एक कल्याण ही है। कोई ऐसा यथायोग्य समय आ जायेगा कि जब इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जायेगी।

निरन्तर वृत्तियाँ लिखते रहियेगा। अभिलाषाको उत्तेजन देते रहियेगा। और नीचेकी धर्मकथाका श्रवण किया होगा तथापि पुनः पुनः उसका स्मरण कीजियेगा।

सम्यक्‌दशाके पाँच लक्षण हैं :—

शम
संवेग
निर्वेद } अनुकंपा
आस्था

क्रोधादि कषायोंका शात हो जाना, उदयमे आये हुए कषायोंमे मंदता होना, मोड़ी जा सके ऐसी आत्मदशा होना अथवा अनादिकालकी वृत्तियाँ शात हो जाना, यह 'शम' है।

मुक्त होनेके सिवाय दूसरी किसी भी प्रकारकी इच्छाका न होना, अभिलाषाका न होना, यह 'संवेग' है।

जबसे यह समझमे आया कि भ्रांतिमे ही परिभ्रमण किया, तबसे अब बहुत हो गया, अरे जीव ! अब ठहर, यह 'निर्वेद' है।

जिनका परम माहात्म्य है ऐसे निःस्पृह पुरुषोके वचनमे ही तल्लीनता, यह 'श्रद्धा' 'आस्था' है।

इन सब द्वारा जीवोमे स्वात्मतुल्य बुद्धि होना, यह 'अनुकंपा' है।

ये लक्षण अवश्य मनन करने योग्य हैं, स्मरण करने योग्य हैं, इच्छा करने योग्य है, और अनुभव करने योग्य हैं। अधिक अन्य प्रसगपर। वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१३६ ववाणिया, द्वितीय भादो सुदी १४, रवि, १९४६

आपका संवेग-भरा पत्र मिला। पत्रोसे अधिक क्या बताऊँ ? जब तक आत्मा आत्मभावसे अन्यथा अर्थात् देहभावसे व्यवहार करेगा, मै करता हूँ, ऐसी बुद्धि करेगा, मै ऋद्धि इत्यादिसे अधिक हूँ यो मानेगा, शास्त्रको जालरूप समझेगा, मर्मके लिये मिथ्या मोह करेगा, तब तक उसकी शाति होना दुर्लभ है, यही इस पत्रसे बताता हूँ। इसीमे बहुत समाया हुआ है। कई स्थलोमे पढा हो, सुना हो तो भी इसपर अधिक ध्यान रखियेगा। रायचंद

---

१३७ मोरबी, द्वितीय भादो वदी ४, गुरु, १९४६

पत्र मिला। 'शातिप्रकाश' नही मिला। मिलनेपर योग्य सूचित करूँगा। आत्मशातिमे प्रवृत्ति कीजियेगा।

वि० रायचदके यथायोग्य।

---

१३८ मोरबी, द्वितीय भादो वदी ६, शनि, १९४६

योग्यता प्राप्त करे।

इसी प्रकार मिलेगी।

---

१३९ मोरबी, द्वितीय भादो वदी ७, रवि, १९४६

मुमुक्षु भाइयो,

कल मिले हुए पत्रकी पहुँच पत्रसे दी है। उस पत्रमे लिखे हुए प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर नीचे यथा-मति लिखता हूँ—

आपका प्रथम प्रश्न आठ रुचकप्रदेश सम्बन्धी है।

उत्तराध्ययन शास्त्रमे सर्व प्रदेशोमे कर्मसम्बन्ध बताया है, उसका हेतु यह समझमे आया है कि यह कहना उपदेशार्थ है। 'सर्व प्रदेशमे' कहनेसे, आठ रुचकप्रदेश कर्मरहित नही है, ऐसा शास्त्रकर्ता निषेध करते है, यो समझमे नही आता। असंख्यातप्रदेशी आत्मामे जब मात्र आठ ही प्रदेश कर्मरहित है, तब असंख्यातप्रदेशोंके सामने वे किस गिनतीमे है ? असंख्यातके आगे उनका इतना अधिक लघुत्व है कि शास्त्रकारने उपदेशकी अधिकताके लिये यह बात अंतःकरणमें रखकर बाहरसे इस प्रकार उपदेश किया; और ऐसी ही शैली निरन्तर शास्त्रकारकी है।

अन्तर्मुहूर्त अर्थात् दो घडीके भीतरका कोई भी समय ऐसा साधारणत अर्थ होता है। परन्तु शास्त्रकारकी शैलीके अनुसार इसका अर्थ ऐसा करना पड़ता है कि आठ समयसे अधिक और दो घडीके भीतरका समय अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। परन्तु रूढिमे तो जैसा पहले बताया है वैसा ही समझमे आता है; तथापि शास्त्रकारकी शैली ही मान्य है। जैसे यहाँ आठ समयको बात बहुत लघुत्ववाली होनेसे स्थल स्थलपर शास्त्रमे नही बतायी है, वैसे आठ रुचकप्रदेशकी बात भी है ऐसा मेरा समझना है, और भगवती, प्रज्ञापना, स्थानाग इत्यादि शास्त्र उसकी पुष्टि करते हैं।

फिर मेरी समझ तो ऐसी है कि शास्त्रकारने सभी शास्त्रोमे न होनेवाली भी कोई बात शास्त्रमे कही हो तो कुछ चिन्ताकी बात नही है। उसके साथ ऐसा समझे कि सब शास्त्रोंकी रचना करते हुए उस एक शास्त्रमे कही हुई बात शास्त्रकारके ध्यानमें ही थी। और सभी शास्त्रोकी अपेक्षा कोई विचित्र बात किसी शास्त्रमे कही हो तो इसे अधिक मान्य करने योग्य समझें, कारण कि यह बात किसी विरले मनुष्यके लिये कही गयी होती है, बाकी तो साधारण मनुष्योके लिये ही कथन होता है। ऐसा होनेसे आठ रुचक-प्रदेश निर्बंधन है, यह बात अनिषिद्ध है, ऐसी मेरी समझ है। बाकीके चार अस्तिकायके प्रदेशोके स्थलपर इन रुचकप्रदेशोको रखकर समुद्घात करनेका केवलीसम्बन्धी जो वर्णन है, वह कितनी ही अपेक्षाओसे जीवका मूल कर्मभाव नही है, ऐसा समझानेके लिये है। इस बातकी प्रसगवशात् समागममे चर्चा करें तो ठीक होगा।

दूसरा प्रश्न— 'ज्ञानमे कुछ न्यून चौदह पूर्वधारी अनन्त निगोदको प्राप्त होते है और जघन्यज्ञान-वाले भी अधिकसे अधिक पन्द्रह भवोंमे मोक्षमे जाते है, इस बातका समाधान क्या है?'

इसका उत्तर जो मेरे हृदयमे है, वही बताये देता हूँ कि यह जघन्यज्ञान दूसरा है और यह प्रसग भी दूसरा है। जघन्यज्ञान अर्थात् सामान्यत किन्तु मूल वस्तुका ज्ञान, अतिशय सक्षिप्त होनेपर भी मोक्षके बीजरूप है, इसलिये ऐसा कहा है, और 'एक देश न्यून' चौदहपूर्वधारीका ज्ञान एक मूल वस्तुके ज्ञानके सिवाय दूसरा सब जाननेवाला हुआ, परन्तु देह देवालयमे रहे हुए शाश्वत पदार्थका ज्ञाता न हुआ, और यह न हुआ तो फिर जैसे लक्ष्यके बिना फेंका हुआ तीर लक्ष्यार्थका कारण नही होता वैसे यह भी हुआ। जिस वस्तुको प्राप्त करनेके लिये जिनेन्द्रने चौदह पूर्वके ज्ञानका उपदेश दिया है वह वस्तु न मिली तो फिर चौदह पूर्वका ज्ञान अज्ञानरूप ही हुआ। यहाँ 'देश न्यून' चौदह पूर्वका ज्ञान समझना। 'देश न्यून' कहनेसे अपनी साधारण मतिसे यो समझा जाये कि पढ पढ़कर चौदह पूर्वके अन्त तक आ पहुँचनेमे एकाध अध्ययन या वैसा कुछ रह गया और इससे भटके, परन्तु ऐसा तो नही है। इतने सारे ज्ञानका अभ्यासी एक अल्प भागके लिये अभ्यासमे पराभवको प्राप्त हो, यह मानने जैसा नही है। अर्थात् कुछ भाषा कठिन या कुछ अर्थ कठिन नही है कि स्मरणमे रखना उन्हे दुष्कर हो। मात्र मूल वस्तुका ज्ञान न मिला इतनी ही न्यूनता, उसने चौदह पूर्वके शेष ज्ञानको निष्फल कर दिया। एक नयसे यह विचार भी हो सकता है कि शास्त्र (लिखे हुए पन्ने) उठाने और पढने इसमे कोई अन्तर नही है, यदि तत्त्व न मिला तो; क्योकि दोनोने बोझ ही उठाया। जिसने पन्ने उठाये उसने कायासे बोझ उठाया, और जो पढ़ गया उसने मनसे बोझ उठाया। परन्तु वास्तविक लक्ष्यार्थके बिना उनकी निरुपयोगिता सिद्ध होती है ऐसा समझमे आता है। जिसके घरमे सारा लवण समुद्र है वह तृषातुरकी तृषा मिटानेमें समर्थ नही हैं; परन्तु जिसके घरमे एक मीठे पानीकी 'वीरडी'[1] है, वह अपनी और दूसरे कितनोंकी ही तृषा मिटानेमे समर्थ है, और ज्ञानदृष्टिसे देखते हुए महत्व उसीका है, तो भी दूसरे नयपर अब दृष्टि करनी पड़ती है, और वह यह कि किसी तरह भी शास्त्राभ्यास होगा तो कुछ पात्र होनेकी अभिलाषा होगी, और कालक्रमसे पात्रता भी

१. नदी या तालाबके जलविहीन भागमे पानीके लिये बनाई हुई गढ़ी।

मिलेगी और दूसरोको भी पात्रता देगा। इसलिये यहाँ शास्त्राभ्यासके निषेध करनेका हेतु नही है, परन्तु मूल वस्तुसे दूर जाया जाये ऐसे शास्त्राभ्यासका निषेध करे तो एकान्तवादी नही कहलायेंगे।

इस तरह संक्षेपमें दो प्रश्नोका उत्तर लिखा है। लिखनेकी अपेक्षा वाचासे अधिक समझाना हो सकता है। तो भी आशा है कि इससे समाधान होगा, और यह पात्रताके किन्ही भी अशोको बढ़ायेगा, एकान्त दृष्टिको घटायेगा, ऐसी मान्यता है।

अहो! अनन्त भवोंके पर्यटनमे किसी सत्पुरुषके प्रतापसे इस दशाको प्राप्त इस देहधारीको आप चाहते है, उससे धर्म चाहते हैं, और वह तो अभी किसी आश्चर्यकारक उपाधिमें पड़ा है! निवृत्त होता तो बहुत उपयोगी हो पड़ता। अच्छा! आपको उसके लिये जो इतनी अधिक श्रद्धा रहती है उसका कोई मूल कारण हाथ लगा है? उसपर रखी हुई श्रद्धा, उसका कहा हुआ धर्म अनुभव करनेपर अनर्थकारक तो नही लगेगे? अर्थात् अभी उसकी पूर्ण कसौटी कीजिये; और ऐसा करनेमे वह प्रसन्न है; साथ ही आपको योग्यताका कारण है, और कदाचित् पूर्वापर भी निःशक श्रद्धा ही रहेगी, ऐसा हो तो वैसा ही रखनेमे कल्याण है, यो स्पष्ट कह देना आज उचित लगनेसे कह दिया है। आजके पत्रमे बहुत ही ग्रामीण भाषाका प्रयोग किया है, तथापि उसका उद्देश एक परमार्थ ही है।

आपके समागमके इच्छुक
रायचन्द (अनाम) के प्रणाम।

---

१४० मोरबी, द्वितोय भादो वदी ८, सोम, १९४६

प्रश्नवाला पत्र मिला। प्रसन्न हुआ। प्रत्युत्तर लिखूंगा।

पात्रता-प्राप्तिका प्रयास अधिक करें।

---

१४१ ववाणिया, द्वितीय भादों वदी १२, शुक्र, १९४६

सौभाग्यमूर्ति सौभाग्य,

व्यास भगवान कहते है—

[1]इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः॥

इच्छा और द्वेषसे रहित, सर्वत्र समदृष्टिसे देखनेवाले पुरुष भगवानकी भक्तिसे युक्त होकर भागवती गतिको प्राप्त हुए अर्थात् निर्वाणको प्राप्त हुए।

आप देखें, इस वचनमे कितना अधिक परमार्थ उन्होने समा दिया है? प्रसगवशात् इस वाक्यका स्मरण हो आनेसे लिखा है। निरतर साथ रहने देनेमें भगवानको क्या हानि होती होगी?

आज्ञाकारी

---

१४२ ववाणिया, द्वि० भादों वदी १३, शनि, १९४६

आत्माका विस्मरण क्यों हुआ होगा?

धर्मजिज्ञासु भाई त्रिभुवन, बंबई।

आप और दूसरे जो जो भाई मेरे पाससे कुछ आत्मलाभ चाहते है, वे सब लाभ प्राप्त करें यह मेरे अंतःकरणकी ही इच्छा है। तथापि उस लाभको देनेकी मेरी यथायोग्य पात्रतापर अभी कुछ आवरण है,

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ३, अध्याय २४, श्लोक ४७

और उस लाभको लेनेकी इच्छा करनेवालोंकी योग्यताकी भी मुझे अनेक प्रकारसे न्यूनता मालूम हुआ करती है। इसलिये ये दोनो योग जब तक परिपक्वताको प्राप्त न हो तब तक इच्छित सिद्धिमें विलंब है, ऐसी मेरी मान्यता है। बारबार अनुकपा आ जाती है, परन्तु निरुपायताके आगे क्या करूँ ? अपनी किसी न्यूनताको पूर्णता कैसे कहूँ ? इसलिये ऐसी इच्छा रहा करती है कि अभी तो जैसे आप सब योग्यता प्राप्त कर सकें वैसा कुछ निवेदन करता रहूँ, और जो कुछ स्पष्टीकरण पूछे सो यथामति बताता रहूँ, नही तो योग्यता प्राप्त करते रहे, ऐसा बार-बार सूचित करता रहूँ।

[1]साथमे खीमजोका पत्र है, यह उन्हे दे दें। यह पत्र आपको भी लिखा है, ऐसा समझें।

---

१४३ ववाणिया, द्वि० भादो वदी १३, शनि, १९४६

नीचेकी बातोका अभ्यास तो करते ही रहे —

१. चाहे जिस प्रकारसे भी उदयमे आये हुए और उदयमें आनेवाले कषायोको शात करें।

२ सभी प्रकारकी अभिलाषाकी निवृत्ति करते रहे।

३. इतने काल तक जो किया उस सबसे निवृत्त हो, उसे करनेसे अब रुके।

४. आप परिपूर्ण सुखी है, ऐसा मानें, और बाकीके प्राणियोकी अनुकंपा किया करें।

५. किसी एक सत्पुरुषको खोजे, और उसके चाहे जैसे वचनोमे भी श्रद्धा रखे।

ये पाँचों अभ्यास अवश्य योग्यता देते है। और पाँचवेमे चारोका समावेश हो जाता है, ऐसा अवश्य माने। अधिक क्या कहूँ ? चाहे जिस कालमे भी यह पाँचवाँ प्राप्त हुए बिना इस पर्यटनका अन्त आनेवाला नही है। बाकीके चार इस पाँचवेंकी प्राप्तिमे सहायक है। पाँचवेंके अभ्यासके सिवाय, उसकी प्राप्तिके सिवाय दूसरा कोई निर्वाणमार्ग मुझे नही सूझता; और सभी महात्माओको भी ऐसा ही सूझा होगा—(सूझा है)।

अब जैसे आपको योग्य लगे वैसे करें। आप इन सबकी इच्छा रखते हैं, तो भी अधिक इच्छा करें; शीघ्रता न करें। जितनी शीघ्रता उतनी कचाई और जितनी कचाई उतनी खटाई, इस सापेक्ष कथनका स्मरण करें। प्रारब्धजीवी रायचंदके यथायोग्य।

---

१४४ ववाणिया, द्वि० भादों वदी ३०, सोम, १९४६

आपका पत्र मिला। परमानंद हुआ।

चैतन्यका निरन्तर अविच्छिन्न अनुभव प्रिय है, यही चाहिये है। दूसरी कोई स्पृहा नही रहती। रहती हो तो भी रखनेकी इच्छा नही है। एक "तू ही, तू ही" यही यथार्थ अस्खलित प्रवाह चाहिये। अधिक क्या कहना ? यह लिखनेसे लिखा नही जाता और कहनेसे कहा नही जाता, मात्र ज्ञानगम्य है। अथवा तो श्रेणिश समझमें आने योग्य है। बाकी तो अव्यक्तता ही है। इसलिये जिस निःस्पृह दशाकी ही रटन है, उसके मिलनेपर और इस कल्पिनकी भूल जानेपर छुटकारा है।

कब आगमन होगा ? वि० आ० रा०

---

१४५ ववाणिया, आसोज सुदी २, गुरु, १९४६

मेरा विचार ऐसा होता है कि ······· ···पास आप सदा जायें। हो सके तो जीभसे, नही तो लिखकर बता दें कि मेरा अन्तःकरण आपके प्रति निर्विकल्प ही है, फिर भी मेरी प्रकृतिके दोषसे किसी भी तरह

---

१. देखें साथका आक १४३

आपको दुःखी करनेका कारण न हो इसलिये मैंने आगमनका परिचय कम रखा है, इसके लिये क्षमा कीजियेगा। इत्यादि जैसे योग्य लगे वैसे करके आत्मनिवृत्ति कीजियेगा। अभी इतना ही।

वि० रायचंदके यथायोग्य

---

१४६ ववाणिया, आसोज सुदी ५, शनि, १९४६

[1]ऊंचनीचनो अंतर नथी। समज्या ते पाम्या सद्‌गति॥

तीर्थंकरदेवने राग करनेका निषेध किया है, अर्थात् जब तक राग है तब तक मोक्ष नही होता। तब फिर इसके प्रति राग आप सबके लिये हितकारक कैसे होगा? **लिखनेवाला अव्यक्तदशा**

---

१४७ ववाणिया, आसोज सुदी ६, रवि, १९४६

सुज्ञ भाई खीमजी,

आज्ञाके प्रति अनुग्रहदर्शक संतोषप्रद पत्र मिला।

आज्ञामे ही एकतान हुए बिना परमार्थके मार्गकी प्राप्ति बहुत ही असुलभ है। एकतान होना भी बहुत ही असुलभ है।

इसके लिये आप क्या उपाय करेंगे? अथवा क्या सोचा है? अधिक क्या? अभी इतना भी बहुत है। **वि० रायचन्दके यथायोग्य।**

---

१४८ ववाणिया, आसोज सुदी १०, गुरु, १९४६

पाचेक दिन पहले पत्र मिला, जिस पत्रमे लक्ष्मी आदिकी विचित्र दशाका वर्णन किया है। ऐसे अनेक प्रकारके परित्यागयुक्त विचारोको पलट पलटकर जब आत्मा एकत्व बुद्धिको पाकर महात्माके संगकी आराधना करेगा, अथवा स्वयं किसी पूर्वके स्मरणको प्राप्त करेगा तो इच्छित सिद्धिको प्राप्त करेगा। यह निःसशय है। विस्तारपूर्वक पत्र लिख सकूँ ऐसी दशा नही रहती। **वि० रायचन्दके यथोचित।**

---

१४९ ववाणिया, आसोज सुदी १०, गुरु, १९४६

धर्मध्यान, विद्याभ्यास इत्यादिकी वृद्धि करे।

---

१५० ववाणिया, आसोज, १९४६

यह मै तुझे मौतका औषध देता हूँ। उपयोग करनेमे भूल मत करना।

तुझे कौन प्रिय है? मुझे पहचाननेवाला।

ऐसा क्यो करते है? अभी देर है। क्या होनेवाला है?

हे कर्म! तुझे निश्चित आज्ञा करता हूँ कि नीति और नेकोपर मेरा पैर मत रखवाना।

---

१५१ आसोज, १९४६

तीन प्रकारके वीर्यका विधान किया है—

(१) महावीर्य (२) मध्यवीर्य (३) अल्पवीर्य।

महावीर्यका तीन प्रकारसे विधान किया है—

(१) सात्त्विक (२) राजसी (३) तामसी।

---

१ **भावार्थ**—ऊँचनीचका कोई अतर नही है। जो समझे वे सद्‌गतिको प्राप्त हुए।

सात्त्विक महावीर्यका तीन प्रकारसे विधान किया है—

(१) सात्त्विक शुक्ल (२) सात्त्विक धर्म (३) सात्त्विक मिश्र ।

सात्त्विक शुक्ल महावीर्यका तीन प्रकारसे विधान किया है—

(१) शुक्ल ज्ञान (२) शुक्ल दर्शन (३) शुक्ल चारित्र (शील) ।

सात्त्विक धर्मका दो प्रकारसे विधान किया है—

(१) प्रशस्त (२) प्रसिद्ध प्रशस्त ।

इसका भी दो प्रकारसे विधान किया है—

(१) पण्णत्ते (२) अपण्णत्ते

सामान्य केवली

तीर्थंकर

यह अर्थ समर्थ है ।

---

१५२ ववाणिया, आसोज सुदी ११, शुक्र, १९४६

आज आपका कृपा पत्र मिला ।

साथमें पद मिला ।

सर्वार्थसिद्धकी ही बात है । जैनमे ऐसा कहा है कि सर्वार्थसिद्ध महाविमानकी ध्वजासे बारह योजन दूर मुक्तिशिला है । कबीर भी ध्वजासे आनन्दविभोर हो गये है । उस पदको पढ़कर परमानन्द हुआ । प्रभातमे जल्दी उठा, तबसे कोई अपूर्व आनन्द रहा ही करता था । इतनेमे पद मिला, और मूल-पदका अतिशय स्मरण हो आया, एकतान हो गया । एकाकार वृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है ? दिनके बारह बजे तक रहा । अपूर्व आनन्द तो वैसाका वैसा ही है । परन्तु दूसरी वार्ता (ज्ञानकी) करनेमे उसके बादका कालक्षेप किया ।

[१] "केवलज्ञान हवे पामशु, पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के०" ऐसा एक पद बनाया । हृदय बहुत आनन्दमे है ।

---

१५३ ववाणिया, आसोज सुदी १२, शनि, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयो,

आज आपका एक पत्र मिला (अबालालका) ।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है ।

[२]ससारमे रहना और मोक्ष होना कहना, यह होना असुलभ है ।

वि० रायचन्दके यथायोग्य ।

---

१५४ मोरबी, आसोज, १९४६

ॐ

***बीजां साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप ।**
अथवा असद्गुरु थकी, ऊलटो वध्यो उताप ।।

---

१ अर्थात् केवलज्ञान अब पायेंगे, पायेंगे, पायेंगे रे के० । २. देखें आक ८६ ।

* भावार्थ—अपनी कल्पनासे अथवा असद्गुरुके योगसे सुखके लिये दूसरे बहुतसे साधन किये; परन्तु सुखके बदले दु ख ही बढा ।

[1]पूर्व पुण्यना उदयथी, मळयो सद्गुरु योग।
वचन सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोग ॥
[2]निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप।
नित्य कर्यो सत्संग में, एक लक्षथी आप ॥

---

१५५ बंबई, १९४६

कितनी ही बाते ऐसी है कि जो मात्र आत्मग्राह्य है, और मन, वचन एवं कायासे पर हैं। कितनी ही बातें ऐसी है कि जो वचन और कायासे पर हैं; परन्तु है।

श्री भगवान। श्री मघशाप[3]। श्री बखलाघ[4]।

---

१५६ बंबई, १९४६

पहले तीन कालको मुट्ठीमे लिया, इसलिये महावीरदेवने जगतको इस प्रकार देखा—

उसमे अनन्त चैतन्यात्मा मुक्त देखे।

अनन्त चैतन्यात्मा बद्ध देखे।

अनन्त मोक्षपात्र देखे।

अनन्त मोक्ष-अपात्र देखे।

अनन्त अधोगतिमे देखे।

ऊर्ध्वगतिमे देखे।

उसे पुरुषाकारमे देखा।

जड चैतन्यात्मक देखा।

---

१५७ सं० १९४६

दैनंदिनी[5]

(१) बबई, कार्तिक वदी १, शुक्र, १९४६

नाना-प्रकारका मोह क्षीण हो जानेसे आत्माकी दृष्टि अपने गुणसे उत्पन्न होनेवाले सुखकी ओर जाती है, और फिर उसे प्राप्त करनेका वह प्रयत्न करती है। यही दृष्टि उसे उसकी सिद्धि देती है।

---

(२) बंबई, कार्तिक वदी २, रवि, १९४६

हमने आयुका प्रमाण नही जाना है। बालावस्था नासमझीमे व्यतीत हुई। माने कि ४६ वर्षकी आयु होगी, अथवा वृद्धता देख सकेंगे इतनी आयु होगी। परन्तु उसमे शिथिल दशाके सिवाय और कुछ नही देख सकेंगे। अब मात्र एक युवावस्था रही। उसमे यदि मोहनीयबलवत्तरता न घटी तो सुखसे निद्रा

---

१. **भावार्थ**—पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उनके वचनामृत कर्णगोचर होनेसे हृदय शोकरहित हो गया।

२ **भावार्थ**—इससे मुझे निश्चय हुआ कि अब यही दुःख दूर हो जायेगा। फिर मैंने एकनिष्ठासे निरन्तर सत्संग किया।

३ वर्णमालाका पहला एक एक अक्षर पढनेसे 'भगवान' शब्द बनता है।

४ वर्णमालाका दूसरा एक एक अक्षर पढनेसे 'भगवान' शब्द बनता है।

५ संवत् १९४६ की दैनदिनीमे श्रीमद्ने अमुक तिथियोंमे अपनी विचारचर्या लिखी है। किसीने इस दैनंदिनीमेंसे कुछ पन्ने फाड लिये मालूम होते हैं। उसमे जितने पन्ने विद्यमान हैं वे यहाँ दिये हैं।

नही आयेगी, नीरोग रहा नही जायेगा, अनिष्ट सकल्प-विकल्प दूर नही होगे और जगह-जगह भटकना पडेगा, और वह भी ऋद्धि होगी तो होगा, नही तो पहले उसके लिये प्रयत्न करना पडेगा। वह इच्छा-नुसार मिली या न मिली यह तो एक ओर रहा, परन्तु कदाचित् निर्वाह योग्य मिलनी भी दुर्लभ है। उसी-की चिन्तामे, उसीके विकल्पमे और उसे प्राप्तकर सुख भोगेगे इसी संकल्पमे मात्र दु खके सिवाय और कुछ नही देख सकेगे। इस वयमे किसी कार्यमे प्रवृत्ति करनेसे सफल हो गये तो एकदम घमड आ जायेगा। सफल न हुए तो लोगोका भेद और अपना निष्फल खेद बहुत दु.ख देगा। प्रत्येक समय मृत्युके भयवाला, रोगके भयवाला, आजीविकाके भयवाला, यश होगा तो उसकी रक्षाके भयवाला, अपयश होगा तो उसे दूर करनेके भयवाला, लेनदारी होगी तो उसे लेनेके भयवाला, ऋण होगा तो उसकी चिन्ताके भयवाला, स्त्री होगी तो उसकी के भयवाला, नही होगी तो उसे प्राप्त करनेके विचारवाला, पुत्रपौत्रादि होगे तो उनकी किचकिचके भयवाला, नही होगे तो उन्हे प्राप्त करनेके विचारवाला, कम ऋद्धि होगी तो अधिकके विचारवाला, अधिक होगी तो उसे संचित रखनेके विचारवाला, ऐसा ही सभी साधनोके लिये अनुभव होगा। क्रमसे या अक्रमसे सक्षेपमे कहना यह है कि अब सुखका समय कौनसा कहना? बालावस्था? युवावस्था? जरावस्था? नीरोगावस्था? रोगावस्था? धनावस्था? निर्धनावस्था? गृहस्थावस्था? अगृहस्थावस्था?

इस सब प्रकारके बाह्य परिश्रमके बिना अनुपम अन्तरग विचारसे जो विवेक हुआ वही हमे दूसरी दृष्टि देकर सर्व कालके लिय सुखी करता है। इसका आशय क्या? यही कि अधिक जिये तो भी सुखी, कम जिये तो भी सुखी, फिर जन्मना हो तो भी सुखी, न जन्मना हो तो भी सुखी।

---

(३) बंबई, मगसिर सुदी १-२, रवि, १९४६

हे गौतम! उस काल और उस समयमे छद्मस्थ अवस्थामे, मै एकादश वर्षके पर्यायमे, षष्ठभक्तसे षष्ठभक्त ग्रहण करके, सावधानतासे निरन्तर तपश्चर्या और सयमसे आत्मताकी भावना करते हुए, पूर्वा-नुपूर्वीसे चलते हुए, एक गाँवसे दूसरे गाँवमे जाते हुए, जहाँ सुषुमारपुर नगर, जहा अशोक वनखड उद्यान, जहाँ अशोकवर पादप, जहाँ पृथ्वीशिलापट्ट था, वहा आया, आकर अशोकवर पादपके नीचे, पृथ्वीशिला-पट्टपर अष्टमभक्त ग्रहण करके, दोनो पैरोको संकुचित करके, करोको लम्बा करके, एक पुद्गलमे दृष्टिको स्थिर करके, अनिमेष नयनसे, शरीरको जरा नीचे आगे झुकाकर, योगकी समाधिसे, सर्व इन्द्रियोको गुप्त करके, एक रात्रिकी महा प्रतिमा धारण करके, विचरता था। (चमर)[1]

---

(४) बंबई, पौष सुदी ३, बुध, १९४६

नीचेके नियमोपर बहुत ध्यान दे—

१. एक बात करते हुए उसके पूरी न होने तक आवश्यकताके बिना दूसरी बात नही करनी चाहिये।

२ कहनेवालेकी बात पूरी सुननी चाहिये।

३ स्वय धीरजसे उसका सदुत्तर देना चाहिये।

४ जिसमे आत्मश्लाघा या आत्महानि न हो वह बात कहनी चाहिये।

५ धर्मसम्बन्धी अभी बहुत ही कम बात करना।

६ लोगोसे धर्मव्यवहारमे नही पड़ना।

---

१. श्री भगवती सूत्र, शतक ३, उद्देशक २।

(५) बंबई, वैशाख वदी ४, गुरु, १९४६

*आज मने उछरंग अनुपम, जन्मकृतार्थ जोग जणायो।
वास्तव्य वस्तु, विवेक विवेचक ते क्रम स्पष्ट सुमार्ग गणायो॥

---

(६) बंबई, वैशाख वदी ५, शुक्र, १९४६

इच्छारहित कोई प्राणी नही है। उसमे भी मनुष्य प्राणी विविध आशाओसे घिरा हुआ है। जब तक इच्छा-आशा अतृप्त है तब तक वह प्राणी अधोवृत्तिवत् है। इच्छाजयी प्राणी ऊर्ध्वगामीवत् है।

---

(७) बंबई, जेठ सुदी ४, गुरु, १९४६

हे परिचयी! आपसे मै अनुरोध करता हूँ कि आप अपनेमे योग्य होनेकी इच्छा उत्पन्न करें। मैं उस इच्छाको पूर्ण करनेमे सहायक होऊँगा।

आप मेरी अनुयायी हुई, और उसमे जन्मातरके योगसे मुझे प्रधानपद मिलनेसे आप मेरी आज्ञाका अवलंबन करके व्यवहार करे यह उचित माना है।

और मै भी आपके साथ उचितरूपसे व्यवहार करना चाहता हूँ, दूसरी तरह नही।

यदि आप पहले जीवनस्थिति पूर्ण करें, तो धर्मार्थके लिये मुझे चाहे, ऐसा करना उचित मानता हूँ, और यदि मै करूँ तो धर्मपात्रके तौरपर मेरा स्मरण हो, ऐसा होना चाहिये।

दोनो धर्ममूर्त्ति होनेका प्रयत्न करें, बडे हर्षसे प्रयत्न करें।

आपकी गतिसे मेरी गति श्रेष्ठ होगी, ऐसा अनुमान किया है—मतिमे। उसका लाभ आपको देना चाहता हूँ, क्योकि आप बहुत ही निकटके सम्बन्धी हैं। वह लाभ आप लेना चाहती हो तो दूसरी धारामे कहे अनुसार जरूर करेगी ऐसी आशा रखता हूँ।

आप स्वच्छताको बहुत ही चाहे। वीतराग भक्तिको बहुत ही चाहे। मेरी भक्तिको समभावसे चाहे। आप जिस समय मेरी सगतिमे हो उस समय ऐसे रहें कि मुझे सभी प्रकारसे आनंद हो।

विद्याभ्यासी होवे। मुझमे विद्यायुक्त विनोदी संभाषण करें। मैं आपको युक्त बोध दूँगा। उससे आप रूपसंपन्न, गुणसंपन्न और ऋद्धि तथा बुद्धिसपन्न होगी।

फिर यह दशा देखकर मै परम प्रसन्न होऊँगा।

---

(८) बंबई, जेठ सुदी ११, शुक्र, १९४६

सबेरेका छ से आठ तकका समय समाधियुक्त बीता था। अखाजीके विचार बहुत स्वस्थ चित्तसे पढ़े थे, मनन किये थे।

---

(९) बंबई, जेठ सुदी १२, शनि, १९४६

कल रेवाशकरजी आनेवाले है, इसलिये तबसे नीचेके क्रमका पार्श्व प्रभु पालन करायें—

१ कार्यप्रवृत्ति।

२. साधारण भाषण—सकारण।

३. दोनोके अतःकरणकी निर्मल प्रीति।

---

*भावार्थ—आज मुझे अनुपम आनन्द हुआ है, जन्मकी कृतार्थताका योग प्रतीत हुआ है। वस्तुकी यथार्थता, विवेक और विवेचनके क्रमका सुमार्ग स्पष्टतासे प्रतीत हुआ है।

४ धर्मानुष्ठान।
५. वैराग्यकी तीव्रता।

---

(१०) बंबई, जेठ वदी ११, शुक्र, १९४६

तुझे अपना अस्तित्व माननेमें कहाँ शका है ? शंका हो तो वह ठीक भी नही है।

---

(११) बबई, जेठ वदी १२, शनि, १९४६

कल रात एक अद्भुत स्वप्न आया था। जिसमे दो एक पुरुषोके सामने इस जगतकी रचनाके स्वरूपका वर्णन किया था, पहले सब कुछ भुलाकर पीछे जगतका दर्शन कराया था। स्वप्नमे महावीरदेवकी शिक्षा सप्रमाण हुई थी। इस स्वप्नका वर्णन बहुत सुन्दर और चमत्कारिक होनेसे परमानन्द हुआ था। अब फिर तत्सम्बन्धी अधिक।

---

(१२) बबई, आषाढ सुदी ४, शनि, १९४६

कलिकालने मनुष्यको स्वार्थपरायण और मोहवश किया।
जिसका हृदय शुद्ध है और जो सतकी बतायी हुई राहसे चलता है, उसे धन्य है।
सत्संगके अभावसे चढी हुई आत्मश्रेणी प्रायः पतित होती है।

---

(१३) बंबई, आषाढ सुदी ५, रवि, १९४६

जब यह व्यवहारोपाधि ग्रहण की तब उसे ग्रहण करनेका हेतु यह था —

भविष्यकालमे जो उपाधि बहुत समय लेगी, वह उपाधि अधिक दुःखदायक हो तो भी थोड़े समयमें भोग लेनी यह अधिक श्रेयस्कर है।

यह उपाधि निम्नलिखित हेतुओसे समाधिरूप होगी ऐसा माना था :—

धर्मसम्बन्धी अधिक बातचीत इस कालमे गृहस्थावस्थामे न हो तो अच्छा।

भले तुझे विषम लगे, परन्तु इसी क्रममे प्रवृत्ति कर। अवश्य ही इसी क्रममे प्रवृत्ति कर। दुःखको सहन करके, क्रमकी रक्षाके परिषहको सहन करके, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गको सहन करके तू अचल रह। अभी कदाचित् अधिकतर विषम लगेगा, परन्तु परिणाममे वह विषम सम हो जायेगा। घेरेमे तू मत फँसना। बार-बार कहता हूँ मत फँसना, दुःखी होगा, पश्चात्ताप करेगा, इसकी अपेक्षा अभीसे इन वचनोंको हृदयमे उतार—प्रीतिपूर्वक उतार।

१. किसीके भी दोष मत देख। जो कुछ होता है, वह तेरे अपने दोषसे होता है, ऐसा मान।

२. तू अपनी (आत्म) प्रशसा मत करना, और करेगा तो तू ही हलका है ऐसा मै मानता हूँ।

३ जैसा दूसरोको प्रिय लगे वैसा अपना बर्ताव रखनेका प्रयत्न करना। उसमे तुझे एकदम सिद्धि नही मिलेगी, अथवा विघ्न आयेंगे, तथापि दृढ आग्रहसे धीरे-धीरे उस क्रमपर अपनी निष्ठा जमाये रखना।

४ तू व्यवहारमे जिसके साथ सम्बद्ध हुआ हो उसके साथ अमुक प्रकारसे बरताव करनेका निर्णय करके उसे बता दे। उसे अनुकूल आ जाये तो वैसे, नही तो जैसे वह कहे वैसे बरताव करना। साथ ही बता देना कि आपके कार्यमे (जो मुझे सौंपेंगे उसमे) किसी प्रकारसे मै अपनी निष्ठाके कारण हानि नहीं पहुँचाऊँगा। आप मेरे सम्बन्धमे दूसरी कोई कल्पना न करे, मुझे व्यवहार सम्बन्धी अन्यथा भाव नहीं है, और मैं आपसे वैसा बरताव करना भी नही चाहता। इतना ही नही, परन्तु मनवचनकायासे मेरा कुछ

विपरीताचरण हो गया तो उसके लिये पश्चात्ताप करूँगा। ऐसा नही करनेके लिये आगेसे बहुत सावधानी रखूँगा। आपका सौंपा हुआ काम करते हुए मैं निरभिमानी रहूँगा। मेरी भूलके लिये मुझे उपालम्भ देंगे उसे सहन करूँगा। मेरा बस चलेगा वहाँ तक स्वप्नमे भी आपका द्वेष या आपके सम्बन्धमे किसी भी प्रकारकी अन्यथा कल्पना नही करूँगा। आपको किसी प्रकारकी शंका हो तो मुझे बताइयेगा, तो आपका उपकार मानूँगा, और उसका सच्चा स्पष्टीकरण करूँगा। स्पष्टीकरण न हुआ तो मौन रहूँगा, परन्तु असत्य नही बोलूँगा। आपसे मात्र इतना ही चाहता हूँ कि किसी भी प्रकारसे आप मेरे निमित्तसे अशुभ योगमे प्रवृत्ति न करें। आप अपनी इच्छानुसार वर्तन करें, इसमे मुझे कुछ भी अधिक कहनेकी जरूरत नही है। मात्र मुझे मेरी निवृत्तिश्रेणिमे प्रवृत्ति करने देते हुए किसी तरह अपना अन्तःकरण छोटा न करें; और यदि छोटा करनेकी आपकी इच्छा हो तो अवश्य मुझे पहलेसे कह दें। उस श्रेणिको निभानेकी मेरी इच्छा है और उसके लिये मै योग्य कर लूँगा। मेरा बस चलेगा तब तक मैं आपको दुःखी नहीं करूँगा और आखिर यही निवृत्तिश्रेणि आपको अप्रिय होगी तो भी मै यथाशक्ति सावधानीसे, आपके समीपसे, आपको किसी भी प्रकारकी हानि पहुँचाये बिना शक्य लाभ पहुँचाकर, भविष्यके चाहे जिस कालके लिये भी वैसी इच्छा रखकर खिसक जाऊँगा।

---

(१४) बम्बई, आषाढ़ वदी ४, रवि, १९४६

विश्वासमे व्यवहार करके अन्यथा व्यवहार करनेवाले आज पछतावा करते हैं।[1]

---

(१५) बम्बई, आषाढ वदी ११, शनि, १९४६

तुच्छ[2] और [3]वाचाहीन यह जगत तो देखे।

---

(१६) बम्बई, आषाढ वदी १२, रवि, १९४६

दृष्टि ऐसी स्वच्छ करें कि जिसमे सूक्ष्मसे सूक्ष्म दोष भी दिखायी दे सके; और दिखायी देनेसे उनका क्षय हो सके।

---

(१७) ववाणिया, आसोज सुदी १०, गुरु, १९४६

बीजज्ञान।
शोधे तो केवलज्ञान।

भगवान महावीरदेव।

कुछ कहा जा सके ऐसा यह स्वरूप नही है।

ज्ञानी रत्नाकर

१ ३
\+
२ ४

ये सब नियतियाँ किसने कही ?

हमने ज्ञानसे देखकर फिर जैसी योग्य प्रतीत हुई वैसी व्याख्या की।

भगवान महावीरदेव।

१०, ९, ८, ७, ६, ४, ३, २, १

पाठान्तर–१. कराते हैं। २ अविद्यमान। ३. अयाचित।

(१८) ववाणिया, आसोज सुदी ११, शुक्र, १९४६

ये बँधे हुए पाते हैं मोक्ष ऐसा क्यों नही कह देना ?
ऐसी किसे इच्छा रही है कि वैसे होने देता है ?
जिनेंद्रके वचनोकी रचना अद्भुत है, इसमे तो ना नही।
परन्तु पाये हुए पदार्थका स्वरूप उसके शास्त्रोमे क्यो नही ?
क्या उसे आश्चर्य नही लगा होगा, या छिपाया होगा ?

---

१५७ अ

वे श्रीमान पुरुषोत्तम सत्-चित्-आनन्दरूपसे सर्वत्र व्याप्त है। मूर्तिमान ! (गुरुगम) स्वरूप अक्षयधाममे विराजते है। हम उस मूर्तिमान स्वरूपका क्या वर्णन करे ? उस स्वरूपका विचार करते हुए, स्मरण करते हुए हमे तो परम समाधि आती है। अहो वह स्वरूप ! अहो वह स्वरूप ! अहो हमारा महाभाग्य कि इस जन्ममे हमे उसकी भक्तिकी दृढ रुचि हुई !

१५८

ॐ

सत्

श्रीमान पुरुषोत्तम, श्री सद्गुरु और सन्त इनमे हमे भेदबुद्धि है ही नही। तीनो एकरूप ही है।
यह समस्त विश्व भगवद्रूप ही है। वे भगवान ही स्वेच्छासे जगदाकार हुए है।

तीनो कालमे भगवान भगवत्स्वरूप ही है। विश्वाकार होते हुए भी निर्बाध ही है। जैसे सर्प कुंडलाकार हो जानेसे किसी भी प्रकारके विकारको प्राप्त नही होता, और स्वरूपसे च्युत नही होता, वैसे श्री हरि जगदाकार होनेपर भी स्वरूपमे ही है।

हमारा और सर्व ज्ञानियोका निश्चय है कि अनन्त स्वरूपसे एक वे भगवान ही है।

अनन्तकाल पहले यह समस्त विश्व उन श्रीमान भगवानमे ही उत्पन्न हुआ था, और अनन्तकालमे लय होकर वह भगवद्रूप ही होगा।

चित् और आनन्द ये दो 'पदार्थ' भगवानने जडमे तिरोभाव किये है। जीवमे एक आनन्दका ही तिरोभाव किया है। स्वरूपसे तो सर्व सत्-चित्-आनन्दरूप ही है। स्वरूपलीला भजनेके लिये भगवानकी आविर्भाव और तिरोभाव नामकी शक्तियाँ प्रवर्तित है।

यह जड या जीव कहीं औरसे नही आये है। उनकी उत्पत्ति श्रीमान हरिसे ही है। उसके वे अंश ही है; ब्रह्मरूप ही हैं, भगवद्रूप ही हैं।

यह सब जो कुछ प्रवर्तित है वह सब श्रीमान हरिसे ही प्रवर्तित है। सब वही है। सर्व तद्रूप ही है। भिन्नभाव और भेदाभेदका अवकाश ही नही है, वैसा है ही नही। ईश्वरेच्छासे वैसा भासित हुआ है, और वह उन (श्रीमान हरि) को ही भासित हुआ है; अर्थात् तू वही है। **'तत्त्वमसि'**।

आनन्दके अंशका आविर्भाव होनेसे जीव उसे खोजता है और इसलिये जिसमे चित् और आनन्द इन दो अंशोका तिरोभाव किया है उस जड़मे खोजनेके भ्रममे पड़ा है; परन्तु वह आनन्दस्वरूप तो भगवानमे ही प्राप्त होनेवाला है। जिसके प्राप्त होनेपर, ऐसा अखण्ड बोध होनेपर यह समस्त विश्व ब्रह्म-रूप ही, भगवद्रूप ही भासित होगा, ऐसा ही है। ऐसा हमारा निश्चित अनुभव है ही।

जब यह समस्त विश्व भगवद्‌स्वरूप लगेगा तब जीवभाव मिटकर सत्–चित्–आनन्द ऐसा ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होगा। **'अहं ब्रह्मास्मि'**। [अपूर्ण]

१५९

उन अचिंत्यमूर्ति हरिको नमस्कार

परम प्रेमस्वरूप आनन्दमूर्ति आनन्द ही जिसका स्वरूप है ऐसे श्रीमान हरिके चरणकमलकी अनन्य भक्ति हम चाहते हैं। वारंवार और असंख्य प्रकारसे हमने विचार किया कि किस तरह हम समाधिरूप होवें ? तो उस विचारका आखिर यह निर्णय हुआ कि सर्वरूपसे एक श्री हरि ही हैं ऐसा तुझे निश्चय करना ही है।

सर्वत्र आनन्दरूप सत् है। व्यापक श्री हरिको निराकार मानते हैं और केवल उस सर्वके बीजभूत अक्षरधाममे श्री पुरुषोत्तम साकार सुशोभित हैं।

केवल वह आनन्दकी ही मूर्ति है। सर्व सत्ताकी बीजभूत उस शाश्वत मूर्तिको हम वारंवार देखनेके लिये तरसते है।

अनन्त प्रदेशभूत ऐसे उन श्री पुरुषोत्तमका स्वरूप रोम-रोममे अनन्त ब्रह्मांडात्मक सत्तासे व्याप्त है, ऐसा निश्चय है, यो दृढ करता हूँ।

इस सृष्टिसे पहले श्रीमान पुरुषोत्तम एक ही थे और वे अपनी इच्छासे जगदाकार हुए है।

बीजभूत ऐसे वे श्रीमान परमात्मा ऐसी महाविस्तृत स्थितिमे आते हैं। परिपूर्ण अमृतरस उस बीजको वृक्षरूप होनेमे श्री हरि प्रेरित करते है।

वह अमृतरस उन श्री पुरुषोत्तमकी इच्छारूप नियतिका सर्व प्रकारसे अनुसरण करता है, कारण कि वह वही है।

अनन्तकालसे श्रीमान हरि इस जगतको समेटते है। उत्पत्तिसे पहले बंध मोक्ष कुछ था ही नही और अनन्त लयके पश्चात् होगा भी नही। हरि ऐसा चाहते ही है कि एक ऐसा मैं बहुरूप होऊँ और वैसे होते है।

१६०

पन्ना १[1] यह विश्व चैतन्याधिष्ठित होना योग्य है।

पन्ना २ विशिष्टाद्वैतमे हमारी परम रुचि है।

यद्यपि एक शुद्धाद्वैत ही समक्षमें आता है।
और ऐसा ही है।

सत्, चित्, आनंद } हरि { जड़, जीव, परमात्मा

और यही हमारी अन्तरकी परम रुचि है।

परमात्मा आनन्द, सत् और चिन्मय है।

---

१. एक मुमुक्षुसे प्राप्त श्रीमद्‌के स्वहस्ताक्षरकी नोटबुक, जिसमें इस तरहके ३१ पन्ने लिखे हुए है।

पन्ना ३ परमात्मसृष्टि किसीको विषम होने योग्य नही है ।

पन्ना ४ जीवसृष्टि जीवको विषमताके लिये स्वीकृत है ।

पन्ना ५–६ परमात्मसृष्टि परम ज्ञानमय और परम
आनन्दसे परिपूर्ण व्याप्त है ।

पन्ना ७ जीवको स्वसृष्टिसे उदासीन होना योग्य है ।

पन्ना ८ हरिकी प्राप्तिके बिना जीवका क्लेश दूर नही होता ।

पन्ना ९ हरिके गुणग्रामका अनन्य चिंतन नही है,
यह चिंतन भी विषम है ।

पन्ना १० हरिमय ही हम होनेके योग्य हैं ।

पन्ना ११ हरिकी माया है, उससे वह प्रवृत्त होता है ।
हरिको वह प्रवृत्त कर सकने योग्य है ही नहो ।

पन्ना १२ वह माया भी होनेके योग्य ही है ।

पन्ना १३ माया न होती तो हरिका अकलत्व कौन कहता ?

पन्ना १४ माया ऐसी नियतिसे युक्त है कि उसका प्रेरक अबधन ही होने योग्य है ।

पन्ना १५ हरि हरि ऐसा ही सर्वत्र हो,
वही प्रतीत हो, उसीका भान हो ।
उसीकी सत्ता हमे भासित हो ।
उसमे ही हमारा अनन्य, अखण्ड
अभेद""होना योग्य ही था ।

पन्ना १६ जीव अपनी सृष्टिपूर्वक अनादिकालसे परिभ्रमण करता है ।
हरिकी सृष्टिसे अपनी सृष्टिका अभिमान मिटता है ।

पन्ना १७ ऐसा समझानेके लिये, प्राप्ति होनेके लिये हरिका अनुग्रह चाहिये ।

पन्ना १८ तपश्चर्यावान प्राणीको संतोष देना इत्यादि साधन उस परमात्माके अनुग्रहके कारणरूप होते हैं ।

पन्ना १९ उस परमात्माके अनुग्रहसे पुरुष वैराग्य विवेक आदि साधनसंपन्न होता है।

पन्ना २० इन साधनोसे युक्त ऐसा योग्य पुरुष सद्गुरुकी आज्ञाको समुत्थित करने योग्य है।

पन्ना २१-२२ ये साधन जीवकी परम योग्यता और यही परमात्माकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय हैं।

पन्ना २३ सभी कुछ हरिरूप ही है। इसमें फिर भेद कैसा ?

भेद है ही नही।

सर्व आनन्दरूप ही है।

ब्राह्मी स्थिति।

स्थापितो ब्रह्मवादो हि,

सर्व वेदांतगोचरः।

पन्ना २४ यह सब ब्रह्मरूप ही है, ब्रह्म ही है।

ऐसा हमारा दृढ निश्चय है।

इसमे कोई भेद नही है; जो है वह सर्व ब्रह्म ही है।

मर्वत्र ब्रह्म है, सर्वरूप ब्रह्म है। उसके सिवाय कुछ नही है।

जीव ब्रह्म है, जड ब्रह्म है। हरि ब्रह्म है, हर ब्रह्म है।

ब्रह्मा ब्रह्म है। ॐ ब्रह्म है। वाणी ब्रह्म है। गुण ब्रह्म है।

मत्त्व ब्रह्म है। रजो ब्रह्म है। तमो ब्रह्म है। पंचभूत ब्रह्म है।

आकाश ब्रह्म है। वायु ब्रह्म है। अग्नि ब्रह्म है। जल भी ब्रह्म है।

पृथ्वी भी ब्रह्म है। देव ब्रह्म है। मनुष्य ब्रह्म है। तिर्यंच ब्रह्म है।

नरक ब्रह्म है। सर्व ब्रह्म है। अन्य नही है।

पन्ना २५ काल ब्रह्म है। कर्म ब्रह्म है। स्वभाव ब्रह्म है। नियति ब्रह्म है।

ज्ञान ब्रह्म है। ध्यान ब्रह्म है। जप ब्रह्म है। तप ब्रह्म है। सर्व ब्रह्म है।

नाम ब्रह्म है। रूप ब्रह्म है। शब्द ब्रह्म है। स्पर्श ब्रह्म है। रस ब्रह्म है।

गंध ब्रह्म है। सर्व ब्रह्म है।

ऊँचे नीचे तिरछे सर्व ब्रह्म है।

एक ब्रह्म है। अनेक ब्रह्म है।

ब्रह्म एक है, अनेक भासित होता है।

सर्व ब्रह्म है।

सर्व ब्रह्म है।

सर्व ब्रह्म है।

ॐ शांति· शांतिः शांतिः।

पन्ना २६ सर्व ब्रह्म है, इसमे संशय नही।

मैं ब्रह्म, तू ब्रह्म, वह ब्रह्म इसमें संशय नही।

हम ब्रह्म, आप ब्रह्म, वे ब्रह्म इसमें संशय नही।
जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म, इसमे संशय नही।
जो ऐसा नही जानता वह भी ब्रह्म, इसमे सशय नही।
जीव ब्रह्म है, इसमे संशय नही।
जड ब्रह्म है, इसमे संशय नही।
ब्रह्म जीवरूप हुआ है, इसमे संशय नही।
ब्रह्म जडरूप हुआ है, इसमे संशय नही।

सर्व ब्रह्म है, इसमे संशय नही।
ॐ ब्रह्म।
सर्व ब्रह्म, सर्व ब्रह्म।
ॐ शांतिः शातिः शांतिः।

पन्ना २७ सर्व हरि है, इसमे सशय नही।

पन्ना २८ यह सब आनन्दरूप ही है, आनन्द ही है, इसमे संशय नही।

पन्ना २९ हरि ही सर्वरूप हुआ है।
—हरिका अंश हूँ।
१. उसका परमदासत्व करने योग्य हूँ, ऐसा दृढ निश्चय करना, इसे हम विवेक कहते है।
२. ऐसे दृढ निश्चयको उस हरिकी माया आकुल करनेवाली लगती है, वहाँ धैर्य रखना।
३. वह सब रहनेके लिये उस परम रूप हरिका आश्रय अगीकार करना अर्थात् 'मै' के स्थानपर हरिको स्थापित करके मैं को दासत्व देना—
४ ऐसे ईश्वराश्रयी होकर प्रवृत्ति करें,
ऐसा हमारा निश्चय आपको रुचे।

पन्ना ३० केवल पद

---

[1]कक्का केवळ पद उपदेश।
कहीशुं प्रणमी देव रमेश॥

पन्ना ३१ १. कोई भी वस्तु किसी भी भावसे परिणत होती है।
२. जो किसी भी भावसे परिणत नही, वह अवस्तु है।
३. कोई भी वस्तु केवल परभावमे समवतरित नही होती।
४. जिससे, जो सर्वथा मुक्त हो सके वह वह न था, ऐसा जानते हैं।
५.

---

१. भावार्थ :—रमेशदेवको प्रणाम करके हम कहते हैं कि कक्का केवल पदका उपदेश देता है।

१६१

हे सहजात्मस्वरूपी ! आप कहाँ-कहाँ और किस-किस तरह दुविधामे पड़े है ? यह कहें। ऐसी विभ्रात और दिग्मूढ दशा क्यो ?

मैं क्या कहूँ ? आपको क्या उत्तर दूँ ? मति दुविधामे पड़ गयी है, गति नही चलती। आत्मामें खेद ही खेद और कष्ट ही कष्ट हो रहा है। कहीं भी दृष्टि नही ठहरती और हम निराधार, निराश्रय हो गये हैं। ऊँचे-नीचे परिणाम प्रवाहित होते रहते है। अथवा लोकादिके स्वरूपके विषयमे उलटे विचार आया करते हैं, किंवा भ्राति और मूढ़ता रहा करती है। कही दृष्टि नही पहुँचती। भ्रांति हो गयी है कि अब मुझमे कोई विशेष गुण दिखायी नही देता। मै अब दूसरे मुमुक्षुओंको भी सच्चे स्नेहसे प्रिय नही हूँ। वे सच्चे भावसे मुझे नही चाहते। अथवा कुछ अनिच्छासे और मध्यम स्नेहसे प्रिय समझते हैं। अधिक परिचय नही करना चाहिये, वह मैंने किया, उसका भी खेद होता है।

सभी दर्शनोंमे शका होती है। आस्था नही आती।

यदि ऐसा है तो भी चिन्ता नहीं। आत्माकी आस्था है अथवा वह भी नही है ?

उसकी आस्था है। उसका अस्तित्व है, नित्यत्व है, और वह चैतन्यवान है। अज्ञानसे कर्ताभोक्ता-पन है। ज्ञानसे परयोगका कर्ताभोक्तापन नही है।

ज्ञानादि उसका उपाय है। इतनी आस्था है। परन्तु उस आस्थाके प्रति अभी आत्मवृत्ति विचार-शून्यतावत् रहती है। इसका बडा खेद है।

यह जो आपको आस्था है यही सम्यग्दर्शन है। किसलिये दुविधामे पड़ते है ? विकल्पमे पड़ते हैं ?

इस आत्माकी व्यापकताके लिये, मुक्तिस्थानके लिये, जिनकथित केवलज्ञान और वेदान्तकथित केवलज्ञानके लिये तथा शुभाशुभ गति भोगनेके लोकके स्थान, तथा वैसे स्थानोके स्वभावतः शाश्वत अस्तित्वके लिये, तथा इसके मापके लिये वारंवार शंका और शका ही हुआ करती है, और इससे आत्मा स्थिर नही हो पाता।

जो जिनेन्द्रने कहा है उसे माने न !

जगह-जगह शका होती है। तीन कोसके आदमी-चक्रवर्ती आदिके स्वरूप इत्यादि मिथ्या लगते है। पृथिवी आदिके स्वरूप असंभव लगते हैं।

उसका विचार छोड़ दे।

छोडे छूटता नही है।

किसलिये ?

यदि उसका स्वरूप उनके कहे अनुसार न हो तो उन्हे जैसा केवलज्ञान कहा है वैसा नही था, ऐसा सिद्ध होता है। तो क्या वैसा मानना ? तो फिर लोकका स्वरूप कौन यथार्थ जानता है ऐसा मानना ? कोई नही जानता ऐसा मानना ? और ऐसा जाने तो सबने अनुमान करके ही कहा है, ऐसा मानना पड़ता है। तो फिर बध मोक्ष आदि भावोकी प्रतीति क्या ?

योगसे वैसा दर्शन होता हो, तो किसलिये अन्तर पड़ेगा ?

समाधिमे छोटी वस्तु बड़ी दिखायी देती है और इससे मापमे विरोध आता है। समाधिमे चाहे जैसा दिखायी देता हो परन्तु मूलरूप इतना है और समाधिमे इस प्रकार दिखायी देता है, ऐसा कहनेमें क्या हानि थी ?

वह कहा भी गया हो, परन्तु वर्तमान शास्त्रमें वह नहीं रहा ऐसा समझनेमे क्या हानि ?

हानि कुछ नही, परन्तु इस तरह स्थिरता यथार्थ नही आती।

दूसरे भी बहुतसे भावोमे जगह-जगह विरोध दिखायी देता है।

आप स्वयं भूलते हो तो ?

यह भी सत्य है, परन्तु हम सत्य समझनेके अभिलाषी है। कुछ लाज-शर्म, मान, पूजा आदिके अभिलाषी नही है फिर भी सत्य समझमे क्यो नही आता ?

सद्गुरुकी दृष्टिसे समझमे आता है। स्वत. यथार्थ समझमे नही आता।

सद्गुरुका योग तो मिलता नही है। और हमको सद्गुरुके तौरपर माना जाता है। तो फिर क्या करना ? हम जिस विषयमे शकावाले है, उस विषयमे दूसरोको क्या समझाये ? कुछ समझाया नहीं जाता और समय बीतता जाता है। इस कारणसे तथा कुछ विशेष उदयसे त्याग भी नही होता। जिससे सारी स्थिति शकारूप हो गयी है। इसकी अपेक्षा तो हमारे लिये जहर पीकर मर जाना उत्तम है, सर्वोत्तम है।

दर्शनपरिषह इसी तरह भोगा जाता है क्या ?

यह योग्य है। परन्तु हमको लोगोका परिचय "हम ज्ञानी है" ऐसी उनकी मान्यताके साथ न हुआ होता तो क्या बुरा था ?

वही होनहार था।

अरे ! हे दुष्टात्मन् ! पूर्वमे उचित सन्मति नही रखी और कर्मबन्ध किये तो अब तू ही उनके फल भोगता है। तू या तो जहर पी और या तो उपाय तत्काल कर।

योगसाधन करूँ ?

उसमे बहुत अतराय देखनेमे आते है। वर्तमानमे परिश्रम करते हुए भी वह उदयमे नही आता।

१६२

हे श्री ... ! आप शकारूप भँवरमे बारबार फँसते है, इसका अर्थ क्या है ? निःसंदेह होकर रहे, और यही आपका स्वभाव है।

हे अन्तरात्मा ! आपने जो वाक्य कहा वह यथार्थ है। निःसदेहरूपसे स्थिति यह स्वभाव है, तथापि जब तक संदेहके आवरणका सर्वथा क्षय न किया जा सका हो तब तक वह स्वभाव चलायमान अथवा अप्राप्त रहता है और इस कारणसे हमे भी वर्तमान दशा प्राप्त है।

हे श्री..... ! आपको जो कुछ सदेह रहता हो उस संदेहका स्वविचारसे अथवा सत्समागमसे क्षय करें।

हे अन्तरात्मा ! वर्तमान आत्मदशाको देखते हुए यदि परम सत्समागम प्राप्त हुआ हो और उसके आश्रयमे वृत्ति प्रतिबन्धको प्राप्त हुई हो तो वह सदेहकी निवृत्तिका हेतु होना सभव है। अन्यथा दूसरा कोई उपाय दिखायी नही देता, और परम सत्समागम अथवा सत्समागम भी प्राप्त होना अत्यंत कठिन है।

हे श्री ! आप कहते है वैसे सत्समागमकी दुर्लभता है, इसमे सशय नही है; परन्तु वह दुर्लभता यदि सुलभ न हो और वैसा विशेष अनागत कालमे भी आपको दिखायी देता हो तो आप शिथिलताका त्याग करके स्वविचारका दृढ अवलबन ग्रहण करे, और परम पुरुषकी आज्ञामें भक्ति रखकर सामान्य सत्समागममे भी काल व्यतीत करे।

हे अंतरात्मा ! वे सामान्य सत्समागमी हमे पूछकर संदेहकी निवृत्ति करना चाहते हैं, और हमारी आज्ञासे प्रवृत्ति करना कल्याणरूप है .ऐसा जानकर वशवर्ती होकर प्रवृत्ति करते है, जिससे हमे उनके समागममें तो निजविचार करनेमे भी उनको संभाल लेनेमे पडना पड़े, और प्रतिबन्ध होकर स्वविचारदशा बहुत आगे न बढे, इसलिये संदेह तो वैसे ही रहे। ऐसा संदेहसाहचर्य जब तक हो तब तक दूसरे जीवोंके अर्थात् सामान्य सत्समागम आदिमे भी आना योग्य नही, इसलिये क्या करना यह नही सूझता।

१६३

हे हरि ! इस कलिकालमे तेरे प्रति अखंड प्रेमका एक क्षण भी बीतना दुर्लभ है, ऐसी निवृत्ति लोग भूल गये है। प्रवृत्तिमे प्रवृत्त होकर निवृत्तिका भान भी नही रहा। नाना प्रकारके सुखाभासके लिये प्रयत्न हो रहा है। चाव भी नष्ट प्राय: हो गया है। वृद्धमर्यादा नही रही। धर्ममर्यादाका तिरस्कार हुआ करता है। सत्सग क्या ? और यही एक कर्तव्यरूप है ऐसा समझना केवल दुष्कर हो पड़ा है। सत्सगकी प्राप्तिमे भी जीवको उसकी पहचान होनी महा विकट हो पडी है। जीव मायाकी प्रवृत्तिका प्रसंग वारंवार किया करते है। एक बार जिन वचनोंकी प्राप्ति होनेसे जीव बंधनमुक्त हो और तेरे स्वरूपको प्राप्त करे, वैसे वचन बहुत बार कह जानेका भी कुछ ही फल नही होता। ऐसी अयोग्यता जीवोमे आ गयी है। निष्कपटता हानिको प्राप्त हुई है। शास्त्रमें संदेह उत्पन्न करना इसे जीवने एक ज्ञान मान लिया है। परिग्रहकी प्राप्तिके लिये तेरे भक्तको भी ठगनेका कार्य उसे पापरूप नही लगता। परिग्रहका उपार्जन करनेवाले सगे सम्बन्धियोसे जीवने जैसा प्रेम किया है वैसा प्रेम तुझसे अथवा तेरे भक्तसे किया होता तो जीव तुझे प्राप्त कर लेता। सर्व भूतोमे दया रखनी और सबमें तू है ऐसा समझकर दासत्वभाव रखना, यह परम धर्म स्खलित हो गया है। सर्व रूपोमे तेरा अस्तित्व समान ही है, इसलिये भेदभावका त्याग करना, यह महा पुरुषोंका अन्तरंग ज्ञान आज कही भी दृष्टिगोचर नही होता। हम कि जो तेरा मात्र निरंतर दासत्व ही अनन्य प्रेमसे चाहते है, उसे भी तू कलियुगका प्रसंगी सग दिया करता है।

अब हे हरि ! यह देखा नही जाता, सुना नही जाता, यह न कराना योग्य है। फिर भी हमारे प्रति तेरी ऐसी ही इच्छा हो तो प्रेरणा कर कि जिससे हम उसे केवल सुखरूप ही मान लेंगे। हमारे प्रसगमे आये हुए जीव किसी प्रकारसे दु खी न हो और हमारे द्वेषी न हों (हमारे कारणसे) ऐसा मुझ शरणागतपर अनुग्रह होना योग्य हो तो कर। मुझे बडेसे बड़ा दु ख मात्र इतना ही है कि जीव तेरेसे विमुख करनेवाली वृत्तियोसे प्रवृत्ति करते है। उनका प्रसंग होना और फिर किन्ही कारणोसे उन्हे तेरे सन्मुख होनेका कहनेपर भी उसका अंगीकार न होना यह हमे परम दुःख है। और यदि वह योग्य होगा तो उसे दूर करनेके लिये हे नाथ ! तू समर्थ है, समर्थ है। हे हरि ! वारवार मेरा समाधान कर, समाधान कर।

१६४

अद्भुत ! अद्भुत ! अद्भुत ! परम अचिंत्य ऐसा तेरा स्वरूप, हे हरि ! मै पामर प्राणी उसका कैसे पार पाऊँ ? मैं जो तेरे अनंत ब्रह्मांडका एक अश वह तुझे कैसे जानूँ ? सर्वसत्तात्मक ज्ञान जिसके मध्यमे है ऐसे हे हरि ! तुझे चाहता हूँ, चाहता हूँ। तेरी कृपा चाहता हूँ। तुझे वारंवार हे हरि ! चाहता हूँ। हे श्रीमान पुरुषोत्तम ! तू अनुग्रह कर ! अनुग्रह कर !!

२३ वाँ वर्ष

१६५ बंबई, कार्तिक सुदी ५, सोम, १९४७

परम पूज्य—केवलबीज-सम्पन्न,

सर्वोत्तम उपकारी श्री सौभाग्यभाई,

मोरबी।

आपके प्रतापसे यहाँ आनन्दवृत्ति है।

प्रभुके प्रतापसे उपाधिजन्य वृत्ति है।

भगवान परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते है। तथापि इनमे भी कुछ कम अपलक्षण नहीं है! विचित्र करना यही है इसकी लीला! तो अधिक क्या कहना!

सर्व समर्थ पुरुष आपको प्राप्त हुए ज्ञानके ही गीत गा गये है। इस ज्ञानकी दिन प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषता होती जाती है। मै मानता हूँ कि केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ तो नही जायेगा। हमे मोक्षकी कोई जरूरत नही है। निःशंकताकी, निर्भयताकी, निराकुलताकी और निःस्पृहताकी जरूरत थी, वह अधिकाशमे प्राप्त हुई मालूम होती है, और पूर्णांशमे प्राप्त करानेकी गुप्त रहे हुए करुणासागरकी कृपा होगी, ऐसी आशा रहती है। फिर भी इससे भी अधिक अलौकिक दशाकी इच्छा रहती है, तो विशेष क्या कहना?

अनहद ध्वनिमे कमी नही है। परन्तु गाडी-घोडेकी उपाधि श्रवणका सुख थोड़ा देती है। निवृत्तिके सिवाय यहाँ दूसरा सब कुछ है।

जगतको, जगतकी लीलाको बैठे बैठे मुफ्तमे देख रहे है।

आपकी कृपा चाहता हूँ।

वि० आज्ञाकारी रायचन्दका प्रणाम।

---

१६६ बंबई, कार्तिक सुदी ६, मंगल, १९४७

सत्पुरुषके एक-एक वाक्यमे, एक-एक शब्दमे अनंत आगम निहित हैं, यह बात कैसे होगी?

निम्नलिखित वाक्य मैने असख्य सत्पुरुषोकी सम्मतिसे प्रत्येक मुमुक्षुके लिये मंगलरूप माने हैं, मोक्षके सर्वोत्तम कारणरूप माने हैं :—

१. मायिक सुखकी सर्व प्रकारकी वांछा चाहे जब भी छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नही है, तो जबसे इस वाक्यका श्रवण किया, तभीसे उस क्रमका अभ्यास करना योग्य ही है, ऐसा समझे।

२. किसी भी प्रकारसे सद्गुरुकी शोध करे, शोध करके उसके प्रति तन, मन, वचन और आत्मासे अर्पणबुद्धि करे; उसीकी आज्ञाका सर्वथा निःशंकतासे आराधन करे, और तभी सर्व मायिक वासनाका अभाव होगा, ऐसा समझें।

३. अनादि कालके परिभ्रमणमे अनंतवार शास्त्रश्रवण, अनंतवार विद्याभ्यास, अनंतवार जिनदीक्षा और अनंतवार आचार्यत्व प्राप्त हुआ है। मात्र 'सत्' मिला नही, 'सत्' सुना नही, और 'सत्'की श्रद्धा की नही, और इसके मिलने, सुनने और श्रद्धा करनेपर ही छुटकारेकी गूँज आत्मामें उठेगी।

४. मोक्षका मार्ग बाहर नही, परन्तु आत्मामे है। मार्गको प्राप्त पुरुष मार्गको प्राप्त करायेगा।

५. मार्ग दो अक्षरोमे निहित है और अनादि कालसे इतना सब करनेपर भी क्यों प्राप्त नही हुआ, इसका विचार करें।

———

१६७ बंबई, कार्तिक सुदी १२, रवि, १९४७

ॐ सत्

हरीच्छा सुखदायक ही है।
निर्विकल्प ज्ञान होनेके बाद जिस परमतत्त्वका दर्शन होता है,
उस परम तत्त्वरूप सत्यका ध्यान करता हूँ।

त्रिभोवनका पत्र और अंबालालका पत्र प्राप्त हुआ है।

धर्मज जाकर सत्समागम करनेकी अनुमति है, परन्तु आप तीनके सिवाय और कोई न जाने ऐसा यदि हो सकता हो तो उस समागमके लिये प्रवृत्ति करें; नही तो नही। इस समागमको यदि प्रगटतामें आने देगे तो हमारी इच्छानुसार नही हुआ, ऐसा समझें।

धर्मज जानेका प्रसंग लेकर यदि खम्भातसे निकलेंगे तो सम्भव है कि यह बात प्रगट हो जायेगी और आप कबीर आदि सप्रदायमे मानते हैं, ऐसी लोकचर्चा होगी अर्थात् आप उस कबीर संप्रदायके न होनेपर भी वैसे माने जायेंगे। इसलिये कोई दूसरा प्रसंग लेकर निकलना और बीचमे धर्मजमें मिलाप करते आना। वहाँ भी अपने धर्म, कुल इत्यादि सबधी अधिक परिचय नही देना। तथा उनसे पूर्ण प्रेमसे समागम करना, भेदभावसे नही, मायाभावसे नही, परन्तु सत्स्नेहभावसे करना। मतातज सम्बन्धी अभी समागम करनेका प्रयोजन नही है। खम्भातसे धर्मजकी ओर जानेसे पहले धर्मज एक पत्र लिखना, जिसमे विनयसहित जताना कि किसी ज्ञानावतार पुरुषकी अनुमति आपका सत्सग करनेके लिये हमे मिली है जिससे आपके दर्शनके लिये..... ...तिथिको आयेंगे। हम आपका समागम करते है यह बात अभी किसी भी तरहसे अप्रगट रखना ऐसी उस ज्ञानावतार पुरुषने आपको और हमे सूचना दी है। इसलिये आप इसका पालन कृपया अवश्य करेंगे ही।

उनका समागम होनेपर एक बार नमस्कार करके विनयसे बैठना। थोड़ा समय बीतनेके बाद उनकी प्रवृत्ति—प्रेमभावका अनुसरण करके बातचीत करना। (एक साथ तीन व्यक्ति अथवा एकसे अधिक व्यक्ति न बोलें।) पहले यों कहे कि आप हमारे सम्बन्धमे निःसन्देह दृष्टि रखें। आपके दर्शनार्थ हम आये हैं। सो किसी भी तरहके दूसरे कारणसे नही, परन्तु मात्र सत्संगकी इच्छासे। इतना कहनेके बाद उन्हे बोलने देना। उसके थोडे समय बाद आप बोलना। हमे किसी ज्ञानावतार पुरुषका समागम हुआ था। उनकी दशा अलौकिक देखकर हमे आश्चर्य हुआ था। हमारे जैन होनेपर भी उन्होने निर्विसंवादरूपसे प्रवृत्ति करनेका उपदेश दिया था। "सत्य एक है, दो प्रकारका नही है। और वह ज्ञानीके अनुग्रहके बिना प्राप्त नही होता। इसलिये मत मतांतरका त्याग करके ज्ञानीकी आज्ञामे अथवा सत्संगमें

प्रवृत्ति करना। जैसे जीवका बंधन निवृत्त हो वैसे करना योग्य है। और इसके लिये हमारे ऊपर कहे हुए साधन हैं।" इत्यादि प्रकारसे उन्होने हमें उपदेश दिया था। और जैन आदि मतोंका आग्रह मिटाकर उनके आदेशानुसार प्रवृत्ति करनेकी हमारी अभिलाषा उत्पन्न हुई थी, और अब भी वैसी ही है कि मात्र सत्यका ही आग्रह रखना। मतमे मध्यस्थ रहना। वे अभी विद्यमान है। युवावस्थाके पहले भागमे है। अभी उनकी इच्छा अप्रगट रूपसे प्रवृत्ति करनेकी है। नि.संदेह स्वरूप ज्ञानावतार हैं और व्यवहारमे रहते हुए भी वीतराग हैं। उन कृपालुका समागम होनेके बाद हम विशेषत निराग्रही रहते है। मतमतांतर सबंधी विवाद खड़ा नहीं होता। निष्कपट भावसे सत्यका आराधन करनेकी ही दृढ अभिलाषा है। उन ज्ञानावतार पुरुषने हमे बताया था—"हम अभी प्रगटरूपसे मार्ग बताये ऐसी ईश्वरेच्छा नही है इसलिये हम आपसे अभी कुछ कहना नही चाहते। परन्तु योग्यता आये और जीव यथायोग्य मुमुक्षुता प्राप्त करे इसके लिये प्रयत्न करे।" और इसके लिये उन्होने अनेक प्रकारसे सक्षेपमे अपूर्व उपायोका उपदेश दिया था। अभी उनकी इच्छा अप्रगट ही रहनेकी है, इसलिये परमार्थके सम्बन्धमे वे प्राय मौन ही रहते है। हम पर इतनी अनुकंपा हुई कि उन्होने इस मौनको विस्मृत किया था और उन्हीं सत्पुरुषने आपका समागम करनेकी हमारी इच्छाको जन्म दिया था, नही तो हम आपके समागमका लाभ कहांसे पा सकते ? आपके गुणोंको परीक्षा कहाँसे होती ? ऐसी आप अपनी अभिलाषा बताना कि हमे आपसे किसी प्रकारसे बोध प्राप्त हो और हमे मार्गकी प्राप्ति हो तो इसमे वे ज्ञानावतार प्रसन्न ही है। हमने उनके शिष्य होनेकी इच्छा रखी थी। तथापि उन्होने बताया था—"अभी प्रगटरूपसे मार्ग कहनेकी हमे ईश्वराज्ञा नही है, तो फिर आप चाहे जिस सत्सगमे योग्यता या अनुभव प्राप्त करे इसमे हमे संतोष ही है।" आपके लिये भी उनका ऐसा ही अभिप्राय समझें कि हम आपके शिष्यके तौर पर प्रवृत्ति करें तो भी आप मेरे ही शिष्य हैं ऐसा उन्होने कहा है। आपके प्रति उन्होने परमार्थयुक्त प्रेमभाव हमे बताया था। यद्यपि उन्हे किसीसे भेदभाव नही है, तथापि आपके प्रति स्नेहभाव किसी पूर्वके कारणसे बताया मालूम होता है। मुक्तात्मा होनेसे वस्तुतः उनका नाम, धाम, ग्राम कुछ भी नही है, तथापि व्यवहारसे वैसा है। फिर भी उन्होने यह सब अप्रगट रखनेकी हमे आज्ञा की है। आपसे वे अप्रगटरूपसे व्यवहार करते है। तथापि आप उनके पास प्रगट है। अर्थात् आपको भी अभी तक उन्होने प्रगट समागम, नाम, धामके बारेमे कुछ भी कहनेके लिये हमे प्रेरित नही किया है और ईश्वरेच्छा होगी तो थोड़े समयमे आपको उनका समागम होगा ऐसा हम समझते हैं।

इस प्रकार प्रसंगानुसार बातचीत करना। किसी भी प्रकारसे नाम, धाम और ग्राम प्रगट करना ही नही और उपर्युक्त बात आपको अपने हृदयमें समझनेकी है। इसपरसे उस प्रसंगमे जो योग्य लगे वह बात करना। उसका भावार्थ न जाना चाहिये।

'ज्ञानावतार' सम्बन्धी ज्यों ज्यो उनकी इच्छा जागृत हो त्यों त्यों बातचीत करना। वे ज्ञानावतारका समागम चाहे इस प्रकारसे बातचीत करे। परन्तु 'ज्ञानावतार'की प्रशंसा करते हुए उनका अविनय न हो जाये यह ध्यान रखे। तथा 'ज्ञानावतार' की अनन्य भक्ति भी ध्यानमे रखे।

जब मनमेलका योग लगे तब बताइये कि हम उनके शिष्य है वैसे आपके शिष्य ही हैं। हमे किसी तरहसे मार्गकी प्राप्ति हो ऐसा बतायें इत्यादि बातचीत कीजिये। और हम कौनसे शास्त्र पढें ? क्या श्रद्धा रखें ? कैसे प्रवृत्ति करें ? योग्य लगे तो यह सब बताये। कृपया आपका हमारेसे भेदभाव न हो।

उनका सिद्धात भाग पूछिये। इत्यादि जान लेनेका प्रसंग बन जाये तो भी उन्हे बताइये कि हमने जिन ज्ञानावतार पुरुषको बताया है वे और आप हमारे लिये एक हो है। क्योंकि ऐसी बुद्धि रखनेकी उन ज्ञानावतारकी हमे आज्ञा है। मात्र अभी उनकी अप्रगट रहनेकी इच्छा होनेसे हमने उनकी इच्छाका अनुसरण किया है।

विशेष क्या लिखें ? हरीच्छा जो होगी वह सुखदायक ही होगी ।

एकाध दिन रुकिये । अधिक नही, फिरसे मिलिये ।

मिलनेकी हाँ बताइये । हरीच्छा सुखदायक है ।

ज्ञानावतार सम्बन्धी वे पहले बात कहे तो इस पत्रमे बतायी हुई बातको विशेषतः दृढ़ कीजिये ।

भावार्थ ध्यानमे रखिये । इसके अनुसार चाहे जिस प्रसगमे इसमेसे कोई बात उनसे करनेकी आपको स्वतंत्रता है ।

उनमे ज्ञानावतारके लिये अधिक प्रेम पैदा हो ऐसा प्रयत्न कीजिये । हरीच्छा सुखदायक है ।

---

१६८ बंबई, कार्तिक सुदी १३, सोम; १९४७

[1]एनुं स्वप्ने जो दर्शन पामे रे, तेनुं मन न चढ़े बीजे भामे रे ।
थाय कृष्णनो लेश प्रसंग रे, तेने न गमे संसारनो संग रे ॥

---

[2]हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे, मारुं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे ।
मुक्तानन्दनो नाथ विहारी रे, ओधा जीवनदोरी अमारी रे ॥

आपका कृपापत्र कल मिला । परमानन्द और परमोपकार हुआ ।

ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरा हुआ जीव कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक पन्द्रह भव करे, ऐसा अनुभव होता है । ग्यारहवाँ गुणस्थान ऐसा है कि वहाँ प्रकृतियाँ उपशम भावमे होनेसे मन, वचन और कायाके योग प्रबल शुभ भावमे रहते हैं; इससे साताका बंध होता है, और यह साता बहुत करके पाँच अनुत्तर विमानकी ही होती है ।

आज्ञाकारी

---

१६९ बबई, कार्तिक सुदी १३, सोम, १९४७

कल आपका एक पत्र मिला । प्रसगात् कोई प्रश्न आनेपर अधिक लिखना हो सकेगा ।

चि त्रिभोवनदासकी अभिलाषा प्रसंगोपात्त समझी जा सकी तो है ही, तथापि अभिलाषाके लिये पुरुषार्थ करनेकी बात नही बतायी; जो इस समय बना रहा हूँ ।

---

१७० बबई, कार्तिक सुदी १४, १९४७

परम पूज्यश्री,[3]

आज आपका एक पत्र भूधर दे गया । इस पत्रका उत्तर लिखनेसे पहले कुछ प्रेमभक्ति सहित लिखना चाहता हूँ ।

आत्माने ज्ञान पा लिया यह तो निःसंशय है, ग्रन्थिभेद हुआ यह तीनों कालमे सत्य बात है । सब ज्ञानियोने भी इस बातका स्वीकार किया है । अब हमे अन्तिम निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना बाकी है,

---

१. भावार्थ—यदि कोई स्वप्नमे भी इसका दर्शन पाता है तो उसका मन दूसरे मोहमें नही पडता । जिसे कृष्णका लेश मात्र भी प्रसंग हो जाता है, उसे फिर संसारका सग अच्छा नही लगता ।

२. भावार्थ—मैं जब हँसते-खेलते हुए हरिको प्रत्यक्ष देखूँ तब अपने जीवनको सफल समझूँ । हे उद्धव ! मुक्तानन्दके नाथ और बिहारी श्रीकृष्ण हमारे जीवनके आधार है ।

३. यह पत्र श्री सोभागभाईको लिखा है ।

जो सुलभ है। और उसे प्राप्त करनेका हेतु भी यही है कि किसी भी प्रकारसे अमृतसागरका अवलोकन करते हुए अल्प भी मायाका आवरण बाध न करे, अवलोकन सुखका अल्प भी विस्मरण न हो, 'तू ही, तू ही' के सिवाय दूसरी रटन न रहे, मायिक भयका, मोहका, संकल्पका या विकल्पका एक भी अंश न रहे। यदि यह एक बार यथायोग्य प्राप्त हो जाये तो फिर चाहे जैसा प्रवर्तन किया जाये, चाहे जैसा बोला जाये, चाहे जैसा आहार-विहार किया जाये, तथापि उसे किसी भी प्रकारकी बाधा नही है। परमात्मा भी उसे पूछ नही सकता। उसका किया हुआ सब कुछ सुलटा है। ऐसी दशा प्राप्त करनेसे परमार्थके लिये किया हुआ प्रयत्न सफल होता है। और ऐसी दशा हुए बिना प्रगट मार्ग प्रकाशित करनेकी परमात्माकी आज्ञा नही है ऐसा मुझे लगता है। इसलिये दृढ़ निश्चय किया है कि इस दशाको प्राप्त करके फिर प्रगट मार्ग कहना—परमार्थ कहना—तब तक नही, और इस दशाको पानेमे अब कुछ ज्यादा वक्त भी नही है। पन्द्रह अंशो तक तो पहुँचा जा चुका है। निर्विकल्पता तो है ही; परन्तु निवृत्ति नही है, निवृत्ति हो तो दूसरोके परमार्थके लिये क्या करना इसका विचार किया जा सकता है। उसके बाद त्याग चाहिये, और उसके बाद त्याग कराना चाहिये।

महापुरुषोंने कैसी दशा प्राप्त करके मार्ग प्रगट किया है, क्या क्या करके मार्ग प्रगट किया है, इस बातका आत्माको भलीभाँति स्मरण रहता है, और यही प्रगट मार्ग कहने देनेकी ईश्वरी इच्छाका लक्षण मालूम होता है।

इसलिये अभी तो केवल गुप्त हो जाना ही योग्य है। एक अक्षर भी इस विषयमे कहनेकी इच्छा नही होती। आपकी इच्छाकी रक्षाके लिये कभी कभी प्रवर्तन होता है, अथवा बहुत परिचयमे आये हुए योगपुरुषकी इच्छाके लिये कुछ अक्षरोका उच्चारण या लेखन किया जाता है। बाकी सर्व प्रकारसे गुप्तता रखी है। अज्ञानी होकर वास करनेकी इच्छा बना रखी है। वह ऐसी कि अपूर्व कालमे ज्ञान प्रगट करते हुए बाध न आये।

इतने कारणोसे दीपचन्दजी महाराज या दूसरेके लिये कुछ नही लिखता। गुणस्थान इत्यादि का उत्तर नही लिखता। सूत्रका स्पर्श भी नही करता। व्यवहारकी रक्षा करनेके लिये थोडीसी पुस्तकोंके पन्ने पलटता हूँ। बाकी सब कुछ पत्थर पर पानीके चित्र जैसा कर रखा है। तन्मय आत्मयोगमे प्रवेश है। वही उल्लास है, वही याचना है, और योग (मन, वचन और काया) बाहर पूर्वकर्म भोगता है। वेदोदयका नाश होने तक गृहवासमे रहना योग्य लगता है। परमेश्वर जान-बूझकर वेदोदय रखता है, क्योकि पचम कालमे परमार्थका वर्षाऋतु होने देनेकी उसकी थोड़ी ही इच्छा लगती है।

तीर्थंकरने जो समझा और पाया उसे इस कालमे न समझ सके अथवा न पा सके ऐसी कुछ भी बात नही है। यह निर्णय बहुत समयसे कर रखा है। यद्यपि तीर्थंकर होनेकी इच्छा नहीं है, परन्तु तीर्थंकरके किये अनुसार करनेकी इच्छा है, इतनी अधिक उन्मत्तता आ गयी है। उसे शांत करनेकी शक्ति भी आ गयी है, परन्तु जान-बूझकर शात करनेकी इच्छा नही रखी है।

आपसे निवेदन है कि वृद्धमेसे युवान बने और इस अलख वार्ताके अग्रेसरके अग्रेसर बनें। थोड़ा लिखा बहुत समझे।

गुणस्थान समझनेके लिये कहे हैं। उपशम और क्षपक ये दो प्रकारकी श्रेणियाँ है। उपशममें प्रत्यक्ष दर्शनका सम्भव नही है, क्षपकमे है। प्रत्यक्ष दर्शनके सम्भवके अभावमे ग्यारहवें गुणस्थानसे जीव पीछे लौटता है। उपशम श्रेणी दो प्रकारकी है। एक आज्ञारूप और दूसरी मार्गके जाने बिना स्वाभाविक उपशम होनेरूप। आज्ञारूप उपशम श्रेणीवाला भी आज्ञाके आराधन तक पतित नही होता। दूसरी श्रेणीवाला अन्त तक जानेके बाद मार्गकी अज्ञानताके कारण पतित होता है। यह आँखों देखी, आत्मासे अनुभव की

हुई बात है। किसी शास्त्रमेंसे मिल जायेगी, न मिले तो कोई बाध नहो है। तीर्थंकरके हृदयमे यह बात थी, ऐसा हमने जाना है।

दशपूर्वधारी इत्यादिकी आज्ञाका आराधन करनेकी महावीरदेवकी शिक्षाके विषयमे आपने जो बताया है वह ठीक है। इसने तो बहुत कुछ कहा था, परन्तु रहा है थोड़ा और प्रकाशक पुरुष गृहस्था-वस्थामें हैं। बाकीके गुफामे हैं। कोई कोई जानता है परन्तु उतना योगबल नही है।

तथाकथित आधुनिक मुनियोका सूत्रार्थ श्रवणके योग्य भी नही है। सूत्र लेकर उपदेश करनेकी आगे जरूरत नहीं पड़ेगी। सूत्र और उसके पहलू सब कुछ ज्ञात हो गये है।

यही विनती।

वि० आ० रायचंद।

---

१७१ बंबई, कार्तिक सुदी १४, बुध, १९४७

सुज्ञ भाईश्री अंबालाल इत्यादि,

खंभात।

श्री मुनिका पत्र[1] इसके साथ संलग्न है सो उन्हें पहुँचाइयेगा।

निरन्तर एक ही श्रेणी रहती है। हरिकृपा पूर्ण है।

त्रिभोवन द्वारा वर्णित एक पत्रकी दशा स्मरणमे है। वारंवार इसका उत्तर मुनिके पत्रमे बताया है वही आता है। पत्र लिखनेका उद्देश मेरे प्रति भाव करानेके लिये है, ऐसा जिस दिन मालूम हो उस दिनसे मार्गका क्रम भूल गये ऐसा समझ लीजिये। यह एक भविष्य कालमे स्मरण करने योग्य कथन है।

सत् श्रद्धा पाकर
जो कोई आपको धर्म-निमित्तसे चाहे
उसका संग रखें।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१७२ मोहमयी, कार्तिक सुदी १४, बुध, १९४७

सद्जिज्ञासु—मार्गानुसारी मति, खंभात।

कल आपका परम भक्तिसूचक पत्र मिला। विशेष आह्लाद हुआ।

अनंतकालसे स्वयंको स्वविषयक ही भ्रांति रह गयी है; यह एक अवाच्य और अद्भुत विचारका विषय है। जहाँ मतिकी गति नही, वहाँ वचनकी गति कहाँसे हो?

निरंतर उदासीनताके क्रमका सेवन करना, सत्पुरुषकी भक्तिमे लीन होना; सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना, सत्पुरुषोके लक्षणका चिंतन करना; सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन करना, उनके मन, वचन और कायाकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योका वारंवार निदिध्यासन करना, और उनका मान्य किया हुआ सभी मान्य करना।

यह ज्ञानियों द्वारा हृदयमे स्थापित, निर्वाणके लिये मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रति क्षण और प्रति समय उसमे लीन होने योग्य परम रहस्य है। और यही सर्व शास्त्रोंका, सर्व संतोंके हृदयका और ईश्वरके घरका मर्म पानेका महामार्ग है। और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति और उसके प्रति अविचल श्रद्धा है।

---

१. साथका पत्र नं० १७२।

अधिक क्या लिखना ? आज, चाहे तो कल, चाहे तो लाख वर्षमें और चाहे तो उसके बादमें या उससे पहले, यही सूझनेपर, यही प्राप्त होनेपर छुटकारा है। सर्व प्रदेशोमे मुझे तो यही मान्य है।

प्रसंगोपात्त पत्र लिखनेका ध्यान रखूंगा। आप अपने प्रसंगियोंमे ज्ञानवार्ता करते रहियेगा, और उन्हे परिणाममे लाभ हो इस तरह मिलते रहियेगा।

अंबालालसे यह पत्र अधिक समझा जा सकेगा। आप उनकी विद्यमानतामे पत्रका अवलोकन कीजियेगा और उनके तथा त्रिभोवन आदिके उपयोगके लिये चाहिये तो पत्रकी प्रतिलिपि करनेके लिये दीजियेगा।

यही विज्ञापन।

सर्वकाल यही कहनेके लिये जीनेके इच्छुक
रायचन्दकी वंदना।

---

१७३ बंबई, कार्तिक वदी ३, शनि, १९४७

जिज्ञासु भाई,

आपका पहले एक पत्र मिला था, जिसका उत्तर अंबालालके पत्रसे लिखा था। वह आपको मिला होगा। नही तो उनके पाससे वह पत्र मँगवाकर देख लीजियेगा।

समय निकालकर किसी न किसी अपूर्व साधनका कारणभूत प्रश्न यथासम्भव करते रहियेगा।

आप जो जो जिज्ञासु है वे सब प्रतिदिन अमुक समय, अमुक घडी तक धर्मकथार्थ मिलते रहे तो परिणाममे वह लाभका कारण होगा।

इच्छा होगी तो किसी समय नित्य नियमके लिये बताऊँगा। अभी नित्य नियममे साथ मिलकर एकाध अच्छे ग्रन्थका अवलोकन करते हों तो अच्छा। इस विषयमे कुछ पूछेंगे तो अनुकूलताके अनुसार उत्तर दूँगा।

अंबालालके पास लिखे हुए पत्रोंकी पुस्तक है। उसमेसे कुछ भागका उल्लासयुक्त समयमे अवलोकन करनेमे मेरी ओरसे आपके लिये अब कोई इनकार नही है। इसलिये उनसे यथासमय पुस्तक मँगवाकर अवलोकन कीजियेगा।

दृढ विश्वाससे मानिये कि इसे व्यवहारका बंधन उदय कालमे न होता तो आपको और दूसरे कई मनुष्योंको अपूर्व हितकारी सिद्ध होता। प्रवृत्ति है तो उसके लिये कुछ असमता नही है, परन्तु निवृत्ति होती तो अन्य आत्माओंको मार्गप्राप्तिका कारण होता। अभी उसे विलंब होगा। पंचमकालकी भी प्रवृत्ति है। इस भवमे मोक्षगामी मनुष्योंकी संभावना भी कम है। इत्यादि कारणोंसे ऐसा ही हुआ होगा। तो इसके लिये कुछ खेद नही है।

आप सबको स्पष्ट बता देनेकी इच्छा हो आनेसे बताता हूँ कि अभी तक मैंने आपको मार्गके मर्मका (एक अंबालालके सिवाय) कोई अंश नही बताया है, और जिस मार्गको प्राप्त किये बिना किसी तरह किसी कालमे जीवका छुटकारा होना सम्भव नही है। यदि आपकी योग्यता होगी तो उस मार्गको देनेमे समर्थ कोई दूसरा पुरुष आपको ढूँढना नही पडेगा। इसमे किसी तरह मैंने अपनी स्तुति नही की है।

इस आत्माको ऐसा लिखना योग्य नही लगता, फिर भी लिखा है।

अंबालालका अभी पत्र नही है, उनसे लिखनेके लिये कहे।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१७४ बंबई, कार्तिक वदी ५, सोम, १९४७

संतकी शरणमें जा।

सुज्ञ भाई श्री अंबालाल,

आपका एक पत्र मिला। आपके पिताश्रीका धर्मेच्छुक पत्र मिला। प्रसंगवश उन्हें योग्य उत्तर देना हो सकेगा। ऐसी इच्छा करूँगा।

सत्संग यह बडेसे बड़ा साधन है।

सत्पुरुषकी श्रद्धाके बिना छुटकारा नही है।

ये दो विषय शास्त्र इत्यादिसे उन्हे बताते रहियेगा। सत्सगकी वृद्धि कीजियेगा।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१७५ बंबई, कार्तिक वदी ८, गुरु, १९४७

सुज्ञ भाई अंबालाल,

यहाँ आनंदवृत्ति है। आप सब सत्सगकी वृद्धि करें। छोटालालका आज पत्र मिला। आप सबका जिज्ञासु भाव बढे यह निरन्तरकी इच्छा है।

परम समाधि है।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१७६ बंबई, कार्तिक वदी ९, शुक्र, १९४७

जीवन्मुक्त सौभाग्यमूर्ति सौभाग्यभाई, मोरबी।

मुनि दीपचंदजीके सम्बन्धमे आपका लिखना यथार्थ है। भवस्थितिकी परिपक्वता हुए बिना, दीनबंधुकी कृपाके बिना, संतचरणकी सेवा किये बिना त्रिकालमे मार्ग मिलना दुर्लभ है।

जीवके ससार परिभ्रमणके जो जो कारण हैं, उनमे मुख्य स्वयं जिस ज्ञानके लिये शंकित है, उस ज्ञानका उपदेश करना, प्रगटमे उस मार्गकी रक्षा करना, हृदयमे उसके लिये चलविचलता होते हुए भी अपने श्रद्धालुओको उसी मार्गके यथायोग्य होनेका ही उपदेश देना, यह सबसे बड़ा कारण है। आप उस मुनिके सम्बन्धमे विचार करेंगे तो ऐसा ही प्रतीत हो सकेगा।

स्वय शकामे गोते खाता हो, ऐसा जीव निःशंक मार्गका उपदेश देनेका दभ रखकर सारा जीवन बिता दे यह उसके लिये परम शोचनीय है। मुनिके सम्बन्धमें यहाँ पर कुछ कठोर भाषामें लिखा है ऐसा लगे तो भी वैसा हेतु है ही नही। जैसा है वैसा करुणार्द्र चित्तसे लिखा है। इसी प्रकार दूसरे अनंत जीव पूर्वकालमे भटके है, वर्तमानकालमे भटक रहे हैं और भविष्य कालमे भटकेंगे।

जो छूटनेके लिये ही जीता है वह बंधनमे नहीं आता, यह वाक्य निःशंक अनुभवका है। बधनका त्याग करनेसे छूटा जाता है, ऐसा समझनेपर भी उसी बंधनकी वृद्धि करते रहना, उसमे अपना महत्व स्थापित करना और पूज्यताका प्रतिपादन करना, यह जीवको बहुत भटकानेवाला है। यह समझ समीप-मुक्तिगामी जीवको होती है, और ऐसे जीव समर्थ चक्रवर्ती जैसी पदवीपर आरूढ होते हुए भी उसका त्याग करके, करपात्रमे भिक्षा माँगकर जीनेवाले सन्तके चरणोंको अनंतानंत प्रेमसे पूजते है, और वे अवश्यमेव छूटते हैं।

दीनबधुकी दृष्टि ही ऐसी है कि छूटनेके कामीको बाँधना नही, और बँधनेके कामीको छोड़ना नही। यहाँ विकल्पशील जीवको ऐसा विकल्प हो सकता है कि जीवको बँधना पसन्द नहीं है, सभीको छूटनेकी

इच्छा है तो फिर बँधता है क्यो ? इस विकल्पकी निवृत्ति इतनी ही है कि ऐसा अनुभव हुआ है कि जिसे छूटनेकी दृढ़ इच्छा होती है उसे बन्धनका विकल्प मिट जाता है, और यह इस बातका सत्साक्षी है।

एक ओर तो परमार्थमार्गको शीघ्रतासे प्रगट करनेकी इच्छा है, और एक ओर अलख 'लय' मे समा जानेकी इच्छा रहती है। अलख 'लय' मे आत्मासे समावेश हुआ है, योगसे करना यह एक रटन है। परमार्थके मार्गको बहुतसे मुमुक्षु प्राप्त करें, अलख समाधि प्राप्त करे तो अच्छा, और इसके लिये कितना ही मनन है। दीनबन्धुकी इच्छानुसार हो रहेगा।

अद्भुत दशा निरन्तर रहा करती है। अवधूत हुए हैं, अवधूत करनेके लिये कई जीवोके प्रति दृष्टि है।

महावीरदेवने इस कालको पंचमकाल कहकर दु:षम कहा, व्यासने कलियुग कहा; यों बहुतसे महापुरुषोने इस कालको कठिन कहा है, यह बात नि:शंक सत्य है। क्योंकि भक्ति और सत्संग विदेश गये हैं अर्थात् सम्प्रदायोंमे नही रहे और ये प्राप्त हुए बिना जीवका छुटकारा नहीं है। इस कालमे प्राप्त होने दुष्कर हो गये हैं, इसलिये काल भी दु:षम है। यह बात यथायोग्य ही है। दु:षमको कम करनेके लिये आशिष दीजियेगा। बहुत कुछ बतानेकी इच्छा होती है, परन्तु लिखने या बोलनेकी अधिक इच्छा नही रही। चेष्टासे समझमे आये ऐसा हुआ ही करे, यह इच्छा निश्चल है।

वि० आज्ञाकारी रायचंदके दंडवत्।

---

१७७ बंबई, कार्तिक वदी १४, गुरु, १९४७

सुज्ञ भाई श्री त्रिभोवन,

आपका एक पत्र मिला। मनन किया।

अंतरकी परमार्थवृत्तियोको थोड़े समय तक प्रगट करनेकी इच्छा नही होती। धर्मेच्छुक प्राणियोके, पत्र, प्रश्न आदि तो अभी बंधनरूप माने है क्योंकि जिन इच्छाओंको अभी प्रगट करनेकी इच्छा नहीं है उनके अंश (निरुपायतासे) उस कारणसे प्रगट करने पडते हैं।

नित्य नियममे आपको और सभी भाइयोंको अभी तो इतना ही बताता हूँ कि जिस जिस राहसे अनंतकालसे पकडे हुए आग्रहका, अहत्वका और असत्संगका नाश हो उस उस राहमें वृत्ति लानी, यही चिंतन रखनेसे, और परभवका दृढ विश्वास रखनेसे कुछ अंशोंमे उसमे सफलता प्राप्त होगी।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१७८ बंबई, कार्तिक वदी ३०, शुक्र, १९४७

सुज्ञ भाई श्री अंबालाल,

यहाँ आनंदवृत्ति है। आपकी और दूसरे भाइयोकी आनदवृत्ति चाहता हूँ। आपके पिताजीके धर्म-विषयक दो पत्र मिले। इसका क्या उत्तर लिखना ? इसका बहुत विचार रहा करता है।

अभी तो मैं किसीको स्पष्टरूपसे धर्म बतानेके योग्य नही हूँ, अथवा वैसा करनेकी मेरी इच्छा नही रहती। इच्छा न रहनेका कारण उदयमान कर्म है। उनकी वृत्ति मेरी ओर झुकनेका कारण आप इत्यादि हैं, ऐसी कल्पना है। और मै भी इच्छा रखता हूँ कि कोई भी जिज्ञासु हो वह धर्मप्राप्तोसे धर्म प्राप्त करे; तथापि मैं वर्तमान कालमे रहता हूँ, वह काल ऐसा नही है। प्रसगोपात्त मेरे कुछ पत्र उन्हे पढ़ाते रहिये अथवा उनमे कही हुई बातोंका उद्देश आपसे जितना समझाया जाये उतना समझाते रहिये।

पहले मनुष्यमे यथायोग्य जिज्ञासुता आनी चाहिये। पूर्वके आग्रह और असत्संग दूर होने चाहिये। इसके लिये प्रयत्न कीजिये। और उन्हे प्रेरणा करते रहेंगे तो किसी प्रसंगपर अवश्य सम्भाल लेनेका स्मरण करूँगा। नही तो नही।

दूसरे भाइयोंको भी, जिसके पाससे धर्म प्राप्त करना हो उस पुरुषके धर्मप्राप्त होनेकी पूर्ण परीक्षा करनी चाहिये, यह संतकी समझने जैसी बात है।

विo रायचंदके यथायोग्य।

---

१७९ बंबई, कार्तिक, १९४७

उपशम भाव

सोलह भावनाओंसे भूषित होनेपर भी स्वयं जहाँ सर्वोत्कृष्ट माना गया है वहाँ दूसरेकी उत्कृष्टताके कारण अपनी न्यूनता होती हो और कुछ मत्सरभाव आकर चला जाये तो उसे उपशम भाव था, क्षायिक न था, यह नियम है।

---

१८० बंबई, मगसिर सुदी ४, सोम, १९४७

परम पूज्यश्री,

कलके पत्रमे सहज व्यवहारचिंता बतायी थी; उसके लिये सर्वथा निर्भय रहना। रोम रोममें भक्ति तो यही है कि ऐसी दशा आनेपर अधिक प्रसन्न रहना। मात्र दूसरे जीवोंके दिल दुःखानेका कारण आत्मा हो वहाँ चिंता सहज करना। दृढ़ज्ञानकी प्राप्तिका यही लक्षण है।

[1]मुनिको समझानेकी माथापच्चीमे आप न पड़ें तो अच्छा। जिसे परमेश्वर भटकने देना चाहता है, उसे निष्कारण भटकनेसे रोकना यह ईश्वरीय नियमका भंग करना किसलिये न माना जाये?

रोम रोममे खुमारी आयेगी, [2]अमरवरमय ही आत्मदृष्टि हो जायेगी, एक 'तू ही, तू ही' का मनन करनेका अवकाश भी नही रहेगा, तब आपको अमरवरके आनन्दका अनुभव होगा।

यहाँ यही दशा है। राम हृदयमे बसे हैं, अनादिके (आवरण) दूर हुए हैं। सुरति इत्यादिक खिले हैं। यह भी एक वाक्यकी बेगार की है। अभी तो भाग जानेकी वृत्ति है। इस शब्दका अर्थ भिन्न होता है।

नीचे एक वाक्यको तनिक स्याद्वादमें घटाया है—

"इस कालमें कोई मोक्ष जाता ही नही है।"

"इस कालमे कोई इस क्षेत्रसे मोक्ष जाता ही नही है।"

"इस कालमे कोई इस कालमे जन्मा हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष जाता ही नही है।"

"इस कालमे कोई इस कालका जन्मा हुआ सर्वथा मुक्त नहीं होता।"

"इस कालमे कोई इस कालका जन्मा आ सब कर्मोसे सर्वथा मुक्त नही होता।"

अब इसपर तनिक विचार करें। पहले एक व्यक्ति बोला कि इस कालमें कोई मोक्ष जाता ही नहीं है। ज्यों ही यह वाक्य निकला कि शंका हुई—इस कालमे क्या महाविदेहसे मोक्षमे जाता ही नहीं है? वहाँसे तो जाता है, इसलिये फिर वाक्य बोलो। तब दूसरी बार कहा; इस कालमें कोई इस क्षेत्रसे मोक्षमे नहीं जाता। तब प्रश्न किया कि जंबु, सुधर्मास्वामी इत्यादि कैसे गये? वह भी तो यही काल था, इसलिये फिर वह व्यक्ति विचार करके बोला—इस कालमे कोई इस कालका जन्मा हुआ इस क्षेत्रसे मोक्षमें नहीं जाता। तब प्रश्न किया कि किसीका मिथ्यात्व जाता होगा या नही? उत्तर दिया, हाँ जाता है। तब फिर कहा कि यदि मिथ्यात्व जाता है तो मिथ्यात्वके जानेसे मोक्ष हुआ कहा जाये या नहीं? तब उसने हाँ कही कि ऐसा तो होता है। तब कहा—ऐसा नही परन्तु ऐसा होगा कि इस कालमे कोई इस कालका जन्मा हुआ सब कर्मोसे मुक्त नही होता।

---

१. मुनि दीपचन्दजी। २. परमात्ममय

इसमे भी अनेक भेद है, परन्तु यहाँ तक कदाचित् साधारण स्याद्वाद मानें तो यह जैनके शास्त्रके लिये स्पष्टीकरण हुआ माना जाये। वेदात आदि तो इस कालमें सर्वथा सब कर्मोसे छुडानेके लिये कहते हैं। इसलिये अभी भी आगे जाना होगा। उसके बाद वाक्य सिद्धि होगी। इस तरह वाक्य बोलनेकी अपेक्षा रखना उचित है। परन्तु ज्ञान उत्पन्न हुए बिना इस अपेक्षाकी स्मृति रहना सम्भव नहीं है। या तो सत्पुरुषकी कृपासे सिद्धि हो।

अभी इतना ही। थोड़ा लिखा बहुत समझें। ऊपर लिखी हुई माथापच्ची भी लिखना पसन्द नहीं है। शक्करके श्रीफलकी सभीने प्रशंसा की है, परन्तु यहाँ तो अमृतका नारियलका पूरा वृक्ष है। तो यह कहाँसे पसन्द आये? नापसन्द भी नही किया जाता।

अन्तमें आज, कल और सदाके लिये यही कहना है कि इसका संग होनेके बाद सर्वथा निर्भय रहना सीखें। आपको यह वाक्य कैसा लगता है? वि० रायचंद।

---

१८१ बंबई, मगसिर सुदी २, शनि, १९४७

सुज्ञ भाई छोटालाल,

भाई त्रिभोवनका और आपका पत्र मिला। और भाई अबालालका पत्र मिला।

अभी तो आपका लिखा हुआ पढनेकी इच्छा रखता हूँ। किसी प्रसगसे प्रवृत्ति (आत्माकी) होगी तो मैं भी लिखता रहूँगा।

आप जिस समय समतामे हों उस समय अपनी अतरकी उर्मियोके विषयमे लिखियेगा।

यहाँ तीनो काल समान हैं। प्राप्त व्यवहारके प्रति असमता नही है, और उसका त्याग करनेकी इच्छा रखी है; परन्तु पूर्व प्रकृतिको दूर किये बिना छुटकारा नही है।

कालकी दुःषमता······से यह प्रवृत्तिमार्ग बहुतसे जीवोको सत्‌के दर्शन करनेसे रोकता है।

आप सबसे अनुरोध है कि इस आत्माके संबंधमे दूसरोसे कोई बातचीत न करें।

वि० रायचंद।

---

१८२ बंबई, मगसिर सुदी १३, बुध, १९४७

आपका कृपापत्र कल मिला। पढकर परम संतोष प्राप्त हुआ।

आप हृदयके जो जो उद्‌गार लिखते हैं, उन सबको पढकर आपकी योग्यताके लिये प्रसन्न होता हूँ, परम प्रसन्नता होती है, और वारवार सत्युगका स्मरण होता है। आप भी जानते हैं कि इस कालमे मनुष्योंके मन मायिक सपत्तिकी इच्छावाले हो गये है। कोई विरल मनुष्य निर्वाण-मार्गकी दृढ इच्छावाला रहना सम्भव है; अथवा वह इच्छा किसी एकको ही सत्पुरुषके चरणसेवनसे प्राप्त होती है ऐसा है।

महांधकारवाले इस कालमे हमारा जन्म किसी कारणसे ही हुआ होगा, यह निःशक है, परन्तु क्या करे? वह संपूर्णतासे तो वह सुझाये तब हो सकता है। वि० रायचंद।

---

१८३ बंबई, मगसिर सुदी १४, १९४७

आनन्दमूर्ति सत्स्वरूपको अभेदभावसे त्रिकाल नमस्कार करता हूँ।

परमजिज्ञासासे भरपूर आपका धर्मपत्र परसो मिला। पढकर संतोष हुआ।

उसमे जो जो इच्छाये बतायी है, वे सब कल्याणकारक ही हैं, परन्तु उन इच्छाओकी सब प्रकारकी स्फुरणा तो सच्चे पुरुषके चरणकमलकी सेवामे निहित है। और अनेक प्रकारसे सत्संगमे निहित है। यह सब अनन्त ज्ञानियोंका सम्मत किया हुआ निःशंक वाक्य आपको लिखा है।

परिभ्रमण करते हुए जीवने अनादिकालसे अब तक अपूर्वको नही पाया है। जो पाया है वह सब पूर्वानुपूर्व है। इन सबकी वासनाका त्याग करनेका अभ्यास कीजियेगा। दृढ़ प्रेमसे और परमोल्लाससे यह अभ्यास विजयी होगा, और वह कालक्रमसे महापुरुषके योगसे अपूर्वकी प्राप्ति करायेगा।

सर्व प्रकारकी क्रियाका, योगका, जपका, तपका और इसके सिवाय अन्य प्रकारका लक्ष्य ऐसा रखिये कि यह सब आत्माको छुड़ानेके लिये है, बन्धनके लिये नहीं हैं। जिनसे बन्धन हो वे सब (क्रियासे लेकर समस्त योगादि तक) त्याज्य हैं।

मिथ्यानामधारीके यथायोग्य।

---

१८४ बंबई, मगसिर सुदी १५, १९४७

सत्स्वरूपको अभेद भक्तिसे नमस्कार।

आपका पत्र कल मिला।

आपके प्रश्न मिले। यथासमय उत्तर लिखूंगा। आधार निमित्त मात्र हूँ। आप निष्ठाको सबल करनेका प्रयत्न करें यह अनुरोध है।

---

१८५ बंबई, मगसिर वदी ७, शुक्र, १९४७

आज हृदय भर आया है। जिससे विशेष प्राय: कल लिखूंगा। हृदय भर आनेका कारण भी व्यावहारिक नही है।

सर्वथा निश्चित रहनेकी विनती है।

वि० आ० रायचंद।

---

१८६ बंबई, मगसिर वदी १०, १९४७

सुज्ञ भाई श्री अबालाल,

यहाँ आनंदवृत्ति है। जैसे मार्गानुसारी हुआ जाये वैसे प्रयत्न करना यह अनुरोध है।

विशेष क्या लिखना ? यह कुछ सूझता नही है।

रायचंदके यथायोग्य।

---

१८७ बबई, मगसिर वदी ३०, १९४७

प्राप्त हुए सत्स्वरूपको अभेदभावसे अपूर्व समाधिमे स्मरण करता हूँ।

महाभाग्य, शातमूर्ति, जीवन्मुक्त श्री सोभागभाई,

यहाँ आपकी कृपासे आनन्द है, आप निरन्तर आनन्दमे रहे यह आशिष है।

अन्तिम स्वरूपके समझनेमे, अनुभव करनेमे अल्प भी न्यूनता नही रही है। जैसा है वैसा सर्वथा समझमे आया है। सब प्रकारोका एक देश छोड़कर बाकी सब अनुभवमे आया है। एक देश भी समझमे आनेसे नही रहा, परन्तु योग (मन, वचन, काया) से असंग होनेके लिये वनवासकी आवश्यकता है; और ऐसा होनेपर वह देश भी अनुभवमे आ जायेगा, अर्थात् उसीमे रहा जायेगा, परिपूर्ण लोकालोकज्ञान उत्पन्न होगा, और उसे उत्पन्न करनेकी (वैसे) आकाक्षा नही रही, फिर भी उत्पन्न कैसे होगा ? यह भी आश्चर्य-कारक है! परिपूर्ण स्वरूपज्ञान तो उत्पन्न हुआ ही है; और इस समाधिमेसे निकलकर लोकालोकदर्शनके प्रति जाना कैसे होगा ? यह भी एक मुझे नही परन्तु पत्र लिखनेवालेको विकल्प होता है!

कुनबी और कोली जैसी जातिमे भी थोडे ही वर्षोंमे मार्ग-प्राप्त बहुत पुरुष हो गये है। उन महात्माओंकी जनसमुदायको पहचान न होनेके कारण कोई विरला ही उनसे सार्थकता सिद्ध कर सका है। जीवको महात्माके प्रति मोह ही नही हुआ, यह कैसी अद्भुत ईश्वरीय नियति है ?

वे सब कुछ अन्तिम ज्ञानको प्राप्त नही हुए थे, परन्तु उसकी प्राप्ति उनके बहुत समीप थी। ऐसे बहुतसे पुरुषोके पद इत्यादि यहाँ देखें। ऐसे पुरुषोके प्रति रोमाच बहुत उल्लसित होता है, और मानो निरन्तर उनकी चरणसेवा ही करते रहे, यह एकमात्र आकाक्षा रहती है। ज्ञानीकी अपेक्षा ऐसे मुमुक्षुओपर अतिशय उल्लास आता है, इसका कारण यही कि वे निरन्तर ज्ञानीकी चरणसेवा करते है, और यही उनका दासत्व उनके प्रति हमारा दासत्व होनेका कारण है। भोजा भगत, निरात कोली इत्यादिक पुरुष योगी (परम योग्यतावाले) थे। निरंजन पदको समझनेवालेको निरजन कैसी स्थितिमे रखते हैं, यह विचार करते हुए अकल गतिपर गम्भीर एवं समाधियुक्त हास्य आता है! अब हम अपनी दशाको किसी भी प्रकारसे नही कह सकेंगे, तो फिर लिख कैसे सकेंगे ? आपके दर्शन होनेपर जो कुछ वाणी कह सकेगी वह कहेगी, बाकी निरुपायता है। (कुछ) मुक्ति भी नही चाहिये, और जिस पुरुषको जैनका केवलज्ञान भी नहीं चाहिये, उस पुरुषको अब परमेश्वर कौनसा पद देगा ? यह कुछ आपके विचारमे आता है ? आये तो आश्चर्य कीजिये, नही तो यहाँसे तो किसी तरह कुछ भी बाहर निकाला जा सके ऐसी सम्भावना मालूम नही होती।

आप जो कुछ व्यवहार-धर्मप्रश्न भेजते हैं, उनपर ध्यान नही दिया जाता। उनके अक्षर भी पूरे पढ़नेके लिये ध्यान नही जाता, तो फिर उनका उत्तर न लिखा जा सका हो तो आप किसलिये राह देखते है ? अर्थात् वह अब कब हो सकेगा, उसकी कुछ कल्पना नही की जा सकती।

आप वारंवार लिखते है कि दर्शनके लिये बहुत आतुरता है, परन्तु महावीरदेवने पचमकाल कहा है और व्यास भगवानने कलियुग कहा है, वह कहाँसे साथ रहने दे ? और दे तो आपको उपाधियुक्त किसलिये न रखे ?

यह भूमि उपाधिकी शोभाका संग्रहालय है।

खीमजी इत्यादिको एक बार आपका सत्संग हो तो जहाँ एक लक्षता करनी चाहिये वहाँ होगी, नही तो होनी दुर्लभ है; क्योंकि हमारी अभी बाह्य वृत्ति कम है।

---

१८८ बंबई, पौष सुदी २, सोम, १९४७

कहनेरूप जो मै उसे नमस्कार हो।
सर्व प्रकारसे समाधि है।

---

१८९ बबई, पौष सुदी ५, गुरु, १९४७

*अलखनाम धुनि लगी गगनमें, मगन भया मन मेरा जी।
आसन मारी सुरत दृढ धारी, दिया अगम घर डेरा जी॥
दरश्या अलख देदारा जी।

---

*भावार्थ—गगनमें अलख नामकी धुन लगी है, जिसमें मेरा मन मग्न हो गया है। आसन लगाकर सुरतको दृढतासे धारणकर अगमके घर डेरा जमाया है और अलखके स्वरूपका दर्शन किया है।

१९० बंबई, पौष सुदी ९, १९४७

चि० त्रिभोवनका लिखा पत्र कल मिला। आपको हमारे ऐसे व्यावहारिक कार्य-कथनसे भी विकल्प न हुआ, इसके लिये सन्तोष हुआ है। आप भी सन्तोष ही रखिये।

पूर्वापर असमाधिरूप हो उसे न करनेकी शिक्षा पहले भी दी है। और अब भी यही शिक्षा विशेष स्मरणमे रखने योग्य है। क्योंकि ऐसा रहनेसे भविष्यमे धर्मप्राप्ति सुलभ होगी।

जैसे आपको पूर्वापर असमाधि प्राप्त न हो वैसे आज्ञा होगी। चुनीलालका द्वेष क्षमा करने योग्य है।

समय समयपर कुवरजीको पत्र लिखते रहिये, क्योंकि वे पत्र लिखनेके लिये लिखते हैं।

वि० रायचन्दके यथायोग्य।

---

१९१ बबई, पौष सुदी १०, सोम, १९४७

महाभाग्य जीवन्मुक्त,

आपका कृपापत्र आज एक मिला। उसे पढकर परम सन्तोष हुआ।

प्रश्नव्याकरणमे सत्यका माहात्म्य पढा है। मनन भी किया था। अभी हरिजनकी संगतिके अभावसे काल कठिनतासे बीतता है, हरिजनकी सगतिमे भी उनकी भक्ति करना बहुत प्रिय है।

आप परमार्थके लिये जो परम आकांक्षा रखते है, वह ईश्वरेच्छा होगी तो किसी अपूर्व रास्तेसे पूरी होगी। जिन्हे भ्रान्तिसे परमार्थका लक्ष मिलना दुर्लभ हो गया है, ऐसे भारतक्षेत्रवासी मनुष्योंपर वह परमकृपालु परमकृपा करेगा, परन्तु अभी कुछ समय तक उसकी इच्छा हो, ऐसा मालूम नहीं होता।

---

१९२ बंबई, पौष सुदी १४, शुक्र, १९४७

आयुष्मान भाई,

आज आपका एक पत्र मिला।

आपको किसी भी प्रकारसे पूर्वापर धर्मप्राप्ति असुलभ हो, इसलिये कुछ भी न करनेके लिये आज्ञा दी थी, तथा अन्तिम पत्रमे सूचित किया था कि अभी इस विषयमे कोई व्यवस्था न करें। यदि जरूरत पडेगी तो तत्सम्बन्धी कुछ करनेके लिये इस तरह लिखूंगा कि जिससे आपको पूर्वापर असमाधि न हो। यह वाक्य यथायोग्य समझमे आया होगा। तथापि कुछ भक्तिदशानुयोगसे ऐसा किया मालूम होता है।

कदाचित् आपने इतना भी न किया होता तो यहाँ आनन्द ही था। प्रायः ऐसे प्रसंगमे भी दूसरे प्राणीको दु खी करनेका न होता हो तो आनन्द ही रहता है। यह वृत्ति मोक्षाभिलाषीके लिये तो बहुत उपयोगी है, आत्मसाधनरूप है।

सत्को सत्रूपसे कहनेकी जिसकी निरन्तर परम अभिलाषा थी ऐसे महाभाग्य कबीरका एक पद इस विषयमे स्मरण करने योग्य है। यहाँ एक उसकी मूर्द्धन्य कडी लिखी है—

"करना फकीरी क्या दिलगीरी, सदा मगन मन रहेना जी।"

मुमुक्षुओको इस वृत्तिको अधिकाधिक बढाना उचित है। परमार्थचिंता होना यह एक अलग विषय है; व्यवहारचिंताका वेदन अन्तरसे कम करना, यह मार्गप्राप्तिका एक साधन है।

आपने इस बार मेरे प्रति जो कुछ किया है, वह एक अलग ही विषय है, तथापि विज्ञापन है कि किसी भी प्रकारसे आपको असमाधिरूप जैसा मालूम हो तब इस विषयमे यहाँ लिख भेजना जिससे योग्य व्यवस्था करनेका यथासम्भव प्रयास होगा।

अब इस विषयको इतनेसे यहाँ छोड देता हूँ।

हमारी वृत्ति जो करना चाहती है, वह निष्कारण परमार्थ है, तत्सम्बन्धी आप वारवार जान सके है, तथापि कुछ समवाय कारणकी न्यूनताके कारण अभी तो वैसा कुछ अधिक नही किया जा सकता। इसलिये अनुरोध है कि हम अभी कोई परमार्थज्ञानी है अथवा समर्थ है ऐसी बात प्रसिद्ध न करें, क्योंकि यह हमे वर्तमानमे प्रतिकूल जैसा है।

आप जो समझे है वे मार्गको सिद्ध करनेके लिये निरन्तर सत्पुरुषके चरित्रका मनन करते रहे। प्रसंगात् वह विषय हमे पूछें। सत्शास्त्र, सत्कथा और सद्व्रतका सेवन करें।

वि० निमित्तमात्र

---

१९३ बबई, पौष वदी २, सोम, १९४७

मुज्ञ भाई,

हमे सभी मुमुक्षुओका दासत्व प्रिय है। जिससे उन्होने जो जो विज्ञापन किया है, वह सब हमने पढा है। यथायोग्य अवसर प्राप्त होनेपर इस विषयमे उत्तर लिखा जा सकता है, तथा अभी आश्रम (जो स्थिति है वह स्थिति) छोड देनेकी आवश्यकता नही है। हमारे समागमकी जो आवश्यकता बतायी वह अवश्य हितकारी है। तथापि अभी उस दशाका योग आना शक्य नही है। यहाँ निरन्तर आनन्द है। वहाँ धर्मयोगकी वृद्धि करनेके लिये सभीसे विनती है। वि० रा०

---

१९४ बबई, पौष, १९४७

जीवको मार्ग मिला नही है, इसका क्या कारण ?

इसका वारवार विचार कर, योग्य लगे तब साथका पत्र पढे।

अभी विशेष लिख सकनेकी या बतलानेकी दशा नही है, तो भी एक मात्र आपकी मनोवृत्ति कुछ दु:खित होनेसे रुके इसलिये यथावसर जो कुछ योग्य लगा सो लिखा है।

हमे लगता है कि मार्ग सरल है, परन्तु प्राप्तिका योग मिलना दुर्लभ है।

सत्स्वरूपको अभेदभावसे और अनन्य भक्तिसे नमोनमः

जो निरंतर भाव-अप्रतिबद्धतासे विचरते है ऐसे ज्ञानीपुरुषके चरणारविंदके प्रति अचल प्रेम हुए बिना और सम्यक्प्रतीति आये बिना सत्स्वरूपकी प्राप्ति नही होती, और आने पर अवश्य वह मुमुक्षु, जिसके चरणारविंदकी उसने सेवा की है, उसकी दशाको पाता है। सर्व ज्ञानियोने इस मार्गका सेवन किया है, सेवन करते है और सेवन करेंगे। ज्ञानप्राप्ति इससे हमे हुई थी, वर्तमानमे इसी मार्गसे होती है और अनागतकालमे भी ज्ञानप्राप्तिका यही मार्ग है। सर्व शास्त्रोका बोध-लक्ष्य देखा जाये तो यही है। और जो कोई भी प्राणी छूटना चाहता है उसे अखड वृत्तिसे इसी मार्गका आराधन करना चाहिये। इस मार्गका आराधन किये बिना जीवने अनादि कालसे परिभ्रमण किया है। जब तक जीवको स्वच्छंदरूपी अंधत्व है, तब तक इस मार्गका दर्शन नही होता। (अधत्व दूर होनेके लिये) जीवको इस मार्गका विचार करना चाहिये, दृढ मोक्षेच्छा करनी चाहिये, इस विचारमे अप्रमत्त रहना चाहिये, तो मार्गकी प्राप्ति होकर अंधत्व दूर होता है, यह नि.शंक मानें। अनादिकालसे जीव उलटे मार्गपर चला है। यद्यपि उसने जप, तप, शास्त्राध्ययन इत्यादि अनत बार किया है, तथापि जो कुछ भी अवश्य करने योग्य था, वह उसने किया नहीं है; जो हमने पहले ही बताया है।

*सूयगडांगसूत्रमें ऋषभदेवजो भगवानने जहाँ अट्ठानवें पुत्रोको उपदेश दिया है, मोक्षमार्गपर चढ़ाया है वहाँ यही उपदेश किया है—

"हे आयुष्मानो ! इस जीवने सब कुछ किया है एक इसके बिना, वह क्या ? तो कि निश्चयपूर्वक कहते हैं कि सत्पुरुषका कहा हुआ वचन, उसका उपदेश सुना नही है, अथवा सम्यक्प्रकारसे उसका पालन नही किया है। और इसे ही हमने मुनियोको सामायिक (आत्मस्वरूपकी प्राप्ति) कहा है।"

*सुधर्मास्वामी जम्बुवामीको उपदेश देते है कि सारे जगतका जिन्होने दर्शन किया है, ऐसे महावीर भगवानने हमे इस प्रकार कहा है—"गुरुके अधीन होकर आचरण करनेवाले अनन्त पुरुषोने मार्ग पाकर मोक्ष प्राप्त किया है।"

एक इस स्थलमे नही, परन्तु सर्व स्थलों और सर्व शास्त्रोमे यही बात कहनेका लक्ष्य है।

आणाए धम्मो आणाए तवो।

आज्ञाका आराधन ही धर्म और आज्ञाका आराधन ही तप है। (आचाराग सूत्र)

सब जगह यही महापुरुषोके कहनेका लक्ष्य है। यह लक्ष्य जोवकी समझमे नही आया। इसके कारणोमे सबसे प्रधान कारण स्वच्छंद है और जिसने स्वच्छदको मद किया है, ऐसे पुरुषके लिये प्रतिब ता (लोकसम्बन्धी बधन, स्वजनकुटुम्ब बधन, देहाभिमानरूप बधन, संकल्प-विकल्परूप बन्धन) इत्यादि बन्धनको दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय जो कोई हो उसका इसपरसे आप विचार कीजिये, और इसे विचारते हुए जो कुछ योग्य लगे वह हमे पूछिये, और इस मार्गसे यदि कुछ योग्यता प्राप्त करेंगे तो चाहे जहाँसे भी उपशम मिल जायेगा। उपशम मिले और जिसकी आज्ञाका आराधन करे ऐसे पुरुषकी खोजमे रहिये।

बाकी दूसरे सभी साधन बादमे करने योग्य है। इसके सिवाय दूसरा कोई मोक्षमार्ग विचारने पर प्रतीत नही होगा। (विकल्पसे) प्रतीत हो तो बताइयेगा ताकि जो कुछ योग्य हो वह बताया जा सकें।

---

१९५ बंबई, पौष १९४७

सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार

जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्पोको छोडकर इस एक विकल्पको वारंवार स्मरण करना आवश्यक है—

"[1]अनन्तकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यो नही होती ? और वह क्या करनेसे हो ?"

इस वाक्यमे अनत अर्थ समाया हुआ है, और इस वाक्यमे कही हुई चिंतना किये बिना, उसके लिये दृढ होकर तरसे बिना मार्गकी दिशाका भी अल्प भान नही होता, पूर्वमे हुआ नही, और भविष्यकालमे भी नही होगा। हमने तो ऐसा जाना है। इसलिये आप सबको यही खोजना है। उसके बाद दूसरा क्या जानना ? वह मालूम होता है।

---

१९६ बंबई, माघ सुदी ७, रवि, १९४७

[2]मु-पनसे रहना पड़ता है ऐसे जिज्ञासु,

जीवके लिये दो बड़े बधन हैं, एक स्वच्छद और दूसरा प्रतिबध। जिसकी इच्छा स्वच्छंद दूर करनेकी है, उसे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करना चाहिये, और जिसकी इच्छा प्रतिबंध दूर करनेकी है, उसे

* प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय अध्ययन गाथा ३१-३२ १. देखें आक ८६

२. मुनि—मुनिश्री लल्लुजी

सर्वसंगका त्यागी होना चाहिये। ऐसा न हो तो बंधनका नाश नही होता। जिसका स्वच्छंद नष्ट हुआ है, उसको जो प्रतिबंध है, वह अवसर प्राप्त होनेपर नष्ट होता है, इतनी शिक्षा स्मरण करने योग्य है।

यदि व्याख्यान करना पड़े तो करे, परन्तु इस कार्यकी अभी मेरी योग्यता नही है और यह मुझे प्रतिबंध है, ऐसा समझते हुए उदासीन भावमे करे। उसे न करनेके लिये श्रोताओको रुचिकर तथा योग्य लगें ऐसे प्रयत्न करे, और फिर भी जब करना पडे तो उपर्युक्तके अनुसार उदासीन भाव समझकर करे।

---

१९७ बबई, माघ सुदी ९, मगल, १९४७

आपका आनंदरूप पत्र मिला। ऐसे पत्रके दर्शनकी तृषा अधिक है।

ज्ञानके 'परोक्ष-अपरोक्ष' होनेके विषयमे पत्रसे लिखा जा सकना सम्भव नहीं है, परन्तु सुधाकी धाराके पीछेके कितने ही दर्शन हुए हैं, और यदि असगताके साथ आपका सत्संग हो तो अंतिम स्वरूप परिपूर्ण प्रकाशित हो ऐसा है, क्योकि उसे प्राय सर्व प्रकारसे जाना है, और वही राह उसके दर्शनकी है। इस उपाधियोगमे भगवान इस दर्शनको नही होने देंगे, ऐसा वे मुझे प्रेरित करते है, इसलिये जब एकातवासी हुआ जायेगा तब जान-बूझकर भगवानका रखा हुआ परदा मात्र थोडे ही प्रयत्नसे दूर हो जायेगा। इसके अतिरिक्त दूसरे स्पष्टीकरण पत्र द्वारा नही किये जा सकते।

अभी आपके समागमके बिना आनंदका रोध है।

वि० आज्ञाकारी

---

१९८ बबई, माघ सुदी ११, गुरु, १९४७

सत्को अभेद भावसे नमोनम.

पत्र आज मिला। यहाँ आनन्द है (वृत्तिरूप)। आजकल किस प्रकारसे कालक्षेप होता है सो लिखियेगा।

दूसरी सभी प्रवृत्तियोकी अपेक्षा जीवको योग्यता प्राप्त हो ऐसा विचार करना योग्य है, और उसका मुख्य साधन सर्व प्रकारके कामभोगसे वैराग्यसहित सत्संग है।

सत्संग (समवयस्क पुरुषोका, समगुणी पुरुषोका योग) मे, जिन्हे सत्का साक्षात्कार है ऐसे पुरुषके वचनोंका परिशीलन करना कि जिससे कालक्रमसे सत्की प्राप्ति होती है।

जीव अपनी कल्पनासे किसी भी प्रकारसे सत्को प्राप्त नही कर सकता। सजीवनमूर्तिके प्राप्त होनेपर ही सत् प्राप्त होता है, सत् समझमे आता है, सत्का मार्ग मिलता है और सत्पर ध्यान आता है। सजीवनमूर्तिके लक्षके बिना जो कुछ भी किया जाता है, वह सब जीवके लिये बन्धन है। यह मेरा हार्दिक अभिमत है।

यह काल सुलभबोधिता प्राप्त होनेमे विघ्नभूत है। फिर भी अभी उसकी विषमता कुछ (दूसरे कालकी अपेक्षा बहुत) कम है; ऐसे समयमे जिससे वक्रता व जडता प्राप्त होती है ऐसे मायिक व्यवहारमे उदासीन होना श्रेयस्कर है मत्का मार्ग कही भी दिखायी नही देता।

आप सबको आजकल जो कुछ जैनकी पुस्तकें पढनेका परिचय रहता हो, उसमेसे जिस भागमे जगतका विशेष वर्णन किया हो उस भागको पढनेका ध्यान कम रखें, और जीवने क्या नही किया? और अब क्या करना? इस भागको पढने और विचारनेका विशेष ध्यान रखें।

कोई भी दूसरे धर्मक्रियाके नामसे जो आपके सहवासी (श्रावक आदि) क्रिया करते हो, उसका निषेध न करें। अभी जिसने उपाधिरूप इच्छा अगीकार की है, उस पुरुषको किसी भी प्रकारसे प्रगट न करें।

मात्र कोई दृढ जिज्ञासु हो उसका ध्यान मार्गकी ओर जाये ऐसी थोडे शब्दोमे धर्मकथा करे (और वह भी यदि वह इच्छा रखता हो तो), बाकी अभी तो आप सब अपनी-अपनी सफलताके लिये मिथ्या धर्म-वासनाओका, विषयादिकको प्रियताका, और प्रतिबधका त्याग करना सीखे। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने जाना नही; और बाकीका कुछ प्रिय करने योग्य नहो है, यह हमारा निश्चय है।

आप जो यह बात पढे उसे सुज्ञ मगनलाल और छोटालालको किसी भी प्रकारसे सुना दीजिये, पढवा दीजिये।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य एक बडा साधन है। असत्सग एक बडा विघ्न है।

---

१९९ बबई, माघ सुदी ११, गुरु, १९४७

उपाधियोगके कारण यदि शास्त्रवाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने दें। परन्तु उपाधिसे नित्य प्रति थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो ऐसा निवृत्तिमे बैठनेकी बहुत आवश्यकता है। और उपाधिमे भी निवृत्तिका ध्यान रखनेका स्मरण रखिये।

आयुका जितना समय है उतना ही समय यदि जीव उपाधिमे रखे तो मनुष्यत्वका सफल होना कब सम्भव है? मनुष्यताकी सफलताके लिये जीना ही कल्याणकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। और सफलताके लिये जिन जिन साधनोकी प्राप्ति करना योग्य है उन्हे प्राप्त करनेके लिये नित्य प्रति निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिके अभ्यासके बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नही होती यह प्रत्यक्ष समझमे आने जैसी बात है।

धर्मके रूपमे मिथ्या वासनाओंसे जीवको बधन हुआ है, यह महान लक्ष रखकर वैसी मिथ्या वासनायें कैसे दूर हो इसके लिये विचार करनेका अभ्यास रखियेगा।

---

२०० बबई माघ, सुदी, १९४७

वचनावली

१ जीव स्वयको भूल गया है, और इसलिय उसे सत्सुखका वियोग है, ऐसा सर्व धर्म सम्मत कथन है।

२. स्वयको भूल जानेरूप अज्ञानका नाश ज्ञान मिलनेसे होता है, ऐसा निःशक मानना।

३ ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे होनी चाहिये। यह स्वाभाविकरूपसे समझमे आता है, फिर भी जीव लोकलज्जा आदि कारणोसे अज्ञानीका आश्रय नही छोड़ता, यही अनतानुबधी कषायका मूल है।

४ जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते है। अपनी इच्छानुसार चलता हुआ जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

५. जब तक प्रत्यक्ष ज्ञानीकी इच्छानुसार, अर्थात् आज्ञानुसार न चला जाये, तब तक अज्ञानकी निवृत्ति होना सभव नही है।

६ ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन वह कर सकता है कि जो एकनिष्ठासे, तन, मन और धनकी आसक्तिका त्याग करके उसकी भक्तिमे जुट जाये।

७. [1]यद्यपि ज्ञानी भक्तिकी इच्छा नही करते, परन्तु मोक्षाभिलाषीको वह किये बिना उपदेश परिणमित नही होता, और मनन तथा निदिध्यासन आदिका हेतु नही होता, इसलिये मुमुक्षुको ज्ञानीकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये ऐसा सत्पुरुषोंने कहा है।

---

१ पाठातर—यद्यपि ज्ञानी भक्तिकी इच्छा नही करते, परन्तु मोक्षाभिलाषीको वह किये बिना मोक्षकी प्राप्ति नही होती, यह अनादि कालका गुप्त तत्त्व सतोके हृदयमे रहा है, जिसे यहाँ लिपिबद्ध किया है।

८. इसमें कही हुई बात सब शास्त्रोंको मान्य है।

९. ऋषभदेवजीने अट्ठानवें पुत्रोंको त्वरासे मोक्ष होनेका यही उपदेश किया था।

१०. परीक्षित राजाको शुकदेवजीने यही उपदेश किया है।

११. अनंत काल तक जीव स्वच्छदसे चलकर परिश्रम करे तो भी अपने आप ज्ञान प्राप्त नहीं करता; परन्तु ज्ञानीकी आज्ञाका आराधक अन्तर्मुहूर्तमें भी केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

१२. शास्त्रमें कही हुई आज्ञाएँ परोक्ष हैं और वे जीवको अधिकारी होनेके लिये कही हैं; मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञानीकी प्रत्यक्ष आज्ञाका आराधन करना चाहिये।

१३. यह ज्ञानमार्गकी श्रेणि कही, इसे प्राप्त किये बिना दूसरे मार्गसे मोक्ष नही है।

१४ इस गुप्त तत्त्वका जो आराधन करता है, वह प्रत्यक्ष अमृतको पाकर अभय होता है।

॥ इति शिवम् ॥

---

२०१ बंबई, माघ वदी ३, गुरु, १९४७

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, इसका जिन्होंने हृदयमें अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी गुप्त शिक्षा है।

यहाँ परमानंद है। असंगवृत्ति होनेसे समुदायमे रहना बहुत विकट है। जिसका यथार्थ आनंद किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिनके हृदयमे प्रकाशित हुआ है, उन महाभाग्य ज्ञानियोंको और आपको हमपर कृपा रहे। हम तो आपकी चरणरज है, और त्रिकाल इसी प्रेमकी निरंजन-देवसे याचना है।

आजके प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है, आज बहुत दिनोंसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपम रूपमे उदित हुई है। गोपियाँ भगवान वासुदेव (कृष्णचद्र) को दहीकी मटकीमे रखकर बेचने निकली थी ऐसी श्रीमद् भागवत्मे एक [1]कथा है, वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है। जहाँ अमृत बहता है वहाँ सहस्रदल कमल है, यह दहीकी मटकी है, और आदिपुरुष उसमे बिराजमान है वह भगवान वासुदेव है। उसकी प्राप्ति सत्पुरुषकी चित्तवृत्तिरूप गोपीको होनेपर वह उल्लासमे आकर किसी दूसरे मुमुक्षु आत्माके प्रति ऐसा कहती है—"कोई माधव ले, हाँरे कोई माधव ले।" अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमे आदिपुरुषकी प्राप्ति हुई है और यह एक ही प्राप्त करने योग्य है, और कुछ भी प्राप्त करने योग्य नही है, इसलिये आप प्राप्त करे। उल्लासमे वारंवार कहती है कि आप उस पुराणपुरुषको प्राप्त करें, और यदि उस प्राप्तिको अचल प्रेमसे चाहे तो हम वह आदिपुरुष आपको दे दें। हम इस मटकी-मे रखकर बेचने निकली हैं, ग्राहक देखकर दे देती हैं, कोई ग्राहक बने, अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बने, तो वासुदेवकी प्राप्ति करा दें।

मटकीमे रखकर बेचने निकलनेका अर्थ यह है कि सहस्रदल कमलमे हमे वासुदेव भगवान मिले हैं, मक्खनका तो नाम मात्र है; यदि सारी सृष्टिको मथ कर मक्खन निकालें तो मात्र एक अमृतरूप वासुदेव भगवान ही मक्खन निकलता है। ऐसे सूक्ष्म स्वरूपको स्थूल बनाकर व्यासजीने अद्भुत भक्तिका गान किया है। यह कथा और समस्त भागवत इस एकको ही प्राप्त करानेके लिये अक्षरशः भरपूर है। और वह मुझे (हमे) बहुत समय पहले समझमे आ गया है; आज अति अति स्मरणमे है; क्योंकि साक्षात् अनुभवप्राप्ति है, और इसी कारण आजकी परम अद्भुत दशा है। ऐसी दशासे जीव उन्मत्त भी हुए बिना नही रहेगा, और वासुदेव हरि जान-बूझकर कुछ समयके लिये अदृश्य भी हो जायें, ऐसे लक्षणके धारक हैं। इसलिये हम असगता चाहते है; और आपका सहवास भी असगता ही है, इसलिये भी वह हमे विशेष प्रिय है।

---

१. ऐसी कोई कथा श्रीमद् भागवतमें तो नही है। इस तरहकी जनश्रुति अवश्य है। —अनुवादक

सत्संगकी यहाँ कमी है, और विकट वासमे निवास है। हरीच्छासे घूमने-फिरनेकी वृत्ति है। इसलिये कुछ खेद तो नही है, परन्तु भेदका प्रकाश नही किया जा सकता, यह चिंतना निरंतर रहा करती है।

आज भूधर एक पत्र दे गये है। तथा आपका एक पत्र सीधा मिला है।

मणिको भेजी हुई [1]वचनावलीमे आपकी प्रसन्नतासे हमारी प्रसन्नताको उत्तेजन मिला है। इसमें संतका अद्भुत मार्ग प्रगट किया है। यदि [2]मणि एक ही वृत्तिसे इन वाक्योंका आराधन करेगा, और उसी पुरुषकी आज्ञामे लीन रहेगा तो अनन्त कालसे प्राप्त हुआ परिभ्रमण मिट जायेगा। मणि मायाका मोह विशेष रखता है, कि जो मार्गप्राप्तिमे बडा प्रतिबंध गिना गया है। इसलिये ऐसी वृत्तिको धीरे-धीरे कम करनेके लिये मणिसे मेरी विनती है।

आपको जो पूर्णपदोपदेशक अखरावट या पद भेजनेकी इच्छा है, वह किस ढालमे अथवा रागमे हो इसके लिये आपको जो योग्य लगे वह लिखें।

अनेकानेक प्रकारसे मनन करनेपर हमारा यह दृढ निश्चय है कि भक्ति सर्वोपरि मार्ग है, और वह सत्पुरुषके चरणोमे रहकर हो तो क्षणभरमे मोक्ष प्राप्त करा दे ऐसा साधन है।

विशेष कुछ नही लिखा जाता। परमानंद है, परन्तु असत्संग है अर्थात् सत्सग नही है।

विशेष आपकी कृपादृष्टि, बस यही।

वि० आज्ञाकारीके दंडवत्

---

२०२ बंबई, माघ वदी ३, १९४७

सुज्ञ मेहता चत्रभुज,

जिस मार्गसे जीवका कल्याण हो उसका आराधन करना 'श्रेयस्कर' है, ऐसा वारंवार कहा है। फिर भी यहाँ इस बातका स्मरण कराता हूँ।

अभी मुझसे कुछ भी लिखा नही गया है, उसका उद्देश इतना ही है कि ससारी सम्बन्ध अनन्त बार हुआ है; और जो मिथ्या है उस मार्गसे प्रीति बढानेकी इच्छा नही है। परमार्थ मार्गमे प्रेम उत्पन्न होना यही धर्म है। उसका आराधन करे।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

२०३ बंबई, माघ वदी ४, १९४७

ॐ सत्स्वरूप

सुज्ञ भाई,

आज आपका एक पत्र मिला। इससे पूर्व तीन दिन पहले एक सविस्तर पत्र मिला था। उसके लिये कुछ असंतोष नही हुआ। विकल्प न कीजियेगा।

आपने मेरे पत्रके उत्तरमे जो सविस्तर पत्र लिखा है, वह पत्र आपने विकल्पपूर्वक नही लिखा। मेरा वह लिखा हुआ पत्र[3] मुख्यत मुनिपर था। क्योकि उनकी माँग निरन्तर रहती थी।

यहाँ परमानंद है। आप और दूसरे भाई सत्के आराधनका प्रयत्न करें। हमारा यथायोग्य मानें। और भाई त्रिभोवन आदिसे कहें।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

१. देखें आंक २०० २. मणिलाल, श्री सौभाग्यभाईके पुत्र ३. देखें आंक १९८

२०४ बंबई, माघ वदी ७, मंगल, १९४७

यहाँ परमानंद वृत्ति है। आपका भक्तिपूर्ण पत्र आज प्राप्त हुआ।

आपको मेरे प्रति परमोल्लास आता है, और बारबार इस विषयमे आप प्रसन्नता प्रगट करते हैं; परन्तु अभी हमारी प्रसन्नता हमपर नही होती, क्योकि यथेष्ट असगदशासे रहा नही जाता, और मिथ्या प्रतिबधमे वास है। परमार्थके लिये परिपूर्ण इच्छा है, परन्तु ईश्वरेच्छाकी अभी तक उसमे सम्मति नही है, तब तक मेरे विषयमे अतरमे समझ रखियेगा, और चाहे जैसे मुमुक्षुओको भी नामपूर्वक मत बताइयेगा। अभी ऐसी दशामे रहना हमे प्रिय है।

आपने खभात पत्र लिखकर मेरा माहात्म्य प्रगट किया, परन्तु अभी वैसा नही होना चाहिये। वे सब मुमुक्षु है। सच्चेको वे जैसी ही तरहसे पहचानते है, तो भी उनके सामने अभी प्रगट होकर प्रतिबध करना मुझे योग्य नही लगता। आप प्रसगोपात्त उन्हे ज्ञानकथा लिखियेगा, तो मेरा एक प्रतिबंध कम होगा। और ऐसा करनेका परिणाम अच्छा है। हम तो आपका समागम चाहते है। कई बाते अतरमे घूमती है, परन्तु लिखी नही जा सकती।

---

२०५ बबई, माघ वदी ११, शुक्र, १९४७

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः

उसे मोह क्या ? शोक क्या ? कि जो सर्वत्र एकत्व (परमात्मस्वरूप) को ही देखता है।

वास्तविक सुख यदि जगतकी दृष्टिमे आया होता तो ज्ञानी पुरुषो द्वारा नियत किया हुआ मोक्ष स्थान ऊर्ध्व लोकमे नही होता, परन्तु यह जगत ही मोक्ष होता।

ज्ञानीको सर्वत्र मोक्ष है, यह बात यद्यपि यथार्थ है, तो भी जहाँ मायापूर्वक परमात्माका दर्शन है ऐसे जगतमे विचारकर पैर रखने जैसा उन्हे भी कुछ लगता है। इसलिये हम असगता चाहते है, या फिर आपका सग चाहते है, यह योग्य ही है।

---

२०६ बबई, माघ वदी १३, रवि, १९४७

घट परिचयके लिये आपने कुछ नही लिखा सो लिखियेगा। तथा महात्मा कबीरजीकी दूसरी पुस्तकें मिल सकें तो भेजनेकी कृपा कीजियेगा।

पारमार्थिक विषयमे अभी मौन रहनेका कारण परमात्माकी इच्छा है। जब तक असग नही होगे और उसके बाद उसकी इच्छा नही होगी तब तक प्रगटरूपसे मार्ग नही कहेगे, और ऐसा सभी महात्माओ-का रिवाज है। हम तो दीन मात्र है।

भागवतवाली बात आत्मज्ञानमे जानी हुई है।

---

२०७ बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

यद्यपि किसी प्रकारकी क्रियाका उत्थापन नही किया जाता तो भी उन्हे जो लगता है उसका कुछ कारण होना चाहिये, जिस कारणको दूर करना कल्याणरूप है।

परिणाममे 'सत्' का प्राप्त करानेवाली और प्रारम्भमे 'सत्' की हेतुभूत ऐसी उनकी रुचिको प्रसन्नता देनेवाली वैराग्यकथाका प्रसगोपात्त उनसे परिचय करना, तो उनके समागमसे भी कल्याणकी ही वृद्धि होगी, और वह कारण भी दूर होगा।

जिनमे पृथ्वी आदिका विस्तारसे विचार किया गया है ऐसे वचनोकी अपेक्षा 'वैतालीय' अध्ययन जैसे वचन वैराग्यकी वृद्धि करते है, और दूसरे मतभेदवाले प्राणियोको भी उनमे अरुचि नही होती।

जो साधु आपका अनुसरण करते हैं, उन्हें समय समयपर बताते रहना : "धर्म उसीको कहा जा सकता है कि जो धर्म होकर परिणमे, ज्ञान उसीको कहा जा सकता है कि जो ज्ञान होकर परिणमे। हम ये सब क्रियाएँ, वाचन इत्यादि करते है, वे मिथ्या है ऐसा कहनेका मेरा हेतु आप न समझें तो मैं आपको कुछ कहना चाहता हूँ," इस प्रकार कहकर उन्हे बताना कि यह जो कुछ हम करते है, उसमे कोई ऐसी बात रह जाती है कि जिससे 'धर्म और ज्ञान' हममे अपने रूपसे परिणमित नहीं होते, और कषाय एवं मिथ्यात्व (सदेह) का मंदत्व नही होता, इसलिये हमे जीवके कल्याणका पुनः पुनः विचार करना योग्य है और उसका विचार करनेपर हम कुछ न कुछ फल पाये बिना नही रहेगे। हम सब कुछ जाननेका प्रयत्न करते है, परन्तु अपना 'सन्देह' कैसे दूर हो, यह जाननेका प्रयत्न नही करते। यह जब तक नही करेंगे तब तक 'सदेह' कैसे दूर होगा ? और जब तक सन्देह होगा तब तक ज्ञान भी नही होगा, इसलिये संदेहको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। वह सन्देह यह है कि यह जीव भव्य है या अभव्य ? मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि ? सुलभबोधी है या दुर्लभबोधी ? अल्पससारी है या अधिक ससारी ? यह सब हमें ज्ञात हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारकी ज्ञानकथाका उनसे प्रसंग रखना योग्य है।

परमार्थपर प्रीति होनेमे सत्संग सर्वोत्कृष्ट और अनुपम साधन है, परन्तु इस कालमे वैसा योग होना बहुत विकट है, इसलिये जीवको इस विकटतामे रहकर सफलतापूर्वक पूरा करनेके लिये विकट पुरुषार्थ करना योग्य है, और वह यह कि "अनादि कालसे जितना जाना है उतना सभी अज्ञान ही है, उसका विस्मरण करना।"

'सत्' सत् ही है, सरल है, सुगम है, सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है, परन्तु 'सत्' को बतानेवाला 'सत्' चाहिये।

नय अनंत है; प्रत्येक पदार्थमे अनंत गुणधर्म हैं, उनमे अनंत नय परिणमित होते हैं, तो फिर एक या दो चार नयपूर्वक बोला जा सके ऐसा कहाँ है ? इसलिये नयादिकमे समतावान रहना। ज्ञानियोंकी वाणी 'नय'मे उदासीन रहती है, उस वाणीको नमस्कार हो! विशेष किसी प्रसगसे।

---

२०८ बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

अनत नय है, एक एक पदार्थ अनत गुणसे और अनंत धर्मसे युक्त है, एक एक गुण और एक एक धर्ममे अनंत नय परिणमित होते है, इसलिये इस रास्तेसे पदार्थका निर्णय करना चाहे तो नहीं हो सकता; इसका रास्ता कोई दूसरा होना चाहिये। प्रायः इस बातको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं; और वे उस नयादिक मार्गके प्रति उदासीन रहते है, जिससे किसी नयका एकात खंडन नही होता, अथवा किसी नयका एकात मंडन नही होता। जितनी जिसकी योग्यता है, उतनी उस नयकी सत्ता ज्ञानी पुरुषोको मान्य होती है। जिन्हे मार्ग नही प्राप्त हुआ ऐसे मनुष्य 'नय' का आग्रह करते हैं, और उससे विषम फलकी प्राप्ति होती है। कोई नय जहाँ बाधित नही है ऐसे ज्ञानीके वचनोको हम नमस्कार करते है। जिसने ज्ञानीके मार्गकी इच्छा की हो ऐसा प्राणी नयादिमे उदासीन रहनेका अभ्यास करे; किसी नयमें आग्रह न करे और किसी प्राणीको इस राहसे दुःखी न करे, और यह आग्रह जिसका मिट गया है, वह किसी राहसे भी प्राणीको दुःखी करनेकी इच्छा नही करता।

२०९

महात्माओंने चाहे जिस नामसे और चाहे जिस आकारसे एक 'सत्' को ही प्रकाशित किया है। उसीका ज्ञान करना योग्य है। वही प्रतीत करने योग्य है, वही अनुभवरूप है और वही परम प्रेमसे भजने योग्य है।

उस 'परमसत्' की ही हम अनन्य प्रेमसे अविच्छिन्न भक्ति चाहते है।

उस 'परमसत्' को 'परमज्ञान' कहे, चाहे तो 'परमप्रेम' कहे और चाहे तो 'सत्-चित्-आनंदस्वरूप' कहें, चाहे तो 'आत्मा' कहे, चाहे तो 'सर्वात्मा' कहे, चाहे तो एक कहे, चाहे तो अनेक कहे, चाहे तो एकरूप कहे, चाहे तो सर्वरूप कहे; परन्तु सत् सत् ही है। और वही इस सब प्रकारसे कहने योग्य है, कहा जाता है। सब यही है, अन्य नही।

ऐसा वह परमतत्त्व, पुरुषोत्तम, हरि, सिद्ध, ईश्वर, निरजन, अलख, परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर और भगवत आदि अनंत नामोसे कहा गया है।

हम जब परमतत्त्व कहना चाहते है तो उसे किन्ही भी शब्दोमे कहे तो वह यही है, दूसरा नही।

---

२१० बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

सत्स्वरूपको अभेदभावसे नमोनम

यहाँ आनंद है। सर्वत्र परमानंद दर्शित है।

क्या लिखना ? यह तो कुछ सूझता नही है, क्योकि दशा भिन्न रहती है, तो भी प्रसंगसे कोई सद्‌वृत्ति पैदा करनेवाली पुस्तक होगी तो भेजूंगा। हमपर आपकी चाहे जैसी भक्ति हो, परन्तु सब जीवोंके और विशेषत: धर्मजीवके तो हम त्रिकालके लिये दास ही हैं।

सबको इतना ही अभी तो करना है कि पुरानेको छोड़े बिना तो छुटकारा ही नही हैं; और वह छोड़ने योग्य ही है ऐसा दृढ करना।

मार्ग सरल है, प्राप्ति दुर्लभ है।

*साथके पत्र पढ़कर उनमे जो योग्य लगे उसे लिखकर मुनिको दे दीजिये। उन्हें मेरी ओरसे स्मृति और वंदन कीजिये। हम तो सबके दास है। त्रिभोवनसे अवश्य कुशल क्षेम पूछिये।

---

२११ बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

'सत्' कुछ दूर नहीं है, परन्तु दूर लगता है, और यही जीवका मोह है।

'सत्' जो कुछ है, वह 'सत्' ही है; सरल है, सुगम है, और सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है; परन्तु जिसपर भ्रातिरूप आवरणतम छाया रहता है उस प्राणीको उसकी प्राप्ति कैसे हो ? अन्धकारके चाहे जितने प्रकार करें, परन्तु उनमे कोई ऐसा प्रकार नही निकलेगा कि जो प्रकाशरूप हो; इसी प्रकार जिसपर आवरणतिमिर छाया हुआ है उस प्राणीकी कल्पनाओंमेसे कोई भी कल्पना 'सत्' मालूम नही होती और 'सत्'के निकट होना भी सम्भव नही है। 'सत्' है, वह भ्राति नही है, वह भ्रातिसे सर्वथा व्यतिरिक्त (भिन्न) हैं, कल्पनासे पर (दूर) है, इसलिये जिसकी उसे प्राप्त करनेकी दृढ मति हुई है वह पहले ऐसा दृढ निश्चयात्मक विचार करे कि स्वयं कुछ भी नही जानता, और फिर 'सत्' की प्राप्तिके लिये ज्ञानीकी शरणमे जाये तो अवश्य मार्गकी प्राप्ति होगी।

ये जो वचन लिखे है वे सभी मुमुक्षुओके लिये परम बांधवरूप हैं, परम रक्षकरूप हैं, और इनका सम्यक् प्रकारसे विचार करनेपर ये परमपदको देनेवाले हैं। इनमे निर्ग्रंथ-प्रवचनकी समस्त द्वादशागी, षड्‌दर्शनका सर्वोत्तम तत्त्व और ज्ञानीके बोधका बीज संक्षेपमे कहा हैं, इसलिये वारंवार इनका स्मरण कीजिये, विचार कीजिये, समझिये, समझनेका प्रयत्न कीजिये, इनके बाधक अन्य प्रकारोंमें उदासीन रहिये,

---

* देखें आंक २११, २१२

इन्हीमें वृत्तिका लय कीजिये। यह आपको और किसी भी मुमुक्षुको गुप्त रीतसे कहनेका हमारा मंत्र है; इनमें 'सत्' ही कहा है, यह समझनेके लिये अत्यधिक समय लगाइये।

---

२१२ बंबई, माघ वदी, १९४७

सत्को नमोनमः

वांछा—इच्छाके अर्थमे 'काम' शब्द प्रयुक्त होता है; तथा पंचेंद्रिय-विषयके अर्थमे भी प्रयुक्त होता है।

'अनन्य' अर्थात् जिसके जैसा दूसरा नही, सर्वोत्कृष्ट। 'अनन्य भक्तिभाव' अर्थात् जिसके जैसा दूसरा नही ऐसा भक्तिपूर्वक उत्कृष्ट भाव।

मुमुक्षु वै० योगमार्गके अच्छे परिचयवाले है, ऐसा जानता हूँ। सद्वृत्तिवाले योग्य जीव है। जिस 'पद' का आपने साक्षात्कार पूछा, वह अभी उन्हे नही हुआ है।

पूर्वकालमे उत्तर दिशामे विचरनेके बारेमे उनके मुखमे श्रवण किया है। तो उस बारेमे अभी तो कुछ लिखा नही जा सकता। परंतु इतना बता सकता हूँ कि उन्होने आपसे मिथ्या नही कहा है।

जिसके वचनबलसे जीव निर्वाणमार्गको पाता है, ऐसी सजीवनमूर्तिका योग पूर्वकालमे जीवको बहुत बार हो गया है; परन्तु उसकी पहचान नही हुई है। जीवने पहचान करनेका प्रयत्न क्वचित् किया भी होगा, तथापि जीवमे जड जमाई हुई सिद्धियोगादि, ऋद्धियोगादि और दूसरी वैसी कामनाओंसे जीवकी अपनी दृष्टि मलिन थी। यदि दृष्टि मलिन हो तो वैसी सत्मूर्तिके प्रति भी बाह्य लक्ष्य रहता है, जिससे पहचान नही हो पाती; और जब पहचान होती है, तब जीवको कोई ऐसा अपूर्व स्नेह आता है, कि उस मूर्तिके वियोगमे एक घडी भर भी जीना उसे विडंबनारूप लगता है, अर्थात् उसके वियोगमें वह उदासीन भावसे उसीमे वृत्ति रखकर जीता है, अन्य पदार्थोंका सयोग और मृत्यु—ये दोनो उसे समान हो गये होते है। ऐसी दशा जब आती है, तब जीवको मार्ग बहुत निकट होता है ऐसा समझे। ऐसी दशा आनेमे मायाकी सगति बहुत विडंबनामय है, परन्तु यही दशा लानेका जिसका दृढ निश्चय है उसे प्रायः अल्प समयमे वह दशा प्राप्त होती है।

आप सब अभी तो हमे एक प्रकारका बधन करने लगे हैं, इसके लिये हम क्या करें यह कुछ सूझता नही है। 'सजीवनमूर्ति'से मार्ग मिलता है ऐसा उपदेश करते हुए हमने स्वय अपनेआपको बंधनमे डाल लिया है कि जिस उपदेशका लक्ष्य आप हमको ही बना बैठे है। हम तो उस सजीवनमूर्तिके दास है, चरणरज है। हमारी ऐसी अलौकिक दशा भी कहाँ है कि जिस दशामे केवल असगता ही रहती है? हमारा उपाधियोग तो, आप प्रत्यक्ष देख सकें, ऐसा है।

ये अतिम दो बातें तो हमने आप सबके लिये लिखी है। हमे अब कम बंधन हो ऐसा करनेके लिये आप सबसे विनती है। दूसरी एक बात यह बतानी है कि आप हमारे लिये अब किसीसे कुछ न कहे। आप उदयकाल जानते हैं।

---

२१३ बंबई, फागुन सुदी ४, शनि, १९४७

पुराणपुरुषको नमोनमः

यह लोक त्रिविध तापसे आकुलव्याकुल है। मृगतृष्णाके जलको लेनेके लिये दौडकर प्यास बुझाना चाहता है ऐसा दीन है। अज्ञानके कारण स्वरूपका विस्मरण हो जानेसे उसे भयंकर परिभ्रमण प्राप्त हुआ

है। वह समय समय पर अतुल खेद, ज्वरादि रोग, मरणादि भय और वियोग आदि दुःखोंका अनुभव करता है, ऐसे अशरण जगतके लिये एक सत्पुरुष ही शरण है। सत्पुरुषकी वाणीके बिना इस ताप और तृषाको दूसरा कोई मिटा नही सकता, ऐसा निश्चय है। इसलिये बारंबार उस सत्पुरुषके चरणोका हम ध्यान करते है।

संसार केवल असातामय है। किसी भी प्राणीको अल्प भी साता है, वह भी सत्पुरुषका ही अनुग्रह है। किसी भी प्रकारके पुण्यके बिना साताकी प्राप्ति नही होती, और इस पुण्यको भी सत्पुरुषके उपदेशके बिना किसीने नही जाना। बहुत काल पूर्व उपदिष्ट वह पुण्य रूढ़िके अधीन होकर प्रवर्तित रहा है; इसलिये मानो वह ग्रथादिसे प्राप्त हुआ लगता है, परन्तु उसका मूल एक सत्पुरुष ही है; इसलिये हम ऐसा ही जानते हैं कि एक अश सातासे लेकर पूर्णकामता तककी सर्व समाधिका कारण सत्पुरुष ही है। इतनी अधिक समर्थता होनेपर भी जिसे कुछ भी स्पृहा नही है, उन्मत्तता नही है, अहंता नही है, गर्व नही है, गारव नहीं है, ऐसे आश्चर्यकी प्रतिमारूप सत्पुरुषको हम पुनः पुनः नामरूपसे स्मरण करते हैं।

त्रिलोकके नाथ जिसके वश हुए हैं, ऐसा होनेपर भी वह ऐसी अटपटी दशासे रहता है कि जिसकी सामान्य मनुष्यको पहचान होना दुर्लभ है, ऐसे सत्पुरुषकी हम पुन पुन स्तुति करते है।

एक समय भी सर्वथा असगतासे रहना त्रिलोकको वश करनेकी अपेक्षा भी विकट कार्य है, ऐसी असंगतासे जो त्रिकाल रहा है उस सत्पुरुषके अंत करणको देखकर हम परमाश्चर्य पाकर नमन करते हैं।

हे परमात्मा ! हम तो ऐसा ही मानते है कि इस कालमे भी जीवका मोक्ष हो सकता है। फिर भी जैन ग्रन्थोमे क्वचित् प्रतिपादन हुआ है, तदनुसार इस कालमे मोक्ष नही होता हो, तो इस क्षेत्रमे यह प्रतिपादन तू रख, और हमे मोक्ष देनेकी अपेक्षा ऐसा योग प्रदान कर कि हम सत्पुरुषके ही चरणोका ध्यान करें और उसके समीप ही रहे।

हे पुरुषपुराण ! हम तेरेमें और सत्पुरुषमे कोई भेद ही नही समझते; तेरी अपेक्षा हमे तो सत्पुरुष ही विशेष लगता है कारण कि तू भी उसके अधीन ही रहा है और हम सत्पुरुषको पहचाने बिना तुझे पहचान नही सके, यही तेरी दुर्घटता हममे सत्पुरुषके प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। क्योकि तू वशमे होनेपर भी वे उन्मत्त नही है, और तेरेसे भी सरल है, इसलिये अब तू जैसा कहे वैसा करें।

हे नाथ ! तू बुरा न मानना कि हम तेरी अपेक्षा भी सत्पुरुषकी विशेष स्तुति करते हैं, सारा जगत तेरी स्तुति करता है, तो फिर हम एक तुझसे विमुख बैठे रहेगे तो उससे कहाँ तुझे न्यूनता भी है और उनको (सत्पुरुषको) कहाँ स्तुतिकी आकाक्षा है ?

ज्ञानी पुरुष त्रिकालकी बात जानते हुए भी प्रगट नही करते ऐसा आपने पूछा; इस सम्बन्धमे ऐसा लगता है कि ईश्वरीय इच्छा ही ऐसी है कि अमुक पारमार्थिक बातके सिवाय ज्ञानी दूसरी त्रिकालिक बात प्रसिद्ध न करे, और ज्ञानीकी भी अतरग इच्छा ऐसी ही मालूम होती है। जिनकी किसी भी प्रकारकी आकाक्षा नही है ऐसे ज्ञानीपुरुषके लिये कुछ कर्तव्यरूप न होनेसे जो कुछ उदयमे आता है उतना ही करते हैं।

हम तो कुछ वैसा ज्ञान नही रखते कि जिससे त्रिकाल सर्वथा मालूम हो, और हमे ऐसे ज्ञानका कुछ विशेष ध्यान भी नही है। हमे तो वास्तविक जो स्वरूप उसकी भक्ति और असगता ही प्रिय है। यही विज्ञापन।

'वेदान्त ग्रंथ प्रस्तावना' भेजी होगी, नही तो तुरन्त भेजियेगा।

वि० आज्ञाकारी—

---

२१४ बंबई, फागुन सुदी ५, रवि, १९४७

अभेददशा आये बिना जो प्राणी इस जगतकी रचना देखना चाहते हैं वे बधे जाते है। ऐसी दशा आनेके लिये वे प्राणी उस रचनाके कारणके प्रति प्रीति करें और अपनी अहरूप भ्रातिका परित्याग करें। उस रचनाके उपभोगकी इच्छाका सर्वथा त्याग करना योग्य है, और ऐसा होनेके लिये सत्पुरुषकी शरण जैसा एक भी औषध नही है। इस निश्चयवार्ताको न जानकर त्रितापसे जलते हुए बेचारे मोहाध प्राणियोको देखकर परम करुणा आती है और यह उद्गार निकल पड़ता है—'हे नाथ! तू अनुग्रह करके इन्हे अपनी गतिमे भक्ति दे।'

आज कृपापूर्वक आपकी भेजी हुई वेदांतकी 'प्रबोध शतक' नामकी पुस्तक प्राप्त हुई। उपाधिकी निवृत्तिके समयमे उसका अवलोकन करूँगा।

उदयकालके अनुसार वर्तन करते है। क्वचित् मनोयोगके कारण इच्छा उत्पन्न हो तो बात अलग है परन्तु हमे तो ऐसा लगता है कि इस जगतके प्रति हमारा परम उदासीन भाव रहता है, वह बिलकुल सोनेका हो तो भी हमारे लिये तृणवत् है; और परमात्माकी विभूतिरूप हमारा भक्तिधाम है।

आज्ञाकारी

---

२१५ बंबई, फागुन सुदी ८, १९४७

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। इसमे पूछे गये प्रश्नोका सविस्तर उत्तर यथासम्भव शीघ्र लिखूँगा।

ये प्रश्न ऐसे पारमार्थिक है कि मुमुक्षु पुरुषको उनका परिचय करना चाहिये। हजारो पुस्तकोके पाठोको भी ऐसे प्रश्न नही उठते, ऐसा हम समझते है। उनमे भी प्रथम लिखा हुआ प्रश्न (जगतके स्वरूपमे मतातर क्यो है?) तो ज्ञानी पुरुष अथवा उनकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाला पुरुष ही खडा कर सकता है। यहाँ मनमानी निवृत्ति नही रहती, जिससे ऐसी ज्ञानवार्ता लिखनेमे जरा विलब करनेकी जरूरत होती है। अन्तिम प्रश्न हमारे वनवासका पूछा है, यह प्रश्न भी ऐसा है कि ज्ञानीकी ही अंतर्वृत्तिके जानकार पुरुषके सिवाय किसी विरलेसे ही पूछा जा सकता है।

आपका सर्वोत्तम प्रज्ञाको नमस्कार करते है। कलिकालमे परमात्माको किन्हीं भक्तिमान पुरुषोपर प्रसन्न होना हो, तो उनमेसे आप एक हैं। हमे आपका बडा आश्रय इस कालमे मिला और इसीसे जीवित है।

२१६

ॐ

'सत्'

यह जो कुछ देखते है, जो कुछ देखा जा सकता है, जो कुछ सुनते है, जो कुछ सुना जा सकता है, वह सब एक सत ही है।

जो कुछ है वह सत् ही है, अन्य नही।

वह सत् एक ही प्रकारका होने योग्य है।

वही सत् जगतरूपसे अनेक प्रकारका हुआ है, परन्तु इससे वह कही स्वरूपसे च्युत नही हुआ है। स्वरूपमे ही वह एकाकी होनेपर भी अनेकाकी हो सकनेमे समर्थ है। एक सुवर्ण, कुंडल, कडा, साँकला, बाजूबन्द आदि अनेक प्रकारसे हो, इससे उसका कुछ सुवर्णत्व घट नही जाता। पर्यायातर भासता है। और वह उसकी सत्ता है। इसी प्रकार यह समस्त विश्व उस 'सत्'का पर्यायातर है, परन्तु 'सत्' रूप ही है।

---

२१७ बबई, माघ सुदी, १९४७

परम पूज्य,

आपके सहज वाचनके उपयोगार्थ आपके प्रश्नोके उत्तरवाला पत्र इसके साथ भेज रहा हूँ।

परमात्मामे परम स्नेह चाहे जिस विकट मार्गसे होता हो तो भी करना योग्य ही है। सरल मार्ग मिलनेपर भी उपाधिके कारण तन्मय भक्ति नही रहती, और एकतार स्नेह उमडता नही है। इसलिये खेद रहा करता है और वनवासकी वारवार इच्छा हुआ करती है। यद्यपि वैराग्य तो ऐसा रहता है कि प्रायः आत्माको घर और वनमे कोई भेद नही लगता, परन्तु उपाधिके प्रसगके कारण उसमे उपयोग रखनेकी बारंवार जरूरत रहा करती है, कि जिससे परम स्नेहपर उस समय आवरण लाना पड़ता है, और ऐसा परम स्नेह और अनन्य प्रेमभक्ति आये बिना देहत्याग करनेकी इच्छा नही होती। कदाचित् सर्वात्माकी ऐसी ही इच्छा होगी तो चाहे जैसी दीनतासे भी उस इच्छाको बदलेंगे। परन्तु प्रेमभक्तिका पूर्ण लय आये बिना देहत्याग नही किया जा सकेगा ऐसा लगता है, और वारवार यही रटन रहनेसे 'वनमे जाय' 'वनमे जायें' ऐसा मनमे हो आता है। आपका निरन्तर सत्सग हो तो हमे घर भी वनवास ही है।

श्रीमद् भागवतमे गोपागनाकी जैसी प्रेमभक्तिका वर्णन है, ऐसी प्रेमभक्ति इस कलिकालमे प्राप्त होनी दुर्लभ है, ऐसा यद्यपि सामान्य लक्ष्य है, तथापि कलिकालमे निश्चल मतिसे यही लय लगे तो परमात्मा अनुग्रह करके शीघ्र यह भक्ति प्रदान करता है।

श्रीमद् भागवतमे जडभरतजीकी सुदर आख्यायिका दी है। यह दशा वारवार याद आती है और ऐसी उन्मत्तता परमात्मप्राप्तिका परम द्वार है। यह दशा विदेह थी। भरतजीको हरिणके सगसे जन्मकी वृद्धि हुई थी और इसी कारणसे वे जडभरतके जन्ममे असग रहे थे। ऐसे कारणोसे मुझे भी असगता बहुत ही याद आती है, और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असगताके बिना परम दुःख होता है। यम अतकालमे प्राणीको दुःखदायक नही लगता होगा, परन्तु हमे सग दुःखदायक लगता है। यो अंतर्वृत्तियाँ बहुतसी है कि जो एक ही प्रवाहकी हैं। लिखी नही जाती, रहा नहीं जाता, और आपका वियोग रहा करता है। कोई सुगम उपाय नही मिलता। उदयकर्म भोगते हुए दीनता अनुकूल नही है। भविष्यके एक क्षणका भी प्राय विचार भी नही रहता।

'सत्-सत्' इसकी रटन है। और सत्का साधन 'आप' तो वहाँ है। अधिक क्या कहे ? ईश्वरकी इच्छा ऐसी है, और उसे प्रसन्न रखे बिना छुटकारा नही है। नही तो ऐसी उपाधियुक्त दशामे न रहे, और मनमाना करें, परमपीयूषमय और प्रेमभक्तिमय ही रहे! परन्तु प्रारब्ध कर्म बलवत्तर है!

आज आपका एक पत्र मिला। पढकर हृदयाकित किया। इस विषयमे हम आपको उत्तर न लिखें इस हमारी सत्ताका उपयोग आपके लिये करना योग्य नही समझते, तथापि आपको, जो रहस्य मैने समझा है उसे जताता हूँ कि जो कुछ होता है सो होने देना, न उदासीन होना, न अनुद्यमी होना, न परमात्मासे भी इच्छा करना, और न दुविधामे पड़ना, कदाचित् आपके कहे अनुसार अहता आडे आती हो तो यथा-शक्ति उसका रोध करना, और फिर भी वह दूर न होती हो तो उसे ईश्वरार्पण कर देना, तथापि दीनता न आने देना। क्या होगा ? ऐसा विचार नही करना, और जो हो सो करते रहना। अधिक उधेड-बुन करनेका प्रयत्न नही करना। अल्प भी भय नही रखना, उपाधिके लिये भविष्यके एक पलकी भी चिन्ता नहीं करना, चिन्ता करनेका जो अभ्यास हो गया है, उसे विस्मरण करते रहना, तभी ईश्वर प्रसन्न होगा; और तभी परमभक्ति पानेका फल है; तभी हमारा-आपका संयोग हुआ योग्य है। और उपाधिमे क्या होता है उसे हम आगे चलकर देख लेंगे। 'देख लेंगे' इसका अर्थ बहुत गंभीर है।

सर्वात्मा हरि समर्थ है। आप और महा पुरुषोकी कृपासे निर्बल मति कम रहती है। आपके उपाधियोगके सम्बन्धमे यद्यपि ध्यान रहा करता है, परन्तु जो कुछ सत्ता है वह उस सर्वात्माके हाथ है। और वह सत्ता निरपेक्ष, निराकाक्ष ज्ञानीको ही प्राप्त होती है। जब तक उस सर्वात्मा हरिकी इच्छा जैसी हो उसी प्रकार ज्ञानी भी चले यह आज्ञाकारी धर्म है, इत्यादि बहुतसी बाते है। शब्दोमे लिखी नही जा सकती, और समागमके सिवाय यह बात करनेका अन्य कोई उपाय हाथमे नही है, इसलिये जब ईश्वरेच्छा होगी तब यह बात करेंगे।

ऊपर जो उपाधिमेसे अहत्व दूर करनेके वचन लिखे हैं, उन पर आप कुछ समय विचार करेंगे त्यों ही वैसी दशा हो जायेगी ऐसी आपकी मनोवृत्ति है; और ऐसी पागल शिक्षा लिखनेकी सर्वात्मा हरिकी इच्छा होनेसे मैने आपको लिखी है, इसलिये यथासंभव इसे अपनायें। पुन पुनः आपसे अनुरोध है कि उपाधिमे आप यथासभव नि.शकतासे रहकर उद्यम करे। क्या होगा ? यह विचार छोड़ दे।

इससे विशेष स्पष्ट बात लिखनेकी योग्यता अभी मुझे देनेका अनुग्रह ईश्वरने नही किया है, और उसका कारण मेरी वैसी अधीन भक्ति नही है। आप सर्वथा निर्भय रहे ऐसी मेरी पुन. पुन. विनती है। इसके सिवाय मै और कुछ लिखने योग्य नही हूँ। इस विषयमें समागममे हम बातचीत करेंगे। आप किसी तरह खिन्न न हो। यह खाली धीरज देनेके लिये ही सम्मति नही दी है, परंतु जैसी अन्तरमे स्फुरित हुई वैसी सम्मति दी है। अधिक लिखा नही जा सकता, परंतु आपको आकुल नही रहना चाहिये, इस विनतीको बारबार मानिये। बाकी हम तो निर्बल है। जरूर मानिये कि हम निर्बल हैं; परंतु ऊपर लिखी हुई सम्मति सबल है. जैसी-तैसी नही है, परतु सच्ची है। आपके लिये यही मार्ग योग्य है।

आप ज्ञानकथा लिखियेगा। 'प्रबोधशतक' अभी तो भाई रेवाशंकर पढते है। रविवार तक वापिस भेजना सम्भव होगा तो वापिस भेजूंगा, नही तो रखनेके बारेमे लिखूंगा, और ऐसा होनेपर भी उसके मालिककी ओरसे कुछ जल्दी हो तो लिखियेगा, तो भेज दूँगा।

आपके सभी प्रश्नोकें यथेच्छ उत्तर उपाधियोगके कारण अपनी पूर्ण इच्छासे नही लिख सका हूँ, परतु आप मेरे अतरको समझ लेंगे ऐसी मुझे निःशंकता है।

लि० आज्ञाकारी रायचंद।

---

२१८ बंबई, फागुन सुदी १३, सोम, १९४७

सर्वात्मा हरिको नमस्कार

'सत्' सत् है, सरल है, सुगम है, उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।

सत् है। कालसे उसे बाधा नही है। वह सबका अधिष्ठान है। वाणीसे अकथ्य है। उसकी प्राप्ति होती है, और उस प्राप्तिका उपाय है।

चाहे जिस सप्रदाय, दर्शनके महात्माओका लक्ष्य एक 'सत्' ही है। वाणीसे अकथ्य होनेसे गूंगेकी भाँति समझाया गया है, जिससे उनके कथनमे कुछ भेद लगता है, वस्तुतः भेद नही है।

लोकका स्वरूप सर्व कालमे एक स्थितिका नही है, वह क्षण क्षणमे रूपातर पाता रहता है, अनेक रूप नये होते है, अनेक स्थिर रहते है और अनेक लय पाते है। एक क्षण पहले जो रूप बाह्य ज्ञानसे मालूम नही हुआ था, वह दिखायी देता है, और क्षणमे बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लयको प्राप्त होते जाते हैं। महात्माकी विद्यमानतामे भासमान लोकके स्वरूपको अज्ञानीके अनुग्रहके लिये कुछ रूपांतरपूर्वक कहा जाता है, परंतु जिसकी सर्व कालमे एकसी स्थिति नही है, ऐसा यह रूप 'सत्' नही होनेसे चाहे जिस रूपमे वर्णन करके उस समय भ्राति दूर की गयी है, और इसके कारण, सर्वत्र यह स्वरूप हो ही, ऐसा

नही है ऐसा समझमे आता है। बालजीव तो उस स्वरूपको शाश्वत मानकर भ्रांतिमे पड जाते है; परन्तु कोई योग्य जीव ऐसी अनेकतार्का कथनीसे परेशान होकर 'सत्' की ओर झुकता है। प्राय. सभी मुमुक्षु इसी प्रकार मार्गको प्राप्त हुए है। भ्रांति'का ही रूप ऐसे इस जगतका बारबार दर्शन करनेका महा पुरुषोका यही उद्देश है कि उस स्वरूपका विचार करते हुए प्राणी भ्रांतिको प्राप्त हो कि सच्चा क्या है ? यो अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमे क्या मानूं ? और मेरे लिये क्या कल्याणकारक है ? यो विचार करते करते इसे एक भ्रांतिका विषय मानकर जहाँसे 'सत्' की प्राप्ति होती है ऐसे सतकी शरणके बिना छुटकारा नही है, ऐसा समझकर, उसे खोजकर, शरणापन्न होकर, 'सत्' पाकर 'सत्' रूप हो जाता है।

जैनकी बाह्य शैलीको देखते हुए तो, तीर्थंकरको सपूर्ण ज्ञान होता है यो कहते हुए हम भ्रांतिमें पड जाते है। इसका अर्थ यह है कि जैनकी अन्तर्शैली दूसरी होनी चाहिये। क्योंकि इस जगतको 'अधिष्ठान' से रहित वर्णित किया गया है, और वह वर्णन अनेक प्राणियो, विचक्षण आचार्योको भी भ्रांतिका कारण हुआ है। तथापि हम अपने अभिप्रायसे विचार करते है, तो ऐसा लगता है कि तीर्थंकरदेव तो ज्ञानी आत्मा होने चाहिये, परतु उस कालकी अपेक्षासे जगतके रूपका वर्णन किया है। और लोक सर्व कालके लिये•ऐसा मान बैठे है, जिससे भ्रांतिमे पडे है। चाहे जो हो, परतु इस कालमे जैनमे तीर्थङ्करके मार्गको जाननेकी आकाक्षावाले जीवोका होना दुर्लभ सभवित है, क्योकि चट्टानपर चढा हुआ जहाज, और वह भी पुराना, यह भयकर है। उसी प्रकार जैनकी कथनी जीर्ण शीर्ण हो गयी है। 'अधिष्ठान' विषयकी भ्रांतिरूप चट्टानपर उसका जहाज चढ़ा है, जिससे सुखरूप होना सभव नही है। यह हमारी बात प्रत्यक्षरूपमे दिखायी देगी।

तीर्थङ्करदेवके सम्बन्धमे हमे वारवार विचार रहा करता है कि उन्होंने 'अधिष्ठान' के बिना इस जगतका वर्णन किया है, उसका क्या कारण होगा ? क्या उन्हे 'अधिष्ठान' का ज्ञान नही हुआ होगा ? अथवा 'अधिष्ठान' ही नही होगा ? अथवा किसी उद्देशसे छुपाया होगा ? अथवा कथन भेदसे परम्परासे समझमे न आनेसे 'अधिष्ठान' विषयक कथन लयको प्राप्त हुआ होगा ? ये विचार हुआ करते है। यद्यपि हम तीर्थङ्करको महा पुरुष मानते हैं, उन्हे नमस्कार करते है, उनके अपूर्व गुणोपर हमारी परम भक्ति है, और इसलिये हम समझते है कि 'अधिष्ठान' तो उन्होने जाना था, परतु लोगोने परपरासे मार्गकी भूलसे उसका लय कर डाला।

जगतका कोई 'अधिष्ठान' होना चाहिये ऐसा बहुतसे महात्माओका कथन है। और हम भी यही कहते है कि 'अधिष्ठान' है। और वह 'अधिष्ठान' ही हरि भगवान है, जिसे पुनः पुन' हृदयदेशमे देखते है।

'अधिष्ठान' एव उपर्युक्त कथनके विषयमे समागममे अधिक सत्कथा होगी। लेखनमे वैसी नही आ सकेगी। इसलिये इतनेमे ही रुक जाता हूँ।

जनक विदेही ससारमे रहते हुए भी विदेही रह सके यह यद्यपि एक बडा आश्चर्य है, महा महा विकट है, तथापि जिसका आत्मा परमज्ञानमे तदाकार है, वह जैसे रहता है वैसे रहा जाता है। और जैसे प्रारब्धकर्मका उदय वैसे रहते हुए उसे बाध नही होता। जिनका सदेह होनेका अहभाव मिट गया है ऐसे उन महाभाग्यकी देह भी मानो आत्मभावमे ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कहाँसे होगी ?

श्रीकृष्ण महात्मा थे और ज्ञानी होते हुए भी उदयभावसे ससारमे रहे थे, इतना जैन शास्त्रसे भी जाना जा सकता है और यह यथार्थ है; तथापि उनकी गतिके विषयमे जो भेद बताया है उसका भिन्न कारण है। और भागवत आदिमे तो जिन श्रीकृष्णका वर्णन किया है वे तो परमात्मा ही हैं। परमात्माकी लीलाको महात्मा कृष्णके नामसे गाया है। और इस भागवत और इस कृष्णको यदि महापुरुषसे समझ

ले तो जीव ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह बात हमे बहुत प्रिय है। और आपके समागममे अब इसकी विशेष चर्चा करेंगे। लिखा नही जाता।

स्वर्ग, नरक आदिकी प्रतीतिका उपाय योगमार्ग है। उसमे भी जिसे दूरदर्शिताकी सिद्धि प्राप्त होती है, वह उसकी प्रतीतिके लिये योग्य है। सर्वकाल यह प्रतीति प्राणीके लिये दुर्लभ हो पड़ी है। ज्ञान-मार्गमे इस विशेष बातका वणन नही है, परन्तु यह सब है अवश्य।

मोक्ष जितने स्थानमे बताया है वह सत्य है। कर्मसे, भ्रातिसे अथवा मायासे छूटना यह मोक्ष है। यह मोक्षकी शब्द व्याख्या है।

जीव एक भी है और अनेक भी है। अधिष्ठानसे एक है। जीवरूपसे अनेक है। इतना स्पष्टीकरण लिखा है, तथापि इसे बहुत अधूरा रखा है। क्योकि लिखते हुए कोई वैसे शब्द नही मिले। परन्तु आप समझ सकेंगे ऐसी मुझे निःशकता है।

तीर्थंकरदेवके लिये सख्त शब्द लिखे गये हैं, इसलिये उन्हे नमस्कार।

---

२१९ बंबई, फागुन वदी १, १९४७

"एक देखिये, जानिये"[1] इस दोहेके विषयमे आपने लिखा, तो यह दोहा हमने आपकी निःशकताकी दृढताके लिये नही लिखा था, परन्तु स्वभावतः यह दोहा प्रशस्त लगनेसे लिख भेजा था। ऐसा लय तो गोपागनाओमे था। श्रीमद्भागवतमे महात्मा व्यासने वासुदेव भगवानके प्रति गोपियोकी प्रेमभक्तिका वर्णन किया है वह परमाह्लादक और आश्चर्यकारक है।

"नारद भक्तिसूत्र" नामका एक छोटा शिक्षाशास्त्र महर्षि नारदजीका रचा हुआ है, उसमे प्रेमभक्ति-का सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन किया है।

उदासीनता कम होनेके लिये आपने दो तीन दिन यहाँ दर्शन देनेकी कृपा प्रदर्शित की, परन्तु वह उदासीनता दो तीन दिनके दर्शनलाभसे दूर होनेवाली नही है। परमार्थ उदासीनता है। ईश्वर निरन्तरका दर्शनलाभ दे ऐसा करें तो पधारना, नही तो अभी नही।

---

२२० बबई, फागुन वदी ३, शनि, १९४७

आज आपका जन्मकुण्डलीसहित पत्र मिला। जन्मकुण्डली सम्बन्धी उत्तर अभी नही मिल सकता, भक्ति सम्बन्धी प्रश्नोके उत्तर यथाप्रसंग लिखूंगा। हमने आपको जिस सविस्तर पत्रमे 'अधिष्ठान'के विषयमे लिखा था वह समागममे समझा जा सकता है।

'अधिष्ठान'का अर्थ यह है कि जिसमेसे वस्तु उत्पन्न हुई, जिसमे वह स्थिर रही और जिसमे वह लयको प्राप्त हुई। इस व्याख्याके अनुसार "जगतका अधिष्ठान"का अर्थ समझियेगा।

जैनदर्शनमे चैतन्यको सर्वव्यापक नही कहा है। इस विषयमे आपके ध्यानमे जो कुछ हो सो लिखियेगा।

---

२२१ बबई, फागुन वदी ८, बुध, १९४७

श्रीमद्भागवत परमभक्तिरूप ही है। इसमे जो जो वर्णन किया है वह सब लक्ष्यरूपको सूचित करनेके लिये है।

---

१ एक देखिये जानिये, रमी रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ॥ —समयसार नाटक, जीवद्वार।

मुनिको सर्वव्यापक अधिष्ठान आत्माके विषयमे कुछ पूछनेसे लक्ष्यरूप उत्तर नही मिल सकेगा। कल्पित उत्तरसे कार्यसिद्धि नही है। आप अभी ज्योतिषादिकी भी इच्छा न करें, क्योकि वह कल्पित है, और कल्पितपर ध्यान नही है।

परस्पर समागम-लाभ परमात्माकी कृपासे हो ऐसा चाहता हूं। वैसे उपाधियोग विशेष रहता है, तथापि समाधिमे योगकी अप्रियता कभी न हो ऐसा ईश्वरका अनुग्रह रहेगा, ऐसा लगता है। विशेष सविस्तर पत्र लिखूँगा तब।

वि० रायचंद।

---

२२२ बबई, फागुन वदी ११, १९४७

ज्योतिषको कल्पित कहनेका हेतु यह है कि यह विषय पारमार्थिक ज्ञानकी अपेक्षासे कल्पित ही है, और पारमार्थिक ही सत् है, और उसीकी रटन रहती है। अभी ईश्वरने मेरे सिरपर उपाधिका बोझ विशेष रख दिया है, ऐसा करनेमे उसकी इच्छाको मुखरूप ही मानता हूँ।

जैन ग्रंथ इस कालको पचमकाल कहते है और पुराण ग्रन्थ इसे कलिकाल कहते है, यो इस कालको कठिन काल कहा है, इसका हेतु यह है कि जीवको इस कालमे 'सत्सग और सत्शास्त्र' का मिलना दुर्लभ है, और इसीलिये कालको ऐसा उपनाम दिया है।

हमे भी पचमकाल अथवा कलियुग अभी तो अनुभव देता है। हमारा चित्त निःस्पृह अतिशय है, और जगतमे सस्पृहके रूपमे रह रहे है, यह कलियुगकी कृपा है।

---

२२३ बबई, फागुन वदी १४, बुध, १९४७

देहाभिमाने गलिते, विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र समाधयः॥

मैं कर्ता, मै मनुष्य, मै सुखी, मै दुखी इत्यादि प्रकारसे रहा हुआ देहाभिमान जिसका क्षीण हो गया है, और सर्वोत्तम पदरूप परमात्माको जिसने जान लिया है, उसका मन जहाँ जहाँ जाता है वहाँ वहाँ उसे समाधि ही है।

आपके पत्र अनेक बार सविस्तर मिलते है, और उन पत्रोको पढकर पहले तो समागममे ही रहनेकी इच्छा होती है। तथापि'' कारणसे उस इच्छाका चाहे जिस प्रकारसे विस्मरण करना पडता है, और पत्रका सविस्तर उत्तर लिखनेकी इच्छा होती है, तो वह इच्छा भी प्रायः क्वचित् ही पूरी हो पाती है। इसके दो कारण है। एक तो इस विषयमे अधिक लिखने जैसी दशा नही रही है, और दूसरा कारण है उपाधियोग। उपाधियोगकी अपेक्षा वर्तमान दशाका कारण अधिक बलवान है। जो दशा बहुत निस्पृह है, और उसके कारण मन अन्य विषयमे प्रवेश नही करता; और उसमे भी परमार्थके विषयमे लिखते हुए केवल शून्यता जैसा हुआ करता है, इस विषयमे लेखनशक्ति तो इतनी अधिक शून्यताको प्राप्त हो गयी है; वाणी प्रसगोपात्त अभी इस विषयमे कुछ कार्य कर सकती है; और इससे आशा रहती है कि समागममे ईश्वर अवश्य कृपा करेगा। वाणी भी जैसे पहले क्रमपूर्वक बात कर सकती थी, वैसी अब नही लगती। लेखनशक्ति शून्यताको प्राप्त हुई जैसी होनेका कारण एक यह भी है कि चित्तमे उद्भूत बात बहुत नयोसे युक्त होती है, और वह लेखनमें नही आ सकती, जिससे चित्त वैराग्यको प्राप्त हो जाता है।

आपने एक बार भक्तिके सम्बन्धमे प्रश्न किया था, उसके सम्बन्धमे अधिक बात तो समागममे हो सकती है, और प्राय सभी बातोके लिये समागम ठीक लगता है। तो भी बहुत ही संक्षिप्त उत्तर लिखता हूँ।

परमात्मा और आत्माका एकरूप हो जाना (!) यह पराभक्तिकी आखिरी हद है। एक यही लय रहना सो पराभक्ति है। परममहात्म्या गोपागनाएँ महात्मा वासुदेवकी भक्तिमे इसी प्रकारसे रही थी। परमात्माको निरंजन और निर्देहरूपसे चितन करनेपर यह लय आना विकट है, इसलिये जिसे परमात्माका साक्षात्कार हुआ है, ऐसा देहधारी परमात्मा उस पराभक्तिका परम कारण है। उस ज्ञानी पुरुषके सर्व चरित्रमे ऐक्यभावका लक्ष्य होनेसे उसके हृदयमे बिराजमान परमात्माका ऐक्यभाव होता है, और यही पराभक्ति है। ज्ञानीपुरुष और परमात्मामे अतर ही नही है, और जो कोई अतर मानता है, उसे मार्गकी प्राप्ति परम विकट है। ज्ञानी तो परमात्मा ही है, और उसकी पहचानके बिना परमात्माकी प्राप्ति नही हुई है, इसलिये सर्वथा भक्ति करने योग्य ऐसी देहधारी दिव्य मूर्ति—ज्ञानीरूप परमात्माकी—का नमस्कार आदि भक्तिसे लेकर पराभक्तिके अत तक एक लयसे आराधन करना, ऐसा शास्त्रका आशय है। परमात्मा इस देहधारीरूपसे उत्पन्न हुआ है ऐसी ही ज्ञानी पुरुषके प्रति जीवको बुद्धि होनेपर भक्ति उदित होती है, और वह भक्ति क्रमशः पराभक्तिरूप हो जाती है। इस विषयम श्रीमद्भागवतमे, भगवद्गीतामे बहुतसे भेद प्रकाशित करके इसी लक्ष्यकी प्रशसा की है, अधिक क्या कहना ? ज्ञानी तीर्थंकरदेवमे लक्ष्य होनेके लिये जैनधर्ममे भी पचपरमेष्ठी मंत्रमे "णमो अरिहताण" पदके बाद सिद्धको नमस्कार किया है, यही भक्तिके लिये यह सूचित करता है कि पहले ज्ञानी पुरुषकी भक्ति; और यही परमात्माकी प्राप्ति और भक्तिका निदान है।

दूसरा एक प्रश्न (एकसे अधिक बार) आपने ऐसा लिखा था कि व्यवहारमे व्यापार आदिके विषयमे यह वर्ष यथेष्ट लाभदायक नही लगता और कठिनाई रहा करती है।

परमात्माकी भक्ति ही जिसे प्रिय है, ऐसे पुरुषको ऐसी कठिनाई न हो तो फिर ऐसा समझना कि उसे सच्चे परमात्माकी भक्ति ही नही है। अथवा तो जान-बूझकर परमात्माकी इच्छारूप मायाने वैसी कठिनाई भेजनेके कार्यका विस्मरण किया है। जनक विदेही और महात्मा कृष्णके विषयमे मायाका विस्मरण हुआ लगता है, तथापि ऐसा नही है। जनक विदेहीकी कठिनाईके विषयमे यहाँ कुछ कहना योग्य नही है, क्योकि वह अप्रगट कठिनाई है, और महात्मा कृष्णकी संकटरूप कठिनाई प्रगट ही है। इसी तरह अष्ट महासिद्धि और नवनिधि भी प्रसिद्ध ही है, तथापि कठिनाई तो योग्य ही थी, और होनी चाहिये। यह कठिनाई मायाकी है, और परमात्माके लक्ष्यकी तो यह सरलता ही है, और ऐसा ही हो। × × × राजाने विकट तप करके परमात्माका आराधन किया, और देहधारीरूपसे परमात्माने उसे दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा तब × × × राजाने माँगा कि हे भगवन् ! ऐसी जो राज्यलक्ष्मी मुझे दी है वह ठीक ही नही है, तेरा परम अनुग्रह मुझपर हो तो यह वर दे कि पंचविषयकी साधनरूप इस राज्य-लक्ष्मीका फिरसे मुझे स्वप्न भी न आये। परमात्मा दग रहकर 'तथास्तु' कहकर स्वधामको चले गये।

कहनेका आशय यह है कि ऐसा ही योग्य है। भगवद्भक्तको कठिनाई और सरलता तथा साता एव असाता यह सब समान ही है। और फिर कठिनाई और असाता तो विशेष अनुकूल है कि जहाँ मायाके प्रतिबधका दर्शन ही नही होता।

आप तो इस बातको जानते ही है, तथापि कुटुम्ब आदिके विषयमे कठिनाई होनी योग्य नही है ऐसा मनमे उठता हो तो उसका कारण यही है कि परमात्मा यो कहता है कि आप अपने कुटुम्बके प्रति निःस्नेह होवे, और उसके प्रति समभावी होकर प्रतिबन्ध रहित होवे, वह आपका है ऐसा न माने, और प्रारब्धयोगके कारण ऐसा माना जाता है, उसे दूर करनेके लिये मैने यह कठिनाई भेजी है। अधिक क्या कहना ? यह ऐसा ही है।

---

२२४ बंबई, फागुन वदी २, १९४७

'योगवासिष्ठ' आदि वैराग्य उपशम आदिके उपदेशक शास्त्र है, उन्हे पढनेका जितना अधिक अभ्यास हो, उतना करना योग्य है। अमुक क्रियाके प्रवर्तनमे जो लक्ष्य रहता है उसका विशेषतः समाधान बतलाने संबंधी भूमिकामे अभी हमारी स्थिति नही है।

---

२२५ बबई, फागुन वदी ३, शनि, १९४७

सुज्ञ भाई,

भाई त्रिभोवनका एक प्रश्न उत्तर देने योग्य है। तथापि अभी कोई इस प्रकारका उदयकाल रहता है कि ऐसा करनेमे निरुपायता हो रही है। इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।

भाई त्रिभोवनके पिताजीसे मेरे यथायोग्यपूर्वक कहना कि आपके समागममे प्रसन्नता है, परंतु कितनी ही ऐसी निरुपायता है कि उस निरुपायताको भोगे बिना दूसरे प्राणोको परमार्थके लिये स्पष्ट कह सकने जेसी दशा नही है। और इसके लिये दीनभावसे आपकी क्षमा चाही है।

योगवासिष्ठसे वृत्ति उपशम रहती हो तो पढने-सुननेमे प्रतिबन्ध नही है। अधिक उदयकाल बीतने-पर। उदयकाल तक अधिक कुछ नही हो सकेगा।

---

२२६ बंबई, फागुन, १९४७

सत्स्वरूपको अभेद भक्तिसे नमस्कार

सुज्ञ भाई छोटालाल,

यहाँ आनदवृत्ति है। सुज्ञ अबालाल और त्रिभोवनके पत्र मिले ऐसा उन्हे कहे। अवसर प्राप्त होनेपर योग्य उत्तर दिया जा सके ऐसा भाई त्रिभोवनका पत्र है।

वासनाके उपशमार्थ उनका विज्ञापन है, और उसका सर्वोत्तम उपाय तो ज्ञानी पुरुषका योग मिलना है। दृढ मुमुक्षु ा हो और अमुक काल तक वैसा योग मिला हो तो जीवका कल्याण हा जाये इसे नि शंक मानिये।

आप सब सत्सग, सत्शास्त्र आदि सम्बन्धी आजकल कैसे योगमे रहते है सो लिखें। इस योगके लिये प्रमादभाव करना योग्य ही नही है, मात्र पूर्वकी कोई गाढ़ प्रतिबद्धता हो, तो आत्मा तो इस विषयमे अप्रमत्त होना चाहिये।

आपकी इच्छाकी खातिर कुछ भी लिखना चाहिये, इसलिये यथा प्रसग लिखता हूँ। बाकी अभी सत्कथा लिखी जा सकने जैसी दशा (इच्छा ?) नही है।

दोनोके पत्र न लिखने पड़ें, इसलिये यह एक आपको लिखा है। और यह जिसे उपयोगी हो उसका है। आपके पिताजीसे मेरा यथायोग्य कहिये, याद किया है ऐसा भी कहिये। वि० रायचद।

---

२२७ बंबई, फागुन, १९४७

तत्काल या नियमित समयपर पत्र लिखना नही बन पाता। इसलिये विशेष उपकारका हेतु होनेका यथायोग्य कारण उपेक्षित करना पडता है, जिसके लिये खेद हो तो भी प्रारब्धका समाधान होनेके लिये वे दोनो ही प्रकार उपशम करने योग्य है।

---

२२८ बंबई, फागुन, १९४७

सदुपदेशात्मक सहज वचन लिखने हों इसमे भी लिखते लिखते वृत्ति सकुचितताको प्राप्त हो जाती है, क्योकि उन वचनोके साथ समस्त परमार्थ मार्गकी सन्धि मिली होती है, उसको ग्रहण करना पाठकोंके

लिये दुष्कर होता है और विस्तारसे लिखनेपर भी पाठकोको अपने क्षयोपशमकी क्षमतासे अधिक ग्रहण करना कठिन होता है, और फिर लिखनेमे उपयोगको कुछ बहिर्मुख करना पड़ता है, वह भी नहीं हो सकता। यो अनेक कारणोंसे पत्रोंकी पहुँच भी कितनी ही बार लिखी नही जाती।

---

२२९ बंबई, फागुन, १९४७

अनंतकालसे जीवको असत् वासनाका अभ्यास है। इसमे एकदम सत्संबंधी संस्कार स्थित नहीं होते। जैसे मलिन दर्पणमे यथायोग्य प्रतिबिंब-दर्शन नही हो सकता वैसे असद्वासनायुक्त चित्तमे भी सत्-सम्बन्धी संस्कार यथायोग्य प्रतिबिंबित नही होते। क्वचित् अंशत होते है, वहाँ जीव फिर अनंतकालका जो मिथ्या अभ्यास है, उसके विकल्पमे पड़ जाता है। इसलिये क्वचित् उन सत्के अंशोंपर आवरण आ जाता है। सत्संबंधी सस्कारोकी दृढता होनेके लिये सर्वथा लोकलज्जाकी उपेक्षा करके सत्संगका परिचय करना श्रेयस्कर है। लोकलज्जाको तो किसी बडे कारणमे सर्वथा छोडना पड़ता है। सामान्यतः लोक-समुदायमे सत्संगका तिरस्कार नही है, जिससे लज्जा दु खदायक नही होती। मात्र चित्तमे सत्संगके लाभका विचार करके निरतर अभ्यास करे तो परमार्थमे दृढता होती है।

---

२३० बबई, चैत्र सुदी ४, रवि, १९४७

एक पत्र मिला कि जिसमे 'कितने ही जीव योग्यता रखते हैं, परन्तु मार्ग बतानेवाला नही है' इत्यादि विवरण लिखा है। इस विषयमे पहले आपको प्रायः अति गूढ भी स्पष्टीकरण किया है। तथापि आप परमार्थकी उत्सुकतामे अत्यधिक तन्मय है कि जिससे उस स्पष्टीकरणका विस्मरण हो जाये, इसमे आश्चर्यकी बात नही है फिर भी आपको स्मरण रहनेके लिये लिखता हूँ कि जब तक ईश्वरेच्छा नही होगी तब तक हमसे कुछ भी नही हो सकेगा। एक तिनकेके दो टुकडे करनेकी सत्ता भी हम नही रखते। अधिक क्या कहे? आप तो करुणामय हैं। फिर भी आप हमारी करुणाके विषयमे क्यो ध्यान नही देते, और ईश्वरको क्यों नही समझाते?

---

२३१ बंबई, चैत्र सुदी ७, बुध, १९४७

महात्मा कबीरजी तथा नरसिंह महताकी भक्ति अनन्य, अलौकिक, अद्भुत और सर्वोत्कृष्ट थी, फिर भी वह निःस्पृहा थी। ऐसी दु खी स्थिति होनेपर भी उन्होने स्वप्नमे भी आजीविकाके लिये और व्यवहारके लिये परमेश्वरके प्रति दीनता प्रगट नही की। यद्यपि ऐसा किये बिना ईश्वरेच्छासे उनका व्यवहार चलता रहा है, तथापि उनकी दरिद्रावस्था अभी तक जगतविदित है, और यही उनका प्रबल माहात्म्य है। परमात्माने उनका 'परचा' पूरा किया है और वह भी उन भक्तोकी इच्छाकी उपेक्षा करके; क्योकि भक्तोकी ऐसी इच्छा नही होती, और ऐसी इच्छा हो तो उन्हे रहस्यभक्तिकी भी प्राप्ति नही होती। आप हजारों बातें लिखें, परन्तु जब तक निःस्पृह न हो (न बने) तब तक विडबना ही है।

---

२३२ बंबई, चैत्र सुदी ९, शुक्र, १९४७

परेच्छानुचारीको शब्दभेद नहीं है

सुज्ञ भाई त्रिभोवन,

कार्यके जालमे आ पड़नेके बाद प्रायः प्रत्येक जीव पश्चात्तापयुक्त होता है। कार्यके जन्मसे पहले विचार हो और वह दृढ रहे, ऐसा होना बहुत विकट है, ऐसा जो सयाने मनुष्य कहते हैं वह सच है। तो आपको भी इस प्रसंगमे दुःखपूर्वक चिंतन रहता होगा, और ऐसा होना सम्भव है। कार्यका जो परिणाम

आया हो वह पश्चात्तापसे तो अन्यथा नही होता; तथापि दूसरे वैसे प्रसगमे उपदेशका कारण होता है। ऐसा ही होना योग्य था, ऐसा मानकर शोकका परित्याग करना और मात्र मायाकी प्रबलताका विचार करना यह उत्तम है। मायाका स्वरूप ऐसा है कि इसमे, जिसे 'सत्' संप्राप्त है ऐसे ज्ञानी पुरुषको भी रहना विकट है, तो फिर जिसमे अभी मुमुक्षुताके अंशोकी भी मलिनता है उसे इस स्वरूपमे रहना विकट, भुलावेमे डालनेवाला और चलित करने वाला हो, इसमे कुछ आश्चर्य नही है ऐसा जरूर समझिये।

यद्यपि हमे उपाधियोग है, तथापि ऐसा कुछ नही है कि अवकाश नही मिलता, परन्तु दशा ऐसी है कि जिसमे परमार्थ संबधी कुछ न हो सके, और रुचि भी अभी तो वैसी ही रहती है।

मायाका प्रपच क्षण क्षणमे बाधकर्ता है, उस प्रपचके तापकी निवृत्ति किसी कल्पद्रुमकी छाया है, और या तो केवलदशा है, तथापि कल्पद्रुमको छाया प्रशस्त है, उसके बिना इस तापकी निवृत्ति नही है; और इस कल्पद्रुमकी वास्तविक पहचानके लिये जीवको योग्य होना प्रशस्त है। उस योग्य होनेमे बाधकर्ता ऐसा यह माया-प्रपंच है, जिसका परिचय जैसे कम हो वैसे चले बिना योग्यताके आवरणका भंग नही होता। कदम-कदमपर भययुक्त अज्ञान भूमिकामे जीव बिना विचारे करोडो योजन चलता रहता है; वहाँ योग्यताका अवकाश कहाँसे हो ? ऐसा न होनेके लिये किये हुए कार्योंके उपद्रवको यथाशक्ति शान्त करके, (इस विषयकी) सर्वथा निवृत्ति करके योग्य व्यवहारमे आनेका प्रयत्न करना उचित है। 'लाचार होकर' करना चाहिये, और वह भी प्रारब्धवशात् नि.स्पृह बुद्धिसे, ऐसे व्यवहारको योग्य व्यवहार मानिये। यहाँ ईश्वरानुग्रह है।

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

२३३ बम्बई, चैत्र सुदी १०, १९४७

जबुस्वामीका दृष्टान्त प्रसंगको प्रबल करनेवाला और बहुत आनन्ददायक दिया गया है। लुटा देनेकी इच्छा होनेपर भी लोकप्रवाह ऐसा माने कि चोरो द्वारा ले जानेके कारण जबुस्वामीका त्याग है, तो यह परमार्थके लिये कलकरूप है, ऐसा जो महात्मा जबुका आशय था वह सत्य था।

इस बातको यहाँ सक्षिप्त करके अब आपको प्रश्न करना योग्य है कि चित्तकी मायाके प्रसगोमे आकुलता-व्याकुलता हो, और उसमे आत्मा चिन्तित रहा करता हो, यह ईश्वरकी प्रसन्नताका मार्ग है क्या ? तथा अपनी बुद्धिसे नही, परन्तु लोकप्रवाहके कारण भी कुटुम्ब आदिके कारणसे शोकातुर होना यह वास्तविक मार्ग है क्या ? हम आकुल होकर कुछ कर सकते है क्या ? और यदि कर सकते है तो फिर ईश्वरपर विश्वास क्या फलदायक है ?

ज्योतिष जैसे कल्पित विषयकी ओर सासारिक प्रसंगमे निःस्पृह पुरुष ध्यान देते होंगे क्या ? और हम ज्योतिष जानते हैं, अथवा कुछ कर सकते हैं, ऐसा न माने तो अच्छा, ऐसी अभी इच्छा है। यह आपको पसन्द है क्या ? सो लिखियेगा।

---

२३४ बम्बई, चैत्र सुदी १०, शनि, १९४७

सर्वात्मस्वरूपको नमस्कार

जिसके लिये अपना या पराया कुछ नही रहा है, ऐसी किसी दशाकी प्राप्ति अब समीप ही है, (इस देहमे है); और इसी कारण परेच्छासे रहते है। पूर्वकालमे जिस जिस विद्या, बोध, ज्ञान और क्रियाकी प्राप्ति हो गयी है उन सबको इस जन्ममे ही विस्मरण करके निर्विकल्प हुए बिना छुटकारा नही है, और इसी कारण इस तरह रहते हैं। तथापि आपकी अधिक आकुलता देखकर कुछ कुछ आपको उत्तर देना पड़ा है, वह भी स्वेच्छासे नही, ऐसा होनेसे आपसे विनती है कि इस सब मायिक विद्या अथवा मायिक

मार्ग सम्बन्धी आपकी ओरसे मेरी दूसरी दशा होनेतक स्मरण न दिलाया जाये, ऐसा योग्य है। यद्यपि मैं आपसे भिन्न नहीं हूँ, तो आप सर्वथा निराकुल रहे। आपसे परमप्रेम है, परन्तु निरुपायता मेरी है।

---

२३५ बम्बई, चैत्र सुदी १४, गुरु, १९४७

सविस्तर पत्रमेसे अमुक थोड़ा भाग छोड़कर शेष भाग परमानन्दका निमित्त हुआ था। जो थोड़ा भाग बाधकतारूप है, वह ईश्वरानुग्रहसे आपके हृदयसे विस्मृत होगा ऐसी आशा रहा करती है।

ज्ञानीकी परिपक्व अवस्था (दशा) होनेपर सर्वथा राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है ऐसी हमारी मान्यता है, तथापि इसमे भी कुछ समझने जैसी बात है, यह सच है। प्रसगसे इस विषयमे लिखूँगा।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो सो होने देना यह भक्तिमानके लिये सुखदायक है।

---

२३६ बम्बई, चैत्र सुदी १५, गुरु, १९४७

सुज्ञ भाई श्री अबालाल,

यहा कुशलता है। आपका कुशलपत्र प्राप्त हुआ। रतलाममे लौटते हुए आप यहाँ आना चाहते है, उस इच्छामे मेरी सम्मति है। वहाँसे विदा होनेका दिन निश्चित होनेपर यहाँ दुकानपर पत्र लिखियेगा।

आप जब यहाँ आयें तब, आपका हमारेमे जो परमार्थ प्रेम है वह यथासभव कम ही प्रगट हो ऐसा कीजियेगा। तथा निम्नलिखित बाते ध्यानमे रखेंगे तो श्रेयस्कर है।

१ मेरी अविद्यमानतामे श्री रेवाशंकर अथवा खीमजीसे किसी तरहकी परमार्थ विषयक चर्चा नही करना (विद्यमानतामे अर्थात् मै पास बैठा हूँ तब)।

२ मेरी विद्यमानताम उनसे गभीरतापूर्वक परमार्थ विषयकी चर्चा हो सके तो जरूर करे, कभी रेवाशकरसे और कभी खीमजीसे।

३. परमार्थमे नीचे लिखी बातें विशेष उपयोगी है—

(१) पार होनेके लिये जीवको पहले क्या जानना चाहिये ?

(२) जीवके परिभ्रमण होनेमे मुख्य कारण क्या ?

(३) वह कारण कैसे दूर हो ?

(४) उसके लिये सुगमसे-सुगम अर्थात् अल्पकालमे फलदायक हो ऐसा उपाय कौनसा है ?

(५) क्या ऐसा कोई पुरुष होगा कि जिससे इस विषयका निर्णय प्राप्त हो सके ? इस कालमे ऐसा पुरुष हो सकता है ऐसा आप मानते है ? और यदि मानते है तो किन कारणोसे ? ऐसे पुरुषके कोई लक्षण होते है या नही ? अभी ऐसा पुरुष हमे किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ?

(६) यदि हमारे संबधी कोई प्रसंग आये तो पूछना कि 'मोक्षमार्ग' की इन्हे प्राप्ति है, ऐसी निःशकता आपको है ? और है तो किन कारणोसे ? ये प्रवृत्तिवाली दशामे रहते हो, तो पूछना कि इस विषयमे आपको विकल्प नही आता ? इन्हे सर्वथा निःस्पृहता होगी क्या ? किसी तरहके सिद्धियोग होंगे क्या ?

(७) सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेपर जीवको मार्ग न मिले, ऐसा संभव है क्या ? ऐसा हो तो इसका क्या कारण ? यदि जीवकी 'अयोग्यता' बतानेमें आये तो वह अयोग्यता किस विषयकी ?

(८) खीमजीसे प्रश्न करना कि क्या आपको ऐसा लगता है कि इस पुरुषके संगसे योग्यता प्राप्त होनेपर इससे ज्ञानप्राप्ति हो सकती है ?

इत्यादि बातोंकी चर्चा प्रसंगानुसार करें। एक एक बातका कोई निर्णायक उत्तर उनकी तरफसे मिलनेपर दूसरे प्रसंगपर दूसरी बातकी चर्चा करें।

खीमजीमे कुछ समझनेकी शक्ति ठीक है, परन्तु योग्यता रेवाशकरकी विशेष है। योग्यता ज्ञान-प्राप्तिके लिये अति बलवान कारण है।

उपर्युक्त बातोमेसे आपको जो सुगम लगे वे पूछे। एककी भी सुगमता न हो तो एक भी न पूछें; तथा इन बातोंका प्रेरक कौन है ? यह मत बताना।

खभातसे श्री त्रिभोवनदासकी यहाँ आनेकी इच्छा रहती है, तो इस इच्छामे मै सम्मत हूँ। आप उन्हे रतलामसे पत्र लिखे तो आपकी बंबईमे जब स्थिति हो, तब उन्हे आनेकी अनुकूलता हो तो आनेमे मेरी सम्मति है, ऐसा लिखियेगा।

आप कोई मुझसे मिलने आये हैं, यह बात खीमजी आदिसे भी न कहना। यहाँ आनेका कोई व्यावहारिक कारण हो तो उसे अवश्य खीमजीसे कहना।

यह सब लिखना पडता है इसका उद्देश मात्र यह एक निवृत्तियोग है। ईश्वरेच्छा बलवान है, और सुखदायक है।

यह पत्र वारंवार मनन करने योग्य है।

वारवार मनमे यह उठता है कि क्या अबध बधनयुक्त हो सकता है ? आप क्या मानते है ?

वि० रायचन्दके प्रणाम।

---

२३७ बंबई, चैत्र वदी २, शनि, १९४७

सुज्ञ भाई त्रिभावन,

"परेच्छानुचारीको शब्दभेद नही है।" इस वाक्यका अर्थ समागममे पूछिये।

परम समाधिरूप ज्ञानीको दशाको नमस्कार।

वि० रायचदके प्रणाम।

---

२३८ बबई, चैत्र वदी ३, रवि, १९४७

उस पूर्णपदको ज्ञानी परम प्रेमसे उपासना करते हैं।

चारेक दिन पहले आपका पत्र मिला। परम स्वरूपके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है। आपकी इच्छा सद्वृत्तियोंकी प्राप्तिके लिये रहती है; यह पढकर वारंवार आनद होता है।

चित्तकी सरलता, वैराग्य और 'सत्' प्राप्त होनेकी अभिलाषा—ये प्राप्त होने परम दुर्लभ है, और उनकी प्राप्तिके लिये परम कारणरूप सत्सगका प्राप्त होना तो परम परम दुर्लभ है। महान पुरुषोने इस कालको कठिन काल कहा है, उसका मुख्य कारण तो यह है कि जोवको सत्संगका योग मिलना बहुत कठिन है, और ऐसा होनेमे कालको भी कठिन कहा है। मायामय अग्निसे चौदह राजूलोक प्रज्वलित है। उस मायामे जीवकी बुद्धि अनुरक्त हो रही है, और इस कारणसे जीव भी उस त्रिविध ताप-अग्निसे जला करता है, उसके लिये परम कारुण्यमूर्तिका उपदेश ही परम शीतल जल है, तथापि जीवको चारो ओरसे अपूर्ण पुण्यके कारण उसकी प्राप्ति होना दुर्लभ हो गया है। परन्तु इसी वस्तुका चिंतन रखना। 'सत्' मे प्रीति, 'सत्' रूप सतमे परम भक्ति, उसके मार्गकी अभिलाषा, यही निरतर स्मरण करने योग्य हैं। उनका स्मरण रहनेमे वैराग्य आदि चरित्रवाली उपयोगी पुस्तकें, वैरागी एव सरल चित्तवाले मनुष्यों-का संग और अपनी चित्तशुद्धि, ये सुन्दर कारण है। इन्हींकी प्राप्तिकी रटन रखना कल्याणकारक है। यहाँ समाधि है।

---

२३९ बंबई, चैत्र वदी ७, गुरु, १९४७

"आप्युं सौने ते अक्षरधाम रे !'[1]

कल एक कृपापत्र मिला था। यहाँ परमानन्द है।

यद्यपि उपाधिसंयुक्त बहुतसा काल जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छाके अनुसार प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर है और योग्य है; इसलिये जैसे चल रहा है वैसे चाहे उपाधि हो तो ठीक, न हो तो भी ठीक, जो हो वह समान ही है।

ज्ञानवार्ता सम्बन्धी अनेक **मंत्र** आपको बतानेकी इच्छा होती है, तथापि विरहकाल प्रत्यक्ष है, इसलिये निरुपायता है। **मंत्र** अर्थात् गुप्तभेद। ऐसा तो समझमें आता है कि भेदका भेद दूर होनेपर वास्तविक तत्त्व समझमे आता है। परम अभेद ऐसा 'सत्' सर्वत्र है। वि० रायचंद

---

२४० बबई, चैत्र वदी ९, रवि, १९४७

कल पत्र और प० पूज्य श्री सोभागभाईका पत्र साथमे मिला।

आप उन्हे विनयपूर्ण पत्र सहर्ष लिखिये। साथ ही विलंब होनेका कारण बताइये। साथ ही लिखिये कि रायचंदने इस विषयमे बहुत प्रसन्नता प्रदर्शित की है।

अभी मुझे मुमुक्षुओका प्रतिबन्ध भी नही चाहिये था, क्योकि अभी आपको पोषण देनेकी मेरी अशक्यता रहती है। उदयकाल ऐसा ही है। इसलिये सोभागभाई जैसे सत्पुरुषके साथका पत्रव्यवहार आपको पोषणरूप होगा। यह मुझे बड़े सतोषका मार्ग मिला है। उन्हे पत्र लिखे। ज्ञानकथा लिखे, तो मैं विशेष प्रसन्न हूँ।

---

२४१ बंबई, चैत्र वदी १४, गुरु, १९४७

जिसे लगी है, उसीको लगी है और उसीने जानी है, वही "पी पी" पुकारता है। यह ब्राह्मी वेदना कैसे कही जाय ? कि जहाँ वाणीका प्रवेश नही है। अधिक क्या कहना ? जिसे लगी है उसीको लगी है। उसीके चरणसगसे लगती है, और जब लगती है तभी छुटकारा होता है। इसके बिना दूसरा सुगम मोक्ष-मार्ग है ही नही। तथापि कोई प्रयत्न नही करता! मोह बलवान है!

२४२ बंबई, चैत्र, १९४७

ॐ

आपके पत्र प्राप्त हुए है। इस पत्रके आनेके विषयमे सर्वथा गभीरता रखिये।

आप सब धीरज रखिये और निर्भय रहिये।

सुदृढ स्वभावसे आत्मार्थका प्रयत्न करना। आत्मकल्याण प्राप्त होनेमे प्राय वारवार प्रबल परिषहोका आना स्वाभाविक है। परन्तु यदि उन परिषहोका वेदन शात चित्तसे करनेमे आता है, तो दीर्घ कालमे हो सकने योग्य आत्मकल्याण बहुत अल्प कालमे सिद्ध हो जाता है।

आप सब ऐसे शुद्ध आचरणसे रहिये कि विषम दृष्टिसे देखनेवाले मनुष्योमेसे बहुतोको, समय बीतनेपर अपनी उस दृष्टिके लिये पश्चात्ताप करनेका वक्त आये।

निराश न होना।

उपाश्रयमे जानेसे शाति होती हो तो वैसा करे। साणन्द जानेसे अशाति कम होती हो तो वैसा करे। वंदन, नमस्कार करनेमे आज्ञाका अतिक्रम नही है। उपाश्रयमे जानेकी वृत्ति हो तो मनुष्योकी भीड़के समय

---

१. दिया सबको वह अक्षरधाम रे।

नही जाना, एव सर्वथा एकातमे भी नही जाना। मात्र जब थोडे योग्य मनुष्य हो तब जाना। और जाना तो क्रमशः जानेका रखना। क्वचित् कोई क्लेश करे तो सहन करना। जाते ही पहलेसे बलवान क्लेश करनेकी वृत्ति दिखायी दे तो कहना कि "ऐसा क्लेश मात्र विषमदृष्टिवाले मनुष्य उत्पन्न कराते है। और यदि आप धैर्य रखेगे तो अनुक्रमसे वह कारण आपको मालूम हो जायेगा। अकारण नाना प्रकारकी कल्पनाओंको फैलानेका जिसे भय न हो उसे ऐसी प्रवृत्ति योग्य है। आपको क्रोधातुर होना योग्य नही है। वैसा होनेसे बहुतसे जीवोंको मात्र प्रसन्नता होगी। संघाडेकी, गच्छकी और मार्गकी अकारण अपकीर्ति होनेमे साथ नही देना चाहिये। और यदि शात रहेगे तो अनुक्रमसे यह क्लेश सर्वथा शात हो जायेगा। लोग वही बात करते हों तो आपको उसका निवारण करना योग्य है, वहाँ उसे उत्पन्न करने जैसा अथवा बढाने जैसा कोई कथन नही करना चाहिये। फिर जैसी आपकी इच्छा।"

मुनि लल्लुजीसे आपने मेरे लिये जो बात कही है उस बातको मै सिद्ध करना चाहता हूँ ऐसा कहे तो कहना कि "वे महात्मा पुरुष और आप जब पुन मिले तब उस बातका यथार्थ स्पष्टीकरण प्राप्त करके मेरे प्रति क्रोधातुर होना योग्य लगे तो वैसा कीजियेगा। अभी आपने उस विषयमे यथार्थ स्पष्टतासे श्रवण नही किया होगा ऐसा मालूम होता है।

आपके प्रति द्वेषबुद्धि करनेका मुझे नही कहा है। और आपके लिये विसवाद फैलानेकी बात भी किसीके मुँहपर मैने नही की है। आवेशमे कुछ वचन निकला हो तो वैसा भी नही है। मात्र द्वेषवान जीवोकी यह सारी खटपट है।

ऐसा होनेपर भी यदि आप कुछ आवेश करेंगे तो मै तो पामर हूँ, इसलिये शात रहनेके सिवाय दूसरा कोई मेरा उपाय नही है। परन्तु आपको लोगोके पक्षका बल है, ऐसा मानकर आवेश करने जायेंगे तो हो सकेगा। परन्तु उससे आपको, हमे और बहुतसे जीवोको कर्मका दीर्घबध होगा, इसके सिवाय कोई दूसरा फल नही आयेगा। और अन्य लोग प्रसन्न होगे। इसलिये शात दृष्टि रखना योग्य है।"

यदि किसी प्रसगमे ऐसा कहना उचित लगे तो कहना, परन्तु वे कुछ प्रसन्नतामे दिखायी दें तब कहना। और कहते हुए उनकी प्रसन्नता बढ़ती जाती हो, अथवा अप्रसन्नता होती न दिखायी देती हो, तब तक कहना।

अपरिचित मनुष्यो द्वारा वे उलटी सीधी बात फैलाये अथवा दूसरे वैसी बात लाये तो कहना कि आप सबका कषाय करनेका हेतु मेरी समझमे है। किसी स्त्री या पुरुषपर कलंक लगाते हुए इतनी अधिक प्रसन्नता रखते हैं तो इसमे कहीं अनिष्ट हो जायेगा। मेरे साथ आप अधिक बात नही करें। आप अपनी सँभाले। इस तरह योग्य भाषामे जब अवसर दिखायी दे तब कहना। बाकी शात रहना। मनमे आकुल नही होना। उपाश्रयमे जाना, न जाना, साणद जाना, न जाना यह अवसरोचित जैसे आपको लगे वैसे करें। परन्तु मुख्यतः शात रहे और सिद्ध कर देनेके सम्बन्धमे किसी भी स्पष्टीकरणपर ध्यान न दें। ऐसा धैर्य रखकर, आत्मार्थमे निर्भय रहिये।

बात कहनेवालेको कहना कि मनकी कल्पित बातें किसलिये चला रहे हैं? कुछ परमेश्वरका डर रखें तो अच्छा, यो योग्य शब्दोमे कहना, आत्मार्थमे प्रयत्न करना।

---

२४३ बबई, वैशाख सुदी २, १९४७

सर्वात्माके अनुग्रहसे यहा समाधि है। बाह्योपाधियोग रहता है। आपकी इच्छा स्मृतिमें है। और उसके लिये आपकी अनुकूलताके अनुसार करनेको तैयार हैं; तथापि ऐसा तो रहता है कि अबका हमारा समागम एकात अज्ञात स्थानमे होना कल्याणक है। और वैसा प्रसंग ध्यानमे रखनेका प्रयत्न है। नही तो

फिर आपको अपनी अनुकूलताके अनुसार करना मान्य है। श्री त्रिभोवनको प्रणाम कहें। आप सब जिस स्थलमें (पुरुषमे) प्रीति करते है, वह क्या यथार्थ कारणोको लेकर है? सच्चे पुरुषको हम कैसे पहचानें?

---

२४४ बंबई, वैशाख सुदी ७, शुक्र, १९४७

परब्रह्म आनंदमूर्ति है, उसका त्रिकालमे अनुग्रह चाहते है।

कुछ निवृत्तिका समय मिला करता है, परब्रह्मविचार तो ज्योका त्यो रहा ही करता है, कभी तो उसके लिये आनंदकिरणें बहुत स्फुरित हो उठती है, और कुछकी कुछ (अभेद) बात समझमे आती है, परन्तु किसीसे कही नही जा सकती, हमारी यह वेदना अथाह है। वेदनाके समय साता पूछनेवाला चाहिये, ऐसा व्यवहारमार्ग है, परन्तु हमे इस परमार्थमार्गमे साता पूछनेवाला नही मिलता, और जो है उससे वियोग रहता है। तो अब जिसका वियोग है ऐसे आप हमे किसी भी प्रकारसे साता पूछे ऐसी इच्छा करते हैं।

---

२४५ बंबई, वैशाख सुदी १३, १९४७

निर्मल प्रीतिसे हमारा यथायोग्य स्वीकार कीजिये।

श्री त्रिभोवन और छोटालाल इत्यादिसे कहिये, कि ईश्वरेच्छाके कारण उपाधियोग है, इसलिये आपके वाक्योके प्रति उपेक्षा रखनी पडती है, और वह क्षमा करने योग्य है।

---

२४६ बंबई, वैशाख वदी ३, १९४७

विरह भी सुखदायक मानना।

हरिकी विरहाग्नि अतिशय जलनेसे साक्षात् उसकी प्राप्ति होती है। उसी प्रकार संतके विरहानुभवका फल भी वही है। ईश्वरेच्छासे अपने सम्बन्धमे वैसा ही मानियेगा।

पूर्णकाम हरिका स्वरूप है। उसमे जिनका निरंतर लय लग रहा है ऐसे पुरुषोसे भारतक्षेत्र प्राय शून्यवत् हुआ है। माया, मोह ही सर्वत्र दिखायी देता है। क्वचित् मुमुक्षु दिखाई देते है, तथापि मतातर आदिके कारणोसे उन्हे भी योगका मिलना दुर्लभ होना है।

आप जो हमे वारवार प्रेरित करते है, उसके लिये हमारी जैसी चाहिये वैसी योग्यता नही है; और हरि साक्षात् दर्शन देकर जब तक उस बातके लिये प्रेरित नही करते तब तक इच्छा नही होती और होगी भी नही।

---

२४७ बम्बई, वैशाख वदी ८, रवि, १९४७

हरिके प्रतापसे हरिका स्वरूप मिलेंगे तब समझायेंगे (!)

उपाधियोग और चित्तके कारण कितना ही समय सविस्तर पत्रके बिना व्यतीत किया है, उसमे भी चित्तकी दशा मुख्य कारणरूप है। आजकल आप किस प्रकारसे समय व्यतीत करते हैं सो लिखियेगा, और क्या इच्छा रहती है? यह भी लिखियेगा। व्यवहारके कार्यमें क्या प्रवत्ति है, और तत्सबंधी क्या इच्छा रहती है? यह भी विदित कीजियेगा, अर्थात् वह प्रवृत्ति सुखरूप लगती है क्या? यह भी लिखियेगा।

चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है; जिससे व्यवहारके सभी कार्य प्रायः अव्यवस्थासे करते हैं। हरीच्छाको सुखदायक मानते है। इसलिये जो उपाधियोग विद्यमान है, उसे भी समाधियोग मानते है। चित्तकी अव्यवस्थाके कारण मुहूर्त मात्रमे किये जा सकनेवाले कार्यका विचार करनेमे भी पखवारा बिता दिया जाता है और कभी उसे किये बिना ही जाने देना होता है। सभी प्रसंगोमे ऐसा हो तो भी हानि

नही मानी है; तथापि आपसे कुछ कुछ ज्ञानवार्ता की जाये तो विशेष आनन्द रहता है. और उस प्रसंगमे चित्तको कुछ व्यवस्थित करनेकी इच्छा रहा करती है, फिर भी उस स्थितिमे भी अभी प्रवेश नही किया जा सकता। ऐसी चित्तकी दशा निरंकुश हो रही है, और उस निरंकुशताके प्राप्त होनेमे हरिका परम अनुग्रह कारण है ऐसा मानते है। इसी निरंकुशताकी पूर्णता किये बिना चित्त यथोचित समाधियुक्त नही होगा ऐसा लगता है। अभी तो सब कुछ अच्छा लगता है, और सब कुछ अच्छा नही लगता, ऐसी स्थिति है। जब सब कुछ अच्छा लगेगा तब निरंकुशताकी पूर्णता होगी। यह पूर्णकामता भी कहलाती है जहाँ हरि ही सर्वत्र स्पष्ट भासता है। अभी कुछ अस्पष्ट भासता है, परन्तु स्पष्ट है ऐसा अनुभव है।

जो रस जगतका जीवन है, उस रसका अनुभव होनेके बाद हरिमे अतिशय लय हुआ है, और उसका परिणाम ऐसा आयेगा कि जहाँ जिस रूपमे चाहे उस रूपमे हरि आयेंगे, ऐसा भविष्यकाल ईश्वरेच्छाके कारण लिखा है।

हम अपने अतरग विचार लिख सकनेमे अतिशय अशक्त हो गये है; जिससे समागमकी इच्छा करते है, परन्तु ईश्वरेच्छा अभी वैसा करनेमे असम्मत लगती है, जिससे वियोगमे रहते है।

उस पूर्णस्वरूप हरिमे जिसकी परम भक्ति है, ऐसा कोई भी पुरुष वर्तमानमे दिखायी नही देता, इसका क्या कारण होगा ? तथा ऐसी अति तीव्र अथवा तीव्र मुमुक्षुता किसीमे देखनेमे नही आयी इसका क्या कारण होगा ? क्वचित् तीव्र मुमुक्षुता देखनेमे आयी होगी तो वहाँ अनतगुण गभीर ज्ञानावतार पुरुष-का लक्ष्य क्यो देखनेमे नही आया होगा ? इस विषयमे आपको जो लगे सो लिखियेगा। दूसरी बड़ी आश्चर्यकारक बात तो यह है कि आप जैसोको सम्यग्ज्ञानके बीजको, पराभक्तिके मूलकी प्राप्ति होनेपर भी उसके बादका भेद क्यो प्राप्त नही होता ? तथा हरिके प्रति अखण्ड लयरूप वैराग्य जितना चाहिये उतना क्यो वर्धमान नही होता ? इसका जो कुछ कारण समझमे आता हो सो लिखियेगा।

हमारे चित्तकी अव्यवस्था ऐसी हो जानेके कारण किसी काममे जैसा चाहिये वैसा उपयोग नही रहता, स्मृति नही रहती, अथवा खबर भी नही रहती, इसके लिये क्या करना ? क्या करना अर्थात् व्यव-हारमे रहते हुए भी ऐसी सर्वोत्तम दशा दूसरे किसीको दुःखरूप नही होनी चाहिये, और हमारे आचार ऐसे हैं कि कभी वैसा हो जाता है। दूसरे किसीको भी आनदरूप लगनेमे हरिको चिंता रहती है, इसलिये वे रखेंगे। हमारा काम तो उस दशाकी पूर्णता करनेका है, ऐसा मानते है; तथा दूसरे किसीको सतापरूप होनेका तो स्वप्नमे भी विचार नही है। सभीके दास हैं, तो फिर दुःखरूप कौन मानेगा ? तथापि व्यवहार-प्रसगमे हरिकी माया हमे नही तो दूसरेको भी कोई और ही आशय समझा दे तो निरुपायता है, और इतना भी शोक रहेगा। हम सर्व सत्ता हरिको अर्पण करते है, की है। अधिक क्या लिखना ? परमानंदरूप हरि-को क्षण भर भी न भूलना, यह हमारी सर्व कृति, वृत्ति और लिखनेका हेतु है।

---

२४८ बम्बई, वैशाख वदो ८, रवि, १९४७

ॐ नमः

किसलिये कटाला आता है, आकुलता होती है ? सो लिखे। हमारा समागम नही है, इसलिये ऐसा होता है, यो कहना हो तो हमारा समागम अभी कहाँ किया जा सकता है ? यहाँ करने देनेकी हमारी इच्छा नही होती। अन्य किसी स्थानपर होनेका प्रसग भवितव्यताके योगपर निर्भर है। खभात आनेके लिये भी योग नहीं बन सकता।

पूज्य सोभागभाईका समागम करनेकी इच्छामे हमारी अनुमति है। तथापि अभी उनका समागम करनेका आपके लिये अभी कारण नही है, ऐसा जानते हैं।

हमारा समागम आप (सब) किसलिये चाहते है, इसका स्पष्ट कारण बताये तो उसे जाननेकी अधिक इच्छा रहती है।

'प्रबोधशतक' भेजा है, सो पहुँचा होगा। आप सबके लिये यह शतक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य है। यह पुस्तक वेदातकी श्रद्धा करनेके लिये नही भेजी है, ऐसा लक्ष्य सुननेवालेका पहले होना चाहिये। दूसरे किसी कारणसे भेजी है, जिसे प्राय विशेष विचार करनेसे आप जान सकेगे। अभी आपके पास कोई वैसा बोधक साधन नही होनेसे यह शतक ठीक साधन है, ऐसा मानकर इसे भेजा है। इसमेंसे आपको क्या जानना चाहिये, इसका आप स्वयं विचार करें। इसे सुननेपर कोई हमारे विषयमें यह आशका न करे कि इसमे जो कुछ आशय बताया गया है, वह मत हमारा है, मात्र चित्तकी स्थिरताके लिये इस पुस्तकके बहुतसे विचार उपयोगी है, इसलिये भेजी है, ऐसा मानना।

श्री दामोदर और मगनलालके हस्ताक्षरवाला पत्र चाहते है ताकि उसमे उनके विचार मालूम हो।

---

२४९ बम्बई, जेठ सुदी ७, शनि, १९४७

ॐ नमः

कराल काल होनेसे जीवको जहाँ वृत्तिकी स्थिति करनी चाहिये, वहाँ वह कर नही सकता। सद्धर्मका प्राय: लोप ही रहता है। इसलिये इस कालको कलियुग कहा गया है।

सद्धर्मका योग सत्पुरुषके बिना नही होता, क्योकि असत्‌मे सत् नही होता।

प्राय सत्पुरुषके दर्शन और योगकी इस कालमे अप्राप्ति दिखायी देती है। जब ऐसा है, तब सद्धर्मरूप समाधि मुमुक्षु पुरुषको कहाँसे प्राप्त हो? और अमुक काल व्यतीत होनेपर भी जब ऐसी समाधि प्राप्त नही होती तब मुमुक्षुता भी कैसे रहे?

प्राय जीव जिस परिचयमे रहता है, उस परिचयरूप अपनेको मानता है। जिसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है कि अनार्यकुलमे परिचय रखनेवाला जीव अपनेको अनार्यरूपमे दृढ़ मानता है और आर्यत्वमे मति नही करता।

इसलिये महा पुरुषोने और उनके आधारपर हमने ऐसा दृढ़ निश्चय किया है कि जीवके लिये सत्सग, यही मोक्षका परम साधन है।

सन्मार्गके विषयमे अपनी जैसी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोके सगको सत्सग कहा है। महान पुरुषके सगमे जो निवास है, उसे हम परम सत्सग कहते है, क्योंकि इसके समान कोई हितकारी साधन इस जगतमे हमने न देखा है और न सुना है।

पूर्वमे हो गये महा पुरुषोका चिन्तन कल्याणकारक है, तथापि वह स्वरूपस्थितिका कारण नही हो सकता, क्योकि जीवको क्या करना चाहिये यह बात उनके स्मरणसे समझमे नही आती। प्रत्यक्ष योग होनेपर बिना समझाये भी स्वरूपस्थितिका होना हम सभवित मानते है, और इससे यह निश्चय होता है कि उस योगका और उस प्रत्यक्ष चितनका फल मोक्ष होता है, क्योकि सत्पुरुष ही 'मूर्तिमान मोक्ष' है।

मोक्षगत (अर्हत आदि) पुरुषोका चितन बहुत समयमे भावानुसार मोक्षादि फलका दाता होता है। सम्यक्त्वप्राप्त पुरुषका निश्चय होनेपर और योग्यताके कारणसे जीव सम्यक्त्व पाता है।

---

२५० बम्बई, जेठ सुदी १५, रवि, १९४७

भक्ति पूर्णता पानेके योग्य तब होती है कि
एक तृणमात्र भी हरिसे न माँगना,
सर्वदशामें भक्तिमय ही रहना।

कल एक पत्र और आज एक पत्र चि० केशवलालकी ओरसे मिला। पढकर कुछ तृषातुरता मिटी। और फिर वैसे पत्रकी आतुरता वर्धमान हुई।

व्यवहारचितासे व्याकुलता होनेसे सत्संगके वियोगसे किसी प्रकारसे शाति नहीं होती ऐसा आपने लिखा वह योग्य ही है। तथापि व्यवहारचिताकी व्याकुलता तो योग्य नही है। सर्वत्र हरीच्छा बलवान है, यह दृढ करानेके लिये हरिने ऐसा किया है, ऐसा आप नि शक समझे, इसलिये जो हो उसे देखा करे; और फिर यदि आपको व्याकुलता होगी, तो देख लेगे। अब समागम होगा तब इस विषयमे बातचीत करेगे, व्याकुलता न रखे। हम तो इस मार्गसे तरे है।

चि० केशवलाल और लालचन्द हमारे पास आते है। ईश्वरेच्छासे टकटकी लगाये हम देखते हैं। ईश्वर जब तक प्रेरित नही करता तब तक हमे कुछ नही करना है और वह प्रेरणा किये बिना कराना चाहता है। ऐसा होनेसे घडी घडीमे परमाश्चर्यरूप दशा हुआ करती है। केशवलाल और लालचन्द हमारी दशाके अंशकी प्राप्तिकी इच्छा करें, इस विषयमे प्रेरणा रहती है। तथापि ऐसा होने देनेमे ईश्वरेच्छा विलंबवाली होगी। जिससे उन्हे आजीविकाकी उपाधिमे फँसाया है। और इसलिये हमे भी मनमे यह खटका करता है; परन्तु निरुपायताका उपाय अभी तो नही किया जा सकता।

छोटम ज्ञानी पुरुष थे। पदकी रचना बहुत श्रेष्ठ है।

'साकाररूपसे हरिकी प्रगट प्राप्ति' इस शब्दको मै प्राय प्रत्यक्षदर्शन मानता हूँ। आगे जाकर आपके ज्ञानमें वृद्धि होगी।

लि० आज्ञाकारी रायचन्द।

---

२५१ बम्बई, जेठ वदी ६, शनि, १९४७

हरीच्छासे जीना है, और परेच्छासे चलना है। अधिक क्या कहे?

लि० आज्ञाकारी।

---

२५२ बम्बई, जेठ सुदी, १९४७

अभी छोटमकृत पदसग्रह इत्यादि पुस्तकें पढनेका परिचय रखिये। इत्यादि शब्दसे ऐसी पुस्तकें समझें कि जिनमे सत्संग, भक्ति और वीतरागताके माहात्म्यका वर्णन किया हो।

जिनमे सत्संगके माहात्म्यका वर्णन किया हो ऐसी पुस्तकें, अथवा पद एव काव्य हो उन्हे बारबार मनन करने योग्य और स्मृतिमे रखने योग्य समझे।

अभी यदि जैनसूत्रोके पढनेकी इच्छा हो तो उसे निवृत्त करना योग्य है, क्योकि उन्हें (जैनसूत्रोंको) पढने, समझनेमे अधिक योग्यता होनी चाहिये, उसके बिना यथार्थ फलकी प्राप्ति नही होती। तथापि यदि दूसरी पुस्तकें न हो, तो 'उत्तराध्ययन' अथवा 'सूयगडाग' का दूसरा अध्ययन पढे, विचारें।

---

२५३ बम्बई, आषाढ सुदी १, सोम, १९४७

जब तक गुरुगमसे भक्तिका परम स्वरूप समझमे नही आया, और उसकी प्राप्ति नही हुई, तब तक भक्तिमे प्रवृत्ति करनेसे अकाल और अशुचि दोष होता है।

अकाल और अशुचिका विस्तार बडा है, तो भी संक्षेपमें लिखा है।

(एकांत) प्रभात, प्रथम प्रहर, यह सेव्य भक्तिके लिये योग्य काल है। स्वरूपचिंतनभक्ति सर्व कालमे सेव्य है।

व्यवस्थित मन सर्व शुचिका कारण है। बाह्य मलादिरहित तन और शुद्ध एवं स्पष्ट वाणी यह शुचि है।

वि० रायचंद

---

२५४ बंबई, आषाढ सुदी ८, मंगल, १९४७

निःशंकतासे निर्भयता उत्पन्न होती है;
और उससे निःसंगता प्राप्त होती है

प्रकृतिके विस्तारसे जीवके कर्म अनंत प्रकारकी विचित्रतासे प्रवर्तन करते है, और इससे दोषके प्रकार भी अनंत भासित होते है, परन्तु सबसे बडा दोष यह है कि जिससे 'तीव्र मुमुक्षुता' उत्पन्न ही न हो, अथवा 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न न हो।

प्रायः मनुष्यात्मा किसी न किसी धर्ममतमे होता है, और उससे वह धर्ममतके अनुसार प्रवर्तन करता है ऐसा मानता है, परन्तु इसका नाम 'मुमुक्षुता' नही है।

'मुमुक्षुता' यह है कि सर्व प्रकारकी मोहासक्तिसे अकुलाकर एक मोक्षके लिये ही यत्न करना और 'तीव्र मुमुक्षुता' यह है कि अनन्य प्रेमसे मोक्षके मार्गमे प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना।

'तीव्र मुमुक्षुता' के विषयमे यहाँ कहना नही है परन्तु 'मुमुक्षुता' के विषयमे कहना है, कि वह उत्पन्न होनेका लक्षण अपने दोष देखनेमे अपक्षपातता है और उससे स्वच्छंदका नाश होता है।

स्वच्छंदकी जहा थोडी अथवा बहुत हानि हुई है, वहाँ उतनी बोधबीज योग्य भूमिका होती है।

स्वच्छंद जहाँ प्राय दब गया है वहाँ फिर 'मार्गप्राप्ति' को रोकनेवाले मुख्यत तीन कारण होते है, ऐसा हम जानते है।

इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा,[1] परम दीनताकी न्यूनता और पदार्थका अनिर्णय।

इन सब कारणोका दूर करनेका बीज अब आगे कहेगे। इससे पहले इन्ही कारणोका अधिकतासे कहते हैं।

'इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा' यह प्रायः तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होनेसे पहले होती है। उसके होनेके कारण ये है—निःशंकतासे यह 'सत्' है ऐसा दृढ नही हुआ है, अथवा यह 'परमानन्दरूप' ही है ऐसा भी निश्चय नही है, अथवा तो मुमुक्षुतामे भी कितने ही आनंदका अनुभव होता है, इससे बाह्यसाताके कारण भी कितनी ही बार प्रिय लगते है (!) और इससे इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है, जिससे जीवकी योग्यता रुक जाती है।

[2]सत्पुरुषमे ही परमेश्वरबुद्धि, इसे ज्ञानियोने परम धर्म कहा है, और यह बुद्धि परम दीनताको सूचित करती है, जिससे सर्व प्राणियोके प्रति अपना दासत्व माना जाता है और परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह 'परम दीनता' जब तक आवरित रही है तब तक जीवकी योग्यता प्रतिबन्धयुक्त होती है।

कदाचित् ये दोनो प्राप्त हो गये हो तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनताके कारण पदार्थ-निर्णय न हुआ हो तो चित्त व्याकुल रहता है, और मिथ्या समता आती है, कल्पित पदार्थमे 'सत्' की मान्यता होती है, जिससे कालक्रमसे अपूर्व पदार्थमे परम प्रेम नही आता, और यही परम योग्यताकी हानि है।

---

१. पाठान्तर—परम विनयकी न्यूनता।

२ पाठान्तर—तथारूप पहचान होनेपर सद्गुरुमे परमेश्वरबुद्धि रखकर उनकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना इसे 'परम विनय' कहा है। इससे परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह परम विनय जब तक नही आती तब तक जीवमे योग्यता नही आती।

ये तीनो कारण प्रायः हम मिले हुए अधिकांश मुमुक्षुओमे हमने देखे है। मात्र दूसरे कारणकी कुछ न्यूनता किसी-किसीमे देखी है, और यदि उनमे सर्व प्रकारसे ([1]परम दीनताकी कमीका) न्यूनता होनेका प्रयत्न हो तो योग्य हो ऐसा जानते है। परम दीनता इन तीनोमे बलवान साधन है, और इन तीनोका बीज महात्माके प्रति परम प्रेमार्पण है।

अधिक क्या कहे ? अनत कालमे यही मार्ग है।

पहले और तीसरे कारणको दूर करनेके लिये दूसरे कारणकी हानि करना[2] और महात्माके योगसे उसके अलौकिक स्वरूपको पहचानना। पहचाननेकी परम तीव्रता रखना, तो पहचाना जायेगा। मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते है।

महात्मामे जिसे दृढ निश्चय होता है, उसे मोहासक्ति दूर होकर पदार्थका निर्णय होता है। उससे व्याकुलता मिटती है। उससे नि.शकता आती है जिससे जीव सर्व प्रकारके दु खोसे निर्भय हो जाता है और उसीसे नि सगता उत्पन्न होती है, और ऐसा योग्य है।

मात्र आप सब मुमुक्षुओके लिये यह अति सक्षिप्त लिखा है, इसका परस्पर विचार करके विस्तार करना और इसे समझना ऐसा हम कहते है।

हमने इसमे बहुत गूढ शास्त्रार्थ भी प्रतिपादित किया है।

आप वारंवार विचार कीजिये। योग्यता होगी तो हमारे समागममे इस बातका विस्तारसे विचार बतायेगे।

अभी हमारे समागमका संभव तो नहीं है; परन्तु शायद श्रावण वदीमे करे तो हो. परन्तु वह कहाँ होगा उसका अभी तक विचार नही किया है।

कलियुग है, इसलिये क्षण भर भी वस्तु विचारके बिना नही रहना यह महात्माओंकी शिक्षा है।

आप सबको यथायोग्य पहुँचे।

---

२५५ बबई, आषाढ सुदी १३, १९४७

ॐ

[3]सुखना सिंधु श्री सहजानंदजी, जगजीवन के जगवदजी।
शरणागतना सदा सुखकदजी, परमस्नेही छो (!) परमानदजी॥

अपूर्व स्नेहमूर्ति आपको हमारा प्रणाम पहुँचे। हरिकृपासे हम परम प्रसन्न पदमे है। आपका सत्संग निरतर चाहते है।

हमारी दशा आजकल कैसी रहती है, यह जाननेकी आपकी इच्छा रहती है, परतु यथेष्ट विवरण-पूर्वक वह लिखी नही जा सकती, इसलिये वारवार नही लिखी है। यहाँ सक्षेपमे लिखते है।

एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसंपत्तिके बिना हमे कुछ भी अच्छा नही लगता, हमे किसी पदार्थमे रुचि मात्र नही रही है, कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नही होती, व्यवहार कैसे चलता है इसका भान नही है, जगत किस स्थितिमे है इसकी स्मृति नही रहती, शत्रु-मित्रमे कोई भेदभाव नही रहा, कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसका ख्याल रखा नही जाता, हम देहधारी है या नही इसे जब याद करते है तब मुश्किलसे जान पाते है, हमे क्या करना है, यह किसीसे जाना नही जा सकता, हम सभी पदार्थोंसे उदास

---

१ पाठान्तर—परम विनयकी। २ पाठान्तर—और परम विनयमे रहना योग्य है।

३ भावार्थ सहजानदस्वरूप परमात्मा सुखके सागर, जगतके आधार, जगतवद्य, सदा शरणागतको सुखके मूल कारण, परम स्नेही और परमानदरूप है।

हो जानेसे चाहे जैसे वर्तन करते है, व्रत नियमोका कोई नियम नही रखा, जात-पाँतका कोई प्रसंग नहीं है, हमसे विमुख जगतमे किसीको नही माना, हमारे सन्मुख ऐसे सत्सगी नही मिलनेसे खेद रहा करता है, संपत्ति पूर्ण है इसलिये संपत्तिकी इच्छा नही है, अनुभूत शब्दादि विषय स्मृतिमे आनेसे—अथवा ईश्वरेच्छासे उनकी इच्छा नही रही है, अपनी इच्छासे थोड़ी ही प्रवृत्ति की जाती है, हरि इच्छित क्रम जैसे चलाता है वैसे चलते है, हृदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है, पाँचो इद्रियाँ शून्यरूपसे प्रवृत्त होती रहती हैं। नय, प्रमाण इत्यादि शास्त्रभेद याद नही आते, कुछ पढ़ते हुए चित्त स्थिर नही रहता, खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, चलनेकी और बोलनेकी वृत्तियाँ अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करती रहती हैं, मन अपने अधीन है या नही, इसका यथायोग्य भान नही रहा। इस प्रकार सर्वथा विचित्र उदासीनता आनेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति की जाती है। एक प्रकारसे पूरा पागलपन है। एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ छिपाकर रखते है, और जितना छिपाकर रखा जाता है उतनी हानि है। योग्य प्रवृत्ति करते है या अयोग्य इसका कुछ हिसाब नही रखा। आदिपुरुषमे अखड प्रेमके सिवाय दूसरे मोक्षादि पदार्थोकी आकाक्षाका भग हो गया है। इतना सब होते हुए भी मनमानी उदासीनता नही है, ऐसा मानते है। अखंड प्रेमखुमारी जैसी प्रवाहित होनी चाहिये वैसी प्रवाहित नही होती, ऐसा समझते है। ऐसा करनेसे वह अखड प्रेमखुमारी प्रवाहित होगी ऐसा निश्चलतासे जानते हैं, परन्तु उसे करनेमे काल कारणभूत हो गया है, और इस सबका दोष हमे है या हरिको है, ऐसा दृढ निश्चय नही किया जा सकता। इतनी अधिक उदासीनता होनेपर भी व्यापार करते है, लेते है, देते है, लिखते है, पढ़ते है; सम्भालते है और खिन्न होते है, और फिर हँसते है—जिसका ठिकाना नही ऐसी हमारी दशा है। और इसका कारण मात्र यही है कि जब तक हरिकी सुखद इच्छा नही मानी तब तक खेद मिटनेवाला नही है।

(अ) समझमे आता है, समझते है, समझेंगे, परंतु हरि ही सर्वत्र कारणरूप है।

जिस मुनिको आप समझाना चाहते है, वह अभी योग्य है, ऐसा हम नही जानते।

हमारी दशा अभी ऐसी नही है कि मद योग्यको लाभ करे, हम अभी ऐसा जजाल नही चाहते, उसे नही रखा, और उन सबका कारोबार कैसे चलता है, इसका स्मरण भी नही है। ऐसा होनेपर भी हमे उन सबकी अनुकंपा आया करती है, उनसे अथवा प्राणीमात्रसे मनसे भेदभाव नही रखा, और रखा भी नही जा सकता। भक्तिवाली पुस्तकें कभी कभी पढते है, परन्तु जो कुछ करते है वह सब बिना ठिकानेकी दशासे करते है।

हम अभी प्रायः आपके पत्रोका समयसे उत्तर नही लिख सकते, तथा पूरी स्पष्टताके साथ भी नही लिखते। यह यद्यपि योग्य तो नही है, परन्तु हरिकी ऐसी इच्छा है, जिससे ऐसा करते है। अब जब समागम होगा, तब आपको हमारा यह दोष क्षमा करना पडेगा, ऐसा हमे भरोसा है।

और यह तब माना जायेगा कि जब आपका सग फिर होगा। उस संगकी इच्छा करते है, परन्तु जैसे योगसे होना चाहिये वैसे योगसे होना दुर्लभ है। आप जो भादोंमे इच्छा रखते है, उससे हमारी कुछ प्रतिकूलता नही है, अनुकूलता है। परन्तु उस समागममे जो योग चाहते है, उसे होने देनेकी यदि हरिकी इच्छा होगी और समागम होगा तभी हमारा खेद दूर होगा ऐसा मानते है।

दशाका संक्षिप्त वर्णन पढकर, आपको उत्तर न लिखा गया हो उसके लिये क्षमा देनेकी विज्ञापना करता हूँ।

प्रभुकी परम कृपा है। हमे किसीसे भेदभाव नही रहा, किसीके सम्बन्धमे दोषबुद्धि नही आती; मुनिके विषयमे हमे कोई हलका विचार नही है, परन्तु हरिकी प्राप्ति न हो ऐसी प्रवृत्तिमे वे पडे हैं। अकेला बीजज्ञान ही उनका कल्याण करे ऐसी उनकी और दूसरे बहुतसे मुमुक्षुओंकी दशा नही है। साथमे 'सिद्धात-

ज्ञान' होना चाहिये। यह 'सिद्धातज्ञान' हमारे हृदयमे आवरितरूपसे पडा है। हरीच्छा यदि प्रगट होने देनेकी होगी तो होगा। हमारा देश हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है, रूप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है, सर्व हरि है, और फिर भी इस प्रकार कारोबारमे है, यह इसकी इच्छाका कारण है।

ॐ शातिः शाति· शांतिः।

---

२५६ बंबई, आषाढ वदी २, १९४७

"अथाह प्रेमसे आपको नमस्कार"

विस्तारसे लिखे हुए दो पत्र आपकी ओरसे मिले। आप इतना परिश्रम उठाते है यह हमपर आपकी कृपा है।

इनमे जिन जिन प्रश्नोका उत्तर पूछा है वे समागममे जरूर देंगे। जीवके बढने घटनेके विषयमे, एक आत्माके विषयमे, अनत आत्माके विषयमे, मोक्षके विषयमे और मोक्षके अनत सुखके विषयमे, आपको इस बार समागममे सभी प्रकारसे निर्णय बता देनेका सोच रखा है। क्योकि इसके लिये हमपर हरिकी कृपा हुई है, परन्तु वह मात्र आपको बतानेके लिये, दूसरोके लिये प्रेरणा नही की है।

---

२५७ बबई, आषाढ वदी ४, १९४७

यहाँ ईश्वरकृपासे आनन्द है। आपका पत्र चाहता हूँ।

बहुत कुछ लिखना सूझता है, परन्तु लिखा नही जा सकता। उनमे भी एक कारण समागम होनेके बाद लिखनेका है। और समागमके बाद लिखने जैसा तो मात्र प्रेम-स्नेह रहेगा, लिखना भी वारंवार आकुल होनेसे सूझता है। बहुतसी धाराएँ बहती देखकर, कोई कुछ पेट देने योग्य मिले तो बहुत अच्छा हो, ऐसा प्रतीत हो जानेसे, कोई न मिलनेसे आपको लिखनेकी इच्छा होती है। परन्तु उसमे उपर्युक्त कारणसे प्रवृत्ति नहीं होती।

जीव स्वभावसे (अपनी समझकी भूलसे) दूषित है, तो फिर उसके दोषकी ओर देखना, यह अनुकंपाका त्याग करने जैसी बात है, और बडे पुरुष ऐसा आचरण करना नही चाहते। कलियुगमे असत्सगसे और नासमझीसे भूलभरे रास्तेपर न जाया जाये, ऐसा होना बहुत मुश्किल है, इस बातका स्पष्टीकरण फिर होगा।

---

२५८ बंबई, आषाढ, १९४७

ॐ सत्

[1]*बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात।
सेवे सद्गुरुके चरन, सो पावे साक्षात् ॥१॥
बूझी चहत जो प्यासको, है बूझनकी रीत।
पावे नहि गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित ॥२॥

---

१ देखें आक ८८३।

*भावार्थ—अतर्दृष्टिके बिना इन्द्रियातीत शुद्ध आत्माकी प्राप्ति नही हो सकती अर्थात् उसका साक्षात्कार नही हो सकता। जो सद्गुरुके चरणोकी उपासना करता है उसे आत्मस्वरूपकी साक्षात् प्राप्ति होती है ॥१॥

यदि तू आत्मदर्शनकी प्यासको बुझाना चाहता है तो उसे बुझानेका उपाय है, जिसकी प्राप्ति गुरुसे होती है, यही अनादि कालकी स्थिति है ॥२॥

एही नहि है कल्पना, एही नहीं विभंग।
कई नर पंचमकाळमें, देखी वस्तु अभंग ॥३॥

नहि दे तुं उपदेशकु, प्रथम लेहि उपदेश।
सबसें न्यारा अगम है, वो ज्ञानीका देश ॥४॥

जप, तप और व्रतादि सब, तहाँ लगी भ्रमरूप।
जहां लगी नहि संतकी, पाई कृपा अनूप ॥५॥

पायाकी ए बात है, निज छंदनको छोड़।
पिछे लाग सत्पुरुषके, तो सब बंधन तोड ॥६॥

तृषातुरको पिलानेकी मेहनत कीजिये।

अतृषातुरमे तृषातुर होनेकी अभिलाषा उत्पन्न कीजिये। जिसमे वह उत्पन्न न हो सके उसके लिये उदासीन रहिये।

आपका कृपापत्र आज और कल मिला था। स्याद्वादकी पुस्तक खोजनेसे नहीं मिली। कुछ एक वाक्य अब फिर लिख भेजूंगा।

उपाधि ऐसी है कि यह काम नही होता। परमेश्वरको प्रसन्नता न हो तो इसमे क्या करें? विशेष फिर कभी। वि० आ० रायचदके प्रणाम

---

२५९ बंबई, श्रावण सुदी ११, बुध, १९४७

परम पूज्यजी,

आपका एक पत्र कल केशवलालने दिया। जिसमे यह बात लिखी है कि निरंतर समागम रहनेमे ईश्वरेच्छा क्यो न हो?

सर्वशक्तिमान हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है, और जिसे भक्तिके कुछ भी अंश प्राप्त हुए है ऐसे पुरुषको तो जरूर यही निश्चय करना चाहिये कि "हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है।"

हमारा वियोग रहनेमे भी हरिकी ऐसी ही इच्छा है, और वह इच्छा क्या होगी, यह हमे किसी तरहसे भासित होता है, जिसे समागममे कहेगे।

श्रावण वदीमे आपको समय मिल सके तो पाँच-पद्रह दिनके लिये समागमकी व्यवस्था करनेकी इच्छा करूँ।

'ज्ञानधारा' सम्बन्धी मूलमार्ग हम आपसे इस बारके समागममे थोडा भी कहेगे, और वह मार्ग पूरी तरह इसी जन्ममे आपसे कहेगे यों हमे हरिकी प्रेरणा हो ऐसा लगता है।

यह उपायकी बात न तो कल्पना है और न ही असत्य—मिथ्या है। इसी उपायसे इस पंचम कालमें अनेक सत्पुरुषोंने अभंग वस्तु—अविनाशी आत्माके दर्शनसे अपने जीवनको कृतार्थ किया है ॥३॥

तू दूसरेको उपदेश न दे, तुझे तो पहले अपने आत्मबोधके लिये उपदेश लेनेकी जरूरत है। ज्ञानीका देश तो सबसे न्यारा और अगोचर है अर्थात् ज्ञानीका निवास तो आत्मामे है ॥४॥

जब तक संतकी अनुपम कृपा प्राप्त नही होती तब तक जप, तप, व्रत, नियम आदि सभी साधन भ्रमरूप है अर्थात् गुरुसे जप, तप आदिका रहस्य समझकर उनकी आज्ञासे ही इनकी आराधना सफल होती है ॥५॥

संत (गुरु) कृपाकी प्राप्तिका यह मूल आधार है कि तू स्वच्छन्दको छोड दे, और सत्पुरुषका अनुयायी बन जा; तो सभी कर्मबंधन तोड़कर तू मोक्षको प्राप्त होगा ॥६॥

आपने हमारे लिये जन्म धारण किया होगा, ऐसा लगता है। आप हमारे अथाह उपकारी हैं। आपने हमे अपनी इच्छाका सुख दिया है, इसके लिये हम नमस्कारके सिवाय दूसरा क्या बदला दें?

परन्तु हमे लगता है कि हरि हमारे हाथसे आपको पराभक्ति दिलायेंगे, हरिके स्वरूपका ज्ञान करायेंगे, और इसे ही हम अपना बडा भाग्योदय मानेंगे।

हमारा चित्त तो बहुत हरिमय रहता है परन्तु सग सब कलियुगके रहे है। मायाके प्रसगमे रात दिन रहना होता है, इसलिये पूर्ण हरिमय चित्त रह सकना दुर्लभ होता है, और तब तक हमारे चित्तका उद्वेग नही मिटेगा।

हम ऐसा समझते है कि खभातवासी योग्यतावाले जीव हैं, परतु हरिकी इच्छा अभी थोडा विलंब करनेकी दिखायी देती है। आपने दोहे इत्यादि लिख भेजे यह अच्छा किया। हम तो अभी किसीकी सम्भाल नही ले सकते। अशक्ति बहुत आ गयी है, क्योकि चित्त अभी बाह्य विषयमे नही जाता।

लि० ईश्वरार्पण।

---

२६० बंबई, श्रावण सुदी ९, गुरु, १९४७

आपने नथुरामजीकी पुस्तकोंके विषयमे तथा उनके बारेमे लिखा, वह मालूम हुआ। अभी कुछ ऐसा जाननेमे चित्त नही है। उनकी एक दो पुस्तकें छपी है, उन्हे मैने पढा है।

चमत्कार बताकर योगको सिद्ध करना, यह योगीका लक्षण नही है। सर्वोत्तम योगी तो वह है कि जो सर्व प्रकारकी स्पृहासे रहित होकर सत्यमे केवल अनन्य निष्ठासे सर्वथा 'सत्' का ही आचरण करता है, और जिसे जगत विस्मृत हो गया है। हम यही चाहते है।

---

२६१ बंबई, श्रावण सुदी ९, गुरु, १९४७

पत्र पहुँचा।

आपके गाँवसे (खंभातसे) पाँच-सात कोसपर क्या कोई ऐसा गाँव है कि जहाँ अज्ञातरूपसे रहना हो तो अनुकूल आये? जहाँ जल, वनस्पति और सृष्टिरचना ठीक हो, ऐसा कोई स्थल यदि ध्यानमे हो तो लिखें।

जैनके पर्युषणसे पहले और श्रावण वदी १ के बाद यहाँसे कुछ समयके लिये निवृत्त होनेकी इच्छा है।

जहाँ हमे लोग धर्मके सम्बन्धसे भी पहचानते हो ऐसे गाँवमे अभी तो हमने प्रवृत्ति मानी है, जिससे अभी खभात आनेका विचार सम्भव नही है।

अभी कुछ समयके लिये यह निवृत्ति लेना चाहता हूँ। सर्व कालके लिये (आयुपर्यंत) जब तक निवृत्ति प्राप्त करनेका प्रसग न आया हो तब तक धर्मसबंधसे भी प्रगटमे आनेकी इच्छा नही रहती।

जहाँ मात्र निर्विकारतासे (प्रवृत्ति रहित) रहा जाये, और वहाँ जरूरत जितने (व्यवहारकी प्रवृत्ति देखें!) दो एक मनुष्य हो इतना बहुत है। क्रमपूर्वक आपका जो कुछ समागम रखना उचित होगा, वह रखेंगे। अधिक जजाल नही चाहिये। उपर्युक्त बातके लिये साधारण व्यवस्था करना। ऐसा नही होना चाहिये कि यह बात अधिक फैल जाये।

भवितव्यताके योगसे अभी यदि मिलना हुआ तो भक्ति और विनयके विषयमे मुज्ञ त्रिभोवनने जो पत्रमे पूछा है उसका समाधान करूँगा।

आपके अपने भी जहाँ अधिक (हो सके तो एक भी नही) परिचित न हों ऐसे स्थानके लिये व्यवस्था हो तो कृपा मानेंगे।

लि० समाधि

---

२६२ बंबई, श्रावण सुदी, १९४७

उपाधिके उदयके कारण पहुँच देना नहीं हो सका, उसके लिये क्षमा करें। यहाँ हमारी उपाधिके उदयके कारण स्थिति है। इसलिये आपको समागम रहना दुर्लभ है।

इस जगतमे, चतुर्थकाल जैसे कालमें भी सत्संगकी प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है, तो इस दुःषमकाल-में उसकी प्राप्ति परम दुर्लभ होना सम्भव है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे सत्संगके वियोगमें भी आत्मामें गुणोत्पत्ति हो उस उस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेका पुरुषार्थ वारंवार, समय समय पर और प्रसंग प्रसंगपर करना चाहिये, और निरंतर सत्संगकी इच्छा, असत्संगमे उदासीनता रहनेमें मुख्य कारण वैसा पुरुषार्थ है, ऐसा समझकर जो कुछ निवृत्तिके कारण हो उन सब कारणोंका वारंवार विचार करना योग्य है।

हमें यह लिखते हुए ऐसा स्मरण होता है कि "क्या करना ?" अथवा "किसी प्रकारसे नही हो पाता ?" ऐसा विचार आपके चित्तमे वारवार आता होगा, तथापि ऐसा योग्य है कि जो पुरुष दूसरे सब प्रकारके विचारोको अकर्तव्यरूप जानकर आत्मकल्याणमे उत्साही होता है, उसे, कुछ नही जाननेपर भी, उसी विचारके परिणाममे जो करना योग्य है, और किसी प्रकारसे नहीं हो पाता, ऐसा भासमान होनेपर उसके प्रकट होनेकी स्थिति जीवमे उत्पन्न होती है, अथवा कृतकृत्यताका साक्षात् स्वरूप उत्पन्न होता है।

दोष करते है ऐसी स्थितिमे इस जगतके जीवोंके तीन प्रकार ज्ञानी पुरुषने देखे है। (१) किसी भी प्रकारसे जीव दोष या कल्याणका विचार नहीं कर सका, अथवा करनेकी जो स्थिति है उसमे बेभान है, ऐसे जीवोका एक प्रकार है। (२) अज्ञानतासे, असत्संगके अभ्याससे भासमान बोधसे दोष करते है उस क्रियाको कल्याणस्वरूप माननेवाले जीवोका दूसरा प्रकार है। (३) उदयाधीनरूपसे मात्र जिसकी स्थिति है, सर्व परस्वरूपका साक्षी है ऐसा बोधस्वरूप जीव, मात्र उदासीनतासे कर्ता दिखायी देता है; ऐसे जीवोका तीसरा प्रकार है।

इस तरह ज्ञानी पुरुषने तीन प्रकारका जीव-समूह देखा है। प्रायः प्रथम प्रकारमे स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदिकी प्राप्ति-अप्राप्तिके प्रकारमे तदाकार-परिणामी जैसे भासित होनेवाले जीवोका समावेश होता है। भिन्न-भिन्न धर्मोंकी नामक्रिया करनेवाले जीव, अथवा स्वच्छद-परिणामी परमार्थमार्गपर चलते है ऐसी बुद्धि रखनेवाले जीवोंका दूसरे प्रकारमे समावेश होता है। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदिकी प्राप्ति-अप्राप्ति इत्यादि भावमे जिन्हे वैराग्य उत्पन्न हुआ है अथवा हुआ करता है; जिनका स्वच्छंद-परिणाम गलित हुआ है, और जो ऐसे भावके विचारमे निरन्तर रहते है, ऐसे जीवोका समावेश तीसरे प्रकारमे होता है। जिस प्रकारसे तीसरा प्रकार सिद्ध हो ऐसा विचार है। जो विचारवान है उसे यथाबुद्धिसे, सद्ग्रन्थसे और सत्संगसे वह विचार प्राप्त होता है, और अनुक्रमसे दोषरहित स्वरूप उसमें उत्पन्न होता है। यह बात पुनः पुन साते जागते और भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार करने, स्मरण करने योग्य है।

---

२६३ राळज, भादों सुदी ८, शुक्र, १९४७

वियोगसे हुए दुःखके सम्बन्धमे आपका एक पत्र चारेक दिन पहले प्राप्त हुआ था। उसमे प्रदर्शित इच्छाके विषयमे थोड़े शब्दोमें बताने जितना समय है, वह यह है कि आपको जैसी ज्ञानकी अभिलाषा है वैसी भक्तिकी नही है। प्रेमरूप भक्तिके बिना ज्ञान शन्य ही है; तो फिर उसे प्राप्त करके क्या करना है ? जो रुका है वह योग्यताकी न्यूनताके कारण है, और आप ज्ञानीकी अपेक्षा ज्ञानमे अधिक प्रेम रखते हैं उसके कारण है। ज्ञानीसे ज्ञानकी इच्छा रखनेकी अपेक्षा बोधस्वरूप समझकर भक्ति चाहना परम फल है। अधिक क्या कहे ?

मन, वचन और कायासे आपके प्रति कोई भी दोष हुआ हो, तो दीनतापूर्वक क्षमा माँगता हूँ।

ईश्वर जिसपर कृपा करता है उसे कलियुगमें उस पदार्थकी प्राप्ति होतो है। महा विकट है। कल यहाँसे रवाना होकर ववाणियाकी ओर जाना सोचा है।

---

२६४ राळज, भादों सुदी ८, १९४७

(दोहे)

*हे प्रभु! हे प्रभु! शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ।
हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ॥ १॥

शुद्ध भाव मुजमां नथी, नथी सर्व तुजरूप।
नथी लघुता के दीनता, शुं कहुं परमस्वरूप ?॥ २॥

नथी आज्ञा गुरुदेवनी, अचळ करी उरमांहीं।
आप तणो विश्वास दृढ, ने परमादर नाहीं॥ ३॥

जोग नथी सत्संगनो, नथी सत्सेवा जोग।
केवळ अर्पणता नथी, नथी आश्रय अनुयोग॥ ४॥

'हुं पामर शुं करी शकुं ?' एवो नथी विवेक।
चरण शरण धीरज नथी, मरण सुधीनी छेक॥ ५॥

अचिंत्य तुज माहात्म्यनो, नथी प्रफुल्लित भाव।
अंश न एके स्नेहनो, न मळे परम प्रभाव॥ ६॥

अचळरूप आसक्ति नहि, नहीं विरहनो ताप।
कथा अलभ तुज प्रेमनी, नहि तेनो परिताप॥ ७॥

भक्तिमार्ग प्रवेश नहि, नहीं भजन दृढ भान।
समज नहीं निज धर्मनी, नहि शुभ देशे स्थान॥ ८॥

---

*भावार्थ—हे प्रभु! हे दयालु दीनानाथ! क्या कहूँ? हे करुणानिधि! मैं तो अनंत दोषोका भाजन हूँ॥ १॥

मुझमें शुद्ध भाव नही है। मुझे सबमें तेरे रूपका दर्शन नही होता। न तो मुझमे लघुता है और न ही दीनता है। हे सहजात्मस्वरूप परमात्मा! मैं अपनी अपात्रताका क्या वर्णन करूँ?॥२॥

मैंने गुरुदेवकी आज्ञाको अपने हृदयमें दृढ नही किया है। मुझमें न तो आपके प्रति दृढ विश्वास है और न ही परम आदर है॥ ३॥

मुझे न तो सत्सगका योग प्राप्त है और न ही सत्सेवाका। फिर मुझमें सर्वथा समर्पणकी भावना भी नही है, और मुझे द्रव्यानुयोग आदि शास्त्रोका आश्रय भी प्राप्त नही है॥ ४॥

'मै कर्मबद्ध पामर क्या कर सकता हूँ?' ऐसा विवेक मुझमें नही है। और मुझमे ठेठ मरणपर्यंत आपके चरणोकी शरणका धैर्य नही है॥ ५॥

आपका माहात्म्य अचिंत्य एव अद्भुत है, परन्तु उसके लिये मुझमें कोई उल्लास नही है। उसके प्रति अनन्य प्रेमका एक अश भी मुझमे नही है। इसीलिये उसके परम प्रभावसे वंचित रहा हूँ॥ ६॥

आपमें मेरी निश्चल आसक्ति नही है, और आपके विरहका संताप एवं खेद नही है। आपके निष्कारण प्रेमकी गुणगाथाका श्रवण अत्यन्त दुर्लभ हो गया है, इसका सताप तथा खेद नही रहता॥ ७॥

मेरा भक्तिमार्गमें प्रवेश नही है, और मुझे भजनकीर्तनका दृढ भान नही है। मैं निजधर्म अर्थात् आत्मस्वभावको नहीं समझता हूँ, और शुभ देशमें मेरा स्थान नही है॥ ८॥

काळदोष कळिथी थयो, नहि मर्यादाधर्म।
तोय नहीं व्याकुळता, जुओ प्रभु मुज कर्म॥ ९॥

सेवाने प्रतिकूळ जे, ते बंधन नथी त्याग।
देहेन्द्रिय माने नहीं, करे बाह्य पर राग॥ १०॥

तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन नयन यम नाहीं।
नहि उदास अनभक्तथी, तेम गृहादिक मांहीं॥ ११॥

अहंभावथी रहित नहि, स्वधर्म संचय नाहीं।
नथी निवृत्ति निर्मळपणे, अन्य धर्मनी कांई॥ १२॥

एम अनन्त प्रकारथी, साधन रहित हुंय।
नहीं एक सद्गुण पण, मुख बतावुं शुंय?॥ १३॥

केवळ करुणामूर्त्ति छो, दीनबन्धु दीननाथ।
पापी परम अनाथ छुं, ग्रहो प्रभुजी हाथ॥ १४॥

अनन्त काळथी आथडयो, विना भान भगवान।
सेव्या नहि गुरु सन्तने, मूक्युं नहि अभिमान॥ १५॥

सन्त चरण आश्रय विना, साधन कर्यां अनेक।
पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक॥ १६॥

सहु साधन बन्धन थयां, रह्यो न कोई उपाय।
सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय?॥ १७॥

कलिकालसे काल दूषित हो गया है, और मर्यादाधर्म अर्थात् आज्ञा-आराधनरूप धर्म नही रहा है। फिर भी मुझमे व्याकुलता नही है। हे प्रभु! मेरे कर्मकी बहुलता तो देखे॥ ९॥

सत्सेवाके प्रतिकूल जो बधन हैं उनका मैंने त्याग नही किया है। देह और इन्द्रियाँ मेरे वशमे नही हैं, और वे बाह्य वस्तुओमे राग करती रहती हैं॥ १०॥

तेरे वियोगका दुःख अखरता नही है, वाणी और नेत्रोका सयम नही है अर्थात् वे भौतिक विषयोमे अनुरक्त है। हे प्रभु! आपके जो भक्त नही है उनके प्रति और गृहादि सासारिक बन्धनोंके प्रति मै उदासीन नही हूँ॥ ११॥

मै अहंभावसे मुक्त नही हुआ हूँ, इसलिये स्वभावरूप निजधर्मका सचय नही कर पाया हूँ, और मैं निर्मल भावसे परभावरूप अन्य धर्मसे निवृत्त नही हुआ हूँ॥ १२॥

इस तरह मैं अनत प्रकारसे साधन रहित हूँ। मुझमे एक भी सद्गुण नही है। इसलिये हे प्रभु! मैं अपना मुँह आपको क्या बताऊँ?॥ १३॥

हे प्रभु! आप तो दीनबधु और दीननाथ हैं, तथा केवल करुणामूर्ति है; और मै परम पापी एव अनाथ हूँ, आप मेरा हाथ पकडें और उद्धार करें॥ १४॥

हे भगवन्! मैं आत्मभानके बिना अनतकालसे भटक रहा हूँ। मैंने आत्मज्ञानी संतको सद्गुरु मानकर निष्ठा-पूर्वक उसकी उपासना नही की है और अभिमानका त्याग नही किया है॥ १५॥

मैंने सतके चरणोके आश्रयके बिना साधन तो अनेक किये हैं, परन्तु सदसत् तथा हेयोपादेयके विवेकके अश मात्रका भी उदय नही हुआ, जिससे विषम एवं अनत संसार परिभ्रमणका अत नही हुआ है॥ १६॥

हे प्रभु! सभी साधन तो बंधन हो गये है, और कोई उपाय शेष नही रहा है। जब मैं सत् साधनको ही न समझ पाया तो फिर मेरा बधन कैसे दूर होगा?॥ १७॥

प्रभु प्रभु लय लागी नहीं, पड्यो न सद्गुरु पाय।
दीठा नहि निज दोष तो, तरीए कोण उपाय ? ॥ १८॥

अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुंय।
ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय ? ॥ १९॥

पडी पडी तुज पदपंकजे, फरी फरी मागुं ए ज।
सद्गुरु सन्त स्वरूप तुज, ए दृढ़ता करी दे ज ॥ २०॥

---

२६५ राळज, भादों सुदी ८, १९४७

ॐ सत्

(तोटक छंद)

† यमनियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो।
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥ १ ॥

मन पौन निरोध स्वबोध कियो, हठजोग प्रयोग सु तार भयो।
जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे, उरसेंहि उदासी लही सबपें ॥ २ ॥

सब शास्त्रनके नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये।
वह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो ॥ ३ ॥

अब क्यौं न बिचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधनसें ?।
बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे, मुख आगल हैं कह बात कहे ? ॥ ४ ॥

करुना हम पावत हे तुमकी, वह बात रही सुगुरु गमकी।
पलमें प्रगटे मुख आगलसें, जब सद्गुरुचर्न सुप्रेम बसें ॥ ५ ॥

तनसें, मनसें, धनसें, सबसें, गुरुदेवकी आन स्वआत्म बसें।
तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेम घनो ॥ ६ ॥

वह सत्य सुधा दरशावहिंगे, चतुरांगुल हे दृगसे मिलहे।
रस देव निरंजन को पिवही, गहि जोग जुगोजुग सो जीवही ॥ ७ ॥

पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसें, सब आगमभेद सुउर बसें।
वह केवलको बीज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाई दिये ॥ ८ ॥

हे प्रभु ! मुझे तेरी ही लगन नही लगी, मैने सद्गुरुके चरणकी शरण नही ली, और अभिमान आदि अपने दोष मुझे दिखायी नही दिये, तो फिर मै किस उपायसे ससारसागरको पार कर सकूँगा ? ॥ १८ ॥

मैं ही समस्त जगतमे अधमाधम और महा पतित हूँ, यह निश्चय हुए बिना साधन किस तरह सफल होंगे ? ॥ १९ ॥

हे भगवन् ! तेरे चरणकमलमें बारबार गिर-गिरकर यही माँगता हूँ कि सद्गुरु एव संत तेरा ही स्वरूप है और परमार्थसे वही मेरा स्वरूप हैं, ऐसा दृढ विश्वास मुझमे उत्पन्न कर दे ॥ २० ॥

† इसका विशेषार्थ 'नित्यनियमादि पाठ (भावार्थ सहित)' में देखें।

२६६ राळज, भाद्रपद सुदी ८, १९४७

(दोहे)

*(१) जड भावे जड परिणमे, चेतन चेतन भाव।
कोई कोई पलटे नहीं, छोडी आप स्वभाव ॥ १ ॥

जड ते जड त्रण काळमां, चेतन चेतन तेम।
प्रगट अनुभवरूप छे, संशय तेमां केम ? ॥ २ ॥

जो जड छे त्रण काळमां, चेतन चेतन होय।
बन्ध मोक्ष तो नहि घटे, निवृत्ति प्रवृत्ति न्होय ॥ ३ ॥

बंध मोक्ष संयोगथी, ज्यां लग आत्म अभान।
पण नहि त्याग स्वभावनो, भाखे जिन भगवान ॥ ४ ॥

वर्ते बंध प्रसंगमां, ते निज पद अज्ञान।
पण जडता नहि आत्मने, ए सिद्धान्त प्रमाण ॥ ५ ॥

ग्रहे अरूपी रूपीने, ए अचरजनी वात।
जीव बंधन जाणे नहीं, केवो जिन सिद्धान्त ॥ ६ ॥

प्रथम देह दृष्टि हती, तेथी भास्यो देह।
हवे दृष्टि थई आत्ममां, गयो देहथी नेह ॥ ७ ॥

जड चेतन संयोग आ, खाण अनादि अनन्त।
कोई न कर्ता तेहनो, भाखे जिन भगवन्त ॥ ८ ॥

---

*(१) भावार्थ—जडका परिणमन जडरूपसे होता है और चेतनका चेतनरूपसे, परन्तु दोनोमेसे कोई भी अपने स्वभावको छोडकर अन्यरूपसे परिणमित नही होता ॥ १ ॥

जड तीनों कालमें जड ही रहता है और इसी तरह चेतन तीनो कालमे चेतन ही रहता है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभवकी है, इसमे संशय करनेकी जरूरत ही नहीं है ॥ २ ॥

यदि जड तीनो कालमे जड रहता है और चेतन चेतन रहता है, तो फिर बध-मोक्ष आदि अवस्था घटित नही होती अथवा प्रवृत्ति या निवृत्तिका सभव नही है ॥ ३ ॥

जब तक आत्माको अपने स्वरूपका ज्ञान नही है तब तक रागद्वेषादि विभावसे जड़ कर्मपरमाणुओको सयोग-सम्बन्धसे ग्रहण करता है और अज्ञान एव विभावके दूर हो जानेसे वह कर्ममुक्त हो जाता है। परन्तु दोनों अपने स्वभावको नही छोड़ते, ऐसा जिन भगवानका कथन है ॥ ४ ॥

जीव अपने मूलस्वरूपको न जाननेसे कर्मबन्ध अवस्थामे रहता है। परन्तु इससे आत्मा जडताको प्राप्त नही होता अर्थात् चेतन कभी जड़ नही हो जाता, यह सिद्धात प्रमाण एव न्यायसे युक्त है ॥ ५ ॥

यह कितने आश्चर्यकी बात है कि अरूपी जीव रूपी जड परमाणुओको कर्मरूपसे ग्रहण करता है और उनसे बद्ध होता है। परन्तु जीव स्वय अपने कर्मबन्धनको नही जानता यह जिनेंद्रका कैसा अनुपम सिद्धात है ॥ ६ ॥

अनादिसे अपने स्वरूपकी अज्ञानताके कारण आत्मा देहात्मबुद्धिसे प्रवृत्ति करता आया है। किसी पूर्वके योगाभ्यास और गुरुगमसे अब आत्मामे दृष्टि हो गयी है, जिससे देहकी ममता एवं प्रीति चली गई है ॥ ७ ॥

इस विश्वमे जड़ और चेतन पदार्थ अनादि हैं और दोनोका सयोगसबंध भी अनादि अनत है। इनकी अवस्थाएँ बदलती है परंतु इनका कोई कर्ता-हर्ता नही है ऐसा जिन भगवानका कथन है ॥ ८ ॥

मूळ द्रव्य उत्पन्न नहि, नहीं नाश पण तेम।
अनुभवथी ते सिद्ध छे, भाखे जिनवर एम ॥ ९ ॥

होय तेहनो नाश नहि, नहीं तेह नहि होय।
एक समय ते सौ समय, भेद अवस्था जोय ॥ १० ॥

× × ×

(२) परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखधाम।
जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम ॥ १ ॥

---

२६७ राळज, भाद्रपद, १९४७

(हरिगीत)

★ जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभळो।

जो होय पूर्व भणेल नव पण, जीवने जाण्यो नहीं,
तो सर्व ते अज्ञान भाख्युं, साक्षी छे आगम अहीं।
ए पूर्व सर्व कह्यां विशेषे, जीव करवा निर्मळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ १ ॥

नहि ग्रंथमांही ज्ञान भाख्युं, ज्ञान नहि कविचातुरी,
नहि मंत्र तंत्रो ज्ञान दाख्यां, ज्ञान नहि भाषा ठरी।
नहि अन्य स्थाने ज्ञान भाख्युं, ज्ञान ज्ञानीमां कळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ २ ॥

आ जीव ने आ देह एवो, भेद जो भास्यो नहीं,
पचखाण कीधां त्यां सुधी, मोक्षार्थ ते भाख्यां नहीं।

इस विश्वमें जीव, पुद्गल आदि छः मूल द्रव्योंको किसीने उत्पन्न नहीं किया है—अनादिसे स्वयंसिद्ध हैं, और इनका कभी नाश भी नहीं होगा। यह सिद्धांत अनुभवसिद्ध है ऐसा जिन भगवानने कहा है ॥ ९ ॥

जिन द्रव्योंका अस्तित्व है उनका नाश कभी संभव नहीं है, और जो द्रव्य पदार्थ नहीं है, उसकी उत्पत्ति संभव नहीं है। जिस द्रव्यका अस्तित्व एक समयके लिये है उसका अस्तित्व सौ समय अर्थात् सदाके लिये है। परन्तु मात्र द्रव्यकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ बदलती रहती हैं और मूलतः उसका नाश कदापि नहीं होता ॥ १० ॥

(२) परम पुरुष सद्गुरु भगवान परम ज्ञान तथा सुखके धाम हैं। जिन्होंने इस पामरको अपने स्वरूपका भान करानेका परम अनुग्रह किया, उन करुणामूर्ति सद्गुरुको परम भक्तिसे प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

★ भावार्थ—जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे हे सर्व भव्यजनो! आप ध्यानपूर्वक सुनें।

यदि जीवने अपने आत्मस्वरूपको नहीं जाना, फिर चाहे उसने नव पूर्व जितना शास्त्राभ्यास किया हो तो उस सारे ज्ञानको आगममें अज्ञान ही कहा है अर्थात् आत्मतत्त्वके बोधके बिना समस्त शास्त्राभ्यास व्यर्थ ही है। भगवानने पूर्व आदिका ज्ञान विशेषतः इसलिये प्रकाशित किया है कि जीव अपने अज्ञान एवं रागद्वेषादिको दूर कर अपने निर्मल आत्मतत्त्वको प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाये। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे.... सुनें ॥ १ ॥

ज्ञानको किसी ग्रन्थमें नहीं बताया है, काव्यरचनारूप कविकी चतुराईमें भी ज्ञान नहीं है, अनेक प्रकारके मंत्र, तंत्र आदिकी साधना ज्ञान नहीं है, और भाषाज्ञान, वाक्पटुता, वक्तृत्व आदि भी ज्ञान नहीं हैं और किसी अन्य स्थानमें ज्ञान नहीं है। ज्ञानकी प्राप्ति तो ज्ञानीसे ही होती है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे.... सुनें ॥ २ ॥

ए पांचमे अंगे कह्यो, उपदेश केवळ निर्मळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ३ ॥

केवळ नहीं ब्रह्मचर्यथी, ...
केवळ नहीं संयम थकी, पण ज्ञान केवळथी कळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ४ ॥

शास्त्रो विशेष सहित पण जो, जाणियुं निजरूपने,
कां तेहवो आश्रय करजो, भावथी साचा मने;
तो ज्ञान तेने भाखियुं, जो सम्मति आदि स्थळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ५ ॥

आठ समिति जाणीए जो, ज्ञानीना परमार्थथी,
तो ज्ञान भाख्युं तेहने, अनुसार ते मोक्षार्थथी;
निज कल्पनाथी कोटि शास्त्रो, मात्र मननो आमळो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ६ ॥

चार वेद पुराण आदि शास्त्र सौ मिथ्यात्वनां,
श्रीनन्दीसूत्रे भाखियां छे, भेद ज्यां सिद्धान्तना;
पण ज्ञानीने ते ज्ञान भास्यां, ए ज ठेकाणे ठरो,
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ७ ॥

यह जीव है और यह देह है ऐसा भेदज्ञान यदि नही हुआ है अर्थात् जड देहसे भिन्न चैतन्यस्वरूप अपने आत्माका जब तक प्रत्यक्ष अनुभव नही हुआ है तब तक पच्चक्खाण या व्रत आदिका अनुष्ठान मोक्षसाधक नही होता। आत्मज्ञानके अनतर ही यथार्थ त्याग होता है और उससे मोक्षसिद्धि होती है। पाँचवें अंग श्री भगवतीसूत्रमें इस विषयका निर्मल बोध दिया है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे ...सुनें ॥ ३ ॥

पाँच महाव्रतोंमे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ व्रत है, परन्तु केवल उससे भी ज्ञान नही होता। उपलक्षणसे पाँच महाव्रतोंको धारणकर सर्व विरतिरूप सयम ग्रहण करनेसे भी ज्ञानकी प्राप्ति नही हो सकती। देहादिसे भिन्न केवल शुद्ध आत्माके ज्ञानको ही भगवानने सम्यग्ज्ञान कहा है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे सुनें ॥ ४ ॥

शास्त्रोके विशिष्ट एवं विस्तृत ज्ञानसहित जिसने अपने स्वरूपको जान लिया है, अनुभव किया है वह साक्षात् ज्ञानी है और उसका ज्ञान यथार्थ सम्यग्ज्ञान है। और वैसा अनुभव जिसे नही हुआ है परन्तु जिसे उसकी तीव्र इच्छा है और तदनुसार जो सच्चे मनसे मात्र आत्मार्थके लिये अनन्य प्रेमसे वैसे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेमे सलग्न रहता है वह भी शीघ्र ज्ञानप्राप्ति कर सकता है और उसका ज्ञान भी यथार्थ माना गया है। सन्मतितर्क आदि शास्त्रोंमें इस बातका प्रतिपादन किया है। ज्ञानीसे ही ज्ञानप्राप्ति होती है इसीको भगवानने ज्ञान कहा है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे सुनें ॥ ५ ॥

यदि आठ समिति (तीन गुप्ति और पाँच समिति) का रहस्य ज्ञानीसे समझा जाये तो वह मोक्षसाधक होनेसे ज्ञान कहा जाता है। परन्तु अपनी कल्पनासे करोड़ों शास्त्रोका ज्ञान भी बीजज्ञान किंवा स्वस्वरूपज्ञानरहित होनेसे अज्ञान ही है। और वह ज्ञान मात्र अहका सूचक एवं पोषक है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे....सुनें ॥ ६ ॥

श्री नदीसूत्रमे जहाँ सिद्धातके भेद बताये हैं वहाँ चार वेद तथा पुराण आदिको मिथ्यात्वके शास्त्र कहा है। किन्तु वे भी आत्मज्ञानीको सम्यग्दृष्टि होनेसे ज्ञानरूप प्रतीत होते हैं। इसलिये आत्मज्ञानीकी उपासना ही श्रेयस्कर है। जिनवर जिसे ज्ञान कहते हैं उसे....सुनें ॥ ७ ॥

व्रत नहीं पचखाण नहि, नहि त्याग वस्तु कोईनो,
महापद्म तीर्थंकर थशे, श्रेणिक ठाणंग जोई लो;
छेद्यो अनन्ता ....
 .... ॥ ८ ॥

---

२६८ राळज, भाद्रपद, १९४७

ॐ

(प्रश्न)		(उत्तर)
[1]फ्लदय झीश खादी इथ्रो ?	}	आत्रल नायदी (प्लीयथ् फुलुसोष्ययगांदी ।)
ओथे झीश झषे खा ?		झषे थ्रा ।
थेपे फयार खेय ?		हध्घुलुदी ।

---

[2]प्रथम जीव क्यांथी आव्यो ?	}	अक्षर धामथी (श्रीमत् पुरुषोत्तममांथी ।)
अन्ते जीव जशे क्यां ?		जशे त्यां ।
तेने पमाय केम ?		सद्गुरुथी ।

अन्तिम स्पष्टीकरण यह है कि अब इनमेंसे जो जो प्रश्न खडे हों उनका विचार करें तो उत्तर मिल जायेगा, अथवा हमे पूछ लें तो स्पष्टीकरण कर देंगे । (ईश्वरेच्छा होगी तो ।)

---

२६९ ववाणिया, भाद्रपद वदी ३, सोम, १९४७

ईश्वरेच्छा होगी तो प्रवृत्ति होगी, और उसे सुखदायक मान लेंगे; परन्तु मनमाने सत्संगके बिना कालक्षेप होना दुष्कर है। मोक्षकी अपेक्षा हमें संतकी चरणसमीपता बहुत प्रिय है, परन्तु उस हरिकी इच्छाके आगे हम दीन हैं । पुनः पुन· आपकी स्मृति होती है ।

---

२७० ववाणिया, भादों वदी ४, मंगल, १९४७

ॐ सत्

ज्ञान वही कि अभिप्राय एक ही हो; थोडा अथवा बहुत प्रकाश, परन्तु प्रकाश एक ही है ।
शास्त्रादिके ज्ञानसे निबटारा नही है परन्तु अनुभव ज्ञानसे निबटारा है ।

श्रेणिक महाराजने अनाथी मुनिसे समकित प्राप्त किया । तथारूप पूर्व प्रारब्धसे वे थोडा भी व्रत पच्चक्खाण या त्याग न कर सके । फिर भी उस समकितके प्रतापसे वे आगामी चौबीसीमें महापद्म नामक प्रथम तीर्थंकर होकर अनेक जीवोका उद्धार करके परमपद मोक्षको प्राप्त करेंगे, ऐसा स्थानागसूत्रमे उल्लेख है। छेदन किया अनंत ··॥८॥

१. यहाँ प्रश्न और उत्तर दोनो दिये हैं । पहला शब्द 'फ्लदय' है, जिसका मूल 'प्रथम' शब्द है । इस प्रथम शब्दसे फ्लदय इस तरह बनता है—मूल व्यञ्जन अक्षरोके पीछेका एक-एक अक्षर लिया जाये । जैसे प् के पीछे फ्, र् के पीछे ल्, थ् के पीछे द्, म् के पीछे य् ले । इस तरह अक्षर लेनेसे 'प्रथम' से 'फ्लदय' बन जाता है । इसी तरह दूसरे शब्द भी बन जाते है । —अनुवादक

२. पहले जीव कहाँसे आया ?	}	अक्षर धामसे (श्रीमत् पुरुषोत्तममेंसे ।)
अन्तमें जीव कहाँ जायेगा ?		वहाँ जायेगा ।
उसे कैसे पाया जाये ?		सद्गुरुसे ।

२७१ ववाणिया, भादों वदी ४, मंगल, १९४७

ॐ सत्

श्रीमान् पुरुषोत्तमकी अनन्य भक्तिको अविच्छिन्न चाहता हूँ

ऐसा एक ही पदार्थ परिचय करने योग्य है कि जिससे अनंत प्रकारका परिचय निवृत्त होता है; वह कौनसा है ? और किस प्रकारसे है ? इसका विचार मुमुक्षु करते हैं। लि० सत्मे अभेद।

---

२७२ ववाणिया, भादो वदी ४, मंगल, १९४७

जिस महापुरुषका चाहे जैसा आचरण भी वन्दनीय ही है; ऐसे महात्माके प्राप्त होनेपर यदि उसकी प्रवृत्ति ऐसी प्रतीत होती हो कि जो निःसंदेहरूपसे की ही नही जा सकती, तो मुमुक्षु कैसी दृष्टि रखे, यह बात समझने योग्य है। लि० अप्रगट सत्।

---

२७३ ववाणिया, भादो वदी ५, बुध, १९४७

आपने विवरण लिखा सो मालूम हुआ। धैर्य रखना और हरीच्छाको सुखदायक मानना, इतना ही हमारे लिये तो कर्तव्यरूप है।

कलियुगमे अपार कष्टसे सत्पुरुषकी पहचान होनी है। और फिर कंचन और कामिनीका मोह ऐसा है कि उसमे परम प्रेम नही होने देता। पहचान होनेपर निश्चलतासे न रह सके ऐसी जीवकी वृत्ति है, और यह कलियुग है, इसमे जो दुविधामे नही पड़ता उसे नमस्कार है।

---

२७४ ववाणिया, भादों वदी ५, बुध, १९४७

'सत्' अभी तो केवल अप्रगट रहा दीखता है। भिन्न भिन्न चेष्टासे (योगादिक साधन, आत्माका ध्यान, अध्यात्मचिंतन, शुष्क वेदात इत्यादिसे) वह अभी प्रगट जैसा माना जाता है, परन्तु वह वैसा नहीं है।

जिनेद्र भगवानका सिद्धात है कि जड किसी समय जीव नही होता, और जीव किसी समय जड नहीं होता। इसी तरह 'सत्' कभी 'सत्' के सिवाय दूसरे किसी साधनसे उत्पन्न हो ही नही सकता। ऐसी प्रत्यक्ष समझमे आने जैसी बातमे उलझकर जीव अपनी कल्पनासे 'सत्' करनेको कहता है, 'सत्' का प्ररूपण करता है, 'सत्' का उपदेश देता है, यह आश्चर्य है।

जगतमे अच्छा दिखानेके लिये मुमुक्षु कोई आचरण न करे, परन्तु जो अच्छा हो उसीका आचरण करे।

---

२७५ ववाणिया, भादो वदी ५, बुध, १९४७

आज आपका एक पत्र मिला। उसे पढकर सर्वात्माका चिन्तन अधिक याद आया है। हमारे लिये सत्संगका वारवार वियोग रखनेकी हरिकी इच्छा सुखदायक कैसे मानी जाये ? तथापि माननी पड़ती है।

·······को दासत्वभावसे वंदन करता हूँ। यदि इनकी इच्छा 'सत्' प्राप्त करनेकी तीव्र रहती हो तो भी सत्संगके बिना उस तीव्रताका फलदायक होना दुष्कर है। हमे तो कोई स्वार्थ नही है, इसलिये यह कहना योग्य है कि वे प्रायः 'सत्' से सर्वथा बिमुख मार्गमें प्रवृत्ति करते है।

जो वैसे प्रवृत्ति नही करते वे अभी तो अप्रगट रहना चाहते हैं। आश्चर्यकारक तो यह है कि कलिकालने थोडे समयमे परमार्थको घेरकर अनर्थको परमार्थ बना दिया है।

---

२७६ ववाणिया, भादो वदी ७, १९४७

सविस्तर पत्र और धर्मजवाला पत्र प्राप्त हुआ।

अभी चित्त परम उदासीनतामे रहता है। लिखने आदिमे प्रवृत्ति नही होती। जिससे आपको विशेष विस्तारसे कुछ लिखा नही जा सकता है। धर्मज लिखना कि आपसे मिलनेके लिये मै (अर्थात् अंबालाल) उत्कंठित हूँ। आप जैसे पुरुषके सत्सगमे आनेके लिये मुझे किसी श्रेष्ठ पुरुषकी आज्ञा है। इसलिय यथासंभव दर्शन करनेके लिये आऊँगा। ऐसा होनेमे कदाचित् किसी कारणसे विलम्ब हुआ तो भी आपका सत्संग करनेकी मेरी इच्छा मद नही होगी। इस आशयसे लिखियेगा। अभी किसी भी प्रकारसे उदासीन रहना योग्य नही है।

हमारे विषयमे अभी कोई भी बात उन्हे नही लिखनी है।

---

२७७ ववाणिया, भादों वदी ७, १९४७

चित्त उदास रहता है, कुछ अच्छा नही लगता, और जो कुछ अच्छा नही लगता वही सब दिखायी देता है, वही सुनायी देता है। तो अब क्या करे? मन किसी कार्यमे प्रवृत्ति नही कर सकता। जिससे प्रत्येक कार्य स्थगित करना पडता है। कुछ पढने, लिखने या जनपरिचयमे रुचि नही होती। प्रचलित मतके प्रकारकी बात सुनायी पडती है कि हृदयमे मृत्युसे अधिक वेदना होती है। इस स्थितिको या तो आप जानते हैं या स्थिति भोगनेवाला जानता है, और हरि जानता है।

---

२७८ ववाणिया, भादो वदी १०, रवि, १९४७

"जो आत्मामे रमण कर रहे है, ऐसे निर्ग्रंथ मुनि भी निष्कारण भगवानकी भक्तिमे प्रवृत्ति करते है, क्योंकि भगवानके गुण ऐसे ही है।"

—श्रीमद्भागवत,[1] स्कन्ध १, अ० ७, श्लोक १०

---

२७९ ववाणिया, भादों वदी ११, सोम, १९४७

जीवको जब तक सतका योग न हो, तब तक मतमतातरमे मध्यस्थ रहना योग्य है।

---

२८० ववाणिया, भादो वदी १२, मगल, १९४७

बताने जैसा तो मन है, कि जो सत्स्वरूपमे अखड स्थिर हुआ है (नाग जैसे बासुरीपर), तथापि उस दशाका वर्णन करनेको सत्ता सर्वाधार हरिने वाणीमे पूर्णरूपसे नही दी है, और लेखमे तो उस वाणीका अनंतवाँ भाग मुश्किलसे आ सकता है, ऐसी वह दशा उस सबके कारणभूत पुरुषोत्तमस्वरूपमे हमारी, आपकी अनन्य प्रेमभक्ति अखड रहे, वह प्रेमभक्ति परिपूर्ण प्राप्त हो, यही प्रयाचना चाहकर अभी अधिक नही लिखता।

---

१. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकी भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥ स्कंध १, अ० ७, श्लोक १०

२८१ ववाणिया, भादों वदी १३, बुध, १९४७

कलियुग है इसलिये अधिक समय उपजीविकाका वियोग रहनेसे यथायोग्य वृत्ति पूर्वापर नही रहती।

वि० रायचंदके यथायोग्य।

---

२८२ ववाणिया, भादों वदी १४, गुरु, १९४७

परम विश्राम सुभाग्य,

पत्र मिला। यहाँ भक्तिसम्बन्धी विह्वलता रहा करती है और वैसा करनेमे हरीच्छा सुखदायक ही मानता हूँ।

महात्मा व्यासजीको जैसा हुआ था, वैसा हमे आजकल हो रहा है। आत्मदर्शन प्राप्त करनेपर भी व्यासजी आनन्दसपन्न नही हुए थे, क्योकि उन्होने हरिरस अखंडरूपसे नही गाया था। हमारी भी ऐसी ही दशा है। अखड हरिरसका परम प्रेमसे अखण्ड अनुभव करना अभी कहाँसे आये? और जब तक ऐसा नही होगा तब तक हमे जगतकी वस्तुका एक अणु भी अच्छा नही लगेगा।

भगवान व्यासजी जिस युगमे थे, वह युग दूसरा था, यह कलियुग है। इसमे हरिस्वरूप, हरिनाम और हरिजन दृष्टिमे नही आते, श्रवणमे भी नही आते, और इन तीनोंमेसे किसीकी स्मृति हो ऐसी कोई भी वस्तु भी दिखायी नही देती। सभी साधन कलियुगमे घिर गये है। प्राय सभी जीव उन्मार्गमे प्रवृत्त हैं, अथवा सन्मार्गके सन्मुख प्रवर्तते हुए दिखायी नही देते। क्वचित् मुमुक्षु हैं, परन्तु वे अभी मार्गके निकट नही हैं।

निष्कपटता भी मनुष्योमेसे चली गयी लगती है। सन्मार्गका एक अंश और उसका शतांश भी किसीमे भी दृष्टिगोचर नही होता, केवलज्ञानके मार्गका तो सर्वथा विसर्जन हो गया है। कौन जाने हरिकी इच्छा भी क्या है? ऐसा विकट काल तो अभी ही देखा। सर्वथा मन्द पुण्यवाले प्राणी देखकर परम अनुकम्पा आती है। हमे सत्संगकी न्यूनताके कारण कुछ भी अच्छा नही लगता। अनेक बार थोडा थोडा कहा गया है, तथापि स्पष्ट शब्दोमे कहा जानेसे स्मृतिमे अधिक रहे इसलिये कहते है कि किसीसे अर्थ-सम्बन्ध और कामसम्बन्ध तो बहुत समयसे अच्छे ही नही लगते। आजकल धर्मसबंध और मोक्षसंबंध भी अच्छे नही लगते। धर्मसबध और मोक्षसंबंध तो प्राय योगियोको भी अच्छे लगते है, और हम तो उनसे भी विरक्त रहना चाहते है। अभी तो हमे कुछ अच्छा नही लगता, और जो कुछ अच्छा लगता है, उसका अतिशय वियोग है। अधिक क्या लिखें? सहन करना ही सुगम है।

---

२८३ ववाणिया, भादो वदी ३०, शुक्र, १९४७

परम पूज्य श्री सुभाग्य,

यहाँ हरीच्छानुसार प्रवृत्ति है।

भगवान मुक्ति देनेमे कृपण नही है, परन्तु भक्ति देनेमे कृपण है, ऐसा लगता है। भगवानको ऐसा लोभ किसलिये होगा?

वि० रायचंदके प्रणाम।

---

२८४ ववाणिया, आसोज सुदी ६, गुरु, १९४७

१. परसमयको जाने बिना स्वसमयको जाना है ऐसा नही कहा जा सकता।

२. परद्रव्यको जाने बिना स्वद्रव्यको जाना है ऐसा नही कहा जा सकता।

३. सन्मतितर्कमें श्री सिद्धसेन दिवाकरने कहा है कि [1]जितने वचनमार्ग है उतने नयवाद हैं; और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

४. अक्षय भगत कविने कहा है—

*'कर्ता मटे तो छूटे कर्म, ए छे महा भजननो मर्म,
जो तुं जीव तो कर्त्ता हरि, जो तुं शिव तो वस्तु खरी,
तुं छो जीव ने तुं छो नाथ, एम कही अखे झटक्या हाथ ॥'

---

२८५ ववाणिया, आसोज सुदी ७, शुक्र, १९४७

ॐ

अपनेसे अपनेको अपूर्व प्राप्त होना दुष्कर है; जिससे प्राप्त होता है, उसका स्वरूप पहचाना जाना दुष्कर है, और जीवका भुलावा भी यही है।

इस पत्रमे लिखे हुए प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमे निम्नलिखित है—

१, २, ३, ये तीनों प्रश्न स्मृतिमे होंगे। इनमे यों बताया गया है कि—"(१) ठाणागमे जो आठ वादियोके वाद कहे हैं उनमेसे आपको और हमे किस वादमे दाखिल होना? (२) इन आठ वादोसे कोई भिन्न मार्ग अपनाने योग्य हो तो उसे जाननेकी आकाक्षा है। (३) अथवा आठो वादियोके मार्गका एकीकरण करना ही मार्ग है या किस तरह? अथवा उन आठ वादियोके एकीकरणमे कुछ न्यूनाधिकता करके मार्ग ग्रहण करने योग्य है? और है तो क्या?"

ऐसा लिखा है, इस विषयमे कहना है कि इन आठ वादके अतिरिक्त अन्य दर्शनोमे, सम्प्रदायोमे—मार्ग कुछ (अन्वित) जुड़ा हुआ रहता है, नही तो प्रायः भिन्न ही (व्यतिरिक्त) रहता है। वह वाद, दर्शन, सम्प्रदाय ये सब किसी तरह प्राप्तिमे कारणरूप होते है, परन्तु सम्यग्ज्ञानीके बिना दूसरे जीवोके लिये तो बन्धन भी होते है। जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है उसे इन सबका साधारण ज्ञान करना, पढ़ना और विचार करना, तथा बाकीमे मध्यस्थ रहना योग्य है। साधारण ज्ञानका अर्थ यहाँ यह समझे कि सभी शास्त्रोमे वर्णन करते हुए जिस ज्ञानमे अधिक भिन्नता न आयी हो वह।

'तीर्थंकर आकर गर्भमे उत्पन्न हो अथवा जन्म ले तब या उसके बाद देवता जाने कि यह तीर्थंकर है? और जाने तो किस तरह?' इसका उत्तर यह है कि जिन्हे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है वे देवता 'अवधिज्ञानसे' तीर्थंकरको जानते है, सभी नही जानते। जिन प्रकृतियोके नाशसे 'जन्मतः' तीर्थंकर अवधिज्ञान-संयुक्त होते है वे प्रकृतियाँ उनमे दिखायी न देनेसे वे सम्यग्ज्ञानी देवता तीर्थंकरको पहचान सकते है। यही विज्ञापन है।

मुमुक्षुताके सन्मुख होनेके इच्छुक आप दोनोको यथायोग्य प्रणाम करता हूँ।

प्रायः परमार्थ मौनमे रहनेकी स्थिति अभी उदयमे है और इसी कारण तदनुसार प्रवृत्ति करनेमे काल व्यतीत होता है, और इसी कारणसे आपके प्रश्नोंके उत्तर ऊपर संक्षेपमे दिये है।

शातमूर्ति सौभाग्य अभी मोरबीमे है।

---

१. तृतीय काण्ड, गाथा ४७

***भावार्थ**—कर्तृत्वभाव मिट जाये तो कर्म छूट जाये, यह महा भक्तिका मर्म है। यदि तू जीव है तो हरि कर्त्ता है, और यदि तू शिव है तो वस्तु-तत्त्व-परमसत् सत्य है। तू जीव है और तू नाथ है अर्थात् द्वैत न होकर अद्वैत है। यों कहकर अक्षय भगतने अपने हाथ झाड दिये ॥

२८६ ववाणिया, आसोज सुदी, १९४७

ॐ सत्

"हम परदेशी पंखी साधु, आ रे देशके नाहीं रे।"

परम पूज्य श्री सुभाग्य,

एक प्रश्नके सिवाय बाकीके प्रश्नोका उत्तर जान बूझकर नही लिख सका।

'काल' क्या खाता है ? इसका उत्तर तीन प्रकारसे लिखता हूँ—

सामान्य उपदेशमे काल क्या खाता है इसका उत्तर यह है कि 'वह प्राणीमात्रकी आयु खाता है।'

व्यवहारनयसे काल 'पुराना' खाता है।

निश्चयनयसे काल मात्र पदार्थका रूपातर करता है, पर्यायातर करता है।

अन्तिम दो उत्तर अधिक विचार करनेसे मेल खा सकेंगे। "व्यवहारनयसे काल 'पुराना' खाता है" ऐसा जो लिखा है उसे फिर नीचे विशेष स्पष्ट किया है—

"काल 'पुराना' खाता है"—'पुराना' अर्थात् क्या ? जो वस्तु एक समयमे उत्पन्न होकर दूसरे समयमे रहती है वह वस्तु पुरानी मानी जाती है। (ज्ञानीकी अपेक्षासे) उस वस्तुको तीसरे समयमें, चौथे समयमे, यो संख्यात, असख्यात समयमे, अनन्त समयमे काल बदलता ही रहता है। दूसरे समयमें वह जैसी होती है, वैसी तीसरे समयमे नही होती, अर्थात् यह कि दूसरे समयमे पदार्थका जो स्वरूप था उसे खाकर तीसरे समयमे कालने पदार्थको दूसरा रूप दिया, अर्थात् पुराना वह खा गया। पहले समयमे पदार्थ उत्पन्न हुआ और उसी समय काल उसे खा जाये यो व्यवहारनयसे नही हो सकता। पहले समयमे पदार्थका नयापन माना जाता है, परन्तु उस समय काल उसे खा नही जाता, दूसरे समयमे उसे बदलता है, इसलिये पुरानेपनको वह खाता है, ऐसा कहा है।

निश्चयनयसे पदार्थ मात्र रूपातरको ही प्राप्त होता है, कोई भी 'पदार्थ' किसी भी कालमे सर्वथा नाशको प्राप्त ही नही होता, ऐसा सिद्धात है; और यदि पदार्थ सर्वथा नाशको प्राप्त हो जाता, तो आज कुछ भी न होता। इसलिये काल खाता नहीं, परन्तु रूपातर करता है, ऐसा कहा है। तीन प्रकारके उत्तरोमे पहला उत्तर समझना 'सभीको' सुलभ है।

यहाँ भी दशाके प्रमाणमे बाह्य उपाधि विशेष है। आपने कितने ही व्यावहारिक (यद्यपि शास्त्र-सम्बन्धी) प्रश्न इस बार लिखे थे, परन्तु चित्त वैसा पढनेमे भी अभी पूरा नही रहता, इसलिये उत्तर किस तरह लिखा जा सके ?

---

२८७ ववाणिया, आसोज वदी १, रवि, १९४७

पूर्वापर अविरुद्ध भगवत्सम्बन्धी ज्ञानको प्रगट करनेके लिये जब तक उसकी इच्छा नहीं है, तब तक किसीसे अधिक प्रसंग करनेमे नही आता, इसे आप जानते है।

जब तक हम अपनेमे अभिन्नरूप हरिपदको नहीं मानते तब तक प्रगट मार्ग नही कहेंगे। आप भी जो हमें जानते है, उनके सिवाय आप नाम, स्थान और गाँवसे हमे अधिक व्यक्तियोंसे परिचित न कीजियेगा।

एकसे अनन्त है, और जो अनन्त है वह एक है।

---

२८८ ववाणिया, आसोज वदी ५, १९४७

आदिपुरुष लीला शुरू करके बैठा है।

एक आत्मवृत्तिके सिवाय हमारे लिये नया पुराना तो कहाँ है ? और उसे लिखने जितना मनको अवकाश भी कहाँ है ? नही तो सब कुछ नया ही है, और सब कुछ पुराना ही है।

---

२८९ ववाणिया, आसोज वदी १०, सोम, १९४७

परमार्थके विषयमे मनुष्योंका पत्रव्यवहार अधिक रहता है; और हमें वह अनुकूल नही आता। जिससे बहुतसे उत्तर तो लिखनेमे ही नही आते, ऐसी हरीच्छा है, और हमे यह बात प्रिय भी है।

२९०

एक दशासे प्रवृत्ति है, और यह दशा अभी बहुत समय तक रहेगी। तब तक उदयानुसार प्रवर्तन योग्य माना है। इसलिये किसी भी प्रसगपर पत्रादिकी पहुँच मिलनेमे विलंब हो जाये अथवा न भेजी जाये, अथवा कुछ न लिखा जा सके तो वह शोचनीय नही है, ऐसा निश्चय करके यहाँका पत्रप्रसंग रखिये।

---

२९१ ववाणिया, आसोज वदी १२, गुरु, १९४७

ॐ

पूर्णकाम चित्तको नमोनमः

आत्मा ब्रह्मसमाधिमे है। मन वनमे है। एक दूसरेके आभाससे अनुक्रमसे देह कुछ क्रिया करती है, इस स्थितिमे सविस्तर और संतोषरूप आप दोनोके पत्रोका उत्तर कैसे लिखना, इसे आप कहें।

धर्मजके सविस्तर पत्रकी किसी-किसी बातके विषयमे सविस्तर लिखता, परन्तु चित्त लिखनेमे नही रहता, इसलिये लिखा नही है।

त्रिभुवनादिककी इच्छाके अनुसार आणदमे समागमका योग हो ऐसा करनेकी इच्छा है, और तब उस पत्रसम्बन्धी कुछ पूछना हो तो पूछिये।

धर्मजमे जिनका निवास है उन मुमुक्षुओकी दशा और प्रथा आपको स्मरणमे रखने योग्य है, अनुसरण करने योग्य है।

मगनलाल और त्रिभुवनके पिताजी कैसी प्रवृत्तिमे है, सो लिखें। यह पत्र लिखते हुए सूझनेसे लिखा है।

आप सब परमार्थ विषयक कैसी प्रवृत्तिमे रहते है, सो लिखियेगा।

आप हमारे वचनादिकी इच्छासे पत्रकी राह देखते होगे, परन्तु उपर्युक्त कारणोको पढकर ऐसा समझें कि आपने बहुतसे पत्र पढे हैं।

किसी एक न बताये हुए प्रसगके विषयमे सविस्तर पत्र लिखनेकी इच्छा थी, उसका भी निरोध करना पडा है। उस प्रसगको गाभीर्यवशात् इतने वर्ष तक हृदयमे ही रखा है। अब चाहते हैं कि उसे कहे, तथापि आपकी सत्संगतिका अवसर आनेपर कहे तो कहे। लिखना सम्भव नही लगता।

एक समय भी विरह न हो, इस तरह सत्सगमे ही रहना चाहते है। परन्तु यह तो हरीच्छावश है।

कलियुगमे सत्संगकी परम हानि हो गयी है। अधकार व्याप्त है। और सत्सगकी अपूर्वताका जीवको यथार्थ भान नहीं होता।

---

२९२ ववाणिया, आसोज वदी १२, १९४७

कुटुम्बादिक सगके विषयमे लिखा सो ठीक है, उसमे भी इस कालमें ऐसे संगमे जीवका समभावमे परिणमन होना महा विकट है, और जो इतना होते हुए भी समभावमे परिणमित होते है उन्हे हम निकटभवी जीव मानते है।

आजीविकाके प्रपंचके विषयमे वारंवार स्मृति न हो इसलिये नौकरी करनी पड़े, यह हितकारक

है। जीवको अपनी इच्छासे किये हुए दोषको तीव्रतासे भोगना पडता है, इसलिये चाहे जिस संग-प्रसंगमें भी स्वेच्छासे अशुभभावसे प्रवृत्ति न करनी पड़े ऐसा करे।

२९३ ववाणिया, आसोज वदी १३, शुक्र, १९४७

श्री सुभाग्य, स्वमूर्तिरूप श्री सुभाग्य,

हमे विरहकी वेदना अधिक रहती है, क्योंकि वीतरागता विशेष है; अन्य सगमे बहुत उदासीनता है, परन्तु हरीच्छाके अनुसार प्रसंगोपात्त विरहमे रहना पड़ता है; जिस इच्छाको सुखदायक मानते हैं, ऐसा नही है। भक्ति और सत्सगमे विरह रखनेकी इच्छाको सुखदायक माननेमे हमारा विचार नही रहता। श्री हरिकी अपेक्षा इस विषयमें हम अधिक स्वतंत्र है।

२९४ बंबई, १९४७

आर्त्तध्यान करनेकी अपेक्षा धर्मध्यानमे वृत्तिको लाना ही श्रेयस्कर है। और जिसके लिये आर्त्त-ध्यान करना पडता हो वहाँसे या तो मनको उठा लेना अथवा तो उस कृत्यको कर लेना, जिससे विरक्त हुआ जा सकेगा।

जीवके लिये स्वच्छंद बहुत बडा दोष है। यह जिसका दूर हो गया है उसे मार्गके क्रमकी प्राप्ति बहुत सुलभ है।

२९५ बंबई, १९४७

यदि चित्तकी स्थिरता हुई हो तो ऐसे समयमे सत्पुरुषोंके गुणोंका चिंतन, उनके वचनोंका मनन, उनके चारित्रका कथन, कीर्तन, और प्रत्येक चेष्टाका पुन. पुन· निदिध्यासन हो सकता हो तो मनका निग्रह अवश्य हो सकता है, और मनको जीतनेकी एकदम सच्ची कसौटी यह है। ऐसा होनेसे ध्यान क्या है यह समझमे आयेगा। परन्तु उदासीनभावसे चित्तस्थिरताके समय उसकी विशेषता मालूम पडेगी।

२९६ बंबई, १९४७

१. उदयको अबंध परिणामसे भोगा जाये तो ही उत्तम है।

२. दोके अतमे रही हुई जो वस्तु, वह छेदनेसे छेदी नही जाती, भेदनेसे भेदी नही जाती।[1]

—श्री आचारांग

२९७ बंबई, १९४७

आत्मार्थके लिये विचारमार्ग और भक्तिमार्ग आराधन करने योग्य है। परन्तु विचारमार्गके योग्य जिसकी सामर्थ्य नही है, उसे उस मार्गका उपदेश करना योग्य नही है, इत्यादि जो लिखा वह यथायोग्य है। तो भी उस विषयमे कुछ भी लिखना अभी चित्तमे नही आ सकता।

श्री नागजीस्वामी द्वारा केवलदर्शन सम्बन्धी प्रदर्शित जो आशंका लिखी है उसे पढा है। दूसरे अनेक प्रकार समझनेके बाद उस प्रकारकी आशका शात होती है अथवा प्राय: वह प्रकार समझने योग्य होता है। ऐसी आशंकाको अभी संक्षिप्त करके अथवा उपशात करके विशेष निकटवर्ती आत्मार्थका विचार करना योग्य है।

१. देखें आक ११८।

२५ वाँ वर्ष

२९८ ववाणिया, कार्तिक सुदी ४, गुरु, १९४८

काल विषम आ गया है। सत्संगका योग नही है, और वीतरागता विशेष है, इसलिये कही भी चैन नहीं है, अर्थात् मन विश्राति नही पाता। अनेक प्रकारकी विडंबना तो हमे नही है, तथापि निरंतर सत्संग नही है, यह बड़ी विडंबना है। लोकसग नही रुचता।

---

२९९ ववाणिया, कार्तिक सुदी ७ रवि, १९४८

चाहे जिस क्रिया, जप, तप अथवा शास्त्राध्ययन करके भी एक ही कार्य सिद्ध करना है, वह यह कि जगतकी विस्मृति करना और सत्के चरणमे रहना।

और इस एक ही लक्ष्यमे प्रवृत्ति करनेसे, जीवको स्वयं क्या करना योग्य है, और क्या करना अयोग्य है यह समझमे आता है, समझमे आता रहता है।

यह लक्ष्य सन्मुख हुए बिना जप, तप, ध्यान या दान किसीकी यथायोग्य सिद्धि नही है; और तब तक ध्यान आदि अनुपयोगी जैसे है।

इसलिये इनमेसे जो जो साधन हो सकते हो वे सब एक लक्ष्य सिद्ध होनेके लिये करें कि जिस लक्ष्यको हमने ऊपर बताया है। जप, तप आदि कुछ निषेध करने योग्य नही है, तथापि वे सब एक लक्ष्यके लिये है, और उस लक्ष्यके बिना जीवको सम्यक्त्वसिद्धि नही होती।

अधिक क्या कहे? जो ऊपर कहा है उतना ही समझनेके लिये सभी शास्त्र प्रतिपादित हुए है।

---

३०० ववाणिया, कार्तिक सुदी ८, सोम, १९४८

ॐ

दो दिन पहले पत्र प्राप्त हुआ है। साथके चारों पत्र पढे है।

मगनलाल, कीलाभाई, खुशालभाई इत्यादिकी आणद आनेकी इच्छा है, तो वैसा करनेमे कोई बाधा नहीं है। तथापि इस बातसे दूसरे मनुष्योको हमारी प्रसिद्धिका पता चलता है कि इनके समागमके लिये अमुक लोग जाते हैं, यह यथासंभव कम प्रसिद्धिमे आना चाहिये। वैसी प्रसिद्धि अभी हमें प्रतिबंधरूप होती है।

कीलाभाईको सूचित करें कि आपने पत्रेच्छा की परन्तु उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नही हो सकेगा। कुछ पूछनेकी इच्छा हो तो वे आणंदमे हर्षपूर्वक पूछें।

---

३०१ ववाणिया, कार्तिक सुदी ८, सोम, १९४८

स्मरणीय मूर्ति श्री सुभाग्य,

जगत आत्मरूप माननेमे आये, जो हो वह योग्य ही माननेमे आये, परके दोष देखनेमे न आये, अपने गुणोकी उत्कृष्टता सहन करनेमे आये तो ही इस ससारमे रहना योग्य है, दूसरी तरहसे नही।

वि० रायचदके यथायोग्य।

---

३०२ ववाणिया, कार्तिक सुदी १३, शनि, १९४८

[1]'सत्यं परं धीमहि।'

(ऐसा जो) परम सत्य, उसका हम ध्यान करते है।

यहाँसे कार्तिक वदी ३, बुधके दिन विदा होनेकी इच्छा है।

पूज्य श्री दीपचंदजी स्वामीको वदना करके विज्ञापन करे कि यदि उनके पास कोई दिगम्बर संप्रदायका ग्रथ मागधी, सस्कृत या हिन्दीमे हो और वह पढनेके लिये दिया जा सके तो लेकर अपने पास रखे, अथवा तो वैसा कोई अध्यात्म ज्ञानग्रन्थ हो तो उस विषयमे पूछे। उनसे यदि कोई वैसा ग्रंथ प्राप्त हो तो उन्हे वह मोरबीसे पाँच-सात दिनमे वापस मिल जाये, ऐसी योजना करेंगे। मोरबीमे दूसरी उपाधिको दूर करनेके लिये यह ग्रंथपृच्छा की है। यहाँ कुशलता है।

---

३०३ ववाणिया, कार्तिक सुदी १३, शनि, १९४८

शुभोपमा योग्य श्री अंबालाल,

यहाँसे कार्तिक वदी ३ को निकलनेका विचार है। संभवतः मोरबीमे पाँच-सात दिन लग जायेंगे। तथापि व्यावहारिक प्रसग है इसलिये आपका आना योग्य नही है। आणदमे समागमकी इच्छा रखिये। मोरबीकी निवृत्त करे।

और एक बात स्मरणमे रखनेके लिये लिखने है कि परमार्थप्रसंगसे अभी हमने प्रगटरूपसे किसीका भी समागम करना नहीं रखा है। ईश्वरेच्छा ऐसी लगती है।

सब भाइयोको यथायोग्य। दिगंबर ग्रंथ मिले तो ठीक, नही तो कोई बात नही।

अप्रगट सत्।

---

३०४ ववाणिया, कार्तिक सुदी, १९४८

ॐ

यथायोग्य वंदन स्वीकार करे। समागममे दो चार कारण आपको खुले दिलसे बात नही करने देते। अनन्तकालकी वृत्ति, समागमियोकी वृत्ति और लोकलज्जा प्राय· ये सब उन कारणोकी जड़ है। ऐसे कारणोसे कोई भी प्राणी कटाक्षका पात्र बने ऐसी मेरी दशा प्राय. नही रहती। परन्तु अभी मेरी दशा कोई भी लोकोत्तर बात करते हुए झिझकती है अर्थात् मनका मेल नही बैठता।

'परमार्थ मौन' नामका एक कर्म अभी उदयमे भी रहता है, जिससे बहुत प्रकारका मौन भी अंगीकार किया है, अर्थात् परमार्थसम्बन्धी बातचीत प्राय नही की जाती। ऐसा उदयकाल है। क्वचित् साधारण मार्गसम्बन्धी बातचीत की जाती है, नही तो इस विषयमे वाणीसे और परिचयसे मौन और शून्यता ग्रहण किये गये है। जब तक योग्य समागम होकर चित्त ज्ञानी पुरुषके स्वरूपको नही जान सकता,

१. श्रीमद् भागवत, स्कध १२, अध्याय १३, श्लोक १९

श्रीमद् राजचन्द्र

वर्ष २४ मु

वि. सं १९४७

आप दोनो विचार करके वस्तुको पुन. पुनः समझें। मनसे किये हुए निश्चयको साक्षात् निश्चय न मानियेगा। ज्ञानीसे हुए निश्चयको जानकर प्रवृत्ति करनेमे कल्याण है। फिर जैसा भावी।

सुधाके विषयमे हमे सन्देह नही है, आप उसका स्वरूप समझें, और तभी फल है।

प्रणाम पहुँचे।

---

३०९ बंबई, मगसिर वदी ३०, गुरु, १९४८

"अनुक्रमे संयम स्पर्शतो जी, पाम्यो क्षायकभाव रे।
संयम श्रेणी फूलडे जी, पूजुं पद निष्पाव रे॥"

(आत्माकी अभेदचिंतनारूप) संयमके एकके बाद एक क्रमका अनुभव करके क्षायिक भाव (जड परिणतिका त्याग) को प्राप्त हुए सिद्धार्थके पुत्रके निर्मल चरणकमलकी सयमश्रेणिरूप फूलोसे पूजा करता हूँ।

उपर्युक्त वचन अतिशय गम्भीर है। लि० यथार्थ बोधस्वरूपका यथार्थ।

---

३१० बंबई, पौष सुदी ३, १९४८

[1]**अनुक्रमे संयम स्पर्शतो जी, पाम्यो क्षायकभाव रे।**
संयम श्रेणी फूलडे जी, पूजुं पद निष्पाव रे॥

---

[2]**दर्शन सकलना नय ग्रहे, आप रहे निज भावे रे।**
हितकरी जनने संजीवनी, चारो तेह चरावे रे॥

---

[3]**दर्शन जे थयां जूजवां, ते ओघ नजरने फेरे रे।**
भेद थिरादिक दृष्टिमां, समकितदृष्टिने हेरे रे॥

---

[4]**योगनां बीज ईहां ग्रहे, 'जिनवर' शुद्ध प्रणामो रे।**
'भावाचारज' सेवना, भव उद्वेग सुठामो रे॥

जनक विदेही सबधी लक्ष्यमे है।

---

१ **भावार्थ** - अनुक्रमसे उत्तरोत्तर संयमस्थानकको स्पर्श करते हुए मोहनीयकर्मका क्षय करके उत्कृष्ट सयमस्थानरूप क्षीणमोहगुणस्थानको प्राप्त हुए श्री वीरस्वामीके पापरहित चरणकमलको सयमश्रेणिरूप भावपुष्पोसे पूजता हूँ।

२ **भावार्थ**—आत्मज्ञानी सभी दर्शनोके नय अर्थात् दृष्टिबिंदुको यथावत् समझता है, और स्वयं किसी दर्शन अथवा मतमे रागद्वेष या आग्रह न करते हुए आत्मस्वभावमें रमण करता है। वह अन्य जीवोको अनुरूप एव हितकारी सजीवनीरूप वास्तविक धर्मका उपदेश देता है।

३ **भावार्थ**—जगतमे जो भिन्न-भिन्न धर्ममत प्रचलित है उसका कारण ओघदृष्टि अर्थात् मिथ्या ज्ञान है, स्थिरादिक चार दृष्टिमें सम्यग्दर्शन अथवा आत्माका वास्तविक योग होता है जिससे वह योगदृष्टि है। फिर सम्यग्दृष्टिको वह भेद प्रतीत नही होता अर्थात् भेद दूर हो जाता है।

४. **भावार्थ**—इस दृष्टिमें जीव योगके बीज अथवा समकित प्राप्त होनेके कारणोको प्राप्त करता रहता है। फिर वह शुद्ध एव निष्काम भावसे जिनवरको प्रणाम करता है, भावाचार्यकी सेवा करता है और भवोद्वेग अथवा वैराग्य धारण करता है।

३११ बंबई, पौष सुदी ३, रवि, १९४८

अनुक्रमे संयम स्पर्शतो जी, पाम्यो क्षायकभाव रे।
संयम श्रेणी फूलडे जी, पूजुं पद निष्पाव रे॥
[1]शुद्ध निरंजन अलख अगोचर, एहि ज साध्य सुहायो रे।
ज्ञानक्रिया अवलंबी फरस्यो, अनुभव सिद्धि उपायो रे॥
[2]रायसिद्धारथ वंश विभूषण, त्रिशला राणी जायो रे।
अज अजरामर सहजानंदी, ध्यानभुवनमां ध्यायो रे॥

---

[3]नागर सुख पामर नव जाणे, वल्लभसुख न कुमारी रे।
अनुभव वण तेम ध्यानतणुं सुख कोण जाणे नरनारी रे॥

३१२ बंबई, पौष सुदी ५, मगल, १९४८

क्षायिक चारित्रको याद करते है।

जनक विदेहीकी बात ध्यानमे है। करसनदासका पत्र ध्यानमे है।

बोधस्वरूपके यथायोग्य।

---

३१३ बबई, पौष सुदी ७, गुरु, १९४८

ज्ञानीके आत्माको देखते है और वैसे होते हैं।

आपकी स्थिति ध्यानमे है। आपकी इच्छा भी ध्यानमे है। आपने गुरुके अनुग्रहवाली जो बात लिखी है वह भी सच है। कर्मका उदय भोगना पडता है यह भी सच है। आप समय-समयपर अतिशय खेदको प्राप्त हो जाते है, यह भी जानते है। आपको वियोगका असह्य सन्ताप रहता है यह भी जानते है। बहुत प्रकारसे सत्सगमे रहने योग्य है, ऐसा मानते है, तथापि अभी तो यो सहन करना योग्य माना है।

चाहे जैसे देशकालमे यथायोग्य रहना, और यथायोग्य रहनेकी इच्छा ही किये जाना यह उपदेश है। आप अपने मनकी चिन्ता लिख भेजे तो भी हमे आपपर खेद नही होगा। ज्ञानी अन्यथा नही करते, ऐसा करना उन्हे नही सूझता, ऐसी स्थितिमे दूसरे उपायकी इच्छा भी न करे ऐसी विनती है।

कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागताके होनेपर भी हम व्यापार सम्बन्धी कुछ प्रवृत्ति कर सकते है, तथा खाने-पीने आदिकी अन्य प्रवृत्तियाँ भी बडी मुश्किलसे कर पाते हैं। मन कही भी विराम नही पाता, प्राय यहाँ किसीके समागमकी वह इच्छा नही करता। कुछ लिखा नही जा सकता। अधिक परमार्थवाक्य कहनेकी इच्छा नही होती। किसीके द्वारा पूछे गये प्रश्नोके उत्तर जानते हुए भी लिख नही सकते। चित्तका भी अधिक सग नही है, और आत्मा आत्मभावमे रहता है।

---

१ **भावार्थ**—शुद्ध = निरावरण, निरजन = रागद्वेषरूपी मैलसे रहित, अलख = अलक्ष्य और अगोचर = इन्द्रियातीत परमात्मा स्वरूपानन्द विलासी एव परभाव उदासी है। यही हमे साध्यरूपसे सुहाया है। हे आत्मन्! सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्क्रियाका अवलम्बन लेकर स्वरूपमे स्थिर होनेके अपूर्व आनन्दका अनुभव करना ही मोक्षसिद्धिका उपाय है।

२ **भावार्थ**—त्रिशला रानीसे उत्पन्न, राजा सिद्धार्थके वशविभूषण, जन्म-जरा-मरणरहित एव सहज स्वरूपानन्दी वीर परमात्माका ध्यानरूप भावभुवनमे ध्यान किया।

३. **भावार्थ**—पामर ग्रामीण व्यक्ति नगरके सुखको नही जानता है, और कुमारी पतिके सुखको नही जानती है। इसी तरह अनुभवके बिना ध्यानके सुखको भला कौनसा स्त्री-पुरुष जानता है?

समय-समयपर अनन्तगुणविशिष्ट आत्मभाव बढता हो ऐसी दशा रहती है, जिसे प्राय: भाँपने नहीं दिया जाता, अथवा भाँप सकनेवालेका प्रसंग नही है।

आत्माके विषयमे सहज स्मरणसे प्राप्त हुआ ज्ञान श्री वर्धमानमे था ऐसा मालूम होता है। पूर्ण वीतराग जैसा बोध हमे सहज ही याद आ जाता है, इसीलिये आपको और गोसलियाको लिखा था कि आप पदार्थको समझें। वैसा लिखनेमे दूसरा कोई हेतु न था।

---

३१४ बंबई, पौष सुदी ११, सोम, १९४८

[1]जिन थई जिनवरने आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी इलीकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे॥

---

[2]आतमध्यान करे जो कोउ, सो फिर इणमें नावे।
वाक्य जाळ बीजुं सौ जाणे, एह तत्त्व चित्त चावे॥

---

३१५ बंबई, पौष सुदी ११, १९४८

हम कभी कोई वाक्य, पद या चरण लिख भेजे उसे आपने कही भी पढ़ा या सुना हो तो भी अपूर्ववत् मानें।

हम स्वय तो अभी यथाशक्ति वैसा कुछ करनेकी इच्छावाली दशामे नही है।

स्वरूप सहजमे है। ज्ञानीके चरणोकी सेवाके बिना अनन्त काल तक भी प्राप्त न हो ऐसा विकट भी है।

आत्मसयमको याद करते है। यथारूप वीतरागताकी पूर्णता चाहते है। बस इतना ही।

श्री बोधस्वरूपके यथायोग्य।

---

३१६ बबई, पौष वदी ३, रवि, १९४८

[1]एक परिनामके न करता दरव दोई,
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोई दर्व कबहूँ न करै,
दोई करतूति एक दर्व न करतु है।
जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोउ,
अपने अपने रूप, कोउ न टरतु है।

---

१ भावार्थ—जो प्राणी जिनेश्वरके स्वरूपको लक्ष्यमे रखकर तदाकार वृत्तिसे जिनेश्वरकी आराधना करता है—ध्यान करता है वह निश्चयसे जिनवर—केवलदर्शनी हो जाता है। जैसे भौरी कीडेको मिट्टीके घरमें बन्द कर देती है, फिर उसे चटकाने—डक मारनेसे वह कीडा भौरी होकर बाहर आता है जिसे जगत देखता है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा, निष्ठा एव भावनासे जीव इष्टसिद्धि प्राप्त कर लेता है। विशेषार्थके लिये देखे आक ३८७।

२. भावार्थ—जो कोई स्थिर आसनसे आत्मामे लीन होकर तदाकार वृत्तिसे शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करता है वह अनेक मतवादियोके विभ्रम— ममत्वरूप जालमें नही फँसता तथा रागद्वेष, मोह और अज्ञानको छोडता है, आत्मस्वरूपके कथनके बिना अन्य जप, तप, पूजा, नियम आदिको वाग्जाल समझता है और आत्मस्वरूपके तत्त्वका ही अपने चित्तमे चिन्तन करता है।

जड परिनामनिको, करता है पुद्गल,
चिदानंद चेतन सुभाव आचरतु है।' —समयसार नाटक

---

३१७ बबई, पौष वदी ५, रवि, १९४८

'एक परिनामके न करता दरव दोई',

वस्तु अपने स्वरूपमे ही परिणत होती है ऐसा नियम है। जीव जीवरूपसे परिणत हुआ करता है, और जड जडरूपसे परिणत हुआ करता है। जीवका मुख्य परिणमन चेतन (ज्ञान) स्वरूप है, और जडका मुख्य परिणमन जडत्वस्वरूप है। जीवका जो चेतनपरिणाम है वह किसी प्रकारसे जड होकर परिणत नही होता, और जडका जो जडत्वपरिणाम है वह किसी दिन चेतनपरिणामसे परिणत नही होता, ऐसी वस्तुकी मर्यादा है, और चेतन, अचेतन ये दो प्रकारके परिणाम तो अनुभवसिद्ध है। उनमेसे एक परिणामको दो द्रव्य मिलकर नही कर सकते, अर्थात् जीव और जड मिलकर केवल चेतनपरिणामसे परिणत नही हो सकते। अथवा केवल अचेतन परिणामसे परिणत नही हो सकते। जीव चेतनपरिणामसे परिणत होता है और जड़ अचेतनपरिणामसे परिणत होता है, ऐसी वस्तुस्थिति है। इसलिये जिनेन्द्र कहते है कि एक परिणामको दो द्रव्य नही कर सकते। जो-जो द्रव्य है वे वे अपनी स्थितिमे ही होते है और अपने स्वभावमे परिणत होते है।

'दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।'

इसी प्रकार एक द्रव्य दो परिणामोमे भी परिणमित नही हो सकता, ऐसी वस्तुस्थिति है। एक जीवद्रव्यका चेतन एवं अचेतन इन दोनो परिणामोसे परिणमन नही हो सकता, अथवा एक पुद्गल द्रव्य अचेतन तथा चेतन इन दो परिणामोसे परिणमित नही हो सकता। मात्र स्वय अपने ही परिणाममे परिणमित होता है। चेतनपरिणाम अचेतनपदार्थमे नही होता, और अचेतनपरिणाम चेतनपदार्थमे नही होता; इसलिये एक द्रव्य दो प्रकारके परिणामोसे परिणमित नही होता,—दो परिणामोको धारण नही कर सकता।

'एक करतूति दोई दर्व कबहूँ न करैं,'

इसलिये दो द्रव्य एक क्रियाको कभी भी नही करते। दो द्रव्योका एकातत. मिलन होना योग्य नही है। यदि दो द्रव्य मिलकर एक द्रव्यकी उत्पत्ति होती हो, तो वस्तु अपने स्वरूपका त्याग कर दें, और ऐसा तो कभी भी नही हो सकता कि वस्तु अपने स्वरूपका सर्वथा त्याग कर दे।

जब ऐसा नही होता, तब दो द्रव्य सर्वथा एक परिणामको पाये बिना एक क्रिया भी कहाँसे करे? अर्थात् बिलकुल न करे।

'दोई करतूति एक दर्व न करतु है,'

इसी तरह एक द्रव्य दो क्रियाओको धारण भी नही करता, एक समयमे दो उपयोग नही हो सकते। इसलिये

'जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोउ,'

जीव और पुद्गल कदाचित् एक क्षेत्रको रोककर रहे हो तो भी

'अपने अपने रूप, कोउ न टरतु है,

अपने अपने स्वरूपसे किसी अन्य परिणामको प्राप्त नही होते, और इसलिये ऐसा कहते हैं कि—

'जड परिनामनिको, करता है पुद्गल',

देहादिकसे जो परिणाम होता है उसका पुद्गल कर्त्ता है, क्योंकि देहादि जड है, और जडपरिणाम तो पुद्गलमे होता है। जब ऐसा ही है तो फिर जीव भी जीवस्वरूपमे ही रहता है, इसमे अब किसी दूसरे प्रमाणकी जरूरत नही है, ऐसा मानकर कहते है कि—

'चिदानंद चेतन सुभाव आचरत है।'

काव्यकर्त्ताके कहनेका हेतु यह है कि यदि आप इस तरह वस्तुस्थितिको समझें तो जड़संबंधी जो स्वस्वरूपभाव है वह मिटे और स्वस्वरूपका जो तिरोभाव है वह प्रगट हो। विचार करें तो स्थिति भी ऐसी ही है। अति गहन बातको यहाँ संक्षेपमे लिखा है। (यद्यपि) जिसे यथार्थ बोध है उसे तो सुगम है।

इस बातका अनेक बार मनन करनेसे कुछ बोध हो सकेगा।

आपका एक पत्र परसो मिला था। आपको पत्र लिखनेका मन तो होता है, परन्तु जो लिखनेका सूझता है वह ऐसा सूझता है कि आपको उस बातका बहुत समय तक परिशीलन होना चाहिये, और वह विशेष गहन होता है। इसके सिवाय लिखना नही सूझता। अथवा लिखनेमे मन नही लगता। बाकी तो नित्य समागमकी इच्छा करते है।

प्रसंगोपात्त कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा। आजीविकाके दु खके लिये आप जो लिखते है वह सत्य है।

चित्त प्राय वनमे रहता है, आत्मा तो प्रायः मुक्तस्वरूप लगता है। वीतरागता विशेष है। बेगारकी भाँति प्रवृत्ति करते है, दूसरोका अनुसरण भी करते है। जगतसे बहुत उदास हो गये है। बस्तीसे तंग आ गये हैं। किसीको दशा बता नही सकते। बताने जैसा सत्संग नही है, मनको जैसे चाहे वैसे मोड सकते है, इसलिये प्रवृत्तिमे रह सके है। किसी प्रकारसे रागपूर्वक प्रवृत्ति न होती हो ऐसी दशा है, ऐसा रहता है। लोकपरिचय अच्छा नही लगता। जगतमे चैन नही पडता।

अधिक क्या लिखे ? आप जानते हैं। यहाँ समागम हो ऐसी तो इच्छा करते है, तथापि किये हुए कर्मोंको निर्जरा करनी है, इसलिये उपाय नही है।

लि० यथार्थ बोधस्वरूपके यथायोग्य।

---

३१८ बंबई, पौष वदी १३, गुरु, १९४८

दूसरे काममे प्रवृत्ति करते हुए भी अन्यत्वभावनासे प्रवृत्ति करनेका अभ्यास रखना योग्य है।

वैराग्य भावनासे भूषित 'शातसुधारस' आदि ग्रन्थ निरतर चिंतन करने योग्य हैं।

प्रमादमे वैराग्यकी तीव्रता, मुमुक्षुता मद करने योग्य नही है, ऐसा निश्चय रखना योग्य है।

श्री बोधस्वरूप।

---

३१९ बबई, माघ सुदी ५, बुध, १९४८

अनंतकालसे स्वरूपका विस्मरण होनेसे जीवको अन्यभाव साधारण हो गया है। दीर्घकाल तक सत्संगमें रहकर बोधभूमिकाका सेवन होनेसे वह विस्मरण और अन्यभावकी साधारणता दूर होती है, अर्थात् अन्यभावसे उदासीनता प्राप्त होती है। यह काल विषम होनेसे स्वरूपमे तन्मयता रहना दुष्कर है; तथापि सत्सगका दीर्घकाल तक सेवन उस तन्मयताको देता है इसमे संदेह नही होता।

जीवन अल्प है और जंजाल अनत है, धन सीमित है, और तृष्णा अनंत है; इस स्थितिमे स्वरूपस्मृतिका संभव नही है। परन्तु जहाँ जजाल अल्प है, और जीवन अप्रमत्त है, तथा तृष्णा अल्प है अथवा नही है, और सर्व सिद्धि है, वहाँ पूर्ण स्वरूपस्मृति होना संभव है। अमूल्य ऐसा ज्ञानजीवन प्रपचसे आवृत होकर चला जाता है। उदय बलवान है!

३२०　　　　　　बंबई, माघ सुदी १३, बुध, १९४८

(राग प्रभाती)

***जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा, पुग्गलाधार नहीं तास रंगी ।**
पर तणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता, वस्तुधर्मे कदा न परसंगी ॥

(श्री सुमतिनाथ स्तवन—देवचंद्रजी)

प्रणाम पहुँचे ।

३२१　　　　　　बंबई, माघ वदी २, रवि, १९४८

अत्यत उदाम परिणाममे रहे हुए चैतन्यको ज्ञानी प्रवृत्तिमे होनेपर भी वैसा ही रखते है; तो भी कहते है कि माया दुस्तर है, दुरंत है, क्षणभर भी, एक समय भी इसे आत्मामे स्थापन करना योग्य नही है । ऐसी तीव्र दशा आनेपर अत्यत उदास परिणाम उत्पन्न होता है, और वैसे उदास परिणामकी जो प्रवृत्ति—(गार्हस्थ्य सहितकी)—वह अबधपरिणामी कहने योग्य है । जो बोधस्वरूपमे स्थित है वह इस तरह कठिनतासे प्रवृत्ति कर सकता है क्योकि उसकी विकटता परम है ।

जनकराजाकी विदेहीरूपसे जो प्रवत्ति थी वह अत्यन उदासीन परिणामके कारण रहती थी, प्राय उन्हे वह सहजस्वरूपमे थी, तथापि किसी मायाके दुरन्त प्रसगमे, समुद्रमे जैसे नाव थोड़ीसी डोला करती है वैसे उस परिणामको चलायमानताका सभव होनेसे प्रत्येक मायाके प्रसंगमे जिसकी सर्वथा उदासीन अवस्था है ऐसे निजगुरु अष्टावक्रकी शरण अपनानेसे मायाको आसानीसे तरा जा सकता था, क्योकि महात्माके आलंबनकी ऐसी ही प्रबलता है ।

३२२　　　　　　रविवार, १९४८

लौकिकदृष्टिसे आप और हम प्रवर्तन करेंगे तो फिर अलौकिकदृष्टिसे कौन प्रवर्तन करेगा ?

आत्मा एक है या अनेक है कर्ता है या अकर्त्ता है, जगतका कोई कर्त्ता है या जगत स्वत है, इत्यादि विषय क्रमशः सत्संगमे समझने योग्य है, ऐसा मानकर इस विषयमे अभी पत्र द्वारा नही लिखा गया है ।

सम्यक्प्रकारसे ज्ञानोमे अखंड विश्वास रखनेका फल निश्चय ही मुक्ति है ।

आपको ससारसंबधी जो जो चिताएँ है उन्हे प्रायः हम जानते है, और इस विषयमें आपको अमुक अमुक विकल्प रहा करते है उन्हे भी जानते है । और आपको सत्संगके वियोगके कारण जो परमार्थचिता भी रहती है उसे भी जानते है । दोनो प्रकारके विकल्प होनेसे आपको आकुल व्याकुलता प्राप्त होती हो, इसमे भी आश्चर्य नही लगता अथवा यह असभवरूप मालूम नही होता । अब इन दोनो प्रकारोंके लिये हमारे मनमे जो कुछ है उसे स्पष्ट शब्दोमे नीचे लिखनेका प्रयत्न किया है ।

संसार सम्बन्धी आपको जो चिता है उसे उदयके अनुसार वेदन करें, सहन करें । यह चिता होनेका कारण ऐसा कोई कर्म नही है कि जिसे दूर करनेके लिये प्रवृत्ति करते हुए ज्ञानी पुरुषको बाधा न आये । जबसे यथार्थ बाधकी उत्पत्ति हुई है, तबसे किसो भो प्रकारके सिद्धियोगसे या विद्याके योगसे स्वसम्बन्धी या परसम्बन्धी सासारिक साधन न करनेकी प्रतिज्ञा है, और इस प्रतिज्ञाके पालनमे एक पलको भी मदता

***भावार्थ**—जाव पौद्गलिक पदाथ नहा है, पुद्गल नहो ह, पुद्गलका आधार नही है, और वह पुद्गलके रगवाल नही ह, स्वअपना स्वरूपमत्ताके सिवायजो कुछ अन्य है उसका स्वामो नही है, क्योकि परका ऐश्वर्य स्वरूपमे नही होता । वस्तुधर्मसे देखते हुए किसी कालमे भी वह परसगी भी नही है ।

आज दिन तक आयी हो यह याद नही आता। आपकी चिता जानते है, और हम उस चिताके किसी भी भागको यथाशक्ति वेदन करना चाहते है। परन्तु ऐसा तो कभी भूतकालमे हुआ नही है, तो अब कैसे हो सकता है? हमे भी उदयकाल ऐसा रहता है कि अभी ऋद्धियोग हाथमे नही है।

प्राणीमात्र प्राय आहार, पानी पा लेते है। तो आप जैसे प्राणीके कुटुम्बके लिये उससे विपरीत परिणाम आये ऐसा मानना योग्य ही नहीं है। कुटुम्बकी लाज बारबार आड़े आकर जो आकुलता उत्पन्न करती है, उसे चाहे तो रखें और चाहे तो न रखें, दोनो समान है, क्योंकि जिसमे अपनी निरुपायता है उसमे तो जो हो उसे योग्य ही मानना, यही दृष्टि सम्यक् है। जो लगा वह बताया है।

हमे जो निर्विकल्प नामकी समाधि है वह तो आत्माकी स्वरूपपरिणति रहनेके कारण है। आत्माके स्वरूपसबंधी तो हमे प्राय. निर्विकल्पता ही रहना सभव है, क्योंकि अन्यभावमे मुख्यत. हमारी प्रवृत्ति ही नही है।

बध-मोक्षकी यथार्थ व्यवस्था जिस दर्शनमे यथार्थरूपसे कही गयी है, वह दर्शन निकट मुक्तिका कारण है, और इस यथाथ व्यवस्थाको कहने योग्य यदि किसीको हम विशेषरूपसे मानते हो तो वे श्री तीर्थंकरदेव है।

और आज इस क्षेत्रमे श्री तीर्थंकरदेवका यह आंतरिक आशय प्रायः मुख्यरूपसे यदि किसीमे हों तो वे हम होगे ऐसा हमे दृढतापूर्वक भासित होता है।

क्योंकि हमारे अनुभवज्ञानका फल वीतरागता है, और वीतरागका कहा हुआ श्रुतज्ञान भी उसी परिणामका कारण लगता है; इसलिये हम उनके वास्तविक और सच्चे अनुयायी है।

वन और घर ये दोनो किसी प्रकारसे हमे समान हैं, तथापि पूर्ण वीतरागभावके लिये वनमे रहना अधिक रुचिकर लगता है, सुखकी इच्छा नही है परन्तु वीतरागताकी इच्छा है।

जगतके कल्याणके लिये पुरुषार्थ करनेके बारेमे लिखा तो वह पुरुषार्थ करनेकी इच्छा किसी प्रकारसे रहती भी है, तथापि उदयके अनुसार चलना यह आत्माकी सहज दशा हुई है, और वैसा उदयकाल अभी समीपमे दिखायी नही देता, और उसकी उदीरणा की जाये ऐसी दशा हमारी नही है।

'भीख माँगकर गुजरान चलायेंगे परन्तु खेद नही करेंगे, ज्ञानके अनत आनन्दके आगे वह दुःख तृण मात्र है' इस भावार्थका जो वचन लिखा है उस वचनको हमारा नमस्कार हो! ऐसा वचन सच्ची योग्यताके बिना निकलना संभव नही है।

"जीव यह पौद्गलिक पदार्थ नही है, पुद्गल नही है, और पुद्गलका आधार नही है, उसके रग-वाला नही है; अपनी स्वरूपसत्ताके सिवाय जो अन्य है उसका स्वामी नही है, क्योंकि परका ऐश्वर्य स्वरूपमे नही होता। वस्तुधर्मसे देखते हुए वह कभी भी परसंगी भी नही है।" इस प्रकार सामान्य अर्थ 'जीव नवि पुग्गली' इत्यादि पदोका है।

[1]"**दुःखसुखरूप करम फळ जाणो, निश्चय एक आनंदो रे।**
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे॥"

(श्री वासुपूज्य स्तवन-आनन्दघनजी)

---

१. **भावार्थ**—हे भव्यो! दुःख और सुख दोनोको कर्मका फल जाने। यह व्यवहारनयकी अपेक्षासे है और निश्चयनयसे तो आत्मा आनंदमय ही है। जिनेश्वर कहते हैं कि आत्मा कभी भी चेतनताके परिणामको नही छोडता।

३२३ बंबई, माघ वदी २, रवि, १९४८

यहाँ समाधि है। पूर्णज्ञानसे युक्त ऐसी जो समाधि वह बारंबार याद आती है।

परमसत्का ध्यान करते हैं। उदासीनता रहती है।

---

३२४ बंबई, माघ वदी ४, बुध, १९४८

चारों तरफ उपाधिकी ज्वाला प्रज्वलित हो उस प्रसंगमे समाधि रहना परम दुष्कर है, और यह बात तो परम ज्ञानीके बिना होना विकट है। हमे भी आश्चर्य हो आता है, तथापि प्रायः ऐसा रहा ही करता है ऐसा अनुभव है।

जिसे आत्मभाव यथार्थ समझमे आता है, निश्चल रहता है, उसे यह समाधि प्राप्त होती है।

सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागता जानते हैं, और वैसा अनुभव है।

---

३२५ बंबई, माघ वदी ९, सोम, १९४८

[1]"जबहीतें चेतन विभावसों उलटि आपु,
समै पाई अपनो सुभाव गहि लीनो है।
तबहीतें जो जो लेनेजोग सो सो सब लीनो,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांडी दीनो है।
लेवेकों न रही ठोर, त्यागीवेको नाहीं ओर,
बाकी कहा उबर्यो जु, कारज नवीनो है।
संगत्यागी, अंगत्यागी, वचनतरंगत्यागी,
मनत्यागी, बुद्धित्यागी, आपा शुद्ध कीनो है॥"

—कैसी अद्भुत दशा ?

जैसा समझमे आये वैसा यदि योग्य लगे तो अर्थ लिखियेगा।

प्रणाम पहुँचे।

---

३२६ बंबई, माघ वदी ११, बुध, १९४८

शुद्धता विचारे ध्यावे, शुद्धतामें केली करे।
शुद्धतामें थिर व्है अमृत धारा वरसे॥ —समयसार नाटक

---

३२७ बंबई, माघ वदी १४, शनि, १९४८

अद्‌भुतदशाके [2]काव्यका अर्थ लिख भेजा सो यथार्थ है। अनुभवका ज्यों-ज्यों विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है त्यो-त्यो ऐसे काव्य, शब्द, वाक्य यथातथ्यरूपसे परिणमित होते है, इसमे आश्चर्यकारक दशाका वर्णन है।

---

१. भावार्थ—अवसर मिलनेपर जबसे आत्माने विभाव परिणतिको छोडकर निज स्वभावको ग्रहण किया है, तबसे जो जो बाते उपादेय थी वे वे सब ग्रहण की, और जो जो बाते हेय थी वे वे सब छोड दी। अब ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य कुछ नही रह गया और न कुछ शेष रह गया जो नया काम करनेको बाकी हो। परिग्रह छोड दिया, शरीर छोड दिया, वचन-तर्ककी क्रियासे रहित हुआ, मनके विकल्प त्याग दिये, इन्द्रियजनित ज्ञान छोडा और आत्माको शुद्ध किया। [समयसार नाटक हिंदी टीका सर्वविशुद्धिद्वार १०९, पृ० २७९-२८०]

२. देखें आक ३२५

जीवको सत्पुरुषकी पहचान नही होती और उनके प्रति अपने समान व्यावहारिक कल्पना रहती है, यह जीवकी कल्पना किस उपायसे दूर हो, सो लिखियेगा।

उपाधिका प्रसंग बहुत रहता है। सत्संगके बिना जी रहे है।

---

३२८ बंबई, माघ वदी ३०, रवि, १९४८

"लेवेकों न रही ठोर, त्यागीवेकों नाहीं ओर।
बाकी कहा उबर्यो जु, कारज नवीनो है!"

स्वरूपका भान होनेसे पूर्णकामता प्राप्त हुई, इसलिये अब कुछ भी लेनेके लिये दूसरा कोई क्षेत्र नही रहा। स्वरूपका त्याग तो मूर्ख भी कभी करना नही चाहता, और जहाँ केवल स्वरूपस्थिति है, वहाँ तो फिर दूसरा कुछ रहा नही, इसलिये त्याग करना भी नही रहा। अब जब लेनादेना दोनो निवृत्त हो गये, तब दूसरा कोई नवीन कार्य करनेके लिये क्या बाकी रहा? अर्थात् जैसे होना चाहिये वैसे हो गया। तो फिर दूसरा लेने-देनेका जंजाल कहाँसे हो? इसलिये कहते हैं कि यहाँ पूर्णकामता प्राप्त हुई।

---

३२९ बंबई, माघ वदी, १९४८

कोई क्षणभरके लिये अरुचिकर करना नही चाहता। तथापि उसे करना पड़ता है, यह यों सूचित करता है कि पूर्वकर्मका निबधन अवश्य है।

अविकल्प समाधिका ध्यान क्षणभरके लिये भी नही मिटता। तथापि अनेक वर्षोंसे विकल्परूप उपाधिकी आराधना करते जाते है।

जब तक ससार है तब तक किसी प्रकारकी उपाधि होना तो संभव है; तथापि अविकल्प समाधिमे स्थित ज्ञानीका तो वह उपाधि भी अबाध है, अर्थात् समाधि ही है।

इस देहको धारण करके यद्यपि कोई महान ऐश्वर्य नही भोगा, शब्दादि विषयोंका पूरा वैभव प्राप्त नही हुआ, किसी विशेष राज्याधिकार सहित दिन नही बिताये, अपने माने जानेवाले किसी धाम व आरामका सेवन नही किया, और अभी युवावस्थाका पहला भाग चलता है, तथापि इनमेंसे किसीकी आत्मभावसे हमे कोई इच्छा उत्पन्न नही होती, यह एक बड़ा आश्चर्य मानकर प्रवृत्ति करते हैं। और इन पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्ति दोनो एकसी जानकर बहुत प्रकारसे अविकल्प समाधिका ही अनुभव करते है। ऐसा होनेपर भी वारवार वनवासकी याद आती है, किसी प्रकारका लोकपरिचय रुचिकर नहीं लगता, सत्संगमे सुरत बहा करती है, और अव्यवस्थित दशासे उपाधियोगमे रहते हैं। एक अविकल्प समाधिके सिवाय सचमुच कोई दूसरा स्मरण नही रहता, चिंतन नही रहता, रुचि नही रहती, अथवा कुछ काम नही किया जाता।

ज्योतिष आदि विद्या या अणिमा आदि सिद्धिको मायिक पदार्थ समझकर आत्माको उसका स्मरण भी क्वचित् ही होता है। उस द्वारा किसी बातको जानना अथवा सिद्ध करना कभी योग्य नही लगता, और इस बातमे किसी तरह अभी तो चित्तप्रवेश भी नही रहा।

पूर्व निबन्धन जिस जिस प्रकारसे उदयमें आये उस उस प्रकारसे[१]...... अनुक्रमसे वेदन करते जाना, ऐसा करना योग्य लगा है।

आप भी ऐसे अनुक्रममे चाहे जितने थोडे अंशमे प्रवृत्ति की जाय तो भी वैसी प्रवृत्ति करनेका अभ्यास रखिये और किसी भी कामके प्रसंगमे अधिक शोकमे पड़नेका अभ्यास कम कीजिये; ऐसा करना या होना यह ज्ञानीकी अवस्थामे प्रवेश करनेका द्वार है।

---

१. कागज फट जानेसे अक्षर उड गये हैं।

आप किसी भी प्रकारका उपाधिप्रसंग लिखते हैं, वह यद्यपि पढनेमे आता है, तथापि तत्संबन्धी चित्तमें कुछ भी आभास न पडनेसे प्राय. उत्तर लिखना भी नही बन पाता, इसे दोष कहे या गुण कहे, परंतु क्षमा करने योग्य है।

सांसारिक उपाधि हमे भी कुछ कम नही है, तथापि उसमे निज भाव न रहनेसे उससे घबराहट उत्पन्न नहीं होती। उस उपाधिके उदयकालके कारण अभी तो समाधि गौणभावसे रहती है, और उसके लिये शोक रहा करता है।

लि० वीतरागभावके यथायोग्य।

---

३३० बंबई, माघ, १९४८

किसनदास आदि जिज्ञासु,

दीर्घकाल तक यथार्थ बोधका परिचय होनेसे बोधबीजकी प्राप्ति होती है, और यह बोधबीज प्राय. निश्चय सम्यक्त्व होता है।

जिनेंद्र भगवानने बाईस प्रकारके परिषह कहे हैं, उनमे दर्शनपरिषह नामका एक परिषह कहा है, और एक दूसरा अज्ञानपरिषह नामका परिषह भी कहा है। इस दोनो परिषहोका विचार करना योग्य है; यह विचार करनेकी आपकी भूमिका है; अर्थात् उस भूमिका (गुणस्थानक) का विचार करनेसे किसी प्रकारसे आपको यथार्थ धैर्य प्राप्त होना सम्भव है।

किसी भी प्रकारसे स्वयं मनमे कुछ संकल्प किया हो कि ऐसी दशामे आयें अथवा इस प्रकारका ध्यान करे तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है, तो वह सकल्पित प्राय. (ज्ञानीका स्वरूप समझमे आनेपर) मिथ्या है, ऐसा मालूम होता है।

यथार्थ बोधके अर्थका विचार करके, अनेक बार विचार करके अपनी कल्पनाको निवृत्त करनेका ज्ञानियोने कहा है।

'अध्यात्मसार' का अध्ययन, श्रवण चलता है सो अच्छा है। अनेक बार ग्रन्थ पढ़नेकी चिंता नही, परन्तु किसी प्रकारसे उसका अनुप्रेक्षण दीर्घकाल तक रहा करे ऐसा करना योग्य है।

परमार्थ प्राप्त होनेके विषयमे किसी भी प्रकारकी आकुलता-व्याकुलता रखना—होना—उसे 'दर्शनपरिषह' कहा है। यह परिषह उत्पन्न हो यह तो सुखकारक है; परन्तु यदि धैर्यसे वह वेदा जाये तो उसमेसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना सभव होता है।

आप 'दर्शनपरिषह'मे किसी भी प्रकारसे रहते है, ऐसा यदि आपको लगता हो तो वह धैर्यसे वेदने योग्य है, ऐसा उपदेश है। आप प्रायः 'दर्शनपरिषह'मे है, ऐसा हम जानते हैं।

किसी भी प्रकारकी आकुलताके बिना वैराग्यभावनासे, वीतरागभावसे, ज्ञानीमे परमभक्तिभावसे सत्शास्त्र आदिका और सत्सगका परिचय करना अभी तो योग्य है।

परमार्थसंबधी मनमे किये हुए सकल्पके अनुसार किसी भी प्रकारकी इच्छा न करें, अर्थात् किसी भी प्रकारके दिव्यतेजयुक्त पदार्थ इत्यादि दिखायी देने आदिकी इच्छा, मन कल्पित ध्यान आदि इन सब संकल्पोकी यथाशक्ति निवृत्ति करें।

'शांतसुधारस' मे कही हुई भावना और 'अध्यात्मसार' में कहा हुआ आत्मनिश्चयाधिकार ये वारंवार मनन करने योग्य है, इन दोनोंकी विशेषता मानें।

'आत्मा है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'आत्मा नित्य है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'आत्मा कर्ता है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'आत्मा भोक्ता है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'मोक्ष है' ऐसा जिस

प्रमाणसे ज्ञात हो, और 'उसका उपाय है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, वह वारंवार विचारणीय है। 'अध्यात्मसार'मे अथवा चाहे किसी दूसरे ग्रन्थमे यह बात हो तो विचार करनेमें बाधा नही है। कल्पनाका त्याग करके विचारणीय है।

जनक विदेहीकी बात अभी जाननेसे आपको लाभ नही है।

सबके लिये यह पत्र है।

---

३३१ बंबई, माघ, १९४८

ॐ

वीतरागतासे, अत्यन्त विनयसे प्रणाम।

भ्रांतिवश सुखस्वरूप भासमान होते हैं ऐसे इन संसारी प्रसगो एवं प्रकारोमे जब तक जीवको प्रीति रहती है, तब तक जीवको अपने स्वरूपका भास होना असम्भव है, और सत्संगका माहात्म्य भी तथा-रूपतासे भासमान होना असंभव है। जब तक यह संसारगत प्रीति असंसारगत प्रीतिको प्राप्त न हो तब तक अवश्य ही अप्रमत्तभावसे वारंवार पुरुषार्थको स्वीकार करना योग्य है। यह बात त्रिकालमे विसंवादरहित जानकर निष्कामभावसे लिखी है।

---

३३२ बबई, फागुन सुदी ४, बुध, १९४८

आरंभ और परिग्रहका मोह ज्यो-ज्यो मिटता है, ज्यो-ज्यो तत्सम्बन्धी अपनेपनका अभिमान मंद-परिणामको प्राप्त होता है; त्यो-त्यो मुमुक्षुता बढती जाती है। अनंत कालसे परिचित यह अभिमान प्रायः एकदम निवृत्त नही होता। इसलिये तन, मन, धन आदि जिनमे ममत्व रहता है उन्हे ज्ञानीको अर्पित किया जाता है, प्राय ज्ञानी कुछ उन्हे ग्रहण नही करते, परन्तु उनमेसे ममत्वका दूर करनेका ही उपदेश देते है, और करने योग्य भी यही है कि आरम्भ-परिग्रहको वारंवारके प्रसगमे पुन पुन· विचार करके उनमें ममत्व न होने दे, तब मुमुक्षुता निर्मल होती है।

---

३३३ बबई, फागुन सुदी ४, बुध, १९४८

[१]'जीवको सत्पुरुषकी पहचान नही होती, और उनके प्रति अपने समान व्यावहारिक कल्पना रहती है, यह जीवकी कल्पना किस उपायसे दूर हो?' इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर लिखा है। ऐसा उत्तर ज्ञानी अथवा ज्ञानीका आश्रित मात्र जान सकता है, कह सकता है, अथवा लिख सकता है। मार्ग कैसा हो इसका जिन्हे ज्ञान नही है, ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष उसका यथार्थ उत्तर नही दे सकते, यह भी यथार्थ ही है। 'शुद्धता विचारे ध्यावे', इस पदके विषयमे अब फिर लिखेंगे।

अंबारामजीकी पुस्तकके विषयमे आपने विशेष अध्ययन करके जो अभिप्राय लिखा, उसके विषयमे अब फिर बातचीतके समय विशेष बताया जा सकता है। हमने उस पुस्तकका बहुतसा भाग देखा है; परंतु सिद्धातज्ञानसे असगत बाते लगती है, और ऐसा ही है, तथापि उस पुरुषकी दशा अच्छी है, मार्गानुसारी जैसी है ऐसा तो हम कहते है। हमने जिसे सैद्धातिक अथवा यथार्थ ज्ञान माना है वह अति-अति सूक्ष्म है; परन्तु वह प्राप्त हो सकनेवाला ज्ञान है। विशेष अब फिर। चित्तने कहे अनुसार नही किया इसलिये आज विशेष नहीं लिखा गया, सो क्षमा कीजियेगा। परम प्रेमभावसे नमस्कार प्राप्त हो।

---

१. श्री सौभाग्यभाई द्वारा दिया गया उत्तर—"निष्पक्ष होकर सत्सग करे तो सत् मालूम होता है, और फिर सत्पुरुषका योग मिले तो उसे पहचानता है और पहचाने तो व्यावहारिक कल्पना दूर होती है। इसलिये पक्षरहित होकर सत्सग करना चाहिये। इस उपायके सिवाय दूसरा कोई उपाय नही है। बाकी भगवत्कृपाकी बात और है।"

३३४ बंबई, फागुन सुदी १०, बुध, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्यके प्रति,

भक्तिपूर्वक नमस्कार पहुँचे।

'अब फिर लिखेंगे, अब फिर लिखेंगे' ऐसा लिखकर अनेक बार लिखना बन नही पाया, सो क्षमा करने योग्य है, क्योंकि चित्तस्थिति प्रायः विदेही जैसी रहती है, इसलिये कार्यमे अव्यवस्था हो जाती है। अभी जैसी चित्तस्थिति रहती है, वैसी अमुक समय तक चलाये बिना छुटकारा नही है।

बहुत बहुत ज्ञानी पुरुष हो गये है, उनमे हमारे जैसे उपाधिप्रसंग और उदासीन, अति उदासीन चित्तस्थितिवाले प्राय अपेक्षाकृत थोड़े हुए है। उपाधिप्रसगके कारण आत्मा सबंधी विचार अखण्डरूपसे नही हो सकता, अथवा गौणरूपसे हुआ करता है, ऐसा होनेमे बहुत काल तक प्रपंचमे रहना पड़ता है, और उसमे तो अत्यत उदास परिणाम हो जानेसे क्षणभरके लिये भी चित्त स्थिर नही रह सकता, जिससे ज्ञानी सर्वसंगपरित्याग करके अप्रतिबद्धरूपसे विचरण करते है। 'सर्वसग' शब्दका लक्ष्यार्थ है ऐसा सग कि जो अखण्डरूपसे आत्मध्यान, या बोध मुख्यतः न रखा सके। हमने यह सक्षेपमे लिखा है, और इस प्रकारकी बाह्य एव अतरसे उपासना करते रहते है।

देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है। क्योंकि हम भी निश्चयसे उसी स्थितिको प्राप्त करनेवाले हैं, यो हमारा आत्मा अखण्डरूपसे कहता है, और ऐसा ही है, अवश्य ऐसा ही है। पूर्ण वीतरागकी चरणरज निरतर मस्तकपर हो, ऐसा रहा करता है। अत्यंत विकट ऐसा वीतरागत्व अत्यंत आश्चर्यकारक है, तथापि यह स्थिति प्राप्त होती है, सदेह प्राप्त होती है, यह निश्चय है, प्राप्त करनेके लिये पूर्ण योग्य है, ऐसा निश्चय है। सदेह ऐसे हुए बिना हमारी उदासीनता दूर हो ऐसा मालूम नही होता और ऐसा होना सम्भव है, अवश्य ऐसा ही है।

प्रश्नोके उत्तर प्राय नही लिखे जा सकेंगे, क्योंकि चित्तस्थिति जैसी बतायी वैसी रहा करती है।

अभी वहाँ कुछ पढना और विचार करना चलता है क्या? अथवा किस तरह चलता है? इसे प्रसगोपात्त लिखियेगा।

त्याग चाहते है, परन्तु नही होता। वह त्याग कदाचित् आपको इच्छानुसार करें, तथापि उतना भी अभी तो हो सकना सम्भव नही है।

अभिन्न बोधमयके प्रणाम प्राप्त हो।

---

३३५ बंबई, फागुन सुदी १०, बुध, १९४८

उदास-परिणाम आत्माको भजा करता है। निरुपायताका उपाय काल है।

पूज्य श्री सौभाग्यभाई,

समझनेके लिये जो विवरण लिखा है, वह सत्य है। जब तक ये बाते जीवकी समझमे नही आती, तब तक यथार्थ उदासीन परिणतिका होना भी कठिन लगता है।

'सत्पुरुष पहचाननेमे क्यो नही आते?' इत्यादि प्रश्न उत्तरसहित लिख भेजनेका विचार तो होता है, परन्तु लिखनेमे चित्त जैसा चाहिये वैसा नही रहता, और वह भी अल्प काल रहता है, इसलिये निर्धारित लिखा नही जा सकता।

उदास-परिणाम आत्माको अत्यन्त भजा करता है।

किसी अर्धजिज्ञासु पुरुषको आठेक दिन पूर्व एक पत्र भेजनेके लिये लिख रखा था। पीछेसे अमुक कारणसे चित्त रुक जानेसे वह पत्र पड़ा रहने दिया था जिसे पढ़नेके लिये आपको भेज दिया है।

जो वस्तुत· ज्ञानीको पहचानता है वह ध्यान आदिकी इच्छा नही करता, ऐसा हमारा अंतरंग अभिप्राय रहता है।

जो मात्र ज्ञानीको चाहता है, पहचानता है और भजता है, वही वैसा होता है, और वह उत्तम मुमुक्षु जानने योग्य है।

उदास परिणाम आत्माको भजा करता है।

चित्तकी स्थितिमे यदि विशेषरूपसे लिखा जायेगा तो लिखूँगा।

नमस्कार प्राप्त हो।

---

३३६ बंबई, फागुन सुदी ११, बुध, १९४८

यहाँ भावसमाधि है।

विशेषत· 'वैराग्य प्रकरण' मे श्रीरामने जो अपनेको वैराग्यके कारण प्रतीत हुए सो बताये हैं, वे पुन· पुन विचारणीय है।

खम्भातसे पत्रप्रसग रखे। उनकी ओरसे पत्र आनेमे ढील होती हो तो आग्रहसे लिखे जिससे वे ढील कम करेगे। परस्पर कुछ पृच्छा करना सूझे तो वह भी उन्हे लिखे।

---

३३७ बंबई, फागुन सुदी ११॥, गुरु, १९४८

चि० चंदुके स्वर्गवासकी खबर पढ़कर खेद हुआ। जो जो प्राणी देह धारण करते हैं वे वे प्राणी उस देहका त्याग करते है, ऐसा हमे प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध दिखायी देता है, फिर भी अपना चित्त उस देहकी अनित्यताका विचार करके नित्य पदार्थके मार्गमे नही जाता, इस शोचनीय बातका वारंवार विचार करना योग्य है। मनको धैर्य देकर उदासीको निवृत्त किये बिना छुटकारा नही है। खेद न करके धैर्यसे उस दु खको सहन करना ही हमारा धर्म है।

इस देहका भी जब-तब ऐसे ही त्याग करना है, यह बात स्मरणमें आया करती है, और संसारके प्रति वैराग्य विशेष रहा करता है। पूर्वकर्मके अनुसार जो कुछ भी सुखदुःख प्राप्त हो, उसे समानभावसे वेदन करना, यह ज्ञानीकी सीख याद आनेसे लिखी है। मायाकी रचना गहन है।

---

३३८ बंबई, फागुन सुदी १३, शुक्र, १९४८

परिणामोमे अत्यन्त उदासीनता परिणमित होती रहती है।

ज्यो-ज्यो ऐसा होता है, त्यो-त्यो प्रवृत्ति-प्रसग भी बढते रहते है। अनिर्धारित प्रवृत्तिके प्रसंग भी प्राप्त हुआ करते है, और इससे ऐसा मानते है कि पूर्व निबद्ध कर्म निवृत्त होनेके लिये शीघ्र उदयमे आते है।

---

३३९ बबई, फागुन सुदी १४, १९४८

किसीका दोष नहीं है, हमने कर्म बाँधे इसलिये हमारा दोष है।

ज्योतिषकी आम्नाय सम्बन्धी कुछ विवरण लिखा, सो पढ़ा है। उसका बहुतसा भाग ज्ञात है। तथापि चित्त उसमे जरा भी प्रवेश नही कर सकता, और तत्सम्बन्धी पढ़ना व सुनना कदाचित् चमत्कारिक हो, तो भी बोझरूप लगता है। उसमे किंचित् भी रुचि नही रही है।

हमे तो मात्र अपूर्व सत्के ज्ञानमे ही रुचि रहती है। दूसरा जो कुछ किया जाता है या जिसका अनुसरण किया जाता है, वह सब आसपासके बधनको लेकर किया जाता है।

अभी जो कुछ व्यवहार करते है, उसमे देह और मनको बाह्य उपयोगमे प्रवृत्त करना पड़ता है। आत्मा उसमे प्रवृत्त नही होता। क्वचित् पूर्वकर्मानुसार प्रवृत्त करना पड़ता है, जिससे अत्यन्त आकुलता आ जाती है। जिन कर्मोका पूर्वमे निबधन किया गया है, उन कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये, उन्हे भोग लेनेके लिये, अल्प कालमे भोग लेनेके लिये, यह व्यापार नामके व्यावहारिक कामका दूसरेके लिये सेवन करते हैं।

अभी जो व्यापार करते हैं उस व्यापारके विषयमें हमे विचार आया करता था, और उसके बाद अनुक्रमसे उस कार्यका आरंभ हुआ, तबसे लेकर अब तक दिन प्रतिदिन कार्यकी कुछ वृद्धि होती रही है।

हमने इस कार्यको प्रेरित किया था, इसलिये तत्सम्बन्धी ···· ··यथाशक्ति मजदूरी जैसा काम भी करनेका रखा है। अब कार्यकी सीमा बहुत बढ़ जानेसे निवृत्त होनेकी अत्यन्त बुद्धि हो जाती है। परन्तु·· ·· को दोषबुद्धि आ जानेका सम्भव है, वह अनत ससारका कारण · को हो ऐसा जानकर यथासम्भव चित्तका समाधान करके वह मजदूरी जैसा काम भी किये जाना ऐसा अभी तो सोचा है।

इस कार्यकी प्रवृत्ति करते समय हमारी जितनी उदासीन दशा थी, उससे आज विशेष है। और इसलिये हम प्राय उनकी वृत्तिका अनुसरण नही कर सकते, तथापि जितना हो सकता है उतना अनुसरण तो जैसे-तैसे चित्तका समाधान करके करते आये है।

कोई भी जीव परमार्थकी इच्छा करे और व्यावहारिक सगमे प्रीति रखे, और परमार्थ प्राप्त हो, ऐसा तो कभी हो ही नही सकता। पूर्वकर्मको देखते हुए तो इस कार्यसे निवृत्ति अभी हो ऐसा दिखायी नही देता।

इस कार्यके पश्चात् 'त्याग' ऐसा हमने तो ज्ञानमे देखा था, और अभी ऐसा स्वरूप दीखता है, इतनी आश्चर्यकी बात है। हमारी वृत्तिको परमार्थके कारण अवकाश नही है ऐसा होनेपर भी बहुतसा समय इस काममे बिताते है, और इसका कारण मात्र इतना हो है कि उन्हे दोषबुद्धि न आये। तथापि हमारा आचरण ही ऐसा है, कि यदि जीव उसका ख्याल न कर सके तो इतना काम करते हुए भी दोषबुद्धि ही रहा करे।

---

३४० बंबई, फागुन सुदी १५, रवि, १९४८

जिसमे चार प्रश्न लिखे गये हैं, तथा जिसमे स्वाभाविक भावके विषयमें जिनेंद्रका जो उपदेश है उस विषयमे लिखा है, वह पत्र कल प्राप्त हुआ है।

लिखे हुए प्रश्न बहुत उत्तम हैं, जो मुमुक्षु जीवको परम कल्याणके लिये उठने योग्य है। उन प्रश्नोके उत्तर बादमे लिखनेका विचार है।

जिस ज्ञानसे भवात होता है उस ज्ञानकी प्राप्ति जीवके लिये बहुत दुर्लभ है। तथापि वह ज्ञान स्वरूपसे तो अत्यन्त सुगम है, ऐसा जानते है। उस ज्ञानके सुगमतासे प्राप्त होनेमे जिस दशाकी जरूरत है उस दशाकी प्राप्ति अति अति कठिन है, और उसके प्राप्त होनेके जो दो कारण है उनकी प्राप्तिके बिना जीवको अनतकालसे भटकना पड़ा है, जिन दो कारणोकी प्राप्तिसे मोक्ष होता है।

प्रणाम।

---

३४१ बंबई, फागुन वदी ४, गुरु, १९४८

यहाँसे कल एक पत्र लिखा है, उसे पढ़कर चित्तमे अविक्षिप्त रहिये, समाधि रखिये। वह वार्ता चित्तमें निवृत्त करनेके लिये आपको लिखी है, जिसमे उस जीवकी अनुकंपाके सिवाय दूसरा हेतु नहीं है।

हमे तो चाहे जैसे हो तो भी समाधि ही बनाये रखनेकी दृढ़ता रहती है। अपनेपर जो कुछ आपत्ति, विडबना, दुविधा या ऐसा कुछ आ पड़े तो उसके लिये किसीपर दोषारोपण करनेकी इच्छा नही होती। और परमार्थदृष्टिसे देखते हुए तो वह जीवका दोष है। व्यावहारिकदृष्टिसे देखते हुए नहीं जैसा है, और जीवकी जब तक व्यावहारिकदृष्टि होती है तब तक पारमार्थिक दोषका ख्याल आना बहुत दुष्कर है।

आपके आजके पत्रको विशेषत: पढ़ा है! उससे पहलेके पत्रोंकी भी बहुतसी प्रश्नचर्चा आदि ध्यानमे है। यदि हो सका तो रविवारको इस विषयमे संक्षेपमे कुछ लिखूँगा।

मोक्षके दो मुख्य कारण जो आपने लिखे हैं वे वैसे ही हैं। इस विषयमें विशेष फिर लिखूँगा।

---

३४२ बंबई, फागुन वदी ६, शनि, १९४८

यहां भावसमाधि तो है। आप जो लिखते हैं वह सत्य है। परन्तु ऐसी द्रव्यसमाधि आनेके लिये पूर्वकर्मोंको निवृत्त होने देना योग्य है।

दुषमकालका बड़ेसे बड़ा चिह्न क्या है? अथवा दुषमकाल किसे कहा जाता है? अथवा किन मुख्य लक्षणोसे वह पहचाना जा सकता है? यही विज्ञापन है। लि० बोधबीज।

---

३४३ बंबई, फागुन वदी ७, रवि, १९४८

यहाँ समाधि है।
जो समाधि है वह कुछ अंशोंमे है।
और जो है वह भावसमाधि है।

---

३४४ बंबई, फागुन वदी १०, बुध, १९४८

उपाधि उदयरूपसे रहती है। पत्र आज पहुँचा है।
अभी तो परम प्रेमसे नमस्कार पहुँचे।

---

३४५ बंबई, फागुन वदी ११, १९४८

किसी भी प्रकारसे सत्संगका योग हो तो वह करते रहना, यह कर्तव्य है, और जिस प्रकारसे जीवको ममत्व विशेष हुआ करता हो अथवा बढ़ा करता हो उस प्रकारसे यथासम्भव संकोच करते रहना, यह सत्संगमे भी फल देनेवाली भावना है।

---

३४६ बंबई, फागुन वदी १४, रवि, १९४८

सभी प्रश्नोके उत्तर स्थगित रखनेकी इच्छा है।
पूर्वकर्म शीघ्र निवृत्त हो, ऐसा करते हैं।
कृपाभाव रखिये और प्रणाम स्वीकार कीजिये।

---

३४७ बंबई, फागुन वदी ३०, सोम, १९४८

ॐ

आत्मस्वरूपसे हृदयरूप विश्राममूर्ति श्री सौभाग्यके प्रति,

हमारा विनययुक्त प्रणाम पहुँचे।

यहाँ प्रायः आत्मदशासे सहजसमाधि रहती है। बाह्य उपाधिका योग विशेषतः उदयको प्राप्त होनेसे तदनुसार प्रवृत्ति करनेमें भी स्वस्थ रहना पड़ता है।

जानते है कि जो परिणाम बहुत कालमे प्राप्त होनेवाला है वह उससे थोड़े कालमे प्राप्त होनेके लिये वह उपाधियोग विशेषतः रहता है।

आपके बहुतसे पत्र हमे मिले हैं। उनमे लिखी हुई ज्ञानसम्बन्धी वार्ता प्राय हमने पढ़ी है। उन सब प्रश्नोंके उत्तर प्रायः नही लिखे गये हैं, इसके लिए क्षमा करना योग्य है।

उन पत्रोंमे प्रसंगात् कोई कोई व्यावहारिक वार्ता भी लिखी है, जिसे हम चित्तपूर्वक पढ सके ऐसा होना विकट है। और उस वार्तासम्बन्धी प्रत्युत्तर लिखने जैसा नही सूझता है। इसलिये उसके लिये भी क्षमा करना योग्य है।

अभी यहाँ हम व्यावहारिक काम तो प्रमाणमे बहुत करते हैं, उसमे मन भी पूरी तरह लगाते हैं, तथापि वह मन व्यवहारमे नही जमता, अपनेमे ही लगा रहता है, इसलिये व्यवहार बहुत बाझरूप रहता है।

सारा लोक तीनो कालमे दु.खसे पोडित माना गया है, और उसमे भी जो चल रहा है, वह तो महा दुषमकाल है; और सभी प्रकारसे विश्रांतिका कारणभूत जो 'कर्तव्यरूप श्री सत्सग' है, वह तो सभी कालमे प्राप्त होना दुर्लभ है। वह इस कालमे प्राप्त होना अति-अति दुर्लभ हो यह कुछ आश्चर्यकारक नही है।

हम कि जिनका मन प्राय क्रोधसे, मानसे, मायासे, लोभसे, हास्यसे, रतिसे, अरतिसे, भयसे, शोकसे, जुगुप्सासे या शब्द आदि विषयोसे अप्रतिबद्ध जैसा है, कुटुम्बसे, धनसे, पुत्रसे, 'वैभवसे', स्त्रीसे या देहसे मुक्त जैसा है, ऐसे मनको भी सत्सगमे बाँध रखनेकी अत्यधिक इच्छा रहा करती है; ऐसा होनेपर भी हम और आप अभी प्रत्यक्षरूपसे तो वियोगमे रहा करते है यह भी पूर्व निबंधनके किसी बड़े प्रबन्धके उदयमे होनेके कारण सम्भव है।

ज्ञानसम्बन्धी प्रश्नोके उत्तर लिखवानेकी आपकी अभिलाषाके अनुसार करनेमे प्रतिबन्ध करनेवाली एक चित्तस्थिति हुई है जिससे अभी तो उस विषयमे क्षमा प्रदान करना योग्य है।

आपकी लिखी हुई कितनी ही व्यावहारिक बातें ऐसी थी कि जिन्हे हम जानते है। उनमे कुछ उत्तर लिखने जैसी भी थी। तथापि मन वैसी प्रवृत्ति न कर सका इसलिये क्षमा करना योग्य है।

---

३४८ बंबई, चैत्र सुदी २, बुध, १९४८

नमस्कार पहुँचे।

यह लोकस्थिति ही ऐसी है कि उसमे सत्यकी भावना करना परम विकट है। सभी रचना असत्यके आग्रहकी भावना करानेवाली है।

---

३४९ बंबई, चैत्र सुदी ४, शुक्र, १९४८

नमस्कार पहुँचे।

लोकस्थिति आश्चर्यकारक है।

---

३५० बंबई, चैत्र सुदी ६, रवि, १९४८

ज्ञानीको [1]सर्वसंग परित्याग करनेका क्या हेतु होगा ?

प्रणाम प्राप्त हो।

---

३५१ बंबई, चैत्र सुदी ९, बुध, १९४८

बाह्योपाधि प्रसंग रहता है।

यथासम्भव सद्विचारका परिचय हो, ऐसा करनेके लिये उपाधिमें उलझे रहनेसे योग्यरूपसे प्रवृत्ति न हो सके, इस बातको ध्यानमे रखने योग्य ज्ञानियोने जाना है।

प्रणाम।

---

३५२ बंबई, चैत्र सुदी ९, बुध, १९४८

शुभोपमायोग्य मेहता श्री ५ चत्रभुज बेचर,

आपने अभी सभीसे कटाला आनेके बारेमें जो लिखा है उसे पढकर खेद हुआ। मेरा विचार तो ऐसा रहता है कि यथासम्भव वैसे कटालेका शमन करें और उसे सहन करें।

किन्ही दु खके प्रसंगोमे ऐसा हो जाता है और उसके कारण वैराग्य भी रहता है, परन्तु जीवका सच्चा कल्याण और सुख तो यो मालूम होता है कि उस सब कटालेका कारण अपना उपार्जित प्रारब्ध है, जो भोगे बिना निवृत्त नही होता, और उसे समतासे भोगना योग्य है। इसलिये मनके कटालेको यथाशक्ति शात करें और उपार्जित न किये हुए कर्म भोगनेमे नही आते, ऐसा समझकर दूसरे किसीके प्रति दोषदृष्टि करनेकी वृत्तिको यथाशक्ति शात करके समतासे प्रवृत्ति करना योग्य लगता है, और यही जीवका कर्तव्य है।

लि० रायचदके प्रणाम।

---

३५३ बंबई, चैत्र सुदी १२, शुक्र, १९४८

ॐ

आप सबका मुमुक्षुतापूर्वक लिखा हुआ पत्र मिला है।

समय मात्रके लिये भी अप्रमत्तधाराका विस्मरण न करनेवाला ऐसा आत्माकार मन वर्तमान समयमें उदयानुसार प्रवृत्ति करता है, और जिस किसी भी प्रकारसे प्रवृत्ति की जाती है, उसका कारण पूर्वमे निबन्धन करनेमे आया हुआ उदय ही है। इस उदयमें प्रीति भी नही है, और अप्रीति भी नही है। समता है, करने योग्य भी यही है। पत्र ध्यानमें है।

यथायोग्य।

---

३५४ बंबई, चैत्र सुदी १३, रवि, १९४८

समकितकी स्पर्शना कब हुई समझी जाये ? उस समय कैसी दशा रहती है ? इस विषयका अनुभव करके लिखियेगा।

संसारी उपाधिका जैसे होता हो वैसे होने देना, कर्तव्य यही है, अभिप्राय यही रहा करता है। धीरजसे उदयका वेदन करना योग्य है।

---

१. देखें आक ३३४ और ६६३

३५५ बंबई, चैत्र, वदी १, बुध, १९४८

सम्यक्त्वकी स्पर्शनाके सम्बन्धमे विशेषरूपसे लिखा जा सके तो लिखियेगा।

लिखा हुआ उत्तर सत्य है।

प्रतिबंधता दुःखदायक है, यही विज्ञापन। स्वरूपस्थ यथायोग्य।

---

३५६ बंबई, चैत्र वदी १, बुध, १९४८

आत्मसमाधिपूर्वक योग-उपाधि रहा करती है, जिस प्रतिबंधके कारण अभी तो कुछ इच्छित काम नहीं किया जा सकता।

ऐसे ही हेतुके कारण श्री ऋषभ आदि ज्ञानियोंने शरीर आदिकी प्रवर्तनाके भानका भी त्याग किया था। समस्थितभाव।

---

३५७ बंबई, चैत्र वदी ५, रवि, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

आपके एकके बाद एक बहुतसे सविस्तर पत्र मिला करते हैं, जिनमे प्रसगोपात्त शीतल ज्ञानवार्ता भी आया करती है। परंतु खेद होता है कि उस विषयमे प्रायः हमसे अधिक लिखना नही हो सकता।

सत्संग होनेके प्रसंगकी इच्छा करते हैं, परंतु उपाधियोगके उदयका भी वेदन किये बिना उपाय नही है। चित्त बहुत बार आपमे रहा करता है। जगतमे दूसरे पदार्थ तो हमारे लिये कुछ भी रुचिकर नही रहे हैं। जो कुछ रुचि रही है वह मात्र एक सत्यका ध्यान करनेवाले सन्तमे, जिसमे आत्माका वर्णन है ऐसे सत्शास्त्रमे, और परेच्छासे परमार्थके निमित्तकारण ऐसे दान आदिमें रही है। आत्मा तो कृतार्थ प्रतीत होता है।

---

३५८ बबई, चैत्र वदी ५, रवि, १९४८

जगतके अभिप्रायकी ओर देखकर जीवने पदार्थका बोध पाया है। ज्ञानीके अभिप्रायकी ओर देखकर पाया नहीं है। जिस जीवने ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाया है उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है।

'विचारसागर' अनुक्रमसे (प्रारंभसे अन्त तक) विचार करनेका अभ्यास अभी हो सके तो करना योग्य है।

हम दो प्रकारका मार्ग जानते हैं। एक उपदेशप्राप्तिका मार्ग और दूसरा वास्तविक मार्ग। 'विचारसागर' उपदेशप्राप्तिके लिये विचारणीय है।

जब हम जैनशास्त्र पढनेके लिये कहते हैं तब जैनी होनेके लिये नहीं कहते, जब वेदातशास्त्र पढ़नेके लिये कहते हैं, तब वेदाती होनेके लिये नही कहते, इसी तरह अन्य शास्त्र पढ़नेके लिये कहते है तो अन्य होनेके लिये नही कहते, मात्र जो कहते है वह आप सबको उपदेश लेनेके लिये कहते हे। जैनी और वेदाती आदिके भेदका त्याग करें। आत्मा वैसा नही है।

---

३५९ बबई, चैत्र वदी ८, १९४८

हृदयरूप सुभाग्य,

आज एक पत्र प्राप्त हुआ है।

पत्र पढ़नेसे और वृत्तिज्ञानसे, अभी आपको कुछ ठीक तरहसे धीरजबल रहता है यह जानकर सन्तोष हुआ है।

किसी भी प्रकारसे पहले तो जीवका अहंत्व दूर करना योग्य है। जिसका देहाभिमान गलित हुआ है उसके लिये सब कुछ सुखरूप ही है। जिसे भेद नही है उसे खेदका सम्भव नहीं है। हरीच्छामें दृढ विश्वास रखकर आप प्रवृत्ति करते है, यह भी सापेक्ष सुखरूप है। आप जो कुछ विचार लिखना चाहते हैं उन्हे लिखनेमे भेद नही रखते, इसे हम भी जानते है।

---

३६० बंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९४८

जहाँ पूर्णकामता है, वहाँ सर्वज्ञता है।

जिसे बोधबीजकी उत्पत्ति होती है, उसे स्वरूपसुखसे परितृप्तता रहती है, और विषयके प्रति अप्रयत्न दशा रहती है।

जिस जीवनमे क्षणिकता है, उस जीवनमे ज्ञानियोने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरजकी बात है।

यदि जीवको परितृप्तता न रहा करती हो तो उसे अखण्ड आत्मबोध नहीं है ऐसा समझें।

---

३६१ बंबई, वैशाख सुदी ३, शुक्र (अक्षयतृतीया), १९४८

भावसमाधि है। बाह्यउपाधि है, जो भावसमाधिको गौण कर सके ऐसी स्थितिवाली है, फिर भी समाधि रहती है।

---

३६२ बंबई, वैशाख सुदी ४, शनि, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

नमस्कार पहुँचे।

यहाँ आत्मता होनेसे समाधि है।

हमने पूर्णकामताके बारेमे लिखा है, वह इस आशयसे लिखा है कि जितना ज्ञान प्रकाशित होता है उतनी शब्द आदि व्यावहारिक पदार्थोंमे निःस्पृहता रहती है, आत्मसुखसे परितृप्तता रहती है। अन्य सुखकी इच्छा न होना, यह पूर्णज्ञानका लक्षण है।

ज्ञानी अनित्य जीवनमें नित्यता प्राप्त करते है, ऐसा जो लिखा है वह इस आशयसे लिखा है कि उन्हे मृत्युसे निर्भयता रहती है। जिन्हे ऐसा हो उनके लिये फिर यों न कहे कि वे अनित्यतामे रहते हैं तो यह बात सत्य है।

जिसे सच्चा आत्मभान होता है उसे, मैं अन्य भावका अकर्त्ता हूँ, ऐसा बोध उत्पन्न होता है और उसकी अहप्रत्ययीबुद्धि विलीन हो जाती है।

ऐसा आत्मभान उज्ज्वलरूपसे निरंतर रहा करता है, तथापि जैसा चाहते है वैसा तो नही है। यहाँ समाधि है।

समाधिरूप।

---

३६३ बंबई, वैशाख सुदी ५, रवि, १९४८

अभी तो अनुक्रमसे उपाधियोग विशेष रहा करता है।

अधिक क्या लिखें? व्यवहारके प्रसंगमे धीरज रखना योग्य है। इस बातका विसर्जन नही होता हो, ऐसी धारणा रहा करती है।

अनंतकाल व्यवहार करनेमे व्यतीत किया है, तो फिर उसकी झंझटमे परमार्थका विसर्जन न किया जाये, ऐसी प्रवृत्ति करनेका जिसका निश्चय है, उसे वैसा होता है, ऐसा हम जानते है।

वनमे उदासीनतासे स्थित जो योगी—तीर्थंकर आदि—है उनके आत्मत्वकी याद आती है।

---

३६४ बंबई, वैशाख सुदी ९, गुरु, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

यहाँ समाधि है। बाह्योपाधि है।

अभी कुछ ज्ञानवार्ता लिखनेका व्यवसाय कम रखा है, उसे प्रकाशित कीजियेगा।

---

३६५ बंबई, वैशाख सुदी ११, शनि, १९४८

आज पत्र आया है।

व्यवसाय विशेष रहता है।

'प्राणविनियम' नामको मिस्मिरेजमकी पुस्तक पहले पढ़नेमे आ चुकी है, उसमें बतायी हुई बात कोई बड़ी आश्चर्यकारक नहीं है; तथापि उसमें कितनी हो बातें अनुभवकी अपेक्षा अनुमानसे लिखी हैं। उनमे कितनी ही असंभव हैं।

जिसे आत्मत्वका ध्येय नहीं है, उसके लिये यह बात उपयोगी है, हमे तो उसके प्रति कुछ ध्यान देकर समझानेकी इच्छा नहीं होती, अर्थात् चित्त ऐसे विषयकी इच्छा नहीं करता।

यहाँ समाधि है। बाह्य प्रतिबद्धता रहती है। सत्स्वरूपपूर्वक नमस्कार

---

३६६ बंबई, वैशाख सुदी १२, रवि, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

मनमे वारंवार विचार करनेसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिर कर अन्यभावमे ममत्व नहीं होता, और अखण्ड आत्मध्यान रहा करता है, ऐसी दशामें विकट उपाधियोगका उदय आश्चर्यकारक है। अभी तो थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति मुश्किलसे रहती है और प्रवृत्ति कर सकनेकी योग्यतावाला तो चित्त नहीं है, और अभी वैसी प्रवृत्ति करना कर्तव्य है, तो उदासीनतासे ऐसा करते हैं; मन कहीं भी नहीं लगता, और कुछ भी अच्छा नहीं लगता; तथापि अभी हरीच्छाके अधीन हैं।

निरुपम आत्मध्यान जो तीर्थंकर आदिने किया है, वह परम आश्चर्यकारक है। वह काल भी आश्चर्यकारक था। अधिक क्या कहें ? 'वनकी मारी कोयल' की कहावतके अनुसार इस कालमे और इस प्रवृत्तिमें हम हैं।

---

३६७ बंबई, वैशाख वदी १, गुरु, १९४८

आपका पत्र प्राप्त हुआ।

उपाधिप्रसंग तो रहता है, तथापि आत्मसमाधि रहती है। अभी कुछ ज्ञानप्रसंग लिखियेगा।

नमस्कार पहुँचे।

---

३६८ बंबई, वैशाख वदी ६, मंगल, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

पत्र प्राप्त हुआ था। यहाँ समाधि है।

सट्टेमें जीव[१] रहता है, यह खेदकी बात है; परन्तु यह तो जीवको स्वतः विचार किये बिना समझमें नहीं आ सकता।

---

१. मणिभाई सौभाग्यभाईके संबंधमें।

ज्ञानीसे यदि किसी भी प्रकारसे धन आदिकी इच्छा रखी जाती है, तो जीवको दर्शनावरणीय कर्मका प्रतिबन्ध विशेष उत्पन्न होता है। प्रायः ज्ञानी, किसीको अपनेसे वैसा प्रतिबन्ध न हो, इस तरह प्रवृत्ति करते हैं।

ज्ञानी अपना उपजीवन—आजीविका भी पूर्वकर्मानुसार करते हैं; ज्ञानमें प्रतिबद्धता हो, इस तरह आजीविका नही करते, अथवा इस तरह आजीविका करानेके प्रसंगको नही चाहते, ऐसा हम जानते हैं।

जिसे ज्ञानीमें केवल निःस्पृह भक्ति है, उनसे अपनी इच्छा पूर्ण होती हुई न देखकर भी जिसमें दोष-बुद्धि नही आती ऐसे जीवकी आपत्तिका ज्ञानीके आश्रयसे धैर्यपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे नाश होता है, अथवा उसकी बहुत मंदता हो जाती है, ऐसा जानते हैं; तथापि इस कालमे ऐसी धीरज रहनी बहुत विकट है, और इसलिये उपरोक्त परिणाम बहुत बार आता हुआ रुक जाता है।

हमे तो ऐसी झंझटमे उदासीनता रहती है। यह तो स्मरणमे आ जानेसे लिखा है।

हममे विद्यमान परम वैराग्य व्यवहारमे कभी भी मनको लगने नही देता, और व्यवहारका प्रति-बंध तो सारे दिनभर रखना ही पड़ता है। अभी तो उदयकी ऐसी स्थिति है, इससे संभव होता है कि वह भी सुखका हेतु है।

हम तो पाँच माससे जगत, ईश्वर और अन्यभाव इन सबसे उदासीन भावसे रह रहे हैं तथापि यह बात गंभीरताके कारण आपको नही लिखी। आप जिस प्रकारसे ईश्वर आदिमें श्रद्धाशील हैं, आपके लिये उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करना कल्याणकारक है, हमे तो किसी तरहका भेदभाव उत्पन्न न होनेसे सब कुछ झंझटरूप है इसलिये ईश्वर आदि सहित सबमें उदासीनता रहती है। हमारे इस प्रकारके लिखनेको पढकर आपको किसी प्रकारसे संदेहमें पड़ना योग्य नही है।

अभी तो हम इस स्थितिमे रहते हैं, इसलिये किसी प्रकारकी ज्ञानवार्ता भी लिखी नहीं जा सकती; परंतु मोक्ष तो हमे सर्वथा निकटरूपसे रहता है, यह तो निःशंक बात है। हमारा चित्त आत्माके सिवाय किसी अन्य स्थलपर प्रतिबद्ध नही होता, क्षणभरके लिये भी अन्यभावमें स्थिर नही होता; स्वरूपमें स्थिर रहता है। ऐसा जो हमारा आश्चर्यकारक स्वरूप है उसे अभी तो कहीं भी कहा नहीं जाता। बहुत मास बीत जानेसे आपको लिखकर संतोष मानते हैं।

नमस्कार पढ़ियेगा। हम भेदरहित हैं।

---

३६९ बंबई, वैशाख वदी ९, शुक्र, १९४८

सब कुछ हरिके अधीन है।
पत्रप्रसादी प्राप्त हुई है।
यहाँ समाधि है।
सविस्तार पत्र अब फिर,
निरुपायताके कारण लिखा नही जा सकता।

---

३७० बंबई, वैशाख वदी ११, रवि, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्यके प्रति,

अविच्छिन्नरूपसे जिन्हें आत्मध्यान रहता है, ऐसे श्री..........के प्रणाम पहुँचे।

जिसमे अनेक प्रकारकी प्रवृत्ति रहती है ऐसे योगमें अभी तो रहते हैं। उसमें आत्मस्थिति उत्कृष्टरूपसे विद्यमान देखकर श्री.......के चित्तको अपने आपसे नमस्कार करते हैं।

बहुत प्रकारसे समागमकी और बाह्य प्रवृत्तिके योगत्यागकी जिनकी चित्तवृत्ति किसी प्रकारसे भी रहती है ऐसे हम अभी तो इतना लिखकर रुक जाते है।

---

३७१ बंबई, वैशाख वदी १३, मंगल, १९४८

श्री कलोलवासी जिज्ञासु श्री कुंवरजीके प्रति,

जिन्हें निरंतर अभेदध्यान रहता है ऐसे श्री बोधपुरुषके यथायोग्य विदित हो।

यहाँ अन्तरमे तो समाधि रहती है, और बाह्य उपाधियोग रहता है, आपके लिखे हुए तीन पत्र प्राप्त हुए है, और उस कारणसे उत्तर नही लिखा।

इस कालकी विषमता ऐसी है कि जिसमे बहुत समय तक सत्संगका सेवन हुआ हो तो जीवमे लोकभावना कम होती है, अथवा लयको प्राप्त होती है। लोकभावनाके आवरणके कारण जीवको परमार्थ-भावनाके प्रति उल्लासपरिणति नहीं होती, और तब तक लोकसहवास भवरूप होता है।

जो सत्संगका सेवन निरन्तर चाहता है, ऐसे मुमुक्षु जीवको, जब तक उस योगका विरह रहे तब तक दृढभावसे उस भावनाकी इच्छा करके प्रत्येक कार्यको करते हुए विचारसे प्रवृत्ति करके, अपनेमे लघुता मान्य करके, अपने देखनेमे आनेवाले दोषकी निवृत्ति चाहकर सरलतासे प्रवृत्ति करते रहना, और जिस कार्यसे उस भावनाकी उन्नति हो ऐसी ज्ञानवार्ता या ज्ञानलेख या ग्रंथका कुछ कुछ विचार करते रहना यह योग्य है।

जो बात ऊपर कही है उसमे बाधा करनेवाले बहुतसे प्रसंग आप लोगोके सामने आया करते है ऐसा हम जानते है, तथापि उन सब बाधक प्रसगोंमें यथासंभव सदुपयोगसे विचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करें, यह अनुक्रमसे होने जैसी बात है। किसी भी प्रकारसे मनमें संतप्त होना योग्य नही है। जो कुछ पुरुषार्थ हो उसे करनेकी दृढ इच्छा रखना योग्य है, और जिसे परम बोधस्वरूपकी पहचान है, ऐसे पुरुषको तो निरन्तर वैसी प्रवृत्ति करनेके पुरुषार्थमे परेशान होना योग्य नही है।

अनतकालमे जो प्राप्त नही हुआ है, उसकी प्राप्तिमे अमुक काल व्यतीत हो तो हानि नही है। मात्र अनंतकालमे जो प्राप्त नही हुआ है उसके विषयमें भ्रांति हो जाये, भूल हो जाये वह हानि है। यदि ज्ञानीका परम स्वरूप भासमान हुआ है, तो फिर उसके मार्गमे अनुक्रमसे जीवका प्रवेश होता है, यह सरलतासे समझमें आने जैसी बात है।

सम्यक् प्रकारसे इच्छानुसार प्रवृत्ति करें। वियोग है तो उसमे कल्याणका भी वियोग है, यह बात सत्य है, तथापि यदि ज्ञानीके वियोगमे भी उसीमे चित्त रहता है, तो कल्याण है। धीरजका त्याग करना योग्य नही है।

श्री स्वरूपके यथायोग्य

---

३७२ बंबई, वैशाख वदी १४, बुध, १९४८

आपका एक पत्र आज प्राप्त हुआ।

आपने उपाधिके दूर होनेमे जो समागममें रहने रूप मुख्य कारण बताया है वह यथातथ्य है। आपने पहले भी अनेक प्रकारसे वह कारण बताया है, परन्तु वह ईश्वरेच्छाधीन है। जिस किसी भी प्रकारसे पुरुषार्थ हो उस प्रकारसे अभी तो करें और समागमकी परम इच्छामें हो अभेदचिंतन रखें। आजीविकाके कारणमे प्रसगोपात्त विह्वलता आ जाती है यह सच है; तथापि धैर्य रखना योग्य है। जल्दी करनेकी जरूरत नही है, और वैसे वास्तविक भयका कोई कारण नही है। श्री—

३७३ बंबई, वैशाख वदी १४, बुध, १९४८

मोहमयीसे जिनकी अमोहरूपसे स्थिति है, ऐसे श्री ······के यथायोग्य।

"मनके कारण यह सब है" ऐसा जो अब तकका हुआ निर्णय लिखा, वह सामान्यतः तो यथातथ्य है। तथापि 'मन', 'उसके कारण', 'यह सब' और 'उसका निर्णय' ऐसे जो चार भाग इस वाक्यके होते हैं, वे बहुत समयके बोधसे यथातथ्य समझमें आते है, ऐसा मानते है। जिसे ये समझमे आते हैं, उसका मन वशमें रहता है; रहता है यह बात निश्चयरूप है; तथापि यदि न रहता हो, तो भी वह आत्मस्वरूपमे ही रहता है। मनके वश होनेका यह उत्तर ऊपर लिखा है, वह सबसे मुख्य लिखा है। जो वाक्य लिखे गये है वे बहुत प्रकारसे विचारणीय हैं।

महात्माकी देह दो कारणोसे विद्यमान रहती है—प्रारब्ध कर्मको भोगनेके लिये और जीवोंके कल्याणके लिये, तथापि वे इन दोनोमे उदासीनतासे उदयानुसार प्रवृत्ति करते है ऐसा हम जानते है।

ध्यान, जप, तप और क्रिया मात्र इन सबसे हमारे बताये हुए किसी वाक्यको यदि परम फलका कारण समझते हो तो, निश्चयसे समझते हो तो, पीछेसे बुद्धि लोकसंज्ञा, शास्त्रसंज्ञापर न जाती हो तो, जाये तो वह भ्रांतिसे गयी है, ऐसा समझते हो तो, और उस वाक्यका अनेक प्रकारके धैर्यसे विचार करना चाहते हो तो, लिखनेकी इच्छा होती है। अभी इससे विशेषरूपसे निश्चय-विषयक धारणा करनेके लिये लिखना आवश्यक जैसा लगता है, तथापि चित्तमे अवकाश नही है, इसलिये जो लिखा है उसे प्रबलतासे माने।

सब प्रकारसे उपाधियोग तो निवृत्त करने योग्य है; तथापि यदि वह उपाधियोग सत्संग आदिके लिये ही चाहा जाता हो तथा फिर चित्तस्थिति सभवरूपसे रहती हो तो उस उपाधियोगमे प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर है। अप्रतिबद्ध प्रणाम।

---

३७४ बंबई, वैशाख, १९४८

"चाहे जितनी विपत्तियाँ पडे, तथापि ज्ञानीसे सांसारिक फलकी इच्छा करना योग्य नहीं है।"

उदयमे आया हुआ अतराय समपरिणामसे वेदन करने योग्य है, विषमपरिणामसे वेदन करने योग्य नही है।

आपकी आजीविका सम्बन्धी स्थिति बहुत समयसे ज्ञात है; यह पूर्वकर्मका योग है।

जिसे यथार्थ ज्ञान है ऐसा पुरुष अन्यथा आचरण नही करता, इसलिये आपने जो आकुलताके कारण इच्छा अभिव्यक्त की, वह निवृत्त करने योग्य है।

ज्ञानीके पास सासारिक वैभव हो तो भी मुमुक्षुको किसी भी प्रकारसे उसकी इच्छा करना योग्य नही है। प्रायः ज्ञानीके पास वैसा वैभव होता है, तो वह मुमुक्षुकी विपत्ति दूर करनेके लिये उपयोगी होता है। पारमार्थिक वैभवसे ज्ञानी मुमुक्षुको सासारिक फल देना नही चाहते; क्योकि यह अकर्तव्य है—ऐसा ज्ञानी नहीं करते।

धीरज न रहे ऐसी आपकी स्थिति है ऐसा हम जानते हैं, फिर भी धीरजमे एक अंशकी भी न्यूनता न होने देना, यह आपका कर्तव्य है; और यह यथार्थ बोध पानेका मुख्य मार्ग है।

अभी तो हमारे पास ऐसा कोई सासारिक साधन नही है कि जिससे आपके लिये धीरजका कारण होवें; परन्तु वैसा प्रसग ध्यानमें रहता है; बाकी दूसरे प्रयत्न तो करने योग्य नही है।

किसी भी प्रकारसे भविष्यका सांसारिक विचार छोड़कर वर्तमानमे समतापूर्वक प्रवृत्ति करनेका दृढ़ निश्चय करना यह आपके लिये योग्य है। भविष्यमे जो होना योग्य होगा, वह होगा, वह अनिवार्य है, ऐसा समझकर परमार्थ-पुरुषार्थकी ओर सन्मुख होना योग्य है।

चाहे जिस प्रकारसे भी इस लोकलज्जारूप भयके स्थानभूत भविष्यका विस्मरण करना योग्य है। उसकी 'चिन्तासे' परमार्थका विस्मरण होता है। और ऐसा होना महान आपत्तिरूप है; इसलिये वह आपत्ति न आये इतना ही वारवार विचारणीय है। बहुत समयसे आजीविका और लोकलज्जाका खेद आपके अन्तरमे इकट्ठा हुआ है। इस विषयमे अब तो निर्भयता ही अंगीकार करना योग्य है। फिर कहते हैं कि यही कर्तव्य है। यथार्थ बोधका यह मुख्य मार्ग है। इस स्थलमे भूल खाना योग्य नही है। लज्जा और आजीविका मिथ्या हैं। कुटुब आदिका ममत्व रखेंगे तो भी जो होना होगा वही होगा। उसमे समता रखेंगे तो भी जो होना योग्य होगा वही होगा। इसलिये निःशकतासे निरभिमानी होना योग्य है।

समपरिणाममे परिणमित होना योग्य है, और यही हमारा उपदेश है। यह जब तक परिणमित नही होगा तब तक यथार्थ बोध भी परिणमित नही होगा।

---

३७५ बबई, वैशाख, १९४८

जिनागम उपशमस्वरूप है। उपशमस्वरूप पुरुषोने उपशमके लिये उसका प्ररूपण किया है, उपदेश किया है। यह उपशम आत्माके लिये है, अन्य किसी प्रयोजनके लिये नही है। आत्मार्थमे यदि उसका आराधन नही किया गया, तो उस जिनागमका श्रवण एव अध्ययन निष्फलरूप है, यह बात हमे तो निःसदेह यथार्थ लगती है।

दु:खकी निवृत्तिको सभी जीव चाहते है, और दु.खकी निवृत्ति, जिनसे दुःख उत्पन्न होता है ऐसे राग, द्वेष और अज्ञान आदि दोषोकी निवृत्ति हुए बिना, होना सभव नही है। इन राग आदिकी निवृत्ति एक आत्मज्ञानके सिवाय दूसरे किसी प्रकारसे भूतकालमे हुई नही है, वर्तमानकालमे होती नही है, भविष्य-कालमे हो नही सकती। ऐसा सर्व ज्ञानी पुरुषोको भासित हुआ है। इसलिये वह आत्मज्ञान जीवके लिये प्रयोजनरूप है। उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय सद्गुरुवचनका श्रवण करना या सत्शास्त्रका विचार करना है। जो कोई जीव दुःखकी निवृत्ति चाहता हो, जिसे दु खसे सर्वथा मुक्ति पानी हो उसे इसी एक मार्गकी आराधना किये बिना अन्य दूसरा कोई उपाय नही है। इसलिये जीवको सर्व प्रकारके मतमतातरसे, कुलधर्मसे, लोकसज्ञारूप धर्मसे और ओघसज्ञारूप धर्मसे उदासीन होकर एक आत्मविचार कर्तव्यरूप धर्मकी उपासना करना योग्य है।

एक बडी निश्चयकी बात तो मुमुक्षु जीवको यही करना योग्य है कि सत्सग जैसा कल्याणका कोई बलवान कारण नही है, और उस सत्सगमे निरन्तर प्रति समय निवास चाहना, असत्सगका प्रतिक्षण विपरिणाम विचारना, यह श्रेयरूप है। बहुत बहुत करके यह बात अनुभवमे लाने जैसी है।

यथाप्रारब्ध स्थिति है इसलिये बलवान उपाधियोगमे विषमता नही आती। अत्यन्त ऊब जानेपर भी उपशमका, समाधिका यथारूप रहना होता है; तथापि चित्तमे निरन्तर सत्सगकी भावना रहा करती है। सत्सगका अत्यन्त माहात्म्य पूर्व भवमे वेदन किया है, वह पुनः पुनः स्मृतिमे आता है और निरन्तर अभंगरूपसे वह भावना स्फुरित रहा करती है।

जब तक इस उपाधियोगका उदय है तब तक समतासे उसका निर्वाह करना, ऐसा प्रारब्ध है; तथापि जो काल व्यतीत होता है वह उसके त्यागके भावमे प्राय: बीता करता है।

निवृत्तिके योग्य क्षेत्रमे चित्तस्थिरतासे अभी 'सूत्रकृतागसूत्र' के श्रवण करनेकी इच्छा हो तो करने-मे बाधा नही है। मात्र जीवको उपशमके लिये वह करना योग्य है। किस मतकी विशेषता है; किस मत-की न्यूनता है; ऐसे अन्यार्थमे पड़नेके लिये वैसा करना योग्य नही है। उस 'सूत्रकृताग' की रचना जिन पुरुषोंने की है, वे आत्मस्वरूप पुरुष थे, ऐसा हमारा निश्चय है।

'यह कर्मरूप क्लेश जो जीवको प्राप्त हुआ है, वह कैसे दूर हो ?' ऐसा प्रश्न मुमुक्षु शिष्यके मनमें उत्पन्न करके 'बोध प्राप्त करनेसे दूर हो' ऐसा उस 'सूत्रकृतांग' का प्रथम वाक्य है। 'वह बन्धन क्या ? और क्या जाननेसे वह टूटे ?' ऐसा दूसरा प्रश्न वहाँ शिष्यको होना सभव है और उस बन्धनको वीरस्वामीने किस प्रकारसे कहा है ? ऐसे वाक्यसे उस प्रश्नको रखा है, अर्थात् शिष्यके प्रश्नमें उस वाक्यको रखकर ग्रन्थकार यो कहते है कि आत्मस्वरूप श्री वीरस्वामीका कहा हुआ तुम्हे कहेंगे क्योंकि आत्मस्वरूप पुरुष आत्मस्वरूपके लिये अत्यन्त प्रतीति योग्य है। उसके बाद ग्रन्थकार उस बन्धनका स्वरूप कहते हैं वह पुन॰ पुन॰ विचार करने योग्य है। तत्पश्चात् इसका विशेष विचार करनेपर ग्रन्थकारको स्मृति हो आयी कि यह समाधिमार्ग आत्माके निश्चयके बिना घटित नही होता; और जगतवासी जीवोने अज्ञानी उपदेशकोसे जीवका स्वरूप अन्यथा जानकर, कल्याणका स्वरूप अन्यथा जानकर, अन्यथाका यथार्थतासे निश्चय किया है, उस निश्चयका भंग हुए बिना, उस निश्चयमे सदेह हुए बिना, जिस समाधिमार्गका हमने अनुभव किया है वह उन्हे किसी प्रकारसे सुनानेसे कैसे फलीभूत होगा ? ऐसा जानकर ग्रन्थकार कहते है कि 'ऐसे मार्गका त्याग करके कोई एक श्रमण ब्राह्मण अज्ञानतासे, बिना विचारे अन्यथा प्रकारसे मार्ग कहता है', ऐसा कहते थे। उस अन्यथा प्रकारके पश्चात् ग्रन्थकार निवेदन करते है कि कोई पंचमहाभूतका ही अस्तित्व मानते है, और उससे आत्माका उत्पन्न होना मानते हैं, जो घटित नही होता। ऐसे बताकर आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करते है। यदि जीवने अपनी नित्यताको नही जाना, तो फिर निर्वाणका प्रयत्न किसलिये होगा ? ऐसा अभिप्राय बताकर नित्यता दिखलायी है। उसके बाद भिन्न-भिन्न प्रकारसे कल्पित अभिप्राय प्रदर्शित करके यथार्थ अभिप्रायका बोध देकर यथार्थ मार्गके बिना छुटकारा नही है, गर्भस्थिति दूर नही होती, जन्म दूर नही होता, मरण दूर नहीं होता, दु॰ख दूर नही होता, आधि, व्याधि और उपाधि कुछ भी दूर नही होते और हम ऊपर जो कह आये है ऐसे सभी मतवादी ऐसे ही विषयोमे संलग्न है कि जिससे जन्म, जरा, मरण आदिका नाश नही होता, ऐसा विशेष उपदेशरूप आग्रह करके प्रथम अध्ययन समाप्त किया है। तत्पश्चात् अनुक्रमसे इससे बढते हुए परिणामसे उपशम-कल्याण-आत्मार्थका उपदेश दिया है। उसे ध्यानमे रखकर अध्ययन व श्रवण करना योग्य है। कुलधर्मके लिये 'सूत्रकृताग' का अध्ययन, श्रवण निष्फल है।

---

३७६ बम्बई, वैशाख वदी, १९४८

श्री स्थभतीर्थवासी जिज्ञासुके प्रति,

श्री मोहमयीसे अमोहस्वरूप ऐसे श्री रायचन्द्रके आत्मसमानभावकी स्मृतिसे यथायोग्य पढ़ियेगा।

अभी यहाँ बाह्यप्रवृत्तिका योग विशेषरूपसे रहता है। ज्ञानीकी देह उपार्जन किये हुए पूर्व कर्मोंको निवृत्त करनेके लिये और अन्यकी अनुकपाके लिये होती है।

जिस भावसे ससारकी उत्पत्ति होती है, वह भाव जिनका निवृत्त हो गया है, ऐसे ज्ञानी भी बाह्यप्रवृत्तिकी निवृत्ति और सत्समागममे रहना चाहते हैं। उस योगका जहाँ तक उदय प्राप्त न हो वहाँ तक अविषमतासे प्राप्त स्थितिमे रहते है, ऐसे ज्ञानीके चरणारविंदकी पुनः पुन॰ स्मृति हो आनेसे परम विशिष्टभावसे नमस्कार करते है।

अभी जिस प्रवृत्तियोगमे रहते है वह तो बहुत प्रकारकी परेच्छाके कारणसे रहते हैं। आत्मदृष्टिकी अखण्डता उस प्रवृत्तियोगसे बाधाको प्राप्त नही होती। इसलिये उदयमे आये हुए योगकी आराधना करते हैं। हमारा प्रवृत्तियोग जिज्ञासुको कल्याण प्राप्त होनेमे किसी प्रकारसे बाधक है।

जो सत्स्वरूपमे स्थित है, ऐसे ज्ञानीके प्रति लोक-स्पृहादिका त्याग करके जो भावसे भी उनका आश्रित होता है, वह शीघ्र कल्याणको प्राप्त होता है, ऐसा जानते है।

निवृत्तिको, समागमको अनेक प्रकारसे चाहते हैं, क्योंकि इस प्रकारका जो हमारा राग है उसे हमने सर्वथा निवृत्त नही किया है।

कालका कलिस्वरूप चल रहा है, उसमे जो अविषमतासे मार्गकी जिज्ञासाके साथ, बाकी दूसरे जो अन्य जाननेके उपाय है उनके प्रति उदासीनता रखता है वह ज्ञानीके समागममे अत्यन्त शीघ्रतासे कल्याण पाता है, ऐसा जानते है।

कृष्णदासने जगत, ईश्वरादि सम्बन्धी जो प्रश्न लिखे हैं वे हमारे अति विशेष समागममे समझने योग्य हैं। इस प्रकारका विचार (कभी कभी) करनेमे हानि नही है। उनके यथार्थ उत्तर कदाचित् अमुक काल तक प्राप्त न हों तो इससे धीरजका त्याग करनेके प्रति जाती हुई मतिको रोकना योग्य है।

अविषमतासे जहाँ आत्मध्यान रहता है ऐसे 'श्रीरायचन्द्र' के प्रति बार बार नमस्कार करके यह पत्र अब पूरा करते है।

---

३७७ बम्बई, वैशाख, १९४८

[1]योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे।
नव पद तेमज जाणजो, आतमराम छे साखी रे॥

आत्मस्थ ज्ञानी पुरुष ही सहजप्राप्त प्रारब्धके अनुसार प्रवृत्ति करते है। वास्तविकता तो यह है कि जिस कालमे ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हुआ उसी कालमे ज्ञानी मुक्त है। देहादिमे अप्रतिबद्ध है। सुख दुःख हर्ष शोकादिमें अप्रतिबद्ध है। ऐसे ज्ञानीको कोई आश्रय या आलम्बन नही है। धीरज प्राप्त होनेके लिये उसे 'ईश्वरेच्छादि' भावना होना योग्य नही है। भक्तिमानको जो कुछ प्राप्त होता है, उसमे कोई क्लेशका प्रकार देखकर तटस्थ धीरज रहनेके लिये वह भावना किसी प्रकारसे योग्य है। ज्ञानीके लिये 'प्रारब्ध' 'ईश्वरेच्छादि' सभी प्रकार एक ही भावके—सरीखे भावके है। उसे साता-असातामे कुछ किसी प्रकारसे रागद्वेषादि कारण नही हैं। वह दोनोंमे उदासीन है। जो उदासीन है वह मूल स्वरूपमे निरालम्बन है। उसकी निरालम्बन उदासीनताको ईश्वरेच्छासे भी बलवान समझते है।

'ईश्वरेच्छा' शब्द भी अर्थान्तरसे जानने योग्य है। ईश्वरेच्छारूप आलम्बन आश्रयरूप भक्तिके लिये योग्य है। निराश्रय ज्ञानीको तो सभी समान है अथवा ज्ञानी सहज परिणामी है, सहजस्वरूपी है, सहजरूपसे स्थित है, सहजरूपसे प्राप्त उदयको भोगते है। सहजरूपसे जो कुछ होता है, वह होता है; जो नही होता वह नही होता है। वे कर्तव्यरहित है, उनका कर्तव्यभाव विलीन हो चुका है। इसलिये आपको यह जानना योग्य है कि उन ज्ञानीके स्वरूपमे प्रारब्धके उदयकी सहज प्राप्ति अधिक योग्य है। ईश्वरमे किसी प्रकारसे इच्छा स्थापित कर उसे इच्छावान कहना योग्य है। ज्ञानी इच्छारहित या इच्छासहित यों कहना भी नही बनता, वे तो सहजस्वरूप है।

---

३७८ बंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९४८

ईश्वरादि सम्बन्धी जो निश्चय है, तत्सम्बन्धी विचारका अभी त्याग करके सामान्यतः 'समयसार' का अध्ययन करना योग्य है, अर्थात् ईश्वरके आश्रयसे अभी धीरज रहती है, वह धीरज उसके विकल्पमें पड़नेसे रहनी विकट है।

---

[1]. भावार्थ—जिनेन्द्र भगवानने मुक्तिके लिये असंख्य योग–साधन बताये हैं। समस्त प्रकारकी सिद्धियोंकी संपत्ति आत्मामें ही रही हुई है, ऐसा कहा है। उसी प्रकार नव पदकी संपत्ति भी आत्मामें ही रही हुई है, जिसका साक्षी आत्मा स्वयमेव है।

'निश्चय' में अकर्त्ता, 'व्यवहार' में कर्त्ता, इत्यादि जो व्याख्यान 'समयसार'मे है, वह विचारणीय है; तथापि जिसके बोधसम्बन्धी दोष निवृत्त हुए है, ऐसे ज्ञानीसे वह प्रकार समझना योग्य है।

समझने योग्य तो जो है वह···· स्वरूप, जिसे निर्विकल्पता प्राप्त हुई है, ऐसे ज्ञानीसे—उनके आश्रयसे जीवके दोष गलित होकर, प्राप्त होता है, समझमे आता है।

छः मास सपूर्ण हुए जिसे परमार्थके प्रति एक भी विकल्प उत्पन्न नही हुआ ऐसे श्री···· को नमस्कार है।

---

३७९ बंबई, जेठ वदी ३०, शुक्र, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

जिसकी प्राप्तिके बाद अनन्तकालकी याचकता मिटकर सर्व कालके लिये अयाचकता प्राप्त होती है, ऐसा जो कोई हो तो उसे तरनतारन जानते हैं, उसे भजें।

मोक्ष तो इस कालमे भी प्राप्त हो सकता है, अथवा प्राप्त होता है। परन्तु मुक्तिका दान देनेवाले पुरुषकी प्राप्ति परम दुर्लभ है; अर्थात् मोक्ष दुर्लभ नही, दाता दुर्लभ है।

उपाधियोगकी अधिकता रहती है। बलवान क्लेश जैसा उपाधियोग देनेकी 'हरीच्छा' होगी, अब इस स्थितिमे वह जैसे उदयमे आये वैसे वेदन करना योग्य समझते है।

संसारसे कटाले हुए तो बहुत समय हो गया है, तथापि संसारका प्रसंग अभी विरामको प्राप्त नही होता, यह एक प्रकारका बड़ा 'क्लेश' रहता है।

आपके सत्सगकी अत्यन्त रुचि रहती है, तथापि उस प्रसंगको प्राप्ति अभी तो 'निर्बल' होकर श्री 'हरि'को सौंपते है।

हमे तो कुछ करनेको बुद्धि नही होती, और लिखनेकी बुद्धि नही होती। कुछ कुछ वाणीसे प्रवृत्ति करते हैं, *उसकी भी बुद्धि नही होती, मात्र आत्मरूप मौनस्थिति और उस सम्बन्धी प्रसंग,* इस विषयमे बुद्धि रहती है और प्रसग तो उससे अन्य प्रकारके रहते है।

ऐसी ही 'ईश्वरेच्छा' होगी ! यह समझकर, जैसे स्थिति प्राप्त होती है, वैसे ही योग्य समझकर रहते हैं।

'बुद्धि तो मोक्षके विषयमें भी स्पृहावाली नही है।' परन्तु प्रसंग यह रहता है। सत्संगमे रुचि रखनेवाले डुगरको हमारा प्रणाम प्राप्त हो।

[1]"बननी मारी कोयल" ऐसी एक गुर्जरादि देशकी कहावत इस प्रसगमे योग्य है।

ॐ शातिः शातिः शातिः

नमस्कार पहुँचे।

---

३८० बंबई, जेठ, १९४८

प्रभुभक्तिमे जैसे हो वैसे *तत्पर रहना यह मुझे मोक्षका धुरंधर मार्ग लगा है। चाहे तो* मनसे भी स्थिरतासे बैठकर प्रभुभक्ति अवश्य करना योग्य है।

मनकी स्थिरता होनेका मुख्य उपाय अभी तो प्रभुभक्ति समझे। आगे भी वह, और वैसा ही है, तथापि स्थूलरूपसे इसे लिखकर जताना अधिक योग्य लगता है।

'उत्तराध्ययनसूत्र'के दूसरे इच्छित अध्ययन पढियेगा, बत्तीसवें अध्ययनकी शुरूकी चौबीस गाथाओं-*का मनन करियेगा।*

---

१. बनकी मारी कोयल।

शम, संवेग, निर्वेद, आस्था और अनुकम्पा इत्यादि सद्गुणोंसे योग्यता प्राप्त करना, और किसी समय महात्माके योगसे, तो धर्म प्राप्त हो जायेगा।

सत्संग, सत्शास्त्र और सद्व्रत ये उत्तम साधन है।

३८१

'सूयगडागसूत्र' का योग हो तो उसका दूसरा अध्ययन, तथा उदकपेढालवाला अध्ययन पढ़नेका अभ्यास रखिये। तथा 'उत्तराध्ययन' के कुछ एक वैराग्यादिक चरित्रवाले अध्ययन पढ़ते रहिये, और प्रभातमे जल्दी उठनेकी आदत रखिये, एकातमे स्थिर बैठनेका अभ्यास रखिये। माया अर्थात् जगत, लोकका जिनमे अधिक वर्णन किया है वैसी पुस्तके पढ़नेकी अपेक्षा, जिनमे विशेषतः सत्पुरुषोके चरित्र अथवा वैराग्यकथाएँ हैं ऐसी पुस्तकें पढ़नेका भाव रखिये।

३८२

जिससे वैराग्यकी वृद्धि हो उसका अध्ययन विशेषरूपसे रखना, मतमतातरका त्याग करना, और जिससे मतमतातरकी वृद्धि हो वैसा पठन नही करना। असत्सगादिमे उत्पन्न होती हुई रुचि दूर होनेका विचार वारंवार करना योग्य है।

३८३

बबई, जेठ, १९४८

जो विचारवान पुरुषको सर्वथा क्लेशरूप भासता है, ऐसे इस संसारमे अब फिर आत्मभावसे जन्म न लेनेकी निश्चल प्रतिज्ञा है। अब आगे तीनो कालमे इस ससारका स्वरूप अन्यरूपसे भासमान होने योग्य नही है, और भासित हो ऐसा तीनों कालमे सम्भव नही है।

यहाँ आत्मभावसे समाधि है, उदयभावके प्रति उपाधि रहती है।

श्री तीर्थंकरने तेरहवे गुणस्थानकमे रहनेवाले पुरुषका नीचे लिखा स्वरूप कहा है—

जिसने आत्मभावके लिये सर्व संसार संवृत किया है अर्थात् जिसके प्रति सर्व संसारकी इच्छाके आनेका निरोध हुआ है, ऐसे निर्ग्रंथको—सत्पुरुषको—तेरहवे गुणस्थानकमे कहना योग्य है। मनसमितिसे युक्त, वचनसमितिसे युक्त, कायसमितिसे युक्त, किसी भी वस्तुका ग्रहण-त्याग करते हुए समितिसे युक्त, दीर्घशंकादिका त्याग करते हुए समितिसे युक्त, मनको संकोचनेवाला, वचनको संकोचनेवाला, कायाको संकोचनेवाला, सर्व इन्द्रियोके सयमसे ब्रह्मचारी, उपयोगपूर्वक चलनेवाला, उपयोगपूर्वक खड़ा रहनेवाला, उपयोगपूर्वक बैठनेवाला, उपयोगपूर्वक शयन करनेवाला, उपयोगपूर्वक बोलनेवाला, उपयोगपूर्वक आहार लेनेवाला और उपयोगपूर्वक श्वासोच्छ्वास लेनेवाला, आँखको एक निमिषमात्र भी उपयोगरहित न चलानेवाला अथवा उपयोगरहित जिसकी क्रिया नही है ऐसे इस निर्ग्रन्थकी एक समयमे क्रिया बाँधी जाती है, दूसरे समयमे भोगी जाती है, तीसरे समयमे वह कर्मरहित होता है, अर्थात् चौथे समयमें वह क्रियासम्बन्धी सर्व चेष्टासे निवृत्त होता है। श्री तीर्थंकर जैसेको कैसा अत्यन्त निश्चल, [अपूर्ण]

३८४

बंबई, आषाढ़ सुदी ९, १९४८

शब्दादि पाँच विषयोकी प्राप्तिकी इच्छासे जिनके चित्तमें अत्यन्त व्याकुलता रहती है, ऐसे जीव जिस कालमे विशेषरूपसे दिखायी देते हैं, वह यह 'दुषम कलियुग' नामका काल है। उस कालमें जिसे परमार्थके प्रति विह्वलता नहीं हुई, चित्त विक्षेपको प्राप्त नही हुआ, सगसे प्रवर्तनभेद प्राप्त नहीं हुआ,

दूसरी प्रीतिके प्रसंगमें जिसका चित्त आवृत नही हुआ, और जो दूसरे कारण हैं उनमे जिसका विश्वास नही है, ऐसा यदि कोई हो तो वह इस कालमे 'दूसरा श्री राम' है। तथापि यह देखकर सखेद आश्चर्य होता है कि इन गुणोके किसी अंशमे सम्पन्न भी अल्प जीव दृष्टिगोचर नही होते।

निद्राके सिवाय शेष समयमेंसे एकाध घंटेके सिवाय शेष समय मन, वचन, कायासे उपाधिके योगमे रहता है। उपाय नहीं है, इसलिये सम्यक्परिणतिसे सवेदन करना योग्य है।

महान आश्चर्यकारी जल, वायु, चद्र, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थोके गुण सामान्य प्रकारसे भी जैसे जीवोकी दृष्टिमे नही आते हैं, और अपने छोटेसे घरमे अथवा अन्य किन्ही वस्तुओमे किसी प्रकारका मानो आश्चर्यकारक स्वरूप देखकर अहंत्व रहता है, यह देख ऐसा लगता है कि लोगोंका अनादिकालका दृष्टिभ्रम दूर नही हुआ, जिससे यह दूर हो ऐसे उपायमे जीव अल्प भी ज्ञानका उपयोग नहीं करता; और उसकी पहचान होनेपर भी स्वेच्छासे व्यवहार करनेकी बुद्धि वारंवार उदयमे आती है; इस प्रकार बहुत जीवोकी स्थिति देखकर ऐसा समझें कि यह लोक अनन्तकाल रहनेवाला है।

नमस्कार पहुँचे।

---

३८५ बंबई, आषाढ़, १९४८

सूर्य उदय-अस्तरहित है, मात्र लोगोंको जब चक्षुमर्यादासे बाहर हो तब अस्त और जब चक्षु-मर्यादामे हो तब उदय ऐसा भासता है। परन्तु सूर्यमे तो उदयअस्त नही है। वैसे ही ज्ञानी है, वे सभी प्रसंगमे जैसे हैं वैसे है, मात्र प्रसगकी मर्यादाके अतिरिक्त लोगोका ज्ञान नही है इसलिये उस प्रसंगमे अपनी जैसी दशा हो सके वैसी दशाकी ज्ञानीके सम्बन्धमे कल्पना करते है, और यह कल्पना जीवको ज्ञानीके परम आत्मत्व, परितोषत्व, मुक्तत्वको जानने नही देती ऐसा जानना योग्य है।

जिस प्रकारसे प्रारब्धका क्रम उदय होता है उस प्रकारसे अब तो वर्तन करते है, और ऐसा वर्तन करना किसी प्रकारसे तो सुगम भासता है। ठाकुर साहबको मिलनेकी बात आजके पत्रमे लिखी, पर प्रारब्ध क्रम वैसा नही रहता। उदीरणा कर सकें ऐसी असुगम वृत्ति उत्पन्न नही होती।

यद्यपि हमारा चित्त नेत्र जैसा है, नेत्रमे दूसरे अवयवोंकी भाँति एक रजकण भी सहन नही हो सकता। दूसरे अवयवोंरूप अन्य चित्त है। हमारा जो चित्त है वह नेत्ररूप है, उसमे वाणीका उठना, समझाना, यह करना, अथवा यह न करना, ऐसा विचार करना बहुत मुश्किलसे होता है। बहुतसी क्रियाएँ तो शून्यताकी भाँति होती है, ऐसी स्थिति होनेपर भी उपाधियोगको तो बलपूर्वक आराधते हैं। यह वेदन करना कम विकट नही लगता, कारण कि आँखसे जमीनकी रेती उठाने जैसा यह कार्य है। वह जैसे दुःखसे—अत्यन्त दुःखसे—होना विकट है, वैसे चित्तको उपाधि उस परिणामरूप होनेके समान है। सुग-मतासे स्थित चित्त होनेसे वेदनाको सम्यक्प्रकारसे भोगता है, अखड समाधिरूपसे भोगता है। यह बात लिखनेका आशय तो यह है कि ऐसे उत्कृष्ट वैराग्यमे ऐसा उपाधियोग भोगनेका जो प्रसंग है, उसे कैसा समझना ? और यह सब किसलिये किया जाता है ? जानते हुए भी उसे छोड़ा क्यो नही जाता ? यह सब विचारणीय है।

मणिके विषयमे लिखा सो सत्य है।

'ईश्वरेच्छा' जैसी होगी वैसे होगा। विकल्प करनेसे खेद होता है, और वह तो जब तक उसकी इच्छा होगा तब तक उसी प्रकार प्रवृत्ति करेगा। सम रहना योग्य है।

दूसरी तो कोई स्पृहा नही है, कोई प्रारब्धरूप स्पृहा भी नही है, सत्तारूप कोई पूर्वमे उपार्जित की हुई उपाधिरूप स्पृहाका तो अनुक्रमसे संवेदन करना है। एक सत्संग—आपके सत्संगकी स्पृहा रहत

है। रुचिमात्र समाधानको प्राप्त हुई है। यह आश्चर्यरूप बात कहाँ कहनी ? आश्चर्य होता है। यह जो देह मिली है वह पूर्व कालमे कभी न मिली हो तो भविष्यकालमे भी प्राप्त होनेवाली नही है। धन्यरूप—कृतार्थरूप ऐसे हममे यह उपाधियोग देखकर सभी लोग भूलें, इसमे आश्चर्य नही है। और पूर्वमे यदि सत्पुरुषकी पहचान नही हुई है तो वह ऐसे योगके कारणसे है। अधिक लिखना नही सूझता।

नमस्कार पहुँचे। गोशलियाको समपरिणामरूप यथायोग्य और नमस्कार पहुँचे।

समस्वरूप श्री रायचन्द्रके यथायोग्य।

---

३८६ बम्बई, आषाढ वदी ३०, १९४८

पत्र प्राप्त हुए है। अत्र उपाधिनामसे प्रारब्ध उदयरूप है। उपाधिमें विक्षेपरहित होकर व्यवहार करना यह बात अत्यन्त विकट है; जो रहती है वह थोडे कालमे परिपक्व समाधिरूप हो जाती है।

समात्मप्रदेश-स्थितिसे यथायोग्य। शान्तिः

---

३८७ बम्बई, श्रावण सुदी, १९४८

जीवको स्वस्वरूप जाने बिना छुटकारा नहीं है, तब तक यथायोग्य समाधि नही है। यह जाननेके लिये मुमुक्षुता और ज्ञानीकी पहचान उत्पन्न होने योग्य है। ज्ञानीको जो यथायोग्यरूपसे पहचानता है वह ज्ञानी हो जाता है—क्रमसे ज्ञानी हो जाता है।

आनन्दघनजीने एक स्थानपर ऐसा कहा है कि—

[1]"जिन थई' 'जिनने' जे आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी ईलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे॥

जिनेन्द्र होकर अर्थात् सासारिक भाव सम्बन्धी आत्मभाव त्यागकर, जो कोई जिनेन्द्र अर्थात् केवलज्ञानीकी—वीतरागकी आराधना करता है, वह निश्चयसे जिनवर अर्थात् कैवल्यपदसे युक्त हो जाता है। उन्होंने भृंगी और ईलिकाका ऐसा दृष्टान्त दिया है जो प्रत्यक्ष—स्पष्ट समझमें आता है।

यहाँ हमे भी उपाधियोग रहता है; अन्य भावमें यद्यपि आत्मभाव उत्पन्न नही होता और यही मुख्य समाधि है।

---

३८८ बम्बई, श्रावण सुदी ४, बुध, १९४८

'जगत जिसमे सोता है, उसमे ज्ञानी जागते है, जिसमें ज्ञानी जागते हैं उसमें जगत सोता है। जिसमे जगत जागता है, उसमे ज्ञानी सोते है', ऐसा श्रीकृष्ण कहते है।[2]

आत्मप्रदेश समस्थितिसे नमस्कार।

---

३८९ बम्बई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

असत्संगमे उदासीन रहनेके लिये जीवमें अप्रमादरूपसे निश्चय होता है, तब 'सत्ज्ञान' समझमें आता है; उससे पहले प्राप्त हुए बोधको बहुत प्रकारका अन्तराय होता है।

जगत और मोक्षका मार्ग ये दोनो एक नही है। जिसे जगतकी इच्छा, रुचि, भावना है उसे मोक्षमें अनिच्छा, अरुचि, अभावना होती है, ऐसा मालूम होता है।

---

१. पाठान्तर—जिनस्वरूप थई जिन आराधे ....। २. भगवद्गीता अ० २, श्लोक ६९

३९० बम्बई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

ॐ नमः

आत्मरूप श्री सुभाग्यके प्रति,

निष्काम यथायोग्य ।

जिन उपार्जित कर्मोंको भोगते हुए भावीमे बहुत समय व्यतीत होगा, वे बलपूर्वक उदयमे आकर क्षीण होते हो तो वैसा होने देना योग्य है, ऐसा अनेक वर्षोंका संकल्प है।

व्यावहारिक प्रसग सम्बन्धी चारो तरफसे चिन्ता उत्पन्न हो, ऐसे कारण देखकर भी निर्भयता, आश्रय रखना योग्य है । मार्ग ऐसा है ।

अभी हम विशेष कुछ लिख नही सकते, इसके लिये क्षमा माँगते है और निष्कामतासे स्मृतिपूर्वक नमस्कार करते है । यही विनती ।

[1]**नागर सुख पामर नव जाणे, वल्लभ सुख न कुमारी,**
अनुभव विण तेम ध्यान तणुं सुख, कोण जाणे नर नारी रे, भविका०

---

[2]**मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत।**

---

३९१ बम्बई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

केवल निष्काम यथायोग्य ।

यहाँ उपाधियोगमे है, ऐसा समझकर पत्रादि भेजनेका काम नही किया होगा, ऐसा समझते हैं। शास्त्रादि विचार और सत्कथा-प्रसगमे वहाँ कैसे योगसे रहना होता है ? सो लिखियेगा।

'सत्' एक प्रदेश भी दूर नही है, तथापि उसकी प्राप्तिमे अनत अंतराय—लोकानुसार प्रत्येक ऐसे रहे हैं। जीवका कर्तव्य यह है कि अप्रमत्ततासे उस 'सत्' का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेका अखड निश्चय रखे।

आप सबको निष्कामतासे यथायोग्य ।

---

३९२ बबई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

हे राम ! जिस अवसरपर जो प्राप्त हो उसमे सन्तुष्ट रहना, यह सत्पुरुषोका कहा हुआ सनातन धर्म है, ऐसा वसिष्ठ कहते थे ।

---

३९३ बंबई, श्रावण सुदी १०, बुध, १९४८

[2]**मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत।**
तेम श्रुतधर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत ।।

जिसमे मनकी व्याख्याके विषयमे लिखा है वह पत्र, जिसमे पीपल-पानका दृष्टांत लिखा है वह पत्र, जिसमे 'यमनियम संयम आप कियो' इत्यादि काव्यादिके विषयमें लिखा है वह पत्र, जिसमे मनादिका निरोध करते हुए शरीरादि व्यथा उत्पन्न होने सम्बन्धी सूचन है वह पत्र, और उसके बाद एक सामान्य, इस तरह सभी पत्र मिले है। उनमे मुख्य भक्तिसम्बन्धी इच्छा, मूर्तिका प्रत्यक्ष होना, इस बात सम्बन्धी प्रधान वाक्य पढ़ा है, ध्यानमे है।

१ भावार्थके लिये देखे आक ३११   २. विशेषार्थके लिये देखें आक ३९४

इस प्रश्नके सिवाय बाकीके पत्रोका उत्तर अनुक्रमसे लिखनेका विचार होते हुए भी अभी उसे समागममें पूछने योग्य समझते है, अर्थात् यह जताना अभी योग्य लगता है।

दूसरे भी जो कोई परमार्थसम्बन्धी विचार-प्रश्न उत्पन्न हो उन्हे लिख रखना शक्य हो तो लिख रखनेका विचार योग्य है।

पूर्वकालमें आराधित, जिसका नाम मात्र उपाधि है ऐसी समाधि उदयरूपसे रहती है।

अभी वहाँ पठन, श्रवण और मननका योग किस प्रकारका होना है?

आनन्दघनजीके दो पद्य स्मृतिमे आते है, उन्हे लिखकर अब यह पत्र समाप्त करता हूँ।

[1]इणविध परखी मन विसरामी जिनवर गुण जे गावे।
दीनबन्धुनी महेर नजरथी, आनंदघन पद पावे।।
हो मल्लिजिन सेवक केम अवगणीए।

मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत,

जिन थई जिनवर जे आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी ईलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे।। —श्री आनन्दघन

---

३९४ बंबई, श्रावण वदी १०, १९४८

मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत।
तेम श्रुतधर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत।।—धन०

घरसम्बन्धी दूसरे समस्त कार्य करते हुए भी जैसे पतिव्रता (महिला शब्दका अर्थ) स्त्रीका मन अपने प्रिय भरतारमे लीन रहता है, वैसे सम्यग्दृष्टि जीवका चित्त संसारमे रहकर समस्त कार्य प्रसंगोको करते हुए भी ज्ञानीसे श्रवण किए हुए उपदेशधर्ममे तल्लीन रहता है।

समस्त ससारमे स्त्रीपुरुषके स्नेहको प्रधान माना गया है, उसमे भी पुरुषके प्रति स्त्रीके प्रेमको किसी प्रकारसे भी उससे विशेष प्रधान माना गया है, और उसमे भी पतिके प्रति पतिव्रता स्त्रीके स्नेहको प्रधानमे भी प्रधान माना गया है। वह स्नेह ऐसा प्रधान-प्रधान किसलिये माना गया है? तब जिसने सिद्धान्तको प्रबलतासे प्रदर्शित करनेके लिये उस दृष्टातको ग्रहण किया है, ऐसा सिद्धान्तकार कहता है कि हमने उस स्नेहको इसलिये प्रधानमे भी प्रधान समझा है कि दूसरे सभी घर सम्बन्धी (और दूसरे भी) काम करते हुए भी उस पतिव्रता महिलाका चित्त पतिमे ही लीनरूपसे, प्रेमरूपसे, स्मरणरूपसे, ध्यानरूपसे, इच्छारूपसे रहता है।

परन्तु सिद्धान्तकार कहता है कि इस स्नेहका कारण तो संसार प्रत्ययी है, और यहाँ तो उसे असंसार-प्रत्ययी करनेके लिये कहना है, इसलिये वह स्नेह लीनरूपसे, प्रेमरूपसे, स्मरणरूपसे, ध्यानरूपसे, इच्छारूपसे जहाँ करने योग्य है, जहाँ वह स्नेह असंसार परिणामको प्राप्त होता है उसे कहते है।

वह स्नेह तो पतिव्रतारूप मुमुक्षुको ज्ञानी द्वारा श्रवण किये हुए उपदेशादि धर्मके प्रति उसी प्रकारसे करना योग्य है; और उसके प्रति उस प्रकारसे जो जीव रहता है, तब 'कान्ता' नामकी समकित सम्बन्धी दृष्टिमे वह जीव स्थित है, ऐसा जानते हैं।

---

१. **भावार्थ**—इस प्रकार परीक्षा करके अठारह दोषोंसे रहित देख करके मनको विश्राम देनेवाले जिनवरका जो गुणगान करता है, वह दीनबन्धुकी कृपादृष्टिसे आनदघनपद-मोक्ष पाता हैं। हे मल्लिनाथ! सेवककी उपेक्षा किसलिये?

ऐसे अर्थसे भरे हुए ये दो पद है, वे पद तो भक्ति प्रधान हैं, तथापि उस प्रकारसे गूढ आशयमे जीवका निदिध्यासन न हो तो क्वचित् अन्य ऐसा पद ज्ञानप्रधान जैसा भासित होता है, और आपको भासित होगा ऐसा जानकर उस दूसरे पदका वैसा भास बाधित करनेके लिये पत्र पूर्ण करते हुए फिर मात्र प्रथमका एक ही पद लिखकर प्रधानरूपसे भक्तिको बताया है।

भक्तिप्रधान दशामे रहनेसे जीवके स्वच्छंदादि दोष सुगमतासे विलय होते हैं, ऐसा ज्ञानी-पुरुषोंका प्रधान आशय है।

यदि जीवमे अल्प भी निष्काम भक्ति उत्पन्न हुई होती है तो वह अनेक दोषोंसे निवृत्त करनेके लिये योग्य होती है। अल्प ज्ञान अथवा ज्ञानप्रधानदशा असुगम मार्गके प्रति, स्वच्छदादि दोषके प्रति, अथवा पदार्थसम्बन्धी भ्रान्तिके प्रति ले जाता है, बहुत करके ऐसा होता है, उसमे भी इस कालमे तो बहुत काल तक जीवनपर्यन्त भी जीवको भक्तिप्रधानदशाकी आराधना करना योग्य है; ऐसा निश्चय ज्ञानियोने किया ज्ञात होता है। (हमे ऐसा लगता है और ऐसा ही है।)

हृदयमे जो मूर्तिसम्बन्धी दर्शन करनेकी आपकी इच्छा है, उसे प्रतिबन्ध करनेवाली प्रारब्ध स्थिति (आपकी) है, और उस स्थितिके परिपक्व होनेमे अभी देर है। और उस मूर्तिकी प्रत्यक्षतामे तो अभी गृहाश्रम है, और चित्रपटमे सन्यस्ताश्रम है, यह एक ध्यानका दूसरा मुख्य प्रतिबन्ध है। उस मूर्तिसे उस आत्मस्वरूप पुरुषकी दशा पुन पुन उसके वाक्यादिके अनुसंधानमे विचारणीय है, और उसका उस हृदयदर्शनसे भी बडा फल है। इस बातको यहाँ सक्षिप्त करना पड़ता है।

'भृंगी ईलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे।'

यह पद्य परपरागत है। ऐसा होना किसी प्रकारसे सभव है, तथापि उसे प्रोफेसरके गवेषणके अनुसार माने कि वैसा नही होता, तो भी इसमे कोई हानि नही है, क्योकि दृष्टात वैसा प्रभाव उत्पन्न करने योग्य है, तो फिर सिद्धातका ही अनुभव या विचार कर्तव्य है। प्रायः इस दृष्टातसंबधी किसीको ही विकल्प होगा। इसलिये यह दृष्टात मान्य है, ऐसा लगता है। लोकदृष्टिसे अनुभवगम्य है, इसलिये सिद्धान्तमे उसकी प्रबलता समझकर महापुरुष यह दृष्टात देते आये है और हम किसी प्रकारसे वैसा होना संभव भी समझते है। एक समयके लिये भी कदाचित् वह दृष्टात सिद्ध न हो ऐसा प्रमाणित हो, तो भी तीनो कालमे निराबाध, अखण्ड-सिद्ध ऐसी बात उसके सिद्धान्तपदकी तो है।

'[1]जिन स्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।'

आनन्दघनजी और अन्य सभी ज्ञानी पुरुष ऐसे ही कहते है, और जिनेन्द्र कुछ अन्य ही प्रकार कहते है कि अनन्त बार जिनसबंधी भक्ति करनेपर भी जीवका कल्याण नही हुआ, जिनमार्गमे अपनेको माननेवाले स्त्रीपुरुष ऐसा कहते है कि हम जिनेंद्रकी आराधना करते है, और उसकी आराधना करने जाते हैं, अथवा आराधनाके उपाय अपनाते है, वैसा होनेपर भी वे जिनवर हुए दिखायी नही देते। तीनो कालमे अखण्ड ऐसा यह सिद्धान्त यहाँ खडित हो जाता है, तब यह बात विकल्प करने योग्य क्यो नही ?

---

३९५ बम्बई, श्रावण वदी, १९४८

ॐ

'तेम श्रुतधर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत'

जिसका विचारज्ञान विक्षेपरहित हुआ है, ऐसा 'ज्ञानाक्षेपकवत' आत्मकल्याणकी इच्छावाला पुरुष हो वह ज्ञानीमुखसे श्रवण किये हुए आत्मकल्याणरूप धर्ममे निश्चल परिणामसे मनको धारण करता है, यह सामान्य भाव उपर्युक्त पदका है।

---

१. देखे आक ३८७ अर्थके लिये।

उस निश्चल परिणामका स्वरूप वहाँ कैसे घटित होता है? यह पहले ही बता दिया है कि जैसे दूसरे घर काम करते हुए भी पतिव्रता स्त्रीका मन अपने प्रिय स्वामीमे रहता है वैसे। जिस पदका विशेष अर्थ आगे लिखा है, उसे स्मरणमे लाकर सिद्धातरूप उपर्युक्त पदमे सधीभूत करना योग्य है कारण कि 'मन महिलानु वहाला उपरे' यह पद दृष्टातरूप है।

अत्यन्त समर्थ सिद्धातका प्रतिपादन करते हुए जीवके परिणाममे वह सिद्धात स्थित होनेके लिये समर्थ दृष्टात देना ठीक है, ऐसा जानकर ग्रन्थकर्ता उस स्थानपर जगतमे, ससारमे प्रायः मुख्य पुरुषके प्रति स्त्रीका 'क्लेशादि भाव' रहित जो काम्यप्रेम है उसी प्रेमको सत्पुरुषसे श्रवण किये हुए धर्ममे परिणमित करनेको कहते हैं। उस सत्पुरुष द्वारा श्रवणप्राप्त धर्ममे, दूसरे सब पदार्थोंमे रहे हुए प्रेमसे उदासीन होकर, एक लक्षसे, एक ध्यानसे, एक लयसे, एक स्मरणसे, एक श्रेणिसे, एक उपयोगसे, एक परिणामसे सर्व वृत्तिमे रहे हुए काम्यप्रेमको मिटाकर, श्रुतधर्मरूप करनेका उपदेश किया है। इस काम्य प्रेमसे अनन्तगुणविशिष्ट श्रुतप्रेम करना उचित है। तथापि दृष्टात परिसीमा नही कर सका, जिससे दृष्टातकी परिसीमा जहाँ हुई वहाँ तकका प्रेम कहा है। सिद्धात वहाँ परिसीमाको प्राप्त नही किया है।

अनादिसे जीवको संसाररूप अनत परिणति प्राप्त होनेसे असंसारस्वरूप किसी अशका उसे बोध नही है। अनेक कारणोंका योग प्राप्त होनेपर उस अंशदृष्टिको प्रगट करनेका योग प्राप्त हुआ तो उस विषम ससारपरिणतिके आडे आनेसे उसे वह अवकाश प्राप्त नही होता, जब तक वह अवकाश प्राप्त नही होता तब तक जीव स्वप्राप्तिभानके योग्य नही है। जब तक वह प्राप्ति नही होती तब तक जीवको किसी प्रकारसे सुखी कहना योग्य नही है, दुःखी कहना योग्य है, ऐसा देखकर जिन्हे अत्यन्त अनन्त करुणा प्राप्त हुई है, ऐसे आप्तपुरुषने दुःख मिटनेका मार्ग जाना है जिसे वे कहते थे, कहते हैं, भविष्यकालमे कहेगे। वह मार्ग यह है कि जिनमे जीवकी स्वाभाविकता प्रगट हुई है, जिनमे जीवका स्वाभाविक सुख प्रगट हुआ है, ऐसे ज्ञानीपुरुष ही उस अज्ञानपरिणति और उससे प्राप्त होनेवाले दुःखपरिणामको दूरकर आत्माको स्वाभाविकरूपसे समझा सकने योग्य है, कह सकने योग्य है, और वह वचन स्वाभाविक आत्मज्ञानपूर्वक होनेसे दुःख मिटानेमे समर्थ है। इसलिये यदि किसी भी प्रकारसे जीवको उस वचनका श्रवण प्राप्त हो, उसे अपूर्वभावरूप जानकर उसमे परम प्रेम रहे, तो तत्काल अथवा अमुक अनुक्रमसे आत्माकी स्वाभाविकता प्रगट होती है।

---

३९६ बम्बई, श्रावण वदी, १९४८

ॐ

अन-अवकाश आत्मस्वरूप रहता है, जिसमे प्रारब्धोदयके सिवाय दूसरा कोई अवकाश योग नही है।

उस उदयमे क्वचित् परमार्थभाषा कहनेका योग उदयमे आता है, क्वचित् परमार्थभाषा लिखनेका योग उदयमे आता है, और क्वचित् परमार्थभाषा समझानेका योग उदयमे आता है। अभी तो वैश्यदशाका योग विशेषरूपसे उदयमे रहता है, और जो कुछ उदयमे नही आता उसे कर सकनेकी अभी तो असमर्थता है।

जीवितव्यको मात्र उदयाधीन करनेसे, होनेसे विषमता मिटी है। आपके प्रति, अपने प्रति, अन्यके प्रति किसी प्रकारका वैभाविक भाव प्रायः उदयको प्राप्त नही होता, और इसी कारणसे पत्रादि कार्य करनेरूप परमार्थभाषा-योगसे अवकाश प्राप्त नही है ऐसा लिखा है, वह वैसा ही है।

पूर्वोपार्जित स्वाभाविक उदयके अनुसार देहस्थिति है; आत्मरूपसे उसका अवकाश अत्यन्ताभावरूप है।

उस पुरुषके स्वरूपको जानकर उसकी भक्तिके सत्सगका महान फल है, जो मात्र चित्रपटके योगसे, ध्यानसे नहीं है।

जो उस पुरुषके स्वरूपको जानता है, उसे स्वाभाविक अत्यन्त शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट होता है। उसके प्रगट होनेका कारण उस पुरुषको जानकर सर्व प्रकारकी ससारकामनाका परित्याग करके—असंसार परित्यागरूप करके—शुद्ध भक्तिसे वह पुरुषस्वरूप विचारने योग्य है। चित्रपटकी प्रतिमाके हृदय-दर्शनसे उपर्युक्त 'आत्मस्वरूपकी प्रगटता' रूप महान फल है, यह वाक्य निर्विसवादी जानकर लिखा है।

'मन महिलानु वहाला उपरे, बीजां काम करंत' इस पदके विस्तारवाले अर्थको आत्मपरिणामरूप करके उस प्रेमभक्तिको सत्पुरुषमे अत्यन्तरूपसे करना योग्य है, ऐसा सब तीर्थंकरोने कहा है, वर्तमानमे कहते हैं और भविष्यमे भी ऐसा ही कहेगे।

उस पुरुषसे प्राप्त हुई उसकी आत्मपद्धतिसूचक भाषामे जिसका विचारज्ञान अक्षेपक हुआ है, ऐसा पुरुष, वह उस पुरुषको आत्मकल्याणका कारण समझकर, वह श्रुत (श्रवण) धर्ममे मन (आत्मा) को धारण (उस रूपसे परिणाम) करता है। वह परिणाम कैसा करना योग्य है ? 'मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजा काम करत' यह दृष्टात देकर उसका समर्थन किया है।

घटित तो इस तरह होता है कि पुरुषके प्रति स्त्रीका काम्यप्रेम संसारके दूसरे भावोंकी अपेक्षा शिरोमणि है, तथापि उस प्रेमसे अनत गुणविशिष्ट प्रेम, सत्पुरुषमे प्राप्त हुए आत्मरूप श्रुतधर्ममे करना योग्य है, परन्तु उस प्रेमका स्वरूप जहाँ अदृष्टातता-दृष्टान्ताभावको प्राप्त होता है, वहाँ बोधका अवकाश नही है ऐसा समझकर उस श्रुतधर्मके लिये भरतारके प्रति स्त्रीके काम्यप्रेमका परिसीमाभूत दृष्टात दिया है। सिद्धान्त वहाँ परिसीमाको प्राप्त नही होता। इसके आगे सिद्धान्त वाणीके पीछेके परिणामको पाता है अर्थात् वाणीसे अतीत-परे हो जाता है और आत्मव्यक्तिसे ज्ञात होता है, ऐसा है।

---

३९७ बबई, श्रावण वदी ११, गुरु, १९४८

शुभेच्छासम्पन्न भाई त्रिभोवन, स्थभतीर्थ।

आत्मस्वरूपमे स्थिति है ऐसा जो उसके निष्काम स्मरणपूर्वक यथायोग्य पढियेगा। उस तरफका 'आज क्षायिकसमकित नही होता' इत्यादि सम्बन्धी व्याख्यानके प्रसगका आपका लिखा पत्र प्राप्त हुआ है। जो जीव उस उस प्रकारसे प्रतिपादन करते है, उपदेश करते है, और उस संबधी विशेषरूपसे जीवोको प्रेरणा करते हैं, वे जीव यदि उतनी प्रेरणा, गवेषणा जीवके कल्याणके विषयमे करेगे तो उस प्रश्नके समाधान होनेका कभी भी उन्हे प्रसंग प्राप्त होगा। उन जीवोके प्रति दोषदृष्टि करना योग्य नही है, केवल निष्काम करुणासे उन जीवोको देखना योग्य है। तत्सम्बन्धी किसी प्रकारका खेद चित्तमे लाना योग्य नही है, उस उस प्रसगमे जीवको उनके प्रति क्रोधादि करना योग्य नही है। उन जीवोको उपदेश द्वारा समझानेका कदाचित् आपको विचार होता हो, तो भी उसके लिये आप वर्तमानदशासे देखते हुए नो निरुपाय हैं, इसलिये अनुकपाबुद्धि और समताबुद्धिसे उन जीवोके प्रति सरल परिणाममे देखना और ऐसा ही इच्छा करना, और यही परमार्थमार्ग है, ऐसा निश्चय रखना योग्य है।

अभी उन्हे जो कर्मसबधी आवरण है, उसे भंग करनेकी यदि उन्हे ही चिन्ता उत्पन्न हो तो फिर आपसे अथवा आप जैसे दूसरे सत्संगीके मुखसे कुछ भी श्रवण करनेकी वारंवार उन्हे उल्लास वृत्ति उत्पन्न होगी, और किसी आत्मस्वरूप सत्पुरुषके योगसे मार्गकी प्राप्ति होगी, परन्तु ऐसी चिन्ता उत्पन्न होनेका यदि उन्हे समीप योग हो तो अभी वे ऐसो चेष्टामे न रहेगे। और जब तक जीवकी उस उस प्रकारकी चेष्टा है तब तक तीर्थंकर जैसे ज्ञानीपुरुषका वाक्य भी उसके लिये निष्फल होता है, तो आप आदिके वाक्य निष्फल

हों, और उन्हें क्लेशरूप भासित हों, इसमे कुछ आश्चर्य नही, ऐसा समझकर ऊपर प्रदर्शित अंतरंग भावनासे उनके प्रति बर्ताव करना, और किसी प्रकारसे भी उन्हे आपसम्बन्धी क्लेशका कम कारण प्राप्त हो, ऐसा विचार करना इस मार्गमें योग्य माना गया है।

फिर एक और सूचना स्पष्टरूपसे लिखना योग्य प्रतीत होता है, इसलिये लिखते हैं। वह यह है कि हमने पहिले आप इत्यादिको बताया था कि यथासभव हमारे सबधी दूसरे जीवोंसे कम बात करना। इस अनुक्रममें बर्ताव करनेके ध्यानका विसर्जन हुआ हो तो अब फिरसे स्मरण रखना। हमारे सम्बन्धमे और हमारे कहे या लिखे हुए वाक्योके सम्बन्धमे ऐसा करना योग्य है, और अभी इसके कारणोको आपको स्पष्ट बताना योग्य नही है। तथापि यदि अनुक्रमसे अनुसरण करनेमे उसका विसर्जन होता हो तो दूसरे जीवोको क्लेशादिका कारण हो जाता है, यह भी अब 'क्षायिककी चर्चा' इत्यादि प्रसंगसे आपके अनुभवमे आ गया है। जो कारण जीवको प्राप्त होनेसे कल्याणका कारण हो उन जीवोको इस भवमे उन कारणोकी प्राप्ति होती हुई रुक जाती है, क्योकि वे तो अपनी अज्ञानतासे न पहचाने हुए सत्पुरुषसम्बन्धी आप इत्यादिसे प्राप्त हुई बातसे वे सत्पुरुषके प्रति विमुखताको प्राप्त होते है, उसके विषयमे आग्रहपूर्वक अन्य अन्य चेष्टाएँ कल्पित करते है, और फिर वैसा योग होनेपर वैसी विमुखता प्रायः प्रबलताको प्राप्त होती है। ऐसा न होने देनेके लिये और इस भवमे यदि उन्हे वैसा योग अज्ञानतासे प्राप्त हो जाये तो कदाचित् श्रेयको प्राप्त करेंगे, ऐसी धारणा रखकर, अतरगमे ऐसे सत्पुरुषको प्रगट रखकर बाह्यरूपसे गुप्तता रखना अधिक योग्य है। वह गुप्तता मायाकपट नही हे, क्योंकि वैसा बर्ताव करना मायाकपटका हेतु नही है, उनके भविष्यकल्याणका हेतु है, जो वैसा होता है वह मायाकपट नही होता, ऐसा समझते हैं।

जिसे दर्शनमोहनीय उदयमे प्रबलतासे है, ऐसे जीवको अपनी ओरसे सत्पुरुषादिके विषयमे मात्र अवज्ञापूर्वक बोलनेका प्रसंग प्राप्त न हो, इतना उपयोग रखकर वर्ताव करना, यह उसके और उपयोग रखनेवाले दोनोके कल्याणका कारण है।

ज्ञानीपुरुषकी अवज्ञा बोलना तथा उस प्रकारके प्रसगमे उमंगी होना, यह जीवके अनत ससार बढनेका कारण है, ऐसा तीर्थंकर कहते है। उस पुरुषके गुणगान करना, उस प्रसंगमे उमंगी होना और उसकी आज्ञामे सरल परिणामसे परम उपयोग-दृष्टिसे वर्तन करना, इसे तीर्थंकर अनत ससारका नाश करनेवाला कहते है, और ये वाक्य जिनागममे है। बहुतसे जीव इन वाक्योका श्रवण करते होगे, तथापि जिन्होने प्रथम वाक्यको अफल और दूसरे वाक्यको सफल किया हो ऐसे जीव तो क्वचित् ही देखनेमे आते है। प्रथम वाक्यको सफल और दूसरे वाक्यको अफल, ऐसा जीवने अनत बार किया है। वैसे परिणाममे आनेमे उसे देर नही लगती, क्योकि अनादिकालसे मोह नामकी मदिरा उसके 'आत्मा'मे परिणमित हुई है, इसलिये वारंवार विचार कर वेसे वैसे प्रसगमे यथाशक्ति, यथाबलवीर्य ऊपर दर्शित किये हुए प्रकारसे वर्तन करना योग्य है।

कदाचित् ऐसा मान ले कि 'क्षायिकसमकित इस कालमे नही होता', ऐसा जिनागममे स्पष्ट लिखा है। अब जीवको यह विचार करना योग्य है कि 'क्षायिकसमकितका अर्थ क्या समझना?' जिसे एक नवकारमत्र जितना भी व्रत, प्रत्याख्यान नही होता, फिर भी वह जीव विशेष तो तीन भवमे और नहीं तो उसी भवमे परम पदको पाता है, ऐसी महान आश्चर्यकारक तो उस समकितकी व्याख्या है, फिर अब ऐसी वह कौनसी दशा समझना कि जिसे 'क्षायिकसमकित' कहा जाये? 'भगवान तीर्थंकरमे दृढ श्रद्धा'का नाम यदि 'क्षायिकसमकित' माने तो वह श्रद्धा कैसी समझना कि जो श्रद्धा हम जानते है कि निश्चितरूपसे इस कालमे होती ही नही। यदि ऐसा मालूम नही होता कि अमुक दशा या अमुक श्रद्धाको 'क्षायिकसमकित' कहा है, तो फिर वह नही है, ऐसा केवल जिनागमके शब्दोसे जानना हुआ यों कहते हैं। अब ऐसा मानें

कि वे शब्द अन्य आशयसे कहे गये हैं, अथवा किसी पिछले कालके विसर्जन-दोषसे लिखे गये हैं तो जिस जीवने इस विषयमे आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया हो वह जीव कैसे दोषको प्राप्त होगा यह सखेद करुणासे विचार करने योग्य है।

अभी जिन्हें जिनसूत्रोंके नामसे जाना जाता है, उनमें 'क्षायिकसमकित नहीं है', ऐसा स्पष्ट लिखा नही है; और परम्परागत तथा दूसरे कितने ही ग्रन्थोंमें यह बात चली आती है ऐसा पढ़ा है, और सुना है; और यह वाक्य मिथ्या है या मृषा है, ऐसा हमारा अभिप्राय नही है, और वह वाक्य जिस प्रकारसे लिखा है, वह एकान्त अभिप्रायसे ही लिखा है, ऐसा हमे नही लगता। कदाचित् ऐसा मानें कि वह वाक्य एकान्त ही है तो भी किसी भी प्रकारसे व्याकुलता करना योग्य नही है। क्योंकि यदि इन सभी व्याख्याओको सत्पुरुषके आशयसे नही जाना तो फिर सफल नही हैं। कदाचित् ऐसा माने कि इसके बदले जिनागममे लिखा हो कि चौथे कालकी भाँति पाँचवें कालमे भी बहुतसे जीव मोक्षमे जानेवाले है, तो इस बातका श्रवण आपके लिये और हमारे लिये कुछ कल्याणकारी नही हो सकता, अथवा मोक्ष-प्राप्तिका कारण नही हो सकता, क्योंकि वह मोक्षप्राप्ति जिस दशामे कही है, उसी दशाकी प्राप्ति ही सिद्ध है, उपयोगी है, कल्याणकर्त्ता है। श्रवण तो मात्र बात है, उसी प्रकार उससे प्रतिकूल वाक्य भी मात्र बात है। वे दोनो लिखी हों, अथवा एक ही लिखी हो अथवा व्यवस्थाके बिना रखा हो, तो भी वह बध अथवा मोक्षका कारण नही है। मात्र बधदशा बंध है, मोक्षदशा मोक्ष है, क्षायिकदशा क्षायिक है, अन्यदशा अन्य है, श्रवण श्रवण है, मनन मनन है, परिणाम परिणाम है, प्राप्ति प्राप्ति है, ऐसा सत्पुरुषोका निश्चय है। बध मोक्ष नही है, और मोक्ष बध नही है, जो जो है वह वह है, जो जिस स्थितिमे है, वह उस स्थितिमे है। बधबुद्धि टली नही है और मोक्ष—जीवनमुक्तता—माननेमे आये तो यह जैसे सफल नही है, वैसे हो अक्षायिकदशासे क्षायिक माननेमे आये, तो वह भी सफल नही है। माननेका फल नही है परन्तु दशाका फल है।

जब यह स्थिति है तो फिर अब हमारा आत्मा अभी किस दशामे है, और वह क्षायिकसमकिती जीवकी दशाका विचार करनेके योग्य है या नही, अथवा उससे उतरती या उससे चढती दशाका विचार यह जीव यथार्थ कर सकता है या नही ? इसीका विचार करना जीवके लिये श्रेयस्कर है। परन्तु अनन्त-कालसे जीवने वैसा विचार नही किया है, उसे वैसा विचार करना योग्य है ऐसा भासित भी नही हुआ, और निष्फलतापूर्वक सिद्धपद तकका उपदेश यह जीव अनन्त बार कर चुका है, वह उपर्युक्त प्रकारका विचार किये बिना कर चुका है, विचारकर—यथार्थ विचार कर—नही कर चुका है। जैसे पूर्वकालमे जीवने यथार्थ विचारके बिना वैसा किया है, वैसे ही उस दशा (यथार्थ विचारदशा) के बिना वर्तमानमें वैसा करता है। जब तक जीवको अपने बोधके बलका भान नहीं आयेगा तब तक वह भविष्यमे भी इसी तरह प्रवृत्ति करता रहेगा। किसी भी महा पुण्यके योगसे जीव पीछे हटकर, तथा वैसे मिथ्या-उपदेशके प्रवर्तनसे अपना बोधबल आवरणको प्राप्त हुआ है, ऐसा समझकर उसके प्रति सावधान होकर निरावरण होनेका विचार करेगा, तब वैसा उपदेश करनेसे, दूसरेको प्रेरणा देनेमे और आग्रहपूर्वक कहनेसे रुकेगा। अधिक क्या कहे ? एक अक्षर बोलते हुए अतिशय-अतिशय प्रेरणा करते हुए भी वाणी मौनको प्राप्त होगी, और उस मौनको प्राप्त होनेसे पहले जीव एक अक्षर सत्य बोल पाये, ऐसा होना अशक्य है, यह बात किसी भी प्रकारसे तीनो कालोमे संदेहपात्र नही है।

तीर्थंकरने भी ऐसा ही कहा है, और वह अभी उनके आगममे भी है, ऐसा ज्ञात है। कदाचित् आगममे तथाकथित अर्थ न रहा हो, तो भी ऊपर बताये हुए शब्द आगम ही है, जिनागम ही है। राग, द्वेष और अज्ञान, इन तीनो कारणोसे रहित होकर ये शब्द प्रगट लिखे गये है, इसलिये सेवनीय है।

थोड़े ही वाक्योमे लिखनेका सोचा था ऐसा यह पत्र विस्तृत हो गया है, और बहुत ही सक्षेपमे उसे लिखा है, फिर भी कितने ही प्रकारसे अपूर्ण स्थितिमे यह पत्र यहाँ परिसमाप्त करना पड़ता है।

आपको तथा आप जैसे दूसरे जिन जिन भाइयोंका प्रसंग है उन्हें यह पत्र, विशेषत प्रथम भाग वैसे प्रसंगमे स्मरणमे रखना योग्य है, और बाकीका दूसरा भाग आपको और दूसरे मुमुक्षु जीवोंको वारंवार विचारना योग्य है। यहाँ उदय-गर्भमे स्थित समाधि है।

कृष्णदासके सगमे 'विचारसागर' के थोड़े भी तरंग पढनेका प्रसंग मिले तो लाभरूप है। कृष्णदासको आत्मस्मरणपूर्वक यथायोग्य।

"प्रारब्ध देही"

---

३९८ बम्बई, श्रावण वदी १४, रवि, १९४८

ॐ

स्वस्ति श्री सायला ग्राम शुभस्थानमे स्थित परमार्थके अखण्ड निश्चयी, निष्काम स्वरूप (')-के वारंवार स्मरणरूप, मुमुक्षु पुरुषोके द्वारा अनन्य प्रेमसे सेवन करने योग्य, परम सरल और शातमूर्ति श्री 'सुभाग्य' के प्रति,

श्री मोहमयी' स्थानसे निष्काम स्वरूप तथा स्मरणरूप सत्पुरुषके विनयपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

जिनमे प्रेमभक्ति प्रधान निष्कामरूपसे है, ऐसे आपसे लिखित बहुतसे पत्र अनुक्रमसे प्राप्त हुए है। आत्माकारस्थिति और उपाधियोगरूप कारणसे मात्र उन पत्रोकी पहुँच लिखी जा सकी है।

यहाँ श्री रेवाशकरकी शारीरिक स्थिति यथायोग्यरूप रहती न होनेसे, और व्यवहार सम्बन्धी कामकाजके बढ जानेसे उपाधियोग भी विशेष रहा है, और रहता है, जिससे इस चातुर्मासमे बाहर निकलना अशक्य हुआ है, और इसके कारण आपका निष्काम समागम प्राप्त नही हो सका। फिर दिवालीके पहले वैसा योग प्राप्त होना सम्भव नही है।

आपके लिखे कितने ही पत्रोमे जीवादिके स्वभाव और परभावके बहुतसे प्रश्न आते थे, इस कारण-से उनके उत्तर लिखे नही जा सके। दूसरे भी जिज्ञासुओके पत्र इस दौरान बहुत मिले है। प्राय उनके लिये भी वैसा ही हुआ है।

अभी जो उपाधियोग प्राप्त हो रहा है, यदि उस योगका प्रतिबन्ध त्यागनेका विचार करे तो वैसा हो सकता है, तथापि उस उपाधियोगको भोगनेसे जो प्रारब्ध निवृत्त होनेवाला है, उसे उसी प्रकारसे भोगनेके सिवाय दूसरी इच्छा नही होती, इसलिये उसी योगसे उस प्रारब्धको निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते है, और वैसी स्थिति है।

शास्त्रोमे इस कालको अनुक्रमसे क्षीणता योग्य कहा है, और वैसे ही अनुक्रमसे हुआ करता है। यह क्षीणता मुख्यत परमार्थ सम्बन्धी कही है। जिस कालमे अत्यन्त दुर्लभतासे परमार्थकी प्राप्ति हो वह काल दु षम कहने योग्य है। यद्यपि सब कालमे जिनसे परमार्थप्राप्ति होती है, ऐसे पुरुषोका योग दुर्लभ ही है, तथापि ऐसे कालमे तो अत्यन्त दुर्लभ होता है। जीवोकी परमार्थवृत्ति क्षीण परिणामको प्राप्त होती जा रही है, जिससे उनके प्रति ज्ञानीपुरुषोके उपदेशका बल भी कम होता जाता है, और इससे परपरासे वह उपदेश भी क्षीणताको प्राप्त हो रहा है, इसलिये परमार्थमार्ग अनुक्रमसे व्यवच्छेद होने योग्य काल आ रहा है।

इस कालमे और उसमे भी लगभग वर्तमान सदीसे मनुष्यकी परमार्थवृत्ति बहुत क्षीणताको प्राप्त हुई है, और यह बात प्रत्यक्ष है। सहजानन्दस्वामीके समय तक मनुष्योंमे जो सरलवृत्ति थी, उसमे और आजकी

सरलवृत्तिमें बडा अन्तर हो गया है। तब तक मनुष्योंकी वृत्तिमे कुछ कुछ आज्ञाकारित्व, परमार्थकी इच्छा और तत्सम्बन्धी निश्चयमे दृढता जैसे थे, वैसे आज नही हैं, उसकी अपेक्षा तो आज बहुत क्षीणता हो गयी है। यद्यपि अभी तक इस कालमे परमार्थवृत्ति सर्वथा व्यवच्छेदप्राप्त नही हुई है, तथा भूमि सत्पुरुष-रहित नही हुई है, तो भी यह काल उस कालकी अपेक्षा अधिक विषम है, बहुत विषम है, ऐसा जानते है।

कालका ऐसा स्वरूप देखकर हृदयमे बडी अनुकम्पा अखंडरूपसे रहा करती है। अत्यन्त दुःखकी निवृत्तिका उपायभूत जो सर्वोत्तम परमार्थ है उस सम्बन्धी वृत्ति जीवोमे किसी भी प्रकारसे कुछ भी वर्ध-मानताको प्राप्त हो, तभी उन्हे सत्पुरुषकी पहचान होती है, नही तो नही होती। वह वृत्ति सजीवन हो और किन्ही भी जीवोको—बहुतसे जीवोको—परमार्थसम्बन्धी मार्ग प्राप्त हो, ऐसी अनुकम्पा अखडरूपसे रहा करती है, तथापि वैसे होना बहुत दुष्कर समझते है और उसके कारण भी ऊपर बतलाये है।

जिस पुरुषकी दुर्लभता चौथे कालमे थी वैसे पुरुषका योग इस कालमे होने जैसा हुआ है, तथापि जीवोकी परमार्थसम्बन्धी चिन्ता अत्यन्त क्षीण हो गयी है, इसलिये उस पुरुषकी पहचान होना अत्यन्त विकट है। उसमे भी जिस गृहवासादि प्रसगमे उस पुरुषकी स्थिति है, उसे देखकर जीवको प्रतीति आना दुर्लभ है, अत्यन्त दुर्लभ है, और कदाचित् प्रतीति आयी, तो उसका जो प्रारब्ध प्रकार अभी प्रवर्तमान है, उसे देखकर निश्चय रहना दुर्लभ है, और कदाचित् निश्चय हो जाये तो भी उसका सत्सग रहना दुर्लभ है, और जो परमार्थका मुख्य कारण है वह तो यही है। इसे ऐसी स्थितिमे देखकर ऊपर बताये हुए कारणोको अधिक बलवानरूपमे देखते है, और यह बात देखकर पुन पुन अनुकम्पा उत्पन्न होती है।

'ईश्वरेच्छासे' जिन किन्ही भी जीवोका कल्याण वर्तमानमे भी होना सर्जित होगा, वह तो वैसे होगा, और वह दूसरेसे नही परन्तु हमसे, ऐसा भी यहाँ मानते है। तथापि जैसी हमारी अनुकम्पासंयुक्त इच्छा है, वैसी परमार्थ विचारणा और परमार्थप्राप्ति जीवोको हो वैसा योग किसी प्रकारसे कम हुआ है, ऐसा मानते है। गगायमुनादिके प्रदेशमे अथवा गुजरात देशमे यदि यह देह उत्पन्न हुई होती, वहाँ वर्ध-मानताको प्राप्त हुई होती, तो वह एक बलवान कारण था ऐसा जानते हैं। फिर प्रारब्धमे गृहवास बाकी न होता और ब्रह्मचर्य, वनवास होता तो वह दूसरा बलवान कारण था, ऐसा जानते है। कदाचित् गृहवास बाकी होता और उपाधियोगरूप प्रारब्ध न होता तो यह परमार्थके लिये तीसरा बलवान कारण था ऐसा जानते हैं। पहले कहे हुए दो कारण तो हो चुके है, इसलिये अब उनका निवारण नही है। तीसरा उपाधि-योगरूप प्रारब्ध शीघ्रतासे निवृत्त हो, और निष्काम करुणाके हेतुसे वह भोगा जाये, तो वैसा होना अभी बाकी है, तथापि वह भी अभी विचारयोग्य स्थितिमे है। अर्थात् उस प्रारब्धका सहजमे प्रतिकार हो जाये, ऐसी ही इच्छाकी स्थिति है, अथवा तो विशेष उदयमे आकर थोडे कालमे उस प्रकारका उदय परिसमाप्त हो जाये, तो वैसी निष्काम करुणाकी स्थिति है, और इन दो प्रकारोंमे तो अभी उदासीनरूपसे अर्थात् सामान्यरूपसे रहना है, ऐसी आत्मसम्भावना है, और इस सम्बन्धी महान विचार वारवार रहा करता है।

जब तक उपाधियोग परिसमाप्त न हो तब तक परमार्थ किस प्रकारके सम्प्रदायसे कहना, इसे मौनमे और अविचार अथवा निर्विचारमे रखा है, अर्थात् अभी वह विचार करनेके विषयमे उदासीनता रहती है।

आत्माकार स्थिति हो जानेसे चित्त प्राय. एक अंश भी उपाधियोगका वेदन करने योग्य नही है, तथापि वह तो जिस प्रकारसे वेदन करना प्राप्त हो उसी प्रकारसे वेदन करना है, इसलिये उसमे समाधि है। परन्तु किन्ही जीवोसे परमार्थ सम्बन्धी प्रसंग आता है उन्हे उस उपाधियोगके कारणसे हमारी अनु-कम्पाके अनुसार लाभ नही मिलता, और परमार्थ सम्बन्धी आपकी लिखी हुई कुछ बात आती है, वह भी मुश्किलसे चित्तमे प्रवेश पाती है, कारण कि उसका अभी उदय नही है। इससे पत्रादिके प्रसंगसे आपके

सिवाय दूसरे मुमुक्षु जीवोको इच्छित अनुकम्पासे परमार्थवृत्ति दी नही जा सकती, यह भी बहुत बार चित्तको खलता है।

चित्त बन्धनवाला न हो सकनेसे जो जीव संसारके सम्बन्धसे स्त्री आदि रूपमे प्राप्त हुए हैं उन जीवोकी इच्छाको भी क्लेश पहुँचानेकी इच्छा नही होती, अर्थात् उसे भी अनुकंपासे और माता-पिता आदिके उपकारादि कारणोसे उपाधियोगका प्रबलतासे वेदन करते है; और जिस जिसकी जो कामना है वह वह प्रारब्धके उदयमे जिस प्रकारसे प्राप्त होना सर्जित है उस प्रकारसे प्राप्त होने तक निवृत्ति ग्रहण करते हुए भी जीव 'उदासीन' रहता है; इसमे किसी प्रकारकी हमारी सकामता नही है, हम इन सबमे निष्काम ही हैं, ऐसा है। तथापि प्रारब्ध उस प्रकारका बन्धन रखनेके लिये उदयमे रहता है, इसे भी दूसरे मुमुक्षुकी परमार्थवृत्ति उत्पन्न करनेमे अवरोधरूप मानते है।

जबसे आप हमे मिले है, तबसे यह बात कि जो ऊपर अनुक्रमसे लिखी है, वह बतानेको इच्छा थी, परन्तु उसका उदय उस प्रकारमे नही था, इसलिये वैसा नही हो सका, अब वह उदय बताने योग्य होनेसे सक्षेपसे बताया है, जिसे वारवार विचार करनेके लिये आपको लिखा है। बहुत विचार करके सूक्ष्मरूपसे हृदयमे निर्धार रखने योग्य प्रकार इसमे लिखा गया है। आप और गोशलियाके सिवाय इस पत्रका विवरण जाननेके योग्य अन्य जीव अभी आपके पास नही है, इतनी बात स्मरण रखनेके लिये लिखी है। किसी बातमे शब्दोके संक्षेपसे यह भासित होना सम्भव हो कि अभी हमे किसी प्रकारकी कुछ ससारसुखवृत्ति है, तो वह अर्थ फिर विचार करने योग्य है। निश्चय है कि तीनो कालमे हमारे सम्बन्धमे वह भासित होना आरोपित समझने योग्य है, अर्थात् ससारसुखवृत्तिसे निरन्तर उदासीनता ही है। ये वाक्य, आपका हमारे प्रति कुछ कम निश्चय है अथवा होगा तो निवृत्त हो जायेगा ऐसा समझकर नही लिखे है, अन्य हेतुसे लिखे है। इस प्रकारसे यह विचार करने योग्य, वारंवार विचार करके हृदयमे निर्धार करने योग्य वार्ता संक्षेपसे यहाँ तो परिसमाप्त होती है।

इस प्रसंगके सिवाय अन्य कुछ प्रसंग लिखना चाहे तो ऐसा हो सकता है तथापि वे बाकी रखकर इस पत्रको परिसमाप्त करना योग्य भासित होता है।

जगतमे किसी भी प्रकारसे जिसकी किसी भी जीवके प्रति भेददृष्टि नही है, ऐसे श्री ' ' निष्काम आत्मस्वरूपके नमस्कार प्राप्त हो।

'उदासीन' शब्दका अर्थ समता है।

---

३९९ बबई, श्रावण, १९४८

मुमुक्षुजन सत्संगमे हो तो निरन्तर उल्लासित परिणाममे रहकर आत्मसाधन अल्पकालमे कर सकते हैं, यह वार्ता यथार्थ है, और सत्सगके अभावमे समपरिणति रहना विकट है। तथापि ऐसे करनेमें ही आत्मसाधन रहा होनेसे चाहे जैसे अशुभ निमित्तोमे भी जिस प्रकारसे समपरिणति आये उस प्रकारसे प्रवृत्ति करना यही योग्य है। ज्ञानीके आश्रयमे निरंतर वास हो तो सहज साधनसे भी समपरिणाम प्राप्त होता है, इसमे तो निर्विवादता है, परन्तु जब पूर्वकर्मके निबन्धनसे प्रतिकूल निमित्तोंमे निवास प्राप्त हुआ है, तब चाहे किसी तरह भी उनके प्रति अद्वेष परिणाम रहे ऐसी प्रवृत्ति करना यही हमारी वृत्ति है, और यही शिक्षा है।

वे जिस प्रकारसे सत्पुरुषके दोषका उच्चारण न कर सकें उस प्रकारसे यदि आप प्रवृत्ति कर सकते हो तो विकटता सहन करके भी वैसी प्रवृत्ति करना योग्य है। अभी हमारी आपको ऐसी कोई शिक्षा नही है कि आपको उनसे बहुत प्रकारसे प्रतिकूल वर्तन करना पड़े। किसी बाबतमे वे आपको

बहुत प्रतिकूल समझते हो तो यह जीवका अनादि अभ्यास है, ऐसा जानकर सहनशीलता रखना अधिक योग्य है।

जिसके गुणगान करनेसे जीव भवमुक्त होता है, उसके गुणगानसे प्रतिकूल होकर दोषभावसे प्रवृत्ति करना, यह जीवके लिये महा दुःखदायक है, ऐसा मानते हैं, और जब वैसे प्रकारमे वे आ जाते है तब समझते हैं कि जीवको किसी वैसे पूर्वकर्मका निबधन होगा। हमे तो तत्सम्बन्धी अद्वेष परिणाम ही है, और उनके प्रति करुणा आती है। आप भी इस गुणका अनुकरण करे और जिस तरह वे गुणगान करने योग्य पुरुषका अवर्णवाद बोलनेका प्रसग प्राप्त न कर, वैसा योग्य मार्ग ग्रहण करें, यह अनुरोध है।

हम स्वय उपाधि प्रसगमे रहे थे और रह रहे है, इससे स्पष्ट जानते हैं कि उस प्रसंगमें सर्वथा आत्मभावसे प्रवृत्ति करना दुष्कर है। इसलिये निरुपाधिवाले द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका सेवन करना आवश्यक है, ऐसा जानते हुए भी अभी तो यही कहते है कि उस उपाधिका वहन करते हुए निरुपाधिका विसर्जन न किया जाये, ऐसा करते रहे।

हम जैसे सत्सगको निरन्तर भजते है, तो वह आपके लिये अभजनीय क्यो होगा? यह जानते हैं; परन्तु अभी तो पूर्वकर्मको भजते है, इसलिये आपको दूसरा मार्ग कैसे बतायें? यह आप विचारें।

एक क्षणभर भी इस ससर्गमे रहना अच्छा नही लगता, ऐसा होनेपर भी बहुत समयसे इसका सेवन करते आये है, सेवन कर रहे हैं, और अभी अमुक काल तक सेवन करना ठान रखना पडा है, और आपको यही सूचना करना योग्य माना है। यथासम्भव विनयादि साधनसम्पन्न होकर सत्संग, सत्शास्त्राभ्यास और आत्मविचारमे प्रवृत्ति करना, ऐसा करना ही श्रेयस्कर है।

आप तथा दूसरे भाइयोको अभी सत्संग प्रसग कैसा रहता है? सो लिखियेगा।

समय मात्र भी प्रमाद करनेकी तीर्थंकरदेवकी आज्ञा नही है।

४००

बंबई, श्रावण वदी, १९४८

वह पुरुष नमन करने योग्य है,
कीर्तन करने योग्य है,
परमप्रेमसे गुणगान करने योग्य है,
वारंवार विशिष्ट आत्मपरिणामसे ध्यान करने योग्य है,
कि
जिस पुरुषको द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे
किसी भी प्रकारकी प्रतिबद्धता नहीं रहती।

आपके बहुतसे पत्र मिले है, उपाधियोग इस प्रकारसे रहता है कि उसकी विद्यमानतामें पत्र लिखने योग्य अवकाश नहीं रहता, अथवा उस उपाधिको उदयरूप समझकर मुख्यरूपसे आराधते हुए आप जैसे पुरुषको भी जानबूझकर पत्र नही लिखा, इसके लिये क्षमा करने योग्य है।

जबसे इस उपाधियोगका आराधन करते हैं, तबसे चित्तमे जैसी मुक्तता रहती है वैसी मुक्तता अनुपाधिप्रसंगमे भी नही रहती थी, ऐसी निश्चलदशा मगसिर सुदी ६ से एक धारासे चली आ रही है।

आपके समागमकी बहुत इच्छा रहती है, उस इच्छाका संकल्प दीवालीके बाद 'ईश्वर' पूर्ण करेगा, ऐसा मालूम होता है।

बंबई तो उपाधिस्थान है, उसमे आप इत्यादिका समागम हो तो भी उपाधिके आड़े आनेसे यथायोग्य समाधि प्राप्त नही होती, जिससे किसी ऐसे स्थलका विचार करते हैं कि जहाँ निवृत्तियोग रहे।

लीमडीके ठाकुरसम्बन्धी प्रश्नोत्तर और विवरण जाना है। अभी 'ईश्वरेच्छा' वैसी नही है। प्रश्नोत्तरके लिये खीमचदभाई मिले होते तो हम योग्य बात करते। तथापि वह योग नही हुआ, और वह अभी न हो तो ठीक, ऐसा हमारे मनमे भी रहता था।

आपके आजीविका-साधनसम्बन्धी बात ध्यानमे है, तथापि हम तो मात्र सकल्पधारी है। ईश्वरेच्छा होगी वैसा होगा। और अभी तो वैसा होने देनेकी हमारी इच्छा है।

परमप्रेमसे नमस्कार प्राप्त हो।

---

४०१ बंबई, भादो सुदी १, मंगल, १९४८

ॐ सत्

शुभवृत्ति मणिलाल, बोटाद।

आपका वैराग्यादिके विचारवाला एक सविस्तर पत्र तीनेक दिन पहले मिला है।

जीवमे वैराग्य उत्पन्न होना इसे एक महान गुण मानते है, और उसके साथ शम, दम, विवेकादि साधन अनुक्रमसे उत्पन्न होनेरूप योग प्राप्त हो तो जीवको कल्याणकी प्राप्ति सुलभ होती है, ऐसा समझते हैं। (ऊपरकी पंक्तिमे 'योग' शब्द लिखा है, उसका अर्थ प्रसग अथवा सत्सग समझना चाहिये।)

अनत कालसे जीवका ससारमे परिभ्रमण हो रहा है, और इस परिभ्रमणमे इसने अनत जप तप, वैराग्य आदि साधन किये प्रतीत होते है, तथापि जिससे यथार्थ कल्याण सिद्ध होता है, ऐसा एक भी साधन हो सका हो ऐसा प्रतीत नही होता। ऐसे तप, जप या वैराग्य अथवा दूसरे साधन मात्र ससाररूप हुए है, वैसा किस कारणसे हुआ? यह बात अवश्य वारवार विचारणीय है। (यहाँ किसी भी प्रकारसे जप, तप, वैराग्य आदि साधन निष्फल है, ऐसा कहनेका हेतु नही है, परन्तु निष्फल हुए है, उसका हेतु क्या होगा? उसका विचार करनेके लिये लिखा गया है। कल्याणकी प्राप्ति जिसे होती है, ऐसे जीवमे वैराग्यादि साधन तो अवश्य होते है।)

श्री सुभाग्यभाईके कहनेसे, यह पत्र जिसकी ओरसे लिखा गया है, उसके लिये आपने जो कुछ श्रवण किया है, वह उनका कहना यथातथ्य है या नही? यह भी निर्धार करने जैसी बात है।

हमारे सत्सगमे निरन्तर रहने सम्बन्धी आपकी जो इच्छा है, उसके विषयमे अभी कुछ लिख सकना अशक्य है।

आपके जाननेमे आया होगा कि यहाँ हमारा जो रहना होता है वह उपाधिपूर्वक होता है, और वह उपाधि इस प्रकारसे है कि वैसे प्रसगमे श्री तीर्थंकर जैसे पुरुषके विषयमे निर्धार करना हो तो भी विकट हो जाये, कारण कि अनादिकालसे जीवको मात्र बाह्यप्रवृत्ति अथवा बाह्यनिवृत्तिकी पहचान है, और उसके आधारसे ही वह सत्पुरुष असत्पुरुषकी कल्पना करता आया है। कदाचित् किसी सत्सगके योगसे 'सत्पुरुष ये है,' ऐसा जीवके जाननेमे आता है, तो भी फिर उनका बाह्यप्रवृत्तिरूप योग देखकर जैसा चाहिये वैसा निश्चय नही रहता, अथवा तो निरन्तर बढ़ता हुआ भक्तिभाव नही रहता, और कभी तो सन्देहको प्राप्त होकर जीव वैसे सत्पुरुषके योगका त्याग कर जिसकी बाह्यनिवृत्ति दिखायी देती है, ऐसे असत्पुरुषका दृढाग्रहसे सेवन करता है। इसलिये जिस कालमे सत्पुरुषको निवृत्तिप्रसग रहता हो वैसे प्रसंगमे उनके समीप रहना इसे जीवके लिये विशेष हितकर समझते हैं।

इस बातका इस समय इससे विशेष लिखा जाना अशक्य है। यदि किसी प्रसगसे हमारा समागम हो तो उस समय आप इस विषयमे पूछियेगा और कुछ विशेष कहने योग्य प्रसग होगा तो कह सकना सम्भव है।

दीक्षा लेनेकी वारंवार इच्छा होती हो तो भी अभी उस वृत्तिको शान्त करना, और कल्याण क्या तथा वह कैसे हो इसको वारवार विचारणा और गवेषणा करना। इस प्रकारसे अनन्तकालसे भूल होती आयी है, इसलिये अत्यत विचारसे कदम उठाना योग्य है।

अभी यही विनती। रायचदके निष्काम यथायोग्य।

---

४०२ बंबई, भादो सुदी ७, सोम, १९४८

उदय देखकर उदास न होवें।

स्वस्ति श्री सायला शुभस्थानमे स्थित, मुमुक्षुजनके परम हितैषी, सर्व जीवोके प्रति परमार्थ करुणादृष्टि है जिनकी, ऐसे निष्काम, भक्तिमान श्री सुभाग्यके प्रति,

श्री 'मोहमयी' स्थानसे '''के निष्काम विनयपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

संसारका सेवन करनेके आरभकाल (?) से लेकर आज दिन पर्यंत आपके प्रति जो कुछ अविनय, अभक्ति, और अपराधादि दोष उपयोगपूर्वक अथवा अनुपयोगसे हुए हो, उन सबकी अत्यन्त नम्रतासे क्षमा चाहता हूँ।

श्री तीर्थंकरने जिसे मुख्य धर्मपर्व गिनने योग्य माना है, ऐसी इस वर्षकी सवत्सरी व्यतीत हुई। किसी भी जीवके प्रति किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमे अत्यन्त अल्प मात्र दोष करना योग्य नही है, ऐसी बातका जिसमे परमोत्कृष्टरूपसे निर्धार हुआ है, ऐसे इस चित्तको नमस्कार करते है, और वही वाक्य मात्र स्मरणयोग्य ऐसे आपको लिखा है कि जिस वाक्यका आप निःशकतासे जानते है।

'रविवारको आपको पत्र लिखूँगा', ऐसा लिखा था तथापि वैसा नही हो सका, यह क्षमा करने योग्य है। आपने व्यवहार प्रसंगके विवरण सम्बन्धी पत्र लिखा था, उस विवरणको चित्तमे उतारने और विचारनेकी इच्छा थी, तथापि वह चित्तके आत्माकार होनेसे निष्फल हो गयो है, और अब कुछ लिखा जा सके ऐसा प्रतीत नही होता, जिसके लिये अत्यंत नम्रतासे क्षमा चाहकर यह पत्र परिसमाप्त करता हूँ।

सहजस्वरूप।

---

४०३ बंबई, भादो सुदी १०, गुरु, १९४८

जिस जिस प्रकारसे आत्मा आत्मभावको प्राप्त हो वह प्रकार धर्मका है। आत्मा जिस प्रकारसे अन्यभावको प्राप्त हो वह प्रकार अन्यरूप है, धर्मरूप नही है। आपने वचनके श्रवणके पश्चात् अभी जो निष्ठा अगीकृत की है वह निष्ठा श्रेययोग्य है। दृढ मुमुक्षुको सत्सगसे वह निष्ठादि अनुक्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर आत्मस्थितिरूप होती है।

जीवको धर्म अपनी कल्पनासे अथवा कल्पनाप्राप्त अन्य पुरुषसे श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य या आराधने योग्य नही है। मात्र आत्मस्थिति है जिनकी ऐसे सत्पुरुषसे ही आत्मा अथवा आत्मधर्म श्रवण करने योग्य है, यावत् आराधने योग्य है।

---

४०४ बबई, भादो सुदी १०, गुरु, १९४८

स्वस्ति श्री स्थंभतीर्थ शुभस्थानमे स्थित, शुभवृत्तिसम्पन्न मुमुक्षुभाई कृष्णदासादिके प्रति,

ससारकालसे इस क्षण तक आपके प्रति किसी भी प्रकारका अविनय, अभक्ति, असत्कार अथवा वैसा दूसरे अन्य प्रकार सम्बन्धी कोई भी अपराध मन, वचन, कायाके परिणामसे हुए हो, उन सबके लिये अत्यन्त नम्रतासे, उन सर्व अपराधोके अत्यन्त लय परिणामरूप आत्मस्थितिपूर्वक मै सब प्रकारसे क्षमा

माँगता हूँ, और उन्हे क्षमा करानेके योग्य हूँ। आपका, किसी भी प्रकारसे उन अपराधादिकी ओर उपयोग न हो तो भी अत्यन्तरूपसे, हमारी वैसी पूर्वकालसम्बन्धी किसी प्रकारसे भी सम्भावना जानकर अत्यन्त-रूपसे क्षमा देने योग्य आत्मस्थिति करनेके लिये इस क्षण लघुतासे विनती है। अभी यही।

---

४०५ बंबई, भादो सुदी १०, गुरु, १९४८

इस क्षणपर्यंत आपके प्रति किसी भी प्रकारसे पूर्वादि कालमे मन, वचन, कायाके योगसे जो जो अपराधादि कुछ हुए हो उन सबको अत्यन्त आत्मभावसे विस्मरण करके क्षमा चाहता हूं। भविष्यके किसी भी कालमे आपके प्रति वैसा प्रकार होना असम्भव समझता हूँ, ऐसा होनेपर भी किसी अनुपयोग-भावसे देहपर्यंत वैसा प्रकार क्वचित् हो तो इस विषयमे भी इस समय अत्यन्त नम्र परिणामसे क्षमा चाहता हूँ, और उस क्षमारूप भावका, इस पत्रको विचारते हुए, वारंवार चिन्तन करके आप भी, हमारे प्रति पूर्वकालके उन सब प्रकारका विस्मरण करने योग्य है।

कुछ भी सत्सगवार्ताका परिचय बढे, वैसा यत्न करना योग्य है। यही विनती।

रायचंद।

---

४०६ बंबई भादो सुदी १२, रवि, १९४८

परमार्थके शीघ्र प्रगट होनेके विषयमे आप दोनोका आग्रह ज्ञात हुआ, तथा व्यवहार चिंताके विषयमे लिखा, और उसमे भी सकामताका निवेदन किया, वह भी आग्रहरूपसे प्राप्त हुआ है। अभी तो इन सबके विसर्जन करनेरूप उदासीनता रहती है, और उस सबको ईश्वरेच्छाधीन करना योग्य है। अभी ये दोनों बातें हम फिर न लिखे तब तक विस्मरण करने योग्य है।

यदि हो सके तो आप और गोशलिया कुछ अपूर्व विचार आया हो तो वह लिखियेगा। यही विनती।

---

४०७ बंबई, भादो वदी ३, शुक्र, १९४८

शुभवृत्तिसंपन्न मणिलाल, भावनगर।

वि० यथायोग्यपूर्वक विज्ञापन।

आपका एक पत्र आज पहुँचा है, और वह मैने पढा है। यहाँसे लिखा हुआ पत्र आपको मिलनेसे जो आनन्द हुआ उसका निवेदन करते हुए आपने अभी दीक्षासम्बन्धी वृत्ति क्षुभित होनेके विषयमे लिखा, वह क्षोभ अभी योग्य है।

क्रोधादि अनेक प्रकारके दोषोके परिक्षीण हो जानेसे, संसारत्यागरूप दीक्षा योग्य है, अथवा तो किसी महान पुरुषके योगसे यथाप्रसग वैसा करना योग्य है। उसके सिवाय अन्य प्रकारसे दीक्षाका धारण करना सफल नही होता। और जीव वैसी अन्य प्रकारकी दीक्षारूप भ्रांतिसे ग्रस्त होकर अपूर्व कल्याणको चूकता है, अथवा तो उससे विशेष अंतराय आये ऐसे योगका उपार्जन करता है। इसलिये अभी तो आपके उस क्षोभको योग्य समझते हैं।

आपकी इच्छा यहाँ समागममे आनेकी विशेष है, इसे हम जानते हैं; तथापि अभी उस योगकी इच्छाका निरोध करना योग्य है, अर्थात् वह योग होना अशक्य है; और इसकी स्पष्टता पहले पत्रमे लिखी है, उसे आप जान सके होगे। इस तरफ आनेकी इच्छामे आपके बुजुर्ग आदिका जो निरोध है उस निरोधका अतिक्रम करनेकी इच्छा करना अभी योग्य नही है। हमारा उस प्रदेशके पाससे कभी जाना-आना होगा तब कदाचित् समागमयोग होने योग्य होगा, तो हो सकेगा।

मताग्रहमे बुद्धिको उदासीन करना योग्य है, और अभी तो गृहस्थधर्मका अनुसरण करना भी योग्य है। अपने हितरूप जानकर या समझकर आरम्भ-परिग्रहका सेवन करना योग्य नही है, और इस परमार्थका वारवार विचार करके सद्ग्रन्थका पठन, श्रवण, मननादि करना योग्य है। यही विनती।

निष्काम यथायोग्य।

---

४०८ बंबई, भादों वदी ८, बुध, १९४८

ॐ नमस्कार

जिस जिस कालमे जो जो प्रारब्ध उदयमे आता है उसे भोगना, यही ज्ञानीपुरुषोंका सनातन आचरण है, और यह आचरण हमे उदयरूपसे रहता है, अर्थात् जिस ससारमे स्नेह नही रहा, उस ससारके कार्यकी प्रवृत्तिका उदय है, और उदयका अनुक्रमसे वेदन हुआ करता है। इस उदयके क्रममे किसी भी प्रकारकी हानि-वृद्धि करनेकी इच्छा उत्पन्न नही होती, और ऐसा जानते है कि ज्ञानीपुरुषोका भी यह सनातन आचरण है, तथापि जिसमे स्नेह नही रहा, अथवा स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हुई है, अथवा निवृत्त होने आयी है, ऐसे इस ससारमे कार्यरूपसे-कारणरूपसे प्रवर्तन करनेकी इच्छा नही रही, उससे निवृत्ति ही आत्मामे रहा करती है, ऐसा होनेपर भी उसके अनेक प्रकारके संग-प्रसगमे प्रवर्तन करना पड़ता है ऐसा पूर्वमे किसी प्रारब्धका उपार्जन किया है, जिसे समपरिणामसे वेदन करते है तथापि अभी भी कुछ समय तक वह उदययोग है, ऐसा जानकर कभी खेद पाते हैं, कभी विशेष खेद पाते है; और विचारकर देखनेसे तो उस खेदका कारण परानुकंपा ज्ञात होता है। अभी तो वह प्रारब्ध स्वाभाविक उदयके अनुसार भोगनेके सिवाय अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तथापि उस उदयमे अन्य किसीको सुख, दुःख, राग, द्वेष, लाभ, अलाभके कारणरूप दूसरेको भासित होते है। उस भासनेमे लोकप्रसगकी विचित्र भ्राति देखकर खेद होता है। जिस संसारमे साक्षी कर्तारूपसे माना जाता है, उस ससारमे उस साक्षीको साक्षीरूपसे रहना, और कर्ताकी तरह भासमान होना, यह दुधारी तलवारपर चलनेके बराबर है।

ऐसा होनेपर भी वह साक्षीपुरुष भ्रातिगत लोगोको किसीके खेद, दुःख, अलाभका कारण भासित न हो, तो उस प्रसगमे उस साक्षीपुरुषकी अत्यन्त विकटता नही है। हमे तो अत्यन्त अत्यन्त विकटताके प्रसंगका उदय है। इसमे भी उदासीनता यही ज्ञानीका सनातन धर्म है। ('धर्म' शब्द आचरणके अर्थमे है।)

एक बार एक तिनकेके दो भाग करनेकी क्रिया कर सकनेकी शक्तिका भी उपशम हो, तब जो ईश्वरेच्छा होगी वह होगा।

---

४०९ बबई, आसोज सुदी १, बुध, १९४८

जीवके कर्तृत्व-अकर्तृत्वका समागममे श्रवण होकर निदिध्यासन करना योग्य है।

वनस्पति आदिके योगसे बँधकर पारेका चाँदी आदिरूप हो जाना, यह संभव नही है, ऐसा नही है। योगसिद्धिके प्रकारसे किसी तरह ऐसा होना योग्य है, और उस योगके आठ अंगोमेसे जिसे पाँच अग प्राप्त है, उसे सिद्धियोग होता है। इसके सिवायकी कल्पना मात्र कालक्षेपरूप है। उसका विचार उदयमें आये, वह भी एक कौतुकभूत है। कौतुक आत्मपरिणामके लिये योग्य नही है। पारेका स्वाभाविक पारापन है।

---

४१० बंबई, आसोज सुदी ७, मंगल, १९४८

प्रगट आत्मस्वरूप अविच्छिन्नरूपसे भजनीय है।

वास्तविक तो यह है कि किये हुए कर्म भोगे बिना निवृत्त नही होते, और न किये हुए किसी कर्मका फल प्राप्त नही होता। किसी किसी समय अकस्मात् वर अथवा शापसे किसीका शुभ अथवा अशुभ हुआ देखनेमे आता है, वह कुछ न किये हुए कर्मका फल नही है। किसी भी प्रकारसे किये हुए कर्मका फल है।

एकेन्द्रियका एकावतारीपन अपेक्षासे जानने योग्य है। यही विनती।

---

४११ बंबई, आसोज सुदी १० (दशहरा), १९४८

'भगवती' इत्यादि शास्त्रोंमे जो किन्ही जीवोंके भवांतरका वर्णन किया है, उसमे कुछ संशयात्मक होने जैसा नही है। तीर्थंकर तो पूर्ण आत्मस्वरूप है। परन्तु जो पुरुष मात्र योगध्यानादिकके अभ्यासबलसे स्थित हो, उन पुरुषोंमेसे बहुतसे पुरुष भी उस भवांतरको जान सकते है, और ऐसा होना यह कुछ कल्पित प्रकार नही है। जिस पुरुषको आत्माका निश्चयात्मक ज्ञान है, उसे भवातरका ज्ञान होना योग्य है, होता है। क्वचित् ज्ञानके तारतम्यक्षयोपशमके भेदसे वैसा नही भी होता, तथापि जिसे आत्माकी पूर्ण शुद्धता रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको जानता है, भवातरको जानता है। आत्मा नित्य है, अनुभवरूप है, वस्तु है, इन सब प्रकारोके अत्यन्तरूपसे दृढ होनेके लिये शास्त्रमे वे प्रसग कहनेमे आये है।

यदि भवातरका स्पष्ट ज्ञान किसीको न होता हो तो आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी किसीको नही होता, ऐसा कहने बराबर है, तथापि ऐसा तो नही है। आत्माका स्पष्ट ज्ञान होता है, और भवातर भी स्पष्ट प्रतीत होता है। अपने और दूसरेके भवको जाननेका ज्ञान किसी प्रकारसे विसंवादिताको प्राप्त नही होता।

तीर्थंकरके भिक्षार्थ जाते हुए प्रत्येक स्थानपर सुवर्णवृष्टि इत्यादि हो, यो शास्त्रके कथनका अर्थ समझना योग्य नही है, अथवा शास्त्रमे कहे हुए वाक्योका वैसा अर्थ होता हो तो वह सापेक्ष है, लोकभाषाके ये वाक्य समझने योग्य है। उत्तम पुरुषका आगमन किसीके वहाँ हो तो वह जैसे यह कहे कि 'आज अमृतका मेह बरसा', तो वह कहना सापेक्ष है, यथार्थ है, तथापि शब्दके भावार्थमे यथार्थ है, शब्दके सीधेमूल अर्थमे यथार्थ नही है। और तीर्थंकरादिकी भिक्षाके सम्बन्धमे भी वैसा ही है। तथापि ऐसा ही मानना योग्य है कि आत्मस्वरूपसे पूर्ण पुरुषके प्रभावयोगसे वह होना अत्यन्त सम्भव है। सर्वत्र ऐसा हुआ है ऐसा कहनेका अर्थ नही है, ऐसा होना सम्भव है, यो घटित होता है, यह कहनेका हेतु है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है वहाँ सर्व महत् प्रभावयोग अधीन है, यह निश्चयात्मक बात है, निःसन्देह अंगीकार करने योग्य बात है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप रहता है वहाँ यदि सर्व महत् प्रभावयोग न हो तो फिर वह दूसरे किस स्थलमे रहे? यह विचारणीय है। वैसा तो कोई दूसरा स्थान सम्भव नही है, तब सर्व महत् प्रभावयोगका अभाव होगा। पूर्ण आत्मस्वरूपका प्राप्त होना अभावरूप नही है, तो फिर सर्व महत् प्रभावयोगका अभाव तो कहाँसे होगा? और यदि कदाचित् ऐसा कहनेमे आये कि आत्मस्वरूपका पूर्ण प्राप्त होना तो सगत है, महत् प्रभावयोगका प्राप्त होना सगत नही है, तो यह कहना एक विसंवादके सिवाय अन्य कुछ नही है, क्योंकि वह कहनेवाला शुद्ध आत्मस्वरूपकी महत्तासे अत्यन्त हीन ऐसे प्रभावयोगको महान समझता है, अगीकार करता है; और यह ऐसा सूचित करता है कि वह वक्ता आत्मस्वरूपका ज्ञाता नही है।

उस आत्मस्वरूपसे महान ऐसा कुछ नही है। इस सृष्टिमे ऐसा कोई प्रभावयोग उत्पन्न नही हुआ है, नही है और होनेवाला भी नही है कि जो प्रभावयोग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हों। तथापि उस प्रभावयोगके विषयमे प्रवृत्ति करनेमे आत्मस्वरूपका कुछ कर्तव्य नही है, ऐसा तो है; और यदि उसे उस प्रभावयोगमे कुछ कर्तव्य प्रतीत होता है, तो वह पुरुष आत्मस्वरूपसे अत्यन्त अज्ञात है, ऐसा समझते हैं।

कहनेका हेतु यह है कि सर्व प्रकारका प्रभावयोग आत्मारूप महाभाग्य ऐसे तीर्थंकरमें होना योग्य है, होता है, तथापि उसे अभिव्यक्त करनेका एक अंश भी उसमे संगत नही है; स्वाभाविक किसी पुण्यप्रकार-वशात् सुवर्णवृष्टि इत्यादि हो, ऐसा कहना असम्भव नही है, और तीर्थंकरपदके लिये वह बाधरूप नही है। जो तीर्थंकर है, वे आत्मस्वरूपके बिना अन्य प्रभावादिको नही करते, और जो करते है वे आत्मारूप तीर्थंकर कहने योग्य नही है, ऐसा मानते है, ऐसा ही है।

जो जिनकथित शास्त्र माने जाते हैं, उनमे अमुक बोलोका विच्छेद हो जानेका कथन है, और उनमे केवलज्ञानादि दस बोल मुख्य है; और उन दस बोलोका विच्छेद दिखानेका आशय यह बताना है कि इस कालमे 'सर्वथा मोक्ष नही होता।' वे दस बोल जिसे प्राप्त हो अथवा उनमेसे एक बोल प्राप्त हो तो उसे चरमशरीरी जीव कहना योग्य है, ऐसा समझकर उस बातको विच्छेदरूप माना है, तथापि वैसा एकात ही कहना योग्य नही है ऐसा हमे प्रतीत होता है, ऐसा ही है। क्योंकि क्षायिक समकितका इनमे निषेध है, वह चरमशरीरीको ही हो, ऐसा तो सगत नही होता, अथवा ऐसा एकात नही है। महाभाग्य श्रेणिक क्षायिकसमकिती होते हुए भी चरमशरीरी नही थे, ऐसा उन्ही जिनशास्त्रोमे कथन है। जिन-कल्पीविहार व्यवच्छेद, ऐसा श्वेताम्बरका कथन है, दिगम्बरका कथन नही है। 'सर्वथा मोक्ष होना' ऐसा इस कालमे सम्भव नही है, ऐसा दोनोका अभिप्राय है, वह भी अत्यन्त एकातरूपसे नही कहा जा सकता। मान लें कि चरमशरीरीपन इस कालमे नही है, तथापि अशरीरीभावसे आत्मस्थिति है तो वह भावनयसे चरमशरीरीपन नही, अपितु सिद्धत्व है, और यह अशरीरीभाव इस कालमे नही है ऐसा यहाँ कहे तो इस कालमे हम खुद नही है, ऐसा कहने तुल्य है। विशेष क्या कहे ? यह केवल एकांत नही है। कदाचित् एकात हो तो भी जिसने आगम कहे है, उसी आशयवाले सत्पुरुषसे वे समझने योग्य है, और वही आत्मस्थितिका उपाय है। यही विनती। गोशलियाको यथायोग्य।

४१२ बंबई, आसोज वदी ६, १९४८

यहाँ आत्माकारता रहती है, आत्माका आत्मस्वरूपरूपसे परिणामका होना उसे आत्माकारता कहते हैं।

४१३ बंबई, आसोज वदी ८, १९४८

ॐ

लोकव्यापक अन्धकारमे स्वयप्रकाशित ज्ञानीपुरुष ही यथातथ्य देखते है। लोककी शब्दादि काम-नाओके प्रति देखते हुए भी उदासीन रहकर जो केवल अपनेको ही स्पष्टरूपसे देखते है, ऐसे ज्ञानीको नमस्कार करते है, और अभी इतना लिखकर ज्ञानसे स्फुरित आत्मभावको तटस्थ करते है। यही विनती।

४१४ बंबई, आसोज, १९४८

ॐ

जो कुछ उपाधि की जाती है, वह कुछ 'अस्मिता' के कारण करनेमे नही आती, तथा नही की जाती। जिस कारणसे की जाती है, वह कारण अनुक्रमसे वेदन करने योग्य ऐसा प्रारब्ध कर्म है। जो कुछ उदयमे आता है उसका अविसवाद परिणामसे वेदन करना, ऐसा जो ज्ञानीका बोधन है वह हममे निश्चल है, इसलिये उस प्रकारसे वेदन करते है। तथापि इच्छा तो ऐसी रहती है कि अल्पकालमे, एक समयमे यदि वह उदय असत्ताको प्राप्त होता हो, तो हम इन सबमेसे उठकर चले जायें, इतना आत्माको अवकाश रहता है। तथापि 'निद्राकाल', भोजनकाल तथा अमुक अतिरिक्त कालके सिवाय उपाधिका प्रसंग रहा करता है, और कुछ भिन्नातर नहीं होता, तो भी आत्मोपयोग किसी प्रसंगमे भी अप्रधानभाव-

का सेवन करता हुआ देखनेमे आता है, और उस प्रसगपर मृत्युके शोकसे अत्यन्त अधिक शोक होता है, यह नि सन्देह है ।

ऐसा होनेसे और गृहस्थ प्रत्ययी प्रारब्ध जब तक उदयमे रहे तब तक 'सर्वथा' अयाचकताका सेवन करनेवाला चित्त रहनेमे ज्ञानीपुरुषोका मार्ग निहित है, इस कारण इस उपाधियोगका सेवन करते हैं । यदि उस मार्गकी उपेक्षा करे तो भी ज्ञानीका अपराध नही करते, ऐसा है, फिर भी उपेक्षा नही हो सकती । यदि उपेक्षा करे तो गृहाश्रमका सेवन भी वनवासीरूपसे हो, ऐसा तीव्र वैराग्य रहता है ।

सर्व प्रकारके कर्तव्यके प्रति उदासीन ऐसे हमसे कुछ हो सकता हो तो एक यही हो सकता है कि पूर्वोपार्जितका समताभावसे वेदन करना, और जो कुछ किया जाता है वह उसके आधारसे किया जाता है, ऐसी स्थिति है ।

हमारे मनमे ऐसा आ जाता है कि हम ऐसे है कि जो अप्रतिबद्धरूपसे रह सकते है, फिर भी ससार-के बाह्य प्रसंगका, अतर प्रसगका, और कुटुम्बादि स्नेहका सेवन करना नही चाहते, तो आप जैसे मार्गेच्छा-वानको उसके अहोरात्र सेवन करनेका अत्यन्त उद्वेग क्यो नही होता कि जिसे प्रतिबद्धतारूप भयकर यम-का साहचर्य रहता है ?

ज्ञानीपुरुषका योग होनेके बाद जो ससारका सेवन करता है, उसे तीर्थंकर अपने मार्गसे बाहर कहते हैं ।

कदाचित् ज्ञानीपुरुषका योग होनेके बाद जो संसारका सेवन करते है, वे सब तीर्थंकरोके मार्गसे बाहर कहने योग्य हो तो श्रेणिकादिमे मिथ्यात्वका संभव हो : है और विसंवादिता प्राप्त होती है । उस विसंवादितासे युक्त वचन यदि तीर्थंकरका हो तो उसे तीर्थंकर कहना योग्य नही है ।

ज्ञानीपुरुषका योग होनेके बाद जो आत्मभावसे, स्वच्छंदतासे, कामनासे, रससे, ज्ञानीके वचनोकी उपेक्षा करके, 'अनुपयोगपरिणामी' होकर संसारका सेवन करता है, वह पुरुष तीर्थंकरके मार्गसे बाहर है, ऐसा कहनेका तीर्थंकरका आशय है ।

---

४१५ बबई, आसोज, १९४८

किसी भी प्रकारके अपने आत्मिक बधनको लेकर हम संसारमे नही रह रहे है । जो स्त्री है उससे पूर्वमे बधे हुए भोगकर्मको निवृत्त करना है । कुटुम्ब है उसके पूर्वमे लिये हुए ऋणको देकर निवृत्त होनेके लिये रह रहे हैं । रेवाशकर है उसका हमारेसे जो कुछ लेना है उसे देनेके लिये रह रहे है । उसके सिवाय-के जो जो प्रसंग है वे उसके अन्दर समा जाते है । तनके लिये, धनके लिये, भोगके लिये, सुखके लिये स्वार्थके लिये अथवा किसी प्रकारके आत्मिक बंधनसे हम ससारमे नही रह रहे है । ऐसा जो अतरगका भेद उसे, जिस जीवको मोक्ष निकटवर्ती न हो, वह जीव कैसे समझ सकता है ?

दु खके भयसे भी ससारमे रहना रखा है, ऐसा नही है । मान-अपमानका तो कुछ भेद है, वह निवृत्त हो गया है ।

ईश्वरेच्छा हो और हमारा जो कुछ स्वरूप है वह उनके हृदयमे थोडे समयमे आये तो भले और हमारे विषयमे पूज्यबुद्धि हो तो भले, नही तो उपर्युक्त प्रकारसे रहना अब तो होना भयंकर लगता है ।

---

४१६ बबई, आसोज, १९४८

जिस प्रकारसे यहाँ कहनेमे आया था उस प्रकारसे भी सुगम ऐसा ध्यानका स्वरूप यहाँ लिखा है ।

१. किसी निर्मल पदार्थमे दृष्टिको स्थापित करनेका अभ्यास करके प्रथम उसे अचपल स्थिति-मे लाना ।

२. ऐसी कुछ अचपलता प्राप्त होनेके पश्चात् दायें चक्षुमें सूर्य और बायें चक्षुमें चंद्र स्थित है, ऐसी भावना करना।

३. यह भावना जब तक उस पदार्थके आकारादिका दर्शन न कराये तब तक सुदृढ करना।

४. वैसी सुदृढ़ता होनेके बाद चन्द्रको दक्षिण चक्षुमे और सूर्यको वाम चक्षुमे स्थापित करना।

५. यह भावना जब तक उस पदार्थके आकारादिका दर्शन न कराये तब तक सुदृढ़ करना। यह जो दर्शन कहा है वह भासमान दर्शन समझना।

६. यह दो प्रकारकी उलट सुलट भावना सिद्ध होनेपर भ्रकुटिके मध्यभागमे उन दोनोंका चिंतन करना।

७. प्रथम वह चिंतन आँख खुली रखकर करना।

८. अनेक प्रकारसे उस चिंतनके दृढ़ होनेके बाद आँख बन्द रखना। उस पदार्थके दर्शनकी भावना करना।

९. उस भावनामे दर्शन सुदृढ होनेके बाद हृदयमे एक अष्टदलकमलका चिन्तन करके उन दोनों पदार्थोको अनुक्रमसे स्थापित करना।

१० हृदयमे ऐसा एक अष्टदलकमल माननेमे आया है, तथापि वह विमुखरूपसे रहा है, ऐसा माननेमे आया है, इसलिये उसका सन्मुखरूपसे चिंतन करना, अर्थात् सुलटा चिन्तन करना।

११ उस अष्टदलकमलमे प्रथम चन्द्रके तेजको स्थापित करना, फिर सूर्यके तेजको स्थापित करना, और फिर अखण्ड दिव्याकार अग्निकी ज्योतिको स्थापित करना।

१२ उस भावके दृढ होनेपर जिसका ज्ञान, दर्शन और आत्मचारित्र पूर्ण है ऐसे श्री वीतरागदेवकी प्रतिमाका महातेजोमय स्वरूपसे उसमे चिन्तन करना।

१३ उस परम दिव्य प्रतिमाका न बाल, न युवा और न वृद्ध, इस प्रकार दिव्यस्वरूपसे चिन्तन करना।

१४ सपूर्ण ज्ञान, दर्शन उत्पन्न होनेसे स्वरूपसमाधिमे श्री वीतरागदेव यहाँ है, ऐसी भावना करना।

१५ स्वरूपसमाधिमे स्थित वीतराग आत्माके स्वरूपमे तदाकार ही है, ऐसी भावना करना।

१६ उनके मूर्धस्थानसे उस समय ॐकारकी ध्वनि हो रही है, ऐसी भावना करना।

१७. उन भावनाओंके दृढ़ होनेपर वह ॐकार सर्व प्रकारके वक्तव्य ज्ञानका उपदेश करता है, ऐसी भावना करना।

१८ जिस प्रकारके सम्यक्मार्गसे वीतरागदेव वीतराग निष्पन्नताको प्राप्त हुए ऐसा ज्ञान उस उपदेशका रहस्य है, ऐसा चिंतन करते हुए वह ज्ञान क्या है ? ऐसी भावना करना।

१९. उस भावनाके दृढ़ होनेके बाद उन्होने जो द्रव्यादि पदार्थ कहे है, उनकी भावना करके आत्माका स्वस्वरूपमे चिन्तन करना, सर्वांग चिन्तन करना।

ध्यानके अनेकानेक प्रकार हैं। उन सबमे श्रेष्ठ ध्यान तो वह कहा जाता है कि जिसमे आत्मा मुख्यरूपसे रहता है, और इसी आत्मध्यानकी प्राप्ति प्राय· आत्मज्ञानकी प्राप्तिके बिना नही होती। ऐसा जो आत्मज्ञान वह यथार्थ बोधकी प्राप्तिके सिवाय उत्पन्न नही होता। इस यथार्थ बोधकी प्राप्ति प्रायः क्रमसे बहुतसे जीवोको होती है, और उसका मुख्य मार्ग, उस बोधस्वरूप ज्ञानीपुरुषका आश्रय या संग और उसके प्रति बहुमान, प्रेम है। ज्ञानीपुरुषका वैसा वैसा संग जीवको अनंतकालमे बहुत बार हो चुका है तथापि यह पुरुष ज्ञानो है, इसलिये अब उसका आश्रय ग्रहण करना, यही कर्तव्य है, ऐसा जोवको लगा नहीं है; और इसी कारण जीवका परिभ्रमण हुआ है ऐसा हमे तो दृढ़तासे लगता है।

ज्ञानीपुरुषकी पहचान न होनेमे मुख्यत· जीवके तीन महान दोष जानते हैं। एक तो 'मै जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ,' हूँ,' इस प्रकारका जो मान जीवको रहा करता है, वह मान। दूसरा, ज्ञानीपुरुषके प्रति रागकी अपेक्षा परिग्रहादिकमे विशेष राग। तीसरा, लोकभयके कारण, अपकीर्तिभयके कारण और अपमानभयके कारण ज्ञानीसे विमुख रहना, उनके प्रति जैसा विनयान्वित होना चाहिये वैसा न होना। ये तीन कारण जीवको ज्ञानीसे अनजान रखते है, ज्ञानीके विषयमे अपने समान कल्पना रहा करती है, अपनी कल्पनाके अनुसार ज्ञानीके विचारका, शास्त्रका तोलन किया जाता है; थोडा भी ग्रन्थसम्बन्धी वाचनादि ज्ञान मिलनेसे अनेक प्रकारसे उसे प्रदर्शित करनेकी जीवको इच्छा रहा करती है। इत्यादि दोष उपर्युक्त तीन दोषोमे समा जाते है, और इन तीनो दोषोका उपादान कारण तो एक 'स्वच्छद' नामका महा दोष है, और उसका निमित्त कारण असत्संग है।

जिसे आपके प्रति, आपको किसी प्रकारसे परमार्थकी कुछ भी प्राप्ति हो, इस हेतुके सिवाय दूसरी स्पृहा नही है, ऐसा मैं यहाँ स्पष्ट बताना चाहता हूँ, और वह यह कि उपर्युक्त दोषोंमे अभी आपको प्रेम रहता है, 'मै जानता हूँ', 'मै समझता हूँ,' यह दोष बहुत बार वर्तनमे रहता हैं, असार परिग्रह आदिमे भी महत्ताकी इच्छा रहती है, इत्यादि जो दोष हैं वे ध्यान, ज्ञान इन सबके कारणभूत ज्ञानीपुरुष और उसकी आज्ञाका अनुसरण करनेमे आडे आते है। इसलिये यथासम्भव आत्मवृत्ति करके उन्हे कम करनेका प्रयत्न करना, और लौकिक भावनाके प्रतिबन्धमे उदास होना, यही कल्याणकारक है, ऐसा समझते है।

---

४१७ आसोज, १९४८

हे परमकृपालु देव ! जन्म, जरा, मरणादि सर्व दु·खोका अत्यन्त क्षय करनेवाला वीतराग पुरुषका मूलमार्ग आप श्रीमानने अनन्त कृपा करके मुझे दिया, उस अनंत उपकारका प्रत्युपकार करनेमे मै सर्वथा असमर्थ हूँ, फिर आप श्रीमान कुछ भी लेनेमे सर्वथा नि·स्पृह है, जिससे मै मन, वचन, कायाकी एकाग्रतासे आपके चरणारविंदमे नमस्कार करता हूँ। आपकी परमभक्ति और वीतराग पुरुषके मूलधर्मकी उपासना मेरे हृदयमे भवपर्यन्त अखण्ड जागृत रहे, इतना माँगता हूँ, वह सफल हो।

ॐ शाति शाति. शाति।

---

४१८ स० १९४८

★रविके उद्योत अस्त होत दिन दिन प्रति,
अंजुलीके जीवन ज्यों, जीवन घटतु है;
कालके ग्रसत छिन छिन, होत छीन तन,
आरेके चलत मानो काठसौ कटतु है,
एते परि मूरख न खोजे परमारथकौं,
स्वारथके हेतु भ्रम भारत ठटतु है;
लगौ फिरै लोगनिसौं, पग्यो परै जोगनिसौ,
विषैरस भोगनिसौं, नेकु न हटतु है॥१॥

★भावार्थ—जिस प्रकार अजलि—करसम्पुटका पानी क्रमश घटता है, उसी प्रकार सूर्यका उदय अस्त होता है और प्रतिदिन जीवन घटता है। जिस प्रकार आरेके चलनेसे लकडी कटती है, उसी प्रकार काल शरीरको क्षण क्षण क्षीण करता है। इतनेपर भी अज्ञानी जीव परमार्थकी खोज नही करता और लौकिक स्वार्थके लिये अज्ञानका

जैसें मृग मत्त वृषादित्यकी तपति मांही,
तृषावंत मृषाजल कारण अटतु है;
तैसें भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है।
आगेकों धुकत धाई पीछे बछरा चवाई,
जैसे नैन हीन नर जेवरी वटतु है;
तैसें मूढ चेतन सुकृत करतूति करें,
रोवत हसत फल खोवत खटतु है ॥२॥ (समयसार नाटक)

---

४१९ बंबई, १९४८

ससारमे कौनसा सुख है कि जिसके प्रतिबन्धमे जीव रहनेकी इच्छा करता है?

---

४२० बंबई, १९४८

कि बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहुं विलिज्जंति।
तह तह पयट्टिअव्वं, एसा आणा जिणिंदाणं॥

(उपदेशरहस्य—यशोविजयजी)

कितना कहे? जिस जिस प्रकारसे इस रागद्वेषका विशेषरूपसे नाश हो उस उस प्रकारसे प्रवृत्ति करना, यही जिनेश्वरदेवकी आज्ञा है।

---

४२१ बंबई, आसोज, १९४८

जिस पदार्थमेसे नित्य व्यय विशेष होता हो और आय कम हो, वह पदार्थ क्रमसे अपने स्वरूपका त्याग करता है, अर्थात् नष्ट होता है, ऐसा विचार रखकर इस व्यवसायका प्रसंग रखने जैसा है।

पूर्वमें उपार्जित किया हुआ जो कुछ प्रारब्ध है, उसे वेदन करनेके सिवाय दूसरा प्रकार नही है, और योग्य भी इस तरह है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे जो कुछ प्रारब्ध उदयमे आता है उसे सम-परिणामसे वेदन करना योग्य है, और इस कारणसे यह व्यवसाय-प्रसंग रहता है।

चित्तमे किसी प्रकारसे उस व्यवसायकी कर्तव्यता प्रतीत न होनेपर भी, वह व्यवसाय मात्र खेदका हेतु है, ऐसा परमार्थ निश्चय होनेपर भी प्रारब्धरूप होनेसे, सत्संगादि योगका अप्रधानरूपसे वेदन करना पड़ता है। उसका वेदन करनेमे इच्छा-अनिच्छा नही है; परन्तु आत्माको अफल ऐसी इस प्रवृत्तिका सम्बन्ध रहते देखकर खेद होता है और इस विषयमे वारवार विचार रहा करता है।

बोझ उठाता है, शरीर आदि पर वस्तुओंसे प्रीति करता है; मन, वचन और कायाके योगोमे अहबुद्धि करता है, और विषयभोगोंसे किंचित् भी विरक्त नही होता ॥ १ ॥

जिस प्रकार ग्रीष्मऋतुमे सूर्यकी कड़ी धूप होनेपर तृषातुर मृग उन्मत्त होकर मृगतृष्णासे व्यर्थ ही दौडता है, उसी प्रकार ससारी जीव मायामे ही कल्याण मानकर मिथ्या कल्पना करके संसारमे नाचते है। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य आगेको रस्सी बटता जाये और पीछेसे बछड़ा खाता जाये, तो उसका परिश्रम व्यर्थ जाता है; उसी प्रकार मूर्ख जीव शुभाशुभ क्रिया करता है, और शुभ क्रियाके फलमे हर्ष एव अशुभ क्रियाके फलमे विषाद करके क्रियाका फल खो देता है ॥ २ ॥

२६ वाँ वर्ष

४२२ बंबई, कार्तिक सुदी, १९४९

धर्मसम्बन्धी पत्रादि व्यवहार भी बहुत कम रहता है, जिससे आपके कुछ पत्रोकी पहुँच मात्र लिखी जा सकी है।

जिनागममे इस कालको जो 'दुषम' सज्ञा कही है, वह प्रत्यक्ष दिखायी देती है, क्योकि 'दुषम' शब्दका अर्थ 'दु:खसे प्राप्त होने योग्य' ऐसा होता है। वह दु:खसे प्राप्त होने योग्य तो मुख्यरूपसे एक परमार्थमार्ग ही कहा जा सकता है; और वैसी स्थिति प्रत्यक्ष देखनेमे आती है। यद्यपि परमार्थ मार्गकी दुर्लभता तो सर्वकालमे हैं, परन्तु ऐसे कालमे तो विशेषत: काल भी दुर्लभताका कारणरूप है।

यहाँ कहनेका हेतु ऐसा है कि अधिकतर इस क्षेत्रमे वर्तमान कालमे जिसने पूर्वकालमे परमार्थमार्गका आराधन किया है, वह देह धारण न करे, और यह सत्य है, क्योकि यदि वैसे जीवोंका समूह इस क्षेत्रमे देहधारीरूपसे रहता होता, तो उन्हे और उनके समागममे आनेवाले अनेक जीवोको परमार्थमार्गकी प्राप्ति सुखपूर्वक हो सकती होती, और इससे इस कालको 'दुषम' कहनेका कारण न रहता। इस प्रकार पूर्वाराधक जीवोंको अल्पता इत्यादि होनेपर भी वर्तमान कालमे यदि कोई भी जीव परमार्थमार्गका आराधन करना चाहे तो अवश्य आराधन कर सकता है, क्योकि दु:खपूर्वक भी इस कालमे परमार्थमार्ग प्राप्त होता है, ऐसा पूर्वज्ञानियोका कथन है।

वर्तमान कालमे सब जीवोको मार्ग दु:खसे ही प्राप्त होता है, ऐसा एकात अभिप्राय विचारणीय नही है, प्राय. वैसा होता है ऐसा अभिप्राय समझना योग्य है। उसके बहुतसे कारण प्रत्यक्ष दिखायी देते है।

प्रथम कारण—ऊपर यह बताया है कि प्राय: पूर्वकी आराधकता नही है।

दूसरा कारण—वैसी आराधकता न होनेके कारण वर्तमानदेहमे उस आराधकमार्गकी रीति भी प्रथम समझमे न हो, जिससे अनाराधकमार्गको आराधकमार्ग मानकर जीवने प्रवृत्ति की होती है।

तीसरा कारण—प्राय. कही ही सत्समागम अथवा सद्गुरुका योग हो, और वह भी क्वचित् हो।

चौथा कारण—असत्सगादि कारणोसे जीवको सद्गुरु आदिको पहचान होना भी दुष्कर है, और प्राय: असद्गुरु आदिमे सत्य प्रतीति मानकर जीव वही रुका रहता है।

पाँचवाँ कारण—क्वचित् सत्समागमका योग हो तो भी बल, वीर्य आदिकी ऐसी शिथिलता कि जीव तथारूप मार्ग ग्रहण न कर सके अथवा समझ न सके, अथवा असत्समागमादिसे या अपनी कल्पनासे मिथ्यामे सत्यरूपसे प्रतीति की हो।

प्राय. वर्तमानकालमे जीवने या तो शुष्कक्रियाप्रधानतामे मोक्षमार्गकी कल्पना की है, अथवा बाह्यक्रिया और शुद्ध व्यवहारक्रियाका उत्थापन करनेमे मोक्षमार्गकी कल्पना की है, अथवा स्वमति कल्पनासे अध्यात्म ग्रन्थ पढकर कथन मात्र अध्यात्म पाकर मोक्षमार्गको कल्पना की है। ऐसी कल्पना कर लेनेसे जीवको सत्समागमादि हेतुमे उस उस मान्यताका आग्रह आड़े आकर परमार्थ प्राप्त करनेमें स्तंभभूत होता है।

जो जीव शुष्कक्रियाप्रधानतामे मोक्षमार्गकी कल्पना करते हैं, उन जीवोंको तथारूप उपदेशका पोषण भी रहा करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ऐसे चार प्रकारसे मोक्षमार्ग कहे जानेपर भी प्रथमके दो पद तो उन्होंने विस्मृत किये जैसे होते है, और चारित्र शब्दका अर्थ वेश तथा मात्र बाह्य विरतिमें समझे हुए जैसा होता है। तप शब्दका अर्थ मात्र उपवासादि व्रतका करना और वह भी बाह्य संज्ञासे उसमे समझे हुए जैसा होता है, और क्वचित् ज्ञान, दर्शन पद कहने पड़े तो वहाँ लौकिक कथन जैसे भावोके कथनको ज्ञान और उसकी प्रतीति अथवा उसे कहनेवालेकी प्रतीतिमें दर्शन शब्दका अर्थ समझने जैसा रहता है।

जो जीव बाह्यक्रिया (अर्थात् दानादि) और शुद्ध व्यवहार क्रियाका उत्थापन करनेमें मोक्षमार्ग समझते है, वे जीव शास्त्रोके किसी एक वचनको नासमझीसे ग्रहण करके समझते है। दानादि क्रिया यदि किसी अहकारादिसे, निदानबुद्धिसे, अथवा जहाँ वैसी क्रिया सभव न हो ऐसे छट्ठे गुणस्थानादि स्थानमे करे, तो वह समारहेतु है, ऐसा शास्त्रोका मूल आशय है। परन्तु दानादि क्रियाका समूल उत्थापन करनेका शास्त्रोका हेतु नही है; वे मात्र अपनी मति कल्पनासे निषेध करते है। तथा व्यवहार दो प्रकारका है, एक परमार्थमूलहेतु व्यवहार और दूसरा व्यवहाररूप व्यवहार। पूर्वकालमे इस जीवने अनंतबार किया फिर भी आत्मार्थ नही हुआ, ऐसे शास्त्रोमे वाक्य है, उन वाक्योको ग्रहण करके सम्पूर्ण व्यवहारका उत्थापन करनेवाले अपनेको समझे हुए मानते है; परन्तु शास्त्रकारने तो वैसा कुछ नही कहा है। जो व्यवहार परमार्थहेतुमूल व्यवहार नही है, और मात्र व्यवहारहेतु व्यवहार है, उसके दुराग्रहका शास्त्रकारने निषेध किया है। जिस व्यवहारका फल चार गति हो वह व्यवहार व्यवहारहेतु कहा जा सकता है, अथवा जिस व्यवहारसे आत्माकी विभाव दशा जाने योग्य न हो उस व्यवहारको व्यवहारहेतु व्यवहार कहा जाता है। इसका शास्त्रकारने निषेध किया है, वह भी एकातसे नही, केवल दुराग्रहसे अथवा उसीमे मोक्षमार्ग माननेवालेको इस निषेधसे सच्चे व्यवहारपर लानेके लिये किया है। और परमार्थमूलहेतु व्यवहार शम, सवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्था अथवा सद्गुरु, सत्शास्त्र और मनवचनादि समिति तथा गुप्ति, उसका निषेध नही किया है, और यदि उसका निषेध करने योग्य हो तो फिर शास्त्रोका उपदेश करके बाकी क्या समझाने जैसा रहता था, अथवा क्या साधन करानेका बताना बाकी रहता था कि शास्त्रोंका उपदेश किया ? अर्थात् वैसे व्यवहारसे परमार्थ प्राप्त किया जाता है, और जीवको वैसा व्यवहार अवश्य ग्रहण करना चाहिये कि जिससे परमार्थकी प्राप्ति होगी, ऐसा शास्त्रोंका आशय है। शुष्कअध्यात्मी अथवा उसके प्रसंगमें आनेवाले इस आशयको समझे बिना उस व्यवहारका उत्थापन करके अपने और परके लिये दुर्लभबोधिता करते हैं।

शम, संवेगादि गुण उत्पन्न होनेपर अथवा वैराग्यविशेष एवं निष्पक्षता होनेपर, कषायादि क्षीण होनेपर, अथवा कुछ भी प्रज्ञाविशेषसे समझनेकी योग्यता होनेपर, जो सद्गुरुगमसे समझने योग्य अध्यात्म ग्रन्थ, तब तक प्राय: शस्त्र जैसे है, उन्हें अपनी कल्पनासे जैसे-तैसे पढ़कर, निश्चय करके, वैसा अंतर्भेद हुए बिना अथवा दशा बदले बिना, विभाव दूर हुए बिना अपनेमें ज्ञानकी कल्पना करता है; और क्रिया तथा शुद्ध व्यवहाररहित होकर प्रवृत्ति करता है, ऐसा तीसरा प्रकार शुष्कअध्यात्मीका है। जगह जगह

जीवको ऐसा योग मिलता रहता है, अथवा तो ज्ञानरहित गुरु या परिग्रहादिके इच्छुक गुरु, मात्र अपने मानपूजादिकी कामनासे फिरनेवाले जीवोंको अनेक प्रकारसे उलटे रास्तेपर चढ़ा देते है, और प्रायः क्वचित् ही ऐसा नही होता। जिससे ऐसा मालूम होता है कि कालकी दु:षमता है। यह दु:षमता जीवको पुरुषार्थरहित करनेके लिये नही लिखी है, परन्तु पुरुषार्थजागृतिके लिये लिखी है। अनुकूल सयोगमे तो जीवमे कुछ कम जागृति हो तो भी कदाचित् हानि न हो, परन्तु जहाँ ऐसे प्रतिकूल योग रहते हों वहाँ मुमुक्षु जीवको अवश्य अधिक जाग्रत रहना चाहिये, कि जिससे तथारूप पराभव न हो, और वैसे किसी प्रवाहमे न बहा जाये। वर्तमानकाल दु षम कहा है, फिर भी इसमे अनन्त भवको छेदकर मात्र एक भव बाकी रखे, ऐसी एकावतारिता प्राप्त हो, ऐसा भी है। इसलिये विचारवान जीव यह लक्ष रखकर, उपर्युक्त प्रवाहोमे न बहते हुए यथाशक्ति वैराग्यादिकी आराधना अवश्य करके, सद्गुरुका योग प्राप्त करके, कषायादि दोषका छेदक और अज्ञानसे रहित होनेका सत्यमार्ग प्राप्त करे। मुमुक्षु जीवमे कथित शमादिगुण अवश्य सम्भव है, अथवा उन गुणोके बिना मुमुक्षुता नही कही जा सकती। नित्य ऐसा परिचय रखते हुए, उस उस बातका श्रवण करते हुए, विचार करते हुए, पुनः पुन पुरुषार्थ करते हुए वह मुमुक्षुता उत्पन्न होती है। वह मुमुक्षुता उत्पन्न होनेपर जीवको परमार्थमार्ग अवश्य समझमें आता है।

---

४२३ बंबई, कार्तिक वदी ९, १९४९

कम प्रमाद होनेका उपयोग जीवको मार्गके विचारमे स्थिति कराता है। और विचार मार्गमें स्थिति कराता है। इस बातका पुन पुन विचार करके, यह प्रयत्न वहाँ वियोगमे भी किसी प्रकारसे करना योग्य है। यह बात विस्मरणीय नही है।

---

४२४ बंबई, कार्तिक वदी १२, १९४९

समागम चाहने योग्य मुमुक्षुभाई कृष्णदासादिके प्रति,

"पुनर्जन्म है—जरूर है। इसके लिये 'मैं' अनुभवसे हाँ कहनेमे अचल हूँ।" यह वाक्य पूर्वभवके किसी योगका स्मरण होते समय सिद्ध हुआ लिखा है। जिसने पुनर्जन्मादि भाव किये हैं, उस 'पदार्थ'को, किसी प्रकारसे जानकर यह वाक्य लिखा गया है।

मुमुक्षुजीवके दर्शनकी तथा समागमकी निरंतर इच्छा रखते है। तापमे विश्रांतिका स्थान उसे समझते हैं। तथापि अभी तो उदयाधीन योग रहता है। अभी इतना ही लिख सकते हैं। श्री सुभाग्य यहाँ सुखवृत्तिमे है।

प्रणाम प्राप्त हो।

---

४२५ बंबई, मगसिर वदी ९, सोम, १९४९

उपाधिका वेदन करनेके लिये अपेक्षित दृढता मुझमे नही है, इसलिये उपाधिसे अत्यंत निवृत्तिकी इच्छा रहा करती है, तथापि उदयरूप जानकर यथाशक्ति सहन होती है।

परमार्थका दु:ख मिटनेपर भी संसारका प्रासंगिक दु:ख रहा करता है, और वह दु:ख अपनी इच्छा आदिके कारणसे नही है, परन्तु दूसरेकी अनुकंपा तथा उपकार आदिके कारणसे रहता है। और इस विडंबनामे चित्त कभी कभी विशेष उद्वेगको प्राप्त हो जाता है।

इतने लेखसे वह उद्वेग स्पष्ट समझमे नही आयेगा, कुछ अंशमें आप समझ सकेंगे। इस उद्वेगके सिवाय दूसरा कोई दु:ख ससारप्रसंगका भी मालूम नहीं होता। जितने प्रकारके संसारके पदार्थ हैं, उन

सबमें यदि अस्पृहता हो और उद्वेग रहता हो तो वह अन्यकी अनुकम्पा या उपकार या वैसे कारणसे हो, ऐसा मुझे निश्चित लगता है। इस उद्वेगके कारण कभी आँखोंमें आँसु आ जाते हैं, और उन सब कारणोंके प्रति वर्तन करनेका मार्ग अमुक अंशमे परतत्र दिखायी देता है। इसलिये समान उदासीनता आ जाती है।

ज्ञानीके मार्गका विचार करते हुए ज्ञात होता है कि किसी भी प्रकारसे यह देह मूर्च्छापात्र नही है, उसके दु खसे इस आत्माको शोक करना योग्य नही है। आत्माको आत्म-अज्ञानसे शोक करनेके सिवाय दूसरा शोक करना उचित नहो है। प्रगट यमको समीप देखते हुए भी जिसे देहमें मूर्च्छा नहीं रहती, उस पुरुषको नमस्कार है। इसी बातका चिंतन करते रहना हमें, आपको, प्रत्येकको योग्य है।

देह आत्मा नहीं है, आत्मा देह नहीं हैं। घटादिको देखनेवाला जैसे घटादिसे भिन्न है, वैसे देहको देखनेवाला, जाननेवाला आत्मा देहसे भिन्न है, अर्थात् देह नहीं है।

विचार करते हुए यह बात प्रगट अनुभवसिद्ध होती है, तो फिर इस भिन्न देहके स्वाभाविक क्षय-वृद्धि-रूपादि परिणाम देखकर हर्ष-शोकवान होना किसी प्रकारसे संगत नही है; और हमे, आपको वह निर्धार करना, रखना योग्य है, और यह ज्ञानीके मार्गकी मुख्य ध्वनि है।

व्यापारमें कोई यांत्रिक व्यापार सूझे तो वर्तमानमें कुछ लाभ होना संभव है।

---

४२६ बंबई, मगसिर वदी १३, शनि, १९४९

भावसार खुशाल रायजीने केवल पाँच मिनटकी माँदगीमें देह छोड़ा है।

ससारमें उदासीन रहनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।

---

४२७ बंबई, माघ सुदी ९, गुरु, १९४९

ॐ

आप सब मुमुक्षुजनके प्रति नम्रतासे यथायोग्य प्राप्त हो। निरंतर ज्ञानीपुरुषकी सेवाके इच्छावान हम है, तथापि इस दुःषमकालमें तो उसकी प्राप्ति परम दु षम देखते हैं, और इसलिये ज्ञानीपुरुषके आश्रय-मे स्थिर बुद्धि है जिनकी, ऐसे मुमुक्षुजनमें सत्सगपूर्वक भक्तिभावसे रहनेकी प्राप्तिको महा भाग्यरूप मानते हैं, तथापि अभी तो उससे विपरीत प्रारब्धोदय रहता है। सत्संगका लक्ष्य हमारे आत्मामें रहता है, तथापि उदयाधीन स्थिति है, और वह अभी ऐसे परिणाममे रहती है कि आप मुमुक्षुजनके पत्रकी पहुँच मात्र विलंबसे दी जाती है। चाहे जैसी स्थितिमे भी अपराधयोग्य परिणाम नही है।

---

४२८ बंबई, माघ वदी ४, १९४९

शुभेच्छासम्पन्न मुमुक्षुजन श्री अंबालाल इत्यादि,

दो पत्र पहुँचे हैं। यहाँ समाधि परिणाम है। तथापि उपाधिका प्रसंग विशेष रहता है। और वैसा करनेमे उदासीनता होनेपर भी उदययोग होनेसे निष्क्लेश परिणामसे प्रवृत्ति करना योग्य है।

प्रमाद कम होनेके लिये किसी सद्ग्रंथको पढ़ते रहना योग्य है।

---

४२९ बंबई, माघ वदी ११, रवि, १९४९

कोई मनुष्य अपने विषयमे कुछ बताये तब उसे यथासम्भव गम्भीर मनसे सुनते रहना इतना मुख्य काम है। वह बात ठीक है या नही यह जाननेसे पहिले कोई हर्ष-खेद जैसा नही होता।

मेरी चित्तवृत्तिके विषयमे कभी कभी लिखा जाता है, उसका अर्थ परमार्थसम्बन्धी लेना योग्य है, और यह लिखनेका अर्थ व्यवहारमे कुछ अशुभ परिणामवाला दिखाना योग्य नहीं है।

पड़े हुए संस्कारोंका मिटना दुष्कर होता है। कुछ कल्याणका कार्य हो या चिन्तन हो, यह साधनका मुख्य कारण है। बाकी ऐसा कोई विषय नहीं है कि जिसके पीछे उपाधितापसे, दीनतासे दुःखी होना योग्य हो अथवा ऐसा कोई भय रखना योग्य नही है कि जो अपनेको केवल लोकसंज्ञासे रहता हो।

---

४३० बंबई, माघ वदी ३०, गुरु, १९४९

ॐ

यहाँ प्रवृत्ति-उदयसे समाधि है। आपको लीमड़ीसम्बन्धी जो विचार रहता है, वह करुणा भावके कारणसे रहता है, ऐसा हम समझते हैं।

कोई भी जीव परमार्थको मात्र अंशरूपसे भी प्राप्त होनेके कारणोंको प्राप्त हो, ऐसा निष्कारण करुणाशील ऋषभादि तीर्थङ्करोंने भी किया है; क्योंकि सत्पुरुषोंके सम्प्रदायकी ऐसी सनातन करुणावस्था होती है कि समयमात्रके अनवकाशसे समूचा लोक आत्मावस्थामे हो, आत्मस्वरूपमे हो, आत्मसमाधिमे हो, अन्य अवस्थामे न हो, अन्य स्वरूपमे न हो, अन्य आधिमे न हो; जिस ज्ञानसे स्वात्मस्थ परिणाम होता है, वह ज्ञान सर्व जीवोंमे प्रगट हो, अनवकाशरूपसे सर्व जीव उस ज्ञानमे रुचियुक्त हो, ऐसा ही जिसका करुणाशील सहज स्वभाव है, वह सनातन सप्रदाय सत्पुरुषोंका है।

आपके अन्त करणमें ऐसी करुणावृत्तिसे लीमडीके विषयमे वारवार विचार आया करता है, और आपके विचारका एक अंश भी फल प्राप्त हो अथवा वह फल प्राप्त होनेका एक अश भी कारण उत्पन्न हो तो इस पंचमकालमे तीर्थंकरका मार्ग बहुत अंशोसे प्रगट होनेके बराबर है, तथापि वैसा होना सम्भव नही है, और उस मार्गसे होने योग्य नही है, ऐसा हमे लगता है। जिससे सम्भव होना योग्य है अथवा इसका जो मार्ग है, वह अभी तो प्रवृत्तिके उदयमे है, और वह कारण जब तक उनको लक्ष्यगत न हो तब तक दूसरे उपाय प्रतिबंधरूप है, नि सशय प्रतिबन्धरूप हैं।

जीव यदि अज्ञान परिणामी हो तो जैसे उस अज्ञानका नियमितरूपसे आराधन करनेसे कल्याण नही है वैसे मोहरूप मार्ग अथवा ऐसा इस लोकसम्बन्धी जो मार्ग है वह मात्र ससार है, उसे फिर चाहे जिस आकारमे रखें तो भी संसार है। उस संसारपरिणामसे रहित करनेके लिये असंसारगत वाणीका अस्वच्छन्दपरिणामसे जब आधार प्राप्त होता है, तब उस ससारका आकार निराकारताको प्राप्त होता जाता है। वे अपनी दृष्टिके अनुसार दूसरे प्रतिबध किया करते है, उसी प्रकार वे अपनी उस दृष्टिसे ज्ञानीके वचनोकी आराधना करें तो कल्याण होने योग्य नहीं लगता। इसलिये आप वहाँ ऐसा सूचित करें कि आप किसी कल्याणके कारणके नजदीक होनेके उपायकी इच्छा करते हो तो उसके प्रतिबंध कम होनेके उपाय करें, और नही तो कल्याणकी तृष्णाका त्याग करें। आप ऐसा समझते हो कि हम जैसे वर्तन करते है वैसे कल्याण है, मात्र अव्यवस्था हो गयी है, वही मात्र अकल्याण है, ऐसा समझते हों तो यह यथार्थ नही है। वस्तुत. आपका जो वर्तन है, उससे कल्याण भिन्न है, और वह तो जब जब जिस जिस जीवको वैसा वैसा भवस्थित्यादि समीप योग होता है तब तब उसे वह प्राप्त होने योग्य है। सारे समूहमे कल्याण मान लेना योग्य नहीं है, और यदि ऐसे कल्याण होता हो, तो उसका फल संसारार्थ है; क्योंकि पूर्वकालमे ऐसा करके ही जीव ससारी रहता आया है। इसलिये वह विचार तो जब जिसे आना होगा, तब आयेगा। अभी आप अपनी रुचिके अनुसार अथवा आपको जो भासित होता है उसे कल्याण मानकर प्रवृत्ति करते हैं, इस विषयमे सहज, किसी प्रकारके मानकी इच्छाके बिना, स्वार्थकी इच्छाके बिना, आपमे क्लेश उत्पन्न करनेकी इच्छाके बिना मुझे जो कुछ चित्तमें लगता है, वह बताता हूँ।

कल्याण जिस मार्गसे होता है उस मार्गके दो मुख्य कारण देखनेमे आते है। एक तो जिस सप्रदायमें आत्मार्थके लिये सभी असंगतावाली क्रियाएँ हो, अन्य किसी भी अर्थ—प्रयोजनकी इच्छासे न हों, और

निरंतर ज्ञानदशापर जीवोंका चित्त हो, उसमें अवश्य कल्याणके उत्पन्न होनेका योग मानते है। ऐसा न हो तो उस योगका सम्भव नहीं होता। यहाँ तो लोकसंज्ञासे, ओघसज्ञासे, मानार्थ, पूजार्थ, पदके महत्वार्थ, श्रावकादिके अपनेपनके लिये अथवा ऐसे दूसरे कारणोसे जपतपादि, व्याख्यानादि करनेकी प्रवृत्ति हो गयी है, वह किसी तरह आत्मार्थके लिये नही है, आत्मार्थके प्रतिबधरूप है। इसलिये यदि आप कुछ इच्छा करते हो तो उसका उपाय करनेके लिये जो दूसरा कारण कहते है, उसके असंगतासे सिद्ध होनेपर किसी दिन भी कल्याण होना सम्भव है।

असगता अर्थात् आत्मार्थके सिवायके सगप्रसगमे नही पड़ना, संसारके संगीके संगमे बातचीतादिका प्रसंग शिष्यादि बनानेके कारणसे नही रखना, शिष्यादि बनानेके लिये गृहवासी वेषवालोंको साथमे नही घुमाना।'दीक्षा ले तो तेरा कल्याण होगा', ऐसे वाक्य तीर्थंकरदेव कहते नही थे। उसका एक हेतु यह भी था कि ऐसा कहना यह भी उसके अभिप्रायके उत्पन्न होनेसे पहले उसे दीक्षा देना है, वह कल्याण नही है। जिसमे तीर्थंकरदेवने ऐसे विचारसे प्रवृत्ति की है, उसमे हम छ- छः मास दीक्षा लेनेका उपदेश जारी रखकर उसे शिष्य बनाते है, वह मात्र शिष्यार्थ है, आत्मार्थ नही है। पुस्तक, यदि सब प्रकारके अपने ममत्वभावसे रहित होकर ज्ञानकी आराधना करनेके लिये रखी जाय तो ही आत्मार्थ है, नही तो महान प्रतिबन्ध है, यह भी विचारणीय है।

यह क्षेत्र अपना है, और उस क्षेत्रकी रक्षाके लिये वहाँ चातुर्मास करनेके लिये जो विचार किया जाता है, वह क्षेत्रप्रतिबन्ध है। तीर्थंकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे—इन चारो प्रतिबधसे यदि आत्मार्थ होता हो अथवा निर्ग्रंथ हुआ जाता हो तो वह तीर्थंकरदेवके मार्गमे नही हैं, परन्तु ससारके मार्गमे है। इत्यादि बात यथाशक्ति विचारकर आप बताइयेगा। लिखनेसे बहुत लिखा जा सके, ऐसा सूझता है, परन्तु अब यहाँ स्थिति—विराम करता है। लि० रायचन्दके प्रणाम।

---

४३१ बंबई, फागुन सुदी ७, गुरु, १९४९

आत्मारूपसे सर्वथा जाग्रत अवस्था रहे, अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपमे सर्वथा जाग्रत हो तब उसे केवलज्ञान हुआ है, ऐसा कहना योग्य है, ऐसा श्री तीर्थंकरका आशय है।

जिस पदार्थको तीर्थंकरने 'आत्मा' कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपमें प्रतीति हो, उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो, तब उसे परमार्थ-सम्यक्त्व है ऐसा श्री तीर्थंकरका अभिप्राय है। जिसे ऐसा स्वरूप भासित हुआ है, ऐसे पुरुषमे जिसे निष्काम श्रद्धा है, उस पुरुषको बीजरुचि-सम्यक्त्व है। उस पुरुषकी निष्काम भक्ति अबाधासे प्राप्त हो, ऐसे गुण जिस जीवमे हो, वह जीव मार्गानुसारी होता है, ऐसा जिनेंद्र कहते है।

हमारा अभिप्राय कुछ भी देहके प्रति हो तो वह मात्र एक आत्मार्थके लिये ही है, अन्य अर्थके लिये नही। दूसरे किसा भी पदार्थके प्रति अभिप्राय हो तो वह पदार्थके लिये नही, परन्तु आत्मार्थके लिये है। वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमे हो, ऐसा हमे नही लगता। 'आत्मत्व' इस ध्वनिके सिवाय दूसरी कोई ध्वनि किसी भी पदार्थके ग्रहण-त्यागमे स्मरण योग्य नही है। अनवकाश आत्मत्व जाने बिना, उस स्थितिके बिना अन्य सर्व क्लेशरूप है।

---

४३२ बंबई, फागुन सुदी ७, गुरु, १९४९

अंबालालका लिखा हुआ पत्र पहुँचा था।

आत्माको विभावसे अवकाशित करनेके लिये और स्वभावमे अनवकाशरूपसे रहनेके लिये कोई भी मुख्य उपाय हो तो आत्माराम ऐसे ज्ञानीपुरुषका निष्काम बुद्धिसे भक्तियोगरूप संग है। उसकी सफलताके

लिये निवृत्ति-क्षेत्रमें वैसा योग प्राप्त होना, यह किसी महान पुण्यका योग है, और वैसा पुण्ययोग प्रायः इस जगतमे अनेक प्रकारके अन्तरायवाला दिखायी देता है। इसलिये हम समीपमे है, ऐसा बारंबार याद करके जिसमें इस संसारकी उदासीनता कही हो उसे अभी पढ़ें, विचारें। आत्मारूपसे केवल आत्मा रहे, ऐसा जो चिन्तन रखना वह लक्ष्य है, शास्त्रके परमार्थरूप है।

इस आत्माको पूर्वकालमें अनंतकाल व्यतीत करनेपर भी नही जाना, इससे ऐसा लगता है कि उसे जाननेका कार्य सबसे विकट है, अथवा तो उसे जाननेके तथारूप योग परम दुर्लभ है। जीव अनतकालसे ऐसा समझा करता है कि मैं अमुकको जानता हूँ, अमुकको नही जानता, ऐसा नही है, ऐसा होनेपर भी जिस रूपसे स्वय है उस रूपका निरन्तर विस्मरण चला आता है, यह बात बहुत-बहुत प्रकारसे विचारणीय है, और उसका उपाय भी बहुत प्रकारसे विचार करने योग्य है।

---

४३३ बबई, फागुन सुदी १४, १९४९

ॐ

श्री कृष्णादिके सम्यक्त्व सम्बन्धी प्रश्नके बारेमे आपका पत्र मिला है। तथा उसके अगले दिनके यहाँके पत्रोसे आपको स्पष्टीकरण प्राप्त हुआ, उस सम्बन्धी आपका पत्र मिला है। यथोचित अवलोकनसे उन पत्रो द्वारा श्री कृष्णादिके प्रश्नोका आपको स्पष्टीकरण होगा, ऐसा सम्भव है।

जिस कालमे परमार्थधर्मकी प्राप्तिके साधन प्राप्त होना अत्यन्त दुषम हो उस कालको तीर्थंकरदेवने दुषम कहा है, और इस कालमें यह बात स्पष्ट दिखायी देती है। सुगमसे सुगम जो कल्याणका उपाय है, वह जीवको इस कालमे प्राप्त होना अत्यन्त दुष्कर है। मुमुक्षुता, सरलता, निवृत्ति, सत्सगादि साधनोको इस कालमे परम दुर्लभ जानकर, पूर्व पुरुषोने इस कालको हुँडा-अवसर्पिणीकाल कहा है, और यह बात भी स्पष्ट है। प्रथमके तीन साधनोका सयोग तो क्वचित् भी प्राप्त होना दूसरे अमुक कालमे सुगम था, परन्तु सत्संग तो सर्व कालमे दुर्लभ ही दीखता है; तो फिर इस कालमे सत्संग सुलभ कहाँसे हो ? प्रथमके तीन साधन किसी तरह इस कालमे जीव प्राप्त करे तो भी धन्य है।

कालसम्बन्धी तीर्थंकरवाणीको सत्य करनेके लिये 'ऐसा' उदय हमे रहता है, और वह समाधिरूप-से वेदन करने योग्य है।

आत्मस्वरूप।

---

४३४ बबई, फागुन वदी, ९, शनि, १९४९

ॐ

भक्तिपूर्वक प्रणाम पहुँचे।

यहाँ उपाधियोग है। बहुत करके कल कुछ लिखा जा सकेगा तो लिखूंगा। यही विनती।

अत्यन्त भक्ति

---

४३५ बंबई, फागुन वदी ३०, १९४९

'मणिरत्नमाला' तथा 'योगकल्पद्रुम' पढ़नेके लिये इसके साथ भेजे है। जो कुछ बाँधे हुए कर्म हैं, उन्हे भोगे बिना निरुपायता है। चिन्तारहित परिणामसे जो कुछ उदयमे आये उसे वेदन करना, ऐसा श्री तीर्थंकरादि ज्ञानियोका उपदेश है।

---

४३६ बंबई, चैत्र सुदी १, १९४९

ॐ

'समता, रमता, ऊरधता, ज्ञायकता, सुखभास।
वेदकता, चैतन्यता, ए सब जीव विलास ॥'

जिन तीर्थंकरदेवने स्वरूपस्थ आत्मारूप होकर, वक्तव्यरूपसे जिस प्रकार वह आत्मा कहा जा सके तदनुसार अत्यन्त यथास्थित कहा है, उन तीर्थंकरको दूसरी सब प्रकारकी अपेक्षाका त्याग करके नमस्कार करते है।

पूर्वकालमे अनेक शास्त्रोका विचार करनेसे, उस विचारके फलस्वरूप सत्पुरुषमें जिनके वचनसे भक्ति उत्पन्न हुई है, उन तीर्थंकरके वचनोको नमस्कार करते है।

अनेक प्रकारसे जीवका विचार करनेसे, वह जीव आत्मारूप पुरुषके बिना जाना जाये ऐसा नही है, ऐसी निश्चल श्रद्धा उत्पन्न हुई, उन तीर्थंकरके मार्गबोधको नमस्कार करते है।

भिन्न भिन्न प्रकारसे उस जीवका विचार होनेके लिये, वह जीव प्राप्त होनेके लिये योगादिक अनेक साधनोका बलवान परिश्रम करनेपर भी प्राप्ति न हुई, वह जीव जिसके द्वारा सहज प्राप्त होता है, वही कहनेका जिनका उद्देश्य है, उन तीर्थंकरके उद्देश्यवचनको नमस्कार करते है। [अपूर्ण]

४३७

ॐ

इस जगतमे जिसमे विचारशक्ति वाचासहित रहती है, ऐसा मनुष्य प्राणी कल्याणका विचार करनेके लिये सबसे अधिक योग्य है। तथापि प्रायः जीवको अनंत बार मनुष्यभव मिलनेपर भी वह कल्याण सिद्ध नही हुआ, जिससे वर्तमान तक जन्ममरणके मार्गका आराधन करना पड़ा है। इस अनादि लोकमें जीवकी अनंतकोटी संख्या है। उन जीवोंकी समय-समयपर अनंत प्रकारकी जन्म मरणादि स्थिति होती रहती है, ऐसा अनंतकाल पूर्वकालमें व्यतीत हुआ है। अनंतकोटी जीवोमें जिसने आत्मकल्याणकी आराधना की है, अथवा जिसे आत्मकल्याण प्राप्त हुआ है, ऐसे जीव अत्यन्त थोड़े हुए है, वर्तमानमे ऐसा है, और भविष्यकालमे भी ऐसी ही स्थिति सम्भव है, ऐसा ही है। अर्थात् जीवको कल्याणकी प्राप्ति तीनों कालोंमे अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा जो श्री तीर्थंकरदेवादि ज्ञानीका उपदेश है वह सत्य है। जीवसमुदायकी ऐसी भ्रांति अनादि संयोगसे है, यही योग्य है, ऐसा ही है। यह भ्रांति जिस कारणसे होती है, उस कारणके मुख्य दो प्रकार प्रतीत होते हैं—एक पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक; और उन दोनों प्रकारोंका जो एकत्र अभिप्राय है वह यह है कि इस जीवमे सच्ची मुमुक्षुता नही आयी; इस जीवमे एक भी सत्य अक्षरका परिणमन नही हुआ; सत्पुरुषके दर्शनमे जीवको रुचि नही हुई, उस उस प्रकारके योगसे समर्थ अंतरायसे जीवको वह प्रतिबंध होता रहा है; और उसका सबसे बडा कारण असत्संगकी वासनासे उत्पन्न हुई स्वेच्छाचारिता और असत्दर्शनमें सत्दर्शनरूप भ्रांति है। 'आत्मा नामका कोई पदार्थ नही है' ऐसा एक दर्शनका अभिप्राय है, 'आत्मा नामका पदार्थ सांयोगिक है', ऐसा अभिप्राय कोई दूसरा दर्शन मानता है; 'आत्मा देहस्थितिरूप है, देहकी स्थितिके पश्चात् नही है,' ऐसा अभिप्राय किसी दूसरे दर्शनका है। 'आत्मा अणु है', 'आत्मा सर्वव्यापक है,' 'आत्मा शून्य है,' 'आत्मा साकार है,' 'आत्मा प्रकाशरूप है,' 'आत्मा स्वतंत्र नही है,' 'आत्मा कर्त्ता नही है,' आत्मा कर्त्ता है भोक्ता नही,' 'आत्मा कर्त्ता नहीं, भोक्ता है,' 'आत्मा कर्त्ता नहो, भोक्ता नहो,' 'आत्मा जड है,' 'आत्मा कृत्रिम है,' इत्यादि अनंत नय

ૐ

સ્વમતા રમતા ઉર્ધ્વતા, જ્ઞાયકતા સુખભાસ,
વેદકતા ચૈતન્યતા, એ સબ જીવવિલાસ

જે તીર્થંકરદેવે સ્વરૂપસ્થ આત્મત્વપણે થઈ વક્તવ્યપણે જે પ્રકારે તે આત્મા કહી શકાય તે પ્રમાણે અત્યંત યથાસ્થિત કહ્યો છે તે તીર્થંકરને સર્વજ્ઞપણાની અપેક્ષાનો ત્યાગ કરી નમસ્કાર કરીએ છીએ.

પૂર્વે ઘણા શાસ્ત્રોનો વિચાર કરવાથી તે વિચારના ફળમાં સત્પુરુષને વિષે જેના વચનથી ભક્તિ ઉત્પન્ન થઈ છે, તે તીર્થંકરના વચનને નમસ્કાર કરીએ છીએ.

ઘણા પ્રકારે જીવનો વિચાર કરવાથી, તે જીવ આત્મારૂપ પુરુષ વિના જાણ્યો જાય એવો નથી, એમ નિશ્ચળ શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થઈ તે તીર્થંકરના માર્ગબોધને નમસ્કાર કરીએ છીએ.

ભિન્ન ભિન્ન પ્રકારે તે જીવનો વિચાર થવા અર્થે - તે જીવ પ્રાપ્ત થવા અર્થે યોગાદિક અનેક સાધનોનો બળવાન પરિશ્રમ કર્યે છતે પ્રાપ્તિ ન થઈ, તે જીવ જેના વડે સહજ પ્રાપ્ત થાય છે, તે જ કહેવા વિષે જેનો ઉદ્દેશ છે તે તીર્થંકરના ઉદ્દેશવચનને નમસ્કાર કરીએ છીએ.

कोई भी जाननेवाला कभी भी किसी भी पदार्थको अपनी अविद्यमानतासे जाने, ऐसा होने योग्य नही है। प्रथम अपनी विद्यमानता घटित होती है, और किसी भी पदार्थका ग्रहण, त्यागादि अथवा उदासीन ज्ञान होनेमे स्वयं ही कारण है। दूसरे पदार्थके अंगीकारमे, उसके अल्पमात्र भी ज्ञानमे प्रथम जो हो, तभी हो सकता है, ऐसा सबसे प्रथम रहनेवाला जो पदार्थ है वह जीव है। उसे गौण करके अर्थात् उसके बिना कोई कुछ भी जानना चाहे तो वह सम्भव नहीं है, मात्र वही मुख्य हो तभी दूसरा कुछ जाना जा सकता है, ऐसा यह प्रगट 'ऊर्ध्वताधर्म', वह जिसमे है, उस पदार्थको श्री तीर्थंकरदेव जीव कहते हैं।

प्रगट जड़ पदार्थ और जीव, वे जिस कारणसे भिन्न होते है, वह लक्षण जीवका ज्ञायकता नामका गुण है। किसी भी समय यह जीव-पदार्थ ज्ञायकतारहित रूपसे किसीको भी अनुभवगम्य नही हो सकता। और इस जीव नामके पदार्थके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थमे ज्ञायकता नही हो सकती, ऐसा जो अत्यन्त अनुभवका कारण ज्ञायकता, वह लक्षण जिसमे है उस पदार्थको तीर्थंकरने जीव कहा है।

शब्दादि पाँच विषयसम्बन्धी अथवा समाधि आदि योगसम्बन्धी जिस स्थितिमे सुख होना सम्भव है, उसे भिन्न भिन्नरूपसे देखनेसे अन्तमे केवल उन सबमे सुखका कारण एक यह जीव-पदार्थ ही सम्भव है। इसलिये श्री तीर्थंकरने जीवका 'सुखभास' नामका लक्षण कहा है, और व्यवहार दृष्टांतसे निद्रा द्वारा वह प्रगट मालूम होता है। जिस निद्रामे अन्य सब पदार्थोंसे रहितपन है, वहाँ भी 'मै सुखी हूँ', ऐसा जो ज्ञान है, वह बाकी बचे हुए जीव पदार्थका ही है; अन्य कोई वहाँ विद्यमान नही है, और सुखका आभास होना तो अत्यन्त स्पष्ट है, वह जिससे भासित होता है उस जीव नामके पदार्थके सिवाय अन्य कही भी वह लक्षण नही देखा।

यह फीका है, यह मीठा है, यह खट्टा है, यह खारा है, मैं इस स्थितिमे हूँ, ठण्डसे ठिठुरता हूँ, गरमी पडती है, दुःखी हूँ, दुःखका अनुभव करता हूँ, ऐसा जो स्पष्ट ज्ञान, वेदनज्ञान, अनुभवज्ञान, अनुभवता, वह यदि किसीमे भी हो तो वह इस जीवपदमे है, अथवा यह जिसका लक्षण होता है, वह पदार्थ जीव होता है, यही तीर्थंकरादिका अनुभव है।

स्पष्ट प्रकाशता, अनन्त अनन्त कोटी तेजस्वी दीपक, मणि, चन्द्र, सूर्यादिकी काति जिसके प्रकाशके बिना प्रगट होनेके लिये समर्थ नही है अर्थात् वे सब अपने आपको बताने अथवा जाननेके योग्य नही है। जिस पदार्थके प्रकाशमे चैतन्यतासे वे पदार्थ जाने जाते है, वे पदार्थ प्रकाश पाते है, स्पष्ट भासित होते है वह पदार्थ जो कोई है वह जीव है। अर्थात वह लक्षण प्रगटरूपसे स्पष्ट प्रकाशमान, अचल ऐसा निराबाध प्रकाशमान चैतन्य, उस जीवका उस जीवके प्रति उपयोग लगानेसे प्रगट दिखायी देता है।

ये जो लक्षण कहे है उन्हे पुनः पुन विचारकर जीव निराबाधरूपसे जाना जाता है, जिन्हे जाननेसे जीवको जाना है, ये लक्षण इस प्रकारसे तीर्थंकरादिने कहे है।

---

४३९ बंबई, चैत्र सुदी ६, गुरु, १९४९

ॐ

"समता रमता ऊरधता" ये पद इत्यादि पद जो जीवके लक्षणके लिखे थे, उनका विशेष अर्थ लिखकर एक पत्र पाँच दिन हुए मोरबी भेजा है, जो मोरबी जानेपर प्राप्त होना सम्भव है।

उपाधिका योग विशेष रहता है। जैसे जैसे निवृत्तिके योगकी विशेष इच्छा हो आती है, वैसे वैसे उपाधिकी प्राप्तिका योग विशेष दिखायी देता है। चारो तरफसे उपाधिकी भीड़ है। कोई ऐसा मार्ग

अभी दिखायी नहीं देता कि अभी इसमेसे छूटकर चले जाना हो तो किसीका अपराध किया न समझा जाय। छूटनेका प्रयत्न करते हुए किसीके मुख्य अपराधमे आ जानेका स्पष्ट सम्भव दिखायी देता है, और यह वर्तमान अवस्था उपाधिरहित होनेके लिये अत्यन्त योग्य है, प्रारब्धकी व्यवस्था ऐसी बाँधी होगी।

लि० रायचन्दके प्रणाम।

---

४४० बंबई, चैत्र सुदी ९, १९४९

मुमुक्षुभाई सुखलाल छगनलाल, वीरमगाम।

कल्याणकी अभिलाषावाला एक पत्र गत वर्षमें मिला था, उसी अर्थका दूसरा पत्र थोड़े दिन हुए मिला है।

केशवलालका आपको वहाँ समागम होता है यह श्रेयस्कर योग है।

आरभ, परिग्रह, असत्संग आदि कल्याणके प्रतिबधक कारणोका यथासम्भव कम परिचय हो तथा उनमे उदासीनता प्राप्त हो, यह विचार अभी मुख्यत रखने योग्य है।

---

४४१ बंबई, चैत्र सुदी ९, १९४९

मुमुक्षुभाई श्री मनसुख देवशी, लीमडी।

अभी उस तरफ हुए श्रावको आदिके समागम सम्बन्धी विवरण पढा है। उस प्रसगमे जीवको रुचि या अरुचि उदयमे नही आयी, उसे श्रेयस्कर कारण जानकर, उसका अनुसरण करके निरन्तर प्रवर्तन करनेका परिचय करना योग्य है, और उस असत्सगका परिचय जैसे कम हो वैसे उसकी अनुकपाकी इच्छा करके रहना योग्य है। जैसे हो वैसे सत्सगके योगकी इच्छा करना और अपने दोष देखना योग्य है।

---

४४२ बबई, चैत्र वदी १, रवि, १९४९

***धार तरवारनी सोहली, दोहली चौदमा जिनतणी चरणसेवा;**
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा।

—श्री आनदघन—अनतजिनस्तवन

मार्गकी ऐसी अत्यन्त दुष्करता किस कारणसे कही है ? यह विचार करने योग्य है।

आत्मप्रणाम

---

४४३ बंबई, चैत्र वदी ८, रवि, १९४९

जिसे संसार सम्बन्धी कारणके पदार्थोंकी प्राप्ति सुलभतासे निरन्तर हुआ करे और बन्धन न हो, ऐसा कोई पुरुष हो, तो उसे तीर्थंकर या तीर्थंकर जैसा मानते हैं; परन्तु प्रायः ऐसी सुलभ प्राप्तिके योगसे जीवको अल्पकालमें संसारसे अत्यन्त वैराग्य नही होता, और स्पष्ट आत्मज्ञानका उदय नही होता, ऐसा जानकर जो कुछ उस सुलभ प्राप्तिको हानि करनेवाला योग होता है उसे उपकारकारक जानकर सुखसे रहना योग्य है।

---

*भावार्थ—तलवारकी धारपर चलना तो आसान है, परन्तु चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथजीके चरणोंकी सेवा करना मुश्किल है। बाजीगर तलवारकी धारपर नाचते हुए देखे जाते हैं, परन्तु प्रभुके चरणोंकी सेवारूप धारपर तो देवगण भी नहीं चल सकते।

४४४ बंबई, चैत्र वदी ३०, रवि, १९४९

संसारीरूपसे रहते हुए किस स्थितिसे वर्तन करें तो अच्छा, ऐसा कदाचित् भासित हो, तो भी वह वर्तन प्रारब्धाधीन है। किसी प्रकारके कुछ राग, द्वेष या अज्ञानके कारणसे जो न होता हो, उसका कारण उदय मालूम होता है। और आपके लिखे हुए पत्रके सम्बन्धमे भी वैसा जानकर अन्य विचार या शोक करना ठीक नही है।

जलमे स्वाभाविक शीतलता है, परन्तु सूर्यादिके तापके योगसे वह उष्णतावाला दिखायी देता है; उस तापका योग दूर होनेपर वहो जल शीतल लगता है। बीचमे वह जल शीतलतासे रहित लगता है, वह तापके योगसे है। इसी तरह यह प्रवृत्तियोग हमे है, परन्तु अभी तो उस प्रवृत्तिका वेदन करनेके सिवाय हमारा अन्य उपाय नही है।

नमस्कार प्राप्त हो।

---

४४५ बंबई, चैत्र वदी ३०, रवि, १९४९

जा मु० यहाँ चातुर्मासके लिये आना चाहते है, यदि उनका आत्मा दु:खित न होता हो तो उनसे कहना कि उन्हे इस क्षेत्रमे आना निवृत्तिरूप नही है। कदाचित् यहाँ सत्संगकी इच्छासे आनेका सोचा हो तो वह योग मिलना बहुत विकट है, क्योकि हमारा वहाँ जाना-आना सम्भव नही है। प्रवृत्तिके बलवान कारणोकी उन्हे प्राप्ति हो, ऐसी यहाँ स्थिति है, ऐसा जानकर यदि उन्हे कोई दूसरा विचार करना सुगम हो तो करना योग्य है। इस प्रकारसे लिख सके तो लिखियेगा।

अभी आपकी वहाँ कैसी दशा रहती है? वहाँ विशेषरूपसे सत्सगका समागम योग करना योग्य है। आपके प्रश्नके उत्तरके सिवाय विशेष लिखना अभी सूझता नही है।

आत्मस्थित।

---

४४६ बबई, वैशाख वदी ६, रवि, १९४९

प्रत्येक प्रदेशसे जीवके उपयोगके लिये आकर्षक इस संसारमे एक समय मात्र भी अवकाश लेनेकी ज्ञानीपुरुषोने हाँ नही कही, इस विषयमे केवल नकार कहा है।

उस आकर्षणसे यदि उपयोग अवकाशको प्राप्त हो तो उसी समय वह आत्मरूप हो जाता है। उसी समय आत्मामे वह उपयोग अनन्य हो जाता है।

इत्यादि अनुभववार्ता जीवको सत्संगके दृढ़ निश्चयके बिना प्राप्त होना अत्यन्त विकट है।

उस सत्सगको जिसने निश्चयरूपसे जाना है, ऐसे पुरुषको उस सत्सगका योग रहना इस दुषम-कालमे अत्यंत विकट है।

जिस चिंताके उपद्रवसे आप घबराते हैं, वह चिंता-उपद्रव कोई शत्रु नही है। कोई ज्ञानवार्ता जरूर लिखिये।

प्रेमभक्तिसे नमस्कार।

---

४४७ बंबई, वैशाख वदी ८, मगल, १९४९

जहाँ उपाय नही वहाँ खेद करना योग्य नहीं है।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो उसमे समता रखना योग्य है, और उसके उपायका कोई विचार सूझे उसे करते रहना, इतना मात्र हमारा उपाय है।

संसारके प्रसंगोमें क्वचित् जब तक हमे अनुकूलता हुआ करती है, तब तक उस संसारका स्वरूप विचारकर त्यागयोग्य है, ऐसा प्राय: हृदयमें आना दुष्कर है। उस संसारमें जब बहुत-बहुत प्रतिकूल प्रसंगोंकी प्राप्ति होती है, उस समय भी जीवको प्रथम वह अरुचिकर होकर पीछे वैराग्य आता है; फिर आत्मसाधनकी कुछ सूझ पडती है। और परमात्मा श्रीकृष्णके वचनके अनुसार मुमुक्षुजीवको उन-उन प्रसंगोको सुखदायक मानना योग्य है कि जिन प्रसंगोके कारण आत्मसाधन सूझता है।

अमुक समय तक अनुकूल प्रसंगी संसारमे कदाचित् सत्संगका योग हुआ हो, तो भी इस कालमें उस द्वारा वैराग्यका यथास्थित वेदन होना दुष्कर है, परन्तु उसके बाद कोई कोई प्रसग प्रतिकूल ही प्रतिकूल होता आया हो, तो उसके विचारसे, उसके पश्चात्तापसे सत्सग हितकारक हो जाता है; ऐसा समझकर जिस किसी प्रतिकूल प्रसगकी प्राप्ति हो, उस आत्मसाधनका कारणरूप मानकर समाधि रखकर जाग्रत रहना। कल्पित भावमे किसी प्रकारसे भूलने जैसा नही है।

---

४४८ बंबई, वैशाख वदी ९, १९४९

श्री महावीरदेवको गौतमादि मुनिजन ऐसा पूछते थे कि हे पूज्य! 'माहण', 'श्रमण', 'भिक्षु' और 'निर्ग्रन्थ', इन चार शब्दोका अर्थ क्या है? वह हमे कहे। फिर उसका अर्थ श्री तीर्थंकर विस्तारसे कहते थे। वे अनुक्रमसे इन चारोकी अनेक प्रकारकी वीतराग अवस्थाओको विशेषातिविशेषरूपसे कहते थे, और इस तरह उन शब्दोंका अर्थ शिष्य धारण करते थे।

निर्ग्रंथकी बहुतसी दशाएँ कहते हुए एक 'आत्मवादप्राप्त' ऐसा शब्द उस निर्ग्रंथका तीर्थंकर कहते थे। टीकाकार शीलांगाचार्य उस [1]'आत्मवादप्राप्त' शब्दका अर्थ ऐसा कहते थे कि 'उपयोग है लक्षण जिसका, असंख्य प्रदेशी, सकोच-विकासका भाजन, अपने किये हुए कर्मोका भोक्ता, व्यवस्थासे द्रव्यपर्यायरूप, नित्यानित्यादि अनत धर्मात्मक ऐसे आत्माका ज्ञाता।'

---

४४९ बंबई, जेठ सुदी ११, शुक्र, १९४९

वैराग्यादि साधनसंपन्न भाई कृष्णदास, श्री खंभात।

शुद्ध चित्तसे विदित की हुई आपकी विज्ञप्ति पहुँची है।

सब परमार्थके साधनोमे परम साधन सत्सग है, सत्पुरुषके चरणके समीपका निवास है। सर्वकालमे उसकी दुर्लभता है, और ऐसे विषम कालमे उसकी अत्यंत दुर्लभता ज्ञानीपुरुषोने जानी है।

ज्ञानीपुरुषोकी प्रवृत्ति प्रवृत्ति जैसी नहीं होती। जैसे गरम पानीमे अग्निका मुख्य गुण नही कहा जा सकता, वैसे ज्ञानीकी प्रवृत्ति है, तथापि ज्ञानीपुरुष भी किसी प्रकारसे भी निवृत्तिको चाहते हैं। पूर्वकालमे आराधन किये हुए निवृत्तिके क्षेत्र, वन, उपवन, योग, समाधि और सत्संगादि ज्ञानीपुरुषको प्रवृत्तिमे रहते हुए बारंबार याद आ जाते हैं। तथापि ज्ञानी उदयप्राप्त प्रारब्धका अनुसरण करते हैं। हमें सत्संगकी रुचि रहती है, उसका लक्ष्य रहता है, परन्तु यहाँ नियमितरूपसे वैसा अवकाश नही है।

---

१ देखे श्री सूत्रकृताग, श्रुतस्कध १, अध्ययन १६, गाथा ५ 'आयवायपत्ते' = आत्मवादप्राप्त आत्मन उपयोगलक्षणस्य जीवस्यासख्येयप्रदेशात्मकस्य सकोचविकाशभाज: स्वकृतफलभुज प्रत्येकसाधारणतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्यायतया नित्यानित्याद्यनतधर्मात्मकस्य वा वाद आत्मवादस्त प्राप्त आत्मवाद प्राप्त सम्यग् यथावस्थितात्मस्वतत्त्ववेदीत्यर्थ.।

कल्याणमे प्रतिबधरूप जो-जो कारण हैं, उनका जीवको वारंवार विचार करना योग्य है, उन-उन कारणोका वारवार विचार करके दूर करना योग्य है, और इस मार्गका अनुसरण किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नही होती। मल, विक्षेप और अज्ञान ये जीवके अनादिके तीन दोष है। ज्ञानीपुरुषोके वचनोकी प्राप्ति होनेपर, उनका यथायोग्य विचार होनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। उस अज्ञानकी सतति बलवान होनेसे उसका रोध होनेके लिये और ज्ञानीपुरुषोके वचनोका यथायोग्य विचार होनेके लिये मल और विक्षेपको दूर करना योग्य है। सरलता, क्षमा, अपने दोष देखना, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह इत्यादि मल मिटनेके साधन है। ज्ञानीपुरुषकी अत्यत भक्ति विक्षेप मिटनेका साधन है।

ज्ञानीपुरुषके समागमका अतराय रहता हो, उस-उस प्रसंगमे वारंवार उन ज्ञानीपुरुषकी दशा, चेष्टा और वचनोका निरीक्षण करना, स्मरण करना और विचार करना योग्य है। और उस समागमके अतरायमे, प्रवृत्तिके प्रसगोमे अत्यन्त सावधानी रखना योग्य है, क्योकि एक तो समागमका बल नही है और दूसरा अनादि अभ्यास है जिसका, ऐसी सहजाकार प्रवृत्ति है, जिससे जीव आवरणप्राप्त होता है। घरका, जातिका अथवा दूसर वैसे कामोका कारण आनेपर उदासीन भावसे उन्हे प्रतिबंधरूप जानकर प्रवृत्ति करना योग्य है। उन कारणोको मुख्य बनाकर कोई प्रवृत्ति करना योग्य नही है, और ऐसा हुए बिना प्रवृत्तिका अवकाश प्राप्त नही होता।

आत्माको भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनासे विचार करनेमे लोकसज्ञा, ओघसंज्ञा और असत्संग ये कारण हैं, जिन कारणोंमे उदासीन हुए बिना, नि सत्त्व ऐसी लोकसंबंधी जपतपादि क्रियामे साक्षात् मोक्ष नही है, परंपरा मोक्ष नही है, ऐसा माने बिना, निःसत्त्व असत्शास्त्र और असद्‌गुरु, जो आत्मस्वरूपके आवरणके मुख्य कारण है, उन्हे साक्षात् आत्मघाती जाने बिना जीवको जीवके स्वरूपका निश्चय होना बहुत दुष्कर है, अत्यन्त दुष्कर है। ज्ञानीपुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कहनेवाले वचन भी उन कारणोके कारण जीवको स्वरूपका विचार करनेके लिये बलवान नहीं होते।

अब ऐसा निश्चय करना योग्य है कि जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुषके बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूपको यथार्थ कहनेके योग्य नही है; और उस पुरुषसे आत्मा जाने बिना अन्य कोई कल्याणका उपाय नही है। उस पुरुषसे आत्मा जाने बिना, आत्मा जाना है, ऐसी कल्पनाका मुमुक्षु जीवको सर्वथा त्याग करना योग्य है। उस आत्मारूप पुरुषके सत्सगको निरतर कामना रखकर उदासीनतासे लोकधर्मसम्बन्धी और कर्मसम्बन्धी परिणामसे छूटा जा सके इस प्रकारसे व्यवहार करना। जिस व्यवहारके करनेमे जीवको अपना महत्त्वादिकी इच्छा हो वह व्यवहार करना यथायोग्य नही है।

हमारे समागमका अभी अन्तराय जानकर निराशाको प्राप्त होना योग्य है, तथापि वैसा करनेमे 'ईश्वरेच्छा' जानकर समागमकी कामना रखकर जितना परस्पर मुमुक्षुभाइयोका समागम हो सके उतना करें, जितनी हो सके उतनी प्रवृत्तिमे विरक्तता रखें, सत्पुरुषोके चरित्र और मार्गानुसारी (सुन्दरदास, प्रीतम, अखा, कबीर आदि) जीवोके वचन और जिनका उद्देश मुख्यत. आत्माको कहनेका है, ऐसे (विचार-सागर, सुन्दरदासके ग्रन्थ, आनन्दघनजी, बनारसीदास, कबीर, अखा इत्यादिके पद) ग्रन्थोका परिचय रखें, और इन सब साधनोंमे मुख्य साधन तो श्री सत्पुरुषका समागम मानें।

हमारे समागमका अतराय जानकर चित्तमे प्रमादको अवकाश देना योग्य नही है, परस्पर मुमुक्षु-भाइयोंके समागमको अव्यवस्थित होने देना योग्य नही है, निवृत्तिके क्षेत्रका प्रसंग न्यून होने देना योग्य नही है; कामनापूर्वक प्रवृत्ति योग्य नही है; ऐसा विचारकर यथासम्भव अप्रमत्तताका, परस्परके समागम-का, निवृत्तिके क्षेत्रका और प्रवृत्तिकी उदासीनताका आराधन करें।

जो प्रवृत्ति यहाँ उदयमे है, वह ऐसी है कि दूसरे द्वारसे चले जाते हुए भी छोड़ी नही जा सकती, वेदन करने योग्य है, इसलिये उसका अनुसरण करते है, तथापि अव्याबाध स्थितिमे जैसाका तैसा स्वास्थ्य है।

आज यह आठवाँ पत्र लिखते है। वे सब आप सभी जिज्ञासुभाइयोके बारबार विचार करनेके लिये लिखे गये है। चित्त ऐसे उदयवाला कभी हो रहता है। आज अनुक्रमसे वैसा उदय होनेसे, उस उदयके अनुसार लिखा है। हम सत्सग और निवृत्तिकी कामना रखते है, तो फिर आप सबको यह रखनो योग्य हो, इसमे कोई आश्चर्य नही है। हम व्यवहारमे रहते हुए अल्पारभको, अल्पपरिग्रहको प्रारब्धनिवृत्तिरूपसे चाहते है, महान आरंभ और महान परिग्रहमे नही पडते। तो फिर आपको वैसा बर्ताव करना योग्य हो, इसमे कोई सशय करना योग्य नही है। समागम होनेके योगका नियमित समय लिखा जा सके ऐसा अभी नही सूझता। यही विनती।

---

४५० बबई, जेठ सुदी १५, मंगल, १९४९

[1]"जीव तुं शीद शोचना धरे? कृष्णने करवुं होय ते करे।
चित्त तुं शीद शोचना धरे? कृष्णने करवुं होय ते करे॥" —दयाराम

पूर्वकालमे जो ज्ञानीपुरुष हुए है, उन ज्ञानियोमे बहुतसे ज्ञानीपुरुष सिद्धियोगवाले हुए है, ऐसा जो लोककथन है वह सच्चा है या झूठा? ऐसा आपका प्रश्न है, और यह सच्चा होना सम्भव है ऐसा आपका अभिप्राय है। साक्षात् देखनेमे नही आता, यह विचाररूप जिज्ञासा है।

कितने ही मार्गानुसारी पुरुषो और अज्ञानयोगी पुरुषोमे भी सिद्धियोग होता है। प्राय. उनके चित्तकी अत्यन्त सरलतासे अथवा सिद्धियागादिको अज्ञानयोगसे स्फुरणा देनेसे वह प्रवृत्ति करता है।

सम्यग्दृष्टिपुरुष कि जिनका चौथे गुणस्थानमे होना सम्भव है, वैसे ज्ञानीपुरुषोमे क्वचित् सिद्धि होती है, और क्वचित् सिद्धि नही होती। जिनमे होती है, उन्हे उसकी स्फुरणाकी प्राय इच्छा नही होती, और बहुत करके यह इच्छा तब होती है कि जब जीव प्रमादवश होता है, और यदि वैसी इच्छा हुई तो उसका सम्यक्त्वसे पतन होना सम्भव है।

प्रायः पाँचवे, छट्ठे गुणस्थानमे भी उत्तरोत्तर सिद्धियोगका विशेष सम्भव होता जाता है, और वहाँ भी यदि जीव प्रमादादि योगसे सिद्धिमे प्रवृत्ति करे तो प्रथम गुणस्थानमे स्थिति होना सम्भव है।

सातवे, आठवे, नवमे और दसवे गुणस्थानमे प्रायः प्रमादका अवकाश कम है। ग्यारहवे गुणस्थानमे सिद्धियोगका लोभ संभव होनेके कारण वहाँसे प्रथम गुणस्थानमे स्थिति होना सभव है। बाकी जितने सम्यक्त्वके स्थानक है, और जहाँ तक सम्यक्परिणामी आत्मा है वहाँ तक उस एक भी योगमे जीवकी प्रवृत्ति त्रिकालमे भी होना संभव नही है।

सम्यग्ज्ञानीपुरुषोंसे लोगोने सिद्धियोगके जो चमत्कार जाने हैं, वे सब ज्ञानीपुरुष द्वारा किये हुए नही हो सकते, वे सिद्धियोग स्वभावतः परिणामको प्राप्त हुए होते है। दूसरे किसी कारणसे ज्ञानीपुरुषमे वह योग नही कहा जाता।

मार्गानुसारी अथवा सम्यग्दृष्टि पुरुषोके अत्यन्त सरल परिणामसे उनके वचनानुसार कितनी ही बार होता है। जिसका योग अज्ञानपूर्वक है, उसके उस आवरणके उदय होनेपर अज्ञानका स्फुरण होकर

---

१ भावार्थ—जीव तू किसलिये शोक करता है? कृष्णको जो करना होगा सो करेगा। चित्त तू किसलिये शोक करता है? कृष्णको जो करना होगा सो करेगा।

वह सिद्धियोग अल्पकालमे फलित होता है। ज्ञानीपुरुषसे तो मात्र स्वाभाविक स्फुरित होकर ही फलित होता है, अन्य प्रकारसे नही। जिन ज्ञानीसे सिद्धियोग स्वाभाविक परिणामी होता है, वे ज्ञानीपुरुष, हम जो करते हैं वैसा और वह इत्यादि दूसरे अनेक प्रकारके चारित्रके प्रतिबंधक कारणोंसे मुक्त होते हैं, कि जिस कारणसे आत्माका ऐश्वर्य विशेष स्फुरित होकर मनादि योगमे सिद्धिके स्वाभाविक परिणामको प्राप्त होता है। क्वचित् ऐसा भी जानते है कि किसी प्रसगमे ज्ञानीपुरुषने भी सिद्धियोग परिणमित किया होता है तथापि वह कारण अत्यन्त बलवान होता है, और वह भी संपूर्ण ज्ञानदशाका कार्य नही है। हमने जो यह लिखा है, वह बहुत विचार करनेसे समझमे आयेगा।

हममे मार्गानुसारिता कहना संगत नही है। अज्ञानयोगिता तो जबसे इस देहको धारण किया तभीसे नही होगी ऐसा लगता है। सम्यग्दृष्टिपन तो जरूर सभव है। किसी प्रकारका सिद्धियोग साधनेका हमने कभी भी सारी जिदगीमे अल्प भी विचार किया हो ऐसा याद नही आता, अर्थात् साधनसे वैसा योग प्रगट हुआ हो, ऐसा नही लगता। आत्माकी विशुद्धताके कारण यदि कोई वैसा ऐश्वर्य हो तो उसकी असत्ता नही कही जा सकती। वह ऐश्वर्य कुछ अंशमे सभव है, तथापि यह पत्र लिखते समय इस ऐश्वर्यकी स्मृति हुई है, नही तो बहुत कालसे वैसा होना स्मरणमे नही है तो फिर उसे स्फुरित करनेकी इच्छा कभी हुई हो, ऐसा नही कहा जा सकता, यह स्पष्ट बात है। आप और हम कुछ दुःखी नही है। जो दुःख है वह रामके चौदह वर्षके दुःखका एक दिन भी नही है, पाडवोके तेरह वर्षके दुःखकी एक घड़ी नही है, और गजसुकुमारके ध्यानका एक पल नही है, तो फिर हमे यह अत्यन्त कारण कभी भी बताना योग्य नही है।

आपको शोक करना योग्य नही है, फिर भी करते है। जो बात आपसे न लिखी जाये वह लिखी जाती है। उसे न लिखनेके लिये हमारा इस पत्रसे उपदेश नही है। मात्र जो हो उसे देखते रहना, ऐसा निश्चय रखनेका विचार करें, उपयोग करें, और साक्षी रहे, यही उपदेश है।

नमस्कार प्राप्त हो।

---

४५१ बंबई, प्रथम आषाढ सुदी ९, १९४९

कृष्णदासका प्रथम विनयभक्तिरूप पत्र मिला था। उसके बाद त्रिभोवनका पत्र और फिर आपका पत्र पहुँचा। बहुत करके रविवारको पत्र लिखा जा सकेगा।

सत्सगके इच्छावान जीवोंके प्रति कुछ भी उपकारक देखभाल होती हो तो होने योग्य है। परन्तु अव्यवस्थाके कारण हम उन कारणोमे अशक्त होकर प्रवृत्ति करते है, अंतःकरणसे कहते है कि वह क्षमा योग्य है। यही विनती।

---

४५२ बबई, प्रथम आषाढ सुदी १२, १९४९

उपाधिके कारण अभी यहाँ स्थिति संभव है।

यहाँ सुखवृत्ति है। दुःख कल्पित है।

लि० रायचदके प्रणाम

---

४५३ बंबई, प्रथम आषाढ वदी ३, रवि, १९४९

मुमुक्षुजनके परमबाधव, परमस्नेही श्री सुभाग्य, मोरबी।

यहाँ समाधिका यथायोग्य अवकाश नही है। अभी कोई पूर्वोपार्जित प्रारब्ध ऐसे उदयमे रहता है।

गत सालके मार्गशीर्ष मासमे यहाँ आना हुआ, तभीसे उत्तरोत्तर उपाधियोग विशेषाकार होता आया है, और बहुत करके उस उपाधियोगका विशेष प्रकारसे उपयोग द्वारा वेदन करना पड़ा है।

इस कालको तीर्थंकरादिने स्वभावत दुषम कहा है। उसमे विशेष करके प्रयोगसे अनार्यताके योग्य-भूत ऐसे इन क्षेत्रोंमे यह काल बलवानरूपमे रहता है। लोगोकी आत्मप्रत्यय योग्यबुद्धि अत्यन्त नाश हो जाने योग्य हुई है, ऐसे सब प्रकारके दुषमयोगमे व्यवहार करते हुए परमार्थका विस्मरण अत्यन्त सुलभ है। और परमार्थका स्मरण अत्यन्त अत्यन्त दुर्लभ है। आनंदघनजीने चौदहवे जिनके स्तवनमे कहा है, उसमे इस क्षेत्रकी दुषमता इतनी विशेषता है, और आनंदघनजीके कालकी अपेक्षा वर्तमानकाल विशेष दुषमपरिणामी है। उसमे यदि किसी आत्मप्रत्ययी पुरुषके लिये बचने योग्य कोई उपाय हो तो वह एक मात्र निरन्तर अविच्छिन्न धारासे सत्संगकी उपासना करना यही प्रतीत होता है।

प्राय सर्व कामनाओके प्रति उदासीनता है, ऐसे हमको भी यह सर्व व्यवहार और कालादि, गोते खाते खाते ससारसमुद्रको मुश्किलसे तरने देता है। तथापि प्रति समय उस परिश्रमका अत्यन्त प्रस्वेद उत्पन्न हुआ करता है, और उत्ताप उत्पन्न होकर सत्सगरूप जलकी तृषा अत्यन्तरूपसे रहा करती है, और यही दु.ख लगा करता है।

ऐसा होनेपर भी ऐसे व्यवहारका सेवन करते हुए उसके प्रति द्वेषपरिणाम करना योग्य नही है, ऐसा जो सर्व ज्ञानीपुरुषोका अभिप्राय है, वह उस व्यवहारको प्राय समतासे कराता है। आत्मा उस विषयमे मानो कुछ करता नही है, ऐसा लगा करता है।

विचार करनेसे ऐसा भी नही लगता कि यह जो उपाधि उदयवर्ती है, वह सर्व प्रकारसे कष्टरूप है। पूर्वोपार्जित प्रारब्ध जिससे शान्त होता है, वह उपाधि परिणामसे आत्मप्रत्ययी कहने योग्य है।

मनमे ऐसा ही रहा करता है कि अल्पकालमे यह उपाधियोग मिटकर बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थता प्राप्त हो तो अधिक योग्य है। तथापि यह बात अल्पकालमे हो ऐसा नही सूझता, और जब तक ऐसा नही होता तब तक वह चिन्ता मिटनी सम्भव नही है।

दूसरा सब व्यवहार वर्तमानमे ही छोड दिया हो, तो यह हो सकता है। दो तीन उदय व्यवहार ऐसे हैं कि जो भोगनेसे ही निवृत्त हो सकते हैं, और कष्टसे भी उस विशेष कालकी स्थितिमेसे अल्प-कालमे उनका वेदन नही किया जा सकता ऐसे है, और इसी कारणसे मूर्खकी भाँति इस व्यवहारका सेवन किया करते हैं।

किसी द्रव्यमे, किसी क्षेत्रमे, किसी कालमे, किसी भावमे स्थिति हो, ऐसा प्रसंग मानो कही भी दिखायी नही देता। केवल सर्व प्रकारकी उसमेसे अप्रतिबद्धता ही योग्य है, तथापि निवृत्तिक्षेत्र और निवृत्तिकाल, सत्संग और आत्मविचारमे हमे प्रतिबद्ध रुचि रहती है। वह योग किसी प्रकारसे भी यथा-सम्भव थोड़े कालमे हो, इसी चिन्तनमे अहोरात्र रहते है।

आपके समागमकी अभी विशेष इच्छा रहती है, तथापि उसके लिये किसी प्रसंगके बिना योग न करना, ऐसा रखना पड़ा है और उसके लिये बहुत विक्षेप रहता है।

आपको भी उपाधियोग रहता है। उसका विकटतासे वेदन किया जाये, ऐसा है, तथापि मौनरूपसे, समतासे उसका वेदन करना, ऐसा निश्चय रखें। उस कर्मका वेदन करनेसे अन्तरायका बल कम होगा।

क्या लिखें? और क्या कहे? एक आत्मवार्तामे ही अविच्छिन्न काल रहे, ऐसे आप जैसे पुरुषके सत्संगके हम दास है। अत्यन्त नम्रतासे हमारा चरणके प्रति नमस्कार स्वीकार कीजिये। यही विनती।

दासानुदास रायचंदके प्रणाम पहुँचेगा।

---

४५४ बम्बई, प्रथम आषाढ़ वदी ४, सोम, १९४९

ॐ

यदि स्पष्ट प्रीतिसे संसार करनेकी इच्छा होती हो तो उस पुरुषने ज्ञानीके वचन सुने नही हैं; अथवा ज्ञानीपुरुषके दर्शन भी उसने किये नहीं है ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

जिसकी कमर टूट गई है, उसका प्रायः सारा बल परिक्षीणताको प्राप्त होता है। जिसे ज्ञानीपुरुषके वचनरूप लकडीका प्रहार हुआ है उस पुरुषमे उस प्रकारसे ससार सम्बन्धी बल होता है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

ज्ञानीपुरुषको देखनेके बाद स्त्रीको देखकर यदि राग उत्पन्न होता हो तो उसने ज्ञानीपुरुषको नही देखा, ऐसा आप समझें।

ज्ञानीपुरुषके वचन सुननेके बाद स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूपसे भासे बिना नही रहेगा।

धनादि सम्पत्ति वास्तवमें पृथ्वीका विकार भासित हुए बिना नही रहेगा।

ज्ञानीपुरुषके सिवाय उसका आत्मा ओर कही भी क्षणभर स्थायी होना नही चाहेगा।

इत्यादि वचनोका पूर्वकालमे ज्ञानीपुरुष मार्गानुसारी पुरुषोको बोध देते थे।

जिन्हे जानकर, सुनकर वे सरल जीव आत्मामे अवधारण करते थे।

प्राणत्याग जैसे प्रसंगमें भी वे उन वचनोंको अप्रधान न करने योग्य जानते थे, वर्तन करते थे।

आप सर्व मुमुक्षुभाइयोको हमारा भक्तिभावसे नमस्कार पहुँचे। हमारा ऐसा उपाधियोग देखकर अन्तरमे क्लेशित हुए बिना जितना हो सके उतना आत्मा सम्बन्धी अभ्यास बढानेका विचार करें।

सर्वसे अधिक स्मरणयोग्य बातें तो बहुतसी हैं, तथापि ससारमे एकदम उदासीनता, परके अल्प-गुणोंमें भी प्रीति, अपने अल्पदोषोंमे भी अत्यन्त क्लेश, दोषके विलयमे अत्यन्त वीर्यका स्फुरना, ये बातें सत्संगमें केवल शरणागतरूपसे अखण्ड ध्यानमें रखने योग्य हैं। यथासम्भव निवृत्तिकाल, निवृत्तिक्षेत्र, निवृत्तिद्रव्य और निवृत्तिभावका सेवन कीजिये। तीर्थंकर गौतम जैसे ज्ञानीपुरुषको भी सम्बोधन करते थे कि समयमात्र भी प्रमाद योग्य नही है।

प्रणाम।

---

४५५ बम्बई, प्रथम आषाढ वदी १३ मंगल, १९४९

अनुकूलता, प्रतिकूलताके कारणमे विषमता नही है। सत्संगके कामीजनको यह क्षेत्र विषम जैसा है। किसी किसी उपाधियोगका अनुक्रम हमे भी रहा करता है। इन दो कारणोकी विस्मृति करते हुए भी जिस घरमे रहना है उसकी कितनी ही प्रतिकूलता है, इसलिये अभी आप सब भाइयोंका विचार कुछ स्थगित करने योग्य (जैसा) है।

---

४५६ बम्बई, प्रथम आषाढ़ वदी १४, बुध, १९४९

प्राय प्राणी आशासे जीते हैं। जैसे जैसे संज्ञा विशेष होती जाती है, वैसे वैसे विशेष आशाके बलसे जीना होता है। एक मात्र जहाँ आत्मविचार और आत्मज्ञानका उद्भव होता है, वहाँ सर्व प्रकारकी आशाकी समाधि होकर जीवके स्वरूपसे जिया जाता है। जो कोई भी मनुष्य इच्छा करता है वह भविष्यमे उसकी प्राप्ति चाहता है, और उस प्राप्तिकी इच्छारूप आशासे उसकी कल्पनाका जीना है, और वह

कल्पना प्राय: कल्पना ही रहा करती है। यदि जीवको वह कल्पना न हो और ज्ञान भी न हो तो उसकी दुःखकारक भयंकर स्थिति अकथनीय होना सम्भव है। सर्व प्रकारकी आशा, उसमें भी आत्माके सिवाय दूसरे अन्य पदार्थोकी आशामे समाधि किस प्रकारसे हो, यह कहे।

---

४५७ बम्बई, द्वि० आषाढ सुदी ६, बुध, १९४९

रखा कुछ रहता नही, और छोड़ा कुछ जाता नहीं, ऐसे परमार्थका विचारकर किसीके प्रति दीनता करना या विशेषता दिखाना योग्य नही है। समागममे दीनतासे नही आना चाहिये।

---

४५८ बम्बई, द्वि० आषाढ़ सुदी १२, मगल, १९४९

अबालालके नामसे एक पत्र लिखा है, वह पहुँचा होगा। उसमे आज एक पत्र लिखनेका सूचन किया है। लगभग एक घटे तक विचार करते हुए कुछ सूझ न आनेसे पत्र नही लिखा जा सका सो क्षमा योग्य है।

उपाधिके कारणसे अभी यहाँ स्थिति सम्भव है। आप किन्ही भाइयोका प्रसंग, इस तरफ अभी कुछ थोडे समयमे होना सम्भव हो तो सूचित कीजियेगा।

भक्तिपूर्वक प्रणाम।

---

४५९ बम्बई, द्वि० आषाढ वदी ६, १९४९

श्री कृष्णादिकी क्रिया उदासीन जैसी थी। जिस जीवको सम्यक्त्व उत्पन्न हो, उसे सर्व प्रकारकी ससारी क्रियाएँ उसी समय न हो, ऐसा कोई नियम नही है। सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके बाद ससारी क्रियाओका रसरहितरूपसे होना सम्भव है। प्राय ऐसी कोई भी क्रिया उस जीवकी नही होती कि जिससे परमार्थके विषयमे भ्रान्ति हो, और जब तक परमार्थके विषयमे भ्रान्ति न हो तब तक दूसरी क्रियासे सम्यक्त्वको बाधा नही आती। इस जगतके लोग सर्पकी पूजा करते है, वे वस्तुतः पूज्यबुद्धिसे पूजा नही करते, परन्तु भयसे पूजा करते है, भावसे पूजा नही करते, और इष्टदेवकी पूजा लोग अत्यन्त भावसे करते है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव इस संसारका सेवन करता हुआ दिखाई देता है, वह पूर्वकालमे निबंधन किये हुए प्रारब्ध कर्मसे दिखाई देता है। वस्तुत भावसे इस ससारमे उसका प्रतिबन्ध सगत नही है, पूर्वकर्मके उदयरूप भयमे संगत होता है। जितने अशमे भावप्रतिबध न हो उतने अंशमे ही सम्यग्दृष्टिपन उस जीवको होता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका सम्यक्त्वके सिवाय जाना सम्भव नही है, ऐसा जो कहा जाता है, वह यथार्थ है। ससारी पदार्थोमे तीव्र स्नेहके बिना जीवको ऐसे क्रोध, मान, माया और लोभ नही होते कि जिस कारणसे उसे अनन्त ससारका अनुबंध हो। जिस जीवको ससारी पदार्थोमे तीव्र स्नेह रहता हो, उसे किसी प्रसंगमे भी अनन्तानुबन्धी चतुष्कमेसे किसीका भी उदय होना सम्भव है, और जब तक उन पदार्थोंमें तीव्र स्नेह हो तब तक वह जीव अवश्य परमार्थमार्गी नही होता। परमार्थ-मार्गका लक्षण यह है कि अपरमार्थका सेवन करते हुए जीव सभी प्रकारसे सुख अथवा दु:खमे कायर हुआ करे। दु:खमे कायरता कदाचित् दूसरे जीवोंको भी हो सकती है, परन्तु ससारसुखकी प्राप्तिमे भी कायरता, उस सुखकी अरुचि, नीरसता परमार्थमार्गी पुरुषको होती है।

वैसी नीरसता जीवको परमार्थज्ञानसे अथवा परमार्थज्ञानीपुरुषके निश्चयसे होना संभव है, दूसरे प्रकारसे होना सभव नही है। परमार्थज्ञानसे इस ससारको अपरमार्थरूप जानकर, फिर उसके प्रति तीव्र

क्रोध, मान, माया या लोभ कौन करेगा ? अथवा कैसे होगा ? जिस वस्तुका माहात्म्य दृष्टिमेंसे चला गया उस वस्तुके लिये अत्यंत क्लेश नहीं होता। संसारमें भ्रांतिसे जाना हुआ सुख परमार्थज्ञानसे भ्रांति ही भासित होता है, और जिसे भ्रांति भासित हुई है उसे फिर उसका माहात्म्य क्या लगेगा ? ऐसी माहात्म्य-दृष्टि परमार्थज्ञानीपुरुषके निश्चयवाले जीवको होती है, उसका कारण भी यही है। किसी ज्ञानके आवरण के कारण जीवको व्यवच्छेदक ज्ञान नही होता, तथापि उसे सामान्य ज्ञान ज्ञानीपुरुषकी श्रद्धारूप होता है। यही ज्ञान बड़के बीजकी भाँति परमार्थ-बड़का बीज है।

तीव्र परिणामसे, भवभयरहितरूपसे ज्ञानीपुरुष अथवा सम्यग्दृष्टि जीवको क्रोध, मान, माया या लोभ नही होता। जो ससारके लिये अनुबध करता है, उसकी अपेक्षा परमार्थके नामसे, भ्रांतिगत परिणामसे असद्गुरु, देव, धर्मका सेवन करता है, उस जीवको प्रायः अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं, क्योंकि ससारकी दूसरी क्रियाएँ प्रायः अनंत अनुबंध करनेवाली नही होती, मात्र अपरमार्थको परमार्थ मानकर जीव आग्रहसे उसका सेवन किया करे, यह परमार्थज्ञानी ऐसे पुरुषके प्रति, देवके प्रति, धर्मके प्रति निरादर है, ऐसा कहना प्रायः यथार्थ है। वह सद्गुरु, देव, धर्मके प्रति, असद्गुर्वादिकके आग्रहसे, मिथ्याबोधसे, आशातनासे, उपेक्षासे प्रवृत्ति करे, ऐसा संभव है। तथा उस कुसंगसे उसकी संसारवासनाका परिच्छेद न होते हुए भी वह परिच्छेद मानकर परमार्थके प्रति उपेक्षक रहता है; यही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभका आकार है।

---

४६० बंबई, द्वि० आषाढ वदी १०, सोम, १९४९

भाई कुंवरजी, श्री कलोल।

शारीरिक वेदनाको देहका धर्म मानकर और बाँधे हुए कर्मोंका फल जानकर सम्यक् प्रकारसे सहन करना योग्य है। बहुत बार शारीरिक वेदना विशेष बलवती होती है, उस समय उत्तम जीवोंको भी उपर्युक्त सम्यक्प्रकारसे स्थिर रहना कठिन होता है, तथापि हृदयमे वारंवार उस बातका विचार करते हुए और आत्माको नित्य, अछेद्य, अभेद्य, जरा, मरणादि धर्मसे रहित भाते हुए, विचार करते हुए, कितने ही प्रकारसे उस सम्यक्प्रकारका निश्चय आता है। महान पुरुषो द्वारा सहन किये हुए उपसर्ग तथा परिषह के प्रसगोंकी जीवमे स्मृति करके, उसमे उनके रहे हुए अखंड निश्चयको वारवार हृदयमे स्थिर करने योग्य जाननेसे जीवको वह सम्यक्परिणाम फलीभूत होता है, और वेदना, वेदनाके क्षयकालमे निवृत्त होनेपर, फिर वह वेदना किसी कर्मका कारण नही होती। व्याधिरहित शरीर हो, उस समयमे यदि जीवने उससे अपनी भिन्नता जानकर, उसका अनित्यादि स्वरूप जानकर, उसके प्रति मोह, ममत्वादिका त्याग किया हो, तो यह महान श्रेय है, तथापि ऐसा न हुआ हो तो किसी भी व्याधिके उत्पन्न होनेपर, वैसी भावना करते हुए जीवको प्रायः निश्चल कर्मबंधन नही होता, और महाव्याधिके उत्पत्तिकालमे तो जीव देहके ममत्वका जरूर त्याग करके ज्ञानीपुरुषके मार्गकी विचारणाके अनुसार आचरण करे, यह सम्यक् उपाय है। यद्यपि देहका वैसा ममत्व त्याग करना अथवा कम करना, यह महादुष्कर बात है, तथापि जिसका वैसा करनेका निश्चय है, वह कभी-न-कभी फलीभूत होता है।

जब तक जीवको देहादिसे आत्मकल्याणका साधन करना रहा है, तब तक उस देहमे अपारिणामिक ममताका सेवन करना योग्य है, अर्थात् यदि इस देहका कोई उपचार करना पड़े तो वह उपचार देहके ममतार्थ करनेकी इच्छासे नही, परन्तु उस देहसे ज्ञानीपुरुषके मार्गका आराधन हो सकता है, ऐसे किसी प्रकारसे उसमे रहे हुए लाभके लिये, और वैसी ही बुद्धिसे उस देहकी व्याधिके उपचारमे प्रवृत्ति करनेमें बाधा नहीं है। जो कुछ वह ममता है वह अपारिणामिक ममता है, इसलिये परिणाममे समता-

स्वरूप है; परन्तु उस देहके प्रियतार्थ, सांसारिक साधनोमे प्रधान भोगका यह हेतु है, उसका त्याग करना पड़ता है, ऐसे आर्त्तध्यानसे किसी प्रकारसे भी उस देहमे बुद्धि न करना, ऐसी ज्ञानीपुरुषके मार्गकी शिक्षा जानकर वैसे प्रसंगमे आत्मकल्याणका लक्ष्य रखना योग्य है।

सर्व प्रकारसे ज्ञानीकी शरणमे बुद्धि रखकर निर्भयताका, शोकरहितताका सेवन करनेकी शिक्षा श्री तीर्थंकर जैसोंने दी है, और हम भी यही कहते हैं। किसी भी कारणसे इस ससारमे क्लेशित होना योग्य नही है। अविचार और अज्ञान ये सर्व क्लेशके, मोहके और अशुभ गतिके कारण है। सद्‌विचार और आत्मज्ञान आत्मगतिके कारण हैं।

उसका प्रथम साक्षात् उपाय ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाका विचार करना यही प्रतीत होता है।

प्रणाम प्राप्त हो।

---

४६१ बंबई, श्रावण सुदी ४, मगल, १९४९

परमस्नेही श्री सुभाग्य,

आपके प्रतापसे यहाँ कुशलता है। इस तरफ दगा उत्पन्न होने सम्बन्धी बात सच्ची है। हरीच्छासे और आपकी कृपासे यहाँ कुशलक्षेम है।

श्री गोसलियाको हमारा प्रणाम कहियेगा। ईश्वरेच्छा होगी तो श्रावण वदी १ के आसपास यहाँसे कुछ दिनोके लिये बाहर जानेका विचार आता है। कौनसे गाँव अथवा किस तरफ जाना, यह अभी कुछ सूझा नही है। काठियावाडमे आना सूझे, ऐसा भासित नही होता।

आपको एक बार उसके लिये अवकाशके बारेमे पुछवाया था। उसका यथायोग्य उत्तर नही आया। गोसलिया बाहर जानेका कम डर रखता हो और आपको निरुपाधि जैसा अवकाश हो, तो पांच-पद्रह दिन किसी क्षेत्रमे निवृत्तिवासका विचार होता है, वह ईश्वरेच्छासे करे।

कोई जीव सामान्य मुमुक्षु होता है, उसका भी इस ससारके प्रसंगमे प्रवृत्ति करनेका वीर्य मंद पड़ जाता है, तो हमे उसके सम्बन्धमे अधिक मंदता रहे, इसमे आश्चर्य नही लगता। तथापि किसी पूर्वकालमे प्रारब्ध उपार्जन होनेका ऐसा ही प्रकार होगा कि जिससे उस प्रसगमे प्रवृत्ति करना रहा करता है, परन्तु वह कैसा रहा करता है? ऐसा रहा करता है कि जो खास संसार-सुखकी इच्छावाला हो, उसे भी वैसा करना न पुसाये। यद्यपि इस बातका खेद करना योग्य नही है, और उदासीनताका ही सेवन करते हैं, तथापि उस कारणसे एक दूसरा खेद उत्पन्न होता है, वह यह कि सत्सग और निवृत्तिकी अप्रधानता रहा करती है और जिसमें परम रुचि है, ऐसे आत्मज्ञान और आत्मवार्ताको किसी भी प्रकारकी इच्छाके बिना क्वचित् त्याग जैसे रखने पड़ते हैं। आत्मज्ञान वेदक होनेसे उद्विग्न नही करता, परन्तु आत्मवार्ताका वियोग उद्विग्न करता है। आप भी चित्तमे इसी कारणसे उद्विग्न होते है। जिन्हे बहुत इच्छा है ऐसे कई मुमुक्षुभाई भी उस कारणसे विरहका अनुभव करते है। आप दोनो ईश्वरेच्छा क्या समझते हैं? यह विचारियेगा। और यदि किसी प्रकारसे श्रावण वदीका योग हो तो वह भी कीजियेगा।

ससारकी ज्वाला देखकर चिता न कीजियेगा। चितामे समता रहे तो वह आत्मचितन जैसा है। कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा। यही विनती। प्रणाम।

---

४६२ बम्बई, श्रावण सुदी ५, १९४९

जौहरी लोग ऐसा मानते है कि एक साधारण सुपारी जैसा सुन्दर रंगका, पाणीदार और घाटदार माणिक (प्रत्यक्ष) दोषरहित हो तो उसकी करोड़ों रुपये कीमत गिनें तो भी वह कम है। यदि विचार करे

तो इसमें मात्र आँखकी तृप्ति, और मनकी इच्छा तथा कल्पित मान्यताके सिवाय दूसरा कुछ नही है। तथापि इसमे केवल आँखकी तृप्तिरूप करामातके लिये और दुर्लभ प्राप्तिके कारण जीव उसका अद्भुत माहात्म्य बताते हैं, और जिसमे आत्मा स्थिर रहता है, ऐसा जो अनादि दुर्लभ सत्संगरूप साधन है, उसमे कुछ आग्रह-रुचि नही है, यह आश्चर्य विचारणीय है।

---

४६३ बम्बई, श्रावण सुदी १५, रवि, १९४९

परमस्नेही श्री सोभाग,

यहाँ कुशलक्षेम है। यहाँसे अब थोडे दिनोंमे मुक्त हुआ जाये तो ठीक, ऐसा मनमे रहता है। परन्तु कहाँ जाना यह अभी तक मनमे आ नही सका। आपका और गोसलिया आदिका आग्रह सायलाकी तरफ आनेमे रहता है, तो वैसा करनेमे कुछ दु ख नही है, तथापि आत्माको यह बात अभी नही सूझती।

प्रायः आत्मामे यही रहा करता है कि जब तक इस व्यापारप्रसंगमे कामकाज करना रहा करे तब तक धर्म कथादिके प्रसगमे और धर्मके जानकारके रूपमे किसी प्रकारसे प्रगटरूपमे न आया जाये, यह यथायोग्य प्रकार है। व्यापार-प्रसगमे रहते हुए भी जिसका भक्तिभाव रहा करता है, उसका प्रसंग भी ऐसे प्रकारमे करना योग्य है कि जहाँ आत्मामे जो उपर्युक्त प्रकार रहा करता है, उस प्रकारको बाधा न हो।

जिनेन्द्रके कहे हुए मेरु आदिके सम्बन्धमे तथा अंग्रेजोंकी कही हुई पृथिवी आदिके सम्बन्धमे समागम-प्रसगमे बातचीत करियेगा।

हमारा मन बहुत उदास रहता है और प्रतिबन्ध इस प्रकारका रहता है कि उस उदासीको एकदम गुप्त जैसी करके असह्य ऐसे व्यापारादि प्रसंगमे उपाधियोगका वेदन करना पड़ता है, यद्यपि वास्तविकरूपसे तो आत्मा समाधिप्रत्ययी है।

लि०—प्रणाम।

---

४६४ बम्बई, श्रावण वदी ४, बुध, १९४९

थोडे समयके लिये बम्बईमे प्रवृत्तिसे अवकाश लेनेका विचार सूझ आनेसे दो-एक जगह लिखनेमे आया था, परन्तु यह विचार तो थोड़े समयके लिये किसी निवृत्तिक्षेत्रमे स्थिति करनेका था। ववाणिया या काठियावाडकी तरफकी स्थितिका नहीं था। अभी वह विचार निश्चित अवस्थामे नही आया है। प्रायः इस पखवारेमे और गुजरातकी तरफके किसी एक निवृत्तिक्षेत्रके सम्बन्धमे विचार आना सम्भव है। विचारके व्यवस्थित हो जानेपर लिखकर सूचित करूँगा। यही विनती।

सबको प्रणाम प्राप्त हो।

---

४६५ बम्बई, श्रावण वदी ५, १९४९

ॐ

परमस्नेही श्री सोभाग,

यहाँ कुशलक्षेम समाधि है। थोड़े दिनके लिये मुक्त होनेका जो विचार सूझा था, वह अभी उसी स्वरूपमे है। उससे विशेष परिणामको प्राप्त नहीं हुआ। अर्थात् कब यहाँसे छूटना और किस क्षेत्रमे जाकर स्थिति करना, यह विचार अभी तक सूझ नही सका। विचारके परिणामकी स्वाभाविक परिणति प्रायः रहा करती है। उसे विशेषतासे प्रेरकता नही हो सकती।

गत वर्ष मगसिर सुदी छठको यहाँ आना हुआ था, तबसे आज दिवसपर्यंत अनेक प्रकारके उपाधि-योगका वेदन करना हुआ है और यदि भगवत्कृपा न हो तो इस कालमे वैसे उपाधियोगमे धड़के ऊपर सिरका रहना कठिन हो जाये, ऐसा होते होते अनेक बार देखा है, और जिसने आत्मस्वरूप जाना है ऐसे पुरुषका और इस ससारका मेल न खाये, ऐसा अधिक निश्चय हुआ है। ज्ञानीपुरुष भी अत्यन्त निश्चयात्मक उपयोगसे वर्तन करते करते भी क्वचित् मद परिणामी हो जाये, ऐसी इस ससारकी रचना है। यद्यपि आत्मस्वरूप सम्बन्धी बोधका नाश तो नही होता, तथापि आत्मस्वरूपके बोधके विशेष परिणामके प्रति एक प्रकारका आवरण होनेरूप उपाधियोग होता है। हम तो उस उपाधियोगमे अभी त्रास पाते रहते है, और उस उस योगमे हृदयमे और मुखमे मध्यमा वाचासे प्रभुका नाम रखकर मुश्किलसे कुछ प्रवृत्ति करके स्थिर रह सकते है। सम्यक्त्वमे अर्थात् बोधमे भ्राति प्रायः नही होती, परन्तु बोधके विशेष परिणामका अनवकाश होता है, ऐसा तो स्पष्ट दिखायी देता है। और उससे आत्मा अनेक बार आकुलता-व्याकुलताको पाकर त्यागका सेवन करता था; तथापि उपार्जित कर्मकी स्थितिका समपरिणामसे, अदीनतासे, अव्याकुलतासे वेदन करना, यही ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग है, और उसीका सेवन करना है, ऐसी स्मृति होकर स्थिरता रहती आयी है, अर्थात् आकुलादि भावकी होती हुई विशेष घबराहट समाप्त होती थी।

जब तक दिन भर निवृत्तिके योगमे समय न बीते तब तक सुख न रहे, ऐसी हमारी स्थिति है। "आत्मा आत्मा," उसका विचार, ज्ञानीपुरुषकी स्मृति, उनके माहात्म्यकी कथावार्ता, उनके प्रति अत्यन्त भक्ति, उनके अनवकाश आत्मचारित्रके प्रति मोह, यह हमे अभी आकर्षित किया करता है, और उस कालकी हम रटन किया करते है।

पूर्वकालमे जो जो ज्ञानीपुरुषके प्रसग व्यतीत हुए हैं उस कालको धन्य है, उस क्षेत्रको अत्यन्त धन्य है, उस श्रवणको, श्रवणके कर्त्ताको, और उसमे भक्तिभाववाले जीवोको त्रिकाल दडवत् है। उस आत्मस्वरूपमे भक्ति, चिन्तन, आत्मव्याख्याता ज्ञानीपुरुषकी वाणी अथवा ज्ञानीके शास्त्र या मार्गानुसारी ज्ञानीपुरुषके सिद्धात, उसकी अपूर्वताको अतिभक्तिसे प्रणाम करते है। अखड आत्मधुनके एकतार प्रवाह-पूर्वक वह बात हमे अद्यापि भजनेकी अत्यन्त आतुरता रहा करती है, और दूसरी ओरसे ऐसे क्षेत्र, ऐसा लोकप्रवाह, ऐसा उपाधियोग और दूसरे दूसरे वैसे वैसे प्रकार देखकर विचार मूर्च्छावत् होता है। ईश्वरेच्छा!

प्रणाम प्राप्त हो।

---

४६६ पेटलाद, भादो सुदी ६, १९४९

ॐ

१ जिससे धर्म माँगे, उसने धर्म प्राप्त किया है या नही उसकी पूर्ण चौकसी करे, इस वाक्यका स्थिर चित्तसे विचार करें।

२. जिससे धर्म माँगे, वैसे पूर्ण ज्ञानीको पहचान जीवको हुई हो, तो वैसे ज्ञानियोका सत्संग करे और सत्संग हो, उसे पूर्ण पुण्योदय समझे। उस सत्संगमे वैसे परमज्ञानीके द्वारा उपदिष्ट शिक्षाबोधको ग्रहण करे कि जिससे कदाग्रह, मतमतातर, विश्वासघात और असत् वचन इत्यादिका तिरस्कार हो; अर्थात् उन्हे ग्रहण नही करे। मतका आग्रह छोड़ दे। आत्माका धर्म आत्मामे है। आत्मत्वप्राप्तपुरुषके द्वारा उपदिष्ट धर्म आत्मतामार्गरूप होता है। बाकीके मार्गके मतमें नही पड़े।

३ इतना होनेपर भी यदि जीवसे सत्संग होनेके बाद कदाग्रह, मतमतांतरादि दोष छोड़े न जा सकते हों तो फिर उसे छूटनेकी आशा नहीं करनी चाहिये।

हम स्वयं किसीको आदेशबात अर्थात् 'ऐसा करना' यों नहीं कहते। वारंवार पूछें तो भी यह स्मृतिमे होता है। हमारे संगमे आये हुए कई जीवोंको अभी तक हमने ऐसा बताया नही है कि ऐसे वर्तन करें या ऐसा करें। मात्र शिक्षाबोधके रूपमे बताया होगा।

४ हमारा उदय ऐसा है कि ऐसी उपदेशबात करते हुए वाणी पीछे खिंच जाती है। साधारण प्रश्न पूछे तो उसमे वाणी प्रकाश करती है, और ऐसी उपदेशबातमें तो वाणी पीछे खिंच जाती है, इससे हम ऐसा जानते हैं कि अभी वैसा उदय नही है।

५ पूर्वकालमे हुए अनन्त ज्ञानी यद्यपि महाज्ञानी हो गये हैं, परन्तु उससे जीवका कुछ दोष नही जाता; अर्थात् इस समय जीवमे मान हो तो पूर्वकालमे हुए ज्ञानी कहने नही आयेंगे; परन्तु हाल जो प्रत्यक्ष ज्ञानी विराजमान हो वे ही दोषको बतलाकर निकलवा सकते है। जैसे दूरके क्षीरसमुद्रसे यहाँके तृषातुरकी तृषा शांत नही होती, परन्तु एक मीठे पानीका कलश यहाँ हो तो उससे तृषा शात होती है।

६. जीव अपनी कल्पनासे मान लें कि ध्यानसे कल्याण होता है या समाधिसे या योगसे या ऐसे ऐसे प्रकारसे, परन्तु उससे जीवका कुछ कल्याण नही होता। जीवका कल्याण होना तो ज्ञानीपुरुषके लक्ष्यमे होता है, और उसे परम सत्संगसे समझा जा सकता है, इसलिये वैसे विकल्प करना छोड देना चाहिये।

७ जीवको मुख्यमे मुख्य इस बातपर विशेष ध्यान देना योग्य है कि सत्सग हुआ हो तो सत्संगमे सुना हुआ शिक्षाबोध परिणत होकर जीवमे उत्पन्न हुए कदाग्रहादि दोष तो सहजमे ही छूट जाने चाहिये, कि जिससे दूसरे जीवोको सत्संगका अवर्णवाद बोलनेका मौका न मिले।

८ ज्ञानीपुरुषोने कहना बाकी नही रखा; परन्तु जीवने करना बाकी रखा है। ऐसा योगानुयोग किसी समय ही उदयमे आता है। वैसी वाछासे रहित महात्माकी भक्ति तो सर्वथा कल्याणकारक ही सिद्ध होती है, परन्तु किसी समय महात्माके प्रति वैसी वांछा हुई और वैसी प्रवृत्ति हो चुकी, तो भी वही वाछा यदि असत्पुरुषके प्रति की हो और जो फल होना है उसकी अपेक्षा इसका फल भिन्न होना संभव है। सत्पुरुषके प्रति वैसे कालमे यदि निःशंकता रही हो, तो समय आनेपर उनके पाससे सन्मार्गकी प्राप्ति हो सकती है। एक प्रकारसे हमे स्वय इसके लिये बहुत शोक रहता था, परन्तु उसके कल्याणका विचार करके शोकका विस्मरण किया है।

९. मन, वचन, कायाके योगमेसे जिसे केवलीस्वरूप भाव होनेसे अहंभाव मिट गया है, ऐसे जो ज्ञानीपुरुष, उसके परम उपशमरूप चरणारविंदको नमस्कार करके, वारंवार उसका चिन्तन करके आप उसी मार्गमे प्रवृत्तिकी इच्छा करते रहे, ऐसा उपदेश देकर यह पत्र पूरा करता हूँ।

विपरीत कालमे एकाकी होनेसे उदास !!!

---

४६७ खंभात, भादो, १९४९

ॐ

अनादिकालसे विपर्यय बुद्धि होनेमे, और ज्ञानीपुरुषकी कितनी ही चेष्टाएँ अज्ञानीपुरुष जैसी दिखायी देनेमे ज्ञानीपुरुषके विषयमे विभ्रम बुद्धि हो आती है, अथवा जीवको ज्ञानीपुरुषके प्रति उस उस चेष्टाका विकल्प आया करता है। यदि दूसरी दृष्टियोसे ज्ञानीपुरुषका यथार्थ निश्चय हुआ हो तो किसी विकल्पको उत्पन्न करनेवाली ऐसी ज्ञानीकी उन्मत्तादि भाववाली चेष्टा प्रत्यक्ष देखनेमे आये तो भी दूसरी दृष्टिके निश्चयके बलके कारण वह चेष्टा अविकल्परूप होती है, अथवा ज्ञानीपुरुषकी चेष्टाकी कोई

अगम्यता ही ऐसी है कि अधूरी अवस्थासे अथवा अधूरे निश्चयसे जीवके लिये विभ्रम और विकल्पका कारण होती है। परन्तु वास्तविक रूपमे तथा पूरा निश्चय होनेपर वह विभ्रम और विकल्प उत्पन्न होने योग्य नही है, इसलिये इस जीवको ज्ञानीपुरुषके प्रति अधूरा निश्चय है, यही इस जीवका दोष है।

ज्ञानीपुरुष सभो प्रकारसे चेष्टारूपसे अज्ञानीपुरुषके समान नही होते, और यदि हो तो फिर ज्ञानी नही है ऐसा निश्चय करना वह यथार्थ कारण है, तथापि ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषमे किन्ही ऐसे विलक्षण कारणोंका भेद है, कि जिससे ज्ञानी और अज्ञानीका किसी प्रकारसे एक रूप नही होता। अज्ञानी होनेपर भी जो जीव अपनेको ज्ञानीस्वरूप मनवाता हो, वह उस विलक्षणताके द्वारा निश्चयमे आता है। इसलिये ज्ञानीपुरुषकी जो विलक्षणता है, उसका निश्चय प्रथम विचारणीय है, और यदि वैसे विलक्षण कारणका स्वरूप जानकर ज्ञानीका निश्चय होता है तो फिर अज्ञानी जैसी क्वचित् जो जो चेष्टा ज्ञानीपुरुषकी देखनेमे आती है, उसके विषयमे निर्विकल्पता प्राप्त होती है, अर्थात् विकल्प नही होता, प्रत्युत ज्ञानी-पुरुषकी वह चेष्टा उसके लिये विशेष भक्ति और स्नेहका कारण होती है।

प्रत्येक जीव अर्थात् ज्ञानी, अज्ञानी यदि सभी अवस्थाओमे सरीखे ही हो तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी यह नाम मात्र होता है, परन्तु वैसा होना योग्य नही है। ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुषमे अवश्य विलक्षणता होना योग्य है। जो विलक्षणता यथार्थ निश्चय होनेपर जीवको समझनेमे आती है, जिसका कुछ स्वरूप यहाँ बता देना योग्य है। मुमुक्षु जीवको ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुषकी विलक्षणता उनकी अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषकी दशा द्वारा समझमे आती है। उस दशाकी विलक्षणता जिस प्रकारसे होती है, वह बताने योग्य है। एक तो मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा, ऐसे दो भाग जीवकी दशाके हो सकते है।

[अपूर्ण]

---

४६८ बबई, भाद्रपद, १९४९

अज्ञानदशा रहती हो और जीवने भ्रमादि कारणसे उस दशाको ज्ञानदशा मान लिया हो, तब देहको उस उस प्रकारके दु ख होनेके प्रसगोमे अथवा वैसे अन्य कारणोमे जीव देहकी साताका सेवन करनेकी इच्छा करता है, और वैसा वर्तन करता है। सच्ची ज्ञानदशा हो तो उसे देहकी दु खप्राप्तिके कारणोंमें विषमता नही होती, और उस दु खको दूर करनेकी इतनी अधिक परवा भी नही होती।

---

४६९ बबई, भादो वदी ३०, १९४९

जैसी दृष्टि इस आत्माके प्रति है, वैसी दृष्टि जगतके सर्व आत्माओके प्रति है। जैसा स्नेह इस आत्माके प्रति है, वैसा स्नेह सर्व आत्माओके प्रति है। जैसी इस आत्माकी सहजानन्द स्थिति चाहते है, वैसी ही सर्व आत्माओकी चाहते है। जो जो इस आत्माके लिये चाहते है, वह सब सर्व आत्माओके लिये चाहते हैं। जैसा इस देहके प्रति भाव रखते है, वैसा ही सर्व देहोके प्रति भाव रखते है। जैसा सर्व देहोके प्रति बर्ताव करनेका प्रकार रखते हैं, वैसा ही प्रकार इस देहके प्रति रहता है। इस देहमे विशेष बुद्धि और दूसरी देहोंमे विषम बुद्धि प्रायः कभी भी नहीं हो सकती। जिन स्त्री आदिका आत्मीयतासे सम्बन्ध गिना जाता है, उन स्त्री आदिके प्रति जो कुछ स्नेहादिक है, अथवा समता है, वैसा ही प्राय सर्वके प्रति रहता है। आत्मरूपताके कार्यमे मात्र प्रवृत्ति होनेसे जगतके सर्व पदार्थोंके प्रति जैसी उदासीनता रहती है, वैसी आत्मीय गिने जानेवाले स्त्री आदि पदार्थोंके प्रति रहती है।

प्रारब्धके प्रबधसे स्त्री आदिके प्रति जो कुछ उदय हो उससे विशेष वर्तना प्रायः आत्मासे नही होती। कदाचित् करुणासे कुछ वैसी विशेष वर्तना होती हो तो वैसी उसी क्षणमे वैसे उदयप्रतिबद्ध

आत्माओके प्रति रहती है, अथवा सर्व जगतके प्रति रहती है। किसीके प्रति कुछ विशेष नही करना अथवा न्यून नही करना, और यदि करना हो तो वैसा एकसा वर्तन सर्व जगतके प्रति करना; ऐसा ज्ञान आत्माको बहुत समयसे दृढ है, निश्चयरूप है। किसी स्थलमे न्यूनता, विशेषता, अथवा कुछ वैसी सम-विषम चेष्टासे वर्तन दीखता हो तो जरूर वह आत्मस्थितिसे, आत्मबुद्धिसे नही होता, ऐसा लगता है। पूर्वप्रबन्धित प्रारब्धके योगसे कुछ वैसा उदयभावरूपसे होता हो तो उसमे भी समता है। किसीके प्रति न्यूनता या अधिकता कुछ भी आत्माको रुचिकर नही है, वहाँ फिर अन्य अवस्थाका विकल्प होना योग्य नही है, यह आपको क्या कहे ? संक्षेपमे लिखा है।

सबसे अभिन्नभावना है; जिसकी जितनी योग्यता रहती है, उसके प्रति अभिन्नभावकी उतनी स्फूर्ति होती है, क्वचित् करुणाबुद्धिसे विशेष स्फूर्ति होती है, परन्तु विषमतासे अथवा विषय, परिग्रहादि कारणप्रत्ययसे उसके प्रति वर्तन करनेका आत्मामे कोई संकल्प प्रतीत नही होता। अविकल्परूप स्थिति है। विशेष क्या कहूँ ? हमे कुछ हमारा नही है या दूसरेका नही है या दूसरा नहीं है, जैसे है वैसे है। आत्माकी जैसी स्थिति है, वैसी स्थिति है। सर्व प्रकारकी वर्तना निष्कपटतासे उदयकी है, सम-विषमता नही है। सहजानन्द स्थिति है। जहाँ वैसे हो वहाँ अन्य पदार्थमे आसक्त बुद्धि योग्य नही, नही होती।

(० ० ० ०)

---

४७० बंबई, आसोज सुदी १, मंगल, १९४९

'ज्ञानीपुरुषके प्रति अभिन्नबुद्धि हो, यह कल्याणका महान निश्चय है', ऐसा सर्व महात्मा पुरुषोंका अभिप्राय प्रतीत होता है। आप तथा वे, जिनकी देह अभी अन्य वेदसे रहती है, आप दोनो ही ज्ञानीपुरुषके प्रति जिस प्रकार विशेष निर्मलतासे अभिन्नता आये उस प्रकारकी बात प्रसंगोपात्त करें, यह योग्य है; और परस्परमे अर्थात् उनके और आपके बीच निर्मल प्रेम रहे वैसी प्रवृत्ति करनेमे बाधा नही है, परन्तु वह प्रेम जात्यन्तर होना योग्य है। जैसा स्त्री पुरुषका कामादि कारणसे प्रेम होता है, वैसा प्रेम नही, परन्तु ज्ञानीपुरुषके प्रति दोनोका भक्तिराग है, ऐसा दोनोका एक ही गुरुके प्रति शिष्यभाव देखकर, और निरन्तरका सत्सग रहा करता है यह जानकर, भाई जैसी बुद्धिसे, वैसे प्रेमसे रहा जाये, यह बात विशेष योग्य है। ज्ञानीपुरुषके प्रति भिन्नभावको सर्वथा दूर करना योग्य है।

श्रीमद्भागवतके बदले अभी योगवासिष्ठादि पढना योग्य है।

इस पत्रका जो अर्थ आपकी समझमे आये वह लिखिये।

---

४७१ बंबई, आसोज सुदी ५, शनि, १९४९

आत्माको समाधि होनेके लिये, आत्मस्वरूपमे स्थितिके लिये सुधारस कि जो मुखमें रहता है, वह एक अपूर्व आधार है, इसलिये उसे किसी प्रकारसे बीजज्ञान कहे तो कोई हानि नही है। मात्र इतना भेद है कि वह ज्ञान, ज्ञानीपुरुष कि जो उससे आगे है, आत्मा है, ऐसा जानकार होना चाहिये।

द्रव्यसे द्रव्य नहीं मिलता, इसे जाननेवालेको कोई कर्तव्य नही कहा जा सकता, परन्तु वह कब ? स्वद्रव्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे यथावस्थित समझमें आनेपर स्वद्रव्य स्वरूपपरिणामसे परिणमित होकर अन्य द्रव्यके प्रति सर्वथा उदास होकर, कृतकृत्य होनेपर कुछ कर्तव्य नही रहता, ऐसा योग्य है, और ऐसा ही है।

---

४७२ बम्बई, आसोज सुदी ९, बुध, १९४९

परमस्नेही श्री सुभाग्य तथा श्री डुगर,
श्री सायला ।

आज श्री सुभाग्यका लिखा हुआ एक पत्र मिला है ।

खुले पत्रमे[1] सुधारस सम्बन्धी प्रायः स्पष्ट लिखा था, सो जानबूझकर लिखा था । ऐसा लिखनेमे विपरिणाम आनेवाला नही है, यह समझकर लिखा था । यदि कुछ कुछ इस बातके चर्चक जीवके पढनेमे यह बात आये तो केवल उससे निर्धार हो जाये, यह संभव नही है, परन्तु यह संभव है कि जिस पुरुषने ये वाक्य लिखे है, वह पुरुष किसी अपूर्व मार्गका ज्ञाता है, और उससे इस बातका निराकरण होना मुख्यतः सभव है, ऐसा जानकर उसकी उसके प्रति कुछ भी भावना उत्पन्न होती है । कदाचित् ऐसा माने कि उसे इस विषयकी कुछ कुछ सज्ञा हुई हो, और यह स्पष्ट लेख पढ़नेसे उसे विशेष सज्ञा होकर अपने आप वह निर्धारपर आ जाये, परन्तु यह निर्धार ऐसे नही होता । उससे उसका यथार्थ स्थल जानना नही हो सकता, और इस कारणसे जीवको विक्षेपकी उत्पत्ति होती है । कि यह बात किसी प्रकारसे जाननेमे आये तो अच्छा । तो उस प्रकारसे भी जिस पुरुषने लिखा है उसके प्रति उसे भावनाकी उत्पत्ति होना सभव है ।

तीसरा प्रकार इस तरह समझना योग्य है कि सत्पुरुषकी वाणी स्पष्टतासे लिखी गयी हो तो भी उसका परमार्थ, जिसे सत्पुरुषका सत्सग आज्ञाकारितासे नहीं हुआ उसे समझमे आना दुष्कर होता है, ऐसे उस पढनेवालेको कभी भी स्पष्ट जाननेका कारण होता है । यद्यपि हमने तो अति स्पष्ट नही लिखा था, तो भी उन्हे ऐसा कुछ सभव होता है । परन्तु हम तो ऐसा मानते है कि अति स्पष्ट लिखा हो तो भी प्रायः समझमे नही आता, अथवा विपरीत समझमे आता है और परिणाममे फिर उसे विक्षेप उत्पन्न होकर सन्मार्गमे भावना होना सभव होता है । यह बात पत्रमे हमने इच्छापूर्वक स्पष्ट लिखी थी ।

सहज स्वभावसे भी न विचार किया हुआ प्रायः परमार्थके सम्बन्धमे नही लिखा जाता, अथवा नहीं कहा जाता कि जो अपरमार्थरूप परिणामको प्राप्त करे ।

उस ज्ञानके विषयमे लिखनेका जो हमारा दूसरा आशय है, उसे विशेषतासे यहाँ लिखा है । (१) जिस ज्ञानीपुरुषने स्पष्ट आत्माका, किसी अपूर्व लक्षणसे, गुणसे और वेदनरूपसे अनुभव किया है, और जिसके आत्माका वही परिणाम हुआ है, उस ज्ञानीपुरुषने यदि उस सुधारस सम्बन्धी ज्ञान दिया हो तो उसका परिणाम परमार्थ-परमार्थस्वरूप है । (२) और जो पुरुष उस सुधारसको ही आत्मा जानता है, उससे उस ज्ञानकी प्राप्ति हुई हो तो वह व्यवहार-परमार्थस्वरूप है । (३) वह ज्ञान कदाचित् परमार्थ-परमार्थस्वरूप ज्ञानीने न दिया हो, परन्तु उस ज्ञानीपुरुषने सन्मार्गके सन्मुख आकर्षित करे ऐसा जो जीवको उपदेश किया हो वह जीवको रुचिकर लगा हो, उसका ज्ञान परमार्थ-व्यवहारस्वरूप है । (४) और इसके सिवाय शास्त्रादिका ज्ञाता सामान्य प्रकारसे मार्गानुसारी जैसी उपदेशबात करे, उसकी श्रद्धा की जाय, वह व्यवहार व्यवहारस्वरूप है । सुगमतासे समझनेके लिये ये चार प्रकार होते हैं । परमार्थ-परमार्थस्वरूप मोक्षका निकट उपाय है । इसके अनंतर परमार्थ-व्यवहारस्वरूप परंपरासम्बन्धसे मोक्षका उपाय है । व्यवहार-परमार्थस्वरूप बहुत कालमे किसी प्रकारसे भी मोक्षके साधनका कारणभूत होनेका उपाय है । व्यवहार-व्यवहारस्वरूपका फल आत्मप्रत्ययी सभव नही होता । यह बात फिर किसी प्रसंगसे विशेषरूपसे लिखेंगे, तब विशेषरूपसे समझमे आयेगी, परन्तु इतनी सक्षेपतासे विशेष समझमे न आये तो घबराइयेगा नही ।

1. देखें आक ४७१

लक्षणसे, गुणसे और वेदनसे जिसे आत्मस्वरूप ज्ञात हुआ है, उसके लिये ध्यानका यह एक उपाय है कि जिससे आत्मप्रदेशकी स्थिरता होती है, और परिणाम भी स्थिर होता है। लक्षणसे, गुणसे और वेदनसे जिसने आत्मस्वरूप नही जाना, ऐसे मुमुक्षुको यदि ज्ञानीपुरुषका बताया हुआ यह ज्ञान हो तो उसे अनुक्रमसे लक्षणादिका बोध सुगमतासे होता है। मुखरस और उसका उत्पत्तिक्षेत्र यह कोई अपूर्व कारणरूप है, यह आप निश्चयरूपसे समझिये। ज्ञानीपुरुषके उसके बादके मार्गका अनादर न हो, ऐसा आपको प्रसग मिला है। इसलिये आपको वैसा निश्चय रखनेका कहा है। यदि उसके बादके मार्गका अनादर होता हो और तद्विषयक किसीको अपूर्व कारणरूपसे निश्चय हुआ हो तो किसी प्रकारसे उस निश्चयको बदलना ही उपायरूप होता है, ऐसा हमारे आत्मामें लक्ष्य रहता है।

कोई अज्ञानतासे पवनकी स्थिरता करता है, परन्तु श्वासोच्छ्वासके निरोधसे उसे कल्याणका हेतु नही होता; और कोई ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है, तो उसे उस कारणसे जो स्थिरता आती है वह आत्माको प्रगट करनेका हेतु होती है। श्वासोच्छ्वासकी स्थिरता होना, यह एक प्रकारसे बहुत कठिन बात है। उसका सुगम उपाय मुखरस एकतार करनेसे होता है, इसलिये वह विशेष स्थिरताका साधन है। परन्तु यह सुधारस-स्थिरता अज्ञानतासे फलीभूत नही होती अर्थात् कल्याणरूप नहीं होती; इसी तरह उस बीजज्ञानका ध्यान भी अज्ञानतासे कल्याणरूप नहीं होता, इतना विशेष निश्चय हमे भासित हुआ करता है। जिसने वेदनरूपसे आत्माको जाना है, उस ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे वह कल्याणरूप होता है, और आत्माके प्रगट होनेका अत्यन्त सुगम उपाय होता है।

एक दूसरी अपूर्व बात भी यहाँ लिखनी सूझती है। आत्मा है वह चन्दनवृक्ष है। उसके समीप जो-जो वस्तुएँ विशेषतासे रहती है वे वे वस्तुएँ उसकी सुगन्ध (!) का विशेष बोध करती हैं। जो वृक्ष चन्दनसे विशेष समीप होता है उस वृक्षमे चन्दनकी गंध विशेषरूपसे स्फुरित होती है। जैसे जैसे दूरके वृक्ष होते है वैसे वैसे सुगध मंद परिणामवाली होती जाती है, और अमुक मर्यादाके पश्चात् असुगधरूप वृक्षोंका वन आता है, अर्थात् फिर चन्दन उस सुगंध परिणामको नही करता। वैसे जब तक यह आत्मा विभाव परिणामका सेवन करता है, तब तक उसे हम चन्दनवृक्ष कहते है, और सबसे उसका अमुक अमुक सूक्ष्म वस्तुका सम्बन्ध है, उसमे उसकी छाया (!) रूप सुगन्ध विशेष पड़ती है, जिसका ध्यान ज्ञानीकी आज्ञासे होनेसे आत्मा प्रगट होता है। पवनकी अपेक्षा भी सुधारसमे आत्मा विशेष समीप रहता है, इसलिये उस आत्माकी विशेष छाया-सुगन्ध (!) का ध्यान करने योग्य उपाय है। यह भी विशेषरूपसे समझने योग्य है।

प्रणाम पहुँचे।

---

४७३ बम्बई, आसोज वदी ३, १९४९

ॐ

परमस्नेही श्री सुभाग्य,

श्री मोरबी।

आज एक पत्र पहुँचा है।

इतना तो हमे बराबर ध्यान है कि व्याकुलताके समयमें प्रायः चित्त कुछ व्यापारादिका एकके पीछे एक विचार किया करता है, और व्याकुलता दूर करनेकी जल्दीमें, योग्य होता है या नहीं, इसकी सहज सावधानी कदाचित् मुमुक्षुजीवको भी कम हो जाती है; परन्तु योग्य बात तो यह है कि वैसे प्रसंगमे कुछ थोड़ा समय चाहे जैसे करके कामकाजमें मौन जैसा, निर्विकल्प जैसा कर डालना।

अभी आपको जो व्याकुलता रहती है वह ज्ञात है, परंतु उसे सहन किये बिना उपाय नही है। ऐसा लगता है कि उसे बहुत लम्बे कालकी स्थितिकी समझ लेना योग्य नही है, और यदि वह धीरजके बिना सहन करनेमे आती है, तो वह अल्प कालकी हो तो भी कभी विशेष कालकी भी हो जाती है। इसलिये अभी तो यथासंभव 'ईश्वरेच्छा' और 'यथायोग्य' समझकर मौन रहना योग्य है। मौनका अर्थ ऐसा करना कि अंतरमे अमुक अमुक व्यापार करनेके सम्बन्धमे विकल्प, उताप न किया करना।

अभी तो उदयके अनुसार प्रवृत्ति करना सुगम मार्ग है। दोहा ध्यानमे है। संसारी प्रसंगमें एक हमारे सिवाय दूसरे सत्संगोके प्रसंगमें कम आना हो, ऐसी इच्छा इस कालमे रखने जैसी है। विशेष आपका पत्र आनेसे। यह पत्र व्यावहारिक पद्धतिमें लिखा है, तथापि विचार करने योग्य है। बोधज्ञान ध्यानमें है।

प्रणाम प्राप्त हो।

---

४७४ बंबई, आसोज वदी, १९४९

ॐ

[1]आतमभावना भावतां, जीव लहे केवलज्ञान रे।

---

४७५ बंबई, आसोज वदी १२, रवि, १९४९

आपके दो पत्र 'समयसार'के कवित्तसहित मिले है। निराकार-साकार-चेतना विषयक कवित्तका 'मुखरस'से कुछ संबंध किया जा सके, ऐसे अर्थवाला नही है, जिसे फिर बतायेगे।

"शुद्धता विचारै ध्यावै, शुद्धतामे केलि करै।
शुद्धतामें स्थिर व्है, अमृतधारा बरसै॥"

इस कवित्तमे 'सुधारस' का जो माहात्म्य कहा है, वह केवल एक विस्रसा (सर्व प्रकारके अन्य परिणामसे रहित असख्यातप्रदेशी आत्मद्रव्य) परिणामसे स्वरूपस्थ ऐसे अमृतरूप आत्माका वर्णन है। उसका यथार्थ परमार्थ हृदयगत रखा है, जो अनुक्रमसे समझमे आयेगा।

---

४७६ बबई, आश्विन, १९४९

जो ईश्वरेच्छा होगी वह होगा। मनुष्यके लिये तो मात्र प्रयत्न करना सृष्ट है; और इसीसे जो अपने प्रारब्धमे होगा वह मिल जायेगा। इसलिये मनमे संकल्प-विकल्प नही करना।

निष्काम यथायोग्य।

---

१. अर्थात् आत्मभावना भाते भाते जीव केवलज्ञान पा लेता है।

२७ वाँ वर्ष

४७७ बम्बई, कार्तिक सुदी ९, शुक्र, १९५०

'सिरपर राजा है,' इतने वाक्यके ऊहापोह (विचार) से गर्भश्रीमंत श्री शालिभद्रने उस समयसे स्त्री आदिके परिचयके त्याग करनेका श्रीगणेश कर दिया।

'प्रति दिन एक एक स्त्रीका त्याग करके अनुक्रमसे बत्तीस स्त्रियोका त्याग करना चाहते है, इस प्रकार श्री शालिभद्र बत्तीस दिन तक कालपारधीका विश्वास करते है, यह महान आश्चर्य है।' ऐसे स्वाभाविक वैराग्यवचन श्री धनाभद्रके मुखसे उद्भवको प्राप्त हुए।

'आप जो ऐसा कहते है, यद्यपि वह मुझे मान्य है, तथापि आपके लिये भी उस प्रकारसे त्याग करना दुष्कर है,' ऐसे सहज वचन शालिभद्रकी बहन और धनाभद्रकी पत्नीने धनाभद्रसे कहे। जिसे सुनकर चित्तमे किसी प्रकारका क्लेशपरिणाम लाये बिना श्री धनाभद्रने उसी क्षण संसारका त्याग कर दिया और श्री शालिभद्रसे कहा कि 'आप किस विचारसे कालका विश्वास करते हैं ?' उसे सुनकर, जिसका चित्त आत्मरूप है ऐसा वह शालिभद्र और धनाभद्र 'मानो किसी दिन कुछ अपना किया ही नहीं', इस प्रकारसे गृहादिका त्याग करके चले गये।

ऐसे सत्पुरुषके वैराग्यको सुनकर भी यह जीव बहुत वर्षोंके अभ्याससे कालका विश्वास करता आया है, वह कौनसे बलसे करता होगा ? यह विचारकर देखने योग्य है।

---

४७८ बंबई, कार्तिक सुदी १३, १९५०

उपाधिके योगसे उदयाधीनरूपसे बाह्य चित्तकी क्वचित् अव्यवस्थाके कारण आप मुमुक्षुओंके प्रति जैसा वर्तन करना चाहिये वैसा वर्तन हम नहीं कर सकते। यह क्षमा योग्य है, अवश्य क्षमा योग्य है।

यही नम्र बिनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

४७९ बंबई, मगसिर सुदी ३, सोम, १९५०

वाणीका संयम श्रेयरूप है, तथापि व्यवहारका सम्बन्ध इस प्रकारका रहता है, कि सर्वथा वैसा संयम रखें तो प्रसंगमे आनेवाले जीवोंके लिये वह क्लेशका हेतु हो; इसलिये बहुत करके सप्रयोजन सिवायमें संयम रखा जाये, तो उसका परिणाम किसी प्रकारसे श्रेयरूप होना सम्भव है।

नीचेका वचन आपके पास लिखे हुए वचनोमें लिख दीजियेगा ।

"जीवकी मूढताका पुनः पुनः, क्षण क्षणमे, प्रसंग प्रसंगपर विचार करनेमे यदि सावधानी न रख गई तो ऐसा योग जो हुआ वह भी वृथा है ।"

कृष्णदासादि मुमुक्षुओंको नमस्कार ।

---

४८० बंबई, पौष सुदी ५, १९५०

किसी भी जीवको कुछ भी परिश्रम देना, यह अपराध है । और उसमे मुमुक्षुजीवको उसके अर्थके सिवाय परिश्रम देना, यह अवश्य अपराध है, ऐसा हमारे चित्तका स्वभाव रहता है । तथापि परिश्रमका हेतु ऐसे कामका प्रसग क्वचित् आपको बतानेका होता है, जिस विषयके प्रसंगमे हमारे प्रति आपकी निःशंकता है, तथापि आपको वैसे प्रसंगमे क्वचित् परिश्रमका कारण हो, यह हमारे चित्तमे सहन नही होता, तो भी प्रवृत्ति करते है । यह अपराध क्षमा योग्य है, और हमारी ऐसी किसी प्रवृत्तिके प्रति क्वचित् भी अस्नेह न हो, इतना ध्यान भी रखना योग्य है ।

साथका पत्र श्री रेवाशंकरका है, वह हमारी प्रेरणासे लिखा गया है । जिस प्रकारसे किसीका मन दुःखी न हो उस प्रकारसे वह कार्य करनेकी जरूरत है, और तत्सम्बन्धी प्रसंगमे कुछ भी चित्तव्याकुलता न हो, इतना ध्यान रखना योग्य है ।

---

४८१ पौष वदी १, मंगल, १९५०

ॐ

आज यह पत्र लिखनेका हेतु यह है कि हमारे चित्तमे विशेष खेद रहता है । खेदका कारण यह व्यवहाररूप प्रारब्ध रहता है, वह किसी प्रकारसे है, कि जिसके कारण मुमुक्षुजीवको क्वचित् वैसा परिश्रम देनेका प्रसंग आता है । और वैसा परिश्रम देते हुए हमारी चित्तवृत्ति सकोचवश होती-होती प्रारब्धके उदयसे रहती है । तथापि तद्विषयक संस्कारित खेद कई बार स्फुरित होता रहता है ।

कभी कभी वैसे प्रसगसे हमने लिखा हो अथवा श्री रेवाशंकरने हमारी अनुमतिसे लिखा हो तो वह कोई व्यावहारिक दृष्टिका कार्य नही है, कि जो चित्तकी आकुलता करनेके प्रति प्रेरित किया गया हो, ऐसा निश्चय स्मरणयोग्य है ।

---

४८२ बंबई, पौष वदी १४, रवि, १९५०

अभी विशेषरूपसे लिखनेका नही होता, इसमे उपाधिकी अपेक्षा चित्तका सक्षेपभाव विशेष कारण-रूप है । (चित्तका इच्छारूपमे कुछ प्रवर्तन होना सक्षिप्त हो, न्यून हो वह संक्षेपभाव यहाँ लिखा है ।) हमने ऐसा वेदन किया है, कि जहाँ कुछ भी प्रमत्तदशा होती है वहाँ आत्मामे जगतप्रत्ययी कामका अवकाश होना योग्य है । जहाँ केवल अप्रमत्तता रहती है वहाँ आत्माके सिवाय अन्य किसी भी भावका अवकाश नही रहता; यद्यपि तीर्थंकरादिक सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेनेके पश्चात् किसी प्रकारकी देहक्रियासहित दिखायी देते हैं, तथापि आत्मा, इस क्रियाका अवकाश प्राप्त करे तभी कर सके, ऐसी कोई क्रिया उस ज्ञानके पश्चात् नहीं हो सकती, और तभी वहाँ सम्पूर्ण ज्ञान टिकता है; ऐसा ज्ञानीपुरुषोका असदिग्ध निर्धार है, ऐसा हमें लगता है । जैसे ज्वरादि रोगमें चित्तको कोई स्नेह नहीं होता, वैसे इन भावोंमे भी स्नेह नही रहता, लगभग स्पष्टरूपसे नहीं रहता, और उस प्रतिबंधके अभावका विचार हुआ करता है ।

---

४८३ मोहमयी, माघ वदी ४, शुक्र, १९५०

परमस्नेही श्री सोभाग, श्री अंजार।

आपके पत्र पहुँचे है। उसके साथ जो प्रश्नोकी सूची उतारकर भेजी है वह पहुँची है। उन प्रश्नोंमे जो विचार प्रदर्शित किये है, वे प्रथम विचारभूमिकामे विचारणीय है। जिस पुरुषने वह ग्रन्थ बनाया है, उसने वेदातादि शास्त्रके अमुक ग्रथके अवलोकनके आधार पर वे प्रश्न लिखे है। अत्यन्त आश्चर्य योग्य वार्ता इसमे नहीं लिखी। इन प्रश्नोंका तथा इस प्रकारके विचारोका बहुत समय पहले विचार किया था, और ऐसे विचारोकी विचारणा करनेके सम्बन्धमे आपको तथा गोसलियाको सूचित किया था। तथा दूसरे वैसे मुमुक्षुको वैसे विचारोके अवलोकन करनेके विषयमे कहा था, अथवा कहनेकी इच्छा हो आती है कि जिन विचारोकी विचारणासे अनुक्रमसे सद्-असद्का पूरा विवेक हो सके।

अभी सात-आठ दिन हुए शारीरिक स्थिति ज्वरग्रस्त थी, अब दो दिनसे ठीक है।

कविता भेजी, सो मिली है। उसमे आलापिकाके भेदके रूपमे अपना नाम बताया है और कविता करनेमे जो कुछ विचक्षणता चाहिये उसे बतानेका विचार रखा है। कविता ठीक है। कविताका आराधन कविताके लिये करना योग्य नही है, ससारके लिये आराधन करना योग्य नहीं है, भगवद्भजनके लिये, आत्मकल्याणके लिये यदि उसका प्रयोजन हो तो जीवको उस गुणकी क्षयोपशमताका फल मिलता है। जिस विद्यासे उपशम गुण प्रगट नही हुआ, विवेक नही आया अथवा समाधि नही हुई उस विद्याके विषयमे श्रेष्ठ जीवको आग्रह करना योग्य नही है।

हालमे अब प्राय मोतीकी खरीद बन्द रखी है। जो विलायतमे है उनको अनुक्रमसे बेचनेका विचार रखा है। यदि यह प्रसंग न होता तो उस प्रसंगमे उत्पन्न होनेवाला जंजाल और उसका उपशमन नहीं होता। अब वह स्वसंवेद्यरूपसे अनुभवमे आया है। वह भी एक प्रकारके प्रारब्ध निवर्तनरूप है। सविस्तर ज्ञानवार्ताका अब पत्र लिखेंगे, तो बहुत करके उसका उत्तर लिखूंगा।

लि० आत्मस्वरूप।

---

४८४ मोहमयी, माघ वदी ८ गुरु, १९५०

परमस्नेही श्री सोभाग श्री अजार।

यहाँके उपाधिप्रसगमे कुछ विशेष सहनशीलतासे रहना पड़े, ऐसी ऋतु होनेसे आत्मामे गुणकी विशेष स्पष्टता रहती है। प्राय अबसे यदि हो सके तो नियमितरूपसे कुछ सत्सगकी बात लिखियेगा।

आ० स्व० से प्रणाम।

---

४८५ बंबई, फागुन सुदी ४, रवि, १९५०

ॐ

परमस्नेही श्री सुभाग्य, श्री अंजार।

अभी वहाँ उपाधिके अवकाशसे कुछ पढने आदिका प्रकार होता हो, वह लिखियेगा।

अभी डेढसे दो मास हुए उपाधिके प्रसंगमे विशेष विशेषरूपसे संसारके स्वरूपका वेदन किया गया है। यद्यपि पूर्वकालमे ऐसे अनेक प्रसंगोंका वेदन किया है, तथापि प्राय ज्ञानपूर्वक वेदन नही किया। इस देहमे और इससे पहलेकी बोधबीजहेतुवाली देहमें होनेवाला वेदन मोक्षकार्यमे उपयोगी है।

बड़ौदावाले माकुभाई यहाँ हैं। प्रवृत्तिमे उनका साथ रहने और कार्य करनेका हुआ करता है,

ऐसे इस प्रसंगके वेदन करनेका उन्हे भी अवसर मिला है। वैराग्यवान जीव है। यदि प्रज्ञाका विशेष प्रकाशन उन्हे हो तो सत्सग सफल हो ऐसे योग्य जीव है।

वारंवार तग आ जाते हैं; तथापि प्रारब्धयोगसे उपाधिसे दूर नही हो सकते। यही विज्ञापना। सविस्तर पत्र लिखियेगा।

आत्मस्वरूपसे प्रणाम।

---

४८६ बंबई, फागुन सुदी ११, रवि, १९५०

तीर्थंकरदेव प्रमादको कर्म कहते हैं, और अप्रमादको उससे दूसरा अर्थात् अकर्मरूप ऐमा आत्म-स्वरूप कहते हैं। ऐसे भेदके प्रकारसे अज्ञानी और ज्ञानीका स्वरूप है; (कहा है।)

[सूयगडागसूत्र वीर्य अध्ययन][1]

जिस कुलमे जन्म हुआ है, और जिसके सहवासमे जीव रहा है, उसमे यह अज्ञानी जीव ममता करता है, और उसीमे निमग्न रहा करता है।

[सूयगडाग—प्रथमाध्ययन][2]

जो ज्ञानीपुरुष भूतकालमे हो गये हैं, और जो ज्ञानीपुरुष भावीकालमे होगे, उन सब पुरुषोने 'शांति' (समस्त विभावपरिणामसे थकना, निवृत्त होना) को सर्व धर्मोका आधार कहा है। जैसे भूतमात्रको पृथ्वी आधारभूत है, अर्थात् प्राणीमात्र पृथ्वीके आधारसे स्थितिवाले हैं, उसका आधार उन्हे प्रथम होना योग्य है; वैसे सर्व प्रकारके कल्याणका आधार, पृथिवीकी भाँति 'शांति' को ज्ञानीपुरुषोने कहा है। [सूयगडाग][3]

---

४८७ बंबई, फागुन सुदी ११, रवि, १९५०

ॐ

बुधवारको एक पत्र लिखेंगे, नही तो रविवारको सविस्तर पत्र लिखेगे, ऐसा लिखा था। उसे लिखते समय चित्तमे ऐसा था कि आप मुमुक्षुओको कुछ नियम जैसी स्वस्थना होना योग्य है, और उस विषयमे कुछ लिखना सूझे तो लिखूँ, ऐसा चित्तमे आया था। लिखते हुए ऐसा हुआ कि जो कुछ लिखनेमे आता है उसे सत्संग-प्रसगमे विस्तारसे कहना योग्य है, और वह कुछ फलरूप होने योग्य है। जितना सविस्तर लिखनेसे आप समझ सकें उतना लिखना अभी हो सके, ऐसा यह व्यवसाय नही है, और जो व्यवसाय है वह प्रारब्धरूप होनेसे तदनुसार प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उसमे विशेष बलपूर्वक लिख सकना मुश्किल है। इसलिये उसे क्रमसे लिखनेका चित्त रहता है।

इतनी बातका निश्चय रखना योग्य है कि ज्ञानीपुरुषको भी प्रारब्धकर्म भोगे बिना निवृत्त नही होते, और बिना भोगे निवृत्त होनेकी ज्ञानीको कोई इच्छा नही होती। ज्ञानीके सिवाय दूसरे जीवोंको भी

---

१. पमाय कम्ममाहसु, अप्पमायं तहावर। तब्भावदेसओवावि, बाल पडियमेय वा ॥

सू० कृ० १ श्रु० ८ अ० तीसरी गाथा।

२ जेस्सि कुले समुप्पन्ने जेहिं वा सवसे नरे। ममाइ लुप्पइ बाले, अण्णे अण्णेहि मुच्छिए।

सू० कृ० १ श्रु० १ अ० चौथी गाथा।

३. जे य बुद्धा अतिक्कता, जे य बुद्धा अणागया। सति तेसि पइट्ठाण, भूयाण जगती जहा ॥

सू० कृ० १ श्रु० ११ अ० ३६वी गाथा।

कितने ही कर्म है कि जो भोगनेपर ही निवृत्त होते है, अर्थात् वे प्रारब्ध जैसे होते है। तथापि भेद इतना है कि ज्ञानीकी प्रवृत्ति मात्र पूर्वोपार्जित कारणसे होती है, और दूसरोकी प्रवृत्तिमे भावी ससारका हेतु है, इसलिये ज्ञानीका प्रारब्ध भिन्न होता है। इस प्रारब्धका ऐसा निर्धार नही है कि वह निवृत्तिरूपसे ही उदयमे आये। जैसे श्री कृष्णादिक ज्ञानीपुरुष, कि जिन्हे प्रवृत्तिरूप प्रारब्ध होनेपर भी ज्ञानदशा थी, जैसे गृहस्थावस्थामे श्री तीर्थंकर। इस प्रारब्धका निवृत्त होना केवल भोगनेसे ही संभव है। कितनी ही प्रारब्ध-स्थिति ऐसी है कि जो ज्ञानीपुरुषके विषयमे उसके स्वरूपके लिये जीवोंको संदेहका हेतु हो; और इसीलिये ज्ञानीपुरुष प्रायः जडमौनदशा रखकर अपने ज्ञानित्वको अस्पष्ट रखते है। तथापि प्रारब्धवशात् वह दशा किसीक स्पष्ट जाननेमे आये, तो फिर उसे उस ज्ञानीपुरुषका विचित्र प्रारब्ध संदेहका कारण नही होता।

---

४८८ बंबई, फागुन वदी १०, शनि, १९५०

श्री 'शिक्षापत्र' ग्रन्थको पढने और विचारनेमे अभी कोई बाधा नही है। जहाँ किसी संदेहका हेतु हो वहाँ विचार करना, अथवा समाधान पूछना योग्य हो तो पूछनेमे प्रतिबध नही है।

सुदर्शन सेठ पुरुषधर्ममे थे, तथापि रानीके समागममे वे अविकल थे। अत्यन्त आत्मबलसे कामका उपशमन करनेसे कामेंद्रियमे अजागृति ही सम्भव है; और उस समय रानीने कदाचित् उनकी देहका संसर्ग करनेकी इच्छा की होती, तो भी श्री सुदर्शनमे कामकी जागृति देखनेमे न आती, ऐसा हमे लगता है।

---

४८९ बंबई, फागुन वदी ११, रवि, १९५०

'शिक्षापत्र' ग्रन्थमे मुख्य भक्तिका प्रयोजन है। भक्तिके आधाररूप विवेक, धैर्य और आश्रय इन तीन गुणोकी उसमे विशेष पुष्टि की है। उसमे धैर्य और आश्रयका प्रतिपादन विशेष सम्यक् प्रकारसे किया है, जिन्हे विचारकर ममुक्षुजीवको उन्हे स्वगुण करना योग्य है। इसमे श्री कृष्णादिके जो जो प्रसंग आते है वे क्वचित् सन्देहके हेतु होने जैसे है, तथापि उनमे श्री कृष्णके स्वरूपको समझफेर मानकर उपेक्षित रहना योग्य है। मुमुक्षुका प्रयोजन तो केवल हितबुद्धिसे पढने-विचारनेका होता है।

---

४९० बंबई, फागुन वदी ११, रवि, १९५०

उपाधि दूर करनेके लिये दो प्रकारसे पुरुषार्थ हो सकता है, एक तो किसी भी व्यापारादि कार्यसे, और दूसरे विद्या मत्रादि साधनसे। यद्यपि इन दोनोंमें पहिले जीवके अंतरायके दूर होनेका सम्भव होना चाहिये। पहिला बताया हुआ प्रकार किसी तरह हो तो उसे करनेमे अभी हमें कोई प्रतिबन्ध नही है, परन्तु दूसरे प्रकारमें तो केवल उदासीनता ही है, और यह प्रकार स्मरणमें आनेसे भी चित्तमे खेद हो आता है, ऐसी उस प्रकारके प्रति अनिच्छा है। पहिले प्रकारके सम्बन्धमें अभी कुछ लिखना नहीं सूझता। भविष्यमें लिखना या नहीं वह, उस प्रसंगमें जो होने योग्य होगा वह होगा।

जितनी आकुलता है उतना मार्गका विरोध है, ऐसा ज्ञानीपुरुष कह गये हैं, जो बात हमारे लिये अवश्य विचारणीय है।

---

४९१ बंबई, फागुन, १९५०

ॐ

तीर्थंकर वारंवार नीचे कहा हुआ उपदेश करते थे—

"हे जीवों ! आप समझें, सम्यक्‌प्रकारसे समझे। मनुष्यभव मिलना बहुत दुर्लभ है, और चारों गतियोमें भय है, ऐसा जानें। अज्ञानसे सद्‌विवेक पाना दुर्लभ है, ऐसा समझें। सारा लोक एकांत दुःखसे जल रहा है, ऐसा जानें, और 'सब जीव' अपने अपने कर्मोंसे विपर्यासताका अनुभव करते हैं, इसका विचार करें।"

[सूयगडांग अध्ययन ७ वाँ, ११]

जिसका सर्व दुःखसे मुक्त होने होनेका अभिप्राय हुआ हो, वह पुरुष आत्माकी गवेषणा करे, और आत्माकी गवेषणा करनी हो, वह यम नियमादिक सर्व साधनोंका आग्रह अप्रधान करके सत्संगकी गवेषणा करे, तथा उपासना करे। सत्संगकी उपासना करनी हो वह संसारकी उपासना करनेके आत्मभावका सर्वथा त्याग करे। अपने सर्व अभिप्रायका त्याग करके, अपनी सर्व शक्तिसे उस सत्संगकी आज्ञाकी उपासना करे। तीर्थंकर ऐसा कहते है कि जो कोई उस आज्ञाकी उपासना करता है, वह अवश्य सत्संगकी उपासना करता है। इस प्रकार जो सत्संगकी उपासना करता है, वह अवश्य आत्माकी उपासना करता है, और आत्माका उपासक सर्व दुःखसे मुक्त होता है। [द्वादशांगीका अखंड सूत्र]

पहले जो अभिप्राय प्रदर्शित किया है वह गाथा सूयगडांगमे निम्नलिखित है —

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सक्कम्मणा विप्परियासुवेई॥

सर्व प्रकारकी उपाधि, आधि, व्याधिसे मुक्तरूपसे रहते हो तो भी सत्संगमे रही हुई भक्ति दूर होना हमे दुष्कर प्रतीत होता है। सत्संगकी सर्वोत्तम अपूर्वता हमे अहोरात्र रहा करती है, तथापि उदययोग प्रारब्धसे ऐसा अंतराय रहता है। प्रायः किसी बातका खेद "हमारे" आत्मामे उत्पन्न नही होता, तथापि सत्संगके अंतरायका खेद प्रायः अहोरात्र रहा करता है। 'सर्व भूमि, सर्व मनुष्य, सर्व काम, सर्व बातचीतादि प्रसंग अपरिचित जैसे, एकदम पराये उदासीन जैसे, अरमणीय, अमोहकर और रसरहित स्वभावतः भासित होते हैं।' मात्र ज्ञानी पुरुष मुमुक्षु पुरुष, अथवा मार्गानुसारी पुरुषका सत्संग परिचित, अपना, प्रीतिकर, सुंदर, आकर्षक और रसस्वरूप भासित होता है। ऐसा होनेसे हमारा मन प्रायः अप्रतिबद्धताका सेवन करते करते आप जैसे मार्गेच्छावान पुरुषोंमें प्रतिबद्धताको प्राप्त होता है।

---

४९२ बंबई, फागुन, १९५०

मुमुक्षुजनके परम हितैषी मुमुक्षु पुरुष श्री सोभाग,

यहाँ समाधि है। उपाधियोगसे आप कुछ आत्मवार्ता नही लिख सकते हो, ऐसा मानते है।

हमारे चित्तमे तो ऐसा आता है कि इस कालमे मुमुक्षुजीवको संसारकी प्रतिकूल दशाएँ प्राप्त होना, यह उसे संसारसे तरनेके समान है। अनंतकालसे अभ्यस्त इस संसारका स्पष्ट विचार करनेका समय प्रतिकूल प्रसंगमे विशेष होता है, यह बात निश्चय करने योग्य है।

अभी कुछ सत्संगयोग मिलता है क्या ? यह अथवा कोई अपूर्व प्रश्न उद्‌भव होता है क्या ? यह लिखनेमें नही आता, सो लिखियेगा। आपको ऐसा एक साधारण प्रतिकूल प्रसंग हुआ है, उसमें घबराना योग्य नही है। यदि इस प्रसंगका समतासे वेदन किया जाये तो जीवके लिये निर्वाणके समीपका साधन है।

व्यावहारिक प्रसंगोकी नित्य चित्रविचित्रता है। मात्र कल्पनासे उनमे सुख और कल्पनासे दुःख ऐसी उनकी स्थिति है। अनुकूल कल्पनासे वे अनुकूल भासित होते है, प्रतिकूल कल्पनासे वे प्रतिकूल भासित होते है, और ज्ञानी पुरुषोने उन दोनो कल्पनाओके करनेका निषेध किया है। और आपको वे करनी योग्य नही है। विचारवानको शोक योग्य नही है ऐसा श्री तीर्थंकर कहते थे।

---

४९३ बबई, फागुन, १९५०

अनन्य शरणके दाता ऐसे श्री सद्गुरुदेवको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार

जो शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए है, ऐसे ज्ञानीपुरुषोने नीचे कहे हुए छः पदोंको सम्यग्दर्शनके निवासके सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहे है—

प्रथम पद—'आत्मा है।' जैसे घटपटादि पदार्थ है, वैसे आत्मा भी है। अमुक गुण होनेके कारण जैसे घटपटादिके होनेका प्रमाण है, वैसे स्वपरप्रकाशक चैतन्यसत्ताका प्रत्यक्ष गुण जिसमे है, ऐसा आत्माके होनेका प्रमाण है।

दूसरा पद—'आत्मा नित्य है।' घटपटादि पदार्थ अमुक कालवर्ती है। आत्मा त्रिकालवर्ती है। घटपटादि सयोगजन्य पदार्थ है। आत्मा स्वाभाविक पदार्थ है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिके लिये कोई भी सयोग अनुभव योग्य नही होते। किसी भी सयोगी द्रव्यसे चेतनसत्ता प्रगट होने याग्य नहीं है, इसलिये अनुत्पन्न है। असयोगी होनेसे अविनाशी है, क्योकि जिसकी उत्पत्ति किसी सयोगसे नही होती, उसका किसीमे लय भी नही होता।

तीसरा पद—'आत्मा कर्त्ता है।' सर्व पदार्थ अर्थक्रियासम्पन्न है। किसी न किसी परिणाम-क्रिया-सहित ही सर्व पदार्थ देखनेमे आते है। आत्मा भी क्रियासंपन्न है। क्रियासम्पन्न है इसलिये कर्त्ता है। श्री जिनने उस कर्तृत्वका त्रिविध विवेचन किया है—परमार्थसे स्वभावपरिणति द्वारा आत्मा निजस्वरूपका कर्त्ता है। अनुपचरित (अनुभवमे आने योग्य, विशेष सम्बन्धसहित) व्यवहारसे यह आत्मा द्रव्यकर्मका कर्त्ता है। उपचारसे घर, नगर आदिका कर्त्ता है।

चौथा पद—'आत्मा भोक्ता है।' जो जो कुछ क्रियाएँ है वे सब सफल है, निरर्थक नही। जो कुछ भी किया जाता है उसका फल भोगनेमे आता है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे विष खानेसे विषका फल, मिसरी खानेसे मिसरीका फल, अग्निस्पर्शसे अग्निस्पर्शका फल, हिमका स्पर्श करनेसे हिमस्पर्शका फल हुए बिना नही रहता, वैसे कषायादि अथवा अकषायादि जिस किसी भी परिणामसे आत्मा प्रवृत्ति करता है उसका फल भी होने योग्य ही है, और वह होता है। उस क्रियाका कर्त्ता होनेसे आत्मा भोक्ता है।

पाँचवा पद—'मोक्ष पद है।' जिस अनुपचरित व्यवहारसे जीवके कर्मके कर्तृत्वका निरूपण किया, कर्तृत्व होनेसे भोक्तृत्वका निरूपण किया, उस कर्मकी निवृत्ति भी है, क्योकि प्रत्यक्ष कषायादिकी तीव्रता हो, परंतु उसके अनभ्याससे, उसके अपरिचयसे, उसका उपशम करनेसे उसकी मंदता दिखायी देती है, वह क्षीण होने योग्य दीखता है, क्षीण हो सकता है। वह बधभाव क्षीण हो सकने योग्य होनेसे, उससे रहित जो शुद्ध आत्मस्वभाव है, वही मोक्षपद है।

छठा पद—'उस मोक्षका उपाय है।' यदि कभी ऐसा ही हो कि कर्मबध मात्र हुआ करे तो उसकी निवृत्ति किसी कालमे सम्भव नही है, परतु कर्मबंधसे विपरीत स्वभाववाले ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि साधन प्रत्यक्ष हैं, जिन साधनोके बलसे कर्मबंध शिथिल होता है, उपशान्त होता है, क्षीण होता है। इसलिये वे ज्ञान, दर्शन, संयम आदि मोक्षपदके उपाय है।

श्री ज्ञानीपुरुषो द्वारा सम्यक्दर्शनके मुख्य निवासभूत कहे हुए इन छ पदोंको यहाँ संक्षेपमें बताया हैं। समीपमुक्तिगामी जीवको सहज विचारमे ये सप्रमाण होने योग्य हैं, परम निश्चयरूप प्रतीत होने योग्य हैं, उसका सर्व विभागसे विस्तार होकर उसके आत्मामे विवेक होने योग्य है। ये छ: पद अत्यंत सन्देह-रहित हैं, ऐसा परमपुरुषने निरूपण किया है। इन छ पदोंका विवेक जीवको स्वस्वरूप समझनेके लिये कहा है। अनादि स्वप्नदशाके कारण उत्पन्न हुए जीवके अहंभाव, ममत्व भावके निवृत्त होनेके लिये ज्ञानी-पुरुषोने इन छ: पदोंकी देशना प्रकाशित की है। उस स्वप्नदशासे रहित मात्र अपना स्वरूप है, ऐसा यदि जीव परिणाम करे, तो वह सहजमात्रमें जागृत होकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है; सम्यग्दर्शनको प्राप्त होकर स्वस्वभावरूप मोक्षको प्राप्त होता है। किसी विनाशी, अशुद्ध और अन्य ऐसे भावमे उसे हर्ष, शोक, संयोग उत्पन्न नही होता। इस विचारसे स्वस्वरूपमें ही शुद्धता, सम्पूर्णता, अविनाशता अत्यंत आनंदता अंतर रहित उसके अनुभवमे आते है। सर्व विभावपर्यायमे मात्र स्वयको अध्याससे एकता हुई है, उसमे केवल अपनी भिन्नता ही है, ऐसा स्पष्ट—प्रत्यक्ष—अत्यंत प्रत्यक्ष—अपरोक्ष उसे अनुभव होता है। विनाशी अथवा अन्य पदार्थके संयोगमे उसे इष्ट-अनिष्टता प्राप्त नही होती। जन्म, जरा, मरण, रोगादि बाधारहित संपूर्ण माहात्म्यका स्थान, ऐसा निजस्वरूप जानकर, वेदन कर वह कृतार्थ होता है। जिन-जिन पुरुषोको इन छ: पदोसे सप्रमाण ऐसे परम पुरुषोके वचनसे आत्माका निश्चय हुआ है, वे सब पुरुष स्वस्वरूपको प्राप्त हुए है, आधि, व्याधि, उपाधि और सर्व सगसे रहित हुए है, होते है, और भविष्य-कालमें भी वैसे ही होंगे।

जिन सत्पुरुषोने जन्म, जरा और मरणका नाश करनेवाला, स्वस्वरूपमे सहज अवस्थान होनेका उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषोको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणाकी नित्य प्रति निरंतर स्तुति करनेसे भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है। ऐसे सर्व सत्पुरुषोके चरणारविंद सदा ही हृदयमे स्थापित रहे!

जिसके वचन अंगीकार करनेपर छ: पदोसे सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप सहजमे प्रगट होता है, जिस आत्मस्वरूपके प्रगट होनेसे सर्व काल जीव सम्पूर्ण आनदको प्राप्त होकर निर्भय हो जाता है, उन वचनोंके कहनेवाले सत्पुरुषके गुणोकी व्याख्या करनेकी शक्ति नही है, क्योकि जिसका प्रत्युपकार नही हो सकता, ऐसा परमात्मभाव मानो कुछ भी इच्छा किये बिना मात्र निष्कारण करुणाशीलतासे दिया, ऐसा होनेपर भी जिसने दूसरे जीवको यह मेरा शिष्य है अथवा मेरी भक्ति करनेवाला है, इसलिये मेरा है, इस प्रकार कभी नही देखा, ऐसे सत्पुरुषको अत्यत भक्तिसे वारंवार नमस्कार हो!

सत्पुरुषोने सद्गुरुकी जिस भक्तिका निरूपण किया है, वह भक्ति मात्र शिष्यके कल्याणके लिये कही है। जिस भक्तिको प्राप्त होनेसे सद्गुरुके आत्माकी चेष्टामे वृत्ति रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छन्द मिटे, और सहजमे आत्मबोध हो, ऐसा जानकर जिस भक्तिका निरूपण किया है, उस भक्तिको और उन सत्पुरुषोंको पुनः पुनः त्रिकाल नमस्कार हो!

यद्यपि वर्तमानकालमें प्रगटरूपसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही हुई, परन्तु जिसके वचनके विचारयोगसे शक्तिरूपसे केवलज्ञान है, यह स्पष्ट जाना है, श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है, विचारदशासे केवलज्ञान हुआ है, इच्छादशासे केवलज्ञान हुआ है, मुख्य नयके हेतुसे केवलज्ञान रहता है, जिसके योगसे जीव सर्व अव्याबाध सुखके प्रगट करनेवाले उस केवलज्ञानको सहजमात्रमे प्राप्त करने योग्य हुआ, उस सत्पुरुषके उपकारको सर्वोत्कृष्ट भक्तिसे नमस्कार हो! नमस्कार हो!!

---

४९४ बंबई, चैत्र सुदी, १९५०

ॐ

यहाँ अभी बाह्य-उपाधि कुछ कम रहती है। आपके पत्रमे जो प्रश्न हैं, उनका समाधान नीचे लिखे परसे विचारियेगा।

पूर्वकर्म दो प्रकारके है, अथवा जीवसे जो जो कर्म किये जाते है, वे दो प्रकारसे किये जाते है। एक प्रकारके कर्म ऐसे है कि उनको कालादिकी स्थिति जिस प्रकारसे है उसी प्रकारसे वह भोगी जा सकती है। दूसरे प्रकारके कर्म ऐसे है कि जो ज्ञानसे, विचारसे निवृत्त हो सकते है। ज्ञान होनेपर भी जिस प्रकारके कर्म अवश्य भोगनेयोग्य है, वे प्रथम प्रकारके कर्म कहे गये है, और जो ज्ञानसे दूर हो सकते है वे दूसरे प्रकारके कर्म कहे गये है। केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी देह रहती है: उस देहका रहना केवलज्ञानीकी इच्छासे नही परन्तु प्रारब्धसे है। इतना सपूर्ण ज्ञानबल होनेपर भी उस देहस्थितिका वेदन किये बिना केवलज्ञानीसे भी नही छूटा जा सकता, ऐसी स्थिति है, यद्यपि उस प्रकारसे छूटनेके लिये कोई ज्ञानीपुरुष इच्छा नही करते, तथापि यहाँ कहनेका आशय यह है कि ज्ञानीपुरुषको भी वह कर्म भोगने योग्य है, तथा अतरायादि अमुक कर्मकी व्यवस्था ऐसी है कि वह ज्ञानीपुरुषको भी भोगने योग्य है, अर्थात् ज्ञानीपुरुष भी भोग बिना उस कर्मका निवृत्त नही कर सकते। सर्व प्रकारके कर्म ऐसे है कि वे अफल नही होते, मात्र उनकी निवृत्तिके प्रकारमे अतर है।

एक कर्म, जिस प्रकारसे स्थिति आदिका बध किया है, उसी प्रकारसे भोगनेयोग्य होते है। दूसरे कर्म ऐसे होते है, जो जीवके ज्ञानादि पुरुषार्थधर्मसे निवृत्त होते है। ज्ञानादि पुरुषार्थधर्मसे निवृत्त होनेवाले कर्मकी निवृत्ति ज्ञानीपुरुष भी करते है, परन्तु भोगनेयोग्य कर्मको ज्ञानीपुरुष सिद्धि आदिके प्रयत्नसे निवृत्त करनेकी इच्छा नही करते यह सम्भव है। कर्मको यथायोग्यरूपसे भोगनेमे ज्ञानीपुरुषको सकोच नही होता। कोई अज्ञानदशा होनेपर भी अपनी ज्ञानदशा माननेवाला जीव कदाचित् भोगनेयोग्य कर्मको भोगना न चाहे, तो भी भोगनेपर ही छुटकारा होता है, ऐसी नीति है। जीवका किया हुआ कर्म यदि बिना भोगे अफल जाता हो, तो फिर बध मोक्षकी व्यवस्था कैसे हो सकेगी?

जो वेदनीयादि कर्म हो उन्हे भोगनेकी हमे अनिच्छा नही होती। यदि अनिच्छा होती हो तो चित्त मे खेद होता है कि जीवको देहाभिमान है, जिससे उपार्जित कर्म भोगते हुए खेद होता है, और इससे अनिच्छा होती है।

मत्रादिसे, सिद्धिसे और दूसरे वैसे अमुक कारणोंसे अमुक चमत्कार हो सकना असंभव नही है, तथापि ऊपर जैसे हमने बताया है वैसे भोगनेयोग्य जो 'निकाचित कर्म' है, वे उनमेसे किसी भी प्रकारसे मिट नही सकते। क्वचित् अमुक 'शिथिल कर्म' की निवृत्ति होती है, परन्तु वह कुछ उपार्जित करनेवालेके वेदन किये बिना निवृत्त होता है, ऐसा नही है; किन्तु आकारफेरसे उस कर्मका वेदन होता है।

कोई एक ऐसा 'शिथिल कर्म' है कि जिसमे अमुक समय चित्तकी स्थिरता रहे तो वह निवृत्त हो जाये। वैसा कर्म उस मंत्रादिमे स्थिरताके योगसे निवृत्त हो, यह संभव है। अथवा किसीके पास पूर्वलाभ का कोई ऐसा बध है कि जो मात्र उसकी थोडी कृपासे फलीभूत हो आये; यह भी एक सिद्धि जैसा है। उसी तरह अमुक मत्रादिके प्रयत्नसे हो और अमुक पूर्वांतराय नष्ट होनेका प्रसंग समीपवर्त्ती हो, तो भी मत्रादिसे कार्यसिद्धि हुई मानी जाती है; परन्तु इस बातमे कुछ थोड़ा भी चित्त होनेका कारण नही है, निष्फल बात है। इसमे आत्माके कल्याण सम्बन्धी कोई मुख्य प्रसंग नही है। ऐसी कथा मुख्य प्रसंगकी विस्मृतिका हेतु होती है; इसलिये उस प्रकारके विचारका अथवा शोधका निर्धार करनेकी इच्छा करनेकी अपेक्षा उसका त्याग कर देना अच्छा है, और उसके त्यागसे सहजमें निर्धार होता है।

आत्मामे विशेष आकुलता न हो वैसे रहे। जो होने योग्य होगा वह होकर रहेगा। और आकुलता करने पर भी जो होनहार होगा वही होगा, उसके साथ आत्मा भी अपराधी होगा।

---

४९५ बंबई, चैत्र वदी ११, मंगल, १९५०

श्री त्रिभोवन,

जिस कारणके विषयमे लिखा था, उस कारणके विचारमे अभी चित्त है, और वह विचार अभी तक चित्तसमाधानरूप अर्थात् पूरा न हो सकनेसे आपको पत्र नही लिखा गया। तथा कोई 'प्रमाद-दोष' जैसा कोई प्रसगदोष रहता है कि जिससे कुछ भी परमार्थबात लिखनेके सम्बन्धमे चित्त उद्विग्न होकर, लिखते हुए एकदम रुक जाना होता है। और जो कार्यप्रवृत्ति है, उस कार्यप्रवृत्तिमे और अपरमार्थ प्रसगमे मानो मेरेसे यथायोग्य उदासीनबल नही होता, ऐसा लगनेसे अपने दोषके विचारमे पड जानेसे पत्र लिखना रुक जाता है, और प्रायः ऊपर जो विचारका समाधान नही हुआ, ऐसा लिखा है, वही कारण है।

यदि किसी भी प्रकारसे हो सके तो इस त्रासरूप ससारमे अधिक व्यवसाय न करना, सत्सग करना योग्य है।

मुझे ऐसा लगता है कि जीवको मूलरूपसे देखते हुए यदि मुमुक्षुता आयी हो तो नित्य प्रति उसका संसारबल घटता रहता है। संसारमे धनादि संपत्तिका घटना या न घटना अनियत है, परन्तु ससारके प्रति जीवकी जो भावना है वह मंद होती रहे, अनुक्रमसे नाश होनेयोग्य हो, यह बात इस कालमे प्राय देखनेमे नही आती। किसी भिन्न स्वरूपमे मुमुक्षुको और भिन्न स्वरूपमे मुनि आदिको देखकर विचार आता है कि ऐसे सगसे जीवकी ऊर्ध्वदशा होना योग्य नही परन्तु अधोदशा होना योग्य है। फिर जिसे सत्सगका कुछ प्रसग हुआ है ऐसे जीवकी व्यवस्था भी कालदोषसे पलटते देर नही लगती। ऐसा प्रगट देखकर चित्तमे खेद होता है और अपने चित्तकी व्यवस्था देखते हुए मुझे भी ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे लिये किसी भी प्रकारसे यह व्यवसाय योग्य नही है, अवश्य योग्य नहो है। अवश्य—अत्यत अवश्य—इस जीवका कोई प्रमाद है, नही तो जिसे प्रगट जाना है ऐसे जहरके पीनेमे जीवकी प्रवृत्ति क्यो हो? अथवा ऐसा नही तो उदासीन प्रवृत्ति हो, तो भी वह प्रवृत्ति भी अब तो किसी प्रकारसे भी परिसमाप्तिको प्राप्त हो ऐसा होना योग्य है, नही तो किसी भी प्रकारसे जीवका जरूर दोष है।

अधिक लिखना नही हो सकता, इसलिये चित्तमे खेद होता है, नही तो प्रगटरूपसे किसी मुमुक्षुको इस जीवके दोष भी यथासम्भव प्रकारसे विदित करके, जीवका उतना तो खेद दूर करना। और उन विदित दोषोकी परिसमाप्तिके लिये उसके संगरूप उपकारकी इच्छा करना।

मुझे अपने दोषके लिये वारवार ऐसा लगता है कि जिस दोषका बल परमार्थसे देखते हुए मैने कहा है; परन्तु अन्य आधुनिक जीवोंके दोषके सामने मेरे दोषकी अत्यन्त अल्पता लगती है। यद्यपि ऐसा मानने-की कोई बुद्धि नही है, तथापि स्वभावसे कुछ ऐसा लगता है। फिर भी किसी विशेष अपराधीकी भाँति जब तक हम यह व्यवहार करते है तब तक अपने आत्मामे संलग्न रहेगे। आपको और आपके संगमे रहने-वाले किसी भी मुमुक्षुको यह बात कुछ भी विचारणीय अवश्य है।

---

४९६ बंबई, चैत्र वदी १४, शुक्र, १९५०

जो मुमुक्षुजीव गृहस्थ व्यवहारमे प्रवृत्त हो, उसे तो अखंड नीतिका मूल प्रथम आत्मामे स्थापित करना चाहिये; नही तो उपदेशादिकी निष्फलता होती है।

द्रव्यादि उत्पन्न करने आदिमे सागोपांग न्यायसम्पन्न रहना, इसका नाम नीति है। यह नीति छोड़ते हुए प्राण जानेकी दशा आनेपर त्याग और वैराग्य सच्चे स्वरूपमे प्रगट होते है; और उसी जीवको सत्पुरुषके वचनोका तथा आज्ञाधर्मका अद्भुत सामर्थ्य, माहात्म्य और रहस्य समझमे आता है; और सभी वृत्तियोके निजरूपसे प्रवृत्ति करनेका मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है।

प्राय· आपको देश, काल, संग आदिका विपरीत योग रहता है। इसलिये वारंवार, पल पलमे तथा कार्य कार्यमे सावधानीसे नीति आदि धर्मोमे प्रवृत्ति करना योग्य है। आपकी भाँति जो जीव कल्याणकी आकाक्षा रखता है, और प्रत्यक्ष सत्पुरुषका निश्चय है, उसे प्रथम भूमिकामे यह नीति मुख्य आधार है। जो जीव सत्पुरुषका निश्चय हुआ है ऐसा मानता है, उसमे यदि उपर्युक्त नीतिका प्राबल्य न हो और कल्याणकी याचना करे तथा वार्ता करे, तो यह निश्चय मात्र सत्पुरुषको ठगनेके समान है। यद्यपि सत्पुरुष तो निराकाक्षी है इसलिये उनके लिये तो ठगे जाने जैसा कुछ है नही, परन्तु इस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवाला जीव अपराधयोग्य होता है। इस बातपर वारंवार आपको और आपके समागमकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुओंको ध्यान देना चाहिये। कठिन बात है, इसलिये नही हो सकती, यह कल्पना मुमुक्षुके लिये अहितकारी है और त्याज्य है।

---

४९७ बंबई, चैत्र वदी १४, शुक्र, १९५०

उपदेशकी आकाक्षा रहा करती है, ऐसी आकाक्षा ममक्षुजीवके लिये हितकारी है, जागृतिका विशेष हेतु है। ज्यों ज्यो जीवमे त्याग, वैराग्य और आश्रयभक्तिका बल बढता है त्यो त्यो सत्पुरुषके वचनका अपूर्व और अद्भुत स्वरूप भासित होता है, और बधनिवृत्तिके उपाय सहजमे सिद्ध होते है। प्रत्यक्ष सत्पुरुषके चरणारविंदका योग कुछ समय तक रहे तो फिर वियोगमे भी त्याग, वैराग्य और आश्रयभक्तिकी धारा बलवती रहती है, नही तो अशुभ देश, काल, सगादिके योगसे सामान्य वृत्तिके जीव त्याग-वैराग्यादिके बलमे नही बढ सकते, अथवा मद हो जाते है, अथवा उसका सर्वथा नाश कर देते है।

---

४९८ बंबई, वैशाख सुदी १, रवि, १९५०

श्री त्रिभोवनादि,

'योगवासिष्ठ' पढनेमे आपत्ति नही है। आत्माको संसारका स्वरूप कारागृह जैसा वारंवार क्षण क्षणमे भासित हुआ करे, यह मुमुक्षुताका मुख्य लक्षण है। योगवासिष्ठादि जो जो ग्रन्थ उस कारणके पोषक है, उनका विचार करनेमे आपत्ति नही है। मूल बात तो यह है कि जीवको वैराग्य आनेपर भी जो उसकी अत्यन्त शिथिलता है—ढीलापन है—उसे दूर करते हुए उसे अत्यन्त कठिन लगता है, और चाहे जैसे भी प्रथम इसे ही दूर करना योग्य है।

---

४९९ बबई, वैशाख सुदी ९, १९५०

जिस व्यवसायसे जीवकी भावनिद्रा न घटती हो वह व्यवसाय किसी प्रारब्धयोगसे करना पडता हो तो वह पुन· पुनः पीछे हटकर, 'मै बड़ा भयकर हिसायुक्त यह दुष्ट काम ही किया करता हूँ', ऐसा पुनः पुनः विचारकर और 'जीवमे ढीलेपनसे ही प्रायः मुझे यह प्रतिबध है', ऐसा पुन· पुन निश्चय करके जितना बने उतना व्यवसायका सक्षेप करते हुए प्रवृत्ति हो, तो बोधका फलित होना सम्भव है।

चित्तका लिखने आदिमे अधिक प्रयास नही हो सकता, इसलिये चिट्ठी लिखी है।

---

५०० बंबई, वैशाख सुदी ९, रवि, १९५०

श्री सूर्यपुरस्थित, शुभेच्छाप्राप्त श्री लल्लुजी,

यहाँ उपाधिरूप व्यवहार रहता है। प्रायः आत्मसमाधिकी स्थिति रहती है। तो भी उस व्यवहारके प्रतिबंधसे छूटनेका वारंवार स्मृतिमे आया करता है। उस प्रारब्धकी निवृत्ति होने तक तो व्यवहारका प्रतिबंध रहना योग्य है, इसलिये समचित्तपूर्वक स्थिति रहती है।

आपका लिखा एक पत्र प्राप्त हुआ है। 'योगवासिष्ठादि' ग्रंथका अध्ययन होता हो तो वह हितकारी है। जिनागममे भिन्न भिन्न आत्मा मानकर परिमाणमे अनंत आत्मा कहे है और वेदान्तमे उसे भिन्न भिन्न कहकर, सर्वत्र जो चेतनसत्ता दिखायी देती है, वह एक ही आत्माकी है, और आत्मा एक ही है, ऐसा प्रतिपादन किया है। ये दोनो ही बाते मुमुक्षुपुरुषके लिये अवश्य विचारणीय है, और यथाप्रयत्न इन्हें विचारकर निर्धार करना योग्य है, यह बात निःसन्देह है। तथापि जब तक प्रथम वैराग्य और उपशमका बल दृढतासे जीवमे न आया हो, तब तक उस विचारसे चित्तका समाधान होनेके बदले चचलता होती है, और उस विचारका निर्धार प्राप्त नही होता; तथा चित्त विक्षेप पाकर फिर वैराग्य-उपशमको यथार्थरूपसे धारण नही कर सकता। इसलिये उस प्रश्नका समाधान ज्ञानीपुरुषोने किया है, उसे समझनेके लिये इस जीवमे वैराग्य-उपशम और सत्संगका बल अभी तो बढाने योग्य है, ऐसा विचार करके जीवमे वैराग्यादि बल बढनेके साधनोंका आराधन करनेके लिये नित्यप्रति विशेष पुरुषार्थ योग्य है।

विचारकी उत्पत्ति होनेके बाद वर्धमानस्वामी जैसे महात्मापुरुषोने पुन पुन विचार किया कि इस जीवका अनादिकालसे चारो गतियोमे अनतानतबार जन्म-मरण होनेपर भी, अभी वह जन्म-मरणादिकी स्थिति क्षीण नही होती, उसे अब किस प्रकारसे क्षीण करना? और ऐसी कौन सी भूल इस जीवकी रहती आयी है कि जिस भूलका यहाँ तक परिणमन हुआ है? इस प्रकारसे पुन पुनः अत्यत एकाग्रतासे सद्बोधके वर्धमान परिणाममे विचार करते करते जो भूल भगवानने देखी है, उसे जिनागममे जगह जगह कहा है, कि जिस भूलको समझकर मुमुक्षुजीव उससे रहित हो। जीवकी भूल देखनेपर तो वह अनंत विशेष लगती है, परतु सबसे पहले जीवको सब भूलोकी बीजभूत भूलका विचार करना योग्य है, कि जिस भूलका विचार करनेसे सभी भूलोंका विचार होता है, और जिस भूलके दूर होनेसे सब भूलें दूर होती है। कोई जीव कदाचित् नाना प्रकारकी भूलोका विचार करके उस भूलसे छूटना चाहे, तो भी वह कर्त्तव्य है, और वैसी अनेक भूलोंसे छूटनेकी इच्छा मूल भूलसे छूटनेका सहज कारण होता है।

शास्त्रमे जो ज्ञान बताया गया है, वह ज्ञान दो प्रकारसे विचारणीय है। एक प्रकार 'उपदेश'का और दूसरा प्रकार 'सिद्धान्त'का है। "जन्ममरणादि क्लेशयुक्त इस संसारका त्याग करना योग्य है, अनित्य पदार्थमे विवेकीको रुचि करना नही होता; माता-पिता, स्वजनादि सबका 'स्वार्थरूप' सम्बन्ध होनेपर भी यह जीव उस जालका आश्रय किया करता है, यही उसका अविवेक है, प्रत्यक्षरूपसे त्रिविध तापरूप यह संसार ज्ञात होते हुए भी मूर्ख जीव उसीमें विश्रांति चाहता है, परिग्रह, आरंभ और सग, ये सब अनर्थके हेतु है," इत्यादि जो शिक्षा है, वह 'उपदेशज्ञान' है। "आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, एकत्व अथवा अनेकत्व, बंधादिभाव, मोक्ष, आत्माकी सर्व प्रकारकी अवस्था, पदार्थ और उसकी अवस्था इत्यादि विषयों-को दृष्टातादिसे जिस प्रकारसे सिद्ध किया जाता है, वह 'सिद्धातज्ञान' है।"

मुमुक्षुजीवको प्रथम तो वेदात और जिनागम इन सबका अवलोकन उपदेशज्ञानकी प्राप्तिके लिये ही करना योग्य है, क्योंकि सिद्धातज्ञान जिनागम और वेदातमे परस्पर भिन्न देखनेमे आता है, और उस भिन्नताको देखकर मुमुक्षुजीव शकायुक्त हो जाता है, और यह शंका चित्तमे असमाधि उत्पन्न करती है, ऐसा प्रायः होने योग्य ही है। क्योंकि सिद्धांतज्ञान तो जीवमे किसी अत्यंत उज्ज्वल क्षयोपशमसे और

सद्गुरुके वचनकी आराधनासे उद्भूत होता है। सिद्धांतज्ञानका कारण उपदेशज्ञान है। सद्गुरु या सत्शास्त्र-से जीवमे पहले यह ज्ञान दृढ होना योग्य है कि जिस उपदेशज्ञानका फल वैराग्य और उपशम है। वैराग्य और उपशमका बल बढनेमे जीवमे सहज ही क्षयोपशमकी निर्मलता होती है, और सहज सहजमे सिद्धांतज्ञान होनेका कारण होता है। यदि जीवमें असंगदशा आ जाये तो आत्मस्वरूपका समझना एकदम सरल हो जाता है; और उस असगदशाका हेतु वैराग्य और उपशम है, जिसे जिनागममें तथा वेदांतादि अनेक शास्त्रोंमें वारंवार कहा है—विस्तारसे कहा है। अत. नि सशयतासे वैराग्य-उपशमके हेतुभूत योगवासिष्ठादि जैसे सद्ग्रन्थ विचारणीय है।

हमारे पास आनेमे किसी किसी प्रकारसे आपके साथी श्री देवकरणजीका मन रुकता था, और यह रुकना स्वाभाविक है, क्योंकि हमारे विषयमे सहज ही शंका उत्पन्न हो ऐसे व्यवहारका प्रारब्धवशात् हमे उदय रहता है, और वैसे व्यवहारका उदय देखकर प्रायः हमने 'धर्मसम्बन्धी' संगमे लौकिक एवं लोकोत्तर प्रकारसे मेलजोल नहीं किया, कि जिससे लोगोंको हमारे इस व्यवहारके प्रसंगका विचार करनेका अवसर कम आये। आपसे या श्री देवकरणजीसे अथवा किसी अन्य मुमुक्षुसे किसी प्रकारकी कुछ भी परमार्थकी बात की हो, उसमे मात्र परमार्थके सिवाय कोई अन्य हेतु नही है। इस संसारके विषम एवं भयकर स्वरूपको देखकर हमे उससे निवृत्त होनेका बोध हुआ, जिस बोधसे जीवमे शांति आकर समाधि-दशा हुई; वह बोध इस जगतमें किसी अनंत पुण्यके योगसे जीवको प्राप्त होता है, ऐसा महात्मापुरुष पुनः पुनः कह गये है। इस दुःषमकालमे अंधकार प्रगट होकर बोधका मार्ग आवरण-प्राप्त हुए जैसा हुआ है। इस कालमे हमे देहयोग मिला, यह किसी प्रकारसे खेद होता है, तथापि परमार्थसे उस खेदका भी समाधान होता रहा है, परन्तु उस देहयोगमे कभी-कभी किसी मुमुक्षुके प्रति कदाचित् लोकमार्गका प्रतिकार पुन पुन कहना होता है, ऐसा ही एक योग आपके और श्री देवकरणजीके सम्बन्धमे सहज ही हो गया है। परन्तु इससे आप हमारा कथन मान्य करें, ऐसे आग्रहके लिये कुछ भी कहना नही होता। केवल हितकारी जानकर उस बातका आग्रह किया रहता है या होता है, इतना ध्यान रहे तो किसी तरह संगका फल होना सम्भव है।

यथासम्भव जीवके अपने दोषके प्रति ध्यान करके, दूसरे जीवोके प्रति निर्दोष दृष्टि रखकर प्रवृत्ति करना, और जैसे वैराग्य-उपशमका आराधन हो वैसे करना यह प्रथम स्मरणयोग्य बात है।

आ० स्व० नमस्कार प्राप्त हो।

---

५०१ बबई, वैशाख वदी ७, रवि, १९५०

सूर्यपुरस्थित, शुभेच्छासंपन्न आर्य श्री लल्लुजी,

प्रायः जिनागममे सर्वविरति साधुको पत्र समाचारादि लिखनेकी आज्ञा नही है, और यदि वैसी सर्वविरति भूमिकामे रहकर करना चाहे तो वह अतिचार योग्य समझा जाता है। इस प्रकार साधारणतया शास्त्रका उद्देश है, और वह मुख्य मार्गसे तो यथायोग्य लगता है; तथापि जिनागमकी रचना पूर्वापर अविरोध प्रतीत होती है, और वैसा अविरोध रहनेके लिये पत्र-समाचारादि लिखनेकी आज्ञा किसी प्रकारसे जिनागममें है, उसे आपके चित्तका समाधान होनेके लिये यहाँ सक्षेपमे लिखता हूँ।

जिनेन्द्रकी जो जो आज्ञाएँ है वे सब आज्ञाएँ, सर्व प्राणी अर्थात् जिनकी आत्म-कल्याणकी कुछ इच्छा है उन सबको, वह कल्याण जिस प्रकार उत्पन्न हो और जिस प्रकार वह वृद्धिगत हो, तथा जिस प्रकार उस कल्याणकी रक्षा की जा सके, उस प्रकारसे वे आज्ञाएँ की है। यदि जिनागममे कोई ऐसी आज्ञा कही हो कि वह आज्ञा अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके सयोगमे न पल सकनेके कारण आत्मा-

को बाधकारी होती हो, तो वहाँ उस आज्ञाको गौण करके—उसका निषेध करके श्री तीर्थंकरने दूसरी आज्ञा कही है।

जिसने सर्वविरति की है ऐसे मुनिको सर्वविरति करते समयके प्रसंगमे '**सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं पच्चक्खामि, सव्वं अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, सव्वं मेहुण पच्चक्खामि, सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि,**" इस उद्देश्यके वचनोका उच्चारण करनेके लिये कहा है, अर्थात् 'सर्वप्राणातिपातसे मै निवृत्त होता हूँ', 'सर्व प्रकारके मृषावादमे मै निवृत्त होता हूँ', 'सर्व प्रकारके अदत्तादानसे मै निवृत्त होता हूँ', 'सर्व प्रकारके मैथुनसे निवृत्त होता हूँ', और 'सर्व प्रकारके परिग्रहसे निवृत्त होता हूँ।' (सर्व प्रकारके रात्रिभोजनमे तथा दूसरे वैसे वैसे कारणोसे निवृत्त होता हूँ, इस प्रकार उसके साथ बहुतसे त्यागके कारण जानना।) ऐसे जो वचन कहे है, वे सर्वविरतिकी भूमिकाके लक्षणसे कहे है। तथापि उन पाँच महाव्रतोंमें मैथुनत्यागके सिवायके चार महाव्रतोमे भगवानने फिर दूसरी आज्ञा की है कि जो आज्ञा प्रत्यक्षत: तो महाव्रतको बाधकारी लगती है, परन्तु ज्ञानदृष्टिसे देखते हुए तो रक्षणकारी है।

'मै सर्व प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ' ऐसा पच्चक्खान (प्रत्याख्यान) होनेपर भी नदी उतरने जैसे प्राणातिपातरूप प्रसगकी आज्ञा करनी पडी है, जिस आज्ञाका, यदि लोकसमुदायके विशेष समागमपूर्वक साधु आराधन करेगा, तो पंचमहाव्रतके निर्मूल होनेका समय आयेगा ऐसा जानकर भगवानने नदी पार करनेकी आज्ञा दी है। वह आज्ञा प्रत्यक्ष प्राणातिपातरूप होनेपर भी पाँच महाव्रतकी रक्षाका अमूल्य हेतुरूप होनेसे प्राणातिपातकी निवृत्तिरूप है, क्योकि पाँच महाव्रतोकी रक्षाका हेतु ऐसा जो कारण, वह प्राणातिपातकी निवृत्तिका भी हेतु ही है। प्राणातिपात होनेपर भी अप्राणातिपातरूप, ऐसी नदी पार करनेकी आज्ञा होती है, तथापि 'सर्व प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ', इस वाक्यको उस कारणसे एक बार हानि पहुँचती है, जो हानि फिरसे विचार करते हुए तो उसकी विशेष दृढताके लिये प्रतीत होती है, वैसा ही दूसरे व्रतोके लिये है। 'परिग्रहकी सर्वथा निवृत्ति करता हूँ' ऐसा व्रत होनेपर भी वस्त्र, पात्र, पुस्तकका सम्बन्ध देखनेमे आता है, वे अगीकार किये जाते है, वे परिग्रहकी सर्वथा निवृत्तिके कारणको किसी प्रकारसे रक्षणरूप होनेसे कहे है, और इससे परिणामत: अपरिग्रहरूप होते है। मूर्च्छारहितरूपसे नित्य आत्मदशा बढनेके लिये पुस्तकका अगीकार करना कहा है। तथा इस कालमे शरीर सहननकी हीनता देखकर, चित्तस्थितिका प्रथम समाधान रहनेके लिये वस्त्र पात्रादिका ग्रहण करना कहा है, अर्थात् जब आत्महित देखा तो परिग्रह रखना कहा है। प्राणातिपात क्रिया-प्रवर्तन कहा है, परन्तु भावकी दृष्टिसे इसमे अन्तर है। परिग्रहबुद्धिसे अथवा प्राणातिपातबुद्धिसे इसमेसे कुछ भी करनेके लिये कभी भगवानने नही कहा है। भगवानने जहाँ सर्वथा निवृत्तिरूप पाच महाव्रतोका उपदेश दिया है, वहा भी दूसरे जीवोके हितके लिये कहा है, और उसमे उसके त्याग जैसे दिखाई देनेवाले अपवादको भी आत्महितके लिये कहा है, अर्थात् एक परिणाम होनेसे त्याग की हुई क्रिया ग्रहण करायी है। 'मैथुनत्याग' मे जो अपवाद नही है उसका हेतु यह है कि रागद्वेषके बिना उसका भग नही हो सकता, और रागद्वेष आत्माके लिये अहितकारी है, जिससे भगवानने उसमे कोई अपवाद नही कहा है। नदी पार करना रागद्वेषके बिना भी हो सकता है, पुस्तक आदिका ग्रहण करना भी वैसे हो सकता है, परन्तु मैथुनसेवन वैसे नही हो सकता; इसलिये भगवानने यह व्रत अनपवाद कहा है, और दूसरे व्रतोमे आत्महितके लिये अपवाद कहे है, ऐसा होनेसे, जैसे जीवका, सयमका रक्षण हो, वैसा कहनेके लिये जिनागम है।

पत्र लिखने या समाचारादि कहनेका जो निषेध किया है, वह भी इसी हेतुसे है। लोकसमागम बढे, प्रीति-अप्रीतिके कारण बढे, स्त्री आदिके परिचयमे आनेका हेतु हो, सयम ढीला हो, उस उस प्रकारका परिग्रह बिना कारण अगीकृत हो, ऐसे सान्निपातिक अनत कारण देखकर पत्रादिका निषेध किया है, तथापि वह

भी अपवादसहित है। 'बृहत्कल्प' मे अनार्यभूमिमे विचरनेका निषेध किया है, और वहाँ क्षेत्रमर्यादा की है, परन्तु ज्ञान, दर्शन और संयमके हेतुसे वहाँ विचरनेका भी विधान किया है। इसी आधारसे यह ज्ञात होता है कि किन्ही ज्ञानीपुरुषका दूर रहता होता हो, उनका समागम होना मुश्किल हो, और पत्र-समाचारके सिवाय दूसरा कोई उपाय न हो, तो फिर आत्महितके सिवायकी दूसरी सर्व प्रकारकी बुद्धिका त्याग करके, वैसे ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे अथवा किसी मुमुक्षु सत्संगोकी सामान्य आज्ञासे वैसा करनेका जिनागमसे निषेध नही होता ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि जहाँ पत्र-समाचार लिखनेसे आत्महितका नाश होता हो, वही उसका निषेध किया गया है। जहाँ पत्र-समाचार न होनेसे आत्महितका नाश होता हो, वहाँ पत्र-समाचारका निषेध किया हो, यह जिनागमसे कैसे हो सकता है ? यह अब विचारणीय है।

इस प्रकार विचार करनेसे जिनागममे ज्ञान, दर्शन और संयमके संरक्षणके लिये पत्र-समाचारादिके व्यवहारका भी स्वीकार करनेका समावेश होता है, तथापि वह किसी कालके लिये, किसी महान प्रयोजनके लिये, महात्मा पुरुषोकी आज्ञासे अथवा केवल जीवके कल्याणके कारणमे ही उसका उपयोग किसी पात्रके लिये है, ऐसा समझना योग्य है। नित्यप्रति और साधारण प्रसंगमे पत्र-समाचारादिका व्यवहार संगत नही है, ज्ञानीपुरुषके प्रति उनकी आज्ञासे नित्यप्रति पत्रादि व्यवहार संगत है, तथापि दूसरे लौकिक जीवके कारणमे तो सर्वथा निषेध प्रतीत होता है। फिर काल ऐसा आया है कि जिसमे ऐसा कहनेसे भी विषम परिणाम आये। लोकमार्गमे प्रवृत्ति करनेवाले साधु आदिके मनमे यह व्यवहारमार्गका नाश करनेवाला भासमान होना संभव है, तथा इस मार्गको समझानेसे भी अनुक्रमसे बिना कारण पत्र-समाचारादि चालू हो जाये कि जिससे बिना कारण साधारण द्रव्यत्याग भी नष्ट हो जाये।

ऐसा समझकर यह व्यवहार प्रायः अंबालाल आदिसे भी नही करें, क्योंकि वैसा करनेसे भी व्यवसायका बढना सभव है। यदि आपको सर्व पच्चक्खान हो तो फिर पत्र न लिखनेका साधुने जो पच्चक्खान दिया है, वह नही दिया जा सकता। तथापि दिया हो तो भी इसमे आपत्ति न माने; वह पच्चक्खान भी ज्ञानीपुरुषकी वाणीसे रूपातर हुआ होता तो हानि न थी, परन्तु साधारणरूपसे रूपातर हुआ है, वह योग्य नही हुआ। यहाँ मूल स्वाभाविक पच्चक्खानकी व्याख्या करनेका अवसर नही है, लोकपच्चक्खानको बातका अवसर है, तथापि वह भी साधारणतया अपनी इच्छासे तोड़ना ठीक नही; अभी तो ऐसा दृढ विचार ही रखे। गुण प्रगट होनेके साधनमे जब रोध होता हो, तब उस पच्चक्खानको ज्ञानीपुरुषकी वाणीसे या मुमुक्षुजीवके सत्सगसे सहज आकारफेर होने देकर रास्तेपर लाये क्योंकि बिना कारण लोगोमे शंका उत्पन्न होने देनेकी बात योग्य नही है। अन्य पामरजीवोको बिना कारण वह जीव अहितकारी होता है। इत्यादि अनेक हेतु मानकर यथासभव पत्रादि व्यवहार कम करना ही योग्य है। हमारे प्रति कभी वैसा व्यवहार करना आपके लिये हितकारी है, इसलिये करना योग्य लगता हो तो वह पत्र श्री देवकरणजी जैसे किसी सत्सगीको पढवा कर भेजे, कि जिससे 'ज्ञानचर्चाके सिवाय इसमे कोई दूसरी बात नही है', ऐसा उनका साक्षित्व आपके आत्माको दूसरे प्रकारके पत्र-व्यवहारको करते हुए रोकनेका कारण हो। मेरे विचारके अनुसार ऐसे प्रकारमे श्री देवकरणजी विरोध नही समझेंगे, कदाचित् उन्हे वैसा लगता हो तो किसी प्रसंग-मे उनकी वह आशंका हम निवृत्त करेंगे, तथापि आपको प्राय विशेष पत्र-व्यवहार करना योग्य नही है इस लक्ष्यको न चूकियेगा। 'प्रायः' शब्दका अर्थ यह है कि मात्र हितकारी प्रसगमें पत्रका कारण कहा है, उसमें बाधा न आये। विशेष पत्र-व्यवहार करनेसे यदि वह ज्ञानचर्चारूप होगा तो भी लोकव्यवहारमे बहुत आशकाका कारण होगा। इसलिये जिस प्रकार प्रसंग प्रसंगपर आत्महितार्थ हो उसका सोच-विचार करना योग्य है। आप हमारे प्रति किसी ज्ञानप्रश्नके लिये पत्र लिखना चाहे तो वह श्री देवकरणजीको पूछकर लिखे कि जिससे आपको गुणप्राप्तिमे कम बाधा हो।

आपके अंबालालको पत्र लिखनेके विषयमे चर्चा हुई, वह यद्यपि योग्य नहीं हुआ। आपको कुछ प्रायश्चित्त दें तो उसे स्वीकारे परन्तु किसी ज्ञानवार्ताको लिखनेके बदले लिखवानेमे आपको कोई रुकावट नहीं करनी चाहिये, ऐसा साथमें यथायोग्य निर्मल अन्तःकरणसे बताना योग्य है कि जो बात मात्र जीवका हित करनेके लिये है। पर्युषणादिमे साधु दूसरेसे लिखवाकर पत्र-व्यवहार करते है, जिसमें आत्महित जैसा थोडा ही होता है। तथापि वह रूढि हो जानेसे लोग उसका निषेध नहीं करते। आप उसी तरह रूढिके अनुसार व्यवहार रखेंगे, तो भी हानि नही है; अर्थात् आपको पत्र दूसरोंसे लिखवानेमे बाधा नही आयेगी और लोगोंको आशंका नही होगी।

उपमा आदि लिखनेमे लोगोंकी विपरीतता रहती हो तो हमारे लिये एक साधारण उपमा लिखें। उपमा नही लिखे तो भी आपत्ति नही है। मात्र चित्तसमाधिके लिये, आपको लिखनेका प्रतिबन्ध नही किया। हमारे लिये उपमाकी कुछ सार्थकता नही है।

आत्मस्वरूपसे प्रणाम।

५०२

मुनि श्री लल्लुजी तथा देवकरणजी आदिके प्रति,—

सहज समागम हो जाये अथवा वे लोग इच्छापूर्वक समागम करनेके लिये आते हो तो समागम करनेमे क्या हानि है? कदाचित् वे लोग विरोधवृत्तिसे समागम करनेका प्रयत्न करते हो तो भी क्या हानि है? हमे तो उनके प्रति केवल हितकारीवृत्तिसे, अविरोध दृष्टिसे समागममे भी बरताव करना है, इसमे कौनसा पराभव है? मात्र उदीरणा करके समागम करनेका अभी कारण नही है। आप सब मुमुक्षुओंके आचारके विषयमें उन्हें कुछ संशय हो, तो भी विकल्पका अवकाश नही है। वडवामे सत्पुरुषके समागममे गये आदिका प्रश्न करें तो उसके उत्तरमे इतना ही कहना योग्य है कि "आप, हम सब आत्म-हितकी कामनासे निकले है, और करनेयोग्य भी यही है। जिन पुरुषके समागममे हम आये है, उनके समा-गममें कभी आप आकर निश्चय कर देखें कि उनके आत्माकी दशा कैसी है? और वे हमारे लिये कैसे उपकारके कर्ता है? अभी यह बात आप जाने दे ···[1]तक सहजमे भी जाना हो सके, और यह तो ज्ञान · उपकाररूप प्रसंगमे जाना हुआ है, इतना आचा ·· विकल्प करना ठीक नही है। अधिक रागद्वेष परि ··· उपदेशसे कुछ भी समझमे आये। प्रा ·· टला यह वैसे पुरुषकी कैसा तथा शास्त्रादिसे विचारकर · नही है, क्योंकि उन्होने स्वय ऐसा कहा था कि,

'आपके मुनिपनका सामान्य व्यवहार ऐसा है कि बाह्य अविरति पुरुषके प्रति वन्दनादिका व्यवहार कर्तव्य नही है। उस व्यवहारको आप भी रक्षा करे। आप वह व्यवहार करें इसमे आपकी स्वच्छन्दता नही है, इसलिये करने योग्य है। अनेक जीवोके लिये सशयका हेतु नही होगा। हमे कुछ वन्दनादिकी अपेक्षा नही है।'

इस प्रकार जिन्होंने सामान्य व्यवहारकी भी रक्षा करवायी थी, उनकी दृष्टि कैसी होनी चाहिये, इसका आप विचार करें। कदाचित् अभी यह बात आपकी समझमें न आये तो आगे जाकर समझमें आयेगी, इस विषयमे आप नि संदेह हो जायें।

दूसरी बात, सन्मार्गरूप आचारविचारमे हमारी कुछ शिथिलता हुई हो, तो आप कहे, क्योंकि वैसी शिथिलता दूर किये बिना तो हितकारी मार्ग प्राप्त नही होगा ऐसी हमारी दृष्टि है" इत्यादि प्रसंगा-

१ यह पत्र फटा हुआ मिला है। जहाँ जहाँ अक्षर नही है वहाँ वहाँ ··· (बिन्दु) रखे हैं। बादमे यह पत्र पूरा मिल जानेसे पुन· आंक ७५० के रूपमे प्रकाशित किया है।

नुसार कहना योग्य हो तो कहना, और उनके प्रति अद्वेषभाव है, यह सब उनके ध्यानमें आये, ऐसी वृत्ति और रीतिसे बरताव करना, इसमे सशय करना योग्य नही है।

अन्य साधुके विषयमे आपको कुछ कहना योग्य नही है। समागममें आनेके बाद भी कुछ न्यूनाधिकता उनका ..... क्षेप प्राप्त नही करना ..... प्रति बलवान अद्वेष ...

---

५०३ बंबई, वैशाख वदी ३०, १९५०

श्री स्थंभतीर्थक्षेत्रमे स्थित, शुभेच्छासम्पन्न भाई श्री अम्बालालके प्रति यथायोग्य विनती कि :—

आपका लिखा हुआ एक पत्र पहुँचा है। यहाँ कुशलता है।

सूरतसे मुनिश्री लल्लुजीका एक पत्र पहले आया था। उसके उत्तरमे एक पत्र यहाँसे लिखा था। उसके बाद पाँच-छ. दिन पहले उनका एक पत्र था, जिसमे आपके प्रति जो पत्रादि लिखना हुआ, उसके सम्बन्धमे हुई लोकचर्चाके विषयमे बहुतसी बातें थी, उस पत्रका उत्तर भी यहाँसे लिखा है। यह सक्षेपमे इस प्रकार है।

प्राणातिपातादि पाँच महाव्रत है वे सब त्यागके है, अर्थात् सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होना, सब प्रकारके मृषावादसे निवृत्त होना, इस प्रकार साधुके पाँच महाव्रत होते है। और जब साधु इस आज्ञाके अनुसार चले तब वह मुनिके सम्प्रदायमे है, ऐसा भगवानने कहा है। इस प्रकार पाँच महाव्रतोका उपदेश करनेपर भी जिसमे प्राणातिपातका कारण है ऐसी नदीको पार करने आदिकी क्रियाकी आज्ञा भी जिनेंद्रने दी है। वह इस अर्थमे कि नदीको पार करनेमे जीवको जो बध होगा उसकी अपेक्षा एक क्षेत्रमे निवास करनेसे बलवान बध होगा और परम्परासे पाँच महाव्रतोकी हानिका प्रसग आयेगा, यह देखकर, जिसमे द्रव्य प्राणातिपात है, ऐसी नदीको पार करनेकी आज्ञा श्री जिनेंद्रने दी है। इसी प्रकार वस्त्र, पुस्तक रखनेमे सर्वपरिग्रहविरमणव्रत नही रह सकता, फिर भी देहके सातार्थका त्याग कराकर आत्मार्थ साधनेके लिये देहको साधनरूप समझकर उसमेसे सम्पूर्ण मूर्च्छा दूर होने तक वस्त्रके नि स्पृह सम्बन्धका और विचारबल बढने तक पुस्तकके सम्बन्धका उपदेश जिनेन्द्रने दिया है। अर्थात् सर्व त्यागमे प्राणातिपात तथा परिग्रहका सब प्रकारसे अंगीकार करनेका निषेध होनेपर भी, इस प्रकारसे अंगीकार करनेकी आज्ञा जिनेन्द्रने दी है। वह सामान्य दृष्टिसे देखनेपर विषम प्रतीत होगा, तथापि जिनेन्द्रने तो सम ही कहा है। दोनो ही बाते जीवके कल्याणके लिये कही गयी है। जैसे सामान्य जीवका कल्याण हो वैसे विचारकर कहा है। इसी प्रकार मैथुनत्यागव्रत होनेपर भी उसमे अपवाद नही कहा है, क्योंकि मैथुनकी आराधना रागद्वेषके बिना नही हो सकती, ऐसा जिनेंद्रका अभिमत है। अर्थात् रागद्वेषको अपरमार्थरूप जानकर मैथुनत्यागकी अपवादरहित आराधना कही है। इसी प्रकार बृहत्कल्पसूत्रमे जहाँ साधुके विचरनेकी भूमिका प्रमाण कहा है, वहाँ चारो दिशाओमे अमुक नगर तककी मर्यादा बतायी है, तथापि उसके अतिरिक्त जो अनार्य क्षेत्र है, उसमे भी ज्ञान, दर्शन और सयमकी वृद्धिके लिये विचरनेका अपवाद बताया है। क्योंकि आर्यभूमिमे यदि किसी योगवश ज्ञानीपुरुषका समीपमे विचरना न हो और प्रारब्धयोगसे ज्ञानीपुरुषका अनार्यभूमिमे विचरना हो तो वहाँ जाना, इसमे भगवानकी बतायी हुई आज्ञाका भग नही होता।

इसी प्रकार यदि साधु पत्र-समाचार आदिका प्रसंग रखे तो प्रतिबन्ध बढता है, इस कारणसे भगवानने इसका निषेध किया है, परन्तु वह निषेध ज्ञानीपुरुषके किसी वैसे पत्र-समाचारमे अपवादरूप लगता है, क्योकि ज्ञानीके प्रति निष्कामरूपसे ज्ञानाराधनके लिये पत्र-समाचारका व्यवहार होता है। इसमे अन्य कोई संसारार्थ हेतु—उद्देश्य नही है, प्रत्युत संसारार्थ दूर होनेका हेतु है; और संसारको दूर करना

इतना ही परमार्थ है। जिससे ज्ञानीपुरुषकी अनुज्ञासे अथवा किसी सत्संगी जनकी अनुज्ञासे पत्र-समाचारका कारण उपस्थित हो तो वह संयमके विरुद्ध ही है, ऐसा नही कहा जा सकता; तथापि आपको साधुने जो पच्चक्खान दिया था, उसके भग होनेका दोष आप पर आरोपित करना योग्य है। यहाँ पच्चक्खानके स्वरूपका विचार नही करना है, परन्तु आपने उन्हें जो प्रगट विश्वास दिलाया, उसे भग करनेका क्या हेतु है? यदि वह पच्चक्खान लेनेमे आपका यथायोग्य चित्त नही था, तो आपको वह लेना योग्य न था, और यदि किसी लोक-दबावसे वैसा हुआ तो उसका भंग करना योग्य नही है, और भंग करनेका जो परिणाम है वह भग न करनेकी अपेक्षा विशेष आत्महितकारी हो, तो भी उसे स्वेच्छासे भग करना योग्य नही है, क्योकि जीव रागद्वेष अथवा अज्ञानसे सहजमे अपराधी होता है, उसका विचारा हुआ हिताहित विचार कई बार विपर्यय होता है। इसलिये आपने जिस प्रकारसे पच्चक्खानका भंग किया है, वह अपराधयोग्य है, और उसका प्रायश्चित्त लेना भी किसी तरह योग्य है। "परन्तु किसी प्रकारकी संसारबुद्धिसे यह कार्य नही हुआ, और संसारकार्यके प्रसंगसे पत्र-समाचारका व्यवहार करनेकी मेरी इच्छा नही है, यह जो कुछ पत्रादिका लिखना हुआ है, वह मात्र किसी जीवके कल्याणकी बातके विषयमे हुआ है, और यदि वह न किया गया होता तो वह एक प्रकारसे कल्याणरूप था, परन्तु दूसरे प्रकारसे चित्तकी व्यग्रता उत्पन्न होकर अन्तर क्लेशित होता था। इसलिये जिसमे कुछ ससारार्थ नही है, किसी प्रकारकी अन्य वाछा नही है, मात्र जीवके हितका प्रसंग है, ऐसा समझकर लिखना हुआ है। महाराज द्वारा दिया हुआ पच्चक्खान भी मेरे हितके लिये था कि जिससे मै किसी संसारी प्रयोजनमे न पड जाऊँ, और उसके लिये उनका उपकार था। परन्तु मैंने ससारी प्रयोजनसे यह कार्य नही किया है, आपके संघाडेके प्रतिबधको तोड़नेके लिये यह कार्य नही किया है; तो भी यह एक प्रकारसे मेरी भूल है, तब उसे अल्प साधारण प्रायश्चित्त देकर क्षमा करना योग्य है। पर्युषणादि पर्वमे साधु श्रावकसे श्रावकके नामसे पत्र लिखवाते है, उसके सिवाय किसी दूसरे प्रकारसे अब प्रवृत्ति न की जाये और ज्ञानचर्चा लिखी जाये तो भी बाधा नही है," इत्यादि भाव लिखे हैं। आप भी उस तथा इस पत्रको विचारकर जैसे क्लेश उत्पन्न न हो वैसा कीजियेगा। किसी भी प्रकारसे सहन करना अच्छा है। ऐसा न हो तो साधारण कारणमे महान विपरीत क्लेशरूप परिणाम आता है। यथासम्भव प्रायश्चित्तका कारण न हो तो न करना, नही तो फिर अल्प भी प्रायश्चित्त लेनेमे बाधा नही है। वे यदि प्रायश्चित्त दिये बिना कदाचित् इस बातको जाने दें, तो भी आप अर्थात् साधु लल्लुजीको चित्तमे इस बातका इतना पश्चात्ताप करना तो योग्य है कि ऐसा करना भी योग्य न था। भविष्यमे देवकरणजी साधु जैसेकी समक्षतामे वहाँसे कोई श्रावक लिखनेवाला हो और पत्र लिखवाये तो बाधा नही है, इतनी व्यवस्था उस सम्प्रदायमे चली आती है, इससे प्राय. लोग विरोध नही करेंगे। और उसमे भी यदि विरोध जैसा लगता हो तो अभी उस बातके लिये भी धैर्य रखना हितकारी है। लोकसमुदायमे क्लेश उत्पन्न न हो, इस लक्ष्यको चूकना अभी योग्य नही है, क्योकि वैसा कोई बलवान प्रयोजन नही है।

श्री कृष्णदासका पत्र पढ़कर सात्त्विक हर्ष हुआ है। जिज्ञासाका बल जैसे बढे वैसे प्रयत्न करना, यह प्रथम भूमिका है। वैराग्य और उपशमके हेतुभूत 'योगवासिष्ठादि' ग्रन्थोके पठनमे बाधा नही है। अनाथदासजी रचित 'विचारमाला' ग्रन्थ सटीक अवलोकन करने योग्य है। हमारा चित्त नित्य सत्सगकी इच्छा करता है, तथापि प्रारब्धयोग स्थिति है। आपके समागमी भाइयो द्वारा यथासम्भव सद्ग्रन्थोंका अवलोकन हो, उसे अप्रमादपूर्वक करना योग्य है। और एक दूसरेका नियमित परिचय किया जाये इतना ध्यान रखना योग्य है।

प्रमाद सब कर्मोंका हेतु है।

---

५०४ बंबई, वैशाख, १९५०

मनका, वचनका तथा कायाका व्यवसाय जितना चाहते है, उसको अपेक्षा इस समय विशेष रहा करता है। और इसी कारणसे आपको पत्रादि लिखना नही हो सकता। व्यवसायके विस्तारकी इच्छा नही की जाती है, फिर भी वह प्राप्त हुआ करता है। और ऐसा लगता है कि वह व्यवसाय अनेक प्रकारसे वेदन करने योग्य है, कि जिसके वेदनसे पुनः उसका उत्पत्तियोग दूर होगा, निवृत्त होगा। कदाचित् प्रबलरूपसे उसका निरोध किया जाये तो भी उस निरोधरूप क्लेशके कारण आत्मा आत्मरूपसे विस्रसापरिणामकी तरह परिणमन नही कर सकता, ऐसा लगता है। इसलिये उस व्यवसायकी अनिच्छारूपसे जो प्राप्ति हो, उसे वेदन करना, यह किसी प्रकारसे विशेष सम्यक् लगता है।

किसी प्रगट कारणका अवलम्बन लेकर, विचारकर परोक्ष चले आते हुए सर्वज्ञपुरुषको मात्र सम्यग्-दृष्टिरूपसे भी पहिचान लिया जाये तो उसका महान फल है, और यदि वैसे न हो तो सर्वज्ञको सर्वज्ञ कहनेका कोई आत्मा सम्बन्धी फल नही है, ऐसा अनुभवमे आता है।

प्रत्यक्ष सर्वज्ञपुरुषको भी यदि किसी कारणसे, विचारसे, अवलम्बनसे, सम्यग्दृष्टिरूपसे भी न जाना हो तो उसका आत्मप्रत्ययी फल नही है। परमार्थसे उसकी सेवा-असेवासे जीवको कोई जाति-( )-भेद नही होता। इसलिये उसे कुछ सफल कारणरूपसे ज्ञानीपुरुषने स्वीकार नही किया है, ऐसा मालूम होता है।

कई प्रत्यक्ष वर्तमानोसे ऐसा प्रगट ज्ञात होता है कि यह काल विषम या दुषम या कलियुग है। कालचक्रके परावर्तनमे दुषमकाल पूर्वकालमे अनंत बार आ चुका है, तथापि ऐसा दुषमकाल किसी समय ही आता है। श्वेताम्बर संप्रदायमे ऐसी परपरागत बात चली आती है कि 'असयतिपूजा' नामसे आश्चर्य-युक्त 'हुड'-ढीठ ऐसे इस पचमकालको तीर्थंकर आदिने अनंत कालमे आश्चर्यस्वरूप माना है, यह बात हमे बहुत करके अनुभवमे आती है, मानो साक्षात् ऐसी प्रतीत होती है।

काल ऐसा है। क्षेत्र प्राय· अनार्य जैसा है, वहाँ स्थिति है, प्रसंग, द्रव्य, काल आदि कारणोसे सरल होनेपर भी लोकसज्ञारूपसे गिनने योग्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावके आलंबन बिना निराधाररूपसे जैसे आत्मभावका सेवन किया जाये वैसे सेवन करता है। अन्य क्या उपाय ?

५०५

ॐ

वीतरागका कहा हुआ परम शान्त रसमय धर्म पूर्ण सत्य है, ऐसा निश्चय रखना। जीवकी अन-धिकारिताके कारण तथा सत्पुरुषके योगके बिना समझमे नही आता, तो भी जीवके ससाररोगको मिटाने-के लिये उस जैसा दूसरा कोई पूर्ण हितकारी औषध नही है, ऐसा वारवार चिंतन करना।

यह परम तत्त्व है, इसका मुझे सदैव निश्चय रहो; यह यथार्थ स्वरूप मेरे हृदयमे प्रकाश करो, और जन्ममरणादि बन्धनसे अत्यन्त निवृत्ति होओ! निवृत्ति होओ!!

हे जीव! इस क्लेशरूप ससारसे विरत हो, विरत हो; कुछ विचार कर, प्रमाद छोड़कर जागृत हो! जागृत हो!! नही तो रत्नचिन्तामणि जैसी यह मनुष्यदेह निष्फल जायेगी।

हे जीव! अब तुझे सत्पुरुषकी आज्ञा निश्चयसे उपासने योग्य है। ॐ शाति शाति· शातिः

---

५०६ बम्बई, वैशाख, १९५०

श्री तीर्थंकर आदि महात्माओने ऐसा कहा है कि विपर्यास दूर होकर जिसको देहादिमे हुई आत्म-बुद्धि और आत्मभावमें हुई देहबुद्धि नष्ट हो गयी है, अर्थात् आत्मा आत्मपरिणामी हो गया है, ऐसे ज्ञानी-

पुरुषको भी जब तक प्रारब्ध व्यवसाय है, तब तक जागृतिमें रहना योग्य है। क्योंकि अवकाश प्राप्त होने-पर वहाँ भी अनादि विपर्यास भयका हेतु हमे लगता है। जहाँ चार घनघाती कर्म छिन्न हो गये हैं, ऐसे सहजस्वरूप परमात्मामे तो सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण जागृतिरूप तुर्यावस्था है; इसलिये वहाँ अनादि विपर्यास निर्बीजताको प्राप्त हो जानेसे किसी भी प्रकारसे उसका उद्‌भव हो ही नही सकता, तथापि उससे न्यून ऐसे विरति आदि गुणस्थानकमे स्थित ज्ञानीको तो प्रत्येक कार्यमे और प्रत्येक क्षणमे आत्मजागृति होना योग्य है। जिसने चौदह पूर्वको अंशतः न्यून जाना है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको भी प्रमादवशात् अनंतकाल परिभ्रमण हुआ है। इसलिये जिसकी व्यवहारमे अनासक्त बुद्धि हुई है उस पुरुषको भी यदि वैसे उदयका प्रारब्ध हो तो उसकी निवृत्तिका क्षण क्षण चिन्तन करना और निजभावकी जागृति रखना चाहिये। इस प्रकार महाज्ञानी श्री तीर्थंकर आदिने ज्ञानीपुरुषको सूचना की है, तो फिर जिसका मार्गानुसारी अवस्थामे भी अभी प्रवेश नही हुआ है, ऐसे जीवको तो इस सर्व व्यवसायसे विशेष विशेष निवृत्तभाव रखना. और विचार-जागृति रखना योग्य है, ऐसा बताने जैसा भी नही रहता, क्योकि वह तो सहजमे ही समझमे आ सकता है।

ज्ञानीपुरुषोने दो प्रकारसे बोध दिया है। एक तो 'सिद्धान्तबोध' और दूसरा उस सिद्धानबोधके होनेमे कारणभूत ऐसा 'उपदेशबोध'। यदि उपदेशबोध जीवके अन्तःकरणमे स्थितिमान हुआ न हो तो, उसे सिद्धांतबोधका मात्र श्रवण भले ही हो, परन्तु उसका परिणमन नही हो सकता। सिद्धातबोध अर्थात् पदार्थ-का जो सिद्ध हुआ स्वरूप है; ज्ञानीपुरुषोंने निष्कर्ष निकालकर जिस प्रकारसे अन्तमे पदार्थको जाना है, उसे जिस प्रकारसे वाणी द्वारा कहा जा सके उस प्रकार बताया है, ऐसा जो बोध है वह 'सिद्धातबोध' है। परन्तु पदार्थका निर्णय करनेमे जीवको अन्तरायरूप उसकी अनादि विपर्यासभावको प्राप्त हुई बुद्धि है, जो व्यक्तरूपसे या अव्यक्तरूपसे विपर्यासभावसे पदार्थस्वरूपका निर्धार कर लेती है; उस विपर्यासबुद्धिका बल घटनेके लिये, यथावत् वस्तुस्वरूपके ज्ञानमे प्रवेश होनेके लिये, जीवको वैराग्य और उपशम साधन कहे है, और ऐसे जो जो साधन जीवको ससारभय दृढ कराते हैं, उन उन साधनो सम्बन्धी जो उपदेश कहा है, वह 'उपदेशबोध' है।

यहाँ ऐसा भेद उत्पन्न होता है कि 'उपदेशबोध' की अपेक्षा 'सिद्धातबोध' की मुख्यता प्रतीत होती है, क्योकि उपदेशबोध भी उसीके लिये है, तो फिर यदि सिद्धातबोधका ही पहलेसे अवगाहन किया हो तो वह जीवको पहलेसे ही उन्नतिका हेतु है। यदि ऐसा विचार उत्पन्न हो तो वह विपरीत है, क्योकि सिद्धात-बोधका जन्म उपदेशबोधसे होता है। जिसे वैराग्य-उपशम सम्बन्धी उपदेशबोध नही हुआ उसे बुद्धिकी विपर्यासता रहा करती है, और जब तक बुद्धिकी विपर्यासता हो तब तक सिद्धातका विचार करना भी विपर्यासरूपसे होना ही संभव है। क्योकि चक्षुमे जितना धुँधलापन रहता है, वह उतना ही पदार्थको धुँधला देखता है, और यदि उसका पटल अत्यन्त बलवान हो तो उसे समूचा पदार्थ दिखायी नही देता, तथा जिसका चक्षु यथावत् संपूर्ण तेजस्वी है, वह पदार्थको भी यथायोग्य देखता है। इस प्रकार जिस जीवकी गाढ विपर्यासबुद्धि है, उसे तो किसी भी तरह सिद्धातबोध विचारमे नही आ सकता। जिसकी विपर्यासबुद्धि मंद हुई है उसे तदनुसार सिद्धातका अवगाहन होता है, और जिसने उस विपर्यासबुद्धिको विशेषरूपसे क्षीण किया है, ऐसे जीवको विशेषरूपसे सिद्धातका अवगाहन होता है।

गृहकुटुम्ब परिग्रहादि भावमे जो अहंता ममता है और उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिके प्रसंगमें जो रागद्वेष कषाय है, वही 'विपर्यासबुद्धि' है, और जहाँ वैराग्य उपशमका उद्‌भव होता है, वहाँ अहता-ममता तथा कषाय मंद पड जाते है, अनुक्रमसे नष्ट होने योग्य हो जाते हैं। गृहकुटुम्बादि भावमे अनासक्तबुद्धि होना 'वैराग्य' है; और उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले कषायक्लेशका मंद होना 'उपशम' है।

अर्थात् ये दो गुण विपर्यासबुद्धिको पर्यायांतर करके सद्बुद्धि करते है; और वह सद्बुद्धि, जीवाजीवादि पदार्थकी व्यवस्था जिससे ज्ञात होती है ऐसे सिद्धातकी विचारणा करने योग्य होती है। क्योकि जैसे चक्षुको पटलादिका अन्तराय दूर होनेसे पदार्थ यथावत् दीखता है वैसे ही अहंतादि पटलकी मंदता होनेसे जीवको ज्ञानीपुरुषके कहे हुए सिद्धांतभाव, आत्मभाव विचारचक्षुसे दिखायी देते हैं। जहाँ वैराग्य और उपशम बलवान हैं, वहाँ विवेक बलवानरूपमे होता है, जहाँ वैराग्य और उपशम बलवान नही होते वहाँ विवेक प्रबल नही होता, अथवा यथावत् विवेक नही होता। सहज आत्मस्वरूप ऐसा केवलज्ञान भी प्रथम मोहनीय कर्मके क्षयके बाद प्रगट होता है। और इस बातसे उपर्युक्त सिद्धात स्पष्ट समझा जा सकेगा।

फिर ज्ञानीपुरुषोंकी विशेष शिक्षा वैराग्य-उपशमका प्रतिबोध करती हुई दिखायी देती है। जिनागम-पर दृष्टि डालनेसे यह बात विशेष स्पष्ट जानी जा सकेगी। 'सिद्धांतबोध' अर्थात् जीवाजीव पदार्थका विशेषरूपसे कथन उस आगममे जितना किया है, उसकी अपेक्षा विशेषरूपसे, अति विशेषरूपसे वैराग्य और उपशमका कथन किया है, क्योकि उसकी सिद्धि होनेके पश्चात् सहजमे ही विचारकी निर्मलता होगी, और विचारकी निर्मलता सिद्धांतरूप कथनको सहजमे ही अथवा थोडे ही परिश्रमसे अगीकार कर सकती है, अर्थात् उसकी भी सहजमे ही सिद्धि होगी, और वैसा ही होते रहनेसे जगह जगह इसी अधिकारका व्याख्यान किया है। यदि जीवको आरभ-परिग्रहकी विशेष प्रवृत्ति रहती हो तो, वैराग्य और उपशम हो तो उनका भी नष्ट हो जाना सभव है, क्योकि आरंभ-परिग्रह अवैराग्य और अनुपशमके मूल है, वैराग्य और उपशमके काल है।

श्री ठाणागसूत्रमे आरभ और परिग्रहके बलको बताकर, फिर उससे निवृत्त होना योग्य है, यह उपदेश करनेके लिये इस भावसे द्विभंगी कही है —

१ जीवको मतिज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरंभ और परिग्रह हो तब तक।
२ जीवको श्रुतज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरभ और परिग्रह हो तब तक।
३ जीवको अवधिज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरम्भ और परिग्रह हो तब तक।
४ जीवको मनःपर्यायज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरम्भ और परिग्रह हो तब तक।
५ जीवको केवलज्ञानावरणीय कब तक हो ? जब तक आरम्भ और परिग्रह हो तब तक।

ऐसा कहकर दर्शनादिके भेद बताकर सत्रह बार वही की वही बात बतायी है कि वे आवरण तब तक रहते है जब तक आरम्भ और परिग्रह हो। ऐसा परिग्रहका बल बताकर फिर अर्थापत्तिरूपसे पुनः उसका वही कथन किया है।

१. जीवको मतिज्ञान कब उपजे ? आरम्भ-परिग्रहसे निवृत्त होने पर।
२ जीवको श्रुतज्ञान कब उपजे ? आरम्भ परिग्रहसे निवृत्त होने पर।
३. जीवको अवधिज्ञान कब उपजे ? आरम्भ-परिग्रहसे निवृत्त होने पर।
४. जीवको मनःपर्यायज्ञान कब उपजे ? आरम्भ-परिग्रहसे निवृत्त होने पर।
५. जीवको केवलज्ञान कब उपजे ? आरम्भ-परिग्रहसे निवृत्त होने पर।

इस प्रकार सत्रह प्रकारोंको फिरसे कहकर, आरम्भ-परिग्रहकी निवृत्तिका फल, जहाँ अंतमे केवल-ज्ञान है, वहाँ तक लिया है; और प्रवृत्तिके फलको केवलज्ञान तकके आवरणका हेतुरूप कहकर, उसकी अत्यन्त प्रबलता बताकर, जीवको उससे निवृत्त होनेका ही उपदेश किया है। बार बार ज्ञानीपुरुषोंके वचन जीवको इस उपदेशका ही निश्चय करनेकी प्रेरणा करना चाहते है, तथापि अनादि असत्संगसे उत्पन्न हुई ऐसी दुष्ट इच्छा आदि भावोंमे मूढ़ बना हुआ यह जीव प्रतिबोध नही पाता, और उन भावों-

की निवृत्ति किये बिना अथवा निवृत्तिका प्रयत्न किये बिना श्रेय चाहता है, कि जिसका सम्भव कभी भी नही हो सका है, वर्तमानमे होता नही है, और भविष्यमे होगा नही।

---

५०७ बंबई, ज्येष्ठ सुदी ११, गुरु, १९५०

यहाँ उपाधिका बल जैसेका तैसा रहता है। जैसे उसके प्रति उपेक्षा होती है वैसे बलवान उदय होता है; प्रारब्ध धर्म समझकर वेदन करना योग्य है, तथापि निवृत्तिकी इच्छा और आत्माकी शिथिलता है, ऐसा विचार खेद देता रहता है।

कुछ भी निवृत्तिका स्मरण रहे इतना सत्संग तो करते रहना योग्य है।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५०८ बंबई, जेठ सुदी १४, रवि, १९५०

ॐ

परमस्नेही श्री सोभाग,

आपका एक पत्र सविस्तर मिला है। उपाधिके प्रसगसे उत्तर लिखना नही हुआ, सो क्षमा कीजियेगा।

चित्तमे उपाधिके प्रसंगके लिये वारंवार खेद होता है कि यदि ऐसा उदय इस देहमे बहुत समय तक रहा करे तो समाधिदशाका जो लक्ष्य है वह जैसेका तैसा अप्रधानरूपसे रखना पडे, और जिसमे अत्यन्त अप्रमादयोग जरूरी है, उसमे प्रमादयोग जैसा हो जाये।

कदाचित् वैसा न हो तो भी यह समार किसी प्रकारसे रुचियोग्य प्रतीत नही होता, प्रत्यक्ष रस-रहित स्वरूप ही दिखायी देता है; उसमे सद्‌विचारवान जीवको अल्प भी रुचि अवश्य नही होती, ऐसा निश्चय रहा करता है। वारवार संसार भयरूप लगता है। भयरूप लगनेका दूसरा कोई कारण प्रतीत नही होता, मात्र इसमे शुद्ध आत्मस्वरूपको अप्रधान रखकर प्रवृत्ति होती है, जिससे बडी परेशानी रहती है, और नित्य छूटनेका लक्ष्य रहता है। तथापि अभी तो अन्तरायका सम्भव है, और प्रतिबन्ध भी रहा करता है। तथा तदनुसारी दूसरे अनेक विकल्पोसे कटु लगनेवाले इस ससारमे बरबस स्थिति है।

आप कितने ही प्रश्न लिखते है वे उत्तरयोग्य होते है, फिर भी वह उत्तर न लिखनेका कारण उपाधि प्रसंगका बल है, तथा उपर्युक्त जो चित्तका खेद रहता है, वह है। आ० स्व० प्रणाम।

---

५०९ मोहमयी, आषाढ सुदी ६, रवि, १९५०

श्री सूर्यपुरस्थित, शुभवृत्तिसंपन्न, सत्सगयोग्य श्री लल्लुजीके प्रति,

यथायोग्यपूर्वक विनती कि—

पत्र प्राप्त हुआ है। उसके साथ तीन प्रश्न अलग लिखे हैं, वे भी प्राप्त हुए हैं। जो तीन प्रश्न लिखे हैं उन प्रश्नोका मुमुक्षु जीवको विचार करना हितकारी है।

जीव और काया पदार्थरूपसे भिन्न है, परन्तु सम्बन्धरूपसे सहचारी हैं, कि जब तक उस देहसे जीवको कर्मका भोग है। श्री जिनेन्द्रने जीव और कर्मका सम्बन्ध क्षीरनीरके सम्बन्धकी भाँति कहा है, उसका हेतु भी यही है कि क्षीर और नीर एकत्र हुए स्पष्ट दीखते है, फिर भी परमार्थसे वे अलग है, पदार्थरूपसे भिन्न है, अग्निप्रयोगसे वे फिर स्पष्ट अलग हो जाते हैं। उसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध है। कर्मका मुख्य आकार किसी प्रकारसे देह है, और जीवको इन्द्रियादि द्वारा क्रिया करता हुआ देखकर जीव है, ऐसा सामान्यतः कहा जाता है। परन्तु ज्ञानदशा आये बिना जीव और कायाकी जो स्पष्ट

भिन्नता है, वह जीवको भासित नही होती; तथापि क्षीरनीरवत् भिन्नता है। ज्ञानसस्कारसे वह भिन्नता एकदम स्पष्ट हो जाती है। अब यहाँ आपने ऐसा प्रश्न किया है कि यदि ज्ञानसे जीव और कायाको भिन्न भिन्न जाना है तो फिर वेदनाका वेदन करना और मानना क्यो होता है? यह फिर न होना चाहिये, यह प्रश्न यद्यपि होना है, तथापि उसका समाधान इस प्रकार है—

जैसे सूर्यसे तप्त हुआ पत्थर सूर्यके अस्त होनेके बाद भी अमुक समय तक तप्त रहता है, और फिर अपने स्वरूपमे आता है; वैसे पूर्वके अज्ञान-संस्कारसे उपार्जित किये हुए वेदना आदि तापका इस जीवसे सम्बन्ध है। यदि ज्ञानयोगका कोई कारण हुआ तो फिर अज्ञानका नाश हो जाता है, और उससे उत्पन्न होनेवाला भावी कर्म नष्ट हो जाता है; परन्तु उस अज्ञानसे उत्पन्न हुए वेदनीय कर्मका—उस अज्ञानके सूर्यकी भाँति, उसके अस्त होनेके पश्चात्—पत्थररूपी जीवके साथ सम्बन्ध रहता है, जो आयुकर्मके नाशसे नष्ट होता है। भेद इतना है कि ज्ञानीपुरुषको कायामे आत्मबुद्धि नही होती, और आत्मामे काया-बुद्धि नही होती, उनके ज्ञानमे दोनो ही स्पष्ट भिन्न प्रतीत होते है। मात्र जैसे पत्थरको सूर्यके तापका सम्बन्ध रहता है, वैसे पूर्व सम्बन्ध होनेसे वेदनीय कर्मका, आयु-पूर्णता तक अविषमभावसे वेदन होता है, परन्तु वह वेदन करते हुए जीवके स्वरूपज्ञानका भग नही होता, अथवा यदि होता है तो उस जीवको वैसा स्वरूपज्ञान होना सम्भव नही है। आत्मज्ञान होनेसे पूर्वोपार्जित वेदनीय कर्मका नाश ही हो जाये, ऐसा नियम नही है, वह अपनी स्थितिसे नष्ट होता है। फिर वह कर्म ज्ञानको आवरण करनेवाला नही है, अव्याबाधत्वको आवरणरूप है, अथवा तब तक सम्पूर्ण अव्याबाधत्व प्रगट नही होता; परन्तु सम्पूर्ण ज्ञानके साथ उसका विरोध नही है। सम्पूर्ण ज्ञानीको आत्मा अव्याबाध है, ऐसा निजरूपका अनुभव रहता है। तथापि सम्बन्धरूपसे देखते हुए उसका अव्याबाधत्व वेदनीय कर्मसे अमुकभावसे रुका हुआ है। यद्यपि उस कर्ममे ज्ञानीको आत्मबुद्धि नही होनेसे अव्याबाध गुणको भी मात्र सम्बन्धका आवरण है, साक्षात् आवरण नही है।

वेदनाका वेदन करते हुए जीवको कुछ भी विषमभाव होना, यह अज्ञानका लक्षण है, परन्तु वेदना है, यह अज्ञानका लक्षण नही है, पूर्वोपार्जित अज्ञानका फल है। वर्तमानमे वह मात्र प्रारब्धरूप है उसका वेदन करते हुए ज्ञानीको अविषमता रहती है, अर्थात् जीव और काया अलग है, ऐसा जो ज्ञानीपुरुषका ज्ञानयोग वह अबाध ही रहता है। मात्र विषमभावरहितपन है, यह प्रकार ज्ञानको अव्याबाध है। जो विषमभाव है वह ज्ञानको बाधाकारक है। देहमे देहबुद्धि और आत्मामे आत्मबुद्धि, देहसे उदासीनता और आत्मामे स्थिति है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको वेदनाका उदय प्रारब्धके वेदनरूप है, नये कर्मका हेतु नही है।

दूसरा प्रश्न—परमात्मस्वरूप सब जगह एकसा है, सिद्ध और संसारी जीव एकसे है, तब सिद्धकी स्तुति करनेमे कुछ बाधा है या नही? इस प्रकारका प्रश्न है। परमात्मस्वरूप प्रथम विचारणीय है। व्यापकरूपसे परमात्मस्वरूप सर्वत्र है या नही? यह बात विचार करने योग्य है।

सिद्ध और ससारी जीव समसत्तावानस्वरूपसे है, यह निश्चय ज्ञानीपुरुषोने किया है, वह यथार्थ है। तथापि भेद इतना है कि सिद्धमे वह सत्ता प्रकटरूपसे है, ससारी जीवमे वह सत्ता सत्तारूपसे है, जैसे दीपकमे अग्नि प्रकट है और चकमक पत्थरमे अग्नि सत्तारूपसे है, वैसे यहाँ समझे। दीपकमे और चकमकमे जो अग्नि है वह अग्निरूपसे समान है। व्यक्ति (प्रगटता) रूपसे और शक्ति (सत्ता) रूपसे भेद है, परन्तु वस्तुकी जातिरूपसे भेद नही है। उसी तरह सिद्धके जीवमे जो चेतनसत्ता है वही सब संसारी जीवोमे है। भेद मात्र प्रगटता-अप्रगटताका है। जिसे वह चेतनसत्ता प्रगट नही हुई, ऐसे ससारी जीवको, वह सत्ता प्रगट होनेका हेतु, जिसमे प्रगट सत्ता है ऐसे सिद्ध भगवानका स्वरूप, वह विचार करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है, स्तुति करने योग्य है; क्योकि उससे आत्माको निजस्वरूपका विचार, ध्यान तथा स्तुति

करनेका प्रकार मिलता है कि जो कर्तव्य है। सिद्धस्वरूप जैसा आत्मस्वरूप है ऐसा विचारकर और इस आत्मामें वर्तमानमे उसकी अप्रगटता है, उसका अभाव करनेके लिये उस सिद्धस्वरूपका विचार, ध्यान तथा स्तुति करना योग्य है। यह प्रकार समझकर सिद्धकी स्तुति करनेमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

'आत्मस्वरूपमे जगत नहीं है', यह बात वेदान्तमें कही है अथवा ऐसा योग्य है। परन्तु 'बाह्य जगत नही है', ऐसा अर्थ मात्र जीवको उपशम होनेके लिये मानने योग्य समझा जाये।

इस प्रकार इन तीन प्रश्नोंका संक्षेपमें समाधान लिखा है, उसे विशेषरूपसे विचारियेगा। कुछ विशेष समाधान जाननेकी इच्छा हो, वह लिखियेगा। जिस तरह वैराग्य-उपशमकी वर्धमानता हो उस तरह करना अभी तो कर्तव्य है।

---

५१० बम्बई, आषाढ सुदी ६, रवि, १९५०

श्री स्थम्भतीर्थस्थित शुभेच्छासम्पन्न श्री त्रिभुवनदासके प्रति यथायोग्यपूर्वक विनती कि—

बंधवृत्तियोंका उपशम करनेके लिये और निवर्तन करनेके लिये जीवको अभ्यास, सतत अभ्यास कर्त्तव्य है, क्योकि विचारके बिना और प्रयासके बिना उन वृत्तियोका उपशमन अथवा निवर्तन कैसे हो? कारणके बिना किसी कार्यका होना सम्भव नही है, तो फिर यदि इस जीवने उन वृत्तियोके उपशमन अथवा निवर्तनका कोई उपाय न किया हो तो उनका अभाव नही होता, यह स्पष्ट सम्भव है। कई बार पूर्वकालमे वृत्तियोके उपशमन तथा निवर्तनका जीवने अभिमान किया है, परन्तु वैसा कोई साधन नही किया, और अभी तक जीव उस प्रकारका कोई उपाय नहीं करता; अर्थात् अभी उसे उस अभ्यासमे कोई रस दिखायी नही देता, तथा कटुता लगनेपर भी उस कटुताकी अवगणना कर यह जीव उपशमन एवं निवर्तनमें प्रवेश नही करता। यह बात इस दुष्टपरिणामी जीवके लिये वारवार विचारणीय है, किसी प्रकारसे विसर्जन करने योग्य नही है।

जिस प्रकारसे पुत्रादि सम्पत्तिमे इस जीवको मोह होता है, वह प्रकार सर्वथा नीरस और निन्दनीय है। जीव यदि जरा भी विचार करे तो यह बात स्पष्ट समझमे आने जैसी है कि इस जीवने किसीमे पुत्रत्वकी भावना करके अपना अहित करनेमे कोई कसर नही रखी, और किसीको पिता मानकर भी वैसा ही किया है, और कोई जीव अभी तक तो पिता पुत्र हो सका हो, ऐसा देखनेमे नही आया। सब कहते आये है कि इसका यह पुत्र अथवा इसका यह पिता है, परन्तु विचार करते हुए स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह बात किसी भी कालमे सम्भव नही है। अनुत्पन्न ऐसे इस जीवको पुत्ररूपसे मानना अथवा ऐसा मनवानेकी इच्छा रहना, यह सब जीवकी मूढता है, और यह मूढता किसी भी प्रकारसे सत्सगकी इच्छावाले जीवको करना योग्य नही है।

आपने जो मोहादि प्रकारके विषयमे लिखा है, वह दोनोके लिये भ्रमणका हेतु है, अत्यन्त विडम्बनाका हेतु है। ज्ञानीपुरुष भी यदि इस तरह आचरण करे तो ज्ञानको ठोकर मारने जैसा है, और सब प्रकारसे अज्ञाननिद्राका वह हेतु है। इस प्रकारके विचारसे दोनोको सीधा भाव कर्त्तव्य है। यह बात अल्पकालमे ध्यानमे लेने योग्य है। आप और आपके सत्संगो यथासम्भव निवृत्तिका अवकाश लें, यही जीवको हितकारी है।

---

५११ मोहमयी, आषाढ सुदी ६, रवि, १९५०

ॐ

श्री अंजारस्थित, परमस्नेही श्री सुभाग्य,

आपका सविस्तर एक पत्र तथा एक चिट्ठी प्राप्त हुए हैं। उनमें लिखे हुए प्रश्न मुमुक्षुजीवके लिये विचारणीय हैं।

इस जीवने पूर्वकालमे जो जो साधन किये है, वे वे साधन ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे हुए मालूम नही होते, यह बात सदेहरहित प्रतीत होती है। यदि ऐमा हुआ होता तो जीवको संसारपरिभ्रमण न होता। ज्ञानीपुरुषकी जो आज्ञा है वह भवभ्रमणको रोकनेके लिये प्रतिबंध जैसी है, क्योंकि जिन्हे आत्मार्थके सिवाय दूसरा कोई प्रयोजन नही है और आत्मार्थ साधकर भी जिनकी देह प्रारब्धवशात् है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञा सन्मुख जीवको केवल आत्मार्थमें ही प्रेरित करती है; और इस जीवने तो पूर्वकालमें कोई आत्मार्थ जाना नही है, प्रत्युत आत्मार्थ विस्मरणरूपसे चला आया है। वह अपनी कल्पनासे साधन करे तो उससे आत्मार्थ नही होता, प्रत्युत आत्मार्थका साधन करता हूँ ऐसा दुष्ट अभिमान उत्पन्न होता है कि जो जीवके लिये संसारका मुख्य हेतु है। जो बात स्वप्नमे भी नही आती, उसे जीव यदि व्यर्थ कल्पनासे साक्षात्कार जैसी मान ले तो उससे कल्याण नही हो सकता। उसी प्रकार यह जीव पूर्वकालसे अंधा चला आता हुआ भी यदि अपनी कल्पनासे आत्मार्थ मान ले तो उसमे सफलता नहीं होती, यह बात बिलकुल समझमे आने जैसी है। इसलिये यह तो प्रतीत होना है कि जीवके पूर्वकालीन सभी अशुभ साधन, कल्पित साधन दूर होनेके लिये अपूर्व ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई उपाय नही है, और वह अपूर्व विचारके बिना उत्पन्न होना सभव नही है, और यह अपूर्व विचार, अपूर्व पुरुषके आराधनके बिना दूसरे किस प्रकारसे जीवको प्राप्त हो, यह विचार करते हुए यही सिद्धांत फलित होता है कि ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाका आराधन, यह सिद्धपदका सर्व श्रेष्ठ उपाय है, और यह बात जब जीवको मान्य होती है, तभीसे दूसरे दोषोका उपशमन और निवर्तन शुरू होता है।

श्री जिनेन्द्रने इस जीवके अज्ञानकी जो जो व्याख्या की है, उसमे समय समयपर उसे अनतकर्मका व्यवसायी कहा है, और अनादिकालसे अनंतकर्मका बंध करता आया है, ऐसा कहा है। यह बात तो यथार्थ है। परन्तु यहाँ आपको एक प्रश्न हुआ है कि 'तो फिर वैसे अनंतकर्मोको निवृत्त करनेका साधन चाहे जैसा बलवान हो, तो भी अनतकाल बीतनेपर भी वह पार न पाये।' यदि सर्वथा ऐसा हो तो आपको जैसा लगा वैसा सभव है। तथापि जिनेन्द्रने प्रवाहसे जीवको अनंतकर्मका कर्त्ता कहा है, वह अनंतकालसे कर्मका कर्त्ता चला आता है, ऐसा कहा है, परन्तु समय समय अनंतकाल तक भोगने पडे ऐसे कर्म वह आगामिक कालके लिये उपार्जन करता है, ऐसा नही कहा है। किसी जीव-आश्रयी इस बातको दूर रख-कर विचार करते हुए ऐसा कहा है कि सब कर्मोका मूल जो अज्ञान, मोह परिणाम है, वह अभी जीवमें जैसेका तैसा चला आता है, कि जिस परिणामसे उसे अनंतकाल तक भ्रमण हुआ है, और यदि यह परिणाम बना रहा तो अभी भी ज्योका त्यो अनंतकाल तक परिभ्रमण होता रहेगा। अग्निकी एक चिनगारीमे इतना ऐश्वर्य गुण है कि वह समस्त लोकको जला सके, परन्तु उसे जैसा जैसा योग मिलता है वैसा वैसा उसका गुण फलवान होता है। उसी प्रकार अज्ञानपरिणाममे अनादिकालसे जीवका भटकना हुआ है, वैसे अभी अनतकाल तक भी चौदह राजलोकमे प्रत्येक प्रदेशमे उस परिणामसे अनंत जन्ममरण होना अभी भी संभव है। तथापि जैसे चिनगारीकी अग्नि योगवश है, वैसे अज्ञानके कर्मपरिणामकी भी अमुक प्रकृति है। उत्कृष्टसे उत्कृष्ट यदि एक जीवको मोहनीयकर्मका बंध हो तो सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपमका होता है, ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। उसका हेतु स्पष्ट है कि यदि अनंतकालका बंध होता हो तो फिर जीवका मोक्ष नही हो सकता। यह बंध अभी निवृत्त न हुआ हो परन्तु लगभग निवृत्त होने आया हो, तब कदाचित् दूसरी वैसी स्थितिका संभव हो; परन्तु ऐसे मोहनीयकर्म कि जिनकी कालस्थिति ऊपर कही है वैसे एक समयमे अनेक कर्म बांधे, यह सम्भव नही है। अनुक्रमसे अभी उस कर्मसे निवृत्त होनेसे पहले दूसरा उसी स्थितिका बाँधे, तथा दूसरा निवृत्त होनेसे पहले तीसरा बाँधे; परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा इस तरह सबके सब कर्म एक मोहनीयकर्मके सम्बन्धमे उसी स्थितिके बाँधा करे, ऐसा नही हो सकता,

क्योंकि जीवको इतना अवकाश नहीं है। मोहनीयकर्मकी इस प्रकारसे स्थिति है। और आयुकर्मकी स्थिति श्री जिनेन्द्रने ऐसी कही है कि एक जीव एक देहमे रहते हुए उस देहकी जितनी आयु है उसके तीन भागमेसे दो भाग व्यतीत होनेपर जीव आगामी भवकी आयु बाँधता है उससे पहले नही बाँधता, और एक भवमे आगामी कालके दो भवोंकी आयु नही बाँधता, ऐसी स्थिति है। अर्थात् जीवको अज्ञानभावसे कर्मबध चला आता है, तथापि उन उन कर्मोंकी स्थिति चाहे जितनी विडबनारूप होनेपर भी, अनतदुःख और भवका हेतु होनेपर भी जिसमे जीव उससे निवृत्त हो इतना अमुक प्रकार निकाल देनेपर सम्पूर्ण अवकाश है। यह बात जिनेद्रने बहुत सूक्ष्मरूपसे कही है, वह विचार करने योग्य है। जिसमे जीवको मोक्षका अवकाश कहकर कर्मबध कहा है।

आपको यह बात सक्षेपमे लिखी है। उसका पुन· पुन विचार करनेसे कुछ समाधान होगा, और क्रमसे अथवा समागममे उसका सम्पूर्ण समाधान हो जायेगा।

जो सत्सग है वह कामको जलानेका बलवान उपाय है। सब ज्ञानीपुरुषोने कामके जीतनेको अत्यत दुष्कर कहा है, यह एकदम सिद्ध है; और ज्यों ज्यों ज्ञानीके वचनका अवगाहन होता है, त्यो त्यो कुछ कुछ करके पीछे हटनेसे अनुक्रमसे जीवका वीर्य बलवान होकर जीवमे कामकी सामर्थ्यका नाश होता है। जीवने ज्ञानीपुरुषके वचन सुनकर कामका स्वरूप ही नही जाना, और यदि जाना होता तो उसमे निपट नीरसता हो गयी होती, यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५१२ मोहमयी, आषाढ सुदी १५, मगल, १९५०

ॐ

श्री सूर्यपुरस्थित, शुभेच्छाप्राप्त, सत्सगयोग्य श्री लल्लुजीके प्रति,

यथायोग्यपूर्वक विनती कि,—एक पत्र प्राप्त हुआ है।

"भगवानने ऐसा कहा है कि चौदह राजलोकमे काजलके कुप्पेकी तरह सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव भरे हुए है, कि जो जीव जलानेसे जलते नही, छेदनेसे छिदते नही, मारनेसे मरते नही, ऐसे कहे है। उन जीवोके औदारिक शरीर नही होता, क्या इसलिये उनका अग्नि आदिसे व्याघात नही होता? अथवा औदारिक शरीर होनेपर भी उनका अग्नि आदिसे व्याघात नही होता हो? यदि औदारिक शरीर हो तो वह शरीर अग्नि आदिसे व्याघातको क्यो प्राप्त न हो?" इस प्रकारका प्रश्न उस पत्रमे लिखा है, उसे पढा है।

विचारके लिये यहाँ उसका संक्षेपमे समाधान लिखा है कि एक देहको त्यागकर दूसरी देह धारण करते समय कोई जीव जब रास्तेमे होता है तब अथवा अपर्याप्तरूपसे उसे मात्र तैजस और कार्मण ये दो शरीर होते है, बाकी सब स्थितिमे अर्थात् सकर्म स्थितिमे सब जीवोको तीन शरीरोकी संभावना श्री जिनेन्द्रने बतायी है: कार्मण, तैजस और औदारिक या वैक्रिय इन दोनोमेसे कोई एक। केवल रास्तेमे गमन करते हुए जीवको कार्मण, तैजस ये दो शरीर होते है, अथवा जब तक जीवकी अपर्याप्त स्थिति है, तब तक उसका कार्मण और तैजस शरीरसे निर्वाह हो सकता है, परन्तु पर्याप्त स्थितिमें उसको तीसरे शरीरका नियमसे सभव है। पर्याप्त स्थितिका लक्षण यह है कि आहार आदिके ग्रहण करनेरूप यथोचित सामर्थ्यका होना और यह आहार आदिका जो कुछ भी ग्रहण है वह तीसरे शरीरका प्रारभ है, अर्थात् वही तीसरा शरीर शुरू हुआ ऐसा समझना चाहिये। भगवानने जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय कहे है वे अग्नि आदिसे व्याघातको प्राप्त नही होते। वे पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय होनेसे उनके तीन शरीर है, परन्तु उनका जो तीसरा औदारिक शरीर है वह इतने सूक्ष्म अवगाहनका है कि उसे शस्त्र आदिका स्पर्श नही हो सकता। अग्नि आदिका जो महत्त्व है और एकेन्द्रिय शरीरका जो सूक्ष्मत्व है, वे इस प्रकारके है कि जिन्हे एक दूसरेका सम्बन्ध

नही हो सकता, अर्थात् साधारण सम्बन्ध होता है ऐसा कहे, तो भी अग्नि, शस्त्र आदिमे जो अवकाश है, उस अवकाशमेसे उन एकेन्द्रिय जीवोका सुगमतासे गमनागमन हो सके, ऐसा होनेसे उन जीवोंका नाश हो सके अथवा उनका व्याघात हो, ऐसा अग्नि, शस्त्र आदिका सम्बन्ध उन्हे नही होता। यदि उन जीवोकी अवगाहना महत्त्ववाली हो अथवा अग्नि आदिकी अत्यन्त सूक्ष्मता हो कि जो उस एकेन्द्रिय जीव जैसी सूक्ष्मता गिनी जाये तो, वह एकेन्द्रिय जीवका व्याघात करनेमे सम्भवित मानी जाये, परन्तु ऐसा नही है। यहाँ ना जीवोका अत्यन्त सूक्ष्मत्व है, और अग्नि, शस्त्र आदिका महत्त्व है, जिससे व्याघातयोग्य सम्बन्ध नही होता, ऐसा भगवानने कहा है। अर्थात् औदारिक शरीर अविनाशी कहा है ऐसा नही है, स्वभावसे वह विपरिणामको प्राप्त होकर अथवा उपार्जित किये हुए ऐसे उन जीवोके पूर्वकर्म परिणमित होकर औदारिक शरीरका नाश करते है। वह शरीर कुछ दूसरेसे ही नाशको प्राप्त किया जाये तो ही नाश हो, ऐसा भी नियम नही है।

यहाँ अभी व्यापारसम्बन्धी प्रयोजन रहता है। इसलिये तुरत थोडे समयके लिये भी निकल सकना दुष्कर है। क्योकि प्रसग ऐसा है कि जिससे मेरी विद्यमानताको प्रसगमे आनेवाले लोग आवश्यक समझते है। उनका मन दुःखी न हो सके, अथवा उनके कामको यहाँसे मेरे दूर हो जानेसे कोई प्रबल हानि न हो सके, ऐसा व्यवसाय हो तो वैसा करके थोडे समयके लिये इस प्रवृत्तिसे अवकाश लेनेका चित्त है, तथापि आपकी तरफ आनेसे लोगोके परिचयमे अवश्य आनेका सम्भव होनेसे उस तरफ आनेका चित्त होना मुश्किल है। इस प्रकारके प्रसंग रहनेपर भी लोगोके परिचयमे धर्मप्रसगसे आना हो, उसे विशेष आशका योग्य समझकर यथासम्भव उस परिचयसे धर्मप्रसगके नामसे विशेषरूपसे दूर रहनेका चित्त रहा करता है।

वैराग्य-उपशमका बल बढे उस प्रकारके सत्सग एव सत्शास्त्रका परिचय करना, यह जीवके लिये परम हितकारी है। दूसरा परिचय यथासभव निवर्तन करने योग्य है। आ० स्व० प्रणाम।

---

५१३ मोहमयी, श्रावण सुदी ११, रवि, १९५०

ॐ

श्री सूर्यपुरस्थित, सत्सगयोग्य श्री लल्लुजीके प्रति विनती कि :—

दो पत्र प्राप्त हुए है। यहाँ भावसमाधि है।

'योगवासिष्ठ' आदि ग्रन्थ पढने-विचारनेमे कोई दूसरी बाधा नही है। हमने पहिले लिखा था कि उपदेशग्रन्थ समझकर ऐसे ग्रन्थ विचारनेसे जीवको गुण प्रगट होता है। प्रायः वैसे ग्रन्थ वैराग्य और उपशमके लिये है। सिद्धातज्ञान सत्पुरुषसे जाननेयोग्य समझकर जीवमे सरलता, निरहता आदि गुणोका उद्भव होनेके लिये 'योगवासिष्ठ', 'उत्तराध्ययन', 'सूत्रकृताग' आदिके विचारनेमे बाधा नही है इतना स्मरण रखिये।

वेदात और जिन सिद्धात इन दोनोमे अनेक प्रकारसे भेद है। वेदान्त एक ब्रह्मस्वरूपसे सर्व स्थिति कहता है। जिनागममे उससे दूसरा प्रकार कहा है। 'समयसार' पढते हुए भी बहुतसे जीवोका एक ब्रह्मकी मान्यतारूप सिद्धात हो जाता है। सिद्धांतका विचार, बहुत सत्संगसे तथा वैराग्य और उपशमका बल विशेषरूपसे बढनेके बाद कर्तव्य है। यदि ऐसा नही किया जाता तो जीव दूसरे मार्गमे आरूढ होकर वैराग्य और उपशमसे हीन हो जाता है। 'एक ब्रह्मस्वरूप' विचारनेमे बाधा नही है, अथवा 'अनेक आत्मा' विचारनेमे बाधा नही है। आपको अथवा किसी मुमुक्षुको मात्र अपना स्वरूप जानना ही मुख्य कर्तव्य है, और उसे जाननेके साधन शम, सन्तोष, विचार और सत्संग है। उन साधनोके सिद्ध होनेपर,

कई स्थलोमे वस्तुरूपसे कहे है, ऐसा लगता है। यद्यपि यह बात कुछ आगे बढ़नेपर मिलती झुलती हो सकती है। अर्थात् आप जिसे 'बीजज्ञान' मे कारण मानते है उससे कुछ आगे बढ़ती हुई बात, अथवा वह बात उसमे विशेषज्ञानसे अगीकृत की हुई मालूम होती है।

बनारसीदासको कोई वैसा योग हुआ हो, ऐसा 'समयसार' ग्रथकी उनकी रचनासे प्रतीत होता है। 'मूल समयसार' मे 'बीजज्ञान' सम्बन्धी इतनी अधिक स्पष्ट बात कही हुई मालूम नही होती, और बनारसीदासने तो कई जगह वस्तुरूपसे और उपमारूपसे वह बात कही है। जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि बनारसीदासने साथमे अपने आत्मामें जो कुछ अनुभव हुआ है, उसका भी कुछ उस प्रकारसे प्रकाश किया है कि किसी विचक्षण जीवके अनुभवके लिये वह बात आधारभूत हो, उसे विशेष स्थिर करनेवाली हो।

ऐसा भी लगता है कि बनारसीदासने लक्षणादिके भेदसे जीवका विशेष निर्धार किया था, और उन उन लक्षण आदिका सतत मनन होते रहनेसे, आत्मस्वरूप कुछ तीक्ष्णरूपसे उनके अनुभवमे आया है, और उन्हे अव्यक्तरूपसे आत्मद्रव्यका भी लक्ष्य हुआ है, और उस अव्यक्त लक्ष्यसे उन्होने उस बीजज्ञानको गाया है। अव्यक्त लक्ष्यका अर्थ यहाँ यह है कि चित्तवृत्ति आत्मविचारमे विशेषरूपमे लगी रहनेसे, बनारसीदासको जिस अंशमे परिणामकी निर्मल धारा प्रगट हुई है, उस निर्मल धाराके कारण स्वयंको 'द्रव्य यही है,' ऐसा यद्यपि स्पष्ट जाननेमे नही आया, तथापि अस्पष्टरूपसे अर्थात् स्वाभाविकरूपसे भी उनके आत्मामे वह छाया भासमान हुई है, और जिसके कारण यह बात उनके मुखसे निकल सकी है; और सहज आगे बढनेसे वह बात उन्हे एकदम स्पष्ट हो जाये ऐसी दशा उस ग्रन्थको रचते हुए उनकी प्राय: रही है।

श्री डुगरके अंतरमें जो खेद रहता है वह किसी तरह योग्य है, और वह खेद प्राय· आपको भी रहता है, ऐसा जानते हैं। तथा अन्य भी कई मुमुक्षुजीवोको उसी प्रकारका खेद रहता है, ऐसा जाननेपर भी, और आप सबका यह खेद दूर किया जाये तो ठीक, यह मनमे रहते हुए भी प्रारब्धका वेदन करते है। फिर हमारे चित्तमे इस विषयमे अत्यन्त बलवान खेद है। जो खेद दिनमे प्राय अनेक-अनेक प्रसगोमे स्फुरित हुआ करता है, और उसका उपशमन करना पडता है, और प्राय· आप लोगोको भी हमने विशेषरूपसे उस खेदके विषयमे नही लिखा है, अथवा नही बताया है। हमे यह बताना भी योग्य नही लगता था, परन्तु अभी श्री डुगरके कहनेसे, प्रसंगवश बताना हुआ है। आपको और डुगरको जो खेद रहता है, उसकी अपेक्षा हमे असख्यातगुण-विशिष्ट खेद तत्सम्बन्धी रहता होगा ऐसा लगता है। क्योकि जिस जिस प्रसगपर आत्मप्रदेशमे उस बातका स्मरण होता है उस उस प्रसगपर सभी प्रदेश शिथिल जैसे हो जाते है, और जीवका नित्य स्वभाव होनेसे जीव ऐसा खेद रखते हुए भी जीता है, उस हद तक खेदको प्राप्त होता है। फिर परिणामातर होकर थोडे अवकाशमे भी वह की वह बात प्रदेश प्रदेशमे स्फुरित हो उठती है, और वैसी की वैसी दशा हो जाती है, तथापि आत्मापर अत्यन्त दृष्टि करके अभी तो उस प्रकारका उपशमन करना ही योग्य है, ऐसा समझकर उपशमन किया जाता है।

श्री डुगरके अथवा आपके चित्तमे ऐसा आता हो कि साधारण कारणोके बहाने हम इस प्रकारकी प्रवृत्ति नही करते, यह योग्य नही है। इस प्रकारसे यदि रहता हो तो प्राय वैसा नही है, ऐसा हमे लगता है। नित्य प्रति उस बातका विचार करनेपर भी अभी बलवान कारणोंका उसके प्रति सम्बन्ध है, ऐसा जानकर जिस प्रकारकी आपकी इच्छा प्रभावना हेतुमे है उस हेतुको ढीला करना पडता है; और उसके अवरोधक कारणोको क्षीण होने देनेमे कुछ भी आत्मवीर्य परिणमित होकर स्थितिमे रहता है। आपकी इच्छानुसार अभी जो प्रवृत्ति नही की जाती उस विषयमे जो बलवान कारण अवरोधक है, उन्हे आपको विशेषरूपसे बतानेका चित्त नही होता, क्योकि अभी उन्हे विशेषरूपसे बतानेमे अवकाश जाने देना योग्य है।

जो बलवान कारण प्रभावना हेतुके अवरोधक हैं, उनमें हमारा बुद्धिपूर्वक कुछ भी प्रमाद हो, ऐसा किसी तरह सम्भव नही है। तथा अव्यक्तरूपसे अर्थात् न जाननेपर भी जो सहजमें जीवसे हुआ करता हो, ऐसा प्रमाद हो, यह भी प्रतीत नही होता। तथापि किसी अंशमे उस प्रमादका सम्भव समझते हुए भी उससे अवरोधकता हो, ऐसा लग नहीं सकता; क्योंकि आत्माकी निश्चयवृत्ति उससे असन्मुख है।

लोगोंमे वह प्रवृत्ति करते हुए मानभंग होनेका प्रसंग आये तो वह मानभंग भी सहन न हो सके, ऐसा होनेसे प्रभावना हेतुकी उपेक्षा की जाती हो, ऐसा भी नहीं लगता। क्योंकि उस मानामानमे चित्त प्राय उदासीन जैसा है, अथवा उस प्रकारमे चित्तको विशेष उदासीन किया हो तो हो सके ऐसा है।

शब्दादि विषयोंका कोई बलवान कारण भी अवरोधक हो ऐसा प्रतीत नही होता। केवल उन विषयोका क्षायिकभाव हैं, ऐसा यद्यपि कहनेका प्रसंग नही है, तथापि उनमे अनेकरूपसे विरसता भास रही है। उदयसे भी कभी मंद रुचिका जन्म होता हो तो वह भी विशेष अवस्था पानेसे पहले नाशको प्राप्त होती है; और उस मद रुचिका वेदन करते हुए भी आत्मा खेदमे ही रहता है, अर्थात् वह रुचि अनाधार होती जाती होनेसे बलवान कारणरूप नही है।

अन्य कई प्रभावक हुए हैं, उनको अपेक्षा किसी तरह विचारदशादिकी प्रबलता भी होगी; ऐसा लगता है कि वैसे प्रभावक पुरुष आज दिखायी नही देते; और मात्र उपदेशकरूपसे नाम जैसी प्रभावनासे प्रवर्तन करते हुए कई देखनेमे, सुननेमे आते है; उनकी विद्यमानताके कारण हमे कुछ अवरोधकता हो ऐसा भी प्रतीत नही होता।

अभी तो इतना लिखा जा सका है। विशेष समागमके प्रसंगपर अथवा अन्य प्रसंगपर बतायेंगे। इस विषयमे आप और श्री डुगर यदि कुछ भी विशेष लिखना चाहते हों, तो खुशीसे लिखियेगा। और हमारे लिखे हुए कारण मात्र बहानारूप है ऐसा विचार करना योग्य नही है, इतना ध्यान रखियेगा।

---

५२१ बंबई, श्रावण, १९५०

जिस पत्रमे प्रत्यक्ष आश्रयका स्वरूप लिखा है वह पत्र यहाँ प्राप्त हुआ है। मुमुक्षुजीवको परम भक्तिसहित उस स्वरूपकी उपासना करना योग्य है।

योगबलसहित, अर्थात् जिनका उपदेश बहुतसे जीवोको थोड़े ही प्रयाससे मोक्षसाधनरूप हो सके ऐसे अतिशयसहित जो सत्पुरुष हो, वे जब यथाप्रारब्ध उपदेश व्यवहारका उदय प्राप्त होता है तब मुख्यरूपसे प्राय उस भक्तिरूप प्रत्यक्ष आश्रयमार्गको प्रगट करते है, परन्तु वैसे उदययोगके बिना प्राय. प्रगट नहीं करते।

सत्पुरुष प्रायः दूसरे व्यवहारके योगमे मुख्यत· उस मार्गको प्रगट नही करते, यह उनकी करुणा स्वभावता है। जगतके जीवोका उपकार पूर्वापर विरोधको प्राप्त न हो अथवा बहुतसे जीवोंका उपकार हो इत्यादि अनेक कारण देखकर अन्य व्यवहारमे रहते हुए सत्पुरुष वैसे प्रत्यक्ष आश्रयरूप मार्गको प्रगट नही करते। प्रायः अन्य व्यवहारके उदयमे तो वे अप्रसिद्ध रहते है; अथवा कुछ प्रारब्ध विशेषसे सत्पुरुषरूपसे किसीके जाननेमें आयें, तो भी पूर्वापर उसके श्रेयका विचार करके यथासम्भव विशेष प्रसंगमे नही आते; अथवा प्रायः अन्य व्यवहारके उदयमे सामान्य मनुष्यकी तरह विचरते हैं।

वैसी प्रवृत्ति की जाये ऐसा प्रारब्ध न हो तो जहाँ कोई वैस उपदेशका अवसर प्राप्त होता है वहाँ भी 'प्रत्यक्ष आश्रयमार्ग' का प्रायः उपदेश नही करते। क्वचित् 'प्रत्यक्ष आश्रयमार्ग' के स्थानपर 'आश्रयमार्ग' ऐसे सामान्य शब्दसे, बहुत उपकारका हेतु देखकर कुछ कहते है। अर्थात् उपदेशव्यवहारका प्रवर्तन करनेके लिये उपदेश नही करते।

प्राय: जिन किन्हीं मुमुक्षुओंको हमारा समागम हुआ है, उन्हें दशाके विषयमें थोडे बहुत अंशमें प्रतीति है। तथापि यदि किसीको भी समागम न हुआ होता तो अधिक योग्य था। यहाँ जो कोई व्यवहार उदयमें रहता है, वह व्यवहार आदि आगे जाकर उदयमें आने योग्य है, ऐसा मानकर, तथा उपदेश व्यवहारका उदय प्राप्त न हुआ हो तब तक हमारी दशाके विषयमें आप इत्यादिको जो कुछ समझमे आया हो उसे प्रगट न करनेकी सूचना देनेमे मुख्य कारण यह था और है।

---

५२२ बंबई, भादो सुदी ३, रवि, १९५०

जीवको ज्ञानीपुरुषकी पहचान होनेपर, तथाप्रकारसे अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभका मद हो जाना योग्य है कि जिससे अनुक्रमसे वे परिक्षीणताको प्राप्त होते है। ज्यो ज्यों जीवको सत्पुरुषकी पहचान होती है त्यों त्यो मताभिग्रह, दुराग्रहता आदि भाव शिथिल होने लगते हैं, और अपने दोषोंको देखनेकी ओर चित्त मुड़ जाता है; विकथा आदि भावमे नीरसता लगती है, अथवा जुगुप्सा उत्पन्न होती है। जीवको अनित्य आदि भावनाका चिंतन करनेके प्रति बलवीर्यके स्फुरित होनेमे जिस प्रकारसे ज्ञानी पुरुषके समीप सुना है, उससे भी विशेष बलवान परिणामसे वह पचविषयादिमे अनित्यादि भावको दृढ़ करता है। अर्थात् सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेपर, ये सत्पुरुष हैं, इतना जानकर, सत्पुरुषको जाननेसे पहले जिस तरह आत्मा पंचविषयादिमें रक्त था, उस तरह उसके पश्चात् रक्त नही रहता, और अनुक्रमसे वह रक्तभाव मद हो जाये ऐसे वैराग्यमे जीव आ जाता है। अथवा सत्पुरुषका योग होनेके पश्चात् आत्मज्ञान कुछ दुर्लभ नही है। तथापि सत्पुरुषमे, उनके वचनोमे, उन वचनोंके आशयमे, जब तक प्रीति भक्ति न हो तब तक जीवमे आत्मविचार भी उदय होने योग्य नही है; और जीवको सत्पुरुषका योग हुआ है, ऐसा सचमुच उस जीवको भासित हुआ है, यो कहना भी कठिन है।

जीवको सत्पुरुषका योग होनेपर तो ऐसी भावना होती है कि अब तक मेरे जो प्रयत्न कल्याणके लिये थे वे सब निष्फल थे, लक्ष्य बिनाके बाणकी भाँति थे; परन्तु अब सत्पुरुषका अपूर्व योग हुआ है, तो मेरे सब साधनोंके सफल होनेका हेतु है। लोकप्रसगमें रहकर जो निष्फल, निर्लक्ष्य साधन किये, उस प्रकार-से अब सत्पुरुषके योगमे न करते हुए, अवश्य अन्तरात्मामे विचारकर दृढ़ परिणाम रखकर, जीवको इस योगमे, वचनमे जागृत होना योग्य है, जागृत रहना योग्य है; और उस उस प्रकारसे भावना करके जीवको दृढ़ करना कि जिससे उसे प्राप्त हुआ योग 'अफल' न हो जाये और सब प्रकारसे इसी बलको आत्माने वर्धमान करना कि इस योगसे जीवको अपूर्व फल होना योग्य है, उसमे अंतराय करनेवाला 'मै जानता हूँ, यह मेरा अभिमान, कुलधर्मका और जिसे करते आये हैं उस क्रियाका त्याग कैसे किया जा सके ऐसा लोक-भय, सत्पुरुषकी भक्ति आदिमे भी लौकिकभाव, और कदाचित् कोई पंचविषयाकार ऐसे कर्मको ज्ञानीके उदयमे देखकर वैसे भावका स्वयं आराधन करना इत्यादि प्रकार है', वही अनंतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ है। यह प्रकार विशेषरूपसे समझना योग्य है; तथापि अभी जितना हो सका उतना लिखा है।

उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्वके लिये सक्षेपमे व्याख्या कही थी, तदनुसारी व्याख्या त्रिभोवनके स्मरणमें है।

जहाँ जहाँ इस जीवने जन्म लिया है, भवके प्रकार धारण किये है, वहाँ वहाँ तथाप्रकारके अभिमान-रूपसे बरताव किया है; जिस अभिमानको निवृत्त किये बिना उस उस देहका और देहके सम्बन्धमे आने-वाले पदार्थोंका इस जीवने त्याग किया है, अर्थात् अभी तक उस भावको ज्ञानविचार द्वारा क्षीण नही किया है, और वे पूर्वसंज्ञाएँ अभी जैसीकी तैसी इस जीवके अभिमानमें चली आती हैं, यही सारे लोककी

अधिकरणक्रियाका हेतु कहा है, जिसे भी विशेषरूपसे यहाँ लिखा नहीं जा सका है। पत्रादिकी नियमितताके लिये विचार करूँगा।

---

५२३ बंबई, भादों सुदी ४, सोम, १९५०

श्री सायला ग्राममे स्थित, सत्संगयोग्य, परमस्नेही श्री सोभाग तथा डुगरके प्रति,

श्री मोहमयोपुरीसे ''''''का आत्मस्वरूप स्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। यहाँ समाधि है। आपका लिखा हुआ एक पत्र आज मिला है।

आपकी विद्यमानतामे प्रभावना-हेतुकी आपको जो विशेष जिज्ञासा है, और वह हेतु उत्पन्न हो तो आपको जो असीम हर्ष उत्पन्न होना योग्य है, उस विशेष जिज्ञासा और असीम हर्षसम्बन्धी आपकी चित्त-वृत्तिको हम समझते हैं।

अनेक जीवोंकी अज्ञान दशा देखकर फिर वे जीव 'हम कल्याण करते हैं' अथवा 'हमारा कल्याण होगा', ऐसी भावना या इच्छासे अज्ञानमार्गको प्राप्त होते हुए देखकर, उसके लिये अत्यन्त करुणा उद्भव होती है, और किसी भी प्रकारसे यह दूर करने योग्य है, ऐसा हो जाता है; अथवा वैसा भाव चित्तमे जैसेका तैसा रहा करता है, तथापि वह होने योग्य होगा, उस प्रकारसे होगा, और जिस समय वह प्रकार होने योग्य होगा उस समय होगा, ऐसा प्रकार भी चित्तमे रहता है; क्योंकि उस करुणाभावका चिन्तन करते करते आत्मा बाह्य माहात्म्यका सेवन करे ऐसा होने देना योग्य नही है, और अभी कुछ वैसा भय रखना योग्य लगता है। अभी तो प्राय दोनो प्रकारोंका नित्य विचार करनेमें आता है, तथापि बहुत समीपमें उसका परिणाम आनेका सम्भव प्रतीत न होनेसे सम्भवत' आपको लिखा या कहा नही है। आपकी इच्छा होनेसे वर्तमान जो स्थिति है, वह इस सम्बन्धमें संक्षेपमे लिखी है, और उससे आपको किसी भी प्रकारसे उदास होना योग्य नही है, क्योकि हमे वर्तमानमें वैसा उदय नही है; परन्तु हमारा आत्मपरिणाम उस उदयको अल्प कालमे दूर करनेकी ओर है, अर्थात् उस उदयकी कालस्थितिका किसी भी प्रकारसे बल-वानरूपसे वेदन करनेसे वह घटती हो तो उसे घटानेमे रहता है। बाह्य माहात्म्यकी इच्छा आत्माको बहुत समयसे नही जैसी ही हो गयी है, अर्थात् बुद्धि प्रायः बाह्य माहात्म्यकी इच्छा करती हुई प्रतीत नही होती, ऐसा है। तथापि बाह्य माहात्म्यसे जीव सहज भी परिणामभेद प्राप्त न करे ऐसी स्वास्थामे कुछ न्यूनता कहने योग्य है, और उससे जो कुछ भय रहता है वह रहता है, जिस भयसे तुरत मुक्ति होगी, ऐसा लगता है।

'कबीर साहब' के दो पद और 'चारित्रसागर' का एक पद निर्भयतासे उन्होंने जो कहे है, वे आपने लिखे, सो पढे है। श्री 'चारित्रसागर' के वैसे कई पद पहले भी पढ़नेमे आये है। वैसी निर्भय वाणी मुमुक्षु-जीवको प्रायः धर्मपुरुषार्थमें बलवान करती है।

हमारे द्वारा वैसे पद अथवा काव्य रचे हुए देखनेकी आपकी जो इच्छा है, उसका अभी तो उपशमन करना योग्य है। क्योकि वैसे पद पढ़ने-विचारनेमे या बनानेमे उपयोगका अभी विशेष प्रवेश नही हो सकता, छाया जैसा भी प्रवेश नही हो सकता।

सोनेकी आकृतियाँ भिन्न भिन्न हैं, परन्तु उन आकृतियोंको यदि पिघला दिया जाये तो वे सभी आकृतियाँ मिटकर एक सोना ही अवशेष रहता है; अर्थात् सब आकृतियाँ भिन्न भिन्न द्रव्यत्वका त्याग कर देती हैं, और सब आकृतियोंकी जातिकी सजातीयता होनेसे मात्र एक सोनारूप द्रव्यत्वको प्राप्त होती हैं। इस प्रकार दृष्टांत लिखकर आत्माकी मुक्ति और द्रव्यत्वके सिद्धांतपर प्रश्न किया है, उस सम्बन्धमे संक्षेपमें इस प्रकार जानना योग्य है :—

सोना औपचारिक द्रव्य है, ऐसा जिनेन्द्रका अभिप्राय है, और जब अनंत परमाणुओके समुदाय-रूपसे वह रहता है तब चक्षुगोचर होता है। उसकी जो भिन्न भिन्न आकृतियाँ बन सकती हैं वे सभी संयोगभावी हैं, और फिरसे वे एकत्र की जा सकती हैं, वह उसी कारणसे है। परन्तु सोनेका मूल स्वरूप देखे तो अनंत परमाणु-समुदाय है। जो भिन्न भिन्न परमाणु हैं वे सब अपने अपने स्वरूपमे ही रहे हुए है। कोई भी परमाणु अपने स्वरूपको छोड़कर दूसरे परमाणुरूपसे किसी भी तरह परिणमन करने योग्य नही है, मात्र वे सजातीय होनेसे और उनमे स्पर्शगुण होनेसे उस स्पर्शके समविषमयोगसे उनका मिलना हो सकता है, परन्तु वह मिलना कुछ ऐसा नही हैं, कि जिसमे किसी भी परमाणुने अपने स्वरूपका त्याग कर दिया हो। करोड़ो प्रकारसे उस अनंत परमाणुरूप सोनेकी आकृतियोंको यदि एक रसरूप करें, तो भी सबके सब परमाणु अपने ही स्वरूपमे रहते हैं, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका त्याग नही करते; क्योकि वैसा होनेका किसी भी तरहसे अनुभव नही हो सकता। उस सोनेके अनत परमाणुओके अनुसार अनंत सिद्धकी अवगाहना माने तो बाधा नही है, परन्तु इससे कुछ कोई भी जीव किसी भी दूसरे जीवके साथ सर्वथा एकत्वरूपसे मिल गया है, ऐसा है ही नहीं। सब निजभावमे स्थिति करके ही रह सकते है। प्रत्येक जीवकी जाति एक हो, इससे जो एक जीव है वह अपनापन त्याग करके दूसरे जीवोके समुदायमे मिलकर स्वरूपका त्याग कर देता है, ऐसा होनेका क्या हेतु है? उसके अपने द्रव्य, क्षत्र, काल, भाव, कर्मबंध और मुक्तावस्था, ये अनादिसे भिन्न है; और मुक्तावस्थामे फिर वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका त्याग करे; तो फिर उसका अपना स्वरूप क्या रहा? उसका क्या अनुभव रहा? और अपने स्वरूपके जानेसे उसकी कर्मसे मुक्ति हुई अथवा अपने स्वरूपसे मुक्ति हुई? यह प्रकार विचार करने योग्य है। इत्यादि प्रकारसे जिनेन्द्रने सर्वथा एकत्वका निषेध किया है।

अभी समय नही होनेसे इतना लिखकर पत्र पूरा करना पड़ता है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५२४ बंबई, भादो सुदी ८, शुक्र, १९५०

श्री स्थंभतीर्थक्षेत्रमें स्थित श्री अंबालाल, कृष्णदास आदि सर्व मुमुक्षुजनके प्रति,

श्री मोहमयी क्षेत्रसे ... आत्मस्वरूपकी स्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

विशेष विनती कि आप सब भाइयोके प्रति आज दिन तक हमसे मन, वचन, कायाके योगसे जानते या अजानते कुछ भी अपराध हुआ हो उसकी विनयपूर्वक शुद्ध अंत.करणसे क्षमा माँगता हूँ। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५२५ बंबई, भादों सुदी १०, रवि, १९५०

यह आत्मभाव है और यह अन्यभाव है, ऐसा बोधबीज आत्मामे परिणमित होनेसे अन्यभावमे सहजमे उदासीनता उत्पन्न होती है, और वह उदासीनता अनुक्रमसे उन अन्यभावसे सर्वथा मुक्त करती है। जिसने निजपरभावको जाना है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको, उसके पश्चात् परभावके कार्यका जो कुछ प्रसंग रहता है उस प्रसंगमे प्रवृत्ति करते-करते भी उससे उस ज्ञानीका सम्बन्ध छूटा करता है; परंतु उसमे हितबुद्धि होकर प्रतिबंध नही होता।

प्रतिबंध नही होता यह बात एकान्त नही है, क्योकि जहाँ ज्ञानकी विशेष प्रबलता नही होती वहाँ परभावके विशेष परिचयका प्रतिबंधरूप हो जाना भी सम्भव है, और इसलिये भी श्री जिनेन्द्रने ज्ञानी पुरुषके लिये भी निजज्ञानके परिचय-पुरुषार्थको सराहा है; उसे भी प्रमाद कर्तव्य नही है, अथवा

परभावका परिचय करना योग्य नही है; क्योंकि वह किसी अंशमे भी आत्मधाराके लिये प्रतिबंधरूप कहने योग्य है।

ज्ञानीको प्रमादबुद्धि सम्भव नही है, ऐसा यद्यपि सामान्य पदमे श्री जिनेन्द्र आदि महात्माओंने कहा है, तो भी वह पद चौथे गुणस्थानसे सम्भवित नहीं माना, आगे जाकर सभवित माना है, जिससे विचारवान जीवका तो अवश्य कर्तव्य है कि यथासम्भव परभावके परिचित कार्यसे दूर रहना, निवृत्त होना। प्राय विचारवान जीवको तो यही बुद्धि रहती हैं, तथापि किसी प्रारब्धवशात् परभावका परिचय प्रबलतासे उदयमे हो वहाँ निजपदबुद्धिमे स्थिर रहना विकट है, ऐसा मानकर नित्य निवृत्तबुद्धिकी विशेष भावना करनी, ऐसा महापुरुषोने कहा है।

अल्पकालमें अव्याबाध स्थिति होनेके लिये तो अत्यंत पुरुषार्थ करके जीवको परपरिचयसे निवृत्त होना ही योग्य है। धीरे धीरे निवृत्त होनेके कारणो पर भार देनेकी अपेक्षा जिस प्रकार त्वरासे निवृत्ति हो वह विचार कर्तव्य है, और ऐसा करते हुए यदि असाता आदि आपत्तियोगका वेदन करना पड़ता हो तो उसका वेदन करके भी परपरिचयसे शीघ्रतः दूर होनेका उपाय करना योग्य है। इस बातका विस्मरण होने देना योग्य नही है।

ज्ञानकी बलवती तारतम्यता होनेपर तो जीवको परपरिचयमे स्वात्मबुद्धि होना कदापि सम्भव नही है, और उसकी निवृत्ति होनेपर भी ज्ञानबलसे वह एकान्तरूपसे विहार करने योग्य है। परतु उससे जिसकी नीची दशा है, ऐसे जीवको तो अवश्य परपरिचयका छेदन करके सत्संग कर्तव्य है, कि जिस सत्सगसे सहजमे अव्याबाध स्थितिका अनुभव होता है। ज्ञानीपुरुष कि जिन्हे एकातमे विचरते हुए भी प्रतिबंधका सम्भव नही है, वे भी सत्संगकी निरन्तर इच्छा रखते है, क्योकि जीवको यदि अव्याबाध समाधिकी इच्छा हो तो सत्सग जैसा कोई सरल उपाय नही है।

ऐसा होनेसे दिन प्रतिदिन, प्रसंग प्रसंगमे, अनेक बार क्षण क्षण मे सत्सगका आराधन करनेकी ही इच्छा वर्धमान हुआ करती है। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५२६ बंबई, भादो वदी ५, गुरु, १९५०

ॐ

श्री सूर्यपुरस्थित, सत्सगयोग्य, आत्मगुण इच्छुक श्री लल्लुजीके प्रति,

श्री मोहमयीक्षेत्रसे जीवन्मुक्तदशाके इच्छुक '' का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष आपके लिखे हुए दो पत्र मिले है। अभी कुछ अधिक विस्तारसे लिखना नही हो सका। उस कार्यमे चित्त-स्थितिका विशेष प्रवेश नही हो सकता।

'योगवासिष्ठादि' जो जो उत्तम पुरुषोके वचन है वे सब अहंवृत्तिका प्रतिकार करनेके लिये ही है। जिस जिस प्रकारसे अपनी भ्रांति कल्पित की गयी है, उस उस प्रकारसे उस भ्रातिको समझकर तत्संबंधी अभिमानको निवृत्त करना, यही सर्व तीर्थंकर आदि महात्माओका कहना है, और उसी वाक्यपर जीवको विशेषत स्थिर होना है, उसीका विशेष विचार करना है, और वही वाक्य मुख्यतः अनुप्रेक्षायोग्य है। उस कार्यकी सिद्धिके लिये सब साधन कहे हैं। अहंतादि बढनेके लिये, बाह्य क्रिया अथवा मतके आग्रहके लिये, सम्प्रदाय चलानेके लिये, अथवा पूजाश्लाघादि प्राप्त करनेके लिये किसी महापुरुषका कोई उपदेश नही है और वही कार्य करनेकी ज्ञानीपुरुषकी सर्वथा आज्ञा है। अपनेमे उत्पन्न हुआ हो ऐसे महिमायोग्य गुणसे उत्कर्ष प्राप्त करना योग्य नही है, परंतु अल्प भी निजदोष देखकर पुन. पुनः पश्चात्ताप करना योग्य है, और प्रमाद किये बिना उससे पीछे मुड़ना योग्य है; यह सूचना ज्ञानीपुरुषके वचनमे सर्वत्र

निहित है। और उस भावके आनेके लिये सत्संग, सद्गुरु और सत्शास्त्र आदि साधन कहे है, जो अनन्य निमित्त हैं।

जीवको उन साधनोंकी आराधना निजस्वरूपके प्राप्त करनेके हेतुरूप ही है, तथापि जीव यदि वहाँ भी वंचनाबुद्धिसे प्रवृत्ति करे तो कभी कल्याण नही हो सकता। वंचनाबुद्धि अर्थात् सत्संग, सद्गुरु आदिमें सच्चे आत्मभावसे जो माहात्म्यबुद्धि होना योग्य है, वह माहात्म्यबुद्धि नही और अपने आत्मामे अज्ञानता ही रहती चली आयी है, इसलिये उसकी अल्पज्ञता, लघुता विचारकर अमाहात्म्यबुद्धि करनी चाहिये सो नही करना, तथा सत्संग, सद्गुरु आदिके योगमे अपनी अल्पज्ञता, लघुताको मान्य नही करना यह भी वंचना बुद्धि है। वहाँ भी यदि जीव लघुता धारण न करे तो प्रत्यक्षरूपसे जीव भवपरिभ्रमणसे भयको प्राप्त नही होता, यही विचार करना योग्य है। जीवको यदि प्रथम यह लक्ष्य अधिक हो तो सब शास्त्रार्थ और आत्मार्थका सहजतासे सिद्ध होना सभव है। यही विज्ञापन।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५२७ बंबई, भादों वदी १२, बुध, १९५०

पूज्य श्री सोभागभाई, श्री सायला।

यहाँ कुशलता है। आपका एक पत्र आज आया है। प्रश्नोके उत्तर अब तुरत लिखेंगे।

आपने आजके पत्रमे जो समाचार लिखा है तत्सम्बन्धी श्री रेवाशंकरभाईको जो राजकोट है, उन्हे लिखा है वे सीधे आपको उत्तर लिखेंगे।

गोसलियाके दोहे मिले हैं। उनका उत्तर लिखने जैसा विशेषरूपसे नही है। एक अध्यात्म दशाके अंकुरसे—स्फुरणसे ये दोहे उत्पन्न होना सम्भव है। परन्तु ये एकांत सिद्धातरूप नही है।

श्री महावीरस्वामीसे वर्तमान जैन शासनका प्रवर्तन हुआ है, वे अधिक उपकारी ? या प्रत्यक्ष हितमे प्रेरक और अहितके निवारक ऐसे अध्यात्ममूर्ति सद्गुरु अधिक उपकारी ? यह प्रश्न माकुभाईकी तरफसे है। इस विषयमे इतना विचार रहता है कि महावीरस्वामी सर्वज्ञ है और प्रत्यक्ष पुरुष आत्मज्ञ-सम्यग्दृष्टि है, अर्थात् महावीरस्वामी विशेष गुणस्थानकमे स्थित थे। महावीरस्वामीकी प्रतिमाकी वर्तमानमे भक्ति करे, उतने ही भावसे प्रत्यक्ष सद्गुरुकी भक्ति करे, इन दोनोमे विशेष हितयोग्य किसे कहना योग्य है ? इसका उत्तर आप दोनों विचारकर सविस्तर लिखियेगा।

पहले सगाईके सम्बन्धमें सूचना की थी, अर्थात् हमने रेवाशंकरभाईको सहज ही लिखा था, क्योंकि उस समय विशेष लिखा जाना अनवसर आर्तध्यान कहने योग्य है। आज आपके स्पष्ट लिखनेसे रेवाशंकरभाईको मैंने स्पष्ट लिख दिया है। व्यावहारिक जंजालमे हम उत्तर देने योग्य न होनेसे रेवाशंकरभाईको इस प्रसंगमे लिखा है, जो लौटती डाकसे आपको उत्तर लिखेंगे। यही विनती। गोसलियाको प्रणाम।

लि० आ० स्व० प्रणाम।

---

५२८ बंबई, आसोज सुदी ११, बुध १९५०

जिन्हे स्वप्नमे भी ससारसुखकी इच्छा नही रही, और जिन्हे संसारका स्वरूप सम्पूर्ण निःसारभूत भासित हुआ है, ऐसे ज्ञानीपुरुष भी आत्मावस्थाको वारंवार सम्भाल सम्भालकर उदय प्राप्त प्रारब्धका वेदन करते हैं, परन्तु आत्मावस्थामे प्रमाद नही होने देते। प्रमादके अवकाश योगमें ज्ञानीको भी जिस संसारसे अंशतः व्यामोह होनेका सम्भव कहा है, उस संसारमें साधारण जीव रहकर, उसका व्यवसाय

लौकिकभावसे करके आत्महितकी इच्छा करे, यह न होने जैसा ही कार्य है; क्योंकि लौकिकभावके कारण जहाँ आत्माको निवृत्ति नही होती, वहाँ अन्य प्रकारसे हितविचारणा होना सम्भव नहीं है। यदि एककी निवृत्ति हो तो दूसरेका परिणाम होना सम्भव है। अहितहेतु ऐसे संसारसम्बन्धी प्रसंग, लौकिकभाव, लोकचेष्टा इन सबकी सम्भाल यथासम्भव छोड़ करके, उसे कम करके आत्महितको अवकाश देना योग्य है।

आत्महितके लिये सत्संग जैसा बलवान अन्य कोई निमित्त प्रतीत नहीं होता, फिर भी वह सत्संग भी जो जीव लौकिकभावसे अवकाश नहीं लेता, उसके लिये प्रायः निष्फल होता है, और सत्संग कुछ सफल हुआ हो, तो भी यदि लोकावेश विशेष-विशेष रहता हो तो उस फलके निर्मूल हो जानेमे देर नही लगती, और स्त्री, पुत्र, आरम्भ तथा परिग्रहके प्रसंगमेसे यदि निजबुद्धि छोड़नेका प्रयास न किया जाये तो सत्सगके सफल होनेका सम्भव कैसे हो ? जिस प्रसगमे महा ज्ञानीपुरुष सँभल सँभलकर चलते है, उसमें इस जीवको तो अत्यन्त अत्यन्त सावधानतासे, सकोचपूर्वक चलना चाहिये. यह बात भूलने जैसी ही नही है, ऐसा निश्चय करके प्रसग-प्रसंगमे, कार्य-कार्यमें और परिणाम-परिणाममे उसका ध्यान रखकर उससे छूटा जाये, वैसे ही करते रहना, यह हमने श्री वर्धमानस्वामीकी छद्मस्थ मुनिचर्याके दृष्टातसे कहा था।

---

५२९ बबई, आसोज वदी ३, बुध, १९५०

ॐ

'भगवान भगवानका सँभालेगा, परन्तु जब जीव अपना अहं छोड़ेगा तब', ऐसा जो भद्रजनोंका वचन है, वह भी विचार करनेसे हितकारी है। आप कुछ ज्ञानकथा लिखियेगा।

---

५३० बंबई, आसोज वदी ६, शनि, १९५०

ॐ

सत्पुरुषको नमस्कार

आत्मार्थी, गुणग्राही, सत्संगयोग्य भाई श्री [1]मोहनलालके प्रति, डरबन।

श्री बंबईसे लिखित जीवन्मुक्तदशाके इच्छुक रायचदका आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

यहाँ कुशलता है। आपका लिखा हुआ एक पत्र मुझे मिला है। कई कारणोंसे उसका उत्तर लिखनेमे ढील हुई थी। बादमे, आप इस तरफ तुरन्त आनेवाले है, ऐसा जाननेमे आनेसे पत्र नही लिखा था; परन्तु अभी ऐसा जाननेमे आया है कि स्थानीय कारणसे अभी वहाँ लगभग एक वर्ष तक ठहरनेका है, जिससे मैंने यह पत्र लिखा है। आपके लिखे हुए पत्रमे जो आत्मा आदिके विषयमे प्रश्न हैं और जिन प्रश्नोंके उत्तर जाननेकी आपके चित्तमे विशेष आतुरता है, उन दोनोके प्रति मेरा सहज सहज अनुमोदन है। परन्तु जिस समय आपका वह पत्र मुझे मिला उस समय उसका उत्तर लिखा जा सके ऐसी मेरे चित्तकी स्थिनि नही थी, और प्रायः वैसा होनेका कारण भी यह था कि उस प्रसगमे बाह्योपाधि सम्बन्धी वैराग्य विशेष परिणामको प्राप्त हुआ था, और वैसा होनेसे उस पत्रका उत्तर लिखने जैसे कार्यमें भी प्रवृत्ति हो सकना सम्भव न था। थोड़ा समय जाने देकर, कुछ वैसे वैराग्यमेसे भी अवकाश लेकर आपके पत्रका उत्तर लिखूंगा, ऐसा सोचा था; परन्तु बादमे वैसा होना भी अशक्य हो गया। आपके पत्रकी पहुँच भी मैंने लिखी न थी और इस प्रकार उत्तर लिख भेजनेमे ढील हुई, इससे मेरे मनमे भी खेद हुआ था, और जिसका अमुक भाव तो अभी तक रहा करता है। जिस प्रसगमे विशेष करके खेद हुआ, उस प्रसंगमे

---

१. महात्मा गाधीजीने डरबन—अफ्रीकासे जो प्रश्न पूछे थे उनके उत्तर यहाँ दिये हैं।

ऐसा सुननेमें आया कि आप तुरन्त ही इस देशमें आनेका विचार रखते है, जिससे चित्तमें कुछ ऐसा आया कि आपको उत्तर लिखनेमे देर हुई है, परन्तु आपका समागम होनेसे वह उलटी लाभकारक होगी। क्योंकि लेख द्वारा बहुतसे उत्तर समझाना विकट था, और आपको तुरन्त पत्र न मिल सकनेसे आपके चित्तमें जो आतुरता वर्धमान हुई वह समागममे उत्तर तुरत ही समझ सकनेके लिये एक सुन्दर कारण मानने योग्य था। अब प्रारब्धोदयसे जब समागम हो तब कुछ भी वैसी ज्ञानवार्ता होनेका प्रसंग आये ऐसी आकाक्षा रखकर संक्षेपमें आपके प्रश्नोंके उत्तर लिखता हूँ, जिन प्रश्नोंके उत्तरोंका विचार करनेके लिये निरन्तर तत्सम्बन्धी विचाररूप अभ्यासकी आवश्यकता है। वे उत्तर संक्षेपमे लिखे गये है, जिससे कुछ एक सन्देहोंकी निवृत्ति होना शायद मुश्किल होगा; तो भी मेरे चित्तमें ऐसा रहता है कि मेरे वचनके प्रति कुछ भी विशेष विश्वास है, और इससे आपको धैर्य रह सकेगा, और प्रश्नोका यथायोग्य समाधान होनेके लिये अनुक्रमसे कारणभूत होगा ऐसा मुझे लगता है। आपके पत्रमें २७ प्रश्न है, उनके उत्तर संक्षेपमे नीचे लिखता हूँ—

१. प्रश्न—(१) आत्मा क्या है ? (२) वह कुछ करता है ? (३) और उसे कर्म दुःख देते हैं या नही ?

उ०—(१) जैसे घटपटादि जड़ वस्तुएँ है वैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है। घटपटादि अनित्य हैं, वे एकस्वरूपसे स्थिति करके त्रिकाल नही रह सकते। आत्मा एकस्वरूपसे स्थिति करके त्रिकाल रह सकता है ऐसा नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नही हो सकती, वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी सयोगसे बन सके, ऐसा प्रतीत नही होता। क्योंकि जड़के चाहे हजारो संयोग करें तो भी उससे चेतनकी उत्पत्ति हो सकने योग्य नही है। जो धर्म जिस पदार्थमे नही होता, वैसे बहुतसे पदार्थोंको इकट्ठा करनेसे भी, उसमे जो धर्म नही है, वह उत्पन्न नही हो सकता, ऐसा अनुभव सबको हो सकता है। जो घटपटादि पदार्थ हैं उनमे ज्ञानस्वरूपता देखनेमे नही आती। वैसे पदार्थोंका परिणामांतर करके सयोग किया हो अथवा हुआ हो तो भी वह उसी जातिका होता है अर्थात् जड़स्वरूप होता है, परन्तु ज्ञानस्वरूप नही होता। तो फिर वैसे पदार्थका संयोग होनेपर आत्मा कि जिसे ज्ञानीपुरुष मुख्य ज्ञानस्वरूप लक्षणवाला कहते हैं वह वैसे (घटपटादि, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश) पदार्थोंसे किसी तरह उत्पन्न हो सकने योग्य नही है। ज्ञानस्वरूपता यह आत्माका मुख्य लक्षण है, और उसके अभाव-वाला मुख्य लक्षण जड़का है। उन दोनोंके ये अनादि सहज स्वभाव है। यह तथा वैसे दूसरे हजारों प्रमाण आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन कर सकते हैं। तथा उसका विशेष विचार करनेपर नित्यरूपसे सहजस्वरूप आत्मा अनुभवमे भी आता है। जिससे सुख दुःख आदि भोगना, उससे निवृत्त होना, विचार करना, प्रेरणा करना इत्यादि भाव जिसकी विद्यमानतासे अनुभवमें आते है, वह आत्मा मुख्य चेतन (ज्ञान) लक्षणवाला है; और उस भावसे (स्थितिसे) वह सर्व काल रह सकनेवाला नित्य पदार्थ है, ऐसा माननेमें कोई भी दोष या बाधा प्रतीत नही होती, परन्तु सत्यका स्वीकार होनेरूप गुण होता है।

यह प्रश्न तथा आपके दूसरे कितने ही प्रश्न ऐसे है कि जिनमे विशेष लिखने तथा कहने और समझानेकी आवश्यकता है, उन प्रश्नोके उत्तर वैसे स्वरूपमे लिख पाना अभी कठिन है। इसलिये पहले 'षड्दर्शनसमुच्चय' ग्रन्थ आपको भेजा था कि जिसे पढ़ने और विचारनेसे आपको किसी भी अंशमे समाधान हो, और इस पत्रसे भी कुछ विशेष अंशमे समाधान हो सकना सम्भव है। क्योंकि तत्सम्बन्धी अनेक प्रश्न उठने योग्य है, जिनका पुनः पुनः समाधान होनेसे, विचार करनेसे वे शान्त हो जाये, ऐसी प्रायः स्थिति है।

(२) ज्ञानदशामे, अपने स्वरूपके यथार्थबोधसे उत्पन्न हुई दशामें वह आत्मा निजभावका अर्थात् ज्ञान, दर्शन (यथास्थित निर्धार) और सहजसमाधिपरिणामका कर्ता है। अज्ञानदशामे क्रोध, मान, माया,

लोभ इत्यादि प्रकृतिका कर्त्ता है, और उस भावके फलका भोक्ता होनेसे प्रसंगवशात् घटपटादि पदार्थका निमित्तरूपसे कर्ता है, अर्थात् घटपटादि पदार्थके मूल द्रव्यका कर्त्ता नहीं है, परन्तु उसे किसी आकारमे लानेरूप क्रियाका कर्त्ता है। यह जो पीछे उसकी दशा कही है, उसे जैन 'कर्म' कहता है, वेदांत 'भ्रांति' कहता है, तथा दूसरे भी तदनुसारी ऐसे शब्द कहते हैं। वास्तविक विचार करनेसे आत्मा घटपटादिका तथा क्रोधादिका कर्त्ता नही हो सकता, मात्र निजस्वरूप ज्ञानपरिणामका ही कर्त्ता है, ऐसा स्पष्ट समझमे आता है।

(३) अज्ञानभावसे किये हुए कर्म प्रारम्भकालमे बीजरूप होकर समयका योग पाकर फलरूप वृक्ष-परिणामसे परिणमते है, अर्थात् वे कर्म आत्माको भोगने पड़ते है। जैसे अग्निके स्पर्शसे उष्णताका सम्बन्ध होता है, और उसका सहज वेदनारूप परिणाम होता है, वैसे आत्माको क्रोधादि भावके कर्त्तारूपसे जन्म, जरा, मरणादि वेदनारूप परिणाम होता है, इस विचारका आप विशेषरूपसे विचार कीजियेगा, और तत्सम्बन्धी जो कोई प्रश्न हो उसे लिखियेगा। क्योकि जिस प्रकारकी समझ है उससे निवृत्त होनेरूप कार्य करनेपर जीवको मोक्षदशा प्राप्त होती है।

२. प्र०—(१) ईश्वर क्या है ? (२) क्या वह सचमुच जगतकर्त्ता है ?

उ०—(१) हम आप कर्मबंधमे फँसे हुए जीव हैं। उस जीवका सहजस्वरूप अर्थात् कर्मरहितरूपसे मात्र एक आत्मत्वरूपसे जो स्वरूप है वह ईश्वरत्व है। जिसमे ज्ञानादि ऐश्वर्य है उसे ईश्वर कहना योग्य है, और वह ईश्वरता आत्माका सहजस्वरूप है। जो स्वरूप कर्मप्रसंगसे प्रतीत नही होता, परंतु उस प्रसंगको अन्यस्वरूप जानकर, जब आत्माकी ओर दृष्टि होती है, तभी अनुक्रमसे सर्वज्ञतादि ऐश्वर्य उसी आत्मामे प्रतीत होता है, और उससे विशेष ऐश्वर्यवाला कोई पदार्थ समस्त पदार्थोंको देखते हुए भी अनुभवमे नहीं आ सकता। इसलिये जो ईश्वर है वह आत्माका दूसरा पर्यायवाची नाम है, इससे कोई विशेष सत्तावाला पदार्थ ईश्वर है, ऐसा नही है। ऐसे निश्चयमे मेरा अभिप्राय है।

(२) वह जगतकर्त्ता नही है, अर्थात् परमाणु, आकाश आदि पदार्थ नित्य होने योग्य है, वे किसी भी वस्तुमेसे बनने योग्य नही है। कदाचित् ऐसा मानें कि वे ईश्वरमेसे बने हैं, तो यह बात भी योग्य नही लगती, क्योकि ईश्वरको यदि चेतनरूपसे माने, तो उससे परमाणु, आकाश इत्यादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? क्योकि चेतनसे जडकी उत्पत्ति होना ही सम्भव नही है। यदि ईश्वरको जड़रूप स्वीकार किया जाय तो वह सहज ही अनैश्वर्यवान ठहरता है, तथा उससे जीवरूप चेतन पदार्थकी उत्पत्ति भी नही हो सकती। जड़चेतन उभयरूप ईश्वर माने तो फिर जड़चेतनरूप जगत है उसका ईश्वर ऐसा दूसरा नाम कहकर सतोष मानने जैसा होता है, और जगतका नाम ईश्वर रखकर संतोष मानना, इसकी अपेक्षा जगतको जगत कहना, यह विशेष योग्य है। कदाचित् परमाणु, आकाश आदिको नित्य मानें और ईश्वरको कर्मादिका फल देनेवाला मानें तो भी यह बात सिद्ध प्रतीत नही होती। इस विचारपर 'षड्दर्शन-समुच्चय' मे अच्छे प्रमाण दिये है।

३. प्र०—मोक्ष क्या है ?

उ०—जिस क्रोधादि अज्ञानभावमें, देहादिमें आत्माको प्रतिबंध है, उससे सर्वथा निवृत्ति होना, मुक्ति होना, उसे ज्ञानियोंने मोक्षपद कहा है। उसका सहज विचार करनेपर वह प्रमाणभूत लगता है।

४. प्र०—मोक्ष मिलेगा या नही ? यह निश्चितरूपसे इस देहमे ही जाना जा सकता है ?

उ०—एक रस्सीके बहुतसे बंधोंसे हाथ बाँध दिया गया हो, उनमेसे अनुक्रमसे ज्यों ज्यों बंध छोड़नेमें आते है, त्यों त्यों उस बंधके सम्बन्धकी निवृत्ति अनुभवमे आती है, और वह रस्सी बल

छोड़कर छूट जानेके परिणाममें रहती है, ऐसा भी मालूम होता है, अनुभवमे आता है। उसी प्रकार अज्ञानभावके अनेक परिणामरूप बंधका प्रसंग आत्माको है, वह ज्यों ज्यो छूटता है त्यों त्यो मोक्षका अनुभव होता है; और जब उसकी अतीव अल्पता हो जाती है तब सहज ही आत्मामें निजभाव प्रकाशित होकर अज्ञानभावरूप बंधसे छूट सकनेका प्रसंग है, ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है। तथा समस्त अज्ञानादि-भावसे निवृत्ति होकर सम्पूर्ण आत्मभाव इसी देहमे स्थितिमान होते हुए भी आत्माको प्रगट होता है, और सर्व सम्बन्धसे सर्वथा अपनी भिन्नता अनुभवमे आती है; अर्थात् मोक्षपद इस देहमें भी अनुभवमे आने योग्य है।

५. प्र०—ऐसा पढनेमे आया है कि मनुष्य देह छोडकर कर्मके अनुसार जानवरोंमे जन्म लेता है, पत्थर भी होता है, वृक्ष भी होता है, क्या यह ठीक है ?

उ०—देह छोड़नेके बाद उपार्जित कर्मके अनुसार जीवकी गति होती है, इससे वह तिर्यंच (जानवर) भी होता है और पृथ्वीकाय अर्थात् पृथ्वीरूप शरीर धारणकर बाकीकी दूसरी चार इन्द्रियोंके बिना कर्म भोगनेका जीवको प्रसग भी आता है, तथापि वह सर्वथा पत्थर अथवा पृथ्वी हो जाता है, ऐसा कुछ नही है। पत्थररूप काया धारण करे और उसमे भी अव्यक्तरूपसे जीव जीवरूप ही होता है। दूसरी चार इन्द्रियोंकी वहाँ अव्यक्तता (अप्रगटता) होनेसे पृथ्वीकायरूप जीव कहने योग्य है। अनुक्रमसे उस कर्मको भोगकर जीव निवृत्त होता है, तब केवल पत्थरका दल परमाणुरूपसे रहता है, परन्तु जीवके उसके सम्बन्धको छोड़कर चले जानेसे उसे आहारादि सज्ञा नही होती, अर्थात् केवल जड़ ऐसा पत्थर जीव होता है, ऐसा नही है। कर्मकी विषमतासे चार इंद्रियोका प्रसंग अव्यक्त होकर केवल एक स्पर्शेन्द्रियरूपसे देहका प्रसंग जीवको जिस कर्मसे होता है, उस कर्मको भोगते हुए वह पृथ्वी आदिमे जन्म लेता है, परंतु वह सर्वथा पृथ्वीरूप अथवा पत्थररूप नही हो जाता। जानवर होते हुए भी सर्वथा जानवर नही हो जाता। जो देह है, वह जीवकी वेशधारिता है, स्वरूपता नही है।

६-७. प्र०—५वे प्रश्नके उत्तरमे छठे प्रश्नका भी समाधान आ गया है, और सातवे प्रश्नका भी समाधान आ गया है कि केवल पत्थर या केवल पृथ्वी कुछ कर्मका कर्त्ता नही है। उसमे आकर उत्पन्न हुआ जीव कर्मका कर्त्ता है, और वह भी दूध और पानीकी तरह है। जैसे दूध पानीका संयोग होनेपर भी दूध दूध है और पानी पानी है, वैसे एकेन्द्रिय आदि कर्मबन्धसे जीवमे पत्थरपन, जड़ता मालूम होती है, तो भी वह जीव अन्तरमे तो जीवरूपसे ही है; और वहाँ भी वह आहार, भय आदि संज्ञापूर्वक है, जो अव्यक्त जैसी है।

८ प्र०—(१) आर्यधर्म क्या है ? (२) सबकी उत्पत्ति वेदमेसे ही है क्या ?

उ०—(१) आर्यधर्मकी व्याख्या करनेमे सभी अपने पक्षको आर्यधर्म कहना चाहते है। जैन जैनको, बौद्ध बौद्धको, वेदांती वेदातको आर्यधर्म कहते है, ऐसा साधारण है। तथापि ज्ञानीपुरुष तो जिससे आत्माको निजस्वरूपकी प्राप्ति हो, ऐसा जो आर्य (उत्तम) मार्ग, उसे आर्यधर्म कहते है, और ऐसा ही होने योग्य है।

(२) सबकी उत्पत्ति वेदमेसे होना सम्भव नही है। वेदमें जितना ज्ञान कहा है उससे हजारगुना आशयवाला ज्ञान श्री तीर्थंकरादि महात्माओने कहा है, ऐसा मेरे अनुभवमें आता है, और इससे मै ऐसा मानता हूँ कि अल्प वस्तुमेसे सम्पूर्ण वस्तु नही हो सकती; ऐसा होनेसे वेदमेसे सबकी उत्पत्ति कहना योग्य नही है। वैष्णवादि सम्प्रदायोकी उत्पत्ति उसके आश्रयसे माननेमे कोई आपत्ति नही है। जैन, बौद्धके अन्तिम महावीरादि महात्मा होनेसे पहले वेद थे; ऐसा मालूम होता है, और वे बहुत प्राचीन

ग्रन्थ हैं, ऐसा भी मालूम होता है। तथापि जो कुछ प्राचीन हो वही सम्पूर्ण हो या सत्य हो, ऐसा नही कहा जा सकता, और जो बादमे उत्पन्न हुए हो वे अपूर्ण तथा असत्य हो, ऐसा भी नही कहा जा सकता। बाकी वेद जैसा अभिप्राय और जैन जैसा अभिप्राय अनादिसे चला आता है। सर्व भाव अनादि हैं, मात्र रूपांतर होता है। केवल उत्पत्ति अथवा केवल नाश नही होता। वेद, जैन और अन्य सबके अभिप्राय अनादि हैं, ऐसा माननेमे आपत्ति नही है; वहाँ फिर विवाद किसका रहे? तथापि इन सबमे विशेष बलवान, सत्य अभिप्राय किसका कहने योग्य है, उसका विचार करना, यह हमे, आपको, सबको योग्य है।

९ प्र०—(१) वेद किसने बनाये ? वे अनादि हैं ? (२) यदि अनादि हो तो अनादिका अर्थ क्या ?

उ०—(१) बहुत काल पहले वेदोका होना सम्भव है।

(२) पुस्तकरूपसे कोई भी शास्त्र अनादि नही है; उसमे कहे हुए अर्थके अनुसार तो सब शास्त्र अनादि है, क्योकि उस उस प्रकारका अभिप्राय भिन्न-भिन्न जीव भिन्न भिन्नरूपसे कहते आये हैं; और ऐसी ही स्थिति सम्भव है, क्रोधादि भाव भी अनादि है, और क्षमादि भाव भी अनादि हैं; हिंसादि धर्म भी अनादि है, और अहिंसादि धर्म भी अनादि हैं। मात्र जीवके लिये हितकारी क्या है ? इतना विचार करना कार्यरूप है। अनादि तो दोनो हैं। फिर कभी कम परिमाणमे और कभी विशेष परिमाणमे किसीका बल होता है।

१० प्र०—गीता किसने बनायी ? ईश्वरकृत तो नही है ? यदि वैसा हो तो उसका कोई प्रमाण है ?

उ०—उपर्युक्त उत्तरोसे कुछ समाधान हो सकने योग्य है कि 'ईश्वर'का अर्थ ज्ञानी (सम्पूर्णज्ञानी) ऐसा करनेसे वह ईश्वरकृत हो सकती है, परतु नित्य अक्रिय ऐसे आकाशकी तरह व्यापक ईश्वरको स्वीकार करनेपर वैसी पुस्तक आदिकी उत्पत्ति होना सम्भव नही है, क्योकि यह तो साधारण कार्य है कि जिसका कर्तृत्व आरभपूर्वक होता है, अनादि नही होता। गीता वेदव्यासजीकी बनायी हुई पुस्तक मानी जाती है और महात्मा श्रीकृष्णने अर्जुनको वैसा बोध किया था, इसलिये मुख्यरूपसे कर्त्ता श्रीकृष्ण कहे जाते है, जो बात सम्भव है। ग्रन्थ श्रेष्ठ है, ऐसा भावार्थ अनादिसे चला आता है; परंतु वे ही श्लोक अनादिसे चले आते हो, ऐसा होना योग्य नही है; तथा निष्क्रिय ईश्वरसे भी उसकी उत्पत्ति हो, यह सम्भव नही है। सक्रिय अर्थात् किसी देहधारीसे वह क्रिया होने योग्य है। इसलिये सम्पूर्णज्ञानी वही ईश्वर है, और उसके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र ईश्वरीय शास्त्र है, ऐसा माननेमे कोई बाधा नही है।

११ प्र०—पशु आदिके यज्ञसे जरा भी पुण्य है क्या ?

उ०—पशुके वधसे, होमसे या जरा भी उसे दुःख देनेसे पाप ही है, वह फिर यज्ञमे करे या चाहे तो ईश्वरके धाममे बैठकर करें, परन्तु यज्ञमे जो दानादि क्रिया होती है, वह कुछ पुण्य हेतु है, तथापि हिंसामिश्रित होनेसे वह भी अनुमोदन योग्य नही है।

१२ प्र०—जो धर्म उत्तम है, ऐसा आप कहे तो उसका प्रमाण माँगा जा सकता है क्या ?

उ०—प्रमाण माँगनेमे न आये और उत्तम है ऐसा प्रमाणके बिना प्रतिपादन किया जाये तो फिर अर्थ, अनर्थ, धर्म, अधर्म सब उत्तम ही ठहरें। प्रमाणसे ही उत्तम अनुत्तम मालूम होता है। जो धर्म संसारको परिक्षीण करनेमें सबसे उत्तम हो, और निजस्वभावमें स्थिति करानेमें बलवान हो वही उत्तम और वही बलवान है।

१३. प्र०—क्या आप ईसाईधर्मके विषयमे कुछ जानते हैं ? यदि जानते हों तो अपने विचार बतलाइयेगा।

उ०—ईसाईधर्मके विषयमे मैं साधारणरूपसे जानता हूँ। भरतखंडमे महात्माओंने जैसा धर्म शोधा है, विचारा है, वैसा धर्म किसी दूसरे देशसे विचारा नही गया है, यह तो अल्प अभ्याससे भी समझा जा सकता है। उसमे (ईसाईधर्ममे) जीवकी सदा परवशता कही गयी है, और मोक्षमे भी वह दशा वैसी ही रखी है। जिसमें जीवके अनादि स्वरूपका विवेचन यथायोग्य नहीं है, कर्मसम्बन्धी व्यवस्था और उसकी निवृत्ति भी यथायोग्य नही कही है, उस धर्मके विषयमे मेरा ऐसा अभिप्राय होना सम्भव नही है कि वह सर्वोत्तम धर्म है। ईसाईधर्ममे जो मैने ऊपर कहा उस प्रकारका यथायोग्य समाधान दिखायी नही देता। यह वाक्य मतभेदवशात् नही कहा है। अधिक पूछने योग्य लगे तो पूछियेगा, तो विशेष समाधान किया जा सकेगा।

१४. प्र०—वे ऐसा कहते हैं कि बाईबिल ईश्वरप्रेरित है, ईसा ईश्वरका अवतार है, उसका पुत्र है, और था।

उ०—यह बात तो श्रद्धासे मानी जा सकती है, परन्तु प्रमाणसे सिद्ध नही है। जैसा गीता और वेदके ईश्वरप्रेरित होनेके बारेमे ऊपर लिखा है, वैसा ही बाईबिलके सम्बन्धमे भी मानना। जो जन्म-मरणसे मुक्त हुआ वह ईश्वर अवतार ले, यह सभव नही है; क्योकि रागद्वेषादि परिणाम ही जन्मका हेतु है, वह जिसे नही है ऐसा ईश्वर अवतार धारण करे, यह बात विचार करनेसे यथार्थ प्रतीत नही होती। 'ईश्वरका पुत्र है, और था,' इस बातका भी किसी रूपकके तौरपर विचार करे तो कदाचित् मेल बैठे, नही तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। मुक्त ऐसे ईश्वरको पुत्र हो, यह किस तरह कहा जाये ? और कहे तो उसकी उत्पत्ति किस तरह कह सकते है ? दोनोको अनादि माने तो पिता-पुत्र सम्बन्ध किस तरह मेल खाये ? इत्यादि बातें विचारणीय हैं। जिनका विचार करनेसे मुझे ऐसा लगता है, कि यह बात यथा-योग्य नही है।

१५. प्र०—पुराने करारमे जो भविष्य कहा गया है वह सब ईसाके विषयमे सच सिद्ध हुआ है।

उ०—ऐसा हो तो भी उससे उन दोनों शास्त्रोके विषयमे विचार करना योग्य है। तथा ऐसा भविष्य भी ईसाको ईश्वरावतार कहनेमे बलवान प्रमाण नही है, क्योंकि ज्योतिषादिकसे भी महात्माकी उत्पत्ति बतायी हो ऐसा सम्भव है। अथवा भले किसी ज्ञानसे वैसी बात बतायी हो, परतु वैसे भविष्य-वेत्ता सम्पूर्ण मोक्षमार्गके ज्ञाता थे, यह बात जब तक यथास्थित प्रमाणरूप न हो, तब तक वह भविष्य इत्यादि एक श्रद्धाग्राह्य प्रमाण है, और वह अन्य प्रमाणोसे बाधित न हो, ऐसा धारणामे नही आ सकता।

१६ प्र०—इसमे 'ईसामसीहके चमत्कार' के विषयमे लिखा है।

उ०—जो जीव कायामेसे सर्वथा चला गया हो, उसी जीवको यदि उसी कायामे दाखिल किया हो, अथवा किसी दूसरे जीवको उसमे दाखिल किया हो, तो यह हो सकना संभव नही हैं; और यदि ऐसा हो तो फिर कर्मादिकी व्यवस्था भी निष्फल हो जाये। बाकी योगादिकी सिद्धिसे कितने ही चमत्कार उत्पन्न होते है, और वैसे कुछ चमत्कार ईसाके हो, तो यह एकदम मिथ्या है या असम्भव है, ऐसा नही कहा जा सकता; वैसी सिद्धियाँ आत्माके ऐश्वर्यके आगे अल्प हैं, आत्माका ऐश्वर्य उससे अनंतगुना महान संभव है। इस विषयमे समागममे पूछना योग्य है।

१७ प्र०—भविष्यमे कौनसा जन्म होगा उसका इस भवमे पता चलता है ? अथवा पहले क्या थे इसका पता चल सकता है ?

उ०—यह हो सकता है। जिसका ज्ञान निर्मल हुआ हो उसे वैसा होना संभव है। जैसे बादल इत्यादि चिह्नोसे बरसातका अनुमान होता है, वैसे इस जीवकी इस भवकी चेष्टासे उसके पूर्वकारण कैसे

होने चाहिये, यह भी समझा जा सकता है, कदाचित् थोड़े अंशमे समझा जाये। तथा वह चेष्टा भविष्यमें कैसे परिणामको प्राप्त होगी, यह भी उसके स्वरूपसे जाना जा सकता है। और उसका विशेष विचार करनेपर कैसा भव होना सम्भव है, तथा कैसा भव था, यह भी विचारमे भलीभाँति आ सकता है।

१८. प्र०—पुनर्जन्म तथा पूर्वजन्मका पता किसे चल सकता है ?

उ०—इसका उत्तर ऊपर आ चुका है।

१९ प्र०—जिन मोक्षप्राप्त पुरुषोंके नाम आप बताते हैं, वह किस आधारसे ?

उ०—इस प्रश्नको यदि मुझे खास तौरसे लक्ष्य करके पूछते हैं तो उसके उत्तरमे यह कहा जा सकता है कि जिनकी संसारदशा अत्यंत परिक्षीण हुई है, उनके वचन ऐसे हो, ऐसी उनकी चेष्टा हो, इत्यादि अंशसे भी अपने आत्मामे अनुभव होता है और उसके आश्रयसे उनके मोक्षके विषयमे कहा जा सकता है; और प्राय वह यथार्थ होता है, ऐसा माननेके प्रमाण भी शास्त्रादिसे जाने जा सकते है।

२०. प्र०—बुद्धदेव भी मोक्षको प्राप्त नही हुए, यह आप किस आधारसे कहते है ?

उ०—उनके शास्त्रसिद्धांतोके आधारसे। जिस प्रकारसे उनके शास्त्रसिद्धात हैं, उसीके अनुसार यदि उनका अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पूर्वापर विरुद्ध भी दिखायी देता है, और वह सम्पूर्ण ज्ञानका लक्षण नही है।

यदि संपूर्ण ज्ञान न हो तो संपूर्ण रागद्वेषका नाश होना सभव नही है। जहाँ वैसा हो वहाँ संसारका सभव है। इसलिये, उन्हे सपूर्ण मोक्ष प्राप्त हुआ है, ऐसा नही कहा जा सकता। और उनके कहे हुए शास्त्रोंमे जो अभिप्राय है उसके सिवाय उनका अभिप्राय दूसरा था, उसे दूसरी तरह जानना आपके लिये और हमारे लिये कठिन है, और वैसा होने पर भी यदि कहे कि बुद्धदेवका अभिप्राय दूसरा था तो उसे कारणपूर्वक कहनेसे प्रमाणभूत न हो, ऐसा कुछ नही है।

२१ प्र०—दुनियाकी अंतिम स्थिति क्या होगी ?

उ०—सब जीवोंकी स्थिति सर्वथा मोक्षरूपसे हो जाये अथवा इस दुनियाका सर्वथा नाश हो जाये, वैसा होना मुझे प्रमाणभूत नही लगता। ऐसेके ऐसे प्रवाहमे उसकी स्थिति सम्भव है। कोई भाव रूपांतर पाकर क्षीण हो, तो कोई वर्धमान हो, परन्तु वह एक क्षेत्रमे बढे तो दूसरे क्षेत्रमे घटे इत्यादि इस सृष्टिकी स्थिति है। इससे और बहुत ही गहरे विचारमे जानेके अनतर ऐसा सभवित लगता है, कि इस सृष्टिका सर्वथा नाश हो या प्रलय हो, यह न होने योग्य है। सृष्टि अर्थात् एक यही पृथ्वी ऐसा अर्थ नही है।

२२. प्र०—इस अनीतिमेसे सुनीति होगी क्या ?

उ०—इस प्रश्नका उत्तर सुनकर जो जीव अनीतिकी इच्छा करता है, उसे यह उत्तर उपयोगी हो, ऐसा होने देना योग्य नही है। सर्व भाव अनादि हैं, नीति, अनीति, तथापि आप हम अनीति छोड़कर नीति स्वीकार करे, तो इसे स्वीकार किया जा सकता है और यही आत्माको कर्तव्य है। और सर्व जीव-आश्रयी अनीति मिटकर नीति स्थापित हो, ऐसा वचन नही कहा जा सकता; क्योकि एकातसे वैसी स्थिति हो सकना योग्य नही है।

२३. प्र०—दुनियाका प्रलय है ?

उ०—प्रलय अर्थात् सर्वथा नाश, यदि ऐसा अर्थ किया जाये तो यह बात योग्य नही है, क्योंकि पदार्थका सर्वथा नाश होना सम्भव ही नही है। प्रलय अर्थात् सर्व पदार्थोंका ईश्वरादिमे लीन होना, तो किसीके अभिप्रायमे इस बातका स्वीकार है, परन्तु मुझे यह सम्भवित नही लगता, क्योंकि सर्व पदार्थ, सर्व जीव ऐसे समपरिणामको किस तरह पायें कि ऐसा योग हो, और यदि वैसे समपरिणामका प्रसंग आये

तो फिर पुनः विषमता होना सम्भव नही हैं। यदि अव्यक्तरूपसे जीवमे विषमता हो और व्यक्तरूपसे समता हो इस तरह प्रलयको स्वीकार करे तो भी देहादि सम्बन्धके बिना विषमता किस आश्रयसे रहे? देहादि सम्बन्ध मानें तो सबकी एकेन्द्रियता माननेका प्रसंग आये, और वैसा माननेसे तो बिना कारण दूसरी गतियोका अस्वीकार समझा जाये अर्थात् ऊँची गतिके जीवको यदि वैसे परिणामका प्रसंग मिटने आया हो, वह प्राप्त होनेका प्रसंग आये इत्यादि बहुतसे विचार उठते है। सर्व जीवआश्रयी प्रलयका सम्भव नहीं है।

२४. प्र०—अनपढको भक्तिसे ही मोक्ष मिल सकता है क्या?

उ०—भक्ति ज्ञानका हेतु है। ज्ञान मोक्षका हेतु है। जिसे अक्षरज्ञान न हो उसे अनपढ कहा हो, तो उसे भक्ति प्राप्त होना असंभवित है, ऐसा कुछ है नही। जीव मात्र ज्ञानस्वभावी है। भक्तिके बलसे ज्ञान निर्मल होता है। निर्मल ज्ञान मोक्षका हेतु होता है। सम्पूर्ण ज्ञानकी अभिव्यक्ति हुए बिना सर्वथा मोक्ष हो, ऐसा मुझे नही लगता; और जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान हो वहाँ सर्व भाषाज्ञान समा जाय, ऐसा कहनेकी भी आवश्यकता नही है। भाषाज्ञान मोक्षका हेतु है तथा वह जिसे न हो उसे आत्मज्ञान न हो, ऐसा कुछ नियम सम्भव नही है।

२५ प्र०—(१) कृष्णावतार और रामावतार होनेकी बात क्या सच्ची है? यदि ऐसा हो तो वें क्या थे? वे साक्षात् ईश्वर थे या उसके अंश थे? (२) उन्हे माननेसे मोक्ष मिलता है क्या?

उ०—(१) दोनो महात्मा पुरुष थे, ऐसा तो मुझे भी निश्चय है। आत्मा होनेसे वे ईश्वर थे। उनके सब आवरण दूर हो गये हों तो उनका सर्वथा मोक्ष भी माननेमे विवाद नही है। कोई जीव ईश्वरका अंश है, ऐसा मुझे नही लगता; क्योकि उसके विरोधी हजारो प्रमाण देखनेमे आते है। जीवको ईश्वरका अंश माननेसे बंध-मोक्ष सब व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि ईश्वर ही अज्ञानादिका कर्त्ता हुआ, और अज्ञान आदिका जो कर्त्ता हो उसे फिर सहज ही अनैश्वर्यता प्राप्त होती है और ऐश्वर्य खो बैठता है, अर्थात् जीवका स्वामी होने जाते हुए ईश्वरको उलटे हानि सहन करनेका प्रसंग आये वैसा है। तथा जीवको ईश्वरका अंश माननेके बाद पुरुषार्थ करना किस तरह योग्य लगे? क्योकि वह स्वयं तो कोई कर्त्ता-हर्त्ता सिद्ध नही हो सकता। इत्यादि विरोधसे किसी जीवको ईश्वरके अंशरूपसे स्वीकार करनेकी भी मेरी बुद्धि नही होती। तो फिर श्रीकृष्ण या राम जैसे महात्माओको वैसे योगमे माननेकी बुद्धि कैसे हो? वे दोनो अव्यक्त ईश्वर थे, ऐसा माननेमे बाधा नही है। तथापि उनमे सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हुआ था या नही, यह बात विचारणीय है।

(२) उन्हे माननेसे मोक्ष मिलता है क्या? इसका उत्तर सहज है। जीवके सर्व रागद्वेष और अज्ञान का अभाव अर्थात् उनसे छूटना ही मोक्ष है। वह जिनके उपदेशसे हो सके उन्हे मानकर और उनका परमार्थस्वरूप विचारकर, स्वात्मामे भी वैसी ही निष्ठा होकर उसी महात्माके आत्माके आकारसे (स्वरूपसे) प्रतिष्ठान हो, तब मोक्ष होना सम्भव है। बाकी अन्य उपासना सर्वथा मोक्षका हेतु नही है, उसके साधनका हेतु होती है, वह भी निश्चयसे हो ही ऐसा कहना योग्य नही है।

२६. प्र०—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कौन थे?

उ०—सृष्टिके हेतुरूप तीन गुणोको मानकर, उनके आश्रयसे उन्हे यह रूप दिया हो तो यह बात मेल खा सकती है तथा वैसे अन्य कारणोसे उन ब्रह्मादिका स्वरूप समझमे आता है। परन्तु पुराणोंमें जिस प्रकारका उनका स्वरूप कहा है, उस प्रकारका स्वरूप है, ऐसा माननेमे मेरा विशेष झुकाव नहीं है। क्योंकि उनमें बहुतसे रूपक उपदेशके लिये कहे हों, ऐसा भी लगता है। तथापि हमें भी उनका

उपदेशके रूपमे लाभ लेना चाहिये और ब्रह्मादिके स्वरूपका सिद्धांत करनेकी जंजालमे न पड़ना चाहिये यह मुझे ठीक लगता है।

२७. प्र०—जब मुझे सर्प काटने आये तब मुझे उसे काटने देना या मार डालना ? उसे दूसरी तरह से दूर करनेकी शक्ति मुझमे न हो, ऐसा मानते है।

उ०—आप सर्पको काटने दे, ऐसा काम बताते हुए विचारमे पड़ने जैसा है। तथापि आपने यदि ऐसा जाना हो कि 'देह अनित्य है', तो फिर इस असारभूत देहके रक्षणके लिये, जिसे देहमे प्रीति है, ऐसे सर्पको मारना आपके लिये कैसे योग्य हो ? जिसे आत्महितकी इच्छा हो, उसे तो वहाँ अपनी देह छोड़ देना ही योग्य है। कदाचित् आत्महितकी इच्छा न हो, वह क्या करे ? तो इसका उत्तर यही दिया जाये कि वह नरकादिमे परिभ्रमण करे, अर्थात् सर्पको मारे ऐसा उपदेश कहाँसे कर सकते हैं ? अनार्य-वृत्ति हो तो मारनेका उपदेश किया जा सकता है। वह तो हमे तुम्हे स्वप्नमे भी न हो, यही इच्छा करने योग्य है।

अब संक्षेपमे इन उत्तरोंको लिखकर पत्र पूरा करता हूँ। 'षड्दर्शनसमुच्चय'को विशेष समझनेका प्रयत्न कीजियेगा। इन प्रश्नोके उत्तर संक्षेपमे लिखनेसे आपको समझनेमे कही भी कुछ दुविधा हो तो भी विशेषतासे विचारियेगा, और कुछ भी पत्र द्वारा पूछने योग्य लगे तो पूछियेगा, तो प्रायः उसका उत्तर लिखूँगा। समागममे विशेष समाधान होना अधिक योग्य लगता है।

लि० आत्मस्वरूपमे नित्य निष्ठाके हेतुभूत विचारकी चिंतामे रहनेवाले
रायचंदके प्रणाम।

---

५३१ बबई, आसोज वदी ३०, १९५०

आपके लिखे हुए तीनों पत्र मिले है। जिसका परमार्थ हेतुसे प्रसग हो वह यदि आजीविकादिके प्रसंगके विषयमे थोडीसी बात लिखे या सूचित करे, तो उससे परेशानी हो आती है। परतु यह कलिकाल महात्माके चित्तको भी ठिकाने रहने दे, ऐसा नहीं है, यह सोचकर मैंने आपके पत्र पढे है। उनमे व्यापार की व्यवस्थाके विषयमे आपने जो लिखा, वह अभी करने योग्य नही है। बाकी उस प्रसंगमे आपने जो कुछ सूचित किया है उसे या उससे अधिक आपके वास्ते कुछ करना हो तो इसमे आपत्ति नही है। क्योंकि आपके प्रति अन्यभाव नही है।

---

५३२ बबई, आसोज वदी ३०, १९५०

आपके लिखे हुए तीन पत्रोंके उत्तरमे एक चिट्ठी[1] आज लिखी है। जिसे बहुत संक्षेपमे लिखा होने से उनका उत्तर कदाचित् न समझा जा सके, इसलिये फिर यह चिट्ठी लिखी है। आपका निर्दिष्ट कार्य आत्मभावका त्याग किये बिना चाहे जो करनेका हो तो उसे करनेमे हमे विषमता नहीं है। परंतु हमारा चित्त, अभी आप जो काम लिखते हैं उसे करनेमे फल नही है, ऐसा समझकर आप उस विचारका उपशमन करें, ऐसा कहता है। आगे क्या होता है उसे धीरतासे साक्षीवत् देखना श्रेयरूप है। तथा अभी कोई दूसरा भय रखना योग्य नही है। और ऐसी ही स्थिति बहुत काल तक रहनेवाली है, ऐसा है ही नहीं।

प्रणाम।

---

१. देखे आक ५३१

२८ वाँ वर्ष

५३३ बंबई, कार्तिक सुदी १, १९५१

मतिज्ञानादिके प्रश्नोंके विषयमें पत्र द्वारा समाधान होना कठिन है। क्योंकि उन्हें विशेष पढनेकी या उत्तर लिखनेकी प्रवृत्ति अभी नही हो सकती।

महात्माके चित्तकी स्थिरता भी जिसमे रहनी कठिन है, ऐसे दुषमकालमें आप सबके प्रति अनुकंपा करना योग्य है, यह विचारकर लोकके आवेशमे प्रवृत्ति करते हुए आपने प्रश्नादि लिखनेरूप चित्तमे अवकाश दिया, इससे मेरे मनको सन्तोष हुआ है।

निष्कपट दासानुदासभावसे०

---

५३४ बंबई, कार्तिक सुदी ३, बुध, १९५१

श्री सत्पुरुषको नमस्कार

श्री सूर्यपुरस्थित, वैराग्यचित्त, सत्संगयोग्य श्री लल्लुजोके प्रति,

श्री मोहमयी भूमिसे जीवन्मुक्तदशाके इच्छुक श्री····का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष विनती कि आपके लिखे हुए तीन पत्र थोड़े थोडे दिनोके अन्तरसे मिले है।

यह जीव अत्यन्त मायाके आवरणसे दिशामूढ हुआ है, और उस योगसे उसकी परमार्थदृष्टिका उदय नही होता। अपरमार्थमे परमार्थका दृढाग्रह हुआ है; और उससे बोध प्राप्त होनेका योग होने पर भी उसमे बोधका प्रवेश हो, ऐसा भाव स्फुरित नही होता, इत्यादि जीवकी विषम दशा कहकर प्रभुके प्रति दीनता प्रदर्शित की है कि 'हे नाथ! अब मेरी कोई गति (मार्ग) मुझे दिखायी नही देती। क्योकि मैंने सर्वस्व लुटा देने जैसा योग किया है, और सहज ऐश्वर्य होते हुए भी, प्रयत्न करनेपर भी, उस ऐश्वर्यसे विपरीत मार्गका ही मैंने आचरण किया है। उस उस योगसे मेरी निवृत्ति कर, और उस निवृत्तिका सर्वोत्तम सदुपाय जो सद्गुरुके प्रति शरणभाव है वह उत्पन्न हो, ऐसी कृपा कर,' ऐसे भावके बीस दोहे हैं, जिनमे प्रथम वाक्य 'हे प्रभु! हे प्रभु! शुं कहुं? दीनानाथ दयाल' है। वे दोहे आपके स्मरणमे होंगे। उन दोहोंकी विशेष अनुप्रेक्षा हो, वैसा करेंगे तो वह विशेष गुणाभिव्यक्तिका हेतु होगा।

उनके साथ दूसरे आठ तोटक छंद अनुप्रेक्षा करने योग्य है, जिनमें इस जीवको क्या आचरण करना बाकी है, और जो जो परमार्थके नामसे आचरण किये हैं वे अब तक वृथा हुए, और उन आचरणमे जो मिथ्याग्रह है उसे निवृत्त करनेका बोध दिया है, वे भी अनुप्रेक्षा करनेसे जीवको पुरुषार्थविशेषके हेतु हैं।

'योगवासिष्ठ' का पठन पूरा हुआ हो तो कुछ समय उसका अवकाश रखकर अर्थात् अभी फिरसे पढना बन्द रखकर 'उत्तराध्ययनसूत्र' को विचारियेगा, परन्तु उसे कुलसंप्रदायके आग्रहार्थको निवृत्त करनेके लिये विचारियेगा। क्योंकि जीवको कुलयोगसे जो संप्रदाय प्राप्त हुआ होता है, वह परमार्थरूप है या नही ? ऐसा विचार करते हुए दृष्टि आगे नही चलती और सहजमे उसे ही परमार्थ मानकर जीव परमार्थ चूक जाता है। इसलिये मुमुक्षुजीवका तो यही कर्तव्य है कि जीवको सद्गुरुके योगसे कल्याणकी प्राप्ति अल्पकालमें हो, उसके साधन, वैराग्य और उपशमके लिये 'योगवासिष्ठ', 'उत्तराध्ययनादि' विचारणीय है, तथा प्रत्यक्ष पुरुषके वचनकी निराबाधता, पूर्वापर अविरोधिता जाननेके लिये विचारणीय हैं।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५३५ बंबई, कार्तिक सुदी ३, बुध, १९५१

आपको दो चिट्ठियाँ लिखी थी, वे मिली होंगी। हमने संक्षेपमें लिखा है। अभिन्नभावसे लिखा है। इसलिये कदाचित् उसमे कुछ आशंकायोग्य नही है। तो भी संक्षेपके कारण समक्षमे न आये, ऐसा कुछ हो तो पूछनेमे आपत्ति नही है।

श्रीकृष्ण चाहे जिस गतिको प्राप्त हुए हों, परन्तु विचार करनेसे वे आत्मभाव-उपयोगी थे, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। जिन श्रीकृष्णने काचनकी द्वारिकाका, छप्पन करोड यादवों द्वारा सगृहीतका, पंचविषयके आकर्षक कारणोंके योगमे स्वामित्व भोगा, उन श्रीकृष्णने जब देहको छोडा है तब क्या स्थिति थी, वह विचार करने योग्य है, और उसे विचारकर इस जीवको अवश्य आकुलतासे मुक्त करना योग्य है। कुलका सहार हुआ है, द्वारिकाका दाह हुआ है, उसके शोकसे शोकवान अकेले वनमे भूमिपर आधार करके सो रहे है, वहाँ जराकुमारने जब बाण मारा, उस समय भी जिन्होंने धैर्यको अपनाया है, उन श्रीकृष्णकी दशा विचारणीय है।

---

५३६ बम्बई, कार्तिक सुदी ४, गुरु, १९५१

आज एक पत्र प्राप्त हुआ है, और उस सम्बन्धमे यथाउदय समाधान लिखनेका विचार करता हूँ, और वह पत्र तुरत लिखूंगा।

मुमुक्षुजीवको दो प्रकारकी दशा रहती है, एक 'विचारदशा' और दूसरी 'स्थितप्रज्ञदशा'। स्थितप्रज्ञदशा विचारदशाके लगभग पूरी हो जानेपर अथवा सम्पूर्ण होनेपर प्रगट होती है। उस स्थितप्रज्ञदशाकी प्राप्ति इस कालमे कठिन है, क्योंकि इस कालमे आत्मपरिणामके लिये व्याघातरूप योग प्रधानरूपसे रहता है, और इससे विचारदशाका योग भी सद्गुरु और सत्संगके अभावसे प्राप्त नही होता; वैसे कालमें कृष्णदास विचारदशाकी इच्छा करते हैं, यह विचारदशा प्राप्त होनेका मुख्य कारण है, और ऐसे जीवको भय, चिंता, पराभव आदि भावमे निजबुद्धि करना योग्य नही है, तो भी धैर्यसे उन्हे समाधान होने देना, और निर्भय चित्त रखवाना योग्य है।

---

५३७ बम्बई, कार्तिक सुदी ७, शनि, १९५१

श्री सत्पुरुषोंको नमस्कार

श्री स्थंभतीर्थवासी मुमुक्षुजनोंके प्रति,

श्री मोहमयी भूमिसे····का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष विनती कि मुमुक्षु अंबालालका लिखा हुआ एक पत्र आज प्राप्त हुआ है।

कृष्णदासके चित्तकी व्यग्रता देखकर आप सबके मनमे खेद रहता है, वैसा होना स्वाभाविक है। यदि हो सके तो 'योगवासिष्ठ' ग्रथ तीसरे प्रकरणसे उन्हे पढ़ावे अथवा श्रवण करावे, और प्रवृत्तिक्षेत्रसे जैसे अवकाश मिले तथा सत्संग हो वैसे करें। दिनभरमे वैसा अधिक समय अवकाश लिया जा सके, उतना ध्यान रखना योग्य है।

सब मुमुक्षुभाइयोंकी समागमकी इच्छा है ऐसा लिखा, उसका विचार करूँगा। मार्गशीर्ष मासके पिछले भागमे या पौष मासके आरंभमे बहुत करके वैसा योग होना सम्भव है।

कृष्णदासको चित्तके विक्षेपकी निवृत्ति करना योग्य है। क्योकि मुमुक्षुजीवको अर्थात् विचारवान जीवको इस संसारमे अज्ञानके सिवाय और कोई भय नही होता। एक अज्ञानकी निवृत्ति करनेकी जो इच्छा है, उसके सिवाय विचारवान जीवको दूसरी इच्छा नही होती, और पूर्वकर्मके योगसे वैसा कोई उदय हो, तो भी विचारवानके चित्तमें संसार कारागृह है, समस्त लोक दु खसे आर्त्त है, भयाकुल है, राग-द्वेषके प्राप्त फलसे जलता है, ऐसा विचार निश्चयरूप ही रहता है, और ज्ञानप्राप्तिमे कुछ अन्तराय है, इसलिये यह कारागृहरूप संसार मुझे भयक। हेतु है और लोकका प्रसंग करना योग्य नहीं है, यही एक भय विचारवानको होना योग्य है।

महात्मा श्री तीर्थंकरने निर्ग्रंथको प्राप्तपरिषह सहन करनेकी वारंवार सूचना दी है। उस परिषहके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए अज्ञानपरिषह और दर्शनपरिषह ऐसे दो परिषहोंका प्रतिपादन किया है, कि किसी उदययोगकी प्रबलता हो और सत्संग एवं सत्पुरुषका योग होनेपर भी जीवकी अज्ञानके कारणों-को दूर करनेकी हिम्मत न चल सकती हो, आकुलता आ जाती हो, तो भी धैर्य रखना, सत्सग एवं सत्पुरुषके योगका विशेष विशेष आराधन करना, तो अनुक्रमसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी, क्योकि निश्चय जो उपाय है, और जीवको निवृत्त होनेकी बुद्धि है, तो फिर वह अज्ञान निराधार हो जानेपर किस तरह टिक सकता है? एक मात्र पूर्वकर्मके योगके सिवाय वहाँ उसे कोई आधार नही है। वह तो जिस जीवको सत्संग एव सत्पुरुषका योग हुआ है और पूर्वकर्मनिवृत्तिका प्रयोजन है, उसका अज्ञान क्रमशः दूर होना ही योग्य है, ऐसा विचारकर वह मुमुक्षुजीव उस अज्ञानजन्य आकुलता-व्याकुलताको धैर्यसे सहन करे, इस तरह परमार्थ कहकर परिषह कहा है। यहाँ हमने उन दोनों परिषहोंका स्वरूप संक्षेपमें लिखा है। ऐसा परिषहका स्वरूप जानकर, सत्संग एवं सत्पुरुषके योगसे, जो अज्ञानसे आकुलता होती है वह निवृत्त होगी, ऐसा निश्चय रखकर, यथाउदय जानकर, धैर्य रखनेका भगवान तीर्थंकरने कहा है, परन्तु वह धैर्य ऐसे अर्थमे नही कहा है, कि सत्संग एवं सत्पुरुषका योग होनेपर प्रमाद हेतुसे विलब करना, वह धैर्य है और उदय है, यह बात भी विचारवान जीवको स्मृतिमें रखना योग्य है।

श्री तीर्थंकरादिने बार-बार जीवोको उपदेश दिया है; परन्तु जीव दिङ्मूढ रहना चाहता है, वहाँ उपाय नही चल सकता। पुनः पुनः ठोक-ठोककर कहा है कि एक यह जीव समझ ले तो सहज मोक्ष है, नही तो अनंत उपायोंसे भी नही है। और यह समझना भी कुछ विकट नहीं है, क्योंकि जीवका जो सहज स्वरूप है वही मात्र समझना है; और वह कुछ दूसरेके स्वरूपकी बात नहीं है कि कदाचित् वह छिपा ले या न बताये कि जिससे समझमे न आवें। अपनेसे आप गुप्त रहना किस तरह हो सकता है? परन्तु स्वप्नदशामे जैसे न होने योग्य ऐसी अपनी मृत्युको भी जीव देखता है, वैसे ही अज्ञानदशारूप स्वप्नरूप योगसे यह जीव अपनेको, जो अपने नही है ऐसे दूसरे द्रव्योंमे निजरूपसे मानता है; और यही मान्यता संसार है, यही अज्ञान है, नरकादि गतिका हेतु यही है, यही जन्म है, मरण है, और यही देह है, देहका विकार है, यही पुत्र है, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्रादि भावकल्पनाका हेतु है; और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज मोक्ष है; और इसी निवृत्तिके लिये सत्संग, सत्पुरुष आदि साधन कहे है; और वे

साधन भी, यदि जीव अपने पुरुषार्थको छिपाये बिना उनमे लगाये, तभी सिद्ध होते हैं। अधिक क्या कहे ? इतनी संक्षिप्त बात यदि जीवमे परिणमित हो जाये तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्रज्ञान आदि कर चुका, इसमें कुछ संशय नहीं है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५३८ बंबई, कार्तिक सुदी ९, बुध, १९५१

दो पत्र प्राप्त हुए हैं।

मुक्त मनसे स्पष्टीकरण किया जाये ऐसी आपकी इच्छा रहती है, उस इच्छाके कारण ही मुक्त मनसे स्पष्टीकरण नही किया जा सका, और अब भी उस इच्छाका निरोध करनेके सिवाय आपके लिये दूसरा कोई विशेष कर्तव्य नही है। हम मुक्त मनसे स्पष्टीकरण करेंगे ऐसा जानकर इच्छाका निरोध करना योग्य नही है, परन्तु सत्पुरुषके संगके माहात्म्यकी रक्षाके लिये उस इच्छाको शान्त करना योग्य है, ऐसा विचारकर शांत करना योग्य है। सत्सगकी इच्छासे ही यदि ससारके प्रतिबन्धके दूर होनेकी स्थितिके सुधारकी इच्छा रहती हो तो भी अभी उसे छोड़ देना योग्य है, क्योंकि हमे ऐसा लगता है कि वारंवार आप जो लिखते है, वह कुटुम्बमोह है, सक्लेशपरिणाम है, और असाता न सहन करनेकी किसी भी अंशमे बुद्धि है, और जिस पुरुषको वह बात किसी भक्तजनने लिखी हो, तो उससे उसका रास्ता निकालनेके बदले ऐसा होता है, कि ऐसी निदानबुद्धि जब तक रहे तब तक सम्यक्त्वका रोध अवश्य रहता है, ऐसा विचारकर बहुत बार खेद हो आता है, वह लिखना आपके लिये योग्य नही है।

---

५३९ बंबई, कार्तिक सुदी १४, सोम, १९५१

सर्व जीव आत्मरूपसे समस्वभावी है। अन्य पदार्थमे जीव यदि निजबुद्धि करे तो परिभ्रमणदशा प्राप्त करता है, और निजमे निजबुद्धि हो तो परिभ्रमणदशा दूर होती है। जिसके चित्तमे ऐसे मार्गका विचार करना आवश्यक है उसको, जिसके आत्मामे वह ज्ञान प्रकाशित हुआ है, उसकी दासानुदासरूपसे अनन्य भक्ति करना ही परम श्रेय है, और उस दासानुदास भक्तिमानकी भक्ति प्राप्त होनेपर जिसमे कोई विषमता नही आती, उस ज्ञानीको धन्य है, उतनी सर्वांशदशा जब तक प्रगट न हुई हो तब तक आत्माकी कोई गुरुरूपसे आराधना करे, वहाँ पहले उस गुरुपनेको छोड़कर उस शिष्यमे अपनी दासानुदासता करना योग्य है।

---

५४० बंबई, कार्तिक सुदी १४, सोम, १९५१

विषम संसाररूप
बंधनका छेदन करके जो पुरुष चल पड़े
उन पुरुषोंको अनंत प्रणाम है।

आज आपका एक पत्र प्राप्त हुआ है।

सुदी पचमी या छठके बाद यहाँसे विदाय होकर मेरा वहाँ आना होगा, ऐसा लगता है। आपने लिखा कि विवाहके काममे पहलेसे आप पधारे हों, तो कितने ही विचार हो सकें। उस सम्बन्धमें ऐसा है कि ऐसे कार्योंमे मेरा चित्त अप्रवेशक होनेसे, और वैसे कार्योंका माहात्म्य कुछ है नहीं ऐसा निश्चय होनेसे मेरा पहलेसे आना कुछ वैसा उपयोगी नही है। जिससे रेवाशंकरभाईका आना ठीक समझकर वैसा किया है।

रूईके व्यापारके विषयमें कभी कभी करनेरूप कारण आप पत्र द्वारा लिखते हैं। उस विषयमे एक बारके सिवाय स्पष्टीकरण नही लिखा; इसलिये आज इकट्ठा लिखा है। आढतका व्यवसाय उत्पन्न हुआ उसमे कुछ इच्छाबल और उदयबल था। परन्तु मोतीका व्यवसाय उत्पन्न होनेमे तो मुख्य उदयबल था। बाकी व्यवसायका अभी उदय मालूम नहीं होता। और व्यवसायकी इच्छा होना यह तो असंभव जैसी है।

श्री रेवाशंकरभाईसे आपने रुपयोंकी माँग की थी, वह पत्र भी मणि तथा केशवलालके पढ़नेमें आये उस तरह उनके पत्रमें रखा था। यद्यपि वे जानें इसमें कोई दूसरी बाधा नही है, परन्तु जीवको लौकिक भावनाका अभ्यास विशेष बलवान है, इससे उसका क्या परिणाम आया और हमने उस विषयमे क्या अभिप्राय दिया ? उसे जाननेकी उनकी आतुरता विशेष हो तो वह भी योग्य नही है। अभी रुपयेकी व्यवस्था करनी पड़े उस लिये आपके व्यवसायके सम्बन्धमे हमने कदाचित् ना कही हो, ऐसा अकारण उनके चित्तमे विचार आये। और अनुक्रमसे हमारे प्रति व्यावहारिक बुद्धि विशेष हो जाये, वह भी यथार्थ नही है।

जीजीबाका लग्न माघ मासमे होगा या नही ? इस सम्बन्धमे ववाणियासे हमारे जाननेमे कुछ नही आया, तथा मैंने इस विषयमे कोई विशेष विचार नही किया है। ववाणियासे खबर मिलेगी तो आपको यहाँसे रेवाशंकरभाई या केशवलाल सूचित करेंगे। अथवा रेवाशंकरभाईका विचार माघ मासका होगा तो वे ववाणिया लिखेंगे, और आपको भी सूचित करेंगे। उस प्रसंगपर आना या न आना, इसका पक्का फैसला अभी चित्त नही कर सकेगा, क्योंकि उसे बहुत समय है और अभीसे उसके लिये कुछ निश्चित करना कठिन है। तीन वर्षसे उधर जाना नहीं हुआ, जिससे श्री रवजीभाईके चित्तमे तथा माताजीके चित्तमे, हमारा जाना न हो तो अधिक खेद रहे, यह मुख्य कारण उस तरफ आनेमे है। तथा हमारा आना न हो तो भाई-बहनोंको भी खेद रहे, यह दूसरा कारण भी उधर आनेके विचारको बलवान करता है। और बहुत करके आना होगा, ऐसा चित्तमें लगता है। हमारा चित्त पौष मासके आरम्भमे यहाँसे निकलनेका रहता है, और बीचमे रुकना हो तो प्रवृत्तिके कारण लगी हुई थकावटमें कुछ विश्रांति क्वचित् मिले। परन्तु कितना ही कामकाज ऐसा है कि निर्धारित दिनोंसे कुछ अधिक दिन जानेके बाद यहाँसे छूटा जा सकेगा।

आप अभी किसीको व्यापार-रोजगारकी प्रेरणा करते हुए इतना ध्यान रखें कि जो उपाधि आपको स्वयं करनी पड़े उस उपाधिकी आप उदीरणा करना चाहते हैं। और फिर उससे निवृत्ति चाहते हैं। यद्यपि चारों तरफके आजीविकादि कारणोंसे उस कार्यकी प्रेरणा करनेकी आपके चित्तमे उदयसे स्फुरणा होती होगी तो भी उस सम्बन्धी चाहे जैसी घबराहट होनेपर भी धीरतासे विचार कर कुछ भी व्यापार-रोजगारकी दूसरोको प्रेरणा करना या लड़कोंको व्यापार करानेके विषयमे भी सूचना लिखना। क्योंकि अशुभ उदयको इस तरह दूर करनेका प्रयत्न करते हुए बल प्राप्त करने जैसा हो जाता है।

आप हमे यथासंभव व्यावहारिक बात कम लिखे ऐसा जो हमने लिखा था उसका हेतु मात्र इतना ही है कि हम इतना व्यवहार करते है, उस विचारके साथ दूसरे व्यवहारको सुनते-पढ़ते आकुलता हो जाती है। आपके पत्रमे कुछ निवृत्तिवार्ता आये तो अच्छा, ऐसा रहता है। और फिर आपको हमे व्यावहारिक बात लिखनेका कोई हेतु नही है, क्योंकि वह हमारी स्मृतिमे है और कदाचित् आप घबराहटको शात करनेके लिये लिखते हो तो उस प्रकारसे वह लिखी नहीं जाती है। बात आर्त्तध्यानके रूप जैसी लिखी जाती है, जिससे हमे बहुत संताप होता है। यही विनती।

प्रणाम।

---

५४१ सं० १९५१

ज्ञानीपुरुषोंको समय-समयमें अनंत संयमपरिणाम वर्धमान होते हैं ऐसा सर्वज्ञने कहा है, यह सत्य है। वह संयम, विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे ब्रह्मरसके प्रति स्थिरता होनेसे उत्पन्न होता है।

---

५४२ बंबई, कार्तिक सुदी १५, मंगल १९५१

श्री सोभागभाईको मेरा यथायोग्य कहियेगा।

उन्होंने श्री ठाणांगसूत्रकी एक चौभंगीका उत्तर विशेष समझनेके लिये माँगा था, उसे संक्षेपमें यहाँ लिखा है—

१. एक, आत्माका भवात करे, परन्तु दूसरेका न करे, वे प्रत्येकबुद्ध या असोच्या केवली हैं, क्योंकि वे उपदेशमार्गका प्रवर्तन नही करते है, ऐसा व्यवहार है। २. एक, आत्माका भवांत न कर सके, और दूसरेका भवात करे, वे अचरमशरीरी आचार्य, अर्थात् जिन्हे अभी अमुक भव बाकी है, परन्तु उपदेशमार्गका आत्मा द्वारा ज्ञान है, इससे उनसे उपदेश सुनकर सुननेवाला जीव उसी भवमे भवका अत भी कर सकता है, और आचार्य उस भवमे भवात करनेवाले न होनेसे उन्हे दूसरे भंगमे रखा है; अथवा कोई जीव पूर्वकालमें ज्ञानाराधन कर प्रारब्धोदयसे मंद क्षयोपशमसे वर्तमानमे मनुष्यदेह पाकर, जिसने मार्ग नही जाना है ऐसे किसी उपदेशकके पाससे उपदेश सुनते हुए पूर्वसंस्कारसे, पूर्वके आराधनसे ऐसा विचार प्राप्त करे कि यह प्ररूपणा अवश्य मोक्षका हेतु नही होगी, क्योंकि वह अज्ञानतासे मार्ग कहता है, अथवा यह उपदेश देनेवाला जीव स्वयं अपरिणामी रहकर उपदेश करता है, यह महा अनर्थ है, ऐसा विचार करते हुए पूर्वाराधन जागृत हो और उदयका छेदनकर भवात करे, जिससे निमित्तिरूप ग्रहण करके वैसे उपदेशकका भी इस भगमे समावेश किया हो, ऐसा लगता है। ३. जो स्वयं तरें और दूसरोको तारे, वे श्री तीर्थंकरादि है। ४ जो स्वय भी न तरे और दूसरोको भी न तार सके वह 'अभव्य या दुर्भव्य' जीव है। इस प्रकार समाधान किया हो तो जिनागम विरोधको प्राप्त नही होता। इस विषयमे विशेष पूछनेकी इच्छा हो तो पूछियेगा, ऐसा सोभागभाईको कहियेगा।

लि० रायचंदका प्रणाम।

---

५४३ बंबई, कार्तिक, १९५१

अन्यसम्बन्धी जो तादात्म्य भासित हुआ है, वह तादात्म्य निवृत्त हो तो सहजस्वभावसे आत्मा मुक्त ही है; ऐसा श्री ऋषभादि अनंत ज्ञानीपुरुष कह गये है, यावत् तथारूपमे समा गये है।

---

५४४ बबई, कार्तिक वदी १३, रवि, १९५१

आपका पत्र मिला है। यहाँ सुखवृत्ति है। जब प्रारब्धोदय द्रव्यादि कारणमे निर्बल हो तब विचारवान जीवको विशेष प्रवृत्ति करना योग्य नही है, अथवा धीरता रखकर आसपासकी बहुत संभालसे प्रवृत्ति करना योग्य है, एक लाभका ही प्रकार देखते रहकर करना योग्य नही है। इस बातको समझानेका हमारा प्रयत्न होनेपर भी आपको उस बात पर यथायोग्य संलग्नचित्त हो जानेका योग नही हुआ, इतना चित्तमे विक्षेप रहा, तथापि आपके आत्मामे वैसी बुद्धि किसी भी दिन नहीं हो सकती कि आपसे हमारे वचनके प्रति कुछ गौणभाव रखा जाये, ऐसा जानकर हमने आपको उपालंभ नही दिया। तथापि अब यह बात ध्यानमें लेनेमें बाधा नही है। आकुल होनेसे कुछ कर्मकी निवृत्ति चाहते हैं, वह नही होती; और आर्त-

ध्यान होकर ज्ञानीके मार्गकी अवहेलना होती है। इस बातका स्मरण रखकर ज्ञानकथा लिखियेगा। विशेष आपका पत्र आनेपर। यह हमारा आपको लिखना सहज कारणसे है। यही विनती।

---

५४५ बंबई, मार्गशीर्ष वदी १, गुरु, १९५१

कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा।

अभी व्यवसाय विशेष है। कम करनेका अभिप्राय चित्तसे खिसकता नही है। और अधिक होता रहता है। आ० स्व० प्रणाम।

---

५४६ बंबई, मार्गशीर्ष वदी ३, शुक्र, १९५१

प्र०—"जिसका मध्य नही, अर्ध नही, अछेद्य, अभेद्य इत्यादि परमाणुकी व्याख्या श्री जिनेंद्रने कही है, तो इसमे अनंत पर्याय किस तरह हो सकते है? अथवा पर्याय यह एक परमाणुका दूसरा नाम होगा? या किस तरह?" इस प्रश्नवाला पत्र आया था। उसका समाधान—

प्रत्येक पदार्थके अनंत पर्याय (अवस्थाएँ) है। अनत पर्यायके बिना कोई पदार्थ नही हो सकता, ऐसा श्री जिनेंद्रका अभिमत है, और वह यथार्थ लगता है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ समय समयमे अवस्थातरता पाता हुआ होना चाहिये, ऐसा प्रत्यक्ष दिखायी देता है। क्षण-क्षणमे जैसे आत्मामे सकल्प-विकल्प परिणति होकर अवस्थातर हुआ करता है, वैसे परमाणुमे वर्ण, गंध, रस, रूप अवस्थातरता पाते है, वैसी अवस्था-तरता पानेसे उस परमाणुके अनंत भाग हुए, यह कहना योग्य नहीं है; क्योकि वह परमाणु अपनी एक-प्रदेशक्षेत्रावगाहिताका त्याग किये बिना उस अवस्थातरको प्राप्त होता है। एकप्रदेशक्षेत्रावगाहिताके वे अनंत भाग नही हो सकते। समुद्र एक होनेपर भी जैसे उसमे तरंगें उठती है, और वे तरंगे उसीमे समाती हैं, तरंगरूपसे उस समुद्रकी अवस्थाएँ भिन्न भिन्न होती रहनेसे भी समुद्र अपने अवगाहक क्षेत्रका त्याग नही करता, और कुछ समुद्रके अनंत भिन्न भिन्न टुकडे नही होते, मात्र अपने स्वरूपमे वह रमण करता है, तरंगता यह समुद्रकी परिणति है, यदि जल शांत हो तो शांतता यह उसकी परिणति है, कुछ भी परिणति उसमे होनी ही चाहिये। उसी तरह वर्णगंधादि परिणाम परमाणुमे बदलते रहते है, परन्तु उस परमाणुके कुछ टुकड़े होनेका प्रसग नही होता, अवस्थातरताको प्राप्त होता रहता है। जैसे सोना कुडला-कारको छोड़कर मुकुटाकार होता है वैसे परमाणु, इस समयकी अवस्थासे दूसरे समयकी कुछ अतरवाली अवस्थाको प्राप्त होता है। जैसे सोना दोनों पर्यायोको धारण करते हुए भी सोना ही है, वैसे परमाणु भी परमाणु ही रहता है। एक पुरुष (जीव) बालकपन छोड़कर युवा होता है, युवत्व छोड़कर वृद्ध होता है, परन्तु पुरुष वहीका वही रहता है, वैसे परमाणु पर्यायोंको प्राप्त होता है। आकाश भी अनंत पर्यायी है और सिद्ध भी अनंत पर्यायी है, ऐसा जिनेंद्रका अभिप्राय है, वह विरोधी नही लगता; प्राय. मेरी समझमे आता है परन्तु विशेषरूपसे लिखनेका न हो सकनेसे आपको यह बात विचार करनेमे कारण हो, इसलिये ऊपर ऊपरसे लिखा है।

चक्षुमें जो निमेषोन्मेषकी अवस्थाएँ हैं, वे पर्याय हैं। दीपककी जो चलनस्थिति वह पर्याय है। आत्माकी संकल्प-विकल्प दशा या ज्ञानपरिणति, वह पर्याय है। उसी तरह वर्ण, गंध आदि परिणामोंको प्राप्त होना ये परमाणुके पर्याय है। यदि वैसा परिणमन न होता हो तो यह जगत ऐसी विचित्रताको प्राप्त नही कर सकता, क्योकि एक परमाणुमे पर्यायता न हो तो सर्व परमाणुओंमे भी नही होती। सयोग-वियोग, एकत्व-पृथक्त्व इत्यादि परमाणुके पर्याय हैं और वे सब परमाणुमे है। यदि वे भाव समय समयपर उसमें परिणमन पाते रहे तो भी परमाणुका व्यय (नाश) नही होता, जैसे कि निमेषोन्मेषसे चक्षुका नाश नहीं होता।

---

५४७ मोहमयी क्षेत्र, मार्गशीर्ष वदी ८, बुध, १९५१

यहाँसे निवृत्त होनेके बाद प्राय: ववाणिया अर्थात् इस भवके जन्म-ग्राममे साधारण व्यावहारिक प्रसंगसे जानेका कारण है। चित्तमे अनेक प्रकारसे उस प्रसंगसे छूट सकनेका विचार करते हुए छूटा जा सके यह भी सम्भव है, तथापि बहुतसे जीवोको अल्प कारणमे कदाचित् विशेष असमाधान होनेका सम्भव रहे, जिससे अप्रतिबंधभावको विशेष दृढ़ करके जानेका विचार रहता है। वहाँ जानेपर, कदाचित् एक माससे विशेष समय लग जानेका संभव है, शायद दो मास भी लग जायें। उसके बाद फिर वहाँसे लौट-कर इस क्षेत्रकी तरफ आना पड़े, ऐसा है, फिर भी यथासम्भव बीचमे दो-एक मास एकान्त जैसा निवृत्ति-योग हो सके तो वैसा करनेकी इच्छा रहती है; और वह योग अप्रतिबंधरूपसे हो सके, इसका विचार करता हूँ।

सर्व व्यवहारसे निवृत्त हुए बिना चित्त एकाग्र (स्थिर) नही होता, ऐसे अप्रतिबंध—असंगभावका चित्तमे बहुत विचार किया होनेसे उसी प्रवाहमे रहना होता है। परंतु उपार्जित प्रारब्ध निवृत्त होनेपर वैसा हो सके, इतना प्रतिबंध पूर्वकृत है, आत्माकी इच्छाका प्रतिबंध नही है। सर्व सामान्य लोकव्यवहार-की निवृत्ति सम्बन्धी प्रसंगके विचारको दूसरे प्रसगपर बताना रखकर, इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विशेष अभिप्राय रहता है; वह भी उदयके कारण नही हो सकता। तो भी अहर्निश यही चिन्तन रहता है, तो वह कदाचित् थोडे समयमे होगा ऐसा लगता है। इस क्षेत्रके प्रति कुछ द्वेष परिणाम नही है, तथापि सगका विशेष कारण है। प्रवृत्तिके प्रयोजनके बिना यहाँ रहना कुछ आत्माके लिये वैसे लाभका कारण नही है, ऐसा जानकर, इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विचार रहता है। प्रवृत्ति भी निजबुद्धिसे किसी भी प्रकारसे प्रयोजनभूत नही लगती, तथापि उदयके अनुसार प्रवृत्ति करनेके ज्ञानीके उपदेशको अंगीकार करके उदय भोगनेका प्रवृत्तियोग सहन करते है।

आत्मामे ज्ञानद्वारा उत्पन्न हुआ यह निश्चय बदलता नही है कि सर्वसंग बड़ा आस्रव है; चलते, देखते और प्रसग करते हुए समय मात्रमे यह निजभावका विस्मरण करा देता है, और यह बात सर्वथा प्रत्यक्ष देखनेमे आयी है, आती है, और आ सकने जैसी है; इसलिए अहर्निश उस बड़े आस्रवरूप सर्वसंगमे उदासीनता रहती है, और वह दिन प्रतिदिन बढते हुए परिणामको प्राप्त करती रहती है; वह उससे विशेष परिणामको प्राप्त करके सर्वसगसे निवृत्ति हो, ऐसी अनन्य कारणयोगसे इच्छा रहती है।

यह पत्र प्रथमसे व्यावहारिक आकृतिमे लिखा गया हो ऐसा कदाचित् लगे, परंतु इसमें यह सहज मात्र नही है। असंगताका, आत्मभावनाका मात्र अल्प विचार लिखा है।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५४८ बंबई, मार्गशीर्ष वदी ९, शुक्र, १९५१

परम स्नेही श्री सोभाग,

आपके तीन पत्र आये है। एक पत्रमें दो प्रश्न लिखे थे, जिनमेसे एकका समाधान नीचे लिखा है।

ज्ञानीपुरुषका सत्संग होनेसे, निश्चय होनेसे और उसके मार्गका आराधन करनेसे जीवके दर्शनमोह-नीय कर्मका उपशम या क्षय होता है, और अनुक्रमसे सर्व ज्ञानकी प्राप्ति होकर जीव कृतकृत्य होता है, यह बात प्रगट सत्य है; परन्तु उससे उपार्जित प्रारब्ध भी भोगना नही पड़ता, ऐसा सिद्धांत नहीं हो सकता। केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसे वीतरागको भी उपार्जित प्रारब्धरूप ऐसे चार कर्म भोगने पड़ते हैं, तो उससे नीची भूमिकामे स्थित जीवोंको प्रारब्ध भोगना पड़े, इसमे कुछ आश्चर्य नही है। जैसे सर्वज्ञ वीत-

रागको, घनघाती चार कर्मोंका नाश हो जानेसे वे भोगने नहीं पड़ते है, और उन कर्मोंके पुन. उत्पन्न होनेके कारणोंकी स्थिति उस सर्वज्ञ वीतरागमे नही है; वैसे ज्ञानीका निश्चय होनेसे जीवको अज्ञानभावसे उदासीनता होती है, और उस उदासीनताके कारण भविष्यकालमे उस प्रकारका कर्म उपार्जन करनेका मुख्य कारण उस जीवको नही होता। क्वचित् पूर्वानुसार किसी जीवको विपर्यय-उदय हो, तो भी वह उदय अनुक्रमसे उपशात एवं क्षीण होकर, जीव ज्ञानीके मार्गको पुनः प्राप्त करता है, और अर्धपुद्गल-परावर्तनमे अवश्य संसारमुक्त हो जाता है। परंतु समकिती जीवको, या सर्वज्ञ वीतरागको या किसी अन्य योगी या ज्ञानको ज्ञानीकी प्राप्तिके कारण उपार्जित प्रारब्ध भोगना न पड़े या दुःख न हो, ऐसा सिद्धांत नहीं हो सकता। तो फिर हमको—आपको सत्संगका मात्र अल्प लाभ हो तो सर्व संसारी दुःख निवृत्त होने चाहिये, ऐसा मानें तो फिर केवलज्ञानादि निरर्थक होते है; क्योंकि यदि उपार्जित प्रारब्ध बिना भोगे नष्ट हो जाये तो फिर सब मार्ग मिथ्या ही ठहरे। ज्ञानीके सत्संगसे अज्ञानीके प्रसंगकी रुचि मंद हो जाये, सत्यासत्यका विवेक हो, अनंतानुबंधी क्रोधादिका नाश हो, अनुक्रमसे सब रागद्वेषका क्षय हो जाय, यह सम्भव है; और ज्ञानीके निश्चय द्वारा यह अल्पकालमे अथवा सुगमतासे हो, यह सिद्धांत है। तथापि जो दुःख इस प्रकारसे उपार्जित किया है कि अवश्य भोगे बिना नष्ट न हो, वह तो भोगना ही पड़ेगा, इसमे कुछ संशय नही होता। इस विषयमे अधिक समाधानकी इच्छा हो तो समागममे हो सकता है।

मेरी आंतरवृत्ति ऐसी है कि परमार्थ-प्रसंगसे किसी मुमुक्षुजीवको मेरा प्रसंग हो तो वह अवश्य मुझसे परमार्थके हेतुकी ही इच्छा करे तभी उसका श्रेय हो; परंतु द्रव्यादि कारणकी कुछ भी इच्छा रखे अथवा वैसे व्यवसायके लिये वह मुझे सूचित करे, तो फिर अनुक्रमसे वह जीव मलिन वासनाको प्राप्त होकर मुमुक्षुताका नाश करे, ऐसा मुझे निश्चय रहता है। और इसी कारणसे जब कई बार आपकी तरफसे कोई व्यावहारिक प्रसंग लिखनेमे आया है तब आपको उपालंभ देकर सूचित भी किया था कि आप अवश्य यही प्रयत्न करे कि मुझे वैसे व्यवसायके लिये न लिखें, और मेरी स्मृतिके अनुसार आपने उस बातको स्वीकार भी किया था; परंतु तदनुसार थोड़े समय तक ही हुआ। अब फिर व्यवसायके सम्बन्धमें लिखना होता है। इसलिये आजके मेरे पत्रको विचार कर आप उस बातका अवश्य विसर्जन कर दें, और नित्य वैसी वृत्ति रखें तो अवश्य हितकारी होगी। और आपने मेरी आंतरवृत्तिको उल्लासका कारण अवश्य दिया है, ऐसा मुझे प्रतीत होगा।

दूसरा कोई भी सत्संगके प्रसंगमे ऐसा करता है तो मेरा चित्त बहुत विचारमे पड जाता है या घबरा जाता है, क्योंकि परमार्थका नाश करनेवाली यह भावना इस जीवके उदयमे आयी। आपने जब जब व्यवसायके विषयमे लिखा होगा, तब तब मुझे प्राय ऐसा ही हुआ होगा। तथापि आपकी वृत्तिमे विशेष अतर होनेके कारण चित्तमे कुछ घबराहट कम हुई होगी। परंतु अभी तत्कालके प्रसगसे आपने भी लगभग उस घबराहट जैसी घबराहटका कारण प्रस्तुत किया है ऐसा चित्तमे रहता है।

जैसे रवजीभाई कुटुम्बके लिये मुझे व्यवसाय करना पड़ता है वैसे आपके लिये मुझे करना हो तो भी मेरे चित्तमे अन्यभाव न आये। परंतु आप दुःख सहन न कर सकें तथा मुझे व्यवसाय बतायें, यह बात किसी तरह श्रेयरूप नही लगती, क्योंकि रवजीभाईको वैसी परमार्थ इच्छा नहीं है और आपको है, जिससे आपको इस बातमें अवश्य स्थिर होना चाहिये। इस बातका विशेष निश्चय रखिये।

[1]यह पत्र कुछ अधूरा है, जो प्रायः कल पूरा होगा।

---

१. आंक ५५०

५४९

माकुभाई इत्यादिको जो उपाधि कार्य करनेमे अधीरतासे, आर्त्त जैसे परिणामसे, दूसरेकी आजीविकाका भग होता है, यह जानते हुए भी, राजकाजमे अल्प कारणमे विशेष सम्बन्ध करना योग्य नही, ऐसा होनेका कारण होनेपर भी, जिसमे तुच्छ द्रव्यादिका भी विशेष लाभ नही है, फिर भी उसके लिये आप बारबार लिखते हैं यह क्या योग्य है ? आप जैसे पुरुष वैसे विकल्पको शिथिल न कर सकेंगे, तो इस दुषमकालमे कौन समझकर शान्त रहेगा ?

कितने ही प्रकारसे निवृत्तिके लिये और सत्समागमके लिये वह इच्छा रखते हैं, यह बात ध्यानमे है; तथापि वह इच्छा यदि अकेली ही हो तो इस प्रकारकी अधीरता आदि होने योग्य नही है।

माकुभाई इत्यादिको भी अभी उपाधिके सम्बन्धमे लिखना योग्य नही है। जैसे हो वैसे देखते रहना, यही योग्य है। इस विषयमे जितना उपालम्भ लिखना चाहिये उतना लिखा नही है, तथापि विशेषतासे इस उपालम्भको विचारियेगा।

---

५५० बंबई, मार्गशीर्ष वदी ११, रवि, १९५१

परम स्नेही श्री सोभाग,

कल आपका लिखा एक पत्र प्राप्त हुआ है। यहाँसे परसों एक पत्र लिखा है वह आपको प्राप्त हुआ होगा। तथा उस पत्रका पुन॰ पुन॰ विचार किया होगा, अथवा विशेष विचार कर सके तो अच्छा।

वह पत्र हमने संक्षेपमे लिखा था, इससे शायद आपके चित्तके समाधानका पर्याप्त कारण न हो, इसलिये उसमे अन्तमे लिखा था कि यह पत्र अधूरा है, जिससे बाकी लिखना अगले दिन होगा।[1]

अगले दिन अर्थात् पिछले दिन यह पत्र लिखनेकी कुछ इच्छा होनेपर भी अगले दिन अर्थात् आज लिखना ठीक है, ऐसा लगनेसे पिछले दिन पत्र नही लिखा था।

परसो लिखे हुए पत्रमे जो गम्भीर आशय लिखे है, वे विचारवान जीवके आत्माको परम हितैषी हो, ऐसे आशय है। हमने आपको यह उपदेश कई बार सहज सहज किया है, फिर भी आजीविकाके कष्टक्लेशसे आपने उस उपदेशका कई बार विसर्जन किया है, अथवा हो जाता है। हमारे प्रति माँ-बाप जितना आपका भक्तिभाव है, इसलिये लिखनेमे बाधा नही है, ऐसा मानकर तथा दु ख सहन करनेकी असमर्थताके कारण हमसे वैसे व्यवहारकी याचना आप द्वारा दो प्रकारसे हुई है—एक तो किसी सिद्धियोगसे दु ख मिटाया जा सके ऐसे आशयकी, और दूसरी याचना किसी व्यापार रोजगार आदिकी। आपकी दोनों याचनाओमेसे एक भी हमारे पास की जाय, यह आपके आत्माके हितके कारणको रोकनेवाला, और अनुक्रमसे मलिन वासनाका हेतु हो, क्योकि जिस भूमिकामे जो उचित नही है, उसे वह जीव करे तो उस भूमिकाका उसके द्वारा सहजमे त्याग हो जाये, इसमे कुछ सन्देह नही है। आपकी हमारे प्रति निष्काम भक्ति होनी चाहिये, और आपको चाहे जितना दुःख हो, फिर भी उसे धीरतासे भोगना चाहिये। वैसा न हो सके तो भी हमे तो उसकी सूचनाका एक अक्षर भी नही लिखना चाहिये, यह आपके लिये सर्वांग योग्य है, और आपको वैसी ही स्थितिमे देखनेकी जितनी मेरी इच्छा है, और उस स्थितिमे जितना आपका हित है, वह पत्रसे या वचनसे हमसे बताया नही जा सकता। परन्तु पूर्वके किसी वैसे ही उदयके कारण आपको वह बात विस्मृत हो गयी है, जिससे हमे फिर सूचित करनेकी इच्छा रहा करती है।

उन दो प्रकारकी याचनाओमे प्रथम विदित की हुई याचना तो किसी भी निकटभवीको करनी योग्य ही नही है, और अल्पमात्र हो तो भी उसका मूलसे छेदन करना उचित है, क्योकि लोकोत्तर

---

१. आक ५४८

मिथ्यात्वका वह सबल बीज है, ऐसा तीर्थंकरादिका निश्चय है, वह हमें तो सप्रमाण लगता है। दूसरी याचना भी कर्तव्य नही है, क्योंकि वह भी हमे परिश्रमका हेतु है। हमें व्यवहारका परिश्रम देकर व्यवहार निभाना, यह इस जीवकी मदवृत्तिका बहुत ही अल्पत्व बताता है, क्योंकि हमारे लिये परिश्रम उठाकर आपको व्यवहार चला लेना पडता हो तो वह आपके लिये हितकारी है, और हमारे लिये वैसे दुष्ट निमित्तका कारण नही है, ऐसी स्थिति होनेपर भी हमारे चित्तमे ऐसा विचार रहता है कि जब तक हमे परिग्रहादिका लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार उदयमे हो तब तक स्वयं उस कार्यको करना, अथवा व्यावहारिक सम्बन्धी आदि द्वारा करना, परन्तु मुमुक्षु पुरुषको तत्सम्बन्धी परिश्रम देकर तो नही करना; क्योंकि वैसे कारणसे जीवको मलिन वासनाका उद्भव होना सम्भव है। कदाचित् हमारा चित्त शुद्ध ही रहे ऐसा है, तथापि काल ऐसा है कि यदि हम उस शुद्धिको द्रव्यसे भी रखें तो सन्मुख जीवमे विषमता उत्पन्न न हो, और अशुद्ध वृत्तिवान जीव भी तदनुसार व्यवहार कर परम पुरुषोके मार्गका नाश न करे। इत्यादि विचारमें मेरा चित्त रहता है। तो फिर जिसका परमार्थ-बल या चित्तशुद्धि हमारेसे कम हो उसे तो अवश्य ही वह मार्गणा प्रबलतासे रखनी चाहिये, यही उसके लिये बलवान श्रेय है, और आप जैसे मुमुक्षुपुरुषको तो अवश्य वैसा वर्तन करना योग्य है। क्योंकि आपका अनुकरण सहज ही दूसरे मुमुक्षुओके हिताहितका कारण हो सके। प्राण जाने जैसी विषम अवस्थामे भी आपको निष्कामता ही रखनी योग्य है, ऐसा हमारा विचार, आपकी आजीविकासे चाहे जैसे दु खोकी अनुकपाके प्रति जाते हुए भी मिटता नही है, प्रत्युत अधिक बलवान होता है। इस विषयमे विशेष कारण बताकर आपको निश्चय करानेकी इच्छा है, और वह होगा ऐसा हमे निश्चय रहता है।

इस प्रकार आपके या दूसरे मुमुक्षुजीवोंके हितके लिये मुझे जो योग्य लगा वह लिखा है। इतना लिखनेके बाद अपने आत्माके लिये उस सम्बन्धमें मेरा अपना कुछ दूसरा भी विचार रहता है, जिसे लिखना योग्य नही था, परन्तु आपके आत्माको कुछ दुःख देने जैसा हमने लिखा है तब उसे लिखनेके योग्य समझकर लिखा है। वह इस प्रकार है कि जब तक परिग्रहादिका लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार मुझे उदयमे हो तब तक जिस किसी भी निष्काम मुमुक्षु या सत्पात्र जीवकी तथा अनुकपायोग्य जीवकी, उसे बताये बिना, हमसे जो कुछ भी सेवाचाकरी हो सके, उसे द्रव्यादि पदार्थसे भी करना, क्योंकि ऐसा मार्ग ऋषभ आदि महापुरुषोने भी कही कही जीवकी गुण निष्पन्नताके लिये माना है, यह हमारा निजी (आतरिक) विचार है, और ऐसे आचरणका सत्पुरुषके लिये निषेध नही है, किन्तु किसी तरह कर्तव्य है। यदि वह विषय या वह सेवाचाकरी मात्र सन्मुख जीवके परमार्थको रोधक होते हो तो सत्पुरुषको भी उनका उपशमन करना चाहिये।

असंगता होने या सत्संगके योगका लाभ प्राप्त होनेके लिये आपके चित्तमें ऐसा रहता है कि केशवलाल, त्रंबक इत्यादिसे गृहव्यवहार चलाया जा सके तो मुझसे छूटा जा सकता है। अन्यथा, आप उस व्यवहारको छोड़ सके, वैसा कुछ कारणोसे नही हो सकता, यह बात हम जानते है, फिर भी आपके लिये उसे बारबार लिखना योग्य नही हैं, ऐसा जानकर उसका भी निषेध किया है। यही विनती।

प्रणाम प्राप्त हो।

---

५५१ बबई, मार्गशीर्ष, १९५१

श्री सोभाग,

श्री जिनेद्र आत्मपरिणामकी स्वस्थताको समाधि और आत्मपरिणामकी अस्वस्थताको असमाधि कहते हैं, यह अनुभवज्ञानसे देखते हुए परम सत्य है।

अस्वस्थ कार्यकी प्रवृत्ति करना और आत्मपरिणामको स्वस्थ रखना, ऐसी विषम प्रवृत्ति श्री तीर्थंकर जैसे ज्ञानीसे होनी कठिन कही है, तो फिर दूसरे जीवमें यह बात संभवित करना कठिन हो, इसमें आश्चर्य नहीं है।

किसी भी परपदार्थमे इच्छाकी प्रवृत्ति है, और किसी भी परपदार्थके वियोगकी चिंता है, इसे श्री जिनेन्द्र आर्त्तध्यान कहते है, इसमे सन्देह करना योग्य नही है।

तीन वर्षके उपाधियोगसे उत्पन्न हुआ जो विक्षेपभाव उसे दूर करनेका विचार रहता है। जो प्रवृत्ति दृढ़ वैराग्यवानके चित्तको बाधा कर सके ऐसी है, वह प्रवृत्ति यदि अदृढ़ वैराग्यवान जीवको कल्याणके सन्मुख न होने दे तो इसमे आश्चर्य नही है।

ससारमे जितनी सारपरिणति मानी जाय उतनी आत्मज्ञानकी न्यूनता श्री तीर्थंकरने कही है।

परिणाम जड होता है ऐसा सिद्धात नही है। चेतनको चेतनपरिणाम होता है और अचेतनको अचेतनपरिणाम होता है, ऐसा जिनेंद्रने अनुभव किया है। कोई भी पदार्थ परिणाम या पर्यायके बिना नही होता, ऐसा श्री जिनेंद्रने कहा है और वह सत्य है।

श्री जिनेंद्रने जो आत्मानुभव किया है, और पदार्थके स्वरूपका साक्षात्कार करके जो निरूपण किया है, वह सर्व मुमुक्षुजीवोको परम कल्याणके लिये निश्चय करके विचार करने योग्य है। जिनकथित सर्व पदार्थोके भाव केवल आत्माको प्रगट करनेके लिये है, और मोक्षमार्गमे प्रवृत्ति दोकी होती है—एक आत्मज्ञानीकी और एक आत्मज्ञानीके आश्रयवानकी, ऐसा श्री जिनेन्द्रने कहा है।

आत्माको सुनना, उसका विचार करना, उसका निदिध्यासन करना और उसका अनुभव करना ऐसी एक वेदकी श्रुति है, अर्थात् यदि एक यही प्रवृत्ति करनेमे आये तो जीव ससारसागर तरकर पार पाये ऐसा लगता है। बाकी तो मात्र किसी श्री तीर्थंकर जैसे ज्ञानीके बिना सबको यह प्रवृत्ति करते हुए कल्याणका विचार करना, उसका निश्चय होना और आत्मस्वस्थता होना दुष्कर है। यही विनती।

---

५५२ बंबई, मार्गशीर्ष, १९५१

उपकारशील श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

ईश्वरेच्छा बलवान है, और कालकी भी दुःषमता है। पूर्वकालमे जाना था और स्पष्ट प्रतीतिस्वरूप था कि ज्ञानीपुरुषको सकामतासे भजते हुए आत्माको प्रतिबन्ध होता है, और कई बार परमार्थदृष्टि मिटकर संसारार्थदृष्टि हो जाती है। ज्ञानीके प्रति ऐसी दृष्टि होनेसे पुन सुलभबोधिता पाना कठिन पड़ता है, ऐसा जानकर कोई भी जीव सकामतासे समागम न करे, इस प्रकारसे आचरण होता था। आपको तथा श्री डुंगर आदिको इस मार्गके सम्बन्धमे हमने कहा था, परन्तु हमारे दूसरे उपदेशकी भाति किसी प्रारब्धयोगसे उसका तत्काल ग्रहण नही होता था। हम जब उस विषयमे कुछ कहते थे, तब पूर्वकालके ज्ञानियोने आचरण किया है, ऐसे प्रकारादिमे प्रत्युत्तर कहने जैसा होता था। हमे उससे चित्तमे बडा खेद होता था कि यह सकामवृत्ति दुःषमकालके कारण ऐसे मुमुक्षुपुरुषमे विद्यमान है, नही तो उसका स्वप्नमे भी सम्भव न हो। यद्यपि उस सकामवृत्तिके कारण आप परमार्थदृष्टि भूल जाये, ऐसा संशय नही होता था। परन्तु प्रसगोपात्त परमार्थदृष्टिके लिये शिथिलताका हेतु होनेका सम्भव दिखायी देता था। परन्तु उसकी अपेक्षा बड़ा खेद यह होता था कि इस मुमुक्षुके कुटुबमे सकामबुद्धि विशेष होगी, और परमार्थदृष्टि मिट जायेगी, अथवा उत्पन्न होनेकी सम्भावना दूर हो जायेगी, और इस कारणमे दूसरे भी बहुतसे जीवोके लिये वह स्थिति परमार्थकी अप्राप्तिमे हेतुभूत होगी; फिर सकामतासे भजनेवालेकी वृत्तिको हमारे द्वारा कुछ शान्त किया जाना कठिन है इसलिये सकामी जीवोंको पूर्वापर विरोधबुद्धि हो अथवा

परमार्थपूज्यभावना दूर हो जाये, ऐसा जो देखा था, वह वर्तमानमें न हो, ऐसा विशेष उपयोग होनेके लिये सहज लिखा है। पूर्वापर इस बातका माहात्म्य समझमे आये और अन्य जीवोका उपकार हो, वैसा विशेष ध्यान रखियेगा।

---

५५३ बम्बई, पौष सुदी १, शुक्र, १९५१

एक पत्र प्राप्त हुआ है। यहाँसे निकलनेमे लगभग एक महीना होगा, ऐसा लगता है। यहाँसे निकलनेके बाद समागमसम्बन्धी विचार रहता है और श्री कठोरमे इस बातकी अनुकूलता आनेका अधिक सम्भव रहता है, क्योकि उसमे विशेष प्रतिबन्ध होनेका कारण मालूम नही होता।

सभवत श्री अंबालाल उस समय कठोर आ सके, इसके लिये उन्हे सूचित करूँगा।

हमारे आनेके बारेमे अभी किसीको कुछ बतानेकी जरूरत नही है, तथा हमारे लिये कोई दूसरी विशेष व्यवस्था करनेकी भी जरूरत नही है। सायण स्टेशनपर उतर कर कठोर आया जाता है, और वह लबा रास्ता नही है, जिससे वाहन आदिकी हमे कुछ जरूरत नही है। और कदाचित् वाहनकी अथवा और कुछ जरूरत होगी तो श्री अबालाल उसकी व्यवस्था कर सकेगे।

कठोरमे भी वहाँके श्रावको आदिको हमारे आनेके बारेमे कहनेकी जरूरत नही है, तथा ठहरनेके स्थानकी कुछ व्यवस्था करनेके लिये उन्हे सूचित करनेकी जरूरत नही है। इसके लिये जो सहजमे उस प्रसगमे हो जायेगा उससे हमे बाधा नही होगी। श्री अबालालके सिवाय कदाचित् दूसरे कोई मुमुक्षु श्री अबालालके साथ आयेगे, परन्तु उनके आनेका भी कठोर या सूरत या सायणमे पता न चले, यह हमे ठीक लगता है, क्योकि इस कारण कदाचित् हमे भी प्रतिबध हो जाये।

हमारी यहाँ स्थिरता है, तब तक हो सके तो पत्र, प्रश्न आदि लिखियेगा। साधु श्री देवकरणजीको आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

जिस प्रकार असगतासे आत्मभाव साध्य हो उस प्रकार प्रवृत्ति करना यही जिनेंद्रकी आज्ञा है। इस उपाधिरूप व्यापारादि प्रसगसे निवृत्त होनेका वारवार विचार रहा करता है, तथापि उसका अपरिपक्व काल जानकर उदयवश व्यवहार करना पड़ता है। परन्तु उपर्युक्त जिनेंद्रकी आज्ञाका प्राय: विस्मरण नही होता। और आपको भी अभी तो उसी भावनाका विचार करनेके लिये कहते है।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५५४ बंबई, पौष सुदी १०, १९५१

श्री अजारग्राममे स्थित परम स्नेही श्री सोभागके प्रति,

श्री मोहमयी भूमिसे लि०" आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

विशेष आपका पत्र मिला है।

चत्रभुजके प्रसगमे लिखते हुए आपने ऐसा लिखा है कि 'काल जायेगा और कहनी रहेगी', यह आपको लिखना योग्य न था। जो कुछ शक्य है उसे करनेमे मेरी विषमता नही है, परन्तु वह परमार्थसे अविरोधी हो तो हो सकता है, नही तो हो सकना बहुत कठिन पड़ता है, अथवा नही हो सकता, जिससे 'काल जायेगा और कहनी रहेगी', ऐसा यह चत्रभुज सबधी प्रसंग नही है, परन्तु वैसा प्रसग हो तो भी बाह्य कारणपर जानेकी अपेक्षा अन्तर्धर्मपर प्रथम जाना श्रेयरूप है, इसका विसर्जन होने देना योग्य नही है।

रेवाशकरभाईके आनेसे लग्नप्रसंगमे जैसे आपके और उनके ध्यानमे आये वैसे करनेमे आपत्ति नही है। परन्तु इतना ध्यान रखनेका है कि बाह्य आडंबर जैसा कुछ चाहना ही नही कि जिससे शुद्ध व्यवहार

याँ परमार्थको बाधा हो। रेवाशंकरभाईको यह सूचना देते है, और आपको भी यह सूचना देते हैं। इस प्रसंगके लिये नही, परन्तु सर्व प्रसंगमे यह बात ध्यानमे रखने योग्य है; द्रव्यव्ययके लिये नही, परन्तु परमार्थके लिये।

हमारा कल्पित माहात्म्य कही भी दिखाई दे ऐसा करना, कराना या अनुमोदन करना हमें अत्यन्त अप्रिय है। बाकी ऐसा भी है कि परमार्थकी रक्षा करके किसी जीवको संतोष दिया जाये तो वैसा करनेमे हमारी इच्छा है। यही विनती। प्रणाम।

---

५५५ बबई, पौष सुदी १०, रवि, १९५१

प्रत्यक्ष कारागृह होनेपर भी उसका त्याग करना जीव न चाहे, अथवा अत्यागरूप शिथिलताका त्याग न कर सके, अथवा त्यागबुद्धि होनेपर भी त्याग करते करते कालव्यय किया जाये, इन सब विचारोको जीव किस तरह दूर करे? अल्पकालमे वैसा किस तरह हो? इस विषयमे उस पत्रमे लिखनेका हो तो लिखियेगा। यही विनती।

---

५५६ बंबई, पौष वदी, २, रवि, १९५१

परम पुरुषको नमस्कार

परम स्नेही श्री सोभागभाई, श्री मोरबी।

कल एक पत्र प्राप्त हुआ था, तथा एक पत्र आज प्राप्त हुआ है।

ब्रह्मरससम्बन्धी नडियादवासीके विषयमे लिखी हुई बात जानी है, तथा समकितकी सुगमता शास्त्रमे अत्यन्त कही है, वह वैसी ही होनी चाहिये, इस सम्बन्धमे जो लिखा उसे पढा है। तथा त्याग अवसर है, ऐसा लिखा उसे भी पढा है। प्रायः माघ सुदी दूजके बाद समागम होगा, और तब उसके लिये जो कुछ पूछने योग्य हो सो पूछियेगा।

अभी जो महान पुरुषके मार्गके विषयमे आपके एक पत्रमे लिखा गया है, उसे पढकर बहुत सतोष होता है। आ० स्व० प्रणाम।

---

५५७ बबई, पौष वदी ९, शनि, १९५१

वेदात जगतको मिथ्या कहता है, इसमे असत्य क्या है?

---

५५८ बंबई, पौष वदी १०, रवि, १९५१

विषम संसारबंधनका छेदनकर जो चल पड़े, उन पुरुषोंको अनंत प्रणाम।

माघ सुदी एकम दूजको शायद निकला जाये तो भी रास्तेमे तीन दिन लग सकते हे, परतु माघ सुदी दूजको निकलना सम्भव नही है। सुदी पंचमीको निकलना सम्भव है। बीचमे तीन दिन होगे, वह विवशतासे रुकनेका कारण है। प्राय. सुदी पंचमीको निवृत्त होकर सुदी अष्टमीको ववाणिया पहुँचा जा सके ऐसा है, इसलिये बाह्य कारण देखते हुए लीमडी आना सम्भव नही है, तो भी कदाचित् लौटते समय एक दिनका अवकाश मिल सकता है। परतु आतरिक कारण भिन्न होनेसे वैसा करनेका अभी किसी प्रकारसे चित्तमे नही आता है। वढवाण स्टेशनपर केशवलालकी या आपकी मुझे मिलनेकी इच्छा हो तो उसे रोकनेमे मन असतोषको प्राप्त होता है, तो भी अभी रोकनेका मेरा चित्त रहता है, क्योंकि चित्तकी व्यवस्था यथायोग्य नही होनेसे उदय प्रारब्धके बिना दूसरे सब प्रकारोमे असगता रखना योग्य लगता है, वह यहाँ तक कि जो परिचित है वे भी अभी भूल जायें तो अच्छा, क्योकि संगसे उपाधि निष्कारण बढ़ती

रहती है, और वैसी उपाधि सहन करने योग्य अभी मेरा चित्त नही है। निरुपायताके मिवाय कुछ भी व्यवहार करनेका चित्त अभी मालूम नहीं होता, और जो व्यापार-व्यवहारकी निरुपायता है, उससे भी निवृत्त होनेकी चिंतना रहा करती है। तथा चित्तमे दूसरेको बोध देने योग्य जितनी योग्यता अभी मुझे नही लगती है, क्योकि जब तक सर्व प्रकारके विषम स्थानकोमे समवृत्ति न हो तब तक यथार्थ आत्मज्ञान कहा नही जाता, और जब तक वैसा हो तब तक तो निज अभ्यासकी रक्षा करना उचित है, और अभी उस प्रकारकी मेरी स्थिति होनेसे मै ऐसे करता हूँ, वह क्षमायोग्य है, क्योकि मेरे चित्तमें अन्य कोई हेतु नहीं है।

लौटते समय श्री वढवाणमे समागम करनेका मुझसे हो सकेगा तो पहिलेसे आपको लिखूँगा, परन्तु मेरे समागममे आपके आनेसे मेरा वढवाण आना हुआ था, ऐसा उस प्रसंगके कारण दूसरोंके जाननेमे आये तो वह मुझे योग्य नही लगता; तथा आपने व्यावहारिक कारणसे समागम किया है ऐसा कहना अयथार्थ है, जिससे यदि समागम होनेका मुझसे लिखा जाये तो जैसे बात अप्रसिद्ध रहे वैसे कीजियेगा, ऐसी विनती है।

तीनोके पत्र अलग लिख सकनेकी अशक्तिके कारण एक पत्र लिखा है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५५९ बंबई, पौष वदी ३०, शनि, १९५१

शुभेच्छासम्पन्न भाई सुखलाल छगनलालके प्रति, श्री वीरमगाम।

समागमकी आपको इच्छा है और तदनुसार करनमे सामान्यत. बाधा नही है, तथापि चित्तके कारण अभी अधिक समागममे आनेकी इच्छा नही होती। यहासे माघ सुदी पूर्णिमाको निवृत्त होनेका सम्भव दिखाई देता है, तथापि उस समय रुकने जितना अवकाश नही है, और उसका मुख्य कारण ऊपर लिखा सो है, तो भी यदि कोई बाधा जैसा नही होगा तो स्टेशनपर मिलनेके लिये आगेसे आपको लिखूँगा। मेरे आनेकी खबर विशेष किसीको अभी नही दीजियेगा, क्योकि अधिक समागममे आनेकी उदासीनता रहती है।'

आत्मस्वरूपसे प्रणाम।

---

५६० बबई, पौष, १९५१

ॐ

यदि ज्ञानीपुरुषके दृढाश्रयसे सर्वोत्कृष्ट मोक्षपद सुलभ है, तो फिर क्षण क्षणमे आत्मोपयोगको स्थिर करना योग्य है, ऐसा जो कठिन मार्ग है वह ज्ञानीपुरुषके दृढ आश्रयमे प्राप्त होना क्यो सुलभ न हो? क्योकि उस उपयोगकी एकाग्रताके बिना तो मोक्षपदकी उत्पत्ति है नही। ज्ञानीपुरुषके वचनका दृढ आश्रय जिसे हो उसे सर्व साधन सुलभ हो जाये, ऐसा अखड निश्चय सत्पुरुषोने किया है। तो फिर हम कहते है कि इन वृत्तियोका जय करना योग्य है, उन वृत्तियोका जय क्यो न हो सके? इतना सत्य है कि इस दुषमकालमे सत्सगकी समीपता या दृढ आश्रय विशेष चाहिये और असत्संगसे अत्यन्त निवृत्ति चाहिये; तो भी मुमुक्षुके लिये तो यही योग्य है कि वह कठिनसे कठिन आत्मसाधनकी प्रथम इच्छा करे कि जिससे सर्व साधन अल्पकालमे फलीभूत हो।

श्री तीर्थकरने तो यहा तक कहा है कि जिन ज्ञानीपुरुषकी दशा संसारपरिक्षीण हुई है उन ज्ञानीपुरुषको परपरा कर्मबंध सम्भवित नही है, तो भी पुरुषार्थको मुख्य रखना चाहिये कि जो दूसरे जीवके लिये भी आत्मसाधन-परिणामका हेतु हो।

'समयसार'मेंसे जो काव्य लिखा है, उसके लिये तथा दूसरे सिद्धांतोंके लिये समागममें समाधान करना सुगम होगा।

ज्ञानीपुरुषको आत्मप्रतिबंधरूपसे संसारसेवा नही होती परंतु प्रारब्धप्रतिबंधरूपसे होती है। ऐसा होने पर भी उससे निवृत्तिरूप परिणामको प्राप्त करे, ऐसी ज्ञानीकी रीति होती है, जिस रीतिका आश्रय करते हुए आज तीन वर्षोंसे विशेषत. वैसा किया है और उसमे अवश्य आत्मदशाको भुलाने जैसा सम्भव रहे, वैसे उदयको भी यथाशक्ति समपरिणामसे सहन किया है। यद्यपि उस सहन करनेके कालमें सर्वसंगनिवृत्ति किसी तरह हो तो अच्छा, ऐसा सूझता रहा है, तो भी सर्वसंगनिवृत्तिमे जो दशा रहनी चाहिये वह दशा उदयमे रहे तो अल्पकालमे विशेष कर्मकी निवृत्ति हो, ऐसा समझकर यथाशक्य उस प्रकारसे किया है। परतु अब मनमे ऐसा रहा करता है कि इस प्रसंगसे अर्थात् सकल गृहवाससे दूर न हुआ जा सके तो भी व्यापारादि प्रसंगसे निवृत्त, दूर हुआ जाये तो अच्छा। क्योंकि आत्मभावमे परिणत होनेके लिये जो दशा ज्ञानीकी होनी चाहिये वह दशा इस व्यापार-व्यवहारसे मुमुक्षुजीवको दिखायी नही देती। यह प्रकार जो लिखा है उस विषयमे अब कभी कभी विशेष विचारका उदय होता है। उसका जो परिणाम आये सो ठीक। यह प्रसग लिखा है, उसे अभी लोगोंमे प्रगट होने देना योग्य नही है। माघ सुदी दूजको उस तरफ आनेकी सम्भावना रहती है। यही विनती। आ० स्वा० प्रणाम।

---

५६१ बंबई, माघ सुदी २, रवि, १९५१

शुभेच्छासम्पन्न भाई कुंवरजी आणदजीके प्रति, श्री भावनगर।

चित्तमे कुछ भी विचारवृत्ति परिणत हुई है, यह जानकर हृदयमे आनंद हुआ है।

असार और क्लेशरूप आरंभ-परिग्रहके कार्यमे रहते हुए यदि यह जीव कुछ भी निर्भय या अजागृत रहे तो बहुत वर्षोका उपासित वैराग्य भी निष्फल जाये ऐसी दशा हो जाती है, ऐसे निश्चयको नित्य प्रति याद कर निरुपाय प्रसगमे काँपते हुए चित्तसे विवशतामे ही प्रवृत्ति करना योग्य है, इस बातका, मुमुक्षुजीव द्वारा कार्य-कार्यमे, क्षण-क्षणमे और प्रसग-प्रसगमे ध्यान रखे बिना मुमुक्षुता रहनी दुष्कर है; और ऐसी दशाका वेदन किये बिना मुमुक्षुता भी सम्भव नहीं है। मेरे चित्तमे आजकल यह मुख्य विचार रहता है। यही विनती। रायचंदके प्रणाम।

---

५६२ बंबई, माघ सुदी ३, सोम, १९५१

जिस प्रारब्धको भोगे बिना दूसरा कोई उपाय नही है, वह प्रारब्ध ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अत तक आत्मार्थका त्याग करना नही चाहते, इतनी भिन्नता ज्ञानीमे होती है, ऐसा जो महापुरुषोने कहा है वह सत्य है।

---

५६३ बंबई, माघ सुदी ८, रवि, १९५१

पत्र प्राप्त हुआ है। विस्तारसे पत्र लिखना अभी शक्य नही है, जिसके लिये चित्तमे कुछ खेद होता है, तथापि प्रारब्धोदय समझकर समता रखता हूँ।

आपने पत्रमे जो कुछ लिखा है, उस पर वारवार विचार करनेसे, जागृति रखनेसे, जिनमें पंचविषयादिके अशुचिस्वरूपका वर्णन किया हो ऐसे शास्त्रो तथा सत्पुरुषोंके चरित्रोका विचार करनेसे और कार्य कार्यमे ध्यान रखकर प्रवृत्ति करनेसे जो कोई उदासभावना होनी योग्य है वह होगी।

लि० रायचंदके प्रणाम।

---

५६४ बंबई, माघ सुदी ८, रवि, १९५१

यहाँ इस बार तीन वर्षोंसे अधिक प्रवृत्तिके उदयको भोगा है। और वहाँ आनेके बाद भी थोडे दिन कुछ प्रवृत्तिका सम्बन्ध रहे, इससे अब उपरामता प्राप्त हो तो अच्छा, ऐसा चित्तमे रहता है। दूसरी उपरामता अभी होना कठिन है, कम सम्भव है। परतु आपका तथा श्री डुगर आदिका समागम हो तो अच्छा, ऐसा चित्तमे रहता है। इसलिये आप श्री डुगरको सूचित कीजियेगा और वे ववाणिया आ सकें ऐसा कीजियेगा।

किसी भी प्रकारसे ववाणिया आनेमे उन्हे कल्पना करना योग्य नही है। अवश्य आ सके ऐसा कीजियेगा। लि० रायचंदके प्रणाम।

---

५६५ बंबई, फागुन सुदी १२, शुक्र, १९५१

जिस प्रकार बधनसे छूटा जाये, उस प्रकार प्रवृत्ति करना, यह हितकारी कार्य है। बाह्य परिचय-को सोच-सोचकर निवृत्त करना, यह छूटनेका एक प्रकार है। जीव इस बातका जितना विचार करेगा उतना ज्ञानीपुरुषके मार्गको समझनेका समय समीप आयेगा। आ० स्व० प्रणाम।

---

५६६ बबई, फागुन सुदी १३, १९५१

अशरण ऐसे ससारमे निश्चित बुद्धिसे व्यवहार करना जिसे योग्य प्रतीत न होता हो और उस व्यव-हारके सम्बंधको निवृत्त करते हुए तथा कम करते हुए विशेषकाल व्यतीत हुआ करता हो, तो उस कामको अल्पकालमे करनेके लिये जीवको क्या करना योग्य है? समस्त ससार मृत्यु आदिके भयसे अशरण है, वह शरणका हेतु हो ऐसी कल्पना करना मृगमरीचिका जैसा है। सोच-सोच कर श्री तीर्थंकर जैसोने भी उससे निवृत्त होना, छूटना यही उपाय खोजा है। उस ससारका मुख्य कारण प्रेमबन्धन तथा द्वेषबन्धन सब ज्ञानियोने स्वीकार किया है। उसकी आकुलतासे जीवको निजविचार करनेका अवकाश प्राप्त नही होता, अथवा होता हो तो ऐसे योगसे उस बन्धनके कारणसे आत्मवीय प्रवृत्ति नही कर सकता, और यह सब प्रमादका हेतु है, और वैसे प्रमादसे लेशमात्र समय काल भी निर्भय रहना या अजागृत रहना, यह इस जीवकी अतिशय निर्बलता है, अविवेकता है, भ्राति है, और अत्यंत दुर्निवार्य ऐसा मोह है।

समस्त संसार दो प्रवाहोसे बह रहा है, प्रेमसे और द्वेषसे। प्रेमसे विरक्त हुए बिना द्वेषसे छूटा नही जाता और जो प्रेमसे विरक्त हो उसे सर्वसंगसे विरक्त हुए बिना व्यवहारमे रहकर अप्रेम (उदास) दशा रखनी यह भयकर व्रत है। यदि केवल प्रेमका त्याग करके व्यवहारमे प्रवृत्ति की जाये तो कितने ही जीवोकी दयाका, उपकारका और स्वार्थका भग करने जैसा होता है, और वैसा विचार कर यदि दया उपकारादिके कारण कुछ प्रेमदशा रखते हुए चित्तमे विवेकीको क्लेश भी हुए बिना रहना नही चाहिये, तब उसका विशेष विचार किस प्रकारसे करे?

---

५६७ बंबई, फागुन सुदी १५, १९५१

श्री वीतरागको परम भक्तिसे नमस्कार

दो तार, दो पत्र तथा दो चिट्ठियाँ मिली है। श्री जिनेन्द्र जैसे पुरुषने गृहवासमे जो प्रतिबध नही किया है, वह प्रतिबध न होनेके लिये आना या पत्र लिखना नही हुआ, उसके लिये अत्यंत दीनतासे क्षमा चाहता हूँ। सपूर्ण वीतरागता न होनेसे इस प्रकार बरताव करते हुए अंतरमे विक्षेप हुआ है, जिस विक्षेप-को भी शान्त करना योग्य है, ऐसा मार्ग ज्ञानीने देखा है।

आत्माका जो अंतर्व्यापार (अंतरपरिणामकी धारा) है वह, बंध तथा मोक्षकी (कर्मसे आत्माका बँधना और उससे आत्माका छूटना) व्यवस्थाका हेतु है, मात्र शरीरचेष्टा बंध-मोक्षकी व्यवस्थाका हेतु नही है। विशेष रोगादिके योगसे ज्ञानीपुरुषकी देहमे भी निर्बलता, मंदता, म्लानता, कंप, स्वेद, मूर्च्छा, बाह्य विभ्रमादि दिखायी देते हैं; तथापि जितनी ज्ञान द्वारा, बोध द्वारा, वैराग्य द्वारा आत्माकी निर्मलता हुई है, उतनी निर्मलता द्वारा ज्ञानी उस रोगका अंतरपरिणामसे वेदन करते हैं और वेदन करते हुए कदाचित् बाह्य स्थिति उन्मत्त देखनेमे आये तो भी अंतरपरिणामके अनुसार कर्मबंध अथवा निवृत्ति होती है। आत्मा जहाँ अत्यन्त शुद्ध निजपर्यायका सहज स्वभावसे सेवन करे वहाँ— (अपूर्ण)

---

५६८ बंबई, फागुन, १९५१

आत्मस्वरूपका निर्णय होनेमे अनादिसे जीवकी भूल होती आयी है, जिससे अब हो, इसमे आश्चर्य नहीं लगता।

सर्व क्लेशसे और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका, आत्मज्ञानके सिवाय दूसरा कोई उपाय नही है। सद्-विचारके बिना आत्मज्ञान नही होता, और असत्संग-प्रसगसे जीवका विचारबल नही चलता, इसमें किंचित्मात्र सशय नही है।

आत्मपरिणामकी स्वस्थताको श्री तीर्थंकर 'समाधि' कहते हैं।

आत्मपरिणामकी अस्वस्थताको श्री तीर्थंकर 'असमाधि' कहते है।

आत्मपरिणामकी सहज स्वरूपसे परिणति होना उसे श्री तीर्थंकर 'धर्म' कहते हैं

आत्मपरिणामकी कुछ भी चपल परिणति होना उसे श्री तीर्थंकर 'कर्म' कहते हैं।

श्री जिन तीर्थंकरने जैसा बंध एवं मोक्षका निर्णय कहा है, वैसा निर्णय वेदातादि दर्शनमें दृष्टि-गोचर नही होता, और श्री जिनमे जैसा यथार्थवक्तृत्व देखनेमे आता है वैसा यथार्थवक्तृत्व दूसरेमे देखनेमे नही आता।

आत्माके अंतर्व्यापार (शुभाशुभ परिणामधारा) के अनुसार बंध-मोक्षकी व्यवस्था है, वह शारीरिक चेष्टाके अनुसार नहीं है। पूर्वकालमे उत्पन्न किये हुए वेदनीय कर्मके उदयके अनुसार रोगादि उत्पन्न होते है, और तदनुसार निर्बल, मंद, म्लान, उष्ण, शीत आदि शरीरचेष्टा होती है।

विशेष रोगके उदयसे अथवा शारीरिक मद बलसे ज्ञानीका शरीर कपित हो, निर्बल हो, म्लान हो, मंद हो, रौद्र लगे, उसे भ्रमादिका उदय भी रहे; तथापि जिस प्रकारसे जीवमे बोध एवं वैराग्यकी वासना हुई होती है उस प्रकारसे उस रोगका, जीव उस उस प्रसंगमे प्रायः वेदन करता है।

किसी भी जीवको अविनाशी देहकी प्राप्ति हुई हो, ऐसा देखा नहीं, जाना नही तथा सम्भव नही; और मृत्युका आना निश्चित है, ऐसा प्रत्यक्ष निःसंशय अनुभव है। ऐसा होनेपर भी यह जीव उस बातको वारंवार भूल जाता है, यह बड़ा आश्चर्य है।

जिस सर्वज्ञ वीतरागमे अनन्त सिद्धियाँ प्रगट हुई थीं उस वीतरागने भी इस देहको अनित्यभावी देखा है, तो फिर अन्य जीव किस प्रयोगसे देहको नित्य बना सकेंगे ?

श्री जिनेंद्रका ऐसा अभिप्राय है कि प्रत्येक द्रव्य अनंत पर्यायी है। जीवके अनंत पर्याय हैं और परमाणुके भी अनंत पर्याय हैं। जीव चेतन होनेसे उसके पर्याय भी चेतन हैं, और परमाणु अचेतन होनेसे उसके पर्याय भी अचेतन हैं। जीवके पर्याय अचेतन नही है और परमाणुके पर्याय सचेतन नही है, ऐसा श्री जिनेंद्रने निश्चय किया है तथा वही योग्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थके स्वरूपका भी विचार करते हुए वैसा प्रतीत होता है।

जीवके विषयमे, प्रदेशके विषयमें, पर्यायके विषयमें, तथा संख्यात, असंख्यात, अनंत आदिके विषयमें यथाशक्ति विचार करना। जो कुछ अन्य पदार्थका विचार करना है वह जीवके मोक्षके लिये करना है, अन्य पदार्थके ज्ञानके लिये नहीं करना है।

---

५६९ बंबई, फागुन वदी ३, १९५१

श्री सत्पुरुषोंको नमस्कार

सर्व क्लेशसे और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान है। विचारके बिना आत्मज्ञान नही होता, और असत्संग तथा असत्प्रसगसे जीवका विचारबल प्रवृत्त नही होता, इसमे किंचित् मात्र संशय नहीं है।

आरंभ-परिग्रहकी अल्पता करनेसे असत्प्रसंगका बल घटता है, सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है। असत्संगका बल घटनेसे आत्मविचार होनेका अवकाश प्राप्त होता है। आत्मविचार होनेसे आत्मज्ञान होता है, और आत्मज्ञानसे निजस्वभावस्वरूप, सर्व क्लेश एवं सर्व दुःखसे रहित मोक्ष प्राप्त होता है, यह बात सर्वथा सत्य है।

जो जीव मोहनिद्रामें सोये हुए हैं वे अमुनि हैं। निरन्तर आत्मविचारपूर्वक मुनि तो जाग्रत रहते हैं। प्रमादीको सर्वथा भय है, अप्रमादीको किसी तरहसे भय नही है, ऐसा श्री जिनेंद्रने कहा है।

सर्व पदार्थके स्वरूपको जाननेका हेतु मात्र एक आत्मज्ञान करना ही है। यदि आत्मज्ञान न हो तो सर्व पदार्थोंके ज्ञानकी निष्फलता है।

जितना आत्मज्ञान होता है उतनी आत्मसमाधि प्रगट होती है।

किसी भी तथारूप योगको प्राप्त करके जीवको एक क्षण भी अतर्भेदजागृति हो जाये तो उसमे मोक्ष विशेष दूर नहीं है।

अन्य परिणाममे जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतना जीवसे मोक्ष दूर है।

यदि कोई आत्मयोग बने तो इस मनुष्य भवका मूल्य किसी तरहसे नही हो सकता। प्राय मनुष्यदेहके बिना आत्मयोग नहीं बनता ऐसा जानकर, अत्यन्त निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है।

विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्यपरिचयसे पीछे हटे तो सहजमें अभी ही उसे आत्मयोग प्रगट हो जाये। असत्संग-प्रसंगका घिराव विशेष है, और यह जीव उससे अनादिकालका हीनसत्त्व हुआ होनेसे उससे अवकाश प्राप्त करनेके लिये अथवा उसकी निवृत्ति करनेके लिये यथासभव सत्संगका आश्रय करे तो किसी तरह पुरुषार्थयोग्य होकर विचारदशाको प्राप्त करे।

जिस प्रकारसे इस संसारकी अनित्यता, असारता अत्यतरूपसे भासित हो उस प्रकारसे आत्मविचार उत्पन्न होता है।

अब इस उपाधिकार्यसे छूटनेकी विशेष-विशेष आर्ति हुआ करती है, और छूटे बिना जो कुछ भी काल बीतता है, वह इस जीवकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता है; अथवा ऐसा निश्चय रहता है।

जनकादि उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावमे रहते थे, ऐसे आलंबनके प्रति कभी भी बुद्धि नही जाती। श्री जिनेंद्र जैसे जन्मत्यागी भी छोड़कर चल निकले, ऐसे भयके हेतुरूप उपाधियोगकी निवृत्ति यह पामर जीव करते-करते काल व्यतीत करेगा तो अश्रेय होगा, ऐसा भय जीवके उपयोगमें रहता है, क्योंकि यही कर्तव्य है।

जो रागद्वेषादि परिणाम अज्ञानके बिना सम्भवित नही है, उन रागद्वेषादि परिणामोंके होते हुए भी, सर्वथा जीवन्मुक्तता मानकर जीवन्मुक्तदशाकी जीव आसातना करता है, ऐसे प्रवृत्ति करता है। सर्वथा रागद्वेषपरिणामकी परिक्षीणता ही कर्तव्य है।

जहाँ अत्यन्त ज्ञान हो वहाँ अत्यन्त त्यागका सम्भव है। अत्यन्त त्याग प्रगट हुए बिना अत्यन्त ज्ञान नहीं होता, ऐसा श्री तीर्थंकरने स्वीकार किया है।

आत्मपरिणामसे जितना अन्य पदार्थका तादात्म्य-अध्यास निवृत्त होना, उसे श्री जिनेंद्र त्याग कहते है।

वह तादात्म्य-अध्यास-निवृत्तिरूप त्याग होनेके लिये यह बाह्य प्रसंगका त्याग भी उपकारी है, कार्यकारी है। बाह्य प्रसंगके त्यागके लिये अतरत्याग कहा नही है, ऐसा है; तो भी इस जीवको अतरत्यागके लिये बाह्य प्रसंगकी निवृत्तिको कुछ भी उपकारी मानना योग्य है।

नित्य छूटनेका विचार करते हैं और जैसे वह कार्य तुरत पूरा हो वैसे जाप जपते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार और जाप अभी तक तथारूप नही है, शिथिल है, अत अत्यन्त विचार और उस जापका उग्रतासे आराधन करनेका अल्पकालमे योग करना योग्य है, ऐसा रहा करता है।

प्रसगसे कुछ परस्परके सम्बन्ध जैसे वचन इस पत्रमे लिखे है, वे विचारमें स्फुरित हो आनेसे स्व-विचार बल बढ़नेके लिये और आपके पढ़ने-विचारनेके लिये लिखे हैं।

जीव, प्रदेश, पर्याय तथा संख्यात, असंख्यात, अनंत आदिके विषयमे तथा रसको व्यापकताके विषयमे क्रमपूर्वक समझना योग्य होगा।

आपका यहाँ आनेका विचार है, तथा श्री डुंगरका आना सम्भव है, यह लिखा सो जाना है। सत्सगयोगकी इच्छा रहा करती है।

---

५७० बंबई, फागुन वदी ५, शनि, १९५१

सुज्ञ भाई श्री [1]मोहनलालके प्रति, श्री डरबन।

पत्र एक मिला है। ज्यो ज्यों उपाधिका त्याग होता है, त्यों त्यों समाधिसुख प्रगट होता है। ज्यों ज्यो उपाधिका ग्रहण होता है त्यो त्यों समाधिसुखकी हानि होती है। विचार करें तो यह बात प्रत्यक्ष अनुभवमें आती है। यदि इस संसारके पदार्थोंका कुछ भी विचार किया जाये, तो उसके प्रति वैराग्य आये बिना नही रहेगा, क्योकि मात्र अविचारके कारण उसमे मोहबुद्धि रहती है।

'आत्मा है', 'आत्मा नित्य है', 'आत्मा कर्मका कर्ता है', 'आत्मा कर्मका भोक्ता है', 'उससे वह निवृत्त हो सकता है', और 'निवृत्त हो सकनेके साधन हैं';—ये छ कारण जिसे विचारपूर्वक सिद्ध हो उसे विवेकज्ञान अथवा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति मानना; ऐसा श्री जिनेन्द्रने निरूपण किया है, उस निरूपणका मुमुक्षुजीवको विशेष करके अभ्यास करना योग्य है।

पूर्वके किसी विशेष अभ्यासबलसे इन छ कारणोंका विचार उत्पन्न होता है; अथवा सत्संगके आश्रयसे उस विचारके उत्पन्न होनेका योग बनता है।

अनित्य पदार्थके प्रति मोहबुद्धि होनेके कारण आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व और अव्याबाध समाधि-सुख भानमें नही आता। उसकी मोहबुद्धिमे जीवको अनादिसे ऐसी एकाग्रता चली आती है, कि उसका विवेक करते करते जीवको अकुलाकर पीछे लौटना पड़ता है, और उस मोहग्रंथिको छेदनेका समय आनेसे पहले वह विवेक छोड़ देनेका योग पूर्व कालमें बहुत बार हुआ है; क्योंकि जिसका अनादिकालसे अभ्यास

---

1. महात्मा गांधीजी।

है वह, अत्यन्त पुरुषार्थके बिना, अल्पकालमे छोड़ा नहीं जा सकता। इसलिये पुनः पुनः सत्संग, सत्शास्त्र और अपनेमें सरल विचारदशा करके उस विषयमे विशेष श्रम करना योग्य है, कि जिसके परिणाममे नित्य शाश्वत सुखस्वरूप ऐसा आत्मज्ञान होकर स्वरूपका आविर्भाव होता है। इसमे प्रथमसे उत्पन्न होनेवाले संशय धैर्यसे और विचारसे शांत होते हैं। अधीरतासे अथवा टेढी कल्पना करनेसे मात्र जीवको अपने हितका त्याग करनेका समय आता है, और अनित्य पदार्थका राग रहनेके कारणसे पुन पुनः संसारपरिभ्रमणका योग रहा करता है।

कुछ भी आत्मविचार करनेकी इच्छा आपको रहती है, ऐसा जानकर बहुत संतोष हुआ है। उस संतोषमें मेरा कोई स्वार्थ नही है। मात्र आप समाधिके रास्तेपर चढना चाहते है, जिससे आपको संसारक्लेशसे निवृत्त होनेका अवसर प्राप्त होगा। इस प्रकारकी सम्भावना देखकर स्वभावतः सन्तोष होता है। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५७१ बंबई, फागुन वदी ५, शनि, १९५१

अधिकसे अधिक एक समयमें १०८ जीव मुक्त हो, इससे अधिक न हो, ऐसी लोकस्थिति जिनागममे स्वीकृत है, और प्रत्येक समयमे एक सौ आठ एक सौ आठ जोव मुक्त होते ही रहते है, ऐसा माने तो इस परिमाणसे तीनो कालमे जितने जीव मोक्ष प्राप्त करें, उतने जीवोकी जो अनंत सख्या हो, उसकी अपेक्षा संसारनिवासी जीवोकी सख्या जिनागममे अनंत गुनी निरूपित की है। अर्थात् तीनो कालमे मुक्तजीव जितने हों उनकी अपेक्षा संसारमें अनंत गुने जीव रहते हैं, क्योंकि उनका परिमाण इतना अधिक है, और इसलिये मोक्षमार्गका प्रवाह बहते रहते हुए भी संसारमार्गका उच्छेद हो जाना सभव नही है, और इससे बंध-मोक्षकी व्यवस्थामे विपर्यय नही होता। इस विषयमे अधिक चर्चा समागममे करेंगे तो बाधा नही है।

जीवके बन्ध-मोक्षकी व्यवस्थाके विषयमे संक्षेपमे पत्र लिखा है। इस प्रकारके जो जो प्रश्न हो वे सब समाधान हो सकने जैसे हैं, कोई फिर अल्पकालमे और कोई फिर विशेष कालमे समझे अथवा समझमे आये, परन्तु इन सबकी व्यवस्थाका समाधान हो सकने जैसा है।

सबकी अपेक्षा अभी विचारणीय बात तो यह है कि उपाधि तो की जाये और सर्वथा असंगदशा रहे, ऐसा होना अत्यन्त कठिन है; और उपाधि करते हुए आत्मपरिणाम चंचल न हो, ऐसा होना असम्भवित जैसा है। उत्कृष्ट ज्ञानीको छोड़कर हम सबको तो यह बात अधिक ध्यानमे रखने योग्य है कि आत्मामे जितनी असम्पूर्णता—असमाधि रहती है अथवा रह सकने जैसी हो, उसका उच्छेद करना।

---

५७२ बंबई, फागुन वदी ७, रवि, १९५१

सर्व विभावसे उदासीन और अत्यन्त शुद्ध निज पर्यायका सहजरूपसे आत्मा सेवन करे, उसे श्री जिनेंद्रने तीव्रज्ञानदशा कही है। जिस दशाके आये बिना कोई भी जीव बन्धनमुक्त नहीं होता, ऐसा सिद्धांत श्री जिनेंद्रने प्रतिपादित किया है, जो अखंड सत्य है।

किसी ही जीवसे इस गहन दशाका विचार हो सकना योग्य है, क्योंकि अनादिसे अत्यन्त अज्ञानदशासे इस जीवने जो प्रवृत्ति की है, उस प्रवृत्तिको एकदम असत्य, असार समझकर, उसकी निवृत्ति सूझे ऐसा होना बहुत कठिन है; इसलिये जिनेंद्रने ज्ञानीपुरुषका आश्रय करनेरूप भक्तिमार्गका निरूपण किया है, कि जिस मार्गके आराधनसे सुलभतासे ज्ञानदशा उत्पन्न होती है।

ज्ञानीपुरुषके चरणमें मनको स्थापित किये बिना यह भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता, जिससे जिनागममे पुनः पुन. ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेका स्थान स्थानपर कथन किया है। ज्ञानीपुरुषके चरणमें मनका

स्थापित होना पहिले तो कठिन पड़ता है, परन्तु वचनकी अपूर्वतासे, उस वचनका विचार करनेसे तथा ज्ञानीको अपूर्व दृष्टिसे देखनेसे मनका स्थापित होना सुलभ होता है।

ज्ञानीपुरुषके आश्रयमे विरोध करनेवाले पंच विषयादि दोष हैं। उन दोषोंके होनेके साधनोंसे यथा-शक्ति दूर रहना, और प्राप्तसाधनमे भी उदासीनता रखना, अथवा उन उन साधनोंमेसे अहंबुद्धिको दूरकर, उन्हें रोगरूप समझकर प्रवृत्ति करना योग्य है। अनादि दोषका ऐसे प्रसंगमे विशेष उदय होता है। क्योंकि आत्मा उस दोषको नष्ट करनेके लिये अपने सन्मुख लाता है कि वह स्वरूपान्तर करके उसे आकर्षित करता है, और जागृतिमे शिथिल करके अपनेमे एकाग्र बुद्धि करा देता है। वह एकाग्र बुद्धि इस प्रकारकी होती है कि, 'मुझे इस प्रवृत्तिसे वैसी विशेष बाधा नही होगी, मैं अनुक्रमसे उसे छोड़ूँगा, और करते हुए जागृत रहूँगा'; इत्यादि भ्रांतदशा उन दोषोसे होती है; जिससे जीव उन दोषोंका सम्बन्ध नही छोड़ता, अथवा वे दोष बढ़ते हैं, उसका ध्यान उसे नही आ सकता।

इस विरोधी साधनका दो प्रकारसे त्याग हो सकता है—एक, उस साधनके प्रसंगकी निवृत्ति, दूसरा, विचारपूर्वक उसकी तुच्छता समझना।

विचारपूर्वक तुच्छता समझनेके लिये प्रथम उस पंचविषयादिके साधनकी निवृत्ति करना अधिक योग्य है, क्योंकि उससे विचारका अवकाश प्राप्त होता है।

उस पंचविषयादिके साधनकी सर्वथा निवृत्ति करनेके लिये जीवका बल न चलता हो, तब क्रम-क्रमसे, अश-अंशसे उसका त्याग करना योग्य है; परिग्रह तथा भोगोपभोगके पदार्थोंका अल्प परिचय करना योग्य है। ऐसा करनेसे अनुक्रमसे वह दोष मंद पड़ता है और आश्रयभक्ति दृढ़ होती है तथा ज्ञानीके वचन आत्मामे परिणमित होकर, तीव्रज्ञानदशा प्रगट होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

जीव क्वचित् ऐसी बातका विचार करे, इससे अनादि अभ्यासका बल घटना कठिन है परन्तु दिन-प्रतिदिन, प्रसंग-प्रसंगमे और प्रवृत्ति-प्रवृत्तिमे पुनः पुनः विचार करे, तो अनादि अभ्यासका बल घटकर अपूर्व अभ्यासकी सिद्धि होकर सुलभ ऐसा आश्रयभक्तिमार्ग सिद्ध होता है। यही विनती।

आ० स्व०.प्रणाम।

---

५७३ बंबई, फागुन वदी ११, शुक्र, १९५१

जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोसे समस्त संसार अशरण है। जिसने सर्वथा उस संसारकी आस्था छोड़ दी है, वही आत्मस्वभावको प्राप्त हुआ है, और निर्भय हुआ है। विचारके बिना वह स्थिति जीवको प्राप्त नही हो सकती, और संगके मोहसे पराधीन इस जीवको विचार प्राप्त होना दुर्लभ है।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५७४ बंबई, फागुन, १९५१

यथासम्भव तृष्णा कम करनी चाहिये। जन्म, जरा, मरण किसके हैं? कि जो तृष्णा रखता है, उसके जन्म, जरा, मरण है। इसलिये तृष्णाको यथाशक्ति कम करते जाना।

---

५७५ बंबई, फागुन, १९५१

जब तक यथार्थ निज स्वरूप सम्पूर्ण प्रकाशित हो तब तक निज स्वरूपके निदिध्यासनमे स्थिर रहनेके लिये ज्ञानीपुरुषके वचन आधारभूत हैं, ऐसा परम पुरुष श्री तीर्थंकरने कहा है, वह सत्य है। बारहवें गुणस्थानमें रहनेवाले आत्माको निदिध्यासनरूप ध्यानमे श्रुतज्ञान अर्थात् ज्ञानीके मुख्य वचनोंका

आश्रय वहाँ आधारभूत है, ऐसा प्रमाण जिनमार्गमें बारंबार कहा है। बोधबीजकी प्राप्ति होनेपर, निर्वाण-मार्गकी यथार्थ प्रतीति होनेपर भी उस मार्गमे यथास्थित स्थिति होनेके लिये ज्ञानीपुरुषका आश्रय मुख्य साधन है; और वह ठेठ पूर्ण दशा होने तक है, नही तो जीवको पतित होनेका भय है, ऐसा माना है। तो फिर अपने आप अनादिसे भ्रांत जीवको सद्गुरुके योगके बिना निजस्वरूपका भान होना अशक्य है, इसमे संशय क्यों हो ? जिसे निज स्वरूपका दृढ निश्चय रहता है, ऐसे पुरुषको प्रत्यक्ष जगतव्यवहार बारबार मार्गच्युत करा देने वाले प्रसंग प्राप्त कराता है, तो फिर उससे न्यूनदशामें जीव मार्ग भूल जाय, इसमें आश्चर्य क्या है ? अपने विचारके बलसे, सत्संग-सत्शास्त्रके आधारसे रहित प्रसंगमें यह जगतव्यवहार विशेष बल करता है, और तब बारबार श्री सद्गुरुका माहात्म्य और आश्रयका स्वरूप तथा सार्थकता अत्यन्त अपरोक्ष सत्य दिखायी देते है।

५७६ बंबई, चैत्र सुदी ६, सोम, १९५१

आज एक पत्र आया है। यहाँ कुशलता है। पत्र लिखते लिखते अथवा कुछ कहते कहते बारंबार चित्तकी अप्रवृत्ति होती है, और कल्पितका इतना अधिक माहात्म्य क्या ? कहना क्या ? जानना क्या ? सुनना क्या ? प्रवृत्ति क्या ? इत्यादि विक्षेपसे चित्तकी उसमें अप्रवृत्ति होती है; और परमार्थसम्बन्धी कहते हुए, लिखते हुए उससे दूसरे प्रकारके विक्षेपकी उत्पत्ति होती है, जिस विक्षेपमे मुख्य इस तीव्र प्रवृत्तिके निरोधके बिना उसमे, परमार्थकथनमे भी अप्रवृत्ति अभी श्रेयभूत लगती है। इस कारणके विषयमे पहिले एक सविस्तर पत्र लिखा है, इसलिये यहाँ विशेष लिखने जैसा नही है। केवल चित्तमे विशेष स्फूर्ति होनेसे यहाँ लिखा है।

मोतीके व्यापार आदिकी प्रवृत्ति अधिक न करनेका हो सके तो ठीक है, ऐसा जो लिखा वह यथा-योग्य है; और चित्तकी इच्छा नित्य ऐसी रहा करती है। लोभहेतुसे वह प्रवृत्ति होती है, या नही ? ऐसा विचार करते हुए लोभका निदान प्रतीत नही होता। विषयादिकी इच्छासे प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी प्रतात नही होता, तथापि प्रवृत्ति होती है, इसमे सन्देह नही। जगत कुछ लेनेके लिये प्रवृत्ति करता है, यह प्रवृत्ति देनेके लिये होती होगी ऐसा लगता है। यहाँ जो यह लगता है वह यथार्थ होगा या नही ? उसके लिये विचारवान पुरुष जो कहे वह प्रमाण है। यही विनती। लि० रायचंदके प्रणाम।

५७७ बंबई, चैत्र सुदी १३, १९५१

अभी यदि किन्हीं वेदातसम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन तथा श्रवण करनेका रहता हो तो उस विचार-का विशेष विचार होनेके लिये कुछ समय श्री 'आचारांग', 'सूयगडांग' तथा 'उत्तराध्ययन' को पढ़ने एवं विचार करनेका हो सके तो कीजियेगा।

वेदातके सिद्धांतमे तथा जिनागमके सिद्धांतमे भिन्नता है, तो भी जिनागमको विशेष विचारका स्थान मानकर वेदातका पृथक्करण होनेके लिये वे आगम पढ़ने विचारने योग्य हैं। यही विनती।

५७८ बंबई, चैत्र सुदी १४, शनि, १९५१

बम्बईसे आर्थिक तंगी विशेष है। सट्टेवालोंको बहुत नुकसान हुआ है। आप सबको सूचना है कि सट्टे जैसे रास्तेको न अपनाया जाये, इसका पूरा ध्यान रखियेगा। माताजी तथा पिताजीको पादप्रणाम।

रायचंदके यथायोग्य।

५७९ बंबई, चैत्र सुदी १५, १९५१

परम स्नेही श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

मोरबीसे लिखा हुआ एक पत्र मिला है। यहाँसे रविवारको एक चिट्ठी मोरबी लिखी है। वह आपको सायलामें मिली होगी।

श्री डुंगरके साथ इस तरफ आनेका विचार रखा है, उस विचारके अनुसार आनेमें श्री डुंगरको भी कोई विक्षेप न करना योग्य है, क्योंकि यहाँ मुझे विशेष उपाधि अभी तुरत नहीं रहेगी ऐसा सम्भव है। दिन तथा रातका बहुतसा भाग निवृत्तिमें बिताना हो तो मुझसे अभी वैसा हो सकता है।

परम पुरुषकी आज्ञाके निर्वाहके लिये तथा बहुतसे जीवोंके हितके लिये आजीविकादि सम्बन्धी आप कुछ लिखते है, अथवा पूछते हैं, उनमें मौन जैसा बरताव होता है, उसमें अन्य कोई हेतु नहीं है, जिससे मेरे वैसे मौनके लिये चित्तमें अविक्षेपता रखियेगा, और अत्यन्त प्रयोजनके बिना अथवा मेरी इच्छा जाने बिना उस विषयमें मुझे लिखने या पूछनेका न हो तो अच्छा। क्योंकि आपको और मुझे ऐसी दशामें रहना विशेष आवश्यक है, और उस आजीविकादिके कारणसे आपको विशेष भयाकुल होना भी योग्य नहीं है। मुझपर कृपा करके इतनी बात तो आप चित्तमें दृढ़ करें तो हो सकती है। बाकी किसी तरह कभी भी भेदभावकी बुद्धिसे मौन धारण करना मुझे सूझे, ऐसा सम्भवित नहीं है, ऐसा निश्चय रखिये। इतनी सूचना देनी भी योग्य नहीं है, तथापि स्मृतिमें विशेषता आनेके लिये लिखा है।

आनेका विचार करके तिथि लिखियेगा। जो कुछ पूछना-करना हो वह समागममें पूछा जाय तो बहुतसे उत्तर दिये जा सकते है। अभी पत्र द्वारा अधिक लिखना नहीं हो सकता।

डाकका समय हो जानेसे यह पत्र पूरा करता हूँ। श्री डुंगरको प्रणाम कहियेगा। और हमारे प्रति लौकिक दृष्टि रखकर, आनेके विचारसे कुछ शिथिलता न करें, इतनी विनती करियेगा।

आत्मा सबसे अत्यत प्रत्यक्ष है, ऐसा परम पुरुष द्वारा किया हुआ निश्चय भी अत्यन्त प्रत्यक्ष है। यही विनती। आज्ञाकारी रायचंदके प्रणाम विदित हो।

---

५८० बंबई, चैत्र वदी ५, रवि, १९५१

कितने ही विचार विदित करनेकी इच्छा रहा करती होनेपर भी किसी उदयके प्रतिबंधसे वैसा हो सकनेमें बहुतसा समय व्यतीत हुआ करता है। इसलिये विनती है कि आप जो कुछ भी प्रसंगोपात्त पूछने अथवा लिखनेकी इच्छा करते हो तो वैसा करनेमे मेरी ओरसे प्रतिबंध नहीं है, ऐसा समझकर लिखने अथवा पूछनेमे न रुकियेगा। यही विनती। आ० स्व० प्रणाम।

---

५८१ बंबई, चैत्र वदी ८, बुध, १९५१

चेतनका चेतन पर्याय होता है, और जड़का जड पर्याय होता है, यही पदार्थकी स्थिति है। प्रत्येक समयमें जो जो परिणाम होते हैं वे वे पर्याय हैं। विचार करनेसे यह बात यथार्थ लगेगी।

अभी कम लिखना बन पाता है, इसलिये बहुतसे विचार कहे नहीं जा सकते, तथा बहुतसे विचारोंका उपशम करनेरूप प्रकृतिका उदय होनेसे किसीको स्पष्टतासे कहना नहीं हो सकता। अभी यहाँ इतनी अधिक उपाधि नहीं रहती, तो भी प्रवृत्तिरूप संग होनेसे तथा क्षेत्र उत्तापरूप होनेसे थोड़े दिनके लिये यहाँसे निवृत्त होनेका विचार होता है। अब इस विषयमें जो होना होगा सो होगा। यही विनती।

प्रणाम।

५८२ बंबई, चैत्र वदी ८, १९५१

आत्मवीर्यके प्रवर्तन और संकोच करनेमें बहुत विचारपूर्वक प्रवृत्ति करना योग्य है।

शुभेच्छासम्पन्न भाई कुंवरजी आणंदजीके प्रति, श्री भावनगर।

विशेष विनती है कि आपका लिखा हुआ एक पत्र प्राप्त हुआ है। उस तरफ आनेके सम्बन्धमे निम्न-लिखित स्थिति है। लोगोंको सन्देह हो इस प्रकारके बाह्य व्यवहारका उदय है। और वैसे व्यवहारके साथ बलवान निर्ग्रंथ पुरुष जैसा उपदेश करना, वह मार्गका विरोध करने जैसा है; और ऐसा जानकर तथा उस जैसे दूसरे कारणोंका स्वरूप विचारकर प्रायः जिससे लोगोंको सन्देहका हेतु हो वैसे प्रसंगमें मेरा आना नहीं होता। कदाचित् कभी कोई समागममें आता है, और कुछ स्वाभाविक कहना-करना होता है, इसमें भी चित्तकी इच्छित प्रवृत्ति नही है। पूर्वकालमे यथास्थित विचार किये बिना जीवने प्रवृत्ति की, उससे ऐसे व्यवहारका उदय प्राप्त हुआ है, जिससे कई बार चित्तमें शोक रहता है। परंतु यथास्थित समपरिणामसे वेदन करना योग्य है, ऐसा समझकर प्रायः वैसी प्रवृत्ति रहती है। फिर आत्मदशाके विशेष स्थिर होनेके लिये असंगतामे ध्यान रहा करता है। इस व्यापारादिके उदय-व्यवहारसे जो जो संग होते हैं, उनमें प्रायः असंग परिणामवत् प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उनमें सारभूत कुछ नही लगता। परंतु जिस धर्मव्यवहारके प्रसंगमे आना होता है, वहाँ उस प्रवृत्तिके अनुसार व्यवहार करना योग्य नही है। तथा दूसरे आशयका विचारकर प्रवृत्ति की जाये तो उतनी सामर्थ्य अभी नही है, इसलिये वैसे प्रसंगमे प्रायः मेरा आना कम होता है; और इस क्रमको बदलना अभी चित्तको जचता नही है। फिर भी उस तरफ आनेके प्रसंगमे वैसा करनेका कुछ भी विचार मैंने किया था, तथापि उस क्रमको बदलते हुए दूसरे विषम कारणोका आगे जाकर संभव होगा ऐसा प्रत्यक्ष दीखनेसे क्रम बदलने संबंधी वृत्तिका उपशम करना योग्य लगनेसे वैसा किया है। इस आशयके सिवाय चित्तमे दूसरा आशय भी उस तरफ अभी नही आनेके संबंधमे है, परंतु किसी लोकव्यवहाररूप कारणसे आनेके विचारका विसर्जन नही किया है।

चित्तपर अधिक दबाव डालकर यह स्थिति लिखी है, उसपर विचारकर यदि कुछ आवश्यक जैसा लगे तो प्रसंगोपात्त रतनजीभाईसे स्पष्टता करें। मेरे आने न आनेके विषयमे यदि कुछ बात न कह सकें तो वैसा करनेकी विनती है। वि० रायचंदके प्रणाम।

---

५८३ बंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

एक आत्मपरिणतिके सिवाय दूसरे जो विषय हैं उनमे चित्त अव्यवस्थिततासे रहता है, और वैसी अव्यवस्थितता लोकव्यवहारसे प्रतिकूल होनेसे लोकव्यवहार करना रुचता नही है, और छोड़ना नहीं बन पाता; यह वेदना प्रायः दिनभर वेदनमें आती रहती है।

खानेमें, पीनेमे, बोलनेमे, शयनमे, लिखनेमे या अन्य व्यावहारिक कार्योंमे यथोचित भानसे प्रवृत्ति नही की जाती और वैसे प्रसंग रहा करनेसे आत्मपरिणतिका स्वतंत्र प्रगटरूपसे अनुसरण करनेमें विपत्ति आया करती है; और इस विषयका प्रतिक्षण दुःख रहा करता है।

अचलित आत्मरूपसे रहनेकी स्थितिमे ही चित्तेच्छा रहती है, और उपर्युक्त प्रसंगोंकी आपत्तिके कारण कितना ही उस स्थितिका वियोग रहा करता है; और वह वियोग मात्र परेच्छासे रहा है, स्वेच्छाके कारणसे नहीं रहा; यह एक गम्भीर वेदना प्रतिक्षण हुआ करती है।

इसी भवमे और थोड़े ही समय पहले व्यवहारके विषयमें भी स्मृति तीव्र थी। वह स्मृति अब व्यवहारके विषयमे क्वचित् ही रहती है और वह भी मंदरूपसे। थोड़े ही समय पहले अर्थात् थोड़े वर्षों पहले वाणी बहुत बोल सकती थी, वक्तारूपसे कुशलतासे प्रवृत्ति कर सकती थी, वह अब मंदरूपसे

अव्यवस्थासे प्रवृत्ति करती है। थोड़े वर्ष पहले, थोड़े समय पहले लेखनशक्ति अति उग्र थी; अब क्या लिखना यह सूझते सूझते दिनपर दिन व्यतीत हो जाते हैं, और फिर भी जो कुछ लिखा जाता है, वह इच्छित या योग्य व्यवस्थापूर्वक लिखा नही जाता, अर्थात् एक आत्मपरिणामके सिवाय दूसरे सर्व परिणामोमे उदासीनता रहती है। और जो कुछ किया जाता है वह यथोचित भानके सौवें अंशसे भी नही होता। ज्यो-त्यो और जो-सो किया जाता है। लिखनेकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा वाणीकी प्रवृत्ति कुछ ठीक है; अतः आप कुछ पूछना चाहे, जानना चाहे तो उसके विषयमें समागममें कहा जा सकेगा।

कुन्दकुन्दाचार्य और आनंदघनजीको सिद्धांत सम्बन्धी तीव्र ज्ञान था। कुन्दकुन्दाचार्यजी तो आत्मस्थितिमें बहुत स्थित थे।

जिन्हे कहने मात्र दर्शन हो, वे सब सम्यग्ज्ञानी नही कहे जा सकते। विशेष अब फिर।

---

५८४ बंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

"जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीवस्वभाव रे।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे॥"[1]

विचारवानको संगसे व्यतिरिक्तता परम श्रेयरूप है।

---

५८५ बंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

"जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीवस्वभाव रे।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे॥"

सत्सग नैष्ठिक श्री सोभाग तथा श्री डुंगरके प्रति नमस्कारपूर्वक,

सहज द्रव्यके अत्यन्त प्रकाशित होनेपर अर्थात् सर्व कर्मोंका क्षय होनेपर ही असंगता कही है और सुखस्वरूपता कही है। ज्ञानीपुरुषोके वे वचन अत्यन्त सत्य हैं; क्योकि सत्संगसे उन वचनोंका प्रत्यक्ष, अत्यन्त प्रगट अनुभव होता है।

निर्विकल्प उपयोगका लक्ष्य स्थिरताका परिचय करनेसे होता है। सुधारस, सत्समागम, सत्शास्त्र, सद्विचार और वैराग्य-उपशम ये सब उस स्थिरताके हेतु है।

---

५८६ बंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

ॐ

अधिक विचारका साधन होनेके लिये यह पत्र लिखा है।

पूर्णज्ञानी श्री ऋषभदेवादि पुरुषोंको भी प्रारब्धोदय भोगनेपर क्षय हुआ है; तो हम जैसोंको वह प्रारब्धोदय भोगना ही पडे इसमे कुछ संशय नही है। मात्र खेद इतना होता है कि हमें ऐसे प्रारब्धोदयमे श्री ऋषभदेवादि जैसी अविषमता रहे इतना बल नही है; और इसलिये प्रारब्धोदयके होनेपर वारंवार उससे अपरिपक्वकालमें छूटनेकी कामना हो आती है, कि यदि इस विषम प्रारब्धोदयमें कुछ भी उपयोगकी यथातथ्यता न रही तो फिर आत्मस्थिरता प्राप्त करनेके लिये पुनः अवसर खोजना होगा; और पश्चात्ताप-पूर्वक देह छूटेगी; ऐसी चिन्ता अनेक बार हो आती है।

---

१. भावार्थ—जिस तरह स्फटिक रत्नकी निर्मलता होती है, उसी तरह जीवका स्वभाव है। जिन वीरने प्रबल कषायके अभावरूप धर्मका निरूपण किया है।

यह प्रारब्धोदय मिटकर निवृत्तिकर्मका वेदन करनेरूप प्रारब्धका उदय होनेका आशय रहा करता है, परन्तु वह तुरत अर्थात् एकसे डेढ वर्षमे हो ऐसा तो दिखायी नही देता; और पल पल बीतना कठिन पड़ता है। एकसे डेढ़ वर्षके बाद प्रवृत्तिकर्मका वेदन करनेरूप उदय सर्वथा परिक्षीण होगा, ऐसा भी नही लगता; कुछ उदय विशेष मद पड़ेगा, ऐसा लगता है।

आत्माकी कुछ अस्थिरता रहती है। गत वर्षका मोती सम्बन्धी व्यापार लगभग पूरा होने आया है। इस वर्षका मोती सम्बन्धी व्यापार गत वर्षकी अपेक्षा लगभग दुगुना हुआ है। गत वर्ष जैसा उसका परिणाम आना कठिन है। थोड़े दिनोकी अपेक्षा अभी ठीक है; और इस वर्ष भी उसका गत वर्ष जैसा नही तो भी कुछ ठीक परिणाम आयेगा, ऐसा सम्भव रहता है। परन्तु बहुतसा वक्त उसके विचारमे व्यतीत होने जैसा होता है, और उसके लिये शोक होता है, कि यह एक परिग्रहकी कामनाके बलवान प्रवर्तन जैसा होता है, उसे शात करना योग्य है, और कुछ करना पडे ऐसे कारण रहते है। अब जैसे तैसे करके उस प्रारब्धोदयका तुरत क्षय हो तो अच्छा है, ऐसा मनमे बहुत बार रहा करता है।

जहाँ जो आढत और मोती सम्बन्धी व्यापार है, उससे मेरा छूटना हो सके अथवा उसका बहुत प्रसंग कम हो जाये, वैसा कोई रास्ता ध्यानमे आये तो लिखियेगा; चाहे तो इस विषयमे समागममे विशेषतासे कहा जा सके तो कहियेगा। यह बात ध्यानमे रखियेगा।

लगभग तीन वर्षसे ऐसा रहा करता है कि परमार्थ सम्बन्धी अथवा व्यवहार सम्बन्धी कुछ भी लिखते हुए उद्वेग आ जाता है; और लिखते लिखते कल्पित जैसा लगनेसे वारंवार अपूर्ण छोड़ देना पडता है। जिस समय चित्त परमार्थमे एकाग्रवत् होता है तब यदि परमार्थ सम्बन्धी लिखना अथवा कहना हो तो वह यथार्थ कहा जाये, परन्तु चित्त अस्थिरवत् हो और परमार्थ सम्बन्धी लिखना या कहना किया जाये तो वह उदीरणा जैसा होता है, तथा उसमे अन्तर्वृत्तिका यथातथ्य उपयोग न होनेसे, वह आत्म-बुद्धिसे लिखा या कहा न होनेसे कल्पितरूप कहा जाता है। उससे तथा वैसे दूसरे कारणोसे परमार्थ-सम्बन्धी लिखना तथा कहना बहुत कम हो गया है। इस स्थलपर सहज प्रश्न होगा कि चित्त अस्थिरवत हो जानेका हेतु क्या है? परमार्थमे जो चित्त विशेष एकाग्रवत् रहता था उस चित्तके परमार्थमे अस्थिरवत् हो जानेका कुछ भी कारण होना चाहिये। यदि परमार्थ संशयका हेतु लगा हो तो वैसा हो सकता है, अथवा कोई तथाविध आत्मवीर्य मन्द होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदयके बलसे वैसा होता है। इन दो हेतुओसे परमार्थका विचार करते हुए, लिखते हुए या कहते हुए चित्त अस्थिरवत् रहता है। उसमे प्रथम कहे हुए हेतुका होना सम्भव नही है। मात्र दूसरा कहा हुआ हेतु सम्भवित है। आत्मवीर्य मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदय होनेसे उस हेतुको दूर करनेका पुरुषार्थ होनेपर भी कालक्षेप हुआ करता है, और वैसे उदय तक वह अस्थिरता दूर होना कठिन है; और इसलिये परमार्थस्वरूप चित्तके बिना तत्संबधी लिखना, कहना कल्पित जैसा लगता है, तो भी कितने ही प्रसंगोमें विशेष स्थिरता रहती है। व्यवहार सम्बंधी कुछ भी लिखते हुए वह असारभूत और साक्षात् भ्रांतिरूप लगनेसे तत्सम्बधी जो कुछ लिखना या कहना है वह तुच्छ है, आत्माको विकलताका हेतु है, और जो कुछ लिखना, कहना है वह न कहा हो तो भी चल सकता है। अत. जब तक वैसा रहे तब तक तो अवश्य वैसा करना योग्य है, ऐसा समझकर बहुतसी व्यावहारिक बाते लिखने, करने और कहनेकी आदत चली गयी है। मात्र जो व्यापारादि व्यवहारमे तीव्र प्रारब्धोदयसे प्रवृत्ति है, वहाँ कुछ प्रवृत्ति होती है। यद्यपि उसकी भी यथार्थता प्रतीत नही होती।

श्री जिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे वारंवार छूटनेकी प्रेरणा दी है, और उस संयोगका विश्वास

परम ज्ञानीके लिये भी कर्तव्य नही है, ऐसा निश्चल मार्ग कहा है, उन श्री जिन वीतरागके चरणकमलमें अत्यंत नम्र परिणामसे नमस्कार है ।

जो प्रश्न आजके पत्रमे लिखे हैं उनका उत्तर समागममें पूछियेगा । दर्पण, जल, दीपक, सूर्य और चक्षुके स्वरूपपर विचार करेंगे, तो केवलज्ञानसे पदार्थ प्रकाशित होते हैं, ऐसा जिनेन्द्रने कहा है, उसे समझनेमे कुछ साधन होगा ।

---

५८७ बंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

'केवलज्ञानसे पदार्थ किस प्रकार दिखायी देते हैं ?' इस प्रश्नका उत्तर विशेषतः समागममे समझनेसे स्पष्ट समझा जा सकता है, तो भी संक्षेपमे नीचे लिखा है—

जैस दीपक जहाँ जहाँ होता है, वहाँ वहाँ प्रकाशकरूपसे होता है, वैसे ज्ञान जहाँ जहाँ होता है वहाँ वहाँ प्रकाशकरूपसे होता है । जैसे दीपकका सहज स्वभाव ही पदार्थप्रकाशक होता है वैसे ज्ञानका सहज स्वभाव भी पदार्थप्रकाशक है । दीपक द्रव्यप्रकाशक है, और ज्ञान द्रव्य, भाव दोनोका प्रकाशक है। दीपकके प्रकाशित होनेसे उसके प्रकाशकी सीमामे जो कोई पदार्थ होता है वह सहज ही दिखायी देता है; वसे ज्ञानकी विद्यमानतासे पदार्थ सहज ही दिखायी देता है । जिसमे यथातथ्य और सम्पूर्ण पदार्थ सहज देखे जाते है, उसे 'केवलज्ञान' कहा है । यद्यपि परमार्थसे ऐसा कहा है कि केवलज्ञान भी अनुभवमे तो मात्र आत्मानुभवकर्त्ता है, व्यवहारनयसे लोकालोक प्रकाशक है । जैसे दर्पण, दीपक, सूर्य और चक्षु पदार्थप्रकाशक है, वैसे ज्ञान भी पदार्थप्रकाशक है ।

---

५८८ बंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

ॐ

श्री जिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे वारंवार छूटनेकी प्रेरणा की है, और उस संयोगका विश्वास परमज्ञानीको भी कर्तव्य नहीं है, ऐसा अखंडमार्ग कहा है; उन श्री जिन वीतरागके चरणकमलमें अत्यत भक्तिपूर्वक नमस्कार ।

आत्मस्वरूपका निश्चय होनेमे जीवकी अनादिकालसे भूल होती आयी है । समस्त श्रुतज्ञानस्वरूप द्वादशागमे सर्व प्रथम उपदेश योग्य 'आचारागसूत्र' है; उसके प्रथम श्रुतस्कंधमे, प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशमे प्रथम वाक्यमे श्री जिनने जो उपदेश किया है, वह सर्व अंगोका, सर्व श्रुतज्ञानका सारस्वरूप है, मोक्षका बीजभूत है, सम्यक्त्वस्वरूप है । उस वाक्यमे उपयोग स्थिर होनेसे जीवको निश्चय होगा कि ज्ञानीपुरुषके समागमकी उपासनाके बिना जीव स्वच्छदसे निश्चय करे, यह छूटनेका मार्ग नही है ।

सभी जीवमे परमात्मस्वरूप है, इसमे संशय नही है, तो फिर श्री देवकरणजी स्वयंको परमात्मस्वरूप मान लें तो यह बात असत्य नही है; परंतु जब तक वह स्वरूप यथातथ्य प्रगट न हो, तब तक मुमुक्षु, जिज्ञासु रहना अधिक अच्छा है, और उस मार्गसे यथार्थ परमात्मस्वरूप प्रगट होता है। उस मार्गको छोड़कर प्रवर्त्तन करनेसे उस पदका भान नही होता; तथा श्री जिन वीतराग सर्वज्ञ पुरुषोंकी आसातना करनेरूप प्रवृत्ति होती है । दूसरा कोई मतभेद नही है ।

मृत्यु अवश्य आनेवाली है ।

आ० स्व० प्रणाम ।

---

५८९ बंबई, चैत्र वदी १३, १९५१

आपको वेदांत ग्रंथ पढ़नेका अथवा उस प्रसंगकी बातचीत सुननेका प्रसंग रहता हो तो उसे पढ़नेसे तथा सुननेसे जीवमे वैराग्य और उपशम वर्धमान हो वैसा करना योग्य है। उसमे प्रतिपादन किये हुए सिद्धांतका यदि निश्चय होता हो तो करनेमे बाधा नही है, तथापि ज्ञानीपुरुषके समागम और उपासनासे सिद्धांतका निश्चय किये बिना आत्मविरोध होना सम्भव है।

---

५९० बंबई, चैत्र वदी १४, १९५१

चारित्र (श्री जिनेन्द्रके अभिप्रायमे क्या है ? उसे विचारकर समवस्थित होना) दशा सम्बंधी अनुप्रेक्षा करनेसे जीवमे स्वस्थता उत्पन्न होती है। उस विचार द्वारा उत्पन्न हुई चारित्रपरिणाम स्वभावरूप स्वस्थताके बिना ज्ञान निष्फल है, ऐसा जिनेन्द्रका अभिमत अव्याबाध सत्य है।

तत्सम्बंधी अनुप्रेक्षा बहुत बार रहनेपर भी चंचल परिणतिका हेतु ऐसा उपाधियोग तीव्र उदयरूप होनेसे चित्तमें प्राय: खेद जैसा रहता है, और उस खेदसे शिथिलता उत्पन्न होकर विशेष नही कहा जा सकता। बाकी कुछ बतानेके विषयमे तो चित्तमे बहुत बार रहता है। प्रसंगोपात्त कुछ विचार लिखें, उसमे आपत्ति नही है। यही विनती।

---

५९१ बंबई, चैत्र, १९५१

विषयादि इच्छित पदार्थ भोगकर उनसे निवृत्त होनेकी इच्छा रखना और उस क्रमसे प्रवृत्ति करनेसे आगे जाकर उस विषयमूर्च्छाका उत्पन्न होना सम्भव न हो, ऐसा होना कठिन है; क्योंकि ज्ञानदशाके बिना विषयकी निर्मूलता होना सम्भव नही है। विषय भोगनेसे मात्र उदय नष्ट होता है, परतु यदि ज्ञानदशा न हो तो उत्सुक परिणाम, विषयका आराधन करते हुए, उत्पन्न हुए बिना नही रहते, और उससे विषय पराजित होनेके बदले विशेष वर्धमान होता है। जिन्हे ज्ञानदशा है वैसे पुरुष विषयाकाक्षासे अथवा विषयका अनुभव करके उससे विरक्त होनेकी इच्छासे उसमे प्रवृत्ति नही करते, और यदि ऐसे प्रवृत्ति करने लगे तो ज्ञानपर भी आवरण आना योग्य है। मात्र प्रारब्ध सम्बन्धी उदय हो अर्थात् छूटा न जा सके, इसीलिये ज्ञानीपुरुषकी भोगप्रवृत्ति है। वह भी पूर्वपश्चात् पश्चात्तापवाली और मंदमे मद परिणामसंयुक्त होती है। सामान्य मुमुक्षुजीव वैराग्यके उद्भवके लिये विषयका आराधन करने जाय तो प्राय उसका बँधा जाना सम्भव है; क्योंकि ज्ञानीपुरुष भी उन प्रसगोंको बड़ी मुश्किलसे जीत सके हैं, तो फिर जिसकी मात्र विचारदशा है ऐसे पुरुषकी सामर्थ्य नहीं कि वह विषयको इस प्रकारसे जीत सके।

---

५९२ बंबई, वैशाख सुदी, १९५१

आर्य श्री सोभागके प्रति, सायला।

पत्र मिला है।

श्री अंबालालसे सुधारस सम्बन्धी बातचीत करनेका अवसर आपको प्राप्त हो तो कीजियेगा।

जो देह पूर्ण युवावस्थामे और सम्पूर्ण आरोग्यमें दिखायी देती हुई भी क्षणभंगुर है, उस देहमें प्रीति करके क्या करें ?

जगतके सर्व पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके प्रति सर्वोत्कृष्ट प्रीति है, ऐसी यह देह वह भी दुःखका हेतु है, तो दूसरे पदार्थोंमें सुखके हेतुकी क्या कल्पना करना ?

जिन पुरुषोंने वस्त्र जैसे शरीरसे भिन्न है, वैसे आत्मासे शरीर भिन्न है, ऐसा देखा है, वे पुरुष धन्य हैं।

दूसरेकी वस्तुका अपनेसे ग्रहण हुआ हो, जब यह मालूम हो कि वह दूसरेकी है, तब उसे दे देनेका ही कार्य महात्मा पुरुष करते हैं।

दुषमकाल है इसमे संशय नहीं है।

तथारूप परमज्ञानी आप्तपुरुषका प्राय विरह है।

विरले जीव सम्यग्दृष्टि प्राप्त करें, ऐसी कालस्थिति हो गयी है। जहाँ सहजसिद्ध आत्मचारित्रदशा रहती है ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करना कठिन है, इसमे संशय नही है।

प्रवृत्ति विराम पाती नही, विरक्ति बहुत रहती है।

वनमें अथवा एकांतमे सहजस्वरूपका अनुभव करता हुआ आत्मा सर्वथा निर्विषय रहे ऐसा करनेमे सारी इच्छाएँ लगी है।

---

५९३ बंबई, वैशाख सुदी १५, बुध, १९५१

आत्मा अत्यन्त सहज स्वस्थता प्राप्त करे यही श्री सर्वज्ञने सर्व ज्ञानका सार कहा है।

अनादिकालसे जीवने निरन्तर अस्वस्थताकी आराधना की है, जिससे स्वस्थताकी ओर आना उसे दुर्गम लगता है। श्री जिनेंद्रने ऐसा कहा है कि यथाप्रवृत्तिकरण तक जीव अनत बार आया है, परंतु जिस समय ग्रंथिभेद होने तक आना होता है तब क्षोभयुक्त होकर फिरसे संसारपरिणामी होता रहा है। ग्रंथिभेद होनेमे जो वीर्यगति चाहिये, उसके होनेके लिये जीवको नित्यप्रति सत्समागम, सद्विचार और सद्ग्रंथका परिचय निरतररूपसे करना श्रेयभूत है।

इस देहकी आयु प्रत्यक्ष उपाधियोगमे व्यतीत होती जा रही है। इसके लिये अत्यंत शोक होता है, और उसका यदि अल्पकालमे उपाय न किया तो हम जैसे अविचारी भी थोडे समझना।

जिस ज्ञानसे कामका नाश होता है उस ज्ञानको अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार हो।

आ० स्व० यथा०

---

५९४ बंबई, वैशाख सुदो १५, बुध, १९५१

सर्वकी अपेक्षा जिसमे अधिक स्नेह रहा करता है, ऐसी यह काया रोग, जरा आदिसे स्वात्माको ही दु:खरूप हो जाती है; तो फिर उससे दूर ऐसे धनादिसे जीवको तथारूप (यथायोग्य) सुखवृत्ति हो ऐसा मानते हुए विचारवानकी बुद्धि अवश्य क्षोभको प्राप्त होनी चाहिये, और किसी अन्य विचारमे लगनी चाहिये, ऐसा ज्ञानीपुरुषोंने निर्णय किया है, वह यथातथ्य है।

---

५९५ बबई, वैशाख वदो ७, गुरु, १९५१

वेदांत आदिमे जो आत्मस्वरूपकी विचारणा कही है, उस विचारणाकी अपेक्षा श्री जिनागममे जो आत्मस्वरूपकी विचारणा कही है, उसमे भेद आता है। सर्व विचारणाका फल आत्माका सहजस्वभावमें परिणमित होना ही है। सम्पूर्ण रागद्वेषके क्षयके बिना सम्पूर्ण आत्मज्ञान प्रगट नही होता ऐसा निश्चय जिनेंद्रने कहा है, वह वेदांत आदिकी अपेक्षा बलवान प्रमाणभूत है।

५९६　　बंबई, वैशाख वदी ७, गुरु, १९५१

सर्वकी अपेक्षा वीतरागके वचनको सम्पूर्ण प्रतीतिका स्थान कहना योग्य है, क्योंकि जहाँ रागादि दोषका सम्पूर्ण क्षय हो वहाँ सम्पूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होने योग्य नियम घटित होता है।

श्री जिनेंद्रको सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता सम्भव है, क्योंकि उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिस किसी पुरुषको जितने अंशमे वीतरागता सम्भव है, उतने अंशमे उस पुरुषका वाक्य मान्यता योग्य है। सांख्यादि दर्शनमे बंध-मोक्षकी जो जो व्याख्या उपदिष्ट है, उससे बलवान प्रमाणसिद्ध व्याख्या श्री जिन वीतरागने कही है, ऐसा जानता हूँ।

५९७　　बंबई, वैशाख वदी ७, गुरु, १९५१

हमारे चित्तमे वारंवार ऐसा आता है और ऐसा परिणाम स्थिर रहा करता है कि जैसा आत्म-कल्याणका निर्धार श्रीवर्धमानस्वामीने या श्रीऋषभादिने किया है, वैसा निर्धार दूसरे सम्प्रदायमे नही है।

वेदान्त आदि दर्शनका लक्ष्य आत्मज्ञानके प्रति और सम्पूर्ण मोक्षके प्रति जाता हुआ देखनेमे आता है, परन्तु उसका सम्पूर्णरूपसे यथायोग्य निर्धार उसमे मालूम नही होता, अंशतः मालूम होता है और कुछ कुछ उसका भी पर्यायांतर दिखायी देता है। यद्यपि वेदांतमे जगह जगह आत्मचर्याका ही विवेचन किया है, तथापि वह चर्या स्पष्टतः अविरुद्ध है, ऐसा अभी तक प्रतीत नही हो पाता। ऐसा भी सम्भव है कि कदाचित् विचारके किसी उदयभेदसे वेदांतका आशय अन्य स्वरूपसे समझमे आता हो और उससे विरोधका भास होता हो, ऐसी आशका भी पुन पुनः चित्तमे करनेमें आयी है, विशेष विशेष आत्मवीर्यका परिणमन करके उसे अविरोधी देखनेके लिये विचार किया गया है, तथापि ऐसा मालूम होता है कि वेदांत जिस प्रकारसे आत्मस्वरूप कहता है उस प्रकारसे वेदांत सर्वथा अविरोधिताको प्राप्त नही कर सकता। क्योकि वह जो कहता है उसीके अनुसार आत्मस्वरूप नही है, उसमे कोई बड़ा भेद देखनेमे आता है, और उसी प्रकारसे सांख्य आदि दर्शनोमे भी भेद देखनेमे आता है। श्री जिनेंद्रने जो आत्मस्वरूप कहा है, एक मात्र वही विशेष विशेष अविरोधी देखनेमे आता है और उस प्रकारसे वेदन करनेमे आता है। श्री जिनेंद्रका कहा हुआ आत्मस्वरूप सम्पूर्णतः अविरोधी होने योग्य है, ऐसा प्रतीत होता है। सम्पूर्णतः अविरोधी ही है, ऐसा जो नही कहा जाता उसका हेतु मात्र इतना ही है कि सम्पूर्णतः आत्मावस्था प्रगट नही हुई है। जिससे जो अवस्था अप्रगट है, उस अवस्थाका अनुमान वर्तमानमे करते हैं, जिससे उस अनुमानपर अत्यंत भार न देना योग्य समझकर विशेष विशेष अविरोधी है, ऐसा कहा है, सम्पूर्ण अविरोधी होने योग्य है, ऐसा लगता है।

सम्पूर्ण आत्मस्वरूप किसी भी पुरुषमे प्रगट होना चाहिये, ऐसा आत्मामे निश्चित प्रतीतिभाव आता है, और वह कैसे पुरुषमे प्रगट होना चाहिये, ऐसा विचार करते हुए, जिनेंद्र जैसे पुरुषमे प्रगट होना चाहिये ऐसा स्पष्ट लगता है। इस सृष्टिमंडलमे यदि किसीमे भी सम्पूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होने योग्य हो तो श्री वर्धमानस्वामीमे प्रथम प्रगट होने योग्य लगता है, अथवा उस दशाके पुरुषोंमे सबसे प्रथम सम्पूर्ण आत्मस्वरूप—

[अपूर्ण]

५९८　　बम्बई, वैशाख वदी १०, रवि, १९५१

ॐ

परमस्नेही श्री सोभागके प्रति नमस्कारपूर्वक—श्री सायला।

आज एक पत्र मिला है।

'अल्पकालमे उपाधिरहित होनेकी इच्छा करनेवालेके लिये आत्मपरिणतिको किस विचारमे लाना योग्य है कि जिससे वह उपाधिरहित हो सके ?' यह प्रश्न हमने लिखा था। उसके उत्तरमे आपने लिखा कि 'जब तक रागबन्धन है तब तक उपाधिरहित नही हुआ जाता, और वह बधन आत्मपरिणतिसे कम हो जाये, वैसो परिणति रहे तो अल्पकालमे उपाधिरहित हुआ जाता है,' इस प्रकार जो उत्तर लिखा वह यथार्थ है। यहाँ प्रश्नमे विशेषता इतनी है कि 'बलात् उपाधियोग प्राप्त होता हो, उसके प्रति रागद्वेषादि परिणति कम हो, उपाधि करनेके लिये चित्तमे वारंवार खेद रहता हो, और उस उपाधिका त्याग करनेका परिणाम रहा करता हो, वैसा होनेपर भी उदयबलसे उपाधि प्रसग रहता हो तो वह किस उपायसे निवृत्त किया जा सके ?' इस प्रश्नके विषयमे जो ध्यानमे आये सो लिखियेगा।

'भावार्थप्रकाश' ग्रन्थ हमने पढ़ा है, उसमे सम्प्रदायके विवादका कुछ समाधान हो सके ऐसी रचना की है, परन्तु तारतम्यसे वस्तुतः वह ज्ञानवानकी रचना नही है, ऐसा मुझे लगता है।

श्री डुगरने [1]'अखे पुरुष एक वरख हे', यह सवैया लिखाया है, उसे पढा है। श्री डुगरको ऐसे सवैयोंका विशेष अनुभव है। तथापि ऐसे सवैयोंमे भी प्राय छाया जैसा उपदेश देखनेमे आता है, और उससे अमुक निर्णय किया जा सकता है, और कभी निर्णय किया जा सके तो वह पूर्वापर अविरोध रहता है, ऐसा प्राय. ध्यानमे नही आता। जीवके पुरुषार्थधर्मको कितने ही प्रकारसे ऐसी वाणी बलवान करती है, इतना उस वाणीका उपकार कितने ही जीवोकी प्रति होना सम्भव है।

श्री नवलचंदकी अभी दो चिट्ठियाँ आयी थी, कुछ धर्म-प्रकारको जाननेकी अभी उन्हे इच्छा हुई है. तथापि उसे अभ्यासवत् और द्रव्याकार जैसी अभी समझना योग्य है। यदि किसी पूर्वके कारणयोगसे इस प्रकारके प्रति उनका ध्यान बढेगा तो भावपरिणामसे धर्मविचार हो सके ऐसा उनका क्षयोपशम है।

आपके आजके पत्रमे श्री डुंगरने जो साखी लिखवायी है, [2]'व्यवहारनी झाळ पादडे पांदडे परजळी' यह पद जिसमे पहला है वह यथार्थ है। उपाधिसे उदासीन चित्तको धीरताका हेतु हो ऐसी साखी है।

आपका और श्री डुंगरका यहाँ आनेका विशेष चित्त है ऐसा लिखा उसे विशेषतः जाना। श्री डुगरका चित्त ऐसे प्रकारमे कई बार शिथिल होता है, वैसा इस प्रसंगमे करनेका कारण दिखायी नही देता। श्री डुगरको द्रव्य (बाहर) से मानदशा ऐसे प्रसगमे कुछ आडे आती होनी चाहिये, ऐसा हमे लगता है, परन्तु वह ऐसे विचारवानको रहे यह योग्य नही है, फिर दूसरे साधारण जीवोके विषयमें वैसे दोषकी निवृत्ति सत्सगसे भी कैसे होगी ?

हमारे चित्तमे एक इतना रहता है कि यह क्षेत्र सामान्यतः अनार्य चित्त कर डाले ऐसा है। ऐसे क्षेत्रमे सत्समागमका यथास्थित लाभ लेना बहुत कठिन पड़ता है, क्योकि आसपासके समागम, लोक-व्यवहार सब प्राय विपरीत ठहरे, और इस कारणसे प्रायः कोई मुमुक्षुजीव यहाँ चाहकर समागमके लिये आनेकी इच्छा करता हो उसे भी उत्तरमें 'ना' लिखने जैसा होता है, क्योकि उसके श्रेयको बाधा न होने देना योग्य है। आपके और श्री डुगरके आनेके सम्बन्धमे इतना सब विचार तो चित्तमे नही होता, परन्तु कुछ सहज होता है। यह सहज विचार जो होता है वह ऐसे कारणसे नही होता कि यहाँका उदयरूप उपाधियोग देखकर हमारे प्रति आपके चित्तमे कुछ विक्षेप हो; परन्तु ऐसा रहता है कि आपके तथा श्री डुगर जैसेके सत्समागमका लाभ क्षेत्रादिकी विपरीततासे यथायोग्य न लिया जाये, इससे चित्तमे खेद आ

---

१. अक्षय पुरुष एक वृक्ष है। २. व्यवहारकी ज्वाला पत्ते-पत्तेपर प्रज्वलित हुई।

जाता है। यद्यपि आपके आनेके प्रसंगमें उपाधि बहुत कम की जा सकेगी, तथापि आसपासके साधन सत्समागमको और निवृत्तिको वर्धमान करनेवाले नही है, इससे चित्तमें सहज खेद होता है। इतना लिखनेसे चित्तमे आया हुआ एक विचार लिखा है ऐसा समझना। परन्तु आपको अथवा श्री डुंगरको रोकने संबंधी किसी भी आशयसे नही लिखा है; परन्तु इतना आशय चित्तमे है कि यदि श्री डुंगरका चित्त आनेके प्रति कुछ शिथिल दिखायी दे तो आप उनपर विशेष दबाव न डालें, तो भी आपत्ति नही है, क्योंकि श्री डुंगर आदिके समागमकी विशेष इच्छा रहती है, और यहाँसे कुछ समयके लिये निवृत्त हुआ जा सके तो वैसा करनेकी इच्छा है, तो श्री डुंगरका समागम किसी दूसरे निवृत्तिक्षेत्रमें होगा ऐसा लगता है।

आपके लिये भी इसी प्रकारका विचार रहता है, तथापि उसमे भेद इतना होता है कि आपके आनेसे यहाँकी कई उपाधियाँ अल्प कैसे की जा सके ? उसे प्रत्यक्ष दिखाकर, तत्सम्बन्धी विचार लेनेका हो सकता है। जितने अंशमे श्री सोभागके प्रति भक्ति है, उतने ही अंशमें श्री डुंगरके प्रति भक्ति है, इसलिये उन्हे इस उपाधिसबंधी विचार बतानेसे भी हम पर तो उपकार है। तथापि श्री डुंगरके चित्तमे कुछ भी विक्षेप होता हो और यहाँ अनिच्छासे आना पड़ता हो तो सत्समागम यथायोग्य नही हो सकता। वैसा न होता हो तो श्री डुंगर और श्री सोभागको यहाँ आनेमे कोई प्रतिबन्ध नही है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

५९९ बंबई, वैशाख वदी १४, गुरु, १९५१

शरण (आश्रय) और निश्चय कर्तव्य है। अधीरतासे खेद कर्तव्य नही है। चित्तको देहादिके भयका विक्षेप भी करना योग्य नहीं है। अस्थिर परिणामका उपशम करना योग्य है।

आ० स्व० प्र०

---

६०० बंबई, जेठ सुदी २, रवि, १९५१

अपारवत् संसारसमुद्रसे तारनेवाले सद्धर्मका निष्कारण करुणासे जिसने उपदेश किया है, उस ज्ञानीपुरुषके उपकारको नमस्कार हो! नमस्कार हो!

परम स्नेही श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

यथायोग्यपूर्वक विनती कि—आपका लिखा एक पत्र कल मिला है। आपके तथा श्री डुगरके यहाँ आनेके विचार सम्बन्धी यहाँसे एक पत्र हमने लिखा था उसका अर्थ कुछ और समझा गया मालूम होता है। उस पत्रमे इस प्रसंगमे जो कुछ लिखा है उसका संक्षेपमे भावार्थ इस प्रकार है—

मुझे प्रायः निवृत्ति मिल सकती है, परन्तु यह क्षेत्र स्वभावसे प्रवृत्तिविशेषवाला है, जिससे निवृत्ति-क्षेत्रमे सत्समागमसे जैसा आत्मपरिणामका उत्कर्ष हो, वैसा प्रायः प्रवृत्तिविशेष क्षेत्रमे होना कठिन पड़ता है। बाकी आप अथवा श्री डुंगर अथवा दोनों आये उसमे हमे कोई आपत्ति नही है। प्रवृत्ति बहुत कम की जा सकती है; परन्तु श्री डुंगरका चित्त आनेमें कुछ विशेष शिथिल हो तो आग्रहसे न लायें तो भी आपत्ति नही है, क्योंकि उस तरफ थोड़े समयमे समागम होनेका कदाचित् योग हो सकेगा।

इस प्रकार लिखनेका आशय था। आप अकेले ही आयें और श्री डुंगर न आयें अथवा हमें अभी निवृत्ति नहीं है, ऐसा लिखनेका आशय नहीं था। मात्र निवृत्तिक्षेत्रमें किसी तरह समागम होनेके विषयमे विशेषतः लिखी है। कभी विचारवानको तो प्रवृत्तिक्षेत्रमें सत्समागम विशेष लाभकारक हो पड़ता है। ज्ञानीपुरुषकी भीड़मे निर्मलदशा देखना बनता है। इत्यादि निमित्तसे विशेष लाभकारक भी होता है।

आप दोनों अथवा आप कब आयें, इस विषयमे मनमे कुछ विचार आता है, जिससे अभी यहाँसे कुछ विचार सूचित करने तक आनेमें विलम्ब करेंगे तो आपत्ति नहीं है।

परपरिणतिके कार्य करनेका प्रसग रहे और स्वपरिणतिमे स्थिति रखे रहना, यह श्री आनंदघनजीने जो चौदहवें जिनेंद्रकी सेवा कही है उससे भी विशेष दुष्कर है।

ज्ञानीपुरुषको जबसे नौ बाड़से विशुद्ध ब्रह्मचर्यकी दशा रहती है तबसे जो संयमसुख प्रगट होता है वह अवर्णनीय है। उपदेशमार्ग भी उस सुखके प्रगट होनेपर प्ररूपण करने योग्य है। श्री डुंगरको अत्यन्त भक्तिसे प्रणाम।

आ० स्व० प्रणाम।

---

६०१ बंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९५१

ॐ

परम स्नेही श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

तीन दिन पहिले आपका लिखा पत्र मिला है। यहाँ आनेके विचारका उत्तर मिलने तक उपशम किया है ऐसा लिखा, उसे पढ़ा है। उत्तर मिलने तक आनेका विचार बंद रखनेके बारेमें यहाँसे लिखा था उसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं—

यहाँ आपका आनेका विचार रहता है, उसमे एक हेतु समागम-लाभका है और दूसरा अनिच्छनीय हेतु कुछ उपाधिके सयोगके कारण व्यापारके प्रसंगसे किसीको मिलनेका है। जिस पर विचार करते हुए अभी आनेका विचार रोका जाये तो भी आपत्ति नही है ऐसा लगा, इसलिये इस प्रकारसे लिखा था। समागमयोग प्राय. यहाँसे एक या डेढ महीने बाद कुछ निवृत्ति मिलना सम्भव है तब उस तरफ होना सम्भव है। और उपाधिके लिये अभी त्रंबक आदि प्रयासमे हैं। तो आपका उस प्रसंगसे आनेका विशेष कारण जैसा तुरतमें नही है। हमारा उस तरफ आनेका योग होनेमें अधिक समय जाने जैसा दिखायी देगा तो फिर आपको एक चक्कर लगा जानेका कहनेका चित्त है। इस विषयमे जो आपके ध्यानमे आये सो लिखियेगा।

कई बडे पुरुषोके सिद्धियोग सम्बन्धी शास्त्रमे बात आती है, तथा लोककथामे वेसी बाते सुनी जाती है। उसके लिये आपको संशय रहता है, उसका सक्षेपमे उत्तर इस प्रकार है —

अष्ट महासिद्धि आदि जो जो सिद्धियाँ कही हैं, ॐ आदि मंत्रयोग कहे है, वे सब सच्चे हैं। आत्मैश्वर्यकी तुलनामे ये सब तुच्छ हैं। जहाँ आत्मस्थिरता है, वहाँ सर्व प्रकारके सिद्धियोग रहते है। इस कालमे वैसे पुरुष दिखायी नही देते, इससे उनकी अप्रतीति होनेका कारण है, परन्तु वर्तमानमे किसी जीवमे ही वैसी स्थिरता देखनेमे आती है। बहुतसे जीवोमे सत्त्वकी न्यूनता रहती है, और उस कारणसे वैसे चमत्कारादि दिखायी नही देते, परन्तु उनका अस्तित्व नही है, ऐसा नही है। आपको शंका रहती है, यह आश्चर्य लगता हैं। जिसे आत्मप्रतीति उत्पन्न हो उसे सहज हो इस बातकी निःशंकना होती है, क्योंकि आत्मामें जो सामर्थ्य है, उस सामर्थ्यके सामने इस सिद्धिलब्धिकी कुछ भी विशेषता नहीं है।

ऐसे प्रश्न आप कभी कभी लिखते हैं, उसका क्या कारण है, वह लिखियेगा। इस प्रकारके प्रश्न विचारवानको क्यों हो ? श्री डुंगरको नमस्कार। कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा।

---

६०२ बंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९५१

मनमे जो रागद्वेषादिके परिणाम हुआ करते हैं उन्हें समयादि पर्याय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समयकी अत्यन्त सूक्ष्मता है, और मनपरिणामकी वैसी सूक्ष्मता नही है। पदार्थका अत्यन्तसे अत्यन्त सूक्ष्मपरिणतिका जो प्रकार है, वह समय है।

रागद्वेषादि विचारोंका उद्भव होना, यह जीवके पूर्वोपार्जित कर्मोंके योगसे होता है, वर्तमानकालमें आत्माका पुरुषार्थ उसमे कुछ भी हानिवृद्धिमें कारणरूप है, तथापि वह विचार विशेष गहन है।

श्री जिनेन्द्रने जो स्वाध्याय-काल कहा है, वह यथार्थ है। उस उस (अकालके) प्रसंगमे प्राणादिका कुछ संधिभेद होता है। चित्तको विक्षेपनिमित्त सामान्य प्रकारसे होता है, हिंसादि योगका प्रसंग होता है, अथवा कोमल परिणाममें विघ्नभूत कारण होता है, इत्यादिके आश्रयसे स्वाध्यायका निरूपण किया है।

अमुक स्थिरता होने तक विशेष लिखना नही हो सकता, तो भी जितना हो सका उतना प्रयास करके ये तीन चिट्ठियाँ लिखी हैं।

---

६०३ बंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९५१

ज्ञानीपुरुषको जो सुख रहता है, वह निजस्वभावमें स्थितिका रहता है। बाह्यपदार्थमें उन्हें सुख बुद्धि नहीं होती, इसलिये उस उस पदार्थसे ज्ञानीको सुखदुःखादिकी विशेषता या न्यूनता नही कही जा सकती। यद्यपि सामान्यरूपसे शरीरके स्वास्थ्यादिसे साता और ज्वरादिसे असाता ज्ञानी और अज्ञानी दोनोको होती है, तथापि ज्ञानीके लिये वह-वह प्रसंग हर्षविषादका हेतु नही होता, अथवा ज्ञानके तारतम्यमे यदि न्यूनता हो तो उससे कुछ हर्षविषाद होता है, तथापि सर्वथा अजागृतताको पाने योग्य ऐसा हर्षविषाद नहीं होता। उदयबलसे कुछ वैसा परिणाम होता है, तो भी विचारजागृतिके कारण उस उदयको क्षीण करनेके प्रति ज्ञानीपुरुषका परिणाम रहता है।

वायुकी दिशा बदल जानेसे जहाज दूसरी तरफ चलने लगता है, तथापि जहाज चलानेवाला जैसे उस जहाजको अभीष्ट मार्गकी ओर रखनेके प्रयत्नमे ही रहता है, वैसे ज्ञानीपुरुष मन, वचन आदिके योगको निजभावमे स्थिति होनेकी ओर ही लगाते है, तथापि उदयवायुयोगसे यत्किंचित् दशाफेर हो जाता है, तो भी परिणाम, प्रयत्न स्वधर्ममे रहता है।

ज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, अज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, ऐसा कुछ नियम नही है। पूर्वनिष्पन्न शुभाशुभ कर्मके अनुसार दोनोंको उदय रहता है। ज्ञानी उदयमे सम रहते है; अज्ञानी हर्षविषादको प्राप्त होता है।

जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है वहाँ तो स्त्री आदि परिग्रहका भी अप्रसंग है। उससे न्यून भूमिकाकी ज्ञान-दशामें (चौथे, पाँचवे गुणस्थानमें जहाँ उस योगका प्रसंग सम्भव है, उस दशामे) रहनेवाले ज्ञानी—सम्यग्दृष्टिको स्त्री आदि परिग्रहकी प्राप्ति होती है।

---

६०४ बंबई, जेठ सुदी १२, बुध, १९५१

ॐ

मुनिको वचनोकी पुस्तक (आपने जो पत्रादिका संग्रह लिखा है वह) पढ़नेकी इच्छा रहती है। भेजनेमें आपत्ति नहीं है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम।

---

६०५ बंबई, जेठ वदी २, १९५१

सविस्तर पत्र लिखनेका विचार था, तदनुसार प्रवृत्ति नहीं हो सकी। अभी उस तरफ कितनी स्थिरता होना सम्भव है? चौमासा कहाँ होना सम्भव है? उसे सूचित कर सकें तो सूचित कीजियेगा।

पत्रमें तीन प्रश्न लिखे थे, उनका उत्तर समागममें दिया जा सकने योग्य है। कदाचित् थोड़े समयके बाद समागमयोग होगा।

विचारवानको देह छूटने सम्बन्धी हर्षविषाद योग्य नहीं है। आत्मपरिणामकी विभावता ही हानि और वही मुख्य मरण है। स्वभावसन्मुखता तथा उसकी दृढ इच्छा भी उस हर्षविषादको दूर करती है।

---

६०६ बंबई, जेठ वदी ५, बुध, १९५१

सर्वमें समभावकी इच्छा रहती है।

[1]ए श्रीपाळनो रास करतां, ज्ञान अमृत रस वूठयो रे, मुज०

—श्री यशोविजयजी।

परम स्नेही श्री सोभाग, श्री सायला।

जो उदयके प्रसग तीव्र वैराग्यवानको शिथिल करनेमे बहुत बार फलीभूत होते है, वैसे उदयके प्रसंग देखकर चित्तमे अत्यन्त उदासीनता आती है। यह संसार किस कारणसे परिचय करने योग्य है? तथा उसकी निवृत्ति चाहनेवाले विचारवानको प्रारब्धवशात् उसका प्रसंग रहा करता हो तो उस प्रारब्धका किसी दूसरे प्रकारसे शीघ्रतासे वेदन किया जा सकता है या नहीं? उसे आप तथा श्री डुगर विचारकर लिखियेगा।

जिन तीर्थंकरने ज्ञानका फल विरति कहा है उन तीर्थंकरको अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार हो!

इच्छा न करते हुए भी जीवको भोगना पडता है, यह पूर्वकर्मके सम्बन्धको यथार्थ सिद्ध करता है। यही विनती। आ० स्व० दोनोको प्रणाम।

---

६०७ बंबई, जेठ वदी ७, १९५१

श्री मुनि,

[2]'जंगमनी जुक्ति तो सर्वे जाणीए, समीप रहे पण शरीरनो नहीं संग जो;'
'एकांते वसवु रे एक ज आसने, भूल पडे तो पडे भजनमां भंग जो;'
—ओधवजी अबळा ते साधन शु करे?

---

६०८ बंबई, जेठ वदी १०, सोम, १९५१

तथारूप गंभीर वाक्य नही है, तो भी आशय गंभीर होनेसे एक लौकिक वचनका आत्मामे अभी बहुत बार स्मरण हो आता है, वह वाक्य इस प्रकार है—[3]**'रांडी रुए, मांडी रुए, पण सात भरतारवाळी**

---

१ भावार्थ—इस श्रीपालके रासको लिखते हुए ज्ञानामृत रस बरसा है।

२. भावार्थ—जंगम अर्थात् आत्माकी सभी युक्तियाँ हम जानती है। शरीरमे रहते हुए भी उसका संग नही है, उससे भिन्न हैं। मुमुक्षु किंवा साधक एकातमें असंग होकर एक ही आसनपर स्थिर होकर रहे। यदि उस समय अन्य विचार-सकल्प-विकल्प उठ खडे हो तो भक्तिसाधनमे भग पड जाये। ओधवजी! अबला वह साधन कैसे करे?

३. राँड रोए, सुहागन रोए, परन्तु सात भर्तारवाली तो मुँह ही न खोले।

तो मोकुं ज न उघाडे ।' वाक्य गंभीर न होनेसे लिखनेकी प्रवृत्ति न होती, परन्तु आशय गंभीर होनेसे और अपने विषयमें विशेष विचारणीय दीखनेसे, आपको पत्र लिखनेका स्मरण हो आनेसे यह वाक्य लिखा है, इसपर यथाशक्ति विचार कीजियेगा। यही विनती। लि० रायचंदके प्रणाम विदित हो।

---

६०९ बंबई, जेठ, १९५१

१. सहजस्वरूपसे जीवकी स्थिति होना, इसे श्री वीतराग 'मोक्ष' कहते है।

२ जीव सहजस्वरूपसे रहित नही है, परन्तु उस सहजस्वरूपका जीवको मात्र भान नही है, जो भान होना, वही सहजस्वरूपसे स्थिति है।

३ संगके योगसे यह जीव सहजस्थितिको भूल गया है, संगकी निवृत्तिसे सहजस्वरूपका अपरोक्ष भान प्रगट होता है।

४ इसीलिये सर्व तीर्थंकरादि ज्ञानियोने असंगता ही सर्वोत्कृष्ट कही है, कि जिसमे सर्व आत्म-साधन रहे है।

५. सर्व जिनागममे कहे हुए वचन एक मात्र असंगतामे ही समा जाते है, क्योकि वह होनेके लिये ही वे सर्व वचन कहे हैं। एक परमाणुसे लेकर चौदह राजलोककी और निमेषोन्मेषसे लेकर शैलेशीअवस्था पर्यंतकी सर्व क्रियाओका जो वर्णन किया गया है, वह इसी असंगताको समझानेके लिये किया है।

६. सर्व भावसे असंगता होना, यह सबसे दुष्करसे दुष्कर साधन है, और वह निराश्रयतासे सिद्ध होना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसा विचारकर श्री तीर्थंकरने सत्संगको उसका आधार कहा है, कि जिस सत्संगके योगसे जीवको सहजस्वरूपभूत असंगता उत्पन्न होती है।

७ वह सत्संग भी जीवको कई बार प्राप्त होनेपर भी फलवान नही हुआ, ऐसा श्री वीतरागने कहा है, क्योकि उस सत्संगको पहचानकर इस जीवने उसे परम हितकारी नही समझा, परमस्नेहसे उसकी उपासना नही की, और प्राप्तका भी अप्राप्त फलवान होनेयोग्य संज्ञासे विसर्जन किया है, ऐसा कहा है। यह जो हमने कहा है उसी बातकी विचारणासे हमारे आत्मामे आत्मगुणका आविर्भाव होकर सहज समाधिपर्यंत प्राप्त हुए, ऐसे सत्संगको मै अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

८. अवश्य इस जीवको प्रथम सर्व साधनोको गौण मानकर निर्वाणके मुख्य हेतुभूत सत्संगकी ही सर्वार्पणतासे उपासना करना योग्य है; कि जिससे सर्व साधन सुलभ होते है, ऐसा हमारा आत्मसाक्षात्कार है।

९. उस सत्संगके प्राप्त होनेपर यदि इस जीवको कल्याण प्राप्त न हो तो अवश्य इस जीवका ही दोष है, क्योंकि उस सत्संगके अपूर्व, अलभ्य और अत्यंत दुर्लभ योगमे भी उसने उस सत्संगके योगके बाधक अनिष्ट कारणोका त्याग नही किया।

१०. मिथ्याग्रह, स्वच्छन्दता, प्रमाद और इन्द्रियविषयकी उपेक्षा न की हो तभी सत्संग फलवान नही होता, अथवा सत्संगमे एकनिष्ठा, अपूर्वभक्ति न की हो तो फलवान नही होता। यदि एक ऐसी अपूर्वभक्तिसे सत्संगकी उपासना की हो तो अल्पकालमे मिथ्याग्रहादिका नाश हो और अनुक्रमसे जीव सर्व दोषोसे मुक्त हो जाये।

११ सत्संगकी पहचान होना जीवको दुर्लभ है। किसी महान पुण्ययोगसे उसकी पहचान होनेपर निश्चयसे यही सत्संग, सत्पुरुष है, ऐसा साक्षीभाव उत्पन्न हुआ हो, वह जीव तो अवश्य ही प्रवृत्तिका संकोच करे; अपने दोषोंको क्षण क्षणमें, कार्य कार्यमे और प्रसंग प्रसंगमे तीक्ष्ण उपयोगसे देखे; देखकर उन्हें

परिक्षीण करे; और उस सत्संगके लिये देहत्याग करनेका योग होता हो तो उसे स्वीकार करे; परन्तु उससे किसी पदार्थमे विशेष भक्तिस्नेह होने देना योग्य नहीं है। तथा प्रमादवश रसगारव आदि दोषोंसे उस सत्संगके प्राप्त होनेपर पुरुषार्थधर्म मंद रहता है, और सत्संग फलवान नही होता, ऐसा जानकर पुरुषार्थवीर्यका गोपन करना योग्य नही है।

१२ सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहचान होनेपर भी यदि वह योग निरंतर न रहता हो तो सत्संगसे प्राप्त हुए उपदेशका ही प्रत्यक्ष सत्पुरुषके तुल्य समझकर विचार करना तथा आराधन करना कि जिस आराधनसे जीवको अपूर्व सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

१३ जीवको मुख्यसे मुख्य और अवश्यसे अवश्य यह निश्चय रखना चाहिये कि मुझे जो कुछ करना है वह आत्माके लिये कल्याणरूप हो, उसे ही करना है, और उसीके लिये इन तीन योगोंकी उदयबलसे प्रवृत्ति होती हो तो होने देना, परन्तु अन्तमे उस त्रियोगसे रहित स्थिति करनेके लिये उस प्रवृत्तिका संकोच करते करते क्षय हो जाये, यही उपाय कर्तव्य है। वह उपाय मिथ्याग्रहका त्याग, स्वच्छंदताका त्याग, प्रमाद और इन्द्रियविषयका त्याग, यह मुख्य है। उसे सत्संगके योगमे अवश्य आराधन करते ही रहना, और सत्संगकी परोक्षतामे तो अवश्य अवश्य आराधन किये ही जाना, क्योकि सत्संगके प्रसगमे तो यदि जीवकी कुछ न्यूनता हो तो उसके निवारण होनेका साधन सत्संग है, परन्तु सत्संगकी परोक्षतामें तो एक अपना आत्मबल ही साधन है। यदि वह आत्मबल सत्सगसे प्राप्त हुए बोधका अनुसरण न करे, उसका आचरण न करे, आचरणमे होनेवाले प्रमादको न छोडे, तो किसी दिन भी जीवका कल्याण न हो।

संक्षेपमे लिखे हुए ज्ञानीके मार्गके आश्रयके उपदेशक इन वाक्योंका मुमुक्षुजीवको अपने आत्मामे निरंतर परिणमन करना योग्य है, जिन्हे हमने अपने आत्मगुणका विशेष विचार करनेके लिये शब्दोंमे लिखा है।

---

६१० बंबई, आषाढ़ सुदी १, रवि, १९५१

लगभग पंद्रह दिन पहले एक और आज एक ऐसे दो पत्र मिले है। आजके पत्रसे दो प्रश्न जाने है। संक्षेपमें उनका समाधान इस प्रकार है—

(१) सत्यका ज्ञान होनेके बाद मिथ्याप्रवृत्ति दूर न हो, ऐसा नही होता। क्योंकि जितने अंशमें सत्यका ज्ञान हो उतने अंशमे मिथ्याभावप्रवृत्ति दूर हो, ऐसा जिनेद्रका निश्चय है। कभी पूर्व प्रारब्धसे बाह्य प्रवृत्तिका उदय रहता हो तो भी मिथ्या प्रवृत्तिमे तादात्म्य न हो, यह ज्ञानका लक्षण है और नित्यप्रति मिथ्या प्रवृत्ति परिक्षीण हो, यही सत्य ज्ञानकी प्रतीतिका फल है। मिथ्या प्रवृत्ति कुछ भी दूर न हो, तो सत्यका ज्ञान भी सम्भव नहीं है।

(२) देवलोकमेसे जो मनुष्यलोकमे आये, उसे अधिक लोभ होता है, इत्यादि कहा है वह सामान्यतः है, एकांत नहीं है। यही विनती।

---

६११ बम्बई, आषाढ सुदी १, रवि, १९५१

जैसे अमुक वनस्पतिकी अमुक ऋतुमे उत्पत्ति होती है, वैसे अमुक ऋतुमे विपरिणाम भी होता है। सामान्यतः आमके रस-स्पर्शका विपरिणाम आर्द्रा नक्षत्रमें होता है। आर्द्रा नक्षत्रके बाद जो आम उत्पन्न होता है उसका विपरिणामकाल आर्द्रा नक्षत्र है, ऐसा नही है। परन्तु सामान्यतः चैत्र, वैशाख आदि मासमें उत्पन्न होनेवाले आमकी आर्द्रा नक्षत्रमें विपरिणामिता सम्भव है।

आपको तथा श्री डुगरको उपर्युक्त बोलोपर यथाशक्ति विशेष विचार करना योग्य है। तत्सम्बन्धी पत्रद्वारा आपसे लिखाने योग्य लिखियेगा। अभी यहाँ उपाधिकी कुछ न्यूनता है। यही विनती।

आ० स्व० यथायोग्य।

---

६१६ बंबई, आषाढ वदी, रवि, १९५१

श्रीमद् वीतरागको नमस्कार

शुभेच्छासम्पन्न भाई अंबालाल तथा भाई त्रिभोवनके प्रति, श्री स्तम्भतीर्थ।

भाई अंबालालके लिखे चिट्ठी-पत्र तथा भाई त्रिभोवनका लिखा पत्र मिला है। अमुक आत्मदशाके कारण विशेषतः लिखना, सूचित करना नही हो पाता। जिससे किसी मुमुक्षुको होने योग्य लाभमें मेरी तरफसे जो विलम्ब होता है, उस विलम्बको निवृत्त करनेकी वृत्ति होती है, परन्तु उदयके किसी योगसे अभी तक वैसा ही व्यवहार होता है।

आषाढ वदी २ को इस क्षेत्रसे थोडे समयके लिये निवृत्त हो सकनेकी सम्भावना थी, उस समयके आसपास दूसरे कार्यका उदय प्राप्त होनेसे लगभग आषाढ वदी ३० तक स्थिरता होना सम्भव है। यहाँसे निकलकर ववाणिया जाने तक बीचमे एकाध दो दिनकी स्थिति करना चित्तमें यथायोग्य नही लगता। ववाणियामे कितने दिनकी स्थिति सम्भव है, यह अभी विचारमे नही आ सका है, परन्तु भादो सुदी दशमीके आसपास यहाँ आनेका कुछ कारण सम्भव है और इससे ऐसा लगता है कि ववाणिया श्रावण सुदी १५ तक अथवा श्रावण वदी १० तक रहना होगा। लौटते समय श्रावण वदी दशमीको ववाणियासे निकलना हो तो भादो सुदी दशमी तक बीचमे किसी निवृत्तिक्षेत्रमे रुकना बन सकता है। अभी इस सम्बन्धमे अधिक विचार करना अशक्य है।

अभी इतना विचारमे आता है कि यदि किसी निवृत्तिक्षेत्रमे रुकना हो तो भी मुमुक्षु भाइयोसे अधिक प्रसंग करनेका मुझसे होना अशक्य है, यद्यपि इस बातपर अभी विशेष विचार होना सम्भव है।

सत्समागम और सत्शास्त्रका लाभ चाहनेवाले मुमुक्षुओंको आरम्भ परिग्रह और रसस्वादादिका प्रतिबन्ध कम करना योग्य है, ऐसा श्री जिनादि महापुरुषोने कहा है। जब तक अपने दोष विचारकर उन्हे कम करनेके लिये प्रवृत्तिशील न हुआ जाये तब तक सत्पुरुषका कहा हुआ मार्ग परिणाम पाना कठिन है। इस बातपर मुमुक्षु जीवको विशेष विचार करना योग्य है।

निवृत्तिक्षेत्रमे रुकने सम्बन्धी विचारको अधिक स्पष्टतासे सूचित करना सम्भव होगा तो करूँगा। अभी यह बात मात्र प्रसंगसे आपको सूचित करनेके लिये लिखी है, जो विचार अस्पष्ट होनेसे दूसरे मुमुक्षु भाइयोंको भी बताना योग्य नही है। आपको सूचित करनेमे भी कोई राग हेतु नही है। यही विनती।

आ० स्व० यथायोग्य।

---

६१७ बंबई, आषाढ़ वदी ७, रवि, १९५१

ॐ नमो वीतरागाय

सत्संगनैष्ठिक श्री सोभाग, श्री सायला।

आपका और श्री लहेराभाईका लिखा पत्र मिला है।

इस भरतक्षेत्रमे इस कालमें केवलज्ञान सम्भव है या नहीं? इत्यादि प्रश्न लिखे थे, उसके उत्तरमें आपके तथा श्री लहेराभाईके विचार, प्राप्त पत्रसे विशेषतः जाने हैं। इन प्रश्नोंपर आपको, लहेराभाईको

तथा श्री डुगरको विशेष विचार कर्तव्य है। अन्य दर्शनमे जिस प्रकारसे केवलज्ञानादिका स्वरूप कहा है, उसमें और जैनदर्शनमे उस विषयका जो स्वरूप कहा है, उनमे कितना ही मुख्य भेद देखनेमे आता है, उन सबका विचार होकर समाधान हो तो आत्माको कल्याणके अंगभूत है, इसलिये इस विषयपर अधिक विचार हो तो अच्छा है।

'अस्ति' इस पदसे लेकर सर्व भाव आत्माके लिये विचारणीय है। उसमे जो स्वस्वरूपकी प्राप्तिका हेतु है, वह मुख्यतः विचारणीय है, और उस विचारके लिये अन्य पदार्थके विचारकी भी अपेक्षा रहती है, उसके लिये वह भी विचारणीय है।

परस्पर दर्शनोमे बडा भेद देखनेमे आता है। उन सबकी तुलना करके अमुक दर्शन सच्चा है ऐसा निर्धार सभी मुमुक्षुओंसे होना दुष्कर है, क्योंकि वह तुलना करनेकी क्षयोपशमशक्ति किसी ही जीवमे होती है। फिर एक दर्शन सर्वांशमे सत्य है और दूसरे दर्शन सर्वांशमे असत्य हैं ऐसा विचारमे सिद्ध हो, तो दूसरे दर्शनकी प्रवृत्ति करनेवालेकी दशा आदि विचारणीय है, क्योंकि जिसके वैराग्य-उपशम बलवान है, उसने सर्वथा असत्यका निरूपण क्यों किया होगा ? इत्यादि विचारणीय है। परन्तु सब जीवोसे यह विचार होना दुष्कर है। और यह विचार कार्यकारी भी है, करने योग्य है। परन्तु वह किसी माहात्म्यवानको होना योग्य है। तब बाकी जो मुमुक्षुजीव है, उन्हे इस सम्बन्धमे क्या करना योग्य है ? यह भी विचारणीय है।

सर्व प्रकारके सर्वांग समाधानके बिना सर्व कर्मसे मुक्त होना अशक्य है, यह विचार हमारे चित्तमें रहा करता है, और सर्व प्रकारका समाधान होनेके लिये अनंतकाल पुरुषार्थ करना पडता हो तो प्रायः कोई जीव मुक्त नही हो सकता। इसलिये यह मालूम होता है कि अल्पकालमे उस सर्व प्रकारके समाधानका उपाय होना योग्य है, जिससे मुमुक्षुजीवको निराशाका कारण भी नही है।

श्रावण सुदी ५-६ के बाद यहाँसे निवृत्ति हो सके ऐसा मालूम होता है, परन्तु यहाँसे जाते समय बीचमे रुकना योग्य है या नही ? यह अभी तक विचारमे नही आ सका है। कदाचित् जाते या लौटते समय बीचमे रुकना हो सके, तो वह किस क्षेत्रमे हो सके, यह अभी स्पष्ट विचारमे नही आता। जहाँ क्षेत्रस्पर्शना होगी वहाँ स्थिति होगी।

आ० स्व० प्रणाम।

---

६१८ बंबई, आषाढ वदी ११, गुरु, १९५१

परमार्थनैष्ठिकादि गुणसम्पन्न श्री सोभागके प्रति,

पत्र मिला है। केवलज्ञानादिके प्रश्नोत्तरका आपको तथा श्री डुंगर एवं लहेराभाईको यथाशक्ति विचार कर्तव्य है।

जिस विचारवान पुरुषकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप नित्य प्रति क्लेशस्वरूप भासमान होता हो, सांसारिक भोगोपभोगमे जिसे विरसता जैसा रहता हो, उस विचारवानको दूसरी तरफ लोकव्यवहारादि, व्यापारादिका उदय रहता हो, तो वह उदय प्रतिबंध इन्द्रियसुखके लिये नही परन्तु आत्महितके लिये दूर करना हो, तो दूर कर सकनेके क्या उपाय होने चाहिये ? इस सम्बन्धमे कुछ सूचित करना हो तो कीजियेगा। यही विनती।

आ० स्व० यथा०

---

६१९ बंबई, आषाढ वदी १४, रवि, १९५१

ॐ

नमो वीतरागाय

सर्व प्रतिबंधसे मुक्त हुए बिना सर्व दुःखसे मुक्त होना संभव नहीं है।

परमार्थनैष्ठिक श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

यहाँसे ववाणिया जाते हुए सायला ठहरनेके संबंधमें आपकी विशेष इच्छा मालूम हुई है, और इस विषयमे कोई भी रास्ता निकले तो ठीक, ऐसा कुछ चित्तमे रहता था, तथापि एक कारणका विचार करते हुए दूसरा कारण बाधित होता हो वहाँ क्या करना योग्य है? उसका विचार करते हुए जब कोई वैसा मार्ग देखनेमें नही आता तब जो सहजमे बन आये उसे करनेकी परिणति रहती है, अथवा आखिर कोई उपाय न चले तो बलवान कारण बाधित न हो वैस। प्रवर्तन होता है। बहुत समयके व्यावहारिक प्रसंगके कंटालेसे थोड़ा समय भी किसी तथारूप क्षेत्रमे निवृत्तिसे रहा जाये तो अच्छा, ऐसा चित्तमे रहा करता था। तथा यहाँ अधिक समय स्थिति होनेसे जो देहके जन्मके निमित्त कारण हैं, ऐसे मातापितादिके वचनके लिये, चित्तकी प्रियताके अक्षोभके लिये, तथा कुछ दूसरोके चित्तकी अनुपेक्षाके लिये भी थोडे दिनके लिये ववाणिया जानेका विचार उत्पन्न हुआ था। उन दोनो प्रकारके लिये कब योग हो तो अच्छा, ऐसा विचार करनेसे कोई यथायोग्य समाधान नही होता था। तत्सबधी विचारकी सहज हुई विशेषतासे अभी जो कुछ विचारकी अल्पता स्थिर हुई, उसे आपको सूचित किया था। सर्व प्रकारके असंगलक्ष्यके विचार-को यहाँसे अप्रसंग समझकर, दूर रखकर, अल्पकालकी अल्प असंगताका अभी कुछ विचार रखा है, वह भी सहज स्वभावसे उदयानुसार हुआ है।

उसमें किन्ही कारणोंका परस्पर विरोध न होनेके लिये इस प्रकार विचार आता है—यहाँसे श्रावण सुदीमे निवृत्ति हो तो इस बार बीचमें कही भी न ठहरकर सीधा ववाणिया जाना। वहाँसे शक्य हो तो श्रावण वदी ११ को वापिस लौटना और भादो सुदी १० के आसपास किसी निवृत्तिक्षेत्रमे स्थिति हो वैसे यथाशक्ति उदयको उपराम जैसा रखकर प्रवृत्ति करना। यद्यपि विशेष निवृत्ति, उदयका स्वरूप देखते हुए, प्राप्त होनी कठिन मालूम होती है, तो भी सामान्यतः जाना जा सके उतनी प्रवृत्तिमे न आया जाये तो अच्छा ऐसा लगता है। और इस बातपर विचार करते हुए यहाँसे जाते समय रुकनेका विचार छोड देनेसे सुलभ होगा ऐसा लगता है। एक भी प्रसगमे प्रवृत्ति करते हुए तथा लिखते हुए प्रायः जो अक्रियपरिणति रहती है, उस परिणतिके कारण अभी ठीक तरहसे सूचित नही किया जा सकता, तो भी आपकी जानकारीके लिये मुझसे यहाँ जो कुछ सूचित किया जा सका उसे सूचित किया है। यही विनती। श्री डुंगर तथा लहेराभाईको यथायोग्य। सहजात्मस्वरूप यथायोग्य।

---

६२० बंबई, आषाढ वदी ३०, सोम, १९५१

जन्मसे जिन्हे मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान थे और आत्मोपयोगी वैराग्यदशा थी, अल्प-कालमें भोगकर्म क्षीण करके संयमको ग्रहण करते हुए मन.पर्याय नामके ज्ञानको जो प्राप्त हुए थे; ऐसे श्रीमद् महावीरस्वामी भी बारह वर्ष और साढे छ मास तक मौन रहकर विचरते रहे। इस प्रकारका उनका प्रवर्तन, उस उपदेशमार्गका प्रवर्तन करते हुए किसी भी जीवको अत्यंतरूपसे विचार करके प्रवृत्ति करना योग्य है, ऐसी अखड शिक्षाका प्रतिबोध करता है। तथा जिनेंद्र जैसोने जिस प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न किया, उस प्रतिबन्धमे अजागृत रहने योग्य कोई भी जीव नही है ऐसा बताया है, तथा अनंत

आत्मार्थका उस प्रवर्तनसे बोध किया है। जिस प्रकारके प्रति विचारकी विशेष स्थिरता रहती है, रखना योग्य है।

जिस प्रकारका पूर्वप्रारब्ध भोगनेसे निवृत्त होना योग्य है, उस प्रकारका प्रारब्ध उदासीनतासे वेदन करना योग्य है, जिससे उस प्रकारके प्रति प्रवृत्ति करते हुए जो कोई प्रसग प्राप्त होता है, उस उस प्रसगमे जागृत उपयोग न हो, तो जीवको समाधिविराधना होनेमे देर नही लगती। इसलिये सर्व संगभावको मूल-रूपसे परिणामी करके भोगे बिना न छूट सके वैसे प्रसगके प्रति प्रवृत्ति होने देना योग्य है, तो भी उस प्रकारकी अपेक्षा जिससे सर्वांश असंगता उत्पन्न हो उस प्रकारका सेवन करना योग्य है।

कुछ समयसे सहजप्रवृति और उदीरणप्रवृत्ति, इस भेदसे प्रवृत्ति रहती है। मुख्यतः सहजप्रवृत्ति रहती है। सहजप्रवृत्ति अर्थात् जो प्रारब्धोदयसे उत्पन्न होती हो, परन्तु जिसमे कर्तव्य परिणाम नही है। दूसरी उदीरणप्रवृत्ति वह है जो परार्थ आदिके योगसे करनी पड़ती है। अभी दूसरी प्रवृत्ति होनेमे आत्मा संकुचित होता है, क्योंकि अपूर्व समाधियोगको उस कारणसे भी प्रतिबध होता है, ऐसा सुना था तथा जाना था, और अभी वैसा स्पष्टरूपसे वेदन किया है। उन उन कारणोसे अधिक समागममे आनेका, पत्रादिसे कुछ भी प्रश्नोत्तरादि लिखनेका तथा दूसरे प्रकारसे परमार्थ आदिके लिखने-करनेका भी मंद होनेके पर्यायका आत्मा सेवन करता है। ऐसे पर्यायका सेवन किये बिना अपूर्व समाधिकी हानिका सम्भव था। ऐसा होनेपर भी यथायोग्य मंद प्रवृत्ति नही हुई।

यहाँसे श्रावण सुदी ५-६ को निकलना संभव है, परन्तु यहाँसे जाते समय समागमका योग हो सकने योग्य नही है। और हमारे जानेके प्रसगके विषयमे अभी आपके लिये किसी दूसरेको भी बतानेका विशेष कारण नही है, क्योंकि जाते समय समागम नही करनेके सम्बन्धमे उन्हे कुछ सशय प्राप्त होनेका सम्भव हो, जो न हो तो अच्छा। यही विनती।

---

६२१ बम्बई, आषाढ़ वदी ३०, सोम, १९५१

आपके तथा दूसरे किन्ही सत्समागमकी निष्ठावाले भाइयोको हमारे समागमकी अभिलाषा रहती है, यह बात ध्यानमे है, परन्तु अमुक कारणोसे इस विषयका विचार करते हुए प्रवृत्ति नही होती, जिन कारणोको बताते हुए भी चित्तको क्षोभ होता है। यद्यपि उस विषयमे कुछ भी स्पष्टतासे लिखना बन पाया हो तो पत्र तथा समागमादिकी प्रतीक्षा करानेकी और उसमे अनिश्चितता होती रहनेसे हमारी आरसे जो कुछ क्लेश प्राप्त होने देनेका होता है उसके होनेका सम्भव कम हो, परन्तु उस सम्बन्धमे स्पष्टतासे लिखते हुए भी चित्त उपशांत हुआ करता है, इसलिये जो कुछ सहजमे हो उसे होने देना योग्य भासित होता है।

ववाणियासे लौटते समय प्राय समागमका योग होगा। प्रायः चित्तमे ऐसा रहा करता है कि अभी अधिक समागम भी कर सकने योग्य दशा नही है। प्रथमसे इस प्रकारका विचार रहा करता था, और वह विचार अधिक श्रेयस्कर लगता था; परन्तु उदयवशात् कितने ही भाइयोंका समागम होनेका प्रसंग हुआ; जिसे एक प्रकारसे प्रतिबन्ध होने जैसा समझा था, और अभी कुछ भी वैसा हुआ है, ऐसा लगता है। वर्तमान आत्मदशा देखते हुए उतना प्रतिबन्ध होने देने योग्य अधिकार मुझे सम्भव नही है। यहाँ कुछ प्रसंगसे स्पष्टार्थ बताना योग्य है।

इस आत्मामे गुणकी विशेष अभिव्यक्ति जानकर आप इत्यादि किन्हीं मुमुक्षुभाइयोंको भक्ति रहती हो तो भी उससे उस भक्तिकी योग्यता मुझमे सम्भव है ऐसा समझनेकी मेरी योग्यता नही है; क्योंकि बहुत विचार करते हुए वर्तमानमे तो वैसा सम्भव रहता है, और उस कारणसे समागमसे कुछ समय दूर रहने-का चित्त रहा करता है, तथा पत्रादि द्वारा प्रतिबन्धकी भी अनिच्छा रहा करती है। इस बातपर यथा-

शक्ति विचार करना योग्य है। प्रश्न-समाधानादि लिखनेका उदय भी अल्प रहनेसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा व्यापाररूप उदयका वेदन करनेमे विशेष ध्यान रखनेसे भी उसका इस कालमे बहुत भार कम हो सके, ऐसे विचारसे भी दूसरे प्रकार उसके साथ आते जानकर भी मंद प्रवृत्ति होती है। पूर्वकथितके अनुसार लौटते समय प्राय समागम होनेका ध्यान रखूंगा।

एक विनती यहाँ करने योग्य है कि इस आत्मामे आपको गुणाभिव्यक्ति भासमान होती हो, और उससे अतरमे भक्ति रहती हो तो उस भक्तिका यथायोग्य विचारकर जैसे आपको योग्य लगे वैसे करने योग्य है, परन्तु इस आत्माके सम्बन्धमे अभी बाहर किसी प्रसगकी चर्चा होने देना योग्य नही है; क्योकि अविरतिरूप उदय होनेसे गुणाभिव्यक्ति हो तो भी लोगोको भासमान होना कठिन पड़े; और उससे विराधना होनेका कुछ भी हेतु हो जाय; तथा पूर्व महापुरुषके अनुक्रमका खण्डन करने जैसा प्रवर्तन इस आत्मासे कुछ भी हुआ समझा जाय।

इस पत्रपर यथाशक्ति विचार कीजियेगा और आपके समागमवासी जो कोई मुमुक्षुभाई हों, उनका अभी नही, प्रसग प्रसगसे अर्थात् जिस समय उन्हे उपकारक हो सके वैसा सम्भव हो तब इस बातकी ओर ध्यान खीचियेगा। यही विनती।

---

६२२ बम्बई, आषाढ वदी ३०, १९५१

'अनतानुबंधी' का जो [1]दूसरा प्रकार लिखा है, तत्सम्बन्धी विशेषार्थ निम्नलिखितसे जानियेगा :–

उदयसे अथवा उदासभावसयुक्त मंदपरिणतबुद्धिसे भोगादिमें प्रवृत्ति हो, तब तक ज्ञानीकी आज्ञाको ठुकराकर प्रवृत्ति हुई ऐसा नही कहा जा सकता; परन्तु जहाँ भोगादिमे तीव्र तन्मयतासे प्रवृत्ति हो वहाँ ज्ञानीकी आज्ञाकी कोई अंकुशताका सम्भव नही है, निर्भयतासे भोगप्रवृत्ति सम्भवित है, जो निध्वंस परिणाम कहे है। वैसे परिणाम रहे, वहाँ भी 'अनंतानुबंधी' सम्भवित है। तथा 'मै समझता हूँ', 'मुझे बाधा नही है', ऐसीकी ऐसी भ्रातिमे रहे और 'भोगसे निवृत्ति करना योग्य है' और फिर कुछ भी पुरुषार्थ करे तो वैसा हो सकने योग्य होनेपर भी मिथ्याज्ञानसे ज्ञानदशा मानकर भोगादिमे प्रवृत्ति करे, वहाँ भी 'अनंतानुबंधी' सम्भवित है।

जाग्रत अवस्थामे ज्यो ज्यो उपयोगकी शुद्धता हो त्यो त्यो स्वप्नदशाकी परिक्षीणता सम्भव है।

---

६२३ बम्बई, श्रावण सुदी २, बुध, १९५१

आज चिट्ठी मिली है। ववाणिया जाते हुए तथा वहाँसे लौटते हुए सायला होकर जानेके बारेमे विशेषतासे लिखा है, इस विषयमे क्या लिखना? उसका विचार एकदम स्पष्ट निश्चयमे नही आ सका है, तो भी स्पष्टास्पष्ट जो कुछ यह पत्र लिखते समय ध्यानमे आया वह लिखा है।

आपकी आजकी चिट्ठीमे हमारे लिखे हुए जिस पत्रकी आपने पहुँच लिखी है, उस पत्रपर अधिक विचार करना योग्य था, और ऐसा लगता था कि आप उसपर विचार करेंगे तो सायला आनेके सम्बन्धमे अभी हमारी इच्छानुसार रखेंगे। परन्तु आपके चित्तमे यह विचार विशेषतः आनेसे पहले यह चिट्ठी लिखी गयी है। फिर आपके चित्तमे जाते समय समागमकी विशेष इच्छा रहती है, तो उस इच्छाकी उपेक्षा करनेकी मेरी योग्यता नही है। ऐसे किसी प्रकारमे आपकी आसातना जैसा हो जाय, यह डर रहता है। अभी आपकी इच्छानुसार समागमके लिये आप, श्री डुगर तथा श्री लहेराभाईका आनेका विचार हो

1. देखें आक ६१३

तो एक दिन मूळी रुकूँगा। और दूसरे दिन कहेंगे तो मूळीसे जानेका विचार करूँगा। लौटते समय सायला रुकना या नहीं ? इसका उस समागममें आपको इच्छानुसार विचार करूँगा।

मूळी एक दिन रुकनेका विचार यदि रखते है तो सायला एक दिन रुकनेमे आपत्ति नही है, ऐसा आप न कहियेगा क्योंकि ऐसा करनेसे अनेक प्रकारके अनुक्रमोका भंग होना सम्भव है। यही विनती।

---

६२४ बंबई, श्रावण सुदी ३, गुरु, १९५१

किसी दशाभेदसे अमुक प्रतिबन्ध करनेकी मेरी योग्यता नही है।

दो पत्र प्राप्त हुए हैं। इस प्रसंगमे समागम सम्बन्धी प्रवृत्ति हो सकना योग्य नही है।

---

६२५ ववाणिया, श्रावण सुदी १०, १९५१

ॐ

जो पर्याय है वह पदार्थका विशेष स्वरूप है, इसलिये मन पर्यायज्ञानको भी पर्यायार्थिक ज्ञान समझकर उसे विशेष ज्ञानोपयोगमे गिना है; उसका सामान्य ग्रहणरूप विषय भासित न होनेसे दर्शनोपयोगमे नही गिना है, ऐसा सोमवारको दोपहरके समय कहा था, तदनुसार जैनदर्शनका अभिप्राय भी आज देखा है। यह बात अधिक स्पष्ट लिखनेसे समझमे आ सकने जैसी है, क्योकि उसे बहुतसे दृष्टातोंकी सहचारिता आवश्यक है, तथापि यहाँ तो वैसा होना अशक्य है।

मनःपर्याय सम्बन्धी लिखा है वह प्रसंग, चर्चा करनेकी निष्ठासे नही लिखा है।

सोमवारकी रातको लगभग ग्यारह बजेके बाद जो मुझसे वचनयोगकी अभिव्यक्ति हुई थी उसकी स्मृति रही हो तो यथाशक्ति लिखा जा सके तो लिखियेगा।

---

६२६ ववाणिया, श्रावण सुदी १२, शुक्र, १९५१

'निमित्तवासी यह जीव है', ऐसा एक सामान्य वचन है। वह संगप्रसंगसे होती हुई जीवकी परिणतिको देखते हुए प्राय· सिद्धान्तरूप लग सकता है। सहजात्मस्वरूपसे यथा०

---

६२७ ववाणिया, श्रावण सुदी १५, सोम, १९५१

आत्मार्थके लिये विचारमार्ग और भक्तिमार्गका आराधन करना योग्य है, परन्तु जिसकी सामर्थ्य विचारमार्गके योग्य नही है उसे उस मार्गका उपदेश देना योग्य नहीं है, इत्यादि जो लिखा है वह योग्य है, तो भी इस विषयमे किञ्चित् मात्र लिखना अभी चित्तमे नही आ सकता।

श्री डुगरने केवलदर्शनके सम्बन्धमे कही हुई आशका लिखी है, उसे पढ़ा है। दूसरे अनेक प्रकार समझमे आनेके पश्चात् उस प्रकारकी आशंका निवृत्त होती है, अथवा वह प्रकार प्रायः समझने योग्य होता है। ऐसी आशंका अभी मन्द अथवा उपशान्त करके विशेष निकट ऐसे आत्मार्थका विचार करना योग्य है।

---

६२८ ववाणिया, श्रावण वदी ६, रवि, १९५१

ॐ

यहाँ पर्युषण पूरे होने तक स्थिति होना सम्भव है।

केवलज्ञानादि इस कालमे हो इत्यादि प्रश्न पहले लिखे थे, उन प्रश्नोपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा तथा परस्पर प्रश्नोत्तर श्री डुंगर आदिको करना योग्य है।

गुणके समुदायसे भिन्न ऐसा कुछ गुणीका स्वरूप होना योग्य है क्या ? इस प्रश्नका आप सब यदि विचार कर सकें तो कीजियेगा। श्री डुंगरको तो जरूर विचार करना योग्य है।

कुछ उपाधियोगके व्यवसायसे तथा प्रश्नादि लिखने इत्यादिकी वृत्ति मन्द होनेसे अभी सविस्तर पत्र लिखनेमें कम प्रवृत्ति होती होगी, तो भी हो सके तो यहाँ स्थिति है तब तकमे कुछ विशेष प्रश्नोत्तर इत्यादिसे युक्त पत्र लिखनेका हो तो लिखियेगा।

सहजात्मभावनासे यथा०

---

६२९ ववाणिया, श्रावण वदी ११, शुक्र, १९५१

आत्मार्थी श्री सोभाग तथा श्री डुंगर, श्री सायला।

यहाँसे प्रसंगोपात्त लिखे हुए जो चार प्रश्नोके उत्तर लिखे उसे पढा है। प्रथमके दो प्रश्नोका उत्तर संक्षेपमें है, तथापि यथायोग्य है। तीसरे प्रश्नका उत्तर सामान्यतः ठीक है, तथापि विशेष सूक्ष्म आलोचनसे उस प्रश्नका उत्तर लिखने योग्य है। वह तीसरा प्रश्न इस प्रकार है—'गुणके समुदायसे भिन्न गुणीका स्वरूप होना योग्य है क्या ? अर्थात् सभी गुणोंका समुदाय वही गुणी अर्थात् द्रव्य ? अथवा उस गुणके समुदायके आधारभूत ऐसे भी किसी दूसरे द्रव्यका अस्तित्व है ?' उसके उत्तरमे ऐसा लिखा कि—'आत्मा गुणी है। उसके गुण ज्ञानदर्शन आदि भिन्न है। यो गुणी और गुणकी विवक्षा की है, तथापि वहाँ विशेष विवक्षा करना योग्य है। ज्ञानदर्शन आदि गुणसे भिन्न ऐसा बाकीका आत्मत्व क्या है ?' यह प्रश्न है। इसलिये यथाशक्ति इस प्रश्नका परिशीलन करना योग्य है।

चौथा प्रश्न 'केवलज्ञान इस कालमे होने योग्य है क्या ?' उसका उत्तर ऐसा लिखा कि—'प्रमाणसे देखते हुए वह होने योग्य है।' यह उत्तर भी संक्षेपमे है, जिसका बहुत विचार करना योग्य है। इस चौथे प्रश्नका विशेष विचार करनेके लिये उसमे इतना विशेष ग्रहण कीजियेगा कि—'जिस प्रकारसे जैनागममे केवलज्ञान माना है, अथवा कहा है, वह केवलज्ञानका स्वरूप यथातथ्य कहा है ऐसा भासमान होता है या नही ? और वैसा केवलज्ञानका स्वरूप हो ऐसा भासमान होता हो तो वह स्वरूप इस कालमे भी प्रगट होने योग्य है या नही ? किंवा जो जैनागम कहता है उसके कहनेका हेतु कुछ भिन्न है, और केवलज्ञानका स्वरूप किसी दूसरे प्रकारसे कहने योग्य है तथा समझने योग्य है ?' इस बातपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा करना योग्य है। तथा तीसरा प्रश्न है वह भी अनेक प्रकारसे विचारणीय है। विशेष अनुप्रेक्षा करके, इन दोनों प्रश्नोका उत्तर लिख सकें तो लिखियेगा। प्रथमके दो प्रश्न हैं, उनके उत्तर सक्षेपमे लिखे है, वे विशेषतासे लिखे जा सके तो वे भी लिखियेगा। आपने पाँच प्रश्न लिखे है। उनमेसे तीन प्रश्नोके उत्तर यहाँ संक्षेपमे लिखे है—

प्रथम प्रश्न—'जातिस्मरणज्ञानवाला पिछला भव किस तरह देखता है ?' उसके उत्तरका विचार इस प्रकार कीजियेगा—

बचपनमे कोई गाँव, वस्तु आदि देखे हो, और बडे होनेपर किसी प्रसंगपर उस गाँव आदिका आत्मामे स्मरण होता है, उस वक्त उस गाँव आदिका आत्मामे जिस प्रकार भान होता है, उस प्रकार जातिस्मरणज्ञानवालेको पूर्वभवका भान होता है। कदाचित् यहाँ यह प्रश्न होगा कि, 'पूर्वभवमे अनुभव किये हुए देहादिका इस भवमे ऊपर कहे अनुसार भान हो, इस बालको यथातथ्य मानें तो भी पूर्वभवमें अनुभव किये हुए देहादि अथवा कोई देवलोकादि निवासस्थानके जो अनुभव किये हो, उन अनुभवोकी स्मृति हुई है, और वे अनुभव यथातथ्य हुए हैं, ऐसा किस आधारसे समझा जाय ?' तो इस प्रश्नका समा-

भान इस प्रकार है—अमुक अमुक चेष्टा और लिंग तथा परिणाम आदिसे अपनेको उसका स्पष्ट भान होता है, परन्तु किसी दूसरे जीवको उसकी प्रतीति हो ऐसा तो कोई नियम नही है। क्वचित् अमुक देशमे, अमुक गाँवमे, अमुक घरमें, पूर्वकालमे देह धारण किया हो, और उसके चिह्न दूसरे जीवको बतानेसे उस देशादिकी अथवा उसके निशानादिकी कुछ भी विद्यमानता हो तो दूसरे जीवको भी प्रतीतिका हेतु होना सम्भव है; अथवा जातिस्मरणज्ञानवालेकी अपेक्षा जिसका विशेष ज्ञान है, वह जाने। तथा जिसे 'जातिस्मरणज्ञान' है, उसकी प्रकृति आदिको जाननेवाला कोई विचारवान पुरुष भी जाने कि इस पुरुषको वैसे किसी ज्ञानका सम्भव है, अथवा 'जातिस्मृति' होना सम्भव है, अथवा जिसे 'जातिस्मृतिज्ञान' है, उस पुरुषके सम्बन्धमे कोई जीव पूर्वभवमे आया है, विशेषतः आया है उसे उस सम्बन्धके बतानेसे कुछ भी स्मृति हो तो वैसे जीवको भी प्रतीति आये।

दूसरा प्रश्न—'जीव प्रति समय मरता है, इसे किस तरह समझना?' इसका उत्तर इस प्रकार विचारियेगा—

जिस प्रकार आत्माको स्थूल देहका वियोग होता है, उसे मरण कहा जाता है, उस प्रकार स्थूल देहके आयु आदि सूक्ष्मपर्यायका भी प्रति समय हानिपरिणाम होनेसे वियोग हो रहा है, इसलिये उसे प्रति समय मरण कहना योग्य है। यह मरण व्यवहारनयसे कहा जाता है, निश्चयनयसे तो आत्माके स्वाभाविक ज्ञानदर्शनादि गुणपर्यायकी, विभावपरिणामके योगके कारण हानि हुआ करती है, और वह हानि आत्माके नित्यतादि स्वरूपको भी आवरण करती रहती है, यह प्रति समय मरण है।

तीसरा प्रश्न—'केवलज्ञानदर्शनमे भूत और भविष्यकालके पदार्थ वर्तमानकालमें वर्तमानरूपसे दिखायी देते है, वैसे ही दिखायी देते हैं या दूसरी तरह?' इसका उत्तर इस प्रकार विचारियेगा—

वर्तमानमे वर्तमान पदार्थ जिस प्रकार दिखायी देते हैं, उसी प्रकार भूतकालके पदार्थ भूतकालमे जिस स्वरूपसे थे उस स्वरूपसे वर्तमानकालमे दिखायी देते है, और भविष्यकालमे वे पदार्थ जिस स्वरूपको प्राप्त करेंगे उस स्वरूपसे वर्तमानकालमे दिखायी देते हैं। भूतकालमे पदार्थने जिन जिन पर्यायोंको अपनाया है, वे कारणरूपसे वर्तमानमे पदार्थमे निहित हैं और भविष्यकालमे जिन जिन पर्यायोको अपनायेगा उनकी योग्यता वर्तमानमे पदार्थमे विद्यमान है। उस कारण और योग्यताका ज्ञान वर्तमानकालमे भी केवलज्ञानीको यथार्थ स्वरूपसे हो सकता है। यद्यपि इस प्रश्नके विषयमे बहुतसे विचार बताना योग्य है।

---

६३० ववाणिया, श्रावण वदी १२, शनि, १९५१

गत शनिवारको लिखा हुआ पत्र मिला है। उस पत्रमे मुख्यत. तीन प्रश्न लिखे हैं। उनके उत्तर निम्नलिखित है, जिन्हे विचारियेगा :—

प्रथम प्रश्नमे ऐसा बताया है कि 'एक मनुष्यप्राणी दिनके समय आत्माके गुण द्वारा अमुक हद तक देख सकता है; और रात्रिके समय अंधेरेमे कुछ नही देखता, फिर दूसरे दिन पुनः देखता है और फिर रात्रिको अंधेरेमे कुछ नही देखता। इससे एक अहोरात्रमे चालू इस प्रकारसे आत्माके गुणपर, अध्यवसायके बदले बिना, क्या न देखनेका आवरण आ जाता होगा? अथवा देखना यह आत्माका गुण नही परन्तु सूरज द्वारा दिखायी देता है, इसलिये सूरजका गुण होनेसे उसकी अनुपस्थितिमे दिखायी नही देता? और फिर इसी तरह सुननेके दृष्टांतमे कान आड़ा रखनेसे सुनायी नही देता, तब आत्माका गुण क्यो भुला दिया जाता है?' इसका संक्षेपमे उत्तर—

ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मका अमुक क्षयोपशम होनेसे इंद्रियलब्धि उत्पन्न होती है। वह इंद्रियलब्धि सामान्यतः पाँच प्रकारकी कही जा सकती है। स्पर्शेंद्रियसे श्रवणेंद्रिय पर्यन्त सामान्यतः मनुष्यप्राणीको पाँच इद्रियोकी लब्धिका क्षयोपशम होता है। उस क्षयोपशमकी शक्तिकी अमुक व्याहति होने तक जान-देख सकती है। देखना यह चक्षुरिंद्रियका गुण है, तथापि अंधकारसे अथवा वस्तु अमुक दूर होनेसे उसे पदार्थ देखनेमे नही आ सकता, क्योकि चक्षुरिंद्रियकी क्षयोपशमलब्धि उस हद तक रुक जाती है, अर्थात् क्षयोपशमकी सामान्यतः इतनी शक्ति है। दिनमें भी विशेष अधकार हो अथवा कोई वस्तु बहुत अधेरेमे पडी हो अथवा अमुक हदसे दूर हो तो चक्षुसे दिखायी नही दे सकती। इसी तरह दूसरी इंद्रियोंकी लब्धिसम्बन्धी क्षयोपशमशक्ति तक उसके विषयमे ज्ञानदर्शनकी प्रवृत्ति है। अमुक व्याघात तक वह स्पर्श कर सकती है, अथवा सूँघ सकती है, स्वाद पहचान सकती है, अथवा सुन सकती है।

दूसरे प्रश्नमे ऐसा बताया है कि 'आत्माके असंख्यात प्रदेश सारे शरीरमें व्यापक होनेपर भी, आँखके बीचके भागकी पुतलीसे ही देखा जा सकता है, इसी तरह सारे शरीरमे असख्यात प्रदेश व्यापक होनेपर भी एक छोटेसे कानसे सुना जा सकता है, दूसरे स्थानसे सुना नही जा सकता। अमुक स्थानसे गन्धकी परीक्षा होती है, अमुक स्थानसे रसकी परीक्षा होती है; जैसे कि शक्करका स्वाद हाथ-पैर नहीं जानते, परन्तु जिह्वा जानती है। आत्मा सारे शरीरमे समानरूपसे व्यापक होनेपर भी अमुक भागसे ही ज्ञान होता है, इसका कारण क्या होगा ?' इसका संक्षेपमे उत्तर :—

जीवको ज्ञान, दर्शन क्षायिकभावसे प्रगट हुए हों तो सर्व प्रदेशसे तथाप्रकारकी उसे निरावरणता होनेसे एक समयमे सर्व प्रकारसे सर्व भावकी ज्ञायकता होती है, परन्तु जहाँ क्षयोपशम भावसे ज्ञानदर्शन रहते है, वहाँ भिन्न भिन्न प्रकारसे अमुक मर्यादामे ज्ञायकता होती है। जिस जीवको अत्यन्त अल्प ज्ञानदर्शनकी क्षयोपशमशक्ति रहती है, उस जीवको अक्षरके अनतवें भाग जितनी ज्ञायकता होती है। उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्शेंद्रियकी लब्धि कुछ विशेष व्यक्त (प्रगट) होती है, उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्श और रसेंद्रियकी लब्धि उत्पन्न होती है, इस तरह विशेषतासे उत्तरोत्तर स्पर्श, रस, गध और वर्ण तथा शब्दको ग्रहण करने योग्य पचेन्द्रिय सम्बन्धी क्षयोपशम होता है। तथापि क्षयोपशमदशामें गुणकी समविषमता होनेसे सर्वाङ्गसे पचेन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान और दर्शन नही होते, क्योंकि शक्तिका वैसा तारतम्य (सत्त्व) नही है कि वह पाँचो विषय सर्वाङ्गसे ग्रहण करे। यद्यपि अवधि आदि ज्ञानमे वैसा होता है, परन्तु यहाँ तो सामान्य क्षयोपशम, और वह भी इन्द्रिय सापेक्ष क्षयोपशमका प्रसंग है। अमुक नियत प्रदेशमे ही उस इन्द्रियलब्धिका परिणाम होता है, इसका हेतु क्षयोपशम तथा प्राप्त हुई योनिका सम्बन्ध है कि नियत प्रदेशमें (अमुक मर्यादा-भागमे) अमुक अमुक विषयका जीवको ग्रहण हो।

तीसरे प्रश्नमे ऐसा बताया है कि, 'शरीरके अमुक भागमे पीड़ा होती है, तब जीव वहीं संलग्न हो जाता है, इससे जिस भागमें पीडा है उस भागको पीड़ाका वेदन करनेके लिये समस्त प्रदेश उस तरफ खिंच आते होगे ? जगतमे कहावत है कि जहाँ पीड़ा हो, वही जीव संलग्न रहता है।' इसका संक्षेपमें उत्तर :—

उस वेदनाके वेदन करनेमे बहुतसे प्रसंगोंमे विशेष उपयोग रुकता है और दूसरे प्रदेशोंका उस ओर बहुतसे प्रसंगोंमे सहज आकर्षण भी होता है। किसी प्रसंगमें वेदनाका बाहुल्य हो तो सर्व प्रदेश मूर्च्छागत स्थिति भी प्राप्त करते हैं; और किसी प्रसंगमें वेदना या भयके बाहुल्यके कारण सर्व प्रदेश अर्थात् आत्माकी दशमद्वार आदि एक स्थानमे स्थिति होती है। ऐसा होनेका हेतु भी अव्याबाध नामके जीवस्वभावके तथाप्रकारसे परिणामी न होनेसे, उस वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी समविषमता होती है।

ऐसे प्रश्न बहुतसे मुमुक्षुजीवोंको विचारकी परिशुद्धिके लिये कर्तव्य है। और वैसे प्रश्नोंका समाधान बतानेकी चित्तमें क्वचित् सहज इच्छा भी रहती है, तथापि लिखनेमे विशेष उपयोग रोक सकनेका काम बड़ी मुश्किलसे होता है। और इसलिये कभी लिखना होता है और कभी लिखना नहीं हो पाता, अथवा नियमित उत्तर लिखना नहीं हो सकता। प्रायः अमुक काल तक तो अभी तो तथाप्रकारसे रहना योग्य है; तो भी प्रश्नादि लिखनेमे आपको प्रतिबन्ध नही है।

---

६३१ ववाणिया, श्रावण वदी १४, सोम, १९५१

प्रथम पदमें ऐसा कहा है कि 'हे मुमुक्षु! एक आत्माको जाननेसे तू समस्त लोकालोकको जानेगा, और सब जाननेका फल भी एक आत्मप्राप्ति ही है, इसलिये आत्मासे भिन्न अन्य भावोंको जाननेकी वारंवारकी इच्छासे तू निवृत्त हो और एक निजस्वरूपमे दृष्टि दे, कि जिस दृष्टिसे समस्त सृष्टि ज्ञेयरूपसे तुझमे दिखायी देगी। तत्त्वस्वरूप सत्शास्त्रमे कहे हुए मार्गका भी यह तत्त्व है, ऐसा तत्त्वज्ञानियोंने कहा है, तथापि उपयोगपूर्वक उसे समझना दुष्कर है। यह मार्ग भिन्न है, और उसका स्वरूप भी भिन्न है, जैसा मात्र कथनज्ञानी कहते है, वैसा नही है, इसलिये जगह जगह जाकर क्यो पूछता है? क्योंकि उस अपूर्वभावका अर्थ जगह जगहसे प्राप्त होने योग्य नही है।'

दूसरे पदका संक्षेप अर्थ :—'हे मुमुक्षु! यमनियमादि जो साधन सब शास्त्रोंमे कहे हैं वे उपर्युक्त अर्थसे निष्फल ठहरेंगे, ऐसा भी नही है, क्योकि वे भी कारणके लिये है; वह कारण इस प्रकार है— आत्मज्ञान रह सके ऐसी पात्रता प्राप्त होनेके लिये तथा उसमें स्थिति हो वैसी योग्यता आनेके लिये इन कारणोका उपदेश किया है। इसलिये तत्त्वज्ञानियोने ऐसे हेतुसे ये साधन कहे है, परन्तु जीवकी समझमें नितान्त फेर होनेसे उन साधनोमे ही अटका रहा अथवा वे साधन भी अभिनिवेश परिणामसे अपनाये। जिस प्रकार उँगलीसे बालकको चाँद दिखाया जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानियोने यह तत्त्वका तत्त्व कहा है।'

---

६३२ ववाणिया, श्रावण वदी १४, सोम, १९५१

'बाल्यावस्थाकी अपेक्षा युवावस्थामे इन्द्रियविकार विशेषरूपसे उत्पन्न होता है, उसका क्या कारण होना चाहिये?' ऐसा जो लिखा उसके लिये संक्षेपमे इस प्रकार विचारणीय है :—

ज्यो ज्यो क्रमसे अवस्था बढ़ती है त्यो त्यो इन्द्रियबल बढता है, तथा उस बलको विकारके हेतुभूत निमित्त मिलते हैं, और पूर्वभवके वैसे विकारके संस्कार रहते आये हैं, इसलिये वह निमित्त आदि योग पाकर विशेष परिणामको प्राप्त होता है। जैसे बीज है वह तथारूप कारण पाकर क्रमसे वृक्षाकारमे परिणमित होता है वैसे पूर्वके बीजभूत संस्कार क्रमसे विशेषाकारमे परिणमित होते हैं।

---

६३३ ववाणिया, श्रावण वदी १४, सोम, १९५१

आत्मार्थ-इच्छायोग्य श्री लल्लुजीके प्रति, श्री सूर्यपुर।

आपके लिखे हुए दो पत्र तथा श्री देवकरणजीका लिखा हुआ एक पत्र, ये तीन पत्र मिले हैं। आत्मसाधनके लिये क्या कर्तव्य है, इस विषयमें श्री देवकरणजीको यथाशक्ति विचार करना योग्य है। इस प्रश्नका समाधान हमारेसे जाननेके लिये उनके चित्तमे विशेष अभिलाषा रहती हो तो किसी समागमके प्रसंगपर यह प्रश्न करना योग्य है, ऐसा उन्हे कहियेगा।

इस प्रश्नका समाधान पत्र द्वारा बताना क्वचित् हो सके। तथापि लिखनेमें अभी विशेष उपयोगकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा श्री देवकरणजीको भी अभी इस विषयमे यथाशक्ति विचार करना चाहिये।

सहजस्वरूपसे यथायोग्य।

---

६३४ ववाणिया, भादों सुदी ७, मंगल, १९५१

आज दिन तक अर्थात् संवत्सरी तक आपके प्रति मन, वचन और कायाके योगसे मुझसे जाने-अनजाने कुछ अपराध हुआ हो उसके लिये शुद्ध अंतःकरणपूर्वक लघुताभावसे क्षमा माँगता हूँ। इसी प्रकार अपनी बहनको भी खमाता हूँ। यहाँसे इस रविवारको विदाय होनेका विचार है।

लि० रायचंदके यथा०

---

६३५ ववाणिया, भादों सुदी ७, मंगल, १९५१

संवत्सरी तक तथा आज दिन तक आपके प्रति मन, वचन और कायाके योगसे जो कुछ जाने अनजाने अपराध हुआ हो उसके लिये सर्व भावसे क्षमा माँगता हूँ। तथा आपके सत्समागमवासी सब भाइयों तथा बहनोंसे क्षमा माँगता हूँ।

यहाँसे प्रायः रविवारको जाना होगा ऐसा लगता है। मोरबीमे सुदी १५ तक स्थिति होना सम्भव है। उसके बाद किसी निवृत्तिक्षेत्रमें लगभग पन्द्रह दिनकी स्थिति हो तो करनेके लिये चित्तकी सहजवृत्ति रहती है।

कोई निवृत्तिक्षेत्र ध्यानमें हो तो लिखियेगा।

आ० सहजात्मस्वरूप।

---

६३६ ववाणिया, भादो सुदी ९, गुरु, १९५१

निमित्तसे जिसे हर्ष होता है, निमित्तसे जिसे शोक होता है, निमित्तसे जिसे इंद्रियजन्य विषयके प्रति आकर्षण होता है, निमित्तसे जिसे इन्द्रियके प्रतिकूल प्रकारोमें द्वेष होता है, निमित्तसे जिसे उत्कर्ष आता है, निमित्तसे जिसे कषाय उत्पन्न होता है, ऐसे जीवको यथाशक्ति उन निमित्तवासी जीवोंका संग छोड़ना योग्य है, और नित्य प्रति सत्संग करना योग्य है।

सत्संगके अयोगमें तथाप्रकारके निमित्तसे दूर रहना योग्य है। क्षण क्षणमें, प्रसंग प्रसंगपर और निमित्त निमित्तमें स्वदशाके प्रति उपयोग देना योग्य है।

आपका पत्र मिला है। आज तक सर्व भावसे क्षमा माँगता हूँ।

---

६३७ ववाणिया, भादों सुदी ९, गुरु, १९५१

आज दिन तक सर्व भावसे क्षमा माँगता हूँ।

नीचे लिखे वाक्य तथारूप प्रसंगपर विस्तारसे समझने योग्य हैं।

'अनुभवप्रकाश' ग्रन्थमेंसे श्री प्रह्लादजीके प्रति सद्गुरुदेवका कहा हुआ जो उपदेशप्रसंग लिखा, वह वास्तविक है। तथारूपसे निर्विकल्प और अखंड स्वरूपमे अभिन्नज्ञानके सिवाय अन्य कोई सर्व दुःख मिटानेका उपाय ज्ञानीपुरुषोने नही जाना है। यही विनती।

---

६३८ राणपुर (हडमतिया), भादों वदी १३, १९५१

दो पत्र मिले थे। कल यहाँ अर्थात् राणपुरके समीपके गाँवमें आना हुआ है।

अंतिम पत्रमे प्रश्न लिखे थे, वह पत्र कहीं गुम हुआ मालूम होता है। संक्षेपमे निम्नलिखित उत्तरका विचार कीजियेगा—

(१) धर्म, अधर्म द्रव्य स्वभावपरिणामी होनेसे निष्क्रिय कहे हैं। परमार्थनयसे ये द्रव्य भी सक्रिय हैं। व्यवहारनयसे परमाणु, पुद्गल और संसारी जीव सक्रिय हैं, क्योकि वे अन्योन्य ग्रहण, त्याग आदिसे एक परिणामवत् सम्बन्ध पाते हैं। सड़ना यावत् ...विध्वंस पाना यह पुद्गलपरमाणुका धर्म कहा है।

परमार्थसे शुभ वर्णादिका पलटना और स्कंधका मिलकर बिखर जाना कहा है.... [पत्र खंडित]

---

६३९ राणपुर, आसोज सुदी २, शुक्र, १९५१

हो सके तो जहाँ आत्मार्थकी कुछ भी चर्चा होती हो वहाँ जाने-आनेका और श्रवण आदिका प्रसंग करना योग्य है। चाहे तो जैनके सिवाय दूसरे दर्शनकी व्याख्या होती हो तो उसे भी विचारार्थ श्रवण करना योग्य है।

---

६४० बम्बई, आसोज सुदी ११, १९५१

आज सुबह यहाँ कुशलतासे आना हुआ है।

वेदान्त कहता है कि आत्मा असंग है, जिनेन्द्र भी कहते हैं कि परमार्थनयसे आत्मा वैसा ही है। इसी असंगताका सिद्ध होना, परिणत होना—यह मोक्ष है। स्वतः वैसी असंगता सिद्ध होना प्रायः असंभवित है, और इसीलिये ज्ञानीपुरुषोने, जिसे सर्व दुःख क्षय करनेकी इच्छा है उस मुमुक्षुको सत्संगकी नित्य उपासना करनी चाहिये, ऐसा जो कहा है वह अत्यन्त सत्य है।

हमारे प्रति अनुकंपा रखियेगा। कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा। श्री डुंगरको प्रणाम।

---

६४१ बम्बई, आसोज सुदी १२, सोम, १९५१

[1]'देखतभूली टळे तो सर्व दुःखनो क्षय थाय' ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है, फिर भी उसी देखतभूलीके प्रवाहमे ही जीव बहा चला जाता है, ऐसे जीवोके लिये इस जगतमे कोई ऐसा आधार है कि जिस आधारसे, आश्रयसे वे प्रवाहमे न बहे?

---

६४२ बंबई, आसोज सुदी १३, १९५१

समस्त विश्व प्रायः परकथा तथा परवृत्तिमें बहा चला जा रहा है, उसमें रहकर स्थिरता कहाँसे प्राप्त हो?

ऐसे अमूल्य मनुष्य जन्मका एक समय भी परवृत्तिसे जाने देना योग्य नही है, और कुछ भी वैसा हुआ करता है, इसका उपाय कुछ विशेषतः खोजने योग्य है।

ज्ञानीपुरुषका निश्चय होकर अंतर्भेद न रहे तो आत्मप्राप्ति एकदम सुलभ है, ऐसा ज्ञानी पुकारकर कह गये हैं, फिर भी लोग क्यों भूलते हैं? श्री डुंगरको प्रणाम।

---

१. भावार्थ—देखते ही भूलनेकी आदत दूर हो जाये तो सर्व दुःखका क्षय हो जाये।

६४३ बंबई, आसोज सुदी १३, १९५१

श्री स्तंभतीर्थवासी तथा निंबपुरीवासी मुमुक्षुजनके प्रति, श्री स्तंभतीर्थ।

कुछ पूछने योग्य लगता हो तो पूछियेगा।

जो कुछ करने योग्य कहा हो, वह विस्मरण योग्य न हो इतना उपयोग करके क्रमसे भी उसमें अवश्य परिणति करना योग्य है। त्याग, वैराग्य, उपशम और भक्तिको सहज स्वभावरूप कर डाले बिना मुमुक्षुजीवको आत्मदशा कैसे आये? परन्तु शिथिलतासे, प्रमादसे यह बात विस्मृत हो जाती है।

---

६४४ बंबई, आसोज वदी ३, रवि, १९५१

पत्र मिला है।

अनादिसे विपरीत अभ्यास है, इससे वैराग्य, उपशमादि भावोंकी परिणति एकदम नही हो सकती, किंवा होनी कठिन पड़ती है, तथापि निरंतर उन भावोके प्रति ध्यान रखनेसे अवश्य सिद्धि होती है। सत्समागमका योग न हो तब वे भाव जिस प्रकारसे वर्धमान हो उस प्रकारके द्रव्यक्षेत्रादिकी उपासना करना, सत्शास्त्रका परिचय करना योग है। सब कार्यकी प्रथम भूमिका विकट होती है, तो अनंतकालसे अनभ्यस्त ऐसी मुमुक्षुताके लिये वैसा हो इसमे कुछ आश्चर्य नही है।

सहजात्मस्वरूपसे प्रणाम।

---

६४५ बंबई, आसोज वदी ११, १९५१

परमनैष्ठिक, सत्समागम योग्य, आर्य श्री सोभाग तथा श्री डुंगरके प्रति, श्री सायला।

यथायोग्यपूर्वक—श्री सोभागका लिखा हुआ पत्र मिला है।

[1]'समज्या ते शमाई रह्या', तथा 'समज्या ते शमाई गया', इन वाक्योंमे कुछ अर्थान्तर होता है क्या? तथा दोनोमेसे कौनसा वाक्य विशेषार्थ वाचक मालूम होता है? तथा समझने योग्य क्या है? तथा शमन क्या है? तथा समुच्चय वाक्यका एक परमार्थ क्या है? यह विचारणीय है, विशेषरूपसे विचारणीय है, और जो विचारमे आया हो उसे तथा विचार कहते हुए उन वाक्योका जो विशेष परमार्थ ध्यानमे आया हो उसे लिख सकें तो लिखियेगा। यही विनती।

सहजात्मस्वरूपसे यथा०

---

६४६ बंबई, आसोज, १९५१

सब जीवोको अप्रिय होनेपर भी जिस दुःखका अनुभव करना पड़ता है, वह दुःख सकारण होना चाहिये, इस भूमिकासे मुख्यतः विचारवानकी विचारश्रेणि उदित होती है, और उस परसे अनुक्रमसे आत्मा, कर्म, परलोक, मोक्ष आदि भावोका स्वरूप सिद्ध हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है।

वर्तमानमे यदि अपनी विद्यमानता है, तो भूतकालमे भी उसकी विद्यमानता होनी चाहिये और भविष्यमे भी वैसा ही होना चाहिये। इस प्रकारके विचारका आश्रय मुमुक्षुजीवको कर्तव्य है। किसी भी वस्तुका पूर्वपश्चात् अस्तित्व न हो तो मध्यमे उसका अस्तित्व नहीं होता, ऐसा अनुभव विचार करनेसे होता है।

वस्तुकी सर्वथा उत्पत्ति अथवा सर्वथा नाश नही है, सर्व काल उसका अस्तित्व है, रूपान्तर परिणाम हुआ करते हैं, वस्तुता बदलती नहीं है, ऐसा श्री जिनेन्द्रका अभिमत है, वह विचारणीय है।

---

१. देखें आंक ६५१।

'षड्दर्शनसमुच्चय' कुछ गहन है, तो भी पुनः पुनः विचार करनेसे उसका बहुत कुछ बोध होगा। ज्यों ज्यों चित्तकी शुद्धि और स्थिरता होती है त्यों त्यों ज्ञानीके वचनका विचार यथायोग्य हो सकता है। सर्व ज्ञानका फल भी आत्मस्थिरता होना यही है, ऐसा वीतराग पुरुषोंने जो कहा है वह अत्यन्त सत्य है।

मेरे योग्य कामकाज लिखियेगा। यही विनती।

लि० रायचन्दके प्रणाम विदित हो।

६४७ बंबई, आसोज, १९५१

निर्वाणमार्ग अगम अगोचर है, इसमे संशय नही है। अपनी शक्तिसे, सद्गुरुके आश्रयके बिना उस मार्गको खोजना अशक्य है; ऐसा वारंवार दिखायी देता है। इतना ही नही, किन्तु श्री सद्गुरुचरणके आश्रयसे जिसे बोधबीजकी प्राप्ति हुई हो ऐसे पुरुषको भी सद्गुरुके समागमका आराधन नित्य कर्तव्य है। जगतके प्रसग देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि वैसे समागम और आश्रयके बिना निरालम्ब बोध स्थिर रहना विकट है।

६४८ बंबई, आसोज, १९५१

ॐ

दृश्यको अदृश्य किया, और अदृश्यको दृश्य किया ऐसा ज्ञानीपुरुषोंका आश्चर्यकारक अनन्त ऐश्वर्य-वीर्य वाणीसे कहा जा सकने योग्य नही है।

६४९ बंबई, आसोज, १९५१

बीता हुआ एक पल भी फिर नही आता, और वह अमूल्य है, तो फिर सारी आयुस्थिति!

एक पलका हीन उपयोग एक अमूल्य कौस्तुभ खो देनेसे भी विशेष हानिकारक है, तो वैसे साठ पलकी एक घडीका हीन उपयोग करनेसे कितनी हानि होनी चाहिये? इसी तरह एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक वर्ष और अनुक्रमसे सारी आयुस्थितिका हीन उपयोग, यह कितनी हानि और कितने अश्रेयका कारण होगा, यह विचार शुक्ल हृदयसे तुरत आ सकेगा। सुख और आनन्द यह सर्व प्राणियों, सर्व जीवो, सर्व सत्त्वो और सर्व जन्तुओको निरन्तर प्रिय है, फिर भी दुःख और आनन्द भोगते हैं, इसका क्या कारण होना चाहिये? अज्ञान और उसके द्वारा जिन्दगीका हीन उपयोग। हीन उपयोग होनेसे रोकनेके लिये प्रत्येक प्राणीकी इच्छा होनी चाहिये, परन्तु किस साधनसे?

६५० बंबई, आसोज, १९५१

जिन पुरुषोकी अन्तर्मुखदृष्टि हुई है उन पुरुषोको भी सतत जागृतिरूप शिक्षा श्री वीतरागने दी है, क्योकि अनन्तकालके अध्यासवाले पदार्थोंका सग है वह कुछ भी दृष्टिको आकर्षित करे ऐसा भय रखना योग्य है। ऐसी भूमिकामे इस प्रकारकी शिक्षा योग्य है, ऐसा है तो फिर जिसकी विचारदशा है ऐसे मुमुक्षु-जीवको सतत जागृति रखना योग्य है; ऐसा कहनेमे न आया हो, तो भी स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुमुक्षुजीवको जिस जिस प्रकारसे पर-अध्यास होने योग्य पदार्थ आदिका त्याग हो, उस उस प्रकारसे अवश्य करना योग्य है। यद्यपि आरम्भ-परिग्रहका त्याग स्थूल दिखायी देता है तथापि अन्तर्मुखवृत्तिका हेतु होनेसे वारंवार उसके त्यागका उपदेश दिया है।

२९ वाँ वर्ष

६५१ बंबई, कार्तिक, १९५२

[1]जैसा है वैसा आत्मस्वरूप जाना, इसका नाम समझना है। इससे उपयोग अन्य विकल्पसे रहित हुआ, इसका नाम शांत होना है। वस्तुतः दोनों एक ही है।

जैसा है वैसा समझनेसे उपयोग स्वरूपमे शांत हो गया, और आत्मा स्वभावमय हो गया, यह प्रथम वाक्य—'समजीने शमाई रह्या' का अर्थ है।

अन्य पदार्थके संयोगमे जो अध्यास था, और उस अध्यासमे जो आत्मत्व माना था वह अध्यासरूप आत्मत्व शांत हो गया, यह दूसरे वाक्य—'समजीने शमाई गया' का अर्थ है।

पर्यायांतरसे अर्थांतर हो सकता है। वास्तवमे दोनों वाक्योका परमार्थ एक ही विचारणीय है।

जिस जिसने समझा उस उसने मेरा तेरा इत्यादि अहत्व, ममत्व शात कर दिया; क्योकि कोई भी निज स्वभाव वैसा देखा नही; और निज स्वभाव तो अचित्य, अव्याबाधस्वरूप सर्वथा भिन्न देखा, इसलिये उसीमे समाविष्ट हो गया।

आत्माके सिवाय अन्यमे स्वमान्यता थी, उसे दूर कर परमार्थसे मौन हुआ; वाणीसे 'यह इसका है' इत्यादि कथन करनेरूप व्यवहार वचनादि योग तक क्वचित् रहा, तथापि आत्मासे 'यह मेरा है', यह विकल्प सर्वथा शांत हो गया; यथातथ्य अचित्य स्वानुभवगोचरपदमे लीनता हो गयी।

ये दोनों वाक्य लोकभाषामें प्रचलित हुए हैं, वे 'आत्मभाषा'मेंसे आये हैं। जो उपर्युक्त प्रकारसे शात नहीं हुए वे समझे नही है ऐसा इस वाक्यका सारभूत अर्थ हुआ, अथवा जितने अंशमे शांत हुए उतने अंशमे समझे, और जिस प्रकारसे शांत हुए उस प्रकारसे समझे इतना विभागार्थ हो सकने योग्य है, तथापि मुख्य अर्थमें उपयोग लगाना योग्य है।

अनंतकालसे यम, नियम, शास्त्रावलोकन आदि कार्य करनेपर भी समझना और शांत होना यह प्रकार आत्मामे नही आया, और इससे परिभ्रमणनिवृत्ति नहीं हुई।

जो कोई समझने और शांत होनेका ऐक्य करे, वह स्वानुभवपदमें रहे; उसका परिभ्रमण निवृत्त हो जाये। सद्गुरुकी आज्ञाका विचार किये बिना जीवने उस परमार्थको जाना नही; और जाननेमें प्रतिबंधरूप असत्संग, स्वच्छंद और अविचारका निरोध नही किया, जिससे समझना और शांत होना तथा दोनोंका ऐक्य नही हुआ, ऐसा निश्चय प्रसिद्ध है।

---

१. देखें आंक ६४५।

यहाँसे आरंभ करके ऊपर ऊपरकी भूमिकाकी उपासना करे तो जीव समझकर शांत हो जाये, यह निःसदेह है।

अनंत ज्ञानी पुरुषोंका अनुभव किया हुआ यह शाश्वत सुगम मोक्षमार्ग जीवके ध्यानमे नहीं आता, इससे उत्पन्न हुए खेदसहित आश्चर्यको भी यहाँ शांत करते हैं। सत्संग, सद्विचारसे शांत होने तकके सर्व पद अत्यंत सच्चे हैं, सुगम हैं, सुगोचर हैं, सहज हैं और निःसंदेह हैं। ॐ ॐ ॐ ॐ

---

६५२ बंबई, कार्तिक सुदी ३, सोम, १९५२

श्री वेदांतमे निरूपित मुमुक्षुजीवके लक्षण तथा श्री जिनेंद्र द्वारा निरूपित सम्यग्दृष्टि जीवके लक्षण सुनने योग्य हैं; (तथारूप योग न हो तो पढने योग्य हैं;) विशेषरूपसे मनन करने योग्य हैं, आत्मामें परिणत करने योग्य हैं। अपने क्षयोपशमबलको कम जानकर अहंताममतादिका पराभव होनेके लिये नित्य अपनी न्यूनता देखना; विशेष संग प्रसंग कम करना योग्य है। यही विनती।

---

६५३ बंबई, कार्तिक सुदी १३, गुरु, १९५२

दो पत्र मिले हैं।

आत्महेतुभूत संगके सिवाय मुमुक्षुजीवको सर्व संग कम करना योग्य है। क्योंकि उसके बिना परमार्थका आविर्भूत होना कठिन है, और इस कारण श्री जिनेंद्रने यह व्यवहार द्रव्यसंयमरूप साधुत्वका उपदेश किया है। यही विनती। सहजात्मस्वरूप।

---

६५४ बंबई, कार्तिक सुदी १३, गुरु, १९५२

पहले एक पत्र मिला था। जिस पत्रका उत्तर लिखनेका विचार किया था। तथापि विस्तारसे लिख सकना अभी कठिन मालूम हुआ, जिससे आज संक्षेपमे पहुँचके रूपमे चिट्ठी लिखनेका विचार हुआ था। आज आपका लिखा हुआ दूसरा पत्र मिला है।

अंतर्लक्ष्यवत् अभी जो वृत्ति रहती हुई दीखती है वह उपकारी है, और वह वृत्ति क्रमसे परमार्थकी यथार्थतामें विशेष उपकारभूत होती हैं। यहाँ आपने दोनों पत्र लिखे, इससे कोई हानि नही है।

अभी सुंदरदासजीका ग्रंथ अथवा श्री योगवासिष्ठ पढ़ियेगा। श्री सोभाग यहाँ है।

---

६५५ बंबई, कार्तिक वदी ८, रवि, १९५२

निशदिन नैनमें नींद न आवे,
नर तबहि नारायन पावे। —श्री सुन्दरदासजी

---

६५६ बंबई, मार्गशीर्ष सुदी १०, मंगल, १९५२

श्री त्रिभोवनके साथ इतना सूचित किया था कि आपके पहले पत्र मिले थे, उन पत्रों आदिसे वर्तमान दशाको जानकर उस दशाकी विशेषताके लिये संक्षेपमें कहा था।

जिस जिस प्रकारसे परद्रव्य (वस्तु) के कार्यकी अल्पता हो, निज दोष देखनेका दृढ़ ध्यान रहे, और सत्समागम, सत्शास्त्रमें वर्धमान परिणतिसे परम भक्ति रहा करे उस प्रकारकी आत्मता करते हुए, तथा ज्ञानीके वचनोका विचार करनेसे दशा विशेषता प्राप्त करते हुए यथार्थ समाधिके योग्य हो, ऐसा लक्ष्य रखियेगा, ऐसा कहा था। यही विनती।

---

६५७ बंबई, मार्गशीर्ष सुदी १०, मंगल, १९५२

शुभेच्छा, विचार, ज्ञान इत्यादि सब भूमिकाओंमे सर्वसंगपरित्याग बलवान उपकारी है, ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुषोंने 'अनगारत्व' का निरूपण किया है। यद्यपि परमार्थसे सर्वसंगपरित्याग यथार्थ बोध होने पर प्राप्त होना योग्य है, यह जानते हुए भी यदि सत्संगमें नित्य निवास हो, तो वैसा समय प्राप्त होना योग्य है ऐसा जानकर, ज्ञानीपुरुषोने सामान्यतः बाह्य सर्वसंगपरित्यागका उपदेश दिया है, कि जिस निवृत्तिके योगसे शुभेच्छावान जीव सद्गुरु, सत्पुरुष और सत्शास्त्रकी यथायोग्य उपासना करके यथार्थ बोध प्राप्त करे। यही विनती।

---

६५८ बंबई, पौष सुदी ६, रवि, १९५२

तीनो पत्र मिले हैं। स्थंभतीर्थ कब जाना सम्भव है? वह लिख सकें तो लिखियेगा।

दो अभिनिवेशोंके बाधक रहते होनेसे जीव 'मिथ्यात्व' का त्याग नही कर सकता। वे इस प्रकार हैं—'लौकिक' और 'शास्त्रीय'। क्रमशः सत्समागमके योगसे जीव यदि उन अभिनिवेशोको छोड़ दे तो 'मिथ्यात्व' का त्याग होता है, ऐसा वारंवार ज्ञानीपुरुषोंने शास्त्रादि द्वारा उपदेश दिया है फिर भी जीव उन्हे छोड़नेके प्रति उपेक्षित किसलिये होता है? यह बात विचारणीय है।

---

६५९ बंबई, पौष सुदी ६, रवि, १९५२

सर्व दुःखका मूल सयोग (संबंध) है, ऐसा ज्ञानी तीर्थंकरोंने कहा है। समस्त ज्ञानीपुरुषोंने ऐसा देखा है। वह संयोग मुख्यरूपसे दो प्रकारका कहा है—'अंतरसम्बन्धी' और 'बाह्यसम्बन्धी'। अंतर संयोग का विचार होनेके लिये आत्माको बाह्यसंयोगका अपरिचय कर्तव्य है, जिस अपरिचयकी सपरमार्थ इच्छा ज्ञानीपुरुषोंने भी की है।

---

६६० बंबई, पौष सुदी ६, रवि, १९५२

[1]"श्रद्धा ज्ञान लह्यां छे तोपण, जो नवि जाय पमायो (प्रमाद) रे,
वंध्य तरु उपम ते पामे, संयम ठाण जो नायो रे;
—गायो रे, गायो, भले वीर जगतगुरु गायो।'

---

६६१ बंबई, पौष सुदी ८, मंगल, १९५२

आज एक पत्र मिला है।

आत्मार्थके सिवाय जिस जिस प्रकारसे जीवने शास्त्रकी मान्यता करके कृतार्थता मानी है, वह सर्व 'शास्त्रीय अभिनिवेश' है। स्वच्छदता दूर नही हुई, और सत्समागमका योग प्राप्त हुआ है, उस योगमे भी स्वच्छंदताके निर्वाहके लिये शास्त्रके किसी एक वचनको बहुवचन जैसा बताकर, मुख्य साधन जो सत्समागम है, उसके समान शास्त्रको कहता है अथवा उससे विशेष भार शास्त्रपर देता है; उस जीवको भी 'अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश' है। आत्माको समझनेके लिये शास्त्र उपकारी हैं, और वह भी स्वच्छंदरहित पुरुषको, इतना ध्यान रखकर सत्शास्त्रका विचार किया जाये तो वह 'शास्त्रीय अभिनिवेश' गिनने योग्य नहीं है। संक्षेपसे लिखा है।

---

१. **भावार्थ**—श्रद्धा और ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर भी यदि संयमस्थान नही आया और प्रमादका नाश नहीं हुआ तो जीव बांझ वृक्षकी उपमाको पाता है। जगतगुरु वीर प्रभुने कैसा सुन्दर उपदेश दिया है!

६६२ बंबई, पौष वदी, १९५२

सर्व प्रकारके भयके रहनेके स्थानरूप इस संसारमें मात्र एक वैराग्य ही अभय है। इस निश्चयमें तीनों कालमें शंका होना योग्य नही है।

"योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे;
नवपद तेम ज जाणजो, आतमराम छे साखी रे।' —श्री श्रीपाळरास

६६३ बंबई, पौष, १९५२

ॐ

गृहादि प्रवृत्तिके योगसे उपयोग विशेष चलायमान रहना संभव है, ऐसा जानकर परम पुरुष सर्वसंगपरित्यागका उपदेश करते थे।

६६४ बंबई, पौष वदी २, १९५२

सर्व प्रकारके भयके रहनेके स्थानरूप इस संसारमें मात्र एक वैराग्य ही अभय है।

जो वैराग्यदशा महान मुनियोको प्राप्त होना दुर्लभ है, वह वैराग्यदशा तो प्रायः जिन्हे गृहवासमे रहती थी, ऐसे श्री महावीर, ऋषभ आदि पुरुष भी त्यागको ग्रहण करके घरसे चल निकले, यही त्यागकी उत्कृष्टता बताई है।

जब तक गृहस्थादि व्यवहार रहे तब तक आत्मज्ञान न हो, अथवा जिसे आत्मज्ञान हो, उसे गृहस्थादि व्यवहार न हो, ऐसा नियम नही है। वैसा होनेपर भी परमपुरुषोंने ज्ञानीको भी त्याग व्यवहारका उपदेश किया है, क्योंकि त्याग ऐश्वर्यको स्पष्ट व्यक्त करता है, इससे और लोकको उपकारभूत होनेसे त्याग अकर्तव्यलक्ष्यसे कर्तव्य है, इसमे सन्देह नही है।

जो स्वस्वरूपमे स्थिति है, उसे 'परमार्थसंयम' कहा है। उस संयमके कारणभूत अन्य निमित्तोंके ग्रहणको 'व्यवहारसंयम' कहा है। किसी ज्ञानीपुरुषने उस संयमका भी निषेध नही किया है। परमार्थकी उपेक्षा (लक्षके बिना) से जो व्यवहारसयममे ही परमार्थसयमकी मान्यता रखे, उसके व्यवहारसयमका उसका अभिनिवेश दूर करनेके लिये, निषेध किया है। परंतु व्यवहारसंयममे कुछ भी परमार्थकी निमित्तता नही है, ऐसा ज्ञानीपुरुषोने कहा नही है।

परमार्थके कारणभूत 'व्यवहारसंयम' को भी परमार्थसंयम कहा है।

श्री डुगरकी इच्छा विशेषतासे लिखना हो सके तो लिखियेगा।

प्रारब्ध है, ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करते हैं, ऐसा मालूम नही होता, परंतु परिणतिसे छूट जानेपर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं, इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिखायी देते हैं, तथापि वे उसकी निवृत्तिके लक्ष्यका नित्य सेवन करते हैं। प्रणाम।

६६५ बंबई, पौष वदी ९, गुरु, १९५२

ॐ

देहाभिमानरहित सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार

ज्ञानीपुरुषोंने वारंवार आरम्भ-परिग्रहके त्यागकी उत्कृष्टता कही है, और पुनः पुन उस त्यागका उपदेश किया है, और प्रायः स्वयं भी ऐसा आचरण किया है; इसलिये मुमुक्षुपुरुषको अवश्य उसे कम करना चाहिये, इसमे सन्देह नहीं है।

१. भावार्थके लिये देखें आंक ३७७।

आरंभ-परिग्रहका त्याग किस किस प्रतिबधसे जीव नही कर सकता, और वह प्रतिबध किस प्रकारसे दूर किया जा सकता है, इस प्रकारसे मुमुक्षुजीवको अपने चित्तमे विशेष विचार-अंकुर उत्पन्न करके कुछ भी तथारूप फल लाना योग्य है। यदि वैसा न किया जाये तो उस जीवको मुमुक्षुता नही है, ऐसा प्रायः कहा जा सकता है।

आरंभ और परिग्रहका त्याग किस प्रकारसे हुआ हो तो यथार्थ कहा जाये इसे पहले विचारकर बादमें उपर्युक्त विचार-अंकुर मुमुक्षुजीवको अपने अंतःकरणमे अवश्य उत्पन्न करना योग्य है। तथारूप उदयसे विशेष लिखना अभी नही हो सकता।

---

६६६ बंबई, पौष वदी १२, रवि, १९५२

ॐ

उत्कृष्ट सम्पत्तिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं उन सबको अनित्य जानकर विचारवान पुरुष उन्हे छोडकर चल दिये हैं; अथवा प्रारब्धोदयसे वास हुआ तो भी अमूर्च्छितरूपसे और उदासीनतासे उसे प्रारब्धोदय समझकर आचरण किया है, और त्यागका लक्ष्य रखा है।

---

६६७ बबई, पौष वदी १२, रवि, १९५२

महात्मा बुद्ध (गौतम) जरा, दारिद्र्य, रोग और मृत्यु इन चारोको एक आत्मज्ञानके बिना अन्य सर्व उपायोंसे अजेय समझकर, जिसमे उनकी उत्पत्तिका हेतु हैं, ऐसे संसारको छोडकर चल दिये थे। श्री ऋषभ आदि अनंत ज्ञानीपुरुषोने इसी उपायकी उपासना की है; और सर्व जीवोको इस उपायका उपदेश दिया है। उस आत्मज्ञानको प्रायः दुर्गम देखकर निष्कारण करुणाशील उन सत्पुरुषोने भक्तिमार्ग कहा है, जो सर्व अशरणको निश्चल शरणरूप है, और सुगम है।

---

६६८ बंबई, माघ सुदी ४, रवि, १९५२

पत्र मिला है।

असंग आत्मस्वरूप सत्संगके योगसे नितांत सरलतासे जानना योग्य है, इसमे संशय नही है। सत्संगके माहात्म्यको सब ज्ञानीपुरुषोने अतिशयरूपसे कहा है, यह यथार्थ है। इसमे विचारवानको किसी तरह विकल्प होना योग्य नहीं है।

अभी तत्काल समागम सम्बंधी विशेषरूपसे लिखना नही हो सकता।

---

६६९ बंबई, माघ वदी ११, रवि, १९५२

यहाँसे सविस्तर पत्र मिलनेमे अभी विलब होता है, इसलिये प्रश्नादि लिखना नही हो पाता, ऐसा आपने लिखा तो वह योग्य है। प्राप्त प्रारब्धोदयके कारण यहाँसे पत्र लिखनेमे विलब होना सम्भव है। तथापि तीन-तीन चार-चार दिनके अंतरसे आप अथवा श्री डुगर कुछ ज्ञानवार्ता नियमितरूपसे लिखते रहियेगा, जिससे प्रायः यहाँसे पत्र लिखनेमे कुछ नियमितता हो सकेगी। त्रिविध त्रिविध नमस्कार।

---

६७० बंबई, फागुन सुदी १, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

ज्ञानीका सर्व व्यवहार परमार्थमूल होता है, तो भी जिस दिन उदय भी आत्माकार रहेगा, वह दिन धन्य होगा।

सर्व दुःखसे मुक्त होनेका सर्वोत्कृष्ट उपाय आत्मज्ञानको कहा है, यह ज्ञानीपुरुषोका वचन सत्य है, अत्यन्त सत्य है।

जब तक जीवको तथारूप आत्मज्ञान न हो तब तक बन्धनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नही होती, इसमे संशय नही है।

उस आत्मज्ञानके होने तक जीवको मूर्तिमान आत्मज्ञानस्वरूप सद्गुरुदेवका निरंतर आश्रय अवश्य करना योग्य है, इसमे संशय नही है। उस आश्रयका वियोग हो तब आश्रयभावना नित्य कर्तव्य है।

उदयके योगसे तथारूप आत्मज्ञान होनेसे पूर्व उपदेशकार्य करना पड़ता हो तो विचारवान मुमुक्षु परमार्थमार्गके अनुसरण करनेके हेतुभूत ऐसे सत्पुरुषकी भक्ति, सत्पुरुषका गुणगान, सत्पुरुषके प्रति प्रमोद-भावना और सत्पुरुषके प्रति अविरोधभावनाका लोगोको उपदेश देता है; जिस तरह मतमतातरका अभिनिवेश दूर हो, और सत्पुरुषके वचन ग्रहण करनेकी आत्मवृत्ति हो, वैसा करता है। वर्तमानकालमे उस प्रकारकी विशेष हानि होगी, ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुषोने इस कालको दुषमकाल कहा है, और वैसा प्रत्यक्ष दिखायी देता है।

सर्व कार्यमे कर्तव्य मात्र आत्मार्थ है, यह सम्यग्भावना मुमुक्षुजीवको नित्य करना योग्य है।

---

६७१ बंबई, फागुन सुदी ३, रवि, १९५२

आपका एक पत्र आज मिला है। उस पत्रमे श्री डुंगरने जो प्रश्न लिखवाये है उनके विशेष समाधानके लिये प्रत्यक्ष समागमपर ध्यान रखना योग्य है।

प्रश्नोसे बहुत सतोष हुआ है। जिस प्रारब्धके उदयसे यहाँ स्थिति है, उस प्रारब्धका जिस प्रकारसे विशेषत वेदन किया जाय उस प्रकारसे रहा जाता है। और इससे विस्तारपूर्वक पत्रादि लिखना प्राय. नही होता।

श्री सुंदरदासजीके ग्रन्थोका अथसे इति तक अनुक्रमसे विचार हो सके, वैसा अभी कीजियेगा, तो कितने ही विचारोका स्पष्टीकरण होगा। प्रत्यक्ष समागममे उत्तर समझमे आने योग्य होनेसे पत्र द्वारा मात्र पहुँच लिखी है। यही। भक्तिभावसे नमस्कार।

---

६७२ बंबई, फागुन सुदी १०, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

आत्मार्थी श्री सोभाग तथा श्री डुंगरके प्रति, श्री सायला।

विस्तारपूर्वक पत्र लिखना अभी नही होता, इससे चित्तमे वैराग्य, उपशम आदि विशेष प्रदीप्त रहनेमे सत्शास्त्रको एक विशेष आधारभूत निमित्त जानकर, श्री सुंदरदास आदिके ग्रन्थोंका हो सके तो दो से चार घड़ी तक नियमित वाचना-पृच्छना हो, वैसा करनेके लिये लिखा था। श्री सुन्दरदासके ग्रन्थोंका आदिसे लेकर अंत तक अभी विशेष अनुप्रेक्षापूर्वक विचार करनेके लिये आपसे और श्री डुंगरसे विनती है।

काया तक माया (अर्थात् कषायादि) का सम्भव रहा करता है, ऐसा श्री डुंगरको लगता है, यह अभिप्राय प्राय. तो यथार्थ है, तो भी किसी पुरुषविशेषमें सर्वथा सब प्रकारके संज्वलन आदि कषायका अभाव हो सकना सम्भव लगता है, और हो सकनेमे सन्देह नही होता, इसलिये कायाके होनेपर भी कषायका अभाव सम्भव है; अर्थात् सर्वथा रागद्वेषरहित पुरुष हो सकता है। रागद्वेषरहित यह पुरुष है, ऐसा बाह्य चेष्टासे सामान्य जीव जान सके, यह सम्भव नही। इससे वह पुरुष कषायरहित, सम्पूर्ण वीत-राग न हो, ऐसा अभिप्राय विचारवान स्थापित नही करते; क्योंकि बाह्य चेष्टासे आत्मदशाकी स्थिति सर्वथा समझमे आ सके, ऐसा नही कहा जा सकता।

श्री सुन्दरदासने आत्मजागृतदशामे 'शूरातनअंग' कहा है, उसमें विशेष उल्लास परिणतिसे शूर-वीरताका निरूपण किया है—

***मारे काम क्रोध सब, लोभ मोह पीसि डारे, इन्द्रिहु कतल करी, कियो रजपूतो है।**
मार्यो महा मत्त मन, मारे अहंकार मीर, मारे मद मच्छर हू, ऐसो रन रूतो है॥
मारी आशा तृष्णा पुनि, पापिनी सापिनी दोउ, सबको संहार करि, निज पद पहूतो है।
सुन्दर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर, वैरि सब मारिके, निश्चिंत होई सूतो है॥

—श्री सुंदरदास शूरातनअग, २१-११

---

६७३ बंबई, फागुन सुदी १०, रवि, १९५२

ॐ श्री सद्गुरुप्रसाद

श्री सायलाक्षेत्रमे क्रमसे विचरते हुए प्रतिबन्ध नही है।

यथार्थज्ञान उत्पन्न होनेसे पहले जिन जीवोको, उपदेश देनेका रहता हो उन जीवोको, जिस तरह वैराग्य, उपशम और भक्तिका लक्ष्य हो, उस तरह प्रसंगप्राप्त जीवोको उपदेश देना योग्य है; और जिस तरह उनका नाना प्रकारके असद्आग्रहका तथा सर्वथा वेषव्यवहारादिका अभिनिवेश कम हो, उस तरह उपदेश परिणमित हो वैसे आत्मार्थ विचारकर कहना योग्य है। क्रमश वे जीव यथार्थ मार्गके सन्मुख हों ऐसा यथाशक्ति उपदेश कर्तव्य है।

---

६७४ बंबई, फागुन वदी ३, सोम, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

देहधारी होनेपर भी निरावरणज्ञानसहित रहते हैं ऐसे महापुरुषोंको त्रिकाल नमस्कार

आत्मार्थी श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

देहधारी होनेपर भी परम ज्ञानीपुरुषमे सर्व कषायका अभाव हो सके, ऐसा हमने लिखा है, उस प्रसंगमे 'अभाव' शब्दका अर्थ 'क्षय' समझकर लिखा है।

जगतवासी जीवको रागद्वेष दूर होनेका पता नही चलता, परन्तु जो महान पुरुष हैं वे जानते हैं कि इस महात्मा पुरुषमे रागद्वेषका अभाव या उपशम है, ऐसा लिखकर आपने शंका की है कि जैसे महात्मा पुरुषको ज्ञानीपुरुष अथवा दृढ़ मुमुक्षुजीव जानते हैं वैसे जगतके जीव क्यों न जानें? मनुष्य आदि प्राणीको देखकर जैसे जगतवासी जीव जानते हैं कि ये मनुष्य आदि है, और महात्मा पुरुष भी जानते हैं कि ये मनुष्य आदि हैं, इन पदार्थोंको देखनेसे दोनों समानरूपसे जानते हैं; और इसमे भेद रहता है, वैसा भेद होनेके क्या कारण मुख्यतः विचारणीय है? ऐसा लिखा उसका समाधान—

मनुष्य आदिको जो जगतवासी जीव जानते हैं, वह दैहिक स्वरूपसे तथा दैहिक चेष्टासे जानते हैं। एक दूसरेकी मुद्रामे, आकारमें और इन्द्रियोमें जो भेद है, उसे चक्षु आदि इन्द्रियोसे जगतवासी जीव

---

*भावार्थ—जिसने काम व क्रोधको मार डाला है, लोभ व मोहको पीस डाला है और इन्द्रियोको कत्ल करके शूरवीरता दिखाई है; जिसने मदोन्मत्त मन और अहंकाररूप सेनापतिका नाश कर दिया है, तथा मद एव मत्सरको निर्मूल कर दिया है ऐसा रणबॉका है; जिसने आशा-तृष्णारूपी पापिष्ठ साँपिनोंको भी मार दिया है वह सब वैरियोका संहार करके निजपद अर्थात् अपने स्वभावमें स्थिर हुआ है। सुंदरदास कहते हैं कि कोई विरल शूरवीर साधु ही सभी वैरियोका नाशकर निश्चिंत होकर सो रहा है अर्थात् स्वभावमें मग्न होकर आत्मानंदका उपभोग करता है।

जान सकते हैं, और उन जीवोंके कितने ही अभिप्रायोंको भी जगतवासी जीव अनुमानसे जान सकते हैं, क्योंकि वह उनके अनुभवका विषय है। परन्तु जो ज्ञानदशा अथवा वीतरागदशा है वह मुख्यतः दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टाका विषय नही है, अतरात्मगुण है, और अन्तरात्मता बाह्य जीवोके अनुभवका विषय न होनेसे, तथा जगतवासी जीवोंमे तथारूप अनुमान करनेके भी प्राय. संस्कार न होनेसे वे ज्ञानी या वीतरागको पहचान नहीं सकते। कोई जीव सत्समागमके योगसे, सहज शुभकर्मके उदयसे, तथारूप कुछ सस्कार प्राप्त कर ज्ञानी या वीतरागको यथाशक्ति पहचान सकता है। तथापि सच्ची पहचान तो दृढ़ मुमुक्षुताके प्रगट होनेपर, तथारूप सत्समागमसे प्राप्त हुए उपदेशका अवधारण करनेपर और अन्तरात्मवृत्ति परिणमित होनेपर जीव ज्ञानी या वीतरागको पहचान सकता है। जगतवासी अर्थात् जो जगतदृष्टि जीव हैं, उनकी दृष्टिसे ज्ञानी या वीतरागकी सच्ची पहचान कहाँसे हो ? जिस तरह अन्धकारमें पड़े हुए पदार्थको मनुष्यचक्षु देख नही सकते, उसी तरह देहमें रहे हुए ज्ञानी या वीतरागको जगतदृष्टि जीव पहचान नही सकता। जैसे अन्धकारमें पड़े हुए पदार्थको मनुष्यचक्षुसे देखनेके लिये किसी दूसरे प्रकाशको अपेक्षा रहती है, वैसे जगत-दृष्टि जीवोंको ज्ञानी या वीतरागकी पहचानके लिये विशेष शुभ संस्कार और सत्समागमकी अपेक्षा होना योग्य है। यदि वह योग प्राप्त न हो तो जैसे अंधकारमे रहा हुआ पदार्थ और अधकार ये दोनो एकाकार भासित होते है, भेद भासित नही होता, वैसे तथारूप योगके बिना ज्ञानी या वीतराग और अन्य ससारी जीवोकी एकाकारता भासित होती है; देहादि चेष्टासे प्राय. भेद भासित नही होता।

जो देहधारी सर्व अज्ञान और सर्व कषायोंसे रहित हुए हैं, उन देहधारी महात्माको त्रिकाल परम भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो ! ! वे महात्मा जहाँ रहते हैं, उस देहको, भूमिको, घरको, मार्गको, आसन आदि सबको नमस्कार हो ! नमस्कार हो ! !

श्री डुंगर आदि सर्व मुमुक्षुजनको यथायोग्य।

---

६७५ बम्बई, फागुन वदी ५, बुध, १९५२

ॐ

दो पत्र मिले है। मिथ्यात्वके पच्चीस प्रकारमेंसे प्रथमके आठ प्रकारका सम्यक्स्वरूप समझनेके लिये पूछा वह तथारूप प्रारब्धोदयसे अभी थोडे समयमे लिख सकनेका सम्भव कम है।

'सुन्दर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर,
वैरि सब मारिके निंचित होई सूतो है।'

---

६७६ बम्बई, फागुन वदी ९, रवि, १९५२

जीवको विशेषतः अनुप्रेक्षा करने योग्य आशंका सहज निर्णयके लिये तथा दूसरे किन्हीं मुमुक्षु जीवोंके विशेष उपकारके लिये उस पत्रमे लिखी उसे पढ़ा है। थोड़े दिनोमें हो सकेगा तो कुछ प्रश्नोका समाधान लिखूँगा।

श्री डुंगर आदि मुमुक्षुजीवोंको यथायोग्य।

---

६७७ बम्बई, चैत्र सुदी १, रवि, १९५२

पत्र मिला है। सहज उदयमान चित्तवृत्तियाँ लिखी वे पढ़ी हैं। विस्तारसे हितवचन लिखनेकी अभिलाषा बतायी. इस विषयमे संक्षेपमे नीचेके लेखसे विचारियेगा —

प्रारब्धोदयसे जिस प्रकारका व्यवहार प्रसंगमे रहता है, उसको नजरमे रखते हुए जैसे पत्र आदि लिखनेमें संक्षेपसे प्रवृत्ति होती है, वैसा अधिक योग्य है, ऐसा अभिप्राय प्राय. रहता है।

आत्माके लिये वस्तुतः उपकारभूत उपदेश करनेमे ज्ञानीपुरुष संक्षेपसे प्रवृत्ति नही करते, ऐसा होना प्रायः सम्भव है, तथापि दो कारणोसे ज्ञानीपुरुष उस प्रकारसे भी प्रवृत्ति करते हैं–(१) वह उपदेश जिज्ञासु जीवमें परिणमित हो ऐसे सयोगोंमे वह जिज्ञासु जीव न रहता हो, अथवा उस उपदेशके विस्तारसे करने-पर भी उसमे उसे ग्रहण करनेकी तथारूप योग्यता न हो, तो ज्ञानीपुरुष उन जीवोको उपदेश करनेमे संक्षेपसे भी प्रवृत्ति करते है। (२) अथवा अपनेको बाह्य व्यवहारका ऐसा उदय हो कि वह उपदेश जिज्ञासु जीवमे परिणमित होनेमे प्रतिबंधरूप हो, अथवा तथारूप कारणके बिना वैसा वर्तन कर मुख्यमार्गके विरोधरूप या सशयके हेतुरूप होनेका कारण होता हो तो भी ज्ञानीपुरुष उपदेशमे संक्षेपसे प्रवृत्ति करते हैं अथवा मौन रहते है।

सर्वसंगपरित्याग कर चले जानेसे भी जीव उपाधिरहित नही होता। क्योंकि जब तक अंतरपरिणति-पर दृष्टि न हो और तथारूप मार्गमे प्रवृत्ति न की जाये तब तक सर्वसगपरित्याग भी नाम मात्र होता है। और वैसे अवसरमे भी अंतरपरिणतिपर दृष्टि देनेका भान जीवको आना कठिन है, तो फिर ऐसे गृह व्यवहारमे लौकिक अभिनिवेशपूर्वक रहकर अंतरपरिणतिपर दृष्टि दे सकना कितना दुःसाध्य होना चाहिये, यह विचारणीय है, और वैसे व्यवहारमे रहकर जीवको अतरपरिणतिपर कितना बल रखना चाहिये, यह भी विचारणीय है, और अवश्य वैसा करना योग्य है।

अधिक क्या लिखे? जितनी अपनी शक्ति हो उस सारी शक्तिसे एक लक्ष्य रखकर, लौकिक अभिनिवेशको कम करके, कुछ भी अपूर्व निरावरणता दीखती नही है, इसलिये 'समझका केवल अभिमान है', इस तरह जीवको समझाकर जिस प्रकार जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्रमे सतत जाग्रत हो, वही करनेमे वृत्ति लगाना, और रात-दिन उसी चितनमे प्रवृत्ति करना यही विचारवान जीवका कर्तव्य है, और उसके लिये सत्सग, सत्शास्त्र और सरलता आदि निजगुण उपकारभूत है, ऐसा विचारकर उसका आश्रय करना योग्य है।

जब तक लौकिक अभिनिवेश अर्थात् द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, दैहिक मान, कुल, जाति आदि सम्बन्धी मोह या विशेषत्व मानना हो, वह बात न छोड़नी हो, अपनी बुद्धिसे स्वेच्छासे अमुक गच्छादिका आग्रह रखना हो, तब तक जीवमे अपूर्व गुण कैसे उत्पन्न हो? इसका विचार सुगम है।

अधिक लिखा जा सके ऐसा उदय अभी यहाँ नही है, तथा अधिक लिखना या कहना भी किसी प्रसंगमें होने देना योग्य है, ऐसा है। आपकी विशेष जिज्ञासाके कारण प्रारब्धोदयका वेदन करते हुए जो कुछ लिखा जा सकता था, उसकी अपेक्षा कुछ उदीरणा करके विशेष लिखा है। यही विनती।

---

६७८ बंबई, चैत्र सुदी २, सोम, १९५२

ॐ

क्षणमे हर्ष और क्षणमे शोक हो आये ऐसे इस व्यवहारमे जो ज्ञानीपुरुष समदशासे रहते हैं, उन्हे अत्यन्त भक्तिसे धन्य कहते हैं; और सर्व मुमुक्षुजीवोको इसी दशाकी उपासना करना योग्य है, ऐसा निश्चय देखकर परिणति करना योग्य है। यही विनती। श्री डुंगर आदि मुमुक्षुओको नमस्कार।

---

६७९ बंबई, चैत्र सुदी ११, शुक्र, १९५२

ॐ

सद्गुरुचरणाय नमः

आत्मनिष्ठ श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

फागुन वदी ६ के पत्रमें लिखे हुए प्रश्नोका समाधान इस पत्रमे संक्षेपसे लिखा है, उसे विचारियेगा।

१. जिस ज्ञानमें देह आदिका अध्यास मिट गया है, और अन्य पदार्थमें अहंता-ममताका अभाव है, तथा उपयोग स्वभावमे परिणमता है, अर्थात् ज्ञान स्वरूपताका सेवन करता है, उस ज्ञानको 'निरावरण-ज्ञान' कहना योग्य है।

२ सर्व जीवोको अर्थात् सामान्य मनुष्योंको ज्ञानी-अज्ञानीकी वाणीमें जो अन्तर है सो समझना कठिन है, यह बात यथार्थ है; क्योकि शुष्कज्ञानी कुछ सीख कर ज्ञानी जैसा उपदेश करे, जिससे उसमें वचनकी समानता दीखनेसे शुष्कज्ञानीको भी सामान्य मनुष्य ज्ञानी मानें, मंददशावान मुमुक्षुजीव भी वैसे वचनोंसे भ्रांतिमे पड़ जाये, परन्तु उत्कृष्टदशावान मुमुक्षुपुरुष शुष्कज्ञानीकी वाणी शब्दसे ज्ञानीकी वाणी जैसी देखकर प्रायः भ्राति पाने योग्य नही है, क्योकि आशयसे शुष्कज्ञानीको वाणीसे ज्ञानीकी वाणीकी तुलना नही होती।

ज्ञानीकी वाणी पूर्वापर अविरोधी, आत्मार्थ-उपदेशक और अपूर्व अर्थका निरूपण करनेवाली होती है, और अनुभवसहित होनेसे आत्माको सतत जाग्रत करनेवाली होती है। शुष्कज्ञानीकी वाणीमे तथारूप गुण नही होते। सबसे उत्कृष्ट गुण जो पूर्वापर अविरोधिता है, वह शुष्कज्ञानीकी वाणीमे नही हो सकता, क्योकि उसे यथास्थित पदार्थदर्शन नही होता, और इस कारणसे जगह जगह उसकी वाणी कल्पनासे युक्त होती है।

इत्यादि नाना प्रकारके भेदसे ज्ञानी और शुष्कज्ञानीकी वाणीकी पहचान उत्कृष्ट मुमुक्षुको होने योग्य है। ज्ञानीपुरुषको तो उसकी पहचान सहजस्वभावमे होती है, क्योंकि स्वय भानसहित है, और भानसहित पुरुषके बिना इस प्रकारके आशयका उपदेश नही दिया जा सकता, ऐसा सहज हो वे जानते है।

जिसे अज्ञान और ज्ञानका भेद समझमे आया है, उसे अज्ञानी और ज्ञानीका भेद सहजमे समझमे आ सकता है। जिसका अज्ञानके प्रति मोह समाप्त हो गया है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको शुष्कज्ञानीके वचन कैसे भ्राति कर सकते है? किन्तु सामान्य जीवोको अथवा मददशा और मध्यमदशाके मुमुक्षुको शुष्कज्ञानीके वचन समानरूप दिखायी देनेसे, दोनो ज्ञानीके वचन हैं, ऐसी भ्राति होना संभव है। उत्कृष्ट मुमुक्षुको प्रायः वैसी भ्राति सभव नही है, क्योंकि ज्ञानीके वचनोंकी परीक्षाका बल उसे विशेषरूपसे स्थिर हो गया है।

पूर्वकालमे ज्ञानी हो गये हो, और मात्र उनकी मुखवाणी रही हो तो भी वर्तमानकालमे ज्ञानीपुरुष यह जान सकते हैं कि यह वाणी ज्ञानीपुरुषकी है; क्योंकि रात्रि-दिनके भेदकी तरह अज्ञानी-ज्ञानीकी वाणीमे आशय-भेद होता है, और आत्मदशाके तारतम्यके अनुसार आशयवाली वाणी निकलती है। वह आशय, वाणीपरसे 'वर्तमान ज्ञानीपुरुष' को स्वाभाविक दृष्टिगत होता है। और कहनेवाले पुरुषकी दशाका तारतम्य ध्यानगत होता है। यहाँ जो 'वर्तमान ज्ञानी' शब्द लिखा है, वह किसी विशेष प्रज्ञावान, प्रगट बोधबीजसहित पुरुषके अर्थमे लिखा है। ज्ञानीके वचनोकी परीक्षा यदि सर्व जीवोको सुलभ होती तो निर्वाण भी सुलभ ही होता।

३. जिनागममे मति, श्रुत आदि ज्ञानके पाँच प्रकार कहे हैं। वे ज्ञानके प्रकार सच्चे हैं, उपमा-वाचक नही है। अवधि, मनःपर्यय आदि ज्ञान वर्तमानकालमे व्यवच्छेद जैसे लगते है, इससे ये ज्ञान उपमा-वाचक समझना योग्य नही है। ये ज्ञान मनुष्य जीवोको चारित्रपर्यायकी विशुद्ध तरतमतासे उत्पन्न होते है। वर्तमानकालमे वह विशुद्ध तरतमता प्राप्त होना दुष्कर है, क्योंकि कालका प्रत्यक्ष स्वरूप चारित्र-मोहनीय आदि प्रकृतियोंके विशेष बलसहित प्रवर्तमान दिखायी देता है।

सामान्य आत्मचारित्र भी किसी ही जीवमे होना संभव है। ऐसे कालमे उस ज्ञानकी लब्धि व्यवच्छेद जैसी हो, इसमे कुछ आश्चर्य नही है, इसलिये उस ज्ञानको उपमावाचक समझना योग्य नहीं है।

आत्मस्वरूपका विचार करते हुए तो उस ज्ञानकी कुछ भी असम्भावना दीखती नही है। सर्व ज्ञानकी स्थितिका क्षेत्र आत्मा है, तो फिर अवधि, मनःपर्यय आदि ज्ञानका क्षेत्र आत्मा हो, इसमें संशय करना कैसे योग्य हो ? यद्यपि शास्त्रके यथास्थित परमार्थसे अज्ञ जीव उसकी व्याख्या जिस प्रकारसे करते हैं, वह व्याख्या विरोधवाली हो, परन्तु परमार्थसे उस ज्ञानका होना सम्भव है।

जिनागममे उसकी जिस प्रकारके आशयसे व्याख्या की हो, वह व्याख्या और अज्ञानी जीव आशय जाने बिना जो व्याख्या करें उन दोनोंमे महान भेद हो इसमे आश्चर्य नही है, और उस भेदके कारण उस ज्ञानके विषयके लिये सन्देह होना योग्य है, परन्तु आत्मदृष्टिसे देखते हुए उस सन्देहका अवकाश नहीं है।

४. कालका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'समय' है, रूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'परमाणु' है, और अरूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'प्रदेश' है। ये तीनों ऐसे सूक्ष्म है कि अत्यन्त निर्मल ज्ञानकी स्थिति उनके स्वरूपको ग्रहण कर सकती है। सामान्यत संसारी जीवोंका उपयोग असंख्यात समयवर्ती है; उस उपयोगमे साक्षात्‌रूपसे एक समयका ज्ञान सम्भव नही है। यदि वह उपयोग एक समयवर्ती और शुद्ध हो तो उसमे साक्षात्‌रूपसे समयका ज्ञान होता है। उस उपयोगका एक समयवर्तित्व कषायादिके अभावसे होता है, क्योकि कषायादिके योगसे उपयोग मूढतादि धारण करता है, तथा असंख्यात समयवर्तित्वको प्राप्त होता है। वह कषायादिके अभावसे एक समयवर्ती होता है, अर्थात् कषायादिके योगसे असंख्यात समयमेसे एक समयको अलग करनेकी सामर्थ्य उसमे नही थी, वह कषायादिके अभावसे एक समयको अलग करके अवगाहन करता है। उपयोगका एक समयवर्तित्व, कषायरहितता होनेके बाद होता है। इसलिये जिसे एक समयका, एक परमाणुका, और एक प्रदेशका ज्ञान हो उसे 'केवलज्ञान' प्रगट होता है,-ऐसा जो कहा है, वह सत्य है। कषायरहितताके बिना केवलज्ञानका सम्भव नही है और कषायरहितताके बिना उपयोग एक समयको साक्षात्‌रूपसे ग्रहण नही कर सकता। इसलिये जिस समयमे एक समयको ग्रहण करे उस समय अत्यन्त कषायरहितता होनी चाहिये। और जहाँ अत्यन्त कषायका अभाव हो वहाँ 'केवलज्ञान' होता है। इसलिये इस प्रकार कहा है कि जिसे एक समय, एक परमाणु और एक प्रदेशका अनुभव हो उसे 'केवलज्ञान' प्रगट होता है। जीवको विशेष पुरुषार्थके लिये इस एक सुगम साधनका ज्ञानीपुरुषने उपदेश किया है। समयकी तरह परमाणु और प्रदेशका सूक्ष्मत्व होनेसे तीनोको एक साथ ग्रहण किया है। अंतर्विचारमे रहनेके लिये ज्ञानी पुरुषोने असंख्यात योग कहे हैं। उनमेसे एक यह विचारयोग' कहा है, ऐसा समझना योग्य है।

५. शुभेच्छासे लेकर सर्व कर्मरहितरूपसे स्वस्वरूपस्थिति तकमे अनेक भूमिकाएँ हैं। जो जो आत्मार्थी जीव हुए, और उनमे जिस जिस अंशमें जाग्रतदशा उत्पन्न हुई, उस उस दशाके भेदसे उन्होंने अनेक भूमिकाओंका आराधन किया है। श्री कबीर, सुन्दरदास आदि साधुजन आत्मार्थी गिने जाने योग्य हैं, और शुभेच्छासे ऊपरकी भूमिकाओंमें उनकी स्थिति होना सम्भव है। अत्यन्त स्वस्वरूपस्थितिके लिये उनकी जागृति और अनुभव भी ध्यानगत होता है। इससे विशेष स्पष्ट अभिप्राय अभी देनेकी इच्छा नही होती।

६. 'केवलज्ञान' के स्वरूपका विचार दुर्गम है, और श्री डुंगर केवल-कोटीसे उसका निर्धार करते हैं, उसमे यद्यपि उनका अभिनिवेश नही है, परन्तु वैसा उन्हे भासित होता है, इसलिये कहते हैं। मात्र 'केवल-कोटी' है, और भूत-भविष्यका कुछ भी ज्ञान किसीको न हो, ऐसी मान्यता करना योग्य नही है। भूत-भविष्यका यथार्थज्ञान होने योग्य है; परन्तु वह किन्ही विरल पुरुषोंको, और वह भी विशुद्ध चारित्र-तारतम्यसे, इसलिये वह सन्देहरूप लगता है, क्योंकि वैसी विशुद्ध चारित्रतरतमताका वर्तमानमें अभाव-सा

रहता है। वर्तमानमें शास्त्रवेत्ता मात्र शब्दबोधसे 'केवलज्ञान' का जो अर्थ कहते है, वह यथार्थ नहीं है, ऐसा श्री डुंगरको लगता हो तो वह सम्भवित है। फिर भूत-भविष्य जानना, इसका नाम 'केवलज्ञान' है, ऐसी व्याख्या मुख्यत शास्त्रकारने भी नही की है। ज्ञानका अत्यन्त शुद्ध होना उसे ज्ञानीपुरुषोंने 'केवलज्ञान' कहा है, और उस ज्ञानमे मुख्य तो आत्मस्थिति और आत्मसमाधि कही है। जगतका ज्ञान होना इत्यादि जो कहा है, वह सामान्य जीवोसे अपूर्व विषयका ग्रहण होना अशक्य जानकर कहा है; क्योकि जगतके ज्ञानपर विचार करते-करते आत्मसामर्थ्य समझमे आता है। श्री डुंगर, महात्मा श्री ऋषभ आदिमे केवल-कोटी न कहते हों तो और उनके आज्ञावर्ती अर्थात् जैसे महावीर स्वामीके दर्शनसे पाँच सौ मुमुक्षुओने केवलज्ञान प्राप्त किया, उन आज्ञावर्तियोको केवलज्ञान कहा है, उस 'केवलज्ञान'को 'केवल-कोटी' कहते हों, तो यह बात किसी भी तरह योग्य है। केवलज्ञानका श्री डुंगर एकांत निषेध करे, तो वह आत्माका निषेध करने जैसा है। लोग अभी 'केवलज्ञान' की जो व्याख्या करते है, वह 'केवलज्ञान' की व्याख्या विरोधवाली मालूम होती है, ऐसा उन्हे लगता हो तो यह भी सम्भवित है, क्योकि वर्तमान प्ररूपणामे मात्र जगतज्ञान' 'केवलज्ञान'का विषय कहा जाता है। इस प्रकारका समाधान लिखते हुए बहुतसे प्रकारके विरोध दृष्टिगोचर होते हैं, और उन विरोधोंको बताकर उसका समाधान लिखना अभी तत्काल होना अशक्य है, इसलिये सक्षेपमे समाधान लिखा है। समाधानका समुच्चयार्थ इस प्रकार है—

"आत्मा जब अत्यन्त शुद्ध ज्ञानस्थितिका सेवन करे, उसका नाम मुख्यतः 'केवलज्ञान' है। सर्व प्रकारके रागद्वेषका अभाव होनेपर अत्यन्त शुद्ध ज्ञानस्थिति प्रगट होने योग्य है। उस स्थितिमे जो कुछ जाना जा सके वह 'केवलज्ञान' है, और वह सदेहयोग्य नही है। श्री डुंगर 'केवल-कोटी' कहते है, वह भी महावीरस्वामीके समीपवर्ती आज्ञावर्ती पाँच सौ केवली जैसे प्रसंगमें सम्भवित है। जगतके ज्ञानका लक्ष्य छोडकर जो शुद्ध आत्मज्ञान है वह 'केवलज्ञान' है, ऐसा विचारते हुए आत्मदशा विशेषत्वका सेवन करती है।" ऐसा इस प्रश्नके समाधानका सक्षिप्त आशय है। यथासम्भव जगतके ज्ञानका विचार छोडकर स्वरूपज्ञान हो उस प्रकारसे केवलज्ञानका विचार होनेके लिये पुरुषार्थ कर्तव्य है। जगतका ज्ञान होना उसे मुख्यतः 'केवलज्ञान' मानना योग्य नही है। जगतके जीवोको विशेष लक्ष्य होनेके लिये वारंवार जगतका ज्ञान साथमे लिया है, और वह कुछ कल्पित है, ऐसा नही है, परन्तु उसका अभिनिवेश करना योग्य नही है। इस स्थानपर विशेष लिखनेकी इच्छा होती है, और उसे रोकना पड़ता है; तो भी सक्षेपसे पुन लिखते है। "आत्मामेसे सर्व प्रकारका अन्य अध्यास दूर होकर स्फटिककी भाँति आत्मा अत्यन्त शुद्धताका सेवन करे, वह 'केवलज्ञान' है, और जगतज्ञानरूपसे उसे वारंवार जिनागममे कहा है, उस माहात्म्यसे बाह्यदृष्टि जीव पुरुषार्थमे प्रवृत्ति करे, यह हेतु है।"

यहाँ श्री डुंगरको, 'केवल-कोटी' सर्वथा हमने कही है, ऐसा कहना योग्य नही है। हमने अतरात्मरूपसे भी वैसा माना नही है। आपने यह प्रश्न लिखा, इसलिये कुछ विशेष हेतु विचारकर समाधान लिखा है, परन्तु अभी उस प्रश्नका समाधान करनेमे जितना मौन रहा जाये उतना उपकारी है, ऐसा चित्तमें रहता है। बाकीके प्रश्नोंका समाधान समागममे कीजियेगा।

---

६८० बंबई, चैत्र सुदी १३, १९५२

ॐ

जिसकी मोक्षके सिवाय किसी भी वस्तुकी इच्छा या स्पृहा नही थी और अखड स्वरूपमे रमणता होनेसे मोक्षकी इच्छा भी निवृत्त हो गयी है, उसे हे नाथ! तू तुष्टमान होकर भी और क्या देनेवाला था?

हे कृपालु ! तेरे अभेद स्वरूपमे ही मेरा निवास है वहाँ अब तो लेने-देनेकी भी झंझटसे छूट गये हैं और यही हमारा परमानंद है।

कल्याणके मार्गको और परमार्थस्वरूपको यथार्थतः नहीं समझनेवाले अज्ञानी जीव, अपनी मति-कल्पनासे मोक्षमार्गकी कल्पना करके विविध उपायोंमे प्रवृत्ति करते हैं फिर भी मोक्ष पानेके बदले संसारमें भटकते हैं; यह जानकर हमारा निष्कारण करुणाशील हृदय रोता है।

वर्तमानमें विद्यमान वीरको भूलकर, भूतकालकी भ्रातिमे वीरको खोजनेके लिये भटकते जीवोंको श्री महावीरका दर्शन कहाँसे हो ?

हे दुषमकालके दुर्भागी जीवों ! भूतकालकी भ्रांतिको छोड़कर वर्तमानमें विद्यमान महावीरकी शरणमें आओ तो तुम्हारा श्रेय ही है।

संसारतापसे संतप्त और कर्मबंधनसे मुक्त होनेके इच्छुक परमार्थप्रेमी जिज्ञासु जीवोंकी त्रिविध तापाग्निको शांत करनेके लिये हम अमृतसागर हैं।

मुमुक्षुजीवोंका कल्याण करनेके लिये हम कल्पवृक्ष ही है।

अधिक क्या कहें ? इस विषमकालमे परमशातिके धामरूप हम दूसरे श्री राम अथवा श्री महावीर ही हैं, क्योंकि हम परमात्मस्वरूप हुए हैं।

यह अंतर अनुभव परमात्मस्वरूपकी मान्यताके अभिमानसे उद्‌भूत हुआ नहीं लिखा है, परतु कर्म-बंधनसे दुःखी होते जगतके जीवोंपर परम करुणाभाव आनेसे उनका कल्याण करनेकी तथा उनका उद्धार करनेकी निष्कारण करुणा ही यह हृदयचित्र प्रदर्शित करनेकी प्रेरणा करती है।

ॐ श्री महावीर [निजी]

---

६८१ बंबई, चैत्र वदी-१, १९५२

पत्र मिला है। कुछ समयसे ऐसा होता रहता है कि विस्तारसे पत्र लिखना नही हो सकता, और पत्रकी पहुँच भी क्वचित् अनियमित लिखी जाती है। जिस कारणयोगसे ऐसी स्थिति रहती है, उस कारण-योगके प्रति दृष्टि करते हुए अभी भी कुछ समय ऐसी स्थिति वेदन करने योग्य लगती है। वचन पढनेकी विशेष अभिलाषा रहती है, उन वचनोको भेजनेके लिये आप स्तम्भतीर्थवासीको लिखियेगा। वे यहाँ पुछवायेंगे तो प्रसंगोचित लिखूँगा।

यदि उन वचनोको पढने-विचारनेका आपको प्रसंग प्राप्त हो तो जितनी हो सके उतनी चित्त-स्थिरतासे पढ़ियेगा और उन वचनोंको अभी तो स्व उपकारके लिये उपयोगमें लीजियेगा, प्रचलित न कीजियेगा। यही विनती।

---

६८२ बंबई, चैत्र वदी १, सोम, १९५२

दोनों मुमुक्षुओं (श्री लल्लुजी आदि) को अभी कुछ लिखना नहीं हुआ। अभी कुछ समयसे ऐसी स्थिति रहती है कि कभी ही पत्रादि लिखना हो पाता है, और वह भी अनियमितरूपसे लिखा जाता है। जिस कारण-विशेषसे तथारूप स्थिति रहती है उस कारणविशेषकी ओर दृष्टि करते हुए कुछ समय तक वैसी स्थिति रहनेकी सम्भावना दिखायी देती है। मुमुक्षुजीवकी वृत्तिको पत्रादिसे कुछ उपदेशरूप विचार करनेका साधन प्राप्त हो तो उससे वृत्तिका उत्कर्ष हो और सद्‌विचारका बल वर्धमान हो, इत्यादि उपकार इस प्रकारमें समाविष्ट हैं: फिर भी जिस कारणविशेषसे वर्तमान स्थिति रहती है, वह स्थिति वेदन करने योग्य लगती है।

---

६८३ बंबई, चैत्र वदी ७, रवि, १९५२

दो पत्र मिले हैं। अभी विस्तारपूर्वक पत्र लिखना प्रायः कभी ही होता है, और कभी तो पत्रकी पहुँच भी कितने दिन बीतनेके बाद लिखी जाती है।

सत्समागमके अभावके प्रसंगमे तो विशेषतः आरंभ-परिग्रहकी वृत्तिको कम करनेका अभ्यास रखकर, जिन ग्रंथोंमे त्याग, वैराग्य आदि परमार्थ साधनोंका उपदेश दिया है, उन ग्रंथोको पढनेका अभ्यास कर्तव्य है, और अप्रमत्तरूपसे अपने दोषोको वारवार देखना योग्य है।

---

६८४ बंबई, चैत्र वदी १४, रवि, १९५२

'अन्य पुरुषकी दृष्टिमें, जग व्यवहार लखाय,
वृन्दावन, अब जग नहीं कौन व्यवहार बताय ?' —विहार वृन्दावन

---

६८५ बंबई, चैत्र वदी १४, रवि, १९५२

एक पत्र मिला है। आपके पास जो उपदेशवचनोका सग्रह हैं, वे पढ़नेके लिये प्राप्त हो इसलिये श्री कुवरजीने विनती की थी। उन वचनोंको पठनार्थ भेजनेके लिये स्तंभतीर्थ लिखियेगा, और यहाँ वे लिखेंगे तो प्रसंगोचित लिखूँगा, ऐसा हमने कलोल लिखा था। यदि हो सके तो उन्हे वर्तमानमें विशेष उपकारभूत हों ऐसे कितने ही वचन उनमेंसे लिख भेजियेगा। सम्यग्दर्शनके लक्षणादिवाले पत्र उन्हे विशेष उपकारभूत हो सकने योग्य हैं।

वीरमगामसे श्री सुखलाल यदि श्री कुंवरजीकी भाँति पत्रोकी माँग करें तो उनके लिये भी ऊपर लिखे अनुसार करना योग्य है।

---

६८६ बंबई, चैत्र वदी १४, रवि, १९५२

आप आदिके समागमके बाद यहाँ आना हुआ था। इतनेमें आपका एक पत्र मिला था। अभी तीन-चार दिन पहले एक दूसरा पत्र मिला है। कुछ समयसे सविस्तर पत्र लिखना कभी ही बन पाता है। और कभी पत्रकी पहुँच लिखनेमे भी ऐसा हो जाता है। पहले कुछ मुमुक्षुओके प्रति उपदेश पत्र लिखे गये है, उनकी प्रतियाँ श्री अबालालके पास हैं। उन पत्रोको पढ़ने-विचारनेका अभ्यास करनेसे क्षयोपशमकी विशेष शुद्धि हो सकने योग्य है। श्री अंबालालको वे पत्र पठनार्थ भेजनेके लिये विनती कीजियेगा। यही विनती।

---

६८७ बंबई, वैशाख सुदी १, मंगल, १९५२

ॐ

बहुत दिनोंसे पत्र नही है, सो लिखियेगा।

यहाँसे जैसे पहले विस्तारपूर्वक पत्र लिखना होता था, वैसे प्रायः बहुत समयसे तथारूप प्रारब्धके कारण नही होता।

करनेके प्रति वृत्ति नही है, अथवा एक क्षण भी जिसे करना भासित नहीं होता, करनेसे उत्पन्न होनेवाले फलके प्रति जिसकी उदासीनता है, वैसा कोई आप्तपुरुष तथारूप प्रारब्ध योगसे परिग्रह, संयोग आदिमें प्रवृत्ति करता हुआ दिखायी देता हो, और जैसे इच्छुक पुरुष प्रवृत्ति करे, उद्यम करे, वैसे कार्य-सहित प्रवर्तमान देखनेमें आता हो, तो वैसे पुरुषमें ज्ञानदशा है, यह किस तरह जाना जा सकता है ?

अर्थात् वह पुरुष आप्त (परमार्थके लिये प्रतीति करने योग्य) है, अथवा ज्ञानी है; यह किस लक्षणसे पहचाना जा सकता है ? कदाचित् किसी मुमुक्षुको दूसरे किसी पुरुषके सत्संगयोगसे ऐसा जाननेमे आया तो उस पहचानमे भ्राति हो वैसा व्यवहार उस सत्पुरुषमे प्रत्यक्ष दिखायी देता है, उस भ्रातिके निवृत्त होनेके लिये ममुक्षुजीवको वैसे पुरुषको किस प्रकारसे पहचानना योग्य है कि जिससे वैसे व्यवहारमे प्रवृत्ति करते हुए भी ज्ञानलक्षणता उसके ध्यानमें रहे ?

सर्व प्रकारसे जिसे परिग्रह आदि सयोगके प्रति उदासीनता रहती है, अर्थात् अहता-ममता तथारूप सयोगमे जिसे नही होती, अथवा परिक्षण हो गयी है; 'अनतानुबधी' प्रकृतिसे रहित मात्र प्रारब्धोदयसे व्यवहार रहता हो, वह व्यवहार सामान्य दशाके मुमुक्षुको संदेहका हेतु होकर, उसे उपकारभूत होनेमे निरोधरूप होता हो, ऐसा वह ज्ञानीपुरुष देखता है, और उसके लिये भी परिग्रह संयोग आदि प्रारब्धोदय रूप व्यवहारकी परिक्षीणताकी इच्छा करता है, वैसा होने तक किस प्रकारसे उस पुरुषने प्रवृत्ति की हो, तो उस सामान्य मुमुक्षुको उपकार होनेमें हानि न हो ? पत्र विशेष संक्षेपसे लिखा गया है, परन्तु आप तथा श्री अचल उसका विशेष मनन कीजियेगा।

---

६८८ बबई, वैशाख सुदी ६, रवि, १९५२

पत्र मिला है। तथा वचनोकी प्रति मिली है। उस प्रतिमे किसी किसी स्थलमे अक्षरातर तथा शब्दातर हुआ है, परंतु प्रायः अर्थांतर नही हुआ। इसलिये वैसी प्रतियाँ श्री सुखलाल तथा श्री कुवरजी-को भेजनेमे आपत्ति जैसा नही है। बादमें भी उस अक्षर तथा शब्दकी शुद्धि हो सकने योग्य है।

---

६८९ ववाणिया, वैशाख वदी ६, रवि, १९५२

आर्य श्री माणेकचंद आदिके प्रति, श्री स्तंभतीर्थ।

सुदरलालके वैशाख वदी एकमको देह छोडनेकी जो खबर लिखी, सो जानी। विशेष कालकी बीमारीके बिना, युवावस्थामे अकस्मात् देह छोडनेसे सामान्यरूपसे परिचित मनुष्योको भी उस बातसे खेद हुए बिना नही रहता, तो फिर जिसने कुटुम्ब आदि सम्बन्धके स्नेहसे उसमे मूर्च्छा की हो, उसके सहवास-मे रहा हो, उसके प्रति कुछ आश्रय-भावना रखी हो उसे खेद हुए बिना कैसे रहेगा ? इस ससारमे मनुष्य प्राणीको जो खेदके अकथ्य प्रसग प्राप्त होते है, उन अकथ्य प्रसगोमेसे यह एक महान खेदकारक प्रसंग है। ऐसे प्रसंगमे यथार्थ विचारवान पुरुषोके सिवाय सर्व प्राणी खेदविशेषको प्राप्त होते है, और यथार्थ विचारवान पुरुषोको वैराग्य विशेष होता है, संसारकी अशरणता अनित्यता और असारता विशेष दृढ होती है।

विचारवान पुरुषोंको उस खेदकारक प्रसंगका मूर्च्छाभावसे खेद करना, यह मात्र कर्मबंधका हेतु भासित होता है, और वैराग्यरूप खेदसे कर्मसगकी निवृत्ति भासित होती है, और यह सत्य है। मूर्च्छा-भावसे खेद करनेसे भी जिस सम्बन्धीका वियोग हुआ है, उसकी प्राप्ति नही होती, और जो मूर्च्छा होती है वह भी अविचारदशाका फल है ऐसा विचारकर विचारवान पुरुष उस मूर्च्छाभाव-प्रत्ययी खेदको शात करते हैं, अथवा प्रायः वैसा खेद उन्हें नही होता। किसी तरह वैसे खेदकी हितकारिता दिखायी नही देती, और यह प्रसंग खेदका निमित्त है, इसलिये वैसे अवसर पर विचारवान पुरुषोको, जीवके लिये हितकारी ऐसा खेद उत्पन्न होता है। सर्व संगकी अशरणता, अबंधुता, अनित्यता और तुच्छता तथा अन्यत्वभाव देखकर अपने आपको विशेष प्रतिबोध होता है कि हे जीव ! तुझे कुछ भी इस संसारमे उदयादिभावसे भी मूर्च्छा रहती हो तो उसका त्याग कर, त्याग कर; उस मूर्च्छाका कुछ फल नही है, संसारमे कभी भी शरणत्व आदि प्राप्त होना नही है, और अविचारिताके बिना इस संसारमे मोह होना योग्य नही है, जो मोह

अनंत जन्ममरणका और प्रत्यक्ष खेदका हेतु है, दुःख और क्लेशका बीज है; उसे शात कर, उसका क्षय कर। हे जीव ! इसके बिना अन्य कोई हितकारी उपाय नही है, इत्यादि भावितात्मतासे वैराग्यको शुद्ध और निश्चल करता है। जो कोई जीव यथार्थ विचारसे देखता है, उसे इसी प्रकारसे भासित होता है।

इस जीवको देहसंबंध होकर मृत्यु न होती तो इस ससारके सिवाय अन्यत्र अपनी वृत्ति लगानेका अभिप्राय न होता। मुख्यतः मृत्युके भयने परमार्थरूप दूसरे स्थानमे वृत्तिको प्रेरित किया है, वह भी किसी विरले जीवको प्रेरित हुई है। बहुतसे जीवोको तो बाह्य निमित्तसे मृत्युभयके कारण बाह्य क्षणिक वैराग्य प्राप्त होकर विशेष कार्यकारी हुए बिना नाश पाता है। मात्र किसी एक विचारवान अथवा सुलभबोधी या लघुकर्मी जीवको उस भयसे अविनाशी निःश्रेयस पदके प्रति वृत्ति होती है।

मृत्युभय होता तो भी यदि वह मृत्यु वृद्धावस्थामे नियमित प्राप्त होती तो भी जितने पूर्वकालमें विचारवान हुए है, उतने न होते; अर्थात् वृद्धावस्था तक तो मृत्युका भय नही है ऐसा देखकर, प्रमाद-सहित प्रवृत्ति करते। मृत्युका अवश्य आना देखकर तथा अनियमितरूपसे उसका आना देखकर, उस प्रसगके प्राप्त होनेपर स्वजनादि सबसे अरक्षणता देखकर, परमार्थका विचार करनेमे अप्रमत्तता ही हित-कारी प्रतीत हुई, और सर्वसगकी अहितकारिता प्रतीत हुई। विचारवान पुरुषोंका यह निश्चय निःसंदेह सत्य है, त्रिकाल सत्य है। मूर्च्छाभावका खेद छोड़कर असगभावप्रत्ययी खेद करना विचारवानको कर्तव्य है।

यदि इस ससारमे ऐसे प्रसंगोका सम्भव न होता, अपनेको या दूसरोको वैसे प्रसंगकी अप्राप्ति दिखायी देती होती, अशरणता आदि न होते तो पंचविषयके सुख-साधनकी जिन्हे प्राय कुछ भी न्यूनता न थी, ऐसे श्री ऋषभदेव आदि परमपुरुष, और भरतादि चक्रवर्ती आदि उसका क्यो त्याग करते? एकात असंगताका सेवन वे क्यो करते?

हे आर्य माणेकचंद आदि! यथार्थ विचारकी न्यूनताके कारण पुत्र आदि भावकी कल्पना और मूर्च्छाके कारण आपको कुछ भी खेद विशेष प्राप्त होना सम्भव है, तो भी उस खेदका दोनोके लिये कुछ भी हितकारी फल न होनेसे, मात्र असंग विचारके बिना किसी दूसरे उपायसे हितकारिता नही है, ऐसा विचारकर, वर्तमान खेदको यथाशक्ति विचारसे, ज्ञानी पुरुषोंके वचनामृतसे तथा साधु पुरुषके आश्रय, समागम आदिसे और विरतिसे उपशात करना ही कर्तव्य है।

---

६९० बंबई, द्वितीय जेठ सुदी २, शनि, १९५२

ॐ

मुमुक्षु श्री छोटालालके प्रति, श्री स्तंभतीर्थ।

पत्र मिला है।

जिस हेतुसे अर्थात् शारीरिक रोग विशेषसे आपके नियममे आगार था, वह रोग विशेष उदयमे है, इसलिये उस आगारका ग्रहण करते हुए आज्ञाका भंग अथवा अतिक्रम नही होता; क्योंकि आपके नियमका प्रारम्भ तथाप्रकारसे हुआ था। यही कारणविशेष होनेपर भी यदि अपनी इच्छासे उस आगारका ग्रहण करना हो तो आज्ञाका भंग या अतिक्रम होता है।

सर्व प्रकारके आरम्भ तथा परिग्रहके सम्बन्धके मूलका छेदन करनेके लिये समर्थ ऐसा ब्रह्मचर्य परम साधन है। यावत् जीवनपर्यन्त उस व्रतको ग्रहण करनेका आपका निश्चय रहता है, ऐसा जानकर प्रसन्न होना योग्य है। अगले समागमके आश्रयमे उस प्रकारके विचारको निवेदित करना रखकर संवत् १९५२

के आसोज मासकी पूर्णता तक या संवत् १९५३ की कार्तिक सुदी पूर्णिमा पर्यन्त श्री लल्लुजीके पास उस व्रतको ग्रहण करते हुए आज्ञाका अतिक्रम नही है।

श्री माणेकचंदका लिखा हुआ पत्र मिला है। सुन्दरलालके देहत्याग सम्बन्धी खेद बताकर, उसके आधारपर संसारकी अशरणतादि लिखी है, वह यथार्थ है; वैसी परिणति अखड रहे तभी जीव उत्कृष्ट वैराग्यको पाकर स्वस्वरूपज्ञानको प्राप्त करता है; कभी कभी किसी निमित्तसे वैसे परिणाम होते हैं, परन्तु उनमे विघ्नरूप संग तथा प्रसगमे जीवका वास होनेसे वे परिणाम अखंड नही रहते, और ससाराभिरुचि हो जाती है; वैसी अखंड परिणतिके इच्छुक मुमुक्षुको उसके लिये नित्य सत्समागमका आश्रय करनेकी परम पुरुषने शिक्षा दी है।

जब तक जीवको वह योग प्राप्त न हो तब तक कुछ भी उस वैराग्यके आधारका हेतु तथा अप्रतिकूल निमित्तरूप मुमुक्षुजनका समागम तथा सत्शास्त्रका परिचय कर्तव्य है। अन्य सग तथा प्रसगसे दूर रहनेकी वारवार स्मृति रखनी चाहिये, और वह स्मृति प्रवर्तनरूप करनी चाहिये। वारवार जीव इस बातको भूल जाता है; और इस कारणसे इच्छित साधन तथा परिणतिको प्राप्त नही होता।

श्री सुन्दरलालकी गतिविषयक प्रश्न पढा है। इस प्रश्नको अभी शात करना योग्य है, तथा तद्विषयक विकल्प करना योग्य भी नही है।

---

६९१ बंबई, द्वितीय जेठ वदी ६, गुरु, १९५२

ॐ

'वर्तमानकालमे इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति नही होती' ऐसा जिनागममे कहा है, और वेदांत आदि ऐसा कहते हैं कि (इस कालमे इस क्षेत्रसे) निर्वाणकी प्राप्ति होती है। इसके लिये श्री डुगरको जो परमार्थ भासित होता हो, सो लिखियेगा। आप और लहेराभाई भी इस विषयमे यदि कुछ लिखना चाहे तो लिखियेगा।

वर्तमानकालमे इस क्षेत्रसे निर्वाणप्राप्ति नही होती, इसके सिवाय अन्य कितने ही भावोका भी जिनागममे तथा तदाश्रित आचार्यरचित शास्त्रमे विच्छेद कहा है। केवलज्ञान, मन पर्यायज्ञान, अवधिज्ञान, पूर्वज्ञान, यथाख्यात चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, क्षायिक समकित और पुलाक-लब्धि इन भावोका मुख्यतः विच्छेद कहा है। श्री डुंगरको उस उसका जो परमार्थ भासित होता हो सो लिखियेगा। आपको और लहेराभाईको इस विषयमे यदि कुछ लिखनेकी इच्छा हो सो लिखियेगा।

वर्तमानकालमे इस क्षेत्रसे आत्मार्थकी कौन कौनसी मुख्य भूमिका उत्कृष्ट अधिकारीको प्राप्त हो सकती है, और उसकी प्राप्तिका मार्ग क्या है? वह भी श्री डुंगरसे लिखवाया जाये तो लिखियेगा। तथा इस विषयमे यदि आपको तथा लहेराभाईको कुछ लिखनेकी इच्छा हो जाये तो लिखियेगा। उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर अभी न लिखा जा सके तो उन प्रश्नोंके परमार्थका विचार करनेका ध्यान रखियेगा।

---

६९२ बंबई, द्वितीय जेठ वदी, १९५२

दुर्लभ मनुष्यदेह भी पूर्वकालमे अनतबार प्राप्त होनेपर भी कुछ भी सफलता नहीं हुई; परन्तु इस मनुष्यदेहकी कृतार्थता है कि जिस मनुष्यदेहमें इस जीवने ज्ञानीपुरुषको पहचाना, तथा उस महाभाग्यका आश्रय किया। जिस पुरुषके आश्रयसे अनेक प्रकारके मिथ्या आग्रह आदिकी मंदता हुई, उस पुरुषके आश्रयपूर्वक यह देह छूटे, यही सार्थकता है। जन्मजरामरणादिका नाश करनेवाला आत्मज्ञान जिसमे

विद्यमान है, उस पुरुषका आश्रय ही जीवके जन्मजरामरणादिका नाश कर सकता है; क्योंकि वह यथा-सम्भव उपाय है। संयोग-सम्बन्धसे इस देहके प्रति इस जीवका जो प्रारब्ध होगा उसके व्यतीत हो जाने-पर इस देहका प्रसंग निवृत्त होगा। इसका चाहे जब वियोग निश्चित है, परन्तु आश्रयपूर्वक देह छूटे, यही जन्म सार्थक है, कि जिस आश्रयको पाकर जीव इस भवमे अथवा भविष्यमे थोडे कालमे भी स्वस्वरूपमें स्थिति करे।

आप तथा श्री मुनि प्रसंगोपात्त खुशालदासके यहाँ जानेका रखियेगा। ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिको यथाशक्ति धारण करनेकी उनमे सम्भावना दिखायी दे तो मुनिको वैसा करनेमे प्रतिबंध नही है।

श्री सद्गुरुने कहा है ऐसे निर्ग्रंथमार्गका सदैव आश्रय रहे।

मैं देहादिस्वरूप नही हूँ, और देह, स्त्री, पुत्र आदि कोई भी मेरे नही हैं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप अविनाशी ऐसा मै आत्मा हूँ, इस प्रकार आत्मभावना करते हुए रागद्वेषका क्षय होता है।

---

६९३ बंबई, आषाढ सुदी २, रवि, १९५२

जिसकी मृत्युके साथ मित्रता हो, अथवा जो मृत्युसे भागकर छूट सकता हो, अथवा मैं नहीं ही मरूँ ऐसा जिसे निश्चय हो, वह भले सुखसे सोये।

—श्री तीर्थंकर—छ जीवनिकाय अध्ययन।

ज्ञानमार्ग दुराराध्य है। परमावगाढदशा पानेसे पहले उस मार्गमे पतनके बहुत स्थान है। सन्देह, विकल्प, स्वच्छदता, अतिपरिणामिता इत्यादि कारण बारबार जीवके लिये उस मार्गसे पतनके हेतु होते हैं, अथवा ऊर्ध्वभूमिका प्राप्त होने नही देते।

क्रियामार्गमे असद्अभिमान, व्यवहार-आग्रह, सिद्धिमोह, पूजासत्कारादि योग और दैहिक क्रियामे आत्मनिष्ठा आदि दोषोंका सम्भव रहा है।

किसी एक महात्माको छोड़कर बहुतमे विचारवान जीवोंने इन्ही कारणोसे भक्तिमार्गका आश्रय लिया है, और आज्ञाश्रितता अथवा परमपुरुष सद्गुरुमे सर्वार्पण-स्वाधीनताको शिरसावद्य माना है, और वैसी ही प्रवृत्ति की है। तथापि वैसा योग प्राप्त होना चाहिये, नही तो चितामणि जैसा जिसका एक समय है ऐसी मनुष्यदेह उलटे परिभ्रमणवृद्धिका हेतु होती है।

---

६९४ बंबई, आषाढ सुदी २, रवि, १९५२

ॐ

आत्मार्थी श्री सोभागके प्रति, श्री सायला।

श्री डुंगरके अभिप्रायपूर्वक आपका लिखा हुआ पत्र तथा श्री लहेराभाईका लिखा हुआ पत्र मिला हैं। श्री डुंगरके अभिप्रायपूर्वक श्री सोभागने लिखा है कि निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षासे जिनागम तथा वेदात आदि दर्शनमे वर्तमानकालमे इस क्षेत्रसे मोक्षकी ना और हाँ कही होनेका सम्भव है, यह विचार विशेष अपेक्षासे यथार्थ दिखायी देता है; और लहेराभाईने लिखा है कि वर्तमानकालमें संघयणादिके हीन होनेके कारणसे केवलज्ञानका जो निषेध किया है, वह भी सापेक्ष है।

आगे चलकर विशेषार्थ ध्यानगत होनेके लिये पिछले पत्रके प्रश्नको कुछ स्पष्टतासे लिखते हैं :—वर्तमानमें जिनागमसे जैसा केवलज्ञानका अर्थ वर्तमान जैनसमुदायमे चलता है, वैसा ही उसका अर्थ आपको

यथार्थ प्रतीत होता है या कुछ दूसरा अर्थ प्रतीत होता है ? सर्व देशकालादिका ज्ञान केवलज्ञानीको होता है, ऐसा जिनागमका अभी रूढ़ि-अर्थ है, अन्य दर्शनोंमे ऐसा मुख्यार्थ नही है, और जिनागमसे वैसा मुख्यार्थ लोगोंमें अभी प्रचलित है। वही केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमे बहुतसे विरोध दिखायी देते है। जो सब यहाँ नहीं लिखे जा सकें है। तथा जो विरोध लिखे हैं वे भी विशेष विस्तारसे नहीं लिखे जा सके हैं; क्योंकि वे यथावसर लिखने योग्य लगते हैं। जो लिखा है वह उपकारदृष्टिसे लिखा है, यह ध्यान रखें।

योगधारिता अर्थात् मन, वचन और कायासहित स्थिति होनेसे आहारादिके लिये प्रवृत्ति होते हुए उपयोगांतर हो जानेसे उसमे कुछ भी वृत्तिका अर्थात् उपयोगका निरोध होता है। एक समयमे किसीको दो उपयोग नही रहते ऐसा सिद्धात है, तब आहारादिकी प्रवृत्तिके उपयोगमे रहते हुए केवलज्ञानीका उपयोग केवलज्ञानके ज्ञेयके प्रति नही रहता; और यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानको जो अप्रतिहत कहा है, वह प्रतिहत हुआ माना जाये। यहाँ कदाचित् ऐसा समाधान करें कि जैसे दर्पणमे पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं वैसे केवलज्ञानमें सर्व देशकाल प्रतिबिंबित होते हैं। केवलज्ञानी उनमे उपयोग देकर जानते है यह बात नही है, सहजस्वभावसे ही उसमे पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं, इसलिये आहारादिमे उपयोग रहते हुए भी सहजस्वभावसे प्रतिभासित केवलज्ञानका अस्तित्व यथार्थ है, तो यहाँ प्रश्न होना सम्भव है कि 'दर्पणमे प्रतिभासित पदार्थका ज्ञान दर्पणको नही होता, और यहाँ तो केवलज्ञानीको उनका ज्ञान होता है, ऐसा कहा है; तथा उपयोगके सिवाय आत्माका दूसरा ऐसा कौनसा स्वरूप है कि आहारादिमे उपयोगकी प्रवृत्ति हो तब केवलज्ञानमे प्रतिभासित होने योग्य ज्ञेयको आत्मा उससे जाने ?'

सर्व देशकाल आदिका ज्ञान जिस केवलीको हो वह केवली 'सिद्ध' को कहे तो सम्भवित होने योग्य माना जाये, क्योकि उसे योगधारिता नही कही है। इसमे भी प्रश्न हो सकता है, तथापि योगधारीकी अपेक्षासे सिद्धमे वैसे केवलज्ञानकी मान्यता हो तो योगरहितत्व होनेसे उसमे सम्भवित हो सकता है, इतना प्रतिपादन करनेके लिये लिखा है, सिद्धको वैसा ज्ञान होता ही है ऐसे अर्थका प्रतिपादन करनेके लिये नही लिखा। यद्यपि जिनागमके रूढ़ि-अर्थके अनुसार देखनेसे तो 'देहधारी केवली' और 'सिद्ध' मे केवलज्ञानका भेद नही होता, दोनोको सर्व देशकाल आदिका सम्पूर्ण ज्ञान होता है यह रूढ़ि-अर्थ है। दूसरी अपेक्षासे जिनागम देखनेसे भिन्नरूपसे दिखायी देता है। जिनागममे इस प्रकार पाठार्थ देखनेमे आते है :—

"केवलज्ञान दो प्रकारसे कहा है। वह इस तरह—'सयोगी भवस्थ केवलज्ञान', 'अयोगी भवस्थ केवलज्ञान'। सयोगी केवलज्ञान दो प्रकारसे कहा है, वह इस तरह—प्रथम समय अर्थात् उत्पन्न होनेके समयका सयोगी केवलज्ञान, अप्रथम समय अर्थात् अयोगी होनेके प्रवेश समयसे पहलेका केवलज्ञान। इसी तरह अयोगी भवस्थ केवलज्ञान दो प्रकारसे कहा है, वह इस तरह—प्रथम समय केवलज्ञान और अप्रथम अर्थात् सिद्ध होनेसे पहलेके अंतिम समयका केवलज्ञान।"

इत्यादि प्रकारसे केवलज्ञानके भेद जिनागममे कहे है, उसका परमार्थ क्या होना चाहिये ? कदाचित् ऐसा समाधान करें कि बाह्य कारणकी अपेक्षासे केवलज्ञानके भेद बताये है, तो वहाँ यो शंका करना सभव है कि कुछ भी पुरुषार्थ सिद्ध न होता हो और जिसमे विकल्पका अवकाश न हो उसमे भेद करनेकी प्रवृत्ति ज्ञानीके वचनमे सम्भव नही है। प्रथम समय केवलज्ञान और अप्रथम समय केवलज्ञान ऐसे भेद करते हुए केवलज्ञानका तारतम्य बढ़ता घटता हो तो वह भेद सम्भव है, परन्तु तारतम्यमे वैसा नही है; तब भेद करनेका क्या कारण ?' इत्यादि प्रश्न यहाँ सम्भव हैं, उनपर और पहलेके पत्रपर यथाशक्ति विचार कर्तव्य है।

---

६९५ बंबई, आषाढ सुदी ५, बुध, १९५२

ॐ

श्री सहजानन्दके वचनामृतमे आत्मस्वरूपके साथ अर्हनिश प्रत्यक्ष भगवानकी भक्ति करना, और वह भक्ति 'स्वधर्म'मे रहकर करना, इस तरह जगह जगह मुख्यरूपसे बात आती है। अब यदि 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ 'आत्मस्वभाव' अथवा 'आत्मस्वरूप' होता हो तो फिर 'स्वधर्मसहित भक्ति करना' यह कहनेका क्या कारण ? ऐसा आपने लिखा उसका उत्तर यहाँ लिखा है :—

स्वधर्ममे रहकर भक्ति करना ऐसा बताया है, वहाँ 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ 'वर्णाश्रम धर्म' है। जिस ब्राह्मण आदि वर्णमे देह धारण हुआ हो, उस वर्णका श्रुति-स्मृतिमे कहे हुए धर्मका आचरण करना, यह 'वर्णधर्म' है, और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमके क्रमसे आचरण करनेकी जो मर्यादा श्रुति-स्मृतिमे कही है, उस मर्यादासहित उस उस आश्रममे प्रवृत्ति करना, यह 'आश्रमधर्म' है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं, तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त ये चार आश्रम हैं। ब्राह्मणवर्णमे इस प्रकारसे वर्णधर्मका आचरण करना, ऐसा श्रुति-स्मृतिमे कहा हो उसके अनुसार ब्राह्मण आचरण करे तो 'स्वधर्म' कहा जाता है। और यदि वैसा आचरण न करते हुए क्षत्रिय आदिके आचरण करने योग्य धर्मका आचरण करे तो 'परधर्म' कहा जाता है। इस प्रकार जिस जिस वर्णमे देह धारण हुआ हो, उस उस वर्णके श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना, इसे 'स्वधर्म' कहा जाता है, और दूसरे वर्णके धर्मका आचरण करे तो 'परधर्म' कहा जाता है।

उसी तरह आश्रमधर्म सम्बन्धी भी स्थिति है। जिन वर्णोंको श्रुति-स्मृतिमे ब्रह्मचर्य आदि आश्रमसहित प्रवृत्ति करनेके लिये कहा है, उस वर्णमे प्रथम चौबीस वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रममे रहना, फिर चौबीस वर्ष तक गृहस्थाश्रममे रहना, क्रमसे वानप्रस्थ और सन्यस्त आश्रममे आचरण करना, इस प्रकार आश्रमका सामान्य क्रम है। उस उस आश्रममे आचरण करनेकी मर्यादाके समयमें दूसरे आश्रमके आचरणको ग्रहण करे तो वह 'परधर्म' कहा जाता है, और उस उस आश्रममे उस उस आश्रमके धर्मोंका आचरण करे तो वह 'स्वधर्म' कहा जाता है। इस प्रकार वेदाश्रित मार्गमे वर्णाश्रम धर्मको 'स्वधर्म' कहा है, उस वर्णाश्रम धर्मको यहाँ 'स्वधर्म' शब्दसे समझना योग्य है, अर्थात् सहजानंदस्वामीने वर्णाश्रम धर्मको यहाँ 'स्वधर्म' शब्दसे कहा है। भक्तिप्रधान सम्प्रदायोमे प्रायः भगवद्भक्ति करना, यही जीवका 'स्वधर्म' है, ऐसा प्रतिपादन किया है, परंतु उस अर्थमें यहाँ 'स्वधर्म' शब्द नही कहा है; क्योकि भक्ति 'स्वधर्म' मे रहकर करना, ऐसा कहा है, इसलिये स्वधर्मका भिन्नरूपसे ग्रहण किया है, और वह वर्णाश्रम धर्मके अर्थमे ग्रहण किया है। जीवका 'स्वधर्म' भक्ति है, यह बतानेके लिये तो भक्ति शब्दके बदले क्वचित् ही इन सम्प्रदायोमे स्वधर्म शब्दका ग्रहण किया है, और श्री सहजानंदके वचनामृतमे भक्तिके बदले स्वधर्म शब्द संज्ञावाचकरूपसे भी प्रयुक्त नहीं किया है श्री वल्लभाचार्यने तो क्वचित् प्रयुक्त किया है।

---

६९६ बंबई, आषाढ़ वदी ८, रवि, १९५२

ॐ

भुजा द्वारा जो स्वयंभूरमणसमुद्रको तर गये, तरते हैं और तरेंगे,
उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार

आपने सहज विचारके लिये जो प्रश्न लिखे थे, वह पत्र प्राप्त हुआ था।

एक धारासे वेदन करने योग्य प्रारब्धका वेदन करते हुए कुछ एक परमार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति कृत्रिम जैसी लगती है, इत्यादि कारणोंसे मात्र पहुँच लिखना भी नही हुआ। चित्तको जो सहज

भी आलंबन है, उसे खींच लेनेसे वह आर्तता प्राप्त करेगा, ऐसा जानकर उस दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है।

सूक्ष्मसंगरूप और बाह्यसंगरूप दुस्तर स्वयंभूरमणसमुद्रको भुजा द्वारा जो वर्धमान आदि पुरुष तर गये हैं, उन्हें परमभक्तिसे नमस्कार हो! पतनके भयकर स्थानकमे सावधान रहकर तथारूप सामर्थ्यको विस्तृत करके जिसने सिद्धि सिद्ध की है, उस पुरुषार्थको याद करके रोमाचित, अनत और मौन ऐसा आश्चर्य उत्पन्न होता है।

---

६९७ बंबई, आषाढ वदी ८, रवि, १९५२

भुजा द्वारा जो स्वयंभूरमणसमुद्रको तर गये, तरते है, और तरेंगे,
उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार

श्री अंबालालका लिखा हुआ तथा श्री त्रिभोवनका लिखा हुआ तथा श्री देवकरणजी आदिके लिखे हुए पत्र प्राप्त हुए हैं।

प्रारब्धरूप दुस्तर प्रतिबध रहता है, उसमे कुछ लिखना या कहना कृत्रिम जैसा लगता है और इसलिये अभी पत्रादिकी मात्र पहुँच भी नही लिखी गयी। बहुतसे पत्रोंके लिये वैसा हुआ है, जिससे चित्तको विशेष व्याकुलता होगी, उस विचाररूप दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है। आत्माको मूलज्ञानसे चलायमान कर डाले ऐसे प्रारब्धका वेदन करते हुए ऐसा प्रतिबध उस प्रारब्धके उपकारका हेतु होता है, और किसी विकट अवसरमे एक बार आत्माको मूलज्ञानके वमन करा देने तककी स्थितिको प्राप्त करा देता है, ऐसा जानकर, उससे डरकर आचरण करना योग्य है, ऐसा विचारकर पत्रादिकी पहुँच नही लिखो, सो क्षमा करें ऐसी नम्रतासहित प्रार्थना है।

अहो! ज्ञानीपुरुषकी आशय-गंभीरता, धीरता और उपशम! अहो! अहो! वारवार अहो!

ॐ

---

६९८ बंबई, श्रावण सुदी ५, शुक्र, १९५२

ॐ

'जिनागममें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्य कहे हैं, उनमे कालको भी द्रव्य कहा है और अस्तिकाय पाँच कहे हैं। कालको अस्तिकाय नही कहा है; इसका क्या हेतु होना चाहिये? कदाचित् कालको अस्तिकाय न कहनेमे यह हेतु हो कि धर्मास्तिकायादि प्रदेशके समूहरूप है, और पुद्गल-परमाणु वैसी योग्यतावाला द्रव्य है, काल वैसा नहीं है, मात्र एक समयरूप है, इसलिये कालको अस्तिकाय नही कहा। यहाँ ऐसी आशका होती है कि एक समयके बाद दूसरा फिर तीसरा इस तरह समयकी धारा बहा ही करती है, और उस धारामे बीचमे अवकाश नही है, इससे एक-दूसरे समयका अनुसधानत्व अथवा समूहात्मकत्व सम्भव है, जिससे काल भी अस्तिकाय कहा जा सकता है। तथा सर्वज्ञको तीन कालका ज्ञान होता है, ऐसा कहा है, इससे भी ऐसा समझमे आता है कि सर्व कालका समूह ज्ञानगोचर होता है, और सर्व समूह ज्ञानगोचर होता हो तो कालका अस्तिकाय होना सम्भव हैं, और जिनागममे उसे अस्तिकाय नहीं माना,' यह आशंका लिखी थी, उसका समाधान निम्नलिखितसे विचारणीय है—

जिनागमकी ऐसी प्ररूपणा है कि काल औपचारिक द्रव्य है, स्वाभाविक द्रव्य नहीं है।

जो पाँच अस्तिकाय कहे हैं, उनकी वर्तनाका नाम मुख्यतः काल है। उस वर्तनाका दूसरा नाम पर्याय भी है। जैसे धर्मास्तिकाय एक समयमे असंख्यात प्रदेशके समूहरूपसे मालूम होता है, वैसे काल

समूहरूपसे मालूम नही होता। एक समय रहकर लयको प्राप्त होता है, उसके बाद दूसरा समय उत्पन्न होता है। वह समय द्रव्यकी वर्तनाका सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग है।

सर्वज्ञको सर्व कालका ज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, उसका मुख्य अर्थ तो यह है कि पंचास्तिकाय द्रव्यपर्यायात्मकरूपसे उन्हे ज्ञानगोचर होता है, और सर्व पर्यायका जो ज्ञान है वही सर्व कालका ज्ञान कहा गया है। एक समयमे सर्वज्ञ भी एक समयको ही वर्तमान देखते है, और भूतकाल या भाविकालको विद्यमान नही देखते, यदि उसे भी विद्यमान देखें तो वह भी वर्तमानकाल ही कहा जायगा। सर्वज्ञ भूतकालको बीत चुका है इस रूपसे और भाविकालको आगे ऐसा होगा, ऐसा देखते हैं।

भूतकाल द्रव्यमे समा गया है, और भाविकाल सत्तारूपसे रहा है, दोनोमेसे एक भी वर्तमानरूपसे नही है, मात्र एक समयरूप ऐसा वर्तमानकाल ही विद्यमान है; इसलिये सर्वज्ञको ज्ञानमे भी उसी प्रकारसे भासमान होता है।

एक घड़ा अभी देखा हो, वह उसके बाद दूसरे समयमें नाशको प्राप्त हो गया, तब घडारूपसे विद्यमान नही है, परन्तु देखनेवालेको वह घड़ा जैसा था वैसा ज्ञानमे भासमान होता है; इसी तरह अभी एक मिट्टीका पिड पड़ा है, उसमेसे थोड़ा समय बीतनेपर एक घड़ा उत्पन्न होगा, ऐसा भी ज्ञानमे भासित हो सकता है, तथापि मिट्टीका पिंड वर्तमानमें कुछ घड़ारूपसे तो नही रहता। इसी तरह एक समयमे सर्वज्ञको त्रिकालज्ञान होनेपर भी वर्तमान समय तो एक ही है।

सूर्यके कारण जो दिन-रातरूप काल समझमे आता है वह व्यवहारकाल है; क्योकि सूर्य स्वाभाविक द्रव्य नही है। दिगम्बर, कालके असंख्यात अणु मानते है, परन्तु उनका एक दूसरेके साथ संधान है, ऐसा उनका अभिप्राय नही है, और इसलिये कालको अस्तिकायरूपसे नही माना।

प्रत्यक्ष सत्समागममे भक्ति, वैराग्य आदि दृढ साधनसहित मुमुक्षुको सद्गुरुकी आज्ञासे द्रव्यानुयोग विचारणीय है।

अभिनदनजिनकी श्री देवचंदजीकृत स्तुतिका पद लिखकर अर्थ पुछवाया है, उसमें 'पुद्गळअनुभवत्यागथी, करवी ज शु परतीत हो,' ऐसा लिखा है, वैसा मूलमे नही है। 'पुद्गळअनुभवत्यागथी, करवी जसु परतीत हो,' ऐसा मूल पद है। अर्थात् वर्ण, गन्ध आदि पुद्गल-गुणके अनुभवका अर्थात् रसका त्याग करनेसे, उसके प्रति उदासीन होनेसे, 'जसु' अर्थात् जिसकी (आत्माकी) प्रतीति होती है, ऐसा अर्थ है।

---

६९९ बंबई, श्रावण, १९५२

पचास्तिकायका स्वरूप संक्षेपमे कहा है —

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते है। अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशसमूहात्मक वस्तु। एक परमाणुके प्रमाणवाली अमूर्त वस्तुके भागकी 'प्रदेश' ऐसी सज्ञा है। जो वस्तु अनेक प्रदेशात्मक हो वह 'अस्तिकाय' कहलाती है। एक जीव असंख्यातप्रदेशप्रमाण है। पुद्गल परमाणु यद्यपि एकप्रदेशात्मक है, परन्तु दो परमाणुसे लेकर असख्यात, अनंत परमाणु एकत्र हो सकते है। इस तरह उसमें परस्पर मिलनेकी शक्ति रहनेसे वह अनेक प्रदेशात्मकता प्राप्त कर सकता है; जिससे वह भी अस्तिकाय कहने योग्य है। 'धर्मद्रव्य' असंख्यातप्रदेशप्रमाण, 'अधर्मद्रव्य' असख्यातप्रदेशप्रमाण, 'आकाशद्रव्य' अनंतप्रदेशप्रमाण होनेसे वे भी 'अस्तिकाय' है। इस तरह पाँच अस्तिकाय है। जिन पाँच अस्तिकायकी एकरूपतासे इस 'लोक' की उत्पत्ति है, अर्थात् 'लोक' पचास्तिकायमय है।

प्रत्येक प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशप्रमाण है। वे जीव अनंत है। एक परमाणु जैसे अनंत परमाणु हैं। दो परमाणुओके एकत्र मिलनेसे द्वयणुकस्कध होता है, जो अनंत है। इसी तरह तीन परमाणुओके

मिलनेसे त्र्यणुकस्कंध होता है, जो अनंत हैं। चार परमाणुओंके एकत्र मिलनेसे चतुरणुकस्कंध होता है, जो अनंत है। पाँच परमाणुओंके मिलनेसे पंचाणुकस्कंध होता है, जो अनंत हैं। इस तरह छः परमाणु, सात परमाणु, आठ परमाणु, नौ परमाणु, दस परमाणु एकत्र मिलनेसे तथारूप अनंत स्कंध हैं। इसी तरह ग्यारह परमाणु, यावत् सौ परमाणु, संख्यात परमाणु, असंख्यात परमाणु तथा अनंत परमाणु मिलनेसे अनंत स्कंध हैं।

'धर्म द्रव्य' एक है। वह असंख्यातप्रदेशप्रमाण लोकव्यापक है। 'अधर्मद्रव्य' एक है। वह भी असंख्यातप्रदेशप्रमाण लोकव्यापक है। 'आकाशद्रव्य' एक है। वह अनंतप्रदेशप्रमाण है, लोकालोकव्यापक है। लोकप्रमाण आकाश असंख्यातप्रदेशात्मक है।

'कालद्रव्य' यह पाँच अस्तिकायोंका वर्तनारूप पर्याय है, अर्थात् औपचारिक द्रव्य है, वस्तुत तो पर्याय ही है, और पल विपलसे लेकर वर्षादि पर्यंत जो काल सूर्यकी गतिसे समझा जाता है, वह 'व्यावहारिक काल' है, ऐसा श्वेतांबर आचार्य कहते है। दिगम्बर आचार्य भी ऐसा कहते है, परन्तु विशेषमे इतना कहते है कि लोकाकाशके एक एक प्रदेशमे एक एक कालाणु रहा हुआ है; जो अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है; अगुरुलघु स्वभाववान है। वे कालाणु वर्तनापर्याय और व्यावहारिक कालके लिये निमित्तोपकारी है। उन कालाणुओंको 'द्रव्य' कहना योग्य है, परन्तु 'अस्तिकाय' कहना योग्य नही है, क्योंकि एक दूसरेसे मिलकर वे अणु क्रियाकी प्रवृत्ति नही करते, जिससे बहुप्रदेशात्मक न होनेसे 'कालद्रव्य' अस्तिकाय कहने योग्य नही है, और पंचास्तिकायके विवेचनमे भी उसका गौणरूपसे स्वरूप कहते है।

'आकाश' अनंतप्रदेशप्रमाण है। उसमे असंख्यातप्रदेशप्रमाणमे धर्म, अधर्म द्रव्य व्यापक है। धर्म, अधर्म द्रव्यका ऐसा स्वभाव है कि जीव और पुद्गल उनकी सहायताके निमित्तसे गति और स्थिति कर सकते है, जिससे धर्म, अधर्मकी व्यापकतापर्यंत ही जीव और पुद्गलकी गति स्थिति है, और इससे लोकमर्यादा उत्पन्न होती है।

जीव, पुद्गल और धर्म, अधर्म, द्रव्यप्रमाण आकाश ये पाँच जहाँ व्यापक है, वह 'लोक' कहा जाता है।

---

७०० काविठा, श्रावण वदी, १९५२

शरीर किसका है ? मोहका है। इसलिये असंगभावना रखना योग्य है।

---

७०१ राळज, श्रावण वदी १३, शनि, १९५२

(१) 'अमुक पदार्थके जाने-आने आदिके प्रसंगमे धर्मास्तिकाय आदिके अमुक प्रदेशमे क्रिया होती है, और यदि इस प्रकार हो तो उनमे विभाग हो जाये, जिससे वे भी कालके समयकी भाँति अस्तिकाय न कहे जा सकें' इस प्रश्नका समाधान —

जैसे धर्मास्तिकाय आदिके सर्व प्रदेश एक समयमे वर्तमान हैं अर्थात् विद्यमान है, वैसे कालके सर्व समय कुछ एक समयमे विद्यमान नही होते, और फिर द्रव्यके वर्तनापर्यायके सिवाय कालका कोई भिन्न द्रव्यत्व नही है, कि उसके अस्तिकायत्वका संभव हो। अमुक प्रदेशमे धर्मास्तिकाय आदिमे क्रिया हो और अमुक प्रदेशमे न हो इससे कुछ उसके अस्तिकायत्वका भंग नही होता, मात्र एकप्रदेशात्मक वह द्रव्य हो और समूहात्मक होनेकी उसमें योग्यता न हो तो उसके अस्तिकायत्वका भंग होता है, अर्थात् कि, तो वह 'अस्तिकाय' नही कहा जाता। परमाणु एकप्रदेशात्मक है, तो भी वैसे दूसरे परमाणु मिलकर वह समूहात्मकत्वको प्राप्त होता है। इसलिये वह 'अस्तिकाय' (पुद्गलास्तिकाय) कहा जाता है। और एक

परमाणुमें भी अनतपर्यायात्मकत्व है, और कालके एक समयमे कुछ अनतपर्यायात्मकत्व नहीं है; क्योंकि वह स्वयं ही वर्तमान एक पर्यायरूप है। एक पर्यायरूप होनेसे वह द्रव्यरूप नही ठहरता, तो फिर अस्तिकायरूप माननेका विकल्प भी संभवित नहीं है।

(२) मूल अप्कायिक जीवोंका स्वरूप बहुत सूक्ष्म होनेसे सामान्य ज्ञानसे उसका विशेषरूपसे ज्ञान होना कठिन है; तो भी 'षड्दर्शनसमुच्चय' ग्रन्थ अभी प्रसिद्ध हुआ है, उसमे १४१ से १४३ पृष्ठ तक उसका कुछ स्वरूप समझाया है। उसका विचार कर सके तो विचार कीजियेगा।

(३) अग्नि अथवा दूसरे बलवान शस्त्रसे अप्कायिक मूल जीवोका नाश होता है, ऐसा समझमे आता है। यहाँसे बाष्प आदिरूप होकर जो पानी ऊँचे आकाशमे बादलरूपमे इकट्ठा होता है वह बाष्प आदिरूप होनेसे अचित् होने योग्य लगता है, परंतु बादलरूप होनेसे फिर सचित् हो जाने योग्य है। वह वर्षारूपसे जमीनपर गिरनेपर भी सचित् होता है। मिट्टी आदिके साथ मिलनेसे भी वह सचित् रह सकने योग्य है। सामान्यतः मिट्टी अग्नि जैसा बलवान शस्त्र नही है, अर्थात् वैसा हो तब भी सचित् होना सम्भव है।

(४) बीज जब तक बोनेसे उगनेकी योग्यतावाला है तब तक निर्जीव नही होता, सजीव ही कहा जाता है। अमुक अवधिके बाद अर्थात् सामान्यत. बीज (अन्न आदिका) तीन वर्ष तक सजीव रह सकता है, इससे बीचमे उसमेसे जीव चला भी जाये, परतु उस अवधिके बीत जानेके बाद उसे निर्जीव अर्थात् निर्बीज हो जाने योग्य कहा है। कदाचित् उसका आकार बीज जैसा हो, परंतु वह बोनेसे उगनेकी योग्यतासे रहित हो जाता है। सर्व बीजोकी अवधि तीन वर्षकी सम्भवित नही है, कुछ बीजोकी सम्भव है।

(५) फ्रैंच विद्वान द्वारा खोजे गये यन्त्रके ब्योरेका समाचारपत्र भेजा उसे पढ़ा है। उसमे उसका नाम जो 'आत्मा देखनेका यंत्र' रखा है, वह यथार्थ नही है। ऐसे किसी भी प्रकारके दर्शनकी व्याख्यामे आत्माका समावेश होना योग्य नही है। आपने भी उसे आत्मा देखनेका यंत्र नही समझा है, ऐसा जानते है, तथापि कार्मण या तैजस शरीर दिखायी देने योग्य है या कुछ दूसरा भास होना योग्य है, उसे जाननेकी आपकी इच्छा मालूम होती है। कार्मण या तैजस शरीर भी उस तरह दिखायी देने योग्य नही है। परतु चक्षु, प्रकाश, वह यंत्र, मरनेवालेकी देह और उसकी छाया अथवा किसी आभासविशेषसे वैसा दिखायी देना सम्भव है। उस यत्रके विषयमे अधिक विवरण प्रसिद्ध होनेपर यह बात प्राय पूर्वापर जाननेमे आयेगी। हवाके परमाणुओके दिखायी देनेके विषयमे भी उनके लिखनेकी या देखे हुए स्वरूपकी व्याख्या करनेमे कुछ पर्यायातर लगता है। हवासे गतिमान कोई परमाणुस्कंध (व्यावहारिक परमाणु, कुछ विशेष प्रयोगसे दृष्टिगोचर हो सकने योग्य हो वह) दृष्टिगोचर होना सभव है। अभी उनकी कृति अधिक प्रसिद्ध होनेपर विशेषरूपसे समाधान करना योग्य लगता है।

---

७०२ राळज, श्रावण वदी १४, रवि, १९५२

विचारवान पुरुष तो कैवल्यदशा होने तक मृत्युको नित्य समीप ही समझकर प्रवृत्ति करते हैं।

भाई श्री अनुपचद मलुकचदके प्रति, श्री भृगुकच्छ।

प्राय. किये हुए कर्मोकी रहस्यभूत मति मृत्युके समय रहती है। एक तो क्वचित् मुश्किलसे परिचित परमार्थभाव; और दूसरा नित्य परिचित निजकल्पना आदि भावसे रूढिधर्मके ग्रहण करनेका भाव ऐसे दो प्रकारके भाव हो सकते है। सद्विचारसे यथार्थ आत्मदृष्टि या वास्तविक उदासीनता तो सर्व जीवसमूहको देखते हुए किसी विरल जीवको क्वचित् ही होती है, और दूसरा भाव अनादिसे परिचित है,

वही प्रायः सब जीवोमे देखनेमे आता है, और देहांत होनेके प्रसंगपर भी उसका प्राबल्य देखनेमें आता है, ऐसा जानकर मृत्युके समीप आनेपर तथारूप परिणति करनेका विचार विचारवान पुरुष छोड़कर, पहलेसे ही उस प्रकारसे रहता है। आप स्वयं बाह्यक्रियाके विधि-निषेधके आग्रहको विसर्जनवत् करके अथवा उसमे अन्तर परिणामसे उदासीन होकर, देह और तत्संबंधी सबंधका बारंबारका विक्षेप छोड़कर, यथार्थ आत्मभावका विचार करना ध्यानगत करे तो वही सार्थक है। अंतिम अवसरपर अनशनादि या संस्तरादिक या संलेखनादिक क्रियाएँ क्वचित् हो, या न हो तो भी जिस जीवको उपर्युक्त भाव ध्यानगत है, उसका जन्म सफल है, और वह क्रमसे निःश्रेयसको प्राप्त होता है।

आपका, कितने ही कारणोसे बाह्यक्रियादिके विधि-निषेधका विशेष ध्यान देखकर हमे खेद होता था कि इसमे काल व्यतीत होनेसे आत्मावस्था कितनी स्वस्थताका सेवन करती है, और क्या यथार्थ स्वरूपका विचार कर सकती है कि जिससे आपको उसका इतना अधिक परिचय खेदका हेतु नही लगता ? जिसमें सहजमात्र उपयोग दिया हो तो चल सकता है, उसमे 'जागृति'कालका लगभग बहुतसा भाग व्यतीत होने जैसा होता है, वह किसलिये और उसका क्या परिणाम ? वह क्यों आपके ध्यानमें नही आता ? इस विषयमे क्वचित् कुछ प्रेरणा करनेकी सम्भवत इच्छा हुई थी, परंतु आपकी तथारूप रुचि और स्थिति दिखायी न देनेसे प्रेरणा करते करते वृत्तिको संकुचित कर लिया था। आज भी आपके चित्तमे इस बात-को अवकाश देने योग्य अवसर है। लोग मात्र विचारवान या सम्यग्दृष्टि समझे, इससे कल्याण नही है अथवा बाह्य-व्यवहारके अनेक विधि-निषेधके कर्तृत्वके माहात्म्यमे कुछ कल्याण नही है, ऐसा हमे तो लगता है। यह कुछ एकान्तिक दृष्टिसे लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है, ऐसा विचार छोडकर, जो कुछ उन वचनोसे अंतर्मुखवृत्ति होनेकी प्रेरणा हो उसे करनेका विचार रखना, यही सुविचारदृष्टि है।

लोकसमुदाय कुछ भला होनेवाला नही है, अथवा स्तुतिनिंदाके प्रयत्नार्थ इस देहकी प्रवृत्ति विचारवानके लिये कर्तव्य नही है। अंतर्मुखवृत्ति रहित बाह्यक्रियाके विधि-निषेधमे कुछ भी वास्तविक कल्याण नही है। गच्छादि भेदका निर्वाह करनेमे, नाना प्रकारके विकल्प सिद्ध करनेमे आत्माको आवृत करनेके बराबर है। अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यग्, एकान्त निजपदकी प्राप्ति करानेके सिवाय दूसरे किसी अन्य हेतुसे उपकारी नही है, ऐसा जानकर लिखा है। वह मात्र अनुकम्पा बुद्धिसे, निराग्रहसे, निष्कपटता-से, निर्दंभतासे और हितार्थ लिखा है, ऐसा यदि आप यथार्थ विचार करेंगे तो दृष्टिगोचर होगा, और वचनके ग्रहण अथवा प्रेरणा होनेका हेतु होगा।

---

७०३ राळज, भादो सुदी ८, १९५२

कितने ही प्रश्नोंका समाधान जाननेकी अभिलाषा रहती है यह स्वाभाविक है।

"प्राय सभी मार्गोमें मनुष्यभवको मोक्षका एक साधन मानकर उसकी बहुत प्रशंसा की है, और जीवको जिस तरह वह प्राप्त हो अर्थात् उसकी वृद्धि हो उस तरह बहुतसे मार्गोमे उपदेश किया मालूम होता है। जिनोक्त मार्गमे वैसा उपदेश किया मालूम नहीं होता। वेदोक्त मार्गमे 'अपुत्रकी गति नही होती', इत्यादि कारणोसे तथा चार आश्रमोका क्रमादिसे विचार करनेसे मनुष्यकी वृद्धि हो ऐसा उपदेश किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। जिनोक्त मार्गमें उससे विपरीत देखनेमे आता है, अर्थात् वैसा न करते हुए, जब भी जीव वैराग्य प्राप्त करे तो ससारका त्याग कर देना, ऐसा उपदेश देखनेमे आता है, इसलिये बहुतसे गृहस्थाश्रमको प्राप्त किये बिना त्यागी हो, और मनुष्यकी वृद्धि रुक जाये; क्योंकि उनके अत्यागसे, जो कुछ उन्हे सतानोत्पत्तिका संभव रहता वह न हो और उससे वंशके नाश होने जैसा हो, जिससे दुर्लभ मनुष्यभव, जिसे मोक्षसाधनरूप माना है, उसकी वृद्धि रुक जाती है, इसलिये जिनेंद्रका वैसा

अभिप्राय क्यों हो ?" उसे जानने आदि विचारका प्रश्न लिखा है, उसके समाधानका विचार करनेके लिये यहाँ लिखा है।

लौकिक दृष्टि और अलौकिक (लोकोत्तर) दृष्टिसे बडा भेद है, अथवा ये दोनों दृष्टियाँ परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली हैं। लौकिक दृष्टिमे व्यवहार (सासारिक कारणो) की मुख्यता है और अलौकिक दृष्टिमे परमार्थकी मुख्यता है। इसलिये अलौकिक दृष्टिको लौकिक दृष्टिके फलके साथ प्राय. (बहुत करके) मिलाना योग्य नही है।

जैन और अन्य सभी मार्गोंमे प्रायः मनुष्यदेहका विशेष माहात्म्य कहा है, अर्थात् मोक्षसाधनका कारणरूप होनेसे उसे चिंतामणि जैसा कहा है, वह सत्य है। परतु यदि उससे मोक्षसाधन किया तो ही उसका यह माहात्म्य है, नही तो वास्तविक दृष्टिसे पशुकी देह जितनी भी उसकी कीमत मालूम नही होती।

मनुष्यादि वशकी वृद्धि करना यह विचार मुख्यतः लौकिक दृष्टिका है, परंतु उस देहको पाकर अवश्य मोक्षसाधन करना, अथवा उस साधनका निश्चय करना, यह विचार मुख्यतः अलौकिक दृष्टिका है। अलौकिकदृष्टिमे मनुष्यादि वंशकी वृद्धि करना, ऐसा नही कहा है. इससे मनुष्यादिका नाश करना ऐसा उसमे आशय रहता है, यह नही समझना चाहिये। लौकिक दृष्टिमे तो युद्धादि अनेक प्रसंगोमें हजारो मनुष्योके नाश हो जानेका समय आता है, और उसमे बहुतसे वंशरहित हो जाते है, परतु परमार्थ अर्थात् अलौकिक दृष्टिमे वैसे कार्य नही होते कि जिससे प्रायः वैसा होनेका समय आवे, अर्थात् यहाँ अलौकिक दृष्टिसे निर्वैरता, अविरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंकी रक्षा और उनके वशका रहना, यह सहज ही बन जाता है, और मनुष्य आदि वशकी वृद्धि करनेका जिसका हेतु है, ऐसी लौकिक दृष्टि इसके विपरीत वैर, विरोध, मनुष्य आदि प्राणियोका नाश और वशहीनता करनेवाली होती है।

अलौकिक दृष्टिको पाकर अथवा अलौकिक दृष्टिके प्रभावसे कोई भी मनुष्य छोटी उमरमे त्यागी हो जाये तो उससे जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण न किया हो उसके वशका, अथवा जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण किया हो और पुत्रोत्पत्ति न हुई हो, उसके वंशका नाश होनेका समय आये, और उतने मनुष्योका जन्म कम हो, जिससे मोक्षसाधनकी हेतुभूत मनुष्यदेहकी प्राप्तिके रोकने जैसा हो जाये, ऐसा लौकिक दृष्टिसे योग्य लगता है, परन्तु परमार्थदृष्टिसे वह प्रायः कल्पना मात्र लगता है।

किसीने भी पूर्वकालमे परमार्थमार्गका आराधन करके यहाँ मनुष्यभव प्राप्त किया हो, उसे छोटी उमरसे ही त्याग-वैराग्य तीव्रतासे उदयमे आते है, वैसे मनुष्यको सतानको उत्पत्ति होनेके पश्चात् त्याग करनेका उपदेश करना, अथवा आश्रमके अनुक्रममे रखना, यह यथार्थ प्रतीत नही होता; क्योंकि मनुष्यदेह तो बाह्य दृष्टिसे अथवा अपेक्षासे मोक्षसाधनरूप है, और यथार्थ त्याग-वैराग्य तो मूलतः मोक्षसाधनरूप है, और वैसे कारण प्राप्त करनेसे मनुष्यदेहकी मोक्षसाधनता सिद्ध होती थी, वे कारण प्राप्त होनेपर उस देहसे भोग आदिमे पडनेका कहना, इसे मनुष्यदेहको मोक्षसाधनरूप करनेके समान कहा जाय या संसार साधनरूप करनेके समान कहा जाय यह विचारणीय है।

वेदोक्त मार्गमे जो चार आश्रमोकी व्यवस्था है वह एकान्तरूपसे नही है। वामदेव, शुकदेव, जडभरतजी इत्यादि आश्रमके क्रमके बिना त्यागवृत्तिसे विचरे है। जिनसे वैसा होना अशक्य हो, वे परिणाममे यथार्थ त्याग करनेका लक्ष्य रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करें तो यह सामान्यतः ठीक है, ऐसा कहा जा सकता है। आयुकी ऐसी क्षणभंगुरता है कि वैसा क्रम भी किसी विरलेको ही प्राप्त होनेका अवसर आये। कदाचित् वैसी आयु प्राप्त हुई हो तो भी वैसी वृत्तिसे अर्थात् वैसे परिणामसे यथार्थ त्याग हो ऐसा लक्ष्य रखकर प्रवृत्ति करना तो किसीसे ही बन सकता है।

जिनोक्त मार्गका भी ऐसा एकान्त सिद्धांत नहीं है कि चाहे जिस उमरमे चाहे जिस मनुष्यको त्याग करना चाहिये। तथारूप सत्संग और सद्गुरुका योग होनेपर, उस आश्रयसे कोई पूर्वके संस्कारवाला अर्थात् विशेष वैराग्यवान पुरुष गृहस्थाश्रमको ग्रहण करनेसे पहले त्याग करे तो उसने योग्य किया है, ऐसा जिनसिद्धात प्राय: कहता है, क्योकि अपूर्व साधनोके प्राप्त होने पर भोगादि भोगनेके विचारमे पड़ना, और उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करके अपने प्राप्त आत्मसाधनको गँवाने जैसा करना, और अपनेसे जो संतति होगी वह मनुष्यदेह प्राप्त करेगी, वह देह मोक्षके साधनरूप होगी, ऐसी मनोरथ मात्र कल्पनामें पड़ना, यह मनुष्यभवकी उत्तमता दूर करके उसे पशुवत् करने जैसा है।

इंद्रियाँ आदि जिसकी शान्त नहीं हुई है, ज्ञानीपुरुषकी दृष्टिमे अभी जो त्याग करनेके योग्य नही है, ऐसे किसी मंद अथवा मोहवैराग्यवान जीवको त्याग अपनाना प्रशस्त ही है, ऐसा जिनसिद्धात कुछ एकान्तरूपसे नहीं है।

प्रथमसे ही जिसे उत्तम संस्कारयुक्त वैराग्य न हो, वह पुरुष कदाचित् परिणाममे त्यागका लक्ष्य रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करे, तो उसने एकात भूल ही की है, और त्याग ही किया होता तो उत्तम था, ऐसा भी जिनसिद्धात नही है। मात्र मोक्षसाधनका प्रसंग प्राप्त होनेपर उस प्रसगको जाने नही देना चाहिये, ऐसा जिनेंद्रका उपदेश है।

उत्तम सस्कारवाले पुरुष गृहस्थाश्रम अपनाये बिना त्याग करें, तो उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाये, और उससे मोक्षसाधनके कारण रुक जाये, यह विचार करना अल्प दृष्टिसे योग्य दिखायी दे, परतु तथा-रूप त्याग-वैराग्यका योग प्राप्त होनेपर, मनुष्यदेहकी सफलता होनेके लिये, उस योगका अप्रमत्ततासे विलम्बके बिना लाभ प्राप्त करना, वह विचार तो पूर्वापर अविरुद्ध और परमार्थदृष्टिसे सिद्ध कहा जा सकता है। आयु सम्पूर्ण है और अपनेको सतति होगी तो वे मोक्षसाधन करेगी ऐसा निश्चय करके, संतति होगी ही ऐसा मानकर, पुन: ऐसा ही त्याग प्रकाशित होगा, ऐसे भविष्यकी कल्पना करके आश्रम-पूर्वक प्रवृत्ति करनेको कौनसा विचारवान एकान्तसे योग्य समझे ? अपने वैराग्यमे मंदता न हो, और ज्ञानीपुरुष जिसे त्याग करने योग्य समझते हो, उसे अन्य मनोरथ मात्र कारणोके अथवा अनिश्चित कारणो के विचारको छोड़कर निश्चित और प्राप्त उत्तम कारणोका आश्रय करना, यही उत्तम है, और यही मनुष्यभवकी सार्थकता है; बाकी वृद्धि आदिकी तो कल्पना है। सच्चे मोक्षमार्गका नाश कर मात्र मनुष्य-की वृद्धि करनेकी कल्पना करने जैसा करें तो हो सके।

इत्यादि अनेक कारणोसे परमार्थदृष्टिसे जो उपदेश दिया है, वही योग्य दिखायी देता है। ऐसे प्रश्नोत्तरमे विशेषतः उपयोगको प्रेरित करना कठिन पड़ता है। तो भी सक्षेपमे जो कुछ लिखना बन पाया, उसे उदोरणावत् करके लिखा है।

जहाँ तक हो सके वहाँ तक ज्ञानीपुरुषके वचनोंको लौकिक आशयमें न लेना; अथवा अलौकिक दृष्टिसे विचारना योग्य है; और जहाँ तक हो सके वहाँ तक लौकिक प्रश्नोत्तरमे भी विशेष उपकारके बिना पड़ना योग्य नही है। वैसे प्रसगोंसे कई बार परमार्थदृष्टिको क्षुब्ध करने जैसा परिणाम आता है।

बड़के बड़बट्टे या पीपलके गोदेका रक्षण भी कुछ उनके वंशकी वृद्धि करनेके हेतुसे उन्हें अभक्ष्य कहा है, ऐसा समझना योग्य नहीं है। उनमे कोमलता होती है, जिससे उनमे अनतकायका सभव है, तथा उनके बदले दूसरी अनेक वस्तुओंसे निष्पापतासे रहा जा सकता है, फिर भी उन्हीको अंगीकार करनेकी इच्छा रखना यह वृत्तिकी अति तुच्छता है; इसलिये उन्हे अभक्ष्य कहा है, यह यथार्थ लगने योग्य है।

पानीकी बूँदमे असंख्यात जीव हैं, यह बात सच्ची है। परन्तु उपर्युक्त बड़के बड़बट्टे आदिके जो

कारण हैं, वैसे कारण इसमे नहीं है, इसलिये इसे अभक्ष्य नही कहा है। यद्यपि वैसे पानीको काममे लेनेकी भी आज्ञा है, ऐसा नहीं कहा; और उससे भी अमुक पाप होता है, ऐसा उपदेश है।

[1]पहलेके पत्रमे बीजके सचित्-अचित् सम्बन्धी समाधान लिखा है; वह किसी विशेष हेतुसे संक्षिप्त किया है। परम्परा रूढिके अनुसार लिखा है, तथापि उसमे कुछ विशेष भेद समझमे आता है, उसे नही लिखा है। लिखने योग्य न लगनेसे नही लिखा है। क्योकि वह भेद विचार मात्र है, और उसमे कुछ वैसा उपकार गर्भित हो ऐसा नही दीखता।

नाना प्रकारके प्रश्नोत्तरोका लक्ष्य एक मात्र आत्मार्थके लिये हो तो आत्माका बहुत उपकार होना सम्भव है।

---

७०४ राळज, भादों सुदी ८, १९५२

लौकिक दृष्टि और अलौकिक दृष्टिमे बडा भेद है। लौकिक दृष्टिमे व्यवहारकी मुख्यता है, और अलौकिक दृष्टिमे परमार्थकी मुख्यता है।

जैन और दूसरे सब मार्गोंमे मनुष्यदेहकी विशेषता एव अमूल्यता कही है, यह सत्य है, परन्तु यदि उसे मोक्षसाधन बनाया जा सके तो ही उसकी विशेषता एव अमूल्यता है।

मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करना यह विचार लौकिक दृष्टिका है; परन्तु मनुष्यको यथातथ्य योग होनेपर कल्याणका अवश्य निश्चय करना तथा प्राप्ति करना यह विचार अलौकिक दृष्टिका है।

यदि ऐसा ही निश्चय किया गया हो कि क्रमसे ही सर्वसंगपरित्याग करना, तो वह यथास्थित विचार नही कहा जा सकता। क्योकि पूर्वकालमे कल्याणका आराधन किया है ऐसे कई उत्तम जीव लघु वयसे ही उत्कृष्ट त्यागको प्राप्त हुए हैं। इसके दृष्टातरूप शुकदेवजी, जडभरत आदिके प्रसग अन्य दर्शनमे है। यदि ऐसा ही नियम बनाया हो कि गृहस्थाश्रमका आराधन किये बिना त्याग होता ही नही है तो फिर वैसे परम उदासीन पुरुषको, त्यागका नाश कराकर, कामभोगमे प्रेरित करने जैसा उपदेश कहा जाये, और मोक्षसाधन करनेरूप जो मनुष्यभवकी उत्तमता थी, उसे दूर कर, साधन प्राप्त होनेपर, संसार-साधनका हेतु किया ऐसा कहा जाये।

और एकांतसे ऐसा नियम बनाया हो कि ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम आदिका क्रमसे इतने इतने वर्ष तक सेवन करनेके पश्चात् त्यागी होना तो वह भी स्वतत्र बात नही है। तथारूप आयु न हो तो त्यागका अवसर ही न आये।

और यदि अपुत्ररूपसे त्याग न किया जाये, ऐसा मानें तो तो किसीको वृद्धावस्था तक भी पुत्र नहीं होता, उसके लिये क्या समझना ?

जैनमार्गका भी ऐसा एकात सिद्धात नही है कि चाहे जिस अवस्थामे चाहे जैसा मनुष्य त्याग करे; तथारूप सत्संग और सद्गुरुका योग होने पर विशेष वैराग्यवान पुरुष सत्पुरुषके आश्रयसे लघु वयमे त्याग करे तो इससे उसे वैसा करना योग्य नही था ऐसा जिनसिद्धात नही है; वैसा करना योग्य है ऐसा जिनसिद्धांत है, क्योंकि अपूर्व साधनोंके प्राप्त होनेपर भोगादि साधन भोगनेके विचारमें पडना और उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करके उस अमुक वर्ष तक भोगना ही, यह तो जिस मोक्षसाधनसे मनुष्यभवकी उत्तमता थी, उसे दूर कर पशुवत् करने जैसा होता है।

---

१. देखें आक ७०१-४।

जिसकी इंद्रियाँ आदि शांत नही हुई, ज्ञानीपुरुषकी दृष्टिमे अभी जो त्याग करनेके योग्य नही है, ऐसे मंद वैराग्यवान अथवा मोहवैराग्यवानके लिये त्यागको अपनाना प्रशस्त ही है, ऐसा कुछ जिनसिद्धांत नहीं है।

पहलेसे ही जिसे सत्संगादिक योग न हो, तथा पूर्वकालके उत्तम संस्कारयुक्त वैराग्य न हो वह पुरुष कदाचित् आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करे तो इससे उसने एकांत भूल की है, ऐसा नही कहा जा सकता; यद्यपि उसे भी रातदिन उत्कृष्ट त्यागकी जागृति रखते हुए गृहस्थाश्रम आदिका सेवन करना प्रशस्त है।

उत्तम संस्कारवाले पुरुष गृहस्थाश्रमको अपनाये बिना त्याग करें, उससे मनुष्यप्राणीकी वृद्धि रुक जाये, और उससे मोक्षसाधनके कारण रुक जाये, यह विचार करना अल्पदृष्टिसे योग्य दिखायी दे, क्योकि प्रत्यक्ष मनुष्यदेह जो मोक्षसाधनका हेतु होती थी उसे रोककर पुत्रादिकी कल्पनामे पड़कर, फिर वे मोक्ष-साधनका आराधन करेंगे ही ऐसा निश्चय करके उनकी उत्पत्तिके लिये गृहस्थाश्रममे पडना; और फिर उनकी उत्पत्ति होगी यह भी मान लेना और कदाचित् वे संयोग हुए तो जैसे अभी पुत्रोत्पत्तिके लिये इस पुरुषको रुकना पड़ा था वैसे उसे भी रुकना पडे, इससे तो किसीको उत्कृष्ट त्यागरूप मोक्षसाधन प्राप्त होनेके योगको न आने देने जैसा हो।

और किसी किसी उत्तम संस्कारवान पुरुषके गृहस्थाश्रम प्राप्तिके पूर्वके त्यागसे वंशवृद्धि न हो ऐसा विचार करें तो वैसे उत्तम पुरुषके उपदेशसे अनेक जीव जो मनुष्य आदि प्राणियोका नाश करनेसे नही डरते, वे उपदेश पाकर वर्तमानमें उस प्रकार मनुष्य आदि प्राणियोका नाश करनेसे क्यो न रुके ? तथा शुभवृत्ति होनेसे फिर मनुष्यभव क्यों न प्राप्त करें? और इस तरह मनुष्यका रक्षण तथा वृद्धि भी सभव है।

अलौकिक दृष्टिमे तो मनुष्यकी हानि-वृद्धि आदिका मुख्य विचार नही है, कल्याण-अकल्याणका मुख्य विचार है। एक राजा यदि अलौकिक दृष्टि प्राप्त करे तो अपने मोहसे हजारो मनुष्य प्राणियोका युद्धमें नाश होनेका हेतु देखकर बहुत बार बिना कारण वैसे युद्ध उत्पन्न न करे, जिससे बहुतसे मनुष्यो-का बचाव हो और उससे वंशवृद्धि होकर बहुतसे मनुष्य बढ़ें ऐसा विचार भी क्यो न किया जाये ?

इंद्रियाँ अतृप्त हों, विशेष मोहप्रधान हो, मोहवैराग्यसे मात्र क्षणिक वैराग्य उत्पन्न हुआ हो और यथातथ्य सत्संगका योग न हो तो उसे दीक्षा देना प्रायः प्रशस्त नहीं कहा जा सकता, ऐसा कहे तो विरोध नही। परन्तु उत्तम संस्कारयुक्त और मोहाध, ये सब गृहस्थाश्रम भोगकर ही त्याग करें ऐसा प्रतिबन्ध करनेसे तो आयु आदिकी अनियमितता, योग प्राप्त होनेपर उसे दूर करना इत्यादि अनेक विरोधोंसे मोक्षसाधनका नाश करने जैसा होता है, और जिससे उत्तमता मानी जाती थी वह न हुआ, तो फिर मनुष्यभवकी उत्तमता भी क्या है ? इत्यादि अनेक प्रकारसे विचार करनेसे लौकिक दृष्टि दूर होकर अलौकिक दृष्टिसे विचार-जागृति होगी।

बड़के बड़बट्टे या पीपलके गोदेकी वंशवृद्धिके लिये उनका रक्षण करनेके हेतुसे कुछ उन्हें अभक्ष्य नही कहा है। उनमें कोमलता होती है, तब अनन्तकायका सम्भव है। इससे तथा उनके बदले दूसरी अनेक वस्तुओंसे चल सकता है, फिर भी उसीका ग्रहण करना, यह वृत्तिकी अति क्षुद्रता है, इसलिये अभक्ष्य कहा है, यह यथातथ्य लगने योग्य है।

पानीकी बूंदमे असंख्यात जीव हैं, यह बात सच्ची है, परन्तु वैसा पानी पीनेसे पाप नहीं है ऐसा नहीं कहा। फिर उसके बदले गृहस्थ आदिको दूसरी वस्तुसे चल नहीं सकता, इसलिये अंगीकार किया जाता है, परन्तु साधुको तो वह भी लेनेकी आज्ञा प्रायः नहीं दी है।

जब तक हो सके तब तक ज्ञानीपुरुषके वचनोको लौकिक दृष्टिके आशयमें न लेना योग्य है, और अलौकिक दृष्टिसे विचारणीय है। उस अलौकिक दृष्टिके कारण यदि सन्मुख जीवके हृदयमे अंकित करनेको शक्ति हो तो अंकित करना, नही तो इस विषयमे अपना विशेष ज्ञान नही है ऐसा बताना तथा मोक्षमार्गमे केवल लौकिक विचार नही होता इत्यादि कारण यथाशक्ति बताकर सम्भवित समाधान करना, नहीं तो यथासम्भव वसे प्रसंगसे दूर रहना, यह ठीक है।

---

७०५ वडवा, भादों सुदी ११, गुरु, १९५२

आज दिन पर्यंत इस आत्मासे मन, वचन और कायाके योगसे आप सम्बन्धी जो कुछ अविनय, आसातना या अपराध हुआ हो उसकी शुद्ध अंतःकरणसे नम्रताभावसे मस्तक झुकाकर दोनों हाथ जोड़कर क्षमा माँगता हूँ। आपके समीपवासी भाइयोसे भी उसी प्रकारसे क्षमा माँगता हूँ।

---

७०६ वडवा (स्तंभतीर्थके समीप),
भादो सुदी ११, गुरु, १९५२

शुभेच्छासम्पन्न आर्य केशवलालके प्रति, लींबडी।

सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य प्राप्त हो।

तीन पत्र प्राप्त हुए हैं। 'कुछ भी वृत्ति रोकते हुए, उसकी अपेक्षा विशेष अभिमान रहता है', तथा 'तृष्णाके प्रवाहमे चलते हुए बह जाते है, और उसकी गतिको रोकनेकी सामर्थ्य नही रहती।' इत्यादि विवरण तथा 'क्षमापना और कर्कटी राक्षसीके 'योगवासिष्ठ' सम्बन्धी प्रसंगकी, जगतका भ्रम दूर करनेके लिये विशेषता' लिखी यह सब विवरण पढा है। अभी लिखनेमे विशेष उपयोग नही रह सकता जिससे पत्रकी पहुँच भी लिखनेसे रह जाती है। सक्षेपमे उन पत्रोका उत्तर निम्नलिखितसे विचारणीय है।

(१) वृत्ति आदिका सयम अभिमानपूर्वक होता हो तो भी करना योग्य है। विशेषता इतनी है कि उस अभिमानके लिये निरतर खेद रखना। वैसा हो तो क्रमश वृत्ति आदिका संयम हो और तत्सम्बन्धी अभिमान भी न्यून होता जाय।

(२) अनेक स्थलोपर विचारवान पुरुषोंने ऐसा कहा है कि ज्ञान होनेपर काम, क्रोध, तृष्णा आदि भाव निर्मूल हो जाते है, यह सत्य है। तथापि उन वचनोंका ऐसा परमार्थ नही है कि ज्ञान होनेसे पहले वे मद न पड़ें या कम न हो। यद्यपि उनका समूल छेदन तो ज्ञानसे होता है, परन्तु जब तक कषाय आदिकी मंदता या न्यूनता न हो तब तक ज्ञान प्रायः उत्पन्न ही नही होता। ज्ञान प्राप्त होनेमे विचार मुख्य साधन है, और उस विचारके वैराग्य (भोगके प्रति अनासक्ति) तथा उपशम (कषाय आदिकी बहुत ही मंदता, उनके प्रति विशेष खेद) ये दो मुख्य आधार हैं। ऐसा जानकर उसका निरंतर लक्ष्य रखकर वैसी परिणति करना योग्य है।

सत्पुरुषके वचनके यथार्थ ग्रहणके बिना प्रायः विचारका उद्भव नही होता, और सत्पुरुषके वचनका यथार्थ ग्रहण तभी होता है जब सत्पुरुषकी 'अनन्य आश्रय भक्ति' परिणत होती है, क्योंकि सत्पुरुषकी प्रतीति ही कल्याण होनेमे सर्वोत्तम निमित्त है। प्राय ये कारण परस्पर अन्योन्याश्रय जैसे हैं। कही किसीकी मुख्यता है, और कही किसीकी मुख्यता है, तथापि ऐसा तो अनुभवमे आता है कि जो सच्चा मुमुक्षु हो, उसे सत्पुरुषकी 'आश्रयभक्ति', अहंभाव आदिके छेदनके लिये और अल्पकालमे विचारदशा परिणमित होनेके लिये उत्कृष्ट कारणरूप होती है।

भोगमें अनासक्ति हो, तथा लौकिक विशेषता दिखानेकी बुद्धि कम की जाये तो तृष्णा निर्बल होती जाती है। लौकिक मान आदिकी तुच्छता समझमे आ जाये तो उसकी विशेषता नही लगती, और इससे उसकी इच्छा सहजमे मद हो जाती है, ऐसा यथार्थ भासित होता है। बहुत ही मुश्किलसे आजीविका चलती हो तो भी मुमुक्षुके लिये वह पर्याप्त है; क्योकि विशेषकी कुछ आवश्यकता या उपयोग (कारण) नही है, ऐसा जब तक निश्चय न किया जाये तब तक तृष्णा नाना प्रकारसे आवरण किया करती है। लौकिक विशेषतामे कुछ मारभूतता नही है, ऐसा निश्चय किया जाये तो मुश्किलसे आजीविका जितना मिलता हो तो भी तृप्ति रहती है। मुश्किलसे आजीविका जितना न मिलता हो तो भी मुमुक्षुजीव प्राय. आर्त्तध्यान न होने दे. अथवा होनेपर विशेष खेद करे; और आजीविकामे कमीको यथाधर्म पूर्ण करनेकी मद कल्पना करे; इत्यादि प्रकारसे बर्ताव करते हुए तृष्णाका पराभव (क्षय) होना योग्य दीखता है।

(३) बहुधा सत्पुरुषके वचनसे आध्यात्मिक शास्त्र भी आत्मज्ञानका हेतु होता है, क्योकि परमार्थ आत्मा शास्त्रमे नही रहता, सत्पुरुषमे रहता है। मुमुक्षुको यदि किसी सत्पुरुषका आश्रय प्राप्त हुआ हो तो प्राय ज्ञानकी याचना करना योग्य नही है, मात्र तथारूप वैराग्य उपशम आदि प्राप्त करनेका उपाय करना योग्य है। वह योग्य प्रकारसे सिद्ध होनेपर ज्ञानीका उपदेश सुलभतासे परिणमित होता है, और यथार्थ विचार और ज्ञानका हेतु होता है।

(४) जब तक कम उपाधिवाले क्षेत्रमे आजीविका चलती हो तब तक विशेष प्राप्त करनेकी कल्पनासे मुमुक्षुको, किसी एक विशेष अलौकिक हेतुके बिना अधिक उपाधिवाले क्षेत्रमे जाना योग्य नही है, क्योकि उससे बहुतसी सद्वृत्तियाँ मद पड जाती है, अथवा वर्धमान नही होती।

(५) 'योगवासिष्ठ' के पहले दो प्रकरण और वैसे ग्रंथोका मुमुक्षुको विशेष ध्यान करना योग्य है।

---

७०७ वडवा, भादो सुदी ११, गुरु, १९५२

ब्रह्मरंध्र आदिमें होनेवाले भासके विषयमे पहले बबई पत्र मिला था। अभी उस विषयके विवरणका दूसरा पत्र मिला है। वह वह भास होना सम्भव है, ऐसा कहनेमे कुछ समझके भेदसे व्याख्याभेद होता है। श्री वैजनाथजीका आपको समागम है, तो उनके द्वारा उस मार्गका यथाशक्ति विशेष पुरुषार्थ होता हो तो करना योग्य है। वर्तमानमे उस मार्गके प्रति हमारा विशेष उपयोग नही रहता है। और पत्र द्वारा प्रायः उस मार्गका विशेष ध्यान कराया नही जा सकता, जिससे, आपको श्री वैजनाथजीका समागम है तो यथाशक्ति उस समागमका लाभ लेनेकी वृत्ति रखें तो आपत्ति नही है।

आत्माकी कुछ उज्ज्वलताके लिये उसके अस्तित्व तथा माहात्म्य आदिकी प्रतीतिके लिये तथा आत्मज्ञानकी अधिकारिताके लिये वह साधन उपकारी है। इसके सिवाय प्राय अन्य प्रकारसे उपकारी नही है, इतना ध्यान अवश्य रखना योग्य है। यही विनती।

सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य प्रणाम विदित हो।

---

७०८ राळज, भादो, १९५२

द्वितीय जेठ सुदी १, शनिको आपको लिखा पत्र ध्यानमें आये तो यहाँ भेज × × ×[१] जैसे चलता आया है, वैसे चलता आये, और मुझे किसी प्रतिबधसे प्रवृत्ति करनेका कारण नही है, ऐसा भावार्थ आपने लिखा, उस विषयमे जाननेके लिये संक्षेपसे नीचे लिखता हूँ —

जैनदर्शनकी पद्धतिसे देखते हुए सम्यग्दर्शन और वेदातकी पद्धतिसे देखते हुए केवलज्ञान हमे सम्भव है। जैनमे केवलज्ञानका जो स्वरूप लिखा है, मात्र उसीको समझना मुश्किल हो जाता है। फिर

---

१. यहाँ अक्षर खंडित हो गये है।

वर्तमानमें उस ज्ञानका उसीने निषेध किया है, जिसमे तत्सम्बंधी प्रयत्न करना भी सफल दिखायी नहीं देता।

जैनप्रसंगमे हमारा अधिक निवास हुआ है, तो किसी भी प्रकारसे उस मार्गका उद्धार हम जैसों द्वारा विशेषत॰ हो सकता है, क्योंकि उसका स्वरूप विशेषतः समझमे आया हो, इत्यादि। वर्तमानमे जैन-दर्शन इतना अधिक अव्यवस्थित अथवा विपरीत स्थितिमे देखनेमे आता है, कि उसमेसे मानो जिनेंद्रको × × × ×[1] गया है, और लोग मार्ग प्ररूपित करते हैं। बाह्य झझट बहुत बढा दी है, और अतर्मार्गका ज्ञान प्रायः विच्छेद जैसा हुआ है। वेदोक्त मार्गमे दो सौ चार सौ बरसमे कोई कोई महान आचार्य हुए दिखायी देते हैं कि जिससे लाखो मनुष्योको वेदोक्त पद्धति सचेत होकर प्राप्त हुई हो। फिर साधारणतः कोई कोई आचार्य अथवा उस मार्गके जाननेवाले सत्पुरुष इसी तरह हुआ करते हैं, और जैनमार्गमें बहुत वर्षोसे वैसा हुआ मालूम नही होता। जैनमार्गमे प्रजा भी बहुत थोडी रह गयी है और उसमे सैंकड़ों भेद है। इतना ही नही, किन्तु 'मूलमार्ग' के सन्मुख होनेकी बात भी उनके कानमे नही पड़ती, और उपदेशकके ध्यानमे नही है, ऐसी स्थिति है। इसलिये चित्तमे ऐसा आया करता है कि यदि उस मार्गका अधिक प्रचार हो तो वैसे करना, नही तो उसमे रहनेवाली प्रजाको मूललक्ष्यरूपसे प्रेरित करना। यह काम बहुत विकट है। तथा जैनमार्गको स्वयमेव समझना और समझाना कठिन है। उसे समझाते हुए अनेक प्रति-बधक कारण आ खड़े हो, ऐसी स्थिति है। इसलिये वैसी प्रवृत्ति करते हुए डर लगता है। उसके साथ-साथ ऐसा भी रहता है कि यदि यह कार्य इस कालमे हमारेसे कुछ भी बने तो बन सकता है; नही तो अभी तो मूलमार्गके सन्मुख होनेके लिये दूसरेका प्रयत्न काम आये वैसा दिखायी नही देता। प्राय. मूलमार्ग दूसरेके ध्यानमे नही है, तथा उसका हेतु दृष्टातपूर्वक उपदेश करनेमे परमश्रुत आदि गुण अपेक्षित है, एवं बहुतसे अंतरंग गुण अपेक्षित है, वे यहाँ है, ऐसा दृढ़ भास होता है।

इस तरह यदि मूलमार्गको प्रकाशमे लाना हो तो प्रकाशमे लानेवालेको सर्वसगपरित्याग करना योग्य है, क्योकि उससे यथार्थ समर्थ उपकार होनेका समय आता है। वर्तमान दशाको देखते हुए, सत्तागत कर्मोपर दृष्टि डालते हुए कुछ समयके बाद उसका उदयमे आना सम्भव है। हमे सहजस्वरूपज्ञान है, जिससे योगसाधनकी इतनी अपेक्षा न होनेसे उसमे प्रवृत्ति नही की, तथा वह सर्वसंगपरित्यागमे अथवा विशुद्ध देशपरित्यागमे साधने योग्य है। इससे लोगोका बहुत उपकार होता है, यद्यपि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्मज्ञानके बिना दूसरा कोई नहीं है।

अभी दो वर्ष तक तो वह योगसाधन विशेषतः उदयमे आये वैसा दिखायी नही देता, इसलिये इसके बादकी कल्पना की जाती है, और तीनसे चार वर्ष उस मार्गमे व्यतीत किये जायें तो ३६वें वर्षमे सर्वसगपरित्यागी उपदेशकका समय आये, और लोगोका श्रेय होना हो तो हो।

छोटी उमरमे मार्गका उद्धार करनेकी अभिलाषा रहा करती थी, उसके बाद ज्ञानदशा आनेपर क्रमशः वह उपशान्त जैसी हो गयी, परंतु कोई कोई लोग परिचयमे आये थे, उन्हे कुछ विशेषता भासित होनेसे किंचित् मूलमार्गपर लक्ष्य आया था, और इस तरफ तो सैकडों या हजारों मनुष्य समागममे आये थे जिनमेसे लगभग सौ मनुष्य कुछ समझदार और उपदेशकके प्रति आस्थावाले निकलेंगे। इस परसे ऐसा देखनेमे आया कि लोग तरनेके इच्छुक विशेष है, परंतु उन्हे वैसा योग मिलता नहीं है। यदि सचमुच उपदेशक पुरुषका योग बने तो बहुतसे जीव मूलमार्ग प्राप्त कर सकते है, और दया आदिका विशेष उद्योत हो सकता है। ऐसा दिखायी देनेसे कुछ चित्तमें आता है कि यह कार्य कोई करे तो बहुत अच्छा; परंतु

१. यहाँ अक्षर खंडित हो गये हैं।

नजर दौडानेसे वैसा पुरुष ध्यानमे नही आता, इसलिये लिखनेवालेकी ओर ही कुछ नजर जाती है; परंतु लिखनेवालेका जन्मसे लक्ष्य ऐसा है कि इसके जैसा एक भी जोखिमवाला पद नहीं है, और जब तक अपनी उस कार्यकी यथायोग्यता न हो तब तक उसकी इच्छा मात्र भी नही करनी चाहिये, और बहुत करके अभी तक वैसा ही वर्तन किया गया है। मार्गका यत्किंचित् स्वरूप किसी-किसीको समझाया है, तथापि किसीको एक भी व्रतपच्चक्खान दिया नहीं है, अथवा तुम मेरे शिष्य हो और हम गुरु हैं, ऐसा प्रकार प्रायः प्रदर्शित हुआ नहीं है। कहनेका हेतु यह है कि सर्वसंगपरित्याग होनेपर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहज-स्वभावसे उदयमें आये तो करना, ऐसी मात्र कल्पना है। उसका वास्तवमें आग्रह नही है, मात्र अनुकंपा आदि तथा ज्ञानप्रभाव है, इससे कभी-कभी वह वृत्ति उद्भवित होती है, अथवा अल्पांशमे वह वृत्ति अंतरमे है, तथापि वह स्ववश है। हमारी धारणाके अनुसार सर्वसंगपरित्यागादि हो तो हजारो मनुष्य मूलमार्गको प्राप्त करें, और हजारो मनुष्य उस सन्मार्गका आराधन करके सद्गतिको प्राप्त करें, ऐसा हमारे द्वारा होना सम्भव है। हमारे संगमे अनेक जीव त्यागवृत्तिवाले हो जाये ऐसा हमारे अंतरमे त्याग है। धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है; उसकी स्पृहासे भी कदाचित् ऐसी वृत्ति रहे, परन्तु आत्माको बहुत बार कसकर देखनेसे उसकी सम्भावना वर्तमान दशामे कम ही दीखती है; और किंचित् सत्तामे रही होगी तो वह क्षीण हो जायेगी, ऐसा अवश्य भासित होता है, क्योकि यथायोग्यताके बिना, देह छूट जाये वैसी दृढ़ कल्पना हो तो भी, मार्गका उपदेश नही करना, ऐसा आत्मनिश्चय नित्य रहता है। एक इस बलवान कारणसे परिग्रह आदिका त्याग करनेका विचार रहा करता है। मेरे मनमे ऐसा रहता है कि वेदोक्त धर्म प्रकाशित या स्थापित करना हो तो मेरी दशा यथायोग्य है। परंतु जिनोक्त धर्म स्थापित करना हो तो अभी तक उतनी योग्यता नही है, फिर भी विशेष योग्यता है ऐसा लगता है।

---

७०९ राळज, भादो, १९५२

१. हे नाथ! या तो धर्मोन्नति करनेकी इच्छा सहजतासे शांत हो जाओ; या फिर वह इच्छा अवश्य कार्यरूप हो जाओ। अवश्य कार्यरूप होना बहुत दुष्कर दिखाई देता है, क्योंकि छोटी छोटी बातोंमे मतभेद बहुत हैं, और उनकी जडें बहुत गहरी हैं। मूलमार्गसे लोग लाखो कोस दूर हैं, इतना ही नही परन्तु मूलमार्गकी जिज्ञासा उनमें जगानी हों, तो भी दीर्घकालका परिचय होनेपर भी उसका जगना कठिन हो ऐसी उनकी दुराग्रह आदिसे जडप्रधानदशा हो गई है।

२. उन्नतिके साधनोंकी स्मृति करता हूँ:—

बोधबीजके स्वरूपका निरूपण मूलमार्गके अनुसार जगह-जगह हो।
जगह जगह मतभेदसे कुछ भी कल्याण नही है, यह बात फैले।
प्रत्यक्ष सद्गुरुकी आज्ञासे धर्म है, यह बात ध्यानमे आये।
द्रव्यानुयोग—आत्मविद्याका प्रकाश हो।
त्याग वैराग्यकी विशेषतापूर्वक साधु विचरें।
नवतत्त्वप्रकाश।
साधुधर्मप्रकाश।
श्रावकधर्मप्रकाश।
विचार।
अनेक जीवोंको प्राप्ति।

---

७१० वडवा, भादों सुदी १५, सोम, १९५२

आत्मा ॐ आत्मा
सच्चिदानंद सच्चिदानंद

ज्ञानापेक्षासे सर्वव्यापक, सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा एक हूँ, ऐसा विचार करना, ध्यान करना।

निर्मल, अत्यन्त निर्मल, परमशुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।

सबको कम करते करते जो अबाध्य अनुभव रहता है वह आत्मा है।

जो सबको जानता है वह आत्मा है।

जो सब भावोंको प्रकाशित करता है वह आत्मा है।

उपयोगमय आत्मा है।

अव्याबाध समाधिस्वरूप आत्मा है।

आत्मा है, आत्मा अत्यन्त प्रगट है, क्योंकि स्वसवेदन प्रगट अनुभवमे है।

वह आत्मा नित्य है, अनुत्पन्न और अमिलनस्वरूप होनेसे।

भ्रातिरूपसे परभावका कर्ता है।

उसके फलका भोक्ता है।

भान होनेपर स्वभावपरिणामी है।

सर्वथा स्वभावपरिणाम वह मोक्ष है।

सद्गुरु, सत्सग, सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि उसके साधन हैं।

आत्माके अस्तित्वसे लेकर निर्वाण तकके पद सच्चे हैं, अत्यत सच्चे हैं, क्योंकि प्रगट अनुभवमे आते है।

भ्रातिरूपसे आत्मा परभावका कर्ता होनेसे शुभाशुभ कर्मकी उत्पत्ति होती है।

कर्म सफल होनेसे उस शुभाशुभ कर्मको आत्मा भोगता है।

उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभ तकके सर्व न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है।

निजस्वभावज्ञानमे केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहजस्वभावसे, निर्विकल्परूपसे आत्मा जो परिणमन करता है, वह केवलज्ञान है।

तथारूप प्रतीतिरूपसे जो परिणमन करता है वह सम्यक्त्व है।

निरंतर वह प्रतीति रहा करे, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते है।

क्वचित् मंद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विसर्जन, क्वचित् स्मरणरूप, ऐसी प्रतीति रहे उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

उस प्रतीतिको जब तक सत्तागत आवरण उदयमें नहो आया तब तक उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

आत्माको जब आवरण उदयमे आये तब वह उस प्रतीतिसे गिर पड़े उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं।

अत्यंत प्रतीति होनेके योगमे सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन जहाँ रहा है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

तथारूप प्रतीति होनेपर अन्यभाव सम्बन्धी अहंत्व-ममत्व आदिका, हर्ष-शोकका क्रमशः क्षय होता है।

मनरूपी योगमे तारतम्यसहित जो कोई चारित्रकी आराधना करता है वह सिद्धि पाता है। और जो स्वरूपस्थिरताका सेवन करता है वह स्वभावस्थिति प्राप्त करता है।

निरंतर स्वरूपलाभ, स्वरूपाकार उपयोगका परिणमन इत्यादि स्वभाव अन्तराय कर्मके क्षयसे प्रगट होते हैं।

जो केवल स्वभावपरिणामी ज्ञान है वह केवलज्ञान है.. . केवलज्ञान है।

---

७११ राळज, भादों, १९५२

बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन और मीमासा ये पाँच आस्तिक दर्शन अर्थात् बंध-मोक्ष आदि भावको स्वीकार करनेवाले दर्शन हैं। नैयायिकके अभिप्राय जैसा ही वैशेषिकका अभिप्राय है, सांख्य जैसा ही योगका अभिप्राय है—इनमे सहज भेद है, इसलिये उन दर्शनोंका अलग विचार नही किया है। पूर्व और उत्तर, ये मीमांसादर्शनके दो भेद हैं। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमासामे विचारभेद विशेष है; तथापि मीमांसा शब्दसे दोनोका बोध होता है, इसलिये यहाँ उस शब्दसे दोनों समझें। पूर्वमीमांसाका 'जैमिनी' और उत्तरमीमांसाका 'वेदात' ये नाम भी प्रसिद्ध हैं।

बौद्ध और जैनके सिवाय बाकीके दर्शन वेदको मुख्य मानकर चलते हैं; इसलिये वेदाश्रित दर्शन हैं; और वेदार्थको प्रकाशित कर अपने दर्शनको स्थापित करनेका प्रयत्न करते हैं। बौद्ध और जैन वेदाश्रित नही हैं, स्वतंत्र दर्शन हैं।

आत्मा आदि पदार्थको न स्वीकार करनेवाला ऐसा चार्वाक नामका छठा दर्शन है।

बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद हैं—१ सौत्रांतिक, २. माध्यमिक, ३. शून्यवादी और ४ विज्ञानवादी। वे भिन्न-भिन्न प्रकारसे भावोंकी व्यवस्था मानते हैं।

जैनदर्शनके सहज प्रकारातरसे दो भेद हैं—दिगंबर और श्वेताबर।

पाँचों आस्तिक दर्शनोंको जगत अनादि अभिमत है।

बौद्ध, सांख्य, जैन और पूर्वमीमांसाके अभिप्रायसे सृष्टिकर्ता ऐसा कोई ईश्वर नही है।

नैयायिकके अभिप्रायसे तटस्थरूपसे ईश्वर कर्ता है। वेदांतके अभिप्रायसे आत्मामे जगत विवर्तरूप अर्थात् कल्पितरूपसे भासित होता है, और इस तरहमे ईश्वरको कल्पितरूपसे कर्ता माना है।

योगके अभिप्रायसे नियतारूपसे ईश्वर पुरुषविशेष है।

बौद्धके अभिप्रायसे त्रिकाल और वस्तुस्वरूप आत्मा नही है, क्षणिक है। शून्यवादी बौद्धके अभिप्रायसे विज्ञान मात्र है, और विज्ञानवादी बौद्धके अभिप्रायसे दुःख आदि तत्त्व है। उनमे विज्ञानस्कन्ध क्षणिकरूपसे आत्मा है।

नैयायिकके अभिप्रायसे सर्वव्यापक ऐसे असंख्य जीव है। ईश्वर भी सर्वव्यापक है। आत्मा आदिको मनके सान्निध्यसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

साख्यके अभिप्रायसे सर्वव्यापक ऐसे असख्य आत्मा हैं। वे नित्य, अपरिणामी और चिन्मात्र-स्वरूप है।

जैनके अभिप्रायसे अनत द्रव्य आत्मा हैं, प्रत्येक भिन्न है। ज्ञान, दर्शन आदि चेतना स्वरूप, नित्य और परिणामी प्रत्येक आत्मा असंख्यातप्रदेशी स्वशरीरावगाहवर्त्ती माना है।

पूर्वमीमासाके अभिप्रायसे जीव असंख्य है, चेतन है।

उत्तरमीमासाके अभिप्रायसे एक ही आत्मा सर्वव्यापक और सच्चिदानंदमय त्रिकालाबाध्य है।

---

७१२ आणंद, भादों वदी १२, रवि, १९५२

पत्र मिला है। 'मनुष्य आदि प्राणीकी वृद्धि' के सम्बन्धमे आपने जो प्रश्न लिखा था, वह प्रश्न जिस कारणसे लिखा गया था, उस कारणको प्रश्न मिलनेके समय सुना था। ऐसे प्रश्नसे आत्मार्थ सिद्ध

नहीं होता, अथवा वृथा कालक्षेप जैसा होता है; इसलिये आत्मार्थका लक्ष्य होनेके लिये, आपको वैसे प्रश्नके प्रति अथवा वैसे प्रसंगोंके प्रति उदासीन रहना योग्य है, ऐसा लिखा था। तथा वैसे प्रश्नका उत्तर लिखने जैसी यहाँ वर्तमान दशा प्राय: नही है, ऐसा लिखा था। अनियमित और अल्प आयुवाली इस देहमे आत्मार्थका लक्ष्य सबसे प्रथम कर्तव्य है।

---

७१३ आणंद, आसोज, १९५२

ॐ

आस्तिक ऐसे मूल पाँच दर्शन आत्माका निरूपण करते है, उनमे भेद देखनेमे आता है, उसका समाधान :—

दिन प्रतिदिन जैनदर्शन क्षीण होता हुआ देखनेमे आता है, और वर्धमानस्वामीके बाद थोड़े ही वर्षोंमे उसमे नाना प्रकारके भेद हुए दिखायी देते है, इत्यादिके क्या कारण है ?

हरिभद्र आदि आचार्योंने नवीन योजनाकी भाँति श्रुतज्ञानकी उन्नति की है ऐसा दिखायी देता है, परंतु लोकसमुदायमे जैनमार्गका अधिक प्रचार हुआ दिखायी नही देता, अथवा तथारूप अतिशय सम्पन्न धर्मप्रवर्तक पुरुषका उस मार्गमे उत्पन्न होना कम दिखायी देता है, उसके क्या कारण है ?

अब वर्तमानमे उस मार्गकी उन्नति होना सम्भव है या नही ? और हो तो किस किस तरह होनी सम्भव दीखती है, अर्थात् उस बातका, कहाँसे उत्पन्न होकर, किस तरह, किस द्वारसे और किस स्थितिमे प्रचार होना सम्भवित दीखता है ? और फिर वर्धमानस्वामीके समयकी तरह वर्तमानकालके योग आदिके अनुसार उस धर्मका उदय हो ऐसा क्या दीर्घदृष्टिसे सम्भव है ? और यदि सम्भव हो तो वह किस किस कारणसे सम्भव है ?

जो जैनसूत्र अभी वर्तमानमे हैं, उनमे उस दर्शनका स्वरूप बहुत अधूरा रहा हुआ देखनेमे आता है, वह विरोध किस तरह दूर हो ?

उस दर्शनकी परपरामे ऐसा कहा गया है कि वर्तमानकालमे केवलज्ञान नही होता, और केवलज्ञान-का विषय सर्व कालमे लोकालोकको द्रव्यगुणपर्यायसहित जानना माना है, क्या वह यथार्थ मालूम होता है ? अथवा उसके लिये विचार करनेपर कुछ निर्णय हो सकता है या नही ? उसकी व्याख्यामे कुछ अतर दिखायी देता है या नही ? और मूल व्याख्याके अनुसार कुछ दूसरा अर्थ होता हो तो उस अर्थके अनुसार वर्तमानमे केवलज्ञान उत्पन्न हो या नही ? और उसका उपदेश किया जा सके या नही ? तथा दूसरे ज्ञानोकी जो व्याख्या कही गयी है वह भी कुछ अतरवाली लगती है या नही ? और वह किन कारणोसे ?

द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय; आत्मा मध्यम अवगाही, संकोच-विकासका भाजन, महाविदेह आदि क्षेत्रकी व्याख्या—वे कुछ अपूर्व रीतिसे या कही हुई रीतिसे अत्यन्त प्रबल प्रमाणसहित सिद्ध होने योग्य मालूम होते हैं या नहीं ?

गच्छके मतमतातर बहुत ही तुच्छ तुच्छ विषयोंमे बलवान आग्रही होकर भिन्न भिन्नरूपसे दर्शनमोहनीयके हेतु हो गये हैं; उसका समाधान करना बहुत विकट है। क्योंकि उन लोगोकी मति विशेष आवरणको प्राप्त हुए बिना इतने अल्प कारणोंमे बलवान आग्रह नही होता।

अविरति, देशविरति, सर्वविरति इनमेसे किस आश्रमवाले पुरुषसे विशेष उन्नति हो सकना सम्भव है ? सर्वविरति बहुतसे कारणोमे प्रतिबंधके कारण प्रवृत्ति नही कर सकता; देशविरति और अविरतिकी तथारूप प्रतीति होना मुश्किल है, और फिर जैनमार्गमे भी उस रीतिका समावेश कम है। ये विकल्प हमे किसलिये उठते हैं ? और उन्हें शांत कर देनेका चित्त है तो क्या उसे शांत कर दें ? [अपूर्ण]

---

७१४ सं० १९५२

ॐ जिनाय नमः

भगवान जिनेंद्रके कहे हुए लोकसंस्थान आदि भाव आध्यात्मिक दृष्टिसे सिद्ध होने योग्य है।
चक्रवर्ती आदिका स्वरूप भी आध्यात्मिक दृष्टिसे समझमें आने जैसा है।
मनुष्यकी ऊँचाईके प्रमाण आदिमे भी वैसा संभव है।
काल प्रमाण आदि भी उसी तरह घटित होते हैं।
निगोद आदि भी उसी तरह घटित होने योग्य है।
सिद्धस्वरूप भी इसी भावसे निदिध्यासनके योग्य है।
—संप्राप्त होने योग्य मालूम होता है।

लोक शब्दका अर्थ }
अनेकांत शब्दका अर्थ } आध्यात्मिक है।

सर्वज्ञ शब्दको समझना बहुत गूढ है।
धर्मकथारूप चरित्र आध्यात्मिक परिभाषासे अलंकृत लगते है।
जंबुद्वीप आदिका वर्णन भी अध्यात्म परिभाषासे निरूपित किया हुआ लगता है।
अतीद्रिय ज्ञानके भगवान जिनेंद्रने दो भेद किये हैं।

देश प्रत्यक्ष,
वह दो भेदसे—
अवधि,
मनःपर्याय।

इच्छितरूपसे अवलोकन करता हुआ आत्मा इन्द्रियके अवलबनके बिना अमुक मर्यादाको जाने, वह अवधि है।

अनिच्छित होनेपर भी मानसिक विशुद्धिके बल द्वारा जाने, वह मनःपर्याय है।

सामान्य विशेष चैतन्यात्मदृष्टिमे परिनिष्ठित शुद्ध केवलज्ञान है।

श्री जिनेंद्रके कहे हुए भाव अध्यात्म परिभाषामय होनेसे समझमे आने कठिन हैं। परम पुरुषका योग संप्राप्त होना चाहिये।

जिनपरिभाषा-विचारका यथावकाश विशेष निदिध्यास करना योग्य है।

---

७१५ आणद, आसोज सुदी १, १९५२

*मूळ मारग सांभळो जिननो रे, करी वृत्ति अखंड सन्मुख मूळ०
नो'य पूजादिनी जो कामना रे, नो'य व्हालुं अंतर भवदुःख मूळ० १
करी जोजो वचननी तुलना रे, जोजो शोधीने जिनसिद्धांत मूळ०
मात्र कहेवुं परमारथ हेतुथी रे, कोई पामे मुमुक्षु वात मूळ० २

*भावार्थ—हे भव्यो! जिनेंद्र भगवान कथित मूल मार्ग (मोक्षमार्ग) को अखड चित्तवृत्तिसे सुने। इसमें हमें मान-पूजाकी कोई कामना नही है या नया पथ चलानेका कोई स्वार्थ नही हैं, और न ही उत्सूत्र प्ररूपणा करके भव-वृद्धि करने रूप दु:ख हमे अंतरमे प्रिय है। इसलिये हम सत्यमार्ग कहते हैं।।१।। इन वचनोंको आप न्यायके तराजू पर तोलकर देखें और जिनसिद्धांतको भी खोजकर देख लें; तो यह हमारा कहना केवल सत्य प्रतीत होगा। हम यह केवल परमार्थ हेतुसे कहते है कि जिससे कोई मुमुक्षु मोक्षमार्गके रहस्यको प्राप्त करें ॥२॥

*ज्ञान, दर्शन, चारित्रनी शुद्धता रे, एकपणे अने अविरुद्ध मूळ०
जिनमारग ते परमार्थथी रे, एम कह्युं सिद्धांते बुध मूळ० ३

लिंग अने भेदो ज व्रतना रे, द्रव्य देश काळादि भेद मूळ०
पण ज्ञानादिनी जे शुद्धता रे, ते तो त्रणे काळे अभेद मूळ० ४

हवे ज्ञान दर्शनादि शब्दनो रे, संक्षेपे सुणो परमार्थ मूळ०
तेने जोतां विचारी विशेषथी रे, समजाशे उत्तम आत्मार्थ मूळ० ५

छे देहादिथी भिन्न आतमा रे, उपयोगी सदा अविनाश मूळ०
एम जाणे सद्गुरु उपदेशथी रे, कह्युं ज्ञान तेनुं नाम खास मूळ० ६

जे ज्ञाने करीने जाणियुं रे, तेनी वर्ते छे शुद्ध प्रतीत मूळ०
कह्युं भगवंते दर्शन तेहने रे, जेनुं बीजुं नाम समकित मूळ० ७

जेम आवी प्रतीति जीवनी रे, जाण्यो सर्वेथी भिन्न असंग मूळ०
तेवो स्थिर स्वभाव ते ऊपजे रे, नाम चारित्र ते अणलिंग मूळ० ८

ते त्रणे अभेद परिणामथी रे, ज्यारे वर्ते ते आत्मारूप मूळ०
तेह मारग जिननो पामियो रे, किंवा पाम्यो ते निजस्वरूप मूळ० ९

एवां मूळ ज्ञानादि पामवा रे, अने जवा अनादि बंध मूळ०
उपदेश सद्गुरुनो पामवो रे, टाळी स्वच्छंद ने प्रतिबंध मूळ० १०

एम देव जिनंदे भाखियुं रे, मोक्षमारगनुं शुद्ध स्वरूप मूळ०
भव्य जनोना हितने कारणे रे, संक्षेपे कह्युं स्वरूप मूळ० ११

---

७१६ श्री आणंद, आसोज सुदी २, गुरु, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

श्री रामदासस्वामी द्वारा सयोजित 'दासबोध' नामकी पुस्तक मराठी भाषामे है। उसका गुजराती भाषातर प्रगट हुआ है, जिसे पढने और विचारनेके लिये भेजा है।

---

*भावार्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी जो एकरूप तथा अविरुद्ध शुद्धता है, वही परमार्थसे जिनमार्ग है, ऐसा ज्ञानियोने सिद्धातमे कहा है ॥३॥ लिंग और व्रतके जो भेद हैं, वे द्रव्य, देश, काल आदिकी अपेक्षासे भेद है। परतु ज्ञान आदिकी जो शुद्धता है वह तो तीनो कालोंमे भेदरहित है ॥४॥ अब ज्ञान, दर्शन आदि शब्दोका सक्षेपसे परमार्थ सुनें। उसे समझकर विशेषरूपसे विचारनेसे उत्तम आत्मार्थ समझमें आयेगा ॥५॥ आत्मा देह आदिसे भिन्न, सदा उपयोगयुक्त और अविनाशी है, ऐसा सद्गुरुके उपदेशसे जो जानना है, उसका विशेष नाम ज्ञान है; अर्थात् यथार्थ ज्ञान वही है ॥६॥ जो ज्ञान द्वारा जाना है, उसकी जो शुद्ध प्रतीति रहती है, उसे भगवानने दर्शन कहा है, जिसका दूसरा नाम समकित है ॥७॥ जैसे जीवकी प्रतीति हुई अर्थात् उसने अपने आपको सर्वसे भिन्न और असग समझा, वैसे स्थिर स्वभावकी उत्पत्ति—आत्मस्थिरता उत्पन्न होती है उसीका नाम चारित्र है और वह अलिंग अर्थात् भावचारित्र है ॥८॥ जब ये तीनो गुण अभेद-परिणामसे रहते हैं, तब एक आत्मरूप रहता है। उसने जिनेंद्रका मार्ग पा लिया है अथवा निजस्वरूपको पा लिया है ॥९॥ ऐसे मूलज्ञान आदिके पानेके लिये, अनादि बध दूर होनेके लिये, स्वच्छद और प्रतिबंधको दूरकर सद्गुरुका उपदेश प्राप्त करें ॥१०॥ इस प्रकार जिनेंद्र देवने मोक्षमार्गका शुद्ध स्वरूप कहा है। भव्य जनोके हितके लिये यहाँ संक्षेपसे उसका स्वरूप कहा है ॥११॥

पहले गणपति आदिकी स्तुति की है, तथा बादमे जगतके पदार्थोंका आत्मरूपसे वर्णन करके उपदेश दिया है, तथा उसमे वेदातकी मुख्यता वर्णित है, इत्यादिसे कुछ भी भय न पाते हुए अथवा विकल्प न करते हुए, ग्रन्थकर्ताके आत्मार्थसंबंधी विचारोका अवगाहन करना योग्य है। आत्मार्थके विचारनेमे उससे क्रमशः सुगमता होती है।

श्री देवकरणजीको व्याख्यान करना पड़ता है, उससे जो अहंभाव आदिका भय रहता है, वह संभव है।

जिस जिसने सद्गुरुमे तथा उनकी दशामे विशेषता देखी है, उस उसको प्रायः तथारूप प्रसंग जैसे प्रसंगोंमे अहंभावका उदय नहीं होता, अथवा तुरत शांत हो जाता है। उस अहंभावको यदि पहलेसे जहरके समान प्रतीत किया हो, तो पूर्वापर उसका सम्भव कम होता है। कुछ अन्तरमे चातुर्य आदि भावसे, सूक्ष्म परिणतिसे भी कुछ मिठास रखी हो, तो वह पूर्वापर विशेषता प्राप्त करती है, परन्तु वह जहर ही है, निश्चयसे जहर ही है, स्पष्ट कालकूट जहर है, उसमें किसी तरहसे संशय नही है, और संशय हो तो उस सशयको मानना नही है; उस संशयको अज्ञान ही जानना है, ऐसा तीव्र खारापन कर डाला हो, तो वह अहंभाव प्रायः जोर नही कर सकता। उस अहंभावको रोकनेसे क्वचित् निरहंभाव हुआ, उसका फिरसे अहंभाव हो जाना सम्भव है, उसे भी पहलेसे जहर, जहर और जहर मानकर प्रवृत्ति की गई हो तो आत्मार्थको बाधा नही होती।

आप सर्व मुमुक्षुओको यथाविधि नमस्कार।

---

७१७ आणंद, आसोज सुदी ३, शुक्र, १९५२

आत्मार्थी भाई श्री [1]मोहनलालके प्रति, डरबन।

आपका लिखा हुआ पत्र मिला था। इस पत्रसे संक्षेपमें उत्तर लिखा है।

नातालमे रहनेसे आपकी बहुतसी सद्वृत्तियोंने विशेषता प्राप्त की है, ऐसी प्रतीति होती है। परन्तु आपकी उस तरह प्रवृत्ति करनेकी उत्कृष्ट इच्छा उसमे हेतुभूत है। राजकोटकी अपेक्षा नाताल ऐसा क्षेत्र अवश्य है कि जो कई तरहसे आपकी वृत्तिको उपकारक हो सकता है, ऐसा माननेमे हानि नही है। क्योकि आपकी सरलताकी रक्षा करनेमे जिससे निजी विघ्नोंका भय रह सके ऐसे प्रपंचमे अनुसरण करनेका दबाव नातालमे प्रायः नही है। परन्तु जिसकी सद्वृत्तियाँ विशेष बलवान न हो अथवा निर्बल हो, और उसे इग्लैंड आदि देशमे स्वतंत्ररूपसे रहनेका हो तो वह अभक्ष्य आदिमे दूषित हो जाये ऐसा लगता है। जैसे आपको नाताल क्षेत्रमे प्रपचका विशेष योग न होनेसे आपकी सद्वृत्तियोने विशेषता प्राप्त की है, वैसे राजकोट जैसे स्थानमे होना कठिन है, यह यथार्थ है, परन्तु किसी अच्छे आर्यक्षेत्रमे सत्संग आदिके योगमे आपकी वृत्तियाँ नातालकी अपेक्षा भी अधिक विशेषता प्राप्त करती, यह सम्भव है। आपकी वृत्तियाँ देखते हुए आपको नाताल अनार्यक्षेत्ररूपसे असर करे, ऐसी मेरी मान्यता प्राय. नहीं है। परन्तु वहाँ प्रायः सत्संग आदि योगकी प्राप्ति न होनेसे कुछ आत्मनिराकरण न हो पाये, तद्रूप हानि मानना कुछ विशेष योग्य लगता है।

यहाँसे 'आर्य आचार-विचार'के सुरक्षित रखनेके सम्बन्धमे लिखा था वह ऐसे भावार्थमे लिखा था :—'आर्य आचार' अर्थात् मुख्यत दया, सत्य, क्षमा आदि गुणोका आचरण करना; और 'आर्य विचार' अर्थात् मुख्यत. आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, वर्तमान काल तक उस स्वरूपका अज्ञान, तथा उस अज्ञान

१. महात्मा गाँधीजी।

और अभानके कारण, उन कारणोंकी निवृत्ति और वैसा होनेसे अव्याबाध आनंदस्वरूप अभान ऐसे निज-पदमे स्वाभाविक स्थिति होना। इस तरह संक्षेपमे मुख्य अर्थसे वे शब्द लिखे हैं।

वर्णाश्रमादि, वर्णाश्रमादिपूर्वक आचार यह सदाचारके अंगभूत जैसा है। विशेष पारमार्थिक हेतुके बिना तो वर्णाश्रमादिपूर्वक व्यवहार करना योग्य है, यह विचारसिद्ध है। यद्यपि वर्तमान कालमे वर्णाश्रम-धर्म बहुत निर्बल स्थितिको प्राप्त हुआ है, तो भी हमे तो, जब तक हम उत्कृष्ट त्यागदशा प्राप्त न करें, और जब तक गृहस्थाश्रममे वास हो, तब तक तो वैश्यरूप वर्णधर्मका अनुसरण करना योग्य है; क्योकि अभक्ष्यादि ग्रहण करनेका उसमे व्यवहार नही है। तब यह आशंका होने योग्य है कि 'लुहाणा भी उसी तरह आचरण करते है तो उनका अन्न, आहार आदि ग्रहण करनेमे क्या हानि है?' तो उसके उत्तरमे इतना कहना योग्य हो सकता है कि बिना कारण उस रिवाजको भी बदलना योग्य नही है, क्योकि उससे फिर दूसरे समागमवासी या प्रसंगादिमे अपने रीतिरिवाजको देखनेवाले ऐसे उपदेशका निमित्त प्राप्त करें कि चाहे जिस वर्णवालेके यहां भोजन करनेमे बाधा नही है। लुहाणाके यहाँ अन्नाहार लेनेसे वर्णधर्मकी हानि नही होती, परन्तु मुसलमानके यहाँ अन्नाहार लेनेसे तो वर्णधर्मकी हानिका विशेष संभव है, और वर्णधर्मके लोप करनेरूप दोष जैसा होता है। हम कुछ लोकके उपकार आदिके हेतुसे वैसी प्रवृत्ति करते हो और रसलुब्धतासे वैसी प्रवृत्ति न होती हो, तो भी दूसरे लोग उस हेतुको समझे बिना प्राय उसका अनुकरण करे और अन्तमे अभक्ष्यादिके ग्रहण करनेमे प्रवृत्ति करें ऐसे निमित्तका हेतु अपना यह आचरण है इसलिये वैसा आचरण नही करना अर्थात् मुसलमान आदिके अन्नाहार आदिका ग्रहण नही करना, यह उत्तम है। आपकी वृत्तिकी कुछ प्रतीति होती है, परन्तु यदि किसीकी उससे निम्नकोटिकी वृत्ति हो तो वह स्वत ही उस रास्तेसे प्रायः अभक्ष्यादि आहारके योगको प्राप्त करे। इसलिये उस प्रसंगसे दूर रहा जाये वैसा विचार करना कर्तव्य है।

दयाकी भावना विशेष रहने देनी हो तो जहाँ हिंसाके स्थानक हैं, तथा वैसे पदार्थोका जहाँ लेन-देन होता है, वहाँ रहनेके तथा जाने-आनेके प्रसगको न आने देना चाहिये, नही तो जैसी चाहिये वैसी प्राय दयाकी भावना नही रहती। तथा अभक्ष्यपर वृत्ति न जाने देनेके लिये, और उस मार्गकी उन्नतिका अनुमोदन न करनेके लिये अभक्ष्यादि ग्रहण करनेवालेका, आहारादिके लिये परिचय नही रखना चाहिये।

ज्ञानदृष्टिसे देखते हुए ज्ञाति आदि भेदकी विशेषता आदि मालूम नही होती; परन्तु भक्ष्याभक्ष्यभेद-का तो वहाँ भी विचार कर्तव्य है; और उसके लिये मुख्यतः यह वृत्ति रखना उत्तम है। कितने ही कार्य ऐसे होते है कि उनमे प्रत्यक्ष दोष नही होता, अथवा उनसे अन्य दोष नही लगता, परन्तु उसके सम्बन्धसे दूसरे दोषोका आश्रय होता है, उसका भी विचारवानको लक्ष्य रखना उचित है। नातालके लोगोंके उप-कारके लिये कदाचित् आपकी ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी निश्चय नही माना जा सकता। यदि दूसरे किसी भी स्थलपर वैसा आचरण करते हुए बाधा मालूम हो, और आचरण न हो तो मात्र वह हेतु माना जा सकता है। फिर उन लोगोके उपकारके लिये वैसा आचरण करना चाहिये, ऐसा विचार करनेमे भी कुछ आपकी गलत-फहमी होती होगी, ऐसा लगा करता है। आपकी सद्वृत्तिकी कुछ प्रतीति है, इसलिये इस विषयमे अधिक लिखना योग्य नही लगता। जैसे सदाचार और सद्विचारका आराधन हो वैसा आचरण करना योग्य है।

दूसरी नीच जातियो अथवा मुसलमान आदिके किन्ही वैसे निमन्त्रणोमे अन्नाहारादिके बदले अपक्व आहार यानि फलाहार आदि लेनेसे उन लोगोके उपकारकी रक्षाका सम्भव रहता हो, तो वैसा करें तो अच्छा है। यही बिनती।

---

७१८ नडियाद, आसोज वदी १, गुरु, १९५२

ॐ

आत्म-सिद्धि*

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत ।
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत ॥ १ ॥

जिस आत्मस्वरूपको समझे बिना भूतकालमे मैंने अनत दु ख पाया, उस पदको (स्वरूपको) जिसने समझाया—अर्थात् भविष्यकालमे उत्पन्न होने योग्य जिन अनंत दुःखोंको मै प्राप्त करता, उनका जिसने मूलोच्छेद किया ऐसे श्री सद्गुरु भगवानको मै नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

वर्तमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु लोप ।
[1]विचारवा आत्मार्थीने, भाख्यो अत्र अगोप्य ॥२॥

इस वर्तमानकालमें मोक्षमार्गका बहुत लोप हो गया है, उस मोक्षमार्गको आत्मार्थीके विचार करनेके लिये (गुरु-शिष्यके संवादके रूपमे) यहाँ स्पष्ट कहते हैं ॥२॥

कोई क्रियाजड थई रह्या, शुष्कज्ञानमां कोई ।
माने मारग मोक्षनो, करुणा ऊपजे जोई ॥३॥

कोई क्रियासे ही चिपके हुए है, और कोई शुष्कज्ञानसे ही चिपके हुए है; इस तरह वे मोक्षमार्ग मानते हैं, जिसे देखकर दया आती है ॥३॥

बाह्य क्रियामां राचता, अन्तर्भेद न कांई ।
ज्ञानमार्ग निषेधता, तेह क्रियाजड आंई ॥४॥

जो मात्र बाह्य क्रियामे अनुरक्त हो रहे है, जिनका अतर कुछ भिदा नही है, और जो ज्ञानमार्गका निषेध किया करते है, उन्हे यहाँ क्रियाजड कहा है ॥४॥

---

*श्रीमद्जी स० १९५२ के आसोज वदा २ गुरुवारको नडियादमे ठहरे हुए थे, तब उन्होंने इस 'आत्मसिद्धिशास्त्र'की १४२ गाथाएँ 'आत्मसिद्धि' के रूपमे रची थी। इन गाथाओंका संक्षिप्त अर्थ खभातके एक परम मुमुक्षु श्री अबालाल लालचदने किया था, जिसे श्रीमद्जीने देख लिया था, (देखें पत्राक ७३०)। इसके अतिरिक्त 'श्रीमद् राजचंद्र' के पहले और दूसरे सस्करणोंके आक ४४२, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५० और ४५१ के पत्र आत्मसिद्धिके विवेचनके रूपमें श्रीमद्ने स्वयं लिखे हैं, जो आत्मसिद्धिकी रचनाके दूसरे दिन आसोज वदी २, १९५२ को लिखे गये हैं। यह विवेचन जिस जिस गाथाका है उस उस गाथाके नीचे दिया है।

१. पाठांतर : गुरु शिष्य संवादथी, कहीए ते अगोप्य ।

बंध मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणी मांही ।
वर्ते मोहावेशमां, शुष्कज्ञानी ते आंही ।।५।।

बंध और मोक्ष मात्र कल्पना है, ऐसा निश्चयवाक्य जो मात्र वाणीसे बोलते हैं और जिसकी तथारूप दशा नही हुई है, और जो मोहके प्रभावमें रहते हैं, उन्हे यहाँ शुष्कज्ञानी कहा है ।।५।।

वैराग्यादि सफळ तो, जो सह आतमज्ञान ।
तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां निदान ।।६।।

वैराग्य, त्याग आदि यदि आत्मज्ञानके साथ हो तो वे सफल है, अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिके हेतु है; और जहाँ आत्मज्ञान न हो वहाँ भी यदि आत्मज्ञानके लिये वे किये जायें, तो वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं ।।६।।

वैराग्य, त्याग, दया आदि अंतरंगवृत्तिवाली क्रियाएँ हैं, यदि उनके साथ आत्मज्ञान हो तो वे सफल हैं, अर्थात् भवके मूलका नाश करती है, अथवा वैराग्य, त्याग, दया आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं। अर्थात् जीवमे प्रथम इन गुणोके आनेसे सद्गुरुका उपदेश उसमे परिणमित होता है। उज्ज्वल अतःकरणके बिना सद्गुरुका उपदेश परिणमित नही होता। इसलिये वैराग्य आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं ऐसा कहा है।

यहाँ जो जीव क्रियाजड हैं, उन्हे ऐसा उपदेश किया है कि मात्र कायाका ही रोकना कुछ आत्मज्ञानकी प्राप्तिका हेतु नही है, वैराग्य आदि गुण आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं, इसलिये आप उन क्रियाओका अवगाहन करे, और उन क्रियाओंमे भी रुके रहना योग्य नही हैं, क्योंकि आत्मज्ञानके बिना वे भी भवके मूलका छेदन नही कर सकती। इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन वैराग्य आदि गुणोंका आचरण करें, और कायक्लेशरूप क्रियामे—जिसमे कषाय आदिकी तथारूप कुछ भी क्षीणता नही होती—उसमे आप मोक्षमार्गका दुराग्रह न रखें, ऐसा क्रियाजडोको कहा है। और जो शुष्कज्ञानी त्याग, वैराग्य आदिसे रहित है, मात्र वाचाज्ञानी हैं, उन्हे ऐसा कहा है कि वैराग्य आदि जो साधन है, वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण है, कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नही होती, आपने वैराग्य आदि भी प्राप्त नही किये, तो आत्मज्ञान कहाँसे प्राप्त किया हो ? इसका कुछ आत्मामे विचार करें। संसारके प्रति बहुत उदासीनता, देहकी मूर्च्छाकी अल्पता, भोगमे अनासक्ति तथा मान आदिकी कृशता इत्यादि गुणोके बिना तो आत्मज्ञान परिणमित नही होता; और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनेपर तो वे गुण अत्यन्त दृढ़ हो जाते हैं, क्योकि आत्मज्ञानरूप मूल उन्हे प्राप्त हुआ है। इसके बदले आप स्वयंको आत्मज्ञानी मानते हैं, और आत्मामें तो भोग आदिकी कामनाकी अग्नि जला करती है, पूजा, सत्कार आदिकी कामना वारंवार स्फुरित होती रहती है, सहज असातासे बहुत आकुलता-व्याकुलता हो जाती है। यह क्यों ध्यानमे नही आता कि ये आत्मज्ञानके लक्षण नही है ? 'मैं मात्र मान आदिकी कामनासे आत्मज्ञानी कहलवाता हूँ', यह जो समझमे नही आता उसे समझें, और वैराग्य आदि साधन प्रथम तो आत्मामे उत्पन्न करें कि जिससे आत्मज्ञानकी सन्मुखता हो। (६)

त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान ।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान ।।७।।

जिसके चित्तमें त्याग और वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे ज्ञान नहीं होता, और जो त्याग-वैराग्यमें ही अटककर आत्मज्ञानकी आकांक्षा न रखे वह अपना भान भूल जाता है; अर्थात् अज्ञानपूर्वक त्याग-वैराग्य आदि होनेसे वह पूजा-सत्कार आदिसे पराभवको प्राप्त होता है और आत्मार्थ चूक जाता है ।।७।।

जिसके अंतःकरणमें त्याग-वैराग्य आदि गुण उत्पन्न नही हुए ऐसे जीवको आत्मज्ञान नहीं होता; क्योंकि मलिन अंत.करणरूप दर्पणमे आत्मोपदेशका प्रतिबिब पड़ना योग्य नही है। तथा मात्र त्याग-वैराग्यमे अनुरक्त होकर जो कृतार्थता मानता है वह भी अपने आत्माका भान भूलता है। अर्थात् आत्म-ज्ञान न होनेमे अज्ञानकी सहचारिता रहती है, जिससे वह त्यागवैराग्य आदिका मान उत्पन्न करनेके लिये और मानके लिये उसकी सर्व संयम आदिकी प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे संसारका उच्छेद नहीं होता, मात्र वही उलक्ष जाना होता है। अर्थात् वह आत्मज्ञानको प्राप्त नही करता। इस तरह क्रियाजडको साधन-क्रियाका और उस साधनकी जिससे सफलता होती है ऐसे आत्मज्ञानका उपदेश किया है और शुष्कज्ञानीको त्याग वैराग्य आदि साधनका उपदेश करके वाचाज्ञानमें कल्याण नही है, ऐसी प्रेरणा की है। (७)

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥८॥

जहाँ जहाँ जो जो योग्य है वहाँ वहाँ उस उसको समझे और वहाँ वहाँ उस उसका आचरण करे, ये आत्मार्थी पुरुषके लक्षण हैं ॥८॥

जिस जिस स्थानमे जो जो योग्य है अर्थात् त्याग-वैराग्य आदि योग्य हो वहाँ त्याग-वैराग्य आदि समझे; जहाँ आत्मज्ञान योग्य हो वहाँ आत्मज्ञान समझे, इस तरह जो जहाँ चाहिये उसे वहाँ समझना और वहाँ वहाँ तदनुसार प्रवृत्ति करना, यह आत्मार्थी जीवका लक्षण है। अर्थात् जो मतार्थी या मानार्थी हो वह योग्य मार्गको ग्रहण नही करता। अथवा जिसे क्रियामे ही दुराग्रह हो गया है, अथवा शुष्कज्ञानके ही अभिमानमे जिसने ज्ञानित्व मान लिया है, वह त्याग-वैराग्य आदि साधनको अथवा आत्मज्ञानको ग्रहण नही कर सकता।

जो आत्मार्थी होता है वह जहाँ जहाँ जो जो करना योग्य है उस उसको करता है और जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस उसको समझता है; अथवा जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस उसको समझता है और जहाँ जो जो आचरण करना योग्य है वहाँ उस उसका आचरण करता है, वह आत्मार्थी कहा जाता है।

यहाँ 'समझना' और 'आचरण करना' ये दो सामान्य अर्थमे हैं। परंतु दोनोको अलग-अलग कहने-का यह भी आशय है कि जो जो जहाँ समझना योग्य है वह वह वहाँ समझनेकी कामना जिसे है और जो जो जहाँ आचरण करना योग्य है वह वह वहाँ आचरण करनेकी जिसे कामना है वह भी आत्मार्थी कहा जाता है। (८)

सेवे सद्गुरुचरणने, त्यागी दई निजपक्ष।
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष ॥९॥

अपने पक्षको छोडकर जो सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है वह परमार्थको पाता है, और उसे आत्मस्वरूपका लक्ष्य होता है ॥९॥

बहुतोंको क्रियाजडता रहती है और बहुतोंको शुष्कज्ञानिता रहती है, उसका क्या कारण होना चाहिये? ऐसी आशंका की उसका समाधान :—जो अपने पक्ष अर्थात् मतको छोडकर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थको पाता है, और निज पद अर्थात् आत्मस्वभावका लक्ष्य अपनाता है, अर्थात् बहुतोको क्रियाजड़ता रहती है उसका हेतु यह है कि असद्गुरु कि जो आत्मज्ञान और आत्मज्ञानके साधन-को नही जानता, उसका उन्होंने आश्रय लिया है, जिससे वह असद्गुरु जो मात्र क्रियाजडताका अर्थात् कायक्लेशका मार्ग जानता है, उसमे उन्हें लगाता है, और कुलधर्मको दृढ कराता है; जिससे उन्हें सद्गुरुका योग प्राप्त करनेकी आकाक्षा नही होती, अथवा वैसा योग मिलनेपर भी पक्षकी दृढ़ वासना उन्हें सदुपदेशके सन्मुख नही होने देती, इसलिये क्रियाजड़ता दूर नहीं होती, और परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती।

और जो शुष्कज्ञानी है उसने भी सद्गुरुके चरणका सेवन नही किया; मात्र अपनी मति-कल्पनासे स्वच्छन्दरूपसे अध्यात्मग्रन्थ पढे हैं, अथवा शुष्कज्ञानीके पाससे वैसे ग्रन्थ या वचन सुनकर अपनेमे ज्ञानित्व मान लिया है, और ज्ञानी मनवानेके पदका जो एक प्रकारका मान हैं वह उसे मीठा लगता है, और वह उसका पक्ष हो गया है। अथवा किसी एक विशेष कारणसे शास्त्रोमें दया, दान और हिंसा, पूजाकी समानता कही है, वैसे वचनोंको, उनका परमार्थ समझे बिना पकड़कर, मात्र अपनेको ज्ञानी मनवानेके लिये, और पामर जीवके तिरस्कारके लिये वह उन वचनोंका उपयोग करता है। परंतु वैसे वचनोंको किस लक्ष्यसे समझनेसे परमार्थ होता है, यह नहीं जानता। फिर जैसे दया, दान आदिकी शास्त्रोमे निष्फलता कही है, वैसे नवपूर्व तक पढ़ लेनेपर भी वह भी निष्फल गया, इस तरह ज्ञानकी भी निष्फलता कही है, तो वह शुष्कज्ञानका ही निषेध है। ऐसा होनेपर भी उसे उसका लक्ष्य नही होता, क्योंकि ज्ञानी बननेके मानसे उसका आत्मा मूढ़ताको प्राप्त हो गया है, इसलिये उसे विचारका अवकाश नही रहा। इस तरह क्रियाजड अथवा शुष्कज्ञानी दोनो भूले हुए है, और वे परमार्थ पानेकी इच्छा रखते है, अथवा परमार्थ पा लिया है, ऐसा कहते है। यह मात्र उनका दुराग्रह है, यह प्रत्यक्ष दिखायी देता है। यदि सद्गुरुके चरण-का सेवन किया होता तो ऐसे दुराग्रहमे पड़ जानेका समय न आता, और जीव आत्मसाधनमें प्रेरित होता, और तथारूप साधनसे परमार्थको पाता, और निजपदका लक्ष्य ग्रहण करता, अर्थात् उसकी वृत्ति आत्मसन्मुख हो जाती।

तथा स्थान स्थानपर एकाकीरूपसे विचरनेका निषेध किया है, और सद्गुरुकी सेवामे विचरनेका ही उपदेश किया है; उससे भी यह समझमे आता है कि जीवके लिये हितकारी और मुख्य मार्ग वही है। तथा असद्गुरुसे भी कल्याण होता है ऐसा कहना तो तीर्थंकर आदिकी, ज्ञानीकी आसातना करनेके समान है; क्योकि उनमे और असद्गुरुमे कुछ भेद न हुआ, जन्मांध और अत्यन्त शुद्ध निर्मल चक्षुवालेमे कुछ न्यूनाधिकता ही न ठहरी। तथा कोई 'श्री ठाणागसूत्र' की चौभंगी[1] ग्रहण करके ऐसा कहे कि 'अभव्यका तारा हुआ भी तरता है', तो यह वचन भी वदतोव्याघात जैसा है। एक तो मूलमे 'ठाणाग' में तदनुसार पाठ ही नही है, जो पाठ है वह इस प्रकार है[2] ····उसका शब्दार्थ इस प्रकार है[2]······उसका विशेषार्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है[2] ···· जिसमे किसी स्थलपर ऐसा नही कहा है कि 'अभव्यका तारा हुआ तरता है।' और किसी एक टब्बेमे किसीने यह वचन लिखा है वह उसकी समझकी अयथार्थता समझमे आती है।

कदाचित् कोई ऐसा कहे कि अभव्य जो कहता है वह यथार्थ नही है, ऐसा भासित होनेसे यथार्थ क्या है, उसका लक्ष्य होनेसे जीव स्वविचारको पाकर तरा, ऐसा अर्थ करें तो एक प्रकारसे संभवित है, परंतु इससे ऐसा नही कहा जा सकता कि अभव्यका तारा हुआ तरा। ऐसा विचार कर जिस मार्गसे अनत जीव तरे हैं और तरेंगे, उस मार्गका अवगाहन करना और मान आदिकी अपेक्षाका त्यागकर स्व-कल्पित अर्थका त्याग करना यही श्रेयस्कर है। यदि आप ऐसा कहे कि अभव्यसे तरा जाता है, तो तो अवश्य निश्चय होता है कि असद्गुरुसे तरा जायेगा, इसमे कोई सन्देह नही है।

और असोच्चा केवली, जिसने पूर्वकालमे किसीसे धर्म नही सुना, उसे किसी तथारूप आवरणके क्षयसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसा शास्त्रमें निरूपण किया है; वह आत्माका माहात्म्य बतानेके लिये और जिसे सद्गुरुका योग न हो उसे जाग्रत करनेके लिये, उस उस अनेकांत मार्गका निरूपण करनेके लिये बताया है; परंतु सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करनेके मार्गकी उपेक्षा करनेके लिये नही कहा है। और फिर इस स्थलपर तो उलटे उस मार्गपर दृष्टि आनेके लिये उसे अधिक सबल किया है, और कहा है कि

१ देखें आक ५४२ २. मूल पाठ रखना चाहा परंतु रखा हो ऐसा नही लगता।

वह असोच्या केवली'[1] '' अर्थात् असोच्या केवलीका यह प्रसंग सुनकर कोई, जो शाश्वत मार्ग चला आया है, उसका निषेध करे, यह आशय नहीं, ऐसा निवेदन किया है।

किसी तीव्र आत्मार्थीको कदाचित् सद्गुरुका ऐसा योग न मिला हो, और उसे अपनी तीव्र कामना और कामनामें ही निजविचारमे संलग्न होनेसे, अथवा तीव्र आत्मार्थके कारण निजविचारमे लीन होनेसे आत्मज्ञान हुआ हो तो वह सद्गुरुके मार्गका निषेधक जीव न हो तभी हुआ हो और 'मुझे सद्गुरुसे ज्ञान नही मिला, इसलिये मैं बड़ा हूँ' ऐसा भाव न रखनेसे हुआ हो; ऐसा विचार कर विचारवान जीवको जिससे शाश्वत मार्गका लोप न हो ऐसे वचन प्रकाशित करने चाहिये।

एक गाँवसे दूसरे गांव जाना हो और जिसने उस गाँवका मार्ग न देखा हो, ऐसा कोई पचास वर्षका पुरुष हो और लाखो गांव देख आया हो, उसे भी उस मार्गका पता नही चलता, और किसीको पूछनेपर ही मालूम होता है, नही तो वह भूल खा जाता है; और उस मार्गका जानकार दस वर्षका बालक भी उसे मार्ग दिखाता है, जिससे वह पहुँच सकता है, ऐसा लोकमें अथवा व्यवहारमे भी प्रत्यक्ष है, इसलिये जो आत्मार्थी हो, अथवा जिसे आत्मार्थकी इच्छा हो उसे सद्गुरुके योगसे तरनेके अभिलाषी जीवका जिससे कल्याण हो उस मार्गका लोप करना योग्य नही है, क्योकि उससे सर्व ज्ञानीपुरुषोकी आज्ञाका लोप करने जैसा होता है।

पूर्वकालमे सद्गुरुका योग तो अनेक बार हुआ है, फिर भी जीवका कल्याण नही हुआ, जिससे सद्गुरुके उपदेशकी ऐसी कुछ विशेषता दिखायी नही देती, ऐसी आशंका हो तो उसका उत्तर दूसरे ही पदमे कहा है कि—

जो अपने पक्षको छोड़कर सद्गुरुके चरणका सेवन करे, वह परमार्थको पाता है। अर्थात् पूर्वकालमे सद्गुरुका योग होनेकी बात सत्य है, परन्तु वहाँ जीवने उसे सद्गुरु नही जाना, अथवा उसे नही पहचाना, उसकी प्रतीति नही की, और उसके पास अपने मान और मत नहीं छोड़े, और इसलिये सद्गुरुका उपदेश परिणमित नहीं हुआ, और परमार्थकी प्राप्ति नही हुई। इस तरह यदि जीव अपने मत अर्थात् स्वच्छद और कुलधर्मका आग्रह दूर करके सदुपदेशको ग्रहण करनेका अभिलाषी हुआ होता तो अवश्य परमार्थको पाता।

यहाँ असद्गुरु द्वारा दृढ़ कराये हुए दुर्बोधसे अथवा मानादिकी तीव्र कामनासे ऐसी आशंका भी हो सकती है कि कई जीवोका पूर्वकालमे कल्याण हुआ है, और उन्हें सद्गुरुके चरणका सेवन किये बिना कल्याणकी प्राप्ति हुई है, अथवा असद्गुरुसे भी कल्याणकी प्राप्ति होती है; असद्गुरुको स्वय भले मार्गकी प्रतीति नही है, परन्तु दूसरेको वह प्राप्त करा सकता है अर्थात् दूसरा कोई उसका उपदेश सुनकर उस मार्गकी प्रतीति करे, तो वह परमार्थको पाता है। इसलिये सद्गुरुके चरणका सेवन किये बिना भी परमार्थकी प्राप्ति होती है, ऐसी आशंकाका समाधान करते हैं :—

यद्यपि कई जीव स्वयं विचार करते हुए उद्बुद्ध हुए हैं, ऐसा शास्त्रमे वर्णन है, परन्तु किसी स्थलपर ऐसा दृष्टात नही कहा है कि अमुक जीव असद्गुरु द्वारा उद्बुद्ध हुए हैं। अब कई जीव स्वयं विचार करते हुए उद्बुद्ध हुए हैं, ऐसा कहा है, उसमे शास्त्रोंके कहनेका ऐसा हेतु नही है कि सद्गुरुकी आज्ञासे चलनेसे जीवका कल्याण होता है ऐसा हमने कहा है, परन्तु यह बात यथार्थ नही है; अथवा सद्गुरुकी आज्ञाकी जीवको कोई जरूरत नहीं है ऐसा कहनेके लिये भी वैसा नहीं कहा। तथा जो जीव अपने विचारसे स्वयं बोधको प्राप्त हुए हैं, ऐसा कहा है, वह भी वर्तमान देहमें अपने विचारसे अथवा बोधसे उद्बुद्ध हुए ऐसा कहा है; परन्तु पूर्वकालमें वह विचार अथवा बोध सद्गुरुने उनके सन्मुख किया है, जिससे

१. मूल पाठ रखना चाहा परंतु रखा हो ऐसा नही लगता।

वर्तमानमें उसका स्फुरित होना सम्भव है। तीर्थंकर आदिको 'स्वयंबुद्ध' कहा है वे भी पूर्वकालमे तीसरे भवमे सद्‌गुरुसे निश्चय समकितको प्राप्त हुए हैं, ऐसा कहा है। अर्थात् जो स्वयंबुद्धता कही है वह वर्तमान देहकी अपेक्षासे कही है, और उसे सद्‌गुरुपदके निषेधके लिये कहा नही है।

और यदि सद्‌गुरुपदका निषेध करे तो तो 'सद्देव, सद्‌गुरु और सद्धर्मकी प्रतीतिके बिना समकित नही होता,' यह कथन मात्र ही हुआ।

अथवा जिस शास्त्रका आप प्रमाण लेते हैं वह शास्त्र सद्‌गुरु ऐसे जिनेन्द्रका कहा हुआ है, इसलिये उसे प्रामाणिक मानना योग्य है ? अथवा किसी असद्‌गुरुका कहा हुआ है इसलिये प्रामाणिक मानना योग्य है ? यदि असद्‌गुरुके शास्त्रोंको भी प्रामाणिक माननेमे बाधा न हो तो फिर अज्ञान और रागद्वेषका आराधन करनेसे भी मोक्ष होता है, ऐसा कहनेमे बाधा नहीं है, यह विचारणीय है।

'आचारांग सूत्र' (प्रथम श्रुत स्कंध, प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशमें, प्रथम वाक्य) मे कहा है :—क्या यह जीव पूर्वसे आया है ? पश्चिमसे आया है ? उत्तरसे आया है ? दक्षिणसे आया है ? अथवा ऊपरसे आया है ? नीचेसे या किसी दूसरी दिशासे आया है ? ऐसा जो नही जानता वह मिथ्यादृष्टि है, जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। उसे जाननेके तीन कारण हैं—(१) तीर्थंकरका उपदेश (२) सद्‌गुरुका उपदेश और (३) जातिस्मरणज्ञान।

यहाँ जो जातिस्मरणज्ञान कहा है वह भी पूर्वकालके उपदेशकी संधि है। अर्थात् पूर्वकालमे उसे बोध होनेमे सद्‌गुरुका असम्भव मानना योग्य नही है। तथा जगह जगह जिनागममे ऐसा कहा है कि—

[1]'**गुरुणो छंदाणुवत्तगा**' अर्थात् गुरुकी आज्ञानुसार चलना।

गुरुकी आज्ञाके अनुसार चलनेसे अनंत जीव सिद्ध हुए हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होगे। तथा कोई जीव अपने विचारसे बोधको प्राप्त हुआ, उसमे प्राय· पूर्वकालका सद्‌गुरुका उपदेश कारण होता है। परंतु कदाचित् जहाँ वैसा न हो वहाँ भी वह सद्‌गुरुका नित्य अभिलाषी रहते हुए, सद्‌विचारमे प्रेरित होते होते स्वविचारसे आत्मज्ञानको प्राप्त हुआ, ऐसा कहना योग्य है; अथवा उसे कुछ सद्‌गुरुकी उपेक्षा नही है और जहाँ सद्‌गुरुकी उपेक्षा रहती है वहाँ मानका सम्भव है; और जहाँ सद्‌गुरुके प्रति मान हो वहाँ कल्याण होना कहा है अथवा उसे सद्‌विचारके प्रेरित करनेका आत्मगुण कहा है।

तथारूप मान आत्मगुणका अवश्य घातक है। बाहुबलीजीमे अनेक गुणसमूह विद्यमान होते हुए भी छोटे अट्ठानवे भाइयोको वदन करनेमे अपनी लघुता होगी, इसलिये यही ध्यानमे स्थित हो जाना योग्य है, ऐसा सोचकर एक वर्ष तक निराहाररूपसे अनेक गुणसमुदायसे आत्मध्यानमे रहे, तो भी आत्मज्ञान नही हुआ। बाकी दूसरो सब प्रकारको योग्यता होनेपर भी एक इस मानके कारणसे वह ज्ञान रुका हुआ था। जब श्री ऋषभदेव द्वारा प्रेरित ब्राह्मी और सुन्दरी सतियोने उनसे उस दोषका निवेदन किया और उस दोषका उन्हे भान हुआ, तथा उस दोषकी उपेक्षा कर उसकी असारता उन्हे समझमे आयी तब केवलज्ञान हुआ। वह मान ही यहाँ चार घनघाती कर्मोंका मूल होकर रहा था। और बारह बारह महीने तक निराहाररूपसे, एक लक्ष्यसे, एक आसनसे आत्मविचारमे रहनेवाले ऐसे पुरुषको इतनेसे मानने वैसी बारह महीनेकी दशाको सफल न होने दिया, अर्थात् उस दशासे मान समझमे न आया और जब सद्‌गुरु ऐसे श्री ऋषभदेवने 'वह मान है' ऐसा प्रेरित किया तब एक मुहूर्तमे वह मान जाता रहा; यह भी सद्‌गुरुका ही माहात्म्य प्रदर्शित किया है।

फिर सारा मार्ग ज्ञानीकी आज्ञामें निहित है, ऐसा बारंबार कहा है। 'आचारांगसूत्र' में कहा है कि—(सुधर्मास्वामी जबुस्वामीको उपदेश करते है कि जिसने सारे जगतका दर्शन किया है, ऐसे महावीर

१. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन उद्देश २, गा० ३२।

भगवानने हमें इस तरह कहा है ।) गुरुके अधीन होकर चलनेवाले ऐसे अनंत पुरुष मार्ग पाकर मोक्षको प्राप्त हुए ।

'उत्तराध्ययन', 'सूयगडांग' आदिमे जगह जगह यही कहा है । (९)

[1]आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग ।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥१०॥

आत्मज्ञानमे जिसकी स्थिति है, अर्थात् जो परभावकी इच्छासे रहित हुआ है, तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावोके प्रति जिसे समता रहती है, मात्र पूर्वकृत कर्मोंके उदयके कारण जिसकी विचरना आदि क्रियाएँ हैं; अज्ञानीकी अपेक्षा जिसकी वाणी प्रत्यक्ष भिन्न है; और जो षड्दर्शनके तात्पर्यको जानता है; ये सद्गुरुके उत्तम लक्षण हैं ॥१०॥

स्वरूपस्थित इच्छारहित, विचरे पूर्वप्रयोग ।
अपूर्व वाणी, परमश्रुत,, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥

आत्मस्वरूपमे जिसकी स्थिति है, विषय एवं मान, पूजा आदिकी इच्छासे जो रहित है, और मात्र पूर्वकृत कर्मोंके उदयसे जो विचरता है; जिसकी वाणी अपूर्व है, अर्थात् निज अनुभव सहित जिसका उपदेश होनेसे अज्ञानीकी वाणीकी अपेक्षा प्रत्यक्ष भिन्न है, और परमश्रुत अर्थात् षड्दर्शनका जिसे यथास्थित ज्ञान होता है; ये सद्गुरुके योग्य लक्षण है ।

यहाँ 'स्वरूपस्थित' ऐसा प्रथम पद कहा, इससे ज्ञानदशा कही है, इच्छारहित होना कहा, इससे चारित्रदशा कही है । जो इच्छारहित हो वह किस तरह विचर सकता है ? ऐसी आशंका, 'विचरे पूर्व-प्रयोग' अर्थात् पूर्वोपार्जित प्रारब्धसे विचरता है, विचरने आदिकी कोई कामना जिसे नही है, ऐसा कहकर निवृत्त की है । 'अपूर्व वाणी' ऐसा कहनेसे वचनातिशयता कही है, क्योंकि उसके बिना मुमुक्षुका उपकार नही होता । 'परमश्रुत' कहनेसे षड्दर्शनके अविरुद्ध दशासे ज्ञाता है ऐसा कहा है, इससे श्रुतज्ञानकी विशेषता दिखायी है ।

आशंका—वर्तमानकालमे स्वरूपस्थित पुरुष नही होता, इसलिये जो स्वरूपस्थित विशेषणवाला सद्गुरु कहा है, वह वर्तमानमे होना सभव नही ।

समाधान—वर्तमानकालमे कदाचित् ऐसा कहा हो तो यह कहा जा सकता है कि 'केवलभूमिका' के विषयमे ऐसी स्थिति असंभव है, परतु आत्मज्ञान ही नही होता ऐसा नही कहा जा सकता, और जो आत्मज्ञान है वही स्वरूपस्थिति है ।

आशंका—आत्मज्ञान हो तो वर्तमानकालमे मुक्ति होनी चाहिये, और जिनागममे तो इसका निषेध किया है ।

समाधान—इस वचनको कदाचित् एकातसे ऐसा ही मान लें, तो भी इससे एकावतारिताका निषेध नही होता, और एकावतारिता आत्मज्ञानके बिना प्राप्त नही होती ।

आशका—त्याग, वैराग्य आदिकी उत्कृष्टतासे उसे एकावतारिता कही होगी ।

समाधान—परमार्थसे उत्कृष्ट त्यागवैराग्यके बिना एकावतारिता होती ही नही, ऐसा सिद्धात है; और वर्तमानमे भी चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानका कुछ निषेध है नही, और चौथे गुणस्थानसे ही आत्मज्ञानका सम्भव होता है, पाँचवेमे विशेष स्वरूपस्थिति होती है, छट्ठेमे बहुत अशसे स्वरूपस्थिति होती है, पूर्व प्रेरित प्रमादके उदयसे मात्र कुछ प्रमाद-दशा आ जाती है, परंतु वह आत्मज्ञानकी रोधक नही, चारित्रकी रोधक है ।

---

१. देखें आक ८२७

आशंका—यहाँ तो 'स्वरूपस्थित' ऐसे पदका प्रयोग किया है, और स्वरूपस्थित-पद तो तेरहवें गुणस्थानमे ही सम्भव है।

समाधान—स्वरूपस्थितिकी पराकाष्ठा तो चौदहवें गुणस्थानके अतमे होती है, क्योंकि नाम गोत्र आदि चार कर्मका नाश वहाँ होता है, उससे पहले केवलीको चार कर्मोंका सग रहता है, इसलिये संपूर्ण स्वरूपस्थिति तो तेरहवें गुणस्थानमे भी कही नही जा सकती।

आशंका—वहाँ नाम आदि कर्मोंके कारण अव्याबाध स्वरूपस्थितिका निषेध करें तो वह ठीक है, परंतु स्वरूपस्थिति तो केवलज्ञानरूप है, इसलिये स्वरूपस्थिति कहनेमे दोष नहीं है, और यहाँ तो वैसा नही है, इसलिये स्वरूपस्थिति कैसे कही जाये ?

समाधान—केवलज्ञानमें स्वरूपस्थितिका तारतम्य विशेष है, और चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानमे उससे अल्प है, ऐसा कहा जाये, परंतु स्वरूपस्थिति नही है ऐसा नही कहा जा सकता। चौथे गुणस्थानमे मिथ्यात्वमुक्तदशा होनेसे आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और स्वरूपस्थिति है। पाँचवें गुणस्थानमें देशतः चारित्रघातक कषायोका निरोध हो जानेसे चौथेकी अपेक्षा आत्मस्वभावका विशेष आविर्भाव है, और छट्ठेमे कषायोका विशेष निरोध होनेसे सर्व चारित्रका उदय है, इसलिये वहाँ आत्मस्वभावका विशेष आविर्भाव है। मात्र छट्ठे गुणस्थानमे पूर्वनिबंधित कर्मके उदयसे क्वचित् प्रमत्तदशा रहती है, इसलिये 'प्रमत्त' सर्व चारित्र कहा जाता है, परन्तु इससे स्वरूपस्थितिमे विरोध नही है; क्योंकि आत्मस्वभावका बाहुल्यसे आविर्भाव है। और आगम भी ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक आत्मप्रतीति समान है; ज्ञानका तारतम्य भेद है।

यदि चौथे गुणस्थानमे अंशतः भी स्वरूपस्थिति न हो, तो मिथ्यात्व जानेका फल क्या हुआ ? कुछ भी नही हुआ। जो मिथ्यात्व चला गया वही आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और वही स्वरूपस्थिति है। यदि सम्यक्त्वसे तथारूप स्वरूपस्थिति न होती, तो श्रेणिक आदिको एकावतारिता कैसे प्राप्त होती ? वहाँ एक भी व्रत, पच्चक्खान नही था और मात्र एक ही भव बाकी रहा ऐसी अल्पसंसारिता हुई वही स्वरूपस्थितिरूप समकितका बल है। पाँचवे और छट्ठे गुणस्थानमे चारित्रका बल विशेष है, और मुख्यतः उपदेशक गुणस्थान तो छठा और तेरहवाँ है। बाकीके गुणस्थान उपदेशककी प्रवृत्ति कर सकने योग्य नही है; इसलिये तेरहवे और छट्ठे गुणस्थानमे वह पद होता है। (१०)

[1]प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार।
एवो लक्ष थया विना, ऊगे न आत्मविचार ॥११॥

जब तक जीवको पूर्वकालीन जिनेश्वरोकी बातपर ही लक्ष्य रहा करे, और वह उनके उपकारको गाया करे, और जिससे प्रत्यक्ष आत्मभ्रांतिका समाधान होता है ऐसे सद्गुरुका समागम प्राप्त हुआ हो, उसमे परोक्ष जिनेश्वरोके वचनोंकी अपेक्षा महान उपकार समाया हुआ है, ऐसा जो न जाने उसे आत्मविचार उत्पन्न नही होता ॥११॥

सद्गुरुना उपदेश वण, समजाय न जिनरूप।
समज्या वण उपकार शो ? समज्ये जिनस्वरूप ॥१२॥

सद्गुरुके उपदेशके बिना जिनेश्वरका स्वरूप समझमे नही आता, और स्वरूपको समझे बिना उपकार क्या हो ? यदि सद्गुरुके उपदेशसे जिनेश्वरका स्वरूप समझ ले तो समझनेवालेका आत्मा परिणाममें जिनेश्वरकी दशाको प्राप्त होता है ॥१२॥

---

१. देखें आंक ५२७।

सद्गुरुना उपदेशथी, समजे जिननुं रूप।
तो ते पामे निजदशा, जिन छे आत्मस्वरूप ॥
पाम्या शुद्ध स्वभावने, छे जिन तेथी पूज्य।
समजो जिनस्वभाव तो, आत्मभाननो गुह्य ॥

सद्गुरुके उपदेशसे जो जिनेश्वरका स्वरूप समझे, वह अपने स्वरूपकी दशाको प्राप्त करे; क्योंकि शुद्ध आत्मत्व ही जिनेश्वरका स्वरूप है, अथवा राग, द्वेष और अज्ञान जिनेश्वरमे नही है, वही शुद्ध आत्मपद है, और वह पद तो सत्तासे सब जीवोंका है। वह सद्गुरु—जिनेश्वरके अवलंबनसे और जिनेश्वरका स्वरूप कहनेसे मुमुक्षुजीवको समझमें आता है। (१२)

आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र।
प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहि, त्यां आधार सुपात्र ॥१३॥

जो जिनागम आदि आत्माके अस्तित्वका तथा परलोक आदिके अस्तित्वका उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं, वे भी, जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न हो वहाँ सुपात्र जीवको आधाररूप है, परंतु उन्हे सद्गुरुके समान भ्रांतिका छेदक नही कहा जा सकता ॥१३॥

'अथवा सद्गुरुए कह्यां, जे अवगाहन काज।
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज ॥१४॥

अथवा यदि सद्गुरुने उन शास्त्रोंका विचार करनेकी आज्ञा दी हो, तो मतातर अर्थात् कुलधर्मको सार्थक करनेका हेतु आदि भ्रांतियाँ छोड़कर मात्र आत्मार्थके लिये उन शास्त्रोका नित्य विचार करना चाहिये ॥१४॥

रोके जीव स्वच्छंद तो, पामे अवश्य मोक्ष।
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष ॥१५॥

जीव अनादि कालसे अपनी चतुराई और अपनी इच्छाके अनुसार चला है, इसका नाम 'स्वच्छद' है। यदि वह इस स्वच्छंदको रोके तो वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करे; और इस तरह भूतकालमे अनंत जीवोंने मोक्ष प्राप्त किया है। राग, द्वेष और अज्ञान, इनमेसे एक भी दोष जिनमे नही है ऐसे दोषरहित वीतरागने ऐसा कहा है ॥१५॥

प्रत्यक्ष सद्गुरु योगथी, स्वच्छंद ते रोकाय।
अन्य उपाय कर्या थकी, प्राये बमणो थाय ॥१६॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगसे वह स्वच्छंद रुक जाता है, नही तो अपनी इच्छासे अन्य अनेक उपाय करनेपर भी प्रायः वह दुगुना होता है ॥१६॥

स्वच्छंद, मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष।
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष ॥१७॥

स्वच्छन्दको तथा अपने मतके आग्रहको छोड़कर जो सद्गुरुके लक्ष्यसे चलता है, उसे प्रत्यक्ष कारण मानकर वीतरागने 'समकित' कहा है ॥१७॥

मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय।
जातां सद्गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥१८॥

मान और पूजा-सत्कार आदिका लोभ इत्यादि महा शत्रु हैं, वे अपनी चतुराईसे चलते हुए नष्ट नहीं होते, और सद्गुरुकी शरणमें जानेपर सहज प्रयत्नसे दूर हो जाते हैं ॥१८॥

---

१. पाठांतर—अथवा सद्गुरुए कह्या, जो अवगाहन काज।
तो ते नित्य विचारवा, करी मतांतर त्याज ॥

जे सद्गुरु उपदेशथी, पाम्यो केवळज्ञान।
गुरु रह्या छद्मस्थ पण, विनय करे भगवान ॥१९॥

जिस सद्गुरुके उपदेशसे कोई केवलज्ञानको प्राप्त हुआ, वह सद्गुरु अभी छद्मस्थ रहा हो तो भी जिसने केवलज्ञानको प्राप्त किया है, ऐसा वह केवली भगवान अपने छद्मस्थ सद्गुरुका वैयावृत्य करता है ॥१९॥

एवो मार्ग विनय तणो, भाख्यो श्री वीतराग।
मूळ हेतु ए मार्गनो, समजे कोई सुभाग्य ॥२०॥

श्री जिनेन्द्रने ऐसे विनयमार्गका उपदेश दिया है। इस मार्गका मूल हेतु अर्थात् उससे आत्माका क्या उपकार होता है, उसे कोई सुभाग्य अर्थात् सुलभबोधी अथवा आराधक जीव हो, वह समझता है ॥२०॥

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो कांई।
महामोहनीय कर्मथी, बूडे भवजळ मांही ॥२१॥

यह जो विनयमार्ग कहा है, उसका लाभ अर्थात् उसे शिष्य आदिसे करानेकी इच्छा करके यदि कोई भी असद्गुरु अपनेमे सद्गुरुताकी स्थापना करता है, तो वह महामोहनीय कर्मका उपार्जन करके भवसमुद्रमे डूबता है ॥२१॥

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार।
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार ॥२२॥

जो मोक्षार्थी जीव होता है, वह इस विनयमार्ग आदिके विचारको समझता है, और जो मतार्थी होता है, वह उसका उलटा निर्धार करता है, अर्थात् या तो स्वयं शिष्य आदिसे वैसी विनय करवाता है, अथवा असद्गुरुमे सद्गुरुकी भ्रांति रखकर स्वयं इस विनयमार्गका उपयोग करता है ॥२२॥

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतम लक्ष।
तेह मतार्थी लक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष ॥२३॥

जो मतार्थी जीव होता है, उसे आत्मज्ञानका लक्ष्य नही होता, ऐसे मतार्थी जीवके लक्षण यहाँ निष्पक्षतासे कहे है ॥२३॥

मतार्थीके लक्षण

बाह्यत्याग पण ज्ञान नहि, ते माने गुरु सत्य।
अथवा निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥२४॥

जिसमे मात्र बाह्यसे त्याग दिखायी देता है, परन्तु जिसे आत्मज्ञान नहीं है, और उपलक्षणसे अंतरंग त्याग नही है, ऐसे गुरुको जो सच्चा गुरु मानता है, अथवा तो अपने कुलधर्मका चाहे जैसा गुरु हो तो भी उसमें ममत्व रखता है ॥२४॥

जे जिनदेह प्रमाण ने, समवसरणादि सिद्धि।
वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निज बुद्धि ॥२५॥

जो जिनेन्द्रकी देह आदिका वर्णन है, उसे जिनेंद्रका वर्णन समझता है, और मात्र अपने कुलधर्मके देव हैं, इसलिये ममत्वके कल्पित रागसे जो उनके समवसरण आदिका माहात्म्य कहा करता है, और उसमे अपनी बुद्धिको रोक रखता है, अर्थात् परमार्थहेतुस्वरूप ऐसा जिनेंद्रका जो जानने योग्य अंतरंग स्वरूप है, उसे नहीं जानता, तथा उसे जाननेका प्रयत्न नहीं करता, और मात्र समवसरण आदिमें ही जिनेंद्रका स्वरूप बताकर मतार्थमे ग्रस्त रहता है ॥२५॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां, वर्ते दृष्टि विमुख।
असद्गुरुने दृढ करे, निज मानार्थे मुख्य ॥२६॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुका क्वचित् योग मिले, तो दुराग्रह आदिकी छेदक उसकी वाणी सुनकर उससे उलटा ही चलता है, अर्थात् उस हितकारी वाणीको ग्रहण नही करता, और 'स्वयं सच्चा दृढ मुमुक्षु है,' ऐसे मानको मुख्यतः प्राप्त करनेके लिये असद्गुरुके पास जाकर, स्वयं उसके प्रति अपनी विशेष दृढता बताता है ।।२६।।

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान ।
माने निज मत वेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान ।।२७।।

देव, नरक आदि गतिके 'भंग' आदिके स्वरूप किसी विशेष परमार्थहेतुसे कहे हैं, उस हेतुको नहीं जाना, और उस भंगजालको जो श्रुतज्ञान समझता है; तथा अपने मतका, वेषका आग्रह रखनेमे ही मुक्तिका हेतु मानता है ।।२७।।

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान ।।२८।।

वृत्तिका स्वरूप क्या है ? उसे भी वह नही जानता, और 'मैं व्रतधारी हूँ', ऐसा अभिमान धारण किया है। क्वचित् परमार्थके उपदेशका योग बने, तो भी लोगोमें जो अपने मान, पूजा, सत्कार आदि हैं, वे चले जायेंगे; अथवा वे मान आदि फिर प्राप्त नहीं होगे, ऐसा समझकर वह परमार्थको ग्रहण नही करता ।।२८।।

अथवा निश्चय नय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय ।
लोपे सद्व्यवहारने, साधन रहित थाय ।।२९।।

अथवा समयसार' या 'योगवासिष्ठ' जैसे ग्रन्थ पढकर वह मात्र निश्चयनयको ग्रहण करता है। किस तरह ग्रहण करता है ? मात्र कहनेमे, अतरंगमे तथारूप गुणकी कुछ भी स्पर्शना नही, और सद्गुरु, सत्शास्त्र तथा वैराग्य, विवेक आदि सद्व्यवहारका लोप करता है, तथा अपनेको ज्ञानी मानकर साधन-रहित होकर आचरण करता है ।।२९।।

ज्ञानदशा पामे नहीं, साधनदशा न कांई ।
पामे तेनो संग जे, ते बूडे भव मांही ।।३०।।

वह ज्ञानदशाको नहीं पाता, और वैराग्य आदि साधनदशा भी उसे नही है, जिससे वैसे जीवका संग दूसरे जिस जीवको होता है वह भी भवसागरमे डूबता है ।।३०।।

ए पण जीव मतार्थमां, निजमानादि काज;
पामे नहि परमार्थने, अन्-अधिकारीमां ज ।।३१।।

यह जीव भी मतार्थमे ही प्रवृत्त है; क्योंकि उपर्युक्त जीवको जिस तरह कुलधर्म आदिके कारण मतार्थता है, उसी तरह इसे अपनेको ज्ञानी मनवानेके मानकी इच्छासे अपने शुष्कमतका आग्रह है, इसलिये वह भी परमार्थको नही पाता; और अनधिकारी अर्थात् जिसमे ज्ञानका परिणमन होना योग्य नही है, ऐसे जीवोंमे वह भी गिना जाता है ।।३१।।

नहि कषाय उपशांतता, नहि अंतर वैराग्य ।
सरळपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य ।।३२।।

जिसके क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय पतले नही पड़े हैं, तथा जिसे अंतर वैराग्य उत्पन्न नही हुआ है, जिसके आत्मामे गुण ग्रहण करनेरूप सरलता नही रही है, तथा सत्यासत्यकी तुलना करनेकी जिसमे अपक्षपातदृष्टि नही है, वह मतार्थी जीव दुर्भाग्य है अर्थात् जन्म, जरा, मरणका छेदन करनेवाले मोक्षमार्गको प्राप्त करने योग्य उसका भाग्य नही है, ऐसा समझें ।।३२।।

लक्षण कह्यां मतार्थीनां, मतार्थ जावा काज।
हवे कहुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥३३॥

इस तरह मतार्थी जीवके लक्षण कहे। उसके कहनेका हेतु यह है कि उन्हे जानकर किसी भी जीवका मतार्थ दूर हो। अब आत्मार्थी जोवके लक्षण कहते है। वे लक्षण कैसे हैं? आत्माके लिये अव्याबाध सुखकी सामग्रीके हेतु है ॥३३॥

आत्मार्थी-लक्षण

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय।
बाकी कुळगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहि जोय ॥३४॥

जहाँ आत्मज्ञान होता है, वहाँ मुनित्व होता है, अर्थात् जहाँ आत्मज्ञान नही होता वहाँ मुनित्व संभव ही नही है। **जं सम्मं ति पासहा तं मोणंति पासहा**—जहाँ समकित अर्थात् आत्मज्ञान है वहाँ मुनित्व समझें, ऐसा आचारागसूत्रमे कहा है। अर्थात् जिममें आत्मज्ञान हो वह सच्चा गुरु है, ऐसा जो जानता है, और जो यह भी जानता है कि आत्मज्ञानसे रहित अपने कुलगुरुको सद्गुरु मानना कल्पना मात्र है, उससे कुछ भवच्छेद नही होता, वह आत्मार्थी है ॥३४॥

प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्तिनो, गणे परम उपकार।
त्रणे योग एकत्वथी, वर्ते आज्ञाधार ॥३५॥

वह प्रत्यक्ष सद्गुरुकी प्राप्तिका महान उपकार समझता है, अर्थात् शास्त्र आदिसे जो समाधान हो सकने योग्य नही है, और जो दोष सद्गुरुकी आज्ञा धारण किये बिना दूर नही होते; वह सद्गुरुके योगसे समाधान हो जाता है, और वे दोष दूर हो जाते है, इसलिये वह प्रत्यक्ष सद्गुरुका महान उपकार समझता है, और उन सद्गुरुके प्रति मन, वचन और कायाकी एकतासे आज्ञापूर्वक आचरण करता है ॥३५॥

एक होय त्रण काळमां, परमारथनो पंथ।
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत ॥३६॥

तीनों कालमे परमार्थका पंथ अर्थात् मोक्षका मार्ग एक होना चाहिये, और जिससे वह परमार्थ सिद्ध हो वह व्यवहार जीवको मान्य रखना चाहिये, अन्य नही ॥३६॥

एम विचारी अन्तरे, शोधे सद्गुरु योग।
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहि मनरोग ॥३७॥

इस तरह अंतरमे विचारकर जो सद्गुरुके योगको खोजता है, मात्र एक आत्मार्थकी इच्छा रखता है, परतु मान, पूजा आदि ऋद्धि-सिद्धिको तनिक भी इच्छा नही रखता, यह रोग जिसके मनमे नही है, वह आत्मार्थी है ॥३७॥

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद, प्राणीदया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥३८॥

जिसके कषाय पतले पड़ गये हैं, जिसे मात्र एक मोक्षपदके सिवाय अन्य किसी पदकी अभिलाषा नहीं है, ससारके प्रति जिसे वैराग्य रहता है, और प्राणीमात्रपर जिसे दया है, ऐसे जीवमे आत्मार्थका निवास होता है ॥३८॥

दशा न एवी ज्यां सुधी, जीव लहे नहि जोग।
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अन्तर रोग ॥३९॥

जब तक ऐसी योग्य दशाको जीव नही पाता, तब तक उसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नही होती, और आत्मभ्रांतिरूप अनंत दुःखका हेतु ऐसा अंतर रोग नही मिटता ॥३९॥

आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥४०॥

जहाँ ऐसी दशा आती है वहाँ सद्गुरुका बोध शोभित होता है अर्थात् परिणमित होता है, और उस बोधके परिणामसे सुखदायक सुविचारदशा प्रगट होती है ॥४०॥

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निज ज्ञान।
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण ॥४१॥

जहाँ सुविचारदशा प्रगट होती है वहाँ आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, और उस ज्ञानसे मोहका क्षय करके जीव निर्वाणपद पाता है ॥४१॥

ऊपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय।
गुरु-शिष्य संवादथी, भाखुं षट्पद आंही ॥४२॥

जिससे वह सुविचारदशा उत्पन्न होती है और मोक्षमार्ग समझमे आता है वह षट्पदरूपमें गुरु-शिष्यके संवाद द्वारा यहाँ कहता हूँ ॥४२॥

षट्पदनामकथन

'आत्मा छे,' 'ते नित्य छे', 'छे कर्ता निजकर्म'।
'छे भोक्ता' वळी 'मोक्ष छे', 'मोक्ष उपाय सुधर्म' ॥४३॥

'आत्मा है', 'वह आत्मा नित्य है', 'वह आत्मा अपने कर्मका कर्ता है', 'वह कर्मका भोक्ता है', 'उस कर्मसे मोक्ष होता है', और 'उस मोक्षका उपाय सद्धर्म है' ॥४३॥

षट्स्थानक संक्षेपमां, षट्दर्शन पण तेह।
समजावा परमार्थने, कह्यां ज्ञानीए एह ॥४४॥

ये छः स्थानक अथवा छः पद यहाँ संक्षेपमे कहे हैं। और विचार करनेसे षड्दर्शन भी यही है। परमार्थ समझनेके लिये ज्ञानीपुरुषने ये छः पद कहे है ॥४४॥

शंका—शिष्य उवाच

[शिष्य आत्माके अस्तित्वरूप प्रथम स्थानककी शंका करता है :—]

नथी दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप।
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप ॥४५॥

वह दृष्टिमे नही आता, तथा उसका कोई रूप जान नही पड़ता, तथा स्पर्श आदि अन्य अनुभवसे भी वह जाना नही जाता, इसलिये जीवका स्वरूप नही है, अर्थात् जीव नही है ॥४५॥

अथवा देह ज आतमा, अथवा इन्द्रिय प्राण।
मिथ्या जुदो मानवो, नहीं जुदुं एंधाण ॥४६॥

अथवा जो देह है वही आत्मा है, अथवा जो इन्द्रियाँ हैं, वही आत्मा है, अथवा श्वासोच्छ्वास है, वह आत्मा है, अर्थात् ये सब किसी न किसी रूपमे देहरूप हैं; इसलिये आत्माको भिन्न मानना मिथ्या है क्योंकि उसका कोई भी भिन्न चिह्न नहीं है ॥४६॥

वळी जो आत्मा होय तो, जणाय ते नहि केम ?।
जणाय जो ते होय तो, घट, पट आदि जेम ॥४७॥

और यदि आत्मा हो तो वह मालूम क्यों नही होता ? जैसे घट, पट आदि पदार्थ हैं तो वे जान पड़ते हैं, वैसे आत्मा हो तो किसलिये मालूम न हो ? ॥४७॥

माटे छे नहि आतमा, मिथ्या मोक्ष उपाय।
ए अन्तर शंका तणो, समजावो सदुपाय ॥४८॥

इसलिये आत्मा नहीं है, और जब आत्मा ही नही है तब उसके मोक्षके लिये उपाय करना व्यर्थ है; इस मेरी अंतरकी शंकाका कुछ भी सदुपाय समझाइये अर्थात् समाधान हो तो कहिये ॥४८॥

समाधान—सद्गुरु उवाच

[आत्माका अस्तित्व है ऐसा सद्गुरु समाधान करते हैं :—]

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान ॥४९॥

देहाध्याससे अर्थात् अनादिकालसे अज्ञानके कारण देहका परिचय है, इससे आत्मा देह जैसा अर्थात् देहरूप ही तुझे भासित हुआ है; परंतु आत्मा और देह दोनों भिन्न हैं, क्योकि दोनो भिन्न भिन्न लक्षणोंसे प्रगट ज्ञानमे आते है ॥४९॥

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥५०॥

अनादिकालसे अज्ञानके कारण देहके परिचयसे देह ही आत्मा भासित हुआ है, अथवा देह जैसा आत्मा भासित हुआ है; परंतु जैसे तलवार और म्यान, म्यानरूप लगते हुए भी दोनो भिन्न भिन्न है, वैसे आत्मा और देह दोनों भिन्न-भिन्न है ॥५०॥

जे द्रष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥५१॥

वह आत्मा दृष्टि अर्थात् आँखसे कैसे दिखायी दे सकता है ? क्योंकि वह तो उलटा उसको देखनेवाला है (अर्थात् आँखको देखनेवाला तो आत्मा ही है)। और जो स्थूल, सूक्ष्म आदि रूपको जानता है, और सबको बाधित करता हुआ जो किसीसे भी बाधित नही हो सकता, ऐसा जो शेष अनुभव है वह जीवका स्वरूप है ॥५१॥

[1]छे इन्द्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनु ज्ञान।
पाँच इंद्रीना विषयनुं, पण आत्माने भान ॥५२॥

[1]कर्णेन्द्रियसे जो सुना उसे वह कर्णेन्द्रिय जानती है, परंतु चक्षुरिन्द्रिय उसे नही जानती, और चक्षुरिन्द्रियने जो देखा उसे कर्णेन्द्रिय नही जानती। अर्थात् सभी इन्द्रियोको अपने अपने विषयका ज्ञान है, परन्तु दूसरी इन्द्रियोके विषयका ज्ञान नही है, और आत्माको तो पाँचो इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान है। अर्थात् जो उन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये हुए विषयको जानता है वह 'आत्मा' है, और आत्माके बिना एक एक इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करती है ऐसा जो कहा है, वह भी उपचारसे कहा है ॥५२॥

देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्री, प्राण।
आत्मानी सत्ता वडे, तेह प्रवर्ते जाण ॥५३॥

देह उसे नही जानती, इन्द्रियाँ उसे नहीं जानती, और श्वासोच्छ्वासरूप प्राण भी उसे नही जानता; वे सब एक आत्माकी सत्ता पाकर प्रवृत्ति करते हैं, नहीं तो वे जडरूप पड़े रहते है, ऐसा तू समझ ॥५३॥

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाण सदाय ॥५४॥

---

१. पाठान्तर—कान न जाणे आँखने, आँख न जाणे कान;

जाग्रत, स्वप्न और निद्रा इन अवस्थाओंमे रहनेपर भी जो उन सब अवस्थाओसे भिन्न रहा करता है, और उस उस अवस्थाके बीत जानेपर भी जिसका अस्तित्व है, और उस उस अवस्थाको जो जानता है, ऐसा प्रगटस्वरूप चैतन्यमय है, अर्थात् जाना ही करता है ऐसा जिसका स्वभाव प्रगट है, और उसकी यह निशानी सदा ही रहती है, किसी दिन उस निशानीका नाश नही होता ॥५४॥

घट पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान।
जाणनार ते मान नहि, कहीए केवुं ज्ञान ? ॥५५॥

घट, पट आदिको तू स्वयं जानता है, 'वे है' ऐसा तू मानता है, और जो उन घट, पट आदिका ज्ञाता है उसे तू नही मानता; तो फिर इस ज्ञानको कैसा कहा जाये ? ॥५५॥

परम बुद्धि कृश देहमां, स्थूळ देह मति अल्प।
देह होय जो आतमा, घटे न आम विकल्प ॥५६॥

दुर्बल देहमें परम बुद्धि देखनेमे आती है, और स्थूल देहमे थोड़ी बुद्धि भी देखनेमे आती है, यदि देह ही आत्मा होता तो ऐसा विकल्प अर्थात् विरोध होनेका अवसर न आता ॥५६॥

जड चेतननो भिन्न छे, केवळ प्रगट स्वभाव।
एकपणुं पामे नहीं, त्रणे काळ द्वयभाव ॥५७॥

किसी कालमे जिसमें जाननेका स्वभाव नही है वह जड़ है, और जो सदा ही जाननेके स्वभाव वाला है वह चेतन है। ऐसा दोनोंका सर्वथा भिन्न स्वभाव है, और वह किसी भी प्रकारसे एकत्व पाने योग्य नही है। तीनों कालमे जड जडभावमे और चेतन चेतनभावमे रहता है, ऐसा दोनोंका द्वैतभाव स्पष्ट ही अनुभवमे आता है ॥५७॥

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप।
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप ॥५८॥

आत्माकी शंका आत्मा स्वयं करता है। परन्तु जो शंका करनेवाला है, वही आत्मा है। वह मालूम नहीं होता, यह ऐसा आश्चर्य है कि जिसका माप नही हो सकता ॥५८॥

शंका—शिष्य उवाच

[आत्मा नित्य नही है ऐसा शिष्य कहता है :—]

आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार।
संभव तेनो थाय छे, अंतर कर्ये विचार ॥५९॥

आत्माके अस्तित्वके विषयमे आपने जो जो प्रकार कहे हैं उनका अन्तरमे विचार करनेसे उसका अस्तित्व सभव लगता है ॥५९॥

बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहि अविनाश।
देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश ॥६०॥

परंतु दूसरी शंका यह होती है, कि यदि आत्मा है तो भी वह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं है; तीनो कालोंमे रहनेवाला पदार्थ नही है, मात्र देहके संयोगसे उत्पन्न होता है और उसके वियोगसे विनाशको प्राप्त होता है ॥६०॥

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय।
ए अनुभवथी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय ॥६१॥

अथवा वस्तु क्षण-क्षणमे बदलती हुई देखनेमे आती है, अतः सर्व वस्तु क्षणिक है, और अनुभवसे देखते हुए भी आत्मा नित्य मालूम नही होता ॥६१॥

समाधान—सद्गुरु उवाच

[आत्मा नित्य है ऐसा सद्गुरु समाधान करते है—]

देह मात्र संयोग छे, वळी जड रूपी दृश्य।
चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य ? ॥६२॥

देह मात्र परमाणुका संयोग है, अथवा संयोगसे आत्माके सम्बन्धमे है। तथा वह देह जड है, रूपी है, और दृश्य अर्थात् दूसरे किसी द्रष्टाके जाननेका वह विषय है; इसलिये वह अपने आपको नही जानती, तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशको वह कैसे जानेगी ? उस देहके एक एक परमाणुका विचार करते हुए भी वह जड ही है, ऐसा समझमे आता है। इसलिये उसमेसे चेतनकी उत्पत्ति होना योग्य नहीं है; और उत्पत्ति होना योग्य नही है इसलिये चेतनका उसमे नाश होना भी योग्य नही है। तथा वह देह रूपी अर्थात् स्थूल आदि परिणामवाली है, और चेतन द्रष्टा है, तब उसके संयोगसे चेतनकी उत्पत्ति किस तरह हो सकती है ? और उसमे लय भी कैसे हो सकता है ? देहमेसे चेतन उत्पन्न होता है, और उसमे ही नाशको प्राप्त होता है, यह बात किसके अनुभवके वश रही ? अर्थात् ऐसा किसने जाना ? क्योंकि जाननेवाले चेतनकी उत्पत्ति देहसे पहले है नही, और नाश तो उससे पहले है, तब यह अनुभव हुआ किसको ? ॥६२॥

जीवका स्वरूप अविनाशी अर्थात् नित्य त्रिकालवर्ती होना सभव नही। देहके योगसे अर्थात् देहके जन्मके साथ वह जन्म लेता है और देहके वियोगसे अर्थात् देहके नाशसे वह नष्ट हो जाता है, इस आशकाका समाधान इस तरह विचारियेगा—

देहका जीवके साथ मात्र संयोग-सम्बन्ध है, परंतु जीवके मूलस्वरूपके उत्पन्न होनेका वह कुछ कारण नही है। अथवा देह मात्र सयोगसे उत्पन्न हुआ पदार्थ है। तथा वह जड़ है अर्थात् किसीको नहीं जानती, अपनेको नही जानती तो दूसरेको क्या जाने ? तथा देह रूपी है, स्थूल आदि स्वभाववाली है और चक्षुका विषय है। इस प्रकार देहका स्वरूप है, तो वह चेतनकी उत्पत्ति और लयको किस तरह जाने ? अर्थात् वह अपनेको नही जानती तो 'मेरेसे यह चेतन उत्पन्न हुआ है', इसे किस तरह जाने ? और 'मेरे छूट जानेके बाद यह चेतन भी छूट जायेगा अर्थात् नष्ट हो जायेगा', इसे जड देह कैसे जाने ? क्योकि जाननेवाला पदार्थ तो जाननेवाला ही रहता है, देह जाननेवाली नही हो सकती तो फिर चेतनकी उत्पत्ति-लयके अनुभवको किसके वश कहना ?

देहके वश तो कहा ही नही जा सकता, क्योकि वह प्रत्यक्ष जड है और उसके जडत्वको जाननेवाला ऐसा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ भी समझमे आता है।

यदि कदाचित् ऐसा कहे कि चेतनके उत्पत्तिलयको चेतन जानता है तो यह बात तो 'वदतो व्याघात' है। क्योकि चेतनकी उत्पत्ति और लयके जाननेवालेके रूपमे चेतनको ही अंगीकार करना पड़ा; इसलिये यह वचन तो मात्र अपसिद्धांतरूप और कथनमात्र हुआ; जैसे कोई यह वचन कहे कि 'मेरे मुंहमे जीभ नही है', वैसे यह कथन है कि चेतनकी उत्पत्ति और लयको चेतन जानता है, इसलिये चेतन नित्य नही, वैसा प्रमाण हुआ। उस प्रमाणकी कैसी यथार्थता है, इसे तो आप ही विचार कर देखे। (६२)

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनुं ज्ञान।
ते तेथी जुदा विना, थाय न केमे भान ॥६३॥

जिसके अनुभवमे इस उत्पत्ति और नाशका ज्ञान रहता है, वह ज्ञान उससे भिन्न हुए बिना किसी भी प्रकारसे सम्भव नही है, अर्थात् चेतनकी उत्पत्ति और लय होते हैं, ऐसा अनुभव किसोको भी होने योग्य नही है ॥६३॥

देहकी उत्पत्ति और देहके लयका ज्ञान जिसके अनुभवमे रहता है, वह उस देहसे भिन्न न हो तो किसी भी प्रकारसे देहकी उत्पत्ति और लयका ज्ञान नहीं होता। अथवा जिसकी उत्पत्ति और लयको जो जानता है वह उससे भिन्न ही है, क्योंकि वह उत्पत्तिलयरूप नही ठहरा, परंतु उसका जाननेवाला ठहरा। इसलिये उन दोनोंकी एकता कैसे हो ? (६३)

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्य।
ऊपजे नहि संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६४॥

जो जो संयोग हम देखते हैं वे सब अनुभवस्वरूप ऐसे आत्माके दृश्य है अर्थात् उन्हें आत्मा जानता है, और उन संयोगोके स्वरूपका विचार करने पर ऐसा कोई भी संयोग समझमे नही आता कि जिससे आत्मा उत्पन्न होता है, इसलिये आत्मा संयोगसे उत्पन्न नही हुआ है, अर्थात् असंयोगी है, स्वाभाविक पदार्थ है, इसलिये यह प्रत्यक्ष 'नित्य' समझमे आता है ॥६४॥

जो जो देह आदि संयोग दिखायी देते है वे सब अनुभवस्वरूप ऐसे आत्माके दृश्य है, अर्थात् आत्मा उन्हें देखता है, और जानता है, ऐसे पदार्थ है। उन सब सयोगोका विचारकर देखें, तो आपको किसी भी संयोगसे अनुभवस्वरूप आत्मा उत्पन्न हो सकने योग्य मालूम नही होगा। कोई भी संयोग आपको नही जानते और आप उन सब संयोगोको जानते है, यही आपकी उनसे भिन्नता है, और असंयोगिता अर्थात् उन संयोगोंसे उत्पन्न न होना सहज ही सिद्ध होता है, और अनुभवमे आता है। इससे अर्थात् किसी भी संयोगसे जिसकी उत्पत्ति नही हो सकती, कोई भी संयोग जिसकी उत्पत्तिके लिये अनुभवमे नही आ सकते, जिन जिन सयोगोंकी कल्पना करें उनसे वह अनुभव भिन्न और भिन्न ही है, मात्र उनके ज्ञातारूपसे ही रहता है, उस अनुभवस्वरूप आत्माको आप नित्य अस्पृश्य अर्थात् जिसने उन संयोगोके भावरूप स्पर्शको प्राप्त नहीं किया, ऐसा समझें। (६४)

जडथी चेतन ऊपजे, चेतनथी जड थाय।
एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय ॥६५॥

जडसे चेतन उत्पन्न हो, और चेतनसे जड उत्पन्न हो ऐसा किसीको कही कभी भी अनुभव नही होता ॥६५॥

कोई संयोगोथी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय।
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय ॥६६॥

जिसकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नही होती, उसका नाश भी किसीमे नही होता, इसलिये आत्मा त्रिकाल 'नित्य' है ॥६६॥

जो किसी भी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो अर्थात् अपने स्वभावसे जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका लय दूसरे किसी भी पदार्थमे नहीं होता; और यदि दूसरे पदार्थमे उसका लय होता हो, तो उसमेंसे उसकी पहले उत्पत्ति होनी चाहिये थी, नहीं तो उसमे उसकी लयरूप एकता नही होती। इसलिये आत्माको अनुत्पन्न और अविनाशी जानकर नित्य है ऐसी प्रतीति करना योग्य होगा। (६६)

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय।
पूर्वजन्म संस्कार ते, जीव-नित्यता त्यांय ॥६७॥

क्रोध आदि प्रकृतियोंकी विशेषता सर्प आदि प्राणियोंमें जन्मसे ही देखनेमें आती है, वर्तमान देहमें तो उन्होंने वह अभ्यास नही किया; जन्मके साथ ही वह है; अर्थात् यह पूर्वजन्मका ही संस्कार है, जो पूर्वजन्म जीवकी नित्यता सिद्ध करता है ॥६७॥

सर्पमे जन्मसे क्रोधकी विशेषता देखनेमें आती है; कबूतरमें जन्मसे ही अहिंसकता देखनेमें आती है, खटमल आदि जन्तुओको पकड़ते हुए उन्हें पकड़नेसे दुःख होता है ऐसी भयसंज्ञा पहलेसे ही उनके

अनुभवमें रही है, जिससे वे भाग जानेका प्रयत्न करते है। किसी प्राणीमें जन्मसे ही प्रीतिकी, किसीमें समताकी, किसीमें विशेष निर्भयताकी, किसीमे गंभीरताकी, किसीमे विशेष भय संज्ञाकी, किसीमे काम आदिके प्रति असंगताकी, और किसीमे आहार आदिमे अधिकाधिक लुब्धताकी विशेषता देखनेमें आती है। इत्यादि भेद अर्थात् क्रोध आदि संज्ञाकी न्यूनाधिकता आदिसे, तथा वे वे प्रकृतियाँ जन्मसे सहचारीरूपसे विद्यमान देखनेमें आती हैं, उससे उसका कारण पूर्वके संस्कार ही संभव हैं।

कदाचित् ऐसा कहे कि गर्भमे वीय-रेतके गुणके योगसे उस उस प्रकारके गुण उत्पन्न होते हैं, परंतु उसमें पूर्वजन्म कुछ कारणभूत नही है; यह कहना भी यथार्थ नही है। जो माता-पिता काममे विशेष प्रीतिवाले देखनेमे आते हैं, उनके पुत्र परम वीतराग जैसे बाल्यकालसे ही देखनेमे आते है। तथा जिन माता-पिताओमे क्रोधकी विशेषता देखनेमे आती है, उनकी संततिमें समताकी विशेषता दृष्टिगोचर होती है, यह कैसे हो सकता है ? तथा उस वीर्य-रेतके वैसे गण संभव नही हैं, क्योंकि वह वीर्य-रेत स्वयं चेतन नही है, उसमे चेतन संचार करता है, अर्थात् देह धारण करता है; इसलिये वीर्य-रेतके आश्रित क्रोध आदि भाव नहीं माने जा सकते, चेतनके बिना किसी भी स्थानमे वैसे भाव अनुभवमें नहीं आते। मात्र वे चेतनाश्रित हैं, अर्थात् वीर्य-रेतके गुण नही है, जिससे उसकी न्यूनाधिकतासे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता मुख्यतः हो सकने योग्य नही है। चेतनके न्यूनाधिक प्रयोगसे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता होती है, जिससे वह गर्भके वीर्य-रेतका गुण नही है, परंतु चेतनका उन गुणोंको आश्रय है; और वह न्यूनाधिकता उस चेतनके पूर्वके अभ्याससे ही संभव है; क्योकि कारण बिना कार्यकी उत्पत्ति नही होती। चेतनका पूर्वप्रयोग तथाप्रकारसे हो, तो वह सस्कार रहते हैं; जिससे इस देह आदिके पूर्वके संस्कारोंका अनुभव होता है, और वे संस्कार पूर्वजन्मको सिद्ध करते हैं, और पूर्वजन्मकी सिद्धिसे आत्माकी नित्यता सहज ही सिद्ध होती है। (६७)

आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय।
बाळादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥६८॥

आत्मा वस्तुरूपसे नित्य है। समय-समयपर ज्ञान आदि परिणामके परिवर्तनसे उसके पर्यायमें परिवर्तन होता है। (कुछ समुद्र बदलता नही, मात्र लहरें बदलती हैं, उसी तरह।) जैसे बाल, युवा और वृद्ध ये तीन अवस्थाएँ है, वे विभावसे आत्माके पर्याय है, और बाल अवस्थाके रहते हुए आत्मा बालक जान पड़ता था। उस बाल अवस्थाको छोड़कर जब आत्माने युवावस्था धारण की, तब युवा जान पड़ा, और जब युवावस्थाको छोड़कर वृद्धावस्था अंगीकार की तब वृद्ध दीखने लगा। यह तीन अवस्थाओंका भेद हुआ, वह पर्यायभेद है, परंतु उन तीनो अवस्थाओमे आत्म-द्रव्यका भेद नही हुआ, अर्थात् अवस्थाएँ बदली परंतु आत्मा नही बदला। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंको जानता है और उन तीनों अवस्थाओंकी उसे ही स्मृति है। तीनो अवस्थाओंमे आत्मा एक हो तो ऐसा हो सकता है परन्तु यदि आत्मा क्षण क्षण बदलता हो तो वैसा अनुभव संभव ही नहीं है ॥६८॥

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार।
वदनारो ते क्षणिक नहि, कर अनुभव निर्धार ॥६९॥

तथा अमुक पदार्थ क्षणिक है, ऐसा जो जानता है और क्षणिकता कहता है, वह कहनेवाला अर्थात् जाननेवाला क्षणिक नही हो सकता; क्योंकि प्रथम क्षणमे जो अनुभव हुआ उसे दूसरे क्षणमे कहा जा सकता है। उस दूसरे क्षणमें वह स्वयं न हो तो कैसे कह सकता है ? इसलिये अनुभवसे भी आत्माकी अक्षणिकताका निश्चय कर ॥६९॥

क्यारे कोई वस्तुनो, केवळ होय न नाश।
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास ॥७०॥

तथा किसी भी वस्तुका किसी भी कालमें सर्वथा नाश तो होता ही नही है, मात्र अवस्थांतर होता है; इसलिये चेतनका भी सर्वथा नाश नही होता। और यदि अवस्थांतररूप नाश होता हो तो वह किसमे मिल जाता है ? अथवा किस प्रकारके अवस्थांतरको प्राप्त करता है, उसकी खोज कर। अर्थात् घट आदि पदार्थ फूट जाते हैं, तब लोग ऐसा कहते है कि घटका नाश हुआ है, परंतु कुछ मिट्टीपनका तो नाश नहीं हुआ। वह छिन्न-भिन्न होकर सूक्ष्मसे सूक्ष्म चूरा हो जाये, तो भी परमाणु समूहरूपसे रहता है परंतु उसका सर्वथा नाश नही होता; और उसमेंसे एक परमाणु भी कम नहीं होता। क्योंकि अनुभवसे देखते हुए अवस्थांतर हो सकता है। परंतु पदार्थका समूल नाश हो जाये, ऐसा भासित होने योग्य ही नही है। इसलिये यदि तू चेतनका नाश कहता है, तो भी सर्वथा नाश तो कहा ही नही जा सकता; अवस्थातररूप नाश कहा जा सकता है। जैसे घट फूटकर क्रमशः परमाणु-समूहरूपसे स्थितिमे रहता है, वैसे चेतनका अवस्थांतररूप नाश तुझे कहना हो, तो वह किस स्थितिमे रहता है ? अथवा घटके परमाणु जैसे परमाणु-समूहमें मिल जाते है वैसे चेतन किस वस्तुमे मिलने योग्य है ? उसे खोज। अर्थात् इस तरह यदि तू अनुभव करके देखेगा तो किसीमे नही मिल सकने योग्य, अथवा परस्वरूपमें अवस्थांतर नही पाने योग्य ऐसा चेतन अर्थात् आत्मा तुझे भासमान होगा ॥७०॥

शंका—शिष्य उवाच

[आत्मा कर्मका कर्ता नही है ऐसा शिष्य कहता है :—]

कर्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्ता कर्म।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ॥७१॥

जीव कर्मका कर्ता नही, कर्म ही कर्मका कर्ता है, अथवा कर्म अनायास होते रहते है। यदि ऐसा न हो, और जीव ही उनका कर्ता है, ऐसा कहे तो फिर वह जीवका धर्म ही है, अर्थात् धर्म होनेसे कभी निवृत्त नही हो सकता ॥७१॥

आत्मा सदा असंग ने, करे प्रकृति बंध।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥७२॥

अथवा ऐसा न हो, तो आत्मा सदा असंग है, और सत्त्व आदि गुणवाली प्रकृति कर्मका बंध करती है। यदि ऐसा भी न हो तो जीवकों कर्म करनेकी प्रेरणा ईश्वर करता है, इसलिये ईश्वरेच्छारूप होनेसे जीव उस कर्मसे 'अबंध' है ॥७२॥

माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय।
कर्मतणुं कर्तापणुं, कां नहि, कां नहि जाय ॥७३॥

इसलिये जीव किसी तरह कर्मका कर्ता नहीं हो सकता, और मोक्षका उपाय करनेका कोई हेतु नहीं जान पड़ता। इसलिये या तो जीवको कर्मका कर्तृत्व नहीं है, और यदि कर्तृत्व है तो किसी तरह उसका वह स्वभाव मिटने योग्य नही है ॥७३॥

समाधान—सद्गुरु उवाच

[सद्गुरु समाधान करते हैं कि कर्मका कर्तृत्व आत्माको किस तरह है :—]

होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ?
जडस्वभाव नहि प्रेरणा, [1]जुओ विचारी धर्म ॥७४॥

---

१. पाठान्तर—जुओ विचारी मर्म।

चेतन अर्थात् आत्माकी प्रेरणारूप प्रवृत्ति न हो, तो कर्मको कौन ग्रहण करे ? जडका स्वभाव प्रेरणा नहीं है। जड और चेतन दोनोंके धर्मोंका विचारकर देखें ॥७४॥

यदि चेतनकी प्रेरणा न हो, तो कर्मको कौन ग्रहण करे ? प्रेरणारूपसे ग्रहण करानेरूप स्वभाव जडका है ही नहीं; और ऐसा हो तो घट, पट आदिका भी क्रोध आदि भावमे परिणमन होना चाहिये और वे कर्मके ग्रहणकर्ता होने चाहिये, परंतु वैसा अनुभव तो किसीको कभी भी होता नही, जिससे चेतन अर्थात् जीव कर्मको ग्रहण करता है, ऐसा सिद्ध होता है, और इसलिये उसे कर्मका कर्ता कहते है। अर्थात् इस तरह जीव कर्मका कर्ता है।

'कर्मका कर्ता कर्म कहा जाये या नही ?' उसका भी समाधान इससे हो जायेगा कि जडकर्ममें प्रेरणारूप धर्म न होनेसे वह उस तरह कर्मका ग्रहण करनेमे असमर्थ है, और कर्मका कर्तृत्व जीवको है, क्योंकि उसमे प्रेरणाशक्ति है। (७४)

जो चेतन करतुं नथी, नथी थतां तो कर्म।
तेथी सहज स्वभाव नहि, तेम ज नहि जीवधर्म ॥७५॥

यदि आत्मा कर्मोको करता नही है तो वे होते नही है; इसलिये सहज स्वभावसे अर्थात् अनायास वे होते है, ऐसा कहना योग्य नही है। और वह जीवका धर्म (स्वभाव) भी नही है; क्योकि स्वभावका नाश नही होता, और आत्मा न करे तो कर्म नही होते, अर्थात् यह भाव दूर हो सकता है, इसलिये यह आत्माका स्वाभाविक धर्म नही है ॥७५॥

केवळ होत असंग जो, भासत तने न केम ?
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥७६॥

यदि आत्मा सर्वथा असग होता अर्थात् कभी भी उसे कर्मका कर्तृत्व न होता, तो स्वयं तुझे वह आत्मा पहलेसे क्यों भासित न होता ? परमार्थसे वह आत्मा असंग है, परंतु यह तो जब स्वरूपका भान हो तब होता है ॥७६॥

कर्ता ईश्वर कोई नहि, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषप्रभाव ॥७७॥

जगतका अथवा जीवोके कर्मोका कर्ता कोई ईश्वर नही है, जिसका शुद्ध आत्मस्वभाव प्रगट हुआ है वह ईश्वर है, और यदि उमे प्रेरक अर्थात् कर्मका कर्ता माने तो उसे दोषका प्रभाव हुआ मानना चाहिये। अत: जीवके कर्म करनेमे भी ईश्वरकी प्रेरणा नही कही जा सकती ॥७७॥

अब आपने 'वे कर्म अनायास होते हैं', ऐसा जो कहा उसका विचार करे। अनायासका अर्थ क्या है ? आत्मा द्वारा नही विचारा हुआ ? अथवा आत्माका कुछ भी कर्तृत्व होनेपर भी प्रवृत्त नही हुआ हुआ ? अथवा ईश्वरादि कोई कर्म लगा दे उससे हुआ हुआ ? अथवा प्रकृतिके बलात् लगनेसे हुआ हुआ ? इन चार मुख्य विकल्पोंसे अनायासकर्तृत्व विचारणीय है। प्रथम विकल्प आत्मा द्वारा नही विचारा हुआ, ऐसा है। यदि वैसे होता हो तो फिर कर्मका ग्रहण करना ही नही रहता, और जहाँ कर्मका ग्रहण करना न रहे वहाँ कर्मका अस्तित्व सम्भव नही है. और जीव तो प्रत्यक्ष विचार करता है, और ग्रहणाग्रहण करता है, ऐसा अनुभव होता है।

जिसमे वह किसी तरह प्रवृत्ति ही नही करता वैसे क्रोध आदि भाव उसे संप्राप्त होते ही नहीं; इससे ऐसा मालूम होता है कि न विचारे हुए अथवा आत्मासे न किये हुए ऐसे कर्मोका ग्रहण उसे होने योग्य नहीं है, अर्थात् इन दोनों प्रकारसे अनायास कर्मका ग्रहण सिद्ध नही होता।

तीसरा प्रकार यह है कि ईश्वरादि कोई कर्म लगा दे, इससे अनायास कर्मका ग्रहण होता है, ऐसा कहे तो यह योग्य नहीं है। प्रथम तो ईश्वरके स्वरूपका निर्धारण करना योग्य है; और यह प्रसंग भी

विशेष समझने योग्य है। तथापि यहाँ ईश्वर या विष्णु आदि कर्ताका किसी तरह स्वीकार कर लेते हैं, और उसपर विचार करते हैं :—

यदि ईश्वर आदि कर्मोंको लगा देनेवाले हो तब तो जीव नामका कोई भी पदार्थ बीचमें रहा नहीं; क्योंकि प्रेरणा आदि धर्मके कारण उसका अस्तित्व समझमें आता था, वे प्रेरणा आदि तो ईश्वरकृत ठहरे, अथवा ईश्वरके गुण ठहरे; तो फिर बाकी जीवका स्वरूप क्या रहा कि उसे जीव अर्थात् आत्मा कहें ? इसलिये कर्म ईश्वरप्रेरित नही, अपितु आत्माके अपने ही किये हुए होने योग्य है।

तथा चौथा विकल्प यह है कि प्रकृति आदिके बलात् लगनेसे कर्म होते हों ? यह विकल्प भी यथार्थ नही है। क्योंकि प्रकृति आदि जड है, उन्हे आत्मा ग्रहण न करे तो वे किस तरह लगने योग्य हों ? अथवा द्रव्यकर्मका दूसरा नाम प्रकृति है, अर्थात् कर्मका कर्तृत्व कर्मको ही कहनेके समान हुआ, इसे तो पहले निषिद्ध कर दिखाया है। प्रकृति नही, तो अत करण आदि कर्म ग्रहण करते हैं, इससे आत्मामे कर्तृत्व आता है, ऐसा कहे, तो यह भी एकांतसे सिद्ध नही होता। अंतःकरण आदि भी चेतनकी प्रेरणाके बिना अंतःकरण आदि रूपसे पहले ठहरे ही कहाँसे ? चेतन कर्म-संलग्नताका मनन करनेके लिये जो आलंबन लेता है, उसे अतःकरण कहते हैं। यदि चेतन उसका मनन न करे तो कुछ उस संलग्नतामे मनन करनेका धर्म नही है; वह तो मात्र जड है। चेतन चेतनकी प्रेरणासे उसका आलंबन लेकर कुछ ग्रहण करता है, जिससे उसमे कर्तृत्वका आरोप होता है; परंतु मुख्यत वह चेतन कर्मका कर्ता है।

यहाँ यदि आप वेदात आदि दृष्टिसे विचार करेंगे तो हमारे ये वाक्य आपको भ्रातिगत पुरुषके कहे हुए लगेंगे। परंतु अब जो प्रकार कहा है, उसे समझनेसे आपको उन वाक्योकी यथार्थता मालूम होगी और भ्रांतिगतता भासित नहीं होगी।

यदि किसी भी प्रकारसे आत्माका कर्मकर्तृत्व न हो तो किसी भी प्रकारसे उसका भोक्तृत्व भी सिद्ध नही होता, और जब ऐसा ही हो तो फिर उसको किसी भी प्रकारके दु खोका सम्भव ही नही होता। जब आत्माको किसी भी प्रकारके दु.खोका सम्भव ही न होता हो तो फिर वेदात आदि शास्त्र सर्व दु.खोके क्षयके जिस मार्गका उपदेश करते हैं वे किसलिये उपदेश करते है ? 'जब तक आत्मज्ञान नही होता तब तक दुःखकी आत्यतिक निवृत्ति नही होती' ऐसा वेदांत आदि कहते है, वह यदि दुःख ही न हो तो उसकी निवृत्तिका उपाय किसलिये कहना चाहिये ? और कर्तृत्व न हो, तो दु.खका भोक्तृत्व कहाँसे हो ? ऐसा विचार करनेसे कर्मका कर्तृत्व सिद्ध होता है।

अब यहाँ एक प्रश्न होने योग्य है और आपने भी वह प्रश्न किया है कि 'यदि आत्माको कर्मका कर्तृत्व मानें तब तो आत्माका वह धर्म सिद्ध होता है, और जो जिसका धर्म हो उसका कभी भी उच्छेद होना योग्य नही है; अर्थात् उससे सर्वथा भिन्न हो सकने योग्य नही है, जैसे अग्निकी उष्णता अथवा प्रकाश वैसे।' इस तरह यदि कर्मका कर्तृत्व आत्माका धर्म सिद्ध हो तो उसका नाश नही हो सकता।

उत्तर—सर्व प्रमाणांशका स्वीकार किये बिना ऐसा सिद्ध होता है; परंतु जो विचारवान हो वह किसी एक प्रमाणाशका स्वीकार कर दूसरे प्रमाणाशका नाश नहीं करता। 'उस जीवको कर्मका कर्तृत्व न हो', अथवा 'हो तो वह प्रतीत होने योग्य नही है।' इत्यादि किये गये प्रश्नोंके उत्तरमे जीवका कर्मकर्तृत्व बताया है। कर्मका कर्तृत्व हो तो वह दूर ही नही होता, ऐसा कुछ सिद्धात समझना योग्य नही है, क्योंकि जिस किसी भी वस्तुका ग्रहण किया हो वह छोड़ी जा सकती है अर्थात् उसका त्याग हो सकता है; क्योकि ग्रहण की हुई वस्तुसे ग्रहण करनेवाली वस्तुका सर्वथा एकत्व कैसे हो सकता है ? इसलिये जीवसे ग्रहण किये हुए ऐसे जो द्रव्य-कर्म, उनका जीव त्याग करे तो हो सकने योग्य है, क्योंकि वे उसे सहकारी स्वभावसे हैं, सहज स्वभावसे नहीं। और उस कर्मको मैंने आपको अनादि-भ्रम कहा है, अर्थात् उस

कर्मका कर्तृत्व अज्ञानसे प्रतिपादित किया है, इससे भी वह निवृत्त होने योग्य है, ऐसा साथमें समझना योग्य है। जो जो भ्रम होता है वह वह वस्तुकी विपरीत स्थितिकी मान्यतारूप होता है, और इससे वह दूर होने योग्य है, जैसे मृगजलमेसे जलबुद्धि। कहनेका हेतु यह है कि यदि अज्ञानसे भी आत्माको कर्तृत्व न हो तब तो कुछ उपदेश आदिका श्रवण, विचार, ज्ञान आदि समझनेका कोई हेतु नही रहता। अब यहाँ जीवका परमार्थसे जो कर्तृत्व है उसे कहते है। (७७)

चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव।
वर्ते नहि निज भानमां, कर्ता कर्म-प्रभाव ॥७८॥

आत्मा यदि अपने शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावमे रहे तो वह अपने उसी स्वभावका कर्ता है, अर्थात् उसी स्वरूपमे परिणमित है, और जब वह शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावके भानमे न रहता हो तब कर्म-भावका कर्ता है ॥७८॥

अपने स्वरूपके भानमे आत्मा अपने स्वभावका अर्थात् चैतन्य आदि स्वभावका ही कर्ता है, अन्य किसी भी कर्म आदिका कर्ता नही है; और जब आत्मा अपने स्वरूपके भानमें नही रहता तब कर्मके प्रभावका कर्ता कहा है।

परमार्थसे तो जीव निष्क्रिय है, ऐसा वेदात आदिका निरूपण है, और जिन-प्रवचनमें भी सिद्ध अर्थात् शुद्ध आत्माकी निष्क्रियता है, ऐसा निरूपण किया है। फिर भी हमने आत्माको, शुद्ध अवस्थामे कर्ता होनेसे सक्रिय कहा, ऐसा सदेह यहाँ होने योग्य है, उस संदेहको इस प्रकार शात करना योग्य है—शुद्धात्मा परयोगका, परभावका और विभावका वहाँ कर्ता नही है, इसलिये निष्क्रिय कहना योग्य है; परन्तु चैतन्य आदि स्वभावका भी आत्मा कर्ता नही है, ऐसा यदि कहे तब तो फिर उसका कुछ भी स्वरूप नही रहता। शुद्धात्माको योगक्रिया न होनेसे वह निष्क्रिय है, परन्तु स्वाभाविक चैतन्य आदि स्वभावरूप क्रिया होनेसे वह सक्रिय है। चैतन्यात्मता आत्माको स्वाभाविक होनेसे उसमे आत्माका परिणमन होना एकात्मरूपसे ही है, और इसलिये परमार्थनयसे सक्रिय ऐसा विशेषण वहाँ भी आत्माको नही दिया जा सकता। निजस्वभावमे परिणमनरूप सक्रियतासे निजस्वभावका कर्तृत्व शुद्धात्माको है, इसलिये सर्वथा शुद्ध स्वधर्म होनेसे एकात्मरूपसे परिणमित होता है, इससे निष्क्रिय कहते हुए भी दोष नही है। जिस विचारसे सक्रियता, निष्क्रियता निरूपित की है, उस विचारके परमार्थको ग्रहण करके सक्रियता, निष्क्रियता कहते हुए कोई दोष नही है। (७८)

शका—शिष्य उवाच

[जीव कर्मका भोक्ता नही है ऐसा शिष्य कहता है :—]

जीव कर्म कर्ता कहो, पण भोक्ता नहि सोय।
शुं समजे जड कर्म के, फळ परिणामी होय ? ॥७९॥

जीवको कर्मका कर्ता कहे तो भी उस कर्मका भोक्ता जीव नही ठहरता; क्योंकि जडकर्म क्या समझे कि वह फल देनेमें परिणामी हो ? अर्थात् फलदाता हो सके ? ॥७९॥

फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय।
एम कह्ये ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय ॥८०॥

फलदाता ईश्वरको मानें तो जीवका भोक्तृत्व सिद्ध किया जा सकता है, अर्थात् जीवको ईश्वर कर्म भोगवाये, इससे जीव कर्मका भोक्ता सिद्ध होता है परन्तु दूसरेको फल देने आदिकी प्रवृत्तिवाला ईश्वर मानें तो उसकी ईश्वरता ही नही रहती, ऐसा भी फिर विरोध आता है ॥८०॥

'ईश्वर सिद्ध हुए बिना अर्थात् कर्मफलदातृत्व आदि किसी भी ईश्वरके सिद्ध हुए बिना जगतकी व्यवस्था रहना सम्भव नही है', ऐसे अभिप्रायके विषयमे निम्नलिखित विचारणीय है :—

यदि कर्मके फलको ईश्वर देता है, ऐसा मानें तो इसमे ईश्वरकी ईश्वरता ही नही रहती, क्योंकि दूसरेको फल देने आदिके प्रपचमे प्रवृत्ति करते हुए ईश्वरको देह आदि अनेक प्रकारका संग होना संभव है और इससे यथार्थ शुद्धताका भग होता है। मुक्त जीव जैसे निष्क्रिय है अर्थात् परभाव आदिका कर्ता नही है; यदि परभाव आदिका कर्ता हो तब तो संसारकी प्राप्ति होती है, वैसे ही ईश्वर भी दूसरेको फल देनेरूप आदि क्रियामें प्रवृत्ति करे तो उसे भी परभाव आदिके कर्तृत्वका प्रसंग आता है, और मुक्त जीवकी अपेक्षा उसका न्यूनत्व ठहरता है, इससे तो उसकी ईश्वरताका ही उच्छेद करने जैसी स्थिति होती है।

फिर जीव और ईश्वरका स्वभावभेद मानते हुए भी अनेक दोषोका संभव है। दोनोको यदि चैतन्यस्वभाव माने तो दोनो समान धर्मके कर्ता हुए; उसमे ईश्वर जगत आदिकी रचना करे अथवा कर्मका फल देनेरूप कार्य करे और मुक्त गिना जाये, और जीव एक मात्र देह आदि सृष्टिकी रचना करे, और अपने कर्मोंका फल पानेके लिये ईश्वराश्रय ग्रहण करे, तथा बंधनमे माना जाये, यह बात यथार्थ मालूम नही होती। ऐसी विषमता कैसे सभवित हो ?

फिर जीवकी अपेक्षा ईश्वरकी सामर्थ्य विशेष मानें तो भी विरोध आता है। ईश्वरको शुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो शुद्ध चैतन्य ऐसे मुक्तजीवमे और उसमे भेद नही आना चाहिये, और ईश्वरसे कर्मका फल देने आदिके कार्य नही होने चाहिये, अथवा मुक्त जीवसे भी वे कार्य होने चाहिये। और यदि ईश्वरको अशुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो तो ससारी जीवो जैसी उसकी स्थिति ठहरे, वहाँ फिर सर्वज्ञ आदि गुणोका संभव कहाँसे हो ? अथवा देहधारी सर्वज्ञकी भाँति उसे 'देहधारी सर्वज्ञ ईश्वर' मानें तो भी सर्व कर्मफलदातृत्वरूप 'विशेष स्वभाव' ईश्वरमे किस गुणके कारण मानना योग्य हो ? और देह तो नष्ट होने योग्य है, इससे ईश्वरकी भी देह नष्ट हो जाये, और वह मुक्त होनेपर कर्मफलदातृत्व न रहे, इत्यादि अनेक प्रकारसे ईश्वरको कर्मफलदातृत्व कहते हुए दोष आते है, और ईश्वरको वैसे स्वरूपसे मानते हुए उसकी ईश्वरताका उत्थापन करनेके समान होता है। (८०)

ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत नियम नहि होय।
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहि कोय ॥८१॥

वैसा फलदाता ईश्वर सिद्ध नही होता इससे जगतका कोई नियम भी नही रहता, और शुभाशुभ कर्म भोगनेका कोई स्थान भी नही ठहरता, अतः जीवको कर्मका भोक्तृत्व कहाँ रहा ? ॥८१॥

समाधान—सद्गुरु उवाच

[जीवको अपने किये हुए कर्मोका भोक्तृत्व है इस प्रकार सद्गुरु समाधान करते है :—]

भावकर्म निज कल्पना, माटे चेतनरूप।
जीववीर्यनी स्फुरणा, ग्रहण करे जडधूप ॥८२॥

जीवको अपने स्वरूपकी भ्रांति है वह भावकर्म है, इसलिये चेतनरूप है, और उस भ्रातिका अनुयायी होकर जीव-वीर्य स्फुरित होता है, इससे जड द्रव्य-कर्मकी वर्गणाको वह ग्रहण करता है ॥८२॥

कर्म जड है तो वह क्या समझे कि इस जीवको इस तरह मुझे फल देना है, अथवा उस स्वरूपसे परिणमन करना है ? इसलिये जीव कर्मका भोक्ता होना सम्भव नही है इस आशंकाका समाधान निम्नलिखितसे होगा :—

जीव अपने स्वरूपके अज्ञानसे कर्मका कर्ता है। वह अज्ञान चेतनरूप है, अर्थात् जीवकी अपनी कल्पना है, और उस कल्पनाका अनुसरण करके उसके वीर्यस्वभावकी स्फूर्ति होती है, अथवा उसकी

सामर्थ्य तदनुयायीरूपसे परिणमित होती है, और इससे जडकी धूप अर्थात् द्रव्य-कर्मरूप पुद्गलकी वर्गणा-को वह ग्रहण करता है। (८२)

झेर सुधा समजे नहीं, जीव खाय फळ थाय।
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥८३॥

विष और अमृत स्वयं नही जानते कि हमे इस जीवको फल देना है, तो भी जो जीव उन्हे खाता है उसे वह फल होता है; इसी प्रकार शुभाशुभ कर्म ऐसा नही जानते कि इस जीवको यह फल देना है, तो भी उन्हे ग्रहण करनेवाला जीव विष-अमृतके परिणामकी तरह फल पाता है ॥८३॥

विष और अमृत स्वय ऐसा नही समझते कि हमे खानेवालेको मृत्यु और दीर्घायु होती है, परन्तु जैसे उन्हे ग्रहण करनेवालेके प्रति स्वभावत उनका परिणमन होता है, वैसे जीवमे शुभाशुभ कर्म भी परिणमित होते हैं, और उसका फल प्राप्त होता है, इस तरह जीवका कर्मभोक्तृत्व समझमे आता है। (८३)

एक रांक ने एक नृप, ए आदि जे भेद।
कारण विना न कार्य ते, ते ज शुभाशुभ वेद्य ॥८४॥

एक रंक है और एक राजा है, 'ए आदि' (इत्यादि) शब्दसे नीचता, उच्चता, कुरूपता, सुरूपता ऐसी बहुतसी विचित्रताएँ है, और ऐसा जो भेद रहता है अर्थात् सबमे समानता नही है, यही शुभाशुभ कर्मका भोक्तृत्व है, ऐसा सिद्ध करता है, क्योकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नही होती ॥८४॥

उस शुभाशुभ कर्मका फल न होता हो, तो एक रंक और एक राजा, इत्यादि जो भेद है वे न होने चाहिये, क्योकि जीवत्व समान है, तथा मनुष्यत्व समान है, तो सबको सुख अथवा दुःख भी समान होना चाहिये, जिसके बदले ऐसी विचित्रता मालूम होती है, यही शुभाशुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ भेद है; क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नही होती। इस तरह शुभ और अशुभ कर्म भोगे जाते हैं। (८४)

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर ॥८५॥

इसमे फलदाता ईश्वरकी कुछ जरूरत नही है। विष और अमृतकी भाँति शुभाशुभ कर्म स्वभावसे परिणमित होते है, और निःसत्त्व होने पर विष और अमृत फल देनेसे जैसे निवृत्त होते है, वैसे शुभाशुभ कर्मको भोगनेसे वे निःसत्त्व होनेपर निवृत्त हो जाते हैं ॥८५॥

विष विषरूपसे परिणमित होता है और अमृत अमृतरूपसे परिणमित होता है, उसी तरह अशुभ कर्म अशुभरूपसे परिणमित होता है और शुभ कर्म शुभरूपसे परिणमित होता है। इसलिये जीव जिस जिस प्रकारके अध्यवसायसे कर्मको ग्रहण करता है, उस उस प्रकारके विपाकरूपसे कर्म परिणमित होता है, और जैसे विष तथा अमृत परिणामी हो जानेपर निःसत्त्व हो जाते है, वैसे भोगसे वे कर्म दूर होते हैं। (८५)

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव।
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव ॥८६॥

उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट शुभगति है, और उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट अशुभगति है, शुभाशुभ अध्यवसाय मिश्र गति है, और वह जीवपरिणाम ही मुख्यतः तो गति है। तथापि उत्कृष्ट शुभ द्रव्यका ऊर्ध्वगमन, उत्कृष्ट अशुभ द्रव्यका अधोगमन, शुभाशुभकी मध्यस्थिति, ऐसा द्रव्यका विशेष स्वभाव है। और इत्यादि हेतुओसे वे वे भोगस्थान होने योग्य हैं। हे शिष्य! जड-चेतनके स्वभाव, संयोग आदि सूक्ष्म स्वरूपका यहाँ बहुतसा विचार समा जाता है, इसलिये यह बात गहन है, तो भी उसे एकदम संक्षेपमें कहा है ॥८६॥

तथा, यदि ईश्वर कर्मफलदाता न हो अथवा उसे जगतकर्ता न मानें तो कर्म भोगनेके विशेष स्थान अर्थात् नरक आदि गति-स्थान कहाँसे हों, क्योकि उसमे तो ईश्वरके कर्तृत्वकी आवश्यकता है, ऐसी

आशंका भी करने योग्य नही है; क्योकि मुख्यतः तो उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय वही उत्कृष्ट देवलोक है, और उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय वही उत्कृष्ट नरक है, शुभाशुभ अध्यवसाय मनुष्यतिर्यंच आदि गतियाँ हैं, और स्थानविशेष अर्थात् ऊर्ध्वलोकमे देवगति इत्यादि भेद हैं। जीवसमूहके कर्मद्रव्यके भी वे परिणामविशेष हैं अर्थात् वे सब गतियाँ जीवके कर्मके विशेष परिणामादिरूप हैं।

यह बात अति गहन है। क्योकि अचिंत्य जीव-वीर्य, अचिंत्य पुद्गल-सामर्थ्य, इनके संयोगविशेषसे लोकका परिणमन होता है। उसका विचार करनेके लिये उसे अधिक विस्तारसे कहना चाहिये। परंतु यहाँ तो मुख्यतः आत्मा कर्मका भोक्ता है इतना लक्ष्य करानेका आशय होनेसे अत्यंत संक्षेपसे यह प्रसंग कहा है। (८६)

शका—शिष्य उवाच

[जीवका उस कर्मसे मोक्ष नही है ऐसा शिष्य कहता है :—]

कर्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहि मोक्ष।
वीत्यो काळ अनंत पण, वर्तमान छे दोष ॥८७॥

जीव कर्ता और भोक्ता हो, परंतु इससे उसका मोक्ष होना संभव नही है; क्योंकि अनत काल बीत जानेपर भी कर्म करनेरूप दोष आज भी उसमे वर्तमान ही है॥८७॥

शुभ करे फळ भोगवे, देवादि गति मांय।
अशुभ करे नरकादि फळ, कर्म रहित न क्यांय ॥८८॥

शुभ कर्म करे तो उससे देवादि गतिमे उसका शुभ फल भोगता है और अशुभ कर्म करे तो नरकादि गतिमें उसका अशुभ फल भोगता है; परंतु जीव कर्मरहित कही भी नही हो सकता ॥८८॥

समाधान—सद्गुरु उवाच

[उस कर्मसे जीवका मोक्ष हो सकता है ऐसा सद्गुरु समाधान करते है :—]

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण।
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥८९॥

जिस तरह तूने शुभाशुभ कर्म उस जीवके करनेसे होते हुए जाने, और उससे उसका भोक्तृत्व जाना, उसी तरह कर्म नही करनेसे अथवा उस कर्मकी निवृत्ति करनेसे वह निवृत्ति भी होना योग्य है, इसलिये उस निवृत्तिकी भी सफलता है; अर्थात् जिस तरह वे शुभाशुभ कर्म निष्फल नही जाते उसी तरह उनकी निवृत्ति भी निष्फल जाना योग्य नही है; इसलिये वह निवृत्तिरूप मोक्ष है ऐसा हे विचक्षण! तू विचार कर ॥८९॥

वीत्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव।
तेह शुभाशुभ छेदतां, ऊपजे मोक्ष स्वभाव ॥९०॥

कर्मसहित अनंतकाल बीता, वह तो उस शुभाशुभ कर्मके प्रति जीवकी आसक्तिके कारण बीता, परंतु उसके प्रति उदासीन होनेसे उस कर्मफलका छेदन होता है, और उससे मोक्षस्वभाव प्रगट होता है ॥९०॥

देहादिक संयोगनो, आत्यंतिक वियोग।
सिद्ध मोक्ष शाश्वत पदे, निज अनंत सुखभोग ॥९१॥

देहादि संयोगका अनुक्रमसे वियोग तो हुआ करता है, परंतु उनका फिरसे ग्रहण न हो इस तरह वियोग किया जाय, तो सिद्धस्वरूप मोक्षस्वभाव प्रगट होता है, और शाश्वतपदमें अनंत आत्मानंद भोगा जाता है ॥९१॥

शंका—शिष्य उवाच

[मोक्षका उपाय नही है ऐसा शिष्य कहता है :—]

होय कदापि मोक्षपद, नहि अविरोध उपाय।
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय ? ॥९२॥

मोक्षपद कदाचित् हो तो भी वह प्राप्त होनेका कोई अविरोधी अर्थात् यथातथ्य प्रतीत हो ऐसा उपाय मालूम नहीं होता; क्योंकि अनंतकालके कर्म हैं, उनका ऐसी अल्पायुवाली मनुष्यदेहसे छेदन कैसे किया जाये ? ॥९२॥

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक।
तेमां मत साचो कयो, बने न एह विवेक ॥९३॥

अथवा कदाचित् मनुष्यदेहकी अल्पायु आदिकी शका छोड़ दें, तो भी मत और दर्शन बहुतसे हैं, और वे मोक्षके अनेक उपाय कहते हैं, अर्थात् कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है उनमे कौनसा मत सच्चा है, यह विवेक नही हो सकता ॥९३॥

कई जातिमां मोक्ष छे, कया वेषमां मोक्ष।
एनो निश्चय ना बने, घणा भेद ए दोष ॥९४॥

ब्राह्मण आदि किस जातिमें मोक्ष है, अथवा किस वेषमे मोक्ष है, इसका निश्चय भी नही हो सकने जैसा है, क्योंकि वैसे अनेक भेद हैं, और इस दोषसे भी मोक्षका उपाय प्राप्त होने योग्य दिखायी नहीं देता ॥९४॥

तेथी एम जणाय छे, मळे न मोक्ष उपाय।
जीवादि जाण्या तणो, शो उपकार ज थाय ? ॥९५॥

इससे ऐसा लगता है कि मोक्षका उपाय प्राप्त नही हो सकता, इसलिये जीव आदिका स्वरूप जाननेसे भी क्या उपकार हो ? अर्थात् जिस पदके लिये जानना चाहिये उस पदका उपाय प्राप्त होना अशक्य दिखायी देता है ॥९५॥

पांचे उत्तरथी थयु, समाधान सर्वांग।
समजुं मोक्ष उपाय तो, उदय उदय सद्भाग्य ॥९६॥

आपने जो पाँचों उत्तर कहे है, उनसे मेरी शकाओका सर्वांग अर्थात् सर्वथा समाधान हुआ है, परंतु यदि मैं मोक्षका उपाय समझूँ तो सद्भाग्यका उदय-उदय हो। यहाँ 'उदय' 'उदय' शब्द दो बार कहा है, वह पाँच उत्तरोंके समाधानसे हुई मोक्षपदकी जिज्ञासाकी तीव्रता प्रदर्शित करता है ॥९६॥

समाधान—सद्गुरु उवाच

[मोक्षका उपाय है ऐसा सद्गुरु समाधान करते हैं :—]

पांचे उत्तरनी थई, आत्मा विषे प्रतीत।
थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत ॥९७॥

जिस तरह तेरे आत्मामें पाँचो उत्तरोंकी प्रतीति हुई है, उसी तरह तुझे मोक्षके उपायकी भी सहज में प्रतीति होगी। यहाँ 'होगी' और 'सहज' ये दो शब्द सद्गुरुने कहे है, वे यह बतानेके लिये कहे हैं कि जिसे पाँच पदोंकी शंका निवृत्त हो गयी है उसके लिये मोक्षोपाय समझना कुछ कठिन ही नहीं है, तथा शिष्यकी विशेष जिज्ञासावृत्ति जानकर उसे अवश्य मोक्षोपाय परिणमित होगा, ऐसा भासित होनेसे (वे शब्द) कहे हैं; ऐसा सद्गुरुके वचनका आशय है ॥९८॥

कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास।
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश ॥९८॥

जो कर्मभाव है वह जीवका अज्ञान है और जो मोक्षभाव है वह जीवकी अपने स्वरूपमे स्थिति होना है। अज्ञानका स्वभाव अंधकार जैसा है। इसलिये जैसे प्रकाश होते ही बहुतसे कालका अधकार होनेपर भी वह नष्ट हो जाता है, वैसे ज्ञानका प्रकाश होते ही अज्ञान भी नष्ट हो जाता है ॥९८॥

जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ।
ते कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भवअंत ॥९९॥

जो जो कर्मबंधके कारण हैं, वे वे कर्मबंधके मार्ग हैं, और उन कारणोंका छेदन करनेवाली जो दशा है वह मोक्षका मार्ग है, भवका अंत है ॥९९॥

राग, द्वेष, अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥१००॥

राग, द्वेष और अज्ञान इनका एकत्व कर्मकी मुख्य गाँठ है, अर्थात् इनके बिना कर्मका बंध नही होता; जिससे उनकी निवृत्ति हो, वही मोक्षका मार्ग है ॥१००॥

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥१०१॥

'सत्' अर्थात् 'अविनाशी', और 'चैतन्यमय' अर्थात् 'सर्वभावको प्रकाशित करनेरूप स्वभावमय', 'अन्य सर्व विभाव और देहादि संयोगके आभाससे रहित ऐसा', 'केवल' अर्थात् 'शुद्ध आत्मा' प्राप्त करें इस प्रकार प्रवृत्ति की जाये वह मोक्षमार्ग है ॥१०१॥

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ।
तेमां मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥१०२॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परन्तु उनके ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते है। उनमे भी मुख्य मोहनीय कर्म है। उस मोहनीय कर्मका नाश जिस प्रकार किया जाये, उसका पाठ कहता हूँ ॥१०२॥

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥१०३॥

उस मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—एक 'दर्शनमोहनीय' अर्थात् 'परमार्थमे अपरमार्थबुद्धि और अपरमार्थमे परमार्थबुद्धिरूप', दूसरा 'चारित्रमोहनीय', 'तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर आत्मस्वभावमे जो स्थिरता हो, उस स्थिरताके रोधक पूर्वसस्काररूप कषाय और नोकषाय', यह चारित्रमोहनीय है।

आत्मबोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते है। इस तरह वे उसके अचूक उपाय है, क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, उसका प्रतिपक्ष सत्यात्मबोध है। और चारित्रमोहनीय रागादिक परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है। अर्थात् जिस तरह प्रकाश होनेसे अधकारका नाश होता है, वह उसका अचूक उपाय है; उसी तरह बोध और वीतरागता दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अधकारको दूर करनेमे प्रकाशस्वरूप हैं, इसलिये वे उसके अचूक उपाय हैं ॥१०३॥

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो संदेह ? ॥१०४॥

क्रोधादि भावसे कर्मबंध होता है, और क्षमादि भावसे उसका नाश होता है, अर्थात् क्षमा रखनेसे क्रोध रोका जा सकता है, सरलतासे माया रोकी जा सकती है, सतोषसे लोभ रोका जा सकता है, इसी तरह रति, अरति आदिके प्रतिपक्षसे वे वे दोष रोके जा सकते है, यही कर्मबंधका निरोध है; और यही

उसकी निवृत्ति है। तथा इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है अथवा सभी इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी कर सकते हैं। क्रोधादि रोकनेसे रुकते हैं, और जो कर्मबंधको रोकता है, वह अकर्मदशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं, परंतु यहीं अनुभवमे आता है, तो फिर इसमें संदेह क्या करना ? ॥१०४॥

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प ।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥१०५॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इससे चिपटा ही रहना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जैसे मुझे उसे सिद्ध करना चाहिये, ऐसे आग्रह अथवा ऐसे विकल्पको छोड़कर, यह जो मार्ग कहा है, इसका जो साधन करेगा, उसके अल्प जन्म समझना।

यहाँ 'जन्म' शब्दका बहुवचनमे प्रयोग किया है, वह इतना ही बतानेके लिये कि क्वचित् वे साधन अधूरे रहे हों उससे, अथवा जघन्य या मध्यम परिणामकी धारासे आराधित हुए हों, उससे सर्व कर्मोका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना संभव है; परंतु वे बहुत नही, बहुत ही अल्प। 'समकित आनेके पश्चात् यदि जीव उसका वमन न करे तो अधिकसे अधिक पंद्रह भव होते हैं', ऐसा जिनेश्वरने कहा है, और 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसका उसी भवमे भी मोक्ष होता है'; यहाँ इस बातका विरोध नही है ॥१०५॥

षट्पदनां षट्प्रश्न तें, पूछ्यां करी विचार ।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार ॥१०६॥

हे शिष्य ! तूने छ पदोंके छ प्रश्न विचार कर पूछे है, और उन पदोंकी सर्वांगतामे मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् उसमेंसे किसी भी पदका एकान्तसे या अविचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नही होता ॥१०६॥

जाति, वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय ।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥१०७॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, वह हो तो चाहे जिस जाति या वेषसे मोक्ष होता है, इसमे कोई भेद नही है। जो साधन करे वह मुक्तिपद पाता है; और उस मोक्षमे भी अन्य किसी प्रकारके ऊँच, नीच आदि भेद नही हैं, अथवा ये जो वचन कहे हैं उनमे कोई दूसरा भेद या अंतर नहीं है ॥१०७॥

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष ।
भवे खेद अंतर दया, ते कहीए जिज्ञास ॥१०८॥

क्रोध आदि कषाय जिसके पतले पड़ गये हैं, जिसके आत्मामें मात्र मोक्ष पानेके सिवाय अन्य कोई इच्छा नही है, और संसारके भोगके प्रति उदासीनता रहती है, तथा अंतरमें प्राणियों पर दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् उसे मार्ग प्राप्त करनेके योग्य कहते हैं ॥१०८॥

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध ।
तो पामे समकितने, वर्ते अंतरशोध ॥१०९॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश प्राप्त हो जाये तो वह समकितको प्राप्त होता है, और अंतरकी शोधमे रहता है ॥१०९॥

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष ।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥११०॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुके लक्ष्यमे प्रवृत्त होता है, वह शुद्ध समकित पाता है कि जिसमें भेद तथा पक्ष नहीं है ॥११०॥

वर्ते निज स्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकित ॥१११॥

जहाँ आत्मस्वभावका अनुभव, लक्ष्य, और प्रतीति रहती है, तथा वृत्ति आत्माके स्वभावमें बहती है, वहाँ परमार्थसे समकित है ॥१११॥

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥११२॥

वह समकित, बढती हुई धारासे हास्य, शोक आदिसे जो कुछ आत्मामे मिथ्याभास भासित हुआ है, उसे दूर करता है, और स्वभाव समाधिरूप चारित्रका उदय होता है, जिससे सर्व रागद्वेषके क्षयरूप वीतरागपदमे स्थिति होती है ॥११२॥

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्ते ज्ञान।
कहीए केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥११३॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्मस्वभावका अखड अर्थात् कभी भी खंडित न हो, मंद न हो, नष्ट न हो ऐसा ज्ञान रहे, उसे केवलज्ञान कहते है; जिस केवलज्ञानको पानेसे उत्कृष्ट जीवन्मुक्तदशारूप निर्वाण, देहके रहते हुए भी यहीं अनुभवमे आता है ॥११३॥

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥११४॥

करोड़ों वर्षका स्वप्न हो तो भी जाग्रत होनेपर तुरत शात हो जाता है, उसी तरह अनादिका जो विभाव है, वह आत्मज्ञान होनेपर दूर हो जाता है ॥११४॥

छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म।
नहि भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म ॥११५॥

हे शिष्य ! देहमे जो आत्मभाव मान लिया है, और उसके कारण स्त्री, पुत्र आदि सर्वमे अहंता-ममता रहती है, वह आत्मभाव यदि आत्मामे ही माना जाये, और वह देहाध्यास अर्थात् देहमे आत्मबुद्धि तथा आत्मामें देहबुद्धि है, वह छूट जाये, तो तू कर्मका कर्ता भी नही है और भोक्ता भी नही है; और यही धर्मका मर्म है ॥११५॥

ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्ष स्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥११६॥

इसी धर्मसे मोक्ष है, और तू ही मोक्षस्वरूप है, अर्थात् शुद्ध आत्मपद ही मोक्ष है। तू अनंत ज्ञान दर्शन तथा अव्याबाध सुखस्वरूप है ॥११६॥

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
बीजुं कहीए केटलुं ? कर विचार तो पाम ॥११७॥

तू देह आदि सब पदार्थोंसे भिन्न है। किसीमें आत्मद्रव्य मिलता नहीं है, कोई द्रव्य उसमें मिलता नही है। परमार्थसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे सदा ही भिन्न है, इसलिये तू शुद्ध है, बोधस्वरूप है, चैतन्य-प्रदेशात्मक है, स्वयंज्योति अर्थात् कोई भी तुझे प्रकाशित नही करता है, स्वभावसे ही तू प्रकाशस्वरूप है, और अव्याबाध सुखका धाम है। और कितना कहें ? अथवा अधिक क्या कहें ? सक्षेपमें इतना ही कहते हैं कि यदि तू विचार करेगा तो उस पदको पायेगा ॥११७॥

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र समाय।
धरी मौनता एम कही, सहजसमाधि मांय ॥११८॥

सर्व ज्ञानियोंका निश्चय यहाँ आकार समा जाता है; ऐसा कहकर सद्गुरु मौन धारण कर सहज समाधिमें स्थित हुए, अर्थात् उन्होंने वाणी योगकी प्रवृत्ति बंद कर दी ॥११८॥

शिष्यबोधबीजप्राप्तिकथन

सद्गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान।
निजपद निजमांही लह्युं, दूर थयुं अज्ञान ॥११९॥

शिष्यको सद्गुरुके उपदेशसे अपूर्व अर्थात् पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था ऐसा भान आया, और उसे अपना स्वरूप अपनेमे यथातथ्य भासित हुआ; और देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान दूर हुआ ॥११९॥

भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप।
अजर, अमर, अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥१२०॥

अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप, अजर, अमर, अविनाशी और देहसे स्पष्ट भिन्न भासित हुआ ॥१२०॥

कर्ता भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्ते ज्यांय।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्ता त्यांय ॥१२१॥

जहाँ विभाव अर्थात् मिथ्यात्व है, वहाँ मुख्य नयसे कर्मका कर्तृत्व और भोक्तृत्व है; आत्मस्वभाव मे वृत्ति बही, उससे अकर्ता हुआ ॥१२१॥

अथवा निजपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप।
कर्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्प स्वरूप ॥१२२॥

अथवा आत्मपरिणाम जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसका निर्विकल्परूपसे कर्ता-भोक्ता हुआ ॥१२२॥

मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ।
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रंथ ॥१२३॥

आत्माका जो शुद्ध पद है वह मोक्ष है और जिससे वह प्राप्त किया जाये, वह उसका मार्ग है; श्री सद्गुरुने कृपा करके निर्ग्रंथका सारा मार्ग समझाया ॥१२३॥

अहो ! अहो ! श्री सद्गुरु, करुणा सिंधु अपार।
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो ! अहो ! उपकार ॥१२४॥

अहो ! अहो ! करुणाके अपार समुद्रस्वरूप, आत्मलक्ष्मीसे युक्त सद्गुरु, आप प्रभुने इस पामर जीवपर आश्चर्यकारक उपकार किया है ॥१२४॥

शुं प्रभु चरण कने धरुं, आत्माथी सौ हीन।
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन ॥१२५॥

मैं प्रभुके चरणोमें क्या रखूँ ? (सद्गुरु तो परम निष्काम हैं, केवल निष्काम करुणासे मात्र उपदेश-के दाता हैं, परंतु शिष्यने शिष्यधर्मानुसार यह वचन कहा है।) जगतमे जो जो पदार्थ हैं वे सब आत्माकी अपेक्षासे मूल्यहीन जैसे हैं, वह आत्मा तो जिसने दिया उसके चरणोमे मैं अन्य क्या रखूँ ? मैं केवल उपचारसे इतना करनेको समर्थ हूँ कि मैं एक प्रभुके चरणोंके ही अधीन रहूँ ॥१२५॥

आ देहादि आजथी, वर्तो प्रभु आधीन।
दास, दास हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन ॥१२६॥

यह देह, 'आदि' शब्दसे जो कुछ मेरा माना जाता है, वह आजसे सद्गुरु प्रभुके अधीन रहे। मैं उस प्रभुका दास हूँ, दास हूँ दीनदास हूँ ॥१२६॥

षट् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप।
म्यान थकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ॥१२७॥[1]

छहों स्थानक समझाकर हे सद्गुरुदेव ! आपने देहादिसे आत्माको, जैसे म्यानसे तलवार अलग निकालकर दिखाते हैं वैसे स्पष्ट भिन्न बताया। आपने ऐसा उपकार किया जिसका माप नही हो सकता ॥१२७॥

उपसहार

दर्शन षटे समाय छे, आ षट् स्थानक मांही।
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांई ॥१२८॥

छहों दर्शन इन छः स्थानकोमे समा जाते हैं। इनका विशेषतासे विचार करनेसे किसी भी प्रकारका संशय नही रहता ॥१२८॥

आत्मभ्रांति सम रोग नहि, सद्गुरु वैद्य सुजाण।
गुरुआज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान ॥१२९॥

आत्माको अपने स्वरूपका भान न होनेके समान दूसरा कोई रोग नहीं है, सद्गुरुके समान उसका कोई सच्चा अथवा निपुण वैद्य नही है, सद्गुरुकी आज्ञामे चलनेके समान और कोई पथ्य नही है, और विचार तथा निदिध्यासनके समान उस रोगका कोई औषध नही है ॥१२९॥

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहि आत्मार्थ ॥१३०॥

यदि परमार्थकी इच्छा करते हो तो सच्चा पुरुषार्थ करो, और भवस्थिति आदिका नाम लेकर आत्मार्थका छेदन न करो ॥१३०॥

निश्चयवाणी सांभळी, साधन तजवां नो'य।
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय ॥१३१॥

आत्मा अबध है, असग है, सिद्ध है, ऐसी निश्चय-प्रधान वाणीको सुनकर साधनोंका त्याग करना योग्य नही है। परन्तु तथारूप निश्चयको लक्ष्यमे रखकर साधन अपनाकर उस निश्चय स्वरूपको प्राप्त करना चाहिये ॥१३१॥

नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल।
एकांते व्यवहार नहि, बन्ने साथ रहेल ॥१३२॥

यहाँ एकांतसे निश्चयनय नही कहा है, अथवा एकातसे व्यवहारनय नही कहा है, दोनों जहाँ जहाँ जिस तरह घटित होते हैं उस तरह साथ साथ रहे हुए है ॥१३२॥

गच्छमतनी जे कल्पना, ते नहि सद्व्यवहार।
भान नहीं निजरूपनुं, ते निश्चय नहि सार ॥१३३॥

---

१. इस 'आत्मसिद्धिशास्त्र' की रचना श्री सोभागभाई आदिके लिये हुई थी, यह इस अतिरिक्त गाथासे मालूम होगा।

श्री सुभाग्य ने श्री अचळ, आदि मुमुक्षु काज।
तथा भव्यहित कारणे, कह्यो बोध सुखसाज ॥

भावार्थ—श्री सुभाग्य तथा श्री अचल (डुंगरसी भाई) आदि मुमुक्षुओंके लिये तथा भव्यजीवोंके हितके लिये यह सुखदायक उपदेश दिया है।

गच्छ-मतकी जो कल्पना है वह सद्व्यवहार नहीं है, परन्तु आत्मार्थीके लक्षणोंमें जो दशा कही है और मोक्षोपायमे जिज्ञासुके जो लक्षण आदि कहे हैं, वे सद्व्यवहार हैं; जिसे यहाँ तो संक्षेपमे कहा है। अपने स्वरूपका मान नहीं है, अर्थात् जिस तरह देह अनुभवमे आती है उस तरह आत्माका अनुभव नही हुआ है, देहाध्यास रहता है, और जो वैराग्य आदि साधन प्राप्त किये बिना निश्चय निश्चय चिल्लाया करता है, वह निश्चय सारभूत नहीं है ॥१३३॥

आगळ ज्ञानी थई गया, वर्तमानमां होय।
थाशे काळ भविष्यमां, मार्गभेद नहि कोय ॥१३४॥

भूतकालमे जो ज्ञानीपुरुष हो गये है, वर्तमानकालमे जो हैं, और भविष्यकालमे जो होंगे, उनके मार्गमे कोई भेद नही है, अर्थात् परमार्थसे उन सबका एक मार्ग है; और उसे प्राप्त करने योग्य व्यवहार भी उसी परमार्थके साधकरूपसे देश, काल आदिके कारण भेद कहा हो, फिर भी एक फलका उत्पादक होनेसे उसमे भी परमार्थसे भेद नही है ॥१३४॥

सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय।
सद्गुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय ॥१३५॥

सब जीवोंमे सिद्धके समान सत्ता है, परन्तु वह तो जो समझता है उसे प्रगट होती है। उसके प्रगट होनेमे ये दो निमित्त कारण है—सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना और सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट जिनदशाका विचार करना ॥१३५॥

उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त।
पामे नहि सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित ॥१३६॥

सद्गुरुकी आज्ञा आदि उस आत्मसाधनमे निमित्त कारण है, और आत्माके ज्ञान-दर्शन आदि उपादान कारण है, ऐसा शास्त्रमे कहा है; इससे उपादानका नाम लेकर जो कोई उस निमित्तका त्याग करेगा वह सिद्धत्वको प्राप्त नही करेगा, और भ्रातिमे रहा करेगा; क्योकि सच्चे निमित्तके निषेधके लिये शास्त्रमें उस उपादानकी व्याख्या नही कही है; परन्तु उपादानको अजाग्रत रखनेसे सच्चा निमित्त मिलनेपर भी काम नहीं होगा, इसलिये सच्चा निमित्त मिलनेपर उस निमित्तका अवलम्बन लेकर उपादानको सन्मुख करना और पुरुषार्थरहित नही होना ऐसा शास्त्रकारकी कही हुई व्याख्याका परमार्थ है ॥१३६॥

मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर् छूट्यो न मोह।
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह ॥१३७॥

मुखसे निश्चय-प्रधान वचन कहता है, परंतु अतरसे अपना ही मोह नही छूटा, ऐसा पामर प्राणी मात्र ज्ञानी कहलवानेकी कामनासे सच्चे ज्ञानीपुरुषका द्रोह करता है ॥१३७॥

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य।
होय मुमुक्षु घट विषे, एह सदाय सुजाग्य ॥१३८॥

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग और वैराग्य ये गुण मुमुक्षुके घटमे सदा ही जाग्रत रहते है, अर्थात् इन गुणोंके बिना मुमुक्षुता भी नही होती ॥१३८॥

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत।
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी कहीए भ्रांत ॥१३९॥

जहाँ मोहभावका क्षय हुआ हो, अथवा जहाँ मोहदशा अति क्षीण हुई हो, वहाँ ज्ञानीकी दशा कही जाती है और बाकी तो जिसने अपनेमें ज्ञान मान लिया है उसे भ्रांति कहते हैं ॥१३९॥

सकळ जगत ते एठवत्, अथवा स्वप्न समान ।
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥१४०॥

जिसने समस्त जगतको जूठनके समान जाना है, अथवा जिसे ज्ञानमे जगत स्वप्नके समान लगता है, वह ज्ञानीकी दशा है; बाकी मात्र वाचाज्ञान अर्थात् कथनमात्र ज्ञान है ॥१४०॥

स्थानक पांच विचारीने, छट्ठे वर्ते जेह ।
पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहि संदेह ॥१४१॥

पाँचों स्थानकोंका विचारकर जो छट्ठे स्थानकमे प्रवृत्ति करता है; अर्थात् उस मोक्षके जो उपाय कहे हैं, उनमे प्रवृत्ति करता है, वह पाँचवें स्थानक अर्थात् मोक्षपदको पाता है ॥१४१॥

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत ।
ते ज्ञानीना चरणमां, हो वंदन अगणित ॥१४२॥

पूर्वप्रारब्धयोगसे जिसे देह रहती है, परंतु उस देहसे अतीत अर्थात् देहादिकी कल्पनासे रहित आत्मामय जिसकी दशा रहती है, उस ज्ञानीपुरुषके चरणकमलमे अगणित बार वंदन हो ॥१४२॥

*साधन सिद्ध दशा अहीं, कही सर्व संक्षेप ।
षट्दर्शन संक्षेपमां, भाख्यां निर्विक्षेप ॥

श्रीसद्गुरुचरणार्पणमस्तु ।

---

७१९ नडियाद, आसोज वदी १०, शनि, १९५२

आत्मार्थी, मुनिपथाभ्यासी श्री लल्लुजी तथा श्री देवकरणजी आदिके प्रति, श्री स्तंभतीर्थ ।

पत्र प्राप्त हुआ था ।

श्री सद्गुरुदेवके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है ।

इसके साथ एकातमें अवगाहन करनेके लिये 'आत्मसिद्धिशास्त्र' भेजा है । वह अभी श्री लल्लुजीको अवगाहन करना योग्य है ।

श्री लल्लुजी अथवा श्री देवकरणजीको यदि जिनागमका विचार करनेकी इच्छा हो तो 'आचाराग' 'सूयगडांग', 'दशवैकालिक', 'उत्तराध्ययन' और 'प्रश्नव्याकरण' विचारणीय है ।

'आत्मसिद्धिशास्त्र' का अवगाहन श्री देवकरणजीके लिये भविष्यमे अधिक हितकारी समझकर, अभी मात्र श्री लल्लुजीको उसका अवगाहन करनेके लिये लिखा है; फिर भी यदि श्री देवकरणजीकी अभी विशेष आकाक्षा रहती हो तो उन्हे भी, प्रत्यक्ष सत्पुरुष जैसा मुझपर किसीने परमोपकार नही किया है, ऐसा अखंड निश्चय आत्मामे लाकर, और इस देहके भविष्य जीवनमे भी उस अखंड निश्चयको छोड़ दूँ तो मैंने आत्मार्थका ही त्याग कर दिया और सच्चे उपकारीका कृतघ्न बननेका दोष किया, ऐसा ही समझूँगा; और सत्पुरुषका नित्य आज्ञाकारी रहनेमे ही आत्माका कल्याण है, ऐसा, भिन्नभावरहित, लोक-संबंधी दूसरे प्रकारकी सर्व कल्पना छोड़कर, निश्चय लाकर, श्री लल्लुजी मुनिके सान्निध्यमे यह ग्रंथ अवगाहन करनेमे अभी भी आपत्ति नही है । बहुत-सी शंकाओंका समाधान होने योग्य है ।

सत्पुरुषकी आज्ञामे चलनेका जिसका दृढ़ निश्चय है और जो उस निश्चयका आराधन करता है, उसे ही ज्ञान सम्यक् परिणामी होता है, यह बात आत्मार्थी जीवको अवश्य ध्यानमे रखना योग्य है । हमने जो ये वचन लिखे हैं, उसके सर्व ज्ञानीपुरुष साक्षी हैं ।

---

*भावार्थ—यहाँ सब साधन और सिद्ध दशा संक्षेपमें कही हैं, और संक्षेपमें विक्षेपरहित षट्दर्शन बताये हैं ।

दूसरे मुनियोंको भी जिस जिस प्रकारसे वैराग्य, उपशम और विवेककी वृद्धि हो, उस उस प्रकारसे श्री लल्लुजी तथा श्री देवकरणजीको उन्हे यथाशक्ति सुनाना और प्रवृत्ति कराना योग्य है। तथा अन्य जीव भी आत्मार्थके सन्मुख हों, और ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाके निश्चयको प्राप्त करें तथा विरक्त परिणामको प्राप्त करें, रसादिकी लुब्धता मंद करें इत्यादि प्रकारसे एक आत्मार्थके लिये उपदेश कर्तव्य है।

अनंतबार देहके लिये आत्माका उपयोग किया है। जिस देहका आत्माके लिये उपयोग होगा उस देहमे आत्मविचारका आविर्भाव होने योग्य जानकर, सर्व देहार्थकी कल्पना छोड़कर, एक मात्र आत्मार्थमें ही उसका उपयोग करना, ऐसा निश्चय मुमुक्षुजीवको अवश्य करना चाहिये। यही विनती।

सर्व मुमुक्षुओंको नमस्कार प्राप्त हो।

श्री सहजात्मस्वरूप।

---

७२० नडियाद, आसोज वदी १२, सोम, १९५२

शिरछत्र श्री पिताजी,

आपकी चिट्ठी आज मिली है। आपके प्रतापसे यहाँ सुखवृत्ति है।

बंबईसे इस ओर आनेमें केवल निवृत्तिका हेतु है; शरीरकी बाधासे इस तरफ आना हुआ हो ऐसा नहीं है। आपकी कृपासे शरीर ठीक रहता है। बंबईमे रोगके उपद्रवके कारण आपकी तथा रेवाशंकरभाई-की आज्ञा होनेसे इस ओर विशेष स्थिरता की है, और इस स्थिरतामे आत्माको विशेषत निवृत्ति रही है। अभी बबईमें रोगकी शाति बहुत कुछ हो गयी है, संपूर्ण शाति हो जानेपर उस ओर जानेका विचार रखा है, और वहाँ जानेके बाद प्राय. भाई मनसुखको आपकी ओर कुछ समयके लिये भेजनेका चित्त है; जिससे मेरी माताजीके मनको भी अच्छा लगेगा। आपके प्रतापसे पैसा कमानेका प्रायः लोभ नहीं है, परंतु आत्माका परम कल्याण करनेकी इच्छा है। मेरी माताजीको पादवंदन प्राप्त हो। बहिन झबक तथा भाई पोपट आदिको यथायोग्य।

बालक रायचंदके दंडवत् प्राप्त हो।

---

७२१ नदियाद, आसोज वदी ३०, १९५२

श्री डुंगरको 'आत्मसिद्धि' कंठस्थ करनेकी इच्छा है। उसके लिये वह प्रति उन्हे देनेके बारेमें पूछा है, तो वैसा करनेमे आपत्ति नही है। श्री डुगरको यह शास्त्र कण्ठस्थ करनेकी आज्ञा है, परंतु अभी उसकी दूसरी प्रति न लिखते हुए इस प्रतिसे ही कण्ठस्थ करना योग्य है, और अभी यह प्रति आप श्री डुंगरको दीजियेगा। उन्हे कहियेगा कि कंठस्थ करनेके बाद वापस लौटायें, परन्तु दूसरी नकल न करें।

जो ज्ञान महा निर्जराका हेतु होता है वह ज्ञान अनधिकारी जीवके हाथमें जानेसे उसे प्रायः अहित-कारी होकर परिणत होता है।

श्री सोभागके पाससे पहले कितने ही पत्रोंकी नकल किसी किसी अनधिकारीके हाथमें गयी है। पहले उनके पाससे किसी योग्य व्यक्तिके पास जाती है और बादमे उस व्यक्तिके पाससे अयोग्य व्यक्तिके पास जाती है ऐसा होनेकी संभावना हमारे जाननेमें है। "आत्मसिद्धि" के संबंधमें आप दोनोंमेंसे किसीको आज्ञाका उल्लंघन कर बरताव करना योग्य नही है। यही विनती।

३० वाँ वर्ष

७२२ ववाणिया, कार्त्तिक सुदी १०, शनि, १९५३

माताजीको बुखार आ जानेसे तथा कुछ समयसे यहाँ आनेके संबंधमें उनकी विशेष आकांक्षा होनेसे गत सोमवारको यहाँसे आज्ञा मिलनेसे, नडियादसे मंगलवारको रवाना होना हुआ था। यहाँ बुधवारकी दोपहरको आना हुआ है।

शरीरमें वेदनीयका असातारूपसे परिणमन हुआ हो उस समय शरीरके विपरिणामी स्वभावका विचारकर, उस शरीर और शरीरके सम्बन्धसे प्राप्त हुए स्त्री, पुत्र आदिका मोह विचारवान पुरुष छोड़ देते हैं; अथवा उस मोहको मंद करनेमें प्रवृत्त होते हैं।

'आत्मसिद्धिशास्त्र' विशेष विचार करने योग्य है।

श्री अचल इत्यादिको यथायोग्य।

---

७२३ ववाणिया, कार्त्तिक सुदी ११, रवि, १९५३

जब तक यह जीव लोकदृष्टिका वमन न करे तथा उसमेंसे अंतर्वृत्ति छूट न जाय तब तक ज्ञानीकी दृष्टिका वास्तविक माहात्म्य ध्यानगत नहीं हो सकता, इसमें संशय नहीं है।

---

७२४ ववाणिया, कार्त्तिक, १९५३

गीति[1]

*** पंथ परमपद बोध्यो, जेह प्रमाणे परम वीतरागे।**
ते अनुसरी कहीशुं, प्रणमीने ते प्रभु भक्ति रागे॥ १॥
मूळ परमपद कारण, सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण पूर्ण।
प्रणमे एक स्वभावे, शुद्ध समाधि त्यां परिपूर्ण॥ २॥

---

१. श्रीमद्जीके देहांतके बाद उनके वचनोंका संग्रह किया गया; तब इस विषयकी ३६ या ५० गीतियाँ थी, परंतु बादमें सभाल न रहनेसे बाकीकी गुम हो गयी है।

* भावार्थ—परम वीतरागने जिस प्रकार परमपद—मोक्षके पंथका उपदेश किया हैं, उसका अनुसरण कर, उस प्रभुको परम भक्तिभावसे प्रणाम करके, उस पंथको यहाँ कहेंगे॥ १॥

पूर्ण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये परमपदके मूल कारण हैं। जहाँ ये तीनों एक स्वभावसे आत्मस्वभावरूपसे पूर्णतया परिणमन करते हैं, वहाँ परिपूर्ण शुद्ध सहज आत्मदशारूप समाधि प्राप्त होती है॥ २॥

जे चेतन जड भावो, अवलोक्या छे मुनींद्र सर्वज्ञे।
तेवी अंतर आस्था, प्रगटये दर्शन कह्यूं छे तत्त्वज्ञे ॥ ३ ॥

सम्यक् प्रमाणपूर्वक, ते ते भावो ज्ञान विषे भासे।
सम्यग् ज्ञान कह्यूं ते, संशय, विभ्रम, मोह त्यां नासे ॥ ४ ॥

विषयारंभ-निवृत्ति, राग-द्वेषनो अभाव ज्यां थाय।
सहित सम्यक्दर्शन, शुद्ध चरण त्यां समाधि सदुपाय ॥ ५ ॥

त्रणे अभिन्न स्वभावे, परिणमी आत्मस्वरूप ज्यां थाय।
पूर्ण परमपदप्राप्ति, निश्चयथी त्यां अनन्य सुखदाय ॥ ६ ॥

जीव, अजीव पदार्थो, पुण्य, पाप आस्रव तथा बंध।
संवर, निर्जरा, मोक्ष, तत्त्व कह्यां नव पदार्थ संबंध ॥ ७ ॥

जीव अजीव विषे ते, नवे तत्त्वनो समावेश थाय।
वस्तु विचार विशेषे, भिन्न प्रबोध्या महान मुनिराय ॥ ८ ॥

---

७२५ ववाणिया, कार्तिक वदी २, रवि, १९५३

ज्ञानियोने मनुष्यभवको चिंतामणिरत्नतुल्य कहा है, इसका विचार करें तो प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली बात है। विशेष विचार करनेसे तो उस मनुष्यभवका एक समय भी चिंतामणिरत्नसे परम माहात्म्यवान और मूल्यवान मालूम होता है। और यदि यह मनुष्यभव देहार्थमें ही व्यतीत हो गया तब तो वह एक फूटी कौड़ीकी कीमतका भी नहीं है, यह निःसंदेह मालूम होता है।

---

७२६ ववाणिया, कार्तिक वदी ३०, शुक्र, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

देहका और जब तक प्रारब्धका उदय बलवान है, तब तक देहसम्बन्धी कुटुम्ब कि जिसके भरण-पोषण करनेका सम्बन्ध न छूट सकनेवाला हो अर्थात् आगारवासपर्यंत जिसका भरण-पोषण करना योग्य

मुनींद्र सर्वज्ञने जड और चेतन पदार्थोंका जैसा अवलोकन किया है, वे पदार्थ वैसे ही है ऐसी अन्तर आस्था-श्रद्धा प्रगट होनेपर तत्त्वज्ञोने उस श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहा हैं ॥३॥

वे सब पदार्थ सम्यक् प्रमाणपूर्वक ज्ञानमे भासित हों, उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा है। वहाँ संशय, विभ्रम और मोहका नाश हो जाता है ॥४॥

वहाँ सम्यग्दर्शनसहित विषयोंकी तथा आरम्भ—परिग्रहकी निवृत्ति हो जाती है और रागद्वेषका अभाव हो जाता है, वहाँ समाधिका सदुपाय शुद्ध चारित्र प्रकट होता है ॥५॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनोंका जहाँ अभिन्न स्वभावसे परिणमन होनेसे आत्मस्वरूप प्रकट होता है, वहाँ निश्चयसे अनन्य-अद्वितीय सुखदायक पूर्ण परमपदकी प्राप्ति होती है ॥६॥

जड और चेतनके संयोग संबंधके कारण, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ या तत्त्व कहे गये हैं। (पुण्य और पापको छोड़कर बाकीके सातको सात तत्त्व भी कहते हैं।) ॥७॥

जीव और अजीव इन दो तत्त्वोंमें नौ तत्त्वोंका समावेश हो जाता है, परंतु वस्तुका विशेषरूपसे विचार करनेके लिये महान मुनिराज भगवानने इन्हें भिन्न भिन्न प्ररूपित किया है ॥८॥

हो, उसका भरण-पोषण मात्र मिलता हो तो उसमें संतोष करके मुमुक्षुजीव आत्महितका ही विचार करता है, तथा पुरुषार्थ करता है। देह और देहसम्बन्धी कुटुम्बके माहात्म्यादिके लिये परिग्रह आदिकी परिणामपूर्वक स्मृति भी नहीं होने देता; क्योंकि उस परिग्रह आदिकी प्राप्ति आदि कार्य ऐसे हैं कि वे प्रायः आत्महितके अवसरको ही प्राप्त नहीं होने देते।

---

७२७ ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी १, शनि, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

अल्प आयु और अनियत प्रवृत्ति, असीम बलवान असत्संग, पूर्वकी प्राय अनाराधकता, बलवीर्यकी हीनता ऐसे कारणोंसे रहित कोई ही जीव होगा, ऐसे इस कालमे, पूर्वकालमे कभी भी न जाना हुआ, प्रतीत न किया हुआ, आराधित न किया हुआ और स्वभावसिद्ध न हुआ हुआ ऐसा "मार्ग" प्राप्त करना दुष्कर हो इसमे आश्चर्य नहीं है। तथापि जिसने उसे प्राप्त करनेके सिवाय दूसरा कोई लक्ष्य रखा ही नहीं वह इस कालमें भी अवश्य उस मार्गको प्राप्त करता है।

मुमुक्षुजीव लौकिक कारणोंमें अधिक हर्ष-विषाद नही करता।

---

७२८ ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी ६, गुरु, १९५३

श्री माणेकचंदकी देहके छूट जानेके समाचार जानें।

सभी देहधारी जीव मरणके समीप शरणरहित हैं। मात्र उस देहके यथार्थ स्वरूपको पहलेसे जानकर, उसके ममत्वका छेदन कर निजस्थिरताको अथवा ज्ञानीके मार्गकी यथार्थ प्रतीतिको प्राप्त हुए है वे ही जीव उस मरणकालमे शरणसहित होकर प्राय. फिरसे देह धारण नही करते, अथवा मरणकालमे देहके ममत्वभावकी अल्पता होनेसे भी निर्भय रहते है। देह छूटनेका काल अनियत होनेसे विचारवान पुरुष अप्रमादभावसे पहलेसे ही उसके ममत्वको निवृत्त करनेके अविरुद्ध उपायका साधन करते हैं, और यही आपको, हमे और सबको ध्यानमे रखना योग्य है। प्रीतिबंधनसे खेद होना योग्य है, तथापि इसमे दूसरा कोई उपाय न होनेसे, उस खेदको वैराग्यस्वरूपमे परिणमन करना ही विचारवानका कर्त्तव्य है।

---

७२९ ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी १०, सोम, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

'योगवासिष्ठ' के पहले दो प्रकरण, 'पंचीकरण', 'दासबोध' तथा 'विचारसागर' ये ग्रन्थ आपको विचार करने योग्य हैं। इनमेसे किसी ग्रन्थको आपने पहले पढ़ा हा तो भी पुनः पढ़ने योग्य है और विचार करने योग्य है। ये ग्रंथ जैनपद्धतिके नहीं हैं, यह जानकर उन ग्रन्थोका विचार करते हुए क्षोभ प्राप्त करना योग्य नही है।

लोकदृष्टिमें जो जो बातें या वस्तुएँ—जैसे शोभायमान गृहादि आरम्भ, अलंकारादि परिग्रह, लोकदृष्टिकी विचक्षणता, लोकमान्य धर्मकी श्रद्धा—बड़प्पनवाली मानी जाती है उन सब बातों और वस्तुओंका ग्रहण करना प्रत्यक्ष जहरका ही ग्रहण करना है यों यथार्थ समझे बिना आप जिस वृत्तिका लक्ष्य करना चाहते हैं वह नहीं होता। पहले इन बातों और वस्तुओंके प्रति जहरदृष्टि आना कठिन देखकर कायर न होते हुए पुरुषार्थ करना योग्य है।

---

७३० ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी १२, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

'आत्मसिद्धि' की टीकाके पन्ने मिले हैं।

यदि सफलताका मार्ग समझमे आ जाये तो इस मनुष्यदेहका एक समय भी सर्वोत्कृष्ट चिंतामणि है, इसमे संशय नही है।

---

७३१ ववाणिया, मार्गशीर्ष सुदी १२, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

वृत्तिका लक्ष्य तथारूप सर्वसंगपरित्यागके प्रति रहनेपर भी जिस मुमुक्षुको प्रारब्धविशेषसे उस योगका अनुदय रहा करता है, और कुटुंब आदिके प्रसंग तथा आजीविका आदिके कारण प्रवृत्ति रहती है, जो यथान्याय करनी पड़ती है, परन्तु उसे त्यागके उदयको प्रतिबंधक जानकर खिन्नताके साथ करता है; उस मुमुक्षुको, पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मानुसार आजीविकादि प्राप्त होगी, ऐसा विचारकर मात्र निमित्तरूप प्रयत्न करना योग्य है, परन्तु भयाकुल होकर चिंता या न्यायत्याग करना योग्य नहीं है, क्योकि वह तो मात्र व्यामोह है, इसे शात करना योग्य है। प्राप्ति शुभाशुभ प्रारब्धानुसार है। प्रयत्न व्यावहारिक निमित्त है, इसलिये करना योग्य है, परन्तु चिंता तो मात्र आत्मगुणरोधक है।

---

७३२ ववाणिया, मार्गशीर्ष वदी ११, बुध, १९५३

श्री लल्लुजी आदि मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

आरम्भ तथा परिग्रहकी प्रवृत्ति आत्महितको बहुत प्रकारसे रोधक है, अथवा सत्समागमके योगमें एक विशेष अंतरायका कारण समझकर ज्ञानीपुरुषोंने उसके त्यागरूप बाह्यसंयमका उपदेश दिया है, जो प्रायः आपको प्राप्त है। फिर आप यथार्थ भावसंयमकी अभिलाषासे प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ समझकर सत्शास्त्र, अप्रतिबधता, चित्तकी एकाग्रता और सत्पुरुषोंके वचनोंको अनुप्रेक्षा द्वारा उसे सफल करना योग्य है।

---

७३३ ववाणिया, मार्गशीर्ष वदी ११, बुध, १९५३

वैराग्य और उपशमकी वृद्धिके लिये 'भावनाबोध', 'योगवासिष्ठ' के पहले दो प्रकरण, 'पंचीकरण' इत्यादि ग्रन्थ विचार करने योग्य है।

जीवमे प्रमाद विशेष है, इसलिये आत्मार्थके कार्यमे जीवको नियमित होकर भी उस प्रमादको दूर करना चाहिये, अवश्य दूर करना चाहिये।

---

७३४ ववाणिया, मार्गशीर्ष वदी ११, बुध, १९५३

श्री सुभाग्य आदिके प्रति लिखे गये पत्रोंमेंसे जो परमार्थ सम्बन्धी पत्र हों उनकी अभी हो सके तो एक अलग प्रति लिखियेगा।

सोराष्ट्रमे अभी कब तक स्थिति होगी, यह लिखना अशक्य है।

यहाँ अभी थोड़े दिन स्थिति होगी ऐसा सम्भव है।

---

७३५ ववाणिया, पौष सुदी १०, मंगल, १९५३

विषमभावके निमित्त प्रबलतासे प्राप्त होनेपर भी जो ज्ञानीपुरुष अविषम उपयोगमे रहे है, रहते है, और भविष्यकालमे रहेगे उन सबको वारवार नमस्कार।

उत्कृष्टसे उत्कृष्ट व्रत, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट तप, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट नियम, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट लब्धि, और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य ये जिसमें सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं ऐसे निरपेक्ष अविषम उपयोगको नमस्कार। यही ध्यान है।

---

७३६ ववाणिया, पौष सुदी ११, बुध, १९५३

रागद्वेषके प्रत्यक्ष बलवान निमित्त प्राप्त होनेपर भी जिनका आत्मभाव किंचित् मात्र भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता, उन ज्ञानीके ज्ञानका विचार करते हुए भी महती निर्जरा होती है, इसमे संशय नहीं है।

---

७३७ ववाणिया, पौष वदी ४, शुक्र, १९५३

आरम्भ और परिग्रहका इच्छापूर्वक प्रसंग हो तो आत्मलाभको विशेष घातक है, और वारंवार अस्थिर एवं अप्रशस्त परिणामका हेतु है, इसमें तो संशय नहीं है; परन्तु जहाँ अनिच्छासे उदयके किसी एक योगसे वह प्रसंग रहता हो वहाँ भी आत्मभावकी उत्कृष्टताको बाधक तथा आत्मस्थिरताको अंतराय करनेवाला, वह आरम्भ-परिग्रहका प्रसंग प्राय. होता है, इसलिये परम कृपालु ज्ञानीपुरुषोंने त्यागमार्गका उपदेश दिया है, वह मुमुक्षुजीवको देशसे और सर्वथा अनुसरण करने योग्य है।

---

७३८ ववाणिया, सं० १९५३*

ॐ

† अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो ?
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो ? ॥ अपूर्व० १ ॥

सर्व भावथी औदासीन्यवृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ॥ अपूर्व० २ ॥

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिये,
वर्ते एवु शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो ॥ अपूर्व० ३ ॥

---

* इस काव्यका निर्णीत समय नहीं मिलता।

† भावार्थ—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा कि जब मैं बाह्य तथा अभ्यतरसे निर्ग्रंथ बनूँगा ? सर्व संबंधोंके बंधनका तीक्ष्णतासे छेदनकर महापुरुषोंके मार्गपर कब चलूँगा ? ॥१॥

मन सभी परभावोंके प्रति सर्वथा उदासीन हो जाये, देह भी केवल संयमसाधनाके लिये ही रहे, किसी सांसारिक प्रयोजनके लिये किसी भी वस्तुकी इच्छा न करे, और फिर देहमे भी किंचित्मात्र मूर्च्छा न रहे। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥२॥

दर्शनमोह व्यतीत होकर देहसे भिन्न केवल चैतन्यस्वरूपका बोधरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे चारित्रमोह प्रक्षीण हुआ दिखाई देता है; ऐसा शुद्ध स्वरूपका ध्यान जहाँ रहता है ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥३॥

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देहपर्यन्त जो;
घोर परीषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ॥ अपूर्व० ४ ॥

संयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना,
स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो ॥ अपूर्व० ५ ॥

पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो;
द्रव्य, क्षेत्र ने काळ, भाव प्रतिबंध वण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो ॥ अपूर्व० ६ ॥

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
माया प्रत्ये माया साक्षी भावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो ॥ अपूर्व० ७ ॥

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबळ सिद्धि निदान जो ॥ अपूर्व० ८ ॥

मन, वचन और कायाके तीन योगोकी प्रवृत्तिको निरुद्ध करके ध्यानमग्न होनेसे वह आत्मस्थिरता मुख्यतः देहपर्यंत अखंड बनी रहती है तथा घोर परिषहसे अथवा उपसर्गके भयसे उस स्थिरताका अन्त नही आ सकता—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥४॥

संयमके हेतुसे ही तीन योगोंकी प्रवृत्ति होती है और वह भी जिनाज्ञाके अनुसार आत्मस्वरूपमें अखंड स्थिर रहनेके लक्ष्यसे होती है तथा वह प्रवृत्ति भी प्रति क्षण घटती हुई स्थितिमें होती है ताकि अन्तमें निजस्वरूपमें लीन हो जाये। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥५॥

पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेष नही रहता; (१) इन्द्रिय (२) विकथा, (३) कषाय, (४) स्नेह और (५) निद्रा इन पाँच प्रमादोंसे मनमे किसी प्रकारका क्षोभ नही होता तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके प्रतिबन्धके बिना ही लोभरहित होकर उदयवशात् विचरण होता है ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥६॥

क्रोधके प्रति क्रोध स्वभावता अर्थात् क्रोधके प्रति क्रोध करनेकी वृत्ति रहती है, मानके प्रति अपनी दीनताका मान होता है, मायाके प्रति साक्षीभावकी माया रहती है अर्थात् माया करनी हो तो साक्षीभावकी माया की जाये, लोभके प्रति उसके समान लोभ नहीं रहता अर्थात् लोभ करना हो तो लोभ जैसा न हुआ जाये—लोभका लोभ न किया जाये। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥७॥

बहुत उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी क्रोध नहीं आता; यदि चक्रवर्ती वंदन करे तो भी लेश मात्र मान उत्पन्न नहीं होता; देहका नाश होता हो तो भी एक रोममें भी माया उत्पन्न नहीं होती; चाहे जैसी प्रबल ऋद्धि-सिद्धि प्रगट हो तो भी उसका लेशमात्र लोभ नहीं होता—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥८॥

नग्नभाव, मुण्डभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश, रोम, नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्यभाव संयममय, निर्ग्रंथ सिद्ध जो ॥ अपूर्व० ९ ॥

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ॥ अपूर्व० १० ॥

एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां,
वळी पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन, ने मनमां नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ॥ अपूर्व० ११ ॥

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो ॥ अपूर्व० १२ ॥

एम पराजय करीने चारित्रमोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्धस्वभाव जो ॥ अपूर्व० १३ ॥

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;

दिगबरता, केशलुचन, स्नान तथा दंतधावनका त्याग, केश, रोम, नख और शरीरका शृगार न करना इत्यादि अत्यधिक प्रसिद्ध मुनिचर्यासे बाह्य त्यागरूप द्रव्यसयम और कषायादिकी निवृत्तिरूप भावसंयमसे पूर्ण निर्ग्रंथ अवस्था प्राप्त हो—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥९॥

जहाँ शत्रुमित्रके प्रति समदर्शिता है, मान-अपमानमे समभाव है, जीवन और मरणमे न्यूनाधिकताका भाव नही है तथा जहाँ ससार और मोक्षमे भी शुद्ध समभाव है—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥१०॥

और स्मशान आदि निर्जन स्थानमे अकेले विचरते हुए, पर्वत, वन आदिमे बाघ, सिंह आदि क्रूर एवं हिंसक प्राणियोंका सयोग होनेपर भी मनमें जरा भी क्षोभ न हो, प्रत्युत ऐसा समझूँ कि मानो परम मित्र मिले हैं, ऐसी आत्मदृष्टिसे उनके समीपमें भी निर्भय एवं स्थिर आसनसे ध्यानमग्न रहूँ—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥११॥

घोर तपश्चर्यामें भी मनको संताप न हो, स्वादिष्ट भोजनसे मनमें प्रसन्नता न हो, रजकण और वैमानिक देवकी ऋद्धिमे अन्तर न मानूँ—दोनोको समान समझूं । तत्त्वदृष्टिसे खाद्य पदार्थ, धूल और वैमानिक देवकी धन-संपत्ति सभी पुद्गलरूप ही है । ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥१२॥

इस प्रकार आत्मस्थिरतामें विघ्नभूत कषाय—नोकषायरूप चारित्रमोहका पराजय करके आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानकी प्राप्ति हो, जिससे मोहनीयकर्मका क्षय करनेमें समर्थ क्षपकश्रेणीपर आरूढ होकर आत्माके अतिशय शुद्ध स्वभावके अनन्य चिन्तनमे तल्लीन हो जाऊँ । ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥१३॥

अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रगटावुं निज केवळज्ञान निधान जो ॥ अपूर्व० १४ ॥

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवनां बीजतणो आत्यंतिक नाश जो;
सर्व भाव ज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो ॥ अपूर्व० १५ ॥

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहां,
बळी सींदरीवत् आकृति मात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे, मटिये दैहिक पात्र जो ॥ अपूर्व० १६ ॥

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहां सकळ पुद्गल संबंध जो;
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ॥ अपूर्व० १७ ॥

एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता,
पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु, अमूर्त सहजपदरूप जो ॥ अपूर्व० १८ ॥

पूर्वप्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;

मोहरूपी स्वयभूरमण समुद्रको पार करके क्षीणमोह नामके बारहवें गुणस्थानमें आकर रहूँ, और वहाँ अतर्मुहूर्तमें पूर्ण वीतरागस्वरूप होकर अपने केवलज्ञानकी निधिको प्रगट करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥१४॥

जहाँ चार घनघाती कर्मों—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अतराय—का नाश हो जाता है; वहाँ संसारके बीजका आत्यंतिक नाश हो जाता है ऐसे अनत चतुष्टयरूप परमात्मपदकी प्राप्ति हो, और सर्व भावोंका शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा होकर कृतकृत्यदशा प्रगटे और अनत वीर्यका प्रकाश हो—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥१५॥

जहाँपर—तेरहवें गुणस्थानमे जली हुई रस्सीकी आकृतिके समान वेदनीय आदि चार अघाती कर्म ही शेष रह जाते है, उनकी स्थिति देहायुके अधीन है, और आयु-कर्मके नाश होनेपर उनका भी नाश हो जाता है, जिससे शरीर धारण करना ही नही रहता—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥१६॥

जहाँ मन, वचन, काया और कर्मकी वर्गणारूप समस्त पुद्गलोका सबध छूट जाता है, ऐसे अयोगी गुणस्थानमें अल्प समय रहकर महाभाग्य स्वरूप अनंत सुखदायक पूर्ण अबंधपद—मुक्तपद प्राप्त हो। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥१७॥

अयोगी गुणस्थानमे एक परमाणु मात्रका भी स्पर्श—बंध नही होता। यह स्वरूप कर्मरूप कलंकसे रहित और प्रदेशोंके निष्कंपनसे अचल शुद्ध सहज आत्मस्वरूप है। ऐसी शुद्ध, निरंजन, चैतन्यमूर्ति, एक आत्मामय, अगुरु-लघु और अमूर्त्त सहजात्मस्वरूपदशा प्रगट हो—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥१८॥

पूर्वप्रयोगादि कारणोंके योगसे ऊर्ध्वगमन कर सादि-अनंत समाधिसुखसे पूर्ण और अनंत ज्ञान-दर्शनसहित सिद्धपदमें सुस्थित हो—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ॥१९॥

सादि अनंत अनंत समाधिसुखमां,
अनंत दर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो ॥ अपूर्व० १९॥

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ॥ अपूर्व० २०॥

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान मैं,
गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय राजचंद्र मनमे रह्यो,
प्रभुआज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो ॥ अपूर्व० २१॥

---

७३९ मोरबी, माघ सुदी ९, बुध, १९५३

मुनिजीके प्रति,

ववाणिया पत्र मिला था । यहाँ शुक्रवारको आना हुआ है । यहाँ कुछ दिन स्थिति संभव है ।

नडियादसे अनुक्रमसे किस क्षेत्रकी ओर बिहार होना संभव है, तथा श्री देवकीर्ण आदि मुनियोका कहाँ एकत्र होना संभव है, यह सूचित कर सकें तो सूचित करनेकी कृपा कीजियेगा ।

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे यों चारों प्रकारसे अप्रतिबंधता, आत्मतासे रहनेवाले निर्ग्रंथके लिये कही है, यह विशेष अनुप्रेक्षा करने योग्य है ।

अभी किन शास्त्रोका विचार करनेका योग रहता है, यह सूचित कर सकें तो सूचित करनेकी कृपा कीजियेगा ।

श्री देवकीर्ण आदि मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो ।

---

७४० मोरबी, माघ सुदी ९, बुध, १९५३

'आत्मसिद्धि' का विचार करते हुए आत्मा संबंधी कुछ भी अनुप्रेक्षा रहती है या नहीं ? यह लिख सकें तो लिखियेगा ।

कोई पुरुष स्वयं विशेष सदाचारमें तथा संयममें प्रवृत्ति करता है, उसके समागममे आनेके इच्छुक जीवोंको, उस पद्धतिके अवलोकनसे जैसा सदाचार तथा संयमका लाभ होता है, वैसा लाभ प्रायः विस्तृत उपदेशसे भी नहीं होता, यह ध्यानमे रखने योग्य है ।

---

७४१ मोरबी, माघ सुदी, १०, शुक्र, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

यहाँ कुछ दिन तक स्थिति होना संभव है ।

श्री सर्वज्ञ भगवानने इस पदको अपने ज्ञानमें देखा, परंतु वे भी इसे नहीं कह सके । तो फिर अन्य अल्पज्ञकी वाणीसे उस स्वरूपको कैसे कहा जा सके ? यह ज्ञान तो मात्र अनुभवगोचर ही है ॥२०॥

मैंने इस परमपदकी प्राप्तिका ध्यान किया है। उसे प्राप्त करनेकी शक्ति प्रतीत नहीं होती, इसलिये अभी तो यह मनोरथरूप है । तो भी राजचंद्र कहते हैं कि हृदयमें यह निश्चय रहता है कि प्रभुकी आज्ञाका आराधन करनेसे उसी परमात्मस्वरूपको प्राप्त करेंगे ॥२१॥

अभी ईडर आनेका विचार रखते हैं। तैयार रहें। श्री डुगरको आनेके लिये विनती करें। उन्हें भी तैयार रखें। उनके चित्तमें यों आये कि बारंबार जाना होनेसे लोकापेक्षामें योग्य नहीं दिखायी देता। क्योंकि उम्रमें अंतर। परंतु ऐसा विचार करना योग्य नही है।

परमार्थदृष्टि पुरुषको अवश्य करने योग्य ऐसे समागमके लाभमें यह विकल्परूप अंतराय कर्तव्य नहीं है। इस बार समागमका विशेष लाभ होना योग्य है। इसलिये श्री डुगरको अन्य सभी विकल्प छोड़कर आनेका विचार रखना चाहिये।

श्री डुंगर तथा ल्हेराभाई आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य।

आनेके बारेमें श्री डुंगरको कुछ भी संशय न रखना योग्य है।

---

७४२ मोरबी, माघ वदी ४, रवि, १९५३

संस्कृतका परिचय न हो तो कीजियेगा।

जिस तरह अन्य मुमुक्षुजीवोंके चित्तमे और अंगमे निर्मल भावकी वृद्धि हो उस तरह प्रवृत्ति कर्तव्य है। नियमित श्रवण कराया जाये तथा आरंभ-परिग्रहके स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे देखते हुए, वे निवृत्ति और निर्मलताको कितने प्रतिबंधक हैं यह बात चित्तमे दृढ़ हो ऐसी परस्परमे ज्ञानकथा हो यह कर्तव्य है।

---

७४३ मोरबी, माघ वदी ४, रवि, १९५३

[1]"सकळ संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निष्कामी रे॥"—मुनि श्री आनंदघनजी

तीनों पत्र मिले थे। अभी लगभग पंद्रह दिनसे यहाँ स्थिति है। अभी यहाँ कुछ दिन और रहना संभव है।

पत्राकांक्षा और दर्शनाकांक्षा मालूम हुई है। अभी पत्र आदि लिखनेमें बहुत ही कम प्रवृत्ति हो सकती है। समागमके बारेमे अभी कुछ भी उत्तर लिखना अशक्य है।

श्री लल्लुजी और श्री देवकरणजी 'आत्मसिद्धिशास्त्र' का विशेषतः मनन करें। दूसरे मुनियोंको भी प्रश्नव्याकरण आदि सूत्र सत्पुरुषके लक्ष्यसे सुनाये जायें तो सुनायें।

श्री सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य।

---

७४४ ववाणिया, माघ वदी १२, शनि, १९५३

[2]ते माटे ऊभा करजोडी, जिनवर आगळ कहीए रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहीए रे॥—मुनि श्री आनंदघनजी

'कर्मग्रंथ' नामका शास्त्र है, उसे अभी आदिसे अंत तक पढनेका, सुननेका और अनुप्रेक्षा करनेका परिचय रख सकें तो रखियेगा। अभी उसे पढने और सुननेमें नित्य प्रति दो-से चार घड़ी नियमपूर्वक व्यतीत करना योग्य है।

---

१. भावार्थ—सब संसारी जीव इन्द्रियसुखमें ही रमण करनेवाले हैं, और केवल मुनिजन ही आत्मरामी हैं। जो मुख्यतासे आत्मरामी होते हैं वे निष्कामी कहे जाते हैं।

२. भावार्थ—इस कारण मैं हाथ जोड खड़ा रहकर जिनेंद्र भगवानसे प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे शास्त्रानुसार चारित्रकी शुद्ध सेवा प्रदान करें, जिससे मैं आनंदघन—मोक्ष प्राप्त करूँ।

७४५ ववाणिया, फागुन सुदी २, १९५३

एकांत निश्चयनयसे मति आदि चार ज्ञान, संपूर्ण शुद्ध ज्ञानकी अपेक्षासे विकल्प ज्ञान कहे जा सकते हैं, परंतु संपूर्ण शुद्ध ज्ञान अर्थात् सम्पूर्ण निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होनेके ये ज्ञान साधन है। उसमें भी श्रुतज्ञान मुख्य साधन है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेमे अंत तक उस ज्ञानका अवलबन है। यदि कोई जीव पहलेसे इसका त्याग कर दे तो केवलज्ञानको प्राप्त नही होता। केवलज्ञान तककी दशा प्राप्त करनेका हेतु श्रुतज्ञानसे होता है।

---

७४६ ववाणिया, फागुन सुदी २, १९५३

[1]त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निज भान॥

जहां कल्पना जल्पना, तहां मानुं दुःख छांई।
मिटे कल्पना जल्पना, तब वस्तु तिन पाई॥

'पढी पार कहाँ पावनो, मिटे न मनको चार।
ज्यों कोलुके बेलकुं, घर ही कोश हजार॥'

'मोहनीय'का स्वरूप इस जीवको वारंवार अत्यंत विचार करने योग्य है। मोहिनीने महान मुनीश्वरोंको भी पलभरमे अपने पाशमे फँसाकर ऋद्धि-सिद्धिसे अत्यत विमुक्त कर दिया है, शाश्वत सुखको छीनकर उन्हे क्षणभंगुरतामें ललचाकर भटकाया है।

निर्विकल्प स्थिति लाना, आत्मस्वभावमें रमण करना और मात्र द्रष्टाभावसे रहना ऐसा ज्ञानियोका जगह जगह बोध है, इस बोधके यथार्थ प्राप्त होनेपर इस जीवका कल्याण होता है।

जिज्ञासामे रहें यह योग्य है।

[2]कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम॥ ॐ शांतिः

---

७४७ ववाणिया, फागुन सुदी २, शुक्र, १९५३

सर्व मुनियोको नमस्कार प्राप्त हो।

मुनि श्री देवकरणजी 'दीनता' के बीस दोहे कण्ठस्थ करना चाहते है, इसमे आज्ञाका अतिक्रम नही है। अर्थात् वे दोहे कण्ठस्थ करने योग्य है।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ।
तेमां मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ॥
कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, उपाय अचूक आम॥

—श्री 'आत्मसिद्धिशास्त्र'

---

७४८ ववाणिया, फागुन सुदी ४, रवि, १९५३

जहाँ उपाय नहीं वहाँ खेद करना योग्य नहीं है। उन्हें शिक्षा अर्थात् उपदेश देकर सुधार करनेका बंद रखकर, मिलते रहकर काम निबाहना ही योग्य है।

---

१. अर्थ के लिये देखें 'आत्मसिद्धि' का पद्य ६। २. अर्थके लिये देखे 'आत्मसिद्धि' का पद्य १०३।

जाननेसे पहले उपालंभ लिखना ठीक नही। तथा उपालंभसे अक्ल ला देना मुश्किल है। अक्लकी वर्षा की जाती है तो भी इन लोगोकी रीति अभा रास्तेपर नही आती। वहाँ क्या उपाय ?

उनके प्रति कोई दूसरा खेद करना व्यर्थ है। कर्मबधकी विचित्रता है इससे सभीको सच्ची बात समझमे नही आ सकती। इसलिये उनके दोषका क्या विचार करना ?

---

७४९ ववाणिया, फागुन वदी ११, १९५३

त्रिभोवनकी लिखी हुई चिट्ठी तथा सुणाव और पेटलादके पत्र मिले हैं।

'कर्मग्रंथ' का विचार करनेसे कषाय आदिका बहुतसा स्वरूप यथार्थ समझमे नही आता, वह विशेषत· अनुप्रेक्षासे, त्यागवृत्तिके बलसे और समागमसे समझमे आने योग्य है।

'ज्ञानका फल विरति है'। वीतरागका यह वचन सभी मुमुक्षुओको नित्य स्मरणमे रखने योग्य है। जिसे पढनेसे, समझनेसे और विचारनेसे आत्मा विभावसे, विभावके कार्योंसे और विभावके परिणामसे उदास न हुआ, विभावका त्यागी न हुआ, विभावके कार्योंका और विभावके फलका त्यागी न हुआ; वह पढ़ना, वह विचारना और वह समझना अज्ञान है। विचारवृत्तिके साथ त्यागवृत्तिको उत्पन्न करना यही विचार सफल है, यह ज्ञानीके कहनेका परमार्थ है।

समयका अवकाश प्राप्त करके नियमितरूपसे दो-से चार घडी तक मुनियोको अभी 'सूयगडाग' का विचार करना योग्य है—शात और विरक्त चित्तसे।

७५०† ववाणिया, फागुन सुदी ६, सोम, १९५३

मुनि श्री लल्लुजी तथा देवकरणजी आदिके प्रति–

सहज समागम हो जाये अथवा ये लोग इच्छापूर्वक समागम करनेके लिये आते हों तो समागम करनेमे क्या हानि है ? कदाचित् विरोधवृत्तिसे ये लोग समागम करते हों तो भी क्या हानि है ? हमे तो उनके प्रति केवल हितकारी वृत्तिसे, अविरोध दृष्टिसे समागममे भी बर्ताव करना है। इसमे क्या पराभव है ? मात्र उदीरणा करके समागम करनेका अभी कारण नही है। आप सब मुमुक्षुओंके आचार संबंधी उन्हे कोई संशय हो तो भी विकल्पका अवकाश नही है। वडवामे सत्पुरुषके समागममे गये आदि सबंधी प्रश्न करें तो उसके उत्तरमे तो इतना ही कहना योग्य है कि "आप, हम और सब आत्महितकी कामनासे निकले है, और करने योग्य भी यही है। जिस पुरुषके समागममें हम आये है उसके समागममे आप कभी आकर प्रतीति कर देखे कि उनके आत्माकी दशा कैसी है ? और वे हमे कैसे उपकारी हैं ? अभी आप इस बातको जाने दें। वडवा तक सहजमे भी जाना हो सकता है, और यह तो ज्ञान, दर्शन आदिके उपकाररूप प्रसंगमे जाना हुआ है, इसलिये आचारकी मर्यादाके भंगका विकल्प करना योग्य नहीं है। रागद्वेष परिक्षीण होनेका मार्ग जिस पुरुषके उपदेशसे कुछ भी समझमे आये, प्राप्त हो, उस पुरुषका उपकार कितना ? और वैसे पुरुषको कैसे भक्ति करनी, उसे आप ही शास्त्र आदिसे विचार कर देखें। हम तो वैसा कुछ नही कर सके क्योंकि उन्होने स्वयं यो कहा था कि :—

'आपके मुनिपनका सामान्य व्यवहार ऐसा है कि इस अविरति पुरुषके प्रति बाह्य वन्दनादि व्यवहार कर्तव्य नही है। उस व्यवहारको आप भी निभायें। उस व्यवहारको आप रखें इसमे आपका स्वच्छंद नही है, इसलिये रखना योग्य है। बहुतसे जीवोंको संशयका हेतु नही होगा। हमे कुछ वंदनादिकी अपेक्षा नहीं है।' इस प्रकारसे जिन्होने सामान्य व्यवहारको भी निभाया था, उनकी दृष्टि कैसी होनी चाहिये,

† देखें आंक ५०२। आंक ५०२ के छपनेके बाद यह पत्र मितिसहित सारा मिला है, इसलिये यहाँ फिरसे दिया है।

इसका आप विचार करें। कदाचित् अभी आपको यह बात समझमे न आये तो आगे जाकर समझमें आयेगी, इस बातमें आप निःसंदेह रहे।

दूसरे कुछ सन्मार्गरूप आचार-विचारमें हमारी शिथिलता हुई हो तो आप कहे क्योंकि वैसी शिथिलता तो दूर किये बिना हितकारी मार्ग प्राप्त नही हो सकता, ऐसी हमारी दृष्टि है।" इत्यादि प्रसंग-से कहना योग्य लगे तो कहे; और उनके प्रति अद्वेषभाव है ऐसा स्पष्ट उनके ध्यानमे आये वैसी वृत्ति एवं रीतिसे वर्तन करे, इसमे संशय कर्तव्य नहीं है।

दूसरे साधुओके बारेमे आपको कुछ कहना कर्तव्य नही है। समागममे आनेके बाद भी उनके चित्तमे कुछ न्यूनाधिकता रहे तो भी विक्षिप्त न होवें। उनके प्रति प्रबल अद्वेष भावनासे बर्ताव करना ही स्वधर्म है।

---

७५१ ववाणिया, फागुन वदी ११, रवि, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

'आत्मसिद्धि' मे कहे हुए समकितके प्रकारोका विशेषार्थ जाननेकी इच्छा संबंधी पत्र मिला है।

आत्मसिद्धिमे तीन प्रकारके समकित उपदिष्ट है—

(१) आप्तपुरुषके वचनकी प्रतीतिरूप, आज्ञाकी अपूर्व रुचिरूप, स्वच्छंदनिरोधतासे आप्तपुरुषकी भक्तिरूप, यह समकितका पहला प्रकार हैं।

(२) परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति यह समकितका दूसरा प्रकार है।

(३) निर्विकल्प परमार्थअनुभव यह समकितका तीसरा प्रकार है।

पहला समकित दूसरे समकितका कारण है। दूसरा समकित तीसरे समकितका कारण है। वीतरागने तीनो समकित मान्य किये हैं। तीनो समकित उपासना करने योग्य हैं, सत्कार करने योग्य हैं; और भक्ति करने योग्य हैं।

केवलज्ञान उत्पन्न होनेके अन्तिम समय तक वीतरागने सत्पुरुषके वचनोंके आलंबनका विधान किया है; अर्थात् बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानकपर्यंत श्रुतज्ञानसे आत्माके अनुभवको निर्मल करते करते उस निर्मलताकी संपूर्णता प्राप्त होनेपर 'केवलज्ञान' उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होनेके पहले समय तक सत्पुरुषका उपदिष्ट मार्ग आधारभूत है, यह जो कहा है वह निःसदेह सत्य है।

---

७५२ ववाणिया, फागुन वदी ११, रवि, १९५३

लेश्या—जीवके कृष्ण आदि द्रव्यकी तरह भासमान परिणाम।

अध्यवसाय—लेश्या-परिणामकी कुछ स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति।

संकल्प—कुछ भी प्रवृत्ति करनेका निर्धारित अध्यवसाय।

विकल्प—कुछ भी प्रवृत्ति करनेका अपूर्ण अनिर्धारित, संदेहात्मक अध्यवसाय।

संज्ञा—कुछ भी आगे पीछे की चिंतनशक्तिविशेष अथवा स्मृति।

परिणाम—जलके द्रवणस्वभावकी तरह द्रव्यकी कथंचित् अवस्थांतर पानेकी [शक्ति है, उस अवस्थांतरकी विशेष धारा, वह परिणति है।

अज्ञान—मिथ्यात्वसहित मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान हो तो वह 'अज्ञान' है।

विभंगज्ञान—मिथ्यात्वसहित अतींद्रिय ज्ञान हो वह 'विभंगज्ञान' है।

विज्ञान—कुछ भी विशेषरूपसे जानना वह 'विज्ञान' है।

---

७९३ ववाणिया, १९५३

(१)

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत ।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ॥ऋषभ० १

नाभिराजाके पुत्र श्री ऋषभदेवजी तीर्थंकर मेरे परम प्रिय हैं, जिससे मैं दूसरे स्वामीको न चाहूँ। ये स्वामी ऐसे हैं कि प्रसन्न होने पर फिर कभी संग नहीं छोड़ते। जबसे संग हुआ तबसे उसकी आदि है, परंतु वह संग अटल होनेसे अनंत है ॥१॥

विशेषार्थ :—जो स्वरूपजिज्ञासु पुरुष हैं वे, जो पूर्ण शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ऐसे भगवानके स्वरूपमे अपनी वृत्तिको तन्मय करते हैं; जिससे अपनी स्वरूपदशा जागृत होती जाती है और सर्वोत्कृष्ट यथाख्यातचारित्रको प्राप्त होती है। जैसा भगवानका स्वरूप है, वैसा ही शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्माका स्वरूप है। इस आत्मा और सिद्ध भगवानके स्वरूपमे औपाधिक भेद है। स्वाभाविकरूपसे देखें तो आत्मा सिद्ध भगवानके तुल्य ही है। सिद्ध भगवानका स्वरूप निरावरण है; और वर्तमानमें इस आत्माका स्वरूप आवरणसहित है, और यही भेद है; वस्तुतः भेद नहीं है। उस आवरणके क्षीण हो जानेसे आत्माका स्वाभाविक सिद्धस्वरूप प्रगट होता है।

और जब तक वह स्वाभाविक सिद्ध स्वरूप प्रगट नहीं हुआ, तब तक स्वाभाविक शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ऐसे सिद्ध भगवानकी उपासना कर्तव्य है; इसी तरह अर्हंत भगवानकी उपासना भी कर्तव्य है, क्योंकि वे भगवान सयोगी सिद्ध हैं। सयोगरूप प्रारब्धके कारण वे देहधारी हैं; परंतु वे भगवान स्वरूप-समवस्थित हैं। सिद्ध भगवान और उनके ज्ञानमे, दर्शनमे, चारित्रमें या वीर्यमें कुछ भी भेद नहीं है; इसलिये अर्हंत भगवानकी उपासनासे भी वह आत्मा स्वरूपलयको पा सकता है।

पूर्व महात्माओंने कहा है :—

'जे जाणइ अरिहंते, दव्व गुण पज्जवेहिं य।
सो जाणइ निय अप्पं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥'

जो अर्हंत भगवानका स्वरूप द्रव्य, गुण और पर्यायसे जानता है, वह अपने आत्माके स्वरूपको जानता है और निश्चयसे उसके मोहका नाश हो जाता है। उस भगवानकी उपासना किस अनुक्रमसे जीवोको कर्तव्य है, उसे श्री आनंदघनजी नौवें स्तवनमे कहनेवाले हैं, जिससे उस प्रसंगपर विस्तारसे कहेंगे।

भगवान सिद्धको नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु इन कर्मोंका भी अभाव है; वे भगवान सर्वथा कर्मरहित हैं। भगवान अर्हंतको आत्मस्वरूपको आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षय रहता है, परंतु उपर्युक्त चार कर्मोंका पूर्वबंध, वेदन करके क्षीण करने तक उन्हें रहता है, जिससे वे परमात्मा साकार भगवान कहने योग्य हैं।

उन अर्हंत भगवानमें जिन्होने पूर्वकालमे 'तीर्थंकरनामकर्म' का शुभयोग उत्पन्न किया होता है, वे 'तीर्थंकर भगवान' कहे जाते हैं। जिनके प्रताप, उपदेशबल आदिकी शोभा महापुण्ययोगके उदयसे आश्चर्यकारी होती है। भरतक्षेत्रमे वर्तमान अवसर्पिणीकालमें ऐसे चौबीस तीर्थंकर हुए हैं—श्री ऋषभदेवसे श्री वर्धमान तक।

वर्तमानकालमें वे भगवान सिद्धालयमें स्वरूपस्थितरूपसे विराजमान हैं। परंतु 'भूतप्रज्ञापनीयनय' से उनमें 'तीर्थंकरपद' का उपचार किया जाता है। उस औपचारिक नयदृष्टिसे उन चौबीस भगवानकी स्तुतिरूपसे इन चौबीस स्तवनोंकी रचना की है।

सिद्ध भगवान सर्वथा अमूर्तपदमे स्थित होनेसे उनके स्वरूपका सामान्यतः चिंतन करना दुष्कर है। अर्हंत भगवानके स्वरूपका मूलदृष्टिसे चिंतन करना तो वैसा ही दुष्कर है, परंतु सयोगी पदके अवलंबनपूर्वक चिंतन करनेसे वह सामान्य जीवोंके लिये भी वृत्ति स्थिर होनेका कुछ सुगम उपाय है। इस कारण अर्हंत भगवानके स्तवनसे सिद्धपदका स्तवन हो जानेपर भी इतना विशेष उपकार समझकर श्री आनंदघनजीने चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनरूप इस चौबीसीकी रचना की है। नमस्कारमन्त्रमें भी अर्हंतपद प्रथम रखनेका हेतु इतना ही है कि उनकी विशेष उपकारिता है।

भगवानके स्वरूपका चिंतन करना यह परमार्थदृष्टिवान पुरुषोंके लिये गौणतासे स्वस्वरूपका ही चिंतन है। 'सिद्धप्राभृत' में कहा है—

'जारिस सिद्ध सहावो, तारिस सहावो सव्वजीवाणं।
तम्हा सिद्धंतरुई, कायव्वा भव्वजीवेहिं ॥'

जैसा सिद्ध भगवानका आत्मस्वरूप है वैसा सब जीवोका आत्मस्वरूप है; इसलिये भव्य जीवोको सिद्धत्वमे रुचि कर्तव्य है।

इसी तरह श्री देवचन्द्रस्वामीने श्री वासुपूज्यके स्तवनमे कहा है कि 'जिनपूजा रे ते निजपूजना'।

यदि यथार्थ मूलदृष्टिसे देखे तो जिनकी पूजा वह आत्मस्वरूपका ही पूजन है।

स्वरूपाकांक्षी महात्माओने यों जिन भगवान तथा सिद्ध भगवानकी उपासनाको स्वरूपकी प्राप्तिका हेतु माना है। क्षीणमोह गुणस्थानपर्यंत यह स्वरूपचिंतन जीवके लिये प्रबल अवलंबन है। और फिर मात्र अकेला अध्यात्मस्वरूपचिन्तन जीवको व्यामोह उत्पन्न करता है; बहुतसे जीवोको शुष्कता प्राप्त कराता है, अथवा स्वेच्छाचारिता उत्पन्न करता है, अथवा उन्मत्त प्रलापदशा उत्पन्न करता है। भगवानके स्वरूपके ध्यानावलंबनसे भक्तिप्रधानदृष्टि होती है, और अध्यात्मदृष्टि गौण होती है। जिससे शुष्कता, स्वेच्छाचारिता और उन्मत्त प्रलापता नही होती, आत्मदशा बलवान हो जानेसे स्वाभाविक अध्यात्मप्रधानता होती है। आत्मा स्वाभाविक उच्च गुणोको भजता है। इसलिये शुष्कता आदि दोष उत्पन्न नही होते, और भक्तिमार्गके प्रति भी जुगुप्सित नही होता। स्वाभाविक आत्मदशा स्वरूपलीनताको प्राप्त करती जाती है। जहाँ अर्हंत आदिके स्वरूपध्यानके आलंबनके बिना वृत्ति आत्माकारता भजती है, वहाँ[1]········ [अपूर्ण]

(२)

वीतराग स्तवन

[2]वीतरागोंमे ईश्वर ऐसे ऋषभदेव भगवान मेरे स्वामी है। इसलिये अब मैं दूसरे पतिकी इच्छा नही करती, क्योकि ये प्रभु रीझनेके बाद साथ नही छोड़ते। इन प्रभुका योग प्राप्त होना उसको आदि है; परंतु वह योग कभी भी निवृत्त नही होता, इसलिये अनन्त है।

---

१. आनन्दघन तीर्थंकर स्तवनावलीका यह विवेचन लिखते हुए इस जगह अपूर्ण छोड दिया गया है।—संशोधक

२. श्री ऋषभजिनस्तवन—

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहु रे कन्त।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनन्त ॥ऋषभ० १
कोई कंत कारण काष्ठभक्षण करे रे, मिलशुं कंतने धाय।
ए मेळो नवि कहिये संभवे रे, मेळो ठाम न ठाय ॥ऋषभ० ३
कोई पतिरंजन अति घणुं तप करे रे, पतिरंजन तनताप।
ए पतिरंजन में नवि चित्त धर्युं रे, रंजन धातु मेळाप ॥ऋषभ० ४

जगतके भावोंसे उदासीन होकर चैतन्यवृत्ति शुद्ध चैतन्यस्वभावमे समवस्थित भगवानमें प्रीतिमान हुई, उसका आनन्दघनजी हर्ष प्रदर्शित करते हैं।

अपनी श्रद्धा नामकी सखीको आनन्दघनजीकी चैतन्यवृत्ति कहती है—"हे सखी ! मैंने ऋषभदेव भगवानसे लग्न किया है, और ये भगवान मुझे सबसे प्यारे है। ये भगवान मेरे पति हुए है, इसलिये अब मैं दूसरे किसी भी पतिकी इच्छा करूँ ही नहीं। क्योंकि अन्य सब जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोंसे आकुल-व्याकुल हैं, क्षणभरके लिये भी सुखी नहीं हैं; ऐसे जीवको पति बनानेसे मुझे सुख कहाँसे हो सकता है ? भगवान ऋषभदेव तो अनन्त अव्याबाध सुखसमाधिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये उनका आश्रय लूँ तो मुझे उसी वस्तुकी प्राप्ति हो। यह योग वर्तमानमे प्राप्त होनेसे हे सखी ! मुझे परमशीतलता हुई। दूसरे पतिका तो किसी समय वियोग भी हो जाये, परन्तु मेरे इन स्वामीका तो किसी भी समय वियोग होता ही नहीं। जबसे ये स्वामी प्रसन्न हुए हैं तबसे किसी भी दिन संग नहीं छोड़ते। इन स्वामीके योगके स्वभावको सिद्धान्तमे 'सादि-अनन्त' अर्थात् इस योगके होनेकी आदि है, परन्तु किसी दिन इनका वियोग होनेवाला नहीं है, इसलिये अनन्त है, ऐसा कहा है; इसलिये अब मुझे कभी भी इन पतिका वियोग होगा ही नहीं ॥१॥

हे सखी ! इस जगतमे पतिका वियोग न होनेके लिये स्त्रियाँ जो नाना प्रकारके उपाय करती हैं वे उपाय सच्चे नही हैं, और इस तरह मेरे पतिकी प्राप्ति नही होती। उन उपायोंके मिथ्यापनको बतलानेके लिये उनमेसे थोडेसे उपाय तुझे बताती हूँ:—कोई एक स्त्री तो पतिके साथ काष्ठमे जल जानेकी इच्छा करती है, कि जिससे पतिके साथ मिलाप ही बना रहे; परतु उस मिलापका कुछ संभव नही है, क्योंकि वह पति तो अपने कर्मानुसार उसे जहाँ जाना था वहाँ चला गया। और जो स्त्री सती होकर मिलापकी इच्छा करती है वह स्त्री भी मिलापके लिये एक चितामे जलकर मरनेकी इच्छा करती है तो भी वह अपने कर्मानुसार देहको प्राप्त होनेवाली है; दोनों एक ही जगह देह धारण करे, और पति-पत्नीरूपसे योग प्राप्त-कर निरंतर सुख भोगे ऐसा कोई नियम नही है। इसलिये उस पतिका वियोग हुआ, और उसका योग भी असंभव रहा, ऐसे पतिके मिलापको मैंने झूठा माना है, क्योंकि उसका ठौर-ठिकाना कुछ नही है।

अथवा प्रथम पदका यह अर्थ भी होता है कि परमेश्वररूप पतिकी प्राप्तिके लिये कोई काष्ठका भक्षण करता है, अर्थात् पंचाग्निकी धूनी जलाकर उसमे काष्ठ होमकर उस अग्निका परिषह सहन करता है, और इससे ऐसा समझता है कि परमेश्वररूप पतिको पा लेगे, परंतु यह समझना मिथ्या है; क्योंकि पंचाग्नि तापनेमे उसकी प्रवृत्ति है; उस पतिका स्वरूप जानकर, उस पतिके प्रसन्न होनेके कारणोको जान-कर उन कारणोकी उपासना वह नही करता, इसलिये वह परमेश्वररूप पतिको कहाँसे पायेगा ? उसकी मतिका जिस स्वभावमे परिणमन हुआ है उसी प्रकारकी गतिको वह पायेगा, जिससे उस मिलापका कोई ठौर-ठिकाना नही है ॥३॥

हे सखी ! कोई पतिको रिझानेके लिये अनेक प्रकारके तप करती है, परतु वह मात्र शरीरको कष्ट है। इसे पतिको राजी करनेका मार्ग मैंने समझा नही है। पतिको रजन करनेके लिये तो दोनोंकी धातुओं-का मिलाप होना चाहिये। कोई स्त्री चाहे जितने कष्टसे तपश्चर्या करके अपने पतिको रिझानेकी इच्छा करे तो भी जब तक वह स्त्री अपनी प्रकृतिको पतिकी प्रकृतिके स्वभावानुसार न कर सके तब तक प्रकृति

कोई कहे लीला रे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मन आश।
दोषरहितने लीला नवि घटे रे, लीला दोष विलास ॥ऋषभ० ५

चित्तप्रसन्ने रे पूजन फळ कह्यु रे, पूजा अखंडित एह।
कपटरहित थई आतम अरपणा रे, आनन्दघन पदरेह ॥ऋषभ० ६

की प्रतिकूलताके कारण वह पति प्रसन्न होता ही नहीं है, और उस स्त्रीको मात्र अपने शरीरमें क्षुधा आदि कष्टोंकी प्राप्ति होती है। इसी तरह किसी मुमुक्षुकी वृत्ति भगवानको पतिरूपसे प्राप्त करनेकी हो तो वह भगवानके स्वरूपानुसार वृत्ति न करे और अन्य स्वरूपमें रुचिमान होते हुए अनेक प्रकारका तप करके कष्टका सेवन करे, तो भी वह भगवानको नहीं पाता; क्योंकि जैसे पति-पत्नीका सच्चा मिलाप, और सच्ची प्रसन्नता धातुके एकत्वमें है वैसे हे सखी ! भगवानमें पतिभावकी इस वृत्तिको स्थापन करके उसे यदि अचल रखना हो तो उस भगवानके साथ धातुमिलाप करना ही योग्य है; अर्थात् वे भगवान जिस शुद्धचैतन्यधातुरूपसे परिणमित हुए हैं वैसी शुद्धचैतन्यवृत्ति करनेसे ही उस धातुमेंसे प्रतिकूल स्वभाव निवृत्त होनेसे ऐक्य होना संभव है; और उसी धातुमिलापसे उस भगवानरूप पतिकी प्राप्तिका किसी भी समय वियोग नहीं होगा ॥४॥

हे सखी ! कोई फिर ऐसा कहता है कि यह जगत ऐसे भगवानकी लीला है कि जिसके स्वरूपको पहचाननेका लक्ष्य नहीं हो सकता; और वह अलक्ष्य भगवान सबकी इच्छा पूर्ण करता है; इसलिये वह यों समझकर इस जगतको भगवानकी लीला मानकर, उस भगवानकी उस स्वरूपसे महिमा गानेमें ही अपनी इच्छा पूर्ण होगी, (अर्थात् भगवान प्रसन्न होकर उसमें लग्नता करेगा) ऐसा मानता है, परंतु यह मिथ्या है, क्योंकि वह भगवानके स्वरूपके अज्ञानसे ऐसा कहता है।

जो भगवान अनंत ज्ञानदर्शनमय सर्वोत्कृष्ट सुखसमाधिमय है, वह भगवान इस जगतका कर्त्ता कैसे हो सकता है ? और लीलाके लिये प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? लीलाकी प्रवृत्ति तो सदोषमें ही संभव है। जो पूर्ण होता है वह कुछ इच्छा ही नहीं करता। भगवान तो अनंत अव्याबाध सुखसे पूर्ण है, उसमें अन्य कल्पनाका अवकाश कहाँसे हो ? लीलाकी उत्पत्ति कुतूहलवृत्तिसे होती है। वैसी कुतूहलवृत्ति तो ज्ञान-सुखकी अपरिपूर्णतासे ही होती है। भगवानमें तो वे दोनों (ज्ञान और सुख) परिपूर्ण हैं, इसलिये उसकी प्रवृत्ति जगतको रचनेरूप लीलामें हो ही नहीं सकती। यह लीला तो दोषका विलास है और सरागीको ही उसका संभव है। जो सरागी होता है वह द्वेषसहित होता है, और जिसे ये दोनों होते हैं, उसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सभी दोषोंका होना संभव है। इसलिये यथार्थ दृष्टिसे देखते हुए तो लीला दोषका ही विलास है, और ऐसे दोषविलासकी इच्छा तो अज्ञानीको ही होती है। विचारवान मुमुक्षु भी ऐसे दोषविलासकी इच्छा नहीं करते, तो अनंत ज्ञानमय भगवान उसकी इच्छा क्यों करेंगे ? इसलिये जो उस भगवानके स्वरूपको लीलाके कर्तृत्वभावसे समझता है, वह भ्रांति है; और उस भ्रांतिका अनुसरण करके भगवानको प्रसन्न करनेका जो मार्ग वह अपनाता है वह भी भ्रांतिमय ही है; जिससे भगवानरूप पतिकी उसे प्राप्ति नहीं होती ॥५॥

हे सखी ! पतिको प्रसन्न करनेके तो कई प्रकार हैं। अनेक प्रकारके शब्द, स्पर्श आदिके भोगसे पतिकी सेवा की जाती है। ऐसे अनेक प्रकार हैं; परंतु इन सबमें चित्तप्रसन्नता ही सबसे उत्तम सेवा है, और वह ऐसी सेवा है जो कभी खंडित नहीं होती। कपटरहित होकर आत्मार्पण करके पतिकी सेवा करनेसे अत्यंत आनंदके समूहकी प्राप्तिका भाग्योदय होता है।

भगवानरूप पतिकी सेवाके अनेक प्रकार हैं। द्रव्यपूजा, भावपूजा और आज्ञापूजा। द्रव्यपूजाके भी अनेक भेद हैं; परंतु उनमें सर्वोत्कृष्ट पूजा तो चित्तप्रसन्नता अर्थात् उस भगवानमें चैतन्यवृत्तिका परम हर्षसे एकत्वको प्राप्त करना ही है; इसीमें सब साधन समा जाते हैं। यही अखंडित पूजा है, क्योंकि यदि चित्त भगवानमें लीन हो तो दूसरे योग भी चित्ताधीन होनेसे भगवानके अधीन ही हैं; और चित्तकी लीनता भगवानमेंसे दूर न हो तो ही जगतके भावोंमें उदासीनता रहती है और उनमें ग्रहण-त्यागरूप विकल्पकी प्रवृत्ति नहीं होती; जिससे वह सेवा अखंड ही रहती है।

जब तक चित्तमें दूसरा भाव हो तब तक यदि यह प्रदर्शित करें कि आपके सिवाय दूसरेमे मेरा कोई भी भाव नही है तो यह वृथा ही है और कपट है। और जब तक कपट है तब तक भगवानके चरणों में आत्मार्पण कहाँसे हो? इसलिये जगतके सभी भावोंसे विराम प्राप्त करके, वृत्तिको शुद्ध चैतन्य भावयुक्त करनेसे ही उस वृत्तिमे अन्यभाव न रहनेसे शुद्ध कही जाती है और वह निष्कपट कही जाती है। ऐसी चैतन्यवृत्ति भगवानमे लीन की जाये वही आत्मार्पणता कही जाती है।

धन-धान्य आदि सभी भगवानको अर्पित किये हो; परन्तु यदि आत्मा अर्पण न किया हो अर्थात् उस आत्माकी वृत्तिको भगवानमे लीन न किया हो तो उस धन-धान्य आदिका अर्पण करना सकपट ही है, क्योंकि अर्पण करनेवाला आत्मा अथवा उसकी वृत्ति तो अन्यत्र लीन है। जो स्वयं अन्यत्र लीन है उसके अर्पण किये हुए दूसरे जड पदार्थ भगवानमे कहाँसे अर्पित हो सकेंगे? इसलिये भगवानमे चित्तवृत्तिकी लीनता ही आत्म-अर्पणता है, और यही आनदघनपदकी रेखा अर्थात् परम अव्याबाध सुखमय मोक्षपदकी निशानी है। अर्थात् जिसे ऐसी दशाकी प्राप्ति हो जाये वह परम आनदघनस्वरूप मोक्षको प्राप्त होगा। ऐसे लक्षण ही लक्षण हैं ॥६॥ ऋषभजिनस्तवन संपूर्ण।

(२)[1]

प्रथम स्तवनमे भगवानमे वृत्तिके लीन होनेरूप हर्ष बताया, परन्तु वह वृत्ति अखंड और पूर्णरूपसे लीन हो तो ही आनंदघनपदकी प्राप्ति होती है, जिससे उस वृत्तिकी पूर्णताको इच्छा करते हुए आनदघन-जी दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथका स्तवन करते हैं। जो पूर्णताकी इच्छा है, उसे प्राप्त होनेमे जो जो विघ्न देखे उन्हे आनंदघनजी सक्षेपमे इस दूसरे स्तवनमें भगवानसे निवेदन करते हैं, और अपने पुरुषत्वको मद देखकर खेदखिन्न होते है, ऐसा बताकर, पुरुषत्व जाग्रत रहे ऐसी भावनाका चिंतन करते हैं।

हे सखी! दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ भगवानने पूर्ण लीनताका जो मार्ग प्रदर्शित किया है अर्थात् जो सम्यक् चारित्ररूप मार्ग प्रकाशित किया है वह, देखता हूँ, तो अजित अर्थात् जो मेरे जैसे निर्बल वृत्तिके मुमुक्षुसे जीता न जा सके ऐसा है, भगवानका नाम अजित है वह तो सत्य है; क्योंकि जो बडे बड़े पराक्रमी पुरुष कहे जाते हैं, उनसे भी जिस गुणोंके धामरूप पंथका जय नही हुआ, उसका भगवानसे जय किया है, इसलिये भगवानका अजित नाम तो सार्थक ही है। और अनत गुणोके धामरूप उस मार्गको जीतनेसे भगवानका गुणधामत्व सिद्ध है। हे सखी! परन्तु मेरा नाम पुरुष कहा जाता है, वह सत्य नहीं है। भगवानका नाम अजित है। जैसे वह तद्रूप गुणके कारण है वैसे मेरा नाम पुरुष तद्रूप गुणके कारण नही है। क्योंकि पुरुष तो उसे कहा जाता है कि जो पुरुषार्थसहित हो—स्वपराक्रमसहित हो, परन्तु मैं तो वैसा नही हूँ। इसलिये भगवानसे कहता हूँ कि हे भगवान! आपका नाम जो अजित है वह तो सच्चा है, परन्तु मेरा नाम जो पुरुष है वह तो झूठा है। क्योंकि आपने राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोका जय किया है, इसलिये आप अजित कहे जाने योग्य हैं, परन्तु उन्ही दोषोंने मुझे जीत लिया है, इसलिये मेरा नाम पुरुष कैसे कहा जाये? ॥१॥

हे सखी! उस मार्गको पानेके लिये दिव्य नेत्र चाहिये। चर्मनेत्रोंसे देखते हुए तो समस्त संसार

१. दूसरा श्री अजितजिनस्तवन—

पंथडो निहाळुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम।
जे तें जीत्या रे तेणे हुं जीतियो रे, पुरुष किश्युं मुज नाम? ॥ पंथडो० १
चरम नयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोवीये रे, नयण ते दिव्य विचार ॥ पंथडो० २

भूला हुआ है। उस परमतत्त्वका विचार होनेके लिये जो दिव्य नेत्र चाहिये, उस दिव्य नेत्रका निश्चयसे वर्तमानकालमें वियोग हो गया है।

हे सखी ! उस अजित भगवानने अजित होनेके लिये अपनाया हुआ मार्ग कुछ इन चर्मचक्षुओंसे दिखायी नही देता। क्योकि वह मार्ग दिव्य है, और अंतरात्मदृष्टिसे ही उसका अवलोकन किया जा सकता है। जिस तरह एक गाँवसे दूसरे गाँवमे जानेके लिये पृथ्वीतलपर सड़क वगैरह मार्ग होते हैं, उसी तरह यह कुछ एक गाँवसे दूसरे गाँव जानेके मार्गकी तरह बाह्य मार्ग नही है, अथवा चर्मचक्षुसे देखनेपर वह दीखने योग्य नही है, चर्मचक्षुसे वह अतींद्रिय मार्ग कुछ दिखायी नही देता ॥२॥ [अपूर्ण]

---

७५४ संवत् १९५३

हे ज्ञातपुत्र भगवन् ! कालकी बलिहारी है। इस भारतके हीनपुण्य मनुष्योंको तेरा सत्य, अखंड और पूर्वापर अविरुद्ध शासन कहाँसे प्राप्त हो ? उसके प्राप्त होनेमे इस प्रकारके विघ्न उत्पन्न हुए हैं—तुझसे उपदिष्ट शास्त्रोंकी कल्पित अर्थसे विराधना की; कितनोका तो समूल ही खंडन कर दिया, ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारणरूप जो तेरी प्रतिमा है, उससे कटाक्षदृष्टिसे लाखो लोग फिर गये, तेरे बादमे परंपरासे जो आचार्य पुरुष हुए उनके वचनोमे और तेरे वचनोमे भी शंका डाल दी। एकातका उपयोग करके तेरे शासनकी निंदा की।

हे शासन देवी ! कुछ ऐसी सहायता दे कि जिससे मै दूसरोको कल्याणके मार्गका बोध कर सकूँ—उसे प्रदर्शित कर सकूँ,—सच्चे पुरुष प्रदर्शित कर सकते हैं। सर्वोत्तम निर्ग्रंथ-प्रवचनके बोधकी ओर मोड़-कर उन्हे इन आत्मविराधक पंथोसे पीछे खीचनेमे सहायता दे ! ! तेरा धर्म है कि समाधि और बोधिमे सहायता देना। [निजी]

---

७५५ सवत् १९५३

ॐ नमः

अनंत प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे आकुल-व्याकुल जीवोकी उन दुःखोंसे छूटनेकी अनेक प्रकारसे इच्छा होने हुए भी उनसे वे मुक्त नही हो सकते, इसका क्या कारण है ? ऐसा प्रश्न अनेक जीवोंको हुआ करता है, परन्तु उसका यथार्थ समाधान किसी विरल जीवको ही प्राप्त होता है। जब तक दुःखका मूल कारण यथार्थरूपसे जाननेमे न आया हो, तब तक उसे दूर करनेके लिये चाहे जैसा प्रयत्न किया जाये, तो भी दुःखका क्षय नही हो सकता, और उस दुःखके प्रति चाहे जितनी अरुचि, अप्रियता और अनिच्छा हो, तो भी उसका अनुभव करना ही पडता है। अवास्तविक उपायसे उस दुःखको मिटानेका प्रयत्न किया जाये, और वह प्रयत्न असह्य परिश्रमपूर्वक किया गया हो, फिर भी वह दुःख न मिटनेसे दुःख मिटानेके इच्छुक मुमुक्षुको अत्यन्त व्यामोह हो जाता है, अथवा हुआ करता है कि इसका क्या कारण ? यह दुःख दूर क्यो नही होता ? किसी भी तरह मुझे उस दुःखकी प्राप्ति इच्छित नही होनेपर भी, स्वप्नमे भी उसके प्रति कुछ भी वृत्ति न होनेपर भी, उसकी प्राप्ति हुआ करती है, और मै जो जो प्रयत्न करता हूँ वे सब निष्फल जाकर दुःखका अनुभव किया ही करता हूँ, इसका क्या कारण ?

क्या यह दुःख किसीका मिटता ही नही होगा ? दुःखी होना ही जीवका स्वभाव होगा ? क्या कोई एक जगतकर्त्ता ईश्वर होगा, जिसने इसी तरह करना योग्य समझा होगा ? क्या यह बात भवितव्यताके अधीन होगी ? अथवा किन्हीं मेरे पूर्वकृत अपराधोका फल होगा ? इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्प जो जीव मनसहित देहधारी हैं वे किया करते हैं, और जो जीव मनरहित है वे अव्यक्तरूपसे दुःखका अनुभव करते हैं और वे अव्यक्तरूपसे उस दुःखके मिटनेकी इच्छा रखा करते हैं।

इस जगतमे प्राणी मात्रकी व्यक्त अथवा अव्यक्त इच्छा भी यही है, कि किसी भी प्रकारसे मुझे दु:ख न हो, और सर्वथा सुख हो। इसीके लिये प्रयत्न होनेपर भी यह दु:ख क्यो नही मिटता ? ऐसा प्रश्न अनेकानेक विचारवानोको भी भूतकालमे हुआ था, वर्तमानकालमे भी होना है, और भविष्यकालमें भी होगा। उन अनंतानंत विचारवानोंमेसे अनत विचारवानोने उसका यथार्थ समाधान पाया, और दु:खसे मुक्त हुए। वर्तमानकालमे भी जो जो विचारवान यथार्थ समाधान प्राप्त करते हैं, वे भी तथारूप फलको पाते है और भविष्यकालमे भी जो जो विचारवान यथार्थ समाधान प्राप्त करेंगे वे सब तथारूप फल प्राप्त करेंगे इसमे संशय नही है।

शरीरका दु:ख मात्र औषध करनेसे मिट जाता होता, मनका दु:ख धन आदिके मिलनेसे दूर हो जाता होता, और बाह्य संसर्ग सम्बन्धी दु:ख मनपर कुछ असर न डाल सकता होता तो दु:ख मिटनेके लिये जो जो प्रयत्न किये जाते है वे सभी जीवोके प्रयत्न सफल हो जाते। परन्तु जब ऐसा होता दिखायी न दिया तभी विचारवानोको प्रश्न उत्पन्न हुआ कि दु:ख मिटनेका कोई दूसरा ही उपाय होना चाहिये; यह जो उपाय किया जा रहा है वह अयथार्थ है, और सारा श्रम वृथा है। इसलिये उस दु:खका मूल कारण यदि यथार्थ-रूपसे जाननेमे आ जाये और तदनुसार ही उपाय किया जाये, तो दु:ख मिटता है, नही तो मिटता ही नही।

जो विचारवान दु:खके यथार्थ मूल कारणका विचार करनेके लिये कटिबद्ध हुए, उनमे भी किसीको ही उसका यथार्थ समाधान हाथ लगा और बहुतसे यथार्थ समाधान न पानेपर भी मतिव्यामोह आदि कारणोंसे, वे यथार्थ समाधान पा गये हैं ऐसा मानने लगे और तदनुसार उपदेश करने लगे और बहुतसे लोग उनका अनुसरण भी करने लगे। जगतमे भिन्न भिन्न धर्ममत देखनेमे आते है उनकी उत्पत्तिका मुख्य कारण यही है।

'धर्मसे दु:ख मिटता है', ऐसी बहुतसे विचारवानोकी मान्यता हुई। परन्तु धर्मका स्वरूप समझनेमे एक दूसरेमे बहुत अन्तर पड गया। बहुतसे तो अपने मूल विषयको चूक गये, और बहुतसे तो उस विषय-मे मतिके थक जानेसे अनेक प्रकारसे नास्तिक आदि परिणामोको प्राप्त हो गये।

दु:खके मूल कारण और उनकी किस तरह प्रवृत्ति हुई, इसके सम्बन्धमे यहाँ थोड़ेसे मुख्य अभिप्राय सक्षेपमे बताते है।

दु:ख क्या है ? उसके मूल कारण क्या हैं ? और वे किस तरह मिट सकते है ? तत्संबंधी जिनो अर्थात् वीतरागोंने अपना जो मत प्रदर्शित किया है उसे यहाँ सक्षेपमे कहते है —

अब, वह यथार्थ है या नही ? उसका अवलोकन करते हैं —

जो उपाय बताये है वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, अथवा तीनोका एक नाम 'सम्यक्मोक्ष' है।

उन वीतरागोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें सम्यग्दर्शनकी मुख्यता अनेक स्थलों-मे कही है; यद्यपि सम्यग्ज्ञानसे ही सम्यग्दर्शनकी भी पहचान होती है, तो भी सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान ससार अर्थात् दु:खका हेतुरूप होनेसे सम्यग्दर्शनकी मुख्यताको ग्रहण किया है।

ज्यो ज्यों सम्यग्दर्शन शुद्ध होता जाता है, त्यों त्यों सम्यक्चारित्रके प्रति वीर्य उल्लसित होता जाता है, और क्रमसे सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होनेका समय आ जाता है, जिससे आत्मामे स्थिर स्वभाव सिद्ध होता जाता है, और क्रमसे पूर्ण स्थिर स्वभाव प्रगट होता है, और आत्मा निजपदमे लीन होकर

सर्व कर्मकलकसे रहित होनेसे एक शुद्ध आत्मस्वभावरूप मोक्षमे परम अव्याबाध सुखके अनुभवसमुद्रमें स्थित हा जाता है ।

सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे जैसे ज्ञान सम्यक्स्वभावको प्राप्त होता है, यह सम्यग्दर्शनका परम उपकार है, वैसे ही सम्यग्दर्शन क्रमसे शुद्ध होता हुआ पूर्ण स्थिर स्वभाव सम्यक्चारित्रको प्राप्त हो इसके लिये सम्यग्ज्ञानके बलकी उसे सच्ची आवश्यकता है। उस सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय वीतरागश्रुत और उस श्रुततत्त्वोपदेष्टा महात्मा है ।

वीतरागश्रुतके परम रहस्यको प्राप्त हुए असंग तथा परम करुणाशील महात्माका योग प्राप्त होना अतिशय कठिन है। महद्भाग्योदयके योगसे ही वह योग प्राप्त होता है इसमे संशय नही है। कहा है कि :—

तहा रूवाणं समणाणं—

उन श्रमण महात्माओंके प्रवृत्तिलक्षण परमपुरुषने इस प्रकार कहे हैं :—

उन महात्माओंके प्रवृत्तिलक्षणोसे अभ्यंतरदशाके चिह्न निर्णीत किये जा सकते हैं, यद्यपि प्रवृत्ति-लक्षणोकी अपेक्षा अभ्यतरदशा सबधी निश्चय अन्य भी निकलता है। किसी एक शुद्ध वृत्तिमान मुमुक्षुको वैसी अभ्यंतरदशाकी परीक्षा आती है ।

ऐसे महात्माओंके समागम और विनयकी क्या जरूरत है ? चाहे जैसा भी पुरुष हो, परन्तु जो अच्छी तरह शास्त्र पढ़कर सुना दे ऐसे पुरुषसे जीव कल्याणका यथार्थ मार्ग क्यों प्राप्त न कर सके ? ऐसी आशंकाका समाधान किया जाता है :—

ऐसे महात्मा पुरुषोका योग अतीव दुर्लभ है। अच्छे देशकालमे भी ऐसे महात्माओका योग दुर्लभ है; तो ऐसे दुःखमुख्य कालमे वैसा हो इसमे कुछ कहना ही नही रहता। कहा है कि :—

यद्यपि वैसे महात्मा पुरुषोंका क्वचित् योग मिलता है, तो भी शुद्ध वृत्तिमान मुमुक्षु हो तो वह उनके मुहूर्त्तमात्रके समागममे अपूर्व गुणको प्राप्त कर सकता है। जिन महापुरुषोके वचन-प्रतापसे चक्रवर्ती मुहूर्तमात्रमे अपना राजपाट छोड़कर भयंकर वनमे तपश्चर्या करनेके लिये चल निकलते थे, उन महात्मा पुरुषोंके योगसे अपूर्व गुण क्यो प्राप्त न हो ?

अच्छे देशकालमे भी क्वचित् वैसे महात्माओका योग हो जाता है, क्योंकि वे अप्रतिबद्ध विहारी होते हैं। तब ऐसे पुरुषोका नित्य संग रहना किस तरह हा सकता है कि जिससे मुमुक्षुजीव सब दुःखोका क्षय करनेके अनन्य कारणोकी पूर्णरूपसे उपासना कर सके ? भगवान जिनने उसके मार्गका अवलोकन इस तरह किया है :—

नित्य उनके समागममे आज्ञाधीन रहकर प्रवृत्ति करनी चाहिये, और इसके लिये बाह्याभ्यतर परिग्रह आदिका त्याग करना ही योग्य है।

जो सर्वथा वैसा त्याग करनेके लिये समर्थ नहीं है, उन्हे इस प्रकार देशत्यागपूर्वक प्रवृत्ति करना योग्य है। उसके स्वरूपका इस तरह उपदेश किया है :—

उस महात्मा पुरुषके गुणोंकी अतिशयतासे, सम्यक्आचरणसे, परमज्ञानसे, परमशांतिसे, परम-निवृत्तिसे मुमुक्षुजीवकी अशुभ वृत्तियाँ परावर्तित होकर शुभस्वभावको पाकर स्वरूपके प्रति मुड़ती जाती है।

उस पुरुषके वचन आगमस्वरूप है, तो भी वारंवार अपनेसे वचनयोगकी प्रवृत्ति न होनेसे तथा निरंतर समागमका योग न बननेसे, तथा उस वचनका श्रवण स्मरणमें तादृश न रह सकनेसे, तथा बहुतसे भावोंका स्वरूप जाननेमे परावर्तनकी जरूरत होनेसे, और अनुप्रेक्षाके बलकी वृद्धिके लिये वीतरागश्रुत-वीतरागशास्त्र एक बलवान उपकारी साधन है। यद्यपि प्रथम तो वैसे महात्मापुरुषोके द्वारा ही उसका रहस्य जानना चाहिये, फिर विशुद्धदृष्टि हो जानेपर वह श्रुत महात्माके समागमके अंतरायमे भी बलवान उपकार करता है, अथवा जहाँ केवल वैसे महात्माओंका योग हो ही नही सकता, वहाँ भी विशुद्ध दृष्टिमानको वीतरागश्रुत परमापकारी है, और इसीलिये महापुरुषोने एक श्लोकसे लेकर द्वादशाग पर्यंत रचना की है।

उस द्वादशांगके मूल उपदेष्टा सर्वज्ञ वीतराग हैं, कि जिनके स्वरूपका महात्मा पुरुष निरन्तर ध्यान करते हैं, और उस पदको प्राप्तिमे ही सर्वस्व समाया हुआ है, ऐसा प्रतीतिसे अनुभव करते है। सर्वज्ञ वीतरागके वचनोको धारण करके महान आचार्योंने द्वादशागीकी रचना की थी, और तदाश्रित आज्ञाकारी महात्माओने दूसरे अनेक निर्दोष शास्त्रोकी रचना की है। द्वादशागके नाम इस प्रकार है—

(१) आचाराग, (२) सूत्रकृताग, (३) स्थानाग, (४) समवायाग, (५) भगवती, (६) ज्ञाताधर्म-कथाग, (७) उपासकदशाग, (८) अतकृतदशांग, (९) अनुत्तरौपपातिक, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद।

उनमे इस प्रकारसे निरूपण है :—

कालदोषसे उनमेसे बहुतसे स्थलोका विसर्जन हो गया और मात्र अल्प स्थल रहे हैं।

जो अल्प स्थल रहे है उन्हे एकादशागके नामसे श्वेताम्बर आचार्य कहते है। दिगम्बर इससे अनुमत न होते हुए यो कहते है कि :—

विसंवाद या मताग्रहकी दृष्टिसे उसमें दोनो सम्प्रदाय भिन्न भिन्न मार्गकी भाँति देखनेमे आते हैं। दीर्घदृष्टिसे देखनेपर उसके भिन्न ही कारण देखनेमे आते है।

चाहे जैसा हो, परंतु इस प्रकारसे दोनों बहुत पासमे आ जाते हैं :—

विवादके अनेक स्थल तो अप्रयोजन जैसे है; प्रयोजन जैसे हैं वे भी परोक्ष है।

अपात्र श्रोताको द्रव्यानुयोग आदि भावोका उपदेश करनेसे नास्तिक आदि भाव उत्पन्न होनेका अवसर आता है, अथवा शुष्कज्ञानी होनेका अवसर आता है।

अब यह प्रस्तावना यहाँ संक्षिप्त करते है, और जिस महापुरुषने—

यदि इस तरह सुप्रतीत हो तो

[1]हिंसारहिए धम्मे अट्ठारस दोस विवज्जिए देवे।
निग्गंथे पवयणे सद्दहणं होई सम्मत्तं ॥१॥

१ भावार्थ—हिंसारहित धर्म, अठारह दोषोसे रहित देव और निर्ग्रंथप्रवचनमे श्रद्धा करना सम्यक्त्व है।

तथा

जीवके लिये मोक्षमार्ग है, नही तो उन्मार्ग है।

सर्व दुःखोंका क्षय करनेवाला एक परम सदुपाय,

सर्व जीवोंको हितकारी, सर्व दुःखोंके क्षयका एक आत्यंतिक उपाय, परम सदुपायरूप वीतरागदर्शन है। उसकी प्रतीतिमे, उसके अनुसरणसे, उसकी आज्ञाके परम अवलंबनसे जीव भवसागर तर जाता है। 'समवायांग सूत्र' में कहा है :—

आत्मा क्या है ? कर्म क्या है ? उसका कर्त्ता कौन है ? उसका उपादान कौन है ? निमित्त कौन है ? उसकी स्थिति कितनी है ? कर्त्ता कैसे है ? किस परिमाणमे वह बाँध सकता है ? इत्यादि भावोंका स्वरूप जैसा निर्ग्रंथसिद्धांतमें स्पष्ट, सूक्ष्म और संकलनापूर्वक है वैसा किसी भी दर्शनमे नहीं है। [अपूर्ण]

---

७५६ संवत् १९५३

जैनमार्गविवेक

अपने समाधानके लिये यथाशक्ति जैनमार्गको जाना है, उसका सक्षेपमे कुछ भी विवेक (विचार) करता हूँ —

वह जैनमार्ग जिस पदार्थका अस्तित्व है उसका अस्तित्व और जिसका अस्तित्व नही है उसका नास्तित्व मानता है।

जिसका अस्तित्व है, वह दो प्रकारसे है, ऐसा कहते है . जीव और अजीव। ये पदार्थ स्पष्ट भिन्न हैं। कोई अपने स्वभावका त्याग नही कर सकता।

अजीव रूपी और अरूपी दो प्रकारसे हैं।

जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव तीनो कालोंमे भिन्न भिन्न है। ज्ञान, दर्शन आदि लक्षणोसे जीव पहचाना जाता है। प्रत्येक जीव असख्यात प्रदेशकी अवगाहनासे रहता है। संकोच-विकासका भाजन है। अनादिसे कर्मग्राहक है। तथारूप स्वरूप जाननेसे, प्रतीतिमे लानेसे, स्थिर परिणाम होनेपर उस कर्मकी निवृत्ति होती है। स्वरूपसे जीव वर्ण, गंध, रस और स्पर्शसे रहित है। अजर, अमर और शाश्वत वस्तु है। [अपूर्ण]

७५७

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

मोक्षसिद्धांत

अनंत अव्याबाध सुखमय परमपदकी प्राप्तिके लिये भगवान सर्वज्ञद्वारा निरूपित 'मोक्षसिद्धांत' उस भगवानको परम भक्तिसे नमस्कार करके कहता हूँ।

द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और धर्मकथानुयोगके महानिधि वीतराग-प्रवचनको नमस्कार करता हूँ।

कर्मरूप वैरीका पराजय करनेवाले अर्हंत भगवान, शुद्ध चैतन्यपदमे सिद्धालयमें विराजमान सिद्ध भगवान; ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन मोक्षके पाँच आचारोंका आचरण करनेवाले और अन्य

भव्य जीवोंको उस आचारमें प्रवृत्त करनेवाले आचार्य भगवान; द्वादशांगके अभ्यासी और उस श्रुतका शब्द, अर्थ और रहस्यसे अन्य भव्य जीवोंको अध्ययन करानेवाले उपाध्याय भगवान; और मोक्षमार्गका आत्मजागृतिपूर्वक साधन करनेवाले साधु भगवानको मै परम भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

श्री ऋषभदेवसे श्री महावीरपर्यंत भरतक्षेत्रके वर्तमान चौबीस तीर्थंकरोंके परम उपकारका मैं बारंबार स्मरण करता हूँ।

वर्तमानकालके चरम तीर्थंकरदेव श्रीमान वर्धमानजिनकी शिक्षासे अभी मोक्षमार्ग अस्तित्वमें है, उनके इस उपकारको सुविहित पुरुष बारंबार आश्चर्यमय देखते हैं।

कालदोषसे अपार श्रुतसागरके बहुतसे भागका विसर्जन होता गया और बिन्दुमात्र अथवा अल्पमात्र वर्तमानमे विद्यमान है।

अनेक स्थलोंके विसर्जन होनेसे, अनेक स्थलोंमे स्थूल निरूपण रहा होनेसे निर्ग्रंथ भगवानके उस श्रुतका पूर्ण लाभ, वर्तमान मनुष्योको इस क्षेत्रमे प्राप्त नही होता।

अनेक मतमतातर आदिके उत्पन्न होनेका हेतु भी यही है, और इसीलिये निर्मल आत्मतत्त्वके अभ्यासी महात्माओंकी अल्पता हो गई।

श्रुतके अल्प रह जानेपर भी, मतमतातर अनेक होनेपर भी, समाधानके कितने ही साधन परोक्ष होनेपर भी, महात्मा पुरुषोंके क्वचित् क्वचित् ही रहनेपर भी, हे आर्यजनों! सम्यग्दर्शन, श्रुतका रहस्यभूत परमपदका पंथ, आत्मानुभवके हेतु, सम्यक्चारित्र और विशुद्ध आत्मध्यान आज भी विद्यमान हैं, यह परम हर्षका कारण है।

वर्तमानकालका नाम दुःषमकाल है, इसलिये अनेक अंतरायोंसे, प्रतिकूलतासे, साधनकी दुर्लभता होनेसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति दुःखसे होती है, परंतु वर्तमानमे मोक्षमार्गका विच्छेद है, ऐसा सोचनेकी जरूरत नही है।

पंचमकालमे हुए महर्षियोंने भी ऐसा ही कहा है। तदनुसार भी यहाँ कहता हूँ।

सूत्र और दूसरे प्राचीन आचार्यों द्वारा तदनुसार रचे हुए अनेक शास्त्र विद्यमान हैं। सुविहित पुरुषोने तो हितकारी बुद्धिसे ही रचे हैं। किन्ही मतवादी, हठवादी और शिथिलताके पोषक पुरुषोंकी रची हुई कुछ पुस्तकें सूत्रसे अथवा जिनाचारसे मेल न खाती हो और प्रयोजनकी मर्यादासे बाह्य हों, उन पुस्तकोंके उदाहरणसे प्राचीन सुविहित आचार्योंके वचनोका उत्थापन करनेका प्रयत्न भवभीरू महात्मा नही करते, परन्तु उससे उपकार होता है, ऐसा समझकर उनका बहुत मान करते हुए यथायोग्य सदुपयोग करते है।

जिनदर्शनमे दिगंबर और श्वेताबर ये दो भेद मुख्य है। मतदृष्टिसे उनमे बड़ा अतर देखनेमे आता है। तत्त्वदृष्टिसे जिनदर्शनमे वैसा विशेष भेद मुख्यतः परोक्ष है; जो प्रत्यक्ष कार्यभूत हो सके उनमें वैसा भेद नहीं है। इसलिये दोनों सम्प्रदायोंमें उत्पन्न होनेवाले गुणवान पुरुष सम्यग्दृष्टिसे देखते हैं; और जैसे तत्त्वप्रतीतिका अन्तराय कम हो वैसे प्रवृत्ति करते हैं।

जैनाभाससे प्रवर्तित दूसरे अनेक मतमतांतर हैं, उनके स्वरूपका निरूपण करते हुए भी वृत्ति संकुचित होती है। जिनमे मूल प्रयोजनका भान नही है, इतना ही नही परन्तु मूल प्रयोजनसे विरुद्ध पद्धतिका अवलंबन रहा है उन्हे मुनित्वका स्वप्न भी कहाँसे हो? क्योकि मूल प्रयोजनको भूल कर क्लेशमे पड़े हैं, और अपनी पूज्यता आदिके लिये जीवोंको परमार्थमार्गमे अंतराय करते हैं।

वे मुनिका लिंग भी धारण किये हुए नही है, क्योंकि स्वकपोलरचनासे उनकी सारी प्रवृत्ति है। जिनागम अथवा आचार्यकी परंपराका नाम मात्र उनके पास है, वस्तुतः तो वे उससे पराङ्मुख ही हैं।

एक तुंबे जैसी और डोरे जैसी अत्यंत अल्प वस्तुके ग्रहण-त्यागके आग्रहसे भिन्न मार्ग खड़ा करके प्रवृत्ति करते है, और तीर्थका भेद करते हैं, ऐसे महामोहमूढ जीव लिंगाभासतासे भी आज वीतरागके दर्शनको घेर बैठे है, यही असंयतिपूजा नामका आश्चर्य लगता है।

महात्मा पुरुषोंकी अल्प भी प्रवृत्ति स्व-परको मोक्षमार्गसन्मुख करनेकी होती है। लिंगाभासी जीव मोक्षमार्गसे पराङ्मुख करनेमे अपने बलका प्रवर्तन देखकर हर्षित होते हैं, और यह सब कर्मप्रकृतिमे बढ़ते हुए अनुभाग और स्थिति-बंधके स्थानक है, ऐसा मै मानता हूँ। [अपूर्ण]

---

७५८ संवत् १९५३

द्रव्यप्रकाश

द्रव्य अर्थात् वस्तु, तत्त्व, पदार्थ। इसमे मुख्य तीन अधिकार हैं।

प्रथम अधिकारमें जीव और अजीव द्रव्यके मुख्य प्रकार कहे है।

दूसरे अधिकारमे जीव और अजीवका पारस्परिक संबंध और उससे जीवका हिताहित क्या है, उसे समझानेके लिये, उसके विशेष पर्यायरूपसे पाप पुण्य आदि दूसरे सात तत्त्वोंका निरूपण किया है, जो सात तत्त्व जीव और अजीव इन दो तत्त्वोमे समा जाते हैं।

तीसरे अधिकारमे यथास्थित मोक्षमार्ग प्रदर्शित किया है, कि जिसके लिये ही समस्त ज्ञानीपुरुषोका उपदेश है।

पदार्थके विवेचन और सिद्धातपर जिनकी नींव रखी गयी है, और उसके द्वारा जो मोक्षमार्गका प्रतिबोध करते है ऐसे छ दर्शन है—(१) बौद्ध, (२) न्याय, (३) साख्य, (४) जैन, (५) मीमासा और (६) वैशेषिक। वैशेषिकको यदि न्यायमे अंतर्भूत किया जाये तो नास्तिक विचारका प्रतिपादक चार्वाक दर्शन छट्ठा माना जाता है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमासा ये छ दर्शन वेद परिभाषामे माने गये हैं, उसकी अपेक्षा उपर्युक्त दर्शन भिन्न पद्धतिसे माने हैं इसका क्या कारण है ? ऐसा प्रश्न हो तो उसका समाधान यह है —

वेद परिभाषामे बताये हुए दर्शन वेदको मानते हैं, इसलिये उन्हे इस दृष्टिसे माना है, और उपर्युक्त क्रममें तो विचारकी परिपाटीके भेदसे माने है। जिससे यही क्रम योग्य है।

द्रव्य और गुणका अनन्यत्व-अविभक्तत्व अर्थात् प्रदेशभेद रहितत्व है, क्षेत्रांतर नही है। द्रव्यके नाशसे गुणका नाश और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश होता है ऐसा [1]ऐक्यभाव हैं। द्रव्य और गुणका भेद कहते हैं, सो कथनसे है, वस्तुसे नही है। संस्थान, संख्याविशेष आदिसे ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेद हो तो दोनों अचेतन हो जायें ऐसा सर्वज्ञ वीतरागका सिद्धात है। ज्ञानके साथ समवाय संबंधसे आत्मा ज्ञानी नही है। समवर्तित्व समवाय है।

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श परमाणु-द्रव्यके विशेष हैं। [अपूर्ण]

---

७५९ संवत् १९५३

यह अत्यंत सुप्रसिद्ध है कि प्राणीमात्रको दु ख प्रतिकूल और अप्रिय है और सुख अनुकूल तथा प्रिय है। उस दु खसे रहित होनेके लिये और सुखकी प्राप्तिके लिये प्राणीमात्रका प्रयत्न है।

प्राणीमात्रका ऐसा प्रयत्न होनेपर भी वे दु खका अनुभव करते हुए ही दृष्टिगोचर होते है। क्वचित् कुछ सुखका अंश किसी प्राणीको प्राप्त हुआ दीखता है, तो भी वह दुःखकी बहुलतासे देखनेमें आता है।

---

१. देखें आंक ७६६ 'पचास्तिकाय' ४६, ४८, ४९ और ५०।

प्राणीमात्रको दुःख अप्रिय होनेपर भी, और फिर उसे मिटानेके लिये उसका प्रयत्न रहने पर भी वह दुःख नही मिटता, तो फिर उस दुःखके दूर होनेका कोई उपाय ही नही है, ऐसा समझमे आता है; क्योंकि जिसमे सभीका प्रयत्न निष्फल हो वह बात निरुपाय ही होनी चाहिये, ऐसी यहाँ आशंका होती है।

इसका समाधान इस प्रकारसे है—दुःखका स्वरूप यथार्थ न समझनेसे, उसके होनेके मूल कारण क्या है और वे किससे मिट सके, इसे यथार्थ न समझनेसे, दुःख मिटानेके संबंधमें उनका प्रयत्न स्वरूपसे अयथार्थ होनेसे दुःख मिट नहीं सकता।

दुःख अनुभवमें आता है, तो भी वह स्पष्ट ध्यानमे आनेके लिये थोड़ीसी उसकी व्याख्या करते हैं :—

प्राणी दो प्रकारके हैं :—एक त्रस—स्वयं भय आदिका कारण देखकर भाग जाते हैं और चलने-फिरने इत्यादिकी शक्तिवाले हैं। दूसर स्थावर—जिस स्थलमे देह धारण की है, उसी स्थलमे स्थितिमान, अथवा भय आदिके कारणको जानकर भाग जाने आदिकी समझशक्ति जिनमे नही है।

अथवा एकेंद्रियसे लेकर पाँच इंद्रिय तकके प्राणी हैं। एकेंद्रिय प्राणी स्थावर कहे जाते है, और दो इंद्रियवाले प्राणियोसे लेकर पाँच इंद्रियवाले प्राणी तकके त्रस कहे जाते हैं। किसी भी प्राणीको पाँच इंद्रियोसे अधिक इंद्रियाँ नही होती।

एकेंद्रिय प्राणीके पाँच भेद है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति।

वनस्पतिका जीवत्व साधारण मनुष्योको भी कुछ अनुमानगोचर होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका जीवत्व आगम-प्रमाणसे और विशेष विचारबलसे कुछ भी समझा जा सकता है, सर्वथा तो प्रकृष्ट ज्ञानगोचर है।

अग्नि और वायुके जीव कुछ गतिमान देखनेमे आते हैं, परंतु उनकी गति अपनी समझशक्तिपूर्वक नही होती, इस कारण उन्हें स्थावर कहा जाता है।

एकेंद्रिय जीवोंमे वनस्पतिमे जीवत्व सुप्रसिद्ध है, फिर भी उसके प्रमाण इस ग्रंथमे अनुक्रमसे आयेंगे। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका जीवत्व इस प्रकारसे सिद्ध किया है— [अपूर्ण]

---

७६० संवत् १९५३

जीवलक्षण —

चैतन्य जिसका मुख्य लक्षण है,
देह प्रमाण है,
असंख्यात प्रदेशप्रमाण है। वह असंख्यात प्रदेशता लोकपरिमित है,
परिणामी है,
अमूर्त्त है,
अनंत अगुरुलघु परिणत द्रव्य है,
स्वाभाविक द्रव्य है,
कर्त्ता है,
भोक्ता है,
अनादि संसारी है,
भव्यत्व लब्धि परिपाक आदिसे मोक्षसाधनमें प्रवृत्ति करता है,
मोक्ष होता है,
मोक्षमें स्वपरिणामी है।

संसारी जीव { संसार अवस्थामें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग उत्तरोत्तर बंधके स्थानक हैं।

सिद्धात्मा { सिद्धावस्थामें योगका भी अभाव है। मात्र चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य सिद्धपद है।

विभाव परिणाम 'भावकर्म' है।
पुद्गलसंबंध 'द्रव्यकर्म' है। अपूर्ण]

---

७६१ संवत् १९५३

ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके योग्य जो पुद्गल ग्रहण होता है उसे 'द्रव्यास्रव' जानें। जिनेंद्र भगवानने उसके अनेक भेद कहे हैं।

जीव जिस परिणामसे कर्मका बंध करता है वह 'भावबंध' है। कर्मप्रदेश, परमाणु और जीवका अन्योन्य प्रवेशरूपसे संबंध होना 'द्रव्यबंध' है।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इस तरह चार प्रकारका बंध है। प्रकृति और प्रदेशबंध योगसे होता है; स्थिति और अनुभागबंध कषायसे होता है।

जो आस्रवको रोक सके वह चैतन्यस्वभाव 'भावसंवर' है, और उससे जो द्रव्यास्रवको रोके वह 'द्रव्यसंवर' है।

व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय तथा चारित्रके जो अनेक प्रकार हैं उन्हे 'भावसंवर' के विशेष जाने।

जिस भावसे, तपश्चर्या द्वारा या यथासमय कर्मके पुद्गल रस भोगा जानेपर गिर जाते हैं, वह 'भावनिर्जरा' है। उन पुद्गल परमाणुओंका आत्मप्रदेशसे अलग हो जाना 'द्रव्यनिर्जरा' है।

सर्व कर्मोंका क्षय होनेरूप आत्मस्वभाव 'भावमोक्ष' है। कर्मवर्गणासे आत्मद्रव्यका अलग हो जाना 'द्रव्यमोक्ष' है।

शुभ और अशुभ भावके कारण जीवको पुण्य और पाप होते है। साता, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्रका हेतु 'पुण्य' है, 'पाप' से उससे विपरीत होता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण है। व्यवहारनयसे वे तीनों है। निश्चयसे आत्मा इन तीनोरूप है।

आत्माको छोड़कर ये तीनों रत्न दूसरे किसी भी द्रव्यमे नही रहते, इसलिये आत्मा इन तीनोंरूप है, और इसलिये मोक्षका कारण भी आत्मा ही है।

जीव आदि तत्त्वोके प्रति आस्थारूप आत्मस्वभाव 'सम्यग्दर्शन' है; जिससे मिथ्या आग्रहसे रहित 'सम्यग्ज्ञान' होता है।

संशय, विपर्यय और भ्रांतिसे रहित आत्मस्वरूप और परस्वरूपको यथार्थरूपसे ग्रहण कर सके वह 'सम्यग्ज्ञान' है, जो साकारोपयोगरूप है। उसके अनेक भेद हैं।

भावोके सामान्य स्वरूपको जो उपयोग ग्रहण कर सके वह 'दर्शन' है, ऐसा आगममे कहा है। 'दर्शन' शब्द श्रद्धाके अर्थमे भी प्रयुक्त होता है।

छद्मस्थको पहले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है। केवली भगवानको दोनों एक साथ होते हैं।

अशुभ भावसे निवृत्ति और शुभ भावमें प्रवृत्ति होना सो 'चारित्र' है। व्यवहारनयसे उस चारित्रको श्री वीतरागोंने व्रत, समिति और गुप्तिरूपसे कहा है।

संसारके मूल हेतुओंका विशेष नाश करनेके लिये ज्ञानीपुरुषकी बाह्य और अंतरंग क्रियाका जो निरोध होता है, उसे वीतरागोने 'परमसम्यक्‌चारित्र' कहा है।

मुनि ध्यानद्वारा मोक्षके हेतुरूप इन दोनों चारित्रोंको अवश्य प्राप्त करते हैं, इसलिये प्रयत्नवान चित्तसे ध्यानका उत्तम अभ्यास करें।

यदि आप अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये चित्तकी स्थिरता चाहते है तो प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुमे मोह न करें, राग न करें और द्वेष न करें।

पैंतीस, सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक अक्षरके परमेष्ठीपदके वाचक जो मंत्र है, उनका जप-पूर्वक ध्यान करें। विशेष स्वरूपको श्री गुरुके उपदेशसे जानना योग्य है। [अपूर्ण]

---

७६२ संवत् १९५३

ॐ नमः

सर्व दुःखका आत्यंतिक अभाव और परम अव्याबाध सुखकी प्राप्ति हो मोक्ष है और वही परम-हित है।

वीतराग सन्मार्ग उसका सदुपाय है।

वह सन्मार्ग संक्षेपमे इस प्रकार है :—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रकी एकत्रता 'मोक्षमार्ग' है।

सर्वज्ञके ज्ञानमे भासमान तत्त्वोकी सम्यक्‌प्रतीति होना 'सम्यग्दर्शन' है।

उन तत्त्वोका बोध होना 'सम्यग्ज्ञान' है।

उपादेय तत्त्वका अभ्यास होना 'सम्यक्‌चारित्र' है।

शुद्ध आत्मपद स्वरूप वीतरागपदमे स्थिति होना, यह तीनोकी एकत्रता है।

सर्वज्ञदेव, निर्ग्रंथगुरु और सर्वज्ञोपदिष्ट धर्मकी प्रतीतिसे तत्त्वप्रतीति प्राप्त होती है।

सर्व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, सर्व मोह और सर्व वीर्य आदि अतरायका क्षय होनेसे आत्माका सर्वज्ञ-वीतराग स्वभाव प्रगट होता है।

निर्ग्रंथपदके अभ्यासका उत्तरोत्तर क्रम उसका मार्ग है। उसका रहस्य सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म है।

---

७६३ सं० १९५३

गुरुके उपदेशसे सर्वज्ञकथित आत्माका स्वरूप जानकर, सुप्रतीत करके उसका ध्यान करें।

ज्यो ज्यो ध्यानविशुद्धि होगी त्यों त्यों ज्ञानावरणीयका क्षय होगा।

अपनी कल्पनासे वह ध्यान सिद्ध नही होता।

जिन्हे ज्ञानमय आत्मा परमोत्कृष्ट भावसे प्राप्त हुआ है, और जिन्होने परद्रव्यमात्रका त्याग किया है, उन देवको नमन हो! नमन हो!

बारह प्रकारके, निदानरहित तपसे, वैराग्यभावनासे भावित और अहंभावसे रहित ज्ञानीको कर्मोंकी निर्जरा होती है।

वह निर्जरा भी दो प्रकारकी जाननी चाहिये—स्वकालप्राप्त और तपसे। एक चारों गतियोंमे होती है, दूसरी व्रतधारीको ही होती है।

ज्यो ज्यों उपशमकी वृद्धि होती है त्यो त्यों तप करनेसे कर्मकी बहुत निर्जरा होती है।

उस निर्जराका क्रम कहते हैं। मिथ्यादर्शनमें रहता हुआ भी थोड़े समयमे उपशम सम्यग्दर्शन पानेवाला है, ऐसे जीवकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टिको असंख्यातगुण निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुण निर्जरा देशविरतिको होती है, उससे असंख्यातगुण निर्जरा सर्वविरति ज्ञानीको होती है, उससे···· ··

[अपूर्ण]

---

७६४ सं० १९५३

ॐ

हे जीव ! इतना अधिक प्रमाद क्या ?

शुद्ध आत्मपदकी प्राप्तिके लिये वीतराग सन्मार्गकी उपासना कर्तव्य है।

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रन्थ गुरु } शुद्ध आत्मदृष्टि होनेके अवलंबन है।
दया मुख्यधर्म

श्री गुरुसे सर्वज्ञके अनुभूत शुद्धात्मप्राप्तिका उपाय जानकर, उसका रहस्य ध्यानमे लेकर आत्मप्राप्ति करे।

यथाजातलिंग सर्वविरतिधर्म।

द्वादशविध देशविरतिधर्म।

द्रव्यानुयोग सुसिद्ध—स्वरूपदृष्टि होनेसे,

करणानुयोग सुसिद्ध—सुप्रतीतदृष्टि होनेसे,

चरणानुयोग सुसिद्ध—पद्धति विवाद शांत करनेसे,

धर्मकथानुयोग सुसिद्ध—बालबोधहेतु समझानेसे।

---

७६५ सं० १९५३

(१)	(२)	(१)	(२)
मोक्षमार्गका अस्तित्व	प्रमाण	निर्जरा	आगम
आप्त	नय	बंध	संयम
गुरु	अनेकांत	मोक्ष	वर्तमानकाल
धर्म	लोक	ज्ञान	गुणस्थानक
धर्मकी योग्यता	अलोक	दर्शन	द्रव्यानुयोग
कर्म	अहिंसा	चारित्र	करणानुयोग
जीव	सत्य	तप	चरणानुयोग
अजीव	असत्य	द्रव्य	धर्मकथानुयोग
पुण्य	ब्रह्मचर्य	गुण	मुनित्व
पाप	अपरिग्रह	पर्याय	गृहधर्म
आस्रव	आज्ञा	संसार	परिषह
संवर	व्यवहार	एकेन्द्रियका अस्तित्व	उपसर्ग

७६६ संवत् १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः । नमः सद्गुरवे ।

पंचास्तिकाय[1]

१. सौ इन्द्रोंसे वन्दनीय, तीनलोकके कल्याणकारी, मधुर और निर्मल जिनके वाक्य है, अनन्त जिनके गुण हैं, जिन्होंने संसारका पराजय किया है ऐसे भगवान सर्वज्ञ वीतरागको नमस्कार ।

२. सर्वज्ञ महामुनिके मुखसे उत्पन्न अमृत, चार गतिसे जीवको मुक्तकर निर्वाण प्राप्त करानेवाले आगमको नमन करके यह शास्त्र कहता हूँ उसे श्रवण करें।

३. पाँच अस्तिकायके समूहरूप अर्थसमयको सर्वज्ञ वीतरागदेवने 'लोक' कहा है । उसके अनन्तर मात्र आकाशरूप अनन्त 'अलोक' है ।

४-५. 'जीव', 'पुद्गलसमूह', 'धर्म', 'अधर्म' तथा 'आकाश' ये पदार्थ अपने अस्तित्वमे नियमसे रहते है, अपनी सत्तासे अभिन्न है, और अनेक प्रदेशात्मक हैं । अनेक गुण और पर्यायसहित जिनका अस्तित्वस्वभाव है वे 'अस्तिकाय' हैं । उनसे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है ।

६. ये अस्तिकाय तीनों कालमे भावरूपसे परिणामी हैं, और परावर्तन लक्षणवाले कालसहित छहो 'द्रव्यसंज्ञा' को प्राप्त होते है ।

७. ये द्रव्य एक दूसरेमे प्रवेश करते हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, और अलग हो जाते हैं, परन्तु अपने स्वभावका त्याग नही करते ।

८ सत्तास्वरूपसे सब पदार्थ एकत्ववाले हैं, वह सत्ता अनन्त प्रकारके स्वभाववाली है, अनन्त गुण और पर्यायात्मक है, उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप एवं सामान्य विशेषात्मक है ।

९ जो उन उन अपने सद्भावपर्यायों-गुणपर्याय स्वभावोको प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते है, जो अपनी सत्तासे अनन्य है ।

१०. द्रव्य सत् लक्षणवाला है, जो उत्पादव्ययध्रौव्यसहित है, जो गुणपर्यायका आश्रय है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं।

११ द्रव्यकी उत्पत्ति और विनाश नही होता, उसका 'अस्ति' स्वभाव ही है । उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व ये पर्यायके कारण होते हैं ।

१२ पर्यायरहित द्रव्य नही है और द्रव्यरहित पर्याय नही है, दोनों अनन्यभावसे हैं, ऐसा महामुनि कहते है ।

१३. द्रव्यके बिना गुण नही होते और गुणोके बिना द्रव्य नही होता, इसलिये द्रव्य और गुण दोनोंका अभिन्न भाव है ।

१४. 'स्यात् [१]अस्ति', 'स्यात् [२]नास्ति', 'स्यात् [३]अस्ति नास्ति', 'स्यात् [४]अवक्तव्य', 'स्यात् [५]अस्ति अवक्तव्यं', 'स्यात् [६]नास्ति अवक्तव्यं' 'स्यात् [७]अस्तिनास्ति अवक्तव्यं', यो विवक्षासे द्रव्यके सात भंग होते हैं।

१५ भाव-द्रव्यका नाश नही होता, और अभाव-अद्रव्यकी उत्पत्ति नही होती । गुणपर्यायके स्वभावसे उत्पाद और व्यय होते हैं ।

१६ जीव आदि पदार्थ है । जीवके गुण चेतना और उपयोग है । देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच आदि जीवके अनेक पर्याय है ॥१६॥

---

१. देखें आंक ८६६ ।

१७. मनुष्यपर्यायसे नष्ट हुआ जीव देव या अन्य पर्यायसे उत्पन्न होता है। दोनोंमें जीवभाव ध्रुव है। वह नष्ट होकर कुछ अन्य नही होता।

१८. जो जीव उत्पन्न हुआ था वही जीव नष्ट हुआ है। वस्तुत तो वह जीव उत्पन्न नही हुआ और नष्ट भी नही हुआ। उत्पत्ति और नाश देवत्व और मनुष्यत्वका होता है।

१९ इस तरह सत्का विनाश, और असत् जीवका उत्पाद नही होता। जीवके देव, मनुष्य आदि पर्याय गतिनामकर्मसे होते है।

२०. ज्ञानावरणीय आदि कर्मभाव जीवने सुदृढ (अवगाढ) रूपसे बाँधे है, उनका अभाव करनेसे वह अभूतपूर्व 'सिद्ध भगवान' होता है।

२१ इस तरह गुणपर्यायसहित जीव भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभावसे संसारमे परिभ्रमण करता है।

२२ जीव, पुद्गलसमूह, आकाश तथा दूसरे अस्तिकाय किसीके बनाये हुए नही हैं, स्वरूपसे ही अस्तित्ववाले हैं, और लोकके कारणभूत है।

२३. सद्भाव स्वभाववाले जीवो और पुद्गलके परावर्तनसे उत्पन्न जो काल है उसे निश्चयकाल कहा है।

२४. वह काल पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्शसे रहित है, अगुरुलघु है, अमूर्त है और वर्तनालक्षणवाला है।

२५. समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, मास, ऋतु और संवत्सर आदि यह व्यवहारकाल है।

२६ कालके किसी भी परिमाण (माप) के बिना बहुत काल, अल्प काल यों नही कहा जा सकता। उसकी मर्यादा पुद्गलद्रव्यके बिना नही होती। इस कारण कालका पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न होना कहा जाता है।

२७. जीवत्ववाला, ज्ञाता, उपयोगवाला, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, वस्तुतः अमूर्त्त और कर्मावस्थामे मूर्त्त ऐसा जीव है।

२८ कर्ममलसे सर्वथा मुक्त हो जानेसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्मा ऊर्ध्व लोकांतको प्राप्त होकर अतीद्रिय अनन्त सुखको प्राप्त होता है।

२९ अपने स्वाभाविक भावसे आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है और अपने कर्मसे मुक्त होनेसे वह अनंत सुखको प्राप्त होता है।

३०. बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्वास इन चार प्राणोंसे जो भूतकालमे जीता था, वर्तमानकालमे जीता है, और भविष्यकालमे जीयेगा वह 'जीव' है।

३१. अनंत अगुरुलघु गुणोंसे निरंतर परिणत अनंत जीव हैं। वे असंख्यात प्रदेशप्रमाण हैं। कुछ जीव लोकप्रमाण अवगाहनाको प्राप्त हुए हैं।

३२ कुछ जीव उस अवगाहनाको प्राप्त नही हुए है। मिथ्यादर्शन, कषाय और योगसहित अनंत संसारी जीव हैं। उनसे रहित अनंत सिद्ध हैं।

३३. जिस प्रकार पद्मराग नामका रत्न दूधमे डालनेसे दूधके परिमाणके अनुसार प्रकाशित होता है, उसी प्रकार देहमे स्थित आत्मा मात्र देहप्रमाण प्रकाशक-व्यापक है।

३४. जैसे एक कायामें सर्व अवस्थाओमे वहीका वही जीव रहता है, वैसे सर्वत्र संसारावस्थामें भी वहीका वही जीव रहता है। अध्यवसायविशेषसे कर्मरूपी रजोमलसे वह जीव मलिन होता है।

३५. जिनको प्राणधारिता नही है, जिनको प्राणधारिताका सर्वथा अभाव हो गया है, वे—देहसे भिन्न और वचनसे अगोचर जिनका स्वरूप हैं ऐसे—'सिद्ध' जीव हैं।

३६ वस्तुदृष्टिसे देखें तो सिद्ध पद उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह किसी दूसरे पदार्थसे उत्पन्न होनेवाला कार्य नही है, इसी तरह वह किसीके प्रति कारणरूप भी नही है, क्योंकि किसी अन्य सम्बन्धसे उसकी प्रवृत्ति नही है।

३७. यदि मोक्षमे जीवका अस्तित्व ही न हो तो शाश्वत, अशाश्वत, भव्य, अभव्य, शून्य, अशून्य, विज्ञान और अविज्ञान ये भाव किसको हों ?

३८. कोई जीव कर्मके फलका वेदन करते हैं, कोई जीव कर्मबंधकर्तृत्वका वेदन करते हैं, और कोई जीव मात्र शुद्ध ज्ञानस्वभावका वेदन करते है, इस तरह वेदकभावसे जीवराशिके तीन भेद है।

३९. स्थावर कायके जोव अपने अपने किये हुए कर्मोके फलका वेदन करते है, त्रस जीव कर्मबंध चेतनाका वेदन करते है, और प्राणरहित अतीद्रिय जीव शुद्धज्ञानचेतनाका वेदन करते है।

४० ज्ञान और दर्शनके भेदसे उपयोग दो प्रकारका है, उसे जीवसे सर्वदा अनन्यभूत समझें।

४१. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये ज्ञानके पाँच भेद हैं। कुमति, कुश्रुत और विभंग ये अज्ञानके तीन भेद हैं। ये सब ज्ञानोपयोगके भेद हैं।

४२ चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और अविनाशी अनंत केवलदर्शन ये दर्शनोपयोगके चार भेद हैं।

४३ आत्मासे ज्ञानगुणका सम्बन्ध है, और इसीसे आत्मा ज्ञानी है ऐसा नही है, परमार्थसे दोनोंमें अभिन्नता ही है।

४४ यदि द्रव्य भिन्न हो और गुण भी भिन्न हों तो एक द्रव्यके अनंत द्रव्य हो जायें, अथवा द्रव्यका अभाव हो जाये।

४५ द्रव्य और गुण अनन्यरूपसे है, दोनोमे प्रदेशभेद नही है। द्रव्यके नाशसे गुणका नाश हो जाता है और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश हो जाता है ऐसा उनमे एकत्व है।

४६. व्यपदेश (कथन), संस्थान संख्या और विषय इन चार प्रकारकी विवक्षाओसे द्रव्यगुणके अनेक भेद हो सकते है, परन्तु परमार्थनयसे ये चारो अभेद हैं।

४७ जिस तरह यदि पुरुषके पास धन हो तो वह धनवान कहा जाता है, उसी तरह आत्माके पास ज्ञान है, जिससे वह ज्ञानवान कहा जाता है। इस तरह भेद-अभेदका स्वरूप है, इसे तत्त्वज्ञ दोनो प्रकारसे जानते हैं।

४८. यदि आत्मा और ज्ञानका सर्वथा भेद हो तो दोनो ही अचेतन हो जायें ऐसा वीतराग सर्वज्ञका सिद्धांत है।

४९. ज्ञानका सम्बन्ध होनेसे आत्मा ज्ञानी होता है ऐसा माननेसे आत्मा और अज्ञान-जडत्वका ऐक्य होनेका प्रसंग आता है।

५० समवर्तित्व समवाय है। वह अपृथक्भूत और अपृथक् सिद्ध है; इसलिये वीतरागोंने द्रव्य और गुणके सम्बन्धको अपृथक् सिद्ध कहा है।

५१. वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये चार विशेष (गुण) परमाणु द्रव्यसे अभिन्न हैं। व्यवहारसे वे पुद्गलद्रव्यसे भिन्न कहे जाते हैं।

५२. इसी तरह दर्शन और ज्ञान भी जीवसे अनन्यभूत है। व्यवहारसे उनका आत्मासे भेद कहा जाता है।

५३. आत्मा (वस्तुतः) अनादि-अनंत है, और संतानकी अपेक्षासे सादि-सांत भी है और सादिअनंत भी है। पाँच भावोंकी प्रधानतासे वे सब भंग होते हैं। सद्भावसे जीव द्रव्य अनंत है।

५४. इस तरह सत् (जीव-पर्याय) का विनाश और असत् जीवका उत्पाद परस्पर विरुद्ध होनेपर भी जैसा अविरोधरूपसे सिद्ध हैं वैसा सर्वज्ञ वीतरागने कहा है।

५५ नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये नामकर्मकी प्रकृतियाँ सत्का विनाश और असत् भावका उत्पाद करती है।

५६. उदय, उपशम, क्षायिक, क्षयोपशम और पारिणामिक भावोंसे जीवके गुणोंका बहुत विस्तार है।

५७, ५८, ५९.

६० द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर जीव उदय आदि भावोंमे परिणमन करता है, भावकर्मका निमित्त पाकर द्रव्यकर्मका परिणमन होता है। कोई किसीके भावका कर्ता नही है, और कर्ताके बिना होते नही हैं।

६१. सब अपने अपने स्वभावके कर्त्ता है, इसी तरह आत्मा भी अपने ही भावका कर्त्ता है; आत्मा पुद्गलकर्मका कर्त्ता नही है; ये वीतराग-वचन समझने योग्य हैं।

६२ कर्म अपने स्वभावके अनुसार यथार्थ परिणमन करता है, उसी प्रकार जीव अपने स्वभावके अनुसार भावकर्मको करता है।

६३. यदि कर्म ही कर्मका कर्त्ता हो, और आत्मा ही आत्माका कर्त्ता हो, तो फिर उस कर्मका फल कौन भोगेगा ? और कर्म अपने फलको किसे देगा ?

६४. संपूर्ण लोक पुद्गल-समूहोसे भरपूर भरा हुआ है सूक्ष्म और बादर ऐसे विविध प्रकारसे अनत स्कंधोंसे।

६५ आत्मा जब भावकर्मरूप अपने स्वभावको करता है, तब वहाँ रहे हुए पुद्गलपरमाणु अपने स्वभावके कारण कर्मभावको प्राप्त होते हैं, और परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूपसे अवगाढता पाते है।

६६. कोई कर्त्ता नही होने पर भी जैसे पुद्गलद्रव्यसे अनेक स्कधोंकी उत्पत्ति होती है वैसे ही कर्मरूपसे स्वभावत पुद्गलद्रव्य परिणमित होते हैं ऐसा जानें।

६७ जीव और पुद्गलसमूह परस्पर अवगाढ-ग्रहणसे प्रतिबद्ध हैं। इसलिये यथाकाल उदय होनेपर जीव सुखदुःखरूप फलका वेदन करता है।

६८. इसलिये कर्मभावका कर्ता जीव है और भोक्ता भी जीव है। वेदक भावके कारण वह कर्मफलका अनुभव करता है।

६९. इस तरह आत्मा अपने भावसे कर्त्ता और भोक्ता होता है। मोहसे भलीभाँति आच्छादित जीव ससारमे परिभ्रमण करता है।

७०. (मिथ्यात्व) मोहका उपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसे वीतरागकथित मार्गको प्राप्त हुआ धीर, शुद्ध ज्ञानाचारवान जीव निर्वाणपुरको जाता है।

७१-७२. एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार गतियोंके भेदसे, पाँच गुणोंकी मुख्यतासे, छ. कायके भेदसे, सात भंगोके उपयोगसे, आठ गुणों अथवा आठ कर्मोंके भेदसे, नव तत्त्वसे, और दशस्थानकसे जीवका निरूपण किया गया है।

७३. प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंधसे सर्वथा मुक्त होनेसे जीव ऊर्ध्वगमन करता है। संसार अथवा कर्मावस्थामे जीव विदिशाको छोड़कर दूसरी दिशाओंमे गमन करता है।

७४. स्कध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु इस तरह पुद्गलास्तिकायके चार भेद समझें।

७५. सकल समस्तको 'स्कंध', उसके आधेको 'देश', उसके आधेको 'प्रदेश' और अविभागीको 'परमाणु' कहते हैं।

७६. बादर और सूक्ष्म परिणमन पाने योग्य स्कंधोंमें पूरण (बढ़ना) और गलन (घटना, विभक्त होना) स्वभाव जिनका हैं वे पुद्गल कहे जाते हैं। उनके छ भेद हैं, जिनसे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है।

७७. सर्व स्कंधोंका जो अंतिम भेद है वह परमाणु है। वह शाश्वत, शब्दरहित, एक, अविभागी और मूर्त होता है।

७८. जो विवक्षासे मूर्त्त और चार धातुओंका कारण है उसे परमाणु जानना चाहिये। वह परिणामी है, स्वयं अशब्द अर्थात् शब्दरहित है, परंतु शब्दका कारण है।

७९. स्कंधसे शब्द उत्पन्न होता है। अनंत परमाणुओके मिलापके संघात-समूहको 'स्कंध' कहा है। इन 'स्कंधों' का परस्पर स्पर्श होनेसे, संघर्ष होनेसे निश्चय ही 'शब्द' उत्पन्न होता है।

८०. वह परमाणु नित्य है, अपने रूप आदि गुणोंको अवकाश-आश्रय देता है, स्वयं एकप्रदेशी होनेसे एक प्रदेशके बाद अवकाशको प्राप्त नही होता, दूसरे द्रव्यको अवकाश (आकाशको तरह) नही देता, स्कंधके भेदका कारण है—स्कंधके खंडका कारण है, स्कंधका कर्त्ता है, और कालके परिमाण (माप) और संख्या (गिनती)का हेतु है।

८१. जो द्रव्य एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शसे युक्त है, शब्दकी उत्पत्तिका कारण है, एकप्रदेशात्मकतासे शब्दरहित है, स्कधपरिणमित होनेपर भी उससे भिन्न है, उसे परमाणु समझें।

८२ जो इंद्रियोसे उपभोग्य है, तथा काया, मन और कर्म आदि जो जो मूर्त्त पदार्थ हैं उन सबको पुद्गलद्रव्य समझें।

८३. धर्मास्तिकाय अरस, अवर्ण, अगंध, अशब्द और अस्पर्श है; सकल लोकप्रमाण है; अखंडित, विस्तीर्ण और असंख्यातप्रदेशात्मक द्रव्य है।

८४. वह अनंत अगुरुलघुगुणोंसे निरंतर परिणमित है; गतिक्रियायुक्त जीव आदिके लिये कारणभूत है, और स्वयं अकार्य है; अर्थात् वह द्रव्य किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

८५. जिस तरह मत्स्यकी गतिमे जल उपकारक है, उसी तरह जो जीव और पुद्गलकी गतिमे उपकारक है, उसे 'धर्मास्तिकाय' जानें।

८६. जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्य है वैसे अधर्मास्तिकाय भी द्रव्य है ऐसा जाने। वे स्थितिक्रियायुक्त जीव और पुद्गलको पृथ्वीकी भाँति कारणभूत हैं।

८७. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके कारण लोक-अलोकका विभाग होता है। ये धर्म और अधर्म द्रव्य दोनों अपने अपने प्रदेशोंसे भिन्न भिन्न है। स्वय हलन-चलन क्रियासे रहित हैं, और लोकप्रमाण हैं।

८८. धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलको चलाता है, ऐसी बात नही है; जीव और पुद्गल गति करते हैं, उन्हे सहायक है।

८९.

९०. जो सब जीवोंको तथा शेष पुद्गल आदि द्रव्योंको सम्पूर्ण अवकाश देता है, उसे 'लोकाकाश' कहते हैं।

९१. जीव, पुद्गलसमूह, धर्म और अधर्म, ये द्रव्य लोकसे अनन्य है; अर्थात् लोकमें हैं, लोकसे बाहर नही हैं। आकाश लोकसे भी बाहर है, और वह अनंत है, जिसे 'अलोक' कहते हैं।

९२. यदि गति और स्थितिका कारण आकाश होता, तो धर्म और अधर्म द्रव्यके अभावके कारण सिद्ध भगवानका अलोकमें भी गमन होता।

९३. इसीलिये सर्वज्ञ वीतरागदेवने सिद्ध भगवानका स्थान ऊर्ध्वलोकांतमे बताया है। इससे आकाश गति और स्थितिका कारण नही है ऐसा जानें।

९४. यदि गतिका कारण आकाश होता अथवा स्थितिका कारण आकाश होता, तो अलोककी हानि होती और लोकके अंतकी वृद्धि भी हो जाती।

९५. इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य गति तथा स्थितिके कारण हैं, परन्तु आकाश नही है। इस प्रकार सर्वज्ञ वीतरागदेवने श्रोता जीवोंको लोकका स्वभाव बताया है।

९६. धर्म, अधर्म और (लोक) आकाश अपृथग्भूत (एकक्षेत्रावगाही) और समान परिमाणवाले हैं। निश्चयसे तीनों द्रव्योकी पृथक् उपलब्धि है, और वे अपनी अपनी सत्तासे रहे हुए है। इस तरह इनमे एकता और अनेकता, दोनो हैं।

९७. आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त्त हैं, और पुद्गलद्रव्य मूर्त्त है। उनमे जीव-द्रव्य चेतन है।

९८. जीव और पुद्गल एक दूसरेकी क्रियामें सहायक हैं। दूसरे द्रव्य (उस प्रकारसे) सहायक नही हैं। जीव पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे क्रियावान होता है। कालके कारणसे पुद्गल अनेक स्कंधरूपसे परिणमन करता है।

९९. जीवद्वारा जो इंद्रियग्राह्य विषय है वे पुद्गल-द्रव्य मूर्त्त हैं, शेष अमूर्त्त हैं। मन मूर्त्त एवं अमूर्त्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानता है, अपने विचारसे निश्चित पदार्थोंको जानता है।

१००.काल परिणामसे उत्पन्न होता है, परिणाम कालसे उत्पन्न होता है। दोनोका यह स्वभाव है। 'निश्चयकाल' से 'क्षणभगुरकाल' होता है।

१०१. काल शब्द अपने सद्भाव—अस्तित्वका बोधक है, उनमेंसे एक (निश्चयकाल) नित्य है। दूसरा (समयरूप व्यवहारकाल) उत्पत्ति विनाशवाला है, और दीर्घांतर स्थायी है।

१०२. काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव, इन सबकी द्रव्य संज्ञा है। कालकी अस्ति-काय संज्ञा नही है।

१०३ इस तरह निर्ग्रंथके प्रवचनके रहस्यभूत इस पंचास्तिकायके स्वरूप-विवेचनके संक्षेपको जो थार्थ रूपसे जानकर राग और द्वेषसे मुक्त हो जाता है वह सब दुःखोंसे परिमुक्त हो जाता है।

१०४. इस परमार्थको जानकर जो जीव मोहका नाशक हुआ है और जिसने रागद्वेषको शात किया है वह जीव संसारकी दीर्घ परम्पराका नाश करके शुद्धात्मपदमे लीन हो जाता है।

इति पंचास्तिकाय प्रथम अध्याय।

ॐ जिनाय नमः। नमः श्री सद्गुरवे।

१०५ मोक्षके कारणभूत श्री भगवान महावीरको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उन भगवानके कहे हुए पदार्थप्रभेदरूप मोक्षमार्गको कहता हूँ।

१०६ सम्यक्त्व, आत्मज्ञान और रागद्वेषसे रहित ऐसा चारित्र तथा सम्यक् बुद्धि जिन्हें प्राप्त हुई है ऐसे भव्यजीवको मोक्षमार्ग प्राप्त होता है।

१०७. तत्त्वार्थकी प्रतीति 'सम्यक्त्व' है, तत्त्वार्थका ज्ञान 'ज्ञान' है और विषयके विमूढ मार्गके प्रति शांतभाव 'चारित्र' है।

१०८. जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये नव तत्त्व हैं।

१०९ जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और असंसारी। दोनों चैतन्यस्वरूप और उपयोगलक्षणवाले हैं। संसारी देहसहित और असंसारी देहरहित होते हैं।

११०. पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये जीवसंश्रित काय हैं। इन जीवोंको मोहकी प्रबलता है और स्पर्श-इंद्रियके विषयका उन्हें ज्ञान है।

१११. इनमेंसे तीन स्थावर हैं और अल्पयोगवाले अग्नि और वायुकाय त्रस हैं। ये सभी मन-परिणामसे रहित 'एकेंद्रिय जीव' हैं ऐसा जानें।

११२. ये पाँचों प्रकारके जीवसमूह मनपरिणामसे रहित और एकेंद्रिय हैं ऐसा सर्वज्ञने कहा है।

११३ जिस तरह अंडेमे पक्षीका गर्भ बढ़ता है, जिस तरह मनुष्यगर्भमे मूर्च्छागत अवस्था होने पर भी जीवत्व है, उसी तरह 'एकेंद्रिय जीव' भी जानना चाहिये।

११४ शंबूक, शख, सीप, कृमि इत्यादि जो जीव रस और स्पर्शको जानते हैं, उन्हे 'दो इन्द्रिय जीव' जानना चाहिये।

११५. जूँ, खटमल, चीटी, बिच्छू इत्यादि अनेक प्रकारके दूसरे भी कीड़े रस, स्पर्श और गन्धको जानते हैं, उन्हे 'तीन इन्द्रिय जीव' जानना चाहिये।

११६ डास, मच्छर, मक्खी, भ्रमरी, भ्रमर, पतंग आदि रूप, रस, गन्ध और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें 'चार इंद्रिय जीव' जानना चाहिये।

११७ देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच, जलचर, स्थलचर और खेचर वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको जानते है, ये बलवान 'पाँच इंद्रियवाले जीव' है।

११८. देवताके चार निकाय है। मनुष्य कर्म और अकर्म भूमिके भेदसे दो प्रकारके है। तिर्यंचके अनेक प्रकार है, और नारकी जितने नरक-पृथ्वीके भेद हैं उतने ही है।

११९. पूर्वकालमे बाँधी हुई आयुके क्षीण हो जानेपर जीव गतिनामकर्मके कारण आयु और लेश्याके प्रभावसे अन्य देहको प्राप्त होता है।

१२०. देहाश्रित जीवोके स्वरूपका यह विचार निरूपित किया। ये भव्य और अभव्यके भेदसे दो प्रकारके है। देहरहित जीव 'सिद्ध भगवान' है।

१२१. इन्द्रियाँ जीव नही हैं, तथा काया भी जीव नही हैं, परन्तु जीवके ग्रहण किये हुए साधन मात्र हैं। वस्तुतः तो जिन्हे ज्ञान है उनको ही जीव कहते हैं।

१२२ जो सब जानता है, देखता है, दुःखको दूर कर सुख चाहता है, शुभ-अशुभ क्रियाको करता है और उनका फल भोगता है, वह 'जीव' है।

१२३.

१२४. आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्यमे जीवत्वगुण नहीं है; उन्हें अचेतन कहते हैं, और जीवको सचेतन कहते है।

१२५ सुख-दुःखका वेदन, हितमे प्रवृत्ति, अहितसे भीति—ये तीनो कालमें जिसको नही है उसे सर्वज्ञ महामुनि 'अजीव' कहते है।

१२६ संस्थान, संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द इस तरह पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न होनेवाले अनेक गुणपर्याय हैं।

१२७. अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अनिर्दिष्ट संस्थान और वचन अगोचर ऐसा जिसका चैतन्य-गुण है वह 'जीव' है।

१२८. जो निश्चयसे संसारस्थित जीव है, उसका अशुद्ध परिणाम होता है। उस परिणामसे कर्म उत्पन्न होता है, उससे शुभ और अशुभ गति होती है।

१२९. गतिकी प्राप्तिसे देह होती है, देहसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण होता है, और उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।

१३०. संसारचक्रमें अशुद्ध भावसे परिभ्रमण करते हुए जीवोंमेसे, कुछ जीवोका संसार अनादि सांत है और किसीका अनादि अनन्त है ऐसा भगवान सर्वज्ञने कहा है।

१३१. जिसके भावोंमे अज्ञान, रागद्वेष और चित्तप्रसन्नता रहती है, उसके शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं।

१३२. जीवको शुभ परिणामसे पुण्य होता है, और अशुभ परिणामसे पाप होता है। उससे शुभाशुभ पुद्गलके ग्रहणरूप कर्मत्व प्राप्त होता है।

१३३, १३४, १३५, १३६

१३७ तृषातुर, क्षुधातुर, रोगी अथवा अन्य दुःखी मनके जीवको देखकर उसका दुःख मिटानेकी प्रवृत्ति की जाय उसे 'अनुकंपा' कहते है।

१३८. क्रोध, मान, माया और लोभकी मीठाश जीवको क्षुभित करती है, और पाप भावको उत्पन्न करती है।

१३९ बहुत प्रमादवाली क्रिया, चित्तकी मलिनता, इन्द्रिय-विषयमे लोलुपता, दूसरे जीवोको दुःख देना और उनकी निंदा करना इत्यादि आचरणोंसे जीव 'पापास्रव' करता है।

१४०. चार संज्ञा, कृष्णादि तीन लेश्या, इन्द्रियवशता, आर्त्त और रौद्र ध्यान, दुष्ट भाववाली धर्म क्रियामे मोह ये 'भाव-पापास्रव' हैं।

१४१. इन्द्रियों, कषाय और संज्ञाको जय करनेवाले कल्याणकारी मार्गमे जीव जिस समय रहता है उस समय उसके पापास्रवरूप छिद्रका निरोध हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

१४२. जिनको सब द्रव्योंमे राग, द्वेष और अज्ञान नही रहते, ऐसे सुख-दुःखमें समदृष्टिके स्वामी निर्ग्रंथ महात्माको शुभाशुभ आस्रव नहीं होता।

१४३. जिस संयमीको योगोंमे जब पुण्य-पापकी प्रवृत्ति नही होती तब उसको शुभाशुभ कर्मके कर्तृत्वका 'संवर' हो जाता है, 'निरोध' हो जाता है।

१४४. जो योगका निरोध करके तप करता है वह निश्चयसे अनेक प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है।

१४५. जो आत्मार्थका साधक संवरयुक्त होकर, आत्मस्वरूपको जानकर तद्रूप ध्यान करता है वह महात्मा साधु कर्मरजको झाड डालता है।

१४६ जिसको राग, द्वेष, मोह और योगपरिणमन नही है उसको शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर भस्म कर देनेवाली ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है।

१४७, १४८, १४९, १५०, १५१.

१५२ दर्शनज्ञानसे परिपूर्ण, अन्य द्रव्यके संसर्गसे रहित ऐसा ध्यान जो निर्जराहेतुसे करता है वह महात्मा 'स्वभावसहित' है।

१५३. जो संवरयुक्त सब कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ वेदनीय और आयुकर्मसे रहित होता है, वह महात्मा उसी भवमे 'मोक्ष' जाता है।

१५४ जीवका स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन है। उसके अनन्यमय आचरण (शुद्ध निश्चयमय स्थिर स्वभाव) को सर्वज्ञ वीतरागने 'निर्मल चारित्र' कहा है।

१५५. वस्तुतः आत्माका स्वभाव निर्मल ही है। गुण और पर्याय अनादिसे परसमयपरिणामीरूपसे परिणत है उस दृष्टिसे अनिर्मल है। यदि वह आत्मा स्वसमयको प्राप्त हो तो कर्मबंधसे रहित होता है।

१५६. जो परद्रव्यमें शुभ अथवा अशुभ राग करता है वह जीव 'स्वचारित्र'से भ्रष्ट है और 'परचारित्र'का आचरण करता है, ऐसा समझें।

१५७. जिस भावसे आत्माको पुण्य अथवा पाप-आस्रवकी प्राप्ति होती है, उसमें प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा परचारित्रका आचरण करता है, इस प्रकार बीतराग सर्वज्ञने कहा है।

१५८. जो सर्व संगसे मुक्त होकर अनन्यमयतासे आत्मस्वभावमें स्थित है, निर्मल ज्ञाता-द्रष्टा है, वह 'स्वचारित्र'का आचरण करनेवाला जीव है।

१५९ परद्रव्यमें अहंभावरहित, निर्विकल्प ज्ञानदर्शनमय परिणामी आत्मा है वह स्वचारित्राचरण है।

१६०. धर्मास्तिकायादिके स्वरूपकी प्रतीति 'सम्यक्त्व' है, बारह अंग और चौदह पूर्वका जानना 'ज्ञान' है, और तपश्चर्यादिमें प्रवृत्ति करना 'व्यवहार-मोक्षमार्ग' है।

१६१. उन तीनसे समाहित आत्मा, जहाँ आत्माके सिवाय अन्य किंचित् मात्र नही करता, मात्र अनन्य आत्मामय है वहाँ सर्वज्ञ वीतरागने 'निश्चय-मोक्षमार्ग' कहा है।

१६२ जो आत्मा आत्मस्वभावमय ज्ञानदर्शनका अनन्यमयतासे आचरण करता है, उसे वह निश्चय ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।

१६३. जो यह सब जानेगा और देखेगा वह अव्याबाध सुखका अनुभव करेगा। इन भावोंकी प्रतीति भव्यको होती है, अभव्यको नही होती।

१६४ दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह 'मोक्षमार्ग' है; इसके सेवनसे 'मोक्ष' प्राप्त होता है और (अमुक हेतुसे) 'बंध' होता है ऐसा मुनियोने कहा है।

१६५.

१६६ अर्हंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिगण और ज्ञानकी भक्तिसे परिपूर्ण आत्मा बहुत पुण्यका उपार्जन करता है. किन्तु वह कर्मक्षय नहीं करता।

१६७. जिसके हृदयमे अणुमात्र भी परद्रव्यके प्रति राग है, वह सभी आगमोंका ज्ञाता हो तो भी 'स्वसमय'को नही जानता, ऐसा समझें।

१६८.

१६९. इसलिये जो सर्व इच्छासे निवृत्त होकर निःसंग और निर्ममत्व होकर -सिद्धस्वरूपकी भक्ति करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है।

१७०. जिसे परमेष्ठीपदमे तत्त्वार्थप्रतीति पूर्वक भक्ति है, और निर्ग्रंथ-प्रवचनमे रुचिपूर्वक जिसकी बुद्धि परिणत हुई है और जो संयमतपसहित है, उसके लिये मोक्ष बिलकुल दूर नही है।

१७१ अर्हंत, सिद्ध, चैत्य और प्रवचनकी भक्तिपूर्वक यदि जीव तपश्चर्या करता है, तो वह अवश्य ही देवलोकको अंगीकार करता है।

१७२. इसलिये इच्छामात्रकी निवृत्ति करे, सर्वत्र किंचित्मात्र भी राग न करे, क्योंकि वीतराग ही भवसागरको तर जाता है।

१७३. मैंने प्रवचनकी भक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनाके लिये प्रवचनके रहस्यभूत 'पंचास्तिकाय'के संग्रहरूप इस शास्त्रको कहा है।

इति पंचास्तिकायसमाप्तम्।

७६७ ववाणिया, चैत्र सुदी ३, रवि, १९५३

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं है और
परमद्वेषसे उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी जिसे द्वेष नही है,
उस पुरुषरूप भगवानको बारंबार नमस्कार।

अद्वेषवृत्तिसे वर्तन करना योग्य है, धीरज कर्तव्य है।

मुनि देवकीर्णजीको 'आचारांग' पढते हुए दीर्घशंका आदि कारणोके विषयमे भी साधुका मार्ग अत्यंत संकुचित देखनेमे आया, जिससे यह आशंका हुई कि ऐसी साधारण क्रियामें भी इतनी अधिक संकुचितता रखनेका क्या कारण होगा ? उस आशंकाका समाधान :—

सतत अंतर्मुख उपयोगमे स्थिति रखना ही निर्ग्रंथका परम धर्म है। एक समयके लिये भी बहिर्मुख उपयोग न करना यह निर्ग्रंथका मुख्य मार्ग है; परन्तु उस संयमके लिये देह आदि साधन है, उनके निर्वाहके लिये सहज भी प्रवृत्ति होना योग्य है। कुछ भी वैसी प्रवृत्ति करते हुए उपयोग बहिर्मुख होनेका निमित्त हो जाता है, इसलिये उस प्रवृत्तिको इस ढंगसे करनेका विधान है कि उपयोगकी अंतर्मुखता बनी रहे। केवल और सहज अंतर्मुख उपयोग तो मुख्यतया केवलभूमिका नामके तेरहवें गुणस्थानकमे होता है। और निर्मल विचारधाराकी प्रबलतासहित अन्तर्मुख उपयोग सातवें गुणस्थानकमे होता है। प्रमादसे वह उपयोग स्खलित होता है; और कुछ विशेष अंशमे स्खलित हो जाये तो विशेष बहिर्मुख उपयोग हो जाता है, जिससे भाव-असंयमरूपसे उपयोगकी प्रवृत्ति होती है। वैसा न होने देनेके लिये और देह आदि साधनोंके निर्वाहकी प्रवृत्ति भी छोड़ी न जा सके ऐसी होनेसे, वह प्रवृत्ति अंतर्मुख उपयोगसे हो सके, ऐसी अद्भुत संकलनासे उसका उपदेश किया है, जिसे पाँच समिति कहा जाता है।

चलना पड़े तो आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक चलना, बोलना पडे तो आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक बोलना; आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक आहार आदिका ग्रहण करना, आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक वस्त्र आदिका लेना और रखना; और आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक दीर्घशंका आदि शरीर-मलका त्याग करने योग्य त्याग करना; इस प्रकार प्रवृत्ति रूप पाँच समिति कही है। संयममे प्रवृत्ति करनेके लिये जिन जिन दूसरे प्रकारोका उपदेश किया है, उन सबका इन पाँच समितियोमे समावेश हो जाता है, अर्थात् जो कुछ निर्ग्रंथको प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा दी है, उनमेसे जिस प्रवृत्तिका त्याग करना अशक्य है, उसी प्रवृत्तिकी आज्ञा दी है, और वह इस प्रकारसे दी है कि मुख्य हेतुभूत अंतर्मुख उपयोग अस्खलित बना रहे। तदनुसार प्रवृत्ति की जाये तो उपयोग सतत जाग्रत बना रहे, और जिस जिस समय जीवकी जितनी जितनी ज्ञानशक्ति तथा वीर्यशक्ति है वह सब अप्रमत्त बनी रहे।

दीर्घशंका आदि क्रियाओंको करते हुए भी अप्रमत्त संयमदृष्टिका विस्मरण न हो जाये इस हेतुसे वैसी वैसी कठोर क्रियाओका उपदेश दिया है, परन्तु सत्पुरुषकी दृष्टिके बिना वे समझमे नहीं आती। यह रहस्यदृष्टि संक्षेपमे लिखी है, इस पर अधिकाधिक विचार कर्तव्य है। सभी क्रियाओमे प्रवृत्ति करते हुए इस दृष्टिको स्मरणमें रखनेका ध्यान रखना योग्य है।

श्री देवकीर्णजी आदि सभी मुनियोंको इस पत्रकी बारंबार अनुप्रेक्षा करना योग्य है। श्री लल्लुजी आदि मुनियोको नमस्कार प्राप्त हो। कर्मग्रंथकी वाचना पूरी होनेपर पुनः आवर्तन करके अनुप्रेक्षा कर्तव्य है।

---

७६८ ववाणिया, चैत्र सुदी ४, सोम, १९५३

शुभेच्छायुक्त श्री केशवलालके प्रति, श्री भावनगर।

पत्र प्राप्त हुआ है। आशंकाका समाधान इस प्रकार है :—

एकेंद्रिय जीवको अव्यक्तरूपसे अनुकूल स्पर्श आदिकी प्रियता है, वह 'मैथुनसंज्ञा' है।

एकेंद्रिय जीवको देह और देहके निर्वाह आदिके साधनोंमें अव्यक्त मूर्च्छारूप 'परिग्रहसज्ञा' है।

वनस्पति एकेंद्रिय जीवमे यह संज्ञा कुछ विशेष व्यक्त है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन-पर्यायज्ञान, केवलज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंग-ज्ञान—ये आठों जीवके उपयोगरूप होनेसे अरूपी कहे है। ज्ञान और अज्ञान इन दोनोंमे मुख्य अंतर इतना ही है कि जो ज्ञान समकितसहित है उसे 'ज्ञान' कहा है और जो ज्ञान मिथ्यात्वसहित है उसे 'अज्ञान' कहा है। परन्तु वस्तुत दोनों ज्ञान हैं।

'ज्ञानावरणीयकर्म' और 'अज्ञान' दोनों एक नही है। 'ज्ञानावरणीयकर्म' ज्ञानको आवरणरूप है, और 'अज्ञान' ज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमरूप अर्थात् आवरण दूर होनेरूप है।

साधारण भाषामे 'अज्ञान' शब्दका अर्थ 'ज्ञानरहित' होता है, जैसे कि जड़ ज्ञानसे रहित है। परंतु निर्ग्रंथ-परिभाषामें तो मिथ्यात्वसहित ज्ञानका नाम अज्ञान है, इसलिये उस दृष्टिसे अज्ञानको अरूपी कहा है।

यह आशका हो सकती है कि यदि अज्ञान अरूपी हो तो सिद्धमे भी होना चाहिये। इसका समाधान यह है —मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही 'अज्ञान' कहा है, उसमेसे मिथ्यात्व निकल जानेसे शेष ज्ञान रहता है, वह ज्ञान सपूर्ण शुद्धतासहित सिद्ध भगवानमे रहता है। सिद्ध, केवलज्ञानी और सम्यग्दृष्टिका ज्ञान मिथ्यात्वरहित है। मिथ्यात्व जीवको भ्रातिरूप है। वह भ्राति यथार्थ समझमे आ जानेपर निवृत्त हो सकने योग्य है। मिथ्यात्व दिशाभ्रमरूप है।

श्री कुवरजीकी अभिलाषा विशेष थी, परन्तु किसी एक हेतुविशेषके बिना पत्र लिखना अभी बन नही पाता। यह पत्र उन्हे पढवानेकी विनती है।

---

७६९ ववाणिया, चैत्र सुदी ४, १९५३

तीनो प्रकारके समकितमेसे चाहे जिस प्रकारका समकित प्रगट हो तो भी अधिकसे अधिक पंद्रह भवोमे मोक्ष होता है, और यदि उस समकितके होनेके बाद जीव उसका वमन कर दे तो अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तनकाल तक ससार परिभ्रमण होकर मोक्ष होता है।

तीर्थंकरके निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथिनियो, श्रावक और श्राविकाओं सभीको जीव-अजीवका ज्ञान था इसलिये उन्हे समकित कहा है, यह बात नही है। उनमेसे अनेक जीवोंको मात्र सच्चे अतरग भावसे तीर्थंकरकी और उनके उपदिष्ट मार्गकी प्रतीतिसे भी समकित कहा है। इस समकितकी प्राप्तिके बाद यदि उसका वमन न किया हो तो अधिकसे अधिक पद्रह भव होते हैं। सच्चे मोक्षमार्गको प्राप्त ऐसे सत्पुरुषकी तथारूप प्रतीतिसे सिद्धांतमें अनेक स्थलोंमें समकित कहा है। इस समकितके आये बिना जीवको प्राय: जीव और अजीवका यथार्थ ज्ञान भी नही होता। जीव-अजीवका ज्ञान प्राप्त करनेका मुख्य मार्ग यही है।

---

७७० ववाणिया, चैत्र सुदी ४, १९५३

ज्ञान जीवका रूप है, इसलिये वह अरूपी है, और जब तक ज्ञान विपरीतरूपसे जाननेका कार्य करता है, तब तक उसे अज्ञान कहना ऐसी निर्ग्रंथ-परिभाषा है, परन्तु यहाँ ज्ञानका दूसरा नाम ही अज्ञान है यों समझना चाहिये।

ज्ञानका दूसरा नाम अज्ञान हो तो जिस तरह ज्ञानसे मोक्ष होना कहा है, उसी तरह अज्ञानसे भी मोक्ष होना चाहिये। इसी तरह जैसे मुक्त जीवमे भी ज्ञान कहा है वैसे अज्ञान भी कहना चाहिये, ऐसी आशंका की है, जिसका समाधान यह है :—

गाँठ पड़नेसे उलझा हुआ सूत्र और गाँठ निकल जानेसे सुलझा हुआ सूत्र ये दोनों सूत्र ही हैं; फिर भी गाँठकी अपेक्षासे उलझा हुआ सूत्र और सुलझा हुआ सूत्र कहा जाता है। उसी तरह मिथ्यात्वज्ञान 'अज्ञान' और सम्यग्ज्ञान 'ज्ञान' ऐसी परिभाषा की है, परन्तु मिथ्यात्वज्ञान जड है और सम्यग्ज्ञान चेतन है यह बात नही है। जिस तरह गाँठवाला सूत्र और गाँठ रहित सूत्र दोनों सूत्र ही हैं, उसी तरह मिथ्यात्व-ज्ञानसे संसार-परिभ्रमण और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष होता है। जैसे कि यहाँसे पूर्व दिशामे दस कोस दूर एक गाँव है; वहाँ जानेके लिये निकला हुआ मनुष्य दिशाभ्रमसे पूर्वके बदले पश्चिममें चला जाये, तो वह पूर्व दिशावाला गाँव प्राप्त नहीं होता, परन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि उसने चलनेकी क्रिया नहीं की; उसी तरह देह और आत्मा भिन्न होनेपर भी जिसने देह और आत्माको एक समझा है वह जीव देहबुद्धिसे संसारपरिभ्रमण करता है; परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने जाननेका कार्य नहीं किया है। पूर्वसे पश्चिमकी ओर चला है, यह जिस तरह पूर्वको पश्चिम माननेरूप भ्रम है, उसी तरह देह और आत्मा भिन्न होनेपर भी दोनोंको एक माननेरूप भ्रम है; परंतु पश्चिममे जाते हुए—चलते हुए जिस तरह चलनेरूप स्वभाव है, उसी तरह देह और आत्माको एक माननेमें भी जाननेरूप स्वभाव है। जिस तरह पूर्वके बदले पश्चिमको पूर्व मान लेना भ्रम है, वह भ्रम तथारूप हेतु-सामग्रीके मिलनेपर समझमे आनेसे पूर्व पूर्व ही समझमें आता है, और पश्चिम पश्चिम हो समझमे आता है, तब वह भ्रम दूर हो जाता है, और पूर्वकी तरफ चलने लगता है, उसी तरह देह और आत्माको एक मान लिया है वह सद्गुरु-उपदेशादि सामग्री मिलनेपर दोनो भिन्न हैं यों यथार्थ समझमें आ जाता है, तब भ्रम दूर होकर आत्माके प्रति ज्ञानोपयोग परिणमित होता है। भ्रममें पूर्वको पश्चिम और पश्चिमको पूर्व मान लेनेपर भी पूर्व पूर्व ही और पश्चिम पश्चिम दिशा ही थी, मात्र भ्रमसे विपरीत भासित होता था। उसी तरह अज्ञानमे भी देह देह ही और आत्मा आत्मा ही होनेपर भी वे उस तरह भासित नही होते, यह विपरीत भासना है। वह यथार्थ समझमे आनेपर, भ्रम निवृत्त हो जानेसे देह देह ही भासित होती है और आत्मा आत्मा ही भासित होता है; और जाननेरूप स्वभाव जो विपरीत भावको भजता था वह सम्यग्भावको भजता है। वस्तुत॰ दिशाभ्रम कुछ भी नहीं है, और चलनेरूप क्रियासे इष्ट गाँव प्राप्त नही होता, उसी तरह मिथ्यात्व भी वस्तुतः कुछ भी नही है, और उसके साथ जाननेरूप स्वभाव भी है, परन्तु साथमे मिथ्यात्वरूप भ्रम होनेसे स्वस्वरूपतामे परमस्थिति नही होती। दिशाभ्रम दूर हो जानेसे इष्ट गाँवकी ओर मुड़नेके बाद मिथ्यात्वका भी नाश हो जाता है, और स्वस्वरूप शुद्ध ज्ञानात्मपदमे स्थिति हो सकती है इसमें किसी संदेहको स्थान नही है।

---

७७१ **ववाणिया, चैत्र सुदी ५, १९५३**

यहाँसे [1]पिछले पत्रमें तीन प्रकारके समकित बताये थे। उन तीनों समकितमेसे चाहे जो समकित प्राप्त करनेसे जीव अधिकसे अधिक पंद्रह भवमे मोक्ष प्राप्त करता है, और कमसे कम उसी भवमे भी मोक्ष होता है; और यदि वह समकितका वमन कर दे, तो अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तनकाल तक संसारपरिभ्रमण करके भी मोक्षको प्राप्त करता है। समकित प्राप्त करनेके बाद अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तन संसार होता है।

---

१. देखें आक ७५१।

क्षयोपशम समकित हो अथवा उपशम समकित हो, तो जीव उसका वमन कर सकता है; परन्तु क्षायिक समकित हो तो उसका वमन नहीं किया जा सकता। क्षायिक समकिती जीव उसी भवमे मोक्ष प्राप्त करता है, अधिक भव करे तो तीन भव करता है, और किसी एक जीवकी अपेक्षा क्वचित् चार भव होते हैं। युगलियाकी आयुका बंध होनेके बाद क्षायिक समकित उत्पन्न हुआ हो, तो चार भव होना संभव है, प्रायः किसी ही जीवको ऐसा होता है।

भगवान तीर्थंकरके निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथिनियों, श्रावक तथा श्राविकाओंको कुछ सभीको जीवाजीवका ज्ञान था, इसलिये उन्हे समकित कहा है ऐसा सिद्धातका अभिप्राय नही है। उनमेसे कितने ही जीवोंको, तीर्थंकर सच्चे पुरुष है, सच्चे मोक्षमार्गके उपदेष्टा है, जिस तरह वे कहते हैं उसी तरह मोक्षमार्ग है, ऐसी प्रतीतिसे, ऐसी रुचिसे, श्री तीर्थंकरके आश्रयसे और निश्चयसे समकित कहा है। ऐसी प्रतीति, ऐसी रुचि, और ऐसे आश्रयका तथा आज्ञाका जो निश्चय है, वह भी एक तरहसे जीवाजीवके ज्ञानस्वरूप है। पुरुष सच्चे है और उनकी प्रतीति भी सच्ची हुई है कि जिस तरह ये परमकृपालु कहते है उसी तरह मोक्षमार्ग है वैसा ही मोक्षमार्ग होता है, उस पुरुषके लक्षण आदि भी वीतरागताकी सिद्धि करते हैं। जो वीतराग होता है वह पुरुष यथार्थ वक्ता होता है, और उसी पुरुषकी प्रतीतिसे मोक्षमार्ग स्वीकार करने योग्य होता है ऐसी सुविचारणा भी एक प्रकारका गौणतासे जीवाजीवका ही ज्ञान है। उस प्रतीतिसे, उस रुचिसे और उस आश्रयसे फिर अनुक्रमसे स्पष्ट विस्तारसहित जीवाजीवका ज्ञान होता है। तथारूप पुरुषकी आज्ञाकी उपासनासे रागद्वेषका क्षय होकर वीतरागदशा उत्पन्न होती है। तथारूप सत्पुरुषके प्रत्यक्ष योगके बिना यह समकित होना कठिन है। वैसे पुरुषके वचनरूप शास्त्रोंसे पूर्वकालके किसी आराधक जीवको समकित होना सम्भव है, अथवा कोई एक आचार्य प्रत्यक्षरूपसे उस वचनके हेतुसे किसी जीवको समकित प्राप्त कराता है।

---

७७२ ववाणिया, चैत्र सुदी १०, सोम, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

औषधादि संप्राप्त होनेपर कितने ही रोगादिपर असर करते है, क्योंकि उस रोगादिके हेतुका कर्मबंध कुछ उसी प्रकारका होता है। औषधादिके निमित्तसे वह पुद्गल विस्तारमे फैलकर अथवा दूर होकर वेदनीयके उदयके निमित्तपनको छोड़ देता है। यदि उस तरह निवृत्त होने योग्य उस रोगादि संबधी कर्मबंध न हो तो उस पर औषधादिका असर नही होता, अथवा औषधादि प्राप्त नही होते या सम्यक् औषधादि प्राप्त नही होते।

अमुक कर्मबंध किस प्रकारका है उसे तथारूप ज्ञानदृष्टिके बिना जानना कठिन है। इससे औषधादि व्यवहारकी प्रवृत्तिका एकांतसे निषेध नही किया जा सकता। अपनी देहके संबंधमे कोई एक परम आत्म-दृष्टिवाला पुरुष उस तरह आचरण करे तो, अर्थात् वह औषधादिका ग्रहण न करे, तो वह योग्य है, परंतु दूसरे सामान्य जीव उस तरह आचरण करने लगे तो वह एकातिक दृष्टिसे कितनी ही हानि कर डालते हैं। फिर उसमे भी अपने आश्रित जीवोके प्रति अथवा किसी दूसरे जीवके प्रति रोगादि कारणोंमे वैसा उपचार करनेके व्यवहारमे प्रवृत्ति की जा सकती है, फिर भी उपचार आदि करनेमे उपेक्षा करे तो अनुकंपा-मार्गको छोड़ देने जैसा हो जाता है। कोई जीव चाहे जैसा पीड़ित हो तो भी उसे दिलासा देने तथा औषधादि देनेके व्यवहारको छोड़ दिया जाये तो उसे आर्तध्यानका हेतु होने जैसा हो जाता है। गृहस्थव्यवहारमे ऐसी एकांतिक दृष्टि करनेसे बहुत विरोध उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानियोंने *त्याग व्यवहारमें भी एकांतसे* उपचारादिका निषेध नहीं किया है। निर्ग्रन्थको स्वपरिग्रहित शरीरमें रोगादि हो तब औषधादिके ग्रहण सम्बन्धी ऐसी आज्ञा है कि जब तक आर्तध्यान उत्पन्न न होने योग्य दृष्टि रहे तब तक औषधादिका ग्रहण नहीं करना, और वैसा विशेष कारण दिखायी दे तो निरवद्य औषधादिका ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नही होता, अथवा यथाशुभ औषधादिका ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नही होता। तथा दूसरे निर्ग्रंथको शरीरमें रोगादि हुआ हो तब उसकी वैयावृत्यादि करनेका प्रकार जहाँ प्रदर्शित किया है वहाँ उसे इसी तरह प्रदर्शित किया है कि जिससे कुछ भी विशेष अनुकंपादि दृष्टि रहे। इसलि गृहस्थ-व्यवहारमें एकांतसे उसका त्याग करना अशक्य है यह समझमे आयेगा।

वे औषधादि कुछ भी पापक्रियासे उत्पन्न हुए हों तो भी वे अपने निजी गुणको दिखाये बिना नही रहेंगे, और उसमें हुई पापक्रिया भी अपना गुण दिखाये बिना नही रहेगी। अर्थात् जिस तरह औषधादिके पुद्गलोंमे रोगादिके पुद्गलोंके पराभव करनेका गुण है उसी प्रकार उसे बनानेमे की गयी पापक्रियामे भी पापरूपसे परिणमन करनेका गुण है, और इससे कर्मबंध होकर यथावसर उस पापक्रियाका फल उदयमे आता है। उस पापक्रियावाला औषधादि करनेमे, करानेमें और अनुमोदन करनेमे, ग्रहण करनेवाले जीवकी जैसी जैसी देहादिके प्रति मूर्च्छा है, जैसी मनकी आकुल-व्याकुलता है, जैसा आर्त्तध्यान है, तथा उस औषधादिकी पापक्रिया है, वे सब अपने अपने स्वभावसे परिणमन कर यथावसर फल देते है। जिस तरह रोगादिका कारणरूप कर्मबंध अपना जैसा स्वभाव है वैसा प्रदर्शित करता है, जिस तरह औषधादिके पुद्गल अपना स्वभाव दिखाते हैं, उसी तरह औषधादिकी उत्पत्ति आदिमें हुई क्रिया, उसके कर्त्ताकी ज्ञानादि वृत्ति तथा उस ग्रहणकर्त्ताके जैसे परिणाम है, उसका जैसा ज्ञानादि है, वृत्ति है, वैसा उसे अपना स्वभाव दिखाना योग्य है, तथारूप शुभ शुभस्वरूपसे और अशुभ अशुभस्वरूपसे सफल है।

गृहस्थ-व्यवहारमें भी अपनी देहमें रोगादि होनेपर जितनी मुख्य आत्मदृष्टि रहे उतनी रखनी, और यदि यथादृष्टिसे देखनेसे आर्तध्यानका परिणाम अवश्य आने योग्य दिखायी दे, अथवा आर्तध्यान उत्पन्न होता हुआ दिखायी दे तो औषधादिके व्यवहारका ग्रहण करते हुए निरवद्य (निष्पाप) औषधादिकी वृत्ति रखनी। क्वचित् अपने लिये अथवा अपने आश्रित अथवा अनुकम्पा योग्य दूसरे जीवके लिये सावद्य औषधादिका ग्रहण हो तो उसकी सावद्यता निध्वंस (क्रूर) परिणामके हेतु जैसी अथवा अधर्ममार्गका पोषण करनेवाली नही होनी चाहिये, यह ध्यानमे रखना योग्य है।

सर्व जीव-हितकारी ज्ञानीपुरुषकी वाणीको किसी भी एकांत दृष्टिको ग्रहण करके अहितकारी अर्थमे न ले जायें, यह उपयोग निरंतर स्मरणमे रखना योग्य है।

---

७७३ ववाणिया, चैत्र सुदी १५, शनि, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

जिस वेदनीयपर औषध असर करता है, वह औषध वस्तुतः वेदनीयके बंधको निवृत्त कर सकता है, ऐसा नही कहा है; क्योंकि वह औषध कर्मरूप वेदनीयका नाश करे तो अशुभ कर्म निष्फल हो जाये अथवा औषध शुभ कर्मरूप कहा जाये। परन्तु यहाँ यह समझना योग्य है कि वह अशुभ वेदनीयकर्म इस प्रकारका है कि उसे परिणामांतर प्राप्त करनेमें औषधादि निमित्तकारणरूप हो सकता हैं। मंद या मध्यम शुभ अथवा अशुभ बंधको किसी एक स्वजातीय कर्मके मिलनेसे उत्कृष्ट बंध भी हो सकता है। मंद या मध्यम बाँधे हुए कितने ही शुभ बंधका किसी एक अशुभ कर्मविशेषके पराभवसे अशुभ परिणाम होता है। उसी तरह वैसे अशुभ बंधका किसी एक शुभ कर्मके योगसे शुभ परिणाम होता है।

मुख्यतः बंध परिणामानुसार होता है। किसी एक मनुष्यने किसी एक मनुष्य प्राणीका तीव्र परिणाम से नाश करनेसे उसने निकाचित कर्म उत्पन्न किया। फिर भी कितने ही बचावके कारणोंसे और साक्षी आदिके अभावसे, राजनीतिके नियमसे वह कर्म करनेवाला मनुष्य छूट जाये तो इससे यह समझना योग्य नही है कि उसका बंध निकाचित नहीं है; उसके विपाकके उदय होनेका समय दूर होनेसे भी ऐसा हो सकता है। फिर बहुतसे अपराधोंमे राजनीतिके नियमानुसार दड होता है वह भी कर्त्ताके परिणामके समान ही है, ऐसा एकातिक नही है, अथवा वह दड किसी पूर्वकालमे उत्पन्न किये हुए अशुभकर्मके उदय-रूप भी होता है, और वर्तमान कर्मबध सत्तामें पड़े रहते हैं, जो यथावसर विपाक देते है।

सामान्यत असत्यादिकी अपेक्षा हिंसाका पाप विशेष है। परन्तु विशेष दृष्टिसे तो हिंसाकी अपेक्षा असत्यादिका पाप एकातसे कम है, ऐसा न समझें अथवा अधिक है, ऐसा भी एकातसे न समझें। हिंसा-के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और उसके कर्ताके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार कर्ताको उसका बंध होता है। इसी तरह असत्यादिके सम्बन्धमे भी समझना योग्य है। किसी एक हिंसाकी अपेक्षा किसी एक असत्यादिका फल एक गुना, दो गुना अथवा अनंत गुना विशेष तक होता है; इसी तरह किसी एक असत्यादिकी अपेक्षा किसी एक हिंसाका फल एक गुना, दो गुना अथवा अनंत गुना विशेष तक होता है।

त्यागकी वारंवार विशेष अभिलाषा होनेपर भी, संसारके प्रति विशेष उदासीनता होनेपर भी, किसी एक पूर्वकर्मके प्राबल्यसे जो जीव गृहस्थावासका त्याग नही कर सकता, वह पुरुष गृहस्थावासमे कुटुम्ब आदिके निर्वाहके लिये जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसमे उसके परिणाम जैसे जैसे रहते हैं, तदनुसार बधादि होते है। मोह हो किंतु अनुकपा माने, अथवा प्रमाद हो किंतु उदय माने तो इससे कर्मबंध कुछ धोखा नही खाता। वह तो यथापरिणाम बधको प्राप्त होता है। कर्मके सूक्ष्म प्रकारोका मति यदि विचार न कर सके तो भी शुभ और अशुभ कर्म सफल है, इस निश्चयका जीवको विस्मरण नही करना चाहिये।

प्रत्यक्ष परम उपकारी होनेसे तथा सिद्धपदके बतानेवाले भी होनेसे सिद्धकी अपेक्षा अर्हंतको प्रथम नमस्कार किया है।

७७४

(१) शुभ बंध मंद हो और उसे किसी अशुभकर्मका योग मिले तो शुभ बंध पहलेकी अपेक्षा अधिक मद हो जाता है। (२) शुभ बंध मद हो और उसमें किसी शुभ कर्मयोगका मिलना हो तो मूलकी अपेक्षा अधिक दृढ होता है अथवा निकाचित होता है। (३) कोई अशुभ बध मंद हो और उसे किसी एक शुभ कर्मका योग मिले तो मूलकी अपेक्षा अशुभ बंध कम मंद होता है। (४) अशुभ बंध मंद हो उसमें अशुभ कर्म मिल जाये तो अशुभ बंध अधिक दृढ़ होता है अथवा निकाचित होता है। (५) अशुभ बंधको अशुभ कर्म दूर नहीं कर सकते और शुभ बधको शुभ कर्म दूर नही कर सकते। (६) शुभ कर्मबंधका फल शुभ होता है और अशुभ कर्मबंधका फल अशुभ होता है। दोनोंके फल तो होने ही चाहिये, निष्फल नही हो सकते।

रोग आदि औषधसे दूर हो सकते है, इससे किसीको यह लगे कि पापवाला औषध करना अशुभ-कर्मरूप है, फिर भी उससे अशुभ कर्मका फल जो रोग है वह मिट सकता है, अर्थात् यह कि अशुभसे शुभ हो सकता है; ऐसी शंका हो सकती है; परंतु ऐसा नहीं है। इस शंकाका समाधान निम्नलिखित है :—

किसी एक पुद्गलके परिणामसे हुई वेदना (पुद्गलविपाकी वेदना) तथा मंद रसकी वेदना कई सयोगोंसे दूर हो सकती है और कई संयोगोंसे अधिक होती है अथवा निकाचित होती है। ऐसी वेदनामे

परिवर्तन होनेमे बाह्य पुद्गलरूप औषध आदि निमित्त कारण देखनेमें आते हैं, परंतु वास्तवमें तो वह बंध पूर्वसे ही ऐसा बाँधा हुआ है कि उस प्रकारके औषध आदिसे दूर हो सकता है। औषध आदि मिलनेका कारण यह है कि अशुभ बंध मंद बाँधा था, और बंध भी ऐसा था कि उसे ऐसे निमित्त कारण मिलें तो दूर हो सके। परन्तु इससे यो कहना ठीक नही है कि पाप करनेसे उस रोगका नाश हो सका; अर्थात् पाप करनेसे पुण्यका फल प्राप्त किया जा सका। पापवाले औषधकी इच्छा और उसे प्राप्त करनेकी प्रवृत्तिसे अशुभ कर्म बंधने योग्य है और उस पापवाली क्रियासे कुछ शुभ फल नही होता। ऐसा लगे कि अशुभ कर्मके उदयरूप असाताको उसने दूर किया जिससे वह शुभरूप हुआ, तो यह समझकी भूल है; असाता ही इस प्रकारकी थी कि उस तरह मिट सके और इतनी आर्त्तध्यान आदिकी प्रवृत्ति कराकर दूसरा बंध कराये।

'पुद्गलविपाकी' अर्थात् जो किसी बाह्य पुद्गलके सयोगसे पुद्गलविपाकरूपसे उदयमें आये और किसी बाह्य पुद्गलके सयोगसे निवृत्त भी हो जाये; जैसे ऋतुके परिवर्तनके कारणसे सरदीकी उत्पत्ति होती है और ऋतु-परिवर्तनसे उसका नाश हो जाता है, अथवा किसी गरम औषध आदिसे वह निवृत्त हो जाती है।

निश्चयमुख्यदृष्टिसे तो औषध आदि कथनमात्र है। बाकी तो जो होना होता है वही होता है।

---

७७५ ववाणिया, चैत्र वदी ५, १९५३

दो पत्र प्राप्त हुए हैं।

ज्ञानीकी आज्ञारूप जो जो क्रिया है उस उस क्रियामे तथारूपसे प्रवृत्ति की जाये तो वह अप्रमत्त उपयोग होनेका मुख्य साधन है, ऐसे [1]भावार्थमे यहाँसे पहले पत्र लिखा था। उसका ज्यो ज्यों विशेष विचार किया जायेगा त्यो त्यो अपूर्व अर्थका उपदेश मिलेगा। नित्य अमुक शास्त्रस्वाध्याय करनेके बाद उस पत्रका विचार करनेसे अधिक स्पष्ट बोध होना योग्य है।

छकायका स्वरूप भी सत्पुरुषकी दृष्टिसे प्रतीत करनेसे तथा उसका विचार करनेसे ज्ञान ही है। यह जीव किस दिशासे आया है, इस वाक्यसे शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनका आरभ हुआ है। सद्गुरुके मुखसे इस प्रारम्भवाक्यका आशय समझनेसे समस्त द्वादशागीका रहस्य समझमे आना योग्य है। अभी तो जो आचाराग आदि पढें उसका अधिक अनुप्रेक्षण कीजियेगा। कितने ही उपदेश पत्रोसे वह सहजमें समझमे आ सकेगा। सभी मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो। सभी मुमुक्षुओंको प्रणाम प्राप्त हो।

---

७७६ सायला, वैशाख सुदी १५, १९५३

ॐ

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये कर्मबंधके पाँच कारण हैं। किसी जगह प्रमादके सिवाय चार कारण बताये होते हैं। वहाँ मिथ्यात्व, अविरति और कषायमे प्रमादका अंतर्भाव किया होता है।

शास्त्रपरिभाषासे 'प्रदेशबंध' शब्दका अर्थ .— परमाणु सामान्यः एक प्रदेशावगाही है। ऐसे एक परमाणुका ग्रहण एक प्रदेश कहा जाता है। जीव कर्मबंधमें अनंत परमाणुओंको ग्रहण करता है। वे परमाणु यदि फैल जाये तो अनंतप्रदेशी हो सकें, जिससे अनन्त प्रदेशका बंध कहा जाये। उसमे बंध

---

१. देखें आक ७६७

अनन्त आदिसे भेद पड़ता है, अर्थात् जहाँ अल्प प्रदेशबंध कहा हो वहाँ परमाणु अनन्त समझें, परन्तु उस अनन्तकी सघनता अल्प समझे। यदि उससे विशेष-विशेष लिखा हो तो अनन्तताकी सघनता समझे।

जरा भी व्याकुल न होते हुए कर्मग्रन्थको आद्यंत पढे और विचारें।

---

७७७ ईड़र, वैशाख वदी १२, शुक्र, १९५३

तथारूप (यथार्थ) आप्त (जिसके विश्वाससे मोक्षमार्गमे प्रवृत्ति की जा सके ऐसे) पुरुषका जीवको समागम होनेमे किसी एक पुण्यहेतुकी जरूरत है, उसकी पहचान होनेमे महान पुण्यकी जरूरत है, और उसकी आज्ञाभक्तिसे प्रवृत्ति करनेमे महान महान पुण्यकी जरूरत है, ऐसे जो ज्ञानीके वचन हैं, वे सत्य हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभवमे आने जैसी बात है।

तथारूप आप्तपुरुषके अभाव जैसा यह काल चल रहा है। तो भी ऐसे समागमके इच्छुक आत्मार्थी जीवको उसके अभावमे भी विशुद्धिस्थानकके अभ्यासका लक्ष्य अवश्य ही कर्तव्य है।

---

७७८ ईडर, वैशाख वदी १२, शुक्र, १९५३

दो पत्र मिले है। यहाँ प्रायः मगलवार तक स्थिति होगी। बुधवार शामको अहमदाबादसे डाक-गाडीमे बंबई जानेके लिये बैठना होगा। प्राय. गुरुवार सबेरे बम्बई उतरना होगा।

सर्वथा निराश हो जानेसे जीवको सत्समागमका प्राप्त हुआ लाभ भी शिथिल हो जाता है। सत्-समागमके अभावका खेद रखते हुए भी सत्समागम हुआ है, यह परमपुण्यका योग है। इसलिये सर्वसंग-त्यागका योग बनने तक जब तक गृहस्थावासमे स्थिति हो तब तक उस प्रवृत्तिकी नीतिसहित कुछ भी रक्षा करके परमार्थमे उत्साहसहित प्रवृत्ति करके विशुद्धिस्थानकका नित्य अभ्यास करते रहना यही कर्तव्य है।

---

७७९ बंबई, ज्येष्ठ सुदी, १९५३

ॐ सर्वज्ञ

स्वभावजागृतदशा

[1]चित्रसारी न्यारी, परजंक न्यारौ, सेज न्यारी।
चादरि भी न्यारी, इहाँ झूठी मेरी थपना॥
अतीत अवस्था सैन, निद्रावाहि कोऊ पै न।
विद्यमान पलक न, यामै अब छपना॥
स्वास औ सुपन दोऊ, निद्राकी अलंग बूझै।
सूझै सब अंग लखि, आतम दरपना॥
त्यागी भयौ चेतन, अचेतनता भाव त्यागि।
भालै दृष्टि खोलिकै, संभालै रूप अपना॥

---

१ **भावार्थ**—जब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ तब जीव विचारता है—शरीररूप महल जुदा है, कर्मरूप पलंग जुदा है, मायारूप सेज जुदी है, कल्पनारूप चादर भी जुदी है, यह निद्रावस्था मेरी नही है :—पूर्वकालमे सोनेवाला मेरा दूसरा ही पर्याय था। अब वर्तमानका एक पल भी निद्रामे नही बिताऊँगा। उदयका निश्वास और विषयका स्वप्न ये दोनों निद्राके संयोगसे दीखते थे। अब आत्मरूप दर्पणमे मेरे समस्त गुण दीखने लगे। इस प्रकार आत्मा अचेतन भावोंका त्यागी होकर ज्ञानदृष्टिसे देखकर अपने स्वरूपको सम्भालता है।

अनुभवउत्साहदशा

[1]जैसौ निरभेदरूप, निहचै अतीत हुतौ।
तैसौ निरभेद अब, भेदकौ न गहैगौ॥
दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान।
पायौ निजथान, फिर बाहरि न बहैगौ॥
कबहूँ कदापि अपनौ सुभाव त्यागि करि।
राग रस राचिकैं न परवस्तु गहैगौ॥
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ।
याहि भांति आगम अनंत काल रहैगौ॥

स्थितिदशा

[2]एक परिनामके न करता दरव दोई।
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है॥
एक करतूति दोई दर्व कबहूँ न करै।
दोई करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोऊ।
अपने अपने रूप कोऊ न टरतु है॥
जड परिनामनिकौ करता है पुद्गल।
चिदानन्द चेतन सुभाव आचरतु है॥

श्री सोभागको विचार करनेके लिये यह पत्र लिखा है, इसे अभी श्री अंबालाल अथवा किसी दूसरे योग्य मुमुक्षु द्वारा उन्हें ही सुनाना योग्य है।

आत्मा सर्व अन्यभावसे रहित है, जिसे सर्वथा ऐसा अनुभव रहता है वह 'मुक्त' है।

जिसे अन्य सर्व द्रव्यसे असंगता, क्षेत्रसे असंगता, कालसे असंगता और भावसे असंगता सर्वथा रहती है, वह 'मुक्त' है।

अटल अनुभवस्वरूप आत्मा सब द्रव्योंसे प्रत्यक्ष भिन्न भासित हो तबसे मुक्तदशा रहती है। वह पुरुष मौन हो जाता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध हो जाता है, वह पुरुष असंग हो जाता है, वह पुरुष निर्विकल्प हो जाता है और वह पुरुष मुक्त हो जाता है।

जिन्होंने तीनों कालमें देहादिसे अपना कुछ भी संबंध न था, ऐसी असंगदशा उत्पन्न की है उन भगवानरूप सत्पुरुषोंको नमस्कार हो।

तिथि आदिका विकल्प छोड़कर निज विचारमें रहना यही कर्तव्य है।

शुद्ध सहज आत्मस्वरूप।

---

१. भावार्थ—संसारी दशामें निश्चयनयसे आत्मा जिस प्रकार अभेदरूप था उसी प्रकार प्रगट हो गया। उस परमात्माको अब भेदरूप कोई नहीं कहेगा। जो कर्मरहित और सुख-शांतिसहित दिखायी देता है, तथा जिसने अपने स्थान-मोक्षको पा लिया है, वह अब जन्म-मरणरूप संसारमें नहीं आयेगा। वह कभी भी अपना स्वभाव छोड़कर रागद्वेषमें पड़कर परवस्तुको ग्रहण नहीं करेगा; क्योंकि वर्तमानकालमें जो निर्मल पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है, वह तो आगामी अनंतकाल तक ऐसा ही रहेगा।

२. भावार्थके लिये देखें आंक ३१७।

७८० बंबई, जेठ सुदी ८, मंगल, १९५३

जिसे किसीके भी प्रति राग, द्वेष नहीं रहा,
उस महात्माको वारंवार नमस्कार।

परम उपकारी, आत्मार्थी, सरलतादि गुणसपन्न श्री सोभाग,

त्रंबकभाईका लिखा एक पत्र आज मिला है।

"आत्मसिद्धि" ग्रन्थके संक्षिप्त अर्थकी पुस्तक तथा कितने ही उपदेश-पत्रोकी प्रति यहाँ थी, उन्हें आज डाकसे भेजा है। दोनोमे मुमुक्षु जीवके लिये विचार करने योग्य अनेक प्रसंग है।

परमयोगी ऐसे श्री ऋषभदेव आदि पुरुष भी जिस देहको नहीं रख सके, उस देहमे एक विशेषता रही हुई है, वह यह है कि जब तक उसका सम्बन्ध रहे, तब तकमे जीवको असगता, निर्मोहता प्राप्त करके अबाध्य अनुभवस्वरूप ऐसे निजस्वरूपको जानकर, दूसरे सभी भावोंसे व्यावृत्त (मुक्त) हो जाना कि जिससे फिर जन्म-मरणका फेरा न रहे। उस देहको छोड़ते समय जितने अशमे असगता, निर्मोहता, यथार्थ समरसता रहती है, उतना ही मोक्षपद समीप है, ऐसा परम ज्ञानीपुरुषोका निश्चय है।

मन, वचन और कायाके योगमे जाने-अनजाने कुछ भी अपराध हुआ हो, उस सबकी विनयपूर्वक क्षमा माँगता हूँ, अति नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ।

इस देहसे करने योग्य कार्य तो एक ही है कि किसीके प्रति राग अथवा किसीके प्रति किंचित्‌मात्र द्वेष न रहे। सर्वत्र समदशा रहे। यही कल्याणका मुख्य निश्चय है। यही विनती।

श्री रायचंदके नमस्कार प्राप्त हो।

---

७८१ बंबई, जेठ वदी ६, रवि, १९५३

परमपुरुषदशावर्णन

'कीचसौ कनक जाकै, नीच सौ नरेसपद,
मीचसी मिताई, गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग जाति, कहरसी करामाति,
हहरसी हौस, पुद्‌गलछबि छारसी॥
जालसौ जगबिलास, भालसौं भुवनवास,
कालसौ कुटुम्बकाज, लोकलाज लारसी।
सीठसौ सुजसु जानै, बीठसौ बखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताही, बंदत बनारसी॥'

जो कंचनको कीचडके समान जानता है, राजगद्दीको नीचपदके समान समझता है, किसीसे स्नेह करनेको मृत्युके समान मानता है, बडप्पनको लीपनेके गारे जैसा समझता है, कीमिया आदि योगको जहरके समान गिनता है, सिद्धि आदि ऐश्वर्यको असाताके समान समझता है, जगतमे पूज्यता होने आदिकी लालसाको अनर्थके समान मानता है, पुद्‌गलकी मूर्तिरूप औदारिकादि कायाको राखके समान मानता है, जगतके भोगविलासको दुविधारूप जालके समान समझता है, गृहवासको भालेके समान मानता है, कुटुम्बके कार्यको काल अर्थात् मृत्युके समान गिनता है, लोकमे लाज बढ़ानेकी इच्छाको मुखकी लारके समान समझता है, कीर्तिकी इच्छाको नाकके मैलके समान मानता है, और पुण्यके उदयको जो विष्टाके समान समझता है ऐसी जिसकी रीति हो उसे बनारसीदास वंदन करते है।

किसीके लिये विकल्प न करते हुए असंगता ही रखियेगा। ज्यों ज्यों सत्पुरुषके वचन उन्हे प्रतीतिमें आयेंगे, ज्यों ज्यो आज्ञासे अस्थिमज्जा रगी जायेगी, त्यो त्यों वे सब जीव आत्मकल्याणको सुगमतासे प्राप्त करेंगे, यह नि.संदेह है।

त्रंबक, मणि आदि मुमुक्षुओको तो इस बारके समागममे कुछ आतरिक इच्छासे सत्समागममे रुचि हुई है, इसलिये एकदम दशा विशेष न हो तो भी आश्चर्य नही है।

सच्चे अतःकरणसे विशेष सत्समागमके आश्रयसे जीवको उत्कृष्ट दशा भी बहुत थोड़े समयमे प्राप्त होती है।

व्यवहार अथवा परमार्थसंबंधी किसी भी जीवके बारेमे इच्छा रहती हो, तो उसे उपशात करके सर्वथा असग उपयोगसे अथवा परमपुरुषकी उपर्युक्त दशाके अवलंबनसे आत्मस्थिति करें, यह विज्ञापना है; क्योंकि दूसरा कोई भी विकल्प रखने जैसा नही है। जो कोई सच्चे अत.करणसे सत्पुरुषके वचनोंको ग्रहण करेगा वह सत्यको पायेगा, इसमे कोई संशय नही है, और शरीर-निर्वाह आदि व्यवहार सबके अपने अपने प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होने योग्य है, इसलिये तत्सबधी भी कोई विकल्प रखना योग्य नही है। जिस विकल्पको आपने प्राय. शात कर दिया है, तो भी निश्चयकी प्रबलताके लिये लिखा है।

सब जीवोके प्रति, सभी भावोके प्रति अखंड एक रस वीतरागदशा रखना यही सर्व ज्ञानका फल है। आत्मा शुद्ध चैतन्य, जन्मजरामरणरहित असग स्वरूप है; इसमे सर्व ज्ञान समा जाता है, उसकी प्रतीतिमे सर्व सम्यक्दर्शन समा जाता है, आत्माकी असगस्वरूपसे स्वभावदशा रहे वही सम्यक्चारित्र, उत्कृष्ट सयम और वीतरागदशा है। जिसकी संपूर्णताका फल सर्व दु खका क्षय है, यह सर्वथा नि.संदेह है, सर्वथा नि.संदेह है। यही विनती।

---

७८२ बंबई, जेठ वदी १२, शनि, १९५३

आर्य श्री सोभागने जेठ वदी १० गुरुवार सबेरे १० बजकर ५० मिनिटपर देह त्याग किया, यह समाचार पढ़कर बहुत खेद हुआ है। ज्यों ज्यो उनके अद्‌भुत गुणोके प्रति दृष्टि जाती है, त्यों त्यों अधिकाधिक खेद होता है।

जीवके साथ देहका संबंध इसी तरहका है। ऐसा होनेपर भी अनादिसे उस देहका त्याग करते हुए जीव खेद प्राप्त किया करता है, और उसमे दृढमोहसे एकमेककी तरह प्रवर्तन करता है; यही जन्म-मरणादि ससारका मुख्य बीज है। श्री सोभागने ऐसी देहका त्याग करते हुए महामुनियोंको भी दुर्लभ ऐसी निश्चल असगतासे निज उपयोगमय दशा रखकर अपूर्व हित किया है, इसमे सशय नही है।

गुरुजन होनेसे, आपके प्रति उनके बहुत उपकार होनेसे तथा उनके गुणोकी अद्‌भुततासे उनका वियोग आपके लिये अधिक खेदकारक हुआ है, और होने योग्य है। उनकी सासारिक गुरुजनताके खेदको विस्मरणकर, उन्होंने आप सब पर जो परम उपकार किया हो तथा उनके गुणोंकी जो जो अद्भुतता आपको प्रतीत हुई हो, उसे वारंवार याद करके, वैसे पुरुषके वियोगका अंतरमे खेद रखकर, उन्होंने आराधन करने योग्य जो जो वचन और गुण बताये हो उनका स्मरण कर उनमे आत्माको प्रेरित करें, यह आप सबसे विनती है। समागममे आये हुए मुमुक्षुओंको श्री सोभागका स्मरण सहज ही बहुत समय तक रहने योग्य है।

मोहसे जिस समय खेद उत्पन्न हो उस समय भी उनके गुणोकी अद्भुतताका स्मरण करके मोहजन्य खेदको शांत करके, उनके गुणोंकी अद्‌भुतताके विरहमें उस खेदको लगाना योग्य है।

इस क्षेत्रमें, इस कालमें श्री सोभाग जैसे विरल पुरुष मिलते हैं, ऐसा हमें वारंवार भासित होता है।

धीरजसे सभी खेदको शांत करें, और उनके अद्भुत गुणों तथा उपकारी वचनोंका आश्रय लें, यह योग्य है। मुमुक्षुको श्री सोभागका विस्मरण करना योग्य नहीं है।

जिसने संसारका स्वरूप स्पष्ट जाना है उसे उस संसारके पदार्थकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिसे हर्ष-शोक होना योग्य नहीं है, तो भी ऐसा *लगता है कि सत्पुरुषके समागमकी प्राप्तिसे कुछ भी हर्ष और उनके* वियोगसे कुछ भी खेद अमुक गुणस्थानक तक उसे भी होना योग्य है।

'आत्मसिद्धि' ग्रन्थ आप अपने पास रखें। त्रंबक और मणि विचार करना चाहें तो विचार करें; परन्तु उससे पहले कितने ही वचन तथा सद्ग्रन्थोंका विचारना बनेगा तो आत्मसिद्धि बलवान उपकारका हेतु होगा, ऐसा लगता है।

श्री सोभागकी सरलता, परमार्थ संबंधी निश्चय, मुमुक्षुके प्रति उपकारशीलता आदि गुण वारंवार विचारणीय हैं। शांतिः शांतिः शांतिः

---

७८३ बंबई, आषाढ़ सुदी ४, रवि, १९५३

श्री सोभागको नमस्कार

श्री सोभागकी मुमुक्षुदशा तथा ज्ञानीके मार्गके प्रति उनका अद्भुत निश्चय वारंवार स्मृतिमे आया करता है।

सर्व जीव सुखकी इच्छा करते हैं, परन्तु कोई विरले पुरुष उस सुखके यथार्थ स्वरूपको जानते हैं।

जन्म, मरण आदि अनंत दु:खोंके आत्यंतिक (सर्वथा) क्षय होनेके उपायको जीव अनादिकालसे नही जानता, उस उपायको जानने और करनेकी सच्ची इच्छा उत्पन्न होनेपर जीव यदि सत्पुरुषके समागमका लाभ प्राप्त करे तो वह उस उपायको जान सकता है, और उस उपायकी उपासना करके सर्व दु:खसे मुक्त हो जाता है।

ऐसी सच्ची इच्छा भी प्राय: जीवको सत्पुरुषके समागमसे ही प्राप्त होती है। ऐसा समागम, उस समागमकी पहचान, प्रदर्शित मार्गकी प्रतीति और उसी तरह चलनेकी प्रवृत्ति जीवको परम दुर्लभ है।

मनुष्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण प्राप्त होना, उसकी प्रतीति होना, और उनके कहे हुए मार्गमे प्रवृत्ति होना परम दुर्लभ है, ऐसा श्री वर्धमानस्वामीने उत्तराध्ययनके तीसरे अध्ययनमे उपदेश किया है।

प्रत्यक्ष सत्पुरुषका समागम और उनके आश्रयमे विचरनेवाले मुमुक्षुओको मोक्षसबंधी सभी साधन प्राय: अल्प प्रयाससे और अल्पकालमे सिद्ध हो जाते है; परन्तु उस समागमका योग मिलना दुर्लभ है। उसी समागमके योगमे मुमुक्षुजीवका चित्त निरन्तर रहता है।

जीवको सत्पुरुषका योग मिलना तो सर्व कालमे दुर्लभ है। उसमे भी ऐसे दु:षमकालमे तो वह योग क्वचित् ही मिलता है। विरले ही सत्पुरुष विचरते है। उस समागमका लाभ अपूर्व है, यों समझकर जीवको मोक्षमार्गकी प्रतीति कर, उस मार्गका निरन्तर आराधन करना योग्य है।

जब उस समागमका योग न हो तब आरम्भ-परिग्रहकी ओरसे वृत्तिको हटाकर सत्शास्त्रका परिचय विशेषत: कर्तव्य है। व्यावहारिक कार्योंकी प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी जो जीव उसमें वृत्तिको मंद करनेकी इच्छा करता है वह जीव उसे मंद कर सकता है, और सत्शास्त्रके परिचयके लिये बहुत अवकाश प्राप्त कर सकता है।

आरंभ-परिग्रहसे जिनकी वृत्ति खिन्न हो गई है, अर्थात् उसे असार समझकर जो जीव उससे पीछे हट गये हैं, उन जीवोंको सत्पुरुषोंका समागम और सत्शास्त्रका श्रवण विशेषतः हितकारी होता है। जिस जीवकी आरम्भ-परिग्रहमें विशेष वृत्ति रहती हो, उस जीवमें सत्पुरुषके वचनोंका अथवा सत्शास्त्रका परिणमन होना कठिन है।

आरम्भ परिग्रहमें वृत्तिको मंद करना और सत्शास्त्रके परिचयमे रुचि करना प्रथम तो कठिन पडता है, क्योंकि जीवका अनादि प्रकृतिभाव उससे भिन्न है; तो भी जिसने वैसा करनेका निश्चय कर लिया है वह वैसा कर सका है, इसलिये विशेष उत्साह रखकर वह प्रवृत्ति कर्तव्य है।

सब मुमुक्षुओंको इस बातका निश्चय और नित्य नियम करना योग्य है, प्रमाद और अनियमितता दूर करना योग्य है।

---

७८४ बंबई, आषाढ़ सुदी ४, रवि, १९५३

सच्चे ज्ञानके बिना और सच्चे चारित्रके बिना जीवका कल्याण नहीं होता, यह निःसंदेह है।

सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण, उसकी प्रतीति, और उसकी आज्ञासे प्रवृत्ति करते हुए जीव सच्चे चारित्रको प्राप्त करते हैं, ऐसा निःसन्देह अनुभव होता है।

यहाँसे 'योगवासिष्ठ'की पुस्तक भेजी है, उसे पाँच-दस बार पुनः पुनः पढ़ना और वारंवार विचारना योग्य है।

---

७८५ बंबई, आषाढ वदी १, गुरु, १९५३

श्री धुरीभाईने 'अगुरुलघु' के विषयमे प्रश्न लिखवाया, उसे प्रत्यक्ष समागममे समझना विशेष सुगम है।

शुभेच्छासे लेकर शैलेशीकरण तककी सभी क्रियाएँ जिस ज्ञानीको मान्य है, उस ज्ञानीके वचन त्याग-वैराग्यका निषेध नही करते। त्याग-वैराग्यके साधनरूपमे प्रथम जो त्याग-वैराग्य आता है, उसका भी ज्ञानी निषेध नहीं करते।

किसी एक जड-क्रियामें प्रवृत्ति करके जो ज्ञानीके मार्गसे विमुख रहता हो, अथवा मतिकी मूढ़ताके कारण ऊँची दशाको पानेसे रुक जाता हो, अथवा असत्समागमसे मतिव्यामोहको प्राप्त होकर जिसने अन्यथा त्याग-वैराग्यको सच्चा त्याग-वैराग्य मान लिया हो, उसका निषेध करनेके लिये करुणाबुद्धिसे ज्ञानी योग्य वचनसे क्वचित् उसका निषेध करते हों, तो व्यामोह प्राप्त न कर उसका सद्धेतु समझकर यथार्थ त्याग-वैराग्यकी अंतर तथा बाह्य क्रियामे प्रवृत्ति करना योग्य है।

---

७८६ बंबई, आषाढ़ वदी १, गुरु, १९५३

[1]'सकळ संसारी इंद्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निःकामी रे॥'

हे मुनियों! आपको आर्य सोभागकी अंतरंग दशा और देहमुक्त समयकी दशाकी वारंवार अनुप्रेक्षा करना योग्य है।

हे मुनियों! आपको द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे असंगतापूर्वक विचरनेका सतत उपयोग सिद्ध करना योग्य है। जिन्होंने जगतसुखस्पृहाको छोड़कर ज्ञानीके मार्गका आश्रय ग्रहण किया है, वे

१. भावार्थके लिये देखें आंक ७४३।

अवश्य उस असंग उपयोगको प्राप्त करते हैं। जिस श्रुतसे असंगता उल्लसित हो उस श्रुतका परिचय कर्तव्य है।

---

७८७ बंबई, आषाढ़ वदी १, गुरु, १९५३

ॐ

श्री सोभागकी देहमुक्त समयकी दशाके बारेमे जो पत्र लिखा है वह भी यहाँ मिला है। कर्मग्रन्थका संक्षिप्त स्वरूप लिखा वह भी यहाँ मिला है।

आर्य सोभागकी बाह्याभ्यंतर दशाकी वारंवार अनुप्रेक्षा कर्तव्य है।

श्री नवलचंदद्वारा प्रदर्शित प्रश्नका विचार आगे कर्तव्य है।

जगतसुखस्पृहामे ज्यों ज्यो खेद उत्पन्न होता है त्यों त्यो ज्ञानीका मर्म स्पष्ट सिद्ध होता है।

---

७८८ बंबई, आषाढ़ वदी ११, रवि, १९५३

परम संयमी पुरुषोंको नमस्कार

असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी भाँति करनेका उदय रहनेपर भी जो पुरुष उस उदयसे क्षोभ न पाकर सहजभाव स्वधर्ममे निश्चलतासे रहे है, उन पुरुषोंके भीष्मव्रतका वारंवार स्मरण करते हैं।

सब मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

---

७८९ बंबई, आषाढ वदी १४, बुध, १९५३

ॐ नमः

प्रथम पत्र मिला था। अभी एक चिट्ठी मिली है।

मणिरत्नमालाकी पुस्तक फिरसे पढ़नेसे अधिक मनन हो सकेगा।

श्री डुंगर तथा ल्हेराभाई आदि मुमुक्षुओंको धर्मस्मरण प्राप्त हो। श्री डुंगरसे कहियेगा कि प्रसंगोपात्त कुछ ज्ञानवार्ता प्रश्नादि लिखें अथवा लिखवायें।

सत्शास्त्रका परिचय नियमपूर्वक निरंतर करना योग्य है। एक दूसरेके समागममे आनेपर आत्मार्थ वार्ता कर्तव्य है।

---

७९० बंबई, श्रावण सुदी ३, रवि, १९५३

परम उत्कृष्ट संयम जिनके लक्ष्यमें निरंतर रहा करता है,
उन सत्पुरुषोंके समागमका ध्यान निरंतर रहता है।

प्रतिष्ठित व्यवहारकी श्री देवकीर्णजीकी अभिलाषासे अनंतगुणविशिष्ट अभिलाषा रहती है। बलवान और वेदन किये बिना अटल उदय होनेसे अंतरंग खेदका समतासहित वेदन करते हैं। दीर्घकालको अति अल्पकालमें लानेके ध्यानमे रहते हैं।

यथार्थ उपकारी प्रत्यक्ष पुरुषमें एकत्वभावना आत्मशुद्धिकी उत्कृष्टता करती है।

सब मुनियोंको नमस्कार।

---

७९१ बंबई, श्रावण सुदी १५, गुरु, १९५३

जिसकी दीर्घकालकी स्थिति है, उसे अल्पकालकी स्थितिमें लाकर,
जिन्होंने कर्मक्षय किया हैं, उन महात्माओंको नमस्कार।

सद्वर्तन, सद्ग्रन्थ और सत्समागममे प्रमाद कर्तव्य नही है।

---

७९२ बंबई, श्रावण सुदी १५, गुरु, १९५३

दो पत्र मिले हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाश' नामक ग्रन्थ आज डाकसे भिजवाया है, वह मुमुक्षुजीवको विचार करने योग्य है। अवकाश निकालकर प्रथम श्री लल्लुजी और देवकीर्णजो उसे संपूर्ण पढे और मनन करे; बादमे बहुतसे प्रसंग दूसरे मुनियोको श्रवण कराने योग्य है।

श्री देवकीर्ण मुनिने दो प्रश्न लिखे हैं। उनका उत्तर प्रायः अबके पत्रमे लिखूँगा।

'मोक्षमार्गप्रकाश' का अवलोकन करते हुए किसी विचारमे मतातर जैसा लगे, तो उद्विग्न न होकर उस स्थलका अधिक मनन करना, अथवा सत्समागमके योगमे उस स्थलको समझना योग्य है।

परमोत्कृष्ट संयममे स्थितिकी बात तो दूर रही, परन्तु उसके स्वरूपका विचार होना भी विकट है।

---

७९३ बंबई, श्रावण सुदी १५, गुरु, १९५३

'सम्यग्दृष्टि अभक्ष्य आहार करता है ?' इत्यादि प्रश्न लिखे। उन प्रश्नोके हेतुका विचार करनेसे पता चलेगा कि प्रथम प्रश्नमें किसी एक दृष्टान्तको लेकर जीवको शुद्ध परिणामकी हानि करने जैसा है। मतिकी अस्थिरतासे जीव परिणामका विचार नहीं कर सकता। श्रेणिक आदिके संबंधमे किसी एक स्थल-पर ऐसी बात किसी एक ग्रन्थमे कही है, परंतु वह किसीके प्रवृत्ति करनेके लिये नही कही है, तथा यह बात यथार्थ इसी तरह है यह भी नहीं है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुषको अल्पमात्र व्रत नहीं होता तो भी सम्यग्दर्शन होनेके बाद जीव उसका वमन न करे तो अधिकसे अधिक पंद्रह भवमें मोक्ष प्राप्त करता है, ऐसा सम्यग्दर्शनका बल है, इस हेतुसे कही हुई बातको दूसरे रूपमें न ले जायें। सत्पुरुषकी वाणी विषय और कषायके अनुमोदनसे अथवा रागद्वेषके पोषणसे रहित होती है, यह निश्चय रखें, और चाहे जैसे प्रसंगमे उसी दृष्टिसे अर्थ करना योग्य है।

श्री डुगर आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य। अभी डुंगर कुछ पढ़ते है ? सो लिखियेगा।

---

७९४ बंबई, श्रावण वदी १, शुक्र, १९५३

पहले एक पत्र मिला था। दूसरा पत्र अभी मिला है।

आर्य सोभागका समागम आपको अधिक समय रहा होता तो बहुत उपकार होता। परंतु भावी प्रबल है। उसके लिये उपाय यह है कि उनके गुणोंका बारंबार स्मरण करके जीवमे वैसे गुण उत्पन्न हों, ऐसा बर्तन करें।

नियमितरूपसे नित्य सद्ग्रंथका पठन तथा मनन रखना योग्य है। पुस्तक आदि कुछ चाहिये तो यहाँ मनसुखको लिखें। वे आपको भेज देंगे। ॐ

---

७९५ बंबई, श्रावण वदी ८, शुक्र, १९५३

शुभेच्छासंपन्न श्री मनसुख पुरुषोत्तम आदि, श्री खेडा।

पत्र मिला है।

आपकी तरफ विचरनेवाले मुनि श्रीमान लल्लुजी आदिको नमस्कार प्राप्त हो। मुनि श्री देवकीर्णजी-के प्रश्न मिले थे। उन्हें विनयसहित विदित कीजियेगा कि 'मोक्षमार्गप्रकाश' पढ़नेसे उन प्रश्नोंका बहुतसा समाधान हो जायेगा और विशेष स्पष्टता समागमके अवसरपर होना योग्य है।

पारमार्थिक करुणाबुद्धिसे निष्पक्षतासे कल्याणके साधनके उपदेष्टा पुरुषका समागम, उसकी उपासना और आज्ञाका आराधन कर्तव्य है। ऐसे समागमके वियोगमे सत्शास्त्रका यथामति परिचय रखकर सदाचारसे प्रवृत्ति करना योग्य है। यही विनती। ॐ

---

७९६ बंबई, श्रावण वदी ८, शुक्र, १९५३

'मोहमुद्गर' और 'मणिरत्नमाला' ये दो पुस्तकें पढ़नेका अभी अभ्यास रखें। इन दो पुस्तकोंमे मोहके स्वरूपके तथा आत्मसाधनके कितने ही उत्तम प्रकार बताये हैं।

---

७९७ बबई, श्रावण वदी ८, शुक्र, १९५३

ॐ

पत्र मिला है।

श्री डुंगरकी दशा लिखी सो जानी है। श्री सोभागके वियोगसे उन्हे सबसे ज्यादा खेद होना योग्य है। एक बलवान सत्समागमका योग चला जानेसे आत्मार्थीके अंतःकरणमे बलवान खेद होना योग्य है।

आप, लहेराभाई, मगन आदि सभी मुमुक्षु निरंतर सत्शास्त्रका परिचय रखना न चूकें। आप कोई कोई प्रश्न यहाँ लिखते है, उसका उत्तर लिखना अभी प्रायः नही बन पाता, इसलिये किसी भी विकल्पमे न पड़ते हुए, अनुक्रमसे वह उत्तर मिल जायेगा यह विचार करना योग्य है।

थोड़े दिनोके बाद प्रायः श्री डुंगरको पढ़नेके लिये एक पुस्तक भेजी जायेगी ताकि उन्हे निवृत्तिकी प्रधानता रहे। यहाँसे मणिलालको राधनपुर एक चिट्ठी लिखी थी।

---

७९८ बबई, श्रावण वदी १०, रवि, १९५३

जिन जिज्ञासुओंको 'मोक्षमार्गप्रकाश' का श्रवण करनेकी अभिलाषा है, उन्हे श्रवण करायें। अधिक स्पष्टीकरणसे और धीरजसे श्रवण कराये। श्रोताको किसी एक स्थानपर विशेष संशय हो तो उसका समाधान करना योग्य है। किसी एक स्थानपर समाधान अशक्य जैसा मालूम हो तो किसी महात्माके योगसे समझनेके लिये कहकर श्रवणको न रोकें; तथा उस संशयको किसी महात्माके सिवाय अन्य किसी स्थानमे पूछनेसे वह विशेष भ्रमका हेतु होगा, और निःसंशयतासे श्रवण किये हुए श्रवणका लाभ वृथासा होगा, ऐसी दृष्टि श्रोताकी हो तो अधिक हितकारी होगा।

---

७९९ बबई, श्रावण वदी १२, १९५३

ॐ

सर्वोत्कृष्ट भूमिकामे स्थिति होने तक, श्रुतज्ञानका अवलंबन लेकर सत्पुरुष भी स्वदशामे स्थिर रह सकते हैं, ऐसा जिनेंद्रका अभिमत है, वह प्रत्यक्ष सत्य दिखायी देता है।

सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत श्रुतज्ञान (ज्ञानी पुरुषोंके वचनों) का अवलंबन जब जब मंद पड़ता है तब तब सत्पुरुष भी कुछ न कुछ चपलता पा जाते हैं, तो फिर सामान्य मुमुक्षु जीव कि जिन्हे विपरीत समागम, विपरीत श्रुत आदि अवलंबन रहे हैं उन्हे वारंवार विशेष विशेष चपलता होना संभव है।

ऐसा है तो भी जो मुमुक्षु सत्समागम, सदाचार और सत्शास्त्रविचाररूप अवलंबनमें दृढ़ निवास करते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत पहुँचना कठिन नही है; कठिन होनेपर भी कठिन नहीं है।

---

८०० बंबई, श्रावण वदी १२, १९५३

ॐ

पत्र मिला है। दीवाली तक प्रायः इस क्षेत्रमे स्थिति होगी।

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जिन सत्पुरुषोंको प्रतिबध नही है उन सत्पुरुषोंको नमस्कार।

सत्समागम, सत्शास्त्र और सदाचारमें दृढ़ निवास, ये आत्मदशा होनेके प्रबल अवलंबन है। सत्समागमका योग दुर्लभ है, तो भी मुमुक्षुको उस योगकी तीव्र अभिलाषा रखना और प्राप्ति करना योग्य है। उस योगके अभावमें तो जीवको अवश्य ही सत्शास्त्ररूप विचारके अवलंबनसे सदाचारकी जाग्रति रखना योग्य है।

---

८०१ बबई, भादो सुदी ६, गुरु, १९५३

परमकृपालु पूज्य पिताजी, ववाणियाबंदर।

आज दिन तक मैंने आपकी कुछ भी अविनय, अभक्ति या अपराध किया हो, तो दो हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर शुद्ध अंत करणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपा करके आप क्षमा प्रदान करे। अपनी माताजीसे भी इसी तरह क्षमा माँगता हूँ। इसी प्रकार अन्य सब साथियोंके प्रति मैंने जाने-अनजाने किसी भी प्रकारका अपराध या अविनय किया हो उसके लिये शुद्ध अतःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपया सब क्षमा प्रदान करें।

---

८०२ बंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

बाह्य क्रिया और गुणस्थानकादिमे की जानेवाली क्रियाके स्वरूपकी चर्चा करना, अभी प्रायः स्व-पर उपकारी नही होगा। इतना कर्तव्य है कि तुच्छ मतमतातरपर दृष्टि न डालते हुए असद्वृत्तिके निरोधके लिये सत्शास्त्रके परिचय और विचारमे जीवकी स्थिति करना।

---

८०३ बंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

शुभेच्छा योग्य,

आपका पत्र मिला है। इस क्षण तक आपका तथा आपके समागमवासी भाइयोंका कोई भी अपराध या अविनय मुझसे हुआ हो उसके लिये नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ। ॐ

---

८०४ बंबई, भादो सुदी ९, रवि, १९५३

मुनिपथानुगामी श्री लल्लुजी आदि मुमुक्षु तथा शुभेच्छायोग्य भावसार मनसुखलाल आदि मुमुक्षु, श्री-खेडा।

आज तक आपका कोई भी अपराध या अविनय इस जीवसे हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ। ॐ

---

८०५ बंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

आज तक आपका तथा अबालाल आदि सभी मुमुक्षुओका मुझसे कोई अपराध या अविनय हुआ हो उसके लिये आप सबसे क्षमा चाहता हूँ।

फेणायसे पोपटभाईका पत्र मिला था। अभी किसी सद्ग्रंथको पढनेके लिये उन्हें लिखें।

यही विनती।

---

८०६ बंबई, भादों वदी ८, रवि, १९५३

श्री डुंगर आदि मुमुक्षु,

मगनलालने मन आदिकी पहचानके प्रश्न लिखे हैं, उन्हे समागममे पूछनेसे समझना बहुत सुलभ होगा। पत्रद्वारा समझमे आने कठिन हैं।

श्री लहेराभाई आदि मुमुक्षुओंको आत्मस्मरणपूर्वक यथाविनय प्राप्त हो।

जीवको परमार्थप्राप्तिमे अपार अंतराय है; उसमे भी इस कालमें तो उन अंतरायोंका अवर्णनीय बल होता है। शुभेच्छासे लेकर कैवल्यपर्यंतकी भूमिकामे पहुँचते हुए जगह जगह वे अंतराय देखनेमे आते हैं, और वे अंतराय जीवको वारवार परमार्थसे गिराते है। जीवको महापुण्यके उदयसे यदि सत्समागमका अपूर्व लाभ मिलता रहे तो वह निर्विघ्नतासे कैवल्यपर्यंतकी भूमिकामे पहुँच जाता है। सत्समागमके वियोगमें जीवको आत्मबल विशेष जाग्रत रखकर सत्शास्त्र और शुभेच्छासंपन्न पुरुषोंके समागममें रहना योग्य है।

---

८०७ बंबई, भादों वदी ३०, रवि, १९५३

शरीर आदि बलके घटनेसे सब मनुष्योंसे मात्र दिगबर-वृत्तिसे रहकर चारित्रका निर्वाह नही हो सकता, इसलिये वर्तमानकाल जैसे कालमे मर्यादापूर्वक श्वेताम्बर-वृत्तिसे चारित्रका निर्वाह करनेके लिये ज्ञानीने जिस प्रवृत्तिका उपदेश किया है, उसका निषेध करना योग्य नहीं है। इसी तरह वस्त्रका आग्रह रखकर दिगंबर-वृत्तिका एकांत निषेध करके वस्त्रमूर्च्छा आदि कारणोसे चारित्रमें शिथिलता भी कर्तव्य नही है।

दिगंबरत्व और श्वेतांबरत्व, देश, काल और अधिकारीके योगसे उपकारके हेतु हैं। अर्थात् जहाँ ज्ञानीने जिस प्रकार उपदेश किया है उस तरह प्रवृत्ति करनेसे आत्मार्थ ही है।

'मोक्षमार्गप्रकाश' मे, वर्तमान जिनागम जो श्वेतांबर सप्रदायको मान्य है, उनका निषेध किया है, वह निषेध करना योग्य नही है। वर्तमान आगममे अमुक स्थल अधिक संदेहास्पद है, परंतु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेपर उसका निराकरण हो जाता है, इसलिये उपशमदृष्टिसे उन आगमोंका अवलोकन करनेमे संशय करना योग्य नही है।

---

८०८ बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

सत्पुरुषोंके अगाध गंभीर संयमको नमस्कार

अविषम परिणामसे जिन्होंने कालकूट विष पिया ऐसे श्री ऋषभ आदि परम पुरुषोंको नमस्कार।

परिणाममें तो जो अमृत ही है, परन्तु प्रथम दशामें कालकूट विषकी भाँति उद्विग्न करता है, ऐसे श्री संयमको नमस्कार।

उस ज्ञानको, उस दर्शनको और उस चारित्रको वारंवार नमस्कार।

---

८०९ बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

आप सबके लिखे पत्र अनेक बार हमें मिलते हैं; और उनकी पहुँच भी लिखना अशक्य हो जाता है; अथवा तो वैसा करना योग्य लगता है। इतनी बात स्मरणमे रखनेके लिये लिखी है। वैसा प्रसंग होनेपर, कुछ आपके पत्रादिके लेखन-दोषसे ऐसा हुआ होगा या नही इत्यादि विकल्प आपके मनमे न होनेके लिये यह स्मरण रखनेके लिये लिखा है।

जिनकी भक्ति निष्काम है ऐसे पुरुषोंका सत्संग या दर्शन महापुण्यरूप समझना योग्य है। आपके निकटवर्ती सत्संगियोंको समस्थितिसे यथायोग्य।

---

८१० बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

पारमार्थिक हेतुविशेषसे पत्रादि लिखना नही बन पाता।

जो अनित्य है, जो असार है और जो अशरणरूप है वह इस जीवको प्रीतिका कारण क्यों होता है यह बात रात-दिन विचार करने योग्य है।

लोकदृष्टि और ज्ञानीकी दृष्टिमे पश्चिम पूर्व जितना अन्तर है। ज्ञानीकी दृष्टि प्रथम तो निरालम्बन है, रुचि उत्पन्न नही करती, जीवकी प्रकृतिसे मेल नही खाती, जिससे जीव उस दृष्टिमे रुचिमान नहीं होता। परन्तु जिन जीवोंने परिषह सहन करके कुछ समय तक उस दृष्टिका आराधन किया है, वे सर्व दुःखके क्षयरूप निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, उसके उपायको प्राप्त हुए हैं।

जीवको प्रमादमें अनादिसे रति है, परन्तु उसमे रति करने योग्य कुछ दिखायी नही देता। ॐ

---

८११ बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

सब जीवोंके प्रति हमारी तो क्षमादृष्टि है।

सत्पुरुषका योग और सत्समागम मिलना बहुत कठिन है, इसमे सशय नही है। ग्रीष्म ऋतुके तापसे संतप्त प्राणीको शीतल वृक्षकी छायाकी तरह मुमुक्षुजीवको सत्पुरुषका योग तथा सत्समागम उपकारी है। सर्व शास्त्रोंमें वैसा योग मिलना दुर्लभ कहा है।

'शांतसुधारस' और 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रंथोंका अभी विचार करना रखें। ये दोनो ग्रन्थ प्रकरणरत्नाकर पुस्तकमे छपे हैं। ॐ

---

८१२ बंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

किसी एक पारमार्थिक हेतुविशेषसे पत्रादि लिखना नहीं हो सकता।

विशेष ऊँची भूमिकाको प्राप्त मुमुक्षुओंको भी सत्पुरुषोंका योग अथवा सत्समागम आधारभूत है, इसमें संशय नहीं है। निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका योग होनेसे जीव उत्तरोत्तर ऊँची भूमिका-

को प्राप्त करता है। निवृत्तिमान भाव-परिणाम होनेके लिये जीवको निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र और काल प्राप्त करना योग्य है। शुद्ध समझसे रहित इस जीवको किसी भी योगसे शुभेच्छा, कल्याण करनेकी इच्छा प्राप्त हो और निःस्पृह परम पुरुषका योग मिले तो ही इस जीवको भान आना सम्भव है। उसके वियोगमे सत्शास्त्र और सदाचारका परिचय कर्तव्य है, अवश्य कर्तव्य है। श्री डुंगर आदि मुमुक्षुओको यथायोग्य।

---

८१३ बंबई, आसोज वदी ७, १९५३

ऊपरकी भूमिकाओंमे भी अवकाश मिलनेपर अनादि वासनाका संक्रमण हो आता है, और आत्माको वारंवार आकुल-व्याकुल कर देता है। वारवार यों हुआ करता है कि अब ऊपरकी भूमिकाको प्राप्ति होना दुर्लभ ही है, और वर्तमान भूमिकामे स्थिति भी पुन होना दुर्लभ है। ऐसे असंख्य अतराय-परिणाम ऊपरकी भूमिकामे भी होते है, तो फिर शुभेच्छादि भूमिकामे वैसा हो, यह कुछ आश्चर्यकारक नहीं है। वैसे अतरायसे खिन्न न होते हुए आत्मार्थी जीव पुरुषार्थदृष्टि रखे, शूरवीरता रखे, हितकारी द्रव्य, क्षेत्र आदि योगका अनुसंधान करे, सत्शास्त्रका विशेष परिचय रखकर, वारंवार हठ करके भी मनको सद्-विचारमे लगाये और मनके दुरात्म्यसे आकुल-व्याकुल न होते हुए धैर्यसे सद्विचारपथपर जानेका उद्यम करते हुए जय पाकर ऊपरकी भूमिकाको प्राप्त करता है और अविक्षिप्तता प्राप्त करता है। 'योगदृष्टि-समुच्चय' वारंवार अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

---

८१४ बंबई, आसोज वदी १४, रवि, १९५३

ॐ

श्री हरिभद्राचार्यने 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रन्थ संस्कृतमे रचा है। 'योगबिंदु' नामक योगका दूसरा ग्रन्थ भी उन्होने रचा है। हेमचद्राचार्यने 'योगशास्त्र' नामक ग्रन्थ रचा है। श्री हरिभद्रकृत 'योगदृष्टि-समुच्चय' की पद्धतिसे गुर्जर भाषामे श्री यशोविजयजीने स्वाध्यायकी रचना की है। शुभेच्छासे लेकर निर्वाणपर्यंतकी भूमिकाओमे मुमुक्षुजीवको वारंवार श्रवण करने योग्य, विचार करने योग्य और स्थिति करने योग्य आशयसे बोध-तारतम्य तथा चारित्र-स्वभावका तारतम्य उस ग्रन्थमे प्रकाशित किया है। यमसे लेकर समाधिपर्यंत अष्टांगयोग दो प्रकारके है—एक प्राणादि निरोधरूप और दूसरा आत्मस्वभाव-परिणामरूप। 'योगदृष्टिसमुच्चय'मे आत्मस्वभावपरिणामरूप योगका मुख्य विषय है। वारंवार वह विचार करने योग्य है।

श्री धुरीभाई आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य प्राप्त हो।

३१ वाँ वर्ष

८१५ बंबई, कार्त्तिक वदी १, बुध, १९५४

आत्मार्थी श्री मनसुख द्वारा लिखे हुए प्रश्नका समाधान विशेष करके सत्समागममे मिलनेसे यथायोग्य समझमें आयेगा।

जो आर्य अब अन्य क्षेत्रमें विहार करनेके आश्रममे हैं, उन्हें जिस क्षेत्रमे शातरसप्रधान वृत्ति रहे, निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका लाभ हो, उस क्षेत्रमे विचरना योग्य है। समागमकी आकाक्षा है, तो अभी अधिक दूर क्षेत्रमें विचरना न हो सकेगा, चरोतर आदि प्रदेशमे विचरना योग्य है। यही विनती। ॐ

---

८१६ बंबई, कार्तिक वदी ५, १९५४

आपके लिखे पत्र मिले हैं।

अमुक सद्ग्रन्थोका लोकहितार्थ प्रचार हो ऐसा करनेकी वृत्ति बतायी सो ध्यानमें हैं।

मगनलाल आदिने दर्शन तथा समागमकी आकांक्षा प्रदर्शित की है वे पत्र भी मिले है।

केवल अंतर्मुख होनेका सत्पुरुषोंका मार्ग सर्व दु:खक्षयका उपाय है, परंतु वह किसी ही जीवको समझमें आता है। महत्पुण्यके योगसे, विशुद्ध मतिसे, तीव्र वैराग्यसे और सत्पुरुषके समागमसे वह उपाय समझमे आने योग्य है। उसे समझनेका अवसर एक मात्र यह मनुष्य देह है। वह भी अनियमित कालके भयसे गृहीत है, वहाँ प्रमाद होता है, यह खेद और आश्चर्य है। ॐ

---

८१७ बंबई, कार्त्तिक वदी १२, १९५४

पहले आपके दो पत्र और अभी एक पत्र मिला है। अभी यहाँ स्थिति होना सम्भव है।

आत्मदशाको पाकर जो निर्द्वन्द्वतासे यथाप्रारब्ध विचरते हैं, ऐसे महात्माओंका योग जीवको दुर्लभ है। वैसा योग मिलनेपर जीवको उस पुरुषकी पहचान नहीं होती, और तथारूप पहचान हुए बिना उस महात्माका दृढ़ाश्रय नही होता। जब तक आश्रय दृढ़ न हो तब तक उपदेश फलित नहीं होता। उपदेशके फलित हुए बिना सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके बिना

जन्मादि दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नही बन पाती। वैसे महात्मा पुरुषोंका योग तो दुर्लभ है, इसमें संशय नही है। परतु आत्मार्थी जीवोका योग मिलना भी कठिन है। तो भी क्वचित् क्वचित् वह योग वर्तमानमे होना सम्भव है। सत्समागम और सत्शास्त्रका परिचय कर्तव्य है। ॐ

८१८ बंबई, मार्गशीर्ष सुदी ५, रवि, १९५४

ॐ

क्षयोपशम, उपशम, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक और सान्निपातिक, इन छ. भावोंको ध्यानमे रखकर आत्माको उन भावोसे अनुप्रेक्षित करके देखनेसे सद्विचारमें विशेष स्थिति होगी।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र जो आत्मभावरूप हैं, उन्हे समझनेके लिये उपर्युक्त भाव विशेष अवलंबनभूत हैं।

८१९ बंबई, मार्गशीर्ष सुदी ५, रवि, १९५४

ॐ

खेद न करते हुए शूरवीरता ग्रहण करके ज्ञानीके मार्गपर चलनेसे मोक्षपट्टन सुलभ ही है। विषय-कषाय आदि विशेष विकार कर डालें, उस समय विचारवानको अपनी निर्वीर्यता देखकर बहुत ही खेद होता है, और वह आत्माकी वारंवार निंदा करता है, पुनः पुन तिरस्कार-वृत्तिसे देखकर, पुन महापुरुषके चरित्र और वाक्यका अवलबन ग्रहण कर, आत्मामे शौर्य उत्पन्न कर, उन विषयादिके विरुद्ध अति हठ करके उन्हे हटाता है, तब तक हिम्मत हारकर बैठ नही जाता, और केवल खेद करके रुक नही जाता। इसी वृत्तिका अवलबन आत्मार्थी जीवोने लिया है; और इसीसे अंतमें विजय पाई है। यह बात सभी मुमुक्षुओंको मुखाग्र करके हृदयमें स्थिर करना योग्य है।

८२० बंबई, मार्गशीर्ष सुदी ५, रवि, १९५४

त्रंबकलालका लिखा एक पत्र तथा मगनलालका लिखा एक पत्र तथा मणिलालका लिखा एक पत्र यो तीन पत्र मिले है। मणिलालका लिखा पत्र अभी तक चित्तपूर्वक पढ़ा नहीं जा सका है।

श्री डुंगरकी अभिलाषा 'आत्मसिद्धि' पढ़नेकी है। इसलिये उनके पढ़नेके लिये उस पुस्तककी व्यवस्था करे। 'मोक्षमार्गप्रकाश' नामक ग्रन्थ श्री रेवाशंकरके पास है वह श्री डुंगरके लिये पढ़ने योग्य है, प्राय थोडे दिनोंमे उन्हे वह ग्रन्थ वे भेजेंगे।

'कौनसे गुण अंगमे आनेसे यथार्थ मार्गानुसारिता कही जाये?' 'कौनसे गुण अंगमे आनेसे यथार्थ सम्यग्दृष्टिता कही जाये?' 'कौनसे गुण अंगमे आनेसे श्रुतकेवलज्ञान हो?' 'तथा कौनसी दशा होनेसे यथार्थ केवलज्ञान हो, अथवा कहा जाये?' इन प्रश्नोंके उत्तर लिखवानेके लिये श्री डुगरसे कहे।

आठ दिन रुककर उत्तर लिखनेमे बाधा नही है, परंतु सांगोपांग, यथार्थ और विस्तारसे लिखवायें। सद्विचारवानके लिये ये प्रश्न हितकारी हैं। सभी मुमुक्षुओंको यथायोग्य।

८२१ बंबई, पौष सुदी ३, रवि, १९५४

त्रंबकलालने क्षमा माँगकर लिखा है कि सहजभावसे व्यावहारिक बात लिखी गयी है, उस संबंधमें आप खेद न करें। यहाँ वह खेद नही है, परन्तु जब तक आपकी दृष्टिमें वह बात रहेगी अर्थात् व्यावहारिक वृत्ति रहेगी तब तक आत्महितके लिये बलवान प्रतिबंध है, यों समझियेगा। और स्वप्नमे भी उस प्रतिबंधमें न रहा जाये इसका ध्यान रखियेगा।

हमने जो यह अनुरोध किया है, उस पर आप यथाशक्ति पूर्ण विचार कर देखें, और उस वृत्तिका मूल अंतरसे सर्वथा निवृत्त कर डालिये। नही तो समागमका लाभ प्राप्त होना असंभव है। यह बात शिथिलवृत्तिसे नही परंतु उत्साहवृत्तिसे सिरपर चढानी योग्य है।

मगनलालने मार्गानुसारीसे लेकर केवलपर्यंत दशासंबंधी प्रश्नोंके उत्तर लिखे थे, वे उत्तर हमने पढे है। वे उत्तर शक्तिके अनुसार हैं, परतु सद्बुद्धिसे लिखे गये हैं।

मणिलालने लिखा कि गोशळियाको 'आत्मसिद्धि' ग्रथ घर ले जानेके लिये न देनेसे बुरा लगा इत्यादि लिखा, उसे लिखनेका कारण न था। हम इस ग्रथके लिये कुछ रागदृष्टि या मोहदृष्टिमे पडकर डुंगरको अथवा दूसरेको देनेमे प्रतिबध करते हैं, यह होना संभव नहीं है। इस ग्रन्थकी अभी दूसरी नकल करनेकी प्रवृत्ति न करे।

ॐ

---

८२२ आणंद, पौष वदी ११, मंगल, १९५४

आज सबेरे यहाँ आना हुआ है। लीमड़ीवाले भाई केशवलालका भी आज यहाँ आना हुआ है। भाई केशवलालने आप सबको आनेके लिये तार किया था सो सहजभावसे था। आप सब कोई न आ सके यो विचार कर इस प्रसंगपर चित्तमे खिन्न न होवें। आपके लिखे पत्र और चिट्ठी मिले है। किसी एक हेतुविशेषसे समागमके प्रति अभी विशेष उदासीनता रहा करती थी, और वह अभी योग्य है, ऐसा लगनेसे अभी मुमुक्षुओका समागम कम हो ऐसी वृत्ति थी। मुनियोंसे कहे कि विहार करनेमे अभी अप्रवृत्ति न करे, क्योंकि अभी तुरत प्रायः समागम नही होगा। पचास्तिकाय ग्रन्थका विचार ध्यानपूर्वक करें।

---

८२३ आणंद, पौष वदी १३, गुरु, १९५४

मंगलवारको सुबह यहाँ आना हुआ था। प्राय कल सबेरे यहाँसे जाना होगा। मोरबी जाना संभव है।

सर्व मुमुक्षु बहनों और भाइयोंको स्वरूपस्मरण कहियेगा।

श्री सोभागकी विद्यमानतामे कुछ पहलेसे सूचित किया जाता था, और अभी वैसा नही हुआ, ऐसी किसी भी लोकदृष्टिमे पड़ना योग्य नही है।

अविषमभावके बिना हमें भी अबंधताके लिये दूसरा कोई अधिकार नहीं है। मौन रहना योग्य मार्ग है।

लि० रायचद्र

---

८२४ मोरबी, माघ सुदी ४, बुध, १९५४

ॐ

मुनियोंको विज्ञप्ति कि—

शुभेच्छासे लेकर क्षीणमोहपर्यन्त सत्श्रुत और सत्समागमका सेवन करना योग्य है। सर्वकालमे जीवके लिये इस साधनकी दुर्लभता है। उसमे फिर ऐसे कालमे दुर्लभता रहे यह यथासभव है।

दुःषमकाल और 'हुडावसर्पिणी' नामका आश्चर्यभाव अनुभवसे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने जैसा है। आत्मश्रेयके इच्छुक पुरुषको उससे क्षुब्ध न होकर वारंवार उस योगपर पैर रखकर सत्श्रुत, सत्समागम और सद्वृत्तिको बलवान करना योग्य है।

---

८२५ मोरबी, माघ सुदी ४, बुध, १९५४

आत्मस्वभावकी निर्मलता होनेके लिये मुमुक्षुजीवको दो साधन अवश्य ही सेवन करने योग्य हैं—सत्श्रुत और सत्समागम। प्रत्यक्ष सत्पुरुषोका समागम जीवको कभी कभी ही प्राप्त होता है, परन्तु यदि जीव सद्दृष्टिमान हो तो सत्श्रुतके बहुत कालके सेवनसे होनेवाला लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समागमसे बहुत अल्पकालमें प्राप्त कर सकता है; क्योंकि प्रत्यक्ष गुणातिशयवान निर्मल चेतनके प्रभाववाले वचन और वृत्ति क्रिया-चेष्टित्व है। जीवको वैसा समागमयोग प्राप्त हो ऐसा विशेष प्रयत्न कर्तव्य है। वैसे योगके अभावमे सत्श्रुतका परिचय अवश्य ही करना योग्य है। जिसमे शातरसकी मुख्यता है, शातरसके हेतुसे जिसका समस्त उपदेश है, और जिसमे सभी रसोका शातरसगर्भित वर्णन किया गया है, ऐसे शास्त्रका परिचय सत्श्रुतका परिचय है।

---

८२६ मोरबी, माघ सुदी ४, बुध, १९५४

ॐ

यदि हो सके तो बनारसीदासके जो ग्रन्थ आपके पास हो (समयसार–भाषाके सिवाय), दिगम्बर 'नयचक्र', 'पंचास्तिकाय' (दूसरी प्रति हो तो), 'प्रवचनसार' (श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत हो तो) और 'परमात्मप्रकाश' यहाँ भेजियेगा।

जीवको सत्श्रुतका परिचय अवश्य ही कर्तव्य है। मल, विक्षेप और प्रमाद उसमे वारंवार अंतराय करते है, क्योकि दीर्घकालसे परिचित है; परन्तु यदि निश्चय करके उन्हे अपरिचित करनेकी प्रवृत्ति की जाये तो ऐसे हो सकता है। यदि मुख्य अतराय हो तो वह जीवका अनिश्चय है।

---

८२७ ववाणिया, माघ वदी ४, गुरु, १९५४

इस जीवको उत्तापके मूल हेतु क्या है तथा उनकी निवृत्ति क्यों नही होती, और वह कैसे हो? ये प्रश्न विशेषत: विचार करने योग्य है, अन्तरमे उतारकर विचार करने योग्य हैं। जब तक इस क्षेत्रमें स्थिति रहे तब तक चित्तको अधिक दृढ़ रखकर प्रवृत्ति करे। यही विनती।

---

८२८ बंबई, माघ वदी ३०, १९५४

श्री भाणजीस्वामीको पत्र लिखवाते हुए सूचित करें—'विहार करके अहमदाबाद स्थिति करनेमे मनको भय, उद्वेग या क्षोभ नही है, परंतु हितबुद्धिसे विचार करते हुए हमारी दृष्टिमे यह आता है कि अभी उस क्षेत्रमे स्थिति करना योग्य नही है। यदि आप कहेगे तो उसमें आत्महितको क्या बाधा आती है, उसे विदित करेंगे, और उसके लिये आप सूचित करेंगे तो उस क्षेत्रमे समागममे आयेंगे। अहमदाबादका पत्र पढकर आप सबको कुछ भी उद्वेग या क्षोभ कर्तव्य नही है, समभाव कर्तव्य है। लिखनेमे यदि कुछ भी अनम्रभाव हुआ हो तो क्षमा करे।'

यदि तुरत ही उनका समागम होनेवाला हो तो ऐसा कहे—'आपने विहार करनेके बारेमें सूचित किया, उस बारेमे आपका समागम होनेपर जैसा कहेगे वैसा करेंगे।' और समागम होनेपर कहें—"पहलेकी अपेक्षा संयममे शिथिलता की हो ऐसा आपको मालूम होता हो तो वह बतायें, जिससे उसकी निवृत्ति की जा सके, और यदि आपको वैसा न मालूम होता हो तो फिर यदि कोई जीव विषमभावके अधीन होकर वैसा कहे तो उस बातपर ध्यान न देकर आत्मभावका ध्यान रखकर प्रवृत्ति करना योग्य है।

ऐसा जानकर अभी अहमदाबाद-क्षेत्रमे जानेकी वृत्ति योग्य नही लगती, क्योंकि रागदृष्टिवाले जीवके पत्रकी प्रेरणासे, और मानके रक्षणके लिये उस क्षेत्रमे जाने जैसा होता है, जो बात आत्माके अहितका हेतु है। कदाचित् आप ऐसा समझते हों कि जो लोग असंभव बात कहते है उन लोगोके मनमे अपनी भूल मालूम होगी और धर्मकी हानि होनेसे रुक जायेगी तो यह एक हेतु ठीक है; परन्तु वैसा रक्षण करनेके लिये उपर्युक्त दो दोष न आते हो तो किसी अपेक्षासे लोगोकी भूल दूर होनेके लिये विहार कर्तव्य है। परन्तु एक बार तो अविषमभावसे उस बातको सहन करके अनुक्रमसे स्वाभाविक विहार होते होते उस क्षेत्रमे जाना हो और किन्ही लोगोको वहम हो वह निवृत्त हो ऐसा करना उचित है; परन्तु राग-दृष्टिवालेके वचनोकी प्रेरणासे, तथा मानके रक्षणके लिये अथवा अविषमता न रहनेसे लोगोकी भूल मिटानेका निमित्त मानना, वह आत्महितकारी नही है, इसलिये अभी इस बातको उपशात कर अहमदा-बाद आप बताये कि क्वचित् लल्लुजी आदि मुनियोके लिये किसीने कुछ कहा हो तो इससे वे मुनि दोषपात्र नही होते; उनके समागममे आनेसे जिन लोगोको वैसा सन्देह होगा वह सहज ही निवृत्त हो जायेगा, अथवा किसी समझनेकी भूलसे सन्देह हो या दूसरा कोई स्वपक्षके मानके लिये सन्देह प्रेरित करे तो वह विषम मार्ग है; इसलिये विचारवान मुनियोको वहाँ समदर्शी होना योग्य है; आपको चित्तमे कोई क्षोभ करना योग्य नही है, ऐसा बतायें। आप ऐसा करेंगे तो हमारे आत्माका, आपके आत्माका, और धर्मका रक्षण होगा।" इस प्रकार जैसे उनकी वृत्तिमे जचे, वैसे योगमे बातचीत करके समाधान करें, और अभी अहमदाबाद-क्षेत्रमे स्थिति करना न बने ऐसा करेंगे तो आगे जाकर विशेष उपकारका हेतु है। ऐसा करते हुए भी यदि किसी भी प्रकारसे भाणजीस्वामी न मानें तो अहमदाबाद क्षेत्रकी ओर भी विहार कीजिये, और संयमके उपयोगमे सावधान रहकर आचरण करिये। आप अविषम रहिये।

८२९

मुमुक्षुता जैसे दृढ हो वैसे करें, हारने अथवा निराश होनेका कोई हेतु नही है। जीवको दुर्लभ योग प्राप्त हुआ तो फिर थोडासा प्रमाद छोड़ देनेमे जीवको उद्विग्न अथवा निराश होने जैसा कुछ भी नही है।

---

८३० मोरबी, चैत्र वदी १२, रवि, १९५४

'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ रजिस्टर्ड बुक-पोस्टसे भेजनेकी व्यवस्था करें।

आप, छोटालाल, त्रिभोवन, कीलाभाई, धुरीभाई और झवेरभाई आदिको 'मोक्षमार्गप्रकाश' आदिसे अन्त तक पढ़ना अथवा सुनना योग्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे नियमित शास्त्रावलोकन कर्तव्य है।

---

८३१ मोरबी, चैत्र वदी १२, रवि, १९५४

श्री देवकीर्ण आदि मुमुक्षुओको यथाविनय नमस्कार प्राप्त हो।

'कर्मग्रन्थ', 'गोम्मटसारशास्त्र' आदिसे अन्त तक विचार करने योग्य हैं।

दुःषमकालका प्रबल राज्य चल रहा है, तो भी अडिग निश्चयसे, सत्पुरुषकी आज्ञामें वृत्तिका अनुसन्धान करके जो पुरुष अगुप्तवीर्यसे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी उपासना करना चाहता है, उसे परम शान्तिका मार्ग अभी भी प्राप्त होना योग्य है।

---

८३२ ववाणिया, ज्येष्ठ, १९५४

देहसे भिन्न स्वपरप्रकाशक परम ज्योतिस्वरूप यह आत्मा है, इसमे निमग्न होवें। हे आर्य जनों! अन्तर्मुख होकर, स्थिर होकर उस आत्मामें ही रहे तो अनन्त अपार आनन्दका अनुभव करेंगे।

सर्व जगतके जीव कुछ न कुछ प्राप्त करके सुख प्राप्त करना चाहते हैं; महान चक्रवर्ती राजा भी बढ़ते हुए वैभव, परिग्रहके संकल्पमे प्रयत्नवान है; और प्राप्त करनेमे सुख मानता है; परन्तु अहो! ज्ञानियोंने तो उससे विपरीत ही सुखका मार्ग निर्णीत किया कि किंचित्मात्र भी ग्रहण करना यही सुखका नाश है।

विषयसे जिसकी इन्द्रियाँ आर्त्त है उसे शीतल आत्मसुख, आत्मतत्त्व कहाँसे प्रतीतिमें आयेगा?

परम धर्मरूप चन्द्रके प्रति राहु जैसे परिग्रहसे अब मै विराम पाना ही चाहता हूँ। हमें परिग्रहको क्या करना है?

कुछ प्रयोजन नही है।

'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि।'

हे आर्यजनो! इस परम वाक्यका आत्मभावसे आप अनुभव करें।

---

८३३ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १, शनि, १९५४

सर्व द्रव्यसे, सर्व क्षेत्रसे, सर्व कालसे और सर्व भावसे जो सर्वथा अप्रतिबद्ध होकर निजस्वरूपमे स्थित हुए उन परम पुरुषोको नमस्कार।

जिन्हे कुछ प्रिय नही है, जिन्हे कुछ अप्रिय नही है, जिनका कोई शत्रु नही है, जिनका कोई मित्र नही है, जिन्हे मान-अपमान, लाभ-अलाभ, हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वोका अभाव होकर जो शुद्ध चैतन्यस्वरूपमे स्थित हुए हैं, स्थित होते है और स्थित होंगे उनका अति उत्कृष्ट पराक्रम सानंदाश्चर्य उत्पन्न करता है।

देहसे जैसा वस्त्रका संबंध है, वैसा आत्मासे देहका संबंध जिन्होने यथातथ्य देखा है, म्यानसे तलवारका जैसा सबंध है वैसा देहसे आत्माका सबंध जिन्होने देखा है, अबद्ध-स्पष्ट आत्माका जिन्होंने अनुभव किया है, उन महत्पुरुषोको जीवन और मरण दोनो समान है।

जिस अचिंत्य द्रव्यकी शुद्धचितिस्वरूप काति परम प्रगट होकर अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परमकृपालु सत्पुरुषने प्रकाशित किया उसका अपार उपकार है।

चद्र भूमिको प्रकाशित करता है, उसकी किरणोकी कांतिके प्रभावसे समस्त भूमि श्वेत हो जाती है, परंतु चन्द्र कुछ भूमिरूप किसी कालमे नहीं होता; इसी प्रकार समस्त विश्वका प्रकाशक ऐसा यह आत्मा कभी भी विश्वरूप नही होता, सदा-सर्वदा चैतन्यस्वरूप ही रहता है। विश्वमे जीव अभेदता मानता है यही भ्रांति है।

जैसे आकाशमे विश्वका प्रवेश नही है, सर्व भावकी वासनासे आकाश रहित ही है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुषोंने प्रत्यक्ष सर्व द्रव्यसे भिन्न, सर्व अन्य पर्यायसे रहित ही आत्मा देखा है।

जिसकी उत्पत्ति किसी भी अन्य द्रव्यसे नहीं होती, ऐसे आत्माका नाश भी कहाँसे हो?

अज्ञानसे और स्वस्वरूपके प्रमादसे आत्माको मात्र मृत्युकी भ्रांति है। उसी भ्रांतिको निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निजअनुभवप्रमाणस्वरूपमें परम जाग्रत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है। इसी स्वरूपके लक्ष्यसे

सर्व जीवोंके प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है। सर्व परद्रव्यसे वृत्तिको व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश समाधिको पाता है।

जिन्होंने परमसुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शांत, शुद्ध चैतन्यस्वरूप समाधिको सदाके लिये प्राप्त किया उन भगवंतको नमस्कार, और जिनका उस पदमे निरंतर ध्यानरूप प्रवाह है उन सत्पुरुषोको नमस्कार।

सर्वसे सर्वथा मैं भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट, अचिंत्य सुखस्वरूप मात्र एकांत शुद्ध अनुभवरूप मैं हूँ, वहाँ विक्षेप क्या ? विकल्प क्या ? भय क्या ? खेद क्या ? दूसरी अवस्था क्या ? मै मात्र निर्विकल्प शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध परमशात चैतन्य हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। मैं निज-स्वरूपमय उपयोग करता हूँ। तन्मय होता हूँ। ॐ शांति शांतिः शांतिः

---

८३४ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी ६, गुरु, १९५४

महद्गुणनिष्ठ स्थविर आर्य श्री डुंगर ज्येष्ठ सुदी ३ सोमवारकी रातको नौ बजे समाधिसहित देहमुक्त हुए।

मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

---

८३५ बंबई, ज्येष्ठ वदी ४, बुध, १९५४

ॐ नमः

जिससे मनकी वृत्ति शुद्ध और स्थिर हो ऐसा सत्समागम प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। और उसमे यह दुषमकाल होनेसे जीवको उसका विशेष अंतराय है। जिस जीवको प्रत्यक्ष सत्समागमका विशेष लाभ प्राप्त हो वह महापुण्यवान है। सत्समागमके वियोगमे सत्शास्त्रका सदाचारपूर्वक परिचय अवश्य करने योग्य है।

८३६

उत्पाद
व्यय
ध्रुव } ये भाव एक वस्तुमे एक समयमें हैं।

जीव और
परमाणुओका

जीव

जीव

वर्त परमाणु मान

भाव
परमाणु

संयोग

---

८३७ सं० १९५४

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग।
अपूर्ववाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥ —आत्मसिद्धिशास्त्र, १०वाँ पद

प्रश्न—(१) सद्गुरु योग्य ये लक्षण मुख्यत: किस गुणस्थानकमे संभव हैं ?

(२) समदर्शिता किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) सद्गुरु योग्य जो ये लक्षण बताये हैं वे मुख्यतः, विशेषत उपदेशक अर्थात् मार्ग-प्रकाशक सद्गुरुके लक्षण कहे हैं। उपदेशक गुणस्थान छट्ठा और तेरहवाँ हैं; बीचके सातवेंसे बारहवें तक के गुणस्थान अल्पकालवर्ती हैं, इसलिये उनमे उपदेशक-प्रवृत्तिका संभव नही है। मार्गोपदेशक-प्रवृत्ति छट्ठेसे शुरू होती है।

छट्ठे गुणस्थानमे संपूर्ण वीतरागदशा और केवलज्ञान नहीं हैं। वे तो तेरहवेंमे हैं, और यथावत् मार्गोपदेशकत्व तेरहवें गुणस्थानमे स्थित सपूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न परम सद्गुरु श्री जिन तीर्थंकर आदिमे होना योग्य है। तथापि छट्ठे गुणस्थानमे स्थित मुनि, जो संपूर्ण वीतरागता और कैवल्यदशाका उपासक है, उस दशाके लिये जिसका प्रवर्तन-पुरुषार्थ है, जो उस दशाको संपूर्णरूपसे प्राप्त नही हुआ है, तथापि उस संपूर्ण दशाके प्राप्त करनेके मार्ग-साधनको स्वयं परम सद्गुरु श्री तीर्थंकर आदि आप्तपुरुषके आश्रय-वचनसे जिसने जाना है, प्रतीत किया है, अनुभव किया है, और उस मार्ग-साधनकी उपासनासे जिसकी वह दशा उत्तरोत्तर विशेष विशेष प्रकट होती जाती है, तथा श्री जिन तीर्थंकर आदि परम सद्गुरुकी, उनके स्वरूपकी पहचान जिसके निमित्तसे होती है, उस सद्गुरुमें भी मार्गका उपदेशकत्व अविरुद्ध है।

उससे नीचेके पाँचवें और चौथे गुणस्थानमें मार्गोपदेशकत्व प्राय घटित नहीं होता, क्योंकि वहाँ बाह्य (गृहस्थ) व्यवहारका प्रतिबंध है, और बाह्य अविरतिरूप गृहस्थ व्यवहार होते हुए विरतिरूप मार्ग-का प्रकाश करना यह मार्गके लिये विरोधरूप है।

चौथेसे नीचेके गुणस्थानकमें तो मार्गका उपदेशकत्व योग्य ही नहीं है; क्योंकि वहाँ मार्गकी, आत्माकी, तत्त्वकी, ज्ञानीकी पहचान-प्रतीति नहीं है, और सम्यग्विरति नहीं है; और यह पहचान-प्रतीति

और सम्यग्विरति न होनेपर भी उसकी प्ररूपणा करना, उपदेशक होना, यह प्रगट मिथ्यात्व, कुगुरुपन और मार्गका विरोध है।

चौथे पाँचवें गुणस्थानमें यह पहचान प्रतीति है, और आत्मज्ञान आदि गुण अंशत मौजूद हैं; और पाँचवेंमें देशविरति भावको लेकर चौथेसे विशेषता है, तथापि सर्वविरति जितनी वहाँ विशुद्धि नहीं है।

आत्मज्ञान, समदर्शिता आदि जो लक्षण बताये हैं, वे संयतिधर्ममे स्थित वीतरागदशासाधक उपदेशक-गुणस्थानमें स्थित सद्गुरुको ध्यानमें रखकर मुख्यतः बताये हैं और उनमे वे गुण बहुत अंशोंमें रहते हैं। तथापि वे लक्षण सर्वांशमें संपूर्णरूपसे तो तेरहवें गुणस्थानमे स्थित संपूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न जीवन्मुक्त सयोगी केवली परम सद्गुरु श्री जिन अरिहत तीर्थंकरमें विद्यमान हैं। उनमें आत्मज्ञान अर्थात् स्वरूपस्थिति संपूर्णरूपसे है, यह उनकी ज्ञानदशा अर्थात् 'ज्ञानातिशय' सूचित किया। उनमे समदर्शिता अर्थात् इच्छारहितता संपूर्णरूपसे है, यह उनकी वीतराग चारित्रदशा अर्थात् 'अपायापगमातिशय' सूचित किया। संपूर्णरूपसे इच्छारहित होनेसे उनकी विचरने आदिकी दैहिक आदि योगक्रिया पूर्वप्रारब्धोदयका मात्र वेदन कर लेनेके लिये ही है, इसलिये 'विचरे उदयप्रयोग' कहा। संपूर्ण निज अनुभवरूप उनकी वाणी अज्ञानीकी वाणीसे विलक्षण और एकात आत्मार्थबोधक होनेसे उनमे वाणीकी अपूर्वता कही है, यह उनका 'वचनातिशय' सूचित किया। वाणीधर्ममे रहनेवाला श्रुत भी उनमे ऐसी सापेक्षतासे रहता है कि जिससे कोई भी नय बाधित नही होता, यह उनका 'परमश्रुत' गुण सूचित किया और जिनमे परमश्रुत गुण रहता है वे पूजने योग्य होते है यह उनका 'पूजातिशय' सूचित किया।

इन श्री जिन अरिहंत तीर्थंकर परम सद्गुरुकी भी पहचान करानेवाले विद्यमान सर्वविरति सद्गुरु हैं, इसलिये इन सद्गुरुको ध्यानमे रखकर ये लक्षण मुख्यतः बताये हैं।

(२) समदर्शिता अर्थात् पदार्थमे इष्टानिष्टबुद्धिरहितता, इच्छारहितता और ममत्वरहितता। समदर्शिता चारित्रदशा सूचित करती है। रागद्वेषरहित होना यह चारित्रदशा है। इष्टानिष्टबुद्धि, ममत्व और भावाभावका उत्पन्न होना रागद्वेष है। यह मुझे प्रिय है, यह अच्छा लगता है, यह मुझे अप्रिय है, यह अच्छा नहीं लगता ऐसा भाव समदर्शीमें नहीं होता। समदर्शी बाह्य पदार्थको, उसके पर्यायको, वह पदार्थ तथा पर्याय जिस भावसे रहते हैं उन्हे उसी भावसे देखता है, जानता है और कहता है; परतु उस पदार्थ अथवा उसके पर्यायमे ममत्व या इष्टानिष्ट बुद्धि नही करता।

आत्माका स्वाभाविक गुण देखने-जाननेका होनेसे वह ज्ञेय पदार्थको ज्ञेयाकारसे देखता-जानता है, परंतु जिस आत्मामे समदर्शिता प्रगट हुई है, वह आत्मा उस पदार्थको देखते हुए, जानते हुए भी उसमे ममत्वबुद्धि, तादात्म्यभाव और इष्टानिष्टबुद्धि नही करता। विषमदृष्टि आत्माको पदार्थमे तादात्म्यवृत्ति होती है; समदृष्टि आत्माको नहीं होती।

कोई पदार्थ काला हो तो समदर्शी उसे काला देखता है, जानता है और कहता है। कोई श्वेत हो तो उसे वैसा देखता है, जानता है और कहता है। कोई पदार्थ सुरभि (सुगंधी) हो तो उसे वह वैसा देखता है, जानता है और कहता है। कोई दुरभि (दुर्गंधी) हो तो उसे वैसा देखता है, जानता है और कहता है। कोई ऊँचा हो, कोई नीचा हो तो उसे वैसा देखता है, जानता है और कहता है। सर्पको सर्पकी प्रकृतिरूपसे वह देखता है, जानता है और कहता है। बाघको बाघकी प्रकृतिरूपसे देखता है, जानता है और कहता है। इत्यादि प्रकारसे वस्तु मात्र जिस रूपसे जिस भावसे होती है, उस रूपसे उस भावसे समदर्शी उसे देखता है, जानता है और कहता है। हेय (छोड़ने योग्य) को हेयरूपसे देखता है; जानता है और कहता है। उपादेय (ग्रहण करने योग्य) को उपादेयरूपसे देखता है, जानता है और कहता है। परंतु समदर्शी आत्मा उन सबमे ममत्व, इष्टानिष्टबुद्धि और रागद्वेष नहीं करता, सुगंध देखकर

प्रियता नहीं करता, दुर्गंध देखकर अप्रियता, दुगंछा नहीं करता। (व्यवहारसे) अच्छी मानी गयी वस्तुको देखकर यह वस्तु मुझे मिल जाये तो ठीक ऐसी इच्छाबुद्धि (राग, रति) नहीं करता। (व्यवहारसे) बुरी मानी गयी वस्तुको देखकर यह वस्तु मुझे न मिले तो ठीक ऐसी अनिच्छाबुद्धि (द्वेष, अरति) नहीं करता। प्राप्त स्थिति संयोगमे अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्टानिष्टबुद्धि, आकुलता-व्याकुलता न करते हुए उसमें समवृत्तिसे, अर्थात् अपने स्वभावसे रागद्वेषरहित भावसे रहना यह समदर्शिता है।

साता-असाता, जीवन मरण, सुगध-दुर्गंध, सुस्वर-दुस्वर, सुरूप-कुरूप, शीत-उष्ण आदिमें हर्ष-शोक, रति-अरति, इष्टानिष्टभाव और आर्तध्यान न रहे यह समदर्शिता है।

हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहका परिहार समदर्शीमे अवश्य होता है। अहिंसा आदि व्रत न हों तो समदर्शिता संभव नही। समदर्शिता और अहिंसादि व्रतोंका कार्यकारण, अविनाभावी और अन्योन्याश्रय संबंध है। एक न हो तो दूसरा न हो, और दूसरा न हो तो पहला न हो।

समदर्शिता हो तो अहिंसादि व्रत हों।
समदर्शिता न हो तो अहिंसादि व्रत न हों।
अहिंसादि व्रत न हों तो समदर्शिता न हो।
अहिंसादि व्रत हों तो समदर्शिता हो।
जितने अंशमे समदर्शिता उतने अंशमे अहिंसादि व्रत और
जितने अंशमे अहिंसादि व्रत उतने अंशमें समदर्शिता।

सद्‌गुरुयोग्य लक्षणरूप समदर्शिता मुख्यतया सर्वविरति गुणस्थानमे होती है, बादके गुणस्थानोमे वह उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती जाती है, विशेष प्रगट होती जाती है; क्षीणमोहगुणस्थानमें उसकी परा काष्ठा और फिर सम्पूर्ण वीतरागता होती है।

समदर्शिता अर्थात् लौकिकभावमे समान-भाव, अभेद-भाव, एक समान-बुद्धि और निर्विशेषता नहीं; अर्थात् काच और हीरा दोनोको समान समझना, अथवा सत्श्रुत और असत्श्रुतमे समत्व समझना, अथवा सद्धर्म और असद्धर्ममें अभेद मानना, अथवा सद्‌गुरु और असद्‌गुरुमे एकसी बुद्धि रखना, अथवा सद्देव और असद्देवमे निर्विशेषता दिखाना अर्थात् दोनोंको एकसा समझना, इत्यादि समान वृत्ति, यह समदर्शिता नही, यह तो आत्माकी मूढ़ता, विवेक-शून्यता, विवेक-विकलता है। समदर्शी सत्‌को सत् जानता है, सत्का बोध करता है; असत्‌को असत् जानता है, असत्का निषेध करता है, सत्श्रुतको सत्श्रुत जानता है, उसका बोध करता है; कुश्रुतका कुश्रुत जानता है, उसका निषेध करता है; सद्धर्मको सद्धर्म जानता है, उसका बोध करता है; असद्धर्मको असद्धर्म जानता है, उसका निषेध करता है; सद्‌गुरुको सद्‌गुरु जानता है, उसका बोध करता है; असद्‌गुरुको असद्‌गुरु जानता है, उसका निषेध करता है, सद्देवको सद्देव जानता है, उसका बोध करता है, असद्देवको असद्देव जानता है, उसका निषेध करता है; इत्यादि जो जैसा होता है, उसे वैसा देखता है, जानता है और उसका प्ररूपण करता है; उसमे रागद्वेष, इष्टानिष्टबुद्धि नही करता; इस प्रकारसे समदर्शिता समझें।

ॐ

---

८३८ बंबई, ज्येष्ठ वदी १४, शनि, १९५४

नमो वीतरागाय

मुनियोंके समागममे ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करनेके संबंधमे यथासुख प्रवृत्ति करें, प्रतिबंध नहीं है।

श्री लल्लुजी मुनि तथा देवकीर्ण आदि मुनियोंको जिनस्मरण प्राप्त हो। मुनियोंकी ओरसे पत्र मिला था। यही विज्ञापन।

श्री राजचन्द्र देव।

८३९ बंबई, आषाढ सुदी ११, गुरु, १९५४

अनंत अंतराय होनेपर भी धीर रहकर जो पुरुष अपार महामोहजलको तर गये उन श्री पुरुष भगवानको नमस्कार।

अनंतकालसे जो ज्ञान भवहेतु होता था, उस ज्ञानको एक समयमात्रमे जात्यंतर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप किया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार।

'आत्मसिद्धि'की प्रति तथा पत्र प्राप्त हुए।

निवृत्तियोगमे सत्समागमकी वृत्ति रखना योग्य है।

'आत्मसिद्धि'की प्रतिके विषयमे आपने इस पत्रमे विवरण लिखा, तत्संबधी अभी विकल्प कर्तव्य नही है। उसके बारेमे निर्विक्षेप रहें।

लिखनेमे अधिक उपयोगका प्रवर्तन अभी शक्य नही है। ॐ

---

८४० मोहमयी क्षेत्र, श्रावण सुदी १५, सोम, १९५४

'मोक्षमार्गप्रकाश' ग्रन्थका विचार करनेके पश्चात् 'कर्मग्रन्थ'का विचारना अनुकूल होगा।

दिगबर संप्रदायमे द्रव्य-मन आठ पंखड़ीका कहा है। श्वेतांबर सप्रदायमे इस बातकी विशेष चर्चा नही है। 'योगशास्त्र'मे उसके बहुत प्रसंग हैं। समागममे उसका स्वरूप सुगम हो सकता है।

---

८४१ मोहमयी क्षेत्र, श्रावण वदी ४, शुक्र, १९५४

ॐ

समाधिके विषयमे यथाप्रारब्ध विशेष अवसरपर।

---

८४२ काविठा, श्रावण वदी १२, शनि, १९५४

ॐ नमः

शुभेच्छासंपन्न, श्री ववाणिया।

बहुत करके मंगलवारके दिन आपका लिखा एक पत्र बंबईमें मिला था। बुधवारकी रातको बंबईसे निवृत्त होकर गुरुवार सबेरे आणंद आना हुआ था। और उसी दिन रातके लगभग ग्यारह बजे यहाँ आना हुआ।

यहाँ दससे पंद्रह दिन तक स्थिति होना संभव है।

आपने अभी समागममें आनेकी वृत्ति प्रदर्शित की, उसमें आपको अंतराय जैसा हुआ। क्योंकि इस पत्रके पहुँचनेसे पहले ही लोगोंमें पर्युषणका प्रारंभ हुआ समझा जायेगा। जिससे आप इस तरफ आयें तो गुण-अवगुणका विचार किये बिना मताग्रही मनुष्य निंदा करेंगे, और वैसे निमित्तको ग्रहण कर वे निंदा द्वारा बहुतसे जीवोंको परमार्थप्राप्ति होनेमें अंतराय उत्पन्न करेंगे। इसलिये वैसा न होनेके लिये आपको अभी तो पर्युषणमे बाहर न जाने संबंधी लोक-पद्धतिको निभाना योग्य है।

आप और महेताजी 'वैराग्यशतक', 'आनंदघन चौबीसी', 'भावनाबोध' आदि पुस्तकें पढ-विचारकर जितना हो सके उतना निवृत्तिका लाभ प्राप्त करें।

प्रमाद और लोक-पद्धतिमें काल सर्वथा वृथा गँवा देना, यह मुमुक्षुजीवका लक्षण नहीं है। दूसरे शास्त्रोंका योग बनना कठिन है, ऐसा समझकर उपर्युक्त पुस्तकें लिखी हैं। ये पुस्तकें भी विशेष विचार करने योग्य हैं। माताजी तथा पिताजीसे पादवंदनपूर्वक सुखवृत्तिके समाचार विदित करे।

अमुक समय जब निवृत्तिके लिये किसी क्षेत्रमें रहना होता है, तब प्रायः पत्र लिखनेकी वृत्ति कम रहती है, इस बार विशेष कम है; परंतु आपका पत्र इस प्रकारका था कि जिसका उत्तर न मिलनेसे आपको पता न चले कि किस कारणसे ऐसा हुआ।

अमुक स्थलमे स्थिति होना अनिश्चित होनेसे बंबईसे पत्र नही लिखा जा सका था।

---

८४३ वसो, प्रथम आसोज सुदी ६, बुध, १९५४

श्रीमान वीतराग भगवानोंने जिसका अर्थ निश्चित किया है ऐसा,
अचिंत्य चिंतामणिस्वरूप, परम हितकारी,
परम अद्भुत, सर्व दुःखोंका निःसंशय आत्यंतिक क्षय करनेवाला,
परम अमृतस्वरूप सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म
जयवंत रहे, त्रिकाल जयवंत रहे।

उन श्रीमान अनंत चतुष्टयस्थित भगवानका और उस जयवंत धर्मका आश्रय सदैव कर्तव्य है। जिन्हे दूसरी कोई सामर्थ्य नही, ऐसे अबुध एव अशक्त मनुष्योंने भी उस आश्रयके बलसे परम सुखहेतु अद्भुत फलको प्राप्त किया है, प्राप्त करते है और प्राप्त करेंगे। इसलिये निश्चय और आश्रय ही कर्तव्य है, अधीरतासे खेद कर्तव्य नही है।

चित्तमे देहादि भयका विक्षेप भी करना योग्य नही है।

जो पुरुष देहादि सम्बन्धी हर्षविषाद नही करते, वे पुरुष पूर्ण द्वादशांगको संक्षेपमें समझे है, ऐसा समझें। यही दृष्टि कर्तव्य है।

'मैंने धर्म नही पाया', 'मैं धर्म कैसे पाऊँगा ?' इत्यादि खेद न करते हुए वीतराग पुरुषोंका धर्म, जो देहादिसम्बन्धी हर्षविषादवृत्ति दूर करके 'आत्मा असंग-शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप है' ऐसी वृत्तिका निश्चय और आश्रय ग्रहण करके उसी वृत्तिका बल रखना, और जहाँ वृत्ति मद हो जाय वहाँ वीतराग पुरुषोंकी दशाका स्मरण करना, उस अद्भुत चरित्रपर दृष्टि प्रेरित कर वृत्तिको अप्रमत्त करना, यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा कल्याणस्वरूप है। निर्विकल्प

---

८४४ आसोज, १९५४

कराल काल! इस अवसर्पिणीकालमे चौबीस तीर्थंकर हुए। उनमें अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान श्री महावीर दीक्षित हुए भी अकेले! सिद्धि प्राप्त की भी अकेले! उनका भी प्रथम उपदेश निष्फल गया!

---

८४५ आसोज, १९५४

[1]मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

यथाविधि अध्ययन और मनन कर्तव्य है।

---

१. भावार्थके लिये देखें उपदेश नोंध ३७

८४६ वनक्षेत्र उत्तरसंडा,
प्रथम आसोज वदी ९, रवि, १९५४

ॐ नमः

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ ।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥ अध्ययन ५–९२

भगवान जिनने आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारग्रहण)का मुनियोको उपदेश दिया । (वह भी किस लिये ?) मात्र मोक्ष-साधनके लिये । मुनिको देहकी जरूरत है, उसको टिकानेके लिये । (किसी भी दूसरे हेतुसे नहीं) ।

अहो णिच्चं तवो कम्मं सव्व बुद्धेहिं वण्णिअं ।
जाव लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोयणं ॥

—दशवैकालिक अध्ययन ६–२२

सर्व जिन भगवानोंने आश्चर्यकारक (अद्भुत उपकारभूत) तपःकर्मको नित्य करनेके लिये उपदेश किया है । (वह इस प्रकार—) संयमके रक्षणके लिये सम्यग्वृत्तिसे एक बार आहारग्रहण । (दशवैकालिक सूत्र) ।

तथारूप असंग निर्ग्रंथपदका अभ्यास सतत वर्धमान कीजिये । 'प्रश्नव्याकरण', 'दशवैकालिक' और 'आत्मानुशासन'का अभी संपूर्ण ध्यान देकर विचार कीजियेगा । एक शास्त्रको पूरा पढनेके बाद दूसरा विचारियेगा ।

---

८४७ खेडा, द्वि० आसोज सुदी ६, १९५४

ॐ

विक्षेपरहित रहे । यथावसर अवश्य समाधान होगा । यहाँ समागमके लिये आनेके बारेमें यथासुख प्रवृत्ति करें ।

---

८४८ खेडा, द्वि० आसोज सुदी ९, शनि, १९५४

लगभग अब तीन मास पूर्ण होने आये हैं । इस क्षेत्रमे अब स्थिति करनेकी इस समयके लिये वृत्ति नहीं रही । परिचय बढनेका वक्त आ जाये ।

---

८४९ खेडा, द्वि० आश्विन वदी, १९५४

हे जीव ! इस क्लेशरूप संसारसे निवृत्त हो, निवृत्त हो ।

वीतराग प्रवचन

---

८५० आसोज १९५४

मेरा चित्त—मेरी चित्तवृत्तियाँ इतनी शात हो जायें कि कोई मृग भी इस शरीरको देखता ही रहे, भय पाकर भाग न जाये !

मेरी चित्तवृत्ति इतनी शात हो जाये कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिरमें खुजली आती हो वह इस शरीरको जड-पदार्थ समझ कर खुजली मिटानेके लिये अपना सिर इस शरीरसे घिसे !

३२ वाँ वर्ष

८५१ मोहमयी क्षेत्र, कार्तिक सुदी १४, गुरु, १९५५

अभी मै अमुक मासपर्यन्त यहाँ रहनेका विचार रखता हूँ। मैं यथाशक्ति ध्यान दूँगा। आप मनमें निश्चित रहे।

मात्र अन्न-वस्त्र हो तो भी बहुत है। परन्तु व्यवहारप्रतिबद्ध मनुष्यको कितने ही संयोगोंके कारण थोडा-बहुत तो चाहिये, इसलिये यह प्रयत्न करना पडा है। तो वह संयोग जब तक उदयमान हो तब तक धर्मकीर्तिपूर्वक बन पाये तो बहुत है।

अभी मानसिक वृत्तिकी अपेक्षा बहुत ही प्रतिकूल मार्गमें प्रवास करना पड़ता है। तप्तहृदयसे और शात आत्मासे सहन करनेमे ही हर्ष मानता हूँ। ॐ शांतिः

---

८५२ बम्बई, मार्गशीर्ष सुदी ३, शुक्र, १९५५

ॐ नमः

प्राय. कल रातकी डाकगाडीसे यहाँसे उपरामता (निवृत्ति) होगी। थोड़े दिन तक बहुत करके ईडर क्षेत्रमें स्थिति होगी।

मुनियोको यथाविधि नमस्कार कहियेगा।

वीतरागोंके मार्गकी उपासना कर्तव्य है। ॐ

---

८५३ ईडर, मार्गशीर्ष सुदी १४, सोम, १९५५

ॐ नमः

'पंचास्तिकाय' यहाँ भेज सकें तो भेजियेगा। भेजनेमें विलम्ब होता हो तो न भेजियेगा।

'समयसार' मूल प्राकृत (मागधी) भाषामे है। तथा 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ग्रन्थ भी प्राकृत भाषामे है। वह यदि प्राप्त हो सके तो 'पंचास्तिकाय'के साथ भेजियेगा। थोड़े दिन यहाँ स्थिति संभव है।

जैसे बने वैसे वीतराग श्रुतका अनुप्रेक्षण (चिन्तन) विशेष कर्तव्य है। प्रमाद परम रिपु है, यह वचन जिन्हे सम्यक् निश्चित हुआ है वे पुरुष कृतकृत्य होने तक निर्भयतासे वर्तन करनेके स्वप्नकी भी इच्छा नही करते। राजचंद्र।

---

८५४ ईडर, मार्गशीर्ष सुदी १५, सोम, १९५५

ॐ नमः

आपने तथा वनमाळीदासने बम्बई एक पत्र लिखा था वह वहाँ प्राप्त हुआ था।

अभी एक सप्ताहसे यहाँ स्थिति है। 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ पढ़नेके लिये प्रवृत्ति करते हुए आज्ञाका अतिक्रम (उल्लंघन) नही है। अभी आपको और उन्हे वह ग्रन्थ बारम्बार पढ़ने तथा विचारने योग्य है। 'उपदेश-पत्रो'के बारेमें बहुत करके तुरत उत्तर प्राप्त होगा। विशेष यथावसर। राजचन्द्र।

---

८५५ ईडर, मार्गशीर्ष सुदी १५, सोम, १९५५

वीतरागश्रुतका अभ्यास रखिये।

---

८५६ ईडर, मार्गशीर्ष वदी ४, शनि, १९५५

ॐ नमः

आपका लिखा पत्र तथा सुखलालके लिखे पत्र मिले हैं।

अभी यहाँ समागम होना अशक्य है। अब विशेष स्थितिका भी सम्भव मालूम नहीं होता।

आपको जो समाधानविशेषकी जिज्ञासा है, वह किसी निवृत्तियोगके समागममे प्राप्त होने योग्य है।

जिज्ञासाबल, विचारबल, वैराग्यबल, ध्यानबल और ज्ञानबल वर्धमान होनेके लिये आत्मार्थी जीवको तथारूप ज्ञानीपुरुषके समागमकी उपासना विशेषतः करनी योग्य है। उसमे भी वर्तमानकालके जीवोको उस बलकी दृढ छाप पड़ जानेके लिये बहुत अन्तराय देखनेमे आते है, जिससे तथारूप शुद्ध जिज्ञासुवृत्तिसे दीर्घकालपर्यन्त सत्समागमकी उपासना करनेकी आवश्यकता रहती है। सत्समागमके अभावमें वीतरागश्रुत—परमशांतरसप्रतिपादक वीतरागवचनोंकी अनुप्रेक्षा वारवार कर्तव्य है। चित्तस्थैर्यके लिये वह परम औषध है।

---

८५७ ईडर, मार्गशीर्ष वदी ३०, गुरु, सबेरे, १९५५

ॐ नमः

आत्मार्थी भाई अंबालाल तथा मुनदासके प्रति, स्तंभतीर्थ।

मुनदासका लिखा हुआ पत्र मिला। वनस्पतिसंबंधी त्यागमे अमुक दससे पाँच वनस्पतिका अभी आगार रखकर दूसरी वनस्पतियोसे विरत होनेमे आज्ञाका अतिक्रम नही है।

आप सबका अभी अभ्यासादि कैसा चलता है?

सद्देवगुरुशास्त्रभक्ति अप्रमत्ततासे उपासनीय है। श्री ॐ

---

८५८ ईडर, पौष, १९५४

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४९॥
पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण ॥५०॥

यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो तो प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुमें मोह न करो, राग न करो, द्वेष न करो। अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये पैंतीस, सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक—

इस तरह परमेष्ठीपदके वाचक हैं उनका जपपूर्वक ध्यान करो। विशेष स्वरूप श्री गुरुके उपदेशसे जानना योग्य है।

जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदा हु तं तस्स णिच्चयं झाणं ॥५६॥

—द्रव्य संग्रह

ध्यानमे एकाग्र वृत्ति रखकर साधु निःस्पृहवृत्तिवान अर्थात् सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित होता है उसे परम पुरुष निश्चय ध्यान कहते हैं।

८५९ ईडर, पौष सुदी १५, गुरु, १९५५

ॐ

आपका लिखा एक पत्र तथा मुनदासके लिखे तीन पत्र मिले है।

वसोमे ग्रहण किये हुए नियमके अनुसार मुनदास वनस्पतिके बारेमें विरतिरूपसे वर्तन करें। दो श्लोकोंके स्मरणके नियमको शारीरिक उपद्रवविशेषके बिना सदा निबाहे। गेहूँ और घीको शारीरिक हेतुसे ग्रहण करनेमे आज्ञाका अतिक्रम नही है।

किंचित् दोषका सम्भव हुआ हो तो उसका प्रायश्चित्त श्री देवकीर्ण मुनि आदिके समीप लेना योग्य है।

आपको अथवा किन्ही दूसरे मुमुक्षुओंको नियमादिका ग्रहण उन मुनियोके समीप कर्तव्य है। प्रबल कारणके बिना उस सम्बन्धी पत्रादि द्वारा हमे सूचित न करके मुनियोसे तत्सम्बन्धी समाधान समझना योग्य है।

ॐ

८६० मोरबी, फाल्गुन सुदी १, रवि, १९५५

ॐ नमः

पत्र प्राप्त हुआ।

'नाके रूप निहाळता' इस चरणका अर्थ वीतरागमुद्रासूचक है। रूपावलोकनदृष्टिसे स्थिरता प्राप्त होनेपर स्वरूपावलोकनदृष्टिमे भी सुगमता प्राप्त होती है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे स्वरूपावलोकन-दृष्टि परिणमित होती है।

महापुरुषका निरंतर अथवा विशेष समागम, वीतरागश्रुतका चिंतन और गुणजिज्ञासा दर्शनमोहके अनुभागके घटनेके मुख्य हेतु हैं। इससे स्वरूपदृष्टि सहजमे परिणमित होती है।

८६१ मोरबी, फागुन सुदी १, रवि, १९५५

ॐ नमः

पत्र प्राप्त हुआ।

'पुरुषार्थ सिद्धि उपाय' का भाषांतर गुर्जरभाषामें करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नही है।

'आत्मसिद्धि' के स्मरणार्थ यथावसर आज्ञा प्राप्त होना योग्य है।

वनमाळीदासको 'तत्त्वार्थसूत्र' विशेषतः विचारना योग्य है।

हिन्दी भाषा समझमें न आती हो तो ऊगरी बहनको कुंवरजीके पाससे उस ग्रथको श्रवण कर समझना योग्य है।

शिथिलता घटनेका उपाय यदि जीव करे तो सुगम है।

८६२ मोरबी, फागुन सुदी १, रवि, १९५५

वीतरागवृत्तिका अभ्यास रखियेगा।

---

८६३ ववाणिया, फागुन वदी १०, बुध, १९५५

आत्मार्थीको, बोध कब परिणमित हो सकता है, यह भाव स्थिरचित्तसे विचारणीय है, जो मूल-भूत है।

अमुक असद्वृत्तियोका प्रथम अवश्य ही निरोध करना योग्य है। इस निरोधके हेतुका दृढ़तासे अनुसरण करना ही चाहिये, इसमें प्रमाद करना योग्य नही है। ॐ

---

८६४ ववाणिया, फागुन वदी ३०, १९५५

*चरमावर्त हो चरमकरण तथा रे, भवपरिणति परिपाक।
दोष टळे वळी दृष्टि खूले भली रे, प्रापति प्रवचन वाक ॥ १ ॥

परिचय पातिक घातिक साधुशुं रे, अकुशल अपचय चेत।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करी रे, परिशीलन नयहेत ॥ २ ॥

मुगध सुगम करी सेवन लेखवे रे, सेवन अगम अनुप।
देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनंदघन रसरूप ॥ ३ ॥

—आनंदघन, संभवजिनस्तवन

किसी निवृत्तिमुख्य क्षेत्रमें विशेष स्थितिके अवसरपर सत्श्रुत विशेष प्राप्त होना योग्य है। गुर्जर देशकी ओर आपका आगमन हो यों खेराळु क्षेत्रमें मुनिश्री चाहते हैं। वेणासर और टीकरके रास्तेसे होकर धांगध्राकी तरफसे अभी गुर्जर देशमे जा सकना सम्भव है। उस मार्गमें पिपासा परिषहका कुछ सम्भव रहता है।

---

८६५ ववाणिया, चैत्र सुदी १, १९५५

उवसंतखीणमोहो, मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वज्जदि धीरो ॥

—पंचास्तिकाय, ७०

जिसका दर्शनमोह उपशात अथवा क्षीण हुआ है ऐसा धीर पुरुष वीतरागों द्वारा प्रदर्शित मार्गको अंगीकार करके शुद्धचैतन्यस्वभाव परिणामी होकर मोक्षपुरको जाता है।

---

*भावार्थ—जब अतिम पुद्गल परावर्त आ पहुँचे और तीन करणोंमेंसे तीसरा करण—अनिवृत्तिकरण हो तथा ससारमें भटकनेकी आदतका अत आ पहुँचे, तब तीन दोष—भय, द्वेष और खेद—दूर हो जाते है, भली दृष्टि खुल जाती है और प्रवचन, सिद्धातके वचनका लाभ होता है ॥१॥

फिर पापके नाशक साधुके साथ परिचय बढता चले, मनसंबधी अकल्याणकारिताकी कमी होती जाये और आत्मिक सेवनके लिये तथा दृष्टिबिंदु धारण करनेके लिये आध्यात्मिक ग्रंथोंका श्रवण एवं मनन बन पाये ॥२॥

भोले भाले मनुष्य सरल एव सहज मानकर सेवाका कार्य शुरू कर देते हैं, परन्तु उन्हें समझना चाहिये कि सेवाका कार्य तो अगम्य एव अनुपम है। यह तो कठिन और बेजोड है। हे आनंदघनके रसमय प्रभु! इस सेवककी माँगको कभी सफल कीजिये अथवा आनंदसमुच्चयके रसरूप सेवाकी माँगको कभी सफल कीजिये ॥३॥

मुनि महात्मा श्री देवकीर्णस्वामी अंजारको ओर है। यदि खेराळुसे मुनिश्री आज्ञा करेंगे तो वे बहुत करके गुजरातकी तरफ आयेंगे। वेणासर या टीकरके रास्तेसे धांगध्रा आना हो तो रेगिस्तान पार करनेके कष्टको उठानेका सम्भव कम है। मुनिश्रीको अंजार लिखें।

किसी स्थलमें विशेष स्थिरताका योग होनेपर अमुक सत्श्रुत प्राप्त होना योग्य है।

---

८६६ श्री ववाणिया, चैत्र सुदी ५, १९५५

ॐ

द्रव्यानुयोग परम गम्भीर और सूक्ष्म है, निर्ग्रंथ-प्रवचनका रहस्य है, शुक्ल ध्यानका अनन्य कारण है। शुक्ल ध्यानसे केवलज्ञान समुत्पन्न होता है। महाभाग्यसे इस द्रव्यानुयोगकी प्राप्ति होती है।

दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे अथवा नष्ट होनेसे, विषयके प्रति उदासीनतासे, और महत् पुरुषके चरणकमलकी उपासनाके बलसे द्रव्यानुयोग परिणत होता है।

ज्यों-ज्यों संयम वर्धमान होता है, त्यों-त्यों द्रव्यानुयोग यथार्थ परिणत होता है। संयमकी वृद्धिका कारण सम्यग्दर्शनकी निर्मलता है, उसका कारण भी 'द्रव्यानुयोग' होता है।

सामान्यतः द्रव्यानुयोगकी योग्यता प्राप्त करना दुर्लभ है। आत्मारामपरिणामी, परमवीतराग दृष्टि-वान्, परम असंग ऐसे महात्मापुरुष उसके मुख्य पात्र हैं।

किसी महत्पुरुषके मननके लिये [1]पंचास्तिकायका संक्षिप्त स्वरूप लिखा था; उसे मननके लिये इसके साथ भेजा है।

हे आर्य! द्रव्यानुयोगका फल सर्व भावसे विराम पानेरूप संयम है। इस पुरुषके ये वचन अंतः-करणमें तू कभी भी शिथिल मत करना। अधिक क्या? समाधिका रहस्य यही है। सर्व दुःखसे मुक्त होनेका अनन्य उपाय यही है।

---

८६७ ववाणिया, चैत्र वदी २, गुरु, १९५५

हे आर्य! जैसे रेगिस्तान पार कर पारको संप्राप्त हुए, वैसे भवस्वयंभूरमण तर कर पारको संप्राप्त होवें!

महात्मा मुनिश्रीकी स्थिति अभी प्रांतीज-क्षेत्रमें है। कुछ विज्ञप्ति-पत्र लिखना हो तो परी० घेला-भाई केशवलाल, प्रांतीज, इस पतेपर लिखनेकी विनती है।

आपकी स्थिति धागध्राकी तरफ होनेका समाचार यहाँसे आज उन्हें लिखा गया है।

अधिक निवृत्तिवाले क्षेत्रमें चातुर्मासका योग बननेसे आत्मोपकार विशेष संभव है। मुनिश्रीको भी वैसे सूचित किया है।

---

८६८ ववाणिया, चैत्र वदी २, गुरु, १९५५

पत्र प्राप्त हुआ। किसी विशेष निवृत्तिवाले क्षेत्रमें चातुर्मास हो तो आत्मोपकार विशेष हो सकता है। इस तरफ निवृत्तिवाले क्षेत्रका संभव है।

मुनि कच्छका रेगिस्तान समाधिपूर्वक पार कर धागध्राकी तरफ उनके विचरनेके समाचार प्राप्त हुए हैं।

---

१. देखें आंक ७६६।

वे आपका समागम त्वरासे चाहते है।

उनका चातुर्मास भी निवृत्तिवाले क्षेत्रमे हो ऐसा करनेका विज्ञापन है।

---

८६९ मोरबी, चैत्र वदी ९, गुरु, १९५५

ॐ नम

पत्र और समाचारपत्र मिले। 'आचारागसूत्र' के एक वाक्य संबंधी चर्चा-पत्रादि देखा है। बहुत करके थोड़े दिनोंमे किसी सुज्ञ पुरुषके द्वारा उसका समाधान प्रगट होगा। तीनेक दिनसे यहाँ स्थिति है।

आत्महित अति दुर्लभ है ऐसा समझकर विचारवान पुरुष अप्रमत्त भावसे उसकी उपासना करते हैं। आपके समीपवासी सभी आत्मार्थी जनोंको यथाविनय प्राप्त हो। ॐ

---

८७० मोरबी, वैशाख सुदी ६, सोम, १९५५

ॐ

आत्मार्थी मुनिवर अभी वहाँ स्थित होंगे। उनसे सविनय निम्नलिखित निवेदन करे।

ध्यान, श्रुतके अनुकूल क्षेत्रमे चातुर्मास करनेसे भगवानकी आज्ञाका संरक्षण होगा। स्तंभतीर्थमे यदि वह अनुकूलता रह सकती हो तो उस क्षेत्रमे चातुर्मास करनेसे आज्ञाका संरक्षण है।

जिस सत्श्रुतकी मुनि श्री देवकीर्ण आदिने जिज्ञासा प्रदर्शित की वह सत्श्रुत लगभग एक मासमे प्राप्त होना योग्य है।

यदि स्तंभतीर्थमे स्थिति न हो तो किसी अन्य निवृत्तिक्षेत्रमे समागमका योग हो सकता है। स्तंभतीर्थके चातुर्माससे वह होना अभी अशक्य है। जहाँ तक बने वहाँ तक किसी अन्य निवृत्तिक्षेत्रकी वृत्ति रखें। कदाचित् मुनियोको दो विभागोंमे बट जाना पड़े तो वैसा करनेमे भी आत्मार्थदृष्टिसे अनुकूल रहेगा। हमने सहज मात्र लिखा है। आप सबको द्रव्यक्षेत्रादि देखकर जैसे अनुकूल श्रेयस्कर लगे वैसे प्रवृत्ति करनेका अधिकार है।

इस प्रकार सविनय नमस्कारपूर्वक निवेदन करें। वैशाख सुदी पूर्णिमा तक बहुत करके इन क्षेत्रोकी तरफ स्थिति होगी। ॐ

---

८७१ मोरबी, वैशाख सुदी ७, १९५५

ॐ

यदि किसी निवृत्तिवाले अन्य क्षेत्रमे वर्षा-चातुर्मासका योग बने तो वैसे करना योग्य है। अथवा स्तंभतीर्थमे चातुर्माससे अनुकूलता रहे ऐसा मालूम हो तो वैसा करना योग्य है।

ध्यान और श्रुतके उपकारक साधनवाले चाहे जिस क्षेत्रमें चातुर्मासकी स्थिति होनेसे आज्ञाका अतिक्रम नही है, ऐसा मुनि श्री देवकीर्ण आदिको सविनय विदित करें।

इस तरफ एक सप्ताहपर्यंत स्थितिका सम्भव है। आज बहुत करके श्री ववाणिया जाना होगा। वहाँ एक सप्ताह तक स्थिति संभव है।

जिस सत्श्रुतकी जिज्ञासा है, वह सत्श्रुत थोड़े दिनोमें प्राप्त होना संभव है, ऐसा मुनिश्रीसे निवेदन करे।

वीतराग सन्मार्गकी उपासनामें वीर्यको उत्साहयुक्त करें।

---

८७२ ववाणिया, वैशाख सुदी ७, १९५५

ॐ

जिसे गृहवासका उदय रहता है, वह यदि कुछ भी शुभ ध्यानकी प्राप्ति चाहता हो तो उसके मूल हेतुभूत ऐसे अमुक सद्वर्तनपूर्वक रहना योग्य है। उन अमुक नियमोमे 'न्यायसंपन्न आजीविकादि व्यवहार' यह पहला नियम सिद्ध करना योग्य है। यह नियम सिद्ध होनेसे अनेक आत्मगुण प्राप्त करनेका अधिकार उत्पन्न होता है। इस प्रथम नियमपर यदि ध्यान दिया जाये, और इस नियमको सिद्ध ही कर लिया जाये तो कषायादि स्वभावसे मन्द पड़ने योग्य हो जाते है, अथवा ज्ञानीका मार्ग आत्मपरिणामी होता है, जिस पर ध्यान देना योग्य है।

---

८७३ ईडर, वैशाख वदी ६, मंगल, १९५५

ॐ

शनिवार तक यहाँ स्थिरता सभव है। रविवारको उस क्षेत्रमे आगमन होना सम्भव है।

इस कारण मुनिश्रीको चातुर्मास करने योग्य क्षेत्रमे विचरनेकी त्वरा हो, उसमे कुछ संकोच प्राप्त होता हो, तो इस पत्रके प्राप्त होनेपर कहेगे तो यहाँ एक दिन कम स्थिरता की जायेगी।

निवृत्तिका योग उस क्षेत्रमे विशेष है, तो 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' का वारंवार निदिध्यासन कर्त्तव्य है, ऐसा मुनिश्रीको यथाविनय विदित करना योग्य है।

जिन्होंने बाह्याभ्यंतर असंगता प्राप्त की है ऐसे महात्माओंके संसारका अन्त समीप है, ऐसा नि.सदेह ज्ञानीका निश्चय है।

---

८७४ ईडर, वैशाख वदी १०, शनि, १९५५

ॐ

अब स्तंभतीर्थसे किसनदासजीकृत 'क्रियाकोष' की पुस्तक प्राप्त हुई होगी। उसका आद्यंत अध्ययन करनेके बाद सुगम भाषामे उस विषयमे एक निबन्ध लिखनेसे विशेष अनुप्रेक्षा होगी; और वैसी क्रियाका वर्तन भी सुगम है ऐसी स्पष्टता होगी, ऐसा सम्भव है। सोमवार तक यहाँ स्थिति सम्भव है। राजनगरमे परम तत्त्वदृष्टिका प्रसंगोपात्त उपदेश हुआ था, उसे अप्रमत्त चित्तसे एकातयोगमे वारंवार स्मरण करना योग्य है। यही विनती।

---

८७५ बम्बई, जेठ, १९५५

ॐ

परम कृपालु मुनिवर्यके चरणकमलमें परम भक्तिसे सविनय नमस्कार प्राप्त हो।

अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम! सुषुप्त चेतनको जागृत करनेवाले, गिरती वृत्तिको स्थिर रखने वाले, दर्शनमात्रसे भी निर्दोष अपूर्व स्वभावके प्रेरक, स्वरूपप्रतीति, अप्रमत्त संयम और पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणभूत;—अन्तमे अयोगी स्वभाव प्रगट करके अनंत अव्याबाध स्वरूपमें स्थिति करानेवाले! त्रिकाल जयवन्त रहें! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

८७६ बंबई, जेठ सुदी ११, १९५५

महात्मा मुनिवरोंको परमभक्तिसे नमस्कार हो।

***जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो, मृगतृष्णाजळ त्रैलोक। जीव्यु धन्य तेहनुं।**
दासी आशा पिशाची थई रही, काम क्रोध ते केदी लोक। जीव्यु०
खातां पीतां बोलतां नित्ये, छे निरंजन निराकार। जीव्यु०
जाणे संत सलूणा तेहने, जेने होय छेल्लो अवतार। जीव्यु०
जगपावनकर ते अवतर्या, अन्य मात उदरनो भार। जीव्यु०
तेने चौद लोकमां विचरतां, अंतराय कोईये नव थाय। जीव्यु०
ऋद्धि सिद्धि ते दासीओ थई रही, ब्रह्म आनंद हृदे न समाय। जीव्यु०

यदि मुनि अध्ययन करते हों तो 'योगप्रदीप' श्रवण करें। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' का योग आपको बहुत करके प्राप्त होगा। ॐ

---

८७७ बंबई, जेठ वदी २, रवि, १९५५

ॐ

[1]जिस विषयकी चर्चा हो रही है वह शात है। उस विषयमे यथावसरोदय।

---

८७८ बंबई, जेठ वदी ७, शुक्र, १९५५

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' की पुस्तक चार दिन पूर्व प्राप्त हुई तथा एक पत्र प्राप्त हुआ।

व्यवहार प्रतिबंधसे विक्षिप्त न होते हुए धैर्य रखकर उत्साहयुक्त वीर्यसे स्वरूपनिष्ठ वृत्ति करनी योग्य है। ॐ

---

८७९ मोहमयी, आषाढ सुदी ८, रवि, १९५५

ॐ

'क्रियाकोष' इससे सरल और कोई नही है। विशेष अवलोकन करनेसे स्पष्टार्थ होगा।

शुद्धात्मस्थितिके पारमार्थिक श्रुत और इंद्रियजय दो मुख्य अवलंबन हैं। सुदृढतासे उपासना करनेसे वे सिद्ध होते हैं। हे आर्य ! निराशाके समय महात्मा पुरुषोका अद्भुत आचरण याद करना योग्य है। उल्लसित वीर्यवान परमतत्त्वकी उपासना करनेका मुख्य अधिकारी है।

शांतिः

---

*भावार्थ—जिसका काल किंकर हो गया है, और जिसे त्रिलोक मृगतृष्णाके जलके समान मालूम होता है, उसका जीना धन्य है। जिसकी आशारूपी पिशाचिनो दासी है, और काम क्रोध जिसके कैदी हैं, जो यद्यपि खाता, पीता और बोलता हुआ दीखता है, परन्तु वह नित्य निरंजन और निराकार है। उसे सलोना संत जाने और उसका यह अन्तिम भव है, उसने जगतको पावन करनेके लिये अवतार लिया है, बाकी तो सब माताके उदरमे भारभूत ही है, उसे चौदह राजलोकमे विचरते हुए किसीसे भी अन्तराय नही होता, उसकी ऋद्धि-सिद्धि सब दासियाँ हो गयी हैं, और उसके हृदयमे ब्रह्मानन्द नही समाता।

१. श्री आचारांगसूत्रके एक वाक्यसम्बन्धी। देखें आक ८६९।

८८० बम्बई, आषाढ सुदी ८, रवि, १९५५

ॐ

दोनों क्षेत्रोंमें सुस्थित मुनिवरोंको यथाविनय वंदन प्राप्त हो।

पत्र प्राप्त हुआ। संस्कृतके अभ्यासके लिये अमुक समयका नित्य नियम रखकर प्रवृत्ति करना योग्य है।

अप्रमत्त स्वभावका बारंबार स्मरण करते हैं।

पारमार्थिक श्रुत और वृत्तिजयका अभ्यास बढ़ाना योग्य है। ॐ

---

८८१ बंबई, आषाढ वदी ६, शुक्र, १९५५

ॐ

परमकृपालु मुनिवर्यके चरणकमलमे परम भक्तिसे सविनय नमस्कार प्राप्त हो।

कल रातकी डाकगाडीमे यहाँसे भाई त्रिभोवन वीरचंदके साथ 'पद्मनंदी पचविंशति' नामक सत्शास्त्र मुनिवर्यके मननार्थ भेजनेकी वृत्ति है। इसलिये डाकगाडीके समय आप स्टेशनपर आ जायें। महात्माश्री उस ग्रन्थका मनन कर लेनेके बाद परमकृपालु मुनिश्री श्रीमान देवकीर्णस्वामीको वह ग्रन्थ भेज दें।

अन्य मुनियोको सविनय नमस्कार प्राप्त हो।

---

८८२ बंबई, आषाढ वदी ८, रवि, १९५५

ॐ

मुमुक्षु तथा दूसरे जीवोंके उपकारके निमित्त जो उपकारशील बाह्य प्रतापकी सूचना—विज्ञापन किया है, वह अथवा दूसरे कोई कारण किसी अपेक्षासे उपकारशील होते हैं। अभी वैसे प्रवृत्तिस्वभावके प्रति उपशांतवृत्ति है।

प्रारब्ध योगसे जो बने वह भी शुद्ध स्वभावके अनुसंधानपूर्वक होना योग्य है। महात्माओंने निष्कारण करुणासे परमपदका उपदेश किया है, इसमे ऐसा मालूम होता है कि उस उपदेशका कार्य परम महान ही है। सब जीवोंके प्रति बाह्य दयामें भी अप्रमत्त रहनेका जिसके योगका स्वभाव है, उसका आत्मस्वभाव सब जीवोको परमपदके उपदेशका आकर्षक हो, ऐसी निष्कारण करुणावाला हो, यह यथार्थ है।

---

८८३ बंबई, आषाढ वदी ८, रवि, १९५५

ॐ नमः

[1]बिना नयन पावे नहीं बिना नयनकी बात।

इस वाक्यका मुख्य हेतु आत्मदृष्टि सम्बन्धी है। स्वाभाविक उत्कर्षके लिये यह वाक्य है। समागमके योगमे इसका स्पष्टार्थ समझमे आना सम्भव है। तथा दूसरे प्रश्नोके समाधानके लिये अभी बहुत अल्प प्रवृत्ति रहती है। सत्समागमके योगमे सहजमें समाधान हो सकता है।

'बिना नयन' आदि वाक्यका स्वकल्पनासे कुछ भी विचार न करते हुए, अथवा शुद्ध चैतन्यदृष्टिकी

१. देखें आंक २५८।

वृत्ति जिससे विक्षिप्त न हो ऐसा वर्तन योग्य है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' अथवा दूसरा सत्शास्त्र थोड़े वक्तमें बहुत करके प्राप्त होगा।

दुःषमकाल है, आयु अल्प है, सत्समागम दुर्लभ है, महात्माओंके प्रत्यक्ष वाक्य, चरण और आज्ञाका योग कठिन है। इसलिये बलवान अप्रमत्त प्रयत्न कर्तव्य है।

आपके समीप रहनेवाले मुमुक्षुओंको यथा विनय प्राप्त हो। शांति·

८८४

इस दुषमकालमे सत्समागम और सत्संगता अति दुर्लभ हैं। इसमें परम सत्संग और परम असंगताका योग कहाँसे छाजे?

---

८८५ बंबई, श्रावण सुदी ३, १९५५

ॐ

परम पुरुषकी मुख्य भक्ति ऐसे सद्वर्तनसे प्राप्त होती है कि जिससे उत्तरोत्तर गुणोकी वृद्धि हो। चरणप्रतिपत्ति (शुद्ध आचरणकी उपासना) रूप सद्वर्तन ज्ञानीकी मुख्य आज्ञा है, जो आज्ञा परम पुरुषकी मुख्य भक्ति है।

उत्तरोत्तर गुणकी वृद्धि होनेमे गृहवासी जनोंको सदुद्यमरूप आजीविका-व्यवहारसहित प्रवर्तन करना योग्य है।

अनेक शास्त्रों और वाक्योका अभ्यास करनेकी अपेक्षा जीव यदि ज्ञानीपुरुषोंकी एक एक आज्ञाकी उपासना करे, तो अनेक शास्त्रोंसे होनेवाला फल सहजमे प्राप्त होता है।

---

८८६ मोहमयी क्षेत्र, श्रावण सुदी ७, १९५५

ॐ

श्री 'पद्मनंदी शास्त्र'की एक प्रति किसी अच्छे व्यक्तिके साथ वसो क्षेत्रमे मुनिश्रीको भेजनेकी व्यवस्था करें।

बलवान निवृत्तिवाले द्रव्य-क्षेत्रादिके योगमे आप उस सत्शास्त्रका वारंवार मनन और निदिध्यासन करे। प्रवृत्तिवाले द्रव्यक्षेत्रादिमे वह शास्त्र पढ़ना योग्य नही है।

जब तीन योगकी अल्प प्रवृत्ति हो, वह भी सम्यक् प्रवृत्ति हो तब महापुरुषके वचनामृतका मनन परम श्रेयके मूलको दृढ़ीभूत करता है; क्रमसे परमपदको संप्राप्त करता है।

चित्तको विक्षेपरहित रखकर परमशात श्रुतका अनुप्रेक्षण कर्तव्य है।

---

८८७ मोहमयी, श्रावण वदी ३०, १९५५

अगम्य होनेपर भी सरल ऐसे महापुरुषोंके मार्गको नमस्कार

सत्समागम निरंतर कर्तव्य है। महान भाग्यके उदयसे अथवा पूर्वकालके अभ्यस्त योगसे जीवको सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न होती है, जो अति दुर्लभ है। वह सच्ची मुमुक्षुता बहुत करके महापुरुषके चरण-कमलकी उपासनासे प्राप्त होती है, अथवा वैसी मुमुक्षुतावाले आत्माको महापुरुषके योगसे आत्मनिष्ठत्व प्राप्त होता है; सनातन अनंत ज्ञानीपुरुषो द्वारा उपासित सन्मार्ग प्राप्त होता है। जिसे सच्ची मुमुक्षुता

प्राप्त हुई हो उसे भी ज्ञानीका समागम और आज्ञा अप्रमत्त योग संप्राप्त कराते हैं। मुख्य मोक्षमार्गका क्रम इस प्रकार मालूम होता है।

वर्तमानकालमें वैसे महापुरुषोंका योग अति दुर्लभ है। क्योंकि उत्तम कालमें भी उस योगकी दुर्लभता होती है, ऐसा होनेपर भी जिसे सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न हुई हो, रात-दिन आत्मकल्याण होनेका तथारूप चिंतन रहा करता हो, वैसे पुरुषको वैसा योग प्राप्त होना सुलभ है।

'आत्मानुशासन' अभी मनन करने योग्य है। शांतिः

---

८८८ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

जिन वचनोंकी आकाक्षा है वे बहुत करके थोड़े समयमे प्राप्त होंगे।

इंद्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक सत्श्रुत और सत्समागम निरंतर उपासनीय है।

क्षीणमोहपर्यंत ज्ञानीकी आज्ञाका अवलबन परम हितकारी है।

आज दिन पर्यंत आपके प्रति तथा आपके समोपवासी बहनो और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभाव द्वारा जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमाकी याचना है। क्षमम्

---

८८९ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

जो वनवासी शास्त्र[1] भेजा है, वह प्रबल निवृत्तिके योगमें इंद्रियसंयमपूर्वक मनन करनेसे अमृत है।

अभी 'आत्मानुशासन'का मनन करें।

आज दिन तक आपके तथा समीपवामी बहनों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे कुछ भी अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमायाचना करते है। ॐ शांतिः

---

८९० बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

श्री अंबालाल आदि मुमुक्षुजन,

आज-दिन तक आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बहनों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं। ॐ शांतिः

---

८९१ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

आपके तथा भाई वणारसीदास आदिके लिखे पत्र मिले थे।

आपके पत्रोंमें कुछ न्यूनाधिक लिखा गया हो, ऐसा विकल्प प्रदर्शित किया हो, वैसा कुछ भासमान नहीं हुआ है। निर्विक्षिप्त रहे। बहुत करके यहाँ वैसा विकल्प संभव नही है।

इंद्रियोंके निग्रहपूर्वक सत्समागम और सत्शास्त्रका परिचय करें। आपके समीपवासी मुमुक्षुओंका उचित विनय चाहते हैं।

---

१. श्री पद्मनंदी पंचविंशति।

क्षीणमोहपर्यंत ज्ञानीकी आज्ञाका अवलंबन परम हितकारी है। आज दिन पर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बहनों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमा चाहते हैं। शमम्

---

८९२ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रविवार, १९५५

ॐ शान्तिः

श्री झवेरचंद और रतनचंद आदि मुमुक्षु, काविठा-बोरसद।

आज दिन पर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बहनो और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ, किंचित् भी अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमा चाहते हैं।

ॐ शान्ति

---

८९३ बंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

पत्र मिला है। किसी मनुष्यके बताये हुए स्वप्न आदि प्रसंगके संबंधमे निर्विक्षिप्त रहे, तथा अपरिचित रहे। उस विषयमे कुछ उत्तर प्रत्युत्तर आदिका भी हेतु नही है।

इंद्रियोंके निग्रहपूर्वक सत्समागम और सत्श्रुत उपासनीय हैं।

आज दिन पर्यन्त आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बहनों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो उसके लिये नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं। शमम्

---

८९४ बंबई, भादों सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोंको नमस्कार।

आज दिन पर्यन्त योगके प्रमत्त स्वभावके कारण आपके प्रति यत्किंचित् अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं।

भाई वल्लभ आदि मुमुक्षुओंको क्षमापना आदि कण्ठस्थ करनेके विषयमे आप योग्य आज्ञा करें।

ॐ शातिः

---

८९५ बंबई, आसोज, १९५५

ॐ

जिन ज्ञानीपुरुषोका देहाभिमान दूर हुआ है उन्हे कुछ करना बाकी नही रहा, ऐसा है, तो भी उन्हे सर्वसंगपरित्यागादि सत्पुरुषार्थता परमपुरुषने उपकारभूत कही है।

३३ वाँ वर्ष

८९६ बंबई, कार्त्तिक, १९५६

ॐ
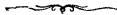
परम वीतरागोंद्वारा आत्मस्थ किये हुए, यथाख्यात चारित्रसे
प्रगट किये हुए परम असंगत्वको निरंतर
व्यक्ताव्यक्तरूपसे याद करता हूँ।

इस दुःषमकालमे सत्समागमका योग भी अति दुर्लभ है, उसमें परम सत्संग और परम असंगत्वका योग कहाँसे हो ?

सत्समागमका प्रतिबध करनेके लिये कहे तो वैसा प्रतिबध न करनेकी वृत्ति बतायी तो वह योग्य है, यथार्थ है। तदनुसार वर्तन कीजियेगा। सत्समागमका प्रतिबंध करना योग्य नही है, तथा सामान्यतः उनके साथ समाधान रहे ऐसा बर्ताव रखना हितकारी है।

फिर जिस प्रकार विशेष उस संगमे आना न हो ऐसे क्षेत्रमे विचरना योग्य है, कि जिस क्षेत्रमे आत्मसाधन सुलभतासे हो।

परम शांत श्रुतके विचारमे इन्द्रियनिग्रहपूर्वक आत्मप्रवृत्ति रखनेमे स्वरूपस्थिरता अपूर्वतासे प्रगट होती है।

संतोष आर्या आदिके लिये यथाशक्ति ऊपर दर्शित किया हुआ प्रयत्न योग्य है। ॐ शांतिः

---

८९७ मोहमयीक्षेत्र, कार्तिक सुदी ५(ज्ञानपंचमी), १९५६

ॐ

परम शांत श्रुतका मनन नित्य नियमपूर्वक कर्तव्य है। शांतिः

---

८९८ बम्बई, कार्तिक सुदी ५, बुध, १९५६

ॐ

यह प्रवृत्ति व्यवहार ऐसा है कि जिसमे वृत्तिकी यथाशातता रखना यह असंभव जैसा है। कोई विरले ज्ञानी इसमे शात स्वरूपनैष्ठिक रह सकते हो, इतना बहुत दुर्घटतासे बनना सम्भव है। उसमें अल्प अथवा सामान्य मुमुक्षुवृत्तिके जीव शांत रह सकें, स्वरूपनैष्ठिक रह सकें, ऐसा यथारूप नहीं परन्तु

श्रीमद राजचन्द्र

वर्ष ३३ मु   वि. सं. १९५६
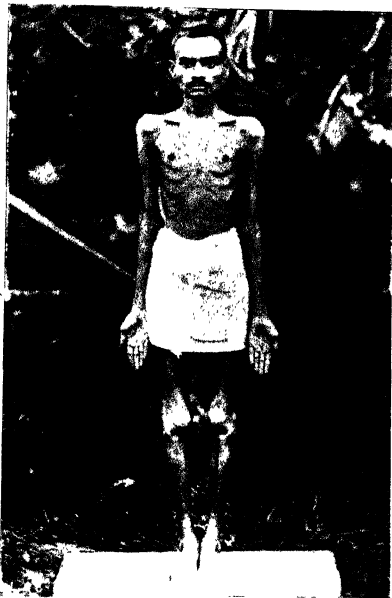
श्रीमद् राजचंद्र

वर्ष ३३ मुं वि. सं. १९५६

तत्त्वप्रतीतिसे शुद्ध-चैतन्यके प्रति वृत्तिका प्रवाह मुड़ता है। शुद्ध-चैतन्यके अनुभवके लिये चारित्र-मोह नष्ट करना योग्य है।

चैतन्यके—ज्ञानीपुरुषके सन्मार्गकी नैष्ठिकतासे चारित्रमोहका प्रलय होता है।

असंगतासे परमावगाढ अनुभव हो सकता है।

हे आर्य मुनिवरों! इसी असंग शुद्ध-चैतन्यके लिये असंगयोगकी हम अहर्निश इच्छा करते हैं। हे मुनिवरों! असंगताका अभ्यास करें।

दो वर्ष कदापि समागम न करना ऐसा होनेसे अविरोधता होती हो तो अंतमें दूसरा कोई सदुपाय न हो तो वैसा करें।

जो महात्मा असंग चैतन्यमे लीन हुए, होते हैं, और होंगे, उन्हें नमस्कार। ॐ शांतिः

---

९०२ बम्बई, कार्तिक वदी ११, मंगल, १९५६

*जड ने चैतन्य बन्ने द्रव्यनो स्वभाव भिन्न,
सुप्रतीतपणे बन्ने जेने समजाय छे;
स्वरूप चेतन निज, जड छे संबंध मात्र,
अथवा ते ज्ञेय पण परद्रव्यमांय छे;
एवो अनुभवनो प्रकाश उल्लासित थयो,
जडथी उदासी तेने आत्मवृत्ति थाय छे,
कायानी विसारी माया, स्वरूपे समाया एवा,
निर्ग्रंथनो पंथ भवअंतनो उपाय छे॥ १॥
देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वडे,
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे;
जीवनी उत्पत्ति अने रोग, शोक, दुःख, मृत्यु,
देहनो स्वभाव जीव पदमां जणाय छे;

---

*भावार्थ—जड और चैतन्य दोनो द्रव्योका स्वभाव भिन्न है, ऐसा यथार्थ प्रतीतिपूर्वक जिसे समझमें आता है; उसे भास होता है कि निजस्वरूप तो चेतन है और जड तो सम्बन्ध मात्र है, अथवा जड तो ज्ञेयरूप परद्रव्य है और स्वयं तो उसका ज्ञाता-द्रष्टा है। चैतन्यस्वरूप आत्मा उससे सर्वथा भिन्न है। यो स्वरूपका अनुभव अर्थात् आत्म-साक्षात्कार हो जानेसे जड पदार्थके प्रति उदासीनता आ जाती है, जिससे बहिर्मुखता दूर होकर अंतर्मुखता हो जाती है अर्थात् आत्मा स्वरूपमें स्थित हो जाता है अथवा आत्म-लीनता आ जाती है। आत्म-जागृति एवं आत्म-भान हो जानेपर कायाकी ममता, आसक्ति नही रहती अथवा देहाध्यास दूर हो जाता है और आत्मा स्वरूपस्थ हो जाता है। इसलिये निर्ग्रंथका पंथ भवांत-मोक्षका सच्चा उपाय है॥ १॥

अज्ञानसे शरीर और आत्मा एकरूप—अभिन्न लगते है। यह भ्रांति अनादि कालसे चली आ रही है। इस-लिये क्रियाकी प्रवृत्ति भी उसी भ्रांतिपूर्वक होती रहती है। जन्म, रोग, शोक, दुख, मृत्यु आदि देहका स्वभाव है, परंतु अज्ञानवश आत्माका स्वभाव माना जाता है। देह और आत्माको एकरूप माननेका जो अनादि मिथ्यात्व भाव है वह ज्ञानीपुरुषके बोधसे दूर हो जाता है। जीव जब ज्ञानीके बोधको आत्मसात् कर लेता है तब जड और चेतनका भिन्न-स्वभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। फिर दोनो द्रव्य अपने-अपने रूपमें स्थित हो जाते है अर्थात् आत्मा आत्मरूपमें और कर्मरूप पुद्गल पुद्गलरूपमें स्थित हो जाते हैं॥२॥

एवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्वभाव,
ज्ञानीनां वचन वडे दूर थई जाय छे;
भासे जड चैतन्यनो प्रगट स्वभाव भिन्न,
बन्ने द्रव्य निज निज रूपे स्थित थाय छे ॥ २ ॥

---

९०३ बबई, कार्तिक वदी ११, मंगल, १९५६

प्राणीमात्रका रक्षक, बाधव और हितकारी, यदि ऐसा कोई उपाय हो तो वह वीतरागका धर्म ही है।

---

९०४ बबई, कार्तिक वदी ११, मंगल, १९५६

संतजनों ! जिनवरेंद्रोने लोक आदिका जो स्वरूप निरूपण किया है, वह आलंकारिक भाषामे निरूपण है, जो पूर्ण योगाभ्यासके बिना ज्ञानगोचर होने योग्य नही है। इसलिये आप अपने अपूर्ण ज्ञानके आधारसे वीतरागके वाक्योंका विरोध न करे; परंतु योगका अभ्यास करके पूर्णतासे उस स्वरूपके ज्ञाता होवें।

---

९०५ मोहमयी क्षेत्र, पौष वदी १२, रवि, १९५६

महात्मा मुनिवरोके चरणकी, सगकी उपासना और सत्शास्त्रका अध्ययन मुमुक्षुओके लिये आत्मबलकी वृद्धिके सदुपाय हैं।

ज्यो ज्यों इंद्रियनिग्रह, ज्यो ज्यो निवृत्तियोग होता है त्यों त्यो वह सत्समागम और सत्शास्त्र अधिकाधिक उपकारी होते हैं। ॐ शांतिः शाति. शातिः

---

९०६ बंबई, माघ वदी १०, शनि, १९५६

आज आपका पत्र मिला। बहन इच्छाके वरकी अकाल मृत्युके खेदकारक समाचार जानकर बहुत शोक होता है। संसारकी ऐसी अनित्यताके कारण ही ज्ञानियोंने वैराग्यका उपदेश दिया है।

घटना अत्यंत दुःखकारक है। परंतु निरुपाय होनेसे धीरज रखनी चाहिये। तो आप मेरी ओरसे बहन इच्छाको और घरके लोगोंको दिलासा और धीरज दिलायें। और बहनका मन शांत हो वैसे उसकी सभाल लें।

---

९०७ मोहमयी, माघ वदी ११, १९५६

ॐ

शुद्ध गुर्जर भाषामे 'समयसार'की प्रति की जा सके तो वैसा करनेसे अधिक उपकार हो सकता है। यदि वैसा न हो सके तो वर्तमान प्रतिके अनुसार दूसरी प्रति लिखनेमे अप्रतिबंध है।

---

९०८ बबई, माघ वदी १४, मंगल, १९५६

बताते हुए अतिशय खेद होता है कि सुज्ञ भाई श्री कल्याणजीभाई (केशवजी) ने आज दोपहरमे लगभग पंद्रह दिनकी मरोड़की तकलीफसे नामधारी देहपर्यायको छोडा है।

---

९०९ धर्मपुर, चैत्र सुदी ८, शनि, १९५६

ॐ

यदि 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' और 'समयसार' की नकलें लिखी गयी हो तो यहाँ मूल प्रतियोंके साथ भिजवाये। अथवा मूल प्रतियाँ बंबई भिजवायें और नकल की हुई प्रतियाँ यहाँ भिजवायें। नकलें अभी अधूरी हों तो कब पूर्ण होना संभव है यह लिखें। शांतिः

---

९१० धर्मपुर, चैत्र सुदी ११, मंगल, १९५६

ॐ

श्री 'समयसार' और 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' भेजनेके बारेमे पत्र मिला होगा।

इस पत्रके मिलनेसे यहाँ आनेकी वृत्ति और अनुकूलता हो तो आज्ञाका अतिक्रम नहीं है।

आपके साथ एक मुमुक्षुभाईके आनेसे भी आज्ञाका अतिक्रम नही होगा।

यदि 'गोम्मटसार' आदि कोई ग्रथ प्राप्त हो तो वह और 'कर्मग्रंथ', 'पद्मनंदी पंचविंशति', 'समयसार' तथा श्री 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' आदि ग्रंथ अनुकूलतानुसार साथ रखें।

---

९११ धर्मपुर, चैत्र सुदो १३, १९५६

'अष्टप्राभृत' के ११५ पन्ने प्राप्त हुए।

स्वामी वर्धमान जन्मतिथि। शांति

---

९१२ धर्मपुर, चैत्र वदी १, रवि, १९५६

ॐ

[1]"धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे रे,
ज्ञानवंत ज्ञानीशुं मळतां तनमनवचने साचा,
द्रव्यभाव सुधा जे भाखे, साची जिननी वाचा रे;
धन्य ते मुनिवरा, जे चाले समभावे रे।"

पत्र प्राप्त हुए थे।

एक पखवाड़ेसे यहाँ स्थिति है।

श्री देवकीर्ण आदि आर्योको नमस्कार प्राप्त हो। साणद और अहमदाबादके चातुर्मासकी वृत्ति उपशांत करना योग्य है। यही श्रेयस्कर है।

खेडाकी अनुकूलता न हो तो दूसरे अनेक योग्य क्षेत्र मिल सकते हैं। अभी उनसे अनुकूलता रहे यही कर्तव्य है।

बाह्य और अन्तर समाधियोग रहता है। परम शांतिः

---

१. भावार्थ—वे मुनिवर धन्य हैं जो समभावपूर्वक आचरण करते हैं। जो स्वयं ज्ञानवान हैं, और ज्ञानियोसे मिलते है। जिनके मन, वचन और काया सच्चे है, तथा जो द्रव्यभावसे अमृत वाणी बोलते हैं वह जिन भगवानकी सच्ची वाणी ही है। वे मुनिवर धन्य हैं जो समभावपूर्वक आचरण करते हैं।

९१३ धर्मपुर, चैत्र वदी ४, बुध, १९५६

पत्र प्राप्त हुआ । यहाँ समाधि है ।

अकस्मात् शारीरिक असाताका उदय हुआ है और शांत स्वभावसे उसका वेदन किया जाता है, ऐसा जानते थे, और इससे संतोष प्राप्त हुआ था ।

समस्त संसारी जीव कर्मवशात् साता-असाताके उदयका अनुभव किया ही करते हैं । जिसमें मुख्यतः तो असाताके ही उदयका अनुभव किया जाता है । क्वचित् अथवा किसी देह संयोगमें साताका उदय अधिक अनुभवमें आता हुआ दिखाई देता है, परन्तु वस्तुतः वहाँ भी अन्तर्दाह जला ही करता है । पूर्ण ज्ञानी भी जिस असाताका वर्णन कर सकने योग्य वचनयोग नही रखते, वैसी अनंतानंत असाता इस जीवने भोगी है, और यदि अब भी उनके कारणोंका नाश न किया जाये तो भोगनी पड़े, यह सुनिश्चित है, ऐसा समझकर विचारवान उत्तम पुरुष उस अन्तर्दाहरूप साता और बाह्याभ्यंतर संक्लेशाग्निरूपसे प्रज्वलित असाताका आत्यंतिक वियोग करनेके मार्गकी गवेषणा करनेके लिये तत्पर हुए और उस सन्मार्गकी गवेषणा कर, प्रतीति कर उसका यथायोग्य आराधन कर अव्याबाध सुखस्वरूप आत्माके सहज शुद्ध स्वभावरूप परमपदमें लीन हुए ।

साता-असाताका उदय अथवा अनुभव प्राप्त होनेके मूल कारणोंकी गवेषणा करनेवाले उन महान पुरुषोंको ऐसी विलक्षण सानंदाश्चर्यकारी वृत्ति उद्भूत होती थी कि साताकी अपेक्षा असाताका उदय प्राप्त होनेपर और उसमें भी तीव्रतासे उस उदयके प्राप्त होनेपर उनका वीर्य विशेषरूपसे जाग्रत होता था, उल्लसित होता था, और वह समय अधिकतासे कल्याणकारी माना जाता था ।

कितने ही कारणविशेषके योगसे व्यवहारदृष्टिसे ग्रहण करने योग्य औषध आदि आत्म-मर्यादामें रहकर ग्रहण करते थे; परन्तु मुख्यतः वे परम उपशमकी ही सर्वोत्कृष्ट औषधरूपसे उपासना करते थे ।

उपयोग-लक्षणसे सनातन-स्फुरित ऐसे आत्माको देहसे, तैजस और कार्मण शरीरसे भी भिन्न अवलोकन करनेकी दृष्टि सिद्ध करके, वह चैतन्यात्मकस्वभाव आत्मा निरंतर वेदक स्वभाववाला होनेसे अबंधदशाको जब तक संप्राप्त न हो तब तक साता-असातारूप अनुभवका वेदन किये बिना रहनेवाला नहीं है यह निश्चय करके, जिस शुभाशुभ परिणामधाराकी परिणतिसे वह साता-असाताका सम्बन्ध करता है उस धाराके प्रति उदासीन होकर, देह आदिसे भिन्न और स्वरूपमर्यादामे रहे हुए उस आत्मामें जो चल स्वभावरूप परिणामधारा है उसका आत्यंतिक वियोग करनेका सन्मार्ग ग्रहण करके, परम शुद्धचैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोगसे सकलंक परिणाम प्रदर्शित करता है उससे उपरत होकर, जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये उस उपयोगमे और उस स्वरूपमे स्थिर हुआ जाये, अचल हुआ जाये, वही लक्ष्य, वही भावना, वही चिंतन और वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना योग्य है । महात्माओंकी वारंवार यही शिक्षा है ।

उस सन्मार्गकी गवेषणा करते हुए, प्रतीति करनेकी इच्छा करते हुए, उसे संप्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए ऐसे आत्मार्थी जनको परमवीतरागस्वरूप देव, स्वरूपनैष्ठिक निःस्पृह निर्ग्रंथ रूप गुरु, परमदयामूल धर्मव्यवहार और परमशांतरस रहस्य-वाक्यमय सत्शास्त्र, सन्मार्गकी संपूर्णता होने तक परमभक्तिसे उपासनीय है; जो आत्माके कल्याणके परम कारण हैं ।

यहाँ एक स्मरण-संप्राप्त गाथा लिखकर यहाँ इस पत्रको संक्षिप्त करते है ।

भीसण नरयगईए, तिरियगईए कुदेवमणुयगईए ।
पत्तोसि तिव्व दुःखं, भावहि जिणभावणा जीव ।।

भयंकर नरकगतिमे, तिर्यंचगतिमें और बुरी देव तथा मनुष्यगतिमे हे जोव ! तू तीव्र दुःखको प्राप्त हुआ, इसलिये अब तो जिन-भावना (जिन भगवान जिस परमशांतरसमे परिणमन कर स्वरूपस्थ हुए, उस परमशांतस्वरूप चिन्तन) का भावन—चितन कर (कि जिससे वैसे अनंत दुःखोका आत्यंतिक वियोग होकर परम अव्याबाध सुखसंपत्ति सप्राप्त हो)। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

९१४ धर्मपुर, चैत्र वदी ५, गुरु, १९५६

जहाँ संकुचित जनवृत्तिका संभव न हो और जहाँ निवृत्तिके योग्य विशेष कारण हों, ऐसे क्षेत्रमें महान पुरुषोको विहार, चातुर्मासरूप स्थिति कर्तव्य है। शांतिः

---

९१५ धर्मपुर, चैत्र वदी ६, शुक्र, १९५६

ॐ नमः

मुमुक्षुजनो,

आपका लिखा पत्र बंबईमे मिला था। यहाँ बीस दिनसे स्थिति है। पत्रमे आपने दो प्रश्नोका समाधान जाननेकी अभिलाषा प्रदर्शित की थी। उन दो प्रश्नोका समाधान यहाँ संक्षेपमे लिखा है।

(१) उपशमश्रेणिमे मुख्यत उपशमसम्यक्त्वका संभव है।

(२) चार घनघाती कर्मोका क्षय होनेसे अन्तराय कर्मकी प्रकृतिका भी क्षय होता है और इससे दानांतराय, लाभांतराय, वीर्यांतराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय इन पाँच प्रकारके अंतरायोका क्षय होकर अनत दानलब्धि, अनत लाभलब्धि, अनंत वीर्यलब्धि और अनंत भोग-उपभोगलब्धि सप्राप्त होती है। जिससे जिनके अन्तराय कर्मका क्षय हो गया है ऐसे परमपुरुष अनत दानादि देनेको संपूर्ण समर्थ है; तथापि परमपुरुष पुद्गल-द्रव्यरूपसे इन दान आदि लब्धियोका प्रवृत्ति नही करते। मुख्यत. तो उस लब्धि की सप्राप्ति भी आत्माको स्वरूपभूत है, क्योकि क्षायिकभावसे वह सप्राप्ति है, औदयिकभावसे नही, इसलिये आत्मस्वभाव स्वरूपभूत है, और जो अनत सामर्थ्य आत्मामे अनादिसे शक्तिरूपसे था वह व्यक्त होकर आत्मा निजस्वरूपमे आ सकता है, तद्रूप शुद्ध स्वच्छ भावसे एक स्वभावसे परिणमन करा सकता है, उसे अनत दानलब्धि कहना योग्य है। उसी प्रकार अनंत आत्मसामर्थ्यकी सप्राप्तिमे किंचित्मात्र वियोगका कारण नही रहा, इसलिये उसे अनन्त लाभलब्धि कहना योग्य है। और अनन्त आत्मसामर्थ्यकी सम्प्राप्ति सम्पूर्णरूपसे परमानन्दस्वरूपसे अनुभवमें आती है, उसमे भी किंचित्मात्र भी वियोगका कारण नही रहा, इसलिये अनन्त भोगोपभोगलब्धि कहना योग्य है, तथा अनन्त आत्मसामर्थ्यकी सम्प्राप्ति सम्पूर्णरूपसे होनेपर भी उस सामर्थ्यके अनुभवसे आत्मशक्ति थक जाये या उसका सामर्थ्य झेल न सके, वहन न कर सके अथवा उस सामर्थ्यको किसी प्रकारके देश-कालका असर होकर किंचित्मात्र भी न्यूनाधिकता करा दे, ऐसा कुछ भी नही रहा; उस स्वभावमें रहनेका सम्पूर्ण सामर्थ्य त्रिकाल सम्पूर्ण बलसहित रहनेवाला है, उसे अनन्त वीर्यलब्धि कहना योग्य है।

क्षायिकभावकी दृष्टिसे देखते हुए उपर्युक्त अनुसार उस लब्धिका परम पुरुषको उपयोग है। फिर ये पाँच लब्धियाँ हेतुविशेषसे समझानेके लिये भिन्न बतायी है, नही तो अनन्त वीर्यलब्धिमे भी उन पाँचोंका समावेश हो सकता है। आत्मा सम्पूर्ण वीर्यको सम्प्राप्त होनेसे इन पाँचों लब्धियोंका उपयोग पुद्गलद्रव्यरूपसे करे तो वैसा सामर्थ्य उसमें है, तथापि कृतकृत्य ऐसे परम पुरुषमे सम्पूर्ण वीतराग स्वभाव होनेसे उस उपयोगका इस कारणसे सभव नही है, और उपदेश आदिके दानरूपसे जो उस कृतकृत्य

परम पुरुषकी प्रवृत्ति है, वह योगाश्रित पूर्व-बंधकी उदयमानतासे है, आत्माके स्वभावके किंचित् भी विकृतभावसे नहीं है।

इस प्रकार संक्षेपमें उत्तर समझें। निवृत्तिवाला अवसर सम्प्राप्त करके अधिकाधिक मनन करनेसे विशेष समाधान और निर्जरा सम्प्राप्त होंगे। सोल्लास चित्तसे ज्ञानकी अनुप्रेक्षा करनेसे अनंत कर्मका क्षय होता है।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

९१६ धर्मपुर, चैत्र वदी १३, शुक्र, १९५६

ॐ

कृपालु मुनिवरोंकी यथाविधि विनय चाहते है।

बलवान निवृत्तिके हेतुभूत क्षेत्रमे चातुर्मास कर्तव्य है। नडियाद, वसो आदि जो सानुकूल हो वह, एक स्थलके बदले दो स्थलमे हो उसमें विक्षिप्तताके हेतुका सम्भव नही है। असत्समागमका योग प्राप्त कर यदि बटवारा करे तो उस सम्बन्धी समयानुसार जैसा योग्य लगे वैसा, उन्हें बताकर उस कारणकी निवृत्ति करके सत्समागमरूप स्थिति करना योग्य है।

यहाँ स्थितिका संभव वैशाख सुदी २ से ५ तक है।

समागम सम्बन्धी अनिश्चित है।

परमशांतिः

---

९१७ अहमदाबाद, भीमनाथ, वैशाख सुदी ६, १९५६

आज दशा आदि सम्बन्धी जो बताया है और बीज बोया है उसे न खोदे। वह सफल होगा।

'चतुरांगुल है दृगसे मिल है'[1]—यह आगे जाकर समझमें आयेगा।

एक श्लोक पढ़ते हुए हमे हजारों शास्त्रोंका भान होकर उसमें उपयोग घूम आता है (अर्थात् रहस्य समझमें आ जाता है)।

---

९१८ ववाणिया, वैशाख, १९५६

आपने कितने ही प्रश्न लिखे उन प्रश्नोंका समाधान समागममें समझना विशेष उपकाररूप जानता हूँ। तो भी किंचित् समाधानके लिये यथामति संक्षेपमे उनके उत्तर यहाँ लिखता हूँ।

सत्पुरुषकी यथार्थ ज्ञानदशा, सम्यक्त्वदशा, और उपशमदशाको तो, जो यथार्थ मुमुक्षु जीव सत्पुरुषके समागममें आता है वह जानता है, क्योंकि प्रत्यक्ष उन तीन दशाओका लाभ श्री सत्पुरुषके उपदेशसे कुछ अंशोंमें होता है। जिनके उपदेशसे वैसी दशाके अंग प्रगट होते हैं उनकी अपनी दशामे वे गुण कैसे उत्कृष्ट रहे होने चाहिये, उसका विचार करना सुगम है; और जिनका उपदेश एकान्त नयात्मक हो उनसे वैसी एक भी दशा प्राप्त होनी सम्भव नहीं है यह भी प्रत्यक्ष समझमे आयेगा। सत्पुरुषकी वाणी सर्व नयात्मक होती है।

अन्य प्रश्नोंके उत्तर—

प्र०—जिनाज्ञाराधक स्वाध्याय-ध्यानसे मोक्ष है या और किसी तरह ?

उ०—तथारूप प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगमें अथवा किसी पूर्व-कालके दृढ आराधनसे जिनाज्ञा यथार्थ समझमे आये, यथार्थ प्रतीत हो, और उसकी यथार्थ आराधना की जाये तो मोक्ष होता है इसमे संदेह नहीं है।

---

१ देखें आंक २६५ का ७ वाँ पद।

प्र०—ज्ञानप्रज्ञासे जानी हुई सर्व वस्तुका प्रत्याख्यानप्रज्ञासे जो प्रत्याख्यान करता है उसे पंडित कहा है।

उ०—वह यथार्थ है। जिस ज्ञानसे परभावके मोहका उपशम अथवा क्षय न हुआ हो, वह ज्ञान 'अज्ञान' कहने योग्य है अर्थात् ज्ञानका लक्षण परभावके प्रति उदासीन होना है।

प्र०—जो एकात ज्ञान मानता है उसे मिथ्यात्वी कहा है।

उ०—वह यथार्थ है।

प्र०—जो एकात क्रिया मानता है उसे मिथ्यात्वी कहा है।

उ०—वह यथार्थ है।

प्र०—मोक्ष जानेके चार कारण कहे है। तो क्या उन चारमेसे किसी एक कारणको छोड़कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है या संयुक्त चार कारणसे ?

उ०—ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप ये मोक्षके चार कारण कहे हैं, वे परस्पर अविरोधरूपसे प्राप्त होनेपर मोक्ष होता है।

प्र०—समकित अध्यात्मकी शैली किस तरह है ?

उ०—यथार्थ समझमे आनेपर परभावसे आत्यंतिक निवृत्ति करना यह अध्यात्ममार्ग है। जितनी जितनी निवृत्ति होती है उतने उतने सम्यक् अंश होते हैं।

प्र०—'पुद्गलसे रातो रहे', इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उ०—पुद्गलमे आसक्ति होना मिथ्यात्वभाव है।

प्र०—'अतरात्मा परमात्माने ध्यावे', इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उ०—अंतरात्मरूपसे यदि परमात्मस्वरूपका ध्यान करे तो परमात्मा हो जाते हैं।

प्र०—और अभी कौनसा ध्यान रहता है ? इत्यादि।

उ०—सद्गुरुके वचनका वारंवार विचार कर, अनुप्रेक्षण कर परभावसे आत्माको असंग करना।

प्र०—मिथ्यात्व (?) अध्यात्मकी प्ररूपणा आदि लिखकर आपने पूछा कि वह यथार्थ कहता है या नही ? अर्थात् समकिती नाम धारणकर विषय आदिकी आकांक्षा और पुद्गलभावका सेवन करनेमें कोई बाधा नही समझता, और 'हमे बंध नही है'—ऐसा जो कहता है, क्या वह यथार्थ कहता है ?

उ०—ज्ञानीके मार्गकी दृष्टिसे देखते हुए वह मात्र मिथ्यात्व ही कहता है। पुद्गलभावसे भोगे और ऐसा कहे कि आत्माको कर्म नही लगते तो वह ज्ञानीकी दृष्टिका वचन नही, वाचाज्ञानीका वचन है।

प्र०—जैनदर्शन कहता है कि पुद्गलभावके कम होनेपर आत्मध्यान फलित होगा, यह कैसे ?

उ०—वह यथार्थ कहता है।

प्र०—स्वभावदशा क्या फल देती है ?

उ०—तथारूप सपूर्ण हो तो मोक्ष होता है।

प्र०—विभावदशा क्या फल देती है ?

उ०—जन्म, जरा, मरण आदि संसार।

प्र०—वीतरागकी आज्ञासे पोरसीका स्वाध्याय करे तो क्या फल होता है ?

उ०—तथारूप हो तो यावत् मोक्ष होता है।

प्र०—वीतरागकी आज्ञासे पोरसीका ध्यान करे तो क्या फल होता है ?

उ०—तथारूप हो तो यावत् मोक्ष होता है।

इस प्रकार आपके प्रश्नोंका संक्षेपमे उत्तर लिखता हूँ। लौकिकभावको छोड़कर, वाचाज्ञान छोड़कर, कल्पित विधि-निषेध छोड़कर जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन कर, तथारूप उपदेश पाकर, तथारूप आत्मार्थमे प्रवृत्ति करे तो उसका अवश्य कल्याण होता है।

निज कल्पनासे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिका स्वरूप चाहे जैसा समझकर अथवा निश्चयनयात्मक बोल सीखकर जो सद्व्यवहारका लोप करनेमे प्रवृत्ति करे, उससे आत्माका कल्याण होना संभव नही है, अथवा कल्पित व्यवहारके दुराग्रहमें रुके रहकर प्रवृत्ति करते हुए भी जीवका कल्याण होना संभव नहीं है।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह॥

—'आत्मसिद्धिशास्त्र'

एकांत क्रियाजडतामे अथवा एकांत शुष्कज्ञानसे जीवका कल्याण नहीं होता।

---

९१९ ववाणिया, वैशाख वदी ८, मगल, १९५६

ॐ

प्रमत्त-प्रमत्त ऐसे वर्तमान जीव हैं, और परम पुरुषोंने अप्रमत्तमे सहज आत्मशुद्धि कही है, इसलिये उस विरोधके शांत होनेके लिये परम पुरुषका समागम, चरणका योग ही परम हितकारी है। ॐ शांतिः

---

९२० ववाणिया, वैशाख वदी ८, मंगल, १९५६

ॐ

भाई छगनलालका और आपका लिखा हुआ यों दो पत्र मिले। वीरमगामकी अपेक्षा यहाँ पहले स्वास्थ्य कुछ ढीला रहा था। अब कुछ भी ठीक हुआ होगा ऐसा मालूम होता है। ॐ परमशांतिः

---

९२१ ववाणिया, वैशाख वदी ९, बुध, १९५६

ॐ

'मोक्षमाला' में शब्दांतर अथवा प्रसंगविशेषमे कोई वाक्यांतर करनेकी वृत्ति हो तो करें। उपोद्घात आदि लिखनेकी वृत्ति हो तो लिखें। जीवनचरित्रकी वृत्ति उपशांत करें।

उपोद्घातसे वाचकको, श्रोताको अल्प अल्प मतांतरकी वृत्ति विस्मृत होकर ज्ञानी पुरुषोंके आत्मस्वभावरूप परम धर्मका विचार करनेकी स्फुरणा हो, ऐसा लक्ष्य सामान्यत रखें। यह सहज सूचना है। शांतिः

---

९२२ ववाणिया, वैशाख वदी ९, बुध, १९५६

साणंदसे मुनिश्रीने श्री अम्बालालके प्रति लिखवाया हुआ पत्र स्तंभतीर्थसे आज यहाँ मिला।

ॐ परमशांतिः

नडियाद और वसो-क्षेत्रके चातुर्मासमें तीन तीन मुनियोंकी स्थिति हो तो भी श्रेयस्कर ही है।

ॐ परमशांतिः

---

९२३ ववाणिया, वैशाख वदी ९, बुध, १९५६

ॐ

आज पत्र प्राप्त हुआ।

साथके पत्रका उत्तर—पत्रानुसार क्षेत्रमे आज गया है। शरीरप्रकृति उदयानुसार सहज स्वस्थ हुई है। शांतिः

---

९२४ ववाणिया, वैशाख वदी १३, शनि, १९५६

ॐ

आर्य मुनिवरोंके चरणकमलमे यथाविधि नमस्कार प्राप्त हो। वैशाख वदी ७ सोमवारका लिखा पत्र प्राप्त हुआ।

नडियाद, नरोडा और वसो तथा उनके सिवाय अन्य कोई क्षेत्र जो निवृत्तिके अनुकूल तथा आहारादि सम्बन्धी विशेष सकोचवाला न हो वैसे क्षेत्रमे तीन तीन मुनियोंके चातुर्मास करनेमे श्रेय ही है।

इस वर्ष जहाँ उन वेषधारियोंकी स्थिति हो उस क्षेत्रमे चातुर्मास करना योग्य नही है। नरोडामें आर्याओंका चातुर्मास उन लोगोंके पक्षका हो तो वह होनेपर भी आपको वहाँ चातुर्मास करना अनुकूल लगता हो तो भी बाधा नही है; परन्तु वेषधारीके समीपके क्षेत्रमे भी अभी यथासंभव चातुर्मास न हो तो अच्छा।

ऐसा कोई योग्य क्षेत्र दीखता हो कि जहाँ छहो मुनियोका चातुर्मास रहते हुए आहार आदिका संकोच विशेष न हो सके तो उस क्षेत्रमें छहों मुनियोंको चातुर्मास करनेमे बाधा नहीं है, परंतु जहाँ तक बने वहाँ तक तीन तीन मुनियोका चातुर्मास करना योग्य है।

जहाँ अनेक विरोधी गृहवासी जन या उन लोगोंको रागदृष्टिवाले हों अथवा जहाँ आहारादिका, जनसमूहका सकोचभाव रहता हो वहाँ चातुर्मास योग्य नहीं है। बाकी सर्व क्षेत्रोमे श्रेयस्कर ही है।

आत्मार्थीको विक्षेपका हेतु क्या हो? उसे सब समान ही हैं। आत्मतासे विचरनेवाले आर्य पुरुषों-को धन्य है! ॐ शांति.

---

९२५ ववाणिया, वैशाख वदी ३०, सोम, १९५६

ॐ

आर्य मुनिवरोंके लिये अविक्षेपता संभव है। विनयभक्ति यह मुमुक्षुओंका धर्म है।

अनादिसे चपल ऐसे मनको स्थिर करें। प्रथम अत्यंततासे विरोध करे इसमे कुछ आश्चर्य नही है। क्रमश उस मनका महात्माओंने स्थिर किया है, शात किया है, क्षीण किया है, यह सचमुच आश्चर्यकारक है।

---

९२६ ववाणिया, वैशाख वदी ३०, सोम, १९५६

ॐ

मुनियोंके लिये अविक्षेपता ही संभव है। मुमुक्षुओके लिये विनय कर्तव्य है।

'क्षायोपशमिक असख्य, क्षायिक एक अनन्य।' (अध्यात्म गीता)

मनन और निदिध्यासन करनेसे, इस वाक्यसे जो परमार्थ अंतरात्मवृत्तिमें प्रतिभासित हो उसे यथाशक्ति लिखना योग्य है। शांतिः

---

९२७ ववाणिया, वैशाख वदी ३०, १९५६

पत्र प्राप्त हुआ।

यथार्थ देखे तो शरीर ही वेदनाकी मूर्ति है। समय-समयपर जीव उस द्वारा वेदनाका ही अनुभव करता है। क्वचित् साता और प्रायः असाताका ही वेदन करता है। मानसिक असाताकी मुख्यता होनेपर भी वह सूक्ष्म सम्यग्दृष्टिमानको मालूम होती है। शारीरिक असाताकी मुख्यता स्थूल दृष्टिमानको भी मालूम होती है। जो वेदना पूर्वकालमे सुदृढ बंधसे जीवने बाँधी है, वह वेदना उदय संप्राप्त होनेपर इंद्र, चंद्र, नागेन्द्र या जिनेन्द्र भी उसे रोकनेको समर्थ नही है। उसके उदयका जीवको वेदन करना ही चाहिये। अज्ञानदृष्टि जीव खेदसे वेदन करें तो भी कुछ वह वेदना कम नही होती या चली नही जाती। सत्यदृष्टि-मान जीव शातभावसे वेदन करें तो उससे वह वेदना बढ नही जाती, परंतु नवीन बंधका हेतु नही होती। पूर्वकी बलवान निर्जरा होती है। आत्मार्थीको यही कर्तव्य है।

"मैं शरीर नही हूँ, परंतु उससे भिन्न ऐसा ज्ञायक आत्मा हूँ, और नित्य शाश्वत हूँ। यह वेदना मात्र पूर्व कर्मकी है, परंतु मेरे स्वरूपका नाश करनेको वह समर्थ नही है; इसलिये मुझे खेद कर्तव्य ही नही है" इस तरह आत्मार्थीका अनुप्रेक्षण होता है।

---

९२८ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी ११, १९५६

आर्य त्रिभोवनके अल्प समयमे शातवृत्तिसे देहोत्सर्ग करनेकी खबर सुनी। सुशील मुमुक्षुने अन्य स्थान ग्रहण किया।

जीवके विविध प्रकारके मुख्य स्थान हैं। देवलोकमे इंद्र तथा सामान्य त्रायस्त्रिंशदादिकके स्थान है। मनुष्यलोकमे चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव तथा माडलिक आदिके स्थान है। तिर्यंचमे भी कही इष्ट भोगभूमि आदि स्थान है। उन सब स्थानोंको जीव छोड़ेगा, यह निःसदेह है। जाति, गोत्री और बंधु आदि इन सबका अशाश्वत अनित्य ऐसा यह वास हैं। शांतिः

---

९२९ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १३, सोम, १९५६

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोको रोमाचित भक्तिसे नमस्कार हो।

पत्र प्राप्त हुआ।

चातुर्मास संबंधी मुनियोको कहाँसे विकल्प हो ?

निर्ग्रंथ क्षेत्रको किस सिरेसे बाँधे ? इस सिरेका सबंध नही है।

निर्ग्रंथ महात्माओंके दर्शन और समागम मुक्तिकी सम्यक् प्रतीति कराते हैं।

तथारूप महात्माके एक आर्य वचनका सम्यक् प्रकारसे अवधारण होनेसे यावत् मोक्ष होता है ऐसा श्रीमान् तीर्थंकरने कहा है, वह यथार्थ है। इस जीवमे तथारूप योग्यता चाहिये।

परम कृपालु मुनिवरोंको फिर नमस्कार करते हैं। शांतिः

---

९३० ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १३, सोम, १९५६

ॐ

पत्र और 'समयसार' की प्रति संप्राप्त हुई।

कुदकुदाचार्यकृत 'समयसार' ग्रन्थ भिन्न है। यह ग्रन्थकर्ता अलग है, और ग्रन्थका विषय भी अलग है। ग्रन्थ उत्तम है।

आर्य त्रिभोवनके देहोत्सर्ग करनेकी खबर आपको मिली जिससे खेद हुआ, यह यथार्थ है। ऐसे कालमे आर्य त्रिभोवन जैसे मुमुक्षु विरल है। दिन प्रति दिन शातावस्थासे उसका आत्मा स्वरूपलक्षित होता जाता था। कर्मतत्त्वका सूक्ष्मतासे विचार कर, निदिध्यासन कर आत्माको तदनुयायी परिणतिका निरोध हो यह उसका मुख्य लक्ष्य था। विशेष आयु होती तो वह मुमुक्षु चारित्रमोहको क्षीण करनेके लिये अवश्य प्रवृत्ति करता। शांतिः शातिः शांतिः

---

९३१ ववाणिया, जेठ वदी ९, गुरु, १९५६

शुभोपमालायक मेहता चत्रभुज बेचर,
मोरबी।

आज आपका एक पत्र डाकमे मिला।

पूज्यश्रीको यहाँ आनेके लिये कहें। उन्हे अपना वजन बढाना अपने हाथमें है। अन्न, वस्त्र या मनकी कुछ तंगी नही है। केवल उनके समझनेमे अतर हुआ है इसलिये यूं ही रोष करते हैं, इससे उलटा उनका वजन घटता है परंतु बढता नही है। उनका वजन बढे और वे अपने आत्माको शांत रखकर कुछ भी उपाधिमे न पडते हुए इस देह-प्राप्तिको सार्थक करे इतनी ही हमारी विनती है। उन्हे दोनो व्यसन वशमे रखने चाहिये। व्यसन बढानेसे बढते है और नियममे रखनेसे नियममे रहते है। उन्होने थोड़े समयमे व्यसनको तीन गुना कर डाला है, तो उसके लिये उन्हे उलाहना देनेका हेतु इतना ही है कि इससे उनकी कायाको बहुत नुकसान होता है, तथा मन परवश होता जाता है, जिससे इस लोक और परलोकका कल्याण चूक जाता है। उमरके अनुसार मनुष्यकी प्रकृति न हो तो मनुष्यका वजन नही पड़ता और वजन रहित मनुष्य इस जगतमे निकम्मा है। इसलिये उनका वजन रहे इस तरह वर्तन करनेके लिये हमारा अनुरोध है। सहज बातमे बीचमे आनेसे वजन नही रहता पर घटता है। यह ध्यान रखना चाहिये। अब तो थोड़ा समय रहा है तो जैसे वजन बढे वैसे वर्तन करना चाहिये।

हमे सप्राप्त हुई मनुष्यदेह भगवानकी भक्ति और अच्छे काममे गुजारनी चाहिये।

पूज्यश्रीको आज रातकी ट्रेनमे भेजें।

---

९३२ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी १०, १९५६

ॐ

पत्र प्राप्त हुए। शरीर-प्रकृति स्वस्थास्वस्थ रहती है, विक्षेप कर्तव्य नही है।

हे आर्य! अंतर्मुख होनेका अभ्यास करें। शांति

९३३

ॐ नमः

अपूर्व शांति और समाधि अचलतासे रहती है। कुभक, रेचक, पाँचों वायु सर्वोत्तम गतिको आरोग्य-बलसहित देती है।

---

९३४ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी ३०, बुध, १९५६

ॐ

परम पुरुषको अभिमत ऐसे अभ्यंतर और बाह्य दोनों संयमको उल्लासित भक्तिसे नमस्कार

'मोक्षमाला' के विषयमें आप यथासुख प्रवृत्ति करें।

मनुष्यदेह, आर्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण, उनमे आस्तिकता, संयम, उसके प्रति वीर्य प्रवृत्ति, प्रतिकूल योगोंमें भी स्थिति, अंतपर्यंत संपूर्ण मार्गरूप समुद्रको तर जाना—ये उत्तरोत्तर दुर्लभ और अत्यंत कठिन हैं, यह निःसंदेह है।

शरीर-स्थिति क्वचित् ठीक देखनेमें आती है, क्वचित् उससे विपरीत देखनेमे आती है। अभी कुछ असाताकी मुख्यता देखनेमें आती है। ॐ शांतिः

---

९३५ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी ३०, बुध, १९५६

ॐ

चक्रवर्तीकी समस्त संपत्तिकी अपेक्षा भी जिसका एक समय मात्र भी विशेष मूल्यवान है ऐसी यह मनुष्यदेह और परमार्थके अनुकूल योग प्राप्त होनेपर भी, यदि जन्म-मरणसे रहित परमपदका ध्यान न रहा तो इस मनुष्य-देहमें अधिष्ठित आत्माको अनंतबार धिक्कार हो !

जिन्होंने प्रमादको जीता उन्होंने परमपदको जीत लिया।

पत्र प्राप्त हुआ।

शरीर-स्थिति अमुक दिन स्वस्थ रहती है और अमुक दिन अस्वस्थ रहती है। योग्य स्वस्थताकी ओर अभी वह गमन नहीं करती, तथापि अविक्षेपता कर्तव्य है।

शरीर स्थितिकी अनुकूलता-प्रतिकूलताके अधीन उपयोग कर्तव्य नही है। शांतिः

---

९३६ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी ३०, १९५६

जिससे चिंतित प्राप्त हो उस मणिको चिंतामणि कहा है; यही यह मनुष्यदेह है कि जिस देहमे, योगमे सर्व दुःखका आत्यंतिक क्षय करनेका निश्चय किया तो अवश्य सफल होता है।

जिसका माहात्म्य अचिंत्य है, ऐसा सत्संगरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होनेपर जीव दरिद्र रहे, ऐसा हो तो इस जगतमें वह ग्यारहवाँ आश्चर्य ही है।

---

९३७ ववाणिया, आषाढ सुदी १, गुरु, १९५६

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोंको नमस्कार प्राप्त हो।

नडियादसे लिखवाया पत्र आज यहाँ प्राप्त हुआ।

जहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिकी अनुकूलता दिखायी देती हो वहाँ चातुर्मास करनेमें आर्य पुरुषोंको विक्षेप नहीं होता। दूसरे क्षेत्रकी अपेक्षा बोरसद अनुकूल प्रतीत हो तो वहाँ चातुर्मासकी स्थिति कर्तव्य है।

दो बार उपदेश और एक बार आहार ग्रहण तथा निद्रा-समयके सिवाय बाकीका अवकाश मुख्यतः आत्मविचारमे, 'पद्मनंदी' आदि शास्त्रावलोकनमें और आत्मध्यानमें व्यतीत करना योग्य है। कोई बहन

या भाई कभी कुछ प्रश्न आदि करे, तो उसका योग्य समाधान करना, कि जिससे उसका आत्मा शांत हो। अशुद्ध क्रियाके निषेधक वचन उपदेशरूपसे न कहते हुए, शुद्ध क्रियामे जैसे लोगोंकी रुचि बढे वैसे क्रिया कराते जायें।

उदाहरणके लिये, जैसे कोई एक मनुष्य अपनी रूढिके अनुसार सामायिक व्रत करता है, तो उसका निषेध न करते हुए, जिस तरह उसका वह समय उपदेशके श्रवणमे या सत्शास्त्रके अध्ययनमे अथवा कायोत्सर्गमे बीते, उस तरह उसे उपदेश करे। उसके हृदयमें भी सामायिक व्रत आदिके निषेधका किंचित्मात्र आभास भी न हो ऐसी गभीरतासे शुद्ध क्रियाकी प्रेरणा दे। स्पष्ट प्रेरणा करते हुए भी वह क्रियासे रहित होकर उन्मत्त हो जाता है, अथवा 'आपकी यह क्रिया ठीक नही है' इतना कहनेसे भी, आपको दोष देकर वह क्रिया छोड़ देता है ऐसा प्रमत्त जीवोका स्वभाव है; और लोगोंकी दृष्टिमे ऐसा आयेगा कि आपने ही क्रियाका निषेध किया है। इसलिये मतभेदसे दूर रहकर, मध्यस्थवत् रहकर, स्वात्माका हित करते हुए, ज्यो ज्यों परात्माका हित हो त्यों त्यो प्रवृत्ति करना, और ज्ञानीके मार्गका, ज्ञान-क्रियाका समन्वय स्थापित करना, यही निर्जराका सुंदर मार्ग है।

स्वात्महितमे प्रमाद न हो और दूसरेको अविक्षेपतासे आस्तिक्यवृत्ति हो, वैसा उन्हें श्रवण हो, क्रियाकी वृद्धि हो, फिर भी कल्पित भेद न बढे और स्व-पर आत्माको शांति हो ऐसी प्रवृत्ति करनेमे उल्लसित वृत्ति रखिये। जैसे सत्शास्त्रके प्रति रुचि बढे वैसे कीजिये।

यह पत्र परम कृपालु श्री लल्लुजी मुनिको सेवामे प्राप्त हो। ॐ शांति:

---

९३८ ववाणिया, आषाढ सुदी १, १९५६,

'[1]ते माटे ऊभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहीए रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहीए रे॥'

—श्रीमान आनंदघनजी

पत्र प्राप्त हुए। शरीरस्थिति स्वस्थास्वस्थ रहती है; अर्थात् क्वचित् ठीक, क्वचित् असातामुख्य रहती है। मुमुक्षुभाइयोंको, वह भी लोक विरुद्ध न हो इस ढगसे तीर्थयात्राके लिये जानेमें आज्ञाका अतिक्रम नही है। ॐ शांति:

---

९३९ मोरबी, आषाढ वदी ९, शुक्र, १९५६

ॐ नमः

सम्यक् प्रकारसे वेदना सहन करनेरूप परम धर्म परम पुरुषोंने कहा है।
तीक्ष्ण वेदनाका अनुभव करते हुए स्वरूपभ्रंशवृत्ति न हो यही शुद्ध चारित्रका मार्ग है।
उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है, उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरा रूप भासने योग्य है।

ॐ शांति:

---

९४० मोरबी, आषाढ वदी ९, शुक्र, १९५६

ॐ

परमकृपानिधि मुनिवरोंके चरणकमलमें विनय भक्तिसे नमस्कार प्राप्त हो।
पत्र प्राप्त हुए।

१. भावार्थ के लिये देखें आक ७४४।

शरीरमें असाता मुख्यतः उदयमान है। तो भी अभी स्थिति सुधारपर मालूम होती है।

आषाढ पूर्णिमापर्यंतके चातुर्मास संबंधी आपश्रीके प्रति जो कुछ अपराध हुआ हो उसके लिये नम्रतासे क्षमा माँगता हूँ।

गच्छवासीको भी इस वर्ष क्षमापत्र लिखनेमें प्रतिकूलता नही लगती।

पद्मनंदी, गोम्मटसार, आत्मानुशासन, समयसारमूल इत्यादि परम शांत श्रुतका अध्ययन होता होगा।

आत्माका शुद्ध स्वरूप याद करते हैं। ॐ शांतिः

---

९४१ मोरबी, श्रावण वदी ४, मंगल, १९५६

ॐ

संस्कृत-अभ्यासके योगके विषयमे लिखा, परंतु जब तक आत्मा सुदृढ प्रतिज्ञासे वर्तन न करे तब तक आज्ञा करना भयंकर है।

जिन नियमोंमें अतिचार आदि प्राप्त हुए हों, उनका यथाविधि कृपालु मुनियोंसे प्रायश्चित्त ग्रहण करके आत्मशुद्धता करना योग्य है, नही तो भयंकर तीव्र बंधका हेतु है। नियममें स्वेच्छाचारसे प्रवर्तन करनेकी अपेक्षा मरण श्रेयस्कर है, ऐसी महापुरुषोंकी आज्ञाका कुछ विचार नही रखा, ऐसा प्रमाद आत्माके लिये भयंकर क्यों न हो?

मुमुक्षु उमेद आदिको यथायोग्य।

---

९४२ मोरबी, श्रावण वदी ५, बुध, १९५६

ॐ

यदि कदाचित् निवृत्तिमुख्य स्थलकी स्थितिके उदयका अंतराय प्राप्त हुआ हो तो हे आर्य! आप श्रावण वदी ११ से भाद्रपद सुदी पूर्णिमापर्यंत सदा सविनय ऐसी परम निवृत्तिका इस तरह सेवन कीजिये कि समागमवासी मुमुक्षुओंके लिये आप विशेष उपकारक हो जायें और वे सब निवृत्तिभूत सद्नियमोंका सेवन करते हुए सत्शास्त्रके अध्ययन आदिमे एकाग्र हों, यथाशक्ति व्रत, नियम और गुणको ग्रहण करें।

शरीरस्थितिमे सबल असाताके उदयमे यदि निवृत्तिमुख्य स्थलका अंतराय मालूम होगा तो यहाँसे आपके अध्ययन, मनन आदिके लिये प्रायः 'योगशास्त्र' पुस्तक भेजेंगे, जिसके चार प्रकाश दूसरे मुमुक्षु-भाइयोंको भी श्रवण करानेसे परम लाभका संभव है।

हे आर्य! अल्पायुषी दुषमकालमे प्रमाद कर्तव्य नही है, तथापि आराधक जीवोका तद्वत् सुदृढ़ उपयोग रहता है।

आत्मबलाधीनतासे पत्र लिखा गया है। ॐ शांतिः

---

९४३ मोरबी, श्रावण वदी ७, शुक्र, १९५६

ॐ

जिनाय नमः

परम निवृत्तिका निरंतर सेवन करना यही ज्ञानीकी प्रधान आज्ञा है; तथारूप योगमें असमर्थता हो तो निवृत्तिका सदा सेवन करना, अथवा स्वात्मवीर्यका गोपन किये बिना हो सके उतना निवृत्तिका सेवन करने योग्य अवसर प्राप्त कर आत्माको अप्रमत्त करना, ऐसी आज्ञा है।

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियोंमें ऐसे आशयसे सुनियमित वर्तनसे प्रवृत्ति करनेके लिये आज्ञा की है।

काविठा आदि जिस स्थलमे उस स्थितिसे आपको और समागमवासी भाइयो और बहनोंको धर्म-सुदृढता संप्राप्त हो, वहाँ श्रावण वदी ११ से भाद्रपद पूर्णिमा पर्यंत स्थिति करना योग्य है। आपको और दूसरे समागमवासियोंको ज्ञानीके मार्गकी प्रतीतिमे निःसंशयता प्राप्त हो, उत्तम गुण, व्रत, नियम, शील और देवगुरुधर्मकी भक्तिमे वीर्य परम उल्लासपूर्वक प्रवृत्ति करे, ऐसी सुदृढता करना योग्य है, और यही परम मंगलकारी है।

जहाँ स्थिति करें वहाँ, उन सब समागमवासियोंको ज्ञानीके मार्गकी प्रतीति सुदृढ हो और वे अप्रमत्ततासे सुशीलकी वृद्धि करें, ऐसा आप अपना वर्तन रखे। ॐ शांतिः

---

९४४ मोरबी, श्रावण वदी १०, १९५६

ॐ

भाई कीलाभाई तथा त्रिभोवन आदि मुमुक्षु, स्तंभतीर्थ।

आज 'योगशास्त्र' ग्रन्थ डाकमे भेजा गया है।

श्री अंबालालकी स्थिति स्तंभतीर्थमे ही होनेका योग बने तो वैसे, नहीं तो आप और कीलाभाई आदि मुमुक्षुओके अध्ययन और श्रवण-मननके लिये श्रावण वदी ११ से भाद्रपद पूर्णिमा पर्यंत सुव्रत, नियम, और निवृत्तिपरायणताके हेतुसे इस ग्रन्थका उपयोग कर्तव्य है।

प्रमत्तभावने इस जीवका बुरा करनेमे कोई न्यूनता नहीं रखी, तथापि इस जीवको निज हितका ध्यान नही है, यही अतिशय खेदकारक है।

हे आर्य! अभी उस प्रमत्तभावको उल्लासित वीर्यसे शिथिल करके, सुशीलसहित सत्श्रुतका अध्ययन करके निवृत्तिपूर्वक आत्मभावका पोषण करें।

अभी नित्यप्रति पत्रसे निवृत्ति-परायणता लिखनी योग्य है। अंबालालको पत्र प्राप्त हुआ होगा।

यहाँ स्थितिमें परिवर्तन होगा और अंबालालको विदित करना योग्य होगा तो कल तक हो सकता है। यथासंभव तारसे खबर दी जायेगी।

---

९४५ मोरबी, श्रावण वदी १०, १९५६

श्री पर्युषण-आराधना

एकात योग्य स्थलमे, प्रभातमे—(१) देवगुरुकी उत्कृष्ट भक्तिवृत्तिसे अंतरात्मध्यानपूर्वक दो घड़ीसे चार घड़ी तक उपशांत व्रत। (२) श्रुत 'पद्मनंदी' आदिका अध्ययन श्रवण।

मध्याह्नमें—(१) चार घड़ी उपशांत व्रत। (२) श्रुत 'कर्मग्रन्थ' का अध्ययन, श्रवण; 'सुदृष्टि-तरंगिणी' आदिका थोड़ा अध्ययन।

सायंकालमें—(१) क्षमापनाका पाठ। (२) दो घड़ी उपशांत व्रत। (३) कर्मविषयकी ज्ञानचर्चा।

सर्व प्रकारके रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग। हो सके तो भाद्रपद पूर्णिमा तक एक बार आहारग्रहण। पंचमीके दिन घी, दूध, तेल और दहीका भी त्याग। उपशांत व्रतमे विशेष कालनिर्गमन। हो सके तो उपवास करना। हरी वनस्पतिका सर्वथा त्याग। आठों दिन ब्रह्मचर्यका पालन। हो सके तो भाद्रपद पूनम तक। क्षमस्व

९४६

श्री 'मोक्षमाला' के 'प्रज्ञावबोध' भागकी संकलना

१. वाचकको प्रेरणा
२. जिनदेव
३. निर्ग्रंथ
४. दयाकी परम धर्मता
५ सच्चा ब्राह्मणत्व
६. मैत्री आदि चार भावना
७. सत्शास्त्रका उपकार
८. प्रमादके स्वरूपका विशेष विचार
९. तीन मनोरथ
१०. चार सुख शय्या
११. व्यावहारिक जीवोंके भेद
१२. तीन आत्मा
१३. सम्यग्दर्शन
१४. महात्माओंकी असंगता
१५. सर्वोत्कृष्ट सिद्धि
१६. अनेकांतकी प्रमाणता
१७. मन-भ्रांति
१८. तप
१९. ज्ञान
२०. क्रिया
२१. आरंभ-परिग्रहकी निवृत्तिपर ज्ञानी द्वारा दिया हुआ बहुत बल।
२२. दान
२३. नियमितता
२४. जिनागमस्तुति
२५ नवतत्त्वका सामान्य संक्षिप्त स्वरूप
२६ सार्वत्रिक श्रेय
२७. सद्गुण
२८. देशधर्म सम्बन्धी विचार
२९. मौन
३०. शरीर
३१ पुनर्जन्म
३२ पंचमहाव्रत सम्बन्धी विचार
३३. देशबोध
३४. प्रशस्त योग
३५. सरलता
३६. निरभिमानता
३७. ब्रह्मचर्यकी सर्वोत्कृष्टता
३८ आज्ञा
३९. समाधिमरण
४०. वैतालीय अध्ययन
४१. संयोगकी अनित्यता
४२. महात्माओंकी अनंत समता
४३. सिरपर न चाहिये
४४ (चार) उदय आदि भंग
४५. जिनमतनिराकरण
४६. महामोहनीय स्थानक
४७ तीर्थंकर पद संप्राप्ति स्थानक
४८. माया
४९. परिषहजय
५०. वीरत्व
५१. सद्गुरुस्तुति
५२ पाँच परमपद सम्बन्धी विशेष विचार
५३ अविरति
५४. अध्यात्म
५५. मंत्र
५६. छ पद निश्चय
५७. मोक्षमार्गकी अविरोधता
५८. सनातन धर्म
५९. सूक्ष्म तत्त्वप्रतीति
६० समिति-गुप्ति
६१ कर्मके नियम
६२. महापुरुषोंकी अनंत दया
६३. निर्जराक्रम
६४ आकांक्षाके स्थानमें किस तरह वर्तन करना ?
६५. मुनिधर्मयोग्यता
६६. प्रत्यक्ष और परोक्ष
६७ उन्मत्तता
६८. एक अंतर्मुहूर्त
६९. दर्शनस्तुति
७०. विभाव
७१. रसास्वाद
७२. अहिंसा और स्वच्छंदता
७३. अल्प शिथिलतासे महादोषका जन्म
७४. पारमार्थिक सत्य
७५. आत्मभावना
७६. जिनभावना
७७–९०. महापुरुष चरित्र
९१-१००. (किसी भागमें वृद्धि)
१०१-१०६. हितार्थी प्रश्न
१०७–१०८. समाप्ति अवसर
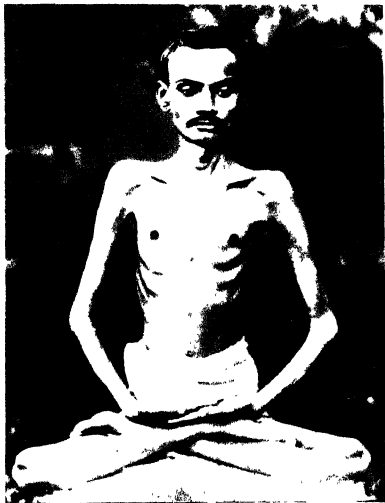
श्रीमद राजचंद्र

वर्ष ३३ मुं   वि. सं. १९५६

३४ वाँ वर्ष

९४७ वढवाण केम्प, कार्तिक सुदी ५, रवि, १९५७

ॐ

वर्तमान दु.षमकाल है। मनुष्योंके मन भी दु षम ही देखनेमे आते हैं। बहुत करके परमार्थसे शुष्क अतःकरणवाले परमार्थका दिखाव करके स्वेच्छासे चलते है।

ऐसे समयमे किसका सग करना, किसके साथ कितना सम्बन्ध रखना, किसके साथ कितना बोलना, और किसके साथ अपने कितने कार्य-व्यवहारका स्वरूप विदित किया जा सके; ये सब ध्यानमे रखनेका समय है। नही तो सद्वृत्तिमान जीवको ये सब कारण हानिकर्त्ता होते है। इसका आभास तो आपको भी अब ध्यानमे आता होगा। शांतिः

---

९४८ बम्बई, शिव, मगसिर वदी ८, १९५७

मदनरेखाका अधिकार, 'उत्तराध्ययन'के नौवें अध्ययनमे नमिराज ऋषिका चरित्र दिया है, उसकी टीकामे है। ऋषिभद्र पुत्रका अधिकार 'भगवतीसूत्र'के " "[1]शतकके उद्देशमे आया है। ये दोनों अधिकार अथवा दूसरे वैसे बहुतसे अधिकार आत्मोपकारी पुरुषके प्रति वन्दन आदि भक्तिका निरूपण करते है। परन्तु जनमडलके कल्याणका विचार करते हुए वैसे विषयकी चर्चा करनेसे आपको दूर रहना योग्य है। अवसर भी वैसा ही है। इसलिये आप इन अधिकार आदिकी चर्चा करनेमे एकदम शांत रहें। परन्तु दूसरी तरहसे, उन लोगोंकी आपके प्रति उत्तम मनोभाववृत्ति किंवा भावना हो ऐसा आप वर्तन करे, कि जिससे पूर्वापर बहुतसे जीवोके हितका ही हेतु हो।

जहाँ परमार्थके जिज्ञासु पुरुषोंका मंडल हो वहाँ शास्त्रप्रमाण आदिकी चर्चा करना योग्य है; नहीं तो बहुत करके उससे श्रेय नही होता। यह मात्र छोटा परिषह है। योग्य उपायसे प्रवृत्ति करें, परन्तु उद्वेगवाला चित्त न रखें।

---

९४९ तिथ्थल-वलसाड, पौष वदी १०, मंगल, १९५७

ॐ

भाई मनसुखकी पत्नीके स्वर्गवास होनेका समाचार जानकर आपने दिलासाभरित पत्र लिखा, वह मिला।

---

१. शतक ११, उद्देश १२।

परिचर्याका प्रसंग लिखते हुए आपने जो वचन लिखे हैं वे यथार्थ हैं। शुद्ध अंतःकरणपर असर होनेसे निकले हुए वचन हैं।

लोकसंज्ञा जिसकी जिन्दगीका लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे जैसी श्रीमंतता, सत्ता या कुटुंब परिवार आदिके योगवाली हो तो भी वह दुःखका ही हेतु है। आत्मशांति जिस जिंदगीका लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे तो एकाकी, निर्धन और निर्वस्त्र हो तो भी परम समाधिका स्थान है।

---

९५० वढवाण केम्प, फागुन सुदी ६, शनि, १९५७

ॐ

कृपालु मुनिवरोंको सविनय नमस्कार हो।

पत्र प्राप्त हुआ।

जो अधिकारी संसारसे विराम पाकर मुनिश्रीके चरणकमलके योगमें विचरना चाहता है, उस अधिकारीको दीक्षा देनेमे मुनिश्रीको दूसरा प्रतिबंधका कोई हेतु नहीं है। उस अधिकारीको अपने बुजुर्गोंका संतोष सम्पादन कर आज्ञा लेना योग्य है, जिससे मुनिश्रीके चरणकमलमे दीक्षित होनेमे दूसरा विक्षेप न रहे।

इसे अथवा किसी दूसरे अधिकारीको संसारसे उपरामवृत्ति हुई हो और वह आत्मार्थ-साधक है ऐसा प्रतीत होता हो तो उसे दीक्षा देनेमे मुनिवर अधिकारी हैं। मात्र त्याग लेनेवाले और त्याग देनेवालेके श्रेयका मार्ग वृद्धिमान रहे, ऐसी दृष्टिसे वह प्रवृत्ति होनी चाहिये।

शरीर-स्थिति उदयानुसार है। बहुत करके आज राजकोट की ओर प्रस्थान होगा। प्रवचनसार ग्रन्थ लिखा जा रहा है, वह यथावसर मुनिवरोंको प्राप्त होना सम्भव है। राजकोटमें कुछ दिन स्थितिका सम्भव है। ॐ शांतिः

---

९५१ राजकोट, फागुन वदी ३, शुक्र, १९५७

अति त्वरासे प्रवास पूरा करना था। वहाँ बीचमे सहराका रेगिस्तान सम्प्राप्त हुआ।

सिरपर बहुत बोझ रहा था उसे आत्मवीर्यसे जिस तरह अल्पकालमे वेदन कर लिया जाये उस तरह योजना करते हुए पैरोंने निकाचित उदयमान थकान ग्रहण की।

जो स्वरूप है वह अन्यथा नही होता, यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है।

शरीर-स्थिति उदयानुसार मुख्यतः कुछ असाताका वेदन कर साताके प्रति। ॐ शांतिः

---

९५२ राजकोट, फागुन वदी १३, सोम, १९५७

ॐ शरीरसम्बन्धी दूसरी बार आज अप्राकृत क्रम शुरू हुआ।

ज्ञानियोका सनातन सन्मार्ग जयवन्त रहे।

---

९५३ राजकोट, चैत्र सुदी २, शुक्र, १९५७

ॐ

अनंत शांतमूर्ति चन्द्रप्रभस्वामीको नमो नमः।

वेदनीयको तथारूप उदयमानतासे वेदन करनेमें हर्ष-शोक क्या? ॐ शांतिः

---

९५४ राजकोट, चैत्र सुदी ९, १९५७

ॐ

श्री जिन परमात्मने नमः

*(१) **इच्छे छे जे जोगी जन, अनंत सुखस्वरूप।**
मूळ शुद्ध ते आत्मपद, सयोगी जिनस्वरूप ॥१॥

आत्मस्वभाव अगम्य ते, अवलंबन आधार।
जिनपदथी दर्शावियो, तेह स्वरूप प्रकार ॥२॥

जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई।
लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई ॥३॥

जिन प्रवचन दुर्गम्यता, थाके अति मतिमान।
अवलंबन श्री सद्गुरु, सुगम अने सुखखाण ॥४॥

उपासना जिनचरणनी, अतिशय भक्तिसहित।
मुनिजन संगति रति अति, संयम योग घटित ॥५॥

गुणप्रमोद अतिशय रहे, रहे अन्तर्मुख योग।
प्राप्ति श्री सद्गुरु वडे, जिन दर्शन अनुयोग ॥६॥

प्रवचन समुद्र बिंदुमां, ऊलटी[1] आवे एम।
पूर्व चौदनी लब्धिनुं, उदाहरण पण तेम ॥७॥

विषय विकार सहित जे, रह्या मतिना योग।
परिणामनी विषमता, तेने योग अयोग ॥८॥

मंद विषय ने सरळता, सह आज्ञा सुविचार।
करुणा कोमळतादि गुण, प्रथम भूमिका धार ॥९॥

---

*(१) **भावार्थ**—योगीजन जिस अनत सुखकी इच्छा करते हैं वह मूल शुद्ध आत्मस्वरूप सयोगी जिनस्वरूप है ॥१॥ वह आत्मस्वभाव अरूपी होनेसे समझना मुश्किल है इसलिये देहधारी जिनभगवानके अवलंबनके आधारसे उसे समझाया है ॥२॥ मूल स्वरूपकी दृष्टिसे जिनस्वरूप और निजस्वरूप एक हैं—इनमे कोई भेदभाव नही है। इसका लक्ष्य होनेके लिये सुखदायी शास्त्र रचे गये है ॥३॥ जिनप्रवचन दुर्गम्य है, अति मतिमान पंडित भी उसका मर्म पानेमे थक जाते हैं। वह श्री सद्गुरुके अवलबनसे सुगम एवं सुखनिधि सिद्ध होता है ॥४॥ यदि जिनचरणकी अतिशय भक्तिसहित उपासना हो; मुनिजनोकी सगतिमें अति रति हो; मन वचनकायाकी शक्तिके अनुसार संयम हो; गुणोके प्रति अतिशय प्रमोदभावना रहे; और मन, वचन एव कायाका योग अन्तर्मुख रहे, तो श्री सद्गुरुकी कृपासे चार अनुयोग गर्भित जिनसिद्धातका रहस्य प्राप्त होता है ॥५-६॥ समुद्रके एक बिंदुमें समुद्रके क्षार आदि समस्त गुण आ जाते हैं उसी प्रकार प्रवचनसमुद्रके एक वचनरूप बिदुमे चौदह पूर्व आ जाय ऐसी लब्धि जीवको सद्गुरुके योगसे प्राप्त होती है ॥७॥ जिसकी मति विषयविकार सहित है और इससे जिसके परिणाममें विषमता है, उसे सद्गुरुका योग भी अयोग होता है अर्थात् निष्फल जाता है ॥८॥ विषयासक्तिकी मदता, सरलता, सद्गुरु-आज्ञापूर्वक सुविचार, करुणा, कोमलता आदि गुण रखनेवाले जीव आत्मप्राप्तिकी प्रथम भूमिकाके योग्य है ॥९॥ जिन्होंने शब्दादि विषयोका निरोध किया है, जिन्हें सयमके साधनोमें प्रीति है, जिन्हें आत्माके सिवाय जगतका कोई जीव इष्ट (प्रिय) नही है, वे महाभाग्य जीव मध्यम पात्र है अर्थात् आत्मप्राप्तिकी मध्यम भूमिकाके योग्य है ॥१०॥ जिन्हें जीनेकी तृष्णा नही है और मरणका क्षोभ (भय) नही है, जिन्होने लोभ आदि कषायोंको जीत लिया है और जिनका मोक्षके उपायमें प्रवर्तन है, वे आत्मप्राप्तिके मार्गके महा (उत्कृष्ट) पात्र है ॥११॥

१. पाठान्तर 'उल्लसी'

रोक्या शब्दादिक विषय, संयम साधन राग।
जगत इष्ट नहि आत्मथी, मध्य पात्र महाभाग्य ॥१०॥

नहि तृष्णा जीव्यातणी, मरण योग नहि क्षोभ।
महापात्र ते मार्गना, परम योग जितलोभ ॥११॥

(२) आव्ये बहु समदेशमां, छाया जाय समाई।
आव्ये तेम स्वभावमां, मन स्वरूप पण जाई ॥१॥

ऊपजे मोह विकल्पथी, समस्त आ संसार।
अन्तर्मुख अवलोकतां, विलय थतां नहि वार ॥२॥

× × ×

(३) सुखधाम अनंत सुसंत चही, दिन रात्र रहे तद्ध्यानमहीं।
परशांति अनंत सुधामय जे, प्रणमुं पद ते वर ते जय ते ॥१॥

---

९५५ मोरबी, चैत्र सुदी ११॥, सोम, १९५७

ॐ

यद्यपि बहुत ही धीमा सुधार होता हो ऐसा लगता है, तथापि अब शरीर-स्थिति ठीक है।

कोई रोग हो ऐसा नही लगता। सभी डाक्टरोका भी यही अभिप्राय है। निर्बलता बहुत है। वह कम हो ऐसे उपायों या कारणोंकी अनुकूलताकी आवश्यकता है। अभी वैसी कुछ भी अनुकूलता मालूम होती है।

कल या परसोंसे यहाँ एक सप्ताहके लिये धारशीभाई रहनेवाले हैं। इसलिये अभी तो सहजतासे आपका आगमन न हो तो भी अनुकूलता है। मनसुख प्रसंगोपात्त घबरा जाता है और दूसरोंको घबरा देता है। वैसी कभी शरीर स्थिति भी होती है। जरूर जैसा होगा तो मैं आपको बुला लूंगा। अभी आप आना स्थगित रखे। शांत मनसे काम करते जायें। यही विनती। **शांतिः**

---

*४४२-१ बंबई, चैत्र वदी ७, १९४९

चित्तमे आप परमार्थकी इच्छा रखते हैं ऐसा है, तथापि उस परमार्थप्राप्तिको अत्यन्तरूपसे बाधा करनेवाले जो दोष हैं उनमें, अज्ञान, क्रोध, मान आदिके कारणसे उदास नही हो सकते अथवा उनके अमुक सम्बन्धमे रुचि रहती है और उन्हे परमार्थप्राप्तिमे बाधक कारण जानकर अवश्य सर्पके विषकी भाँति छोडना योग्य है। किसीका दोष देखना उचित नही है, सभी प्रकारसे जीवको अपने ही दोषका विचार करना योग्य है; ऐसी भावना अत्यन्तरूपसे दृढ करने योग्य है। जगतदृष्टिसे कल्याण असभवित जानकर यह कही हुई बात ध्यानमे लेने योग्य है यह विचार रखें।

---

(२) जिस तरह जब सूर्य मध्याह्नमें मध्यमें—बहुत समप्रदेशमे आता है तब पदार्थोंको छाया उन्हीमें समा जाती है, उसी तरह आत्मस्वभावमे आने पर मनका लय हो जाता है ॥१॥ यह समस्त ससार मोहविकल्पसे उत्पन्न होता है। अन्तर्मुख वृत्तिसे देखनेसे इसका नाश होनेमें देर नही लगती ॥२॥

(३) जो अनन्त सुखका धाम है, जिसे सन्तजन चाहते हैं, जिसके ध्यानमे वे दिनरात लीन रहते हैं, जो परम शाति और अनन्त सुधामे परिपूर्ण हैं उस पदको मैं प्रणाम करता हूँ, वह श्रेष्ठ है, उसकी जय हो ॥१॥

*यह पत्र पुरानी आवृत्तियोंमें नही है। फिर भी 'तत्त्वज्ञान'की आवृत्तियोंमें प्रकाशित हुआ है; अतः मितीके अनुसार यह आंक ४४२ के बाद रखने योग्य है। परन्तु वहाँ छूट जानेसे यहाँ आंक ४४२-१ के रूपमें रखा है।

९५६

उपदेश नोंध

(प्रासंगिक)

१* बंबई, कार्तिक सुदी, १९५०

श्री 'षड्दर्शनसमुच्चय' ग्रंथका भाषांतर श्री मणिभाई नभुभाईने अभिप्रायार्थ भेजा है। अभिप्रायार्थ भेजनेवालेकी कुछ अंतर इच्छा ऐसी होती है कि उससे रंजित होकर उसकी प्रशंसा लिख भेजना। श्री मणिभाईने भाषांतर अच्छा किया है, परन्तु वह दोषरहित नहीं है।

---

२ ववाणिया, चैत्र सुदी ६, बुध, १९५३

वेशभूषा चटकीली न होनेपर भी साफ-सुथरी हो ऐसी सादगी अच्छी है। चटकीलेपनसे कोई पाँच-सौके वेतनके पाँच-सौ-एक नहीं कर देता, और योग्य सादगीसे कोई पाँच-सौके चार-सौ निन्यानवे नहीं कर देता।

धर्ममें लौकिक बड़प्पन, मान, महत्त्वकी इच्छा, ये धर्मके द्रोहरूप हैं।

धर्मके बहानेसे अनार्य देशमें जाने अथवा सूत्रादि भेजनेका निषेध करनेवाले, नगारा बजाकर निषेध करनेवाले, अपने मान, महत्त्व और बड़प्पनका प्रश्न आये वहाँ इसी धर्मको ठुकराकर, इसी धर्मपर पैर रखकर, इसी निषेधका निषेध करें, यह धर्मद्रोह ही है। धर्मका महत्त्व तो बहानारूप है, और स्वार्थ सम्बन्धी मान आदिका प्रश्न मुख्य है, यह धर्मद्रोह ही है।

श्री वीरचंद गांधीको विलायत आदि भेजने आदिमें ऐसा हुआ है।

जब धर्म ही मुख्य रंग हो तब अहोभाग्य है!

प्रयोगके बहानेसे पशुवध करनेवाले रोग-दुःख दूर करेंगे तबकी बात तब, परन्तु अभी तो बेचारे निरपराधी प्राणियोंको खूब दुःख देकर, मारकर अज्ञानवश कर्मका उपार्जन करते हैं! पत्रकार भी विवेक-विचारके बिना इस कार्यकी पुष्टि करनेके लिये लिख मारते हैं।

---

३ मोरबी, चैत्र वदी ७, १९५५

विशेष हो सके तो अच्छा। ज्ञानियोंको भी सदाचरण प्रिय है। विकल्प कर्तव्य नहीं है।

'जातिस्मृति' हो सकती है। पूर्वभव जाना जा सकता है।

अवधिज्ञान है।

---

* मोरबीके मुमुक्षु साक्षर श्री मनसुखभाई किरतचंदने अपनी स्मृतिसे श्रीमद्‌जीके प्रसंगोंकी जो नोंध की थी, उसमेंसे १ से २६ तकके आंक लिये गये हैं।

तिथिका पालन करना।

रातको नही खाना, न चले तो उबाला हुआ दूध लेना।

वैसा वैसेको मिले; वैसा वैसेको रुचे।

[1]"चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे।
तेम भवि सहज गुणे होवे, उत्तम निमित्त संजोगी रे॥'
[2]'चरमावर्त वळी चरणकरण तथा रे, भवपरिणति परिपाक।
दोष टळे ने दृष्टि खुले अति भली रे, प्राप्ति प्रवचन वाक॥'

अव्यवहार-राशिमेंसे व्यवहार-राशिमे सूक्ष्म निगोदमेसे मारा-पीटा जाता हुआ कर्मकी अकाम-निर्जरा करता हुआ, दुःख भोगकर उस अकाम-निर्जराके योगसे जीव पचेंद्रिय मनुष्यभव पाता है। और इस कारणसे प्राय उस मनुष्यभवमे मुख्यत छल-कपट, माया, मूर्च्छा, ममत्व, कलह, वंचना, कषाय-परिणति आदि रहे हुए हैं।

सकाम-निर्जरापूर्वक प्राप्त मनुष्यदेह विशेष सकाम-निर्जरा कराकर, आत्मतत्त्वको प्राप्त कराती है।

---

४ मोरबी, चैत्र वदी ८, १९५५

'षड्दर्शनसमुच्चय' अवलोकन करने योग्य है।

'तत्त्वार्थसूत्र' पढने योग्य और वारवार विचारने योग्य है।

'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रन्थ श्री हरिभद्राचार्यने सस्कृतमे रचा है। श्री यशोविजयजीने गुजरातीमे उसकी ढालबद्ध सज्झाय रची है। उसे कठाग्र कर विचारने योग्य है। ये दृष्टियाँ आत्मदशामापी (थर्मामीटर) यंत्र हैं।

शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते है। शास्त्र अर्थात् शास्तापुरुषके वचन। इन वचनोको समझनेके लिये दृष्टि सम्यक् चाहिये।

सदुपदेष्टाकी बहुत जरूरत है। सदुपदेष्टाकी बहुत जरूरत है।

पाँच-सौ हजार श्लोक मुखाग्र करनेसे पंडित नहीं बना जाता। फिर भी थोड़ा जानकर ज्यादाका ढोंग करनेवाले पंडितोंकी कमी नहीं है।

[3]ऋतुको सन्निपात हुआ है।

एक पाईकी चार बीड़ी आती है। हजार रुपये रोज कमानेवाले बैरिस्टरको बीड़ीका व्यसन हो और उसको तलब होनेपर बीड़ी न हो तो एक चतुर्थांश पाईकी कीमतकी तुच्छ वस्तुके लिये व्यर्थ दौड़-धूप करता है। हजार रुपये रोज कमानेवाला अनंत शक्तिवान आत्मा है जिसका ऐसा बैरिस्टर मूर्च्छा-वश तुच्छ वस्तुके लिये व्यर्थ दौड़-धूप करता है। जीवको विभावके कारण आत्मा और उसकी शक्तिका पता नही है।

हम अंग्रेजी नहीं पढे यह अच्छा हुआ। पढ़े होते तो कल्पना बढ़ती। कल्पनाको तो छोड़ना है। पढा हुआ भूलने पर ही छुटकारा है। भूले बिना विकल्प दूर नही होते। ज्ञानकी जरूरत है।

---

१. **भावार्थ**—जैसे चकोर पक्षी चंद्रको चाहता है, मधुकर—भ्रमर मालतीके पुष्पमें आसक्त होता है वैसे मित्रा दृष्टिमें रहता हुआ भव्य जीव सद्गुरुयोगसे वचन-क्रिया आदि उत्तम निमित्तको स्वाभाविकरूपसे चाहता है।

२. देखें आक ८६४।

३. दोपहरके चार बजे पूर्व दिशामें आकाशमे काला बादल देखते हुए, उसे दुष्कालका एक निमित्त जानकर उपर्युक्त शब्द बोले थे। इस वर्ष १९५५ का चौमासा खाली गया और १९५६ का भयंकर दुष्काल पड़ा।

५ मोरबी, चैत्र वदी ९, गुरु, १९५५

यदि परम सत् पीडित होता हो तो वैसे विशिष्ट प्रसंगपर सम्यग्दृष्टि देवता सार-संभाल करते हैं, प्रत्यक्ष भी आते हैं, परंतु बहुत ही थोड़े प्रसंगोंपर।

योगी या वैसी विशिष्ट शक्तिवाला वैसे प्रसंगपर सहायता करता है।

जीवको मति-कल्पनासे ऐसा भासित होता है कि मुझे देवताके दर्शन होते है; मेरे पास देवता आते हैं, मुझे दर्शन होता है। देवता यो दिखायी नही देते।

प्रश्न—श्री नवपद पूजामे आता है कि [1]'ज्ञान एहि ज आत्मा;' आत्मा स्वयं ज्ञान है तो फिर पढ़ने-गुननेको अथवा शास्त्राभ्यासकी क्या जरूरत ? पढ़े हुए सबको कल्पित समझकर अन्तमे भूल जानेपर ही छुटकारा है तो फिर पढनेकी, उपदेशश्रवणकी या शास्त्रपठनकी क्या जरूरत ?

उत्तर—'ज्ञान एहि ज आत्मा' यह एकात निश्चयनयसे है। व्यवहारसे तो यह ज्ञान आवृत है। उसे प्रगट करना है। इस प्रकटताके लिये पढ़ना, गुनना, उपदेशश्रवण, शास्त्रपठन आदि साधनरूप हैं। परंतु यह पढना, गुनना, उपदेशश्रवण और शास्त्रपठन आदि सम्यग्दृष्टिपूर्वक होना चाहिये। यह श्रुतज्ञान कहलाता है। संपूर्ण निरावरण ज्ञान होने तक इस श्रुतज्ञानके अवलंबनकी आवश्यकता है। 'मैं ज्ञान हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ', यों पुकारनेसे ज्ञान या ब्रह्म नही हुआ जाता। तद्रूप होनेके लिये सत्शास्त्र आदिका सेवन करना चाहिये।

---

६ मोरबी, चैत्र वदी १०, १९५५

प्रश्न—दूसरेके मनके पर्याय जाने जा सकते हैं ?

उत्तर—हाँ, जाने जा सकते है। स्व-मनके पर्याय जाने जा सकते हैं, तो पर-मनके पर्याय जानना सुलभ है। स्व-मनके पर्याय जानना भी मुश्किल है। स्व-मन समझमें आ जाये तो वह वशमे हो जाये। उसे समझनेके लिये सद्विचार और सतत एकाग्र उपयोगकी जरूरत है।

आसनजयसे उत्थानवृत्ति उपशात होती है; उपयोग अचपल हो सकता है; निद्रा कम हो सकती है।

सूर्यके प्रकाशमे सूक्ष्म रज जैसा जो दिखायी देता है, वह अणु नही है; परन्तु अनेक परमाणुओंका बना हुआ स्कंध है। परमाणु चक्षुसे देखे नही जा सकते। चक्षुरिंद्रियलब्धिके प्रबल क्षयोपशमवाले जीव, दूरदर्शीलब्धिसंपन्न योगी अथवा केवलीसे वे देखे जा सकते है।

---

७ मोरबी, चैत्र वदी ११, १९५५

'मोक्षमाला' हमने सोलह वर्ष और पाँच मासकी उम्रमे तीन दिनमें लिखी थी। ६७ वें पाठपर स्याही ढुल जानेसे वह पाठ पुन. लिखना पड़ा था और उस स्थानपर 'बहु पुण्य केरा पुंजथी' का अमूल्य तात्त्विक विचारका काव्य रखा था।

जैनमार्गको यथार्थ समझानेका उसमे प्रयास किया है। जिनोक्तमार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक उसमें नही कहा है। वीतरागमार्गमें आबालवृद्धकी रुचि हो, उसका स्वरूप समझमे आये, उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे उसकी बालावबोधरूप योजना की है। परन्तु लोगोंको विवेक, विचार और कदर कहाँ है ? आत्मकल्याणकी इच्छा ही कम है। उस शैली और उस बोधका अनुसरण करनेके लिये भी यह नमूना दिया गया है। इसका 'प्रज्ञावबोध' भाग भिन्न है, उसे कोई रचेगा।

---

१. 'ज्ञानावरणी जे कर्म छे, क्षय उपशम तस थाय रे।
तो हुए एहि ज आतमा, ज्ञान अबोधता जाय रे।'

इसके छपनेमें विलम्ब होनेसे ग्राहकोंकी आकुलता दूर करनेके लिये तत्पश्चात् 'भावनाबोध' रचकर उपहाररूपमें ग्राहकोंको दिया था।

'हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?
कोना संबंधे वळगणा छे ? राखुं के ए परिहरुं ?

इसपर जीव विचार करे तो उसे नवों तत्त्वका, तत्त्वज्ञानका सम्पूर्ण बोध हो जाय ऐसा है। इसमें तत्त्वज्ञानका सम्पूर्ण समावेश हो जाता है। इसका शांतिपूर्वक और विवेकसे विचार करना चाहिये।

अधिक और लम्बे लेखोंसे कुछ ज्ञानकी, विद्वत्ताकी तुलना नही होती परन्तु सामान्यतः जीवोंको इस तुलनाकी समझ नहीं हैं।

[2]प्र०—किरतचंदभाई जिनालयमे पूजा करने जाते हैं ?

[3]उ०—ना साहिब, समय नही मिलता।

समय क्यों नही मिलता ? चाहे तो समय मिल सकता है, प्रमाद बाधक है। हा सके तो पूजा करने जाना।

काव्य, साहित्य या सगीत आदि कला यदि आत्मार्थके लिये न हों तो वे कल्पित है। कल्पित अर्थात् निरर्थक, सार्थक नही—जीवकी कल्पना मात्र है। जो भक्तिप्रयोजनरूप या आत्मार्थके लिये न हो वह सब कल्पित ही है।

---

८ मोरबी, चैत्र वदी १२, १९५५

श्रीमद् आनंदघनजी श्री अजितनाथके स्तवनमे स्तुति करते है :—

'तरतम योगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार—पथडो०'

इसका क्या अर्थ है ? ज्यों ज्यो योगको—मन, वचन और कायाकी तरतमता अर्थात् अधिकता त्यों त्यों वासनाकी भी अधिकता, ऐसा 'तरतम योगे रे तरतम वासना रे' का अर्थ होता है। अर्थात् यदि कोई बलवान योगवाला पुरुष हो, उसके मनोबल, वचनबल आदि बलवान हों, और वह पंथका प्रवर्तन करता हो; परतु जैसा उसका बलवान मन, वचन आदि योग है, वैसी ही फिर मनवानेकी, पूजा करानेकी, मान, सत्कार, अर्थ, वैभव आदिकी बलवान वासना हो तो वैसी वासनावालेका बोध वासनासहित बोध हुआ, कषाययुक्त बोध हुआ, विषयादिकी लालसावाला बोध हुआ, मानार्थ बोध हुआ, आत्मार्थ बोध न हुआ। श्री आनदघनजी श्री अजित प्रभुका स्तवन करते हैं—'हे प्रभो ! ऐसा वासनासहित बोध आधाररूप है, वह मुझे नही चाहिये। मुझे तो कषायरहित, आत्मार्थसंपन्न, मान आदि वासनारहित बोध चाहिये ऐसे पंथकी गवेषणा मैं कर रहा हूँ। मनवचनादि बलवान योगवाले भिन्न भिन्न पुरुष बोधका प्ररूपण करते आये हैं, प्ररूपण करते हैं, परंतु हे प्रभो ! वासनाके कारण वह बोध वासित है. मुझे तो वासनारहित बोधकी जरूरत है। वह तो. हे वासना, विषय, कषाय आदि जीतनेवाले जिन वीतराग अजित देव ! तेरा है। उस तेरे पंथको मैं खोज रहा हूँ—देख रहा हूँ। वह आधार मुझे चाहिये। क्योंकि प्रगट सत्यस धर्मप्राप्ति होती है।'

आनदघनजीकी चौबीसी मुखाग्र करने योग्य है। उसका अर्थ विवेचनपूर्वक लिखने योग्य है। वैसा करें।

---

९ मोरबी, चैत्र वदी १४, १९५५

प्र०—आप जैसे समर्थ पुरुषसे लोकोपकार हो ऐसी इच्छा रहे यह स्वाभाविक है।

उ०—लोकानुग्रह अच्छा और आवश्यक अथवा आत्महित ?

---

१. देखें मोक्षमाला पाठ ६७। २. श्रीमद्जीने पूछा। ३. श्री मनसुखभाईका प्रत्युत्तर।

मु०—साहब, दोनोंकी जरूरत है।

श्रीमद्—

श्री हेमचन्द्राचार्यको हुए आठ सौ बरस हो गये। श्री आनंदघनजीको हुए दो सौ बरस हो गये। श्री हेमचंद्राचार्यने लोकानुग्रहमें आत्मार्पण किया। श्री आनंदघनजीने आत्महित साधनप्रवृत्तिको मुख्य बनाया। श्री हेमचंद्राचार्य महा प्रभावक बलवान क्षयोपशमवाले पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान थे कि वे चाहते तो अलग पंथका प्रवर्तन कर सकते थे। उन्होने तीस हजार घरोंको श्रावक बनाया। तीस हजार घर अर्थात् सवा लाखसे डेढ़ लाख मनुष्योंकी संख्या हुई। श्री सहजानंदजीके सम्प्रदायमे एक लाख मनुष्य होंगे। एक लाखके समूहसे सहजानंदजीने अपना संप्रदाय चलाया, तो डेढ लाख अनुयायियोंका एक अलग संप्रदाय श्री हेमचन्द्राचार्य चाहते तो चला सकते थे।

परन्तु श्री हेमचन्द्राचार्यको लगा कि सम्पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर ही धर्मप्रवर्तक हो सकते हैं। हम तो तीर्थंकरोंकी आज्ञासे चलकर उनके परमार्थ मार्गका प्रकाश करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हैं। श्री हेमचन्द्राचार्यने वीतरागमार्गके परमार्थका प्रकाशनरूप लोकानुग्रह किया। वैसा करनेकी जरूरत थी। वीतरागमार्गके प्रति विमुखता और अन्य मार्गकी तरफसे विषमता, ईर्ष्या आदि शुरू हो चुके थे। ऐसी विषमतामे लोगोंको वीतराग मार्गकी ओर मोडनेकी, लोकोपकारकी तथा उस मार्गके रक्षणकी उन्हें जरूरत मालूम हुई। हमारा चाहे कुछ भी हो, इस मार्गका रक्षण होना चाहिये। इस प्रकार उन्होंने स्वार्पण किया। परन्तु इस तरह उन जैसे ही कर सकते है। वैसे भाग्यवान, माहात्म्यवान, क्षयोपशमवान ही कर सकत है। भिन्न भिन्न दर्शनोको यथावत् तोलकर अमुक दर्शन सम्पूर्ण सत्य स्वरूप है, ऐसा जो निश्चय कर सकते है वैसे पुरुष ही लोकानुग्रह, परमार्थप्रकाश और आत्मार्पण कर सकते है।

श्री हेमचन्द्राचार्यने बहुत किया। श्री आनंदघनजी उनके छः सौ बरस बाद हुए। इन छ: सौ बरसके अंतरालमे वैसे दूसरे हेमचन्द्राचार्यकी जरूरत थी। विषमता व्याप्त होती जाती थी। काल उग्र-स्वरूप लेता जाता था। श्री वल्लभाचार्यने शृंगारयुक्त धर्मका प्ररूपण किया। शृंगार युक्त धर्मकी ओर लोक मुडे—आकर्षित हुए। वीतरागधर्म-विमुखता बढ़ती चली। अनादिसे जीव शृगार आदि विभावमें तो मूर्च्छा प्राप्त कर रहा है, उसे वैराग्यके सन्मुख होना मुश्किल है। वहाँ यदि उसके पास शृंगारको ही धर्मरूपसे रखा जाये तो वह वैराग्यकी ओर कैसे मुड सकता है? यों वीतरागमार्ग-विमुखता बढी।

वहाँ फिर प्रतिमाप्रतिपक्ष-संप्रदाय जैनमे ही खडा हो गया। ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारण ऐसी जिन-प्रतिमाके प्रति लाखों लोग दृष्टिविमुख हो गये, वीतरागशास्त्र कल्पित अर्थसे विराधित हुए, कितने तो समूल ही खंडित किये गये। इस तरह इन छ सौ बरसके अतरालमे वीतरागमार्गरक्षक दूसरे हेमचन्द्राचार्यकी जरूरत थी। अन्य अनेक आचार्य हुए, परन्तु वे श्री हेमचन्द्राचार्य जैसे प्रभावशाली नहीं थे। इसलिये विषमताके सामने टिका न जा सका। विषमता बढ़ती चली। वहां दो सौ बरस पूर्व श्री आनंदघनजी हुए।

श्री आनंदघनजीने स्वपरहित-बुद्धिसे लोकोपकार-प्रवृत्ति शुरू की। इस मुख्य प्रवृत्तिमे आत्महितको गौण किया, परन्तु वीतरागधर्मविमुखता, विषमता इतनी अधिक व्याप्त हो गयी थी कि लोग धर्मको अथवा आनंदघनजीको पहचान नही सके, पहचान कर कदर न कर सके। परिणामत. श्री आनंदघनजीको लगा कि प्रबल व्याप्त विषमताके योगमे लोकोपकार, परमार्थप्रकाश कारगर नहीं होता और आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है, इसलिये आत्महितको मुख्य करके उसमें प्रवृत्ति करना योग्य है। ऐसी विचारणासे अंतमें वे लोकसंगको छोड़कर वनमें चल दिये। वनमे विचरते हुए भी अप्रगटरूपसे रहकर चौबीसी, पद आदिसे लोकोपकार तो कर ही गये। निष्कारण लोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है।

प्रगटरूपसे लोग आनंदघनजीको पहचान नही सके। परन्तु आनंदघनजी तो अप्रगट रहकर उनका हित करते गये। अब तो श्री आनंदघनजीके समयसे भी अधिक विषमता, वीतरागमार्ग-विमुखता व्याप्त है।

श्री आनंदघनजीको सिद्धातबोध तीव्र था। वे श्वेतांबर सप्रदायमे थे। 'चूर्णि, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे' इत्यादि पंचागीका नाम उनके श्री नमिनाथजीके स्तवनमे न आया होता तो यह पता भी न चलता कि वे श्वेताबर सप्रदायके थे या दिगंबर संप्रदायके ?

---

१० मोरबी, चैत्र वदी ३०, १९५५

'इस भारतवर्षकी अधोगति जैनधर्मसे हुई है' ऐसा महीपतराम रूपराम कहते थे, लिखते थे। दसेक वर्ष पहले उनका मिलाप अहमदाबादमे हुआ था, तब उन्हे पूछा :—

प्र०—भाई! जैनधर्म अहिंसा, सत्य, मेल, दया, सर्व प्राणीहित, परमार्थ, परोपकार, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद आहारपान, निर्व्यसनता, उद्यम आदिका उपदेश करता है ?

उ०—हाँ। (महीपतरामने उत्तर दिया।)

प्र०—भाई! जैनधर्म हिंसा, असत्य, चोरी, फूट, क्रूरता, स्वार्थपरायणता, अन्याय, अनीति, छल-कपट, विरुद्ध आहार-विहार, मौज-शौक, विषय-लालसा, आलस्य, प्रमाद आदिका निषेध करता है ?

म० उ०—हाँ।

प्र०—देशकी अधोगति किससे होती है ? अहिंसा, सत्य, मेल, दया, परोपकार, परमार्थ, सर्व प्राणीहित, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद एवं आरोग्यरक्षक ऐसा शुद्ध सादा आहार-पान, निर्व्यसनता, उद्यम आदिसे अथवा उससे विपरीत हिंसा, असत्य, फूट, क्रूरता, स्वार्थपटुता, छल-कपट, अन्याय, अनीति, आरोग्यको बिगाडे और शरीर-मनको अशक्त करे ऐसा विरुद्ध आहार-विहार, व्यसन, मौज-शौक, आलस्य, प्रमाद आदिसे ?

म० उ०—दूसरेसे अर्थात् विपरीत हिंसा, असत्य, फूट, प्रमाद आदिसे।

प्र०—तब देशकी उन्नति इन दूसरोसे विपरीत ऐसे अहिंसा, सत्य, मेल, निर्व्यसनता, उद्यम आदिसे होती है ?

म० उ०—हाँ।

प्र०—तब 'जैनधर्म' देशकी अधोगति हो ऐसा उपदेश करता है या देशकी उन्नति हो ऐसा ?

म० उ०—भाई! मैं कबूल करता हूँ कि जैनधर्म ऐसे साधनोका उपदेश करता है कि जिनसे देशकी उन्नति हो। ऐसी सूक्ष्मतासे विवेकपूर्वक मैने विचार नही किया था। हमने तो बचपनमे पादरीकी शालामे पढ़ते समय पड़े हुए सस्कारोसे, बिना विचार किये ऐसा कह दिया था, लिख मारा था। महीपतरामने सरलतासे कबूल किया। सत्य-शोधनमे सरलताकी जरूरत है। सत्यका मर्म लेनेके लिये विवेकपूर्वक मर्ममे उतरना चाहिये।

---

११ मोरबी, वैशाख सुदी २, १९५५

श्री आत्मारामजी सरल थे। कुछ धर्मप्रेम था। खण्डन-मडनमे न पड़े होते तो अच्छा उपकार कर सकते थे। उनके शिष्यसमुदायमे कुछ सरलता रही है। कोई कोई संन्यासी अधिक सरल देखनेमे आते है। श्रावकता या साधुता कुल सम्प्रदायमे नही, आत्मामे है।

'ज्योतिष'को कल्पित समझ कर हमने उसे छोड़ दिया है। लोगोमें आत्मार्थता बहुत कम हो गयी है, नही जैसी रही है। इस संबंधमे स्वार्थहेतुसे लोगोंने हमे सताना शुरू कर दिया। जिससे आत्मार्थ सिद्ध न हो ऐसे इस ज्योतिषके विषयको कल्पित (असार्थक) समझ कर हमने गौण कर दिया, उसका गोपन कर दिया।

गत रात्रिमे श्री आनन्दघनजीके, सद्देवतत्त्वका निरूपण करनेवाले श्री मल्लिनाथके स्तवनकी चर्चा हो रही थी, उस समय बीचमे आपने प्रश्न किया था इस बारेमें हम सकारण मौन रहे थे। आपका प्रश्न संगत और अनुसंधिवाला था। परन्तु वह सभी श्रोताओंको ग्राह्य हो सके ऐसा न था, और किसीके समझमे न आनेसे विकल्प उत्पन्न करनेवाला था। चलते हुए विषयमे श्रोताओका श्रवणसूत्र टूट जाये ऐसा था। और आपको स्वयमेव स्पष्टता हो गयी है। अब पूछना है?

लोग एक कार्यकी तथा उसके कर्ताकी प्रशंसा करते है यह ठीक है। यह उस कार्यका पोषक तथा उसके कर्त्ताके उत्साहको बढानेवाला है। परन्तु साथ ही उस कार्यमे जो कमी हो उसे भी विवेक और निरभिमानतासे सभ्यतापूर्वक बताना चाहिये, कि जिससे फिर त्रुटिका अवकाश न रहे और वह कार्य त्रुटिरहित होकर पूर्ण हो जाये। अकेली प्रशंसा-गुणगानसे सिद्धि नही होती। इससे तो उलटा मिथ्या-भिमान बढता है। आजके मानपत्र आदिमे यह प्रथा विशेष है। विवेक चाहिये।

म०—साहब! चन्द्रसूरि आपको याद करके पूछा करते थे। आप यहाँ हैं यह उन्हें मालूम नही था। आपसे मिलनेके लिये आये है।

श्रीमद्—परिग्रहधारी यतियोका सन्मान करनेसे मिथ्यात्वको पोषण मिलता है, मार्गका विरोध होता है। दाक्षिण्य-सभ्यताको भी निभाना चाहिये। चन्द्रसूरि हमारे लिये आये हैं। परन्तु जीवको छोड़ना अच्छा नही लगता, मिथ्या चतुराईकी बाते करनी है, मान छोडना रुचता नही। उससे आत्मार्थ सिद्ध नही होता।

हमारे लिये आये, इसलिये सभ्यता धर्मको निभानेके लिये हम उनके पास गये। प्रतिपक्षी स्थानक सम्प्रदायवाले कहेगे कि इन्हे इनपर राग है, इसलिये वहाँ गये, हमारे पास नही आते। परन्तु जीव हेतु एवं कारणका विचार नही करता। मिथ्या दूषण, खाली आरोप लगानेके लिये तैयार है। ऐसे वर्तनके जानेपर छुटकारा है। भवपरिपाकसे सद्विचार स्फुरित होता है और हेतु एवं परमार्थका विचार उदित होता है।

बड़े जैसे कहे वैसे करना, जैसे करें वैसे नहीं करना चाहिये।

श्री कबीरका अन्तर समझे बिना भोलेपनसे लोग उन्हे परेशान करने लगे। इस विक्षेपको दूर करनेके लिये कबीरजी वेश्याके यहाँ जाकर बैठ गये। लोकसमूह वापिस लौटा। कबीरजी भ्रष्ट हो गये ऐसा लोग कहने लगे। सच्चे भक्त थोड़े थे वे कबीरको चिपके रहे। कबीरजीका विक्षेप तो दूर हुआ, परन्तु दूसरोंको उनका अनुकरण नही करना चाहिये।

नरसिंह मेहता गा गये है—

***मारुं गायुं गाशे ते भाला गोदा खाशे।**
समझीने गाशे ते वहेलो वैकुण्ठ जाशे॥

तात्पर्य यह कि समझकर विवेकपूर्वक करना है। अपनी दशाके बिना, विवेकके बिना, समझे बिना जीव अनुकरण करने लगे तो मार खाकर ही रहेगा। इसलिये बड़े कहे वैसे करना, करे वैसा नहीं करना चाहिये। यह वचन सापेक्ष है।

---

१२ बम्बई, कार्तिक वदी ९, १९५६

(दूसरे भोईवाड़ेमें श्री शांतिनाथजीके दिगंबरी-मंदिरमें दर्शन-प्रसंगका वर्णन)

प्रतिमाको देखकर दूरसे वन्दन किया।

तीन बार पंचांग प्रणाम किया।

श्री आनंदघनजीका श्री पद्मप्रभुका स्तवन सुमधुर, गंभीर और सुस्पष्ट ध्वनिसे गाया।

***भावार्थ**—बिना समझे मेरा कहा करेगा वह मार ही खायेगा। समझकर जो मेरा अनुकरण करेगा वह जल्दी वैकुण्ठमें जायेगा।

जिन-प्रतिमाके चरण धीरे धीरे दबाए।

कायोत्सर्ग-मुद्रावाली एक छोटी पंचधातुकी जिनप्रतिमा अन्दरसे कोरकर निकाली थी। वह सिद्ध-की अवस्थामें होनेवाले घनकी सूचक थी। उस अवगाहनाको बताकर कहा कि जिस देहसे आत्मा संपूर्ण सिद्ध होता है उस देहप्रमाणसे किंचित् न्यून जो क्षेत्रप्रमाण घन हो वह अवगाहना है। जीव अलग अलग सिद्ध हुए। वे एक क्षेत्रमे स्थित होनेपर भी प्रत्येक पृथक् पृथक् है। निज क्षेत्र घनप्रमाण अवगाहनासे हैं।

प्रत्येक सिद्धात्माकी ज्ञायक सत्ता लोकालोकप्रमाण, लोकके ज्ञाता होनेपर भी लोकसे भिन्न है।

भिन्न भिन्न प्रत्येक दीपकका प्रकाश एक हो जानेपर भी दीपक जैसे भिन्न भिन्न है, इस न्यायसे प्रत्येक सिद्धात्मा भिन्न भिन्न है।

ये मुक्तागिरि आदि तीर्थोंके चित्र हैं।

यह गोमटेश्वर नामसे प्रसिद्ध श्री बाहुबलस्वामीकी प्रतिमाका चित्र है। बेंगलोरके पास एकांत जंगलमे पर्वतमेसे कोरकर निकाली हुई सत्तर फुट ऊँची यह भव्य प्रतिमा है। आठवी सदीमे श्री चामुंड-रायने इसकी प्रतिष्ठा की है। अडोल ध्यानमे कायोत्सर्ग मुद्रामे श्री बाहुबलजी अनिमेष नेत्रसे खड़े हैं। हाथ-पैरमे वृक्षकी लतायें लिपटी होनेपर भी देहभानरहित ध्यानस्थ श्री बाहुबलजीको उसका पता नही है। कैवल्य प्रगट होने योग्य दशा होनेपर भी जरा मानका अकुर बाधक हुआ है। "वीरा मारा गज थकी ऊतरो" इस मानरूपी गजसे उतरनेके अपनी बहनें ब्राह्मी और सुन्दरीके शब्द कर्णगोचर होनेसे सुविचारमे सज्ज होकर, मान दूर करनेके लिये तैयार होने पर कैवल्य प्रगट हुआ। वह इन श्री बाहुबलजीकी ध्यानस्थ मुद्रा है।

(दर्शन करके श्री मंदिरकी ज्ञानशालामे)

'श्री गोम्मटसार' लेकर उसका स्वाध्याय किया।

श्री 'पाडवपुराण' मेसे प्रद्युम्न अधिकारका वर्णन किया। प्रद्युम्नका वैराग्य गाया।

वसुदेवने पूर्वभवमें सुरूपसंपन्न होनेके निदानपूर्वक उग्र तपश्चर्या की।

भावनारूप तपश्चर्या फलित हुई। सुरूपसंपन्न देह प्राप्त की। वह सुरूप अनेक विक्षेपोका कारण हुआ। स्त्रियाँ व्यामुग्ध होकर पीछे घूमने लगी। निदानका दोष वसुदेवको प्रत्यक्ष हुआ। विक्षेपसे छूटनेके लिये भाग जाना पड़ा।

'मुझे इस तपश्चर्यासे ऋद्धि मिले या वैभव मिले या अमुक इच्छित होवे,' ऐसी इच्छाको निदान दोष कहते हैं। वैसा निदान बाँधना योग्य नही है।

---

१३ बंबई, कार्तिक वदी ९, १९५६

'अवगाहना' अर्थात् अवगाहना। अवगाहना अर्थात् कद-आकार ऐसा नहीं। कितने ही तत्त्वके पारिभाषिक शब्द ऐसे होते हैं कि जिनका अर्थ दूसरे शब्दोंसे व्यक्त नहीं किया जा सकता, जिनके अनुरूप दूसरे शब्द नही मिलते; जो समझे जा सकते हैं, परन्तु व्यक्त नही किये जा सकते।

अवगाहना ऐसा शब्द है। बहुत बोधसे, विशेष विचारसे यह समझा जा सकता है। अवगाहना क्षेत्राश्रयी है। भिन्न होते हुए भी परस्पर मिल जाना, फिर भी अलग रहना। इस तरह सिद्ध आत्माकी जितने क्षेत्रप्रमाण व्यापकता वह उसकी अवगाहना कही है।

---

१४ बंबई, कार्तिक वदी ९, १९५६

जो बहुत भोगा जाता है वह बहुत क्षीण होता है। समतासे कर्म भोगनेसे उनकी निर्जरा होती है, वे क्षीण होते हैं। शारीरिक विषय भोगनेसे शारीरिक शक्ति क्षीण होती है।

ज्ञानीका मार्ग सुलभ है परन्तु उसे प्राप्त करना दुष्कर है; यह मार्ग विकट नहीं है, सीधा है, परन्तु उसे पाना विकट है। प्रथम सच्चा ज्ञानी चाहिये। उसे पहचानना चाहिये। उसकी प्रतीति आनी चाहिये। बादमे उसके वचनपर श्रद्धा रखकर निःशंकतासे चलनेसे मार्ग सुलभ है, परंतु ज्ञानीका मिलना और पहचानना विकट है, दुष्कर है।

घनी झाड़ीमे भूले पडे हुए मनुष्यको वनोपकंठमे जानेका मार्ग कोई दिखाये कि 'जा, नीचे-नीचे चला जा। रास्ता सुलभ है, यह रास्ता सुलभ है।' परन्तु उस भूले पड़े हुए मनुष्यके लिये जाना विकट है; इस मार्गमे जानेसे पहुँचूंगा या नही, यह शका आड़े आती है। शका किये बिना ज्ञानियोके मार्गका आराधन करे तो उसे पाना सुलभ है।

---

१५ बंबई, कार्तिक वदी ११, १९५६

श्री सत्श्रुत

१	श्री पाडव पुराणमे प्रद्युम्न चरित्र	११.	श्री क्षपणासार
२	श्री पुरुषार्थसिद्धि उपाय	१२	श्री लब्धिसार
३	श्री पद्मनदिपंचविंशति	१३.	श्री त्रिलोकसार
४	श्री गोम्मटसार	१४.	श्री तत्त्वसार
५	श्री रत्नकरंड श्रावकाचार	१५.	श्री प्रवचनसार
६	श्री आत्मानुशासन	१६.	श्री समयसार
७	श्री मोक्षमार्गप्रकाश	१७.	श्री पंचास्तिकाय
८	श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा	१८.	श्री अष्टप्राभृत
९	श्री योगदृष्टि समुच्चय	१९.	श्री परमात्मप्रकाश
१०.	श्री क्रियाकोष	२०	श्री रयणसार

आदि अनेक है। इद्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक इस सत्श्रुतका सेवन करना योग्य है। यह फल अलौकिक है, अमृत है।

---

१६ बबई, कार्तिक वदी ११, १९५६

ज्ञानीको पहचाने; पहचान कर उनकी आज्ञाका आराधन करें। ज्ञानीकी एक आज्ञाका आराधन करनेसे अनेकविध कल्याण है।

ज्ञानी जगतको तृणवत् समझते है, यह उनके ज्ञानकी महिमा समझें।

कोई मिथ्याभिनिवेशी ज्ञानका ढोग करके जगतका भार व्यर्थ सिरपर वहन करता हो तो वह हास्यपात्र है।

---

१७ बबई, कार्तिक वदी ११, १९५६

वस्तुत· दो वस्तुएँ है--जीव और अजीव। लोगोने सुवर्ण नाम कल्पित रखा। उसकी भस्म होकर पेटमे गया। विष्टामे परिणत होकर खाद हुआ, क्षेत्रमे उगा, धान्य हुआ, लोगोंने खाया; कालातरसे लोहा हुआ। वस्तुत· एक द्रव्यके भिन्न भिन्न पर्यायोको कल्पनारूपसे भिन्न भिन्न नाम दिये गये। एक द्रव्यके भिन्न भिन्न पर्यायो द्वारा लोग भ्रातिमें पड़ गये। इस भ्रांतिने ममताको जन्म दिया।

रुपयें वस्तुतः हैं, फिर भी लेनेवाले और देनेवालेका मिथ्या झगड़ा होता है। लेनेवालेको अधीरतासे उसका मन रुपये गये ऐसा समझता है। वस्तुतः रुपये है। इसी तरह भिन्न भिन्न कल्पनाओने भ्रमजाल

फैला दिया है। उसमेंसे जीव-अजीवका, जड-चैतन्यका भेद करना यह विकट हो पडा है। भ्रमजाल यथार्थरूपसे ध्यानमे आये, तो जड-चैतन्य क्षीर-नीरवत् भिन्न स्पष्ट भासित होता है।

---

१८ बंबई, कार्तिक वदी १२, १९५६

'इनॉक्युलेशन'—महामारीका टीका। टीकेके नामसे डाक्टरोंने यह पाखण्ड खड़ा किया है। बेचारे निरपराध अश्व आदिको टीकेके बहाने दारुण दुःख देकर मार डालते हैं, हिंसा करके पापका पोषण करते हैं, पाप कमाते हैं। पहले पापानुबंधी पुण्य उपार्जन किया है, उसके प्रभावसे वर्तमानमे वे पुण्य भोगते हैं, परन्तु परिणाममे पाप मोल लेते है, यह उन बेचारे डाक्टरोंको पता नहीं है। टीकेसे रोग दूर हो तबकी बात तब; परन्तु अभी तो हिंसा प्रत्यक्ष है। टीकेसे एक रोगको निकालते दूसरा रोग भी खड़ा हो जाये।

---

१९ बंबई, कार्तिक वदी १२, १९५६

प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये शब्द समझने योग्य हैं। पुरुषार्थ किये बिना प्रारब्धकी खबर नहीं पड़ सकती। प्रारब्धमे होगा सो होगा यो कहकर बैठे रहनेसे काम नही चलता। निष्काम पुरुषार्थ करना चाहिये। प्रारब्धका समपरिणामसे वेदन करना—भोग लेना, यह महान पुरुषार्थ है। सामान्य जीव समपरिणामसे विकल्परहित होकर प्रारब्धका वेदन नही कर सकता, विषम परिणाम होता ही है। इसलिये उसे न होने देनेके लिये, कम होनेके लिये उद्यम करना चाहिये। समता और निर्विकल्पता सत्सगसे आती है और बढ़ती है।

---

२० मोरबी, वैशाख सुदी ८, १९५६

'भगवद्गीता' मे पूर्वापर विरोध है, उसे देखनेके लिये उसे दे रखा है। पूर्वापर विरोध क्या है यह अवलोकन करनेसे मालूम हो जायेगा। पूर्वापर अविरोधी दर्शन एवं वचन तो वीतरागके हैं।

भगवद्गीतापर बहुतसे भाष्य और टीकाएँ रचे गये हैं—विद्यारण्यस्वामीकी 'ज्ञानेश्वरी' आदि। प्रत्येकने अपनी मान्यताके अनुसार टीका बनायी है। थियॉसॉफीवाली टीका जो आपको दी है वह अधिकांश स्पष्ट है। मणिलाल नभुभाईने गीतापर विवेचनरूप टीका करते हुए बहुत मिश्रता ला दी है, मिश्रित खिचड़ी बना दी है।

विद्वत्ता और ज्ञान इन दोनोको एक न समझें, दोनों एक नही है। विद्वत्ता हो, फिर भी ज्ञान न हो। सच्ची विद्वत्ता तो यह है कि जो आत्मार्थके लिये हो, जिससे आत्मार्थ सिद्ध हो, आत्मत्व समझमे आये, प्राप्त किया जाये। जहाँ आत्मार्थ होता है वहाँ ज्ञान होता है, विद्वत्ता हो या न भी हो।

मणिभाई कहते हैं (षड्दर्शनसमुच्चयकी प्रस्तावनामे) कि हरिभद्रसूरिको वेदातका ज्ञान न था, वेदांतका ज्ञान होता तो ऐसी कुशाग्र बुद्धिवाले हरिभद्रसूरि जैनदर्शनकी ओरसे अपनी वृत्तिको फिराकर वेदान्ती हो जाते। मणिभाईके ये वचन गाढ मताभिनिवेशसे निकले हैं। हरिभद्रसूरिको वेदातका ज्ञान था या नही, इस बातको, मणिभाईने यदि हरिभद्रसूरिकी 'धर्मसंग्रहणी' देखी होती, तो उन्हे खबर पड़ जाती। हरिभद्रसूरिको वेदांत आदि सभी दर्शनोंका ज्ञान था। उन सब दर्शनोंकी पर्यालोचनापूर्वक उन्होने जैनदर्शनको पूर्वापर अविरुद्ध प्रतीत किया था। यह अवलोकनसे मालूम होगा। 'षड्दर्शनसमुच्चय' के भाषातरमें दोष होनेपर भी मणिभाईने भाषांतर ठीक किया है। अन्य ऐसा भी नही कर सकते। यह सुधारा जा सकेगा।

---

२१ श्री मोरबी, वैशाख सुदी ९, १९५६

वर्तमानकालमे क्षयरोगकी विशेष वृद्धि हुई है और हो रही है। इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्यकी कमी, आलस्य और विषय आदिकी आसक्ति है। क्षयरोगका मुख्य उपाय ब्रह्मचर्य-सेवन, शुद्ध सात्त्विक आहार-पान और नियमित वर्तन है।

---

२२ मोरबी, आषाढ सुदी, १९५६

'प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥'

'तेरे दो चक्षु प्रशमरसमें डूबे हुए है, परमशांत रसका अनुभव कर रहे हैं। तेरा मुखकमल प्रसन्न है; उसमें प्रसन्नता व्याप्त हो रही है। तेरी गोद स्त्रीके संगसे रहित है। तेरे दो हाथ शस्त्रसंबंधरहित हैं—तेरे हाथोंमे शस्त्र नहीं है। इस तरह तू ही जगतमें वीतरागदेव है।'

देव कौन ? वीतराग। दर्शनयोग्य मुद्रा कौनसी ? जो वीतरागता सूचित करे वह।

'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' वैराग्यका उत्तम ग्रन्थ है। द्रव्यको, वस्तुको यथावत् दृष्टिमे रखकर इसमें वैराग्यका निरूपण किया है। द्रव्यका स्वरूप बतलानेवाले चार श्लोक अद्भुत हैं। इसके लिये इस ग्रंथकी राह देखते थे। गत वर्ष ज्येष्ठ मासमे मद्रासकी ओर जाना हुआ था। कार्तिकस्वामी इस भूमिमे बहुत विचरे है। इस तरफके नग्न, भव्य, ऊँचे, अडोल वृत्तिसे खड़े पहाड देखकर स्वामी कार्तिकेय आदिकी अडोल, वैराग्यमय दिगबरवृत्ति याद आती थी।

नमस्कार उन स्वामी कार्तिकेय आदिको।

---

२३ मोरबी, श्रावण वदी ८, १९५६

'षड्दर्शनसमुच्चय' और 'योगदृष्टिसमुच्चय' का भाषांतर गुजरातीमे करने योग्य है। 'षड्दर्शन-समुच्चय' का भाषातर हुआ है परन्तु उसे सुधारकर फिरसे करना योग्य है। धीरे धीरे होगा, करें। आनंदघनजीकी चौबीसीका अर्थ भी विवेचनके साथ लिखे।

नमो दुर्वाररागादिवैरिवार निवारिणे।
अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने ॥

श्री हेमचन्द्राचार्य 'योगशास्त्र' की रचना करते हुए मगलाचरणमे वीतराग सर्वज्ञ अरिहत योगीनाथ महावीरको स्तुतिरूपसे नमस्कार करते हैं।

'जो रोके रुक नही सकते, जिनको रोकना बहुत बहुत मुश्किल है, ऐसे राग, द्वेष, अज्ञानरूपी शत्रुके समूहको जिन्होने रोका, जीता, जो वीतराग सर्वज्ञ हुए, वीतराग सर्वज्ञ होनेसे जो अर्हन्त पूजनीय हुए; और वीतराग अर्हन्त होनेसे, जिनका मोक्षके लिये प्रवर्तन है ऐसे भिन्न भिन्न योगियोंके जो नाथ हुए, नेता हुए, और इस तरह नाथ होनेसे जो जगतके नाथ, तात, और त्राता हुए, ऐसे जो महावीर हैं उन्हे नमस्कार हो।' यहाँ सद्देवके अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय, वचनातिशय और पूजातिशय सूचित किये है। इस मंगल स्तुतिमे समग्र 'योगशास्त्र' का सार समा दिया है। सद्देवका निरूपण किया है। समग्र वस्तुस्वरूप, तत्त्वज्ञानका समावेश कर दिया है। खोलनेवाला खोजी चाहिये।

लौकिक-मेलेमे वृत्तिको चंचल करनेवाले प्रसंग विशेष होते हैं। सच्चा मेला सत्संगका है। ऐसे मेलेमें वृत्तिकी चंचलता कम होती है, दूर होती है। इसलिये ज्ञानियोने सत्संग-मेलेका बखान किया है, उपदेश किया है।

---

२४ वढवाणकेम्प, भाद्रपद वदी, १९५६

'मोक्षमाला' के पाठ हमने माप माप कर लिखे हैं। पुनरावृत्तिके बारेमे आप यथासुख प्रवृत्ति करें। कतिपय वाक्योके नीचे लकीर खीची है, वैसा करनेकी जरूरत नही है। श्रोता-वाचकको यथासंभव अपने अभिप्रायसे प्रेरित न करनेका लक्ष्य रखें। श्रोता-वाचकमे स्वतः अभिप्राय उत्पन्न होने दें। सारासारके तोलनका कार्य स्वयं वाचक-श्रोतापर छोड़ दें। हम उन्हें प्रेरित कर, उनमे स्वय उत्पन्न हो सकनेवाले अभिप्रायको रोक न दें।

'मोक्षमाला'के ''प्रज्ञावबोध' भागके १०८ मनके यहाँ लिखायेंगे।

परम सत्श्रुतके प्रचाररूप एक योजना सोची है। उसका प्रचार होकर परमार्थमार्ग प्रकाशित होगा।

२५ बंबई, माटुंगा, मार्गशीर्ष, १९५७

श्री 'शांतसुधारस' का भी पुनः विवेचनरूप भाषांतर करने योग्य है, सो कीजियेगा।

२६ बंबई, शिव, मार्गशीर्ष, १९५७

'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान् ॥'

स्तुतिकार श्री समंतभद्रसूरिको वीतरागदेव मानो कहते हो—हे समंतभद्र! यह हमारी अष्ट-प्रातिहार्य आदि विभूति तू देख, हमारा महत्त्व देख।' तब सिंह गुफामेसे गम्भीर चालसे बाहर निकलकर जिस तरह गर्जना करता है उसी तरह श्री समंतभद्रसूरि गर्जना करते हुए कहते है—'देवताओंका आना, आकाशमे विचरना, चामरादि विभूतियोंका भोग करना, चामर आदिके वैभवसे पूजनीय दिखाना यह तो मायावी इन्द्रजालिक भी बता सकता है। तेरे पास देवोंका आना होता है, अथवा तू आकाशमे विचरता है, अथवा तू चामर छत्र आदि विभूतिका उपभोग करता है इसलिये तू हमारे मनको महान है! नही, नही, इसलिये तू हमारे मनको महान नही, उतनेसे तेरा महत्त्व नहीं। ऐसा महत्त्व तो मायावी इन्द्रजालिक भी दिखा सकता है।' तब फिर सद्देवका वास्तविक महत्त्व क्या है? तो कहते है कि वीतरागता। इस तरह आगे बताते है।

ये श्री समंतभद्रसूरि विक्रमकी दूसरी शताब्दीमे हुए थे। वे श्वेतांबर-दिगंबर दोनोमे एक सरीखे सन्मानित हैं। उन्होने देवागमस्तोत्र (उपर्युक्त स्तुति इस स्तोत्रका प्रथम पद है) अथवा आप्तमीमांसा रची है। तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणकी टीका करते हुए यह देवागमस्तोत्र लिखा गया है और उसपर अष्टसहस्री टीका तथा चौरासी हजार श्लोकप्रमाण 'गंधहस्ती महाभाष्य' टीका रची गयी है।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

यह इसका प्रथम मंगल स्तोत्र है।

मोक्षमार्गके नेता, कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता-भेदन करनेवाले, विश्व अर्थात् समग्र तत्त्वके ज्ञाता, जाननेवाले—उन्हें गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं वंदन करता हूँ।

'आप्तमीमांसा', 'योगबिन्दु' और 'उपमितिभवप्रपंचकथा' का गुजराती भाषांतर कीजियेगा। 'योगबिन्दु' का भाषांतर हुआ है, 'उपमितिभवप्रपंच' का हो रहा है, परन्तु वे दोनो फिरसे करने योग्य हैं, उसे कीजियेगा, धीरे धीरे होगा।

लोककल्याण हितरूप है और वह कर्तव्य है। अपनी योग्यताकी न्यूनतासे और जोखिमदारी न समझी जा सकनेसे अपकार न हो, यह भी ख्याल रखनेका है।

[2]२७

मन पर्यायज्ञान किस तरह प्रगट होता है? साधारणतः प्रत्येक जीवको मतिज्ञान होता है। उसके आश्रित श्रुतज्ञानमे वृद्धि होनेसे वह मतिज्ञानका बल बढ़ाता है; इस तरह अनुक्रमसे मतिज्ञान निर्मल

१. देखें आक ९४६। २. आंक २७ से आंक ३१ तक खंभातके श्री त्रिभुवनभाईकी नोंधमेसे लिये हैं।

होनेसे आत्माकी असंयमता दूर होकर संयमता होती है, और उससे मन पर्यायज्ञान प्रगट होता हैं। उसके योगसे आत्मा दूसरेका अभिप्राय जान सकता है।

लिंग—चिह्न देखनेसे दूसरेके क्रोध, हर्ष आदि भाव जाने जा सकते है, यह मतिज्ञानका विषय है। वैसे चिह्न न देखनेमे जो भाव जाने जा सकते हैं वह मनःपर्यायज्ञानका विषय है।

२८

पाँच इन्द्रियोंके विषय संबन्धी :—

जिस जीवको मोहनीयकर्मरूपी कषायका त्याग करना हो, और 'जब वह उसका एकदम त्याग करना चाहेगा तब कर सकेगा' ऐसे विश्वासपर रहकर, जो क्रमश त्याग करनेका अभ्यास नही करता, वह एकदम त्याग करनेका प्रसंग आनेपर मोहनीय कर्मके बलके आगे टिक नही सकता, क्योंकि कर्मरूप शत्रुको धीरे-धीरे निर्बल किये बिना निकाल देनेमे वह एकदम असमर्थ हो जाता है। आत्माकी निर्बलताके कारण उसपर मोहका प्राबल्य रहता है। उसका जोर कम करनेके लिये यदि आत्मा प्रयत्न करे तो एक ही बारमे उसपर जय पानेकी धारणमे वह ठगा जाता है। जब तक मोहवृत्ति लडनेके लिये सामने नही आती तभी तक मोहवश आत्मा अपनी बलवत्ता समझता है, परन्तु इस प्रकारकी कसौटीका प्रसंग आनेपर आत्माको अपनी कायरता समझमे आती है। इसलिये जैसे बने वैसे पाँच इन्द्रियोके विषयोंको शिथिल करना, उसमे भी मुख्यत उपस्थ इन्द्रियको वशमे लाना, इस तरह अनुक्रमसे दूसरी इन्द्रियोके विषयोपर काबू पाना।

इंद्रियके विषयरूपी क्षेत्रकी दो तसू जमीन जीतनेके लिये आत्मा असमर्थता बताता है और सारी पृथ्वीको जीतनेमे समर्थता मानता है, यह कैसा आश्चर्यरूप है?

प्रवृत्तिके कारण आत्मा निवृत्तिका विचार नही कर सकता, यो कहना मात्र एक बहाना है। यदि थोड़े समयके लिये भी आत्मा प्रवृत्ति छोड़कर प्रमादरहित होकर सदा निवृत्तिका विचार करे, तो उसका बल प्रवृत्तिमे भी अपना कार्य कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुका अपनी न्यूनाधिक बलवत्ताके अनुसार हो अपना कार्य करनेका स्वभाव है। जिस तरह मादक वस्तु दूसरी खुराकके साथ अपने असली स्वभावके अनुसार परिणमन करनेको नहीं भूल जाती उसी तरह ज्ञान भी अपने स्वभावको नही भूलता। इसलिये प्रत्येक जीवको प्रमादरहित होकर योग, काल, निवृत्ति और मार्गका विचार निरंतर करना चाहिये।

२९

व्रत संबंधी—

यदि प्रत्येक जीवको व्रत लेना हो तो स्पष्टताके साथ दूसरेकी साक्षीसे लेना चाहिये। उसमे स्वेच्छासे वर्तन नही करना चाहिये। व्रतमे रह सकनेवाला आगार रखा हो और कारणविशेषको लेकर वस्तुका उपयोग करना पड़े तो वैसा करनेमे स्वयं अधिकारी नही बनना चाहिये। ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार वर्तन करना चाहिये। नही तो उसमे शिथिल हुआ जाता है, और व्रतका भंग हो जाता है।

३०

मोह-कषाय संबंधी :—

प्रत्येक जीवकी अपेक्षासे ज्ञानीने क्रोध, मान, माया और लोभ, यों अनुक्रम रखा है, वह क्षय होनेकी अपेक्षासे है।

पहले कषायके क्षयसे अनुक्रमसे दूसरे कषायोंका क्षय होता है, और अमुक अमुक जीवोकी अपेक्षासे मान, माया, लोभ और क्रोध, ऐसा क्रम रखा है, वह देश, काल और क्षेत्र देखकर। पहले जीवको

दूसरेसे ऊँचा माना जानेके लिये मान उत्पन्न होता है, उसके लिये वह छल-कपट करता है; और उससे पैसा पैदा करता है, और वैसे करनेमें विघ्न करनेवाले पर क्रोध करता है। इस प्रकार कषायकी प्रकृतियाँ अनुक्रमसे बँधती हैं; जिसमें लोभकी इतनी बलवत्तर मिठास है, कि उसमे जीव मान भी भूल जाता है, और उसकी परवाह नहीं करता, इसलिये मानरूपी कषायको कम करनेसे अनुक्रमसे दूसरे कषाय अपने आप कम हो जाते हैं।

३१

आस्था तथा श्रद्धा—

प्रत्येक जीवको जीवके अस्तित्वसे लेकर मोक्ष तककी पूर्णरूपसे श्रद्धा रखनी चाहिये। इसमे जरा भी शंका नहीं रखनी चाहिये। इस जगह अश्रद्धा रखना, यह जीवके पतित होनेका कारण है, और यह ऐसा स्थानक है कि वहाँसे गिरनेसे कोई स्थिति नही रहती।

अंतर्मुहूर्त्तमें सत्तर कोटाकोटि सागरोपमकी स्थिति बँधती है, जिसके कारण जीवको असंख्यात भवोंमें भ्रमण करना पडता है।

चारित्रमोहसे पतित हुआ जीव तो ठिकाने आ जाता है, परन्तु दर्शनमोहसे पतित हुआ जीव ठिकाने नही आता, क्योंकि समझनेमें फेर होनेसे करनेमें फेर हो जाता है। वीतरागरूप ज्ञानीके वचनोंमें अन्यथा भाव होना सम्भव ही नहीं है। उसका अवलंबन लेकर ध्रुवतारेकी भाँति श्रद्धा इतनी दृढ करना कि कभी विचलित न हो। जब जब शंका होनेका प्रसंग आये तब तब जीवको विचार करना चाहिये कि उसमें अपनी भूल ही होती है। वीतराग पुरुषोंने जिस मतिसे ज्ञान कहा है, वह मति इस जीवमे है नही; और इस जीवकी मति तो शाकमे नमक कम पडा हो तो उतनेमे ही रुक जाती है। तो फिर वीतरागके ज्ञानकी मतिका मुकाबला कहाँसे कर सके ? इसलिये बारहवें गुणस्थानके अन्त तक भी जीवको ज्ञानीका अवलंबन लेना चाहिये, ऐसा कहा है।

अधिकारी न होनेपर भी जो ऊँचे ज्ञानका उपदेश किया जाता है वह मात्र इसलिये कि जीवने अपनेको ज्ञानी तथा चतुर मान लिया है, उसका मान नष्ट हो और जो नीचेके स्थानकोंसे बातें कही जाती हैं, वे मात्र इसलिये कि वैसा प्रसंग प्राप्त होनेपर जीव नीचेका नीचे ही रहे।

---

३२ बंबई, आश्विन, १९४९

जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥
जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो ॥२३॥

—श्री सूयगडाग सूत्र, वीर्याध्ययन ८वाँ, गाथा २२-२३

ऊपरकी गाथाओंमें जहाँ 'सफल' शब्द है वहाँ 'अफल' ठीक लगता है, और जहाँ 'अफल' शब्द है वहाँ 'सफल' शब्द ठीक लगता है, इसलिये उसमे लेखन-दोष है या बराबर है ? इसका समाधान—यहाँ लेखन-दोष नही है। जहाँ 'सफल' शब्द है वहाँ सफल ठीक है और जहाँ 'अफल' शब्द है वहाँ अफल ठीक है।

मिथ्यादृष्टिकी क्रिया सफल है—फलसहित है, अर्थात् उसे पुण्य-पापका फल भोगना है। सम्यग्दृष्टिकी क्रिया अफल है—फलरहित है, उसे फल नही भोगना है, अर्थात् निर्जरा है। एककी, मिथ्यादृष्टिकी क्रियाकी संसारहेतुक सफलता है, और दूसरेकी, सम्यग्दृष्टिकी क्रियाकी संसारहेतुक अफलता है, यों परमार्थ समझना योग्य है।

---

३३ वैशाख, १९५०

नित्यनियम[1]

ॐ श्रीमत्परमगुरुभ्यो नमः

सवेरे उठकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करके रात-दिनमे जो कुछ अठारह पापस्थानकमें प्रवृत्ति हुई हो, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र संबंधी तथा पंचपरमपद संबंधी जो कुछ अपराध हुआ हो, किसी भी जीवके प्रति किंचित् मात्र भी अपराध किया हो, वह जाने-अनजाने हुआ हो, उस सबको क्षमाना, उसकी निंदा करना, विशेष निंदा करना, आत्मामेसे उस अपराधका विसर्जन करके नि.शल्य होना। रात्रिको सोते समय भी इसी तरह करना।

श्री सत्पुरुषके दर्शन करके चार घडीके लिये सर्व सावद्य व्यापारसे निवृत्त होकर एक आसनपर स्थिति करना। उस समयमे 'परमगुरु' शब्दकी पाँच मालाएँ गिनकर दो घड़ी तक सत्शास्त्रका अध्ययन करना। उसके बाद एक घडी कायोत्सर्ग करके श्री सत्पुरुषोंके वचनोका उस कायोत्सर्गमे जप-रटन करके सद्वृत्तिका अनुसधान करना। उसके बाद आधी घडीमे भक्तिको वृत्तिको उत्साहित करनेवाले पद (आज्ञानुसार) बोलना। आधी घडीमे 'परमगुरु' शब्दका कायोत्सर्गके रूपमे जप करना, और 'सर्वज्ञदेव' इस नामकी पाँच मालाएँ गिनना।

अभी अध्ययन करने योग्य शास्त्र—वैराग्यशतक, इंद्रियपराजयशतक, शांतसुधारस, अध्यात्म-कल्पद्रुम, योगदृष्टिसमुच्चय, नवतत्त्व, मूलपद्धति कर्मग्रथ, धर्मबिंदु, आत्मानुशासन, भावनाबोध, मोक्ष-मार्गप्रकाश, मोक्षमाला, उपमितिभवप्रपंच, अध्यात्मसार, श्री आनंदघनजी कृत चौबीसीमेसे ये स्तवन—१, ३, ५, ७, ८, ९, १०, १३, १५, १६, १७, १९, २२।

सात व्यसन—(जूआ, मास, मदिरा, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, परस्त्री) का त्याग।

(अथ सप्तव्यसन नाम चौपाई)

"जूवा[1], आमिष[2], मदिरा[3], दारी[4], आहेटक[5], चोरी[6], परनारी[7]।
एहि सप्तव्यसन दुःखदाई, दुरितमूळ दुर्गतिके जाई॥"

इस सप्तव्यसनका त्याग। रात्रिभोजनका त्याग। अमुकको छोडकर सभी वनस्पतिका त्याग। अमुक तिथियोमे अत्यक्त वनस्पतिका भी प्रतिबध। अमुक रसका त्याग। अब्रह्मचर्यका त्याग। परिग्रह परिमाण।

शरीरमे विशेष रोग आदिके उपद्रवसे, बेभानपनसे, राजा अथवा देव आदिके बलात्कारसे यहाँ बताये हुए नियमोंमे प्रवृत्ति करनेके लिये अशक्त हुआ जाये तो उसके लिये पश्चात्तापका स्थानक समझना। स्वेच्छासे उस नियममे कुछ भी न्यूनाधिकता करनेकी प्रतिज्ञा। सत्पुरुषकी आज्ञासे उस नियममे फेरफार करनेसे नियम भंग नही।

---

३४ श्री खंभात, आसोज सुदी, १९५१

सत्य[2]

वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जैसा जानना, अनुभव करना वैसा ही कहना यह सत्य है। यह दो प्रकारका है—'परमार्थसत्य' और 'व्यवहारसत्य'।

'परमार्थसत्य' अर्थात् आत्माके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ आत्माका नही हो सकता, ऐसा निश्चय जानकर, भाषा बोलनेमें व्यवहारसे देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह आदि वस्तुओंके प्रसंगमें बोलनेसे

---

१. यह जो नित्यनियम बताया है वह 'श्रीमद्' के उपदेशामृतमेंसे लेकर श्री खभातके एक मुमुक्षुभाईने योजित किया है।

२. खंभातके एक मुमुक्षु भाईने यथाशक्ति स्मृतिमें रखकर की हुई नोंध।

पहले एक आत्माके सिवाय दूसरा कोई मेरा नही है, यह उपयोग रहना चाहिये। अन्य आत्माके सम्बन्धमें बोलते समय आत्मामें जाति, लिंग और वैसे औपचारिक भेदवाला वह आत्मा न होनेपर भी मात्र व्यवहार-नयसे कार्यके लिये संबोधित किया जाता है, इस प्रकार उपयोगपूर्वक बोला जाये तो वह पारमार्थिक सत्य भाषा है ऐसा समझें।

१ **दृष्टांत**—एक मनुष्य अपनी आरोपित देहकी, घरकी, स्त्रीकी, पुत्रकी या अन्य पदार्थकी बात करता हो, उस समय स्पष्टरूपसे उन सब पदार्थोंसे वक्ता 'मैं भिन्न हूँ, और वे मेरे नही हैं' इस प्रकार स्पष्टरूपसे बोलनेवालेको भान हो तो वह सत्य कहा जाता है।

२ **दृष्टांत**—जिस प्रकार कोई ग्रन्थकार श्रेणिक राजा और चेलना रानीका वर्णन करता हो; तो वे दोनों आत्मा थे और मात्र श्रेणिकके भवकी अपेक्षासे उनका सम्बन्ध, अथवा स्त्री, पुत्र, धन, राज्य, आदिका सम्बन्ध था; यह बात ध्यानमे रखनेके बाद बोलनेकी प्रवृत्ति करे, यही परमार्थ सत्य है।

व्यवहारसत्यके आये बिना परमार्थसत्य वचनका बोलना नही हो सकता। इसलिये व्यवहारसत्य नीचे अनुसार जानें—

जिस प्रकारसे वस्तुका स्वरूप देखनेसे, अनुभव करनेसे, श्रवणसे अथवा पढ़नेसे हमे अनुभवमे आया हो उसी प्रकारसे यथातथ्यरूपसे वस्तुका स्वरूप कहना और उस प्रसगपर वचन बोलना उसका नाम व्यवहारसत्य है।

दृष्टांत—जैसे कि अमुक मनुष्यका लाल घोड़ा जंगलमे दिनके बारह बजे देखा हो, और किसीके पूछनेसे उसी प्रकारसे यथातथ्य वचन बोलना यह व्यवहारसत्य है। इसमे भी किसी प्राणीके प्राणका नाश होता हो, अथवा उन्मत्ततासे वचन बोला गया हो, वह यद्यपि सच्चा हो तो भी असत्य तुल्य ही है, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करें। सत्यसे विपरीत उसे असत्य कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुगंछा, अज्ञान आदिसे बोला जाता है। क्रोध आदि मोहनीयके अंगभूत हैं। उसकी स्थिति दूसरे सभी कर्मोंसे अधिक अर्थात् (७०) सत्तर कोडा-कोड़ी सागरोपमकी है। इस कर्मका क्षय हुए बिना ज्ञानावरण आदि कर्मोका सम्पूर्णतासे क्षय नही हो सकता। यद्यपि गणितमे प्रथम ज्ञानावरण आदि कर्म कहे है, परन्तु इस कर्मकी बहुत महत्ता है, क्योकि ससार-के मूलभूत रागद्वेषका यह मूलस्थान है, इसलिये भवभ्रमण करनेमे इस कर्मकी मुख्यता है, ऐसी मोहनीय-कर्मकी बलवत्ता है, फिर भी उसका क्षय करना सरल है। अर्थात् जैसे वेदनीयकर्म भोगे बिना निष्फल नही होता परन्तु इस कर्मके लिये वैसा नही है। मोहनीय कर्मकी प्रकृतिरूप क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषाय तथा नोकषायका अनुक्रमसे क्षमा, नम्रता, निरभिमानता, सरलता, निर्दंभता और संतोष आदिकी विपक्षभावनासे अर्थात् मात्र विचार करनेसे उपर्युक्त कषाय निष्फल किये जा सकते है, नोकषाय भी विचारसे क्षीण किये जा सकते हैं, अर्थात् उसके लिये बाह्य कुछ नही करना पड़ता।

'मुनि' यह नाम भी इस पूर्वोक्त रीतिसे विचार कर वचन बोलनेसे सत्य है। बहुत करके प्रयोजनके बिना बोलना ही नही, उसका नाम मुनित्व है। रागद्वेष और अज्ञानके बिना यथास्थित वस्तुका स्वरूप कहते-बोलते हुए भी मुनित्व-मौन समझें। पूर्व तीर्थंकर आदि महात्माओने ऐसा ही विचार कर मौन धारण किया था, और लगभग साढ़े बारह वर्ष मौन धारण करनेवाले भगवान वीर प्रभुने ऐसे उत्कृष्ट विचारसे आत्मामेसे फिरा-फिराकर मोहनीयकर्मके सम्बन्धको बाहर निकाल करके केवलज्ञानदर्शन प्रगट किया था।

आत्मा चाहे तो सत्य बोलना कुछ कठिन नही है। व्यवहारसत्यभाषा बहुत बार बोली जाती है, परन्तु परमार्थसत्य बोलनेमे नही आया; इसीलिये इस जीवका भवभ्रमण नहीं मिटता। सम्यक्त्व होनेके

बाद अभ्याससे परमार्थसत्य बोला जा सकता है; और फिर विशेष अभ्याससे सहज उपयोग रहा करता है। असत्य बोले बिना माया नही हो सकती। विश्वासघात करना इसका भी असत्यमे समावेश होता है। झूठे दस्तावेज करना, इसे भी असत्य जाने। अनुभव करने योग्य पदार्थके स्वरूपका अनुभव किये बिना और इन्द्रिय द्वारा जानने योग्य पदार्थके स्वरूपको जाने बिना उपदेश करना, इसे भी असत्य समझें। तो फिर तप इत्यादि मान आदिकी भावनासे करके, आत्महितार्थ करने जैसा देखाव करना असत्य ही है, ऐसा समझें। अखंड सम्यग्दर्शन प्राप्त हो तभी सम्पूर्णरूपसे परमार्थसत्य वचन बोला जा सकता है; अर्थात् तभी आत्मामेंसे अन्य पदार्थको भिन्नरूपसे उपयोगमे लेकर वचनकी प्रवृत्ति हो सकती है।

कोई पूछे कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत तो उपयोगपूर्वक न बोलते हुए 'लोक शाश्वत' है ऐसा यदि कहे तो असत्य वचन बोला गया ऐसा होता है। उस वचनको बोलते हुए, लोक शाश्वत क्यो कहा गया, उसका कारण ध्यानमें रखकर वह बोले तो वह सत्य समझा जाता है।

इस व्यवहारसत्यके भी दो प्रकार हो सकते हैं—एक सर्वथा व्यवहारसत्य और दूसरा देश व्यवहारसत्य।

निश्चय सत्यपर उपयोग रखकर, प्रिय अर्थात् जो वचन अन्यको अथवा जिसके संबंधमे बोला गया हो उसे प्रीतिकर हो; और पथ्य एव गुणकर हो, ऐसा ही सत्य वचन बोलनेवाले प्राय सर्वविरति मुनिराज हो सकते है।

संसारपर अभाव रखनेवाला होनेपर भी पूर्वकर्मसे, अथवा दूसरे कारणसे संसारमें रहनेवाले गृहस्थको देशसे सत्यवचन बोलनेका नियम रखना योग्य है। वह मुख्यतः इस प्रकार है :—

कन्यालीक, मनुष्यसंबधी असत्य, गवालीक, पशुसबधी असत्य, भौमालीक, भूमिसबधी असत्य; झूठी साक्षी, और थाती असत्य अर्थात् विश्वाससे रखनेके लिये दिये हुए द्रव्यादि पदार्थ वापस माँगनेपर, उस सबधी इनकार कर देना, ये पाँच स्थूल भेद है। इस सम्बन्धमे वचन बोलते हुए परमार्थ सत्य पर ध्यान रखकर, यथास्थित अर्थात् जिस प्रकारसे वस्तुओका सम्यक् स्वरूप हो उसी प्रकारसे ही कहनेका जो नियम है उसे देशसे व्रत धारण करनेवालेको अवश्य करना योग्य है। इस कहे हुए सत्य सम्बन्धी उपदेशका विचार कर उस क्रममे अवश्य आना ही फलदायक है।

३५

सत्पुरुष अन्याय नही करते। सत्पुरुष अन्याय करेंगे तो इस जगतमे वर्षा किसके लिये बरसेगी? सूर्य किसके लिये प्रकाशित होगा? वायु किसके लिये चलेगी?

आत्मा कैसा अपूर्व पदार्थ है! जब तक शरीरमे होता है—भले ही हजारो बरस रहे, तब तक शरीर नही सडता। आत्मा पारे जैसा है। चेतन चला जाये तो शरीर शव हो जाये और सड़ने लगे।

जीवमे जागृति और पुरुषार्थ चाहिये। कर्मबन्ध हो जानेके बाद भी उसमेसे (सत्तामेंसे उदय आनेसे पहले) छूटना हो तो अबाधाकाल पूर्ण होने तकमे छूटा जा सकता है।

पुण्य, पाप और आयु, ये किसी दूसरेको नही दिये जा सकते। उन्हें प्रत्येक स्वय ही भोगता है।

स्वच्छदसे, स्वमतिकल्पनासे और सद्गुरुकी आज्ञाके बिना ध्यान करना यह तरंगरूप है और उपदेश, व्याख्यान करना यह अभिमानरूप है।

देहधारी आत्मा पथिक है और देह वृक्ष है। इस देहरूपी वृक्षमे (वृक्षके नीचे) जीवरूपी पथिक—बटोही विश्रांति लेने बैठा है। वह पथिक वृक्षको ही अपना मानने लगे यह कैसे चलेगा?

'सुन्दरविलास' सुन्दर, अच्छा ग्रन्थ है। उसमें कहाँ कमी, भूल है उसे हम जानते हैं। वह कमी दूसरेकी समझमें आना मुश्किल है। उपदेशके लिये यह ग्रन्थ उपकारी है।

छः दर्शनोंपर दृष्टांत—छः भिन्न भिन्न वैद्योंकी दुकान है। उनमें एक वैद्य सम्पूर्ण सच्चा है। वह सब रोगोंको, उनके कारणोंको और उनके दूर करनेके उपायोंको जानता है। उसका निदान एवं चिकित्सा सच्चे होनेसे रोगीका रोग निर्मूल हो जाता है। वैद्य कमाई भी अच्छी करता है। यह देखकर दूसरे पाँच कूटवैद्य भी अपनी-अपनी दुकान खोलते हैं। उसमे जितनी सच्चे वैद्यके घरकी दवा अपने पास होती है उतना तो रोगीका रोग वे दूर करते हैं, और दूसरी अपनी कल्पनासे अपने घरकी दवा देते हैं, उससे उलटा रोग बढ़ जाता है; परन्तु दवा सस्ती देते हैं इसलिये लोभके मारे लोग लेनेके लिये बहुत ललचाते हैं, और उलटा नुकसान उठाते हैं।

इसका उपनय यह है कि सच्चा वैद्य वीतरागदर्शन है; जो सम्पूर्ण सत्य स्वरूप है। वह मोह, विषय आदिको, रागद्वेषको, हिंसा आदिको सम्पूर्ण दूर करनेको कहता है, जो विषयविवश रोगीको महँगा पड़ता है, अच्छा नही लगता। और दूसरे पाँच कूटवैद्य है वे कुदर्शन हैं, वे जितनी वीतरागके घरकी बातें करते हैं उस हद तक तो रोग दूर करनेकी बात है; परन्तु साथ साथ मोहकी, संसारवृद्धिकी, मिथ्यात्वकी, हिंसा आदिकी धर्मके बहानेसे बात करते हैं, वह अपनी कल्पनाकी है, और वह संसाररूप रोग दूर करनेके बदले वृद्धिका कारण होती है। विषयमे आसक्त पामर संसारीको मोहकी बाते तो मीठी लगती हैं, अर्थात् सस्ती पड़ती हैं, इसलिये कूट वैद्यकी तरफ आकर्षित होता है, परन्तु परिणाममे अधिक रोगी हो जाता है।

वीतरागदर्शन त्रिवैद्य जैसा है, अर्थात् (१) रोगीका रोग दूर करता है (२) नीरोगीको रोग होने नही देता, और (३) आरोग्यकी पुष्टि करता है। अर्थात् (१) सम्यग्दर्शनसे जीवका मिथ्यात्व रोग दूर करता है, (२) सम्यग्ज्ञानसे जीवको रोगका भोग होनेसे बचाता है और (३) सम्यक् चारित्रसे सम्पूर्ण शुद्ध चेतनारूप आरोग्यकी पुष्टि करता है।

---

३६ सं० १९५४

जो सर्व वासनाका क्षय करता है वह संन्यासी है। जो इन्द्रियोंको काबूमे रखता है वह गोसाईं है। जो संसारका पार पाता है वह यति (जति) है।

समकितीको आठ मदोंमेसे एक भी मद नही होता।

(१) अविनय, (२) अहंकार, (३) अर्धदग्धता—अपनेको ज्ञान न होते हुए भी अपनेको ज्ञानी मान बैठना, और (४) रसलुब्धता—इन चारमेसे एक भी दोष हो तो जीवको समकित नही होता, ऐसा श्री 'ठाणांगसूत्र'मे कहा है।

मुनिको व्याख्यान करना पड़ता हो तो स्वयं स्वाध्याय करता है ऐसा भाव रखकर व्याख्यान करे। मुनिको सवेरे स्वाध्यायकी आज्ञा है, उसे मनमे ही किया जाता है, उसके बदले व्याख्यानरूप स्वाध्याय ऊँचे स्वरसे, मान, पूजा, सत्कार, आहार आदिकी अपेक्षाके बिना केवल निष्काम बुद्धिसे आत्मार्थके लिये करे।

क्रोध आदि कषायका उदय हो, तब उसके विरुद्ध होकर उसे बताना कि तूने मुझे अनादि कालसे हैरान किया है। अब मैं इस तरह तेरा बल नही चलने दूँगा। देख, अब मैं तेरे विरुद्ध युद्ध करने बैठा हूँ।

निद्रा आदि प्रकृति, (क्रोध आदि अनादि वैरी), उनके प्रति क्षत्रियभावसे वर्तन करें, उन्हें अपमानित करें, फिर भी न मानें तो उन्हें क्रूर बनकर शांत करें, फिर भी न मानें तो ख्यालमें रखकर,

वक्त आनेपर उन्हे मार डालें। यों शूर क्षत्रियस्वभावसे वर्तन करें, जिससे वैरीका पराभव होकर समाधि-सुख मिले।

प्रभुपूजामे पुष्प चढ़ाये जाते हैं, उसमे जिस गृहस्थको हरी वनस्पतिका नियम नही है वह अपने हेतुसे उसका उपयोग कम करके प्रभुको फूल चढाये। त्यागी मुनिको तो पुष्प चढानेका अथवा उसके उपदेशका सर्वथा निषेध है ऐसा पूर्वाचार्योंका प्रवचन है।

कोई सामान्य मुमुक्षु भाई-बहन साधनके बारेमे पूछे तो ये साधन बतायें—

(१) सात व्यसनका त्याग।
(२) हरी वनस्पतिका त्याग।
(३) कंदमूलका त्याग।
(४) अभक्ष्यका त्याग।
(५) रात्रिभोजनका त्याग।
(६) 'सर्वज्ञदेव' और 'परमगुरु' की पाँच पाँच मालाओं-का जप।
(७) भक्तिरहस्य दोहाका[1] पठन मनन।
(८) क्षमापनाका पाठ[2]।
(९) सत्समागम और सत्शास्त्रका सेवन।

'सिज्झंति', फिर 'बुज्झंति', फिर 'मुच्चंति', फिर 'परिणिव्वायंति', फिर 'सव्वदुक्खाणमतंकरंति', इन शब्दोका रहस्यार्थ विचारने योग्य है। 'सिज्झंति' अर्थात् सिद्ध होते हैं, उसके बाद 'बुज्झंति' अर्थात् बोधसहित-ज्ञानसहित होते है ऐसा सूचित किया है। सिद्ध होनेके बाद कोई आत्माकी शून्य (ज्ञानरहित) दशा मानते है उसका निषेध बुज्झति'से किया गया। इस तरह सिद्ध और बुद्ध होनेके बाद 'मुच्चति' अर्थात् सर्व कर्मसे रहित होते है और उसके बाद 'परिणिव्वायंति' अर्थात् निर्वाण पाते हैं, कर्मरहित होनेसे फिर जन्म—अवतार धारण नही करते। मुक्त जीव कारणविशेषसे अवतार धारण करते हैं इस मतका 'परिणिव्वायति से निषेध सूचित किया है। भवका कारण कर्म, उससे सर्वथा जो मुक्त हुए हैं वे फिरसे भव धारण नही करते। कारणके बिना कार्य नहीं होता। इस तरह निर्वाणप्राप्त 'सव्वदुक्खाणमंतकरति' अर्थात् सर्व दु:खोका अत करते है, उनको दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है, वे सहज स्वाभाविक सुख आनन्दका अनुभव करते है। ऐसा कहकर मुक्त आत्माओंको शून्यता है, आनन्द नही है इस मतका निषेध सूचित किया है।

३७

'अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥'

अज्ञानरूपी तिमिर—अंधकारसे जो अंध हैं, उनके नेत्रोंको जिसने ज्ञानरूपी अंजनकी शलाका—अंजनकी सलाईसे खोला, उस श्री सद्गुरुको नमस्कार।

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥'

मोक्षमार्गके नेता—मोक्षमार्गमे ले जानेवाले, कर्मरूप पर्वतके भेत्ता—भेदन करनेवाले, और समग्र तत्त्वोंके ज्ञाता—जाननेवाले, उन्हे मैं उन गुणोकी प्राप्तिके लिये वन्दन करता हूँ।

यहाँ 'मोक्षमार्गके नेता' कहकर आत्माके अस्तित्वसे लेकर उसके मोक्ष और मोक्षके उपायसहित सभी पदों तथा मोक्षप्राप्तोका स्वीकार किया है तथा जीव, अजीव आदि सभी तत्त्वोंका स्वीकार किया है। मोक्ष बन्धकी अपेक्षा रखता है, बंध, बंधके कारणो—आस्रव, पुण्य-पाप कर्म और बँधनेवाले नित्य अविनाशी आत्माकी अपेक्षा रखता है। इसी तरह मोक्ष, मोक्षमार्गको, संवरकी, निर्जराकी, बंधके कारणों-

---

१. आक २६४ के बीस दोहे।
२. मोक्षमाला शिक्षापाठ ५६।

को दूर करनेरूप उपायकी अपेक्षा रखता है। जिसने मार्ग देखा, जाना, और अनुभव किया है वह नेता हो सकता है। अर्थात् मोक्षमार्गके नेता ऐसा कहकर उसे प्राप्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतरागका स्वीकार किया है। इस तरह मोक्षमार्गके नेता इस विशेषणसे जीव, अजीव आदि नवों तत्त्व, छहों द्रव्य, आत्माके अस्तित्व आदि छहो पद और मुक्त आत्माका स्वीकार किया है।

मोक्षमार्गका उपदेश करनेका, उस मार्गमे ले जानेका कार्य देहधारी साकार मुक्त पुरुष कर सकता है, देहरहित निराकार नही कर सकता ऐसा कहकर आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकता है, मुक्त हो सकता है, ऐसा देहधारी मुक्त पुरुष ही उपदेश कर सकता है ऐसा सूचित किया है, इससे देहरहित अपौरुषेय बोधका निषेध किया है।

'कर्मरूप पर्वतके भेदन करनेवाले' ऐसा कहकर यह सूचित किया है कि कर्मरूप पर्वतोको तोड़नेसे मोक्ष होता है; अर्थात् कर्मरूप पर्वतोको स्ववीर्य द्वारा देहधारीरूपसे तोडा, और इससे जीवन्मुक्त होकर मोक्षमार्गके नेता, मोक्षमार्गके बतानेवाले हुए। पुन. पुन. देह धारण करनेका, जन्म-मरणरूप संसारका कारण कर्म है, उसका समूल छेदन—नाश करनेसे पुनः उन्हे देह धारण करना नही रहता यह सूचित किया है। मुक्त आत्मा फिरसे अवतार नही लेते ऐसा सूचित किया है।

'विश्वतत्त्वके ज्ञाता'—समस्त द्रव्यपर्यायात्मक लोकालोकके—विश्वके जाननेवाले यह कहकर मुक्त आत्माकी अखड स्वपर-ज्ञायकता सूचित की है। मुक्त आत्मा सदा ज्ञानरूप ही है यह सूचित किया है।

'जो इन गुणोंसे सहित है उन्हे उन गुणोकी प्राप्तिके लिये मै वदन करता हूँ', यह कहकर परम आप्त, मोक्षमार्गके लिये विश्वास करने योग्य, वन्दन करने योग्य, भक्ति करने योग्य जिसकी आज्ञामे चलनेसे नि संशय मोक्ष प्राप्त होता है, उन्हे प्रगट हुए गुणोकी प्राप्ति होती है, वे गुण प्रगट होते है, ऐसा कौन होता है यह सूचित किया है। उपर्युक्त गुणोवाले मुक्त परम आप्त वन्दन योग्य होते है, उन्होने जो बताया वह मोक्षमार्ग है, और उनको भक्तिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, उन्हे प्रगट हुए गुण, उनकी आज्ञा-मे चलनेवाले भक्तिमानको प्रगट होते हैं यह सूचित किया है।

३८* श्री खेडा, द्वि० आसोज वदी, १९५४

प्र०—आत्मा है?

श्रीमद्ने उत्तर दिया—हाँ, आत्मा है।

प्र०—अनुभवसे कहते हैं कि आत्मा है?

उ०—हाँ, अनुभवसे कहते है कि आत्मा है। शक्करके स्वादका वर्णन नही हो सकता। वह तो अनुभवगोचर है, इसी तरह आत्माका वर्णन नही हो सकता, वह भी अनुभवगोचर है, परन्तु वह है ही।

प्र०—जीव एक है या अनेक है? आपके अनुभवका उत्तर चाहता हूँ।

उ०—जीव अनेक हैं।

प्र०—जड, कर्म यह वस्तुतः है या मायिक है?

उ०—जड, कर्म यह वस्तुत. है, मायिक नही है।

प्र०—पुनर्जन्म है?

उ०—हाँ, पुनर्जन्म है।

प्र०—वेदातको मान्य मायिक ईश्वरका अस्तित्व आप मानते हैं?

उ०—नही।

---

* श्री खेडाके एक वेदातविद् विद्वान वकील पचदशीके लेखक भट्ट पूंजाभाई सोमेश्वरका यह प्रसंग है।

प्र०—दर्पणमें पडनेवाला प्रतिबिंब मात्र खाली देखाव है या किसी तत्त्वका बना हुआ है ?
उ०—दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब मात्र खाली देखाव नही है, वह अमुक तत्त्वका बना हुआ है।

---

३९ मोरबी, माघ वदी ९, सोम (रातमें), १९५५

कर्मकी मूल प्रकृतियाँ आठ है; उनमे चार घातिनी और चार अघातिनी कही जाती हैं।

चार घातिनीका धर्म आत्माके गुणका घात करना है, अर्थात् (१) उस गुणका आवरण करना, अथवा (२) उस गुणके बल-वीर्यका निरोध करना, अथवा (३) उसे विकल करना है, और इसोलिये उस प्रकृतिको 'घातिनी' संज्ञा दी है।

जो आत्माके गुण ज्ञान और दर्शनका आवरण करता है उसे अनुक्रमसे (१) ज्ञानावरणीय और (१) दर्शनावरणीय नाम दिया है। अन्तराय प्रकृति इस गुणको आवरण नही करती, परन्तु उसके भोग, उपभोग आदिको, उसके बलवीर्यको रोकती है। यहां पर आत्मा भोग आदिको समझता है, जानता-देखता है, इसलिये आवरण नही है, परन्तु समझते हुए भी भोग आदिमे विघ्न-अन्तराय करती है, इसलिये उसे आवरण नही परंतु अंतराय प्रकृति कहा है।

इस तरह तीन आत्मघातिनी प्रकृतियाँ हुई। चौथी घातिनी प्रकृति मोहनीय है। यह प्रकृति आवरण नही करती, परन्तु आत्माको मूच्छित करके, मोहित करके विकल करती है। ज्ञान-दर्शन होते हुए भी, अंतराय न होते हुए भी आत्माको कभी विकल करती है, उलटा पट्टा बँधा देती है, व्याकुल कर देती है, इसलिये इसे मोहनीय कहा है। इस तरह ये चार सर्व घातिनी प्रकृतियाँ कही। दूसरी चार प्रकृतियाँ यद्यपि आत्माके प्रदेशोके साथ लगी हुई है तथा अपना कार्य किया करती है, और उदयके अनुसार वेदी जाती है, तथापि वे आत्माके गुणको आवरण करनेरूपसे या अंतराय करनेरूपसे या उसे विकल करनेरूपसे घातक नही है, इसलिये उन्हे आघातिनी कहा है।

४०

स्त्री, परिग्रह आदिमे जितना मूर्च्छाभाव रहता है उतना ज्ञानका तारतम्य न्यून है, ऐसा श्री तीर्थंकरने निरूपण किया है। सपूर्ण ज्ञानमे वह मूर्च्छा नही होती।

श्री ज्ञानीपुरुष ससारमे किस प्रकारसे रहते है ? आँखमे जेसे रज खटकती रहती है वैसे ज्ञानीको किसी कारणसे या उपाधि प्रसगसे कुछ हुआ हो तो वह मगजमे पाँच दस सर जितना बोझा हो पड़ता है। और उसका क्षय होता है तभी शान्ति होती है। स्त्री आदिके प्रसंगमे आत्माको अतिशय अतिशय समीपता एकदम प्रगटरूपसे भासित होती है।

सामान्यरूपसे स्त्री, चदन, आरोग्य आदिसे साता और ज्वर आदिसे असाता रहती है, वह ज्ञानी और अज्ञानी दोनोको समान है। ज्ञानीको उस उस प्रसंगमे हर्ष-विषादका हेतु नही होता।

४१*

चार गोलोंके दृष्टातसे जीवके चार प्रकारसे भेद हो सकते है।

१ मोमका गोला।

२. लाखका गोला।

३. लकडीका गोला।

४. मिट्टीका गोला।

---

* खंभातके श्री अबालालभाईकी लिखी नोटमेसे।

१. प्रथम प्रकारके जीव मोमके गोले जैसे कहे हैं।

मोमका गोला जिस तरह ताप लगनेसे पिघल जाता है, और फिर ठण्डी लगनेसे वैसाका वैसा हो जाता है; उसी तरह संसारी जीवको सत्पुरुषका बोध सुनकर संसारसे वैराग्य हुआ, वह असार संसारकी निवृत्तिका चिंतन करने लगा, कुटुम्बके पास आकर कहता है कि इस असार संसारसे मैं निवृत्त होना चाहता हूँ। इस बातको सुनकर कुटुम्बी कोपयुक्त हुए। अबसे तू इस तरफ मत जाना। अब जायेगा तो तेरेपर सख्ती करेंगे, इत्यादि कहकर सन्तका अवर्णवाद बोलकर वहाँ जाना रोक दें। इस प्रकार कुटुम्बके भयसे, लज्जासे जीव सत्पुरुषके पास जानेसे रुक जाये, और फिर ससार कायमे प्रवृत्ति करने लगे। ये प्रथम प्रकारके जीव कहे हैं।

२ दूसरे प्रकारके जीव लाखके गोले जैसे कहे है।

लाखका गोला तापसे नही पिघल जाता परन्तु अग्निसे पिघल जाता है। इस तरहका जीव संतका बोध सुनकर संसारसे उदासीन होकर यह चिन्तन करे कि इस दुःखरूप ससारसे निवृत्त होना है, ऐसा चिन्तन करके कुटुम्बके पास जाकर कहे कि 'मै ससारसे निवृत्त होना चाहता हूँ। मुझे यह झूठ बोलकर व्यापार करना अनुकूल नही आयेगा,' इत्यादि कहनेके बाद कुटुम्बीजन उसे सख्ती और स्नेहके वचन कहे तथा स्त्रीके वचन उसे एकातके समयमे भोगमे तदाकार कर डालें। स्त्रीका अग्निरूप शरीर देखकर दूसरे प्रकारके जीव तदाकार हो जायें। सन्तके चरणसे दूर हो जायें।

३. तीसरे प्रकारके जीव काष्ठके गोले जैसे कहे है।

वह जीव संतका बोध सुनकर संसारसे उदास हो गया। यह ससार असार है, ऐसा विचार करता हुआ कुटुम्ब आदिके पास आकर कहता है कि 'इस असार संसारसे मै खिन्न हुआ हूँ। मुझे ये कार्य करने ठीक नही लगते।' ये वचन सुनकर कुटुम्बी उसे नरमीसे कहते है, 'भाई, अपने लिये तो निवृत्ति जैसा है।' उसके बाद स्त्री आकर कहती है—'प्राणपति! मै तो आपके बिना पल भी नही रह सकती। आप मेरे जीवनके आधार हैं।' इस तरह अनेक प्रकारसे भोगमे आसक्त करनेके लिये अनेक पदार्थोंकी वृद्धि करते हैं, उसमें तदाकार होकर संतके वचन भूल जाता है। अर्थात् जैसे काष्ठका गोला अग्निमे डालनेके बाद भस्म हो जाता है, वैसे स्त्रीरूप अग्निमे पड़ा हुआ जीव उसमे भस्म हो जाता है। इससे संतके बोधका विचार भूल जाता है। स्त्री आदिके भयसे सत्समागम नही कर सकता, जिससे वह जीव दावानलरूप स्त्री आदि अग्निमें फँस कर, विशेष विशेष विडम्बना भोगता है। ये तीसरे प्रकारके जीव कहे हैं।

४. चौथे प्रकारके जीव मिट्टीके गोले जैसे कहे है।

वह पुरुष सत्पुरुषका बोध सुनकर इंद्रियके विषयकी उपेक्षा करता है। संसारसे महा भय पाकर उससे निवृत्त होता है। उस प्रकारका जीव कुटुम्ब आदिके परिषहसे चलायमान नही होता। स्त्री आकर कहे—'प्यारे प्राणनाथ! इस भोगमे जैसा स्वाद है वैसा स्वाद उसके त्यागमे नही है।' इत्यादि वचन सुनकर महा उदास होता हैं, विचारता है कि इस अनुकूल भोगसे यह जीव बहुत बार भूला है। ज्यों ज्यों उसके वचन सुनता है त्यो त्यों महा वैराग्य उत्पन्न होता है। और इसलिये सर्वथा संसारसे निवृत्त होता है। मिट्टीका गोला अग्निमे पड़नेसे विशेष विशेष कठिन होता है, उसी तरह वैसे पुरुष संतका बोध सुनकर संसारमे नही पड़ते। वे चौथे प्रकारके जीव कहे हैं।

९५७

[1]उपदेश छाया

१ काविठा, श्रावण वदी २, १९५२

स्त्री, पुत्र, परिग्रह आदि भावोके प्रति मूल ज्ञान होनेके बाद यदि ऐसी भावना रहे कि 'जब मैं चाहूँगा तब इन स्त्री आदिके प्रसंगका त्याग कर सकूँगा' तो यह मूल ज्ञानसे वंचित कर देनेकी बात समझें; अर्थात् मूल ज्ञानमे यद्यपि भेद नही पडता परतु आवरणरूप हो जाता है। तथा शिष्य आदि अथवा भक्ति करनेवाले मार्गसे च्युत हो जायेंगे अथवा रुक जायेंगे, ऐसी भावनासे यदि ज्ञानी पुरुष भी वर्तन करे तो ज्ञानीपुरुषको भी निरावरणज्ञान आवरणरूप हो जाता है, और इसीलिये वर्धमान आदि ज्ञानीपुरुष साढे बारह वर्ष तक अनिद्रित ही रहे; सर्वथा असगताको ही उन्होने श्रेयस्कर समझा, एक शब्दके उच्चार करनेको भी यथार्थ नही माना, एकदम निरावरण, निर्योग, निर्भोग और निर्भय ज्ञान होनेके बाद उपदेश-कार्य किया। इसलिये 'इसे इस तरह कहेगे तो ठीक है अथवा इसे इस तरह न कहा जाये तो मिथ्या है' इत्यादि विकल्प साधु-मुनि न करें।

निर्ध्वंसपरिणाम अर्थात् आक्रोश परिणामपूर्वक घातकता करते हुए जिसमें चिंता अथवा भय और भवभीरुता न हो वैसा परिणाम।

आधुनिक समयमे मनुष्योकी कुछ आयु बचपनमे जाती है, कुछ स्त्रीके पास जाती है, कुछ निद्रामें जाती है, कुछ धंधेमे जाती है, और जो थोडी रहती है उसे कुगुरु लूट लेता है। तात्पर्य कि मनुष्यभव निरर्थक चला जाता है।

लोगोको कुछ झूठ बोलकर सद्गुरुके पास सत्संगमे आनेकी जरूरत नही है। लोग यों पूछें, 'कौन पधारे हैं?' तो स्पष्ट कहें, 'मेरे परम कृपालु सद्गुरु पधारे हैं। उनके दर्शनके लिये जानेवाला हूँ।' तब कोई कहे, 'मैं आपके साथ आऊँ?' तब कहे, 'भाई, वे कुछ अभी उपदेश देनेका कार्य करते नहीं हैं। और

---

१. स० १९५२ के श्रावण-भाद्रपद मासमे आणदके आसपास काविठा, राळज, वडवा आदि स्थलोमें श्रीमद्का निवृत्तिके लिये रहना हुआ था। उस समय उनके समीपवासी भाई श्री अबालाल लालचदने प्रास्ताविक उपदेश अथवा विचारोंका श्रवण किया था, जिसकी छाया मात्र उनकी स्मृतिमे रह गयी थी उसके आधारसे उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थलोमे उस छायाका सार संक्षेपमे लिख लिया था उसे यहाँ देते हैं।

एक मुमुक्षुभाईका यह कहना है कि श्री अबालालभाईने लिखे हुए इस उपदेशके भागको भी श्रीमद्से पढवाया था और श्रीमद्ने उसमें कही कही सुधार किया था।

आपका हेतु ऐसा है कि वहाँ जायेंगे तो कुछ उपदेश सुनेंगे। परंतु वहाँ कुछ उपदेश देनेका नियम नही है।' तब वह भाई पूछे, 'आपको उपदेश क्यों दिया ?' तो कहे 'मेरा प्रथम उनके समागममे जाना हुआ था और उस समय धर्मसंबंधी वचन सुने थे कि जिससे मुझे ऐसा विश्वास हुआ कि ये महात्मा हैं। यो पहचान होनेसे मैंने उन्हे ही अपना सद्गुरु मान लिया है।' तब वह यो कहे, 'उपदेश दें या न दें परंतु मुझे तो उनके दर्शन करने हैं।' तब कहे, 'कदाचित्, उपदेश न दे तो आप विकल्प न करें।' ऐसा करते हुए भी जब वह आये तब तो हरीच्छा। परंतु आप स्वयं कुछ वैसी प्रेरणा न करे कि चलो, वहाँ तो बोध मिलेगा, उपदेश मिलेगा। ऐसी भावना न स्वयं करें और न दूसरेको प्रेरणा करें।

---

२ काविठा, श्रावण वदी ३, १९५२

प्र०—केवलज्ञानीने जो सिद्धातोंका निरूपण किया है वह 'पर-उपयोग' है या 'स्व-उपयोग' ? शास्त्र में कहा है कि केवलज्ञानी स्व-उपयोगमे ही रहते हैं।

उ०—तीर्थंकर किसीको उपदेश दें तो इससे कुछ 'पर-उपयोग' नही कहा जाता। 'पर-उपयोग' उसे कहा जाता है कि जिस उपदेशको देते हुए रति, अरति, हर्ष और अहंकार होते हों। ज्ञानीपुरुषको तो तादात्म्यसंबध नही होता जिससे उपदेश देते हुए रति-अरति नही होते। रति-अरति हो तो 'पर-उपयोग' कहा जाता है। यदि ऐसा हो तो केवली लोकालोक जानते हैं, देखते हैं वह भी 'पर-उपयोग' कहा जायेगा। परंतु ऐसा नही है, क्योकि उनमें रति-अरति भाव नहीं है।

सिद्धातकी रचनाके विषयमे यो समझे कि अपनी बुद्धि न पहुँचे तो इससे वे वचन असत् हैं, ऐसा न कहें; क्योंकि जिसे आप असत् कहते हैं, उसी शास्त्रसे ही पहले तो आपने जीव, अजीव ऐसा कहना सीखा हैं, अर्थात् उन्ही शास्त्रोके आधारसे ही, आप जो कुछ जानते हैं उसे जाना है, तो फिर उसे असत् कहना, यह उपकारके बदले दोष करनेके बराबर है। फिर शास्त्रके लिखनेवाले भी विचारवान थे; इसलिये वे सिद्धातके बारेमें जानते थे। महावीरस्वामीके बहुत वर्षोंके बाद सिद्धात लिखे गये हैं, इसलिये उन्हे असत् कहना दोष गिना जायेगा।

अभी सिद्धांतोंकी जो रचना देखनेमे आती है, उन्ही अक्षरोमे अनुक्रमसे तीर्थंकरने कहा हो यह बात नही है। परतु जैसे किसी समय किसीने वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा संबंधी पूछा तो उस समय तत्संबधी बात कही। फिर किसीने पूछा कि धर्मकथा कितने प्रकारकी है तो कहा कि चार प्रकारकी—आक्षेपणी, विक्षेपणी, निर्वेदणी, संवेगणी। इस इस प्रकारकी बातें होती है उसे उनके पास जो गणधर होते हैं वे ध्यानमे रख लेते हैं, और अनुक्रमसे उसकी रचना करते है। जैसे यहाँ कोई बात करनेसे कोई ध्यानमे रखकर अनुक्रमसे उसकी रचना करता है वैसे। बाकी तीर्थंकर जितना कहे उतना कही उनके ध्यानमें नही रहता, अभिप्राय ध्यानमे रहता है। फिर गणधर भी बुद्धिमान थे, इसलिये उन तीर्थंकर द्वारा कहे हुए वाक्य कुछ उनमें नही आये, यह बात भी नही है।

सिद्धांतोके नियम इतने अधिक सख्त हैं, फिर भी यति लोगोंको उनसे विरुद्ध आचरण करते हुए देखते हैं। उदाहरणके लिये, कहा है कि साधुको तेल नही डालना चाहिये, फिर भी वे डालते हैं। इससे कुछ ज्ञानीकी वाणीका दोष नही है, परंतु जीवकी समझशक्तिका दोष है। जीवमे सद्बुद्धि न हो तो प्रत्यक्ष योगमे भी उसे उलटा ही प्रतीत होता है, और जीवमें सद्बुद्धि हो तो सुलटा मालूम होता है।

ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेवाले भद्रिक मुमुक्षुजीवको, यदि गुरुने ब्रह्मचर्यके पालने अर्थात् स्त्री आदिके प्रसंगमें न जानेकी आज्ञा की हो, तो उस वचनपर दृढ विश्वास कर वह उस उस स्थानमें नहीं जाता; तब जिसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र आदि पढकर मुमुक्षुता हुई हो, उसे ऐसा अहंकार रहा करता है, कि 'इसमें

भला क्या जीतना है ?' ऐसे पागलपनके कारण वह वैसे स्त्री आदिके प्रसंगमें जाता है। कदाचित् उस प्रसंगसे एक-दो बार बच भी जाये परन्तु बादमे उस पदार्थकी ओर दृष्टि करते हुए 'यह ठीक है', ऐसे करते करते उसे उसमे आनंद आने लगता है, और इससे स्त्रियोंका सेवन करने लग जाता है। भोलाभाला जीव तो ज्ञानीकी आज्ञानुसार वर्तन करता है, अर्थात् वह दूसरे विकल्प न करते हुए वैसे प्रसगमे जाता ही नही। इस प्रकार, जिस जीवको, 'इस स्थानमे जाना योग्य नहीं' ऐसे ज्ञानीके वचनोंका दृढ़ विश्वास है वह ब्रह्मचर्य व्रतमे रह सकता है, अर्थात् वह इस अकार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। तो फिर जो ज्ञानीके आज्ञाकारी नही है ऐसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र पढकर होनेवाले मुमुक्षु अहंकारमे फिरा करते हैं और माना करते हैं कि 'इसमे भला क्या जीतना है ?' ऐसी मान्यताके कारण ये जीव पतित हो जाते हैं, और आगे नहीं बढ सकते। यह क्षेत्र है वह निवृत्तिवाला है, परन्तु जिसे निवृत्ति हुई हो उसे वैसा है। उसी तरह जो सच्चा ज्ञानी है उसके सिवाय अन्य कोई अब्रह्मचर्यवश न हो, यह तो कथन मात्र है। और जिसे निवृत्ति नही हुई उसे प्रथम तो यों होता है कि 'यह क्षेत्र अच्छा है, यहाँ रहने जैसा है', परन्तु फिर यो करते करते विशेष प्रेरणा होनेसे क्षेत्राकारवृत्ति हो जाती है। ज्ञानीकी वृत्ति क्षेत्राकार नही होती, क्योंकि क्षेत्र निवृत्तिवाला है, और स्वय भी निवृत्ति भावको प्राप्त हुए हैं, इसलिये दोनो योग अनुकूल है। शुष्कज्ञानियोको प्रथम तो यो अभिमान रहा करता है, कि 'इसमे भला क्या जीतना है ?' परन्तु फिर धीरे धीरे वे स्त्री आदि पदार्थोमे फँस जाते है; जब कि सच्चे ज्ञानीको वैसा नही होता।

प्राप्त = ज्ञानप्राप्त पुरुष। आप्त = विश्वास करने योग्य पुरुष।

मुमुक्षुमात्रको सम्यग्दृष्टि जीव नही समझना चाहिये।

जीवको भुलानेके स्थान बहुत है, इसलिये विशेष-विशेष जागृति रखें, व्याकुल न हो; मदता न करे, और पुरुषार्थधर्मको वर्धमान करे।

जीवको सत्पुरुषका योग मिलना दुर्लभ है। अपारमार्थिक गुरुको, यदि अपना शिष्य दूसरे धर्ममें चला जाये तो बुखार चढ़ जाता है। पारमार्थिक गुरुको 'यह मेरा शिष्य है', ऐसा भाव नही होता। कोई कुगुरु-आश्रित जीव बोधश्रवणके लिये सद्गुरुके पास एक बार गया हो, और फिर वह अपने उस कुगुरुके पास जाये, तो वह कुगुरु उस जीवके मनपर अनेक विचित्र विकल्प अकित कर देता है कि जिससे वह जीव फिर सद्गुरुके पास न जाये। उस बेचारे जीवको तो सत्-असत् वाणीकी परीक्षा नही है, इसलिये वह धोखा खा जाता है, और सच्चे मार्गसे पतित हो जाता है।

---

३ काविठा (महुडी), श्रावण वदी ४, १९५२

तीन प्रकारके ज्ञानीपुरुष है—प्रथम, मध्यम, और उत्कृष्ट। इस कालमे ज्ञानीपुरुषकी परम दुर्लभता है, तथा आराधक जीव भी बहुत कम है।

पूर्वकालमे जीव आराधक और संस्कारी थे, तथारूप सत्सगका योग था, और सत्संगके माहात्म्यका विसर्जन नही हुआ था, अनुक्रमसे चला आता था, इसलिये उस कालमे उन संस्कारी जीवोको सत्पुरुषकी पहचान हो जाती थी।

इस कालमे सत्पुरुषकी दुर्लभता है, बहुत कालसे सत्पुरुषका मार्ग, माहात्म्य और विनय क्षीणसे हो गये हैं और पूर्वके आराधक जीव कम हो गये हैं, इसलिये जीवको सत्पुरुषको पहचान तत्काल नही होती। बहुतसे जीव तो सत्पुरुषका स्वरूप भी नहीं समझते। या तो छकायके रक्षक साधुको, या तो शास्त्र पढे हुएको, या तो किसी त्यागीको और या तो चतुरको सत्पुरुष मानते हैं, परन्तु यह यथार्थ नहीं है।

सत्पुरुषके सच्चे स्वरूपको जानना आवश्यक है। मध्यम सत्पुरुष हो तो शायद थोडे समयमें उसकी पहचान होना सम्भव है, क्योंकि वह जीवकी इच्छाके अनुकूल वर्तन करता है, सहज बातचीत करता है और आदरभाव रखता है, इसलिये जीवको प्रीतिका कारण हो जाता है। परन्तु उत्कृष्ट सत्पुरुषको तो वैसी भावना नही होती अर्थात् निःस्पृहता होनेसे वे वैसा भाव नहीं रखते, इसलिये या तो जीव रुक जाता है या दुविधामें पड़ जाता है अथवा उसका जो होना हो सो होना है।

जैसे बने वैसे सद्वृत्ति और सदाचारका सेवन करे। ज्ञानीपुरुष कोई व्रत नही देते अर्थात् जब प्रगट मार्ग कहे और व्रत देनेकी बात करे तब व्रत अगीकार करे। परन्तु तब तक यथाशक्ति सद्व्रत और सदाचारका सेवन करनेमे तो ज्ञानीपुरुषकी सदैव आज्ञा है। दंभ, अहकार, आग्रह, कोई भी कामना, फलकी इच्छा और लोक दिखावेकी बुद्धि ये सब दोष है उनसे रहित होकर व्रत आदिका सेवन करें, उनकी किसी भी संप्रदाय या मतके व्रत, प्रत्याख्यान आदिके साथ तुलना न करें, क्योंकि लोग जो व्रत पच्चक्खान आदि करते हैं उनमे उपर्युक्त दोष होते है। हमे तो उन दोषोसे रहित और आत्मविचारके लिये करने है, इसलिये उनके साथ कभी भी तुलना न करें।

उपर्युक्त दोषोको छोडकर सभी सद्वृत्ति और सदाचारका उत्तम प्रकारसे सेवन करें।

जो निर्दंभतासे, निरहंकारतासे और निष्कामतासे सद्व्रत करता है उसे देखकर अड़ोसी-पडोसी और दूसरे लोगोंको भी उसे अंगीकार करनेका भान होता है। जो कुछ भी सद्व्रत करें वह लोकदिखावेके लिये नहीं अपितु मात्र अपने हितके लिये करें। निर्दंभतासे होनेसे लोगोंपर उसका असर तुरन्त होता है।

कोई भी दंभसे दालमे ऊपरसे नमक न लेता हो और कहे कि 'मैं ऊपरसे कुछ नही लेता, क्या नही चलता? इससे क्या?' इससे कुछ लोगोपर असर नही होता। और जो किया हो वह भी उलटा कर्मबंधके लिये हो जाता है। इसलिये यों न करते हुए निर्दंभतासे और उपर्युक्त दूषण छोडकर व्रत आदि करें।

प्रतिदिन नियमपूर्वक आचारांग आदि पढा करें। आज एक शास्त्र पढा और कल दूसरा पढा यों न करते हुए क्रमपूर्वक एक शास्त्रको पूरा करें। आचारागसूत्रमे कितने ही आशय गम्भीर है, सूत्रकृतागमे भी गम्भीर है, उत्तराध्ययनमे भी किमी किसी स्थलमें गम्भीर हैं। दशवैकालिक सुगम है। आचारागमें कोई स्थल सुगम है, परन्तु गम्भीर है। सूत्रकृताग किसी स्थलमे सुगम है, उत्तराध्ययन किसी जगह सुगम है; इसलिये नियमपूर्वक पढें। यथाशक्ति उपयोगपूर्वक गहराईमें जाकर हो सके उतना विचार कर।

देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रंथ और केवलीका प्ररूपित धर्म, इन तीनोकी श्रद्धाको जैनमे सम्यक्त्व कहा है। मात्र गुरु असत् होनेसे देव और धर्मका भान न था। सद्गुरु मिलनेसे उस देव और धर्मका भान हुआ। इसलिये सद्गुरुके प्रति आस्था यही सम्यक्त्व है। जितनी जितनी आस्था और अपूर्वता उतनी उतनी सम्यक्त्वकी निर्मलता समझें। ऐसा सच्चा सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी इच्छा, कामना सदैव रखें।

कभी भी दभसे या अहंकारसे आचरण करनेका जरा भी मनमे न लायें। जहां कहना योग्य हो वहाँ कहे, परन्तु सहज स्वभावसे कहे। मंदतासे न कहे और आक्रोशसे भी न कहें। मात्र सहज स्वभावसे शांतिपूर्वक कहे।

सद्व्रतका आचरण शूरतापूर्वक करे, मंद परिणामपूर्वक नही। जो जो आगार बताये हो, उन सबको ध्यानमे रखें, परन्तु भोगनेकी बुद्धिसे उनका भोग न करें।

सत्पुरुषकी तेंतीस आशातनाएँ आदि टालनेका कहा है, उनका विचार कीजिये। आशातना करनेकी बुद्धिसे आशातना करें। सत्संग हुआ है उस सत्संगका फल होना चाहिये। कोई भी अयोग्य आचरण हो जाये अथवा अयोग्य व्रत सेवित हो जाये वह सत्संगका फल नहीं है। सत्संग करनेवाले जीवसे वैसा

वर्तन नही होता, वैसा वर्तन करे तो लोकनिंदाका कारण होता है, और इससे सत्पुरुषकी निंदा होती है। और सत्पुरुषकी निंदा अपने निमित्तसे हो यह आशातनाका कारण अर्थात् अधोगतिका कारण होता है, इसलिये वैसा न करें।

सत्संग हुआ है उसका क्या परमार्थ ? सत्सग हुआ हो उस जोवकी कैसी दशा होनी चाहिये ? इसे ध्यानमे लें। पाँच वर्षका सत्संग हुआ है, तो उस सत्संगका फल जरूर होना चाहिये और जीवको तदनुसार चलना चाहिये। यह वर्तन जीवको अपने कल्याणके लिये ही करना चाहिये परन्तु लोक-दिखावेके लिये नही। जीवके वर्तनसे लोगोमे ऐसी प्रतीति हो कि इसे जो मिले है वह अवश्य ही कोई सत्पुरुष हैं। और उन सत्पुरुषके समागमका, सत्सगका यह फल है, इसलिये अवश्य ही वह सत्सग है इसमे सदेह नही।

वारवार बोध सुननेकी इच्छा रखनेकी अपेक्षा सत्पुरुषके चरणोके समीप रहनेकी इच्छा और चिंतना विशेष रखे। जो बोध हुआ है उसे स्मरणमे रखकर विचारा जाये तो अत्यन्त कल्याणकारक है।

---

४ राळज, श्रावण वदी ६, १९५२

भक्ति यह सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। भक्तिसे अहंकार मिटता है, स्वच्छंद दूर होता है, और सीधे मार्गमे चला जाता है, अन्य विकल्प दूर होते है। ऐसा यह भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है।

प्र०—आत्माका अनुभव किसे हुआ कहा जाता है ?

उ०—जिस तरह तलवार म्यानमेसे निकालनेपर भिन्न मालूम होती है उसी तरह जिसे आत्मा देहसे स्पष्ट भिन्न मालूम होता है उसे आत्माका अनुभव हुआ कहा जाता है। जिस तरह दूध और पानी मिले हुए है उसी तरह आत्मा और देह मिले हुए रहते हैं। जिस तरह दूध और पानी क्रिया करनेसे जब अलग हो जाते है तब भिन्न कहे जाते है, उसी तरह आत्मा और देह जब क्रियासे अलग हो जाते हैं तब भिन्न कहे जाते है। जब तक दूध दूधके और पानी पानीके परिणामको प्राप्त नही करता तब तक क्रिया करते रहना चाहिये। यदि आत्माको जान लिया हो तो फिर एक पर्यायसे लेकर सारे स्वरूप तककी भ्राति नही होती।

अपने दोष कम हो जायें, आवरण दूर हो जायें तभी समझें कि ज्ञानीके वचन सच्चे हैं।

आराधकता नही है इसलिये प्रश्न उलटे ही करता है। हमे भव्य-अभव्यकी चिंता नही रखनी चाहिये। अहो ! अहो !! अपने घरकी बात छोडकर बाहरकी बात करता है ! परन्तु वर्तमानमें जो उपकारक हो वही करें। इसलिये अभी तो जिससे लाभ हो वैसा धर्म व्यापार करें।

ज्ञान उसे कहते हैं जो हर्ष-शोकके समय उपस्थित रहे, अर्थात् हर्ष-शोक न हो।

सम्यग्दृष्टि हर्ष-शोक आदिके प्रसंगमे एकदम तदाकार नही होते। उनके निध्वंस परिणाम नहीं होते, अज्ञान खडा हो कि जाननेमे आनेपर तुरत ही दबा देते हैं, उनमे बहुत ही जागृति होती है। जैसे कोरा कागज पढता हो वैसे उन्हे हर्ष-शोक नही होते। भय अज्ञानका है। जैसे सिंह चला आता हो तो सिंहनीको भय नही लगता, परन्तु मनुष्य भयभीत होकर भाग जाता है। मानो वह कुत्ता चला आता हो ऐसे सिंहनीको लगता है। इसी तरह ज्ञानी पौद्गलिक संयोगको समझते है। राज्य मिलनेपर आनंद हो तो वह अज्ञान। ज्ञानीकी दशा बहुत ही अद्भुत है।

यथातथ्य कल्याण समझमे नहीं आया उसका कारण वचनको आवरण करनेवाला दुराग्रह भाव, कषाय है। दुराग्रह भावके कारण मिथ्यात्व क्या है यह समझमे नही आता; दुराग्रहको छोड़े कि मिथ्यात्व दूर भागने लगता है। कल्याणको अकल्याण और अकल्याणको कल्याण समझना मिथ्यात्व है। दुराग्रह आदि भावके कारण जीवको कल्याणका स्वरूप बतानेपर भी समझमें नही आता। कषाय, दुराग्रह आदि

छोडे न जायें तो फिर वे विशेष प्रकारसे पीड़ित करते हैं। कषाय सत्तारूपसे है, निमित्त आनेपर खड़े होते हैं, तब तक खडे नही होते।

प्र०—क्या विचार करनेसे समभाव आता है?

उ०—विचारवानको पुद्गलमे तन्मयता, तादात्म्य नही होता। अज्ञानी पौद्गलिक संयोगके हर्षका पत्र पढ़े तो उसका चेहरा प्रसन्न दिखायी देता है, और भयका पत्र आता है तो उदास हो जाता है। सर्प देखकर आत्मवृत्तिमे भयका हेतु हो तब तादात्म्य कहा जाता है। जिसे तन्मयता होती है उसे ही हर्ष-शोक होता है। जो निमित्त है वह अपना कार्य किये बिना नही रहता।

मिथ्यादृष्टिको बीचमे साक्षी (ज्ञानरूपी) नही है। देह और आत्मा दोनो भिन्न हैं ऐसा ज्ञानीको भेद हुआ है। ज्ञानीको बीचमे साक्षी है। ज्ञानजागृति हो तो ज्ञानके वेगसे, जो जो निमित्त मिले उन सबको पीछे मोड़ सकते है।

जीव जब विभाव-परिणाममे रहता है उस समय कर्म बाँधता है, और स्वभाव-परिणाममे रहता है उस समय कर्म नही बाँधता। इस तरह सक्षेपमे परमार्थ कहा है। परन्तु जीव नही समझता, इसलिये विस्तार करना पड़ा है, जिससे बड़े शास्त्रोंकी रचना हुई है।

स्वच्छंद दूर हो तभी मोक्ष होता है।

सद्गुरुकी आज्ञाके बिना आत्मार्थी जीवके श्वासोच्छ्वासके सिवाय अन्य कुछ भी नही चलता ऐसी जिनेन्द्रकी आज्ञा है।

प्र०—पांच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती है?

उ०—वस्तुओंपर तुच्छभाव लानेसे। जैसे फूल सूख जानेसे उसकी सुगध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और फूल मुरझा जाता है; उससे कुछ सन्तोष नही होता, वैसे तुच्छभाव आनेसे इन्द्रियोके विषयमे लुब्धता नही होती। पांच इंद्रियोमे जिह्वा इन्द्रियको वश करनेसे बाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं।

ज्ञानीपुरुषको शिष्यने प्रश्न पूछा, "बारह उपांग तो बहुत गहन है, और इसलिये वे मुझसे समझे नही जा सकते; अतः बारह उपांगका सार ही बतायें कि जिसके अनुसार चलूँ तो मेरा कल्याण हो जाये।" सद्गुरुने उत्तर दिया : बारह उपागका सार आपसे कहते है—"वृत्तियोंका क्षय करना।" ये वृत्तियाँ दो प्रकारकी कही है—एक बाह्य और दूसरी अंतर। बाह्यवृत्ति अर्थात् आत्मासे बाहर वर्तन करना। आत्माके अन्दर परिणमन करना, उसमे समा जाना, यह अंतर्वृत्ति। पदार्थकी तुच्छता भासमान हुई हो तो अतर्वृत्ति रहती है। जिस तरह थोडीसी कीमतके मिट्टीके घड़ेके फूट जानेके बाद उसका त्याग करते हुए आत्मवृत्ति क्षोभको प्राप्त नही होती, क्योकि उसमे तुच्छता समझी गयी है। इसी तरह ज्ञानीको जगतके सभी पदार्थ तुच्छ भासमान होते हैं। ज्ञानीको एक रुपयेसे लेकर सुवर्ण इत्यादि तक सब पदार्थोंमे एकदम मिट्टीपन ही भासित होता है।

स्त्री हड्डी मासका पुतला है ऐसा स्पष्ट जाना है, इसलिये विचारवानकी वृत्ति उसमे क्षुब्ध नही होती, फिर भी साधुको ऐसी आज्ञा की है कि जो हजारों देवांगनाओंसे चलित न हो सके ऐसा मुनि भी, कटे हुए नाक-कानवाली जो सौ बरसकी वृद्ध स्त्री है उसके समीप भी न रहे, क्योकि वह वृत्तिको क्षुब्ध करती ही है, ऐसा ज्ञानीने जाना है। साधुको इतना ज्ञान नहीं है कि वह उससे चलित हो न हो सके, ऐसा मानकर उसके समीप रहनेकी आज्ञा नही की। इस वचनपर ज्ञानीने स्वयं ही विशेष भार दिया है। इसीलिये यदि वृत्तियाँ पदार्थोंमे क्षोभ प्राप्त करें तो उन्हें तुरत ही खीच लेकर उन बाह्यवृत्तियोंका क्षय करें।

चौदह गुणस्थान हे वे अश-अशसे आत्माके गुण बताये हे, और अतमे वे कैसे है यह बताया है। जैसे एक हीरा है, उसके एक एक करके चौदह पहल बनाये तो अनुक्रमसे विशेष-विशेष काति प्रगट होती है, और चौदहों पहल बनानेसे अंतमे हीरेकी संपूर्ण स्पष्ट काति प्रगट होती है। इसी तरह सपूर्ण गुण प्रगट होनेसे आत्मा संपूर्णरूपसे प्रगट होता है।

चौदह पूर्वधारी ग्यारहवें गुणस्थानसे पतित होता है, उसका कारण प्रमाद है। प्रमादके कारणसे वह ऐसा मानता है कि 'अब मुझमे गुण प्रकट हुआ।' ऐसे अभिमानसे पहले गुणस्थानमे जा गिरता है; और अनंत कालका भ्रमण करना पडता हे। इसलिये जीव अवश्य जाग्रत रहे, क्योकि वृत्तियोका प्राबल्य ऐसा है कि वह हर तरहसे ठगता है।

ग्यारहवें गुणस्थानमे जीव गिरता है उसका कारण यह है कि वृत्तियाँ प्रथम तो जानती है कि 'अभी यह शूरतामे है इसलिये अपना बल चलनेवाला नही है', और इससे चुप होकर सब दबी रहती है। 'क्रोध कडवा है इसमे ठगा नही जायेगा, मानसे भी ठगा नहीं जायेगा, और मायाका बल चलने जैसा नहीं है,' ऐसा वृत्तियोंने समझा कि तुरत वहाँ लोभका उदय हो जाता है। 'मुझमे कैसे ऋद्धि, सिद्धि और ऐश्वर्य प्रगट हुए हे', ऐसी वृत्ति वहाँ आगे आनेसे उसका लोभ होनेसे जीव वहाँसे गिरता है और पहले गुणस्थानमे आता है।

इस कारणसे वृत्तियोका उपशम करनेकी अपेक्षा क्षय करना चाहिये ताकि ये फिरसे उद्भूत न हों। जब ज्ञानीपुरुष त्याग करानेके लिये कहे कि यह पदार्थ छोड़ दे तब वृत्ति भुलाती है कि ठीक है, मै दो दिन के बाद त्याग करूँगा। ऐसे भुलावेमे पडता है कि वृत्ति जानती है कि ठीक हुआ, अड़ीका चूका सौ वर्ष जीता है। इतनेमे शिथिलताके कारण मिल जाते हैं कि 'इसके त्यागसे रोगके कारण खडे होंगे, इसलिये अभी नहीं परतु बादमे त्याग करूँगा।' इस तरह वृत्तियाँ ठगती है।

इस प्रकार अनादिकालसे जीव ठगा जाता है। किसीका बीस बरसका पुत्र मर गया हो, उस समय उस जीवको ऐसी कडवाहट लगती है कि यह ससार मिथ्या है। परंतु दूसरे ही दिन बाह्यवृत्ति यह कहकर इस विचारका विस्मरण करा देती है कि 'इसका लड़का कल बड़ा हो जायेगा, ऐसा तो होता ही रहता है, क्या करे ?' ऐसा लगता है, परतु ऐसा नही लगता कि जिस तरह वह पुत्र मर गया, उसी तरह मैं भी मर जाऊँगा। इसलिये समझकर वैराग्य पाकर चला जाऊँ तो अच्छा है। ऐसी वृत्ति नही होती। यों वृत्ति ठग लेती है।

कोई अभिमानी जीव यो मान बैठता है कि 'मै पडित हूँ, शास्त्रवेत्ता हूँ, चतुर हूँ, गुणवान हूँ, लोग मुझे गुणवान कहते है', परतु उसे जब तुच्छ पदार्थका सयोग होता है तब तुरत ही उसकी वृत्ति उस ओर आकर्षित होती हे। ऐसे जीवको ज्ञानी कहते है कि तू जरा विचार तो सही कि उस तुच्छ पदार्थकी कीमतकी अपेक्षा तेरी कीमत तुच्छ है! जैसे एक पाईकी चार बीडी मिलती है, अर्थात् पाव पाईकी एक बीड़ी है। उस बीड़ीका यदि तुझे व्यसन हो तो तू अपूर्व ज्ञानीके वचन सुनता हो तो भी यदि वहाँ कहींसे बीड़ीका धुआँ आ गया कि तेरे आत्मामेसे वृत्तिका धुआँ निकलने लगता है, और ज्ञानीके वचनोपरसे प्रेम जाता रहता है। बीडी जैसे पदार्थमे, उसकी क्रियामे वृत्ति आकृष्ट होनेसे वृत्तिक्षोभ निवृत्त नही होता ! पाव पाईकी बीड़ीसे यदि ऐसा हो जाता है, तो व्यसनीकी कीमत उससे भी तुच्छ हुई, एक पाईके चार आत्मा हुए। इसलिये प्रत्येक पदार्थमे तुच्छताका विचार कर बाहर जाती हुई वृत्तिको रोकें; और उसका क्षय करे।

अनाथदासजीने कहा है कि 'एक अज्ञानीके करोड़ अभिप्राय हैं और करोड़ ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है।'

आत्माके लिये जो मोक्षका हेतु है वह 'सुपच्चक्खान'। आत्माके लिये जो संसारका हेतु है वह 'दुपच्चक्खान'। ढूंढिया और तपा कल्पना करके जो मोक्ष जानेका मार्ग कहते हैं तदनुसार तो तीनों काल-मे मोक्ष नही है।

उत्तम जाति, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और सत्सग इत्यादि प्रकारसे आत्मगुण प्रकट होता है।

आपने माना है वैसा आत्माका मूल स्वभाव नही है, और आत्माको कर्मने कुछ एकदम आवृत नही कर डाला है। आत्माके पुरुषार्थधर्मका मार्ग बिलकुल खुला है।

बाजरे अथवा गेहूँके एक दानेको लाख वर्ष तक रख छोड़ा हो (सड जाये यह बात हमारे ध्यानमे है) परतु यदि उसे पानी, मिट्टी आदिका सयोग न मिले तो उसका उगना सम्भव नही है, उसी तरह सत्संग और विचारका योग न मिले तो आत्मगुण प्रगट नही होता।

श्रेणिक राजा नरकमे है, परंतु समभावमे है, समकिती है, इसलिये उन्हे दुःख नही है।

चार लकडहारोंके दृष्टान्तसे चार प्रकारके जीव है :—चार लकडहारे जगलमे गये। पहले सबने लकड़ियाँ ली। वहाँसे आगे चले कि चदन आया। वहाँ तीनने चदन ले लिया। एकने कहा 'ना मालूम इस तरहकी लकड़ियाँ बिकें या नही, इसलिये मुझे तो नही लेनी है। हम जो रोज लेते है वही मुझे तो अच्छी है।' आगे चलनेपर सोना-चाँदी आया। तीनमेसे दोने चंदन फेंककर सोना-चाँदी लिया, एकने नही लिया। वहाँसे आगे चले कि रत्नचिंतामणि आया। दोमेसे एकने सोना फेंककर रत्नचितामणि लिया, एकने सोना रहने दिया।

(१) यहाँ इस तरह दृष्टांतका उपनय ग्रहण करे कि जिसने लकडियाँ ही ली और दूसरा कुछ भी नही लिया उस प्रकारका एक जीव है कि जिसने लौकिक काम करते हुए ज्ञानीपुरुषको नही पहचाना, दर्शन भी नही किया, इससे उसके जन्म-जरा-मरण भी दूर नही हुए, गति भी नही सुधरी।

(२) जिसने चदन लिया और लकडियाँ फेंक दी, वहाँ दृष्टांत यों घटित करे कि जिसने थोड़ा-सा ज्ञानीको पहचाना, दर्शन किये, जिससे उसकी गति अच्छी हुई।

(३) सोना आदि लिया, इस दृष्टातको यों घटित करे कि जिसने ज्ञानीको उस प्रकारसे पहचाना इसलिये उसे देवगति प्राप्त हुई।

(४) जिसने रत्नचितामणि लिया, इस दृष्टातको यो घटित करें कि जिस जीवको ज्ञानीकी यथार्थ पहचान हुई वह जीव भवमुक्त हुआ।

एक वन है। उसमे माहात्म्यवाले पदार्थ है। उनकी जितनी पहचान होती है उतना माहात्म्य लगता है, और उसी प्रमाणमे वह उसे ग्रहण करता है। इस तरह ज्ञानीपुरुषरूपी वन है। ज्ञानी पुरुषका अगम्य, अगोचर माहात्म्य है। उसकी जितनी पहचान होती है उतना उसका माहात्म्य लगता है; और उस उस प्रमाणमे उसका कल्याण होता है।

सांसारिक खेदके कारणोको देखकर जीवको कडवाहट मालूम होते हुए भी वह वैराग्यपर पैर रख-कर चला जाता है, परंतु वैराग्यमे प्रवृत्ति नही करता।

लोग ज्ञानीको लोकदृष्टिसे देखें तो पहचान नही सकते।

आहार आदिमे भी ज्ञानीपुरुषकी प्रवृत्ति बाह्य रहती है। किस तरह ? जो घड़ा ऊपर (आकाशमे) है, और पानीमे नीचे रहकर, पानीमे दृष्टि रखकर, बाण साधकर उस (ऊपरके घडे) को बींधना है। लोग समझते है कि बींधनेवालेकी दृष्टि पानीमे है, परन्तु वास्तवमें देखें तो जिस घडेको बींधना है उसका लक्ष्य करनेके लिये बींधनेवालेकी दृष्टि आकाशमे है। इस तरह ज्ञानीकी पहचान किसी विचारवानको होती है।

दृढ़ निश्चय करे कि बाहर जाती हुई वृत्तियोका क्षय करके अंतर्वृत्ति करना, अवश्य यही ज्ञानीकी आज्ञा है।

स्पष्ट प्रीतिसे ससारका व्यवहार करनेकी इच्छा होती हो तो समझना कि ज्ञानीपुरुषको देखा नही है। जिस प्रकार प्रथम ससारमे रससहित वर्तन करता हो उस प्रकार, ज्ञानीका योग होनेके बाद वर्तन न करे, यही ज्ञानीका स्वरूप है।

ज्ञानीको ज्ञानदृष्टिमे, अतर्दृष्टिसे देखनेके बाद स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न नही होता, क्योकि ज्ञानी-का स्वरूप विषयसुखकल्पनासे भिन्न है। जिसने अनंत सुखको जाना हो उसे राग नही होता, और जिसे राग नही होता उसीने ज्ञानीको देखा है और उसीने ज्ञानीपुरुषके दर्शन किये है, फिर स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूपसे भासित हुए बिना नही रहता, क्योकि ज्ञानीके वचनोको यथार्थरूपसे सत्य जाना है। ज्ञानीके समीप देह और आत्माका भिन्न—पृथक् पृथक् जाना है, उसे देह और आत्मा भिन्न-भिन्न भासित होते है, और इससे स्त्रीका शरीर और आत्मा भिन्न भासित होते है। उसने स्त्रीके शरीरको मांस, मिट्टी, हड्डी आदिका पुतला समझा है इसलिये उसमे राग उत्पन्न नही होता।

सारे शरीरका बल, ऊपर-नीचेका दोनो कमरके ऊपर है। जिसकी कमर टूट गई है उसका सारा बल चला गया। विषयादि जीवकी तृष्णा है। ससाररूपी शरीरका बल इस विषयादि रूप कमरके ऊपर है। ज्ञानीपुरुषका बोध लगनेमे विषयादि रूप कमर टूट जाती है। अर्थात् विषयादिकी तुच्छता लगती है; और इस प्रकार संसारका बल घटता है, अर्थात् ज्ञानीपुरुषके बोधमे ऐसा सामर्थ्य है।

श्री महावीरस्वामीको सगम नामके देवताने बहुत ही, प्राणत्याग होनेमे देर न लगे ऐसे परिषह दिये। उस समय कैसी अद्भुत समता! उस समय उन्होने विचार किया कि जिनके दर्शन करनेसे कल्याण होता है, नामस्मरण करनेसे कल्याण होता है, उनके सगमे आकर इस जीवको अनन्त संसार बढनेका कारण होता है! ऐसी अनुकम्पा आनेसे आँखमे आसू आ गये। कैसी अद्भुत समता! परकी दया किस तरह फूट निकली थी! उस समय मोहराजाने यदि जरा धक्का लगाया होता तो तो तुरत ही तीर्थंकरत्वका संभव न रहता, यद्यपि देवता तो भाग जाता। परन्तु जिसने मोहनीय मलका मूलसे नाश किया है, अर्थात् मोहको जीता है, वह मोह कैसे करे?

श्री महावीरस्वामीके समीप गोशालेने आकर दो साधुओको जला डाला, तब यदि थोड़ा ऐश्वर्य बताकर साधुओकी रक्षा की होती तो तीर्थंकरत्वको फिरसे करना पडता, परन्तु जिसे 'मै गुरु हूँ, ये मेरे शिष्य है', ऐसी भावना नही है उसे वैसा कोई प्रकार नही करना पडता। 'मै शरीर-रक्षणका दातार नही हूँ, केवल भाव-उपदेशका दातार हूँ, यदि मै रक्षा करूँ तो मुझे गोशालेकी रक्षा करनी चाहिये अथवा सारे जगतकी रक्षा करनी उचित है', ऐसा सोचा। अर्थात् तीर्थंकर यों ममत्व करते ही नही।

वेदातमे इस कालमे चरमशरीरी कहा है। जिनेन्द्रके अभिप्रायके अनुसार भी इस कालमे एकाव-तारी जीव होता है। यह कुछ मामूली बात नही है क्योकि इसके बाद कुछ मोक्ष होनेमे अधिक देर नहीं है। जरा कुछ बाकी रहा हो, रहा है वह फिर सहजमे चला जाता है। ऐसे पुरुषकी दशा, वृत्तियाँ कैसी होती है? अनादिकी बहुतसी वृत्तियाँ शात हो गयी होती हैं; और इतनी अधिक शांत हो गयी होती हैं कि रागद्वेष सब नष्ट होने योग्य हो जाते है, उपशात हो जाते है।

सद्वृत्तियाँ होनेके लिये जो-जो कारण, साधन बताये हुए होते हैं उन्हे न करनेको ज्ञानी कभी नहीं कहते। जैसे रातमे खानेसे हिंसाका कारण होता है, इसलिये ज्ञानी आज्ञा करते ही नहीं कि तू रातमें खा। परन्तु जो जो अहंभावसे आचरण किया हो, और रात्रिभोजनसे ही अथवा अमुकसे ही मोक्ष हो, अथवा इसमे ही मोक्ष है, ऐसा दुराग्रहसे माना हो तो वैसे दुराग्रहोको छुड़ानेके लिये ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि

'छोड दे, तूने अहंवृत्तिसे जो किया था उसे छोड दे और ज्ञानी पुरुषोकी आज्ञासे वैसा कर।' और वैसा करे तो कल्याण होता है। अनादिकालसे दिनमे और रातमे खाया है परन्तु जीवका मोक्ष नही हुआ।

इस कालमे आराधकताके कारण घटते जाते हैं, और विराधकताके लक्षण बढते जाते है।

केशीस्वामी बड़े थे, और पार्श्वनाथस्वामीके शिष्य थे, तो भी पांच महाव्रत अंगीकार किये थे। केशीस्वामी और गौतमस्वामी महा विचारवान थे, परन्तु केशीस्वामीने यों नही कहा 'मैं दीक्षामें बडा हूँ, इसलिये आप मेरे पास चारित्र ग्रहण करें।' विचारवान और सरल जीव, जिसे तुरत कल्याणयुक्त हो जाना है उसे ऐसी बातका आग्रह नही होता।

कोई साधु जिसने प्रथम आचार्यरूपसे अज्ञानावस्थासे उपदेश किया हो, और पीछेसे उसे ज्ञानी-पुरुषका समागम होनेपर वे ज्ञानीपुरुष यदि आज्ञा करे कि जिस स्थलमे आचार्यरूपसे उपदेश किया हो वहाँ जाकर एक कोनेमे सबसे पीछे बैठकर सभी लोगोसे ऐसा कहे कि 'मैने अज्ञानतासे उपदेश दिया है, इसलिये आप भूल न खायें', तो साधुको उस तरह किये बिना छुटकारा नही है। यदि वह साधु यो कहे कि 'मुझसे ऐसा नही होगा, इसके बदले आप कहे तो पहाडपरसे कूद पड़ूँ अथवा दूसरा चाहे जो कहे वह करूँ, परन्तु वहाँ तो मुझसे नही जाया जा सकेगा।' ज्ञानी कहते है कि तब इस बातको जाने दें। हमारे संगमे भी मत आना। कदाचित् तू लाख बार पर्वतसे गिरे तो भी वह किसी कामका नही है। यहाँ तो वैसे करेगा तो ही मोक्ष मिलेगा। वैसा किये बिना मोक्ष नही है, इसलिये जाकर क्षमापना माँगे तो ही कल्याण होगा।'

गौतमस्वामी चार ज्ञानके धारक थे और आनन्द श्रावकके पास गये थे। आनन्द श्रावकने कहा, 'मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ है।' तब गौतमस्वामीने कहा 'नही, नही, इतना सारा हो नही सकता, इसलिये आप क्षमापना लें।' तब आनन्द श्रावकने विचार किया कि ये मेरे गुरु है, कदाचित् इस समय भूल करते हों तो भी भूल करते हैं, यह कहना योग्य नही; गुरु है इसलिये शातिसे कहना योग्य है, यह सोचकर आनन्द श्रावकने कहा कि 'महाराज! सद्भूत वचनका मिच्छा मि दुक्कडं या असद्भूत वचनका मिच्छा मि दुक्कडं?' तब गौतमस्वामीने कहा 'असद्भूत वचनका मिच्छा मि दुक्कडं।' तब आनन्द श्रावकने कहा, 'महाराज! मैं मिच्छा मि दुक्कडं लेने योग्य नही हूँ।' फिर गौतमस्वामी चले गये, और जाकर महावीर-स्वामीसे पूछा। (गौतमस्वामी उसका समाधान कर सकते थे, परन्तु गुरुके होते हुए वैसा न करे जिससे महावीरस्वामीके पास जाकर यह सब बात कही।) महावीरस्वामीने कहा, 'हे गौतम! हाँ, आनंद देखता है ऐसा ही है और आपकी भूल है, इसलिये आप आनंदके पास जाकर क्षमा मांगे।' 'तहत्' कहकर गौतमस्वामी क्षमा माँगनेके लिये चल दिये। यदि गौतमस्वामीने मोहनामके महा सुभटका पराभव न किया होता तो वे वहाँ न जाते, और कदाचित् गौतमस्वामी यों कहते कि 'महाराज! आपके इतने सब शिष्य हैं, उनकी मै चाकरी करूँ, परंतु वहाँ तो नही जाऊँ', तो वह बात मान्य न होती। गौतमस्वामी स्वयं वहाँ जाकर क्षमा माँग आये!

'सास्वादन-समकित' अर्थात् वमन किया हुआ समकित, अर्थात् जो परीक्षा हुई थी, उसपर आव-रण आ जाये तो भी मिथ्यात्व और समकितकी कीमत उसे भिन्न भिन्न लगती है। जैसे बिलोकर छाछमेंसे मक्खन निकाल लिया, और फिर वापस छाछमे डाला। मक्खन और छाछ पहले जैसे परस्पर मिले हुए थे वैसे फिरसे नही मिलते, उसी तरह समकित मिथ्यात्वके साथ नही मिलता। हीरामणिकी कीमत हुई है, परंतु काचकी मणि आये तब हीरामणि साक्षात् अनुभवमें आता है, यह दृष्टात भी यहाँ घटता हैं।

निर्ग्रंथगुरु अर्थात् पैसारहित गुरु नही, परन्तु जिसका ग्रन्थिभेद हो गया है, ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहचान होना व्यवहारसे ग्रन्थिभेद होनेका उपाय है। जैसे किसी मनुष्यने काचकी मणि लेकर सोचा कि

'मेरे पास असली मणि है, ऐसी कही भी नही मिलती ।' फिर उसने एक विचारवानके पास जाकर कहा, 'मेरी मणि असली है।' फिर उस विचारवानने उससे बढ़िया बढ़िया और अधिकाधिक मूल्यकी मणियाँ बताकर कहा कि 'देखें, इनमे कुछ फरक लगता है ? ठीक तरहसे देखें।' तब उसने कहा, 'हाँ फरक लगता है।' फिर उस विचारवानने झाड-फानूस बताकर कहा, देखें आपकी मणि जैसी तो हजारों मिलती हैं। सारा झाड़-फानूस दिखानेके बाद उसे जब मणि दिखायी तब उसे उसकी ठीक ठीक कीमत मालूम हुई, फिर उसने नकलीको नकली जानकर छोड दिया। बादमें कोई प्रसंग मिलनेसे उसने कहा कि 'तूने जिस मणिको असली समझा है ऐसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं।' ऐसे आवरणोंसे वहम आ जानेसे जीव भूल जाता है, परन्तु बादमे उसे नकली समझता है। जिस प्रकार असलीकी कीमत हुई हो उस प्रकारसे वह तुरत् जागृतिमें आता है कि असली अधिक नही होती, अर्थात् आवरण तो होता है परन्तु पहलेकी पहचान भूल नही जाती। इस प्रकार विचारवानको सद्‌गुरुका योग मिलनेसे तत्त्वप्रतीति होती है, परन्तु फिर मिथ्यात्वके संगसे आवरण आ जानेसे शका हो जाती है। यद्यपि तत्त्वप्रतीति नष्ट नही होती परन्तु उसपर आवरण आ जाता है। इसका नाम 'सास्वादनसम्यक्त्व' है।

सद्‌गुरु, सद्देव, केवली द्वारा प्ररूपित धर्मको सम्यक्त्व कहा है, परन्तु सद्देव और केवली ये दोनों सद्‌गुरुमे समाये हुए हैं।

सद्‌गुरु और असद्‌गुरुमे रात-दिनका अन्तर है।

एक जौहरी था। व्यापार करते हुए बहुत नुकसान हो जानेसे उसके पास कुछ भी द्रव्य नही रहा। मरनेका समय आ पहुँचा, तब स्त्री-बच्चोंका विचार करता है कि मेरे पास कुछ भी द्रव्य नही है, परन्तु यदि अभी यह बात करूँगा तो लड़का छोटी उमरका है, इससे उसकी देह छूट जायेगी। उसने स्त्रीको ओर देखा तो स्त्रीने पूछा, 'आप कुछ कहते है ?' पुरुषने कहा, 'क्या कहूँ ?' स्त्रीने कहा कि 'जिससे मेरा और बच्चेका उदर-पोषण हो ऐसा कोई उपाय बताइये और कुछ कहिये।' तब उसने विचार कर कहा कि घरमें जवाहरातकी पेटीमे कीमती नगकी डिबिया है उसे, जब तुझे बहुत जरूरत पड़े तब निकाल कर मेरे मित्रके पास जाकर बिकवा देना, उससे तुझे बहुतसा द्रव्य मिल जायेगा। इतना कहकर वह पुरुष कालधर्मको प्राप्त हुआ। कुछ दिनोके बाद बिना पैसे उदरपोषणके लिये पीडित होते देखकर, वह लड़का, अपने पिताके पूर्वोक्त जवाहरातके नग लेकर अपने चाचा (पिताके मित्र जौहरी) के पास गया और कहा कि 'मुझे ये नग बेचने है, उनका जो द्रव्य आये वह मुझे दें।' तब उस जौहरी भाईने पूछा, 'ये नग बेचकर क्या करना है ?' 'उदर भरनेके लिये पैसोंकी जरूरत है', यों उस लडकेने कहा। तब उस जौहरीने कहा, 'सौ-पचास रुपये चाहिये तो ले जा, और रोज मेरी दुकानपर आते रहना, और खर्च ले जाना। ये नग अभी रहने दे।' उस लड़केने उस भाईकी बातको मान ली, और उस जवाहरातको वापस ले गया। फिर रोज वह लड़का जौहरीकी दुकानपर जाने लगा और जौहरीके समागमसे हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम सबको पहचानना सीख गया और उसे उन सबकी कीमत मालूम हो गयी। फिर उस जौहरीने कहा, 'तू अपना जो जवाहरात पहले बेचने लाया था उसे ले आ, अब बेच देंगे।' फिर घरसे लड़केने अपने जवाहरातकी डिबिया लाकर देखा तो नग नकली लगे इसलिये तुरत फेंक दिये। तब उस जौहरीने पूछा कि 'तूने फेंक क्यों दिये ?' तब उसने कहा कि 'एकदम नकली हैं इसलिये फेंक दिये हैं।' यदि उस जौहरीने पहलेसे ही नकली कहे होते तो वह मानता नही, परन्तु जब स्वयंको वस्तुकी कीमत मालूम हो गयी और नकलीको नकलीरूपसे जान लिया तब जौहरीको कहना नहीं पड़ा कि नकली हैं। इसी तरह स्वयंको सद्‌गुरुकी परीक्षा हो जानेपर असद्‌गुरुको असत् जान लिया तो फिर जीव तुरत ही असद्‌गुरुको छोड़कर सद्‌गुरुके चरणमे आ पड़ता है; अर्थात् अपनेमें कीमत करनेकी शक्ति आनी चाहिये।

गुरुके पास रोज जाकर एकेंद्रिय आदि जीवोके संबंधमे अनेक प्रकारकी शंकाएँ तथा कल्पनाएँ करके पूछा करता है; रोज जाता है और वहीकी वही बात पूछता है। परन्तु उसने क्या सोच रखा है ? एकेंद्रियमे जाना सोचा है क्या ? परन्तु किसी दिन यह नही पूछता कि एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियको जाननेका परमार्थ क्या है ? एकेंद्रिय आदि जीवों संबंधी कल्पनाओसे कुछ मिथ्यात्व ग्रंथिका छेदन नही होता। एकेंद्रिय आदि जीवोका स्वरूप जाननेका कोई फल नही है। वास्तवमें तो समकित प्राप्त करना है। इसलिये गुरुके पास जाकर निकम्मे प्रश्न करनेकी अपेक्षा गुरुसे कहना कि एकेंद्रिय आदिकी बात आज जान ली है, अब उस बातको आप कल न करें; परन्तु समकितकी व्यवस्था करे। ऐसा कहे तो इसका किसी दिन अन्त आवे। परन्तु रोज एकेंद्रिय आदिकी माथापच्ची करें तो इसका कल्याण कब हो ?

समुद्र खारा है। एकदम तो उसका खारापन ,दूर नही होता। उसके लिये इस प्रकार उपाय है कि समुद्रमेंसे एक एक प्रवाह लेना, और उस प्रवाहमे, जिससे उस पानीका खारापन दूर हो और मिठास आ जाये ऐसा क्षार डालना। परन्तु उस पानीके सुखानेके दो प्रकार है—एक तो सूर्यका ताप और दूसरा जमीन; इसलिये पहले जमीन तैयार करना और फिर नालियो द्वारा पानी ले जाना और फिर क्षार डालना कि जिससे खारापन मिट जायेगा। इसी तरह मिथ्यात्वरूपी समुद्र है, उसमे कदाग्रहरूपी खारापन है; इसलिये कुल-धर्मरूपी प्रवाहको योग्यतारूप जमीनमे ले जाकर सद्बोधरूपी क्षार डालना जिससे सत्पुरुषरूपी तापसे खारापन मिट जायेगा।

[1]''दुर्बळ देह ने मास उपवासी, जो छे मायारंग रे।
तोपण गर्भ अनंता लेशे, बोले बीजुं अंग रे॥'

जितनी भ्रांति अधिक उतना मिथ्यात्व अधिक।

सबसे बड़ा रोग मिथ्यात्व।

जब जब तपश्चर्या करना तब तब उसे स्वच्छंदसे न करना, अहंकारसे न करना, लोगोके लिये न करना। जीवको जो कुछ करना है उसे स्वच्छंदसे न करे। 'मै सयाना हूँ', ऐसा मान रखना वह किस भवके लिये ? 'मैं सयाना नहीं हूँ' यो जिसने समझा वह मोक्षमे गया है। मुख्यसे मुख्य विघ्न स्वच्छन्द है। जिसके दुराग्रहका छेदन हो गया है वह लोगोको भी प्रिय होता है; दुराग्रह छोड़ दिया हो तो दूसरोको भी प्रिय होता है; इसलिये दुराग्रह छोडनेसे सब फल मिलने संभव हैं।

गौतमस्वामीने महावीरस्वामीसे वेदके प्रश्न पूछे, उनका, जिन्होने सभी दोषोका क्षय किया है ऐसे उन महावीरस्वामीने वेदके दृष्टात देकर समाधान सिद्ध कर दिया।

दूसरेको ऊँचे गुणपर चढाना परन्तु किसीकी निंदा नही करना। किसीको स्वच्छंदसे कुछ नही कहना। कहने योग्य हो तो अहंकाररहित भावसे कहना। परमार्थदृष्टिसे रागद्वेष कम हुए हो तो फलीभूत होते हैं। व्यवहारसे तो भोले जीवोके भी रागद्वेष कम हुए होते हैं, परन्तु परमार्थसे रागद्वेष मंद हो जायें तो कल्याणका हेतु हैं।

महान पुरुषोकी दृष्टिसे देखनेंसे सभी दर्शन समान है। जैनमे बीस लाख जीव मतमतातरमे पड़े हैं। ज्ञानीकी दृष्टिसे भेदाभेद नहीं होता।

जिस जीवको अनन्तानुबन्धीका उदय है उसको सच्चे पुरुषकी बात सुनना भी नहीं भाता।

मिथ्यात्वकी ग्रन्थि है उसकी सात प्रकृतियाँ है। मान आये तो सातो आती हैं, उनमे अनन्तानुबन्धी चार प्रकृतियाँ चक्रवर्तीके समान है। वे किसी तरह ग्रन्थिमेंसे निकलने नहीं देती। मिथ्यात्व

१ भावार्थ—दुर्बल देह है और एक-एक मासका उपवास करता है; परन्तु यदि अंतरमे माया है तो भी जीव अनन्त गर्भ धारण करेगा, ऐसा दूसरे अंगमें कहा है।

रखवाला है। सारा जगत उसकी सेवा-चाकरी करता है!

प्र०—उदय कर्म किसे कहते है?

उ०—ऐश्वर्यपद प्राप्त होने पर उसे धक्का मारकर वापस बाहर निकाल दे कि 'इसकी मुझे जरूरत नही है, मुझे इसे क्या करना है?' कोई राजा प्रधानपद दे तो भी स्वयं उसे लेनेकी इच्छा न करे, 'मुझे इसको क्या करना है? यह घर सबधी इतनी उपाधि भी बहुत है!' इस तरह मना करे। ऐश्वर्यपदकी अनिच्छा होनेपर भी राजा पुन. पुनः देना चाहे और इस कारण वह सिरपर आ पड़े, तो वह विचार करे कि 'यदि तू प्रधान होगा तो बहुतसे जीवोकी दया पलेगी, हिंसा कम होगी, पुस्तकशालाएँ होंगी, पुस्तकें छपायी जायेंगी।' ऐसे धर्मके बहुतसे हेतुओको समझकर वैराग्य भावनासे वेदन करे, उसे उदय कहा जाता है। इच्छासहित भोगे और उदय कहे, वह तो शिथिलताका और ससारमे भटकनेका कारण होता है।

कितने ही जीव मोहगर्भित वैराग्यसे और कितने दुःखगर्भित वैराग्यसे दीक्षा लेते है। 'दीक्षा लेनेसे अच्छे अच्छे नगरो और गाँवोमे फिरनेको मिलेगा। दीक्षा लेनेके बाद अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलेंगे, नगे पैर धूपमे चलना पडेगा इतनी तकलीफ है, परन्तु वैसे तो साधारण किसान या जमीनदार भी धूपमे अथवा नगे पैर चलते है, तो उनकी तरह सहज हो जायेगा; परन्तु और किसी तरहसे दु:ख नही है और कल्याण होगा।' ऐसी भावनासे दीक्षा लेनेका जो वैराग्य हो वह 'मोहगर्भित वैराग्य' है।

पूनमके दिन बहुतसे लोग डाकोर जाते है, परन्तु कोई यह विचार नही करता कि इससे अपना क्या कल्याण होता है? पूनमके दिन रणछोडजीके दर्शन करनेके लिये बाप-दादा जाते थे यह देखकर लड़के जाते है, परन्तु उसके हेतुका विचार नही करते। यह प्रकार भी मोहगर्भित वैराग्यका है।

जो सासारिक दु.खसे ससारत्याग करता है उसे दुःखगर्भित वैराग्य समझे।

जहाँ जाये वहाँ कल्याणकी वृद्धि हो ऐसी दृढ मति करना, कुलगच्छका आग्रह छूटना यही सत्संगके माहात्म्यके सुननेका प्रमाण है। धर्मके मतमतातर आदि बडे बडे अनतानुबन्धी पर्वतकी दरारोंकी तरह कभी मिलते ही नही। कदाग्रह नही करना और जो कदाग्रह करता हो उसे धीरजसे समझाकर छुड़ा देना तभी समझनेका फल है। अनतानुबधी मान कल्याण होनेमे बीचमे स्तम्भरूप कहा गया है। जहाँ जहाँ गुणी मनुष्य हो वहाँ वहाँ उसका सग करनेके लिये विचारवान जीव कहता है। अज्ञानीके लक्षण लौकिकभावके होते है। जहाँ जहाँ दुराग्रह हो वहाँ वहाँसे छूटना। 'इसकी मुझे जरूरत नही है' यही समझना है।

---

५ राळज, भादो सुदी ६, शनि, १९५२

प्रमादसे योग उत्पन्न होता है। अज्ञानीको प्रमाद है। योगसे अज्ञान उत्पन्न होता हो तो वह ज्ञानीमे भी सम्भव है, इसलिये ज्ञानीको योग होता है परन्तु प्रमाद नही होता।

"स्वभावमे रहना और विभावसे छूटना" यही मुख्य बात तो समझनी है। बाल जीवोंके समझनेके लिये ज्ञानीपुरुषोंने सिद्धातोके अधिकाश भागका वर्णन किया है।

किसीपर रोष नही करना, तथा किसीपर प्रसन्न नही होना, यों करनेसे एक शिष्यको दो घड़ीमें केवलज्ञान प्रगट हुआ ऐसा शास्त्रमें वर्णन है।

जितना रोग होता है उतनी ही उसकी दवा करनी पड़ती है। जीवको समझना हो तो सहज ही विचार प्रगट हो जाये। परन्तु मिथ्यात्वरूपी बड़ा रोग है, इसलिये समझनेके लिये बहुत काल बीतना चाहिये। शास्त्रमे जो सोलह रोग कहे हैं, वे सभी इस जीवको हैं; ऐसा समझें।

जो साधन बताये हैं वे एकदम सुलभ हैं। स्वच्छन्दसे, अहंकारसे, लोकलाजसे, कुलधर्मके रक्षणके लिये तपश्चर्या न करें, आत्मार्थके लिये करें। तपश्चर्या बारह प्रकारकी कही है। आहार न लेना इत्यादि बारह प्रकार हैं। सत्साधन करनेके लिये जो कुछ बताया हो वह सत्पुरुषके आश्रयसे उस प्रकारसे करें।

अपने आपसे वर्तन करना वही स्वच्छन्द है ऐसा कहा है। सद्गुरुकी आज्ञाके बिना श्वासोच्छ्वास क्रियाके सिवाय अन्य कुछ न करे।

साधु लघुशंका भी गुरुसे पूछकर करे ऐसी ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञा है।

स्वच्छन्दाचारसे शिष्य बनाना हो तो साधु आज्ञा नही माँगता अथवा उसकी कल्पना कर लेता है। परोपकार करनेमे अशुभ कल्पना रहती हो, और वैसे ही अनेक विकल्प करके स्वच्छन्द न छोड़े वह अज्ञानी आत्माको विघ्न करता है, तथा ऐसे सब प्रकारोका सेवन करता है, और परमार्थका मार्ग छोड़कर वाणी कहता है यही अपनी चतुराई और इसीको स्वच्छन्द कहा है।

ज्ञानीकी प्रत्येक आज्ञा कल्याणकारी है। इसलिये उसमे न्यूनाधिक या छोटे-बडेकी कल्पना न करें। तथा उस बातका आग्रह करके झगड़ा न करें। ज्ञानी जो कहते हैं वही कल्याणका हेतु है यो समझमें आये तो स्वच्छन्द मिटता है। ये ही यथार्थ ज्ञानी है इसलिये ये जो कहते हैं तदनुसार ही करें। दूसरा कोई विकल्प न करें।

जगतमे भ्रांति न रखें, इसमे कुछ भी नहीं है। यह बात ज्ञानीपुरुष बहुत ही अनुभवसे वाणी द्वारा कहते है। जीव विचार करे कि मेरी बुद्धि स्थूल है, मुझे समझमे नही आता। ज्ञानी जो कहते है वे वाक्य सच्चे है, यथार्थ है,' यों समझे तो सहजमें ही दोष कम होते हैं।

जैसे एक वर्षासे बहुतसी वनस्पति फूट निकलती है, वैसे ज्ञानीकी एक भी आज्ञाका आराधन करते हुए बहुतसे गुण प्रगट हो जाते हैं।

यदि ज्ञानीकी यथार्थ प्रतीति हो गयी है, और ठीक तरहसे जाँच की है कि 'ये सत्पुरुष है, इनकी दिशा सच्ची आत्मदशा है, और इनसे कल्याण होगा ही,' और ऐसे ज्ञानीके वचनोंके अनुसार प्रवृत्ति करे, तो बहुत ही दोष, विक्षेप मिट जाते हैं। जहाँ जहाँ देखे वहाँ वहाँ अहंकाररहित वर्तन करता है और उसका सभी प्रवर्तन सीधा ही होता है। यो सत्सग, सत्पुरुषका योग अनत गुणोका भण्डार है।

जो जगतको बतानेके लिये कुछ नही करना उसीको सत्सग फलीभूत होता है। सत्संग और सत्पुरुषके बिना त्रिकालमे कल्याण होता ही नही।

बाह्य त्यागसे जीव बहुत ही भूल जाता है। वेश, वस्त्र आदिमे भ्रांति भूल जायें। आत्माकी वभावदशा और स्वभावदशाको पहचाने।

कई कर्मोंको भोगे बिना छुटकारा नही है। ज्ञानीको भी उदयकर्मका सम्भव है। परन्तु गृहस्थपना साधुपनेकी अपेक्षा अधिक है यो बाहरसे कल्पना करे तो किसी शास्त्रका योगफल नही मिलता।

तुच्छ पदार्थमे भी वृत्ति चलायमान होती है। चौदह पूर्वधारी भी वृत्तिकी चपलतासे और अहंता स्फुरित हो जानेसे निगोद आदिमे परिभ्रमण करते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानसे भी जीव क्षणिक लोभसे गिरकर पहले गुणस्थानमे आता है। 'वृत्ति शांत की है,' ऐसी अहंता जीवको स्फुरित होनेसे, ऐसे भुलावेसे भटक पड़ता है।

अज्ञानीको धन आदि पदार्थोंमें अतीव आसक्ति होनेसे कोई भी चीज खो जाये तो उससे अनेक प्रकारकी आर्त्तध्यान आदिकी वृत्तिको बहुत प्रकारसे फैलाकर, प्रसरित कर कर क्षोभको प्राप्त होता है, क्योकि उसने उस पदार्थकी तुच्छता नही समझी; परन्तु उसमें महत्त्व माना है।

मिट्टीके घड़ेमे तुच्छता समझी है इसलिये उसके फूट जानेसे क्षोभ प्राप्त नही होता। चाँदी, सुवर्ण आदिमे महत्त्व माना है इसलिये उनका वियोग होनेसे अनेक प्रकारसे आर्त्तध्यानकी वृत्तिको स्फुरित करता है।

जो जो वृत्तिमें स्फुरित होता है और इच्छा करता है वह 'आस्रव' है।

उस उस वृत्तिका निरोध करता है वह 'संवर' है।

अनंत वृत्तियाँ अनंत प्रकारसे स्फुरित होती हैं, और अनंत प्रकारसे जीवको बाँधती हैं। बालजीवों-को यह समझमे नहीं आता, इसलिये ज्ञानियोंने उनके स्थूल भेद इस तरह कहे है कि समझमें आ जायें।

वृत्तियोंका मूलसे क्षय नही किया इसलिये पुन पुनः स्फुरित होती हैं। प्रत्येक पदार्थके विषयमे स्फुरायमान बाह्य वृत्तियोंको रोके और उन वृत्तियो—परिणामोको अन्तर्मुख करे।

अनंतकालके कर्म अनतकाल बितानेपर नही जाते, परन्तु पुरुषार्थसे जाते हैं। इसलिये कर्ममे बल नहीं है परन्तु पुरुषार्थमे बल है। इसलिये पुरुषार्थ करके आत्माको ऊँचे लानेका लक्ष्य रखें।

परमार्थकी एककी एक बात सौ बार पूछें तो भी ज्ञानीको कटाला नही आता; परन्तु उन्हें अनुकंपा आती है कि इस बेचारे जीवके आत्मामे यह बात विचारपूर्वक स्थिर हो जाये तो अच्छा है।

क्षयोपशमके अनुसार श्रवण होता है।

सम्यक्त्व ऐसी वस्तु है कि वह आता है तब गुप्त नही रहता। वैराग्य पाना हो तो कर्मको निंदा करें। कर्मको प्रधान न करें परन्तु आत्माको मूर्धन्य रखें—प्रधान करें।

संसारी काममे कर्मको याद न करें, परन्तु पुरुषार्थको आगे लायें। कर्मका विचार करते रहनेसे तो वह दूर होनेवाला नही है, परन्तु धक्का लगायेंगे तो जायेगा, इसलिये पुरुषार्थ करें।

बाह्य क्रिया करनेसे अनादि दोष कम नही होता। बाह्य क्रियामें जीव कल्याण मानकर अभिमान करता है।

बाह्य व्रत अधिक लेनेसे मिथ्यात्वका नाश कर देंगे, ऐसा जीव सोचे तो यह सम्भव नही, क्योंकि जैसे एक भैसा जो ज्वार बाजरेके हजारों पूले खा गया है वह एक तिनकेसे नही डरता वैसे मिथ्यात्वरूपी भैंसा जो अनंतानुबधी कषायसे पूलारूपी अनंत चारित्र खा गया है वह तिनके रूपी बाह्य व्रतसे कैसे डरेगा ? परन्तु जैसे भैंसेको किसी बंधनसे बाँध दें तो वह अधीन हो जाता है, वैसे मिथ्यात्वरूपी भैंसेको आत्माके बलरूपी बधनसे बाँध दे तो अधीन होता है, अर्थात् आत्माका बल बढता है तब मिथ्यात्व घटता है।

अनादिकालके अज्ञानके कारण जितना काल बीता, उतना काल मोक्ष होनेके लिये नहीं चाहिये; क्योकि पुरुषार्थका बल कर्मोंकी अपेक्षा अधिक है। कई जीव दो घड़ीमे कल्याण कर गये है। सम्यग्दृष्टि जीव चाहे जहाँसे आत्माको ऊँचा उठाता है, अर्थात् सम्यक्त्व आनेपर जीवकी दृष्टि बदल जाती है।

मिथ्यादृष्टि समकितीके अनुसार जप, तप आदि करता है, ऐसा होनेपर भी मिथ्यादृष्टिके जप, तप आदि मोक्षके हेतुभूत नही होते, संसारके हेतुभूत होते है। समकितीके जप, तप आदि मोक्षके हेतुभूत होते हैं। समकिती दभरहित करता है, आत्माकी ही निंदा करता है, कर्म करनेके कारणोसे पीछे हटता है। ऐसा करनेसे उसके अहंकार आदि सहज ही घट जाते हैं। अज्ञानीके सभी जप, तप आदि अहकारको बढ़ाते है, और संसारके हेतु होते है।

जैन शास्त्रोंमें कहा है कि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जैन और वेद जन्मसे ही लड़ते आये हैं, परंतु इस बातको तो दोनों ही मान्य करते हैं, इसलिये यह सम्भव है। आत्मा साक्षी देता है तब आत्मामे उल्लास परिणाम आता है।

होम, हवन आदि लौकिक रिवाज बहुत प्रचलित देखकर तीर्थंकर भगवानने अपने कालमे दयाका वर्णन बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे किया है। जैनधर्मके जैसे दया संबंधी विचार कोई दर्शन अथवा संप्रदायवाले नही कर सके हैं, क्योंकि जैन पचेंद्रियका घात तो नही करते, परन्तु उन्होंने एकेंद्रिय आदिमे जीवके अस्तित्वको विशेष-विशेष दृढ करके दयाके मार्गका वर्णन किया है।

इस कारण चार वेद, अठारह पुराण आदिका जिसने वर्णन किया है, उसने अज्ञानसे, स्वच्छंदसे, मिथ्यात्वसे और संशयसे किया है, ऐसा कहा है। ये वचन बहुत ही कठोर कहे हैं, वहाँ बहुत अधिक विचार करके फिर वर्णन किया है कि अन्य दर्शन, वेद आदिके जो ग्रन्थ है उन्हे यदि सम्यग्दृष्टि जीव पढे तो वे सम्यक् प्रकारसे परिणमित होते है, और जिनेन्द्रके अथवा चाहे जैसे ग्रन्थोको यदि मिथ्यादृष्टि पढे तो मिथ्यात्वरूपसे परिणमित होते है।

जीवको ज्ञानीपुरुषके समीप उनके अपूर्व वचन सुननेसे अपूर्व उल्लास परिणाम आता है, परन्तु फिर प्रमादी हो जानेसे अपूर्व उल्लास नही आता। जिस तरह अग्निकी अंगीठीके पास बैठे हो तब ठंडी नही लगती, और अंगीठीसे दूर चले जानेसे ठडी लगती है, उसी तरह ज्ञानी पुरुषके समीप उनके अपूर्व वचन सुननेसे प्रमाद आदि चले जाते है, और उल्लास परिणाम आता है, परन्तु फिर प्रमाद आदि उत्पन्न हो जाते है। यदि पूर्वके सस्कारसे वे वचन अंतरमे परिणत हो जाये तो दिन प्रतिदिन उल्लास परिणाम बढता ही जाता है और यथार्थरूपसे भान होना है। अज्ञान मिटनेपर सारी भूल मिटती है, स्वरूप जागृतिमान होता है। बाहरसे वचन सुननेसे अतर्परिणाम नही होता, तो फिर जिस तरह अंगीठीसे दूर चले जानेपर ठंडी लगती है उसी तरह दोष कम नही होते।

केशीस्वामीने परदेशी राजाको बोध देते समय 'जड जैसा', 'मूढ जैसा' कहा था, उसका कारण परदेशी राजामे पुरुषार्थ जगाना था। जडता-मूढता मिटानेके लिये उपदेश दिया था। ज्ञानीके वचन अपूर्व परमार्थके सिवाय दूसरे किसी हेतुसे नही होते। बालजीव ऐसी बातें करते हैं कि छद्मस्थतासे केशीस्वामी परदेशी राजाके प्रति इस प्रकार बोले थे, परन्तु यह बात नही है। उनकी वाणी परमार्थके लिये ही निकली थी।

जड पदार्थके लेने-रखनेमे उन्मादसे वर्तन करे तो उसे असयम कहा है। उसका कारण यह है कि जल्दीसे लेने-रखनेमे आत्माका उपयोग चूककर तादात्म्यभाव हो जाता है। इस हेतुसे उपयोग चूक जानेको असंयम कहा है।

मुहपत्ती बाँध कर झूठ बोले, अहंकारसे आचार्यपद धारण कर दंभ रखे और उपदेश दे, तो पाप लगता है; मुहपत्तीको जयणासे पाप रोका नही जा सकता। इसलिये आत्मवृत्ति रखनेके लिये उपयोग रखे। ज्ञानीके उपकरणको छूनेसे या शरीरका स्पर्श होनेसे आशातना लगती है ऐसा मानता है, किन्तु वचनको अप्रधान करनेसे तो विशेष दोष लगता है, उसका तो भान नही है। इसलिये ज्ञानीकी किसी भी प्रकारसे आशातना न हो ऐसा उपयोग जागृत-जागृत रखकर भक्ति प्रगट हो तो वह कल्याणका मुख्य मार्ग है।

श्री आचाराग सूत्रमे कहा है कि 'जो आस्रव है वे परिस्रव है', 'जो परिस्रव है वे आस्रव है'। जो आस्रव है वह ज्ञानीको मोक्षका हेतु होता है, और जो संवर है फिर भी वह अज्ञानीको बधका हेतु होता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। उसका कारण ज्ञानीमे उपयोगकी जागृति है, और अज्ञानीमे नही है।

उपयोग दो प्रकारके कहे हैं—१ द्रव्य-उपयोग, २. भाव-उपयोग।

द्रव्यजीव, भावजीव। द्रव्यजीव वह द्रव्य मूल पदार्थ है। भावजीव, वह आत्माका उपयोग-भाव है।

भावजीव अर्थात् आत्माका उपयोग जिस पदार्थमे तादात्म्यरूपसे परिणमें तद्रूप आत्मा कहे। जैसे टोपी देखकर, उसमे भावजीवकी बुद्धि तादात्म्यरूपसे परिणमे तो टोपी-आत्मा कहे। जैसे नदीका पानी द्रव्य आत्मा है। उसमे क्षार, गंधक डालें तो गंधकका पानी कहा जाता है। नमक डाले तो नमकका पानी कहा जाता है। जिस पदार्थका संयोग हो उस पदार्थरूप पानी कहा जाता है। उसी तरह आत्माको जो सयोग मिले उसमे तादात्म्यभाव होनेसे वही आत्मा उस पदार्थरूप हो जाता है। उसे कर्मबंधकी अनंत वर्गणा बँधती हैं, और वह अनंत संसारमे भटकता है। अपने उपयोगमे, स्वभावमें आत्मा रहे तो कर्मबंध नही होता।

पाँच इंद्रियोंका अपना अपना स्वभाव है। चक्षुका देखनेका स्वभाव है वह देखता है। कानका सुननेका स्वभाव है वह सुनता है। जीभका स्वाद, रस लेनेका स्वभाव है, वह खट्टा, खारा स्वाद लेती है। शरीर, स्पर्शेन्द्रियका स्वभाव स्पर्श करनेका है, वह स्पर्श करता है। इस तरह प्रत्येक इंद्रिय अपना अपना स्वभाव किया करती है, परन्तु आत्माका उपयोग तद्रूप होकर, तादात्म्यरूप होकर उसमे हर्ष-विषाद न करे तो कर्मबंध नही होता। इंद्रियरूप आत्मा हो तो कर्मबंधका हेतु है।

---

६ भादों सुदी ९, १९५२

जैसा सिद्धका सामर्थ्य है वैसा सब जीवोका है। मात्र अज्ञानसे ध्यानमे नही आता। विचारवान जीव हो उसे तो तत्संबंधी नित्य विचार करना चाहिये।

जीव यों समझता है कि मै जो क्रिया करता हूँ उससे मोक्ष है। क्रिया करना यह अच्छी बात है, परन्तु लोकसंज्ञासे करे तो उसे उसका फल नही मिलता।

एक मनुष्यके हाथमे चिंतामणि आया हो, परंतु यदि उसे उसका पता न चले तो निष्फल है, यदि पता चले तो सफल है। उसी तरह जीवको सच्चे ज्ञानोकी पहचान हो तो सफल है।

जीवकी अनादिकालसे भूल चली आती है। उसे समझनेके लिये जीवकी जो भूल मिथ्यात्व है उसका मूलसे छेदन करना चाहिये। यदि मूलसे छेदन किया जाये तो वह फिर अंकुरित नही होती। नही तो वह फिर अंकुरित हो जाती है। जिस तरह पृथ्वीमे वृक्षका मूल रह गया हो तो वृक्ष फिर उग आता है उसी तरह। इसलिये जीवकी मूल भूल क्या है उसका पुनः पुनः विचार करके उससे मुक्त होना चाहिये। 'मुझे किससे बंधन होता है?' 'वह कैसे दूर हो?' यह विचार प्रथम कर्तव्य है।

रात्रिभोजन करनेसे आलस्य, प्रमाद आता है, जागृति नहीं होती, विचार नही आता, इत्यादि अनेक प्रकारके दोष रात्रिभोजनसे उत्पन्न होते है, मैथुनके अतिरिक्त भी दूसरे बहुतसे दोष उत्पन्न होते है।

कोई हरी वनस्पति छीलता हो तो हमसे तो वह देखा नही जा सकता। इसी तरह कोई भी आत्मा उज्ज्वलता प्राप्त करे तो उसे अतीव अनुकपा बुद्धि रहती है।

ज्ञानमे सीधा भासता है, उलटा नही भासता। ज्ञानी मोहको पैठने नही देते। उनका जागृत उपयोग होता है। ज्ञानीके जैसे परिणाम रहते है वैसा कार्य ज्ञानोका होना है तथा अज्ञानीका जैसा परिणाम होता है, वैसा अज्ञानीका कार्य होता है। ज्ञानीका चलना सीधा, बोलना सीधा और सब कुछ ही सीधा ही होता है। अज्ञानीका सब कुछ उलटा ही होता है, वर्तनके विकल्प होते हैं।

मोक्षका उपाय है। ओघभावसे खबर होगी, विचारभावसे प्रतीति आयेगी।

अज्ञानी स्वयं दरिद्री है। ज्ञानीकी आज्ञासे काम, क्रोध आदि घटते है। ज्ञानी उनके वैद्य है। ज्ञानीके हाथसे चारित्र प्राप्त हो तो मोक्ष हो जाता है। ज्ञानी जो जो व्रत देते है वे सब ठेठ अंत तक ले जाकर पार उतारनेवाले हैं। समकित आनेके बाद आत्मा समाधिको प्राप्त होगा, क्योंकि वह सच्चा हो गया है।

प्र०—ज्ञानसे कर्मकी निर्जरा होती है क्या?

उ०—सार जानना ज्ञान है। सार न जानना अज्ञान है। हम किसी भी पापसे निवृत्त हो अथवा कल्याणमें प्रवृत्ति करें, वह ज्ञान है। परमार्थ समझ कर करे। अहंकाररहित, कदाग्रहरहित, लोकसंज्ञा-रहित आत्मामे प्रवृत्ति करना 'निर्जरा' है।

इस जीवके साथ रागद्वेष लगे हुए हैं; जीव अनंत ज्ञान-दर्शनसहित है, परंतु राग-द्वेषसे वह जीवके ध्यानमे नही आता। सिद्धको रागद्वेष नही है। जैसा सिद्धका स्वरूप है वैसा ही सब जीवोंका स्वरूप है।

मात्र अज्ञानके कारण जीवके ध्यानमें नहीं आता; इसलिये विचारवान सिद्धके स्वरूपका विचार करे, जिससे अपना स्वरूप समझमें आये।

एक आदमीके हाथमे चिंतामणि आया हो, और उसे उसकी खबर (पहचान) है तो उसके प्रति उसे अतीव प्रेम हो जाता है, परंतु जिसे खबर नही है उसे कुछ भी प्रेम नहीं होता।

इस जीवको अनादिकालकी जो भूल है उसे दूर करना है। दूर करनेके लिये जीवकी बडीसे बड़ी भूल क्या है? उसका विचार करे, और उसके मूलका छेदन करनेकी ओर लक्ष्य रखे। जब तक मूल रहता है तब तक बढता है।

'मुझे किससे बंधन होता है?' 'और वह किससे दूर हो?' यह जाननेके लिये शास्त्र रचे गये हैं। लोगोंमें पूजे जानेके लिये शास्त्र नही रचे गये है।

जीवका स्वरूप क्या है? जीवका स्वरूप जब तक जाननेमे न आये तब तक अनंत जन्म मरण करने पडते है। जीवकी क्या भूल है? वह अभी तक ध्यानमे नहीं आती। जीवका क्लेश नष्ट होगा तो भूल दूर होगी। जिस दिन भूल दूर होगी उसी दिनसे साधुता कही जायेगी। इसी तरह श्रावकपनके लिये समझें।

कर्मकी वर्गणा जीवको दूध और पानीके संयोगकी भाँति है। अग्निके प्रयोगसे पानी जल जानेसे दूध बाकी रह जाता है, इसी तरह ज्ञानरूपी अग्निसे कर्मवर्गणा नष्ट हो जाती है।

देहमे अहंभाव माना हुआ है, इसलिये जीवकी भूल दूर नही होती। जीव देहके साथ मिल जानेसे ऐसा मानता है कि 'मै वणिक हूँ', 'ब्राह्मण हूँ'; परतु शुद्ध विचारसे तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि 'मैं शुद्ध स्वरूपमय हूँ।' आत्माका नाम-ठाम या कुछ भी नही है, इस तरह सोचे तो उसे कोई गाली आदि दे तो उससे उसे कुछ भी नहीं लगता।

जीव जहाँ जहाँ ममत्व करता है वहाँ वहाँ उसकी भूल है। उसे दूर करनेके लिये शास्त्र कहे है।

चाहे कोई भी मर गया हो उसका यदि विचार करे तो वह वैराग्य है। जहाँ जहाँ 'ये मेरे भाई-बंधु' इत्यादि भावना है वहाँ वहाँ कर्मबंधका हेतु है। इसी तरहकी भावना यदि साधु भी चेलेके प्रति रखे तो उसका आचार्यपन नष्ट हो जाता है। निर्दंभता, निरहंकारता करे तो आत्माका कल्याण ही होता है।

पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती है? वस्तुओंपर तुच्छभाव लानेसे। जैसे फूलमे सुगन्ध होती है उससे मन सन्तुष्ट होता है; परन्तु सुगन्ध थोडी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और फूल मुरझा जाता है, फिर मनको कुछ भी संतोष नही होता। उसी तरह सभी पदार्थोंमें तुच्छभाव लानेसे इन्द्रियोंको प्रियता नहीं होती, और इससे क्रमशः इंद्रियाँ वश होती है। और पाँच इन्द्रियोंमे भी जिह्वा इन्द्रिय वश करनेसे शेष चार इन्द्रियाँ अनायास वश हो जाती हैं। तुच्छ आहार करें, किसी रसवाले पदार्थमे न ललचायें, बलिष्ठ आहार न करें।

एक बर्तनमे रक्त, मांस, हड्डियाँ, चमडा, वीर्य, मल, मूत्र ये सात धातुएँ पडी हों, और उसकी ओर कोई देखनेको कहे तो उसपर अरुचि होती है, और थूँकनेके लिये भी नही जाता। उसी तरह स्त्री-पुरुषके शरीरकी रचना है, परन्तु ऊपरकी रमणीयता देखकर जीव मोहको प्राप्त होता है और उसमे तृष्णापूर्वक प्रवृत्ति करता है। अज्ञानसे जीव भूलता है, ऐसा विचार कर, तुच्छ समझकर पदार्थपर अरुचि-भाव लायें। इस तरह प्रत्येक वस्तुकी तुच्छता समझें। इस तरह समझ कर मनका निरोध करें।

तीर्थंकरने उपवास करनेकी आज्ञा दी है, वह मात्र इन्द्रियोंको वश करनेके लिये। अकेला उपवास करनेसे इन्द्रियाँ वश नही होती; परन्तु उपयोग हो तो, विचारसहित हो तो वश होती हैं। जैसे बिना लक्ष्यका बाण निकम्मा जाता है, वैसे बिना उपयोगका उपवास आत्मार्थके लिये नहीं होता।

अपनेमे कोई गुण प्रगट हुआ हो, और उसके लिये यदि कोई मनुष्य अपनी स्तुति करे और उससे यदि अपना आत्मा अहंकार करे तो वह पीछे हटता है। अपने आत्माकी निंदा न करे, अभ्यंतर दोषका

विचार न करे, तो जीव लौकिकभावमें चला जाता है; परन्तु यदि अपने दोष देखे, अपने आत्माकी निंदा करे, अहंभावसे रहित होकर विचार करे, तो सत्पुरुषके आश्रयसे आत्मलक्ष्य होता है।

मार्गप्राप्तिमें अनंत अन्तराय है। उनमें फिर 'मैंने यह किया', 'मैंने यह कैसा सुंदर किया ?' इस प्रकारका अभिमान है। 'मैने कुछ भी किया ही नहीं', ऐसी दृष्टि रखनेसे वह अभिमान दूर होता है।

लौकिक और अलौकिक ऐसे दो भाव है। लौकिकसे संसार, और अलौकिकसे मोक्ष होता है।

बाह्य इन्द्रियाँ वशमें की हों, तो सत्पुरुषके आश्रयसे अन्तर्लक्ष्य हो सकता है। इस कारणसे बाह्य इंद्रियोंको वशमे करना श्रेष्ठ है। बाह्य इंद्रियाँ वशमें हों, और सत्पुरुषका आश्रय न हो तो लौकिकभावमें चले जानेका संभव रहता है।

उपाय किये बिना कुछ रोग नही मिटता। इसी तरह जीवको जो लोभरूपी रोग है, उसका उपाय किये बिना वह दूर नही होता। ऐसे दोषको दूर करनेके लिये जीव जरा भी उपाय नहो करता। यदि उपाय करे तो वह दोष अभी भाग जाये। कारणको खडा करें तो कार्य होता है। कारण के बिना कार्य नही होता।

सच्चे उपायको जीव नही खोजता। ज्ञानीपुरुषके वचन सुनता है परन्तु प्रतीति नही है। 'मुझे लोभ छोड़ना है', 'क्रोध, मान आदि छोडने हैं', ऐसी बीजभूत भावना हो और छोड़े, तो दोष दूर होकर अनुक्रमसे 'बीजज्ञान' प्रगट होता है।

प्र०—आत्मा एक है या अनेक ?

उ०—यदि आत्मा एक ही हो तो पूर्वकालमे रामचन्द्रजी मुक्त हुए है, और उससे सर्वकी मुक्ति होनी चाहिये, अर्थात् एकको मुक्ति हुई हो तो सबकी मुक्ति हो जाये; और फिर दूसरोको सत्शास्त्र, सद्गुरु आदि साधनोकी जरूरत नही है।

प्र०—मुक्ति होनेके बाद क्या जीव एकाकार हो जाता है ?

उ०—यदि मुक्त होनेके बाद जीव एकाकार हो जाता हो तो स्वानुभव आनंदका अनुभव नही कर सकता। एक पुरुष यहाँ आकर बैठा, और वह विदेह मुक्त हो गया। उसके बाद दूसरा यहाँ आकर बैठा। वह भी मुक्त हो गया। इससे कुछ तीसरा मुक्त नही हुआ। एक आत्मा है उसका आशय ऐसा है कि सर्व आत्मा वस्तुतः समान है; परंतु स्वतंत्र है, स्वानुभव करते है इस कारणसे आत्मा भिन्न भिन्न हैं। 'आत्मा एक है, इसलिये तुझे दूसरी कोई भ्राति रखनेकी जरूरत नही है, जगत कुछ है ही नही; ऐसे भ्रातिरहित भावसे वर्तन करनेसे मुक्ति है', ऐसा जो कहता है उसे विचार करना चाहिये कि, तो एककी मुक्तिमे सर्वकी मुक्ति होनी ही चाहिये। परन्तु ऐसा नही होता, इसलिये आत्मा भिन्न भिन्न है। जगतकी भ्राति दूर हो गयी, इसका आशय यो नही समझना है कि चंद्र-सूर्य आदि ऊपरमे नीचे गिर पड़ते है। आत्मविषयक भ्राति दूर हो गयी ऐसा आशय समझना है।

रूढिसे कुछ कल्याण नही है। आत्मा शुद्ध विचारको प्राप्त हुए बिना कल्याण नही होता।

मायाकपटसे झूठ बोलनेमें बहुत पाप है। वह पाप दो प्रकारका है। मान और धन प्राप्त करनेके लिये झूठ बोले तो उसमें बहुत पाप है। आजीविकाके लिये झूठ बोलना पड़ा हो, और पश्चात्ताप करे, तो पहलेकी अपेक्षा कुछ कम पाप लगता है।

सत् और लोभ इन दोनोको इकट्ठा किसलिये जीव समझता है ?

बाप स्वयं पचास वर्षका हो और उसका बीस वर्षका लडका मर जाये तो वह बाप उसके पास जो आभूषण होते हैं उन्हें निकाल लेता है। पुत्रके देहातके समय जो वैराग्य था वह स्मशानवैराग्य था।

भगवानने कोई भी पदार्थ दूसरेको देनेकी मुनिको आज्ञा नही दी। देहको धर्मसाधन मानकर उसे निभानेके लिये जो कुछ आज्ञा दी है वह दी है; बाकी दूसरेको कुछ भी देनेकी भगवानने आज्ञा नही दी।

आज्ञा दी होती तो परिग्रह बढता, और उससे अनुक्रममे अन्न, पानी आदि लाकर कुटुम्बका अथवा दूसरे-का पोषण करके दानवीर होता। इसलिये मुनिको सोचना चाहिये कि तीर्थंकरने जो कुछ रखनेकी आज्ञा दी है वह मात्र तेरे अपने लिये, और वह भी लौकिकदृष्टि छुडाकर संयममें लगानेके लिये दी है।

मुनि गृहस्थके यहाँसे एक सूई लाया हो, और वह खो जानेसे भी वापस न दे तो वह तीन उपवास करे ऐसी ज्ञानीपुरुषोने आज्ञा दी है; उसका कारण यह है कि वह उपयोगशून्य रहा। यदि इतना अधिक भार न रखा होता तो दूसरी वस्तुएँ लानेका मन होता, और कालक्रमसे परिग्रह बढ़ाकर मुनित्वको खो बैठता। ज्ञानीने ऐसा कठिन मार्ग प्ररूपित किया है उसका कारण यह है कि वे जानते हैं कि यह जीव विश्वास करने योग्य नही है; क्योंकि वह भ्रान्तिवाला है। यदि छूट दी होगी तो कालक्रमसे उस उस प्रकारमें विशेष प्रवृत्ति करेगा, ऐसा जानकर ज्ञानीने सूई जैसी निर्जीव वस्तुके संबंधमे इस प्रकार वर्तन करनेकी आज्ञा की है। लोककी दृष्टिमे तो यह बात साधारण है, परन्तु ज्ञानीकी दृष्टिमें उतनी छूट भी मूलसे गिरा दे इतनी बडी लगती है।

ऋषभदेवजीके पास अट्ठानवे पुत्र 'हमें राज्य दें' ऐसा कहनेके अभिप्रायसे आये थे, वहाँ तो ऋषभदेवने उपदेश देकर अट्ठानवोंको ही मूंड दिया! देखिये महान पुरुषकी करुणा!

केशीस्वामी और गौतमस्वामी कैसे सरल थे! दोनोका मार्ग एक प्रतीत होनेसे पाँच महाव्रत ग्रहण किये। आधुनिक कालमे दो पक्षोंका एक होना सम्भव नही है। आजके ढूंढिया और तपा, तथा भिन्न भिन्न संघाडोंका एकत्र होना नही हो सकता। उसमें कितना ही काल बीत जाता है। उसमे कुछ है नही, परन्तु असरलताके कारण सम्भव ही नही है।

सत्पुरुष कुछ सदनुष्ठानका त्याग नही कराते, परन्तु यदि उसका आग्रह हुआ होता है तो आग्रह दूर करानेके लिये उसका एक बार त्याग कराते हैं, आग्रह मिटनेके बाद फिर उसे ही ग्रहण करनेको कहते हैं।

चक्रवर्ती राजा जैसे भी नग्न होकर चले गये है! चक्रवर्ती राजा हो, उसने राज्यका त्याग कर दीक्षा ली हो, और उसकी कुछ भूल हो, और उस चक्रवर्तीके राज्यकालकी दासीका लडका उस भूलको सुधार सकता हो, तो उसके पास जाकर, उसके कथनको ग्रहण करनेकी आज्ञा की है। यदि उसे दासीके लड़केके पास जाते हुए यो लगे कि 'मैं दासीके लड़केके पास कैसे जाऊँ?' तो उसे भटक मरना है। ऐसे कारणोंमें लोकलाजको छोडनेका कहा है, अर्थात् जहाँ आत्माको ऊँचा उठानेका कारण हो वहाँ लोकलाज नही मानी गयी है। परन्तु कोई मुनि विषयकी इच्छासे वेश्याशालामे गया, वहाँ जाकर उसे ऐसा लगा, 'मुझे लोग देख लेंगे तो मेरी निंदा होगी। इसलिये यहाँसे लौट जाऊँ।' तात्पर्य कि मुनिने परभवके भयको नहीं गिना, आज्ञाभंगके भयको भी नही गिना, तो ऐसी स्थितिमे लोकलाजसे भीं ब्रह्मचर्य रह सकता है, इसलिये वहाँ लोकलाज मानकर वापस आया, तो वहाँ लोकलाज रखनेका विधान है, क्योंकि इस स्थलमें लोकलाजका भय खानेसे ब्रह्मचर्य रहता है, जो उपकारक है।

हितकारी क्या है उसे समझना चाहिये। अष्टमीका झगड़ा तिथिके लिये न करे, परन्तु हरी वनस्पतिके रक्षणके लिये तिथिका पालन करें। हरी वनस्पतिके रक्षणके लिये अष्टमी आदि तिथियाँ कही गयी हैं, कुछ तिथिके लिये अष्टमी आदि नही कही। इसलिये अष्टमी आदि तिथिका कदाग्रह दूर करें। जो कुछ कहा है वह कदाग्रह करनेके लिये नही कहा। आत्माकी शुद्धिसे जितना करेंगे उतना हितकारी है। अशुद्धिसे करेंगे उतना अहितकारी है, इसलिये शुद्धतापूर्वक सद्व्रतका सेवन करें।

हमे तो ब्राह्मण, वैष्णव चाहे जो हो सब समान हैं। जैन कहलाते हों और मतवाले हों तो वे अहितकारी हैं, मतरहित हितकारी हैं।

सामायिक-शास्त्रकारने विचार किया कि यदि कायाको स्थिर रखना होगा तो फिर विचार करेगा; नियम नहीं बनाया होगा तो दूसरे काममें लग जायेगा, ऐसा समझकर उस प्रकारका नियम बनाया। जैसे मनपरिणाम रहें वैसी सामायिक होती है। मनका घोडा दौडता हो तो कर्मबंध होता है। मनका घोड़ा दौड़ता हो, और सामायिक की हो तो उसका फल कैसा होगा ?

कर्मबंधको थोड़ा थोडा छोडना चाहे तो छूटता है। जैसे कोठी भरी हो, परन्तु छेद करके निकाले तो अन्तमें खाली हो जाती है। परन्तु दृढ इच्छासे कर्मोंको छोड़ना हो सार्थक है।

आवश्यकके छः प्रकार—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान। सामायिक अर्थात् सावद्ययोगकी निवृत्ति।

वाचना (पढना), पृच्छना (पूछना), परावर्तना (पुन पुनः विचार करना), धर्मकथा (धर्मविषयक कथा करनी), ये चार द्रव्य हैं; और अनुप्रेक्षा ये भाव है। यदि अनुप्रेक्षा न आये तो पहले चार द्रव्य है।

अज्ञानी आज 'केवलज्ञान नही है', 'मोक्ष नही है' ऐसी हीन-पुरुषार्थकी बातें करते हैं। ज्ञानीका वचन पुरुषार्थको प्रेरित करनेवाला होता है। अज्ञानी शिथिल है इसलिये ऐसे हीन-पुरुषार्थके वचन कहता है। पंचमकालकी, भवस्थितिकी, देहदुर्बलताकी या आयुकी बात कभी भी मनमे नही लानी चाहिये; और कैसे हो ऐसी वाणी भी नहीं सुननी चाहिये।

कोई हीन-पुरुषार्थी बातें करे कि उपादानकारण—पुरुषार्थका क्या काम है ? पूर्वकालमें असोच्याकेवली हुए है। तो ऐसी बातोंसे पुरुषार्थहीन न होना चाहिये।

सत्संग और सत्यसाधनके बिना किसी कालमें भी कल्याण नही होता। यदि अपने आप कल्याण होता हो तो मिट्टीमेसे घड़ा होना सम्भव है। लाख वर्ष हो जाये तो भी मिट्टीमेसे घड़ा स्वयं नही होता, इसी तरह कल्याण नहीं होता।

तीर्थंकरका योग हुआ होगा ऐसा शास्त्रवचन है, फिर भी कल्याण नही हुआ, उसका कारण पुरुषार्थहीनता है। पूर्वकालमे ज्ञानी मिले थे फिर भी पुरुषार्थके बिना जैसे वह योग निष्फल गया, वैसे इस बार ज्ञानीका योग मिला है और पुरुषार्थ नही करेंगे तो यह योग भी निष्फल जायेगा। इसलिये पुरुषार्थ करें; और तो ही कल्याण होगा। उपादानकारण—पुरुषार्थ श्रेष्ठ है।

यों निश्चय करें कि सत्पुरुषके कारण–निमित्त–से अनंत जीव तर गये हैं। कारणके बिना कोई जीव नहीं तरता। असोच्याकेवलीको भी आगे पीछे वैसा योग प्राप्त हुआ होगा। सत्संगके बिना सारा जगत डूब गया है!

मीराबाई महा भक्तिमान थी। वृंदावनमे जीवा गोसांईके दर्शन करनेके लिये वे गयी, और पुछवाया, 'दर्शन करनेके लिये आऊँ ?' तब जीवा गोसाईने कहलवाया, 'मै स्त्रीका मुँह नही देखता।' तब मीरांबाईने कहलाया, 'वृंदावनमे रहते हुए भी आप पुरुष रहे हैं यह बहुत आश्चर्यकारक है। वृंदावनमें रहकर मुझे भगवानके सिवाय अन्य पुरुषके दर्शन नही करने है। भगवानका भक्त है वह तो स्त्रीरूप है, गोपीरूप है। कामको मारनेके लिये उपाय करें, क्योंकि लेते हुए भगवान, देते हुए भगवान, चलते हुए भगवान, सर्वत्र भगवान हैं।'

नाभा भगत था। किसीने चोरी करके चोरीका माल भगतके घरके आगे दबा दिया। इससे भगतपर चोरीका आरोप लगाकर कोतवाल पकड़कर ले गया। कैदमे डालकर, चोरी मनानेके लिये रोज बहुत मार मारने लगा। परन्तु भला जीव, भगवानका भगत, इसलिये शांतिसे सहन किया। गोसाईजीने आकर कहा 'मैं विष्णु भक्त हूँ, चोरी किसी दूसरेने की है, ऐसा कह।' तब भगतने कहा 'ऐसा कहकर छूटनेकी अपेक्षा इस देहको मार पड़े यह क्या बुरा है ? मारता है तब मैं तो भक्ति करता हूं। भगवानके

नामसे देहको दंड हो यह अच्छा है। इसके नामसे सब कुछ सीधा। देह रखनेके लिये भगवानका नाम नहीं लेना है। भले देहको मार पड़े यह अच्छा—क्या करना है देहको!'

अच्छा समागम, अच्छी रहन-सहन हो वहाँ समता आती है। समताकी विचारणाके लिये दो घड़ीकी सामायिक करना कहा है। सामायिकमे उलटे-सुलटे मनोरथोंका चिंतन करे तो कुछ भी फल नही होता। मनके दौड़ते हुए घोडोको रोकनेके लिये सामायिकका विधान है।

संवत्सरीके दिनसंबंधी एक पक्ष चतुर्थीकी तिथिका आग्रह करता है, और दूसरा पक्ष पंचमीकी तिथिका आग्रह करता है। आग्रह करनेवाले दोनो मिथ्यात्वी है। ज्ञानीपुरुषोने जो दिन निश्चित किया होता है वह आज्ञाका पालन होनेके लिये होता है। ज्ञानी पुरुष अष्टमी न पालनेकी आज्ञा करें और दोनोको सप्तमी पालनेको कहें अथवा सप्तमी अष्टमी इकट्ठी करेंगे यो सोचकर षष्ठी कहे अथवा उसमे भी पंचमी इकट्ठी करेंगे यो सोचकर दूसरी तिथि कहे तो वह आज्ञा पालनेके लिये कहते हैं। बाकी तिथियोका भेद छोड देना चाहिये। ऐसी कल्पना नही करनी चाहिये, ऐसे भंगजालमे नही पड़ना चाहिये। ज्ञानीपुरुषोने तिथियोकी मर्यादा आत्मार्थके लिये की है।

यदि अमुक दिन निश्चित न किया होता, तो आवश्यक विधियोका नियम नही रहता। आत्मार्थके लिये तिथिकी मर्यादाका लाभ ले।

आनंदघनजीने श्री अनतनाथस्वामीके स्तवनमे कहा है—

'एक कहे सेवीए विविध किरिया करी, फळ अनेकांत लोचन न देखे।
फळ अनेकांत किरिया करी बापड़ा, रडवडे चार गतिमांही लेखे॥'[1]

अर्थात् जिस क्रियाके करनेसे अनेक फल हो वह क्रिया मोक्षके लिये नही है। अनेक क्रियाओका फल एक मोक्ष ही होना चाहिये। आत्माके अंश प्रगट होनेके लिये क्रियाओका वर्णन है। यदि क्रियाओका वह फल न हुआ तो वे सब क्रियाएँ संसारके हेतु हैं।

'निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि' ऐसा जो कहा है उसका हेतु कषायके त्याग करनेका है, परन्तु बेचारे लोग तो एकदम आत्माका ही त्याग कर देते है।

जीव देवगतिकी, मोक्षके सुखकी अथवा दूसरी वैसी कामनाकी इच्छा न रखे।

पंचमकालके गुरु कैसे है उसके बारेमे एक संन्यासीका दृष्टांत:—एक सन्यासी था। वह अपने शिष्यके घर गया। ठंडी बहुत थी। जीमने बैठते समय शिष्यने नहानेको कहा। तब गुरुने मनमे विचार किया 'ठंडी बहुत है, और नहाना पडेगा।' यों सोचकर संन्यासीने कहा 'मै तो ज्ञानगंगाजलमे स्नान कर रहा हूँ।' शिष्य विचक्षण होनेसे समझ गया, और उसने, गुरुको कुछ शिक्षा मिले ऐसा रास्ता लिया। शिष्यने 'भोजनके लिये पधारे' ऐसे मानसहित बुलाकर भोजन कराया। प्रसादके बाद गुरु महाराज एक कोठड़ीमे सो गये। गुरुको तृषा लगी इसलिये शिष्यसे जल माँगा। तब तुरत शिष्यने कहा 'महाराज, जल ज्ञान-गंगामेंसे पी ले।' जब शिष्यने ऐसा कठिन रास्ता लिया तब गुरुने कबूल किया 'मेरे पास ज्ञान नही है। देहकी साताके लिये ठंडीमे मैने स्नान नहीं करनेका कहा था।'

मिथ्यादृष्टिके पूर्वके जप-तप अभी तक मात्र आत्महितार्थ नही हुए।

आत्मा मुख्यत आत्मस्वभावसे वर्तन करे वह 'अध्यात्मज्ञान'। मुख्यतः जिसमें आत्माका वर्णन किया हो वह 'अध्यात्मशास्त्र'। भाव-अध्यात्मके बिना अक्षर(शब्द)अध्यात्मीका मोक्ष नही होता। जो गुण अक्षरोमे कहे गये है वे गुण यदि आत्मामे रहे तो मोक्ष होता है। सत्पुरुषमे भाव-अध्यात्म प्रगट है।

---

१ **भावार्थ**—कुछ लोग कहते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकारकी सेवा-भक्ति अथवा क्रिया करके भगवानकी सेवा करते हैं, परतु उन्हे क्रियाका फल दिखायी नही देता। वे बेचारे एकसा फल न देनेवाली क्रिया करके चारों गतियोंमें भटकते रहते हैं, और उनकी मुक्ति नही हो पाती।

सत्पुरुषकी वाणी जो सुनता है वह द्रव्य-अध्यात्मी, शब्द-अध्यात्मी कहा जाता है। शब्द-अध्यात्मी अध्यात्मकी बातें कहते हैं; और महा अनर्थकारक प्रवर्तन करते हैं, इस कारणसे उन्हें ज्ञानदग्ध कहे। ऐसे अध्यात्मियोंको शुष्क और अज्ञानी समझे।

ज्ञानीपुरुषरूपी सूर्यके प्रगट होनेके बाद सच्चे अध्यात्मी शुष्क रीतिसे प्रवृत्ति नही करते, भाव-अध्यात्ममे प्रगटरूपसे रहते है। आत्मामे सच्चे गुण उत्पन्न होनेके बाद मोक्ष होता है। इस कालमे द्रव्य-अध्यात्मी, ज्ञानदग्ध बहुत है। द्रव्य-अध्यात्मी मंदिरके कलशके दृष्टातसे मूल परमार्थको नही समझते।

मोह आदि विकार ऐसे हैं कि सम्यग्दृष्टिको भी चलायमान कर देते हैं; इसलिये आप तो समझे कि मोक्षमार्ग प्राप्त करनेमे वैसे अनेक विघ्न हैं। आयु थोड़ी है, और कार्य महाभारत करना है। जिस तरह नाव छोटी हो और बड़ा महासागर पार करना हो, उसी तरह आयु तो थोड़ी है, और संसाररूपी महासागर पार करना है। जो पुरुष प्रभुके नामसे पार हुए हैं उन पुरुषोको धन्य है! अज्ञानी जीवको पता नही है कि अमुक गिरनेकी जगह है, परंतु ज्ञानियोंने उसे देखा हुआ है। अज्ञानी, द्रव्य-अध्यात्मी कहते है कि मुझमें कषाय नही है। सम्यग्दृष्टि चैतन्यसंयुक्त है।

एक मुनि गुफामे ध्यान करनेके लिये जा रहे थे। वहाँ सिंह मिल गया। उनके हाथमें लकड़ी थी। सिंहके सामने लकडी उठाई जाये तो सिंह चला जाये यों मनमे होनेपर मुनिको विचार आया—'मै आत्मा अजर अमर हूँ, देहप्रेम रखना योग्य नहीं है, इसलिये हे जीव! यही खड़ा रह। सिंहका भय है वही अज्ञान है। देहमे मूर्च्छाके कारण भय है।' ऐसी भावना करते करते वे दो घड़ी तक वही खड़े रहे कि इतनेमें केवलज्ञान प्रगट हो गया। इसलिये विचारदशा, विचारदशामे बहुत ही अंतर है।

उपयोग जीवके बिना नही होता। जड और चेतन इन दोनोमे परिणाम होता है। देहधारी जीवमे अध्यवसायकी प्रवृत्ति होती है, संकल्प-विकल्प खड़े होते हैं, परन्तु ज्ञानसे निर्विकल्पता होती है। अध्यवसायका क्षय ज्ञानसे होता है। ध्यानका हेतु यही है। उपयोग रहना चाहिये।

धर्मध्यान, शुक्लध्यान उत्तम कहे जाते है। आर्त्त और रौद्रध्यान अशुभ कहे जाते हैं। बाह्य उपाधि ही अध्यवसाय है। उत्तम लेश्या हो तो ध्यान कहा जाता है; और आत्मा सम्यक् परिणाम प्राप्त करता है।

माणेकदासजी एक वेदांती थे। उन्होंने एक ग्रंथमे मोक्षकी अपेक्षा सत्संगको अधिक यथार्थ माना है। कहा है —

"निज छंदनसे ना मिले, हेरो वैकुंठ धाम।
संतकृपासे पाईए, सो हरि सबसें ठाम॥"

जैनमार्गमे अनेक शाखाएँ हो गयी है। लोंकाशाको हुए लगभग चार सौ वर्ष हुए हैं। परंतु उस ढूंढिया सम्प्रदायमे पाँच ग्रंथ भी नही रचे गये हैं और वेदातमे दस हजार जितने ग्रंथ हुए है। चार सौ वर्षमें, बुद्धि होती तो वह छिपी न रहती।

कुगुरु और अज्ञानी पाखंडियोंका इस कालमे पार नहीं है।

बड़े बड़े जुलूम निकालता है, और धन खर्च करता है, यो जानकर कि मेरा कल्याण होगा, ऐसी बड़ी बात समझकर हजारो रुपये खर्च कर डालता है। एक एक पैसा तो झूठ बोल बोलकर इकट्ठा करता है, और एक साथ हजारो रुपये खर्च कर डालता है! देखिये, जीवका कितना अधिक अज्ञान! कुछ विचार ही नही आता!

आत्माका जैसा स्वरूप है, वैसे ही स्वरूपको 'यथाख्यातचारित्र' कहा है।

भय अज्ञानसे है। सिंहका भय सिंहनीको नहीं होता। नागिनीको नागका भय नही होता। इसका कारण यह है कि इस प्रकारका उनका अज्ञान दूर हो गया है।

जब तक सम्यक्त्व प्रकट नही होता तब तक मिथ्यात्व है; और मिश्रगुणस्थानकका नाश हो जाये तब सम्यक्त्व कहा जाता है। सभी अज्ञानी पहले गुणस्थानकमे है।

सत्शास्त्र, सद्गुरुके आश्रयसे जो संयम होता है उसे 'सरागसंयम' कहा जाता है। निवृत्ति, अनिवृत्ति स्थानकका अंतर पडे तो सरागसयममेसे 'वीतरागसयम' होता है। उसे निवृत्ति-अनिवृत्ति दोनों बराबर है।

स्वच्छंदसे कल्पना वह भ्रांति है।

'यह तो इस तरह नही, इस तरह होगा' ऐसा जो भाव वह 'शका' है।

समझनेके लिये विचार करके पूछना, यह 'आशका' कही जाती है।

अपने आपसे जो समझमे न आये वह 'आशकामोहनीय' है। सच्चा जान लिया हो फिर भी सच्चा भाव न आये, वह भी 'आशकामोहनीय' है। अपने आप जो समझमे न आये, उसे पूछना। मूल जाननेके बाद उत्तर विषयके लिये इसका किस तरह होगा ऐसा जाननेकी आकाक्षा हो, उसका सम्यक्त्व नष्ट नही होता, अर्थात् वह पतित नही होता। मिथ्या भ्रातिका होना सो शका है। मिथ्या प्रतीतिका अनंतानुबंधीमे समावेश होता है। नासमझीसे दोष देखे तो यह समझका दोष है, परंतु उसमे समकित नही जाता; परंतु अप्रतीतिसे दोष देखे तो यह मिथ्यात्व है। क्षयोपशम अर्थात् क्षय और शात हो जाना।

---

७ राळजके सीमांतमे बडके नीचे

यह जीव क्या करे? सत्समागममे आकर साधनके बिना रह गया, ऐसी कल्पना मनमे होती हो और सत्समागममे आनेका प्रसग बने और वहाँ आज्ञा, ज्ञानमार्गका आराधन करे तो और उस रास्तेसे चले तो ज्ञान होता है। समझमे आ जाये तो आत्मा सहजमे प्रगट होता है, नही तो जिदगी चली जाये तो भी प्रगट नही होता। माहात्म्य समझमे आना चाहिये। निष्कामबुद्धि और भक्ति चाहिये। अत करण-की शुद्धि हो तो ज्ञान अपनेआप होता है। ज्ञानीको पहचाना जाये तो ज्ञानकी प्राप्ति होती है। किसी योग्य जीवको देखे तो ज्ञानी उसे कहते हैं कि सभी कल्पनाएँ छोड़ने जैसी है। ज्ञान ले। ज्ञानीको ओघ-संज्ञासे पहचाने तो यथार्थ ज्ञान नही होता। भक्तिकी रीति नही जानी। आज्ञाभक्ति नही हुई, तब तक आज्ञा हो तो माया भुलाती है। इसलिये जागृत रहे। मायाको दूर करते रहे। ज्ञानी सभी रीति जानते है।

जब ज्ञानीका त्याग (दृढ त्याग) आये अर्थात् जैसा चाहिये वैसा यथार्थ त्याग करनेको ज्ञानी कहे तब माया भुला देती है, इसलिये वहाँ भलीभाँति जागृत रहे। ज्ञानी मिले कि तभीसे तैयार होकर रहे, कमर कस कर तैयार रहे।

सत्संग होता है तब माया दूर रहती है; और सत्संगका योग दूर हुआ कि फिर वह तैयारकी तैयार खड़ी है। इसलिये बाह्य उपाधिको कम करें। इससे सत्संग विशेष होता है। इस कारणसे बाह्य त्याग श्रेष्ठ है। बाह्य त्यागमे ज्ञानीको दुःख नही है, अज्ञानीको दुःख है। समाधि करनेके लिये सदाचारका सेवन करना है। नकली रग सो नकली रंग है। असली रंग सदा रहता है। ज्ञानी मिलनेके बाद देह छूट गयी, (देह धारण करना नही रहता) ऐसा समझें। ज्ञानीके वचन पहले कडवे लगते हैं, परंतु बादमे मालूम होता है कि ज्ञानीपुरुष संसारके अनंत दुःखोंको मिटाते है। जैसे औषध कडवा होता है, परंतु वह दीर्घकालके रोगको मिटाता है उसी तरह।

त्यागपर सदा ध्यान रखे। त्यागको शिथिल न करे। श्रावक तीन मनोरथोका चिंतन करे। सत्य-मार्गका आराधन करनेके लिये मायासे दूर रहे। त्याग करता ही रहे। माया किस तरह भुलाती है उसका एक दृष्टात —

कोई एक सन्यासी था वह यो कहा करता कि 'मैं मायाको घुसने ही नहीं दूँगा। नग्न होकर विचरूँगा।' तब मायाने कहा कि 'मैं तेरे आगे ही आगे चलूँगी।' 'जंगलमें अकेला विचरूँगा', ऐसा

संन्यासीने कहा तब मायाने कहा कि 'मैं सामने आ जाऊँगी।' संन्यासी फिर जंगलमे रहता, और 'मुझे कंकड़ और रेत दोनों समान हैं,' यों कहकर रेतीपर सोया करता। फिर मायाको कहा कि 'तू कहाँ है?' मायाने समझ लिया कि इसे बहुत गर्व चढा है, इसलिये कहा कि 'मेरे आनेकी क्या जरूरत है? मेरा बड़ा पुत्र अहंकार तेरी सेवामें छोडा हुआ था।'

माया इस तरह ठगती है। इसलिये ज्ञानी कहते है कि 'मै सबसे न्यारा हूँ, सर्वथा त्यागी हुआ हूँ, अवधूत हूँ, नग्न हूँ, तपश्चर्या करता हूँ। मेरी बात अगम्य है। मेरी दशा बहुत ही अच्छी है। माया मुझे बाधित नहीं करेगी, ऐसी मात्र कल्पनासे मायासे ठगे न जाना।'

जरा समता आती है कि अहकार आकर भुला देता है कि 'मैं समतावाला हूँ', इसलिये उपयोगको जागृत रखें। मायाको खोज खोजकर ज्ञानीने सचमुच जीता है। भक्तिरूपी स्त्री है। उसे मायाके सामने रखा जाये, तो मायाको जीता जा सकता है। भक्तिमे अहकार नही है, इसलिये मायाको जीतती है। आज्ञामे अहकार नहा है। स्वच्छंदमे अहंकार है। जब तक रागद्वेष नहीं जाते तब तक तपश्चर्या करनेका फल ही क्या? 'जनकविदेहीमे विदेहिता नही हो सकती, यह केवल कल्पना है, संसारमे विदेहिता नहीं रहती', ऐसा चिंतन न करें। जिसका अपनापन दूर हो जाये उससे वैसे रहा जा सकता है। मेरा तो कुछ नही है। मेरी तो काया भी नही है, इसलिये मेरा कुछ नहीं है, ऐसा हो तो अहकार मिटता है यह यथार्थ है। जनक विदेहीकी दशा उचित है। वसिष्ठजीने रामको उपदेश दिया, तब राम गुरुको राज्य अर्पण करने लगे, परन्तु गुरुने राज्य लिया ही नही। परन्तु अज्ञान दूर करना है, ऐसा उपदेश देकर अपनापन मिटाया। जिसका अज्ञान गया उसका दुःख चला गया। शिष्य और गुरु ऐसे होने चाहिये।

ज्ञानी गृहस्थावासमे बाह्य उपदेश, व्रत देते है या नही? गृहस्थावासमे हो ऐसे परमज्ञानी मार्ग नही चलाते—मार्ग चलानेकी रीतसे मार्ग नही चलाते, स्वय अविरत रहकर व्रत नही दिलाते, परन्तु अज्ञानी ऐसा करता है। इससे राजमार्गका उल्लघन होता है। क्योंकि वैसा करनेसे बहुतसे कारणोंमें विरोध आता है ऐसा है परन्तु इससे यह विचार न करे कि ज्ञानी निवृत्तिरूपसे नही है, परन्तु विचार करें तो विरतिरूपसे ही है। इसलिये बहुत ही विचार करना है।

सकाम भक्तिसे ज्ञान नही होता। निष्काम भक्तिसे ज्ञान होता है। ज्ञानीके उपदेशमें अद्भुतता है। वे अनिच्छा भावसे उपदेश देते है, स्पृहारहित होते हे। उपदेश यह ज्ञानका माहात्म्य है, इसलिये माहात्म्य के कारण अनेक जीव सरलतासे प्रतिबुद्ध होते है।

अज्ञानीका सकाम उपदेश होता है, जो ससार फलका कारण है। वह रुचिकर, रागपोषक और ससारफल देनेवाला होनेसे लोगोको प्रिय लगता है, और इसलिये जगतमे अज्ञानीका मार्ग अधिक चलता है। ज्ञानीके मिथ्या भावका क्षय हुआ है, अहंभाव मिट गया है; इसलिये अमूल्य वचन निकलते है। बाल-जीवोको ज्ञानी-अज्ञानीको पहचान नही होती।

विचार करे, 'मै वणिक हूँ', इत्यादि आत्मामे रोम-रोममें व्याप्त है, उसे दूर करना है।

आचार्यजीने जीवोंका स्वभाव प्रमादी जानकर दो दो तीन तीन दिनोके अन्तरसे नियम पालनेकी आज्ञा की है।

संवत्सरीका दिन कुछ साठ घड़ीसे ज्यादा-कम नहीं होता; तिथिमे कुछ अन्तर नहीं है। अपनी कल्पनासे कुछ अन्तर नही हो जाता। क्वचित् बीमारी आदि कारणसे पंचमीका दिन न पाला गया और छठ पाले और आत्मामे कोमलता हो तो वह सफल होता है। अभी बहुत वर्षोंसे पर्युषणमे तिथियोंकी भ्रांति चलती है। दूसरे आठ दिन धर्म करे तो कुछ फल कम होता है, ऐसी बात नही है। इसलिये तिथियोंका मिथ्या कदाग्रह न रखे, उसे छोड़ दें। कदाग्रह छुड़ानेके लिये तिथियाँ बनायी है, उसके बदले उसी दिन जीव कदाग्रह बढाता है।

ढूँढिया और तपा तिथियोंका विरोध खडा करके—अलग होकर—'मैं अलग हूँ', ऐसा सिद्ध करनेके लिये झगडा करते हैं यह मोक्ष जानेका रास्ता नहीं है। वृक्षको मानके बिना कर्म भोगने पड़ते हैं तो मनुष्यको शुभाशुभ क्रियाका फल क्यों नही भोगना पड़े ?

जिससे सचमुच पाप लगता है उसे रोकना अपने हाथमे है, वह अपनेसे हो सकता है, उसे तो जीव नहीं रोकता; और दूसरी तिथि आदिकी और पापकी व्यर्थ चिंता किया करता है। अनादिसे शब्द, रूप' रस, गध और स्पर्शका मोह रहा है। उस मोहका निरोध करना है। बड़ा पाप अज्ञानका है।

जिसे अविरतिके पापकी चिंता होती हो उससे वैसे स्थानमे कैसे रहा जा सकता है?

स्वयं त्याग नहीं कर सकता और बहाना करता है कि मुझे अंतराय बहुत हैं। धर्मका प्रसंग आता है तो कहता है, 'उदय है।' 'उदय उदय' कहा करता है, परन्तु कुछ कुएँमें नही गिर जाता। गाड़ेमे बैठा हो और गड्ढा आ जाये तो ध्यानसे सँभलकर चलता है। उस समय उदयको भूल जाता है। अर्थात् अपनी शिथिलता हो तो उसके बदले उदयका दोष निकालता है, ऐसा अज्ञानीका वर्तन है।

लौकिक और अलौकिक स्पष्टीकरण भिन्न भिन्न होते है। उदयका दोष निकालना यह लौकिक स्पष्टीकरण है। अनादिकालके कर्म दो घड़ीमे नष्ट होते हैं, इसलिये कर्मका दोष न निकालें। आत्माकी निंदा करें। धर्म करनेकी बात आती है तब जीव पूर्वकृत कर्मकी बात आगे कर देता है। जो धर्मको आगे करता है उसे धर्मका लाभ होता है; और जो कर्मको आगे करता है उसे कर्म आडे आता है, इसलिये पुरुषार्थ करना श्रेष्ठ है। पुरुषार्थ पहले करना चाहिये। मिथ्यात्व, प्रमाद और अशुभ योगको छोड़ना चाहिये।

पहले तप नही करना, परन्तु मिथ्यात्व और प्रमादका पहले त्याग करना चाहिये। सबके परिणामोंके अनुसार शुद्धता एवं अशुद्धता होती है। कर्म दूर किये बिना दूर होनेवाले नही है। इसीलिये ज्ञानियोंने शास्त्र प्ररूपित किये हैं। शिथिल होनेके लिये साधन नहीं बताये। परिणाम ऊँचे आने चाहिये। कर्म उदयमे आयेगा, ऐसा मनमे रहे तो कर्म उदयमें आता है! बाकी पुरुषार्थ करे तो कर्म दूर हो जाते हैं। उपकार हो यही ध्यान रखना चाहिये।

८　　　　　　वडवा, भाद्रपद सुदी १०, गुरु, १९५२

कर्म गिन गिनकर नष्ट नही किये जाते। ज्ञानीपुरुष तो एकदम समूहरूपमे जला देते है।

विचारवान दूसरे आलंबन छोड़कर, आत्माके पुरुषार्थके जयका आलबन ले। कर्मबधनका आलंबन न लें। आत्मामें परिणमित होना अनुप्रेक्षा है।

मिट्टीमे घड़ा होनेकी सत्ता है; परन्तु यदि दड, चक्र, कुम्हार आदि मिले तो होता है। इसी तरह आत्मा मिट्टीरूप है, उसे सद्गुरु आदि साधन मिलें तो आत्मज्ञान होता है। जो ज्ञान हुआ हो वह पूर्वकालमें हुए ज्ञानियोंका सपादन किया हुआ है उसके साथ पूर्वापर मिलता आना चाहिये, और वर्तमानमें भी जिन ज्ञानीपुरुषोंने ज्ञानका संपादन किया है उनके वचनोंके साथ मेल खाता हुआ होना चाहिये; नही तो अज्ञानको ज्ञान मान लिया है ऐसा कहा जायेगा।

ज्ञान दो प्रकारके है—एक बीजभूत ज्ञान, और दूसरा वृक्षभूत ज्ञान। प्रतीतिसे दोनों सरीखे हैं, उनमे भेद नही है। वृक्षभूत ज्ञान सर्वथा निरावरण हो तो उसी भवमे मोक्ष होता है; और बीजभूत ज्ञान हो तो अंतमे पंद्रह भवमे मोक्ष होता है।

आत्मा अरूपी है; अर्थात् वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरहित वस्तु है; अवस्तु नहीं है।

जिसने षड्दर्शन रचे हैं उसने बहुत ही चतुराईका उपयोग किया है।

बंध अनेक अपेक्षाओंसे होता है; परन्तु मूल प्रकृतियाँ आठ हैं, वे कर्मकी गाँठ खोलनेके लिये आठ प्रकारसे कही है।

आयुकर्म एक ही भवका बँधता है। अधिक भवकी आयु नही बँधती। यदि बँधती हो तो किसीको केवलज्ञान उत्पन्न न हो।

ज्ञानीपुरुष समतासे कल्याणका जो स्वरूप बताते है वह उपकारके लिये बताते हैं। ज्ञानीपुरुष मार्ग-मे भूले भटके जीवको सीधा रास्ता बताते है। जो ज्ञानीके मार्गपर चलता है उसका कल्याण होता है। ज्ञानीके वियोगके बाद बहुतसा काल बीत जाये तब अंधकार हो जानेसे अज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। और ज्ञानीपुरुषोंके वचन समझमे नहीं आते, जिससे लोगोंको उलटा भासता है। समझमें न आनेसे लोग गच्छके भेद बना डालते है। गच्छके भेद ज्ञानियोने नही डाले। अज्ञानी मार्गका लोप करता है। जब ज्ञानी होते हैं तब मार्गका उद्योत करते हैं। अज्ञानी ज्ञानीका विरोध करते है। मार्गसन्मुख होना चाहिये, क्योंकि विरोध करनेसे तो मार्गका भान हो नही होता।

बाल और अज्ञानी जीव छोटी-छोटी बातोमे भेद खड़ा कर देते हैं। तिलक और मुंहपत्ती इत्यादिके आग्रहमे कल्याण नही है। अज्ञानीको मतभेद करते हुए देर नही लगती। ज्ञानीपुरुष रूढिमार्गके बदले शुद्धमार्गका प्ररूपण करते हो तो भी जीवको भिन्न भासता है, और वह मानता है कि यह अपना धर्म नही है। जो जीव कदाग्रहरहित होता है वह शुद्धमार्गको स्वीकार करता है। जैसे व्यापार अनेक प्रकारके होते है परन्तु लाभ एक ही प्रकारका होता है। विचारवानोका तो कल्याणका मार्ग एक ही होता है। अज्ञानमार्गके अनन्त प्रकार है।

जैसे अपना लडका कुबडा हो और दूसरेका लड़का बहुत रूपवान हो, परन्तु राग अपने लडकेपर होता है, और वह अच्छा लगता है, उसी तरह जिस कुलधर्मको स्वयने माना है, वह चाहे जैसा दोषवाला हो तो भी सच्चा लगता है। वैष्णव, बौद्ध, श्वेतांबर, ढूंढिया, दिगम्बर जैन आदि चाहे जो हो परन्तु जो कदाग्रहरहित होकर शुद्ध समतासे अपने आवरणोको घटायेगा उसीका कल्याण होगा।

सामायिक कायाके योगको रोकती है, आत्माको निर्मल करनेके लिये कायाके योगको रोकें। रोकनेसे परिणाममें कल्याण होता है। कायाकी सामायिक करनेकी अपेक्षा आत्माकी समायिक एक बार करें। ज्ञानीपुरुषके वचन सुन सुनकर गाँठ बाँधे तो आत्माकी सामायिक होगी। इस कालमे आत्माकी सामायिक होती है। मोक्षका उपाय अनुभवगोचर है। जैसे अभ्यास करते-करते आगे बढते हैं वैसे ही मोक्षके लिये भी है।

जब आत्मा कुछ भी क्रिया न करे तब अबंध कहा जाता है।

पुरुषार्थ करे तो कर्मसे मुक्त होता है। अनंतकालके कर्म हो, और यदि यथार्थ पुरुषार्थ करे तो कर्म यों नहीं कहते कि मैं नही जाऊँगा। दो घड़ीमे अनन्त कर्मोंका नाश होता है। आत्माकी पहचान हो तो कर्मका नाश होता है।

प्र०—सम्यक्त्व किससे प्रगट होता है ?

उ०—आत्माका यथार्थ लक्ष्य होनेसे। सम्यक्त्वके दो प्रकार है—(१) व्यवहार और (२) परमार्थ। सद्गुरुके वचनोका सुनना, उन वचनोंका विचार करना, उनकी प्रतीति करना, यह 'व्यवहार-सम्यक्त्व' है। आत्माकी पहचान हो, यह 'परमार्थ-सम्यक्त्व' है।

अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना बोध असर नही करता; इसलिये पहले अन्तःकरणमे कोमलता लायें, व्यवहार और निश्चय इत्यादिकी मिथ्या चर्चामे निराग्रही रहें; मध्यस्थभावसे रहें। आत्माके स्वभावको जो आवरण है उसे ज्ञानी 'कर्म' कहते हैं।

जब सात प्रकृतियोंका क्षय हो तब सम्यक्त्व प्रगट होता है। अनंतानुबंधी चार कषाय, मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय, इन सात प्रकृतियोंका क्षय हो जाये तब सम्यक्त्व प्रगट होता है।

प्र०—कषाय क्या है ?

उ०—सत्पुरुष मिलनेपर, जीवको वे बताये कि तू जो विचार किये बिना करता जाता है उसमें कल्याण नहीं है, फिर भी उसे करनेके लिये दुराग्रह रखना वह 'कषाय' है।

उन्मार्गको मोक्षमार्ग माने और मोक्षमार्गको उन्मार्ग माने, वह 'मिथ्यात्वमोहनीय' है।

उन्मार्गसे मोक्ष नही होता, इसलिये मार्ग दूसरा होना चाहिये, ऐसा जो भाव वह 'मिश्रमोहनीय' है।

'आत्मा यह होगा ?' ऐसा ज्ञान होना 'सम्यक्त्व मोहनीय' है।

'आत्मा यह है', ऐसा निश्चयभाव 'सम्यक्त्व' है।

ज्ञानीके प्रति यथार्थ प्रतीति हो और रात-दिन उस अपूर्व योगकी याद आती रहे तो सच्ची भक्ति प्राप्त होती है।

नियमसे जीव कोमल होता है, दया आती है। मनके परिणाम यदि उपयोगसहित हों तो कर्म कम लगते है उपयोगरहित हों तो कर्म अधिक लगते है। अन्तःकरणको कोमल करनेके लिये, शुद्ध करनेके लिये व्रत आदि करनेका विधान किया है। स्वादबुद्धिको कम करनेके लिये नियम करें। कुलधर्म जहाँ जहाँ देखते हैं वहाँ वहाँ आड़े आता है।

---

९ वडवा, भाद्रपद सुदी १३, शनि, १९५२

श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ रहते थे, उसे जानकर भक्ति करें। योगी समझकर तो सारा जगत भक्ति करता है परन्तु गृहस्थाश्रममे योगदशा है, उसे समझकर भक्ति करना वैराग्यका कारण है। गृहस्थाश्रममें सत्पुरुष रहते हैं उनका चित्र देखकर विशेष वैराग्यकी प्रतीति होती है। योगदशाका चित्र देखकर सारे जगतको वैराग्यकी प्रतीति होती है, परन्तु गृहस्थाश्रममे रहते हुए भी त्याग और वैराग्य योगदशा जैसे रहते हैं, यह कैसी अद्भुत दशा है! योगमे जो वैराग्य रहता है वैसा अखंड वैराग्य सत्पुरुष गृहस्थाश्रममें रखते है। उस अद्भुत वैराग्यको देखकर मुमुक्षुको वैराग्य, भक्ति होनेका निमित्त बनता है। लौकिकदृष्टिसे वैराग्य, भक्ति नहीं है।

पुरुषार्थ करना और सत्य रीतिसे वर्तन करना ध्यानमें ही नहीं आता। वह तो लोग भूल ही गये हैं।

लोग जब वर्षा आती है तब पानी टंकीमें भर रखते है, वैसे मुमुक्षुजीव इतना सारा उपदेश सुनकर जरा भी ग्रहण नहीं करते, यह एक आश्चर्य है। उनका उपकार किस तरह हो? सत्पुरुषकी वर्तमान स्थितिकी विशेष अद्भुतदशा है। सत्पुरुषके गृहस्थाश्रमकी सारी स्थिति प्रशस्त है। सभी योग पूजनीय है।

ज्ञानी दोष कम करनेके लिये अनुभवके वचन कहते हैं; इसलिये वैसे वचनोंका स्मरण करके यदि उन्हे समझा जाये, उनका श्रवण मनन हो तो सहजमे ही आत्मा उज्ज्वल होता है। वैसा करनेमे कुछ बहुत मेहनत नहीं है। वैसे वचनोंका विचार न करे, तो कभी भी दोष कम नहीं होते।

सदाचारका सेवन करना चाहिये। ज्ञानीपुरुषोने दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-परिमाण आदि सदाचार कहे हैं। ज्ञानियोंने जिन सदाचारोंका सेवन करना कहा है वह यथार्थ है, सेवन करने योग्य है। बिना साक्षीके जीव व्रत, नियम न करे।

विषय-कषाय आदि दोष दूर हुए बिना सामान्य आशयवाले दया आदि भी नहीं आते; तो फिर गूढ आशयवाले दया आदि कहाँसे आयेंगे ? विषय-कषायसहित मोक्षमें जाया नहीं जाता। अंतःकरणकी शुद्धिके बिना आत्मज्ञान नहीं होता। भक्ति सब दोषोंका क्षय करनेवाली है, इसलिये वह सर्वोत्कृष्ट है।

जीव विकल्पका व्यापार न करे। विचारवान अविचार और अकार्य करते हुए क्षोभ पाता है। अकार्य करते हुए जो क्षोभ नही पाता वह अविचारवान है। अकार्य करते हुए पहले जितना त्रास रहता

है उतना दूसरी बार करते हुए नहीं रहता। इसलिये पहलेसे ही अकार्य करते हुए रुक जायें, दृढ़ निश्चय करके अकार्य न करें।

सत्पुरुष उपकारके लिये जो उपदेश करते हैं, उसे सुने और विचारे तो जीवके दोष अवश्य कम होते हैं। पारसमणिका संग हुआ, और लोहेका सुवर्ण न हुआ तो, या तो पारसमणि नही और या तो असली लोहा नही। उसी तरह जिसके उपदेशसे आत्मा सुवर्णमय न हो वह उपदेष्टा, या तो सत्पुरुष नही, और या तो उपदेश सुननेवाला योग्य जीव नहीं। योग्य जीव और सच्चे सत्पुरुष हों तो गुण प्रकट हुए बिना नही रहते।

लौकिक आलंबन करना ही नहीं। जीव स्वयं जागृत हो तो सभी विपरीत कारण दूर हो जाते हैं। जिस तरह कोई पुरुष घरमे निद्रावश है, उसके घरमे कुत्ते, बिल्ले आदि घुस जानेसे नुकसान करते हैं; और फिर वह पुरुष जागनेके बाद नुकसान करनेवाले कुत्ते आदि प्राणिओंका दोष निकालता है; परन्तु अपना दोष नही निकालता कि मैं सो गया तो ऐसा हुआ, उसी तरह जीव अपने दोष नही देखता। स्वयं जागृत रहता हो तो सभी विपरीत कारण दूर हो जाते हैं, इसलिये स्वयं जागृत रहे।

जीव यों कहता है कि तृष्णा, अहंकार, लोभ आदि मेरे दोष दूर नही होते; अर्थात् जीव अपना दोष नही निकालता; और दोषोका ही दोष निकालता है। जैसे सूर्यका ताप बहुत पड़ता है, इससे जीव बाहर नही निकल सकता, इसलिये सूर्यका दोष निकालता है, परन्तु छतरी और जूते सूर्यके तापसे बचनेके लिये बताये हैं, उनका उपयोग नही करता। ज्ञानीपुरुषोंने लौकिकभावको छोड़कर जिन विचारोंसे अपने दोष कम किये, नष्ट किये, वे विचार और वे उपाय ज्ञानी उपकारके लिये बताते हैं। उन्हें सुनकर वे आत्मामे परिणमित हो ऐसा पुरुषार्थ करे।

किस तरह दोष कम हो? जीव लौकिक भाव, क्रिया किया करता है, और दोष क्यो कम नही होते यों कहा करता है!

जो जीव योग्य नहीं होता उसे सत्पुरुष उपदेश नही देते।

सत्पुरुषकी अपेक्षा मुमुक्षुका त्याग-वैराग्य बढ़ जाना चाहिये। मुमुक्षुओंको जागृत-जागृत होकर वैराग्य बढ़ाना चाहिये। सत्पुरुषका एक भी वचन सुनकर अपनेमे दोषोंके अस्तित्वका बहुत ही खेद करेगा और दोष कम करेगा तभी गुण प्रकट होंगे। सत्संग-समागमकी आवश्यकता है। बाकी सत्पुरुष तो, जैसे एक बटोही दूसरे बटोहीको रास्ता बताकर चला जाता है, उसी तरह रास्ता बताकर चले जाते हैं। गुरु-पद धारण करनेके लिये अथवा शिष्य बनानेके लिये सत्पुरुषकी इच्छा नही है। सत्पुरुषके बिना एक भी आग्रह, कदाग्रह दूर नही होता। जिसका दुराग्रह दूर हुआ उसे आत्माका भान होता है। सत्पुरुषके प्रताप-से ही दोष कम होते है। भ्रांति दूर हो जाये तो तुरत सम्यक्त्व होता है।

बाहुबलीजीको जैसे केवलज्ञान पासमें—अंतरमें—था, कुछ बाहर न था, वैसे ही सम्यक्त्व अपने पास ही है।

शिष्य ऐसा हो कि सिर काट कर दे दे, तब ज्ञानी सम्यक्त्व प्राप्त कराते हैं। ज्ञानीपुरुषको नमस्कार आदि करना शिष्यके अहंकारको दूर करनेके लिये है। परन्तु मनमे उथल-पुथल हुआ करे तो किनारा कब आयेगा?

जीव अहंकार रखता है, असत् वचन बोलता है, भ्रांति रखता है; उसका उसे तनिक भी भान नहीं है। यह भान हुए बिना निबेड़ा आनेवाला नहीं है।

शूरवीर वचनोंके समान दूसरा एक भी वचन नहीं है। जीवको सत्पुरुषका एक शब्द भी समझमे नही आया। बड़प्पन बाधा डालता हो तो उसे छोड़ दे। ढूंढियाने मुंहपत्ती और तपाने मूर्ति आदिका

कदाग्रह पकड़ रखा है, परन्तु वैसे कदाग्रहमे कुछ भी हित नही है। शौर्य करके आग्रह, कदाग्रहसे दूर रहे; परन्तु विरोध न करें।

जब ज्ञानीपुरुष होते हैं तब मतभेद एवं कदाग्रह कम कर देते हैं। ज्ञानी अनुकंपाके लिये मार्गका बोध देते हैं। अज्ञानी कुगुरु जगह जगह मतभेद बढ़ाकर कदाग्रहको दृढ करते हैं।

सच्चे पुरुष मिलें, और वे जो कल्याणका मार्ग बतायें, उसीके अनुसार जीव वर्तन करे तो अवश्य कल्याण होता है। सत्पुरुषकी आज्ञाका पालन करना ही कल्याण है। मार्ग विचारवानको पूछें। सत्पुरुषके आश्रयसे सदाचरण करें। खोटी बुद्धि सभीको हैरान करनेवाली है, पापकारी है। जहाँ ममत्व हो वही मिथ्यात्व है। श्रावक सब दयालु होते है। कल्याणका मार्ग एक ही होता है, सौ दो सौ नही होते। अंदरके दोषोका नाश होगा, और समपरिणाम आयेगा तो ही कल्याण होगा।

जो मतभेदका छेदन करे वही सच्चा पुरुष है। जो समपरिणामके रास्तेपर चढाये वह सच्चा संग है। विचारवानको मार्गका भेद नही है।

हिंदु और मुसलमान सरीखे नही है। हिंदुओंके धर्मगुरु जो धर्मबोध कह गये थे उसे बहुत उपकार के लिये कह गये थे। वैसा बोध पीराना मुसलमानोंके शास्त्रोमे नही है। आत्मापेक्षासे कुनबो, बनिया, मुसलमान कोई नही है। वह भेद जिसका दूर हो गया है, वही शुद्ध है; भेद भासना ही अनादि भूल है। कुलाचारके अनुसार जिसे सच्चा माना वही कषाय है।

प्र०—मोक्ष क्या है ?

उ०—आत्माकी अत्यंत शुद्धता, अज्ञानसे छूट जाना, सब कर्मोंसे मुक्त होना 'मोक्ष' है। यथातथ्य ज्ञानके प्रगट होनेपर मोक्ष होता है। जब तक भ्रांति है तब तक आत्मा जगतमे ही है। अनादिकालका जो चेतन है उसका स्वभाव जानना अर्थात् ज्ञान है, फिर भी जीव भूल जाता है वह क्या है ? जाननेमे न्यूनता है, यथातथ्य ज्ञान नही है। वह न्यूनता किस तरह दूर हो ? उस ज्ञानरूपी स्वभावको भूल न जाये, उसे वारंवार दृढ करे तो न्यूनता दूर होती है। ज्ञानीपुरुषके वचनोका आलबन लेनेसे ज्ञान होता है। जो साधन है वे उपकारके हेतु है। जैसा जैसा अधिकारी वैसा वैसा उनका फल होता है। सत्पुरुषके आश्रयसे ले तो साधन उपकारके हेतु हैं। सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलनेसे ज्ञान होता है। सत्पुरुषके वचन आत्मामें परिणत होनेपर मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, अशुभयोग इत्यादि सभी दोष अनुक्रमसे शिथिल पड़ जाते हैं। आत्मज्ञानका विचार करनेसे दोषोका नाश होता है। सत्पुरुष पुकार पुकार कर कह गये हैं, परंतु जीवको लोकमार्गमे पडे रहना है, और लोकोत्तर कहलवाना है, और दोष दूर क्यो नही होते यों मात्र कहते रहना है। लोकका भय छोड़कर सत्पुरुषके वचनोको आत्मामे परिणत करे, तो सब दोष दूर हो जाते है। जीव ममत्व न रखे, बड़प्पन और महत्ता छोड़े बिना आत्मामे सम्यक्त्वका मार्ग परिणमित होना कठिन है।

वर्तमानमे स्वच्छन्दसे वेदांतशास्त्र पढे जाते हैं, और इससे शुष्कता जैसा हो जाता है। षड्दर्शनमें झगडा नही है, परन्तु आत्माको केवल मुक्तदृष्टिसे देखते हुए तीर्थंकरने लम्बा विचार किया है। मूल लक्ष्यगत होनेसे जो जो वक्ताओ (सत्पुरुषो) ने कहा है, वह यथार्थ है, ऐसा मालूम होगा।

आत्मामे कभी भी विकार उत्पन्न न हो, तथा रागद्वेषपरिणाम न हो, तभी केवलज्ञान कहा जाता है। षड्दर्शनवालोने जो विचार किये हैं उससे आत्माका उन्हे भान होता है, परन्तु तारतम्यमे भेद पडता है। मूलमे भूल नहीं है। परन्तु षड्दर्शनको अपनी समझसे लगाये तो कभी नहीं लगते अर्थात् समझमें नही आते। सत्पुरुषके आश्रयसे वे समझमें आते हैं। जिसने आत्माको असंग, निष्क्रिय विचारा हो उसे भ्रांति नही होती, संशय भी नही होता। फिर आत्माके अस्तित्वका भी प्रश्न नही रहता।

प्र०—सम्यक्त्व कैसे ज्ञात हो ?

उ०—अन्दरसे दशा बदले तब सम्यक्त्वका ज्ञान अपने आप स्वयको हो जाता है। सद्देव अर्थात् रागद्वेष और अज्ञान जिसके क्षीण हुए है वह। सद्गुरु किसे कहा जाता हैं? मिथ्यात्वकी ग्रंथि जिसकी छिन्न हो गयी है उसे। सद्गुरु अर्थात् निर्ग्रंथ। सद्धर्म अर्थात् ज्ञानीपुरुषो द्वारा बोधित धर्म। इन तीन तत्त्वोंको यथार्थरूपसे जाने तब सम्यक्त्व हुआ समझा जाता है।

अज्ञान दूर करनेके लिये कारण, साधन बताये है। ज्ञानका स्वरूप जब जाने तब मोक्ष होता है।

परम वैद्यरूपी सद्गुरु मिले और उपदेशरूपी दवा आत्मामे परिणमित हो तब रोग दूर होता है। परन्तु उस दवाको अन्तरमे ग्रहण न करे, तो उसका रोग कभी दूर नही होता। जीव वास्तविक साधन नही करता। जिस तरह सारे कुटुम्बको पहचानना हो तो पहले एक व्यक्तिको पहचाने तो सबकी पहचान हो जाती है, उसी तरह पहले सम्यक्त्वकी पहचान हो तब आत्माके समस्त गुणरूपी परिवारकी पहचान हो जाती है। सम्यक्त्वको सर्वोत्कृष्ट साधन कहा है। बाह्य वृत्तियोको कम करके अन्तर्परिणाम करे तो सम्यक्त्वका मार्ग मिलता है। चलते चलते गाँव आता है, परन्तु बिना चले गाँव नही आता। जीवको यथार्थ सत्पुरुषकी प्राप्ति और प्रतीति नही हुई है।

बहिरात्मामेसे अन्तरात्मा होनेके बाद परमात्मत्व प्राप्त होना चाहिये। जैसे दूध और पानी अलग है वैसे सत्पुरुषके आश्रयसे, प्रतीतिसे देह और आत्मा अलग हैं ऐसा भान होता है। अन्तरमे अपने आत्मानुभवरूपसे, जैसे दूध और पानी भिन्न भिन्न होते है, वैसे ही देह और आत्मा भिन्न भिन्न लगते है तब परमात्मत्व प्रगट होता है। जिसे आत्माका विचाररूपी ध्यान है, सतत निरन्तर ध्यान है, आत्मा जिसे स्वप्नमे भी अलग ही भासता है, कभी जिसे आत्माकी भ्रांति होती ही नही उसीको परमात्मत्व होता है।

अन्तरात्मा कषाय आदि दूर करनेके लिये निरन्तर पुरुषार्थ करता है। चौदहवे गुणस्थान तक यह विचाररूपी क्रिया है। जिसे वैराग्य उपशम रहता हो उसीको विचारवान कहते है। आत्मा मुक्त होनेके बाद ससारमे नही आता। आत्मा स्वानुभवगोचर है, वह चक्षुसे दीखता नही है, इन्द्रियसे रहित ज्ञान उसे जानता है। आत्माका उपयोग मनन करे वह मन है। लगाव है इसलिये मन भिन्न कहा जाता है। संकल्प-विकल्प छोड देना 'उपयोग' है। ज्ञानका आवरण करनेवाला निकाचित कर्म जिसने न बाँधा हो उसे सत्पुरुषका बोध लगता है। आयुका बन्ध हो उसे रोका नही जाता।

जीवने अज्ञानको ग्रहण किया है इसलिये उपदेश नही लगता। क्योकि आवरणके कारण उपदेश लगनेका कोई रास्ता नही है। जब तक लोकके अभिनिवेशकी कल्पना करते रहे तब तक आत्मा ऊँचा नही उठता, और तब तक कल्याण भी नही होता। बहुतसे जीव सत्पुरुषका बोध सुनते है, परन्तु उसे विचारनेका योग नही बनता।

इंद्रियोके निग्रहका न होना, कुलधर्मका आग्रह, मानश्लाघाकी कामना, और अमध्यस्थता, यह कदाग्रह है। इस कदाग्रहको जीव जब तक नही छोडता तब तक कल्याण नही होता। नव पूर्व पढे तो भी जीव भटका। चौदह राजलोक जाने परन्तु देहमे रहे हुए आत्माको नही पहचाना, इसलिये भटका! ज्ञानीपुरुष सभी शकाएँ दूर कर सकते है; परन्तु तरनेका कारण है सत्पुरुषको दृष्टिसे चलना और तभी दुःख मिटता है। आज भी पुरुषार्थ करे तो आत्मज्ञान होता है। जिसे आत्मज्ञान नही है उसमे कल्याण नही होता।

व्यवहार जिसका परमार्थ है ऐसे आत्मज्ञानीकी आज्ञासे वर्तन करनेपर आत्मा लक्ष्यगत होता है, कल्याण होता है।

जीवको बंध कैसे पड़ता है? निकाचित संबंधी—उपयोगसे, अनुपयोगसे।

आत्माका मुख्य लक्षण उपयोग है। आत्मा तिलमात्र दूर नहीं है, बाहर देखनेसे दूर भासता है; परंतु वह अनुभवगोचर है। यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं, इससे भिन्न जो रहा सो वह है।

जो आकाश दीखता है वह आकाश नही है। आकाश चक्षुसे नहीं दीखता। आकाशको अरूपी कहा है।

आत्माका भान स्वानुभवसे होता है। आत्मा अनुभवगोचर है। अनुमान जो है वह माप है। अनुभव जो है वह अस्तित्व है।

आत्मज्ञान सहज नही है। 'पचीकरण', 'विचारसागर' को पढ़कर कथन मात्र माननेसे ज्ञान नहीं होता। जिसे अनुभव हुआ है ऐसे अनुभवीके आश्रयसे उसे समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार वर्तन करे तो ज्ञान होता है। समझे बिना रास्ता अति विकट है। हीरा निकालनेके लिये खान खोदनेमे तो मेहनत है, परंतु हीरा लेनेमे मेहनत नही है। इसी तरह आत्मा सबंधी समझ आना दुष्कर है, नही तो आत्मा कुछ दूर नहीं है। भान न होनेसे दूर लगता है। जीवको कल्याण करने, न करनेका भान नही है; परन्तु अपनापन रखना है।

चौथे गुणस्थानमे ग्रंथिभेद होता है। ग्यारहवेंसे पड़ता है उसे 'उपशम सम्यक्त्व' कहा जाता है। लोभ चारित्रको गिरानेवाला है। चौथे गुणस्थानमे उपशम और क्षायिक दोनों होते हैं। उपशम अर्थात् सत्तामे आवरणका रहना। कल्याणके सच्चे कारण जीवके ख्यालमे नही है। जो शास्त्र वृत्तिको संक्षिप्त न करें, वृत्तिको संकुचित न करें अपितु उसे बढायें, ऐसे शास्त्रोमे न्याय कहाँसे होगा ?

व्रत देनेवाले और व्रत लेनेवाले दोनो विचार तथा उपयोग रखें। उपयोग न रखें और भार रखें तो निकाचित कर्म बाँधे। 'कम करना', परिग्रह मर्यादा करना ऐसा जिसके मनमे हो वह शिथिल कर्म बाँधे। पाप करनेपर कुछ मुक्ति नही होती। एक व्रत मात्र लेकर जो अज्ञानको निकालना चाहता है ऐसे जीवको अज्ञान कहता है कि तेरे कितने ही चारित्र मै खा गया हूँ, तो इसमें क्या बड़ी बात है ?

जो साधन बताये वे तरनेके साधन हों तो ही सच्चे साधन हैं। बाकी निष्फल साधन हैं। व्यवहारमे अनंत भंग उठते है; तो कैसे पार आयेगा ? कोई आदमी जोरसे बोले उसे कषाय कहा जाता है। कोई धीरजसे बोले तो उसे शान्ति है ऐसा लगता है, परंतु अंतर्परिणाम हो तो ही शाति कही जाती है।

जिसे सोनेके लिये एक बिस्तर चाहिये वह दस घर खुले रखे तो ऐसे मनुष्यकी वृत्ति कब संकुचित होगी ? जो वृत्तिको रोके उसे पाप नही होता। कितने ही जीव ऐसे हैं कि जिनसे वृत्ति न रुके ऐसे कारण इकट्ठे करते हैं; इससे पाप नहीं रुकता।

---

१० भाद्रपद सुदी १५, १९५२

चौदह राजूलोककी जो कामना है वह पाप है। इसलिये परिणाम देखें। चौदह राजूलोकका पता नही ऐसा कदाचित् कहे, तो भी जितना सोचा उतना तो अवश्य पाप हुआ। मुनिको तिनका भी लेनेकी छूट नही है। गृहस्थ इतना ले तो उतना उसे पाप है।

जड और आत्मा तन्मय नहीं होते। सूतको आँटी सूतमे कुछ भिन्न नही है; परन्तु आँटी खोलनेमें विकटता है, यद्यपि सूत्र न घटता है और न बढता है। उसी तरह आत्मामे आँटी पड़ गयी है।

सत्पुरुष और सत्शास्त्र यह व्यवहार कुछ कल्पित नही है। सद्गुरु, सत्शास्त्ररूपी व्यवहारसे स्वरूप शुद्ध हो, केवल रहे, अपना स्वरूप समझे वह समकित है। सत्पुरुषका वचन सुनना दुर्लभ है, श्रद्धा करना दुर्लभ है, विचारना दुर्लभ है, तो फिर अनुभव करना दुर्लभ हो इसमे क्या नवीनता ?

उपदेशज्ञान अनादिसे चला आता है, अकेली पुस्तकसे ज्ञान नही होता। पुस्तकसे ज्ञान होता हो तो पुस्तकका मोक्ष हो जाये ! सद्गुरुकी आज्ञानुसार चलनेमें भूल हो जाये तो पुस्तक अवलंबनभूत है।

चैतन्यकी रटन रहे तो चैतन्य प्राप्त होता है, चैतन्य अनुभवगोचर होता है। सद्गुरुके वचनका श्रवण करे, मनन करे, और आत्मामें परिणत करे तो कल्याण होता है।

ज्ञान और अनुभव हो तो मोक्ष होता है। व्यवहारका निषेध न करें, अकेले व्यवहारको पकड़ न रखें।

आत्मज्ञानकी बात इस तरह करना योग्य नहीं कि वह सामान्य हो जाये। आत्मज्ञानकी बात एकांत में कहें। आत्माके अस्तित्वका विचार किया जाये, तो अनुभवमें आता है; नहीं तो उसमें शंका होती है। जैसे किसी मनुष्यको अधिक पटल होनेसे नहीं दीखता, उसी तरह आवरणकी संलग्नताके कारण आत्माको नहीं दीखता। नींदमें भी आत्माको सामान्यतः जागृति रहती है। आत्मा सर्वथा नहीं सोता; उसपर आवरण आ जाता है। आत्मा हो तो ज्ञान होता है। जड़ हो तो ज्ञान किसे हो ?

अपनेको अपना भान होना, स्वयं अपना ज्ञान पाना, जीवन्मुक्त होना।

चैतन्य एक हो तो भ्रांति किसे हुई ? मोक्ष किसका हुआ ? सभी चैतन्यकी जाति एक है, परन्तु प्रत्येक चैतन्यकी स्वतंत्रता है, भिन्न भिन्न है। चैतन्यका स्वभाव एक है। मोक्ष स्वानुभवगोचर है। निरावरणमें भेद नहीं है। परमाणु एकत्रित न हों अर्थात् आत्माका जब परमाणुसे संबंध न हो तब मुक्ति है, परस्वरूपमें नहीं मिलना वह मुक्ति है।

कल्याण करने, न करनेका तो भान नहीं है; परन्तु जीवको अपनापन रखना है। बंध कब तक होता है ? जीव चैतन्य न हो तब तक। एकेंद्रिय आदि योनि हो तो भी जीवका ज्ञानस्वभाव सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता, अंशसे खुला रहता है। अनादि कालसे जीव बँधा हुआ है। निरावरण होनेके बाद नहीं बंधता। 'मैं जानता हूँ', ऐसा जो अभिमान है वह चैतन्यकी अशुद्धता है। इस जगतमें बंध और मोक्ष न होते तो फिर श्रुतिका उपदेश किसके लिये ? आत्मा स्वभावसे सर्वथा निष्क्रिय है, प्रयोगसे सक्रिय है। जब निर्विकल्प समाधि होती है तभी निष्क्रियता कही है। निर्विवादरूपसे वेदांतका विचार करनेमें बाधा नहीं है। आत्म अर्हंतपदका विचार करे तो अर्हंत होता है। सिद्धपदका विचार करे तो सिद्ध होता है। आचार्यपदका विचार करे तो आचार्य होता है। उपाध्यायका विचार करे तो उपाध्याय होता है। स्त्रीरूपका विचार करे तो स्त्री हो जाता है, अर्थात् आत्मा जिस स्वरूपका विचार करे तद्रूप भावात्मा हो जाता है। आत्मा एक है या अनेक है इसकी चिन्ता न करें। हमें तो यह विचार करनेकी जरूरत है कि 'मैं एक हूँ'। जगतको मिलानेकी क्या जरूरत है ? एक-अनेकका विचार बहुत आगेकी दशामें पहुँचनेके बाद करना है। जगत और आत्माको स्वप्नमें भी एक न समझें। आत्मा अचल है, निरावरण है। वेदांत सुनकर भी आत्माको पहचानें। आत्मा सर्वव्यापक है या आत्मा देहमें है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।

सभी धर्मोंका तात्पर्य यह है कि आत्माको पहचानें। दूसरे सब जो साधन है, वे जिस जगह चाहिये (योग्य हैं) वहाँ ज्ञानीकी आज्ञासे उपयोग करते हुए अधिकारी जीवको फल होता है। दया आदि आत्माके निर्मल होनेके साधन है।

मिथ्यात्व, प्रमाद, अव्रत, अशुभयोग, ये अनुक्रमसे जायें तो सत्पुरुषका वचन आत्मामें परिणाम पाता है; उससे सभी दोषोंका अनुक्रमसे नाश होता है। आत्मज्ञान विचारसे होता है। सत्पुरुष तो पुकार-पुकार कर कह गये हैं; परन्तु जीव लोकमार्गमें पड़ा है, और उसे लोकोत्तरमार्ग मानता है। इसलिये किसी तरह भी दोष नहीं जाते। लोकका भय छोड़कर सत्पुरुषोंके वचन आत्मामें परिणमित करे तो सब दोष चले जाते हैं। जीव ममत्व न लाये; बड़प्पन और महत्ता छोड़े बिना सम्यक् मार्ग आत्मामें परिणाम नहीं पाता।

ब्रह्मचर्यके विषयमें :—परमार्थहेतु नदी उतरनेके लिये ठंडे पानीकी मुनिको आज्ञा दी है, परन्तु अब्रह्मचर्यकी आज्ञा नहीं दी है; और उसके लिये कहा है कि अल्प आहार करना, उपवास करना, एकांतर करना, अन्तमें जहर खाकर मर जाना; परन्तु ब्रह्मचर्यका भंग मत करना।

जिसे देहकी मूर्च्छा हो उसे कल्याण किस तरह भासे ? साँप काटे और भय न हो तब समझना कि आत्मज्ञान प्रगट हुआ है। आत्मा अजर अमर है। 'मैं' मरनेवाला नही, तो मरनेका भय क्या ? जिसकी देहकी मूर्च्छा चली गयी है उसे आत्मज्ञान हुआ कहा जाता है।

प्रश्न—जीव कैसे वर्तन करे ?

उत्तर—ऐसे वर्तन करे कि सत्सगके योगसे आत्माकी शुद्धता प्राप्त हो। परन्तु सत्संगका योग सदा नही मिलता। जीव योग्य होनेके लिये हिंसा न करे, सत्य बोले, अदत्त न ले, ब्रह्मचर्य पाले, परिग्रहकी मर्यादा करे, रात्रिभोजन न करे इत्यादि सदाचरण शुद्ध अंत:करणसे करनेका ज्ञानियोने कहा है; वह भी यदि आत्माके लिये ध्यान रखकर किया जाता हो तो उपकारी है, नही तो पुण्ययोग प्राप्त होता है। उससे मनुष्यभव मिलता है, देवगति मिलती है, राज्य मिलता है, एक भवका सुख मिलता है, और फिर चार गतिमें भटकना होता है; इसलिये ज्ञानियोंने तप आदि जो क्रियाएँ आत्माके उपकारके लिये अहंकाररहित भावसे करनेके लिये कही हैं, उनका परमज्ञानी स्वयं भी जगतके उपकारके लिये निश्चयसे सेवन करते हैं।

महावीरस्वामीने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद उपवास नही किये, उसी तरह किसी ज्ञानीने भी नही किये; तथापि लोगोंके मनमे ऐसा न आये कि ज्ञान होनेके बाद खाना पीना सब एकसा है इसलिये अंतिम समयमे तपकी आवश्यकता बतानेके लिये उपवास किये, दानको सिद्ध करनेके लिये दीक्षा लेनेसे पहले स्वयं वर्षीदान दिया, इससे जगतको दान सिद्ध कर दिखाया। मातापिताकी सेवा सिद्ध कर दिखायी। छोटी उमरमे दीक्षा नही ली वह उपकारके लिये। नहीं तो अपनेको करना, न करना कुछ नही है, क्योंकि जो साधन कहे हैं वे आत्मलक्ष्य करनेके लिये हैं, जो स्वयंको तो संपूर्ण प्राप्त हुआ है। परन्तु परोपकारके लिये ज्ञानी सदाचरणका सेवन करते हैं।

अभी जैनधर्ममे बहुत समयसे अव्यवहृत कुएँकी भाँति आवरण आ गया है, कोई ज्ञानीपुरुष है नही। कितने ही समयसे ज्ञानी हुए नहीं, क्योकि, नही तो उसमे इतने अधिक कदाग्रह न होते। इस पचम कालमे सत्पुरुषका योग मिलना दुर्लभ है, उसमे अभी तो विशेष दुर्लभ देखनेमे आता है, प्राय पूर्वके संस्कारी जीव देखनेमे नहीं आते। बहुतसे जीवोंमे कोई ही सच्चा मुमुक्षु, जिज्ञासु देखनेमे आता है, बाकी तो तीन प्रकारके जीव देखनेमे आते है; जो बाह्यदृष्टिवाले हैं—

(१) 'क्रिया नही करना, क्रियासे देवगति प्राप्त होती है, दूसरा कुछ प्राप्त नही होता। जिससे चार गतियोका भटकना मिटे, यह यथार्थ है।' ऐसा कहकर सदाचरणको पुण्यका हेतु मानकर नही करते, और पापके कारणोका सेवन करते हुए नही रुकते। इस प्रकारके जीवोको कुछ करना ही नही है, और केवल बड़ी बड़ी बातें ही करनी है। इन जीवोको 'अज्ञानवादी' के तौरपर रखा जा सकता है।

(२) 'एकात क्रिया करनी, उसीसे कल्याण होगा', ऐसा माननेवाले एकदम व्यवहारमे कल्याण मानकर कदाग्रह नही छोड़ते। ऐसे जीवोको 'क्रियावादी' अथवा 'क्रियाजड' समझें। क्रियाजडको आत्माका लक्ष्य नही होता।

(३) 'हमे आत्मज्ञान है। आत्माको भ्राति होती ही नही, आत्मा कर्ता भी नही है और भोक्ता भी नही है, इसलिये कुछ नही है।' ऐसा बोलनेवाले 'शुष्क-अध्यात्मी' पोले ज्ञानी होकर अनाचारका सेवन करते हुए नही रुकते।

ऐसे तीन प्रकारके जीव अभी देखनेमे आते हैं। जीवको जो कुछ करना है वह आत्माके उपकारके लिये करना है, इस बातको वे भूल गये हैं। आजकल जैनमें चौरासीसे सौ गच्छ हो गये हैं। उन सबमे कदाग्रह हो गये हैं, फिर भी वे सब कहते हैं कि 'जैनधर्ममे हम ही हैं, जैनधर्म हमारा है'।

'पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि' आदि पाठका लोकमें अभी ऐसा अर्थ प्रचलित हुआ मालूम होता है कि 'आत्माका व्युत्सर्जन करता हूँ,' अर्थात् जिसका अर्थ आत्माका उपकार करना है,

उसीको, आत्माको ही भूल गये है। जैसे बारात चढ़ी हो और विविध वैभव आदि हों, परन्तु यदि एक वर न हो तो बारात शोभित नही होती और वर हो तो शोभित होती है, उसी तरह क्रिया, वैराग्य आदि यदि आत्माका ज्ञान हो तो शोभा देते है, नही तो शोभा नही देते। जैनोमें अभी आत्मा भुला दिया गया है।

सूत्र, चौदहपूर्वका ज्ञान, मुनिपन, श्रावकपन, हजारों तरहके सदाचरण, तपश्चर्या आदि जो जो साधन, जो जो परिश्रम, जो जो पुरुषार्थ कहे हैं वे सब एक आत्माको पहचाननेके लिये, खोज निकालनेके लिये कहे हैं। वे प्रयत्न यदि आत्माको पहचाननेके लिये, खोज निकालनेके लिये, आत्माके लिये हों तो सफल हैं, नही तो निष्फल है। यद्यपि उनसे बाह्य फल होता है, परन्तु चार गतिका नाश नही होता। जीवको सत्पुरुषका योग मिले, और लक्ष्य हो तो वह सहजमे ही योग्य जीव होता है, और फिर सद्गुरुकी आस्था हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

(१) शम = क्रोध आदिको कृश करना।

(२) सवेग = मोक्षमार्गके सिवाय और किसी इच्छाका न होना।

(३) निर्वेद=संसारसे थक जाना, ससारसे रुक जाना।

(४) आस्था = सच्चे गुरुकी, सद्गुरुकी आस्था होना।

(५) अनुकंपा = सब प्राणियोपर समभाव रखना, निर्वैर बुद्धि रखना।

ये गुण समकिती जीवमे सहज होते है। पहले सच्चे पुरुषकी पहचान हो तो फिर ये चार गुण आते है।

वेदातमे विचार करनेके लिये षट्संपत्ति बतायी है। विवेक, वैराग्य आदि सद्गुण प्राप्त होनेके बाद जीव योग्य मुमुक्षु कहा जाता है।

नय आत्माको समझनेके लिये कहे है, परन्तु जीव तो नयवादमें उलझ जाते हैं। आत्माको समझाने जाते हुए नयमे उलझ जानेसे यह प्रयोग उलटा पड़ा। समकितदृष्टि जीवको 'केवलज्ञान' कहा जाता है। वर्तमानमे भान हुआ है, इसलिये 'देश केवलज्ञान' हुआ कहा जाता है, बाकी तो आत्माका भान होना ही केवलज्ञान है। यह इस तरह कहा जाता है—समकितदृष्टिको आत्माका भान हुआ, तब उसे केवलज्ञानका भान प्रगट हुआ, और उसका भान प्रगट हुआ तो केवलज्ञान अवश्य होनेवाला है। इसलिये इस अपेक्षासे समकितदृष्टिको केवलज्ञान कहा है। सम्यक्त्व हुआ अर्थात् जमीन जोत कर बीजको बो दिया, वृक्ष हुआ, फल थोड़े खाये, खाते खाते आयु पूरी हुई, तो फिर दूसरे भवमे फल खाये जायेंगे। इसलिये 'केवलज्ञान' इस कालमे नहीं है, नही है ऐसा उलटा न मानना और न कहना। सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे अनंत भव दूर होकर एक भव बाकी रहा, इसलिये सम्यक्त्व उत्कृष्ट है। आत्मामे केवलज्ञान है, परन्तु आवरण दूर होनेपर केवलज्ञान प्रगट होता है। इस कालमे सम्पूर्ण आवरण दूर नही होता, एक भव बाकी रह जाता है; अर्थात् जितना केवलज्ञानावरणीय दूर होता है उतना केवलज्ञान होता है। समकित आनेपर भीतरमे-अंतरमे—दशा बदलती है; केवलज्ञानका बीज प्रगट होता है। सद्गुरुके बिना मार्ग नहीं है ऐसा महा-पुरुषोंने कहा है। यह उपदेश बिना कारण नही किया।

समकिती अर्थात् मिथ्यात्वमुक्त; केवलज्ञानी अर्थात् चारित्रावरणसे संपूर्णतया मुक्त; और सिद्ध अर्थात् देह आदिसे संपूर्णतया मुक्त।

प्रश्न—कर्म कैसे कम होते है ?

उत्तर—क्रोध न करे, मान न करे, माया न करे, लोभ न करे, उससे कर्म कम होते हैं। बाह्य क्रिया करूँगा तो मनुष्यजन्म मिलेगा, और किसी दिन सच्चे पुरुषका योग मिलेगा।

प्रश्न—व्रत नियम करना या नही ?

उत्तर—व्रतनियम करना है। उसके साथ झगड़ा, क्लेश, बाल-बच्चे और घरमे ममत्व नही करना। ऊँची दशामे जानेके लिये व्रत-नियम करना।

सच्चे झूठेकी परीक्षा करनेके बारेमे एक सच्चे भक्तका दृष्टांत—एक राजा बहुत भक्तिवाला था; और इसलिये वह भक्तोंकी सेवा बहुत करता; बहुतसे भक्तोका अन्न, वस्त्र आदिसे पोषण करनेसे बहुत भक्त इकट्ठे हो गये। प्रधानने सोचा कि राजा भोला है; भक्त ठग है; इसलिये इस बातकी राजाको परीक्षा कराई जाये। परन्तु अभी राजाको प्रेम बहुत है, इसलिये मानेगा नही; इसलिये किसी अवसरपर बात करेंगे, ऐसा विचार कर कुछ समय ठहर कर कोई अवसर मिलनेसे उसने राजासे कहा—'आप बहुत समयसे सभी भक्तोंकी सरीखी सेवा-चाकरी करते हैं, परन्तु उनमें कोई बडे होंगे, कोई छोटे होंगे। इसलिये सबको पहचानकर भक्ति करें।' तब राजाने हाँ कहकर पूछा—'तब कैसे करना ?' राजाकी अनुमति लेकर प्रधानने जो दो हजार भक्त थे उन सबको इकट्ठा करके कहलवाया—'आप सब दरवाजेके बाहर आइये; क्योंकि राजाको जरूरत होनेसे आज भक्त-तेल निकालना है। आप सब बहुत दिनोंसे राजाका माल-मलीदा खाते हैं, तो आज राजाका इतना काम आपको करना ही चाहिये।' घानीमे डालकर तेल निकालने-का सुना कि सभी भक्त तो भागने लगे, और पलायन कर गये। एक सच्चा भक्त था उसने विचार किया—'राजाका नमक खाया है तो उसका नमकहराम क्यों हुआ जाये ? राजाने परमार्थ समझकर अन्न दिया है, इसलिये राजा जैसे चाहे वैसे करने देना चाहिये।' ऐसा विचार कर घानीके पास जाकर कहा—"आपको भक्त-तेल निकालना हो तो निकालें।" फिर प्रधानने राजासे कहा—"देखिये, आप सब भक्तोकी सेवा करते थे; परन्तु सच्चे-झूठेकी परीक्षा नही थी।" देखिये, इस तरह सच्चे जीव तो विरले ही होते है, और ऐसे विरल सच्चे सद्गुरुकी भक्ति श्रेयस्कर है। सच्चे सद्गुरुकी भक्ति मन, वचन और कायासे करें।

एक बात समझमें न आये तब तक दूसरी बात सुननी किस कामकी ? एक बार सुना वह समझमें न आये तब तक दूसरी बार न सुनें। सुने हुएको न भूलें, जैसे एक बार खाया, उसके पचे बिना और न खायें। तप इत्यादि करना यह कोई महाभारत काम नही है, इसलिये तप करनेवाला अहकार न करे। तप यह छोटेसे छोटा भाग है। भूखा रहना और उपवास करना उसका नाम तप नही है। भीतरसे शुद्ध अंत करण हो तब तप कहा जाता है, और तब मोक्षगति होती है। बाह्य तप शरीरसे होता है। तपके छः प्रकार हैं—(१) अंतर्वृत्ति होना, (२) एक आसनसे कायाको बिठाना, (३) कम आहार करना, (४) नीरस आहार करना, और वृत्तियोको कम करना, (५) संलीनता, (६) आहारका त्याग।

तिथिके लिये उपवास नही करना है; परन्तु आत्माके लिये उपवास करना है। बारह प्रकारका तप कहा है। उसमे आहार न करना, इस तपको जिह्वाइन्द्रियको वश करनेका उपाय समझकर कहा है। जिह्वाइन्द्रिय वशकी तो यह सभी इन्द्रियोंके वश होनेका निमित्त है। उपवास करें तो इसकी बात बाहर न करें, दूसरेकी निंदा न करें, क्रोध न करें। यदि ऐसे दोष कम हो तो बड़ा लाभ होता है। तप आदि आत्माके लिये करना है; लोगोंको दिखानेके लिये नही करना है। कषाय कम हो उसे 'तप' कहा है। लौकिक दृष्टिको भूल जाये। लोग तो जिस कुलमे जन्म लेते हैं उस कुलके धर्मको मानते हैं और वहाँ जाते हैं। परन्तु वह तो नाममात्र धर्म कहा जाता है; परन्तु मुमुक्षु वैसा न करे।

सब सामायिक करते हैं, और कहते हैं कि जो ज्ञानी स्वीकार करे वह सच है। समकित होगा या नही, उसे भी ज्ञानी स्वीकार करे तो सच्चा है। परन्तु ज्ञानी क्या स्वीकार करे ? अज्ञानी स्वीकार करे ऐसा तो आपका सामायिक, व्रत और समकित है ! अर्थात् आपके सामायिक, व्रत और समकित वास्तविक नहीं हैं, मन, वचन और काया व्यवहारसमतामे स्थिर रहे यह समकित नहीं है। जैसे नींदमें स्थिर योग मालूम पड़ता है, फिर भी वह वस्तुतः स्थिर नहीं है, और इसलिये वह समता भी नहीं है। मन, वचन,

काया चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं, मन तो कार्य किये बिना बैठता ही नही है। केवलीका मन-योग चपल होता है, परन्तु आत्मा चपल नही होता। आत्मा चौथे गुणस्थानकमे अचपल होता है, परन्तु सर्वथा नही।

'ज्ञान' अर्थात् आत्माको यथातथ्य जानना। 'दर्शन' अर्थात् आत्माको यथातथ्य प्रतीति। 'चारित्र' अर्थात् आत्माका स्थिर होना।

आत्मा और सद्गुरु एक ही समझें। यह बात विचारसे ग्रहण होती है। वह विचार यह कि देह नहीं अथवा देहसम्बन्धी दूसरे भाव नही, परन्तु सद्गुरुका आत्मा ही सद्गुरु है। जिसने आत्मस्वरूपका लक्षणसे, गुणसे और वेदनसे प्रगट अनुभव किया है और वही परिणाम जिसके आत्माका हुआ है वह आत्मा और सद्गुरु एक ही है, ऐसा समझे। पूर्वकालमें जो अज्ञान इकट्ठा किया है वह दूर हो तो ज्ञानीकी अपूर्व वाणी समझमे आती है।

मिथ्यावासना = धर्मके मिथ्या स्वरूपको सच्चा समझना।

तप आदि भी ज्ञानीकी कसौटी है। साताशील वर्तन रखा हो, और असाता आये तो वह अदुःख-भावित ज्ञान मंद होता है। विचारके बिना इंद्रियाँ वश होनेवाली नही है। अविचारसे इंद्रियाँ दौड़ती है। निवृत्तिके लिये उपवास बताया है। आजकल कितने ही अज्ञानी जीव उपवास करके दुकान पर बैठते है, और उसे पौषध ठहराते हैं। ऐसे कल्पित पौषध जीवने अनादिकालसे किये है। उन सबको ज्ञानियोंने निष्फल ठहराया है। स्त्री, घर, बाल-बच्चे भूल जाये तब सामायिक की ऐसा कहा जाता है। सामान्य विचारको लेकर, इन्द्रियाँ वश करनेके लिये छ कायका आरंभ कायासे न करते हुए वृत्ति निर्मल हो तब सामायिक हो सकती है। व्यवहार सामायिक बहुत निषिद्ध करने जैसी नहीं है, यद्यपि जीवने व्यवहाररूप सामायिकको एकदम जड बना डाला है। उसे करनेवाले जीवोंको पता भी नही होता कि इससे क्या कल्याण होगा? सम्यक्त्व पहले चाहिये। जिसके वचन सुननेसे आत्मा स्थिर हो, वृत्ति निर्मल हो, उस सत्पुरुषके वचनोका श्रवण हो तो फिर सम्यक्त्व होता है।

भवस्थिति, पचमकालमे मोक्षका अभाव आदि शकाओसे जीवने बाह्य वृत्ति कर डाली है, परन्तु यदि ऐसे जीव पुरुषार्थ करें, और पंचमकाल मोक्ष होते हुए हाथ पकड़ने आये तब उसका उपाय हम कर लेंगे। वह उपाय कोई हाथी नही है, झलझलाती अग्नि नही है। व्यर्थ ही जीवको भड़का दिया है। ज्ञानीके वचन सुनकर याद रखने नही, जीवको पुरुषार्थ करना नही, और उसे लेकर बहाने बनाने है। इसे अपना दोष समझें। समताकी, वैराग्यकी बातें सुनें और विचार करें। बाह्य बातें यथासंभव छोड दें। जीव तरनेका अभिलाषी हो, और सद्गुरुकी आज्ञासे वर्तन करे तो सभी वासनाएँ चली जाती है।

सद्गुरुकी आज्ञामे सभी साधन समा गये है। जो जीव तरनेका कामी होता है उसकी सभी वासनाओका नाश हो जाता हैं। जैसे कोई सौ पचास कोस दूर हो, तो दो चार दिनमे भी घर पहुँच जाये, परंतु लाखों कोस दूर हो तो एकदम घर कहाँसे पहुँचे? वैसे ही यह जीव कल्याण मार्गसे थोडा दूर हो तो तो किसी दिन कल्याण प्राप्त करे, परंतु यदि एकदम उलटे रास्तेपर हो तो कहाँसे पार पाये?

देह आदिका अभाव होना, मूर्च्छाका नाश होना यही मुक्ति है। जिसका एक भव बाकी रहा हो उसे देहकी इतनी अधिक चिंता नही करनी चाहिये। अज्ञान जानेके बाद एक भवका कुछ महत्त्व नही। लाखों भव चले गये तो फिर एक भव किस हिसाबमे?

हो तो मिथ्यात्व, और माने छठा या सातवाँ गुणस्थान तो उसका क्या करना? चौथे गुणस्थानकी स्थिति कैसी होती है? गणधर जैसी, मोक्षमार्गकी परम प्रतीति आये ऐसी।

जो तरनेका कामी हो वह सिर काटकर देते हुए पीछे नही हटता। जो शिथिल हो वह तनिक पैर धोने जैसा कुलक्षण हो उसे भी छोड़ नही सकता, और वीतरागकी बात ग्रहण करने जाता है। वीतराग जिस वचनको कहते हुए डरे हैं उसे अज्ञानी स्वच्छंदसे कहता है; तो वह कैसे छूटेगा?

महावीरस्वामीकी दीक्षाके जुलूसकी बातके स्वरूपका यदि विचार करे तो वैराग्य हो जाये। यह बात अद्भुत है। वे भगवान अप्रमादी थे। उनमे चारित्र विद्यमान था, परंतु जब बाह्य चारित्र लिया तब मोक्ष गये।

अविरति शिष्य हो तो उसकी आवभगत कैसे की जाये? रागद्वेषको मारनेके लिये निकला, और उसे तो काममें लिया, तब रागद्वेष कहाँसे जाये? जिनेन्द्रके आगमका जो समागम हुआ हो, वह तो अपने क्षयोपशमके अनुसार हुआ हो परन्तु सद्गुरुके योगके अनुसार न हुआ हो। सद्गुरुका योग मिलनेपर उनकी आज्ञाके अनुसार जो चला उसका सचमुच रागद्वेष गया।

गभीर रोग मिटानेके लिये असली दवा तुरत फल देती है! बुखार तो एक दो दिनमे भी मिट जाये।

मार्ग और उन्मार्गकी पहचान होनी चाहिये। 'तरनेका कामी' इस शब्दका प्रयोग करें तो इसमे अभव्यका प्रश्न नही उठता। कामी कामीमे भी भेद है।

प्रश्न—सत्पुरुषकी पहचान कैसे हो?

उत्तर—सत्पुरुष अपने लक्षणोसे पहचाने जाते है। सत्पुरुषोंके लक्षण :—उनकी वाणीमे पूर्वापर अविरोध होता है, वे क्रोधका जो उपाय बताते है उससे क्रोध चला जाता है। मानका जो उपाय बताते हैं उससे मान दूर हो जाता है। ज्ञानीकी वाणी परमार्थरूप ही होती है, वह अपूर्व है। ज्ञानीकी वाणी दूसरे अज्ञानीकी वाणीसे ऊँची और ऊँची ही होती है। जब तक ज्ञानीकी वाणी सुनी नही, तब तक सूत्र भी नीरस लगते हैं। सद्गुरु और असद्गुरुकी पहचान, सोने और पीतलकी कंठीकी पहचानकी भाँति होनी चाहिये। तरनेका कामी हो, और सद्गुरु मिल जाये, तो कर्म दूर हो जाते है। सद्गुरु कर्म दूर करनेका कारण है। कर्म बाँधनेके कारण मिलें तो कर्म बँधे जाते है और कर्म दूर करनेके कारण मिलें तो कर्म दूर होते हैं। तरनेका कामी हो वह भवस्थिति आदिके आलबनोको मिथ्या कहता है। तरनेका कामी किसे कहा जाये? जिस पदार्थको ज्ञानी जहर कहते है उसे जहर समझकर छोड़ दे, और ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करे उसे तरनेका कामी कहा जाये।

उपदेश सुननेके लिये सुननेके कामीने कर्मरूपी गुदडी ओढी है, इसलिये उपदेशरूपी लकड़ी नही लगती। जो तरनेका कामी हो उसने धोतीरूप कर्म ओढे हैं इसलिये उपदेशरूप लकडी पहले लगती है। शास्त्रमे अभव्यके तारनेसे तरे ऐसा नही कहा है। चौभंगीमे ऐसा अर्थ नही है। ढूँढियाके धरमशी नामके मुनिने इसकी टीका की है। स्वयं तरा नही और दूसरोको तारता है, इसका अर्थ अधा मार्ग बतावे ऐसा है। असद्गुरु ऐसे मिथ्या आलंबन देते है।

'ज्ञानापेक्षासे सर्वव्यापक, सच्चिदानंद ऐसा मै आत्मा एक हूँ', ऐसा विचार करना, ध्यान करना। निर्मल, अत्यंत निर्मल, परमशुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है। सबको कम करते करते जो अबाध्य अनुभव रहता है वह 'आत्मा' है। जो सबको जानता है वह 'आत्मा' है। जो सब भावोको प्रकाशित करता है वह 'आत्मा' है। उपयोगमय 'आत्मा' है। अव्याबाध समाधिस्वरूप 'आत्मा' है।

'आत्मा है।' आत्मा अत्यत प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभवमें है। अनुत्पन्न और अमिलन स्वरूप होनेसे 'आत्मा नित्य है'। भ्रांतिरूपसे 'परभावका कर्त्ता है'। उसके 'फलका भोक्ता है'। भान होनेपर 'स्वभाव परिणामी है'। सर्वथा स्वभाव परिणाम 'मोक्ष है'। सद्गुरु, सत्संग, सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि उसके साधन है। आत्माके अस्तित्वसे लेकर निर्वाण तकके पद सच्चे है, अत्यंत सच्चे हैं। क्योंकि प्रगट अनुभवमे आते हैं। भ्रांतिरूपसे आत्मा परभावका कर्ता होनेसे शुभाशुभ कर्मकी उत्पत्ति होती है। कर्म सफल होनेसे उस शुभाशुभ कर्मको आत्मा भोगता है। इसलिये उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभ नकके न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है।

निजस्वभाव ज्ञानमे केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहज स्वभावसे, निर्विकल्परूपसे आत्मा जो परिणमन करता है वह 'केवलज्ञान' है। तथारूप प्रतीतिरूपसे जो परिणमन करता है वह 'सम्यक्त्व' है। निरंतर वह प्रतीति रहा करे उसे 'क्षायिक सम्यक्त्व' कहते है। क्वचित् मद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विसर्जन, क्वचित् स्मरणरूप ऐसी प्रतीति रहे, उसे 'क्षयोपशम सम्यक्त्व' कहते हैं। उस प्रतीतिको जब तक सत्तागत आवरण उदय नहीं आयें, तब तक 'उपशम सम्यक्त्व' कहते है। आत्माको आवरण उदयमे आये तब वह प्रतीतिसे गिर जाता है उसे 'सास्वादन सम्यक्त्व' कहते है। अत्यन्त प्रतीति होनेके योगमे सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन करना जहाँ रहा है, उसे 'वेदक सम्यक्त्व' कहते है। तथारूप प्रतीति होनेपर अन्यभाव संबंधी अहंत्व, ममत्व आदि, हर्ष-शोकका क्रमसे क्षय होता है। मनरूप योगमे तारतम्यसहित जो कोई चारित्रकी आराधना करता है वह सिद्धि प्राप्त करता है, और जो स्वरूपस्थितिका सेवन करता है वह 'स्वभावस्थिति' पाता है। निरतर स्वरूपलाभ, स्वरूपाकार उपयोगका परिणमन इत्यादि स्वभाव अंतराय कर्मके क्षयसे प्रगट होते हैं। जा केवल स्वभावपरिणामी ज्ञान है वह 'केवलज्ञान' है।

---

११ आणंद, भादों वदो १, मंगल, १९५२

'जबुद्वीपप्रज्ञप्ति' नामके जैनसूत्रमे ऐसा कहा है कि इस कालमे मोक्ष नहीं है। इससे यह न समझें कि मिथ्यात्वका दूर होना, और उस मिथ्यात्वके दूर होनेरूप मोक्ष नही है। मिथ्यात्वके दूर होनेरूप मोक्ष है, परन्तु सर्वथा अर्थात् आत्यंतिक देहरहित मोक्ष नही है। इससे यह कहा जा सकता है कि सर्व प्रकारका केवलज्ञान नही होता, बाकी सम्यक्त्व नही होता, ऐसा नही है। इस कालमे मोक्षके अभावकी ऐसी बातें कोई कहे उसे न सुनें। सत्पुरुषकी बात पुरुषार्थको मंद करनेवाली नहीं होती, अपितु पुरुषार्थको उत्तेजन देनेवाली होती है।

विष और अमृत समान है, ऐसा ज्ञानियोने कहा हो तो वह अपेक्षित है। विष और अमृत समान कहनेसे विष लेनेका कहा है यह बात नही है। इसी तरह शुभ और अशुभ दोनो क्रियाओके संबंधमे समझें। शुभ और अशुभ क्रियाका निषेध कहा हो तो मोक्षकी अपेक्षासे है। इसलिये शुभ और अशुभ क्रिया समान है, यह समझकर अशुभ क्रिया करनी, ऐसा ज्ञानीपुरुषका कथन कभी भी नही होता। सत्पुरुषका वचन अधर्ममे धर्मका स्थापन करनेका कभी भी नही होता।

जो क्रिया करें उसे निर्दंभतासे, निरहकारतासे करें। क्रियाके फलकी आकांक्षा न रखे। शुभ क्रियाका कोई निषेध हैं ही नही, परंतु जहाँ जहाँ शुभ क्रियासे मोक्ष माना है वहाँ वहाँ निषेध है।

शरीर ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। मन ठीक रहे यह भी एक तरहकी समाधि है। सहजसमाधि अर्थात् बाह्य कारणोके बिनाकी समाधि। उससे प्रमाद आदिका नाश होता है। जिसे यह समाधि रहती है, उसे पुत्रमरण आदिसे भी असमाधि नही होती, और उसे कोई लाख रुपये दे तो आनंद नहीं होता, अथवा कोई छीन ले तो खेद नही होता। जिसे साता-असाता दोनो समान है उसे सहज-समाधि कहा है। समकितदृष्टिको अल्प हर्ष, अल्प शोक कभी हो जाये परंतु फिर वह शात हो जाता है, अंगका हर्ष नही रहता; ज्यों ही उसे खेद हो त्यो ही वह उसे पीछे खीच लेता है। वह सोचता है कि ऐसा होना योग्य नहीं, और आत्माकी निंदा करता है। हर्ष शोक हो तो भी उसका (समकितका) मूल नष्ट नहीं होता। समकितदृष्टिको अंशसे सहज प्रतीतिके अनुसार सदा ही समाधि रहती है। पतंगकी डोरी जैसे हाथमें रहती है वैसे समकितदृष्टिके हाथमे उसकी वृत्तिरूपी डोरी रहती है। समकितदृष्टि जीवको सहज-समाधि है। सत्तामे कर्म रहे हों, परंतु स्वयंको सहजसमाधि है। बाहरके कारणोंसे उसे समाधि नही है। आत्मामेसे जो मोह चला गया वही समाधि है। अपने हाथमे डोरी न होनेसे मिथ्यादृष्टि बाह्य कारणोंमें

तदाकार होकर तद्रूप हो जाता है। समकितदृष्टिको बाह्य दु:ख आनेपर खेद नही होता, यद्यपि वह ऐसी इच्छा नहीं करता कि रोग न आये; परंतु रोग आनेपर उसे रागद्वेष परिणाम नही होते।

शरीरके धर्म रोग आदि केवलीको भी होते हैं; क्योंकि वेदनीयकर्मको तो सभीको भोगना ही चाहिये। समकित आये बिना किसीको सहजसमाधि नही होती। समकित हो जानेसे सहजमे ही समाधि होती है। समकित हो जानेसे सहजमे ही आसक्ति मिट जाती है। बाकी आसक्तिको यों हो ना कहनेसे वह दूर नही होती। सत्पुरुषके वचनके अनुसार, उनकी आज्ञाके अनुसार जो वर्तन करे उसे अंशसे समकित हुआ है।

दूसरी सब प्रकारकी कल्पनाएँ छोड़कर, प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी आज्ञासे उनके वचन सुनना, उनमे सच्ची श्रद्धा करना और उन्हे आत्मामे परिणमित करना, तो समकित होना है। शास्त्रमे कही हुई महावीरस्वामी-की आज्ञासे वर्तन करनेवाले जीव अभी नही है, क्योंकि उन्हे हुए २५०० वर्ष हो गये है, इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानी चाहिये। काल विकराल है। कुगुरुओने लोगोको उलटा मार्ग बताकर बहका दिया है; मनुष्यत्व लूट लिया है, इसलिये जीव मार्गमे कैसे आये? यद्यपि कुगुरुओने लूट लिया है परतु इसमें उन बेचारोका दोष नहीं है, क्योकि कुगुरुको भी उस मार्गका पता नही है। कुगुरुको किसी प्रश्नका उत्तर न आता हो परन्तु वह नही कहता कि 'मुझे नही आता'। यदि वैसा कहे तो कर्म थोडे बाँधे। मिथ्यात्वरूपी तिल्लीकी गाँठ बड़ी है, इसलिये सारा रोग कहाँसे मिटे? जिसकी ग्रंथि छिन्न हो गई है उसे सहजसमाधि होती है, क्योंकि जिसका मिथ्यात्व छिन्न हुआ, उसकी मूल गाँठ छिन्न हो गयी, और इससे दूसरे गुण प्रगट होते ही हैं।

समकित देश चारित्र है, देशसे केवलज्ञान है।

शास्त्रमें इस कालमे मोक्षका बिलकुल निषेध नही है। जैसे रेलगाडीके रास्तेसे जल्दी पहुँचा जाता है, और पगरास्तेसे देरमे पहुँचा जाता है; वैसे इस कालमे मोक्षका रास्ता पगरास्ते जैसा हो तो उससे न पहुँचा जाये, ऐसी कुछ बात नही है। जल्दी चले तो जल्दी पहुँचे, किन्तु कुछ रास्ता बन्द नही है। इस तरह मोक्षमार्ग है, उसका नाश नही है। अज्ञानी अकल्याणके मार्गमे कल्याण मानकर, स्वच्छन्दसे कल्पना करके, जीवोका तरना बन्द करा देता है। अज्ञानीके रागी भोले-भाले जीव अज्ञानीके कहनेके अनुसार चलते हैं, और इस प्रकार कर्मके बाँधे हुए वे दोनों दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। ऐसा बखेडा जैनमतोंमें विशेष हुआ है।

सच्चे पुरुषका बोध प्राप्त होना अमृत प्राप्त होनेके समान है। अज्ञानी गुरुओने बेचारे मनुष्योंको लूट लिया है। किसी जीवको गच्छका आग्रही बनाकर, किसीको मतका आग्रही बनाकर, जिनसे तरा न जाये ऐसे आलंबन देकर, बिलकुल लूटकर दुविधामें डाल दिया है, मनुष्यत्व लूट लिया है।

समवसरणसे भगवानकी पहचान होती है, इस सारी माथापच्चीको छोड दे। लाख समवसरण हों, परन्तु ज्ञान न हो तो कल्याण नही होता। ज्ञान हो तो कल्याण होता है। भगवान मनुष्य जैसे मनुष्य थे। वे खाते, पीते, बैठते और उठते थे; ऐसा कुछ अतर नही है, अंतर दूसरा ही है। समवसरण आदिके प्रसंग लौकिक भावके है। भगवानका स्वरूप ऐसा नही है। सपूर्ण ज्ञान प्रगट होनेपर आत्मा नितात निर्मल होता है, ऐसा भगवानका स्वरूप है। संपूर्ण ज्ञानका प्रगट होना, वही भगवानका स्वरूप है। वर्तमानमे भगवान होते तो आप न मानते। भगवानका माहात्म्य ज्ञान है। भगवानके स्वरूपका चिंतन करनेसे आत्मा भानमे आता है, परन्तु भगवानकी देहसे भान प्रगट नही होता। जिसे सपूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो उसे भगवान कहा जाता है। जैसे यदि भगवान वर्तमानमे होते, और आपको बताते तो आप न मानते; इसी तरह वर्तमानमे ज्ञानी हो तो वह माना नही जाता। स्वधाम पहुँचनेके बाद लोग कहते है कि ऐसा ज्ञानी होनेवाला नही है। पीछेसे जीव उसकी प्रतिमाकी पूजा करते हैं; परन्तु वर्तमानमे प्रतीति नही करते। जीवको ज्ञानीकी पहचान प्रत्यक्षमे, वर्तमानमे नहीं होती।

समकितका सचमुच विचार करे तो नौवें समयमे केवलज्ञान होता है, नही तो एक भवमे केवलज्ञान होता है; और अंतमें पंद्रहवें भवमे तो केवलज्ञान होता ही है। इसलिये समकित सर्वोत्कृष्ट है। भिन्न भिन्न विचार-भेद आत्मामे लाभ होनेके लिये कहे गये है, परन्तु भेदोमे ही आत्माको फँसानेके लिये नहीं कहे हैं। प्रत्येकमें परमार्थ होना चाहिये। समकितीको केवलज्ञानकी इच्छा नही है।

अज्ञानी गुरुओंने लोगोंको उलटे मार्गपर चढ़ा दिया है। उलटा मार्ग पकडा दिया है, इसलिये लोग गच्छ, कुल आदि लौकिक भावोंमे तदाकार हो गये है। अज्ञानियोंने लोगोंको बिलकुल उलटा ही मार्ग समझा दिया है। उनके संगसे इस कालमे अंधकार हो गया है। हमारी कही हुई एक एक बातको याद कर करके विशेषरूपसे पुरुषार्थ करें। गच्छ आदिके कदाग्रह छोड़ देने चाहिये। जीव अनादिकालसे भटका है। समकित हो तो सहजमे ही समाधि हो जाये, और परिणाममें कल्याण हो। जीव सत्पुरुषके आश्रयसे यदि आज्ञा आदिका सचमुच आराधन करे, उसपर प्रतीति लाये, तो उपकार होगा ही।

एक तरफ तो चौदह राजूलोकका सुख हो, और दूसरी तरफ सिद्धके एक प्रदेशका सुख हो तो भी सिद्धके एक प्रदेशका सुख अनतगुना हो जाता है।

वृत्तिको चाहे जिस तरहसे रोकें, ज्ञानविचारसे रोकें; लोकलाजसे रोकें, उपयोगसे रोकें, चाहे जिस तरह भी वृत्तिको रोके। किसी पदार्थके बिना चले नही ऐसा मुमुक्षुको नही होना चाहिये।

जीव ममत्व मानता है, वही दु ख है, क्योंकि ममत्व माना कि चिंता हुई कि कैसे होगा ? कैसे करें ? चिंतामे जो स्वरूप होता है, तद्रूप हो जाता है, वही अज्ञान है। विचारसे, ज्ञानसे देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि कोई मेरा नही है। यदि एककी चिंता करे तो सारे जगतकी चिंता करनी चाहिये। इसलिये प्रत्येक प्रसगमे ममत्व न होने दे, तो चिंता, कल्पना कम होगी। तृष्णाको यथासंभव कम करें। विचार कर करके तृष्णाको कम करें। इस देहको पचास रुपयेका खर्च चाहिये, उसके बदले हजारों लाखोकी चितारूप अग्निसे दिनभर जला करता है। बाह्य उपयोग तृष्णाकी वृद्धि होनेका निमित्त है। जीव बड़ाई-के लिये तृष्णाको बढाता है। उस बड़ाईको रखकर मुक्ति नही होती। जैसे बने वैसे बडाई, तृष्णा कम करे। निर्धन कौन ? जो धन माँगे, धन चाहे, वह निर्धन; जो न माँगे वह धनवान है। जिसे विशेष लक्ष्मीकी तृष्णा, सताप और जलन है, उसे जरा भी सुख नही है। लोग समझते है कि श्रीमत सुखी है, परन्तु वस्तुत उसे रोम-रोममे पीडा है। इसलिये तृष्णा कम करें।

आहारकी बात अर्थात् खानेके पदार्थोकी बात तुच्छ है, वह न करे। विहारकी अर्थात् स्त्री, क्रीडा आदिकी बात बहुत तुच्छ है। निहारकी बात भी बहुत तुच्छ है। शरीरकी साता या दीनता यह सब तुच्छताकी बाते न करे। आहार विष्टा है। विचार करे कि खानेके बाद विष्टा हो जाती है। विष्टा गाय खाती है तो दूध हो जाता है, और खेतमे खाद डालनेसे अनाज होता है। इस प्रकार उत्पन्न हुए अनाजके आहारको विष्टा तुल्य जानकर उसकी चर्चा न करे। यह तुच्छ बात है।

सामान्य जीवोंसे बिलकुल मौन नही रहा जाता, और रहे तो अन्तरकी कल्पना नही मिटती; और जब तक कल्पना हो तब तक उसके लिये रास्ता निकालना ही चाहिये। इसलिये फिर लिखकर कल्पना बाहर निकालते हैं। परमार्थकाममे बोलना, व्यवहारकाममे बिना प्रयोजन बकवास नही करना। जहाँ माथापच्ची होती है वहाँसे दूर रहना; वृत्ति कम करनी।

क्रोध, मान, माया और लोभको मुझे कृश करना है, ऐसा जब लक्ष्य होगा, जब इस लक्ष्यमें थोड़ा थोड़ा भी वर्तन होगा तब फिर सहजरूप हो जायेगा। बाह्य प्रतिबन्ध, अन्तर प्रतिबन्ध आदि आत्माको आवरण करनेवाला प्रत्येक दूषण जाननेमे आये कि उसे दूर भगानेका अभ्यास करे। क्रोध आदि थोड़े थोड़े दुर्बल पड़नेके बाद सहजरूप हो जायेंगे। फिर उन्हे वशमे लेनेके लिये यथाशक्ति अभ्यास रखें और

उस विचारमे समय बिताये। किसीके प्रसंगसे क्रोध आदि उत्पन्न होनेका निमित्त मानते हैं, उसे न मानें। उसे महत्त्व न दें; क्योंकि क्रोध स्वयं करे तो होता है। जब अपनेपर कोई क्रोध करे तब विचार करें कि उस बेचारेको अभी उस प्रकृतिका उदय है, अपने आप घड़ी दो घडीमें शात हो जायेगा। इसलिये यथासम्भव अंतर्विचार करके स्वयं स्थिर रहे। क्रोधादि कषाय आदि दोषका सदा विचार कर करके उन्हे दुर्बल करें। तृष्णा कम करे क्योंकि वह एकांत दुःखदायी है। जैसे उदय होगा वैसे होगा, इसलिये तृष्णाको अवश्य कम करे। बाह्य प्रसग अतर्वृत्तिके लिये आवरणरूप हैं इसलिये उन्हे यथासभव कम करते रहे।

चेलातीपुत्र किसीका सिर काट लाया था। उसके बाद वह ज्ञानीसे मिला और कहा—'मोक्ष दो; नही तो सिर काट डालूँगा।' फिर ज्ञानीने कहा—क्या बिलकुल ठीक कहता है? विवेक (सच्चेको सच्चा समझना), शम (सबपर समभाव रखना) और उपशम (वृत्तियोको बाहर नही जाने देना और अंतर्वृत्ति रखना), उन्हे अधिकाधिक आत्मामे परिणमानेसे आत्माका मोक्ष होता है।

कोई एक सम्प्रदायवाले ऐसा कहते हैं कि वेदातीकी मुक्तिकी अपेक्षा—इस भ्रमदशाकी अपेक्षा चार गतियाँ अच्छी, इनमे अपने सुखदुःखका अनुभव तो रहता है।

वेदाती ब्रह्ममें समा जानेरूप मुक्ति मानते हैं, इसलिये वहाँ अपनेको अपना अनुभव नही रहता। पूर्व मीमासक देवलोक मानते है, फिर जन्म अवतार हो ऐसा मोक्ष मानते है। सर्वथा मोक्ष नही होता, होता हो तो बधता नही, बधे तो छूटता नही। शुभ क्रिया करे उसका शुभ फल होता है, फिरसे संसारमे आना-जाना होता है, यो सर्वथा मोक्ष नहीं होता—ऐसा पूर्वमीमासक मानते हैं।

सिद्धमे संवर नही कहा जाता, क्योंकि वहाँ कर्म नही आते, इसलिये फिर रोकना भी नही होता। मुक्तमे स्वभाव संभव है, एक गुणसे, अंशसे लेकर सम्पूर्ण तक। सिद्धदशामे स्वभावसुख प्रगट हुआ, कर्मके आवरण दूर हुए, इसलिये अब सवर और निर्जरा किसे होगे? तीन योग भी नही होते। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग इन सबसे जो मुक्त हुआ उसे कर्म नही आते। इसलिये उसे कर्मोंका निरोध करना नही होता। एक हजारकी रकम हो और उसे थोडा थोड़ा करके पूरा कर दिया तो फिर खाता बंद हो गया, इसी तरह कर्मोंके पाँच कारण थे, उन्हे सवर-निर्जरासे समाप्त कर दिया, इसलिये पाँच कारणरूप खाता बद हो गया, अर्थात् बादमे फिर वे प्राप्त होते ही नही।

धर्मसन्यास = क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोका नाश करना।

जीव तो सदा जीवित ही है। वह किसी समय सोता नहीं या मरता नही; उसका मरना संभव नही। स्वभावसे सर्व जीव जीवित ही है। जैसे श्वासोच्छ्वासके बिना कोई जीव देखनेमे नही आता वैसे ही ज्ञानस्वरूप चेतन्यके बिना कोई जीव नही है।

आत्माकी निदा करे, और ऐसा खेद करें कि जिससे वैराग्य आये, संसार झूठा लगे। चाहे जो कोई मरे, परन्तु जिसकी आँखोमे आँसू आयें, संसारको असार जानकर जन्म, जरा और मरणको महा भयंकर जानकर वैराग्य पाकर आँसू आयें वह उत्तम है। अपना लड़का मर जाये, और रोये, इसमे कोई विशेषता नही है, यह तो मोहका कारण है।

आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नही होता? बड़े बड़े पर्वतके पर्वत काट डाले हैं, और कैसे कैसे विचार करके उन्हे रेल्वेके काममे लिया है! ये तो बाहरके काम है, फिर भी विजय पायी है। आत्माका विचार करना, यह कोई बाहरकी बात नही है। जो अज्ञान है वह मिटे तो ज्ञान हो।

अनुभवी वैद्य तो दवा देता है, परन्तु रोगी यदि उसे खाये तो रोग दूर होता है। इसी तरह सद्गुरु अनुभव करके ज्ञानरूप दवा देते है, परन्तु मुमुक्षु उसे ग्रहण करे तो मिथ्यात्वरूप रोग दूर होता है।

दो घडी पुरुषार्थ करे तो केवलज्ञान हो जाता है, ऐसा कहा है। चाहे जैसा पुरुषार्थ करे तो भी रेल्वे आदि दो घडीमें तैयार नहीं होती, तो फिर केवलज्ञान कितना सुलभ है इसका विचार करें।

जो बाते जीवको मंद कर डाले, प्रमादी कर डाले वैसी बाते न सुने। इसीसे जीव अनादिसे भटका हैं। भवस्थिति, काल आदिके अवलंबन न लें, ये सब बहाने हैं।

जीवको संसारी आलंबन और विडम्बनाएँ छोड़नी नहीं है, और मिथ्या आलंबन लेकर कहता है कि कर्मके दल हैं, इसलिये मुझसे कुछ हो नहीं सकता। ऐसे आलंबन लेकर पुरुषार्थ नही करता। यदि पुरुषार्थ करे और भवस्थिति या काल बाधा डाले तब उसका उपाय करेंगे। परन्तु प्रथम पुरुषार्थ करना चाहिये।

सच्चे पुरुषकी आज्ञाका आराधन करना परमार्थरूप ही है। उसमें लाभ ही होता है। यह व्यापार लाभका ही है।

जिस मनुष्यने लाखों रुपयोकी ओर मुड़कर पीछे नहीं देखा, वह अब हजारके व्यापारमे बहाना निकालता है. उसका कारण यह है कि अतरसे आत्मार्थके लिये कुछ करनेकी इच्छा नही है। जो आत्मार्थी हो गया वह मुडकर पीछे नही देखता, वह तो पुरुषार्थ करके सामने आ जाता है। शास्त्रमे कहा है कि आवरण, स्वभाव, भवस्थिति कब पके ? तो कहते हैं कि जब पुरुषार्थ करे तब।

पाँच कारण मिले तब मुक्त होता है। वे पाँचो कारण पुरुषार्थमे निहित हैं। अनंत चौथे कालचक्र मिले परन्तु यदि स्वय पुरुषार्थ करे तो ही मुक्ति प्राप्त होती है। जीवने अनत कालसे पुरुषार्थ नही किया है। सभी मिथ्या आलंबन लेकर मार्गमे विघ्न डाले है। कल्याणवृत्ति उदित हो तब भवस्थितिको परिपक्व हुई समझें। शौर्य हो तो वर्षका कार्य दो घडीमे किया जा सकता है।

प्रश्न—व्यवहारमे चौथे गुणस्थानमे कौन कौनसे व्यवहार लागू होते है ? शुद्ध व्यवहार या और कोई ?

उत्तर—दूसरे सभी व्यवहार लागू होते हैं। उदयसे शुभाशुभ व्यवहार होता है, और परिणतिसे शुद्ध व्यवहार होता है।

परमार्थसे शुद्ध कर्ता कहा जाता है। प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी क्षय किये है, इसलिये शुद्ध व्यवहारका कर्ता है। समकितीको अशुद्ध व्यवहार दूर करना है। समकिती परमार्थसे शुद्ध कर्ता है।

नयके प्रकार अनेक हैं, परन्तु जिस प्रकारसे आत्मा ऊँचा उठे, पुरुषार्थ वर्धमान हो, उसी प्रकारका विचार करे। प्रत्येक कार्य करते हुए अपनी भूलपर ध्यान रखें। एक सम्यक् उपयोग हो तो स्वयंको अनुभव हो जाता है कि कैसी अनुभवदशा प्रगट होती है।

सत्सग हो तो सभी गुण अनायास ही प्राप्त होते हैं। दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहमर्यादा आदिका आचरण अहंकार रहित करे। लोगोंको दिखानेके लिये कुछ भी न करे। मनुष्यका अवतार मिला है, और सदाचारका सेवन नही करेगा तो पछताना पड़ेगा। मनुष्यके अवतारमे सत्पुरुषके वचन सुनने और विचार करनेका योग मिला है।

सत्य बोलना, यह कुछ मुश्किल नही है, बिलकुल सहज है। जो व्यापार आदि सत्यसे होते हों, उन्हें ही करे। यदि छ महीने तक इस तरह आचरण किया जाये तो फिर सत्य बोलना सहज हो जाता है। सत्य बोलनेसे कदाचित् प्रथम थोडे समय तक थोड़ा नुकसान भी हो जाये; परन्तु फिर अनत गुणका स्वामी आत्मा जो सारा लूटा जा रहा है वह लुटता हुआ बंद हो जाता है। सत्य बोलनेसे धीरे धीरे सहज हो जाता है और यह होनेके बाद व्रत ले; अभ्यास रखे; क्योंकि उत्कृष्ट परिणामवाले आत्मा विरल ही होते हैं।

जीव यदि लौकिक भयसे भयभीत हुआ, तो उससे कुछ भी नहीं होता। लोग चाहे जो कहे उसकी परवा न करते हुए जिससे आत्महित हो ऐसे सदाचरणका सेवन करें।

ज्ञान जो काम करता है वह अद्भुत है। सत्पुरुषके वचनोंके बिना विचार नहीं आता; विचारके बिना वैराग्य नहीं आता, वैराग्य एवं विचारके बिना ज्ञान नहीं आता। इस कारणसे सत्पुरुषके वचनोंका बारंबार विचार करें।

सम्पूर्ण आशंका दूर हो तो बहुत निर्जरा होती है। जीव यदि सत्पुरुषका मार्ग जानता हो, उसका उसे वारम्वार बोध होता हो, तो बहुत फल होता है।

सात नय अथवा अनंत नय हैं, वे सब एक आत्मार्थके लिये ही हैं, और आत्मार्थ यही एक सच्चा नय है। नयका परमार्थ जीवमे निकले तो फल होता है, अतमे उपशमभाव आये तो फल होता है; नहीं तो नयका ज्ञान जीवके लिये जालरूप हो जाता है; और वह फिर अहंकार बढ़नेका स्थान होता है। सत्पुरुषके आश्रयमे जाल दूर हो जाता है।

व्याख्यानमे कोई भंगजाल, राग (स्वर) निकालकर सुनाता है, परन्तु उसमें आत्मार्थ नही है। यदि सत्पुरुषके आश्रयसे कषाय आदि मद करें, और सदाचारका सेवन कर अहकाररहित हो जायें, तो आपका और दूसरेका हित होगा। दंभरहित, आत्मार्थके लिये सदाचारका सेवन करें कि जिससे उपकार हो।

खारी जमीन हो और उसमें वर्षा हो तो वह किस कामकी? इसी तरह जब तक ऐसी स्थिति हो कि आत्मामें उपदेश-वार्ता परिणमन न करे तब तक वह किस कामकी? जब तक उपदेशवार्ता आत्मामे परिणमन न करे तब तक उसे पुनः पुनः सुने, विचार करें, उसका पीछा न छोड़े, कायर न बनें; कायर हो तो आत्मा ऊँचा नहीं उठता। ज्ञानका अभ्यास जैसे बने वैसे बढ़ायें; अभ्यास रखें, उसमे कुटिलता या अहंकार न रखें।

आत्मा अनंत ज्ञानमय है। जितना अभ्यास बढे उतना कम है। 'सुन्दरविलास' आदि पढनेका अभ्यास रखें। गच्छ या मतमतांतरकी पुस्तकें हाथमें न ले। परम्परासे भी कदाग्रह आ गया, तो जीव फिर मारा जाता है। इसलिये मतोंके कदाग्रहकी बातोमे न पडे। मतोंसे अलग रहे, दूर रहे। जिन पुस्तकोंसे वैराग्य-उपशम हो वे समकितदृष्टिकी पुस्तकें हैं। वैराग्यवाली पुस्तकें पढें—'मोहमुद्गर', 'मणिरत्नमाला' आदि।

दया, सत्य आदि जो साधन हैं वे विभावका त्याग करनेके साधन है। अतःस्पर्शसे तो विचारको बड़ा सहारा मिलता है। अब तकके साधन विभावके आधार थे; उन्हे सच्चे साधनोसे ज्ञानी पुरुष हिला देते हैं। जिसे कल्याण करना हो उसे सत्साधन अवश्य करने होते हैं।

सत्समागममें जीव आया, और इन्द्रियोकी लुब्धता न गयी तो समझे कि सत्समागममे नही आया। जब तक सत्य नही बोलता तब तक गुण प्रगट नही होता। सत्पुरुष हाथसे पकड़कर व्रत दे तो लें। ज्ञानी-पुरुष परमार्थका ही उपदेश देते हैं। मुमुक्षुओंको सच्चे साधनोंका सेवन करना योग्य है।

समकितके मूल बारह व्रत है—स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद आदि। सभी स्थूल कहकर ज्ञानी-ने आत्माका और ही मार्ग समझाया है। व्रत दो प्रकारके हैं—(१) समकितके बिना बाह्य व्रत हैं, और (२) समकितसहित अंतर्व्रत हैं। समकितसहित बारह व्रतोंका परमार्थ समझमे आये तो फल होता है।

बाह्यव्रत अन्तर्व्रतके लिये है, जैसे कि एकका अंक सीखनेके लिये लकीरें होती है वैसे। पहले तो लकीरें खीचते हुए एकका अंक टेढ़ा-मेढ़ा होता है, और यों करते करते फिर एकका अंक ठीक बन जाता है।

जीवने जो जो सुना है वह सब उलटा ही ग्रहण किया है। ज्ञानी बिचारे क्या करे? कितना समझाये? समझानेकी रीतिसे समझाते हैं। मारकूट कर समझानेसे आत्मज्ञान नहीं होता। पहले जो जो व्रत आदि किये थे वे सब निष्फल गये; इसलिये अब सत्पुरुषकी दृष्टिसे उसका परमार्थ और ही समझमें

आयेगा। समझकर करें। एकका एक ही व्रत हो परन्तु वह मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे बंध है और सम्यग्-दृष्टिकी अपेक्षासे निर्जरा है। पूर्वकालमें जो व्रत आदि निष्फल गये हैं उन्हें अब सफल करने योग्य सत्-पुरुषका योग मिला है; इसलिये पुरुषार्थ करें, टेकसहित सदाचरणका सेवन करें, मरण आनेपर भी पीछे न हटें। आरम्भ, परिग्रहके कारण ज्ञानीके वचनोंका श्रवण नहीं होता, मनन नही होता; नहीं तो दशा बदले बिना कैसे रह सके?

आरम्भ-परिग्रहको कम करें। पढ़नेमे चित्त न लगनेका कारण नीरसता है। जैसे कि मनुष्य नीरस आहार कर ले तो फिर उत्तम भोजन अच्छा नही लगता वैसे।

ज्ञानियोने जो कहा है, उससे जीव उलटा चलता है; इसलिये सत्पुरुषकी वाणी कहाँसे परिणत हो? लोकलाज, परिग्रह आदि शल्य है। इस शल्यके कारण जीवका पुरुषार्थ जागृत नही होता। वह शल्य सत्पुरुषके वचनकी टाँकीसे छिदे तो पुरुषार्थ जाग्रत हो। जीवके शल्य, दोष, हजारों दिनोंके प्रयत्नसे भी स्वतः दूर नही होते, परन्तु सत्सगका योग एक मास तक हो तो दूर होते है; और जीव मार्गपर चला जाता है।

कितने ही लघुकर्मी संसारी जीवोको पुत्रपर मोह करते हुए जितना दुःख होता है उतना भी दुःख कई आधुनिक साधुओको शिष्योपर मोह करते हुए नही होता।

तृष्णावाला जीव सदा भिखारी, संतोषवाला जीव सदा सुखी।

सच्चे देवकी, सच्चे गुरुकी और सच्चे धर्मकी पहचान होना बहुत मुश्किल है। सच्चे गुरुकी पहचान हो, उनका उपदेश हो; तो देव, सिद्ध, धर्म इन सबकी पहचान हो जाती है। सबका स्वरूप सद्-गुरुमे समा जाता है।

सच्चे देव अर्हंत, सच्चे गुरु निर्ग्रन्थ, और सच्चे हरि, जिसके रागद्वेष और अज्ञान दूर हो गये हैं वे। ग्रन्थिरहित अर्थात् गाँठरहित। मिथ्यात्व अन्तर्ग्रन्थि है, परिग्रह बाह्यग्रन्थि है। मूलमे अभ्यन्तर ग्रन्थिका छेदन न हो तब तक धर्मका स्वरूप समझमें नही आता। जिसकी ग्रन्थि दूर हो गयी है वैसा पुरुष मिले तो सचमुच काम हो जाये, और फिर उसके समागममे रहे तो विशेष कल्याण हो। जिस मूल ग्रन्थिका छेदन करनेका शास्त्रमे कहा है, उसे सब भूल गये हैं; और बाहरसे तपश्चर्या करते हैं। दुःख सहन करते हुए भी मुक्ति नही होती, क्योकि दुःख वेदन करनेका कारण जो वैराग्य है उसे भूल गये। दुःख अज्ञानका है।

अन्दरसे छूटे तभी बाहरसे छूटता है, अन्दरसे छूटे बिना बाहरसे नहीं छूटता। केवल बाहरसे छोड़नेसे काम नही होता। आत्मसाधनके बिना कल्याण नही होता।

जिसे बाह्य और अन्तर दोनों साधन है वह उत्कृष्ट पुरुष है, वह श्रेष्ठ है। जिस साधुके संगसे अंतर्गुण प्रगट हो उसका संग करे। कलई और चाँदीके रुपये समान नही कहे जाते। कलईपर सिक्का लगा दें तो भी उसकी रुपयेकी कीमत नही हो जाती। जब कि चाँदीपर सिक्का न लगायें तो भी उसकी कीमत कम नहीं हो जाती। उसी तरह यदि गृहस्थावस्थामें ज्ञान प्राप्त हो, गुण प्रगट हो, समकित हो तो उसका मूल्य कम नही हो जाता। सब कहते है कि हमारे धर्मसे मोक्ष है।

आत्मामें, रागद्वेष दूर हो जानेपर ज्ञान प्रगट होता है। चाहे जहाँ बैठे हों और चाहे जिस स्थिति-में हों, मोक्ष हो सकता है, परन्तु रागद्वेष नष्ट हो तो। मिथ्यात्व और अहंकारका नाश हुए बिना कोई राजपाट छोड़ दे, वृक्षकी तरह सुख जाये परन्तु मोक्ष नही होता। मिथ्यात्व नष्ट होनेके बाद सब साधन सफल होते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है।

---

१२ आणंद, भादों वदी १३, रवि, १९५२

संसारमें जिसे मोह है, स्त्री-पुत्रमे ममत्व हो गया है; और जो कषायसे भरा हुआ है वह रात्रि-भोजन न करे तो भी क्या हुआ ? जब मिथ्यात्व चला जाये तभी उसका सच्चा फल होता है।

अभी जैनके जितने साधु विचरते हैं, उन सभीको समकिती न समझें। उन्हे दान देनेमें हानि नहीं हैं; परन्तु वे हमारा कल्याण नही कर सकते। वेश कल्याण नहीं करता। जो साधु मात्र बाह्य क्रियाएँ किया करता है उसमे ज्ञान नही है।

ज्ञान तो वह है कि जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती है, संसारपरसे सचमुच प्रीति घट जाती है, सच्चेको सच्चा जानता है। जिससे आत्मामे गुण प्रगट हो वह ज्ञान है।

मनुष्यभव पाकर कमानेमे और स्त्री पुत्रमें तदाकार होकर यदि आत्मविचार नही किया, अपने दोष नही देखे, आत्माकी निन्दा नही की, तो वह मनुष्यभव, रत्नचिन्तामणिरूप देह व्यर्थ जाता है।

जीव कुसंगसे और असद्गुरुसे अनादिकालसे भटका है, इसलिये सत्पुरुषको पहचाने। सत्पुरुष कैसे हैं ? सत्पुरुष तो वे है कि जिनका देहममत्व चला गया है, जिन्हे ज्ञान प्राप्त हुआ है। ऐसे ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे आचरण करे तो अपने दोष घटते हैं, और कषाय आदि मन्द पड़ते है तथा परिणाममे सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये सचमुच पाप हैं। उनसे बहुत कर्मोंका उपार्जन होता है। हजार वर्ष तप किया हो परन्तु एक दो घड़ी क्रोध करे तो सारा तप निष्फल हो जाता है।

'छः खंडके भोक्ता राज छोड़कर चले गये और मैं ऐसे अल्प व्यवहारमे बडप्पन और अहङ्कार कर बैठा हूँ,' यों जीव क्यो विचार नही करता ?

आयुके इतने वर्ष बीत गये तो भी लोभ कुछ कम न हुआ, और न ही कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। चाहे जितनी तृष्णा हो परन्तु आयु पूरी हो जानेपर जरा भी काम नही आती, और तृष्णा की हो उससे कर्म ही बँधते है। अमुक परिग्रहकी मर्यादा की हो, जैसे कि दस हजार रुपयेकी, तो समता आती है। इतना मिलनेके बाद धर्मध्यान करेंगे ऐसा विचार भी रखें तो नियममें आया जा सकता है।

किसी पर क्रोध न करे। जैसे रात्रिभोजनका त्याग किया है वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य आदि छोड़नेका प्रयत्न करके उन्हे मन्द करे; और उन्हे मन्द करनेसे परिणाममे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। विचार करे तो अनंत कर्म मंद होते हैं और विचार न करे तो अनत कर्मोंका उपार्जन होता है।

जब रोग उत्पन्न होता है तब स्त्री, बाल-बच्चे, भाई या दूसरा कोई भी उस रोगको नहीं ले सकता।

सन्तोष करके धर्मध्यान करें, बाल-बच्चे आदि किसीकी अनावश्यक चिन्ता न करें। एक स्थानमे बैठकर, विचार कर, सत्पुरुषके सगसे, ज्ञानीके वचन सुनकर विचार कर धन आदिकी मर्यादा करें।

ब्रह्मचर्यको यथातथ्य रीतिसे तो कोई विरला जीव ही पाल सकता है; तो भी लोकलाजसे ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो वह उत्तम है।

मिथ्यात्व दूर हुआ हो तो चार गति दूर हो जाती है। समकित न आया हो और ब्रह्मचर्यका पालन करे तो देवलोक मिलता है।

वणिक, ब्राह्मण, पशु, पुरुष, स्त्री आदिकी कल्पनासे 'मैं वणिक, ब्राह्मण, पुरुष, स्त्री, पशु हूँ', ऐसा मानता है; परन्तु विचार करे तो वह स्वयं उनमेंसे कोई भी नही है। 'मेरा' स्वरूप तो उससे भिन्न ही है।

सूर्यके उद्योतकी तरह दिन बीत जाता है, उसी तरह अंजलिजलकी भाँति आयु चली जाती है।

जिस तरह लकडी करवतसे चीरी जाती है उसी तरह आयु चली जाती है; तो भी मूर्ख परमार्थका साधन नही करता, और मोहके पुंज इकट्ठे करता है।

'सबकी अपेक्षा मैं जगतमे बडा हो जाऊँ', ऐसा बड़प्पन प्राप्त करनेकी तृष्णामें पाँच इन्द्रियोंमे लवलीन, मद्यपायीकी भाँति, मृगजलकी तरह संसारमे जीव भ्रमण किया करता है; और कुल, गाँव तथा गतियोमे मोहके नचानेसे नाचा करता है!

जिस तरह कोई अंधा रस्सी बटता जाता है और बछडा उसे चबाता जाता है, उसी तरह अज्ञानी की क्रिया निष्फल जाती है।

'मै कर्ता', मै करता हूँ', 'मैं कैसा करता हूँ', इत्यादि जो विभाव हैं वही मिथ्यात्व है। अहंकारसे संसारमे अनंत दुःख प्राप्त होता है; चारो गतियोमे भटकता है।

किसीका दिया हुआ नही दिया जाता, किसीका लिया हुआ नही लिया जाता; जीव व्यर्थकी कल्पना करके भटकता है। जिस तरह कर्मोंका उपार्जन किया हो उसीके अनुसार लाभ, अलाभ, आयु, साता, असाता मिलते है। अपनेसे कुछ दिया लिया नही जाता। अहकारसे 'मैने उसे सुख दिया', 'मैने दुःख दिया', 'मैने अन्न दिया', ऐसी मिथ्या भावना करता है और उसके कारण कर्मका उपार्जन करता है। मिथ्यात्वसे कुधर्मका उपार्जन करता है।

जगतमे इसका यह पिता, इसका यह पुत्र ऐसा कहा जाता है; परंतु कोई किसीका नही है। पूर्व-कर्मके उदयसे सब कुछ हुआ है।

अहंकारसे जो ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है वह भूला है; चार गतिमे भटकता है, और दुःख भोगता है।

अधमाधम पुरुषके लक्षण :—सत्पुरुषको देखकर उसे रोष आता है, उनके सच्चे वचन सुनकर निन्दा करता है, दुर्बुद्धि सद्बुद्धिको देखकर रोष करता है; सरलको मूर्ख कहता है; विनयीको खुशामदी कहता है, पाँच इन्द्रियाँ वश करनेवालेको भाग्यहीन कहता है, सद्गुणीको देखकर रोष करता है, स्त्रीपुरुषके सुखमे लवलीन, ऐसे जीव दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। जीव कर्मके कारण अपने स्वरूपज्ञानसे अंध है, उसे ज्ञानका पता नही है।

एक नाकके लिये—मेरी नाक रहे तो अच्छा—ऐसी कल्पनाके कारण जीव अपनी शूरवीरता दिखानेके लिये लड़ाईमे उतरता है; नाककी तो राख होनेवाली है!

देह कैसी है? रेतके घर जैसी, स्मशानकी मढ़ी जैसी। पर्वतकी गुफाकी तरह देहमें अंधेरा है। चमड़ीके कारण देह ऊपरसे रूपवती लगती है। देह अवगुणकी कोठरी, माया और मैलकी रहनेका स्थान है। देहमे प्रेम रखनेसे जीव भटका है। यह देह अनित्य है। मलमूत्रकी खान है। इसमे मोह रखनेसे जीव चार गतिमें भटकता है। कैसा भटकता है? कोल्हूके बैलकी तरह। आँखोंपर पट्टी बाँध लेता है, उसे चलनेके मार्गमे तगीसे रहना पडता है; लकडीकी मार खाता है, चारो तरफ फिरते रहना पड़ता है; छूटनेका मन होनेपर भी छूट नहीं सकता; भूखे प्यासे होनेकी बात कह नही सकता, सुखसे श्वासोच्छ्वास ले नही सकता। उसकी तरह जीव पराधीन है। जो संसारमे प्रीति करता है वह इस प्रकारके दुःख सहन करता है।

धुएँ जैसे कपडे पहन कर वह आडंबर करता है, परंतु वह धुएँकी तरह नष्ट होने योग्य है। आत्माका ज्ञान मायासे दबा रहता है।

जो जीव आत्मेच्छा रखता है वह पैसेको नाकके मैलकी तरह छोड़ देता है। मक्खी मिठाईमें फँसी है उसकी तरह यह अभागा जीव कुटुम्बके सुखमे फँसा है।

वृद्ध, युवान, बालक—ये सब संसारमें डूबे हैं, कालके मुखमें हैं, ऐसा भय रखना। यह भय रखकर संसारमे उदासीनतापूर्वक रहना।

सौ उपवास करे, परन्तु जब तक भीतरसे सचमुच दोष दूर न हों तब तक फल नहीं मिलता।

श्रावक किसे कहना? जिसे सन्तोष आया हो, जिसके कषाय मंद हो गये हो, भीतरसे गुण प्रगट हुए हों, सच्चा संग मिला हो; उसे श्रावक कहना। ऐसे जीवको बोध लगे तो सारी वृत्ति बदल जाती है, दशा बदल जाती है। सच्चा संग मिलना यह पुण्यका योग है।

जीव अविचारसे भूला है। उसे कोई जरा कुछ कहे तो तुरत बुरा लग जाता है। परन्तु विचार नही करता कि 'मुझे क्या? वह कहेगा तो उसे कर्मबन्ध होगा। क्या तुझे अपनी गति बिगाड़नी है?' क्रोध करके सामने बोलता है तो तू स्वयं ही भूल करता है। जो क्रोध करता है वही बुरा है। इस बारेमे संन्यासी और चांडालका दृष्टान्त है।[1]

ससुर-बहूके दृष्टांतसे[2] सामायिक समताको कहा जाता है। जीव अहंकारसे बाह्य क्रिया करता है; अहंकारसे माया खर्च करता है, ये दुर्गतिके कारण है। सत्संगके बिना यह दोष कम नही होता।

जीवको अपने आपको चतुर कहलाना बहुत भाता है। बिना बुलाये चतुराई कर बडाई लेना है। जिस जीवको विचार नही, उसके छूटनेका मार्ग नही। यदि जीव विचार करे और सन्मार्गपर चले तो छूटनेका मार्ग मिलता है।

[3]बाहुबलजीके दृष्टांतसे, अहंकारसे और मानसे कैवल्य प्रगट नही होता। वह बड़ा दोष है। अज्ञान में बड़े-छोटेकी कल्पना है।

---

१३ आणंद, भादो वदी १४, सोम

पंद्रह भेदोसे सिद्ध होनेका वर्णन किया है उसका कारण यह है कि जिसके राग, द्वेष और अज्ञान दूर हो गये है, उसका चाहे जिस वेषसे, चाहे जिस स्थानसे और चाहे जिस लिंगसे कल्याण होता है।

सच्चा मार्ग एक ही है; इसलिये आग्रह नही रखना। 'मैं ढूँढिया हूँ', 'मै तपा हूँ', ऐसी कल्पना नही रखना। दया, सत्य आदि सदाचरण मुक्तिका रास्ता है, इसलिये सदाचरणका सेवन करें।

लोच करना किसलिये कहा है? वह शरीरकी ममताकी परीक्षा है इसलिये। (सिरपर बाल होना) यह मोह बढ़नेका कारण है। नहानेका मन होता है; दर्पण लेनेका मन होता है; उसमे मुंह देखनेका मन होता है, और इसके अतिरिक्त उनके साधनोके लिये उपाधि करनी पड़ती है। इस कारणसे ज्ञानियोंने लोच करनेका कहा है।

यात्रा करनेका हेतु एक तो यह है कि गृहवासकी उपाधिसे निवृत्ति ली जाये, सौ दो सौ रुपयोंकी मूर्च्छा कम की जाये, परदेशमें देशाटन करते हुए कोई सत्पुरुष खोजनेसे मिल जाये तो कल्याण हो जाये। इन कारणोंसे यात्रा करना बताया है।

जो सत्पुरुष दूसरे जीवोंको उपदेश देकर कल्याण बताते हैं, उन सत्पुरुषोंको तो अनंत लाभ प्राप्त हुआ है। सत्पुरुष परजीवकी निष्काम करुणाके सागर है। वाणीके उदयके अनुसार उनकी वाणी निकलती है। वे किसी जीवको ऐसा नही कहते कि तू दीक्षा ले। तीर्थंकरने पूर्वकालमे कर्म बांधा है उसका वेदन करनेके लिये दूसरे जीवोंका कल्याण करते है; बाकी तो उदयानुसार दया रहती है। वह दया

---

१ क्रोध चांडाल है। एक सन्यासी स्नान करनेके लिये जा रहा था। रास्तेमे सामनेसे चांडाल आ रहा था। सन्यासीने उसे एक ओर होनेको कहा। परतु उसने सुना नही। इससे सन्यासी क्रोधमें आ गया। चांडाल उसके गले लग गया और बोला कि, 'मेरा भाग आपमें है।' २. ससुर कहाँ गये हैं? भंगीबस्तीमें। ३. देखें पृष्ठ ७१।

निष्कारण है, तथा उन्हें परायी निर्जरासे अपना कल्याण नहीं करना है। उनका कल्याण तो हो चुका ही है। वे तीन लोकके नाथ तो तरकर ही बैठे है। सत्पुरुष या समकितीको भी ऐसी (सकाम) उपदेश देनेकी इच्छा नहीं होती। वे भी निष्कारण दयाके लिये उपदेश देते हैं।

महावीरस्वामी गृहवासमे रहते हुए भी त्यागी जैसे थे।

हजारों वर्षके सयमी भी जैसा वैराग्य नही रख सकते वैसा वैराग्य भगवानका था। जहाँ जहाँ भगवान रहते हैं, वहाँ वहाँ सभी प्रकारके अर्थ भी रहते हैं। उनकी वाणी उदयानुसार शांति पूर्वक परमार्थहेतुसे निकलती है अर्थात् उनकी वाणी कल्याणके लिये ही हैं। उन्हे जन्मसे मति, श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान थे। उस पुरुषके गुणगान करनेसे अनंत निर्जरा होती है। ज्ञानीकी बात अगम्य है। उनका अभिप्राय मालूम नही होता। ज्ञानीपुरुषकी सच्ची खूबी यह है कि उन्होंने अनादिसे अटल ऐसे रागद्वेष तथा अज्ञानको छिन्न भिन्न कर डाला है। यह भगवानकी अनंत कृपा है। उन्हें पच्चीस सौ वर्ष हो गये फिर भी उनकी दया आदि आज भी विद्यमान है। यह उनका अनत उपकार है। ज्ञानी आडंबर दिखानेके लिये व्यवहार नही करते। वे सहज स्वभावसे उदासीन भावसे रहते है।

ज्ञानी रेलगाड़ीमें सेकन्ड क्लासमें बैठे तो वह देहकी साताके लिये नही। साता लगे तो थर्ड क्लास-से भी नीचेके क्लासमे बैठे, उस दिन आहार न ले, परन्तु ज्ञानीको देहका ममत्व नही है। ज्ञानी व्यवहारमे संगमें रहकर, दोषके पास जाकर दोषका छेदन कर डालते हैं, जब कि अज्ञानी जीव संगका त्याग करके भी उस स्त्री आदिके दोष छोड़ नहीं सकता। ज्ञानी तो दोष, ममत्व और कषायको उस संगमे रहकर भी नष्ट करते हैं। इसलिये ज्ञानीकी बात अद्भुत है।

सप्रदायमें कल्याण नही है, अज्ञानीके संप्रदाय होते है। ढूंढिया क्या ? तपा क्या ? जो मूर्त्तिको नही मानता और मुँहपत्ती बाँधता है वह ढूँढिया, जो मूर्तिको मानता है और मुँहपत्ती नही बाँधता वह तपा। यो कही धर्म होता है ! यह तो ऐसी बात है कि लोहा स्वयं तरता नही और दूसरेको तारता नही। वीत-रागका मार्ग तो अनादिका है। जिसके राग, द्वेष और अज्ञान दूर हो गये उसका कल्याण; बाकी अज्ञानी कहे कि मेरे धर्मसे कल्याण है तो उसे नही मानना, यो कल्याण नही होना। ढूंढियापन या तपापन माना तो कषाय आता है। तपा ढूंढियाके साथ बैठा हो तो कषाय आता है, और ढूढिया तपाके साथ बैठा हो तो कषाय आता है, इन्हे अज्ञानी समझे। दोनो नासमझसे संप्रदाय बनाकर कर्म उपार्जन करके भटकते है। बोहरेके नाड़े[1] की तरह मताग्रह पकड़ बैठे है। मुंहपत्ती आदिका आग्रह छोड दें।

जैनमार्ग क्या है ? राग, द्वेष और अज्ञानका नाश हो जाना। अज्ञानी साधुओंने भोले जीवोंको समझाकर उन्हे मार डालने जैसा कर दिया है। यदि प्रथम स्वयं विचार करे, कि क्या मेरे दोष कम हुए हैं ? तो फिर मालूम होगा कि जैनधर्म तो मेरेसे दूर ही रहा है। जीव विपरीत समझसे अपना कल्याण भूल कर दूसरेका अकल्याण करता है। तपा ढूंढियाके साधुको और ढूंढिया तपाके साधुको अन्नपानी न देनेके लिये अपने शिष्योंको उपदेश देता है। कुगुरु एक दूसरेको मिलने नही देते, एक दूसरेको मिलने दें तब तो कषाय कम हो और निन्दा घटे।

जीव निष्पक्ष नही रहते। अनादिसे पक्षमें पड़े हुए है, और उसमे रहकर कल्याण भूल जाते हैं।

---

१. माल भरकर रस्सीसे बाँधे हुए छकडेपर एक बोहराजी बैठे हुए थे, उन्हे छकडेवालेने कहा, "रास्ता खराब है इसलिये, बोहराजी, नाडा पकड़िये, नही तो गिर जायेंगे।" रास्तेमें गड्ढा आनेसे धक्का लगा कि बोहराजी नीचे गिर पडे। छकडेवालेने कहा, "चिताया था और नाडा क्यों नही पकड़ा ?" बोहराजी बोले, "यह नाड़ा पकड़े रखा हूँ, अभी छोड़ा नही" यो कहकर पाजामेका नाड़ा बताया।

बारह कुलकी गोचरी कही है, वैसी कितने ही मुनि नही करते। उन्हें वस्त्र आदि परिग्रहका मोह दूर नही हुआ है। एक बार आहार लेनेका कहा है, फिर भी दो बार लेते हैं। जिस ज्ञानी पुरुषके वचनसे आत्मा ऊँचा उठे वह सच्चा मार्ग है, वह अपना मार्ग है। हमारा धर्म सच्चा है पर पुस्तकमे है। आत्मामे जब तक गुण प्रगट न हो तब तक कुछ फल नही होता। 'हमारा धर्म' ऐसी कल्पना है। हमारा धर्म क्या? जैसे महासागर किसीका नही है, वैसे ही धर्म किसीके बापका नही है। जिसमे दया, सत्य आदि हो उसका पालन करें। वे किसीके बापके नहीं है। अनादिकालके है; शाश्वत है। जीवने गाँठ पकड़ी है कि हमारा धर्म है, परंतु शाश्वत धर्म है, उसमे हमारा क्या? शाश्वत मार्गसे सब मोक्ष गये हैं। रजोहरण, डोरा, मुहपत्ती, कपडे इनमेंसे कोई आत्मा नही है।

कोई एक बोहरा था। वह छकडेमे माल भरकर दूसरे गाँवमे ले जा रहा था। छकडेवालेने कहा, 'चोर आयेंगे इसलिये सावधान होकर रहना, नही तो लूट लेंगे।' परन्तु उस बोहरेने स्वच्छंदसे माना नहीं और कहा, 'कुछ फिक्र नही!' फिर मार्गमे चोर मिले। छकडेवालेने माल बचानेके लिये मेहनत करनी शुरू की परन्तु उस बोहरेने कुछ भी न करते हुए माल ले जाने दिया, और चोर माल लूट गये। परन्तु उसने माल वापस प्राप्त करनेके लिये कोई उपाय नही किया। घर गया तब सेठने पूछा, 'माल कहाँ है?' तब उसने कहा कि 'माल तो चोर लूट गये हैं।' तब सेठने पूछा 'माल पकडनेके लिये कुछ उपाय किया है?' तब उस बोहरेने कहा, 'मेरे पास बीजक है, इससे चोर माल ले जाकर किस तरह बेचेंगे? इसलिये वे मेरे पास बीजक लेने आयेगे तब पकड़ लूँगा।' ऐसी जीवकी मूढता है। 'हमारे जैन धर्मके शास्त्रोंमे सब कुछ है, शास्त्र हमारे पास हैं।' ऐसा मिथ्याभिमान जीव कर बैठा है। क्रोध, मान, माया, लोभरूपी चोर दिनरात माल चुरा रहे हैं, उसका भान नहीं है।

तीर्थंकरका मार्ग सच्चा है। द्रव्यमे कौड़ी तक भी रखनेकी आज्ञा नही है। वैष्णवके कुलधर्मके कुगुरु आरम्भ-परिग्रह छोड़े बिना ही लोगोके पाससे लक्ष्मी ग्रहण करते है, और यह एक व्यापार हो गया है। वे स्वयं अग्निमे जलते है, तो उनसे दूसरोंकी अग्नि किस तरह शात हो? जैनमार्गका परमार्थ सच्चे गुरुसे समझना है। जिस गुरुको स्वार्थ होता है वह अपना अकल्याण करता है, और शिष्योका भी अकल्याण होता है।

जैन लिंगधारी होकर जीव अनंत बार भटका है। बाह्यवर्ती लिग धारण करके लौकिक व्यवहारमे अनंत बार भटका है। यहाँ हम जैनमार्गका निषेध नही करते। जो अन्तरंगसे सच्चा मार्ग बताये वह 'जैन' है। बाकी तो अनादिकालसे जीवने झूठेको सच्चा माना हैं, और यही अज्ञान है। मनुष्यदेहकी सार्थकता तभी है कि जब जीव मिथ्या आग्रह, दुराग्रह छोड़कर कल्याणको प्राप्त करे। ज्ञानी सीधा मार्ग ही बताते है। आत्मज्ञान जब प्रगट हो तभी आत्मज्ञानीपन मानना, गुण प्रगट हुए बिना उसे मानना भूल है। जवाहरातकी कीमत जाननेकी शक्तिके बिना जौहरीपन न मानें। अज्ञानी झूठेको सच्चा नाम देकर संप्रदाय बनाता है। सत्की पहचान हो तो कभी भी सत्य ग्रहण होगा।

---

१४ आणंद, भादों वदी ३०, मंगल, १९५२

जो जीव अपनेको मुमुक्षु मानता हो, तरनेका कामी मानता हो, समझदार हूँ ऐसा मानता हो, उसे देहमे रोग होते समय आकुल-व्याकुलता होती हो, तो उस समय विचार करे—'तेरी मुमुक्षुता, चतुरता कहाँ चली गयी?' उस समय विचार क्यो नही करता होगा? यदि तरनेका कामी है तो तो वह देहको असार समझता है, देहको आत्मासे भिन्न मानता है, उसे आकुलता नहीं आनी चाहिये। देह

सँभालनेसे सँभाली नहीं जाती, क्योंकि वह क्षणमे नष्ट हो जाती है, क्षणमें रोग, क्षणमे वेदना हो जाती है। देहके संगसे देह दुःख देती है; इसलिये आकुल-व्याकुलता होती है यही अज्ञान है। शास्त्रका श्रवण कर रोज सुना है कि देह आत्मासे भिन्न है, क्षणभंगुर है; परन्तु देहमे वेदना होनेपर तो रागद्वेष परिणाम करके हाय-हाय करता है। देह क्षणभंगुर है, ऐसी बात आप शास्त्रमे क्यों सुनने जाते हैं ? देह तो आपके पास है तो अनुभव करें। देह स्पष्ट मिट्टी जैसी है, सँभालनेसे सँभाली नहीं जाती, रखनेसे रखी नही जाती। वेदनाका वेदन करते हुए उपाय नही चलता। तब क्या सँभालें ? कुछ भी नही हो सकता। ऐसा देहका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तो फिर उसकी ममता करके क्या करना ? देहका प्रत्यक्ष अनुभव करके शास्त्रमे कहा है कि वह अनित्य है, असार है, इसलिये देहमे मूर्च्छा करना योग्य नही है।

जब तक देहात्मबुद्धि दूर नही होती तब तक सम्यक्त्व नही होता। जीवको सत्य कभी मिला ही नही, मिला होता तो मोक्ष हो जाता। भले ही साधुपन, श्रावकपन अथवा तो चाहे जो स्वीकार कर लें परन्तु सत्यके बिना साधन व्यर्थ है। देहात्मबुद्धि मिटानेके लिये जो साधन बताये हैं वे, देहात्मबुद्धि मिटे तभी सच्चे समझे जाते है। देहात्मबुद्धि हुई है उसे मिटानेके लिये, ममत्व छुड़ानेके लिये साधन करने हैं। वह न मिटे तो साधुपन, श्रावकपन, शास्त्र-श्रवण या उपदेश सब कुछ अरण्यरुदनके समान हैं। जिसका यह भ्रम नष्ट हो गया है, वही साधु, वही आचार्य, वही ज्ञानी है। जिस तरह कोई अमृतभोजन करे वह कुछ छिपा नही रहता, उसी तरह भ्राति, भ्रमबुद्धि दूर हो जाये वह कुछ छिपा नही रहता।

लोग कहते हैं कि समकित है या नही, यह केवलज्ञानी जाने; परन्तु स्वय आत्मा है वह क्यो न जाने ? कही आत्मा गाँव नही चला गया, अर्थात् समकित हुआ है उसे आत्मा स्वय जानता है। जिस तरह कोई पदार्थ खानेपर उसका फल होता है, उसी तरह समकित होनेपर, भ्रान्ति दूर होनेपर, उसका फल स्वय जानता है। ज्ञानका फल ज्ञान देता ही है। पदार्थका फल पदार्थ लक्षणके अनुसार देता ही है। आत्मामेसे, अन्तरमेसे कर्म जानेको तैयार हुए हो तो उसकी खबर अपनेको क्यो न पड़े ? अर्थात् खबर पड़ती ही है। समकितीकी दशा छिपी नही रहती। कल्पित समकितको समकित मानना वह पीतलकी कंठीको सोनेकी कंठी मानने जैसा है।

समकित हुआ हो तो देहात्मबुद्धि नष्ट होती है; यद्यपि अल्प बोध, मध्यम बोध, विशेष बोध—जैसा भी बोध हो तदनुसार पीछेसे देहात्मबुद्धि नष्ट होती है। देहमे रोग होनेपर जिसमे आकुल-व्याकुलता दिखाई दे उसे मिथ्यादृष्टि समझें।

जिस ज्ञानीको आकुल-व्याकुलता मिट गयी है, उसे अन्तरंग पच्चक्खान ही है, उसमे सभी पच्च-क्खान आ जाते हैं। जिसके रागद्वेष नष्ट हो गये हैं उसे यदि बीस बरसका पुत्र मर जाये तो भी खेद नहीं होता। शरीरमे व्याधि होनेसे जिसे व्याकुलता होती है, और जिसका ज्ञान कल्पना मात्र है उसे खोखला अध्यात्मज्ञान माने। ऐसे कल्पित ज्ञानी उस खोखले ज्ञानको अध्यात्मज्ञान मानकर अनाचारका सेवन करके बहुत ही भटकते हैं। देखिये शास्त्रका फल !

आत्माको पुत्र भी नहीं होता और पिता भी नही होता। जो ऐसी (पिता-पुत्रकी) कल्पनाको सच्चा मान बैठे हैं वे मिथ्यात्वी हैं। कुसंगके कारण समझमें नही आता; इसलिये समकित नही आता। योग्य जीव हो तो सत्पुरुषके संगसे सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका तुरत पता चल जाता है। समकिती और मिथ्यात्वीकी वाणी घड़ी-घड़ीमें भिन्न दिखाई देती है। ज्ञानीकी वाणी एकतार पूर्वापर मिलती चली आती है। अन्तर्ग्रन्थिभेद होने-पर ही सम्यक्त्व होता है। रोगको जाने, रोगकी दवा जाने, परहेज जाने, पथ्य जाने और तदनुसार उपाय

करे तो रोग दूर होता है। रोग जाने बिना अज्ञानी जो उपाय करता है उससे रोग बढ़ता है। पथ्यका पालन करे और दवा करे नहीं, तो रोग कैसे मिटेगा ? अर्थात् नही मिटेगा। तो फिर यह तो रोग और, और दवा कुछ और ही ! कुछ शास्त्रको तो ज्ञान नही कहा जाता। ज्ञान तो तभी कहा जाये कि जब अन्तरकी गाँठ दूर हो। तप, संयम आदिके लिये सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण करनेका कहा है।

ज्ञानी भगवानने कहा है कि साधुओंको अचित् और नीरस आहार लेना चाहिये। इस कथनको तो कितने ही साधु भूल गये हैं। दूध आदि सचित् भारी-भारी विगय पदार्थ लेकर ज्ञानीकी आज्ञाको ठुकराकर चलना यह कल्याणका मार्ग नहीं है। लोग कहते हैं कि ये साधु है; परन्तु जो आत्मदशा साधता है वही साधु है।

नरसिंह मेहता कहते हैं कि अनादिकालसे यों ही चलते चलते काल बीत गया परन्तु अन्त नहीं आया। यह मार्ग नही है; क्योंकि अनादिकालसे चलते चलते भी मार्ग हाथ लगा नही। यदि मार्ग यही होता तो ऐसा न होता कि अभी तक कुछ भी हाथमें नहीं आया। इसलिये मार्ग और ही होना चाहिये।

तृष्णा कैसे कम हो ? यदि लौकिक भावमे बड़प्पन छोड़ दे तो। 'घर-कुटुम्ब आदिको मुझे क्या करना है ? लौकिकमें चाहे जैसा हो, परन्तु मुझे तो मान-बड़ाई छोड़कर चाहे जिस प्रकारसे तृष्णाको कम करना है', इस तरह विचार करे तो तृष्णा कम होती है, मंद हो जाती है।

तपका अभिमान कैसे कम हो ? त्याग करनेका उपयोग रखनेसे। 'मुझे यह अभिमान क्यों होता है ?' यों रोज़ विचार करते करते अभिमान मंद पड़ेगा।

ज्ञानी कहते हैं उस कुंजीरूपी ज्ञानका यदि जीव विचार करे तो अज्ञानरूपी ताला खुल जाता है; कितने ही ताले खुल जाते हैं। कुंजी हो तो ताला खुलता है; नही तो पत्थर मारनेसे तो ताला टूट जाता है।

'कल्याण क्या होगा ?' ऐसा जीवको झूठा भ्रम है। वह कुछ हाथी-घोडा नहीं है। जीवको ऐसी भ्रांतिके कारण कल्याणकी कुंजियाँ समझमें नही आती। समझमें आ जायें तो तो सुगम हैं। जीवकी भ्रांतियोको दूर करनेके लिये जगतका वर्णन किया है। यदि जीव सदाके अंध मार्गमे थक जाये तो मार्गमें आता है।

ज्ञानी परमार्थ, सम्यक्त्वको ही बताते हैं। 'कषायका कम होना वही कल्याण है, जीवके राग, द्वेष और अज्ञानका दूर होना कल्याण कहा जाता है।' तब लोग कहते हैं, कि 'ऐसा तो हमारे गुरु भी कहते हैं, तो फिर आप भिन्न क्या बताते हैं ?' ऐसी उलटी-सीधी कल्पनाएँ करके जीव अपने दोषोको दूर करना नही चाहता।

आत्मा अज्ञानरूपी पत्थरसे दब गया है। ज्ञानी ही आत्माको ऊँचा उठायेंगे। आत्मा दब गया है इसलिये कल्याण सूझता नही है। ज्ञानी सद्विचाररूपी सरल कुंजियाँ बताते हैं, वे कुंजियाँ हज़ारो तालोंको लगती हैं।

जीवका आतरिक अजीर्ण दूर हो तब अमृत अच्छा लगता है; उसी तरह भ्रांतिरूप अजीर्ण दूर होनेपर कल्याण होता है, परन्तु जीवको अज्ञानी गुरुओंने भड़का रखा है, इसलिये भ्रांतिरूप अजीर्ण कैसे दूर हो ? अज्ञानी गुरु ज्ञानके बदले तप बताते हैं, तपमें ज्ञान बताते हैं, यों उलटा-उलटा बताते हैं इसलिये जीवके लिये तरना बहुत कठिन है। अहंकार आदिसे रहित होकर तप आदि करें।

कदाग्रह छोड़कर जीव विचार करे तो मार्ग तो अलग है। समकित सुलभ है, प्रत्यक्ष है, सरल है। जीव गाँव छोड़कर आगे निकल गया है वह पीछे लौटे तो गाँव आता है। सत्पुरुषके वचनोंका आस्थासहित

श्रवण-मनन करे तो सम्यक्त्व प्राप्त होता है। उसके प्राप्त होनेके बाद व्रत-पच्चक्खान आते हैं, उसके बाद पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।

सत्य समझमे आकर उसकी आस्था होना यही सम्यक्त्व है। जिसे सच्चे-झूठेकी कीमत मालूम हो गयी है, वह भेद जिसका दूर हो गया है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

असद्गुरुसे सत् समझमे नही आता, समकित नही होता। दया, सत्य, अदत्त न लेना इत्यादि सदाचार सत्पुरुषके समीप आनेके सत्साधन हैं। सत्पुरुष जो कहते हैं वह सूत्रका, सिद्धांतका परमार्थ है। सूत्र-सिद्धात तो कागज है। हम अनुभवसे कहते हैं, अनुभवसे शका दूर करनेको कह सकते हैं। अनुभव प्रगट दीपक है, और सूत्र कागजमे लिखा हुआ दीपक है।

ढूँढियापन या तपापनकी दुहाई देते रहें, उससे समकित होनेवाला नहीं है। यथार्थ सच्चा स्वरूप समझमे आये, भीतरसे दशा बदले तो समकित होता है। परमार्थमें प्रमाद अर्थात् आत्मासे बाह्य वृत्ति। जो घात करे उसे घाती कर्म कहा जाता है। परमाणुको पक्षपात नही है, जिस रूपसे आत्मा उसे परिणमाये उस रूपसे परिणमता है।

निकाचित कर्ममे स्थिति-बंध हो तो यथोचित बंध होता है। स्थितिकाल न हो तो वह विचारसे, पश्चात्तापसे, ज्ञानविचारसे नष्ट होता है। स्थितिकाल हो तो भोगनेपर ही छुटकारा होता है।

क्रोध आदि करके जिन कर्मोंका उपार्जन किया हो उन्हे भोगनेपर ही छुटकारा होता है। उदय आनेपर भोगना ही चाहिये। जो समता रखे उसे समताका फल मिलता है। सबको अपने-अपने परिणामके अनुसार कर्म भोगने पडते है।

ज्ञान स्त्रीत्वमे, पुरुषत्वमे समान ही है। ज्ञान आत्माका है। वेदसे रहित होनेपर ही यथार्थ ज्ञान होता है।

स्त्री हो या पुरुष हो परन्तु देहमेंसे आत्मा निकल जाये तब शरीर तो मुर्दा है और इंद्रियाँ झरोखे जैसी है।

भगवान महावीरके गर्भका हरण हुआ होगा या नहीं? ऐसे विकल्पका क्या काम है? भगवान चाहे जहाँसे आये, परन्तु सम्यग्ज्ञान, दर्शन, और चारित्र थे या नहीं? हमे तो इससे मतलब है। इनके आश्रयसे पार होनेका उपाय करना यही श्रेयस्कर है। कल्पना कर करके क्या करना है? चाहे जैसे साधन प्राप्त कर भूख मिटानी है। शास्त्रोक्त बातोंको इस तरह ग्रहण करें कि आत्माका उपकार हो, दूसरी तरह नही।

जीव डूब रहा हो तब वहाँ अज्ञानी जीव पूछे कि 'कैसे गिरा?' इत्यादि माथापच्ची करे तो इतनेमें यह जीव डूब ही जायेगा, मर जायेगा। परन्तु ज्ञानी तो तारक होनेसे वे दूसरी माथापच्ची छोड़कर डूबते हुएको तुरत तारते हैं।

जगतकी झंझट करते करते जीव अनादिकालसे भटका है। एक घरमे ममत्व माना इसमें तो इतना सारा दुःख है तो फिर जगतकी, चक्रवर्तीकी रिद्धिकी कल्पना, ममता करनेसे दुःखमे क्या खामी रहेगी? अनादिकालसे इससे हारकर मर रहा है।

ज्ञान क्या? जो परमार्थके काममे आये वह ज्ञान है। सम्यग्दर्शनसहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

नवपूर्व तो अभव्य भी जानता है। परन्तु सम्यग्दर्शनके बिना उसे सूत्र-अज्ञान कहा है।

सम्यक्त्व हो और शास्त्रके मात्र दो शब्द जाने तो भी मोक्षके काम आते है। जो ज्ञान मोक्षके काममें नही आता वह अज्ञान है।

मेरु आदिका वर्णन जानकर उसकी कल्पना, चिंता करता है, मानो मेरुका ठेका न लेना हो ? जानना तो ममता छोड़नेके लिये है ।

जो विषको जानता है वह उसे नहीं पीता । विषको जानकर पीता है तो वह अज्ञान है । इसलिये जानकर छोड़नेके लिये ज्ञान कहा है ।

जो दृढ़ निश्चय करता है कि चाहे जो करूँ, विष पीऊँ, पर्वतसे गिरूँ, कुएँमे पड़ूँ परन्तु जिससे कल्याण हो वही करूँ । उसका ज्ञान सच्चा है । वही तरनेका कामी कहा जाता है ।

देवताको हीरामाणिक आदि परिग्रह अधिक है । उसमे अतिशय ममता-मूर्छा होनेसे वहाँसे च्यवनकर वह हीरा आदिमे एकेंद्रियरूपसे जन्म लेता है ।

जगतका वर्णन करते हुए, जीव अज्ञानसे अनंतबार उसमे जन्म ले चुका है, उस अज्ञानको छोड़नेके लिये ज्ञानियोने यह वाणी कही है । परन्तु जगतके वर्णनमे ही जीव फँस जाये तो उसका कल्याण किस तरह होगा ! वह तो अज्ञान ही कहा जाता है । जिसे जानकर जीव अज्ञानको छोड़नेका उपाय करता है वह ज्ञान है ।

अपने दोष दूर हो ऐसे प्रश्न करे तो दोष दूर होनेका कारण होता है । जीवके दोष कम हों, दूर हों तो मुक्ति होती है ।

जगतको बात जानना इसे शास्त्रमें मुक्ति नही कहा है । परन्तु निरावरण होना ही मोक्ष है ।

पाँच वर्षोसे एक बीड़ी जैसा व्यसन भी प्रेरणा किये बिना छोड़ा नही जा सका । हमारा उपदेश तो उसीके लिये है जो तुरन्त ही करनेका विचार रखता हो । इस कालमे बहुतसे जीव विराधक होते हैं और उनपर नही जैसा ही संस्कार पड़ता है ।

ऐसी बात तो सहज ही समझने जैसी है, और तनिक विचार करे तो समझमे आ सकती है कि जीव मन, वचन और कायाके तीन योगसे रहित है, सहजस्वरूप है । जब ये तीन योग तो छोडने हैं तब इन बाह्य पदार्थोंमे जीव क्यो आग्रह करता होगा ? यह आश्चर्य होता है ! जीव जिस जिस कुलमे उत्पन्न होता है उस उसका आग्रह करता है, जोर करता है । वैष्णवके यहाँ जन्म लिया होता तो उसका आग्रह हो जाता; यदि तपामे हो तो तपाका आग्रह हो जाता है । जीवका स्वरूप ढूँढिया नही, तपा नही, कुल नही, जाति नही, वर्ण नही । ऐसी ऐसी कुकल्पना करके आग्रहपूर्वक आचरण करवाना यह कैसा अज्ञान है ! जीवको लोगोंको अच्छा दिखाना ही बहुत भाता है और इससे जीव वैराग्य-उपशमके मार्गसे रुक जाता है । अब आगेसे और पहले कहा है, कि दुराग्रहके लिये जैनशास्त्र मत पढ़ना । जिससे वैराग्य-उपशम बढ़े वही करना । इनमे (मागधी गाथाओंमे) कहाँ ऐसी बात है कि इसे ढूँढिया या इसे तपा मानना ? उनमे ऐसी बात होती ही नही है ।

(त्रिभोवनको) जीवको उपाधि बहुत है । ऐसा योग—मनुष्यभव आदि साधन मिले है और जीव विचार नही करेगा तो क्या यह पशुके देहमे विचार करेगा ? कहाँ करेगा ?

जीव ही परमाधामी (यम) जैसा है, और यम है, क्योंकि नरकगतिमे जीव जाता है उसका कारण जीव यही खडा करता है ।

जीव पशुकी जातिके शरीरोंके दु.ख प्रत्यक्ष देखता है, जरा विचार आता है और फिर भूल जाता है । लोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि यह मर गया, मुझे मरना है, ऐसी प्रत्यक्षता है; तथापि शास्त्रमें उस व्याख्या-को दृढ करनेके लिये वारंवार वही बात कही है । शास्त्र तो परोक्ष है और यह तो प्रत्यक्ष है, परन्तु जीव फिर भूल जाता है, इसलिये वहाँको वही बात कही है ।

*९५८ मोरबी, संवत् १९५४-५५

श्री

व्याख्यानसार–१

१. प्रथम गुणस्थानकमे ग्रंथि है उसका भेदन किये बिना आत्मा आगेके गुणस्थानकमें नही जा सकता। योगानुयोग मिलनेसे अकामनिर्जरा करता हुआ जीव आगे बढता है, और ग्रंथिभेद करनेके समीप आता है। यहाँ ग्रन्थिको इतनी अधिक प्रबलता है कि वह ग्रंथिभेद करनेमे शिथिल होकर, असमर्थ होकर, वापस लौट आता है। वह हिम्मत करके आगे बढना चाहता है, परन्तु मोहनीयके कारण रूपान्तर समझमें आनेसे वह ऐसा समझता है कि स्वयं ग्रन्थिभेद कर रहा है, बल्कि विपरीत समझनेरूप मोहके कारण ग्रन्थिकी निबिडता ही करता है। उसमेसे कोई जीव ही योगानुयोग प्राप्त होनेपर अकामनिर्जरा करता हुआ अति बलवान होकर उस ग्रंथिको शिथिल करके अथवा दुर्बल करके आगे बढ जाता है। यह अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थानक है, जहाँ मोक्षमार्गकी सुप्रतीति होती है, इसका दूसरा नाम 'बोधबीज' है। यहाँ आत्माके अनुभवका श्रीगणेश होता है, अर्थात् मोक्ष होनेका बीज यहाँ बोया जाता है।

२ इस 'बोधबीज गुणस्थानक' रूप चौथे गुणस्थानसे तेरहवें गुणस्थानक तक आत्मानुभव एक-सा है, परन्तु ज्ञानावरणीय कर्मकी निरावरणताके अनुसार ज्ञानकी विशुद्धता न्यूनाधिक होती है, उसके प्रमाणमें अनुभवका वर्णन कर सकता है।

---

३. ज्ञानावरणका सर्वथा निरावरण होना 'केवलज्ञान' अर्थात् 'मोक्ष' है; जो बुद्धिबलसे कहा नही जा सकता, परन्तु अनुभवगम्य है।

---

* वि० सं० १९५४ और १९५५ मे माघ माससे चैत्रमास तक श्रीमद्‌जी मोरबीमे ठहरे थे। उस अरसेमें उन्होंने जो व्याख्यान दिये थे, उनका सार एक मुमुक्षु श्रोताने अपनी स्मृतिके अनुसार लिख लिया था जिसे यहाँ दिया गया है।

४. बुद्धिबलसे निश्चित किया हुआ सिद्धांत उससे विशेष बुद्धिबल अथवा तर्कसे कदाचित् बदल सकता है, परन्तु जो वस्तु अनुभवगम्य (अनुभवसिद्ध) हुई है वह त्रिकालमे बदल नही सकती।

५. वर्तमान समयमे जैनदर्शनमे अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान तक आत्मानुभव स्पष्ट स्वीकृत है।

६. सातवेंसे सयोगीकेवली नामक तेरहवे गुणस्थान तकका काल अंतर्मुहूर्तका है। तेरहवेका काल क्वचित् लंबा भी होता है। वहाँ तक आत्मानुभव प्रतीतिरूप है।

७. इस कालमे मोक्ष नही है ऐसा मानकर जीव मोक्षहेतुभूत क्रिया नही कर सकता, और वैसी मान्यताके कारण जीवकी प्रवृत्ति दूसरे ही प्रकारकी होती है।

८ पिंजरेमें बन्द किया हुआ सिंह पिंजरेसे प्रत्यक्ष भिन्न है, तो भी बाहर निकलनेके सामर्थ्यसे रहित है। इसी तरह अल्प आयुके कारण अथवा सघयण आदि अन्य साधनोंके अभावसे आत्मारूपी सिंह कर्मरूपी पिंजरेसे बाहर नहीं आ सकता ऐसा माना जाये तो यह मानना सकारण है।

९. इस असार संसारमें मुख्य चार गतियाँ है, जो कर्मबन्धसे प्राप्त होती है। बंधके बिना वे गतियां प्राप्त नही होती। बंधरहित मोक्षस्थान बंधसे होनेवाली चारगतिरूप संसारमे नही है। सम्यक्त्व अथवा चारित्रसे बध नही होता यह तो निश्चित है, तो फिर चाहे जिस कालमे सम्यक्त्व अथवा चारित्र प्राप्त करे वहाँ उस समय बन्ध नही है, और जहाँ बन्ध नही है वहाँ संसार भी नही है।

१० सम्यक्त्व और चारित्रमे आत्माकी शुद्ध परिणति है, तथापि उसके साथ मन, वचन और शरीरके शुभ योगकी प्रवृत्ति होती है। उस शुभ योगसे शुभ बन्ध होता है। उस बन्धके कारण देव आदि गतिरूप संसार करना पड़ता है। परन्तु उससे विपरीत जो सम्यक्त्व और चारित्र है वे जितने अंशमे प्राप्त होते हैं उतने अंशमे मोक्ष प्रगट होता है, उसका फल देव आदि गतिका प्राप्त होना नही है। देव आदि गति जो प्राप्त हुई वह उपर्युक्त मन, वचन और शरीरके शुभ योगसे हुई है; और जो बन्धरहित सम्यक्त्व तथा चारित्र प्रगट हुए है वे स्थिर रहकर फिर मनुष्यभव प्राप्त कराकर, फिर उस भागसे संयुक्त होकर मोक्ष होता है।

११. चाहे जिस कालमे कर्म है, उसका बन्ध है, और उस बन्धकी निर्जरा है, और सम्पूर्ण निर्जराका नाम 'मोक्ष' है।

---

१२ निर्जराके दो भेद हैं—एक सकाम अर्थात् सहेतु (मोक्षकी हेतुभूत) निर्जरा और दूसरी अकाम अर्थात् विपाकनिर्जरा।

१३. अकामनिर्जरा औदयिक भावसे होती है। यह निर्जरा जीवने अनंत बार की है और यह कर्मबन्धका कारण है।

१४. सकामनिर्जरा क्षायोपशमिक भावसे होती है, जो कर्मके बन्धका कारण है। जितने अंशमें सकामनिर्जरा (क्षायोपशमिक भावसे) होती है उतने अंशमे आत्मा प्रगट होता है। यदि अकाम (विपाक) निर्जरा हो तो वह औदयिक भावसे होती है, और वह कर्मबन्धका कारण है। यहाँ भी कर्मकी निर्जरा होती है, परन्तु आत्मा प्रगट नही होता।

१५. अनंत बार चारित्र प्राप्त करनेसे जो निर्जरा हुई है वह औदयिक भावसे (जो भाव अबन्धक नही है) हुई है; क्षायोपशमिक भावसे नही हुई। यदि वैसे हुई होती तो इस तरह भटकना नहीं पड़ता।

१६. मार्ग दो प्रकारके हैं—एक लौकिक मार्ग और दूसरा लोकोत्तर मार्ग; जो एक दूसरेसे विरुद्ध हैं।

१७. लौकिक मार्गसे विरुद्ध जो लोकोत्तर मार्ग है उसका पालन करनेसे उसका फल उससे विरुद्ध अर्थात् लौकिक नहीं होता। जैसा कृत्य वैसा फल।

---

१८. इस संसारमें जीवोंकी संख्या अनंत कोटि है। व्यवहार आदि प्रसंगमे अनंत जीव क्रोध आदिसे बर्ताव करते है। चक्रवर्ती राजा आदि क्रोध आदि भावसे संग्राम करते हैं, और लाखों मनुष्योंका घात करते हैं, तो भी उनमेसे किसी किसीका उसी कालमे मोक्ष हुआ है।

१९. क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकडी 'कषाय'के नामसे पहचानी जाती है। यह कषाय अत्यन्त क्रोधादिवाला है। यदि वह अनंत संसारका हेतु होकर अनंतानुबन्धी कषाय होता हो तो फिर चक्रवर्ती आदिको अनत संसारकी वृद्धि होनी चाहिये, और इस हिसाबसे अनंत संसार बीतनेसे पहले उनका मोक्ष कैसे हो सकता है? यह बात विचारणीय है।

२० जिस क्रोध आदिसे अनत संसारकी वृद्धि हो वह अनंतानुबन्धी कषाय है, यह भी निःशंक है। इस हिसाबसे उपर्युक्त क्रोध आदि अनन्तानुबन्धी नही हो सकते। तो फिर अनन्तानुबन्धी चौकड़ी दूसरी तरहसे होना संभव है।

२१ सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनोकी एकता 'मोक्ष' है। वह सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र अर्थात् वीतराग ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। उसीसे अनंत ससारसे मुक्ति प्राप्त होती है। यह वीतरागज्ञान कर्मके अबन्धका हेतु है। वीतरागके मार्गमे चलना अथवा उनकी आज्ञाके अनुसार चलना भी अबधक है। उनके प्रति जो क्रोध आदि कषाय हो उनसे विमुक्त होना, यही अनंत ससारसे अत्यन्तरूपसे मुक्त होना है, अर्थात् मोक्ष है। जिससे मोक्षसे विपरीत ऐसे अनंत ससारकी वृद्धि होती है उसे अनतानुबधी कहा जाता है और है भी इसी तरह। वीतरागके मार्गमे और उनकी आज्ञानुसार चलनेवालोका कल्याण होता है। ऐसा जो बहुतसे जीवोके लिये कल्याणकारी मार्ग है उसके प्रति क्रोध आदि भाव (जो महा विपरीत करनेवाले है) ही अनंतानुबधी कषाय है।

२२ यद्यपि क्रोध आदि भाव लौकिक व्यवहारमे भी निष्फल नहीं होते, परन्तु वीतराग द्वारा प्ररूपित वीतरागज्ञान अथवा मोक्षधर्म अथवा तो सद्धर्म उसका खडन करना या उसके प्रति तीव्र, मंद आदि जैसे भावसे क्रोध आदि भाव होते हो वैसे भावसे अनतानुबधी कषायसे बध होकर अनंत संसारकी वृद्धि होती है।

---

२३. किसी भी कालमें अनुभवका अभाव नही है। बुद्धिबलसे निश्चित की हुई जो अप्रत्यक्ष बात है उसका क्वचित् अभाव भी हो सकता है।

२४. केवलज्ञान अर्थात् जिससे कुछ भी जानना शेष नही रहता वह, अथवा जो आत्मप्रदेशका स्वभाव-भाव है वह ?:—

(अ) आत्मासे उत्पन्न किया हुआ विभाव-भाव, और उसमे होनेवाले जड पदार्थके संयोगरूप आवरणसे जो कुछ देखना, जानना आदि होता है वह इंद्रियकी सहायतासे हो सकता है; परन्तु उस संबंधी यह विवेचन नही है। यह विवेचन 'केवलज्ञान' संबंधी है।

(आ) विभाव-भावसे हुआ जो पुद्गलास्तिकायका संबंध है वह आत्मासे पर है। उसका तथा जितना पुद्गलका संयोग हुआ उसका यथान्यायसे ज्ञान अर्थात् अनुभव होता है वह अनुभवगम्यमें समाता है, और उसके कारण लोकसमस्तके पुद्गलोका भी ऐसा ही निर्णय होता है उसका समावेश बुद्धिबलमें

होता है। जिस तरह, जिस आकाशप्रदेशमें अथवा तो उसके पास विभावी आत्मा स्थित है उस आकाशप्रदेशके उतने भागको लेकर जो अछेद्य अभेद्य अनुभव होता है वह अनुभवगम्यमें समाता है; और उसके अतिरिक्त शेष आकाश जिसे केवलज्ञानीने स्वयं भी अनंत (जिसका अंत नहीं) कहा है, उस अनंत आकाशका भी तदनुसार गुण होना चाहिये ऐसा बुद्धिबलसे निर्णीत किया हुआ होना चाहिये।

(इ) आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ अथवा तो आत्मज्ञान हुआ, यह बात अनुभवगम्य है। उस आत्मज्ञानके उत्पन्न होनेसे आत्मानुभव होनेके उपरांत क्या क्या होना चाहिये ऐसा जो कहा गया है वह बुद्धिबलसे कहा है, ऐसा माना जा सकता है।

(ई) इंद्रियके संयोगमे जो कुछ भी देखना जानना होता है वह यद्यपि अनुभवगम्यमें समाता जरूर है; परन्तु यहाँ तो अनुभवगम्य आत्मतत्त्वके विषयमे कहना है, जिसमें इंद्रियोंकी सहायता अथवा तो संबंधकी आवश्यकता नहीं है, उसके सिवायकी बात है। केवलज्ञानी सहज देख-जान रहे हैं; अर्थात् लोकके सर्व पदार्थोंका उन्होंने अनुभव किया है यह जो कहा जाता है उसमे उपयोगका संबंध रहता है; क्योंकि केवलज्ञानीके तेरहवाँ गुणस्थानक और चौदहवाँ गुणस्थानक ऐसे दो विभाग किये गये हैं, उसमे तेरहवें गुणस्थानकवाले केवलज्ञानीके योग है, यह स्पष्ट है, और जहाँ इस तरह है वहाँ उपयोगकी विशेषरूपसे आवश्यकता है, और जहाँ विशेषरूपसे जरूरत है वहाँ बुद्धिबल है, यह कहे बिना चल नहीं सकता; और जहाँ यह बात सिद्ध होती है वहाँ अनुभवके साथ बुद्धिबल भी सिद्ध होता है।

(उ) इस प्रकार उपयोगके सिद्ध होनेसे आत्माको समीपवर्ती जड पदार्थका तो अनुभव होता है परन्तु दूरवर्ती पदार्थका योग न होनेसे उसका अनुभव होनेकी बात कहना कठिन है, और उसके साथ, दूरवर्ती पदार्थ अनुभवगम्य नहीं है, ऐसा कहनेसे तथाकथित केवलज्ञानके अर्थसे विरोध आता है। इसलिये वहाँ बुद्धिबलसे सर्व पदार्थका सर्वथा एवं सर्वदा ज्ञान होता है यह सिद्ध होता है।

२५. एक कालमे कल्पित जो अनंत समय है, उसके कारण अनंत काल कहा जाता है। उसमेंसे, वर्तमान कालसे पहलेके जो समय व्यतीत हो गये हैं वे फिरसे आनेवाले नहीं हैं यह बात न्यायसंपन्न है। वे समय अनुभवगम्य किस तरह हो सकते हैं यह विचारणीय है।

२६ अनुभवगम्य जो समय हुए हैं, उनका जो स्वरूप है वह, तथा उस स्वरूपके सिवाय उनका दूसरा स्वरूप नहीं होता, और इसी तरह अनादि-अनंत कालके दूसरे जो समय उनका भी वैसा ही स्वरूप है; ऐसा बुद्धिबलसे निर्णीत हुआ मालूम होता है।

---

२७. इस कालमें ज्ञान क्षीण हुआ है, और ज्ञानके क्षीण हो जानेसे अनेक मतभेद हो गये हैं। जैसे ज्ञान कम वैसे मतभेद अधिक, और जैसे ज्ञान अधिक वैसे मतभेद कम। जैसे कि जहाँ पैसा घटता है वहाँ क्लेश बढता है, और जहाँ पैसा बढ़ता है वहाँ क्लेश कम होता है।

२८. ज्ञानके बिना सम्यक्त्वका विचार नहीं सूझता। जिसके मनमें यह है कि मतभेद उत्पन्न नहीं करना, वह जो जो पढता है, या सुनता है वह वह उसके लिये फलित होता है। मतभेद आदिके कारणसे श्रुत-श्रवण आदि फलीभूत नहीं होते।

---

२९. जैसे रास्तेमें चलते हुए किसीका मुँडासा काँटोंमें फँस गया और सफर अभी बाकी है, तो पहले यथासंभव काँटोंको दूर करना; परंतु काँटोंको दूर करना संभव न हो तो उसके लिये वहाँ रातभर रुक न जाना; परन्तु मुँडासेको छोड़कर चल देना। उसी तरह जिनमार्गका स्वरूप तथा उसका रहस्य क्या

है उसे समझे बिना, अथवा उसका विचार किये बिना छोटी छोटी शंकाओंके लिये बैठे रहकर आगे न बढ़ना यह उचित नहीं है। जिनमार्ग वस्तुतः देखनेसे तो जीवके लिये कर्मक्षय करनेका उपाय है, परन्तु जीव अपने मतमें फँस गया है।

---

३०. जीव पहले गुणस्थानसे निकलकर ग्रंथिभेद तक अनंत बार आया और वहाँसे वापस लौट गया है।

३१. जीवको ऐसा भाव रहता है कि सम्यक्त्व अनायास आता होगा, परंतु वह तो प्रयास (पुरुषार्थ) किये बिना प्राप्त नही होता।

३२. कर्मप्रकृति १५८ है। सम्यक्त्वके आये बिना उनमेसे किसी भी प्रकृतिका समूल क्षय नहीं होता। अनादिसे जीव निर्जरा करता है, परन्तु मूलमेंसे एक भी प्रकृतिका क्षय नहीं होता। सम्यक्त्वमें ऐसा सामर्थ्य है कि वह मूलसे प्रकृतिका क्षय करता है। वह इस तरह कि :—अमुक प्रकृतिका क्षय होनेके बाद वह आता है; और जीव बलवान हो तो धीरे धीरे सब प्रकृतियोंका क्षय कर देता है।

३३. सम्यक्त्व सभीको मालूम हो ऐसी बात भी नही है; और किसीको भी मालूम न हो ऐसा भी नही है। विचारवानको वह मालूम हो जाता है।

३४. जीवको समझमे आ जाये तो समझनेके बाद सम्यक्त्व बहुत सुगम है; परन्तु समझनेके लिये जीवने आज तक सचमुच ध्यान ही नहीं दिया। जीवको सम्यक्त्व प्राप्त होनेका जब जब योग मिला है तब तब यथोचित ध्यान नही दिया, क्योंकि जीवको अनेक अंतराय हैं। कितने ही अंतराय तो प्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे जाननेमें नही आते। यदि बतानेवाला मिल जाये तो भी अंतरायके योगसे ध्यानमे लेना नही बन पाता। कितने ही अंतराय तो अव्यक्त हैं कि जो ध्यानमे आने ही मुश्किल हैं।

३५. सम्यक्त्वका स्वरूप केवल वाणीयोगसे कहा जा सकता है। यदि एकदम कहा जाये तो उससे जीवको उलटा भाव भासित होता है, तथा सम्यक्त्व पर उलटी अरुचि होने लगती है, परन्तु वही स्वरूप यदि अनुक्रमसे ज्यों ज्यो दशा बढ़ती जाये त्यों त्यो कहा अथवा समझाया जाये तो वह समझमे आ सकता है।

३६. इस कालमें मोक्ष है यों दूसरे मार्गोंमे भी कहा गया है। यद्यपि जैनमार्गमे इस कालमे अमुक क्षेत्रमें मोक्ष होना कहा नही जाता; फिर भी उसी क्षेत्रमें इस कालमें सम्यक्त्व हो सकता है, ऐसा कहा गया है।

३७. ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों इस कालमें होते हैं। प्रयोजनभूत पदार्थोंका जानना 'ज्ञान', उसके कारण उनकी सुप्रतीति होना 'दर्शन' और उससे होनेवाली क्रिया 'चारित्र' है। यह चारित्र, इस कालमे जैनमार्गमें सम्यक्त्व होनेके बाद सातवें गुणस्थानक तक प्राप्त किया जा सकता है ऐसा माना गया है।

३८. कोई सातवें तक पहुँच जाये तो भी बड़ी बात है।

३९. सातवें तक पहुँच जाये तो उसमें सम्यक्त्वका समावेश हो जाता है; और यदि वहाँ तक पहुँच जाये तो उसे विश्वास हो जाता है कि अगली दशा किस तरहकी है? परन्तु सातवें तक पहुँचे बिना आगेकी बात ध्यानमें नहीं आ सकती।

---

४०. यदि बढती हुई दशा होती हो तो उसका निषेध करनेकी जरूरत नही है; और न हो तो माननेकी जरूरत नही है। निषेध किये बिना आगे बढ़ते जाना।

---

४१ सामायिक, छः आठ कोटिका विवाद छोड़ देनेके बाद नव कोटिके बिना नही होता; और अन्तमे नव कोटि वृत्तिको भी छोड़े बिना मोक्ष नही है।

४२. ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय किये बिना सामायिक नहीं आता। जिसे सामायिक होता है उसकी दशा तो अद्भुत होती है। वहाँसे जीव छठे, सातवें और आठवें गुणस्थानकमे जाता है, और वहाँसे दो घड़ीमे मोक्ष हो सकता है।

---

४३. मोक्षमार्ग तलवारकी धार जैसा है, अर्थात् वह एक धारा (एक प्रवाहरूप) है। तीनो कालमे एक धारासे अर्थात् एकसा रहे वही मोक्षमार्ग है,—बहनेमें जो खंडित नहीं वही मोक्षमार्ग है।

---

४४. पहले दो बार कहा गया है, फिर भी यह तीसरी बार कहा जाता है कि कभी भी बादर और बाह्यक्रियाका निषेध नही किया गया है; क्योंकि हमारे आत्मामे वैसा भाव कभी स्वप्नमे भी उत्पन्न नही हो सकता।

४५. रूढिवाली गाँठ, मिथ्यात्व अथवा कषायका सूचन करनेवाली क्रियाके संबंधमे कदाचित् किसी प्रसंगपर कुछ कहा गया हो, तो वहाँ क्रियाके निषेधके लिये तो कहा ही नही गया हो। फिर भी कहनेसे दूसरी तरह समझमे आया हो, तो उसमे समझनेवालेकी अपनी भूल हुई है, ऐसा समझना है।

४६ जिसने कषाय भावका छेदन किया है वह ऐसा कभी भी नहीं करता कि जिससे कषायका सेवन हो।

४७ जब तक हमारी ओरसे ऐसा नहीं कहा जाता कि अमुक क्रिया करना तब तक ऐसा समझना कि वह सकारण है; और उससे यह सिद्ध नही होता कि क्रिया न करना।

४८ यदि अभी यह कहा जाये कि अमुक क्रिया करना और बादमे देशकालके अनुसार उस क्रिया-को दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो श्रोताके मनमे शंका लानेका कारण होता है कि एक बार इस तरह कहा जाता था, और दूसरी बार इस तरह कहा जाता है; ऐसी शंकासे उसका श्रेय होनेके बदले अश्रेय होता है।

---

४९. बारहवें गुणस्थानकके अन्तिम समय तक भी ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार चलना होता है। उसमे स्वच्छंदताका विलय होता है।

५० स्वच्छंदसे निवृत्ति करनेसे वृत्तियाँ शांत नही होतीं, परन्तु उन्मत्त होती हैं, और इससे पतनका समय आ जाता है, और ज्यों ज्यो आगे जानेके बाद यदि पतन होता है तो त्यो त्यो उसे मार अधिक लगती है, अतः वह अधिक नीचे जाता है; अर्थात् पहलेमें जाकर पड़ता है। इतना ही नही परन्तु उसे जोरकी मारके कारण वहाँ अधिक समय तक पड़े रहना पड़ता है।

५१. अब भी शंका करना हो तो करे; परन्तु इतनी तो निश्चयसे श्रद्धा करे कि जीवसे लेकर मोक्ष तकके पाँच पद (जीव है, वह नित्य है, वह कर्मका कर्ता है, वह कर्मका भोक्ता है, मोक्ष है) अवश्य हैं, और मोक्षका उपाय भी है, उसमे कुछ भी असत्य नही है। ऐसा निर्णय करनेके बाद उसमें तो कभी भी

शंका न करे; और इस प्रकार निर्णय हो जानेके बाद प्राय. शंका नही होती। यदि कदाचित् शंका हो तो वह देशशंका होती है, और उसका समाधान हो सकता है। परन्तु मूलमे अर्थात् जीवसे लेकर मोक्ष तक अथवा उसके उपायमे शंका हो तो वह देशशंका नही अपितु सर्वशंका है, और उस शंकासे प्रायः पतन होता है; और वह पतन इतने अधिक जोरसे होता है कि उसकी मार अत्यंत लगती है।

५२. यह श्रद्धा दो प्रकारसे है—एक 'ओघसे' और दूसरी 'विचारपूर्वक'।

---

५३ मतिज्ञान और श्रुतज्ञानसे जो कुछ जाना जा सकता है उसमे अनुमान साथमे रहता है, परंतु उससे आगे, और अनुमानके बिना शुद्धरूपसे जानना यह मनःपर्यायज्ञानका विषय है। अर्थात् मूलमे तो मति, श्रुत और मनःपर्यायज्ञान एक है, परन्तु मन.पर्यायमे अनुमानके बिना मतिकी निर्मलतासे शुद्ध जाना जा सकता है।

५४. मतिकी निर्मलता सयमके बिना नहीं हो सकती। वृत्तिके निरोधसे संयम होता है, और उस संयमसे मतिकी शुद्धता होकर अनुमानके बिना शुद्ध पर्यायको जो जानना हो वह मन पर्याय ज्ञान है।

५५. मतिज्ञान लिंग अर्थात् चिह्नसे जाना जा सकता है, और मनःपर्याय ज्ञानमे लिंग अथवा चिह्नकी जरूरत नही रहती।

५६ मतिज्ञानसे जाननेमे अनुमानकी आवश्यकता रहती है, और उस अनुमानसे जाने हुएमें परिवर्तन भी होता है। जब कि मन पर्यायज्ञानमे वैसा परिवर्तन नही होता, क्योंकि उसमे अनुमानकी सहायताकी आवश्यकता नही है। शरीरकी चेष्टासे क्रोध आदि परखे जा सकते हैं. परन्तु उनके (क्रोध आदिके) मूलस्वरूपको न दिखानेके लिये शरीरकी विपरीत चेष्टा की गयी हो तो उस परसे परख सकना—परीक्षा करना दुष्कर है। तथा शरीरकी चेष्टा किसी भी आकारमे न की गयी हो फिर भी चेष्टाको बिलकुल देखे बिना उनका (क्रोध आदिका) जानना अति दुष्कर है, फिर भी उन्हे साक्षात् जान सकना मन पर्यायज्ञान है।

---

५७. लोगोंमे ओघसंज्ञासे यह माना जाता था कि 'हमें सम्यक्त्व है या नही इसे केवली ही जानते है, निश्चय सम्यक्त्व है यह बात तो केवलीगम्य है।' प्रचलित रूढिके अनुसार यह माना जाता था; परन्तु बनारसीदास और उस दशाके अन्य पुरुष ऐसा कहते हैं कि हमे सम्यक्त्व हुआ है यह निश्चयसे कहते है।

५८ शास्त्रमे ऐसा कहा गया है कि 'निश्चय सम्यक्त्व है या नही इसे केवली ही जानते है' यह बात अमुक नयसे सत्य है, तथा केवलज्ञानीके सिवाय भी बनारसीदास आदिने सामान्यत. ऐसा कहा है कि 'हमे सम्यक्त्व है अथवा प्राप्त हुआ है', यह बात भी सत्य है, क्योंकि 'निश्चयसम्यक्त्व' है उसे प्रत्येक रहस्यके पर्यायसहित केवली जान सकते हैं, अथवा प्रत्येक प्रयोजनभूत पदार्थके हेतुअहेतुको सम्पूर्णतया केवलीके सिवाय दूसरा कोई नही जान सकता, वहाँ 'निश्चयसम्यक्त्व' को केवलीगम्य कहा है। उस प्रयोजनभूत पदार्थके सामान्यरूपसे अथवा स्थूलरूपसे हेतु-अहेतुको समझ सकना सम्भव है और इस कारण से महान बनारसीदास आदिने अपनेको सम्यक्त्व है ऐसा कहा है।

५९. 'समयसार' में महान बनारसीदासको बनायी हुई कवितामे 'हमारे हृदयमे बोध-बीज हुआ है', ऐसा कहा है; अर्थात् 'हमे सम्यक्त्व है' यह कहा है।

६०. सम्यक्त्व प्राप्त होनेके बाद अधिकसे अधिक पंद्रह भवमे मुक्ति होती है, और यदि वहाँसे वह पतित होता है तो अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल माना जाता है। अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल माना जाये तो भी वह सादि-सांतके भंगमे आ जाता है, यह बात निःशंक है।

६१. सम्यक्त्वके लक्षण—

(१) कषायकी मंदता अथवा उसके रसकी मंदता।

(२) मोक्षमार्गकी ओर वृत्ति।

(३) *संसारका बंधनरूप लगना अथवा संसार विषतुल्य लगना।*

(४) सब प्राणियोंपर दयाभाव; उसमें विशेषतः अपने आत्माके प्रति दयाभाव।

(५) सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुपर आस्था।

---

६२. आत्मज्ञान अथवा आत्मासे भिन्न कर्मस्वरूप, अथवा पुद्गलास्तिकाय आदिका, भिन्न भिन्न प्रकारसे भिन्न भिन्न प्रसंगमे, अति सूक्ष्मसे सूक्ष्म और अति विस्तृत जो स्वरूप ज्ञानी द्वारा कहा हुआ है, उसमें कोई हेतु समाता है या नही ? और यदि समाता है तो क्या ? इस विषयमे विचार करनेसे उसमे सात कारण समाये हुए मालूम होते हैं—सद्भूतार्थप्रकाश, उसका विचार, उसकी प्रतीति, जीवसंरक्षण इत्यादि। इन सातों हेतुओंका फल मोक्षकी प्राप्ति होना है। तथा मोक्षकी प्राप्तिका जो मार्ग है वह इन हेतुओंसे सुप्रतीत होता है।

६३. कर्म अनंत प्रकारके हैं। उनमे मुख्य १५८ हैं। उनमे मुख्य आठ कर्म प्रकृतियोंका वर्णन किया गया है। इन सब कर्मोंमे मुख्य, प्रधान मोहनीय है जिसका सामर्थ्य दूसरोंकी अपेक्षा अत्यन्त है, और उसकी स्थिति भी सबकी अपेक्षा अधिक है।

६४. आठ कर्मोंमें चार कर्म घनघाती हैं। उन चारमे भी मोहनीय अत्यन्त प्रबलतासे घनघाती है। मोहनीयकर्मके सिवाय सात कर्म हैं, वे मोहनीयकर्मके प्रतापसे प्रबल होते हैं। यदि मोहनीय दूर हो जाये तो दूसरे कर्म निर्बल हो जाते है। मोहनोय दूर होनेसे दूसरोका पैर टिक नही सकता।

६५ कर्मबंधके चार प्रकार हैं—प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और रसबंध। उनमे प्रदेश, स्थिति और रस इन तीन बंधोके जोड़का नाम प्रकृति रखा गया है। आत्माके प्रदेशोंके साथ पुद्गलका जमाव अर्थात् जोड़ प्रदेशबंध होता है। वहाँ उसकी प्रबलता नही होती; उसे जीव हटाना चाहे तो हट सकता है। मोहके कारण स्थिति और रसका बंध होता है, और उस स्थिति तथा रसका जो बंध है, उसे जोव बदलना चाहे तो उसका बदल सकना अशक्य ही है। मोहके कारण इस स्थिति और रसकी ऐसी प्रबलता है।

---

६६. सम्यक्त्व अन्योक्तिसे अपना दूषण बताता है —'मुझे ग्रहण करनेसे यदि ग्रहण करनेवालेकी इच्छा न हो तो भी मुझे उसे बरबस मोक्ष ले जाना पड़ता है। इसलिये मुझे ग्रहण करनेसे पहले यह विचार करे कि मोक्ष जानेकी इच्छा बदलनी होगी तो भी वह कुछ काम आनेवाली नही है। क्योंकि मुझे ग्रहण करनेके बाद नौवें समयमे तो मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना ही चाहिये। ग्रहण करनेवाला कदाचित् शिथिल हो जाये तो भी हो सके तो उसी भवमें और नहीं तो अधिकसे अधिक पंद्रह भवोंसे मुझे उसे मोक्षमे पहुँचाना चाहिये। कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे, अथवा प्रबलसे प्रबल मोहको धारण करे, तो भी अर्धपुद्गलपरावर्तनके भीतर मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना ही है यह मेरी प्रतिज्ञा है!' अर्थात् यहाँ सम्यक्त्वकी महत्ता बतायी है।

---

६७. सम्यक्त्व केवलज्ञानसे कहता है :—'मैं इतना कार्य कर सकता हूँ कि जीवको मोक्षमे पहुँचा दूँ, और तू भी यही कार्य करता है, तू उससे कुछ विशेष कार्य नही कर सकता; तो फिर तेरी अपेक्षा मुझमें न्यूनता किस बातकी ? इतना ही नही अपितु तुझे प्राप्त करनेमें मेरी जरूरत रहती है।'

६८. ग्रंथ आदिका पढ़ना शुरू करनेसे पहले प्रथम मंगलाचरण करें, और उस ग्रंथको फिरसे पढ़ते हुए अथवा चाहे जिस भागसे उसका पढना शुरू करनेसे पहले मंगलाचरण करें, ऐसी शास्त्रपद्धति है। इसका मुख्य कारण यह है कि बाह्यवृत्तिसे आत्मवृत्तिकी ओर अभिमुख होना है, अत· वैसा करनेके लिये पहले शांति लानेकी जरूरत है, और तदनुसार प्रथम मगलाचरण करनेसे शांति आती है। पढ़नेका जो अनुक्रम हो उसे यथासंभव कभी नही तोड़ना चाहिये। इसमे ज्ञानीका दृष्टांत लेनेकी जरूरत नहीं है।

---

६९. आत्मानुभवगम्य अथवा आत्मजनित सुख और मोक्षसुख दोनो एक ही हैं। मात्र शब्द भिन्न हैं।

७०. केवलज्ञानी शरीरके कारण केवलज्ञानी नही कहे जाते कि दूसरोके शरीरकी अपेक्षा उनका शरीर विशेषतावाला देखनेमे आये। और फिर वह केवलज्ञान शरीरसे उत्पन्न हुआ है ऐसा भी नहीं है; वह तो आत्मा द्वारा प्रगट किया गया है, इस कारण उसकी शरीरसे विशेषता समझनेका कोई हेतु नही है, और विशेषतावाला शरीर लोगोके देखनेमे नही आता इसलिये लोग उसका माहात्म्य बहुत नही जान सकते।

७१ जो जीव मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानको अशसे भी नहीं जानता वह केवलज्ञानके स्वरूपको जानना चाहे तो यह किस तरह हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता।

७२. मति स्फुरायमान होकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'मतिज्ञान' है; और श्रवण होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'श्रुतज्ञान' है, और उस श्रुतज्ञानका मनन होकर परिणमित होता है तो फिर वह मतिज्ञान हो जाता है, अथवा उस श्रुतज्ञानके परिणमित होनेके बाद दूसरेको कहा जाये तब वही कहनेवालेमें मतिज्ञान और सुननेवालेके लिये श्रुतज्ञान होता है; तथा श्रुतज्ञान मतिके बिना नही हो सकता और वही मतिज्ञान पूर्वमे श्रुतज्ञान होना चाहिये। इस तरह एक दूसरेका कार्यकारण संबंध है। उनके अनेक भेद है, उन सब भेदोको जैसे चाहिये वैसे हेतुसहित नही जाना है। हेतुसहित जानना, समझना दुष्कर है। और उसके बाद आगे बढनेसे अवधिज्ञान आता है, जिसके भी अनेक भेद है, और सभी रूपी पदार्थोंको जानना जिसका विषय है। उसे, और तदनुसार ही मन पर्यायका विषय है, उन सबको किसी अंशमे भी जानने-समझनेकी जिन्हे शक्ति नही है वे मनुष्य, पर और अरूपी पदार्थोंके समस्त भावोंको जाननेवाले 'केवलज्ञान'के विषयमे जानने-समझनेके लिये प्रश्न करें तो वे किस तरह समझ सकते हैं ? अर्थात् नहीं समझ सकते।

---

७३. ज्ञानीके मार्गमे चलनेवालेको कर्मबंध नहीं है, तथा उस ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको भी कर्मबंध नही हैं, क्योकि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिका वहाँ अभाव है, और उस अभावके कारण कर्मबंध नही होता। तो भी 'ईरियापथ' मे चलते हुए 'ईरियापथ'की क्रिया ज्ञानीको लगती है, और ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको भी वह क्रिया लगती है।

---

७४. जिस विद्यासे जीव कर्म बाँधता है उसी विद्यासे जीव कर्म छोड़ता है।

७५. उसी विद्यासे सासारिक हेतुके प्रयोजनसे विचार करनेसे जीव कर्मबंध करता है, और उसी विद्यासे द्रव्यका स्वरूप समझनेके प्रयोजनसे विचार करता है तो कर्म छोड़ता है।

---

७६ 'क्षेत्रसमास'में क्षेत्रसंबंध आदिकी जो जो बाते हैं, उन्हें अनुमानसे मानना है। उनमें अनुभव नहीं होता; परन्तु उन सबका वर्णन कुछ कारणोंसे किया जाता है। उनकी श्रद्धा विश्वासपूर्वक रखना है। मूल श्रद्धामे अंतर हो जानेसे आगे समझनेमें अन्त तक भूल चली आती है। जैसे गणितमे पहले भूल हो गयी तो फिर वह भूल अंत तक चलो आती है वैसे।

---

७७. ज्ञान पाँच प्रकारका है। वह ज्ञान यदि सम्यक्त्वके बिना मिथ्यात्वसहित हो तो 'मति अज्ञान', 'श्रुत अज्ञान' और 'अवधि अज्ञान' कहा जाता है। उन्हे मिलाकर ज्ञानके कुल आठ प्रकार है।

७८. मति, श्रुत और अवधि मिथ्यात्वसहित हों तो वे 'अज्ञान' है, और सम्यक्त्वसहित हों तो 'ज्ञान' है। इसके सिवाय और अन्तर नही है।

---

७९. जीव रागादि सहित कुछ भी प्रवृत्ति करे ता उसका नाम 'कर्म' है, शुभ अथवा अशुभ अध्यवसायवाला परिणमन 'कर्म' कहा जाता है, और शुद्ध अध्यवसायवाला परिणमन कर्म नही परन्तु निर्जरा' है।

---

८०. अमुक आचार्य यों कहते है कि दिगम्बर आचार्यने ऐसा माना है कि "जीवका मोक्ष नही होता, परन्तु मोक्ष समझमें आता है। वह इस तरह कि जीव शुद्ध स्वरूपवाला है, उसे बध ही नही हुआ तो फिर मोक्ष होनेका प्रश्न ही कहाँ है? परन्तु उसने यह मान रखा है, कि 'मै बँधा हुआ हूँ', यह मान्यता विचार द्वारा समझमे आती है कि मुझे बंधन नही है, मात्र मान लिया था; वह मान्यता शुद्ध स्वरूप समझमें आनेसे नही रहती; अर्थात् मोक्ष समझमे आ जाता है।" यह बात 'शुद्धनय' अथवा 'निश्चयनय'की है। पर्यायार्थिक नयवाले इस नयको पकड़ कर आचरण करें तो उन्हें भटक भटक कर मरना है।

---

८१ ठाणांगसूत्रमे कहा गया है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये पदार्थ सद्भाव है, अर्थात् इनका अस्तित्व विद्यमान है; कल्पित किये गये हैं ऐसा नही है।

---

८२. वेदान्त शुद्धनयाभासी है। शुद्धनयाभासमतवाले 'निश्चयनय' के सिवाय दूसरे नयको अर्थात् 'व्यवहारनय' को ग्रहण नहीं करते। जिनदर्शन अनेकांतिक है, अर्थात् वह स्याद्वादी है।

---

८३. कोई नव तत्त्वकी, कोई सात तत्त्वकी, कोई षड्द्रव्यकी, कोई षट् पदकी, कोई दो राशिकी बात करते हैं; परन्तु यह सब जीव, अजीव ऐसी दो राशि अथवा ये दो तत्त्व अर्थात् द्रव्यमे समा जाते हैं।

---

८४. निगोदमें अनंत जीव रहे हुए हैं, इस बातमें और कंदमूलमे सूईकी नोक जितने सूक्ष्म भागमें अनंत जीव रहे हैं, इस बातमे आशंका करने जैसा नही है। ज्ञानीने जैसा स्वरूप देखा है वैसा ही कहा है। यह जीव जो स्थूल देहप्रमाण हो रहा है और जिसे अपने स्वरूपका अभी ज्ञान नही हुआ उसे ऐसी सूक्ष्म बात समझमे नही आती यह बात सच्ची है; परन्तु उसके लिये आशंका करनेका कारण नही है। वह इस तरह :—

चौमासेके समय किसी गाँवके सीमातकी जाँच करें तो बहुतसी हरी वनस्पति दिखाई देती है, और उस थोड़ी हरी वनस्पतिमे अनंत जीव हैं, तो फिर ऐसे अनेक गाँवोंका विचार करें, तो जीवोंकी संख्याके परिमाणका अनुभव न होनेपर भी, उसका बुद्धिबलसे विचार करनेसे अनंतताकी सम्भावना हो सकती है। कदमूल आदिमें अनंतताका सम्भव है। दूसरी हरी वनस्पतिमे अनंतताका सम्भव नही है; परन्तु कंदमूल-

में अनंतता घटित होती है। कंदमूलके अमुक थोड़े भागको यदि बोया जाये तो वह उगता है, इस कारण-से भी उसमें जीवोंकी अधिकता घटित होती है; तथापि यदि प्रतीति न होती हो तो आत्मानुभव करें; आत्मानुभव होनेसे प्रतीति होती है। जब तक आत्मानुभव नहीं होता, तब तक उस प्रतीतिका होना मुश्किल है, इसलिये यदि उसकी प्रतीति करनी हो तो पहले आत्माके अनुभवी बनें।

---

८५. जब तक ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम नहीं हुआ, तब तक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेकी इच्छा रखनेवाला उसकी प्रतीति रखकर आज्ञानुसार वर्तन करे।

---

८६. जीवमे संकोच-विस्तारकी शक्तिरूप गुण रहता है, इस कारणसे वह छोटे-बड़े शरीरमे देह-प्रमाण स्थिति करके रहता है। इसी कारणसे जहाँ थोड़े अवकाशमे भी वह विशेषरूपसे संकोच कर सकता है वहाँ जीव वैसा करके रहे हुए हैं।

८७. ज्यों ज्यो जीव कर्मपुद्गल अधिक ग्रहण करता है, त्यो त्यों वह अधिक निबिड़ होकर छोटे देहमे रहता है।

८८. पदार्थमे अचिंत्य शक्ति है। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने धर्मका त्याग नही करता। एक जीवके द्वारा परमाणुरूपसे ग्रहण किये हुए कर्म अनत हैं। ऐसे अनत जीव, जिनके पास कर्मरूपी परमाणु अनंतानत है, वे सब निगोदाश्रयी थोड़े अवकाशमे रहे हुए हैं, यह बात भी शंका करने योग्य नहीं है। साधारण गिनतीके अनुसार एक परमाणु एक आकाशप्रदेशका अवगाहन करता है, परंतु उसमे अचित्य सामर्थ्य है, उस सामर्थ्यधर्मसे थोड़े आकाशमे अनत परमाणु रहते है। जैसे किसी दर्पणके सन्मुख उससे बहुत बड़ी वस्तु रखी जाये तो भी उतना आकार उसमे समा जाता है। आँख एक छोटी वस्तु है, फिर भी उस छोटीसी वस्तुमे सूर्य, चन्द्र आदि बड़े पदार्थोंका स्वरूप दिखाई देता है। उसी तरह आकाश जो बहुत बड़ा क्षेत्र है वह भी आँखमे दृश्यरूपसे समा जाता है। तथा आँख जैसी छोटीसी वस्तु बडे बडे बहुतसे घरोको भी देख सकती है। यदि थोड़े आकाशमे अनंत परमाणु अचित्य सामर्थ्यके कारण न समा सकते हो तो फिर आँखसे अपने आकार जितनी वस्तु ही देखी जा सकती है, परन्तु अधिक बड़ा भाग देखा नहीं जा सकता, अथवा दर्पणमे अनेक घर आदि बड़ी वस्तुओका प्रतिबिब नही पड़ सकता। इसी कारणसे परमाणुका भी अचित्य सामर्थ्य है और उसके कारण थोड़े आकाशमें अनंत परमाणु समा कर रह सकते हैं।

८९ इस तरह परमाणु आदि द्रव्योंका सूक्ष्मभावसे निरूपण किया गया है, वह यद्यपि परभावका विवेचन है, तो भी वह सकारण है, और सहेतु किया गया है।

९०. चित्त स्थिर करनेके लिये, अथवा वृत्तिको बाहर न जाने देकर अतरंगमे ले जानेके लिये पर-द्रव्यके स्वरूपका समझना काम आता है।

९१. परद्रव्यके स्वरूपका विचार करनेसे वृत्ति बाहर न जाकर अंतरंगमे रहती है, और स्वरूप समझनेके बाद उससे प्राप्त हुए ज्ञानसे वह उसका विषय हो जानेसे, अथवा अमुक अंशमे समझनेसे उतना उसका विषय हो रहनेसे, वृत्ति सीधी बाहर निकलकर परपदार्थोंमे रमण करनेके लिये दौड़ती है; तब परद्रव्य कि जिसका ज्ञान हुआ है उसे सूक्ष्मभावसे फिरसे समझने लगनेसे वृत्तिको फिर अंतरंगमे लाना पड़ता है; और इस तरह उसे अतरंगमे लानेके बाद विशेषरूपसे स्वरूप समझमें आनेसे ज्ञानसे उतना उसका विषय हो रहनेसे फिर वृत्ति बाहर दौड़ने लगती है; तब जितना समझा हो उससे विशेष सूक्ष्मभाव-से पुनः विचार करने लगनेसे वृत्ति फिर अंतरंगमें प्रेरित होती है। यों करते करते वृत्तिको वारंवार अंत-

रंगमें लाकर शान्त किया जाता है, और इस तरह वृत्तिको अंतरंगमें लाते लाते कदाचित् आत्माका अनुभव भी हो जाता है, और जब इस तरह हो जाता है तब वृत्ति बाहर नहीं जाती, परन्तु आत्मामें शुद्ध परिणतिरूप होकर परिणमन करती है। और तदनुसार परिणमन करनेसे बाह्य पदार्थका दर्शन सहज हो जाता है। इन कारणोंसे पर द्रव्यका विवेचन उपयोगी अथवा हेतुरूप होता है।

९२. जीव, स्वयंको जो अल्प ज्ञान होता है उससे बडे ज्ञेयपदार्थके स्वरूपको जानना चाहता है, यह कैसे हो सकता है? अर्थात् नही हो सकता। जब जीव ज्ञेयपदार्थके स्वरूपको नहीं जान सकता, तब वह अपनी अल्पज्ञतासे समझमें न आनेका कारण तो मानता नहीं, प्रत्युत बड़े ज्ञेयपदार्थमे दोष निकालता है, परन्तु सीधी तरह अपनी अल्पज्ञतासे समझमे नहीं आनेके कारणको नही मानता।

९३. जीव जब अपने ही स्वरूपको नही जान सकता, तो फिर परके स्वरूपको जानना चाहे तो उसे वह किस तरह जान-समझ सकता है? और जब तक वह समझमे नही आता तब तक उसीमे उलझा रहकर उधेड़-बुन किया करता है। श्रेयस्कर निजस्वरूपका ज्ञान जब तक प्रगट नहीं किया, तब तक परद्रव्यका चाहे जितना ज्ञान प्राप्त करे तो भी वह किसी कामका नहीं है; इसलिये उत्तम मार्ग यह है कि दूसरी सब बातें छोड़कर अपने आत्माको पहचाननेका प्रयत्न करे। जो सारभूत है उसे देखनेके लिये 'यह आत्मा सद्भाववाला है', 'वह कर्मका कर्ता है', और उससे (कर्मसे) उसे बंध होता है, 'वह बंध किस तरह होता है?' 'वह बध किस तरह निवृत्त होता है?' और 'उस बधसे निवृत्त होना मोक्ष है', इत्यादि सम्बन्धी वारंवार और प्रत्येक क्षणमे विचार करना योग्य है; और इस तरह वारंवार विचार करनेसे विचार वृद्धिको प्राप्त होता है, और उसके कारण निजस्वरूपका अंश-अंशसे अनुभव होने लगता है। ज्यो ज्यो निज स्वरूपका अनुभव होता है, त्यों त्यो द्रव्यका अचिंत्य सामर्थ्य जीवके अनुभवमे आता जाता है। जिससे उपर्युक्त शंकाएँ (जैसे कि थोडे आकाशमे अनंत जीवका समा जाना अथवा अनंत पुद्गल-परमाणुओं का समा जाना) करनेका अवकाश नही रहता, और उनकी यथार्थता समझमे आ जाती है। यह होनेपर भी यदि वह माननेमे न आता हो तो अथवा शका करनेका कारण रहता हो, तो ज्ञानी कहते हैं कि उपर्युक्त पुरुषार्थ करनेसे अनुभवसिद्ध होगा।

---

९४. जीव जो कर्मबध करता है वह देहस्थित आकाशमे रहनेवाले सूक्ष्म पुद्गलोंमेसे ग्रहण करता है। वह बाहरसे लेकर कर्म नही बाँधता।

९५. आकाशमे चौदह राजलोकमे पुद्गल-परमाणु सदा भरपूर है, उसी तरह शरीरमे रहनेवाले आकाशमें भी सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओका समूह भरपूर है। जीव वहाँसे सूक्ष्म पुद्गलोंको ग्रहण करके कर्मबंध करता है।

९६. ऐसी आशंका की जाये कि शरीरसे दूर-बहुत दूर रहनेवाले किसी किसी पदार्थके प्रति जीव रागद्वेष करे तो वह वहाँके पुद्गल ग्रहण करके कर्मबंध करता है या नही? इसका समाधान यह है कि वह रागद्वेषरूप परिणति तो आत्माकी विभावरूप परिणति है, और उस परिणतिका कर्ता आत्मा है और वह शरीरमे रहकर करता है, इसलिये शरीरमे रहनेवाला जो आत्मा है, वह जिस क्षेत्रमे है उस क्षेत्रमें रहे हुए पुद्गल-परमाणुओंको ग्रहण करके बाँधता है। वह उन्हें ग्रहण करनेके लिये बाहर नही जाता।

---

९७ यश, अपयश, कीर्ति जो नामकर्म है वह नामकर्मसंबंध जिस शरीरके कारण है, वह शरीर जहाँ तक रहता है वहाँ तक चलता है, वहाँसे आगे नहीं चलता। जीव जब सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है,

अथवा विरति प्राप्त करता है तब वह संबंध नही रहता। सिद्धावस्थामे एक आत्माके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है, और नामकर्म तो एक प्रकारका कर्म है, तो फिर वहाँ यश अपयश आदिका संबंध किस तरह घटित हो सकता है? अविरतिपनसे जो कुछ पाप क्रिया होती है वह पाप चला आता है।

९८. 'विरति' अर्थात् 'छूटना', अथवा रतिसे विरुद्ध, अर्थात् रति न होना। अविरतिमे तीन शब्द है—अ + वि + रति = अ = नही + वि = विरुद्ध + रति = प्रीति, अर्थात् जो प्रीतिसे विरुद्ध नहीं है वह 'अविरति' है। वह अविरति बारह प्रकारकी है।

९९. पाँच इन्द्रिय, छठा मन तथा पाँच स्थावर जीव, और एक त्रस जीव ये सब मिलाकर उसके कुल बारह प्रकार हैं।

१००. ऐसा सिद्धांत है कि कृतिके बिना जीवको पाप नही लगता। उस कृतिकी जब तक विरति नहीं की तब तक अविरतिपनेका पाप लगता है। समस्त चौदह राजूलोकमेंसे उसकी पाप-क्रिया चली आती है।

१०१ कोई जीव किसी पदार्थकी योजना कर मर जाये, और उस पदार्थकी योजना इस प्रकारकी हो कि वह योजित पदार्थ जब तक रहे, तब तक उससे पापक्रिया हुआ करे, तो तब तक उस जीवको अविरतिपनेकी पापक्रिया चली आती है। यद्यपि जीवने दूसरे पर्यायको धारण किया होनेसे पहलेके पर्यायके समय जिस जिस पदार्थकी योजना की है उसका उसे पता नही है तो भी, तथा वर्तमान पर्यायके समय वह जीव उस योजित पदार्थकी क्रिया नही करता तो भी, जब तक उसका मोहभाव विरतिपनेको प्राप्त नही हुआ तब तक, अव्यक्तरूपसे उसकी क्रिया चली आती है।

१०२. वर्तमान पर्यायके समय उसके अनजानपनेका लाभ उसे नहीं मिल सकता। उस जीवको समझना चाहिये था कि इस पदार्थसे होनेवाला प्रयोग जब तक कायम रहेगा तब तक उसकी पापक्रिया चालू रहेगी। उस योजित पदार्थसे अव्यक्तरूपसे भी होनेवाली (लगनेवाली) क्रियासे मुक्त होना हो तो मोह-भावको छोड़ना चाहिये। मोह छोड़नेसे अर्थात् विरतिपन करनेसे पापक्रिया बंध होती है। उस विरति-पनेको उसी पर्यायमे अपनाया जाये, अर्थात् योजित पदार्थके ही भवमे अपनाया जाये तो वह पापक्रिया, जबसे विरतिपना ग्रहण करे तबसे आनी बंद होती है। यहाँ जो पापक्रिया लगती है वह चारित्रमोहनीयके कारण आती है। वह मोहभावका क्षय हो जानेसे आनी बंद होती है।

१०३ क्रिया दो प्रकारसे होती है—एक व्यक्त अर्थात् प्रगटरूपसे और दूसरी अव्यक्त अर्थात् अप्रगट-रूपसे। यद्यपि अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रिया सबसे जानी नही जा सकती, इसलिये नही होती ऐसी बात तो नही है।

१०४. पानीमे लहरे अथवा हिलोरें स्पष्टतासे मालूम होती है; परन्तु उस पानीमें गंधक या कस्तूरी डाल दी हो, और वह पानी शात स्थितिमे हो तो भी उसमे गधक या कस्तूरीकी जो क्रिया है वह यद्यपि दीखती नही है, तथापि उसमे अव्यक्तरूपसे रही हुई है। इस तरह अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रियामे श्रद्धा न की जाये और मात्र व्यक्तरूप क्रियामे श्रद्धा की जाये, तो एक ज्ञानी जिसमे अविरतिरूप क्रिया नहीं होती वह भाव और दूसरा निद्राधीन मनुष्य जो व्यक्तरूपसे कुछ भी क्रिया नही करता वह भाव, दोनो एकसे लगते हैं, परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नही है। निद्राधीन मनुष्यको अव्यक्तरूपसे क्रिया लगती है। इसी तरह जो मनुष्य (जीव) चारित्रमोहनीय नामकी निद्रामे सोया हुआ है उसे अव्यक्त क्रिया नही लगती ऐसा नही है। यदि मोहभावका क्षय हो जाये तो ही अविरतिरूप चारित्रमोहनीय क्रिया बंद होती है, उससे पहले बंद नही होती।

क्रियासे होनेवाला बंध मुख्यतः पाँच प्रकारका है—

१ मिथ्यात्व	२ अविरति	३ कषाय	४ प्रमाद	५ योग
५	१२	२५		१५

१०५. जब तक मिथ्यात्वका अस्तित्व हो तब तक अविरतिपना निर्मूल नही होता अर्थात् नष्ट नहीं होता, परन्तु यदि मिथ्यात्व दूर हो जाये तो अविरतिपना दूर होना चाहिये, यह निःसंदेह है, क्योंकि मिथ्यात्वसहित विरतिपनेको अपनानेसे मोहभाव नही जाता। जब तक मोहभाव विद्यमान है तब तक अभ्यन्तर विरतिपना नहीं होता, और मुख्यतासे रहे हुए मोहभावका नाश हो जानेसे अभ्यन्तर अविरतिपन नही रहता, और यदि बाह्य विरतिपना अपनाया न गया हो तो भी यदि अभ्यंतर हो तो सहज ही बाहर आ जाता है।

१०६. अभ्यंतर विरतिपना प्राप्त होनेके पश्चात् और उदयाधीन बाह्य विरतिपना न अपना सके तो भी, जब उदयकाल सम्पूर्ण हो जाये तब सहज ही विरतिपना रहता है, क्योकि अभ्यंतर विरतिपन पहलेसे ही प्राप्त है, जिससे अब अविरतिपन है नही, कि वह अविरतिपनेकी क्रिया कर सके।

१०७. मोहभावके कारण ही मिथ्यात्व है। मोहभावका क्षय हो जानेसे मिथ्यात्वका प्रतिपक्षी सम्यक्त्व भाव प्रगट होता है। इसलिये वहाँ मोहभाव कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही होता।

१०८. यदि ऐसी आशंका की जाये कि पाँच इंद्रियाँ और छठा मन, तथा पाँच स्थावरकाय और छठी त्रसकाय, यो बारह प्रकारसे विरति अपनायी जाये तो लोकमे रहे हुए जीव और अजीव नामकी राशिके जो दो समूह है उनमेंसे पाँच स्थावरकाय और छठी त्रसकाय मिलकर जीवराशिकी विरति हुई; परन्तु लोकमे भटकानेवाली अजीवराशि जो जीवसे भिन्न है, उसकी प्रीतिकी निवृत्ति इसमे नहीं आती, तब तक विरति किस तरह मानी जा सकती है ? इसका समाधान यह है कि पाँच इंद्रियाँ और छठे मनसे जो विरति करना है, उसके विरतिपनमें अजीवराशिकी विरति आ जाती है।

---

१०९. पूर्वकालमे इस जीवने ज्ञानीकी वाणी कभी निश्चयरूपसे नही सुनी अथवा वह वाणी सम्यक् प्रकारसे शिरोधार्य नही की, ऐसा सर्वदर्शीने कहा है।

११०. सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट यथोक्त संयमको पालते हुए अर्थात् सद्गुरुकी आज्ञासे चलते हुए पापसे विरति होती है, और अभेद्य संसारसमुद्र तरा जाता है।

---

१११. वस्तुस्वरूप कितने ही स्थानकोंमें आज्ञासे प्रतिष्ठित है, और कितने ही स्थानकोंमे सद्विचारपूर्वक प्रतिष्ठित है, परन्तु इस दुःषमकालकी इतनी अधिक प्रबलता है कि इसके बादके क्षणमे भी विचारपूर्वक प्रतिष्ठितके लिये जीव किस तरह प्रवृत्ति करेगा यह जाननेकी इस कालमे शक्ति दिखाई नही देती, इसलिये वहाँ आज्ञापूर्वक प्रतिष्ठित रहना ही योग्य है।

११२. ज्ञानीने कहा है कि 'समझें! क्यों नहीं समझते ? फिर ऐसा अवसर आना दुर्लभ है !'

---

११३. लोकमे जो पदार्थ है उनके धर्मोका, देवाधिदेवने अपने ज्ञानमें भासनेसे यथावत् वर्णन किया है। पदार्थ उन धर्मोसे बाहर जाकर प्रवृत्ति नही करते; अर्थात् ज्ञानी महाराजने उन्हें जिस तरह प्रकाशित किया है उनसे भिन्न प्रकारसे वे प्रवर्तन नहीं करते। इसलिये ऐसा कहा है कि वे ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार प्रवर्तन करते हैं। क्योंकि ज्ञानीने पदार्थोंके धर्म यथावत् ही कहे हैं।

११४ काल मूल द्रव्य नहीं है, औपचारिक द्रव्य है; और वह जीव तथा अजीव (अजीवमें—मुख्यतः पुद्गलास्तिकायमें—विशेषरूपसे समझमें आता है) मेसे उत्पन्न हुआ है, अथवा जीवाजीवकी पर्यायावस्था काल है। प्रत्येक द्रव्यके अनंत धर्म हैं। उनमें ऊर्ध्वप्रचय और तिर्यक्प्रचय ऐसे दो धर्म हैं, और कालमें तिर्यक्प्रचय धर्म नहीं है, मात्र ऊर्ध्वप्रचय धर्म है।

११५. ऊर्ध्वप्रचयसे पदार्थमे जिस धर्मका उद्भव होता है उस धर्मका तिर्यक्प्रचयसे फिर उसमें समावेश हो जाता है। कालके समयका तिर्यक्प्रचय नही है, इसलिये जो समय चला गया वह फिर पीछे नहीं आता।

११६. दिगम्बर मतके अनुसार लोकमे 'कालद्रव्य'के असख्यात अणु हैं।

११७. प्रत्येक द्रव्यके अनंत धर्म है। उनमे कितने ही व्यक्त हैं, कितने ही अव्यक्त है, कितने ही मुख्य हैं, कितने ही सामान्य हैं, कितने ही विशेष है।

११८. असंख्यातको असंख्यातसे गुना करनेसे भी असंख्यात होता है, अर्थात् असंख्यातके असंख्यात भेद है।

११९. एक अंगुलके असंख्यात भाग—अंश—प्रदेश, वे एक अंगुलमे असंख्यात हैं। लोकके भी असंख्यात प्रदेश हैं। चाहे जिस दिशाकी समश्रेणिसे असंख्यात होते है। इस तरह एकके बाद एक, दूसरी तीसरी समश्रेणिका योग करनेसे जो योगफल आता है वह एक गुना, दो गुना, तीन गुना, चार गुना होता है परन्तु असख्यात गुना नही होता। परन्तु एक समश्रेणि जो असख्यात प्रदेशवाली है उस समश्रेणिकी दिशावाली सभी समश्रेणियाँ जो असंख्यात गुनी है, उस प्रत्येकको असंख्यातसे गुना करनेसे, इसी तरह दूसरी दिशाकी समश्रेणिका भी गुना करनेसे, और इसी तरह तीसरी दिशाकी समश्रेणिका भी गुना करनेसे असंख्यात होते हैं। इन असख्यातके भंगोको जहाँ तक एक दूसरेका गुनाकार किया जा सकता है वहा तक असख्यात होते है और जब उस गुनाकारसे कोई गुनाकार करना बाकी नही रहता तब असख्यात पूरा होनेपर उसमे एक मिला देनेसे जघन्यसे जघन्य अनंत होता है।

---

१२०. जो नय है वह प्रमाणका एक अश है। जिस नयसे जो धर्म कहा गया है, वहाँ उतना प्रमाण है। इस नयसे जो धर्म कहा गया है, उसके सिवाय वस्तुमे दूसरे जो धर्म है उनका निषेध नही किया गया है। एक ही समयमें वाणीसे समस्त धर्म नही कहे जा सकते। तथा जो जो प्रसंग होता है उस उस प्रसंगपर वहाँ मुख्यत वही धर्म कहा जाता है। वहाँ वहाँ उस उस नयसे प्रमाण है।

१२१. नयके स्वरूपसे दूर जाकर जो कुछ कहा जाता है वह नय नही है, परन्तु नयाभास है, और जहाँ नयाभास है वहाँ मिथ्यात्व सिद्ध होता है।

१२२. नय सात माने हैं। उनके उपनय सात सौ है, और विशेष स्वरूपसे अनंत है, अर्थात् जितने वचन है उतने नय हैं।

१२३. एकान्तिकता ग्रहण करनेका स्वच्छंद जीवको विशेषरूपसे होता है, और एकान्तिकता ग्रहण करनेसे नास्तिकता होती है। उसे न होने देनेके लिये यह नयका स्वरूप कहा गया है। जिसे समझनेसे जीव एकान्तिकता ग्रहण करनेसे रुककर मध्यस्थ रहता है, और मध्यस्थ रहनेसे नास्तिकता अवकाश नही पा सकती।

१२४. जो नय कहनेमे आता है वह नय स्वय कोई वस्तु नही है, परन्तु वस्तुका स्वरूप समझने और उसकी सुप्रतीति होनेके लिये प्रमाणका एक अंश है।

१२५. यदि अमुक नयसे कहा गया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे नयसे प्रतीत होनेवाले धर्मका अस्तित्व नही है।

---

१२६. केवलज्ञान अर्थात् मात्र ज्ञान ही, उसके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं, और जब ऐसा है तब उसमे दूसरा कुछ नही समाता। जब सर्वथा सर्व प्रकारसे रागद्वेषका क्षय हो जाये तभी केवलज्ञान कहा जाता है। यदि किसी अशमे रागद्वेष हों तो वह चारित्रमोहनीयके कारणसे हैं। जहाँ जितने अंशमे रागद्वेष हैं, वहाँ उतने ही अंशमें अज्ञान है, जिससे वे केवलज्ञानमे समा नही सकते, अर्थात् केवलज्ञानमें वे नहीं होते। वे एक दूसरेके प्रतिपक्षी है। जहाँ केवलज्ञान है वहाँ रागद्वेष नहीं है अथवा जहाँ रागद्वेष हैं वहाँ केवलज्ञान नही है।

---

१२७. गुण और गुणी एक ही हैं, परन्तु किसी कारणसे वे भिन्न भी हैं। सामान्यत· तो गुणोंका समुदाय 'गुणी' है; अर्थात् गुण और गुणी एक ही है, भिन्न-भिन्न वस्तु नही है। गुणीसे गुण अलग नहीं हो सकता। जैसे मिस्रीका टुकडा गुणी है और मिठास गुण है। गुणी मिस्री और गुण मिठास वे दोनो साथ ही रहते हैं, मिठास कुछ भिन्न नही होती; तथापि गुण और गुणी किसी अंशसे भेदवाले है।

१२८. केवलज्ञानीका आत्मा भी देहव्यापकक्षेत्रावगाहित है; फिर भी लोकालोकके समस्त पदार्थ, जो देहसे दूर है, उन्हे भी एकदम जान सकता है।

१२९. स्व-परको अलग करनेवाला जो ज्ञान है वही ज्ञान है। इस ज्ञानको प्रयोजनभूत कहा गया है। इसके सिवाय जो ज्ञान है वह अज्ञान है। शुद्ध आत्मदशारूप शात जिन है। उसकी प्रतीति जिनप्रतिबिंब सूचित करता है। उस शात दशाको पानेके लिये जो परिणति, अथवा अनुकरण अथवा मार्ग है उसका नाम 'जैन'—जिस मार्गपर चलनेसे जैनत्व प्राप्त होता है।

१३०. यह मार्ग आत्मगुणरोधक नही है परन्तु बोधक है, अर्थात् आत्मगुणको प्रगट करता है, इसमें कुछ भी संशय नही है। यह बात परोक्ष नही परन्तु प्रत्यक्ष है। प्रतीति करनेके अभिलाषीको पुरुषार्थ करनेसे सुप्रतीत होकर प्रत्यक्ष अनुभवगम्य हो जाता है।

१३१. सूत्र और सिद्धांत ये दोनों भिन्न हैं। रक्षण करनेके लिये सिद्धांत सूत्ररूपी पेटीमे रखे गये हैं। देश-कालके अनुसार सूत्र रचे अर्थात् गूंथे जाते हैं; और उनमे सिद्धांत गूंथे जाते हैं। वे सिद्धांत चाहे जिस कालमे, चाहे जिस क्षेत्रमें बदलते नहीं है, अथवा खंडित नही होते; और यदि वे खंडित हो जाये तो वे सिद्धात नही हैं।

१३२. सिद्धात गणितकी तरह प्रत्यक्ष है, इसलिये उनमें किसी तरहकी भूल या अधूरापन नहीं रहता। अक्षर विकल अर्थात् मात्रा, शिरोरेखा आदिके बिना हों तो उन्हे सुधारकर मनुष्य पढ लेते हैं; परन्तु यदि अंकोंकी भूल हो तो हिसाब झूठा ठहरता है, इसलिये अंक विकल नही होते। इस दृष्टांतको उपदेशमार्ग और सिद्धान्तमार्गपर घटायें।

१३३. सिद्धांत चाहे जिस देशमें, चाहे जिस भाषामें और चाहे जिस कालमे लिखे गये हो तो भी वे असिद्धात नही हो जाते। उदाहरणरूपमें दो और दो चार होते हैं। फिर चाहे वे गुजराती, संस्कृत, प्राकृत, चीनी, अरबी, फारसी या अंगरेजी भाषामें क्यों न लिखे गये हो। उन अंकोंको चाहे जिस सज्ञासे पहचाना जाये तो भी दो और दोका योगफल चार ही होता है यह बात प्रत्यक्ष है। जैसे नौ नवाँ इक्यासी उसे चाहे जिस देशमें, चाहे जिस भाषामे, और दिन-दहाड़े या काली रातमे गिना जाये तो भी अस्सी या बियासी नही होते, परन्तु इक्यासी ही होते हैं। यही बात सिद्धांतकी भी है।

१३४. सिद्धांत प्रत्यक्ष है, ज्ञानीका अनुभवसिद्ध विषय है। उनमे अनुमान काम नही आता। अनुमान तो तर्कका विषय है, और तर्क आगे बढ़नेपर कितनी ही बार झूठा भी हो जाता है; परन्तु प्रत्यक्ष जो अनुभवसिद्ध है उसमे कुछ भी असत्यता नही रहती।

१३५. जिसे गुणन या जोड़का ज्ञान हुआ है वह यह कहता है कि नो नवाँ इक्यासी, परन्तु जिसे जोड़ अथवा गुणनका ज्ञान नही हुआ, अर्थात् क्षयोपशम नही हुआ वह अनुमानसे या तर्कसे यों कहे कि 'अट्टानवे होते हों तो क्यो न कहा जा सके ?' तो इसमे कुछ आश्चर्य करने जैसी बात नही है, क्योंकि उसे ज्ञान न होनेसे वैसा कहता है यह स्वाभाविक है। परन्तु यदि उसे गुणनकी रीतिको अलग अलग करके, एकसे नौ तक अंक बताकर नौ बार गिनाया जाये तो इक्यासी होनेसे अनुभवगम्य हो जानेसे उसे सिद्ध होते हैं। कदाचित् उसके मंद क्षयोपशमसे, गुणन अथवा जोड करनेसे इक्यासी समझमे न आयें तो भी इक्यासी होते हैं इसमें फर्क नही है। इसी तरह आवरणके कारण सिद्धांत समझमे न आयें तो भी वे असिद्धांत नही हो जाते इस बातकी अवश्य प्रतीति रखे। फिर भी प्रतीति करनेकी जरूरत हो तो उसमें बताये अनुसार करनेसे प्रतीति हो जानेसे प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध होता है।

१३६ जब तक अनुभवसिद्ध न हो तब तक सुप्रतीति रखनेकी जरूरत है, और सुप्रतीतिसे क्रमशः अनुभवसिद्ध होता है।

१३७. सिद्धातके दृष्टात—(१) 'रागद्वेषसे बंध होता है।' (२) 'बधका क्षय होनेसे मुक्ति होती है।' इस सिद्धातकी प्रतीति करनी हो तो रागद्वेष छोड़ें। यदि सर्व प्रकारसे रागद्वेष छूट जायें तो आत्माका सर्व प्रकारसे मोक्ष हो जाता है। आत्मा बधनके कारण मुक्त नही हो सकता। बंधन छूटा कि मुक्त है। बंधन होनेके कारण रागद्वेष है। जहाँ रागद्वेष सर्वथा छूटे कि बंधसे छूट ही गया है। इसमे कोई प्रश्न या शंका नही रहती।

१३८ जिस समय रागद्वेषका सर्वथा क्षय होता है, उसे दूसरे ही समयमे 'केवलज्ञान' होता है।

---

१३९. जीव पहले गुणस्थानकमेसे आगे नही जाता। आगे जानेका विचार नही करता। पहलेसे आगे किस तरह बढ़ा जा सकता है ? उसके क्या उपाय है ? किस तरह पुरुषार्थ करे ? उसका विचार भी नही करता, और जब बाते करने बैठता है तब ऐसी करता है कि इस क्षेत्रमे इस कालमें तेरहवाँ गुणस्थानक प्राप्त नही होता। ऐसी ऐसी गहन बातें, जो अपनी शक्तिके बाहरकी है, उन्हे वह कैसे समझ सकता है ? अर्थात् अपनेको जितना क्षयोपशम हो उसके अतिरिक्तकी बाते करने बैठे तो वे समझी ही नही जा सकती।

१४०. ग्रन्थि पहले गुणस्थानकमे है, उसका भेदन करके आगे बढकर संसारी जीव चौथे गुणस्थानक तक नही पहुँचे। कोई जीव निर्जरा करनेसे ऊँचे भावोमे आनेसे, पहलेमेसे निकलनेका विचार करके, ग्रन्थिभेदके समीप आता है, परन्तु वहाँ उसपर ग्रन्थिका इतना अधिक जोर होता है कि ग्रन्थिभेद करनेमे शिथिल होकर जीव रुक जाता है, और इस प्रकार मंद होकर वापस लौटता है। इस तरह जीव अनंत बार ग्रंथिभेदके समीप आकर वापस लौट गया है। कोई जीव प्रबल पुरुषार्थ करके, निमित्त कारणका योग पाकर पूर्ण शक्ति लगाकर ग्रथिभेद करके आगे बढ़ जाता है, और जब ग्रन्थिभेद करके आगे बढ़ा कि चौथेमें आ जाता है, और चौथेमे आया कि जल्दी या देरसे मोक्ष होगा, ऐसी उस जीवको मुहर लग जाती है।

१४१. इस गुणस्थानकका नाम 'अविरतिसम्यग्दृष्टि' है, जहाँ विरतिपनेके बिना सम्यक् ज्ञान-दर्शन है।

१४२. यह कहा जाता है कि तेरहवाँ गुणस्थानक इस कालमें और इस क्षेत्रसे प्राप्त नही होता; परन्तु ऐसा कहनेवाले पहले गुणस्थानकमेंसे भी नही निकलते। यदि वे पहलेमेंसे निकलकर चौथे तक आये, और वहाँ पुरुषार्थ करके सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक तक पहुँच जायें, तो भी यह एक बड़ोसे बड़ी बात है। सातवें तक पहुँचे बिना उसके बादकी दशाकी सुप्रतीति हो सकना मुश्किल है।

१४३. आत्मामें जो प्रमादरहित जागृतदशा है वही सातवाँ गुणस्थानक है। वहाँ तक पहुँच जानेसे उसमें सम्यक्त्व समा जाता है। जीव चौथे गुणस्थानकमे आकर वहाँसे पाँचवें 'देशविरति', छठे 'सर्व-विरति' और सातवे 'प्रमादरहित विरति' मे पहुँचता है। वहाँ पहुँचनेसे आगेकी दशाका अंशतः अनुभव अथवा सुप्रतीति होती है। चौथे गुणस्थानकवाला जीव सातवें गुणस्थानकमे पहुँचनेवालेकी दशाका यदि विचार करे तो किसी अंशसे प्रतीति हो सकती है। परन्तु पहले गुणस्थानकवाला जीव उसका विचार करे तो वह किस तरह प्रतीतिमे आ सकता है? क्योंकि उसे जाननेका साधन जो आवरणरहित होना है वह पहले गुणस्थानकवालेके पास नहीं होता।

१४४. सम्यक्त्वप्राप्त जीवकी दशाका स्वरूप ही भिन्न होता है। पहले गुणस्थानकवाले जीवकी दशाकी जो स्थिति अथवा भाव है उसकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानकको प्राप्त करनेवालेकी दशाकी स्थिति अथवा भाव भिन्न देखनेमे आते है अर्थात् भिन्न ही दशाका वर्तन देखनेमे आता है।

१४५ पहलेको शिथिल करे तो चौथेमे आये यह कथन मात्र है। चौथेमे आनेके लिये जो वर्तन है वह विषय विचारणीय है।

१४६. पहले, चौथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें गुणस्थानककी जो बात कही गयी है वह कुछ कथन मात्र अथवा श्रवण मात्र ही है, यह बात नही है, परन्तु समझकर वारंवार विचारणीय है।

१४७ हो सके उतना पुरुषार्थ करके आगे बढनेकी जरूरत है।

१४८. न प्राप्त हो सके ऐसे धैर्य, सहनन, आयुकी पूर्णता इत्यादिके अभावसे कदाचित् सातवें गुणस्थानकसे आगेका विचार अनुभवमें नही आ सकता, परन्तु सुप्रतीत हो सकता है।

१४९. सिंहके दृष्टांतकी तरह :—सिंहको लोहेके मजबूत पिंजरेमे बन्द किया गया हो तो वह अंदर रहा हुआ अपनेको सिंह समझता है, पिंजरेमे बन्द किया हुआ मानता है, और पिंजरेसे बाहरकी भूमि भी देखता है; मात्र लोहेकी मजबूत छड़ोकी आड़के कारण बाहर नही निकल सकता। इसी तरह सातवें गुणस्थानकसे आगेका विचार सुप्रतीत हो सकता है।

१५०. इस प्रकार होनेपर भी जीव मतभेद आदि कारणोसे अवरुद्ध होकर आगे नही बढ़ सकता।

१५१. मतभेद अथवा रूढि आदि तुच्छ बाते है, अर्थात् उसमे मोक्ष नही है। इसलिये वस्तुतः सत्यकी प्रतीति करनेकी जरूरत है।

---

१५२. शुभाशुभ और शुद्धाशुद्ध परिणामपर सारा आधार है। छोटी छोटी बातोमे भी दोष माना जायें तो उस स्थितिमे मोक्ष नही होता। लोकरूढि अथवा लोकव्यवहारमे पड़ा हुआ जीव मोक्षतत्त्वका रहस्य नही जान सकता, उसका कारण यह है कि उसके मनमे रूढि अथवा लोकसंज्ञाका माहात्म्य है। इसलिये बादर क्रियाका निषेध नही किया जाता। जो कुछ भी न करता हुआ एकदम अनर्थ करता है उसकी अपेक्षा बादरक्रिया उपयोगी है। तो भी इसका आशय यह भी नही है कि बादरक्रियासे आगे न बढ़े।

१५३. जीवको अपनी चतुराई और इच्छानुसार चलना अच्छा लगता है, परन्तु यह जीवका बुरा करनेवाली वस्तु है। इस दोषको दूर करनेके लिये ज्ञानीका यह उपदेश है कि पहले तो किसीको उपदेश नही देना है परन्तु पहले स्वयं उपदेश लेना है। जिसमे रागद्वेष न हो उसका संग हुए बिना सम्यक्त्व प्राप्त नही हो सकता। सम्यक्त्व आनेसे (प्राप्त होनेसे) जीव बदलता है, (जीवकी दशा बदलती है); अर्थात् प्रतिकूल हो तो अनुकूल हो जाती है। जिनेन्द्रकी प्रतिमाका (शांतिके लिये) दर्शन करनेसे सातवें गुण-स्थानकमे स्थित ज्ञानीकी जो शांतदशा है उसकी प्रतीति होती है।

१५४. जैनमार्गमें आजकल अनेक गच्छ प्रचलित हैं, जैसे कि तपगच्छ, अंचलगच्छ, लुकागच्छ, खरतरगच्छ इत्यादि। यह प्रत्येक अपनेसे अन्य पक्षवालेको मिथ्यात्वी मानता है। इसी तरह दूसरा विभाग छ कोटि, आठ कोटि इत्यादिका है। यह प्रत्येक अपनेसे अन्य कोटिवालेको मिथ्यात्वी मानता है। वस्तुतः नौ कोटि चाहिये। उनमेसे जितनी कम उतना कम, और उसकी अपेक्षा भी आगे जायें तो समझमे आता है कि अंतमे नौ कोटि भी छोड़े बिना रास्ता नही है।

१५५. तीर्थंकर आदिने जिस मार्गसे मोक्ष प्राप्त किया वह मार्ग तुच्छ नहीं है। जैनरूढिका अंश भी छोड़ना अत्यंत कठिन लगता है, तो फिर महान तथा महाभारत जैसे मोक्षमार्गको किस तरह ग्रहण किया जा सकेगा? यह विचारणीय है।

---

१५६ मिथ्यात्व प्रकृतिका क्षय किये बिना सम्यक्त्व नही आता। जिसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसकी दशा अद्भुत होती है। वहाँसे पाँचवें, छठे, सातवें और आठवेंमे जाकर दो घडीमे मोक्ष हो सकता है। एक सम्यक्त्व प्राप्तकर लेनेसे कैसा अद्भुत कार्य हो जाता है! इससे सम्यक्त्वकी चमत्कृति अथवा उसका माहात्म्य किसी अशमे समझा जा सकता है।

१५७ दुर्धर पुरुषार्थसे प्राप्त होने योग्य मोक्षमार्ग अनायास प्राप्त नही होता। आत्मज्ञान अथवा मोक्षमार्ग किसीके शापसे अप्राप्त नही होता, या किसीके आशीर्वादसे प्राप्त नही होता। पुरुषार्थके अनुसार होता है, इसलिये पुरुषार्थकी जरूरत है।

---

१५८. सूत्र, सिद्धात, शास्त्र सत्पुरुषके उपदेशके बिना फल नही देते। जो भिन्नता है वह व्यवहार मार्गमे है। मोक्षमार्गमे तो कोई भेद नही है, एक ही है। उसे प्राप्त करनेमे जो शिथिलता है उसका निषेध किया गया है। इसमे शूरवीरता ग्रहण करने योग्य है। जीवको अमूर्च्छित करना ही जरूरी है।

१५९. विचारवान पुरुषको व्यवहारके भेदसे नही घबराना चाहिये।

१६०. ऊपरकी भूमिकावाला नीचेकी भूमिकावालेके बराबर नहीं है, परन्तु नीचेकी भूमिकावालेसे ठीक है। स्वयं जिस व्यवहारमे हो उससे दूसरेका ऊँचा व्यवहार देखनेमें आये, तो उस ऊँचे व्यवहारका निषेध न करे, क्योंकि मोक्षमार्गमे कुछ भी अन्तर नहीं है। तीनों कालमें चाहे जिस क्षेत्रमे जो एक ही सरीखा रहे वही मोक्षमार्ग है।

---

१६१. अल्पसे अल्प निवृत्ति करनेमे भी जीवको कँपकँपी होती है तो फिर वैसी अनन्त प्रवृत्तियोंसे जो मिथ्यात्व होता है, उसकी निवृत्ति करना यह कितना दुर्धर हो जाना चाहिये? मिथ्यात्वकी निवृत्ति ही 'सम्यक्त्व' है।

१६२. जीवाजीवकी विचाररूपसे प्रतीति न की गयी हो और कथन मात्र ही जीवाजीव है, यों कहे

तो यह सम्यक्त्व नही है। तीर्थंकर आदिने भी पूर्वकालमे इसका आराधन किया है, इसलिये पहलेसे ही उनमे सम्यक्त्व होता है, परन्तु दूसरोको कुछ अमुक कुलमें, अमुक जातिमें या अमुक वर्गमें अथवा अमुक देशमे उत्पन्न होनेसे जन्मसे ही सम्यक्त्व हो, यह बात नहीं है।

१६३ विचारके बिना ज्ञान नही होता। ज्ञानके बिना सुप्रतीति अर्थात् सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्वके बिना चारित्र नही आता, और जब तक चारित्र नही आता तब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता, और जब तक केवलज्ञान प्राप्त नही होता तब तक मोक्ष नहीं है ;ऐसा देखनेमें आता है।

---

१६४. देवका वर्णन। तत्त्व। जीवका स्वरूप।

---

१६५. कर्मरूपसे रहे हुए परमाणु केवलज्ञानीको दृश्य होते है, उनके सिवाय दूसरोंके लिये कोई निश्चित नियम नही होता। परमावधिवालेको उनका दृश्य होना सम्भव है, और मनःपर्यायज्ञानीको अमुक देशसे दृश्य होना सम्भव है।

---

१६६. पदार्थमे अनन्त धर्म (गुण आदि) निहित है। उनका अनंतवाँ भाग वाणीसे कहा जा सकता है। उसका अनंतवाँ भाग सूत्रमें गूँथा जा सकता है।

---

१६७. यथाप्रवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण, अपूर्वकरणके बाद युंजनकरण और गुणकरण है। युंजनकरणको गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६८. युंजनकरण अर्थात् प्रकृतिको योजित करना। आत्मगुण जो ज्ञान, और उससे दर्शन, और उससे चारित्र, ऐसे गुणकरणसे युजनकरणका क्षय किया जा सकता है। अमुक अमुक प्रकृति जो आत्मगुणरोधक है उसका गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

---

१६९. कर्मप्रकृति, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्मभाव, उसके बंध, उदय, उदीरणा, संक्रमण, सत्ता और क्षयभाव जो बताये गये है (वर्णित किये गये हैं), वे परम सामर्थ्यके बिना वर्णित नही किये जा सकते। इनका वर्णन करनेवाला जीवकोटिका पुरुष नही, परन्तु ईश्वरकोटिका पुरुष होना चाहिये, ऐसी सुप्रतीति होती है।

१७०. किस किस प्रकृतिका कैसे रससे क्षय हुआ होना चाहिये ? कौनसी प्रकृति सत्तामे हैं ? कौनसी उदयमे है ? किसने संक्रमण किया है ? इत्यादिका विधान करनेवालेने, उपर्युक्तके अनुसार प्रकृतिके स्वरूपको माप-तोल कर कहा है, उनके इस परमज्ञानकी बात एक ओर रहने दे तो भी यह कहनेवाला ईश्वरकोटिका पुरुष होना चाहिये, यह निश्चित होता है।

१७१. जातिस्मरणज्ञान मतिज्ञानके 'धारणा' नामके भेदके अंतर्गत है। वह पिछले भव जान सकता है। जहाँ तक पिछले भवमें असंज्ञीपना न आया हो वहाँ तक वह आगे चल सकता है।

१७२. (१) तीर्थंकरने आज्ञा न दी हो और जीव अपनी वस्तुके सिवाय परवस्तुका जो कुछ ग्रहण करता है वह पराया लिया हुआ और अदत्त गिना जाता है। उस अदत्तमेंसे तीर्थंकरने परवस्तु जितनी ग्रहण करनेकी छूट दी है उतनेको अदत्त नहीं गिना जाता। (२) गुरुकी आज्ञाके अनुसार किये हुए वर्तनके सम्बन्धमें अदत्त नही गिना जाता।

१७३. उपदेशके मुख्य चार प्रकार हैं—(१) द्रव्यानुयोग, (२) चरणानुयोग, (३) गणितानुयोग, (४) धर्मकथानुयोग।

(१) लोकमें रहनेवाले द्रव्य, उनका स्वरूप, उनका गुण, धर्म, हेतु, अहेतु, पर्याय आदि अनंतानंत प्रकारके है, उनका जिसमें वर्णन है वह 'द्रव्यानुयोग' है।

(२) इस द्रव्यानुयोगका स्वरूप समझमें आनेके बाद, आचरण संबंधी वर्णन जिसमें है वह 'चरणानुयोग' है।

(३) द्रव्यानुयोग तथा चरणानुयोगकी गिनतीके प्रमाण, तथा लोकमें रहनेवाले पदार्थ, भाव, क्षेत्र, काल आदिकी गिननीके प्रमाणका जो वर्णन है वह 'गणितानुयोग' है।

(४) सत्पुरुषोंके धर्मचरित्रोंकी कथाएं, जिनका बोध लेनेसे वे गिरनेवाले जीवको अवलंबनभूत सिद्ध होती हैं, वह 'धर्मकथानुयोग' है।

१७४. परमाणुमें रहनेवाले गुण, स्वभाव आदि स्थिर रहते हैं, और पर्याय बदलते हैं। दृष्टांतरूपमे :—पानीमे रहनेवाला शीत-गुण नही बदलता, परन्तु पानीमे जो तरंगें उठती है वे बदलती हैं अर्थात् वे एकके बाद एक उठकर उसमे समा जाती है। इस प्रकार पर्याय, अवस्था अवस्थांतर हुआ करते हैं। इससे पानीमे रहनेवाली शीतलता अथवा पानीपन नही बदलते, परन्तु स्थिर रहते हैं; और पर्यायरूप तरंगें बदलती रहती हैं। इसी तरह उस गुणकी हानिवृद्धिरूप परिवर्तन भी पर्याय है। उसके विचारसे प्रतीति, प्रतीतिसे त्याग और त्यागसे ज्ञान होता है।

१७५ तेजस और कार्मण शरीर स्थूलदेहप्रमाण हैं। तेजस शरीर गरमी करता है, तथा आहारको पचानेका काम करता है। शरीरके अमुक अमुक अंग घिसनेसे गरम मालूम होते है, वे तेजसके कारणसे मालूम होते हैं। सिरपर घृत आदि रखकर उस (तेजस) शरीरकी परीक्षा करनेकी जो रूढि है, उसका अर्थ यह है कि वह शरीर स्थूल शरीरमे है या नही ? अर्थात् स्थूल शरीरमे जीवकी भाँति वह सारे शरीरमें रहता है।

१७६. इसी तरह कार्मण शरीर भी है, जो तेजसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। वह भी तेजसकी तरह रहता है। स्थूल शरीरमे पीड़ा होती है, अथवा क्रोध आदि होते है, वही कार्मण शरीर है। कार्मणसे क्रोध आदि होकर तेजोलेश्या आदि उत्पन्न होते हैं। वेदनाका अनुभव जीव करता है, परन्तु वेदना कार्मण शरीरके कारण होती है। कार्मण शरीर जीवका अवलंबन है।

१७७. उपर्युक्त चार अनुयोगों तथा उनके सूक्ष्म भावोका स्वरूप जीवके लिये वारंवार विचारणीय है, ज्ञेय है। वह परिणाममे निर्जराका हेतु होता है, अथवा उससे निर्जरा होती है। चित्तकी स्थिरता करनेके लिये यह सब कहा गया है; क्योकि इस सूक्ष्मसे सूक्ष्म स्वरूपको यदि जीवने कुछ जाना हो तो उसके लिये वारंवार विचार करना होता है, और वैसे विचारसे जीवकी बाह्यवृत्ति न होकर, वह विचार करने तक अन्दरकी अन्दर ही समायी रहती है।

१७८ अंतरविचारका साधन न हो तो जीवकी वृत्ति बाह्य वस्तुपर जाकर अनेक प्रकारकी योजनाएँ की जाती हैं। जीवको आलबनकी जरूरत है। उसे खाली बैठे रहना ठीक नहीं लगता। उसे ऐसी ही आदत पड़ गयी है; इसलिये यदि उक्त पदार्थोंका ज्ञान हुआ हो तो उसके विचारके कारण सत्-चित्तवृत्ति बाहर जानेके बदले भीतर समायी रहती है, और ऐसा होनेसे निर्जरा होती है।

१७९. पुद्गल, परमाणु और उसके पर्याय आदिकी सूक्ष्मता है, वह जितनी वाणीगोचर हो सकती है उतनी कही गयी है। वह इसलिये कि ये पदार्थ मूर्त्त है, अमूर्त्त नहीं है। मूर्त्त होनेपर भी इतने सूक्ष्म

हैं कि उनका वारंवार विचार करनेसे उनका स्वरूप समझमें आता है, और उस तरह समझमें आनेसे उनसे सूक्ष्म अरूपी ऐसे आत्मा संबंधी जाननेका काम सरल हो जाता है।

१८० मान और मताग्रह ये मार्गप्राप्तिमें अवरोधक स्तम्भरूप हैं। उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता, और इसलिये मार्ग समझमें नही आता। समझनेमे विनय-भक्तिकी प्रथम जरूरत है। वह भक्ति मान, मताग्रहके कारण अपनायी नही जा सकती।

१८१. (१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परावर्तना, (४) चित्तको निश्चयमे लाना, (५) धर्मकथा। वेदान्तमें भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन। ये भेद बताएँ हैं।

१८२. उत्तराध्ययनमे धर्मके मुख्य चार अंग कहे हैं :—(१) मनुष्यता, (२) सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण, (३) उनकी प्रतीति, (४) धर्ममे प्रवर्तन करना। ये चार वस्तुएँ दुर्लभ हैं।

१८३. मिथ्यात्वके दो भेद हैं—(१) व्यक्त, (२) अव्यक्त। उसके तीन भेद भी किये हैं— (१) उत्कृष्ट, (२) मध्यम, (३) जघन्य। जब तक मिथ्यात्व होता है तब तक जीव पहले गुणस्थानकसे बाहर नहीं निकलता। तथा जब तक उत्कृष्ट मिथ्यात्व होता है तब तक वह मिथ्यात्व गुणस्थानक नही माना जाता। गुणस्थानक जीवाश्रयी है।

१८४. मिथ्यात्व द्वारा मिथ्यात्व मंद पड़ता हैं, और इसलिये वह जरा आगे चला कि तुरत वह मिथ्यात्व गुणस्थानकमे आता है।

१८५. गुणस्थानक यह आत्माके गुणको लेकर होता है।

१८६. मिथ्यात्वमेंसे जीव सम्पूर्ण न निकला हो परन्तु थोड़ा निकला हो तो भी उससे मिथ्यात्व मंद पड़ता है। यह मिथ्यात्व भी मिथ्यात्वसे मंद होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानकमे भी मिथ्यात्वका अंश कषाय हो, उस अंशसे भी मिथ्यात्वमेसे मिथ्यात्व गुणस्थानक कहा जाता है।

१८७. प्रयोजनभूत ज्ञानके मूलमे, पूर्ण प्रतीतिमें, वैसे ही आकारमे मिलते-जुलते अन्य मार्गकी समानताके अंशसे समानतारूप प्रतीति होना मिश्रगुणस्थानक है। परंतु अमुक दर्शन सत्य है, और अमुक दर्शन भी सत्य है, ऐसी दोनोंपर एकसी प्रतीति होना मिश्र नही परंतु मिथ्यात्वगुणस्थानक है। अमुक दर्शनसे अमुक दर्शन अमुक अंशमें मिलता जुलता है, ऐसा कहनेमें सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती; क्योंकि वहाँ तो अमुक दर्शनकी दूसरे दर्शनके साथ समानता करनेमें पहला दर्शन सम्पूर्णरूपसे प्रतीतिरूप होता है।

१८८. पहले गुणस्थानकसे दूसरेमें नही जाया जाता, परन्तु चौथेसे वापस लौटते हुए पहलेमें आनेके बीचका अमुक काल दूसरा गुणस्थानक है। उसे यदि चौथेके बाद पांचवां माना जाये तो चौथेसे पाँचवां ऊँचा ठहरता है और यहाँ तो सास्वादन चौथेसे पतित हुआ माना गया है, अर्थात् वह नीचा है इसलिये पाँचवां नहीं कहा जा सकता परन्तु दूसरा कहना ठीक है।

१८९. आवरण है यह बात निःसंदेह है, जिसे श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों कहते हैं; परन्तु आवरणको साथ लेकर कहनेमे एक दूसरेसे थोड़ा भेदवाला है।

१९०. दिगम्बर कहते हैं कि केवलज्ञान सत्तारूपसे नहीं परन्तु शक्तिरूपसे है।

१९१. यद्यपि सत्ता और शक्तिका सामान्य अर्थ एक है, परन्तु विशेषार्थकी दृष्टिसे कुछ फ़र्क है।

---

१९२. दृढतापूर्वक ओघ आस्थासे, विचारपूर्वक अभ्याससे 'विचारसहित आस्था' होती है।

१९३. तीर्थंकर जैसे भी संसारपक्षमे विशेष-विशेष समृद्धिके स्वामी थे, फिर भी उन्हे भी त्याग करनेकी जरूरत पड़ी थी, तो फिर अन्य जीवोंको वैसा किये बिना छुटकारा नहीं है।

१९४. त्यागके दो प्रकार हैं :—एक बाह्य और दूसरा अभ्यंतर। इसमेसे बाह्य त्याग अभ्यतर त्यागका सहकारी है। त्यागके साथ वैराग्य जोडा जाता है, क्योकि वैराग्य होनेपर ही त्याग होता है।

१९५. जीव ऐसा मानता है कि 'मै कुछ समझता हूँ, और जब मै त्याग करना चाहूँगा तब एकदम त्याग कर सकूँगा', परन्तु यह मानना भूलभरा होता है। जब तक ऐसा प्रसंग नहीं आया तब तक अपना जोर रहता है। जब ऐसा समय आता है तब शिथिल-परिणामी होकर मंद पड़ जाता है। इसलिये धीरे धीरे जीव जाँच करे और त्यागका परिचय करने लगे, जिससे मालूम हो कि त्याग करते समय परिणाम कैसे शिथिल हो जाते है ?

१९६. आँख, जीभ आदि इंद्रियोंकी एक एक अगुल जितनी जगहको जीतना भी जिसके लिये मुश्किल हो जाता है, अथवा जीतना असंभव हो जाता है, उसे बड़ा पराक्रम करनेका अथवा बड़ा क्षेत्र जीतनेका काम सौंपा हो तो वह किस तरह बन सकता है ? 'एकदम त्याग करनेका समय आये, तबकी बात तब', इस विचारकी ओर ध्यान रखकर अभी तो धीरे धीरे त्यागकी कमरत करनेकी जरूरत है। उसमे भी शरीर और शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाले सगे-सम्बन्धियोंके बारेमे पहले आजमाइश करनी है; और शरीरमे भी पहले आँख, जीभ और उपस्थ इन तीन इंद्रियोके विषयको देश-देशसे त्याग करनेकी तरफ लगाना है, और इसके अभ्याससे एकदम त्याग सुगम हो जाता है।

१९७. अभी जाँचके तौरपर अंश अंशसे जितना जितना त्याग करना है उसमे भी शिथिलता नही रखना, तथा रूढिका अनुसरण करके त्याग करनेकी बात भी नहीं है। जो कुछ त्याग करना वह शिथिलतारहित तथा छूट-छाटरहित करना, अथवा छूट-छाट रखनेकी जरूरत हो तो वह भी निश्चितरूपसे खुले तौरसे रखना, परन्तु ऐसी न रखना कि उसका अर्थ जिस समय जैसा करना हो वैसा हो सके। जब जिसकी जरूरत पड़े तब उसका इच्छानुसार अर्थ हो सके ऐसी व्यवस्था ही त्यागमे नही रखना। यदि ऐसी व्यवस्था की जाय कि अनिश्चितरूपसे अर्थात् जब जरूरत पडे तब मनमाना अर्थ हो सके, तो जीव शिथिल-परिणामी होकर त्याग किया हुआ सब कुछ बिगाड़ डालता है।

१९८. यदि अंशसे भी त्याग करें तो पहलेसे ही उसकी मर्यादा निश्चित करके और साक्षी रखकर त्याग करें, तथा त्याग करनेके बाद अपना मनमाना अर्थ न करें।

१९९. संसारमे परिभ्रमण करानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकड़ीरूप कषाय है, उसका स्वरूप भी समझने योग्य है। उसमे भी जो अनंतानुबधी कषाय है वह अनंत ससारमे भटकानेवाला है। उस कषायके क्षय होनेका क्रम सामान्यतः इस तरह है कि पहले क्रोधका और फिर क्रमसे मान, माया और लोभका क्षय होता है, और उसके उदय होनेका क्रम सामान्यतः इस तरह है कि पहले मान और फिर क्रमसे लोभ, माया और क्रोधका उदय होता है।

२००. इस कषायके असंख्यात भेद हैं। जिस रूपमे कषाय होता है उस रूपमें जीव संसार-परिभ्रमणके लिये कर्मबंध करता है। कषायमे बड़ेसे बड़ा बंध अनंतानुबंधी कषायका है। जो अंतर्मुहूर्तमें चालीस कोड़ाकोडी सागरोपमका बंध करता है, उस अनंतानुबंधीका स्वरूप भी जबरदस्त है। वह इस तरह कि मिथ्यात्वमोहरूपी एक राजाको भलीभाँति हिफाजतसे सैन्यके मध्यभागमे रखकर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार उसकी रक्षा करते हैं, और जिस समय जिसकी जरूरत होती है उस समय वह

बिना बुलाये मिथ्यात्वमोहकी सेवामें लग जाता है। इसके अतिरिक्त नोकषायरूप दूसरा परिवार है वह कषायके अग्रभागमे रहकर मिथ्यात्वमोहकी रखवाली करता है, परन्तु ये दूसरे सब चौकीदार नही—जैसे कषायका काम करते हैं। भटकानेवाला तो कषाय है। और उस कषायमे भी अनंतानुबंधी कषायके चार योद्धा बहुत ही मार डालते है। इन चार योद्धाओंमेंसे क्रोधका स्वभाव दूसरे तीनकी अपेक्षा कुछ भोला मालूम पड़ता है; क्योंकि उसका स्वरूप सबकी अपेक्षा जल्दी मालूम हो सकता है। इस तरह जब जिसका स्वरूप जल्दी मालूम हो जाये तब उसके साथ लड़ाई करनेमे क्रोधीकी प्रतीति हो जानेसे लड़नेकी हिम्मत आती है।

---

२०१ घनघाती चार कर्म—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय; जो आत्माके गुणोंको आवरण करनेवाले हैं। उनका एक प्रकारसे क्षय करना सरल भी है। वेदनीय आदि कर्म जो घनघाती नही हैं तो भी उनका एक प्रकारसे क्षय करना कठिन है। वह इस तरह कि वेदनीय आदि कर्मका उदय प्राप्त हो तो उनका क्षय करनेके लिये उन्हे भोगना चाहिये, उन्हे न भोगनेकी इच्छा हो तो भी वहाँ वह काम नही आती, भोगने ही चाहिये, और ज्ञानावरणीयका उदय हो तो यत्न करनेसे उसका क्षय हो जाता है। उदाहरणरूपमे, कोई श्लोक ज्ञानावरणीयके उदयसे याद न रहता हो तो उसे दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस, चौसठ, सौ अर्थात् अधिक बार रटनेसे ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम अथवा क्षय होकर याद रहता है; अर्थात् बलवान हो जानेसे उसका उसी भवमे अमुक अंशमे क्षय किया जा सकता है। इसी तरह दर्शनावरणीय कर्मके सम्बन्धमे समझें। मोहनीयकर्म जो महा बलशाली एवं भोला भी है, वह तुरत क्षय किया जा सकता है। जैसे उसका आना, आनेका वेग प्रबल है, वैसे वह जल्दीसे दूर भी हो सकता है। मोहनीयकर्मका तीव्र बंध होता है, तो भो वह प्रदेशबध न होनेसे तुरत क्षय किया जा सकता है। नाम, आयु आदि कर्म जिनका प्रदेशबंध होता है व केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद भी अंत तक भोगने पड़ते हैं; जब कि मोहनीय आदि चार कर्म उससे पहले ही क्षीण हो जाते हैं।

२०२. *'उन्माद' यह चारित्रमोहनीयका विशेष पर्याय है।* वह क्वचित् हास्य, क्वचित् शोक, क्वचित् रति, क्वचित् अरति, क्वचित् भय, और क्वचित् जुगुप्सारूपसे दिखायी देता है। कुछ अशसे उसका ज्ञानावरणीयमे भी समावेश होता है। स्वप्नमे विशेषरूपसे ज्ञानावरणीयके पर्याय मालूम होते है।

२०३. 'संज्ञा' यह ज्ञानका भाग है। परन्तु 'परिग्रहसंज्ञा'का 'लोभप्रकृति' में समावेश होता है; 'मैथुनसंज्ञा'का वेदप्रकृतिमें समावेश होता है; 'आहारसंज्ञा'का वेदनीयमे समावेश होता है, और 'भयसंज्ञा'का भयप्रकृतिमें समावेश होता है।

२०४ अनंत प्रकारके कर्म मुख्य आठ प्रकारसे और उत्तर एक सौ अट्ठावन प्रकारसे 'प्रकृति'के नामसे पहचाने जाते हैं। वह इस तरह कि अमुक अमुक प्रकृति अमुक अमुक गुणस्थानक तक होती है। इस तरह मापतोल कर ज्ञानीदेवने दूसरोंको समझानेके लिये स्थूल स्वरूपसे उमका विवेचन किया है। उसमें दूसरे कितने ही तरहके कर्म अर्थात् 'कर्मप्रकृति' का समावेश होता है। अर्थात् जिस जिस प्रकृतिके नाम कर्मग्रंथमे नहीं आते वे सब प्रकृतियाँ उपर्युक्त प्रकृतिके विशेष पर्याय है अथवा वे उपर्युक्त प्रकृतिमें समा जाते हैं।

२०५. 'विभाव' अर्थात् 'विरुद्धभाव' नहीं, परन्तु 'विशेषभाव'। आत्मा आत्मारूपसे परिणमित हो वह 'भाव' है अथवा 'स्वभाव' है। जब आत्मा और जड़का संयोग होनेसे आत्मा स्वभावसे आगे जाकर 'विशेषभाव' से परिणमित हो, वह 'विभाव' है। इसी तरह जड़के बारेमें भी समझें।

२०६. 'काल' के 'अणु' लोकप्रमाण असंख्यात हैं। उस अणुमे रुक्ष अथवा स्निग्ध गुण नहीं हैं। इसलिये एक अणु दूसरेमे नहीं मिलता, और प्रत्येक पृथक् पृथक् रहता है। परमाणु-पुद्गलमें वह गुण होनेसे मूल सत्ता कायम रहकर उसका (परमाणु-पुद्गलका) स्कंध होता है।

---

२०७. धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, (लोक) आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय उसके भी असंख्यात प्रदेश हैं। और उसके प्रदेशमे रुक्ष अथवा स्निग्ध गुण नही है, फिर भी वे कालकी तरह प्रत्येक अणु अलग अलग रहनेके बदले एक समूह होकर रहते हैं। इसका कारण यह है कि काल प्रदेशात्मक नहीं हैं, परन्तु अणु होकर पृथक् पृथक् है, और धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य प्रदेशात्मक है।

२०८. वस्तुको समझानेके लिये अमुक नयसे भेदरूपसे वर्णन किया गया है। वस्तुतः वस्तु, उसके गुण और पर्याय यों तीन पृथक् पृथक् नही हैं, एक ही है। गुण और पर्यायके कारण वस्तुका स्वरूप समझमें आता है। जैसे मिस्री यह वस्तु, मिठास यह गुण और खुरदरा आकार यह पर्याय है। इन तीनोंको लेकर मिस्री है। मिठासवाले गुणके बिना मिस्री पहचानी नही जा सकती। वैसा ही कोई खुरदरे आकार-वाला टुकड़ा हो, परन्तु उसमे खारेपनका गुण हो तो वह मिस्री नही परन्तु नमक है। इस जगह पदार्थकी प्रतीति अथवा ज्ञान, गुणके कारण होता है, इस तरह गुणी और गुण भिन्न नही है। फिर भी अमुक कारणको लेकर पदार्थका स्वरूप समझानेके लिये भिन्न कहे गये हैं।

२०९. गुण और पर्यायके कारण पदार्थ है। यदि वे दोनों न हो तो फिर पदार्थका होना न होनेके बराबर है, क्योंकि वह किस कामका है?

२१० एक दूसरेसे विरुद्ध पदवाली ऐसी त्रिपदी पदार्थमात्रमे रही हुई है। ध्रुव अर्थात् सत्ता-अस्तित्व पदार्थका सदा है। उसके होनेपर भी पदार्थमे उत्पाद और व्यय ये दो पद रहते हैं। पूर्व पर्यायका व्यय और उत्तर पर्यायका उत्पाद हुआ करता है।

२११. इस पर्यायके परिवर्तनसे काल मालूम होता है। अथवा उस पर्यायका परिवर्तन होनेमें काल सहकारी है।

२१२. प्रत्येक पदार्थमें समय-समयपर षटचक्र उठता है। वह यह कि संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यात-गुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनंतगुणहानि; जिसका स्वरूप श्री वीतरागदेव अवाक्गोचर कहते हैं।

२१३. आकाशके प्रदेशकी श्रेणि सम है। विषम मात्र एक प्रदेशकी विदिशाकी श्रेणि है। समश्रेणि छः हैं और वे दो प्रदेशी है। पदार्थमात्रका गमन समश्रेणिसे होता है, विषमश्रेणिसे नही होता। क्योंकि आकाशके प्रदेशकी समश्रेणि है। इसी तरह पदार्थमात्रमे अगुरुलघु धर्म है। उस धर्मके कारण पदार्थ विषमश्रेणिसे गमन नही कर सकता।

---

२१४. चक्षुरिंद्रियके सिवाय दूसरी इंद्रियोसे जो जाना जा सकता है उसका समावेश जाननेमें होता है।

२१५. चक्षुरिंद्रियसे जो देखा जाता है वह भी जानना है। जब तक संपूर्ण जानने-देखनेमें नहीं आता तब तक जानना अधूरा माना जाता है, केवलज्ञान नही माना जाता।

२१६. जहाँ त्रिकाल अवबोध है वहाँ सम्पूर्ण जानना होता है।

२१७. भासन शब्दमे जानना और देखना दोनोंका समावेश होता है।

२१८. जो केवलज्ञान है वह आत्मप्रत्यक्ष है अथवा अतींद्रिय है। जो अंधता है वह इन्द्रिय द्वारा देखनेका व्याघात है। वह व्याघात अतींद्रियको बाधक होना संभव नहीं है।

जब चार घनघाती कर्मोंका नाश होता है तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उन चार घनघातियोंमें एक दर्शनावरणीय है। उसकी उत्तर प्रकृतिमें एक चक्षुदर्शनावरणीय है उसका क्षय होनेके बाद केवलज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा जन्मांधता या अंधताका आवरण क्षय होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

अचक्षुदर्शन आँखके सिवाय दूसरी इंद्रियों और मनसे होता है। उसका भी जब तक आवरण होता है तब तक केवलज्ञान उत्पन्न नही होता। इसलिये जैसे चक्षुके लिये है वैसे दूसरी इंद्रियोंके लिये भी मालूम होता है।

२१९. ज्ञान दो प्रकारसे बताया गया है। आत्मा इंद्रियोंकी सहायताके बिना स्वतंत्ररूपसे जाने-देखे वह आत्मप्रत्यक्ष है। आत्मा इंद्रियोंकी सहायतासे अर्थात् आँख, कान, जिह्वा आदिसे जाने-देखे वह इंद्रियप्रत्यक्ष है। व्याघात और आवरणके कारणसे इंद्रियप्रत्यक्ष न हो तो इससे आत्मप्रत्यक्षको बाध नही है। जब आत्माको प्रत्यक्ष होता है, तब इंद्रियप्रत्यक्ष स्वयमेव होता है अर्थात् इंद्रियप्रत्यक्षके आवरणके दूर होनेपर ही आत्मप्रत्यक्ष होता है।

---

२२०. आज तक आत्माका अस्तित्व भासित नही हुआ। आत्माके अस्तित्वका भास होनेसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अस्तित्व सम्यक्त्वका अंग है। अस्तित्व यदि एक बार भी भासित हो तो वह दृष्टिके सामने रहा करता है, और सामने रहनेसे आत्मा वहाँसे हट नही सकता। यदि आगे बढे तो भी पैर पीछे पड़ते हैं, अर्थात् प्रकृति जोर नही मारती। एक बार सम्यक्त्व आनेके बाद वह पड़े तो फिर ठिकानेपर आ जाता है। ऐसा होनेका मूल कारण अस्तित्वका भासना है।

यदि कदाचित् अस्तित्वकी बात कही जाती हो तो भी वह कथन मात्र है, क्योंकि सच्चा अस्तित्व भासित नहीं हुआ।

२२१. जिसने बड़का वृक्ष न देखा हो उसे यह कहा जाये कि इस राईके दाने जितने बड़के बीजमेसे, लगभग एक मीलके विस्तारमे समाये इतना बड़ा वृक्ष हो सकता है तो यह बात उसके माननेमें नहीं आती और कहनेवालेको अन्यथा समझ लेता है। परन्तु जिसने बड़का वृक्ष देखा है और जिसे इस बात-का अनुभव है उसे बड़के बीजमे शाखा, मूल, पत्ते, फल, फूल आदि वाला बड़ा वृक्ष समाया हुआ है यह बात माननेमे आती है, प्रतीत होती है। पुद्गल रूपी पदार्थ है, मूर्तिमान है, उसके एक स्कंधके एक भागमें अनंत भाग हैं यह बात प्रत्यक्ष होनेसे मानी जाती है; परन्तु उतने ही भागमे जीव अरूपी एवं अमूर्त होनेसे अधिक समा सकते हैं। परंतु वहाँ अनंतके बदले असंख्यात कहा जाये तो भी माननेमें नही आता, यह आश्चर्यकारक बात है।

इस प्रकार प्रतीत होनेके लिये अनेक नय—रास्ते बताये गये हैं, जिससे किसी तरह यदि प्रतीति हो गयी तो बड़के बीजकी प्रतीतिकी भाँति मोक्षके बीजकी सम्यक्त्वरूपसे प्रतीति होती है; मोक्ष है यह निश्चय हो जाता है, इसमें कुछ भी शक नहीं है।

---

२२२ धर्मसंबंधी (श्री रत्नकरंड श्रावकाचार) :—

आत्माको स्वभावमें धारण करे वह धर्म है।

आत्माका स्वभाव धर्म है।

जो स्वभावमेंसे परभावमें नही जाने देता वह धर्म है।

परभाव द्वारा आत्माको दुर्गतिमें जाना पड़ता है। जो आत्माको दुर्गतिमें न जाने देकर स्वभावमें रखता है वह धर्म है।

सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और स्वरूपाचरण धर्म है। वहाँ बंधका अभाव है।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र इस रत्नत्रयीको श्री तीर्थंकरदेव धर्म कहते हैं।

षड्द्रव्यका श्रद्धान, ज्ञान और स्वरूपाचरण धर्म है।

जो संसारपरिभ्रमणसे छुडाकर उत्तम सुखमें धारण करता है वह धर्म है।

आप्त अर्थात् सब पदार्थोंको जानकर उनके स्वरूपका सत्यार्थ प्रगट करनेवाला।

आगम अर्थात् आप्तकथित पदार्थकी शब्दद्वारा रचनारूप शास्त्र।

आप्तप्ररूपित शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला, आप्तप्रदर्शित मार्गमें चलता है वह सद्गुरु है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् सत्य आप्त, शास्त्र और गुरुका श्रद्धान।

सम्यग्दर्शन तीन मूढतासे रहित, निःशंक आदि आठ अंगसहित, आठ मद और छः अनायतनसे रहित है।

सात तत्त्व अथवा नव पदार्थके श्रद्धानको शास्त्रमें सम्यग्दर्शन कहा है। परन्तु दोषरहित शास्त्रके उपदेशके बिना सात तत्त्वका श्रद्धान किस तरह होगा? निर्दोष आप्तके बिना सत्यार्थ आगम किस तरह प्रगट होगा? इसलिये सम्यग्दर्शनका मूल कारण सत्यार्थ आप्त ही है।

आप्तपुरुष क्षुधातृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित होता हैं।

धर्मका मूल आप्त भगवान है।

आप्त भगवान निर्दोष सर्वज्ञ और हितोपदेशक है।

९५९

श्री

व्याख्यानसार–२

१ * मोरबी, आषाढ़ सुदी ४, १९५६

१. ज्ञानके साथ वैराग्य और वैराग्यके साथ ज्ञान होता है। वे अकेले नहीं होते।

२. वैराग्यके साथ श्रृङ्गार नहीं होता, और श्रृंगारके साथ वैराग्य नहीं होता।

३. वीतराग वचनके असरसे जिसे इन्द्रियसुख नीरस न लगे तो उसने ज्ञानीके वचन सुने ही नहीं, ऐसा समझें।

४. ज्ञानीके वचन विषयका वमन, विरेचन करानेवाले हैं।

५. छद्मस्थ अर्थात् आवरणयुक्त।

६. शैलेशीकरण = शैल = पर्वत + ईश = महान, अर्थात् पर्वतोंमें महान मेरुके समान अकंपगुणवाला।

७. अकंपगुणवाला = मन, वचन और कायाके योगकी स्थिरतावाला।

८. मोक्षमें आत्माके अनुभवका यदि नाश होता हो तो वह मोक्ष किस कामका ?

९. आत्माका ऊर्ध्वस्वभाव है, तदनुसार आत्मा पहले ऊँचे जाता है और कदाचित् सिद्ध शिलासे टकराये; परन्तु कर्मरूपी बोझ होनेसे नीचे आता है। जैसे कि डूबा हुआ मनुष्य उछालसे एक बार ऊपर आ जाता है वैसे।

१०. भरतेश्वरकी कथा। (भरत चेत, काल झटका दे रहा है।)

११. सगर चक्रवर्तीकी कथा। (६०००० पुत्रोंकी मृत्युके श्रवणसे वैराग्य।)

१२. नमिराजर्षिकी कथा। (मिथिला जलती हुई दिखायी इत्यादि।)

---

२ मोरबी, आषाढ़ सुदी ५, सोम, १९५६

१. जैन आत्माका स्वरूप है। उस स्वरूप (धर्म) के प्रवर्तक भी मनुष्य थे। जैसे कि वर्तमान अवसर्पिणीकालमें ऋषभ आदि पुरुष उस धर्मके प्रवर्तक थे। बुद्ध आदि पुरुषोंको भी उस उस धर्मके प्रवर्तक जानें। इससे कुछ अनादि आत्मधर्मका विचार न था ऐसा नहीं था।

---

*. वि० सं० १९५६ के आषाढ़ और श्रावणमें श्रीमद्जी मोरबीमें ठहरे थे। उस अरसेमें उन्होंने समय-समयपर जो व्याख्यान दिये थे और मुमुक्षुओंके प्रश्नोंका समाधान किया था, उस सबका सार एक मुमुक्षु श्रोताने संक्षेपमें लिख लिया था। वही संक्षिप्त सार यहाँ दिया गया है।

२ लगभग दो हजार वर्ष पहले जैन यति शेखरसूरि आचार्यने वैश्योको क्षत्रियोके साथ मिलाया।

३ 'ओसवाल' 'ओरपाक' जातिके राजपूत हैं।

४ उत्कर्ष, अपकर्ष और संक्रमण ये सत्तामे रही हुई कर्म-प्रकृतिके हो सकते है, उदयमे आई हुई प्रकृतिके नहीं हो सकते।

५ आयुकर्मका जिस प्रकारसे बंध होता है उस प्रकारसे देहस्थिति पूर्ण होती है।

६. अंधेरेमें नहीं देखना, यह एकांत दर्शनावरणीय कर्म नही कहा जाता, परन्तु मंद दर्शनावरणीय कहा जाता है। तमके निमित्तसे और तेजके अभावके कारण वैसा होता है।

७ दर्शन रुकनेपर ज्ञान रुक जाता है।

८ ज्ञेय जाननेके लिये ज्ञानको बढाना चाहिये। जैसा वजन वैसे बाट।

९. जैसे परमाणुकी शक्ति पर्यायको प्राप्त करनेसे बढ़ती जाती है, वैसे ही चैतन्यद्रव्यकी शक्ति विशुद्धताको प्राप्त करनेसे बढती जाती है। काँच, चश्मा, दूरबीन आदि पहले (परमाणु) के प्रमाण है, और अवधि, मन पर्याय, केवलज्ञान, लब्धि, ऋद्धि आदि दूसरे (चैतन्यद्रव्य) के प्रमाण हैं।

---

३ मोरबी, आषाढ़ सुदी ६, मंगल, १९५६

१ क्षयोपशमसम्यक्त्वको वेदकसम्यक्त्व भी कहा जाता है। परन्तु क्षयोपशममेसे क्षायिक होनेकी संधिके समयका जो सम्यक्त्व है वह वस्तुतः वेदकसम्यक्त्व है।

२ पाँच स्थावर एकेन्द्रिय बादर है, तथा सूक्ष्म भी है। निगोद बादर और सूक्ष्म है। वनस्पतिके सिवाय बाकीके चारमे असंख्यात सूक्ष्म कहे जाते हैं। निगोद सूक्ष्म अनंत हैं, और वनस्पतिके सूक्ष्म अनंत है, वहाँ निगोदमे सूक्ष्म वनस्पति होती है।

३. श्री तीर्थंकर ग्यारहवें गुणस्थानकका स्पर्श नही करते, इसी तरह वे पहले, दूसरे तथा तीसरेका भी स्पर्श नही करते।

४. वर्धमान, हीयमान और स्थित ऐसी जो परिणामकी तीन धाराएँ है, उनमे हीयमान परिणामकी धारा सम्यक्त्व-आश्रयी (दर्शन-आश्रयी) श्री तीर्थंकरदेवको नही होती, और चारित्रआश्रयी भजना।

५ जहाँ क्षायिकचारित्र है वहाँ मोहनीयका अभाव है, और जहाँ मोहनीयका अभाव है वहाँ पहला, दूसरा, तीसरा और ग्यारहवाँ इन चार गुणस्थानकोंकी स्पर्शनाका अभाव है।

६ उदय दो प्रकारका है—एक प्रदेशोदय और दूसरा विपाकोदय। विपाकोदय बाह्य (दीखती हुई) रीतिसे वेदन किया जाता है, और प्रदेशोदय भीतरसे वेदन किया जाता है।

७. आयुकर्मका बंध प्रकृतिके बिना नही होता, परन्तु वेदनीयका होता है।

८. आयुप्रकृतिका वेदन एक ही भवमे किया जाता है। दूसरी प्रकृतियोका वेदन उस भव और अन्य भवमे भी किया जाता है।

९. जीव जिस भवकी आयुप्रकृति भोगता है, वह सारे भवकी एक ही बधप्रकृति है। उस बंध-प्रकृतिका उदय आयुके आरंभसे गिना जाता है। इसलिये उस भवकी जो आयुप्रकृति उदयमे है उसमे संक्रमण, उत्कर्ष, अपकर्ष आदि नहीं हो सकते।

१० आयुकर्मकी प्रकृति दूसरे भवमे नही भोगी जाती।

११. गति, जाति, स्थिति, संबंध, अवगाह (शरीरप्रमाण) और रस इन्हे अमुक जीव अमुक प्रमाणमे भोगे इसका आधार आयुकर्मपर है। जैसे कि एक मनुष्यको सौ वर्षकी आयुकर्म प्रकृतिका उदय

हो, उसमेंसे वह अस्सीवें वर्षमे अधूरी आयुमे मर जाये तो बाकीके बीस वर्ष कहाँ और किस तरह भोगे जायें ? दूसरे भवमे गति, जाति, स्थिति, संबंध आदि नये सिरेसे होते हैं, इक्यासीवें वर्षसे नही होते। इसलिये आयुकी उदयप्रकृति बीचमे नही टूट सकती। जिस जिस प्रकारसे बंध पड़ा हो उस उस प्रकारसे उदयमे आनेसे किसीकी दृष्टिमे कदाचित् आयुका टूटना आये, परंतु ऐसा नही हो सकता।

१२. जब तक आयुकर्मवर्गणा सत्तामे होती है तब तक संक्रमण, अपकर्ष, उत्कर्ष आदि करणका नियम लागू हो सकता है; परन्तु उदयका आरंभ होनेके बाद लागू नही हो सकता।

१३. आयुकर्म पृथ्वीके समान है और दूसरे कर्म वृक्षके समान हैं। (यदि पृथ्वी हो तो वृक्ष होता है।)

१४. आयुके दो प्रकार हैं—(१) सोपक्रम और (२) निरुपक्रम। इनमेसे जिस प्रकारकी आयु बाँधी हो उसी प्रकारकी आयु भोगी जाती है।

१५ उपशमसम्यक्त्व क्षयोपशम होकर क्षायिक होता है, क्योकि उपशममे जो प्रकृतियाँ सत्तामे है वे उदयमे आकर क्षीण होती है।

१६. चक्षुके दो प्रकार है—(१) ज्ञानचक्षु और (२) चर्मचक्षु। जैसे चर्मचक्षुसे एक वस्तु जिस स्वरूपसे दिखायी देती हैं वह वस्तु दूरबीन तथा सूक्ष्मदर्शक आदि यन्त्रोसे भिन्न स्वरूपसे ही दिखायी देती है; वैसे चर्मचक्षुसे वह जिस स्वरूपमे दिखायी देती है, वह ज्ञानचक्षुसे किसी भिन्न स्वरूपसे ही दिखायी देती है और उसी तरह कही जाती है; उसे हम अपनी चतुराई, अहत्वसे न मानें यह योग्य नही है।

---

४ मोरबी, आषाढ सुदी ७, बुध, १९५६

१. श्रीमान कुन्दकुन्दाचार्यने अष्टपाहुड (अष्टप्राभृत) रचा है। प्राभृतभेद—दर्शनप्राभृत, ज्ञानप्राभृत, चारित्रप्राभृत, भावप्राभृत इत्यादि। दर्शनप्राभृतमे जिनभावका स्वरूप बताया है।

शास्त्रकर्ता कहते हैं कि अन्य भावोका हमने, आपने और देवाधिदेव तकने पूर्वकालमे भावन किया है, और उससे कार्य सिद्ध नही हुआ, इसलिये जिनभावका भावन करनेकी जरूरत है। जो जिनभाव शात है, आत्माका धर्म है और उसका भावन करनेसे ही मुक्ति होती है।

२ चारित्रप्राभृत।

३ द्रव्य और उसके पर्याय माननेमे नही आते; वहाँ विकल्प होनेसे उलझ जाना होता है। पर्यायोको न माननेका कारण, उतने अंश तक नही पहुँचना है।

४ द्रव्यके पर्याय है ऐसा माना जाता है, वहाँ द्रव्यका स्वरूप समझनेमे विकल्प रहनेसे उलझ जाना होता है, और इसीसे भटकना होता है।

५ सिद्धपद द्रव्य नही है, परन्तु आत्माका एक शुद्ध पर्याय है। उससे पहले मनुष्य अथवा देव था, तब वह पर्याय था, यो द्रव्य शाश्वत रहकर पर्यायातर होता है।

६ शातता प्राप्त होनेसे ज्ञान बढ़ता है।

७. आत्मसिद्धिके लिये द्वादशागीका ज्ञान प्राप्त करते हुए बहुत समय चला जाता है; जब कि एक मात्र शातताका सेवन करनेसे तुरत प्राप्त होता है।

८ पर्यायका स्वरूप समझानेके लिये श्री तीर्थंकरदेवने त्रिपद (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) समझाया है।

९. द्रव्य ध्रुव सनातन है।

१०. पर्याय उत्पादव्यययुक्त है।

११. छहों दर्शन एक जैनदर्शनमे समाते हैं। उनमे भी जैन एक दर्शन है। बौद्ध—क्षणिकवादी = पर्यायरूपसे 'सत्' है। वेदांत—सनातन = द्रव्यरूपसे 'सत्' है। चार्वाक निरीश्वरवादी जब तक आत्माकी प्रतीति नहीं हुई तब तक उसे पहचाननेरूपसे 'सत्' है।

१२. जीवपर्यायके दो भेद है—ससारपर्याय और सिद्धपर्याय। सिद्धपर्याय शत प्रतिशत शुद्ध सुवर्णके समान है और संसारपर्याय खोटसहित सुवर्णके समान है।

१३. व्यंजनपर्याय।

१४. अर्थपर्याय।

१५. विषयका नाश (वेदका अभाव) क्षायिकचारित्रसे होता है। चौथे गुणस्थानकमे विषयकी मंदता होती है, और नौवें गुणस्थानक तक वेदका उदय होता है।

१६. जो गुण अपनेमे नही है वह गुण अपनेमें है, ऐसा जो कहता है अथवा मनवाता है, उसे मिथ्यादृष्टि समझें।

१७. जिन और जेन शब्दका अर्थ—

> [1]"घट घट अन्तर जिन बसै, घट घट अन्तर जैन।
> मत मदिराके पानसें, मतवारा समजे न॥" —समयसार

१८ सनातन आत्मधर्म है शात होना, विराम पाना, सारी द्वादशागीका सार भी यही है। वह षड्दर्शनमे समा जाता है, और वह षड्दर्शन जैनदर्शनमे समा जाता है।

१९. वीतरागके वचन विषयका विरेचन करानेवाले है।

२० जैनधर्मका आशय, दिगम्बर तथा श्वेताबर आचार्योंका आशय, और द्वादशागीका आशय मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त कराना है, और यही साररूप है। इस बातमे किसी प्रकारसे ज्ञानियों-का विकल्प नही है। यही तीनो कालके ज्ञानियोका कथन है, था और होगा, परन्तु वह समझमे नही आता यही बडी समस्या है।

२१. बाह्य विषयोसे मुक्त होकर ज्यो ज्यों उसका विचार किया जाये त्यो त्यो आत्मा अविरोधी होता जाता है; निर्मल होता है।

२२ भंगजालमे न पड़ें। मात्र आत्माकी शातिका विचार करना योग्य है।

२३. ज्ञानी यद्यपि वणिककी तरह हिसाबी (सूक्ष्मरूपसे शोधन कर तत्त्वोको स्वीकार करनेवाले) होते हैं, तो भी आखिर लोग जैसे लोग (एक सारभूत बातको पकड रखनेवाले) होते है। अर्थात् अंतमे चाहे जो हो परन्तु एक शाततासे नही चूकते, और सारी द्वादशागीका सार भी यही है।

२४. ज्ञानी उदयको जानते हे, परन्तु वे साता-असातामे परिणमित नही होते।

२५. इंद्रियोके भोगसहित मुक्ति नही है। जहाँ इद्रियोका भोग है वहाँ ससार है, और जहाँ संसार है वहाँ मोक्ष नही है।

२६ बारहवें गुणस्थानक तक ज्ञानीका आश्रय लेना है, ज्ञानीकी आज्ञासे वर्तन करना है।

२७ महान आचार्यों और ज्ञानियोमे दोष तथा भूलें नही होती। अपनी समझमे न आनेसे हम भूल मानते हैं। हमारेमे ऐसा ज्ञान नही है कि जिससे अपनी समझमे आ जाये। इसलिये वैसा ज्ञान प्राप्त होनेपर जो ज्ञानीका आशय भूलवाला लगता है, वह समझमे आ जायेगा, ऐसी भावना रखें। परस्पर

---

१. भावार्थ—प्रत्येक हृदयमे जिनराज और जैनधर्मका निवास है, परतु सम्प्रदाय-मदिराके पानसे मतवाले लोग नहीं समझते।

आचार्योंके विचारमें यदि किसी जगह कुछ भेद देखनेमे आये तो वह क्षयोपशमके कारण संभव है, परन्तु वस्तुतः उसमे विकल्प करना योग्य नही है।

२८. ज्ञानी बहुत चतुर थे। वे विषयसुख भोगना जानते थे, उनको पाँचों इन्द्रियाँ पूर्ण थी, (जिसकी पाँचो इंद्रियाँ पूर्ण होती है वही आचार्यपदवीके योग्य होता है।) फिर भी यह संसार (इंद्रियसुख) निःसार लगनेसे तथा आत्माके सनातन धर्ममें श्रेय मालूम होनेसे वे विषयसुखसे विरत होकर आत्माके सनातन धर्ममे संलग्न हुए है।

२९. अनंतकालसे जीव भटकता है, फिर भी उसका मोक्ष नही हुआ। जब कि ज्ञानीने एक अंतर्मुहूर्तमे मोक्ष बताया है!

३० जीव ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार शातिमे रहे तो अंतर्मुहूर्तमे मुक्त होता है।

३१. अमुक वस्तुओंका व्यवच्छेद हो गया है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु उनके लिये पुरुषार्थ नही किया जाता, इसलिये उनके व्यवच्छेदकी बात कही जाती है। यदि उनके लिये सच्चा–जैसा चाहिये वैसा–पुरुषार्थ हो तो वे गुण प्रगट होते है इसमे सशय नही है। अंग्रेजोने उद्यम किया तो हुन्नर और राज्य प्राप्त किये, और हिन्दुस्तानियोने उद्यम नही किया तो प्राप्त नही कर सके, इसलिये विद्या (ज्ञान) का व्यवच्छेद हुआ ऐसा नही कहा जा सकता।

३२. विषय क्षीण नही हुए, फिर भी जो जीव अपनेमे वर्तमानमे गुण मान बैठे है, उन जीवो जैसी भ्रांति न करते हुए उन विषयोंका क्षय करनेकी ओर ध्यान दें।

---

५ मोरबी, आषाढ सुदी ८, गुरु, १९५६

१. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमे मोक्ष प्रथम तीनसे बढकर है, मोक्षके लिये बाकी तीन हैं।

२. सुखरूप आत्माका धर्म है, ऐसा प्रतीत होता है। वह सोनेकी तरह शुद्ध है।

३. कर्मसे सुखदुःख सहन करते हुए भी परिग्रहके उपार्जन तथा उसके रक्षणके लिये सब प्रयत्न करते हैं। सब सुखको चाहते हैं, परन्तु वे परतंत्र है। परतंत्रता प्रशंसापात्र नही है, वह दुर्गतिका हेतु है। अतः सच्चे सुखके इच्छुकके लिये मोक्षमार्गका वर्णन किया गया है।

४. वह मार्ग (मोक्ष) रत्नत्रयकी आराधनासे सब कर्मोंका क्षय होनेसे प्राप्त होता है।

५. ज्ञानी द्वारा निरूपित तत्त्वोंका यथार्थ बोध होना 'सम्यग्ज्ञान' है।

६. जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बध और मोक्ष ये तत्त्व हैं। यहा पुण्य-पाप आस्रवमे गिने हैं।

७ जीवके दो भेद—सिद्ध और संसारी।

सिद्ध :—अनंत ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, ये सिद्धके स्वभाव समान हैं फिर भी अनंतर परंपरा होनेरूप पन्द्रह भेद इस प्रकार कहे है—(१) तीर्थ, (२) अतीर्थ, (३) तीर्थंकर, (४) अतीर्थंकर, (५) स्वयंबुद्ध, (६) प्रत्येक बुद्ध, (७) बुद्धबोधित, (८) स्त्रीलिंग, (९ पुरुषलिंग, (१०) नपुंसकलिंग, (११) अन्यलिंग (१२) जैनलिंग, (१३) गृहस्थलिंग, (१४) एक, (१५) अनेक।

संसारी :— संसारी जीव एक प्रकारसे, दो प्रकारसे इत्यादि अनेक प्रकारसे कहे हैं।

एक प्रकार :—सामान्यरूपसे 'उपयोग' लक्षणवाले सर्व संसारी जीव है।

दो प्रकार :—त्रस, स्थावर अथवा व्यवहारराशि, अव्यवहारराशि। सूक्ष्म निगोदमेंसे निकलकर एक बार त्रसपर्यायको प्राप्त किया है, वह 'व्यवहारराशि'।

फिर वह सूक्ष्म निगोदमे जाये तो भी वह 'व्यवहारराशि'। अनादिकालसे सूक्ष्म निगोदमेसे निकल कर कभी त्रसपर्यायको प्राप्त नही किया है वह 'अव्यवहारराशि'।

तीन प्रकार —सयत, असयत और संयतासंयत अथवा स्त्री, पुरुष और नपुसक।

चार प्रकार .—गतिकी अपेक्षासे।

पाँच प्रकार —इद्रियकी अपेक्षासे।

छ प्रकार :—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस।

सात प्रकार —कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल और अलेशी। (चौदहवें गुणस्थानकवाले जीव लेना परन्तु सिद्ध न लेना, क्योंकि ससारी जीवकी व्याख्या है।)

आठ प्रकार —अडज, पातज, जरायुज, स्वेदज, रसज, संमूर्च्छन, उद्भिज और उपपाद।

नौ प्रकार :—पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पचेन्द्रिय।

दस प्रकार —पाच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, संज्ञी और असज्ञी पचेन्द्रिय।

ग्यारह प्रकार —सूक्ष्म, बादर, तीन विकलेन्द्रिय, और पचेन्द्रियमे जलचर, स्थलचर, नभश्चर, मनुष्य, देवता और नारक।

बारह प्रकार —छकायके पर्याप्त और अपर्याप्त।

तेरह प्रकार :—उपर्युक्त बारह भेद सव्यवहारिक तथा एक असव्यवहारिक (सूक्ष्म निगोदका)।

चौदह प्रकार .—गुणस्थानक-आश्रयी, अथवा सूक्ष्म, बादर, तीन विकलेन्द्रिय, तथा सज्ञी, असज्ञी इन सातके पर्याप्त और अपर्याप्त।

इस तरह बुद्धिमान पुरुषोने सिद्धातके अनुसार जीवके अनेक भेद (विद्यमान भावोके भेद) कहे हैं।

---

६ मोरबी, आषाढ सुदी ९, शुक्र, १९५६

१ 'जातिस्मरणज्ञान'के विषयमे जो शका रहती है, उसका समाधान इस प्रकारसे होगा :—जैसे बाल्यावस्थामे जो कुछ देखा हो अथवा अनुभव किया हो उसका स्मरण वृद्धावस्थामें किसी-किसीको होता है और किसी-किसीको नही होता, वैसे ही पूर्वभवका भान किसी-किसीको रहता है और किसी-किसीको नही रहता। न रहनेका कारण यह है कि पूर्वदेहको छोडते समय बाह्य पदार्थोमे जीव आसक्त रह कर मरण करता है और नयी देह प्राप्त कर उसीमे आसक्त रहता है, उसे पूर्वपर्यायका भान नही रहता। इससे उलटी रीतसे प्रवृत्ति करनेवालेको अर्थात् जिसने अवकाश रखा हो उसे पूर्वभव अनुभवमें आता है।

२ एक सुन्दर वनमे आपके आत्मामे क्या निर्मलता है, जिसे जाँचते हुए आपको अधिकसे अधिक स्मृति होती है या नही ? आपकी शक्ति भी हमारी शक्तिकी तरह स्फुरायमान क्यों नही होती ? उसके कारण विद्यमान हैं। प्रकृतिबंधमे उसके कारण बताये है। 'जातिस्मरणज्ञान' मतिज्ञानका भेद है।

एक मनुष्य बीस वर्षका और दूसरा मनुष्य सौ वर्षका होकर मर जाये, उन दोनोने पाँच वर्षकी उमरमे जो देखा या अनुभव किया हो वह यदि अमुक वर्ष तक स्मृतिमे रह सकता हो तो बीस वर्षमे मर जाये उसे इक्कीसवें वर्षमे फिरसे जन्म लेनेके बाद स्मृति होनी चाहिये परन्तु वैसा होता नही है। कारण कि पूर्वपर्यायमें उसके स्मृतिके साधन पर्याप्त न होनेसे, पूर्वपर्यायको छोडते समय मृत्यु आदि वेदनाके कारण, नयी देह धारण करते समय गर्भावासके कारण, बचपनमे मूढताके कारण और वर्तमान देहमे अति लीनताके कारण पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेका अवकाश ही नही मिलता, तथापि जिस तरह गर्भावास तथा बचपन स्मृतिमे न रहे, इससे वे नही थे ऐसा नही कह सकते, उसी तरह उपर्युक्त कारणोंसे पूर्वपर्याय

स्मृतिमें न रहे, इससे वे नहीं थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस तरह आम आदि वृक्षोंकी कलम की जाती है, उसमें सानुकूलता हो तो होती है, उसी तरह यदि पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेके लिये क्षयोपशमादि सानुकूलता (योग्यता) हो तो 'जातिस्मरणज्ञान' होता है। पूर्वसंज्ञा कायम होनी चाहिये। असंज्ञीका भव आनेसे 'जातिस्मरणज्ञान' नहीं होता।

कदाचित् स्मृतिका काल थोड़ा कहे तो सौ वर्षका होकर मर जानेवाले व्यक्तिने पाँच वर्षकी उमरमें जो देखा अथवा अनुभव किया हो वह पंचानवें वर्षमें स्मृतिमें नहीं रहना चाहिये, परन्तु यदि पूर्व-संज्ञा कायम हो तो स्मृतिमें रहता है।

३ आत्मा है। आत्मा नित्य है। उसके प्रमाण :—

(१) बालकको स्तनपान करते हुए चुक-चुक करना क्या कोई सिखाता है? वह तो पूर्वाभ्यास है। (२) सर्प और मोरका, हाथी और सिंहका, चूहे और बिल्लीका स्वाभाविक वैर है। उसे कोई नहीं सिखाता। पूर्वभवके वैरकी स्वाभाविक संज्ञा है, पूर्वज्ञान है।

४. निःसंगता वनवासीका विषय है ऐसा ज्ञानियोंने कहा है, वह सत्य है। जिसमें दो व्यवहार-सांसारिक और असांसारिक होते हैं, उससे निःसंगता नहीं होती।

५. संसार छोड़े बिना अप्रमत्तगुणस्थानक नहीं है। अप्रमत्त गुणस्थानककी स्थिति अंतर्मुहूर्तकी है।

६ 'हम समझ गये हैं', 'हम शांत हैं', ऐसा जो कहते हैं वे तो ठगे गये हैं।

७ संसारमें रहकर सातवें गुणस्थानकसे आगे नहीं बढ़ सकते, इससे संसारीको निराश नहीं होना है, परन्तु उसे ध्यानमें रखना है।

८ पूर्वकालमें स्मृतिमें आयी हुई वस्तुको फिर शांतिसे याद करे तो यथास्थित याद आ जाती है। अपना दृष्टांत देते हुए बताया कि उन्हें ईडर और वसोके शांत स्थान याद करनेसे तद्रूप याद आ जाते हैं। तथा खंभातके पास वडवा गाँवमें ठहरे थे, वहाँ बावडीके पीछे थोड़े ऊँचे टीलेके पास बाड़के आगे जाकर रास्ता, फिर शांत और शीतल अवकाशका स्थान था। उन स्थानोंमें स्वयं शांत समाधिस्थ दशामें बैठे थे, वह स्थिति आज उन्हें पाँच सौ बार स्मृतिमें आयी है। दूसरे भी उस समय वहाँ थे। परन्तु सभीको उस प्रकारसे याद नहीं आता। क्योंकि वह क्षयोपशमके अधीन है। स्थल भी निमित्त कारण है।

९ *ग्रंथिके दो भेद हैं :—एक द्रव्य, बाह्य ग्रंथि (चतुष्पद, द्विपद, अपद इत्यादि); दूसरी भाव-अभ्यंतर ग्रंथि (आठ कर्म इत्यादि)। सम्यक् प्रकारसे जो दोनों ग्रंथियोंसे निवृत्त हो वह 'निर्ग्रंथ' है।

१० मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति आदि भाव जिसे छोड़ने ही नहीं है उसे वस्त्रका त्याग हो, तो भी वह पारलौकिक कल्याण क्या कर सकता है?

११ सक्रिय जीवको अबंधका अनुष्ठान हो ऐसा कभी नहीं होता। क्रिया होनेपर भी अबंध गुण-स्थानक नहीं होता।

१२ राग आदि दोषोंका क्षय हो जानेसे उनके सहायक कारणोंका क्षय होता है। जब तक संपूर्णरूपसे उनका क्षय नहीं होता तब तक मुमुक्षुजीव संतोष मानकर नहीं बैठते।

१३ राग आदि दोष और उनके सहायक कारणोंके अभावमें बंध नहीं होता। राग आदिके प्रयोगसे कर्म होता है। उनके अभावमें सब जगह कर्मका अभाव समझें।

---

* धर्मसंग्रहणी ग्रंथ गाथा १०७०, १०७१, १०७४, १०७५।

१४ आयुकर्मसंबंधी—(कर्मग्रंथ)

(अ) अपवर्तन = जो विशेष कालका हो वह कर्म थोडे कालमे वेदा जा सकता है। उसका कारण पूर्वका वैसा बध है, जिसमे वह इस प्रकारसे उदयमे आता है और भोगा जाता है।

(आ) 'टूट गया' शब्दका अर्थ बहुतसे लोग 'दो भाग हुए' ऐसा करते है, परन्तु वैसा अर्थ नही है। जिस तरह 'कर्जा टूट गया' शब्दका अर्थ 'कर्जा उतर गया, कर्जा दे दिया' ऐसा होता है, उसी तरह 'आयु टूट गयी' शब्दका आशय समझें।

(इ) सोपक्रम = शिथिल, जिसे एकदम भोग लिया जाये।

(ई) निरुपक्रम = निकाचित। देव, नारक, युगलिया, त्रिषष्ठी शलाकापुरुष और चरमशरीरीको वह होता है।

(उ) प्रदेशोदय = प्रदेशको आगे लाकर वेदन करना वह 'प्रदेशोदय'। प्रदेशोदयसे ज्ञानी कर्मका क्षय अंतर्मुहूर्तमें करते है।

(ऊ) 'अनपवर्तन' और 'अनुदीरणा' इन दोनोका अर्थ मिलता-जुलता है, तथापि अंतर यह है कि 'उदीरणा'मे आत्माकी शक्ति है, और 'अनपवर्तन'मे कर्मकी शक्ति है।

(ए) आयु घटती है, अर्थात् थोडे कालमे भोगी जाती है।

१५ असाताके उदयमे ज्ञानकी कसौटी होती है।

१६ परिणामकी धारा थरमामीटरके समान है।

---

७ मोरबी, आषाढ सुदी १०, शनि, १९५६

१ मोक्षमालामेसे :—

असमंजसता = अमिलनता, अस्पष्टता।

विषम = जैसे तैसे।

आर्य = उत्तम। 'आर्य' शब्द श्री जिनेश्वर, मुमुक्षु, तथा आर्यदेशके रहनेवालेके लिये प्रयुक्त होता है

निक्षेप = प्रकार, भेद, भाग।

भयत्राण = भयसे तारनेवाला, शरण देनेवाला।

२. हेमचद्राचार्य धधुकाके मोढ वणिक थे। उन महात्माने कुमारपाल राजासे अपने कुटुबके लिये एक क्षेत्र भी नही माँगा था, तथा स्वय भी राजाके अन्नका एक ग्राम भी नही लिया था ऐसा श्री कुमारपालने उन महात्माके अग्निदाहके समय कहा था। उनके गुरु देवचद्रसूरि थे।

---

८ मोरबी, आषाढ सुदी ११, रवि, १९५६

१. सरस्वती = जिनवाणीकी धारा।

२. (१) बाँधनेवाला, (२) बाँधनेके हेतु, (३) बंधन और (४) बंधनके फलसे सारे संसारका प्रपंच रहता है ऐसा श्री जिनेन्द्रने कहा है।

---

९ मोरबी, आषाढ सुदी १२, सोम, १९५६

१. श्री यशोविजयजीने 'योगदृष्टि' ग्रन्थमे छठी 'कातादृष्टि'मे बताया है कि वीतरागस्वरूपके सिवाय अन्यत्र कही भी स्थिरता नही हो सकती; वीतरागसुखके सिवाय अन्य सुख निःसत्व लगता है, आडबररूप लगता है। पाँचवी 'स्थिरादृष्टि' मे बताया है कि वीतरागसुख प्रियकारी लगता है। आठवी 'परादृष्टि' मे बताया है कि 'परमावगाढ सम्यक्त्व' का सभव है, जहाँ केवलज्ञान होता है।

२ 'पातंजलयोग' के कर्ताको सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ था, परन्तु हरिभद्रसूरिने उन्हे मार्गानुसारी माना है।

३ हरिभद्रसूरिने उन दृष्टियोका अध्यात्मरूपसे संस्कृतमे वर्णन किया है, और उसपरसे यशोविजय-जी महाराजने पद्यरूपसे गुजरातीमे लिखा है।

४. 'योगदृष्टि' मे छहो भाव—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक, और सान्निपातिक—का समावेश होता है। ये छ भाव जीवके स्वतत्त्वभूत हैं।

५ जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक मौन रहना ठीक है। नही तो अनाचार दोष लगता है। इस विषयमे 'उत्तराध्ययनसूत्र' मे 'अनाचार' नामक अधिकार है। (अध्ययन छठा)

६. ज्ञानीके सिद्धातमे अंतर नही हो सकता।

७. सूत्र आत्माका स्वधर्म प्राप्त करनेके लिये बनाये गये है; परन्तु उनका रहस्य, यथार्थ समझमें नही आता, इससे अतर लगता है।

८. दिगम्बरके तीव्र वचनोके कारण कुछ रहस्य समझा जा सकता है। श्वेताम्बरकी शिथिलताके कारण रस ठडा होता गया।

९ 'शाल्मलि वृक्ष' नरकमे नित्य असातारूपसे है। वह वृक्ष शमी वृक्षसे मिलता-जुलता होता है। भावसे संसारो आत्मा उस वृक्षरूप है। आत्मा परमार्थसे, उस अध्यवसायको छोडनेसे, नदनवनके समान होता है।

१०. जिनमुद्रा दो प्रकारकी है—कायोत्सर्ग और पद्मासन। प्रमाद दूर करनेके लिये दूसरे अनेक आसन किये है। परन्तु मुख्यतः ये दो आसन है।

११. [1]प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव॥

१२. चेतन्यका लक्ष्य करनेवालेकी बलिहारी है।

१३ तीर्थ = तरनेका मार्ग।

१४ अरनाथ प्रभुकी स्तुति महात्मा आनंदघनजीने की है। श्री आनदघनजीका दूसरा नाम 'लाभानंदजी' था। वे तपगच्छमे हुए है।

१५ वर्तमानमे लोगोका ज्ञान और शातिके साथ सम्बन्ध नही रहा, मताचार्यने मार डाला है।

१६. [2]"आशय आनंदघन तणो, अति गंभीर उदार।
बालक बांय पसारीने, कहे उदधि विस्तार॥"

१७. ईश्वरत्व तीन प्रकारसे जाना जाता है—(१) जड़ जड़ात्मकतासे रहता है। (२) चैतन्य—संसारी जीव विभावात्मकतासे रहते हैं। (३) सिद्ध—शुद्ध चैतन्यात्मकतासे रहते है।

---

१० मोरबी, आषाढ सुदी १३, मंगल, १९५६

१. 'भगवती आराधना' जैसी पुस्तकें मध्यम एव उत्कृष्ट भावके महात्माओंके तथा मुनियोंके ही योग्य हैं। ऐसे ग्रन्थ उससे कम पदवी, योग्यतावाले साधु तथा श्रावकको देनेसे वे कृतघ्नी होते हैं; उन्हें उनसे उलटी हानि होती है। सच्चे मुमुक्षुओको ही ये लाभकारी हैं।

---

१ अर्थके लिये देखें उपदेश नोंध २२।

२. भावार्थ—योगीवर श्री आनंदघनजीका आशय अति गम्भीर और उदार है, उसे पूरी तरहसे समझना असंभवसा है; जैसे कि बालक बाहु फैलाकर सागरके विस्तारका मात्र संकेत करता है।

२. मोक्षमार्ग अगम्य तथा सरल है।

अगम्य—मात्र विभावदशाके कारण मतभेद पड़ जानेसे किसी भी जगह मोक्षमार्ग समझमें आ सके ऐसा नहीं रहा, और इस कारण वर्तमानमें वह अगम्य है। मनुष्यके मर जानेके बाद अज्ञानसे नाड़ी पकड़कर इलाज करनेके फलके समान मतभेद पड़नेका फल हुआ है, और इससे मोक्षमार्ग समझमे नहीं आता।

सरल—मतभेदकी माथापच्ची दूर कर, आत्मा और पुद्गलका भेद करके शांतिसे आत्माका अनुभव किया जाये तो मोक्षमार्ग सरल है, और दूर नही है। जैसे कि एक ग्रन्थको पढ़नेमें कितना ही समय जाता है और उसे समझनेमे अधिक समय जाना चाहिये; वैसे अनेक शास्त्र हैं, उन्हे एक एक करके पढ़नेके बाद उनका निर्णय करनेके लिये बैठा जाये, तो उस हिसाबसे पूर्व आदिका ज्ञान और केवलज्ञान किसी भी उपायसे प्राप्त नही हो सकता अर्थात् इस तरह पढ़नेमे आते हो तो कभी पार नही आ सकता; परन्तु उसकी संकलना है, और उसे श्री गुरुदेव बताते हैं कि महात्मा उसे अंतर्मुहूर्तमे प्राप्त करते हैं।

३. इस जीवने नवपूर्व तक ज्ञान प्राप्त किया तो भी कुछ सिद्धि नही हुई, उसका कारण विमुखदशासे परिणमन होना है। यदि सन्मुखदशासे परिणमन हो तो तत्क्षण मुक्त हो जाता है।

४. परमशांत रसमय 'भगवती आराधना' जैसे एक ही शास्त्रका अच्छी तरह परिणमन हुआ हो तो बस है। क्योंकि इस आरे-कालमे वह सहज है, सरल है।

५. इस आरे-कालमे संहनन अच्छे नही है, आयु कम है, दुर्भिक्ष और महामारी जैसे संयोग बारंबार आते हैं, इसलिये आयुकी कोई निश्चयपूर्वक स्थिति नही है, इसलिये यथासभव आत्महितकी बात तुरत ही करे। उसे स्थगित कर देनेसे जीव धोखा खा बैठता है। ऐसे अल्प समयमे तो नितांत सम्यक्मार्ग जो परमशांत होनेरूप है, उसे ग्रहण करे। उसीसे उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भाव होते हैं।

६. काम आदि कभी ही हमसे हार मानते हैं, नही तो कई बार हमे थप्पड़ मार देते हैं। इसलिये भरसक यथासंभव जल्दी ही उन्हे छोडनेके लिये अप्रमादी बनें। जैसे शीघ्र हुआ जाये वैसे होना। शूरवीरतासे वैसा तुरत हुआ जा सकता है।

७. वर्तमानमें दृष्टिरागानुसारी मनुष्य विशेषरूपसे हैं।

८. यदि सच्चे वैद्यकी प्राप्ति हो जाये तो देहका विधर्म सहज ही औषधि द्वारा विधर्ममेसे निकलकर स्वधर्म पकड़ लेता है। इसी तरह यदि सच्चे गुरुकी प्राप्ति हो जाये तो आत्माकी शाति बहुत ही सुगमतासे और सहजमे हो जाती है। इसलिये वैसी क्रिया करनेमे स्वय तत्पर अर्थात् अप्रमादी होवें। प्रमादसे उल्टे कायर न होवें।

९. सामायिक = संयम।

१०. प्रतिक्रमण = आत्माकी क्षमापना, आराधना।

११. पूजा = भक्ति।

१२. जिनपूजा, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि किस अनुक्रमसे करना, यह कहते हुए एकके बाद एक प्रश्न उठता है, और उसका किसी तरह अंत आनेवाला नही है। परंतु यदि ज्ञानीकी आज्ञासे यह जीव चाहे जैसे (ज्ञानीके कहे अनुसार) चले तो भी वह मोक्षमार्गमें है।

१३. हमारी आज्ञासे चलनेपर यदि पाप लगे तो उसे हम अपने सिरपर ले लेते हैं; क्योंकि जैसे कि रास्तेमें काँटे पड़े हों तो, वे किसीको लगेंगे, ऐसा जानकर मार्गमें चलता हुआ कोई व्यक्ति उन्हे वहाँसे उठाकर, किसी ऐसी एकांत जगहमे रख दे कि जहाँ वे किसीको न लगें, तो उसने कुछ राज्यका अपराध

किया है ऐसा नहीं कहा जायेगा और राजा उसे दंड नही देगा; उसी तरह मोक्षका शांतमार्ग बतानेसे पाप किस तरह लग सकता है ?

१४ ज्ञानीकी आज्ञासे चलने पर ज्ञानी गुरुने योग्यतानुसार क्रियासंबंधी किसीको कुछ बताया हो और किसीको कुछ बताया हो, तो इससे मोक्ष (शांति) का मार्ग रुकता नहीं है।

१५. यथार्थ स्वरूप समझे बिना अथवा जो स्वयं कहता है वह परमार्थसे यथार्थ है या नहीं, यह जाने बिना, समझे बिना जो वक्ता होता है वह अनंत संसार बढ़ाता है। इसलिये जब तक यह समझनेकी शक्ति न हो तब तक मौन रहना अच्छा है।

१६. वक्ता होकर एक भी जीवको यथार्थ-मार्ग प्राप्त करानेसे तीर्थंकरगोत्र बँधता है और उससे उलटा करनेसे महामोहनीयकर्म बँधता है।

१७. यद्यपि हम आप सबको अभी ही मार्गपर चढ़ा दें, परन्तु बरतनके अनुसार वस्तु रखी जाती है। नहीं तो जिस तरह हलके बरतनमे भारी वस्तु रख देनेसे बरतनका नाश हो जाता है, उसी तरह यहाँ भी हो जाता है। क्षयोपशमके अनुसार समझा जा सकता है।

१८. आपको किसी तरह डरने जैसा नही है, क्योंकि आपके सिरपर हमारे जैसे हैं, तो अब मोक्ष आपके पुरुषार्थके अधीन है। यदि आप पुरुषार्थ करेंगे तो मोक्ष होना दूर नही। जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया वे सब महात्मा पहले हम जैसे मनुष्य थे; और केवलज्ञान प्राप्त करनेके बाद भी (सिद्ध होनेसे पहले) देह तो वहीकी वही रहती है; तो फिर अब उस देहमेसे उन महात्माओंने क्या निकाल डाला, यह समझकर हमें भी उसे निकाल डालना है। इसमें डर किसका ? वादविवाद या मतभेद किसका ? मात्र शांतिसे वही उपासनीय है।

---

११ मोरबी, आषाढ सुदी १४, बुध, १९५६

१. पहलेसे आयुधको बाँधना और उसका उपयोग करना सीखा हों तो लड़ाईके समय वह काम आता है; उसी तरह पहलेसे वैराग्यदशा प्राप्त की हो तो अवसर आनेपर काम आती है; आराधना हो सकती है।

२. यशोविजयजीने ग्रन्थ रचते हुए इतना उपयोग रखा था कि वे प्रायः किसी जगह भी चूके न थे। तो भी छद्मस्थ अवस्थाके कारण डेढ सौ गाथाके स्तवनमें सातवें ठाणांगसूत्रकी साख दी है वह मिलती नहीं है। वह श्री भगवतीसूत्रके पाँचवें शतकके उद्देशमें मालूम होती है। इस जगह अर्थकर्ताने 'रासभवृत्ति'का अर्थ पशुतुल्य किया है; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है। 'रासभवृत्ति' अर्थात् गधेको अच्छी शिक्षा दी हो तो भी जातिस्वभावके कारण धूल देखकर उसका मन लोटनेका हो जाता है; उसी तरह वर्तमानकालमे बोलते हुए भविष्यकालमे कहनेकी बात बोल दी जाती है।

३. 'भगवती आराधना'मे लेश्याके अधिकारमे प्रत्येककी स्थिति आदि अच्छी तरह बतायी है।

४. परिणाम तीन प्रकारके हैं—हीयमान, वर्धमान और समवस्थित। पहले दो छद्मस्थको होते हैं, और अंतिम समवस्थित (अचल अकंप शैलेशीकरण) केवलज्ञानीको होता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमे लेश्या तथा योगकी चलाचलता है, तो फिर वहाँ समवस्थित परिणाम किस तरह हो सकते हैं ? उसका आशय यह है कि सक्रिय जीवको अबंध अनुष्ठान नहीं होता। तेरहवें गुणस्थानकमे केवलीको भी योगके कारण सक्रियता है, और उससे बंध है; परन्तु वह बंध अबंधबंध गिना जाता है। चौदहवें गुणस्थानकमें आत्माके प्रदेश अचल होते हैं। उदाहरणरूपमें, जिस तरह पिंजरेका सिंह

जालीको नहीं छूता, और स्थिर होकर बैठा रहता है, तथा कोई क्रिया नहीं करता, उसी तरह यहाँ आत्मा-के प्रदेश अक्रिय रहते हैं। जहाँ प्रदेशकी अचलता है वहाँ अक्रियता मानी जाती है।

६. 'चलई सो बंधे', योगका चलायमान होना बंध है, योगका स्थिर होना अबंध है।

७. जब अबंध होता है तब मुक्त हुआ कहा जाता है।

८. उत्सर्ग अर्थात् ऐसे होना चाहिये अथवा सामान्य।

अपवाद अर्थात् ऐसा होना चाहिये परन्तु वैसे न हो सके तो ऐसे। अपवादके लिये गली शब्दका प्रयोग करना बहुत ही हलका है। इसलिये उसका प्रयोग न करें।

९. उत्सर्गमार्ग अर्थात् यथाख्यातचारित्र, जो निरतिचार है। उत्सर्गमे तीन गुप्ति समाती है; अप-वादमें पाँच समिति समाती है। उत्सर्ग अक्रिय है। अपवाद सक्रिय है। उत्सर्गमार्ग उत्तम है, और उससे निकृष्ट अपवाद है। चौदहवाँ गुणस्थानक उत्सर्ग है, उससे नीचेके गुणस्थानक एक दूसरेकी अपेक्षा-से अपवाद हैं।

१०. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगसे एकके बाद एक अनुक्रमसे बंध पड़ता है।

११ मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ समझमें न आना। मिथ्यात्वके कारण विरति नही होती, विरतिके अभावसे कषाय होता है, कषायसे योगकी चलायमानता होती है, योगकी चलायमानता 'आस्रव' है, और उससे उलटा 'संवर' है।

१२. दर्शनमे भूल होनेसे ज्ञानमे भूल होती है। जिस प्रकारके रससे ज्ञानमे भूल होती है उसी प्रकारसे आत्माका वीर्य स्फुरित होता है, और तदनुसार वह परमाणु ग्रहण करता है और वैसा ही बंध पड़ता है; और तदनुसार विपाक उदयमे आता है। दो उँगलियोंका परस्पर फँसानेसे अँकुडी पडती है, उस अँकुड़ीरूप उदय है और उनको मरोड़नेरूप भूल है, उस भूलसे दु:ख होता है अर्थात् बंध बँधता है। परंतु मरोड़नेरूप भूल दूर हो जानेसे अँकुडी सहजमे ही छूट जाती है। उसी तरह दर्शनकी भूल दूर हो जानेसे कर्मोदय सहजमे ही विपाक देकर झड जाता है और नया बध नही होता।

१३. दर्शनमें भूल होती है, उसका उदाहरण—जैसे लडका बापके ज्ञानमे और दूसरेके ज्ञानमें देहकी अपेक्षासे एक ही है, अन्य नही है, परन्तु बाप उसे अपना लडका करके मानता है वही भूल है। वही दर्शनमें भूल है और इससे यद्यपि ज्ञानमे भेद नही है फिर भी वह भूल करता है, और उससे उपर्युक्त-के अनुसार बंध होता है।

१४. यदि उदयमें आनेसे पहले रसमे मंदता कर दी जाये तो आत्मप्रदेशसे कर्म झड़कर निर्जरा हो जाती है, अथवा मंद रससे कर्म उदयमे आते हैं।

१५. ज्ञानी नयी भूल नही करते, इसलिये वे अबंध हो सकते हैं।

१६. ज्ञानियोंने माना है कि यह देह अपनी नहीं है, यह रहनेवाली भी नही है, कभी न कभी उसका वियोग होनेवाला ही है। इस भेदविज्ञानके कारण ज्ञानी नगारेकी आवाजकी तरह उक्त तथ्यको सदा सुनते रहते हैं और अज्ञानीके कान बहरे होते हैं इसलिये वह उसे नही सुनता।

१७. ज्ञानी देहको नश्वर समझकर, उसका वियोग होनेपर खेद नही करते। परन्तु जैसे किसीसे कोई चीज ली हो और उसे वापिस देनी पडती है उसी तरह ज्ञानी देहको उल्लासपूर्वक वापस दे देते हैं; अर्थात् देह-परिणामी नही होते।

१८. देह और आत्माका भेद करना 'भेदज्ञान' है। ज्ञानीका वह जाप है। उस जापसे वे देह और

आत्माको अलग कर सकते हैं। वह भेदविज्ञान होनेके लिये महात्माओंने सब शास्त्र रचे हैं। जैसे तेजाबसे सोना और रांगा अलग हो जाते है, वैसे ज्ञानीके भेदविज्ञानके जापरूप तेजाबसे स्वाभाविक आत्मद्रव्य अगुरुलघु स्वभाववाला होकर प्रयोगी द्रव्यसे पृथक् होकर स्वधर्ममे आ जाता है।

१९. दूसरे उदयमे आये हुए कर्मोंका आत्मा चाहे जिस तरहसे समाधान कर सकता है, परन्तु वेदनीयकर्ममे वैसा नही हो सकता, और उसका आत्मप्रदेशोंसे वेदन करना ही चाहिये; और उसका वेदन करते हुए कठिनाईका पूर्ण अनुभव होता है। वहाँ यदि भेदज्ञान संपूर्ण प्रगट न हुआ हो तो आत्मा देहाकारसे परिणमन करता है, अर्थात् देहको अपनी मानकर वेदन करता है, जिससे आत्माकी शांतिका भंग होता है। ऐसे प्रसंगमे जिन्हे संपूर्ण भेदज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानियोंको असातावेदनीयका वेदन करते हुए निर्जरा होती है, और वहाँ ज्ञानीकी कसौटी होती है। अर्थात् अन्य दर्शनवाले वहाँ उस तरह नही टिक सकते, और ज्ञानी इस तरह मानकर टिक सकते हैं।

२० पुद्गलद्रव्यकी सँभाल रखी जाये तो भी वह कभी न कभी नष्ट हो जानेवाला है; और जो अपना नही है, वह अपना होनेवाला नही है; इसलिये लाचार होकर दीन बनना किस कामका ?

२१. 'जोगा पयडिपदेसा' = योगसे प्रकृति और प्रदेश बंध होता है।

२२. स्थिति तथा अनुभाग कषायसे बँधते हैं।

२३. आठविध, सातविध, छविध और एकविध इस प्रकार बंध बँधा जाता है।

---

१२ मोरबी, आषाढ़ सुदी १५, गुरु, १९५६

१. ज्ञानदर्शनका फल यथाख्यातचारित्र, और उसका फल निर्वाण; उसका फल अव्याबाध सुख है।

---

१३ मोरबी, आषाढ वदी १, शुक्र, १९५६

१. 'देवागमस्तोत्र' महात्मा समंतभद्राचार्यने (जिसके नामका शब्दार्थ यह होता है कि 'जिसे कल्याण मान्य है') बनाया है, और उसपर दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्योंने टीका लिखी है। ये महात्मा दिगम्बराचार्य थे, फिर भी उनका बनाया हुआ उक्त स्तोत्र श्वेताम्बर आचार्योंको भी मान्य है। उस स्तोत्रमें प्रथम श्लोक निम्नलिखित है—

'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः
मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥'

इस श्लोकका भावार्थ यह है कि देवागम (देवताओंका आना होता हो), आकाशगमन (आकाशमे गमन हो सकता हो), चामरादि विभूति (चामर आदि विभूति हो—समवसरण होता हो इत्यादि,) ये सब तो मायावियोंमें भी देखे जाते हैं (मायासे अर्थात् युक्तिसे भी हो सकते है), इसलिये उतनेसे ही आप हमारे महत्तम नही हैं। (उतने मात्रसे कुछ तीर्थंकर अथवा जिनेंद्रदेवका अस्तित्व माना नही जा सकता। ऐसी विभूति आदिसे हमें कुछ मतलब नही है। हमने तो उसका त्याग किया है।)

इन आचार्यने न जाने गुफामेंसे निकलते हुए तीर्थंकरकी कलाई पकड़कर उपर्युक्त निरपेक्षतासे वचन कहे हो, ऐसा आशय यहाँ बताया गया है।

२. आप्त अथवा परमेश्वरके लक्षण कैसे होने चाहिये, उसके संबंधमें 'तत्त्वार्थसूत्र'की टीकामे (सर्वार्थसिद्धिमें) पहली गाथा निम्नलिखित है—

'मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥'

सारभूत अर्थ :—'**मोक्षमार्गस्य नेतारं**' (मोक्षमार्गमें ले जानेवाला नेता)—यह कहनेसे मोक्षका 'अस्तित्व', 'मार्ग', और 'ले जानेवाला', ये तीन बातें स्वीकृत की है। यदि मोक्ष है तो उसका मार्ग भी होना चाहिये और यदि मार्ग है तो उसका द्रष्टा भी होना चाहिये, और जो द्रष्टा होता है वही मार्गमे ले जा सकता है। मार्गमे ले जानेका काम निराकार नही कर सकता, परन्तु साकार कर सकता है, अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश साकार उपदेष्टा अर्थात् जिसने देहस्थितिसे मोक्षमार्गका अनुभव किया है वही कर सकता है। '**भेत्तारं कर्मभूभृताम्**'—(कर्मरूप पर्वतोंका भेदन करनेवाला) अर्थात् कर्मरूपी पर्वतोंको तोड़नेसे मोक्ष हो सकता है। इसलिये जिसने देहस्थितिसे कर्मरूपी पर्वत तोड़े है वह साकार उपदेष्टा है। वैसा कौन है? वर्तमान देहमें जो जीवन्मुक्त है वह। जो कर्मरूपी पर्वत तोडकर मुक्त हुआ है, उसके लिये फिर कर्मका अस्तित्व नहीं रहता। इसलिये जैसा कि बहुतसे मानते हैं कि मुक्त होनेके बाद जो देह धारण करता है वह जीवन्मुक्त है, सो हमे ऐसा जीवन्मुक्त नही चाहिये। '**ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां**'—(विश्वके तत्त्वोको जाननेवाला) यो कहनेसे यह बताया कि आप्त ऐसा होना चाहिये कि जो समस्त विश्वका ज्ञाता हो। '**वंदे तद्गुणलब्धये**'—(उसके गुणोकी प्राप्तिके लिये उसे वदन करता हूँ), अर्थात् जो इन गुणोंसे युक्त पुरुष हो वही आप्त है और वही वंदनीय है।

३. मोक्षपद सभी चैतन्योके लिये सामान्य होना चाहिये, एक जीवाश्रयी नही; अर्थात् यह चैतन्यका सामान्य धर्म है। एक जीवको हो और दूसरे जीवको न हो, ऐसा नही हो सकता।

४. 'भगवती आराधना' पर श्वेताम्बर आचार्योंने जो टीका की है वह भी उसी नामसे प्रसिद्ध है।

५. करणानुयोग या द्रव्यानुयोगमे दिगम्बर और श्वेताम्बरके बीचमें अन्तर नहीं है। मात्र बाह्य व्यवहारमे अन्तर है।

६. करणानुयोगमे गणितरूपसे सिद्धात एकत्रित किये है। उनमे अन्तर होना सम्भव नही है।

७. कर्मग्रन्थ मुख्यतः करणानुयोगके अन्तर्गत है।

८. 'परमात्मप्रकाश' दिगम्बर आचार्यका बनाया हुआ है। उसपर टीका हुई है।

९. निराकुलता सुख है। संकल्प दुःख है।

१०. कायक्लेश तप करते हुए भी महामुनिमे निराकुलता अर्थात् स्वस्थता देखनेमे आती है। तात्पर्य कि जिसे तप आदिकी आवश्यकता है, और इसलिये जो तप आदि कायक्लेश करता है, फिर भी वह स्वास्थ्यदशाका अनुभव करता है, तो फिर जिन्हे कायक्लेश करना नहीं रहा ऐसे सिद्ध भगवानको निराकुलता क्यों नहीं हो सकती?

११. देहकी अपेक्षा चैतन्य बिलकुल स्पष्ट है। जैसे देहगुणधर्म देखनेमे आते है वैसे आत्मगुणधर्म देखनेमे आयें तो देहका राग नष्ट हो जाता है। आत्मवृत्ति विशुद्ध हो जानेसे दूसरे द्रव्यके संयोगसे आत्मा देहरूपसे, विभावसे परिणमित हुआ दिखाई देता है।

१२. चैतन्यका अत्यन्त स्थिर होना 'मुक्ति' है।

१३. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इनके अभावमे अनुक्रमसे योग स्थिर होता है।

१४. पूर्वके अभ्यासके कारण जो झोका आ जाता है वह 'प्रमाद' है।

१५. योगको आकर्षण करनेवाला न होनेसे वह स्वयं ही स्थिर हो जाता है।

१६. राग और द्वेष आकर्षण है।

१७. संक्षेपमें ज्ञानीका यो कहना है कि पुद्गलसे चैतन्यका वियोग कराना है; अर्थात् रागद्वेषसे आकर्षण दूर करना है।

१८. जहाँ तक अप्रमत्त हुआ जाये वहाँ तक जागृत ही रहना है।

१९. जिनपूजा आदि अपवाद मार्ग है।

२०. मोहनीयकर्म मनसे जीता जाता है परन्तु वेदनीयकर्म मनसे नहीं जीता जाता; तीर्थंकर आदिको भी उसका वेदन करना पड़ता है, और दूसरोंके समान कठिन भी लगता है। परन्तु उसमे (आत्मधर्ममें) उनके उपयोगकी स्थिरता होनेसे, निर्जरा होती है, और दूसरेको (अज्ञानीको) बंध होता है। क्षुधा, तृषा यह मोहनीय नहीं परन्तु वेदनीयकर्म है।

२१. "जो पुग्गल [1]परधन हरै, सो अपराधी अज्ञ।
जो अपनो धन विवहरै, सो धनपति धर्मज्ञ॥" —श्री बनारसीदास

श्री बनारसीदास आगराके दशाश्रीमाली वणिक थे।

२२. 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थके तीसरे भागमे जिनकल्पका वर्णन किया है। यह ग्रन्थ श्वेताम्बरीय है। उसमे कहा है कि इस कल्पका साधक निम्नलिखित गुणवाला महात्मा होना चाहिये—

१. संहनन, २. धीरता, ३. श्रुत, ४. वीर्य और ५. असंगता।

२३. दिगम्बरदृष्टिमें यह दशा सातवें गुणस्थानकवर्तीकी है। दिगम्बर-दृष्टिके अनुसार स्थविरकल्पी और जिनकल्पी नग्न होते हैं; और श्वेताम्बर-दृष्टिके अनुसार प्रथम अर्थात् स्थविर नग्न नहीं होते। इस कल्पके साधकका श्रुतज्ञान इतना अधिक बलवान होना चाहिये कि वृत्ति श्रुतज्ञानाकार हो जानी चाहिये, विषयाकार वृत्ति नहीं होनी चाहिये। दिगम्बर कहते हैं कि नग्न स्थितिवालेका मोक्षमार्ग है, बाकीका तो उन्मत्त मार्ग है। 'णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसाय उम्मग्गया सव्वे।' तथा 'नागो ए बादशाहथी आघो' अर्थात् नंगा बादशाहसे भी बढ़कर है, इस कहावतके अनुसार यह स्थिति बादशाहको भी पूज्य है।

२४. चेतना तीन प्रकारकी है:—१. कर्मफलचेतना—एकेंद्रिय जीव अनुभव करते हैं। २. कर्मचेतना—विकलेंद्रिय तथा पंचेंद्रिय अनुभव करते हैं। ३ ज्ञानचेतना—सिद्धपर्यायवाले अनुभव करते हैं।

२५. मुनियोंकी वृत्ति अलौकिक होनी चाहिये, उसके बदले अभी लौकिक देखनेमे आती है।

---

१४ मोरबी, आषाढ वदी २, शनि, १९५६

१. पर्यायालोचन = एक वस्तुका दूसरी तरहसे विचार करना।

२. आत्माकी प्रतीतिके लिये संकलनाका दृष्टांत:—छः इंद्रियोंमें मन अधिष्ठाता है, और बाकी पाँच इन्द्रियाँ उसकी आज्ञानुसार चलनेवाली हैं, और उनकी संकलना करनेवाला भी एक मन ही है। यदि मन न होता तो कोई कार्य नहीं हो सकता। वस्तुतः किसी इन्द्रियका कुछ भी बस नहीं चलता। मनका ही समाधान होता है; वह इस तरह कि कोई चीज आँखसे देखी, उसे लेनेके लिये पैरोंसे चलने लगे, वहाँ जाकर उसे हाथमें लिया और खाया इत्यादि। उन सब क्रियाओंका समाधान मनने किया, फिर भी उन सबका आधार आत्मापर है।

३. जिस प्रदेशमें वेदना अधिक हो वह उसका मुख्यतः वेदन करता है और बाकी प्रदेश गौणतासे उसका वेदन करते हैं।

४. जगतमें अभव्य जीव अनंत हैं। उससे अनंत गुने परमाणु एक समयमें एक जीव ग्रहण करता है और छोड़ता है।

५. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे बाह्य और अभ्यंतर परिणमन करते हुए परमाणु जिस क्षेत्रमें वेदनारूपसे उदयमें आते हैं, वहाँ इकट्ठे होकर वे वहाँ उस रूपसे परिणमन करते हैं; और वहाँ जिस प्रकार-

---

१. परधन = जड, परसमय। अपनो धन = अपना धन, चेतन, स्वसमय। विवहरै = व्यवहार करे, विचरण करे, विवेक करे।

का बंध होता है, वह उदयमें आता है। परमाणु यदि सिरमें इकट्ठे हों तो वहाँ वे सिरदर्दके आकारसे परिणमन करते हैं, आँखमें आँखकी वेदनाके आकारसे परिणमन करते हैं।

६. वहीका वही चैतन्य स्त्रीमें स्त्रीरूपसे और पुरुषमें पुरुषरूपसे परिणमन करता है; और भोजन भी तथाप्रकारके ही आकारसे परिणमन कर पुष्टि देता है।

७. शरीरमें परमाणुसे परमाणुको लड़ते हुए किसीने नहीं देखा; परंतु उसका परिणामविशेष जाननेमें आता है। बुखारकी दवा बुखारको रोकती है, इसे हम जान सकते हैं; परंतु भीतर क्या क्रिया हुई, उसे नहीं जान सकते। इस दृष्टांतसे कर्मबंध होता हुआ देखनेमें नहीं आता, परंतु उसका विपाक देखनेमें आता है।

८. अनागार = जिसे व्रतमें अपवाद नहीं।

९. अणगार = घर रहित।

१०. समिति = सम्यक् प्रकारसे जिसकी मर्यादा है उस मर्यादासहित, यथास्थितरूपसे प्रवृत्ति करनेका ज्ञानियोंने जो मार्ग कहा है उस मार्गके अनुसार मापसहित प्रवृत्ति करना।

११. सत्तागत = उपशम।

१२. श्रमण भगवान = साधु भगवान अथवा मुनि भगवान।

१३ अपेक्षा = जरूरत, इच्छा।

१४. सापेक्ष = दूसरे कारणकी, हेतुकी जरूरतकी इच्छा करना।

१५. सापेक्षत्व अथवा अपेक्षासे = एक दूसरेको लेकर।

---

१५ मोरबी, आषाढ वदी ३, रवि, १९५६

१. अनुपपन्न = असंभवित; सिद्ध होने योग्य नहीं।

---

१६ रातमें

श्रावकाश्रयी, परस्त्रीत्याग तथा अन्य अणुव्रतोंके विषयमें।

१. जब तक मृषा और परस्त्रीका त्याग न किया जाये, तब तक सब क्रियाएँ निष्फल हैं; तब तक आत्मामें छलकपट होनेसे धर्म परिणमित नही होता।

२. धर्म पानेकी यह प्रथम भूमिका है।

३. जब तक मृषात्याग और परस्त्रीत्यागरूप गुण न हों तब तक वक्ता और श्रोता नही हो सकते।

४. मृषा दूर हो जानेसे बहुतसी असत्य प्रवृत्ति कम होकर निवृत्तिका प्रसंग आता है। सहज बातचीत करते हुए भी विचार करना पड़ता है।

५. मृषा बोलनेसे ही लाभ होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि ऐसा होता हो तो सच बोलनेवालोंकी अपेक्षा जगतमें जो असत्य बोलनेवाले बहुत होते हैं, उन्हें अधिक लाभ होना चाहिये, परंतु वैसा कुछ देखनेमें नहीं आता; तथा असत्य बोलनेसे लाभ होता हो तो कर्म एकदम रद्द हो जायेंगे और शास्त्र भी झूठे सिद्ध होंगे।

६. सत्यकी ही जय है। पहले मुश्किली महसूस होती है, परंतु पीछेसे सत्यका प्रभाव होता है और उसका असर दूसरे मनुष्य तथा संबंधमें आनेवालोंपर होता है।

७. सत्यसे मनुष्यका आत्मा स्फटिक जैसा मालूम होता है।

---

१७ मोरबी, आषाढ वदी ४, सोम, १९५६

१. दिगम्बरसंप्रदाय यह कहता है कि आत्मामें 'केवलज्ञान' शक्तिरूपसे रहता है।

२. श्वेताम्बरसंप्रदाय आत्मामे केवलज्ञानको सत्तारूपसे मानता है।

३ 'शक्ति' शब्दका अर्थ 'सत्ता' से अधिक गौण होता है।

४. शक्तिरूपसे है अर्थात् आवरणसे रुका हुआ नहीं है, ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् उस पर ज्यों ज्यों प्रयोग होता जाता है, त्यो त्यो ज्ञान विशुद्ध होकर केवलज्ञान प्रगट होता है।

५. सत्तामें अर्थात् आवरणमें रहा हुआ है, ऐसा कहा जाता है।

६ सत्तामें कर्मप्रकृति हो वह उदयमें आये वह शक्तिरूपसे नहीं कहा जाता।

७. सत्तामे केवलज्ञान हो और आवरणमें न हो, यह नही हो सकता। 'भगवती आराधना' देखियेगा।

८ कांति, दीप्ति, शरीरका मुड़ना, भोजनका पचना, रक्तका फिरना, ऊपरके प्रदेशोंका नीचे आना, नीचेके प्रदेशोंका ऊपर जाना (विशेष कारणसे समुद्घात आदि), ललाई, बुखार आना, ये सब तैजस् परमाणुकी क्रियाएँ हैं। तथा सामान्यत आत्माके प्रदेश ऊँचे नीचे हुआ करते हैं अर्थात् कंपायमान रहते हैं, यह भी तैजस् परमाणुसे होता है।

९. कार्मणशरीर उसी स्थलमे आत्मप्रदेशोंको अपना आवरणका स्वभाव बताता है।

१०. आत्माके आठ रुचक प्रदेश अपना स्थान नही बदलते। सामान्यतः स्थूल नयसे ये आठ प्रदेश नाभिके कहे जाते हैं, सूक्ष्मरूपसे वहाँ असंख्यात प्रदेश कहे जाते हैं।

११. एक परमाणु एकप्रदेशी होते हुए भी छः दिशाओंको स्पर्श करता है। चार दिशाएँ तथा एक ऊर्ध्व और एक अधः यह सब मिलाकर छः दिशाएँ होती हैं।

१२. नियाणु अर्थात् निदान।

१३. आठ कर्म सभी वेदनीय हैं, क्योंकि सबका वेदन किया जाता है; परंतु उनका वेदन लोक-प्रसिद्ध नहीं होनेसे लोकप्रसिद्ध वेदनीयकर्म अलग माना है।

१४. कार्मण, तैजस, आहारक, वैक्रिय और औदारिक इन पाँच शरीरोंके परमाणु एकसे अर्थात् समान हैं; परंतु वे आत्माके प्रयोगके अनुसार परिणमन करते हैं।

१५. मस्तिष्ककी अमुक अमुक नसें दबानेसे क्रोध, हास्य, उन्मत्तता उत्पन्न होते हैं। शरीरमे मुख्य मुख्य स्थल जीभ, नासिका इत्यादि प्रगट दिखायी देते हैं इसलिये मानते हैं; परतु ऐसे सूक्ष्म स्थान प्रगट दिखायी नहीं देते; अतः नही मानते; परतु वे हैं जरूर।

१६. वेदनीयकर्म निर्जरारूप है, परंतु दवा इत्यादि उसमेंसे हिस्सा ले लेती है।

१७. ज्ञानीने ऐसा कहा है कि आहार लेते हुए भी दुःख होता हो और छोड़ते हुए भी दुःख होता हो, तो वहाँ संलेखना करें। उसमें भी अपवाद होता है। ज्ञानीने कुछ आत्मघात करनेका नहीं कहा है।

१८. ज्ञानीने अनंत औषधियाँ अनंत गुणोंसे संयुक्त देखी हैं, परंतु कोई ऐसी औषधि देखनेमें नही आयी कि जो मौतको दूर कर सके! वैद्य और औषधि ये निमित्तरूप हैं।

१९. बुद्धदेवको रोग, दरिद्रता, वृद्धावस्था और मौत, इन चार बातोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ था।

---

१८ मोरबी, आषाढ वदी ५, मंगल, १९५६

१. चक्रवर्तीको उपदेश किया जाये तो वह घड़ी-भरमें राज्यका त्याग कर देता है परंतु भिक्षुको अनंत तृष्णा होनेसे उस प्रकारका उपदेश उसे असर नहीं करता।

२. यदि एक बार आत्मामें अंतर्वृत्तिका स्पर्श हो जाये, तो उसे अर्धपुद्गलपरावर्तन संसार ही रहता है यों तीर्थंकर आदिने कहा है। अंतर्वृत्ति ज्ञानसे होती है। अंतर्वृत्ति होनेका आभास स्वतः (स्वभावसे ही) आत्मामें होता है; और वैसा होनेकी प्रतीति भी स्वाभाविक होती है। अर्थात् आत्मा 'थरमामीटर' के समान है। बुखार होनेकी और उतरनेकी प्रतीति 'थरमामीटर' कराता है। यद्यपि 'थरमामीटर' बुखारकी आकृति नही बताता, फिर भी उससे प्रतीति होती है। उसी तरह अतर्वृत्ति होनेकी आकृति मालूम नहीं होती फिर भी अंतर्वृत्ति हुई है ऐसी आत्माको प्रतीति होती है। औषध बुखारको किस तरह दूर करता है वह कुछ नही बताता, फिर भी औषधसे बुखार चला जाता है, ऐसी प्रतीति होती है, इसी तरह अंतर्वृत्ति होनेकी प्रतीति अपनेआप ही हो जाती है। यह प्रतीति 'परिणामप्रतीति' है।

३. वेदनीयकर्म।[1]

४ निर्जराका असंख्यातगुना उत्तरोत्तर क्रम है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हुआ ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुनी निर्जरा करता है।[2]

५ तीर्थंकर आदिको गृहस्थाश्रममे रहते हुए भी गाढ अथवा अवगाढ सम्यक्त्व होता है।

६. 'गाढ' अथवा 'अवगाढ' एक ही कहा जाता है।

७ केवलीको 'परमावगाढ सम्यक्त्व' होता है।

८. चौथे गुणस्थानकमे 'गाढ' अथवा 'अवगाढ' सम्यक्त्व होता है।

९ क्षायिक सम्यक्त्व अथवा गाढ-अवगाढ सम्यक्त्व एकसा है।

१०. देव, गुरु, तत्त्व अथवा धर्म अथवा परमार्थकी परीक्षा करनेके तीन प्रकार हैं—(१) कष, (२) छेद और (३) ताप। इस तरह तीन प्रकारसे कसौटी होती है। इसे सोनेकी कसौटीके दृष्टान्तसे समझें। (धर्मबिंदु ग्रन्थमे है।) पहले और दूसरे प्रकारसे किसीमे मिलनता आ सके, परन्तु तापकी विशुद्ध कसौटीसे शुद्ध मालूम हो तो वह देव, गुरु और धर्म सच्चे माने जायें।

११ शिष्यकी जो कमियाँ होती हैं, वे जिस उपदेशकके ध्यानमे नही आती उसे उपदेश-कर्ता न समझें। आचार्य ऐसे होने चाहिये कि शिष्यका अल्प दोष भी जान सकें और उसका यथासमय बोध भी दे सकें।

१२. सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ऐसे होने चाहिये कि जिनकी प्रतीति शत्रु भी करे, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। तात्पर्य कि ऐसे निष्कलंक धर्म पालनेवाले होने चाहिये।

---

१९ रातमें

१. अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें अंतर।[3]

२. परमावधिज्ञान मनःपर्यायज्ञानसे भी बढ़ जाता है, और वह एक अपवादरूप है।

---

१. श्रोताकी नोध—वेदनीयकर्मकी उदयमान प्रकृतिमें आत्मा हर्ष धारण करता है, वो कैसे भावमें आत्माके भावित रहनेसे वैसा होता है इस विषयमे श्रीमद्ने स्वात्माश्रयी विचार करना कहा है।

२. इस तरह असंख्यातगुनी निर्जराका वर्धमान क्रम चौदहवें 'गुणस्थानक तक श्रीमद्ने बताया है, और स्वामीकार्तिककी साख दी है।

३. श्रीमद्ने बताया कि अवधिज्ञान और मन-पर्यायज्ञानके संबंधमें जो कथन नंदीसूत्रमे है उससे भिन्न आशयवाला कथन भगवती आराधनामें है। अवधिज्ञानके टुकडे हो सकते हैं, हीयमान इत्यादि चौथे गुणस्थानकमें भी हो सकते हैं। स्थूल है, अर्थात् मनके स्थूल पर्याय जान सकता है; और दूसरा मनःपर्यायज्ञान स्वतंत्र है; खास मनके पर्यायसंबंधी शक्तिविशेषकी लेकर एक अलग तहसीलकी तरह है, वह अखंड है; अप्रमत्तको ही हो सकता है, इत्यादि मुख्य मुख्य अंतर कह बताये।

२० मोरबी, आषाढ वदी ७, बुध, १९५६

१. आराधना होनेके लिये सारा श्रुतज्ञान है, और उस आराधनाका वर्णन करनेके लिये श्रुतकेवली भी अशक्त है।

२. ज्ञान, लब्धि, ध्यान और समस्त आराधनाका प्रकार भी ऐसा ही है।

३. गुणकी अतिशयता ही पूज्य है, और उसके अधीन लब्धि, सिद्धि इत्यादि हैं, और चारित्र स्वच्छ करना यह उसकी विधि है।

४. दशवैकालिककी पहली गाथा—

[1]**धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।**
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

इसमे सारी विधि समा जाती है। परंतु अमुक विधि ऐसे कहनेमे नही आयी, इससे यों समझमे आता है कि स्पष्टतासे विधि नही बतायी।

५ (आत्माके) गुणातिशयमे ही चमत्कार है।

६ सर्वोत्कृष्ट शांत स्वभाव करनेसे परस्पर वैरवाले प्राणी अपना वैरभाव छोड़कर शात हो जाते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकरका अतिशय है।

७. जो कुछ सिद्धि, लब्धि इत्यादि है वे आत्माके जागृतभावमें अर्थात् आत्माके अप्रमत्त स्वभावमे हैं। वे सब शक्तियाँ आत्माके अधीन है। आत्माके बिना कुछ नही है। इन सबका मूल सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।

८. अत्यन्त लेश्याशुद्धि होनेके कारण परमाणु भी शुद्ध होते हैं, इसे सात्त्विक वृक्षके नीचे बैठनेसे प्रतीत होनेवाले असरके दृष्टान्तसे समझे।

९. लब्धि, सिद्धि सच्ची हैं, और वे निरपेक्ष महात्माको प्राप्त होती है; जोगी, वैरागी ऐसे मिथ्यात्वीको प्राप्त नही होती। उसमे भी अनंत प्रकार होनेसे सहज अपवाद है। ऐसी शक्तिवाले महात्मा प्रकाशमें नहीं आते, और शक्ति बताते भी नहीं। जो कहता है उसके पास वैसा नहीं होता।

१० लब्धि क्षोभकारी और चारित्रको शिथिल करनेवाली है। लब्धि आदि मार्गसे पतित होनेके कारण है। इसलिये ज्ञानी उनका तिरस्कार करते हैं। ज्ञानीको जहाँ लब्धि, सिद्धि आदिसे पतित होनेका सम्भव होता है वहाँ वे अपनेसे विशेष ज्ञानीका आश्रय खोजते हैं।

११. आत्माकी योग्यताके बिना यह शक्ति नहीं आती। आत्मा अपना अधिकार बढ़ाये तो वह आती है।

१२. देहका छूटना पर्यायका छूटना है; परन्तु आत्मा आत्माकारसे अखंड अवस्थित रहता है, उसका अपना कुछ नही जाता। जो जाता है वह अपना नही, ऐसा प्रत्यक्षज्ञान जब तक नही होता तब तक मृत्युका भय लगता है।

१३. [2]**"गुरु गणधर गुणधर अधिक (सकल) प्रचुर परंपर और।**
व्रततपधर, तनु नगनतर, वंदो वृष सिरमौर ॥"

—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, दोहा ३

---

१. भावार्थ—धर्म, अहिंसा, सयम और तप ही उत्कृष्ट मंगल है। जिसका धर्ममें निरंतर मन है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

२. अर्थके लिये देखें आंक ९०१।

गणधर = गण-समुदायका धारक; गुणधर = गुणका धारक; प्रचुर = बहुत; वृष = धर्म; सिरमौर = सिरका मुकुट।

१४. अवगाढ = मजबूत। परमावगाढ़ = उत्कृष्टरूपसे मजबूत। अवगाह = एक परमाणुप्रदेश रोकना, व्याप्त होना। श्रावक = ज्ञानीके वचनका श्रोता, ज्ञानीका वचन सुननेवाला। दर्शन-ज्ञानके बिना, क्रिया करते हुए भी, श्रुतज्ञान पढ़ते हुए भी श्रावक या साधु नही हो सकता। औदयिक भावसे वह श्रावक, साधु कहा जाता है; पारिणामिक भावसे नही कहा जाता। स्थविर = स्थिर, दृढ।

१५. स्थविरकल्प = जो साधु वृद्ध हो गये हैं उनके लिये, शास्त्रमर्यादासे वर्तन करनेका, चलनेका ज्ञानियों द्वारा मुकर्रर किया हुआ, बाँधा हुआ, निश्चित किया हुआ मार्ग या नियम।

१६. जिनकल्प = एकाकी विचरनेवाले साधुओंके लिये निश्चित किया हुआ अर्थात् बाँधा हुआ, मुकर्रर किया हुआ जिनमार्ग या नियम।

२१

मोरबी, आषाढ़ वदी ८, गुरु, १९५६

१. सब धर्मोकी अपेक्षा जैनधर्म उत्कृष्ट दयाप्रणीत है। दयाका स्थापन जैसा उसमे किया गया है, वैसा दूसरे किसीमे नही है। 'मार' इस शब्दको ही मार डालनेकी दृढ़ छाप तीर्थंकरोंने आत्मामें मारी है। इस जगहमें उपदेशके वचन भी आत्मामें सर्वोत्कृष्ट असर करते है। श्री जिनेन्द्रकी छातीमें जीवहिंसाके परमाणु ही नही होंगे ऐसा अहिंसाधर्म श्री जिनेन्द्रका है। जिसमे दया नही होती वह जिनेंद्र नही होता। जैनके हाथसे खून होनेकी घटनाएँ प्रमाणमें अल्प होगी। जो जैन होता है वह असत्य नही बोलता।

२. जैनधर्मके सिवाय दूसरे धर्मोकी तुलनामे अहिंसामें बौद्धधर्म भी बढ़ जाता है। ब्राह्मणोंकी यज्ञ आदि हिंसक क्रियाओका नाश भी श्री जिनेन्द्र और बुद्धने किया है, जो अभी तक कायम है।

३ श्री जिनेन्द्र तथा बुद्धने, यज्ञ आदि हिंसक धर्मवाले होनेसे ब्राह्मणोंको सख्त शब्दोंका प्रयोग करके धिक्कारा है, वह यथार्थ है।

४. ब्राह्मणोंने स्वार्थबुद्धिसे ये हिंसक क्रियाएँ दाखिल की है। श्री जिनेन्द्र तथा बुद्धने स्वयं वैभवका त्याग किया था, इसलिये उन्होने निःस्वार्थबुद्धिसे दयाधर्मका उपदेश करके हिंसक क्रियाओंका विच्छेद किया। जगतके सुखमे उनकी स्पृहा न थी।

५. हिन्दुस्तानके लोग एक बार एक विद्याका अभ्यास इस तरह छोड़ देते है कि उसे फिरसे ग्रहण करते हुए उन्हें कंटाला आता है। युरोपियन प्रजामे इससे उलटा है, वे एकदम उसे छोड़ नही देते, परन्तु चालू ही रखते हैं। प्रवृत्तिके कारण कम-ज्यादा अभ्यास हो सके, यह बात अलग है।

२२

रातमें

१. वेदनीयकर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तकी है; उससे कम स्थितिका बंध भी कषायके बिना एक समयका होता है, दूसरे समयमें वेदन होता है और तीसरे समयमे निर्जरा होती है।

२. ईर्यापथिकी क्रिया = चलनेकी क्रिया।

३. एक समयमे सात अथवा आठ प्रकृतियोंका बंध होता है। प्रत्येक प्रकृति उसका बटवारा किस तरह करती है इस सम्बन्धमें भोजन तथा विषका दृष्टांतः—जैसे भोजन एक जगहसे लिया जाता है परंतु उसका रस प्रत्येक इन्द्रियको पहुँचता है, और प्रत्येक इन्द्रिय ही अपनी अपनी शक्तिके अनुसार ग्रहण कर

उस रूपसे परिणमन करती है, उसमे अंतर नहीं आता। उसी तरह विष लिया जाये, अथवा सर्प काटे ले तो वह क्रिया तो एक ही जगह होती है; परन्तु उसका असर विषरूपसे प्रत्येक इंद्रियको भिन्न भिन्न प्रकारसे सारे शरीरमे होता है। इसी तरह कर्म बाँधते समय मुख्य उपयोग एक प्रकृतिका होता है, परन्तु उसका असर अर्थात् बटवारा दूसरी सब प्रकृतियोके पारस्परिक सम्बन्धको लेकर मिलता है। जैसा रस वैसा ही उसका ग्रहण होता है। जिस भागमें सर्पदंश होता है उस भागको यदि काट दिया जाये तो विष नही चढ़ता; उसी तरह यदि प्रकृतिका क्षय किया जाये तो बंध होनेसे रुक जाता है, और उस कारण दूसरी प्रकृतियोमे बटवारा होनेसे रुक जाता है। जैसे दूसरे प्रयोगसे चढा हुआ विष वापस उतर जाता है, वैसे प्रकृतिका रस मंद कर डाला जाये तो उसका बल कम होता है। एक प्रकृति बंध करती है तो दूसरी प्रकृतियाँ उसमेसे भाग लेती है, ऐसा उनका स्वभाव है।

४ मूल कर्मप्रकृतिका क्षय न हुआ हो तब तक उत्तर कर्मप्रकृतिका बंध विच्छेद हो गया हो तो भी उसका बंध मूल प्रकृतिमे रहे हुए रसके कारण हो सकता है, यह आश्चर्य जैसा है। जैसे दर्शनावरणीयमे निद्रा-निद्रा आदि।

५ अनंतानुबंधी कर्मप्रकृतिकी स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ीकी, और मोहनीय (दर्शन मोहनीय) की सत्तर कोड़ाकोड़ीकी है।

---

२३ मोरबी, आषाढ वदी ९, शुक्र, १९५६

१. आयुका बंध एक आनेवाले भवका आत्मा कर सकता है, उससे अधिक भवोका बंध नही कर सकता।

२. कर्मग्रन्थके बंधचक्रमे जो आठ कर्मप्रकृतियाँ बतायी है, उनकी उत्तरप्रकृतियाँ एक जीवआश्रयी अपवादके साथ बंध उदय आदिमे हैं; परन्तु उसमे आयु अपवादरूप है। वह इस तरह कि मिथ्यात्वगुणस्थानकवर्ती जीवको बंधमे चार आयुकी प्रकृतिका (अपवाद) बताया है। उसमे ऐसा नही समझना कि जीव चालू पर्यायमे चारो गतियोकी आयुका बंध करता है, परंतु आयुका बंध करनेके लिये वर्तमान पर्यायमे इस गुणस्थानकवर्ती जीवके लिये चारो गतियाँ खुली है। उन चारोमेसे एक एक गतिका बंध कर सकता है। उसी तरह जिस पर्यायमें जीव हो उसे उस आयुका उदय होता है। तात्पर्य कि चार गतियोमेसे वर्तमान एक गतिका उदय हो सकता है; और उदीरणा भी उसीकी हो सकती है।

३. बड़ेसे बड़ा स्थितिबंध सत्तर कोड़ाकोडीका है। उसमे असंख्यात भव होते हैं। फिर वैसेका वैसा क्रम क्रमसे बंध होता जाता है। ऐसे अनंत बंधकी अपेक्षासे अनंत भव कहे जाते हैं; परंतु पूर्वोक्तके अनुसार ही भवका बंध होता है।

---

२४ मोरबी, आषाढ़ वदी १०, शनि, १९५६

१. विशिष्ट—मुख्यतः—मुख्यतावाचक शब्द है।

२. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय ये तीन प्रकृतियाँ उपशमभावमें हो ही नही सकती, क्षयोपशमभावमे ही होती हैं। ये प्रकृतियाँ यदि उपशमभावमें हों तो आत्मा जड़वत् हो जाता है और क्रिया भी नही कर सकता; अथवा तो उससे प्रवर्तन भी नही हो सकता। ज्ञानका काम जानना है, दर्शनका काम देखना है, और वीर्यका काम प्रवर्तन करना है। वीर्य दो प्रकारसे प्रवर्तन कर सकता है—(१) अभिसंधि, (२) अनभिसंधि। अभिसंधि = आत्माकी प्रेरणासे वीर्यका प्रवर्तन होना। अनभिसंधि = कषायसे वीर्यका प्रवर्तन होना। ज्ञानदर्शनमे भूल नहीं होती। परन्तु उदयभावमें रहे हुए दर्शनमोहके कारण भूल

होनेसे अर्थात् कुछका कुछ जाननेसे वीर्यकी प्रवृत्ति विपरीतरूपसे होती है, यदि सम्यक्‌रूपसे हो तो सिद्ध-पर्याय प्राप्त हो जाता है। आत्मा कभी भी क्रियाके बिना नहीं हो सकता। जब तक योग है तब तक जो क्रिया करता है, वह अपनी वीर्यशक्तिसे करता है। वह क्रिया देखनेमे नही आती; परन्तु परिणामसे जाननेमें आती है। खाई हुई खुराक निद्रामे पच जाती है, यो सबेरे उठनेपर मालूम होता है। निद्रा अच्छी आयी थी इत्यादि कहते है, यह भी हुई क्रियाके समझमे आनेसे कहा जाता है। यदि चालीस बरसकी उमरमे अंक गिनना आये तो इससे क्या यह कहा जा सकेगा कि अक पहले नहीं थे ? बिलकुल नही। स्वयंको उसका ज्ञान नही था इसलिये ऐसा कहता है। इसी तरह ज्ञान-दर्शनके बारेमे समझना है। आत्माके ज्ञान, दर्शन और वीर्य थोड़े-बहुत भी खुले रहनेसे आत्मा क्रियामे प्रवृत्ति कर सकता है। वीर्य सदा चलाचल रहा करता है। कर्मग्रन्थ पढनेसे विशेष स्पष्ट होगा। इतने स्पष्टीकरणसे बहुत लाभ होगा।

३ पारिणामिक भावसे सदा जीवत्व है, अर्थात् जीव जीवरूपसे परिणमन करता है, और सिद्धत्व क्षायिक-भावसे होता है, क्योंकि प्रकृतियोका क्षय करनेसे सिद्धपर्याय मिलता है।

४. मोहनीयकर्म औदयिक भावसे होता है।

५. वणिक विकल अर्थात् मात्रा, शिरोरेखा आदिके बिना अक्षर लिखते हैं, परन्तु अंक विकल नहीं लिखते, उन्हे तो बहुत स्पष्टतासे लिखते है। उसी तरह कथानुयोगमे ज्ञानियोने शायद विकल लिखा हो तो भले; परन्तु कर्मप्रकृतिमें तो निश्चित अंक लिखे हैं। उसमे जरा भी फर्क नही आने दिया।

---

२५ मोरबी, आषाढ़ वदी ११, रवि, १९५६

१ ज्ञान धागा पिरोयी हुई सूईके समान है, ऐसा उत्तराध्ययन सूत्रमे कहा है। धागेवाली सूई खोयी नही जाती। उसी तरह ज्ञान होनेसे संसारमे गुमराह नही हुआ जाता।

---

२६ मोरबी, आषाढ वदी १२, सोम, १९५६

१ प्रतिहार = तीर्थंकरका धर्मराज्यत्व बतानेवाला। प्रतिहार = दरबान।

२ स्थूल, अल्पस्थूल, उससे भी स्थूल, दूर, दूरसे दूर, उससे भी दूर, ऐसा मालूम होता है; और इस आधारसे सूक्ष्म, सूक्ष्मसे सूक्ष्म आदिका ज्ञान किसीको भी होना सिद्ध हो सकता है।

३. नग्न = आत्ममग्न।

४ उपहत = मारा गया। अनुपहत = नही मारा गया। उपष्टंभजन्य = आधारभूत। अभिधेय = जो वस्तुधर्म कहा जा सके। पाठातर = एक पाठकी जगह दूसरा पाठ। अर्थांतर = कहनेका हेतु बदल जाना। विषम = जो यथायोग्य न हो, अंतरवाला, कम-ज्यादा। आत्मद्रव्य सामान्य विशेष उभयात्मक सत्तावाला है। सामान्य चेतनसत्ता दर्शन है। सविशेष चेतनसत्ता ज्ञान है।

५. सत्ता समुद्भूत = सम्यक् प्रकारसे सत्ताका उदयभूत होना, प्रकाशित होना, स्फुरित होना, ज्ञात होना।

६. दर्शन = जगतके किसी भी पदार्थका भेदरूप रसगंधरहित निराकार प्रतिबिंबित होना, उसका अस्तित्व भास्यमान होना; निर्विकल्परूपसे कुछ है, इस तरह आरसीकी झलककी भाँति सामनेके पदार्थका भास होना, यह दर्शन है। विकल्प हो वहाँ 'ज्ञान' होता है।

७. दर्शनावरणीय कर्मके आवरणके कारण दर्शन अवगाढतासे आवृत होनेसे चेतनमें मूढता हो गयी और वहाँसे शून्यवाद शुरू हुआ।

८. जहाँ दर्शन रुक जाता है वहाँ ज्ञान भी रुक जाता है।

९. दर्शन और ज्ञानका बटवारा किया गया है। ज्ञान-दर्शनके कुछ टुकड़े होकर वे अलग अलग नहीं हो सकते। ये आत्माके गुण हैं। जिस तरह रुपयेमें दो अठन्नी होती है उसी तरह आठ आना दर्शन और आठ आना ज्ञान है।

१०. तीर्थंकरको एक ही समयमे दर्शन और ज्ञान दोनो साथ होते है, इस तरह दो उपयोग दिगम्बर-मतके अनुसार हैं, श्वेताम्बर-मतके अनुसार नही। बारहवें गुणस्थानकमे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय इन तीन प्रकृतियोंका क्षय एक साथ होता है, और उत्पन्न होनेवाली लब्धि भी एक साथ होती है। यदि एक समयमें न होते हों तो एक दूसरी प्रकृतिको रुकना चाहिये। श्वेताम्बर कहते हैं कि ज्ञान सत्तामे रहना चाहिये, क्योंकि एक समयमे दो उपयोग नही होते; परन्तु दिगम्बरोंकी उससे भिन्न मान्यता है।

११. शून्यवाद = कुछ भी नही ऐसा माननेवाला, यह बौद्धधर्मका एक भेद है। आयतन = किसी भी पदार्थका स्थल, पात्र। कूटस्थ = अचल, जो दूर न हो सके। तटस्थ = किनारे पर; उस स्थलमे। मध्यस्थ = बीचमें।

---

२७ मोरबी, आषाढ वदी १३, मगल, १९५६

१. चयोपचय = जाना-जाना, परन्तु प्रसंगवशात् आना-जाना, गमनागमन। मनुष्यके जाने आनेको लागू नही होता। श्वासोच्छ्वास इत्यादि सूक्ष्म क्रियाको लागू होता है। चयविचय = जाना आना।

२. आत्माका ज्ञान जब चिंतामे रुक जाता है तब नये परमाणु ग्रहण नही हो सकते; और जो होते हैं, वे चले जाते हैं, इससे शरीरका वजन घट जाता है।

३. श्री आचारांगसूत्रके पहले शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनमे और श्री षड्दर्शनसमुच्चयमे मनुष्य और वनस्पतिके धर्मकी तुलना कर वनस्पतिमे आत्माका अस्तित्व सिद्ध कर बताया है, वह इस तरह कि दोनो उत्पन्न होते है, बढ़ते हैं, आहार लेते है, परमाणु लेते है, छोड़ते हैं, मरते हैं इत्यादि।

---

२८ मोरबी, श्रावण सुदी ३, रवि, १९५६

१. साधु = सामान्यतः गृहवासका त्यागी, मूलगुणोंका धारक। यति = ध्यानमे स्थिर होकर श्रेणि शुरू करनेवाला। मुनि = जिसे अवधि, मनःपर्यायज्ञान हो तथा केवलज्ञान हो। ऋषि = बहुत ऋद्धिधारी। ऋषिके चार भेद—(१) राज०, (२) ब्रह्म०, (३) देव० (४) परम० राजर्षि = ऋद्धिवाला, ब्रह्मर्षि = अक्षीण महान ऋद्धिवाला, देवर्षि = आकाशगामी मुनिदेव, परमर्षि = केवलज्ञानी।

---

२९ श्रावण सुदी १०, सोम, १९५६

१. अभव्य जीव अर्थात् जो जीव उत्कट रससे परिणमन करे और उससे कर्म बाँधा करे, और इस कारण उसका मोक्ष न हो। भव्य अर्थात् जिस जीवका वीर्य शांतरससे परिणमन करे और उससे नया कर्मबंध न होनेसे मोक्ष हो। जिस जीवकी वृत्ति उत्कट रससे परिणमन करती हो उसका वीर्य उसके अनुसार परिणमन करता है; इसलिये ज्ञानीके ज्ञानमे अभव्य प्रतीत हुए। आत्माकी परमशांत दशासे 'मोक्ष' और उत्कट दशासे 'अमोक्ष'। ज्ञानीने द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षासे भव्य, अभव्य कहे हैं। जीवका वीर्य उत्कट रससे परिणमन करनेसे सिद्धपर्याय प्राप्त नही हो सकता, ऐसा ज्ञानीने कहा है। भजना = अंशसे; हो या न हो। वंचक = (मन,वचन और कायासे) ठगनेवाला।

---

३० मोरबी, श्रावण वदी ८, शनि, १९५६

१. **कम्मदव्वे हिं संमं संजोगो होई जो उ जीवस्स।**
सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो ॥

अर्थ—कर्मद्रव्य अर्थात् पुद्गलद्रव्यके साथ जीवका जो संबंध होना है वह बंध है, उसका वियोग होना मोक्ष है। संमं=अच्छी तरहसे संबंध होना, यथार्थतासे संबंध होना, जैसे-तैसे कल्पना करके संबंध होनेका मान लेना सो नहीं।

२. प्रदेश और प्रकृतिबंध मन-वचन-कायाके योगसे होता है। स्थिति और अनुभागबंध कषायसे होता है।

३ विपाक अर्थात् अनुभाग द्वारा फलपरिपक्वता होना। सब कर्मोंका मूल अनुभाग है, उसमे जैसा तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर रस पड़ा है वैसा उदयमे आता है। उसमे अंतर या भूल नहीं होती। कुल्हिया-में पैसा, रुपया, मुहर आदि रखनेका दृष्टांत—जैसे किसी कुल्हियामें बहुत समय पहले पैसा, रुपया, और मुहर डाल रखे हों; उन्हे जिस समय निकालें तो वे उसी जगह उसी धातुरूपसे निकलते हैं, उसमें जगहमें और उनकी स्थितिमें परिवर्तन नही होता अर्थात् पैसा रुपया नही हो जाता, और रुपया पैसा नही हो जाता, उसी तरह बाँधा हुआ कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार उदयमे आता है।

४. आत्माके अस्तित्वमे जिसे शंका होती है उसे 'चार्वाक' कहा जाता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमे तीर्थंकर आदिको एक समयका बंध होता है। मुख्यत कदाचित् ग्यारहवें गुणस्थानकमे अकषायीको भी एक समयका बंध हो सकता है।

६ पवन पानीकी निर्मलताका भंग नही कर सकता, परन्तु उसे चलायमान कर सकता है। उसी तरह आत्माके ज्ञानमे कुछ निर्मलता कम नही होती, परन्तु योगकी चलायमानता है, इसलिये रसके बिना एक समयका बंध कहा है।

७. यद्यपि कषायका रस पुण्य तथा पापरूप है तो भी उसका स्वभाव कड़वा है।

८ पुण्य भी खारापनमेंसे होता है। पुण्यका चौठाणिया रस नही है, क्योकि एकांत साताका उदय नहीं है। कषायके दो भेद—(१) प्रशस्तराग और (२) अप्रशस्तराग। कषायके बिना बंध नहीं होता।

९. आर्तध्यानका समावेश मुख्यत· कषायमे हो सकता है, प्रमादका चारित्रमोहमे और योगका नामकर्ममे समावेश हो सकता है।

१०. श्रवण पवनकी लहरके समान है। वह आता है और चला जाता है।

११. मनन करनेसे छाप पड़ती है, और निदिध्यासन करनेसे ग्रहण होता है।

१२. अधिक श्रवण करनेसे मननशक्ति मंद होती हुई देखनेमें आती है।

१३ प्राकृतजन्य अर्थात् लौकिक वाक्य, ज्ञानीका वाक्य नहीं।

१४. आत्मा प्रत्येक समय उपयोगसहित होनेपर भी अवकाशकी कमी अथवा कामके बोझके कारण उसे आत्मासंबंधी विचार करनेका समय नही मिल सकता यो कहना प्राकृतजन्य 'लौकिक' वचन है। यदि खाने, पीने, सोने इत्यादिका समय मिला और काम किया वह भी आत्माके उपयोगके बिना नही हुआ; तो फिर खास जिस सुखकी आवश्यकता है, और जो मनुष्य जन्मका कर्तव्य है उसके लिये समय नहीं मिला, इस वचनको ज्ञानी कभी भी सच्चा नही मान सकते। इसका अर्थ इतना ही है कि दूसरे इंद्रिय आदि सुखके काम तो जरूरी लगे हैं, और उसके बिना दुःखी होनेके डरकी कल्पना है।

आत्मिक सुखके विचारका काम किये बिना अनंतकाल दुःख भोगना पड़ेगा और अनंत संसारभ्रमण करना पड़ेगा, यह बात जरूरी नही लगती। मतलब यह कि इस चैतन्यने कृत्रिम मान रखा है, सच्चा नहीं माना।

१५. सम्यग्दृष्टि पुरुष, अनिवार्य उदयके कारण लोकव्यवहार निर्दोषता एवं लज्जाशीलतासे करते हैं। प्रवृत्ति करनी चाहिये, उससे शुभाशुभ जैसा होना होगा, वैसा होगा ऐसी दृढ मान्यताके साथ वे ऊपर-ऊपरसे प्रवृत्ति करते हैं।

१६. दूसरे पदार्थोंपर उपयोग दे तो आत्माकी शक्तिका आविर्भाव होता है, तो सिद्धि, लब्धि आदि शंकास्पद नही हैं। वे प्राप्त नही होती इसका कारण यह है कि आत्मा निरावरण नहीं किया जा सकता। ये सब शक्तियाँ सच्ची हैं। चैतन्यमे चमत्कार चाहिये, उसका शुद्ध रस प्रगट होना चाहिये। ऐसी सिद्धि-वाले पुरुष असाताकी साता कर सकते है, फिर भी वे उसकी अपेक्षा नही करते। वे वेदन करनेमे ही निर्जरा समझते हैं।

१७ आप जीवोंमे उल्लासमान वीर्य या पुरुषार्थ नही है। जहाँ वीर्य मंद पड़ा वहाँ उपाय नही है।

१८ जब असाताका उदय न हो तब काम कर लेना, ऐसा ज्ञानीपुरुषोंने जीवका असामर्थ्य देखकर कहा है, कि जिससे उसका उदय आनेपर चलित न हो।

१९ सम्यग्दृष्टि पुरुषको जहाजके कप्तानकी तरह पवन विरुद्ध होनेसे जहाजको मोड़कर रास्ता बदलना पडता है। उससे वे ऐसा समझते है कि स्वयं ग्रहण किया हुआ रास्ता सच्चा नही है, उसी तरह ज्ञानीपुरुष उदय-विशेषके कारण व्यवहारमे भी अन्तरात्मदृष्टि नहीं चूकते।

२० उपाधिमे उपाधि रखनी। समाधिमे समाधि रखनी। अंग्रेजोकी तरह कामके वक्त काम और आरामके वक्त आराम। एक दूसरेका मिश्रण नही कर देना चाहिये।

२१ व्यवहारमें आत्मकर्तव्य करते रहें। सुखदुःख, धनकी प्राप्ति-अप्राप्ति, यह शुभाशुभ तथा लाभांतरायके उदयपर आधार रखता है। शुभके उदयके साथ पहलेसे अशुभके उदयकी पुस्तक पढी हो तो शोक नही होता। शुभके उदयके समय शत्रु मित्र हो जाता है, और अशुभके उदयके समय मित्र शत्रु हो जाता है। सुखदु खका असली कारण कर्म ही है। कार्तिकेयानुप्रेक्षामे कहा है कि कोई मनुष्य कर्ज लेने आये तो उसे कर्ज चुका देनेसे सिरका बोझ कम हो जानेसे कैसा हर्ष होता है? उसी तरह पुद्गल-द्रव्यरूप शुभाशुभ कर्ज जिस कालमे उदयमे आये उस कालमें उसका सम्यक् प्रकारसे वेदन कर चुका देनेसे निर्जरा होती है और नया कर्ज नही होता। इसलिये ज्ञानीपुरुषको कर्मरूपी कर्जमेंसे मुक्त होनेके लिये हर्ष-विह्वलतासे तैयार रहना चाहिये, क्योंकि उसे दिये बिना छुटकारा होनेवाला नही है।

२२ सुखदु ख जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे उदयमें आनेवाला हो उसमे इंद्र आदि भी परिवर्तन करनेके लिये शक्तिमान नही हैं।

२३ चरणानुयोगमे ज्ञानीने अंतर्मुहूर्त आत्माका अप्रमत्त उपयोग माना है।

२४. करणानुयोगमे सिद्धांतका समावेश होता है।

२५ चरणानुयोगमें जो व्यवहारमें आचरणीय है उसका समावेश किया है।

२६. सर्वविरति मुनिको ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रतिज्ञा ज्ञानी देते हैं, वह चरणानुयोगकी अपेक्षासे, परन्तु करणानुयोगकी अपेक्षामे नही, क्योंकि करणानुयोगके अनुसार नौवें गुणस्थानकमें वेदोदयका क्षय हो सकता है, तब तक नही हो सकता।

आभ्यंतर परिणाम अवलोकन

—संस्मरण-पोथी—

२२वेंसे ३४वें वर्ष पर्यन्त

श्रीमद्‌जीके कितने ही निजी अभिप्राय वयक्रममें आ जाते है। उसके अतिरिक्त उनके आभ्यतर परिणामावलोकन (Introspection) सम्बन्धी तीन संस्मरण-पोथियाँ (Memo-Books) प्राप्त हुई है, जिन्हे यहाँ देते है। सस्मरणपोथियोंमें स्व-निरीक्षणसे उद्‌भूत पृथक् पृथक् उद्‌गार स्व-उपयोगार्थ क्रमरहित लिखे गये है। इनमेसे दो विदेशी गठनकी है और एक देशी गठनकी है। पहली दोमेंसे एककी जिल्दपर अग्रेजी वर्ष १८९० का और दूसरीमे १८९६ का 'कैलेण्डर' है, देशीमें नही है। विदेशी दोनोका कद ७ × ४½ इञ्च है, और देशीका कद ६¾ × ४ इञ्च है। १८९० वालीमें १००, १८९६ वालीमे ११६, और देशीमें ६० पन्ने (Leaves) हैं। इन तीनोंमे प्राय· एक लेख भी क्रमवार नहीं है। जैसे कि १८९० वाली संस्मरण-पोथीमें लिखनेका आरम्भ, दूसरे पन्ने (तीसरे पृष्ठ)से 'सहज' इस शीर्षकके नीचेका लेख देखते हुए हुआ लगता है। इस प्रारम्भलेखकी शैली देखते हुए वह अग्रेजी वर्ष १८९० अथवा विक्रम सवत् १९४६ में लिखा हो ऐसा संभव है। यह प्रारंभ लेख दूसरे पन्ने—तीसरे पृष्ठपर है, जब कि प्रारम्भ लेख लिखते ममय पहला पृष्ठ छोड दिया है जो बादमे लिखा है। इसी तरह ५१ वें पृष्ठपर सवत् १९५१ के पौष मासकी मितीका लेख है। उसके बाद ६२वें पृष्ठपर संवत् १९५३ के फागुन वदी १२ का लेख है और ९७ वें पृष्ठपर संवत् १९५१ के माघ सुदी ७ का लेख है, जब कि १३० वें पृष्ठपर जो लेख है वह सवत् १९४७ का सभव है; क्योकि उस लेखका विषय दर्शन-आलोचनारूप है, जो दर्शन-आलोचना संवत् १९४७ में सम्यग्दर्शन (देखें संस्मरण-पोथी पहलीका आक ३१—'ओगणीससें ने सुडताळीसे समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे—') होनेसे पूर्व होना योग्य है। फिर १८९६ अर्थात् संवत् १९५२ वाली सस्मरण-पोथी लिखना शुरू करनेके बाद उसीमे लिखा हो ऐसा भी नही है; क्योंकि सवत् १९५२ वाली नयी सस्मरण-पोथी होते हुए भी १८९० (१९४६) वाली संस्मरण-पोथीमे संवत् १९५३ के लेख है। सवत् १९५२ (१८९६) वाली सस्मरण-पोथी पूरी हो जानेके बाद तीसरी—देशी गठनवालीका उपयोग किया है, ऐसा भी नही है, क्योकि १८९६ वालीमें २७ पन्ने काममे लिये हैं, और उसके बाद सारे कोरे पडे है। और तीसरी देशी गठनवालीमें बहुतसे लेख हैं। जैसे सवत् १८९६ वाली सस्मरणपोथीमे सवत् १९५४ के ही लेख है, वैसे देशी गठनवालीमें भी है। इसी तरह १८९० वालीमे संवत् १९५३ के ही लेख होंगे और उसके बादके नही होंगे यह भी कह सकना शक्य नही है। और तीनो सस्मरण पोथियोंमें बीच-बीचमें बहुत पन्ने केवल कोरे पडे है; अर्थात् यह अनुमान होता है कि जब जो संस्मरण-पोथी हाथ लगी, और खोलते ही जो पन्ना निकला उसमें कही-कही स्वनिरीक्षण अपने ही जाननेके लिये लिख डाला है। जो निजी लेख वयक्रममें हैं वे, और इन तीनो सस्मरण-पोथियोंके लेख स्वनिरीक्षणके लिये है, इसलिये हमने इन संस्मरण-पोथियोको 'आभ्यतर-परिणाम-अवलोकन' इस शीर्षकसे यहाँ प्रस्तुत किया है। इस निरीक्षणमे उनकी दशा, आत्मजागृति और आत्ममग्नता, अनुभव, स्वविचारके लिये लिखे हुए प्रश्नोत्तर, अन्य जीवोके निर्णय करनेके उद्देश्यसे लिखे हुए प्रश्नोत्तर, दर्शनोद्धार-योजनाएँ इत्यादि सबधी अनेक उद्‌गार हैं, जिनमें कितने ही निजी साकेतिक भाषामें है।

९६०

आभ्यंतर परिणाम अवलोकन

संस्मरण-पोथी

२२वेंसे ३४वें वर्ष पर्यन्त

संस्मरण-पोथी १

१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १]

*प्रत्येक प्रत्येक पदार्थका अत्यंत विवेक करके इस जीवको उससे व्यावृत्त करें, ऐसा निर्ग्रंथ कहते हैं।

जैसे शुद्ध स्फटिकमें अन्य रंगका प्रतिभास होनेसे उसका मूल स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता, वैसे ही शुद्ध निर्मल यह चेतन अन्य संयोगके तादात्म्यवत् अभ्याससे अपने स्वरूपके लक्ष्यको नही पाता। यत्किंचित् पर्यायांतरसे इसी प्रकारसे जैन, वेदांत, सांख्य, योग आदि कहते है।

---

* संवत् १९७७ मे अहमदाबादसे प्रकाशित "श्रीमद् राजचन्द्र प्रणीत तत्त्वज्ञान" के सातवे संस्करणमेसे प्राप्त हुआ लेख यहाँ प्रस्तुत है। यह मूल हस्ताक्षरवाली संस्मरण-पोथीमे न होनेसे पाद-टिप्पणमे दिया है।

१. प्रत्येक प्रत्येक पदार्थका अत्यन्त विवेक करके इस जीवको उससे व्यावृत्त करें।

२. जगतके जितने पदार्थ हैं, उनमेसे चक्षुरिंद्रियसे जो देखे जाते हैं उनका विचार करनेसे इस जीवसे वे पर है अथवा तो वे इस जीवके नही हैं, इतना ही नही अपितु उनपर राग आदि भाव हों तो उससे वे ही दु:खरूप सिद्ध होते हैं। इसलिये उनसे व्यावृत्त करनेके लिये निर्ग्रन्थ कहते हैं।

३. जो पदार्थ चक्षुरिंद्रियमे देखे नही जाते अथवा चक्षुरिंद्रियसे जाने नही जा सकते, परन्तु घ्राणेन्द्रियसे जाने जा सकते हैं, वे भी इस जीवके नही है, इत्यादि।

४. इन दो इन्द्रियोंसे नही परन्तु जिनका बोध रसेंद्रियसे हो सकता है वे पदार्थ भी इस जीवके नही हैं, इत्यादि।

५. इन तीन इंद्रियोंसे नही परतु जिनका ज्ञान स्पर्शेंद्रियसे हो सकता है वे भी इस जीवके नही हैं, इत्यादि।

६. इन चार इंद्रियोंसे नही परतु जिनका ज्ञान कर्णेन्द्रियसे हो सकता है, वे भी इस जीवके नही हैं, इत्यादि।

७. इन पाँच इंद्रियोंसहित मनसे अथवा तो किसी एक इंद्रियसहित मनसे या इन इंद्रियोंके बिना अकेले मनसे जिनका बोध हो सकता है ऐसे रूपी पदार्थ भी इस जीवके नहीं हैं, परंतु उससे पर हैं, इत्यादि।

८. उन रूपी पदार्थोंके अतिरिक्त अरूपी पदार्थ आकाश आदि हैं, जो मनसे माने जाते हैं, वे भी आत्माके नहीं है परन्तु उससे पर हैं, इत्यादि।

२

जीवके अस्तित्वका तो किसी कालमे भी संशय प्राप्त नही होता।

जीवको नित्यताका, त्रिकाल-अस्तित्वका किसी कालमे भी संशय प्राप्त नही होता।

जीवकी चेतना एवं त्रिकाल-अस्तित्वमे कभी भी संशय प्राप्त नही होता।

उसे किसी भी प्रकारसे बन्धदशा है, इस बातमे भी कभी भी संशय प्राप्त नहीं होता।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निःसंशय घटित होती है, इस विषयमे कभी भी संशय प्राप्त नही होता।

मोक्षपद है इस बातका कभी भी संशय नही होता।

---

१ इस जगतके पदार्थोंका विचार करनेसे वे सब नही परन्तु उनमेसे जिन्हें इस जीवने अपना माना है वे भी इस जीवके नही हैं अथवा उससे पर हैं, इत्यादि। जैसे कि—

१. कुटुम्ब और सगे-संबंधी, मित्र, शत्रु आदि मनुष्य-वर्ग।

२. नौकर, चाकर, गुलाम आदि मनुष्य-वर्ग।

३. पशु-पक्षी आदि तिर्यंच।

४. नारकी, देवता आदि।

५ पाँचो प्रकारके एकेंद्रिय।

६. घर, जमीन, क्षेत्र आदि, गाँव, जागीर आदि, तथा पर्वत आदि।

७. नदी, तालाब, कुआँ, बावडा, समुद्र आदि।

८. हरेक प्रकारका कारखाना आदि।

१० अब कुटुम्ब और सगेके सिवाय स्त्री, पुत्र आदि जो अति समीपके हैं अथवा जो अपनेसे उत्पन्न हुए हैं वे भी।

११. इस तरह सबको बरतरफ करनेसे अंतमे जो अपना शरीर कहा जाता है उसके लिये विचार किया जाता है—

१. काया, वचन और मन ये तीन योग और इनकी क्रिया।

२. पाँच इद्रिय आदि।

३. सिरके बालोंसे लेकर पैरके नख तकका प्रत्येक अवयव जैसे कि—

४ सभी स्थानोंके बाल, चर्म (चमडी), खोपडी, भेजा, मास, लहू, नाडी, हड्डी, सिर, कपाल, कान, आँख, नाक, मुख, जिह्वा, दात, गला, होंठ, ठोडी, गरदन, छाती, पीठ, पेट, रीढ़, कमर, गुदा, चूतड, लिंग, जाँघ, घुटना, हाथ, बाहु, कलाई, कुहनी, टखना, चपनी, एडीके नीचेका भाग, नख इत्यादि अनेक अवयव अर्थात् विभाग।

उपर्युक्तमेंसे एक भी इस जीवका नहो है फिर भी अपना मान बैठा है, वह सुधरनेके लिये अथवा उससे जीवको व्यावृत्त करनेके लिये मात्र मान्यताकी भूल है, वह सुधारनेसे ठीक हो सकती है। वह भूल कैसे हुई है? उसका विचार करनेसे पता चलता है कि वह भूल राग, द्वेष और अज्ञानसे हुई है। तो उन राग आदिको दूर करें। वे कैसे दूर हों? ज्ञानसे। वह ज्ञान किस तरह प्राप्त हो?

प्रत्यक्ष सद्गुरुकी अनन्य भक्तिकी उपासना करनेसे तथा तीन योग और आत्माका अर्पण करनेसे वह ज्ञान प्राप्त होता है। यदि वे प्रत्यक्ष सद्गुरु विद्यमान हो तो क्या करें? तो उनकी आज्ञानुसार बर्तन करें।

परम करुणाशील, जिनके प्रत्येक परमाणुसे दयाका झरना बह रहा है, ऐसे निष्कारण दयालुको अत्यन्त भक्तिसहित नमस्कार करके आत्माके साथ संयुक्त हुए पदार्थोंका विचार करते हुए श्री अनादिकालकी देहात्मबुद्धिके

३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २]

जीवकी व्यापकता, परिणामिता, कर्मसम्बद्धता, मोक्षक्षेत्र ये किस किस प्रकारसे घटित हो सकते है, इसका विचार किये बिना तथारूप समाधि नही होती। गुण और गुणीका भेद किस तरह समझमें आना योग्य है?

जीवकी व्यापकता, सामान्यविशेषात्मकता, परिणामिता, लोकालोकज्ञायकता, कर्मसम्बद्धता मोक्षक्षेत्र, ये पूर्वापर अविरोधसे किस तरह सिद्ध होते हैं?

एक ही जीव नामके पदार्थको भिन्न भिन्न दर्शन, सम्प्रदाय और मत भिन्न भिन्न स्वरूपसे कहते हैं, उसका कर्मसंबंध और मोक्ष भी भिन्न भिन्न स्वरूपसे कहते है, इसलिये निर्णय करना दुष्कर क्यों नहीं है?

---

४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३]

सहज

जो पुरुष इस ग्रन्थमे सहज नोंध करता है, उस पुरुषके लिये प्रथम सहज वही पुरुष लिखता है।

उसकी अभी अन्तरंगमे ऐसी दशा रहती है कि कुछके सिवाय उसने सभी संसारी इच्छाओकी भी विस्मृति कर डाली है।

वह कुछ पा भी चुका है, और पूर्णका परम मुमुक्षु है, अन्तिम मार्गका निःशंक जिज्ञासु है।

अभी जो आवरण उसके उदयमे आये है, उन आवरणोंसे उसे खेद नहीं है; परन्तु वस्तुभावमें होनेवाली मन्दताका खेद है।

वह धर्मकी विधि, अर्थकी विधि, कामकी विधि और उसके आधारसे मोक्षकी विधिको प्रकाशित कर सकता है। इस कालमे बहुत ही थोडे पुरुषोको प्राप्त हुआ होगा, ऐसे क्षयोपशमवाला पुरुष है।

उसे अपनी स्मृतिके लिये गर्व नही है, तर्कके लिये गर्व नही है, तथा उसके लिये पक्षपात भी नही है, ऐसा होनेपर भी उसे कुछ बाह्याचार रखना पड़ता है, उसके लिये खेद है।

उसका अब एक विषयको छोडकर दूसरे विषयमे ठिकाना नही है। वह पुरुष यद्यपि तीक्ष्ण उपयोगवाला है, तथापि उस तीक्ष्ण उपयोगको दूसरे किसी भी विषयमे लगानेके लिये वह प्रीति नहीं रखता। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४]

अभ्याससे जैसा चाहिये वैसा समझमे नही आता, तथापि किसी भी अंशमे देहसे आत्मा भिन्न है ऐसे अनिर्धारित निर्णय पर आया जा सकता है। और उसके लिये बारबार गवेषणा की जाये तो अब तक जो प्रतीति होती है उससे विशेषरूपसे हो सकना सम्भव है, क्योंकि ज्यो ज्यो विचारश्रेणिकी दृढता होती जाती है त्यो त्यों विशेष प्रतीति होती जाती है।

सभी सयोगो और सम्बन्धोका यथाशक्ति विचार करनेसे यह तो प्रतीति होती है कि देहसे भिन्न ऐसा कोई पदार्थ है।

ऐसे विचार करनेके लिये एकात आदि जो साधन चाहियें वे प्राप्त न करनेसे विचार-श्रेणीको किसी न किसी प्रकारसे बारबार व्याघात होता है और उससे चलती हुई विचारश्रेणी टूट जाती है। ऐसी टूटी-फूटी विचारश्रेणी होते हुए भी क्षयोपशमके अनुसार विचार करते हुए जड-पदार्थ (शरीर आदि) के सिवाय उसके सबधमें कोई भी वस्तु है, अवश्य है ऐसी प्रतीति हो जाती है। आवरणके बलसे अथवा तो अनादिकालके देहात्मबुद्धिके अभ्याससे यह निर्णय भुला दिया जाता है, और भूलवाले रास्तेपर गमन हो जाता है।

५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९]

एक बार वह स्वभुवनमें बैठा था। जगतमे कौन सुखी है, उसे जरा देखूं तो सही, फिर मैं अपने लिये विचार करूँगा। उसकी इस अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिये अथवा स्वयं उस संग्रहालयको देखनेके लिये बहुतसे पुरुष (आत्मा) और बहुतसे पदार्थ उसके पास आये।

'इसमे कोई जड पदार्थ न था।'

'कोई अकेला आत्मा देखनेमे नही आया।'

मात्र कितने ही देहधारी थे, जो मेरी निवृत्तिके लिये आये हो ऐसी उस पुरुषको शंका हुई।

वायु, अग्नि, पानी और भूमि इनमेसे कोई क्यो नही आया ?

(नेपथ्य) वे सुखका विचार भी नही कर सकते। वे बिचारे दुःखसे पराधीन हैं।

दो इंद्रिय जीव क्यो नहीं आये ?

(नेपथ्य) उनके लिये भी यही कारण है। इस चक्षुसे देखिये। उन बिचारोको कितना अधिक दुःख है ?

उनका कम्प, उनकी थरथराहट, पराधीनता इत्यादि देखे नही जा सकते। वे बहुत दुःखी थे।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०]

(नेपथ्य) इसी चक्षुसे अब आप सारा जगत देख लें। फिर दूसरी बात करें।

अच्छी बात है। दर्शन हुआ, आनन्द पाया; परन्तु फिर खेद उत्पन्न हुआ।

(नेपथ्य) अब खेद क्यों करते हैं ?

मुझे दर्शन हुआ क्या वह सम्यक् था ?

"हाँ"

सम्यक् हो तो फिर चक्रवर्ती आदि दुःखी क्यो दिखायी देते है ?

'जो दुःखी हो वे दुःखी, और जो सुखी हो वे सुखी दिखायी देंगे।'

चक्रवर्ती तो दुःखी नही होगा ?

'जैसा दर्शन हुआ वैसी श्रद्धा करे। विशेष देखना हो तो चलें मेरे साथ।'

चक्रवर्तीके अंतःकरणमें प्रवेश किया।

अंतःकरण देखकर मैंने यह माना कि वह दर्शन सम्यक् था। उसका अंतःकरण बहुत दुःखी था। अनंत भयके पर्यायोसे वह थरथराता था। काल आयुकी रस्सीको निगल रहा था। हड्डी-मासमे उसकी वृत्ति थी। कंकरोंमे उसकी प्रीति थी। क्रोध, मानका वह उपासक था। बहुत दुःख—

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११]

अच्छा, क्या यह देवोका दर्शन भी सम्यक् समझना ?

'निश्चय करनेके लिये इन्द्रके अंतःकरणमे प्रवेश करें।'

चले अब—

(उस इन्द्रकी भव्यतासे मै धोखा खा गया) वह भी परम दुःखी था। बिचारा च्युत होकर किसी बीभत्स स्थलमे जन्म लेनेवाला था, इसलिये खेद कर रहा था। उसमे सम्यग्दृष्टि नामकी देवी बसी थी। वह उसके लिये खेदमे विश्रांति थी। इस महादुःखके सिवाय उसके और अनेक अव्यक्त दुःख थे।

परंतु, (नेपथ्य)—ये जड अकेले या आत्मा अकेले जगतमें नहीं हैं क्या ? उन्होंने मेरे आमंत्रणका सन्मान नहीं किया।

'जड़ोंको ज्ञान न होनेसे आपका आमंत्रण वे बिचारे कहाँसे स्वीकार करते ? सिद्ध (एकात्मभावी) आपका आमंत्रण स्वीकार नही कर सकते। उन्हे इसकी कुछ परवाह नहीं है।'

इतनी अधिक बेपरवाही ? आमंत्रण तो मान्य करना ही चाहिये; आप क्या कहते हैं ?

'इन्हें आमंत्रण-अनामंत्रणसे कोई संबंध नही है।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२]

वे परिपूर्ण स्वरूपसुखमें विराजमान हैं।'

यह मुझे बतायें। एकदम—बहुत जल्दीसे।

'उनका दर्शन तो बहुत दुर्लभ है। लीजिये, यह अंजन आँजकर दर्शन प्रवेश साथमे कर देखें।

अहो ! ये बहुत सुखी हैं। इन्हे भय भी नही है। शोक भी नही है। हास्य भी नही है। वृद्धता नहीं है। रोग नही है। आधि भी नही है, व्याधि भी नही है, उपाधि भी नही है, यह सब कुछ नहीं है। परंतु…………अनंत-अनंत सच्चिदानंदसिद्धिसे वे पूर्ण हैं। हमें ऐसा होना है।

'क्रमसे हुआ जा सकेगा।'

यह क्रम-क्रम यहाँ नहीं चलेगा। यहाँ तो तुरन्त वही पद चाहिये।

'जरा शांत हो, समता रखें, और क्रमको अंगीकार करे। नही तो उस पदसे युक्त होना सम्भव नहीं।'

"होना सभव नही" इस अपने वचनको आप वापस ले। क्रम त्वरासे बतायें, और उस पदमें तुरन्त भेजें।

'बहुतसे मनुष्य आये है। उन्हे यहाँ बुलायें। उनमेंसे आपको क्रम मिल सकेगा।'

[सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३]

चाहा कि वे आये;—

आप मेरा आमंत्रण स्वीकार कर चले आये इसके लिये आपका उपकार मानता हूँ। आप सुखी हैं, यह बात सच है क्या ? आपका पद क्या सुखवाला माना जाता है ऐसा ?

एक वृद्ध पुरुषने कहा—'आपका आमत्रण स्वीकार करना या न करना ऐसा हमे कुछ बंधन नहीं है। हम सुखी है या दुःखी, यह बतानेके लिये भी हमारा यहाँ आगमन नहीं है। अपने पदकी व्याख्या करनेके लिये भी आगमन नही है। आपके कल्याणके लिये हमारा आगमन है।'

कृपा करके शीघ्र कहिये कि आप मेरा क्या कल्याण करेंगे ? और आये हुए पुरुषोंकी पहचान कराइये।

उन्होंने पहले परिचय कराया—

इस वर्गमे ४-५-६-७-८-९-१०-१२ नंबरवाले मुख्यत. मनुष्य हैं। ये सब उसी पदके आराधक योगी हैं कि जिस पदको आपने प्रिय माना है।

[सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १४]

नं० ४ से वह पद ही सुखरूप है, और बाकीकी जगत-व्यवस्था जैसे हम मानते हैं, वैसे वे मानते हैं। उस पदके लिये उनकी हार्दिक अभिलाषा है परतु वे प्रयत्न नहीं कर सकते, क्योंकि कुछ समय तक उन्हें अंतराय है।

अंतराय क्या ? करनेके लिये तत्पर हुए कि बस वह हो गया।

वृद्ध—आप जल्दी न करें। इसका समाधान अभी आपको मिल सकेगा, मिल जायेगा।

ठीक, आपकी इस बातसे मैं सम्मत होता हूँ।

वृद्ध—यह '५' नंबरवाला कुछ प्रयत्न भी करता है। बाकी सब बातोंमें नंबर '४' की तरह है।

नंबर '६' सब प्रकारसे प्रयत्न करता है। परंतु प्रमत्तदशासे प्रयत्नमे मंदता आ जाती है।

नंबर '७' सर्वथा अप्रमत्त-प्रयत्नवान है।

नंबर '८-९-१०' उसकी अपेक्षा क्रमसे उज्ज्वल हैं, किंतु उसी जातिके हैं। '११' नंबरवाला पतित हो जाता है इसलिये उसका यहाँ आना नहीं हुआ। दर्शन होनेके लिये मैं बारहवेंमें हो हूँ—अभी मैं उस पदको संपूर्ण देखनेवाला हूँ, परिपूर्णता पानेवाला हूँ। आयुस्थिति पूरी होनेपर आपके देखे हुए पदमें एक मुझे भी देखेंगे।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५]

पिताजी, आप महाभाग्य है।

ऐसे नंबर कितने हैं ?

वृक्ष—पहले तीन नंबर आपको अनुकूल नहीं आयेंगे। ग्यारहवां भी वैसा ही है। '१३-१४' आपके पास आयें ऐसा उनको निमित्त नही रहा। '१३' यत्किंचित् आ जाये; परंतु पू॰ क॰[1] हो तो उनका आगमन हो, नही तो नही। चौदहवेंका आगमन-कारण मत पूछना, कारण नही है।

(नेपथ्य) "आप इन सबके अंतरमें प्रवेश करें। मैं सहायक होता हूँ।"

चलें। ४ से ११ + १२ तक क्रम क्रमसे सुखकी उत्तरोत्तर बढती हुई लहरें उमड़ रही थी। अधिक क्या कहें ? मुझे वह बहुत प्रिय लगा; और यही मुझे अपना लगा।

वृद्धने मेरे मनोगत भावको जानकर कहा—यही है आपका कल्याणमार्ग। जायें तो भले और आयें तो यह समुदाय रहा।

मैं उठकर उनमे मिल गया।

[स्वविचार भुवन, द्वार प्रथम]

---

६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७]

कायाकी नियमितता।
वचनकी स्याद्वादिता।
मनकी उदासीनता।
आत्माकी मुक्तता।
(यह अंतिम समझ)

---

७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८]

आत्मसाधन

द्रव्य—मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ।
क्षेत्र—असंख्यात निज-अवगाहना प्रमाण हूँ।
काल—अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ।
भाव—शुद्ध चैतन्य मात्र निर्विकल्प द्रष्टा हूँ।

---

८ [संस्मरण पोथी १, पृष्ठ १९]

वचनसंयम—	वचनसंयम—	वचनसंयम।
मनःसंयम—	मनःसंयम—	मनःसंयम।
कायसंयम—	कायसंयम—	कायसंयम।

---

१. पूर्वकर्म।

कायसंयम

इंद्रियसंक्षेपता,	आसनस्थिरता।
इंद्रियस्थिरता,	सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति।

वचनसंयम

मौन,	सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति।
वचनसंक्षेप,	वचनगुणातिशयता।

मन सयम

मनःसंक्षेपता,	मनःस्थिरता।
आत्मचितन।	

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

सयमकारण निमित्तरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

द्रव्य—संयमित देह।

क्षेत्र—निवृत्तिवाले क्षेत्रमे स्थिति-विहार।

काल—यथासूत्र काल।

भाव—यथासूत्र निवृत्तिसाधनविचार।

---

९ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २१]

जो सुखको न चाहता हो वह नास्तिक, या सिद्ध या जड है।

---

१० [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २५]

यही स्थिति—यही भाव और यही स्वरूप।

चाहे तो कल्पना करके दूसरी राह ले। यथार्थकी इच्छा हो तो यह ·· ··· ·ले।

विभंग ज्ञान-दर्शन अन्य दर्शनमे माना गया है। इसमे मुख्य प्रवर्तकोने जिस धर्ममार्गका बोध दिया है, उसके सम्यक् होनेके लिये स्यात् मुद्रा चाहिये।

स्यात् मुद्रा स्वरूपस्थित आत्मा है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे स्वरूपस्थित आत्मा द्वारा कही हुई शिक्षा है।

नाना प्रकारके नय, नाना प्रकारके प्रमाण, नाना प्रकारके भंगजाल, नाना प्रकारके अनुयोग, ये सब लक्षणरूप है। लक्ष्य एक सच्चिदानंद है।

दृष्टिविष दूर हो जानेके बाद कोई भी शास्त्र, कोई भी अक्षर, कोई भी कथन, कोई भी वचन और कोई भी स्थल प्राय अहितका कारण नही होता।

पुनर्जन्म है, जरूर है, इसके लिये मै अनुभवसे हाँ कहनेमे अचल हूँ।

इस कालमे मेरा जन्म मानूँ तो दुःखदायक है, और मानूँ तो सुखदायक भी है।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २६]

अब ऐसा कोई पढ़ना नही रहा कि जिसे पढ़ देखे। हम जो हैं उसे प्राप्त करे, यह जिसके संगमे रहा है उस संगकी इस कालमे न्यूनता हो गयी है।

विकराल काल !····विकराल कर्म ! · · विकराल आत्मा !·· ··· जैसे·········परंतु ऐसे ······
अब ध्यान रखें। यही कल्याण है।

---

११ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २७]

इतना ही खोजा जाये तो सब मिल जायेगा, अवश्य इसमे ही है। मुझे निश्चित अनुभव है। सत्य कहता हूँ। यथार्थ कहता हूँ। निःशंक मानें।

इस स्वरूपके लिये सहज सहज किसी स्थलपर लिख मारा है।

---

१२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ २९]

*मारग साचा मिल गया, छूट गये संदेह।
होता सो तो जल गया, [1]भिन्न किया निज देह॥

समज, पिछें सब सरल है, बिनू समज मुशकील।
ये मुशकीली क्या कहूँ ?··· ··· ·········· · ····॥

खोज पिंड ब्रह्मांडका, पत्ता तो लग जाय।
येहि ब्रह्मांडि वासना, जब जावे तब··· ॥

आप आपकुं भूल गया, इनसे क्या अंधेर ?
समर समर अब हसत हैं, [1]नहि भूलेंगे फेर॥

जहाँ कलपना-जलपना, तहाँ मानुं दुःख छांई।
मिटे कलपना-जलपना, तब वस्तू तिन पाई॥

[2]हे जीव ! क्या इच्छत हवे ? है इच्छा दुःखमूल।
जब इच्छाका नाश तब, मिटे अनादि भूल॥

---

*भावार्थ—मोक्षका सच्चा मार्ग प्राप्त हुआ, जिससे सभी सन्देह दूर हो गये। मिथ्यात्वसे जो कर्मबंध हुआ करता था वह जलकर नष्ट हो गया और चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मसे भिन्न प्रतीत हुआ।

आत्मस्वरूपका बोध हो जानेके बाद सब कुछ सरल हो जाता है अर्थात् आत्मसिद्धिका मार्ग और आत्मसिद्धि दोनो एकदम स्पष्ट एवं सरल हो जाते है। जब तक यथार्थ बोध नही होता तब तक मार्गप्राप्ति कठिन है। इस कठिनताकी बात क्या कहूँ ?

अपने पिंड-शरीरमे परमात्माकी खोज कर अर्थात् आन्तरिक खोजसे आत्मस्वरूपका अनुभव होगा और उस अनुभवके बढनेसे केवल ज्ञानमय दशा प्राप्त होगी जिससे ब्रह्मांड-समस्त विश्वका पता चल जायेगा। यह सब तभी हो सकता है कि जब ब्रह्मांडी-वासना—जगतकी माया दूर हो जाये।

अहो ! यह जीव अपने आपको भूल गया है, इससे बढकर और क्या अंधेर होगा ? इस आत्मभ्रांति किंवा आत्मविस्मृतिकी समझ आनेसे उसे हँसी आती है और वैसी भूल फिर न करनेका निश्चय करता है।

जब तक कल्पना और जल्पना है अर्थात् मन और वचनकी दौड चलती है तब तक दुःख मानता हूँ। जिसकी कल्पना-जल्पना मिट जाती है उसे वस्तुकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य कि आत्म-प्राप्तिके लिये मनकी स्थिरता और वाणीका सयम अनिवार्य है।

हे जीव ! अब तू किसकी इच्छा करता है ? इच्छा मात्र दुःखका मूल है। जब इच्छाका नाश होगा तब आत्मभ्रांतिरूप अनादिकी भूल दूर होकर स्वरूपप्राप्ति होगी।

१. मूल संस्मरण-पोथीमें ये चरण नही है, परन्तु श्रीमद्ने स्वयं ही बादमे पूर्ति की है।

२. पाठान्तर—'क्या इच्छत ? खोवत सबे।'

ऐसी कहाँसे मति भई, आप आप है नाहि।
आपनकुं जब भूल गये, अवर कहाँसे लाई॥
आप आप ए शोधसें आप आप मिल जाय। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३०]
आप मिलन नय बापको, ...॥

---

१३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३३]

एक बार वह स्वभुवनमे बैठा था। ...प्रकाश था,—मदता थी।

मंत्रीने आकर उसे कहा आप किस विचारके लिये परिश्रम उठा रहे है? वह योग्य हो तो इस दीनको बताकर उपकृत करें।

---

१४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३९]

*होत आसवा परिसवा, नहि इनमें सदेह।
मात्र दृष्टिकी भूल है, भूल गये गत एहि॥
रचना जिन उपदेशकी, परमोत्तम तिनु काल।
इनमे सब मत रहत है, करते निज संभाल॥
जिन सो ही है आतमा, अन्य होई सो कर्म।
कर्म कटे सो जिन वचन, तत्त्वज्ञानीको मर्म॥
जब जान्यो निजरूपको, तब जान्यो सब लोक।
[1]नहि जान्यो निजरूपको, सब जान्यो सो फोक॥
एहि दिशाकी मूढता, है नहि जिनपें भाव।
जिनसें भाव बिनु कबू, नहि छूटत दुःखदाव॥

हे जीव! तुझे अपने आपको भूल जानेकी बुद्धि कहाँसे आयी? अपने आपको तो भूल गया परन्तु देह आदि अन्यको अपना मानना कहाँसे ले आया?

तुझे आत्मभान एव आत्मप्राप्ति तब होगी जब तू आत्मनिष्ठा तथा आत्मश्रद्धासे अपने आपकी खोज करेगा। अर्थात् जब बहिर्मुखताकी माया छोडकर अतर्मुखता अपनायेगा तब आत्म-मिलनसे कृतकृत्य हो जायेगा।

*भावार्थ—अतर्मुखी ज्ञानीके लिये आस्रव भी सवररूप तथा निर्जरारूप होते है यह नि सन्देह सत्य है। आत्मा बहिर्मुख-दृष्टिसे देह गेह आदिको अपना मान रहा है, यही भूल है। अंतर्मुख होनेसे यह भूल दूर होती है, फिर कर्मोका आस्रव और बध दूर होकर संवर तथा निर्जरा करके मुक्त ज्ञानमयदशा प्राप्त कर जीव कृतार्थ हो जाता है।

जिनेश्वरके उपदेशकी रचना तीनो कालमे परमोत्तम है। छहो दर्शन अथवा सभी धर्म-मत अपनी अपनी संभाल करते हुए वीतरागदर्शनमें समा जाते हैं, क्योकि वह एकातवादी न होकर अनेकान्तवादी है।

जिन ही आत्मा है, कर्म आत्मासे भिन्न है और जिनवचन कर्मका नाशक है यह मर्म तत्त्वज्ञानियोंने बताया है।

यदि निजस्वरूपको जान लिया तो सब लोकको जान लिया, और यदि आत्मस्वरूपको नही जाना तो सब जाना हुआ व्यर्थ है, अर्थात् आत्मज्ञानके बिना दूसरा सब ज्ञान निरर्थक है।

दिशामूढ जीवकी यही मूर्खता है कि उसे संसारके पदार्थोंसे प्रीति है, परन्तु जिनेंद्र भगवानसे प्रेम नही है। वीतरागसे प्रेम किये बिना संसारका दुःख कभी दूर नही होता।

१. पाठातर—'होत न्यूनसे न्यूनता,'

व्यवहारसें देव जिन, निहचेसें है आप।
एहि वचनसें समज ले, जिनप्रवचनकी छाप ॥
एहि नहीं है कल्पना, एही नहीं विभंग।
जब जागेंगे आतमा, तब लागेंगे रंग ॥

---

१५ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३७]

अनुभव

---

१६ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ३९]

यह त्यागी भी नही है, अत्यागी भी नही है। यह रागी भी नही है, वीतरागी भी नही है।
अपना क्रम निश्चल करें। उसके चारो ओर निवृत्त भूमिका रखे।
यह दर्शन होता है वह क्यो वृथा जाता है ? इसका विचार पुन पुन करते हुए मूर्च्छा आती है।
सन्त जनोने अपना क्रम नही छोडा है। जिन्होने छोडा है वे परम असमाधिको प्राप्त हुए है।
संतपना अति अति दुर्लभ है। आनेके बाद संत मिलने दुर्लभ है। सन्तपनेके अभिलाषी अनेक है। परंतु संतपना दुर्लभ सो दुर्लभ ही है !

---

१७ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४३]

प्रकाशभुवन

अवश्य वह सत्य है। ऐसी ही स्थिति है। आप इस ओर मुडें—
उन्होंने रूपकसे कहा है। भिन्न भिन्न प्रकारसे उससे बोध हुआ है, और होता है, परन्तु वह विभंगरूप है।
यह बोध सम्यक् है। तथापि बहुत ही सूक्ष्म और मोह दूर होनेपर ग्राह्य हो सकता है।
सम्यक् बोध भी पूर्ण स्थितिमे नही रहा है। तो भी जो है वह योग्य है।
यह समझकर अब योग्य मार्ग ग्रहण करें।
कारण न खोजें, निषेध न करे, कल्पना न करें। ऐसा ही है।
यह पुरुष यथार्थवक्ता था। अयथार्थ कहनेका उन्हें कोई निमित्त न था।

---

१८ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४६]

बडा आश्चर्य है कि निर्विकार मनवाले मुमुक्षु जिसके चरणोंकी भक्ति, सेवा चाहते है वैसे पुरुषको एक मृगतृष्णाके पानी जैसी, " ....

---

१९ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४७]

वह दशा किससे आवृत हुई ? और वह दशा वर्धमान क्यो न हुई ?
लोकप्रसंगसे, मानेच्छासे, अजागृतिसे, स्त्री आदि परिषहोको न जीतनेसे।
जिस क्रियामे जीवको रंग लगता है, उसकी वही स्थिति होती है, ऐसा जो जिनेन्द्रका अभिप्राय है वह सत्य है।

व्यवहारनयमे जिनेश्वर देव है, और निश्चयनयमे तो अपना आत्मा ही देव है। इस वचनसे जिनेश्वरके प्रवचनके प्रभाव-महत्त्वको जीव समझ ले।

यह कथन मात्र कल्पना अर्थात् असत्य नहीं है, और यह विभग-मिथ्याज्ञान भी नही है, अपितु नग्न सत्य है। जब आत्मा जागृत होगा अर्थात् अपने स्वरूपको पानेके लिये पुरुषार्थयुक्त होगा, तभी परमपदके रंगमें रंगेगा।

श्री तीर्थंकरने महामोहनीयके जो तीस स्थानक कहे है वे सच्चे हैं।

अनंत ज्ञानीपुरुषोने जिसका प्रायश्चित नही बताया है, जिसके त्यागका एकात अभिप्राय दिया है, ऐसे कामसे जो व्याकुल नही हुआ, वही परमात्मा है।

---

२० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ४९]

कोई ब्रह्मरसना भोगी,
कोई ब्रह्मरसना भोगी;
जाणे कोई विरला योगी,
कोई ब्रह्मरसना भोगी।

---

२१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५१]

†२-२-३मा-१९५१

द्रव्य,	एक लक्ष,
क्षेत्र,	मोहमयी,
काल,	मा० व० ८ १
भाव,	उदयभाव

द्रव्य—	एक लक्ष	उदासीन
क्षेत्र—	मोहमयी	
काल—	८—१	इच्छा
भाव—	उदयभाव	प्रारब्ध

---

२२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५२]

सामान्य चेतन	सामान्य चैतन्य
विशेष चेतन	विशेष चैतन्य
निर्विशेष चेतन	(चैतन्य)

स्वाभाविक अनेक आत्मा (जीव) निर्ग्रंथ।
सोपाधिक अनेक आत्मा (जीव) वेदान्त।

---

२३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५३]

चक्षु अप्राप्यकारी।
मन अप्राप्यकारी।
चेतनका बाह्य अगमन (गमन न होना)।

---

† **स्पष्टीकरण**—२-२-३ मा-१९५१ = [२ = द्वितीया, २ = कृष्णपक्ष, ३ = पौष, मा = मास, १९५१ = सवत् १९५१] = पौष वदी २, १९५१

द्रव्य = धन	एक लक्ष = **एक लाख**
क्षेत्र = स्थान	मोहमयी = **बम्बई**
काल = समय	मा० व० ८-१ = एक वर्ष आठ महीने

—यह विचारणा पौष वदी २, १९५१ के दिन लिखी गयी है कि द्रव्य-मर्यादा एक लक्ष रुपयेकी करनी, बम्बईमे एक वर्ष आठ महीने निवास करना, और ऐसी वृत्ति होनेपर भी उदय भावके अनुसार प्रवृत्ति करना।

[श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई द्वारा प्रकाशित श्रीमद् राजचन्द्र (हिन्दी) पृ० ४३१ के फुटनोटसे उद्धृत]

२४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५५]

ज्ञानीपुरुषोंको समय समयमे अनंत संयमपरिणाम वर्धमान होते है ऐसा जो सर्वज्ञने कहा है वह सत्य है।

वह संयम, विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे तथा ब्रह्मरसके प्रति स्थिरतासे उत्पन्न होता है।

श्री तीर्थंकर आत्माको संकोच-विकासका भाजन योगदशामे मानते हैं, यह सिद्धात विशेषतः विचारणीय है।

---

२५ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५६]

ध्यान
ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान

---

२६ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५७]

चिद्धातुमय, परमशात, अडिग
एकाग्र, एकस्वभावमय
असख्यात प्रदेशात्मक
पुरुषाकार चिदानंद-
घन उसका
ध्यान करें।

ज्ञा० व०
द० व०
मो०
अं०

—का आत्यंतिक अभाव।
प्रदेश सबंधको प्राप्त हुए
पूर्वनिष्पन्न, सत्ताप्राप्त,
उदयप्राप्त, उदीरणाप्राप्त
चार ऐसे

ना० गो० आ० वेदनीयका
वेदन करनेसे इनका अभाव
जिसे हो गया है ऐसे शुद्ध स्वरूप जिन
चिन्मूर्त्ति, सर्व लोकालोकभासक
चमत्कारका धाम।

---

२७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५८]

विश्व अनादि है।
जीव अनादि है।
परमाणु-पुद्गल अनादि हैं।
जीव और कर्मका संबंध अनादि है।
संयोगी भावमे तादात्म्य अध्यास होनेसे जीव जन्म, मरण आदि दुःखोंका अनुभव करता है।

---

२८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ५९]

पाँच अस्तिकायरूप लोक अर्थात् विश्व है।
चैतन्य लक्षण जीव है।
वर्ण-गंध-रस-स्पर्शवान परमाणु है।
वह संबंध स्वरूपसे नही है। विभावरूप है।

---

२९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६०]

शरीरमे आत्मभावना प्रथम होती हो तो होने देना, क्रमसे प्राणमे आत्मभावना करना, फिर इन्द्रियोमे आत्मभावना करना, फिर संकल्प-विकल्परूप परिणाममे आत्मभावना करना, फिर स्थिर ज्ञानमे आत्मभावना करना। वहाँ सर्व प्रकारकी अन्यालंबनरहित स्थिति करना।

---

३० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६१]

प्राण } सोहं
वाणी } अनहद उसका ध्यान करना।
रस }

---

३१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६२]

संवत् १९५३ फागुन वदी १२, मंगलवार

जिन	मुख्य	आचार्य
सिद्धांत	पद्धति	धर्म
शांत रस	अहिंसा	मुख्य
लिंगादि	व्यवहार	जिनमुद्रा सूचक
मतांतर	समावेश	
शांत रस	प्रवहन	
जिन	अन्यको	धर्म प्राप्ति
लोकादि स्वरूप—	संशयकी	निवृत्ति समाधान
जिन	प्रतिमा	कारण

कुछ गृहव्यवहार शांत करके, परिग्रह आदि कार्यसे निवृत्त होना। अप्रमत्त गुणस्थानकपर्यंत पहुँचना। केवल भूमिका का सहजपरिणामी ध्यान—

---

३२ [मस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६३]

*धन्य रे दिवस आ अहो,
जागी रे शांति अपूर्व रे;
दश वर्षे रे धारा उलसी,
मटयो उदय कर्मनो गर्व रे॥ धन्य०॥

ओगणीससें ने एकत्रीसे,
आव्यो अपूर्व अनुसार रे;
ओगणीससें ने बेतालीसे,
अद्भुत वैराग्य धार रे॥ धन्य०॥

ओगणीससें ने सुडतालीसे,
समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे;
श्रुत अनुभव वधती दशा,
निज स्वरूप अवभास्युं रे॥ धन्य०॥

त्यां आव्यो रे उदय कारमो,
परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए,
तेम वधे न घटे एक रंच रे॥ धन्य०॥

[मस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६४]

वधतुं एम ज चालियुं,
हवे दीसे क्षीण कांई रे;
क्रमे करीने रे ते जशे,
एम भासे मनमांहीं रे॥ धन्य०॥

---

*भावार्थ—अहो! आजका दिन धन्य है, क्योंकि अपूर्व शान्ति प्रगट हुई है, और दस वर्षके बाद ज्ञान एवं वैराग्यकी धारा उन्लसित हुई है, और उपाधिरूप कर्मोदयका गर्व—बल नष्ट हो गया है

वि० स० १९३१ मे सात वर्षकी उम्रमे जातिस्मरणज्ञान हुआ। वि० सं० १९४२ में अद्भुत वैराग्यधारा प्रगट हुई।

वि० स० १९४७ मे शुद्ध सम्यक्त्व प्रकाशित हुआ, श्रुतज्ञान और अनुभवदशा दोनोमे वृद्धि होती गई और निजस्वरूप अवभासित हुआ।

वहाँ तो प्रबल कर्मका उदय हुआ और व्यापार धंधेकी उपाधि सिर आ पडी। उसे ज्यो ज्यो दूर करनेका प्रयत्न करते है त्यो-त्यों वह बढ़ती जाती है, मगर लेशमात्र भी कम नही होती।

यह उपाधि बढती ही चली। अब किंचित् क्षीण हुई दीखती है, और क्रमश. यह उपाधि दूर हो जायेगी ऐसा हमे भास होता है।

यथा हेतु जे चित्तनो,
सत्य धर्मनो उद्धार रे;
थशे अवश्य आ देहथी,
एम थयो निरधार रे ॥ धन्य० ॥

आवी अपूर्व वृत्ति अहो,
थशे अप्रमत्त योग रे;
केवळ लगभग भूमिका,
स्पर्शीने देह वियोग रे ॥ धन्य० ॥

अवश्य कर्मनो भोग छे,
भोगववो अवशेष रे;
तेथी देह एक ज धारीने,
जाशुं स्वरूप स्वदेश रे ॥ धन्य० ॥

---

३३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ६७]

[1]कम्मदव्वेहि सम्मं, संजोगो होई जो उ जीवस्स ।
सो बंधो नायव्वो, तस्स वियोगो भवे मुक्खो ॥

---

३४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ७३]

श्री जिनेंद्रने निम्नलिखित सम्यग्दर्शनस्वरूप जिन छ पदोंका उपदेश दिया है, उनका आत्मार्थी जीवको अतिशय विचार करना योग्य है ।

आत्मा है यह **अस्तिपद** ।

क्योंकि प्रमाणसे उसकी सिद्धि है ।

आत्मा नित्य है यह **नित्यपद** ।

आत्माका जो स्वरूप है उसका किसी भी प्रकारसे उत्पन्न होना संभव नहीं है, तथा उसका विनाश भी संभव नहीं है ।

आत्मा कर्मका कर्ता है, यह **कर्तापद** ।

आत्मा कर्मका भोक्ता है ।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ७४]

उस आत्माकी मुक्ति हो सकती है ।

जिनसे मोक्ष हो सके ऐसे उपाय प्रसिद्ध हैं ।

हमारे हृदयके उद्देशके अनुसार सत्य धर्मका उद्धार इस देहके द्वारा अवश्य होगा ऐसा निश्चय हुआ है ।

हमारी ऐसी अपूर्ववृत्ति चलती है कि हमें इस देहमें अप्रमत्त योगकी प्राप्ति होगी और केवलज्ञानकी लगभगकी भूमिकाको स्पर्श करके इस देहका वियोग होगा ।

(दशा तो इतनी ऊँची है, परन्तु) अभी हमें कर्मका भोगना अवश्य अवशेष रहा है, इसलिये एक देह धारण कर कर्मसे मुक्त होकर स्वधामरूप मोक्षनगरीमें पहुँच जायेंगे ।

१. अर्थके लिये देखें व्याख्यानसार २, आंक ३० ।

३५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ८०]

आत्मा—	वेदांत	जैन	सांख्य	योग	नैयायिक	बौद्ध
नित्य—	,,	,,	,,	,,	,,	+
अनित्य	+	,,	+	+	+	,,
परिणामी	+	,,	+	+	+	,,
अपरिणामी	,,	,,	,,	+	+	+
साक्षी	,,	,,	,,	+	+	+
साक्षी-कर्ता	+	,,	+	,,	,,	+

---

३६ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ८१]

सांख्य कहता है कि बुद्धि जड है। पतजलि और वेदांत ऐसा ही कहते है।
जिन कहता है कि बुद्धि चेतन है।
वेदात कहता है कि आत्मा एक ही है।
जिन कहता है कि आत्मा अनंत है।
जाति एक है। साख्य भी ऐसा ही कहता है।
पतंजलि भी ऐसा ही कहता है।

वेदांत कहता है कि यह समस्त विश्व वंध्यापुत्रवत् है।
जिन कहता है कि यह समस्त विश्व शाश्वत है।

पतजलि कहता है कि नित्यमुक्त ऐसा एक ईश्वर होना चाहिये।
साख्य उसका निषेध करता है। जिन उसका निषेध करता है।

---

३७ [सस्मरण-पोथी, १, पृष्ठ ८७]

श्रीमान महावीरस्वामी जैसोने अप्रसिद्ध पद रखकर गृहवासका वेदन किया, गृहवाससे निवृत्त होनेपर भी साढे बारह वर्ष जितने दीर्घकाल तक मौन रखा। निद्रा छोडकर विषम परिषह सहन किये, इसका क्या हेतु है ?

और यह जीव इस तरह वर्तन करता है तथा इस तरह कहता है, इसका हेतु क्या है ?

जो पुरुष सद्गुरुकी उपासनाके बिना अपनी कल्पनासे आत्मस्वरूपका निर्धार करे वह मात्र अपने स्वच्छदके उदयका वेदन करता है ऐसा विचार करना योग्य है।

जो जीव सत्पुरुषके गुणका विचार न करे, और अपनी कल्पनाके आश्रयसे वर्तन करे, वह जीव सहजमात्रमे भववृद्धि उत्पन्न करता है, क्योंकि अमर होनेके लिये जहर पीता है।

---

३८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ८९]

श्री तीर्थंकरने सर्वसंगको महास्रवरूप कहा है, सो सत्य है।

ऐसी मिश्रगुणस्थानक जैसी स्थिति कब तक रखना ? जो बात चित्तमें नहीं, उसे करना, और जो चित्तमे है उसमें उदास रहना ऐसा व्यवहार किस तरह हो सकता है ?

वैश्यवेषसे और निर्ग्रंथभावसे रहते हुए कोटि-कोटि विचार हुआ करते हैं।

वेष और उस वेषसंबंधी व्यवहार देखकर लोकदृष्टि वैसा माने यह सच है, और निर्ग्रंथभावमें रहता हुआ चित्त उस व्यवहारमे यथार्थ प्रवृत्ति न कर सके यह भी सत्य है, जिसके लिये इन दो प्रकारकी एक स्थितिसे प्रवृत्ति नही की जा सकती, क्योकि प्रथम प्रकारसे प्रवृत्ति करते हुए निर्ग्रंथभावसे उदास रहना पडे तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, और निर्ग्रंथभावसे रहें तो फिर वह व्यवहार चाहे जैसा हो उसकी उपेक्षा करना योग्य है। यदि उपेक्षा न की जाये तो निर्ग्रन्थभावकी हानि हुए बिना नही रहेगी।

[सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९०]

उस व्यवहारका त्याग किये बिना अथवा अत्यन्त अल्प किये बिना निर्ग्रन्थता यथार्थ नही रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नही किया जाता।

ये सर्व विभाव-योग दूर हुए बिना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायमे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नही लगता।

वह विभावयोग दो प्रकारका है—एक पूर्वमे निष्पन्न किया हुआ उदयस्वरूप, और दूसरा आत्म-बुद्धिसे रागसहित किया जानेवाला भावस्वरूप।

आत्मभावमे विभावसम्बन्धी योगकी उपेक्षा ही श्रेयभूत लगती है। नित्य उसका विचार किया जाता है, उस विभावरूपमे रहनेवाले आत्मभावको बहुत परिक्षीण किया है, और अभी भी वही परिणति रहती है।

उस संपूर्ण विभावयोगको निवृत्त किये बिना चित्त विश्रांतिको प्राप्त हो ऐसा नही लगता, और अभी तो उस कारणसे विशेष क्लेशका वेदन करना पड़ता है, क्योंकि उदय विभावक्रियाका है और इच्छा आत्मभावमे स्थिति करनेकी है।

[सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९१]

फिर भी ऐसा रहता है कि यदि उदयकी विशेषकाल तक प्रवृत्ति रहे तो आत्मभाव विशेष चंचल परिणामको प्राप्त होगा; क्योंकि आत्मभावके विशेष सधान करनेका अवकाश उदयकी प्रवृत्तिके कारण प्राप्त नही हो सकेगा, और इसलिये वह आत्मभाव कुछ भी अजागृतावस्थाको प्राप्त हो जायेगा।

जो आत्मभाव उत्पन्न हुआ है, उस आत्मभावपर यदि विशेष ध्यान दिया जाये तो अल्प कालमें उसकी विशेष वृद्धि हो, और विशेष जागृतावस्था उत्पन्न हो, और थोड़े समयमें हितकारी उग्र आत्मदशा प्रगट हो, और यदि उदयकी स्थितिके अनुसार उदयका काल रहने देनेका विचार किया जाये तो अब आत्मशिथिलता होनेका प्रसंग आयेगा, ऐसा लगता है; क्योंकि दीर्घकालका आत्मभाव होनेसे अब तक चाहे जैसा उदयबल होनेपर भी वह आत्मभाव नष्ट नही हुआ, तो भी कुछ कुछ उसकी अजागृतावस्था होने देनेका वक्त आया है, ऐसा होनेपर भी अब केवल उदयपर ध्यान दिया जायेगा तो शिथिलभाव उत्पन्न होगा।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९२]

ज्ञानीपुरुष उदयवश देहादि धर्मकी निवृत्ति करते है। इस तरह प्रवृत्ति की हो तो आत्मभाव नष्ट नही होना चाहिये; इसलिये इस बातको ध्यानमे रखकर उदयका वेदन करना योग्य है ऐसा विचार भी अभी योग्य नही है, क्योंकि ज्ञानके तारतम्यकी अपेक्षा उदयबल बढ़ता हुआ देखनेमे आये तो जरूर वहाँ ज्ञानीको भी जागृतदशा करना योग्य है, ऐसा श्री सर्वज्ञने कहा है।

अत्यंत दुषमकाल है इस कारण और हतपुण्य लोगोंने भरतक्षेत्रको घेरा है इस कारण, परम सत्संग, सत्संग या सरलपरिणामी जीवोंका समागम भी दुर्लभ है, ऐसा समझकर जैसे अल्प कालमे सावधान हुआ जाये, वैसे करना योग्य है।

---

३९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९३]

मौनदशा धारण करनी ?

व्यवहारका उदय ऐसा है कि वह धारण की हुई दशा लोगोके लिये कषायका निमित्त हो, और व्यवहारकी प्रवृत्ति न हो सके।

तब क्या उस व्यवहारको निवृत्त करना ?

यह भी विचार करनेसे होना कठिन लगता है, क्योंकि वैसी कुछ स्थितिका वेदन करनेका चित्त रहा करता है। फिर चाहे वह शिथिलतासे, उदयसे या परेच्छासे या सर्वज्ञदृष्ट होनेसे हो। ऐसा होनेपर भी अल्पकालमे इस व्यवहारको संक्षेप करनेका चित्त है।

इस व्यवहारका संक्षेप किस प्रकारसे किया जा सकेगा ?

क्योंकि उसका विस्तार विशेषरूपसे देखनेमे आता है। व्यापाररूपसे, कुटुबप्रतिबंधसे, युवावस्था-प्रतिबंधसे, दयास्वरूपसे, विकारस्वरूपसे, उदयस्वरूपसे, इत्यादि कारणोसे वह व्यवहार विस्ताररूपसे दिखाई देता है।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९४]

मैं ऐसा जानता हूँ कि अनन्तकालसे अप्राप्तवत् ऐसा आत्मस्वरूप केवलज्ञान-केवलदर्शनस्वरूपसे अंतर्मुहूर्तमें उत्पन्न किया है, तो फिर वर्ष—छः मासके कालमे इतना यह व्यवहार क्यों निवृत्त न हो सके ? मात्र जागृतिके उपयोगांतरसे उसकी स्थिति है, और उस उपयोगके बलका नित्य विचार करनेसे अल्प कालमें यह व्यवहार निवृत्त हो सकने योग्य है। तो भी इसकी किस तरहसे निवृत्ति करनी, यह अभी विशेषरूपसे मुझे विचार करना योग्य है ऐसा मानता हूँ, क्योंकि वीर्यमे कुछ भी मंद दशा रहती है। उस मंद दशाका हेतु क्या है ?

उदयबलसे प्राप्त हुआ परिचय मात्र परिचय है, यह कहनेमे कोई बाधा है ? उस परिचयमें विशेष अरुचि रहती है, यह होनेपर भी वह परिचय करना पड़ा है। यह परिचयका दोष नहीं कहा जा सकता, परन्तु निज दोष कहा जा सकता है। अरुचि होनेसे इच्छारूप दोष न कहकर उदयरूप दोष कहा है।

---

४० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९६]

बहुत विचार करनेसे नीचेका समाधान होता है।

एकांत द्रव्य, एकांत क्षेत्र, एकांत काल और एकात भावरूप संयमका आराधन किये बिना चित्तकी शांति नही होगी ऐसा लगता है। ऐसा निश्चय रहता है।

वह योग अभी कुछ दूर होना संभव है, क्योंकि उदयबल देखते हुए उसके निवृत्त होनेमे कुछ विशेष समय लगेगा।

---

४१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९७]

माघ सुदी ७ शनिवार, विक्रम संवत् १९५१ के बाद डेढ़ वर्षसे अधिक स्थिति नहीं।

और उतने कालमें उसके बाद जीवनकाल किस तरह भोगना इसका विचार किया जायेगा।

---

४२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९८]

[1]अवि अप्पणो वि देहंमि नायरंति ममाइयं ॥

---

१. भावार्थ—(तत्त्वज्ञानी) अपनी देहमें भी ममत्व नही करते।

४३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १००]

काम, मान और उतावल इन तीनका विशेष संयम करना योग्य है ।

४४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०१]

हे जीव ! असारभूत लगनेवाले इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त !

वह व्यवसाय करनेमे चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दिखायी देता हो तो भी उससे निवृत्त हो, निवृत्त !

यद्यपि श्री सर्वज्ञने ऐसा कहा है कि चौदहवें गुणस्थानकमें रहनेवाला जीव भी प्रारब्धका वेदन किये बिना मुक्त नही हो सकता, तो भी तू उस उदयका आश्रवरूप होनेसे निज दोष जानकर उसका अत्यंत तीव्रतासे विचार करके उससे निवृत्त हो, निवृत्त !

केवल मात्र प्रारब्ध हो और अन्य कर्मदशा न रहती हो तो वह प्रारब्ध सहज ही निवृत्त हो जाता है, ऐसा परम पुरुषने स्वीकार किया है, परंतु वह केवल प्रारब्ध तब कहा जा सकता है कि जब प्राणान्त-पर्यंत निष्ठाभेददृष्टि न हो, और तुझे सभी प्रसंगोमे ऐसा होता है, ऐसा जब तक सम्पूर्ण निश्चय न हो तब तक श्रेयस्कर यह है कि उसमे त्यागबुद्धि रखनी, इस बातका विचार करके हे जीव ! अब तू अल्प-कालमे निवृत्त हो, निवृत्त !

४५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०२]

हे जीव ! अब तू संगनिवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर !

सर्व-संगनिवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश देखनेमें न आये तो अंश-संगनिवृत्तिरूप इस व्यव-सायका त्याग कर !

जिस ज्ञानदशामे त्यागात्याग कुछ संभव नही है उस ज्ञानदशाकी जिसमे सिद्धि है ऐसा तू सर्वसंग-त्यागदशाका अल्पकालमें वेदन करेगा तो संपूर्ण जगतके प्रसंगमें रहे तो भी तुझे बाधरूप नही होगा । इस प्रकार वर्तन करनेपर भी निवृत्तिको ही सर्वज्ञने प्रशस्त कहा है, क्योंकि ऋषभ आदि सर्व परम पुरुषोंने अन्तमे ऐसा ही किया है।

४६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०३]

सं० १९५१ के वैशाख सुदी ५ सोमके सायंकालसे प्रत्याख्यान ।

सं० १९५१ के वैशाख सुदी १४ मंगलसे ।

४७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०५]

क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल होनेमें क्या देर ?

४८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०६]

[१]"जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिक तणी,
तेम ज जीव स्वभाव रे ।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो,
प्रबळ कषाय अभाव रे ॥"

१. अर्थके लिये देखें आंक ५८४

४९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०८]

वीतरागदर्शन

उद्घातप्रकरण
सर्वज्ञमीमांसा
षड्दर्शन-अवलोकन
वीतराग-अभिप्राय-विचार
व्यवहारप्रकरण
मुनिधर्म
आगारधर्म
मतमतांतर-निराकरण
उपसंहार

---

५० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११०]

नवतत्त्वविवेचन
गुणस्थानकविवेचन
कर्मप्रकृतिविवेचन
विचारपद्धति
श्रवणादिविवेचन
बोधबीजसंपत्ति
जीवाजीवविभक्ति
शुद्धात्मपदभावना

---

५१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १११]

अंग
उपांग
मूल
छेद
आशयप्रकाशिता टीका
    व्यवहार हेतु
    परमार्थ हेतु
    परमार्थ गौणताको प्रसिद्धि
    व्यवहारविस्तारका पर्यवसान
    अनेकांतदृष्टि हेतु
    स्वगतमतांतरनिवृत्तिप्रयत्न
    उपक्रम उपसंहार अविसंधि
    लोकवर्णन स्थूलत्व हेतु
वर्तमानकालमें आत्मसाधनभूमिका
वीतरागदर्शन-व्याख्याका अनुक्रम

---

५२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११३]

मूल

लोकसंस्थान ?
धर्म-अधर्म अस्तिकायरूप द्रव्य ?
स्वाभाविक अभव्यत्व ?
अनादि-अनत सिद्धि ?
अनादि-अनंतका ज्ञान किस तरह ?
आत्मा संकोच-विकाससे ?
सिद्ध ऊर्ध्वगमन-चेतन, खंडवत् क्यों नही ?
केवलज्ञानमें लोकालोकका ज्ञातृत्व किस तरह ?
लोकस्थितिमर्यादा हेतु ?
शाश्वतवस्तुलक्षण ?

उत्तर

उस उस स्थानवर्ती सूर्य चंद्र आदि वस्तु,
अथवा नियमित गतिहेतु ?
दुषम-सुषमादि काल ?
मनुष्य-उच्चत्वादि प्रमाण ?
अग्निकायादिका निमित्तयोगसे एकदम उत्पन्न होना ?
एक सिद्ध वहाँ अनंत सिद्ध अवगाहना ?

---

५३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११४]

हेतु अवक्तव्य ?
एकमे पर्यवसान किस तरह हो सकता है ?
अथवा नही होता ?
व्यवहार रचना की है, ऐसा किसी हेतुसे सिद्ध होता है ?

---

५४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११५]

स्वस्थिति—आत्मदशाके संबंधमे विचार।
तथा उसका पर्यवसान ?
उसके बाद लोकोपकार प्रवृत्ति ?
लोकोपकारप्रवृत्तिका नियम।
वर्तमानमे (अभी) किस तरह प्रवृत्ति करना उचित है ?

---

५५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११७]

आत्मपरिणामकी विशेष स्थिरता होनेके लिये वाणी और कायाका संयम उपयोगपूर्वक करना योग्य है।

---

५६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ११८)

तीनों कालोंमें जो वस्तु जात्यंतर न हो उसे श्री जिनेंद्र द्रव्य कहते हैं।
कोई भी द्रव्य पर-परिणामसे परिणमन नहीं करता। स्वत्वका त्याग नहीं कर सकता।
प्रत्येक द्रव्य (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे) स्वपरिणामी है।
नियत अनादि मर्यादारूपसे रहता है।
जो चेतन है वह कभी अचेतन नहीं होता; जो अचेतन है वह कभी चेतन नहीं होता।

५७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२०]

हे योग !

५८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२१]

एक चैतन्यमे यह सब किस तरह घटित होता है ?

५९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२२]

यदि इस जीवने वे विभावपरिणाम क्षीण न किये तो इसी भवमें वह प्रत्यक्ष दुःखका वेदन करेगा।

६० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२४]

जिस जिस प्रकारसे आत्माका चिंतन किया हो उस उस प्रकारसे वह प्रतिभासित होता है।

विषयार्त्ततासे जिस जीवकी विचारशक्ति मूढ हो गयी है उसे आत्माकी नित्यता भासित नहीं होती, ऐसा प्रायः दिखायी देता है, वैसा होता है, यह यथार्थ है; क्योंकि अनित्य विषयमे आत्मबुद्धि होनेसे अपनी भी अनित्यता भासित होती है।

विचारवानको आत्मा विचारवान लगता है। शून्यरूपसे चिन्तन करनेवालेको आत्मा शून्य लगता है, अनित्यरूपसे चिंतन करनेवालेको आत्मा अनित्य लगता है, नित्यरूपसे चिन्तन करनेवालेको आत्मा नित्य लगता है।

चेतनकी उत्पत्तिके कुछ भी संयोग दिखायी नहीं देते, इसलिये चेतन अनुत्पन्न है। उस चेतनके विनष्ट होनेका कोई अनुभव नहीं होता, इसलिये अविनाशी है—नित्य अनुभवस्वरूप होनेसे नित्य है।

समय समयमे परिणामांतरको प्राप्त होनेसे अनित्य है।

स्वस्वरूपका त्याग करनेके अयोग्य होनेसे मूल द्रव्य है।

६१ [संस्मरण पोथी १, पृष्ठ १२६]

सबकी अपेक्षा वीतरागके वचनको संपूर्ण प्रतीतिका स्थान कहना योग्य है, क्योंकि जहाँ राग आदि दोषोंका संपूर्ण क्षय होता है वहाँ संपूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होना योग्य है ऐसा नियम है।

श्री जिनेन्द्रमे सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता होना संभव है, क्योंकि उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस किसी पुरुषमे जितने अंशमें वीतरागताका संभव है उतने अंशमें उस पुरुषका वाक्य मानने योग्य है।

सांख्य आदि दर्शनोंमे बंध एवं मोक्षकी जो जो व्याख्याएँ बतायी हैं उन सबसे बलवान प्रमाण-सिद्ध व्याख्या श्री जिनेंद्र वीतरागने कही है, ऐसा जानता हूँ।

शंका—जिन जिनेंद्रने द्वैतका निरूपण किया है, आत्माको खंड द्रव्यवत् कहा है, कर्ताभोक्ता कहा है, और निर्विकल्प समाधिके अंतरायमें मुख्य कारण हो ऐसी पदार्थकी व्याख्या की है, उन जिनेंद्रकी शिक्षा प्रबल प्रमाणसिद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? केवल अद्वैत—और—

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १२७]

सहजमें निर्विकल्प समाधिके कारणभूत वेदांत आदि मार्गकी, उसकी अपेक्षा अवश्य विशेष प्रमाण-सिद्धता संभव है।

उत्तर—एक बार जैसे आप कहते है वैसे यदि मान भी लें, परंतु सर्व दर्शनकी शिक्षाकी अपेक्षा जिनेंद्रकथित बंध-मोक्षके स्वरूपकी शिक्षा जितनी अविकल प्रतिभासित होती है उतनी दूसरे दर्शनोंकी प्रतिभासित नही होती। और जो अविकल शिक्षा है वही प्रमाणसिद्ध है।

शंका—यदि आप ऐसा मानते है तो किसी तरह निर्णयका समय नही आ सकता; क्योंकि सब दर्शनोंमे, जिस जिस दर्शनमें जिसकी स्थिति है उस उस दर्शनके लिये वह अविकलता मानता है।

उत्तर—यदि ऐसा हो तो उससे अविकलता सिद्ध नही होती जिसकी प्रमाणसे अविकलता हो वही अविकल सिद्ध होता है।

प्रश्न—जिस प्रमाणसे आप जिनेंद्रकी शिक्षाको अविकल मानते है उसे आप कहे, और जिस तरह वेदात आदिकी विकलता आपको संभवित लगती है, उसे भी कहें।

६२

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३०]

अनेक प्रकारके दु.ख तथा दु.खी प्राणी प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं, तथा जगतकी विचित्र रचना देखनेमे आती है, यह सब होनेका क्या हेतु है? तथा उस दु.खका मूल स्वरूप क्या है? और उसकी निवृत्ति किस प्रकारसे हो सकती है? तथा जगतकी विचित्र रचनाका आतरिक स्वरूप क्या है? इत्यादि प्रकारमे जिसे विचारदशा उत्पन्न हुई है ऐसे मुमुक्षु पुरुषने, पूर्व पुरुषोंने उपर्युक्त विचारों संबंधी जो कुछ समाधान किया था, अथवा माना था, उस विचारके समाधानके प्रति भी यथाशक्ति आलोचना की। वह आलोचना करते हुए विविध प्रकारके मतमतांतर तथा अभिप्रायसंबंधी यथाशक्ति विशेष विचार किया, तथा नाना प्रकारके रामानुज आदि सम्प्रदायोंका विचार किया, तथा वेदांत आदि दर्शनका विचार किया। उस आलोचनामे अनेक प्रकारसे उस दर्शनके स्वरूपका मंथन किया, और प्रसंग प्रसंगपर मथनकी योग्यताको प्राप्त हुए जैनदर्शनके सबंधमे अनेक प्रकारसे जो मंथन हुआ, उस मंथनसे उस दर्शनके सिद्ध होनेके लिये, जो पूर्वापर विरोध जैसे मालूम होते है ऐसे निम्नलिखित कारण दिखायी दिये।

६३

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३२]

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय अरूपी होनेपर भी रूपी पदार्थको सामर्थ्य देते हैं, और ये तीन द्रव्य स्वभावपरिणामी कहे हैं, तो ये अरूपी होनेपर रूपीको कैसे सहायक हो सकते हैं?

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय एकक्षेत्रावगाही है, और उनका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, फिर भी उनमे, गतिप्राप्त वस्तुके प्रति स्थिति-सहायकतारूपसे और स्थितिप्राप्त वस्तुके प्रति गतिसहायकता-रूपसे विरोध किसलिये न आये?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक आत्मा ये तीन समान असंख्यातप्रदेशी हैं, इसका कोई दूसरा रहस्यार्थ है?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायकी अवगाहना अमुक अमूर्ताकारसे है, ऐसा होनेमे कोई रहस्यार्थ है?

लोकसंस्थानके सदैव एक स्वरूपसे रहनेमे कोई रहस्यार्थ है?

एक तारा भी घट-बढ़ नही होता, ऐसी अनादि-स्थिति किस हेतुसे मानना?

शाश्वतताकी व्याख्या क्या? आत्मा या परमाणुको शाश्वत माननेमें कदाचित् मूल द्रव्यत्व कारण है; परन्तु तारा, चंद्र, विमान आदिमें वैसा क्या कारण है?

---

६४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३३]

सिद्ध आत्मा लोकालोकप्रकाशक है, परन्तु लोकालोकव्यापक नहीं है, व्यापक तो स्वावगाहना-प्रमाण है। जिस मनुष्य-देहसे सिद्धिको प्राप्त की उसका तीसरा भाग कम वह प्रदेश घन है। अर्थात् आत्म-द्रव्य लोकालोकव्यापक नहीं परन्तु लोकालोकप्रकाशक अर्थात् लोकालोकज्ञायक है। आत्मा लोकालोकमें नहीं जाता, और लोकालोक कुछ आत्मामें नहीं आता, सब अपनी-अपनी अवगाहनामें स्वसत्तामें स्थित हैं, फिर भी आत्माको उसका ज्ञानदर्शन किस तरह होता है?

यहाँ यदि यह दृष्टांत दिया जाये कि जैसे दर्पणमें वस्तु प्रतिबिंबित होती है वैसे ही आत्मामे भी लोकालोक प्रकाशित होता है, प्रतिबिंबित होता है, तो यह समाधान भी अविरोधी दिखायी नहीं देता, क्योंकि दर्पणमे तो विस्रसापरिणामी पुद्गलरश्मिसे वस्तु प्रतिबिंबित होती है।

आत्माका अगुरुलघु धर्म है, उस धर्मको देखते हुए आत्मा सब पदार्थोंको जानता है; क्योंकि सब द्रव्योमे अगुरुलघु गुण समान है, ऐसा कहा जाता है, वहाँ अगुरुलघुधर्मका अर्थ क्या समझना?

---

६५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १३६]

आहारकी जय,
आसनकी जय,
निद्राकी जय,
वाक्संयम,
जिनोपदिष्ट आत्मध्यान।
जिनोपदिष्ट आत्मध्यान किस तरह?
ज्ञानप्रमाण ध्यान हो सकता है, इसलिये ज्ञान-तारतम्यता चाहिये।
क्या विचार करनेसे, क्या माननेसे, क्या दशा होनेसे चौथा गुणस्थानक कहा जाये?
किससे चौथे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानकमें आये?

---

६६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १४८]

वर्तमानकालकी तरह यह जगत सर्वकाल है।
वह पूर्वकालमे न हो तो वर्तमानकालमे उसका अस्तित्व भी नही हो सकता।
वह वर्तमानकालमें है तो भविष्यकालमे वह अत्यंत विनष्ट नही हो सकता।
पदार्थ मात्र परिणामी होनेसे यह जगत पर्यायांतर दिखायी देता है, परन्तु मूलरूपसे इसकी सदा विद्यमानता है।

---

६७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५०]

जो वस्तु समयमात्रके लिये है, वह सर्वकालके लिये है।
जो भाव है वह है, जो नहीं है वह नहीं है।
दो प्रकारका पदार्थस्वभाव विभागपूर्वक स्पष्ट दिखायी देता है—जडस्वभाव और चेतन-स्वभाव।

---

६८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५२]

गुणातिशयता क्या है?
उसका आराधन कैसे किया जाये?
केवलज्ञानमें अतिशयता क्या है?

तीर्थंकरमें अतिशयता क्या है ? विशेष हेतु क्या है ?

यदि जिनसम्मत केवलज्ञानको लोकालोकज्ञायक मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निहार, विहार आदि क्रियाएँ किस तरह हो सकती हैं ?

वर्तमानमें उसकी इस क्षेत्रमें अप्राप्तिका हेतु क्या है ?

---

६९ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५४]

मति,
श्रुत,
अवधि,
मनःपर्याय,
परमावधि,
केवल,

---

७० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५५]

परमावधिज्ञान उत्पन्न होनेके बाद केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह रहस्य अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

अनादि-अनंत कालका, अनंत ऐसे अलोकका ? गणितसे अतीत अथवा असंख्यातसे पर ऐसे जीव-समूह, परमाणु-समूह अनंत होनेपर भी अनंतताका साक्षात्कार हो वह गणितातीतता होनेपर किस तरह साक्षात् अनंतता मालूम हो ? इस विरोधका परिहार उपर्युक्त रहस्यसे होने योग्य समझमें आता है।

और केवलज्ञान निर्विकल्प है, उसमें उपयोगका प्रयोग नहीं करना पड़ता। सहज उपयोग वह ज्ञान है; यह रहस्य भी अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

क्योंकि प्रथम सिद्ध कौन है ? प्रथम जीवपर्याय कौनसा है ? प्रथम परमाणु-पर्याय क्या है ? यह केवलज्ञानगोचर है परन्तु अनादि ही मालूम होता है; अर्थात् केवलज्ञान उसके आदिको नहीं पाता, और केवलज्ञानसे कुछ छिपा हुआ नहीं है, ये दो बातें परस्पर विरोधी हैं, इसके समाधानका रास्ता परमावधि-की अनुप्रेक्षासे तथा सहज उपयोगकी अनुप्रेक्षासे समझमें आने योग्य दिखायी देता है।

---

७१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५६]

कुछ भी है ?
क्या है ?
किस प्रकारसे है ?
जानने योग्य है ?
जाननेका फल क्या है ? [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५७]
बंधका हेतु क्या है ?
पुद्गलनिमित्त बंध या जीवके दोषसे बंध ?

जिस प्रकारसे माने उस प्रकारसे बंध दूर नहीं किया जा सकता ऐसा सिद्ध होता है। इसलिये मोक्षपदकी हानि होती है। उसका नास्तित्व सिद्ध होता है।

अमूर्तता यह कुछ वस्तुता है या अवस्तुता ?

अमूर्तता यदि वस्तुता है तो वह कुछ महत्त्ववान है या नहीं ?

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५८]

मूर्त पुद्गल और अमूर्त जीवका संयोग कैसे घटित हो ?

धर्म, अधर्म और जीव द्रव्यकी क्षेत्रव्यापिता जिस प्रकारसे जिनेन्द्र कहते हैं, तदनुसार माननेसे वे द्रव्य उत्पन्न-स्वभावीकी तरह सिद्ध हो जाते है, क्योंकि मध्यम-परिणामिता है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये वस्तुएँ द्रव्यरूपसे एक जाति और गुणरूपसे भिन्न जाति ऐसा मानना योग्य है, अथवा द्रव्यता भी भिन्न भिन्न मानने योग्य है ?

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १५९]

द्रव्यका क्या अर्थ है ? गुणपर्यायके बिना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

केवलज्ञान सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका ज्ञायक सिद्ध हो तो सर्व वस्तु नियत मर्यादामे आ जाये, अनंतता सिद्ध न हो, क्योकि अनंतता-अनादिता समझी नही जाती, अर्थात् केवलज्ञानमे वे किस तरह प्रतिभासित हो ? उसका विचार बराबर सगत नही होता।

---

७२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६२]

जिसे जैनदर्शन सर्वप्रकाशकता कहता है, उसे वेदांत सर्वव्यापकता कहता है।

दृष्ट वस्तुसे अदृष्ट वस्तुका विचार अनुसधान करने योग्य है।

जिनेन्द्रके अभिप्रायसे आत्माको माननेसे यहाँ लिखे हुए प्रसगोके बारेमे अधिक विचार करें—

१. असंख्यात प्रदेशका मूल परिमाण।

२. संकोच-विकास हो सके ऐसा आत्मा माना है; वह संकोच-विकास क्या अरूपीमे होने योग्य है ? तथा किस प्रकारसे होने योग्य है ?

३. निगोद अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?

४. सर्व द्रव्य, क्षेत्र आदिकी प्रकाशकतारूप केवलज्ञानस्वभावी आत्मा है, अथवा स्वस्वरूपमे अवस्थित निजज्ञानमय केवलज्ञान है ?

५. आत्मामें योगसे विपरिणाम है ? स्वभावसे विपरिणाम है ? विपरिणाम आत्माकी मूल सत्ता है ? संयोगी सत्ता है ? उस सत्ताका कौनसा द्रव्य मूल कारण है ?

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६३]

६. चेतन हीनाधिक अवस्था प्राप्त करे, इसमे कुछ विशेष कारण है ? स्वस्वभावका ? पुद्गलसंयोगका या उससे व्यतिरिक्त ?

७. जिस तरह मोक्षपदमे आत्मता प्रगट हो उस तरह मूल द्रव्य मान तो लोकव्यापकप्रमाण आत्मा न होनेका क्या कारण ?

८. ज्ञान गुण और आत्मा गुणी इस तथ्यको घटाते हुए आत्माको कथंचित् ज्ञानव्यतिरिक्त मानना सा किस अपेक्षास ? जडत्व भावसे या अन्य गुणका अपेक्षास ?

९. मध्यम परिणामवाली वस्तुको नित्यता किस तरह सम्भव है ?

१०. शुद्ध चेतनमें अनेककी संख्याका भेद किस कारणसे घटित होता है ?

११.

---

७३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६५]

जिनसे मार्गका प्रवर्तन हुआ है, ऐसे महापुरुषके विचार, बल, निर्भयता आदि गुण भी महान थे।

एक राज्यके प्राप्त करनेमे जो पराक्रम अपेक्षित है उसकी अपेक्षा अपूर्व अभिप्रायसहित धर्मसंततिका प्रवर्तन करनेमें विशेष पराक्रम अपेक्षित है।

थोड़े समय पहले तथारूप शक्ति मुझमे मालूम होती थी, उसमें अभी विकलता देखनेमें आती है, उसका हेतु क्या होना चाहिये यह विचार करने योग्य है।

दर्शनकी रीतिसे इस कालमें धर्मका प्रवर्तन हो, इससे जीवोंका कल्याण है अथवा सप्रदायकी रीतिसे धर्मका प्रवर्तन हो तो जीवोका कल्याण है, यह बात विचारणीय है।

संप्रदायकी रीतिसे वह मार्ग बहुतसे जीवोको ग्राह्य होगा, दर्शनकी रीतिसे वह विरले जीवोंको ग्राह्य होगा।

यदि जिनाभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाये, तो वह संप्रदायके प्रकारसे निरूपित होना विशेष असंभव है। क्योंकि उसकी रचनाका साप्रदायिक स्वरूप होना कठिन है।

दर्शनकी अपेक्षासे किसी ही जीवके लिये उपकारी होगा इतना विरोध आता है।

---

७४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६६]

जो कोई महान पुरुष हुए हैं वे पहलेसे स्वस्वरूप (निजशक्ति) समझ सकते थे, और भावी महत्-कार्यके बीजको पहलेसे अव्यक्तरूपमे बोते रहते थे अथवा स्वाचरण अविरोधी जैसा रखते थे।

यहाँ वह प्रकार विशेष विरोधमे पड़ा हो ऐसा दिखाई देता है। उस विरोधके कारण भी यहाँ लिखे है—

१. अनिर्णयसे—

२. संसारीकी रीति जैसा विशेष व्यवहार रहनेसे।

३. ब्रह्मचर्यका धारण।

---

७५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६७]

सोहं (महापुरुषोने आश्चर्यकारक गवेषणा की है)।

कल्पित परिणतिसे विरत होना जीवके लिये इतना अधिक कठिन हो पड़ा है, इसका हेतु क्या होना चाहिये ?

आत्माके ध्यानका मुख्य प्रकार कौनसा कहा जा सकता है ?

उस ध्यानका स्वरूप किस तरह है ?

आत्माका स्वरूप किस तरह है ?

केवलज्ञान जिनागममें प्ररूपित है, वह यथायोग्य है अथवा वेदांतमें प्ररूपित है, वह यथायोग्य है ?

---

७६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६८]

प्रेरणापूर्वक स्पष्ट गमनागमन क्रिया आत्माके असख्यातप्रदेशप्रमाणत्वके लिये विशेष विचारणीय है।

प्रश्न—परमाणु एकप्रदेशात्मक, आकाश अनंतप्रदेशात्मक माननेमें जो हेतु है, वह हेतु आत्माके असंख्यातप्रदेशत्वके लिये यथातथ्य सिद्ध नही होता, क्योंकि मध्यम परिणामी वस्तु अनुत्पन्न देखनेमें नही आती।

उत्तर—

---

७७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १६९]

अमूर्तत्वकी व्याख्या क्या ?

अनंतत्वकी व्याख्या क्या ?

आकाशका अवगाहक-धर्मत्व किस प्रकारसे है ?

मूर्तामूर्तका बंध आज नहीं होता तो अनादिसे कैसे हो सकता है ? वस्तु स्वभाव इस प्रकार अन्यथा कैसे माना जा सकता है ?

क्रोध आदि भाव जीवमें परिणामीरूपसे हैं या विवर्तरूपसे हैं ?

यदि परिणामीरूपसे कहें तो स्वाभाविक धर्म हो जाते है, स्वाभाविक धर्मका दूर होना कहीं भी अनुभवमें नहीं आता।

यदि विवर्तरूपसे समझें तो जिस प्रकारसे जिनेन्द्र साक्षात् बंध कहते हैं, उस तरह माननेसे विरोध आना सम्भव है।

---

७८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७०]

जिनेन्द्रका अभिमत केवलदर्शन और वेदातका अभिमत ब्रह्म इन दोनोंमे क्या भेद है ?

---

७९ [सस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७१]

जिनेन्द्रके अभिमतसे।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी (?), संकोच-विकासका भाजन, अरूपी, लोकप्रमाण प्रदेशात्मक।

---

८० [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७१]

जिन—

मध्यम परिमाणका नित्यत्व, क्रोध आदिका पारिणामिकत्व (?) आत्मामें कैसे घटित हो ? कर्मबंधका हेतु आत्मा है या पुद्गल है ? या दोनों हैं ? अथवा इससे भी कोई अन्य प्रकार है ? मुक्तिमे आत्मघन ? द्रव्यका गुणसे अतिरिक्तत्व क्या है ? सब गुण मिलकर एक द्रव्य, या उसके बिना द्रव्यका कुछ दूसरा विशेष स्वरूप है ? सर्व द्रव्यके वस्तुत्व, गुणको निकाल कर विचार करें तो वह एक है या नहीं ? आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण है यो कहनेसे आत्माका कथंचित् ज्ञानरहित होना ठीक है या नहीं ? यदि ज्ञानरहित आत्मत्वका स्वीकार करें तो वह क्या जड हो जाता है ? चारित्र, वीर्य आदि गुण कहे तो उनकी ज्ञानसे भिन्नता होनेसे वे जड सिद्ध हो, इसका समाधान किस प्रकारसे घटित होता है ? अभव्यत्व पारिणामिकभावसे किसलिये घटित हो ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और जीवको द्रव्य-दृष्टिसे देखे तो एक वस्तु है या नहीं ? द्रव्यत्व क्या है ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशके स्वरूपका विशेष प्रतिपादन किस तरह हो सकता है ? लोक असंख्यातप्रदेशी और द्वीप समुद्र असंख्यात है, इत्यादि विरोधका समाधान किस तरह है ? आत्मामें पारिणामिकता ? मुक्तिमे भी सब पदार्थोंका प्रतिभासित होना ? अनादि-अनंतका ज्ञान किस तरह हो सकता है ?

---

८१ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७२]

वेदांत—

एक आत्मा, अनादि-माया और बंध-मोक्षका प्रतिपादन, यह आप कहते हैं, परन्तु यह घटित नहीं हो सकता।

आनंद और चैतन्यमे श्री कपिलदेवजीने विरोध कहा है, इसका समाधान क्या है ? यथायोग्य समाधान वेदातमे देखनेमें नहीं आता।

आत्माको नाना माने बिना बंध एवं मोक्ष हो ही नही सकते। वे तो हैं, ऐसा होनेपर भी उन्हें कल्पित कहनेसे उपदेश आदि कार्य करनेयोग्य नही ठहरते।

---

८२ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७४]

जैनमार्ग

१. लोकसंस्थान।
२. धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य।
३. अरूपित्व।
४. सुषम-दुषम आदि काल।
५. उस उस कालमें भारत आदिकी स्थिति, मनुष्यकी ऊँचाई आदिका प्रमाण।
६. निगोद सूक्ष्म।
७. दो प्रकारके जीव—भव्य और अभव्य।
८. विभावदशा, पारिणामिक भावसे।
९. प्रदेश और समय उनका व्यावहारिक और पारमार्थिक कुछ स्वरूप।
१०. गुण-समुदायसे भिन्न कुछ द्रव्यत्व।
११. प्रदेश समुदायका वस्तुत्व।
१२. रूप, रस, गंध, स्पर्शसे भिन्न ऐसा कुछ भी परमाणुत्व।
१३. प्रदेशका संकोच-विकास।
१४. उससे घनत्व या कृशत्व।
१५. अस्पर्शगति।
१६. एक समयमें यहाँ और सिद्धक्षेत्रमें अस्तित्व, अथवा उसी समयमें लोकांतरगमन।
१७. सिद्धसबंधी अवगाह।
१८ अवधि, मनःपर्याय और केवलकी व्यावहारिक-पारमार्थिक कुछ व्याख्या;—जीवकी अपेक्षा तथा दृश्य पदार्थकी अपेक्षासे। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७५]
'मतिश्रुतकी व्याख्या—उस प्रकारसे।'
१९ केवलज्ञानकी दूसरी कोई व्याख्या।
२० क्षेत्रप्रमाणकी दूसरी कोई व्याख्या।
२१ समस्त विश्वका एक अद्वैत तत्त्वपर विचार।
२२ केवलज्ञानके बिना दूसरे किसी ज्ञानसे जीवस्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण।
२३. विभावका उपादान कारण।
२४. और तथाप्रकारके समाधानके योग्य कोई प्रकार।
२५. इस कालमें दस बोलोंकी व्यवच्छेदता, उसका अन्य कुछ भी परमार्थ।
२६. बीजभूत और सपूर्ण यों केवलज्ञान दो प्रकारसे।
२७. वीर्य आदि आत्मगुण माने हैं, उनमें चेतनता।
२८. ज्ञानसे भिन्न ऐसा आत्मत्व।
२९. वर्तमानकालमे जीवका स्पष्ट अनुभव होनेके ध्यानके मुख्य प्रकार।
३०. उनमे भी सर्वोत्कृष्ट मुख्य प्रकार।
३१. अतिशयका स्वरूप।
३२. लब्धि (कितनो ही) अद्वैततत्त्व माननेसे सिद्ध हो ऐसी मान्य है। [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १७६]
३३. लोकदर्शनका सुगम मार्ग—वर्तमानकालमें कुछ भी।

३४. देहांतदर्शनका सुगम मार्ग—वर्तमानकालमें।

३५. सिद्धत्वपर्याय सादि-अनंत, और मोक्ष अनादि-अनंत०।

३६ परिणामी पदार्थ, निरंतर स्वाकारपरिणामी हो तो भी अव्यवस्थित परिणामित्व अनादिसे हो, वह केवलज्ञानमे भासमान पदार्थमे किस तरह घटमान ?

---

८३ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८०]

१. कर्मव्यवस्था।

२. सर्वज्ञता।

३. पारिणामिकता।

४. नाना प्रकारके विचार और समाधान।

५. अन्यसे न्यून पराभवता।

६. जहाँ जहाँ अन्य विकल है वहाँ वहाँ अविकल यह, जहाँ विकल दिखायी दे वहाँ अन्यकी क्वचित् अविकलता—नहीं तो नहीं।

---

८४ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८१]

मोहमयी-क्षेत्रसंबंधी उपाधिका परित्याग करनेमें आठ महीने और दस दिन बाकी है, और यह परित्याग हो सकने योग्य है।

दूसरे क्षेत्रमें उपाधि (व्यापार) करनेके अभिप्रायसे मोहमयी-क्षेत्रको उपाधिका त्याग करनेका विचार रहता है, ऐसा नहीं है।

परन्तु जब तक सर्वसंगपरित्यागरूप योग निरावरण न हो तब तक जो गृहाश्रम रहे उस गृहाश्रममें काल व्यतीत करनेका विचार कर्तव्य है। क्षेत्रका विचार कर्तव्य है। जिस व्यवहारमें रहना उस व्यवहारका विचार कर्तव्य है; क्योंकि पूर्वापर अविरोधता नहीं तो रहना कठिन है।

---

८५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८२]

भू :—	ब्रह्म
स्थापना :—	ध्यान
मुख :—	योगबल
ब्रह्मग्रहण।	निर्ग्रंथ आदि संप्रदाय।
ध्यान।	निरूपण।
योगबल।	भू, स्थापना, मुख। सर्वदर्शन अविरोध।
स्वायु-स्थिति।	
आत्मबल।	

---

८६ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८३]

[१]सो धम्मो जत्थ दया दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो।
सो हु गुरू जो नाणी आरंभपरिग्गहा विरओ॥

---

१. भावार्थ—जहाँ दया है वहाँ धर्म है, जिसके अठारह दोष नहीं वह देव है, तथा जो ज्ञानी और आरंभ-परिग्रहसे विरत है वह गुरु है।

८७ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १८७]

अकिंचनतासे विचरते हुए एकांत मौनसे जिनसदृश ध्यानसे तन्मयात्मस्वरूप ऐसा कब होऊँगा ?

---

८८ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १९५]

एक बार विक्षेप शांत हुए बिना अति समीप आ सकने योग्य अपूर्व संयम प्रगट नहीं होगा। कैसे, कहाँ स्थिति करें ?

संस्मरणपोथी-२

१ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३]

राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके जिस सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हुए वह स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और पाने योग्य स्थान है।

---

२ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ५]

सर्वज्ञपदका ध्यान करें।

---

३ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ७]

शुद्ध चैतन्य
अनंत आत्मद्रव्य
केवलज्ञान स्वरूप
शक्तिरूपसे
वह
जिसे संपूर्ण व्यक्त हुआ है, तथा व्यक्त होनेका
जिन पुरुषोंने मार्ग पाया है उन पुरुषोंको
अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार

---

४ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ९]

नमो जिणाणं जिदभवाणं
जिनतत्त्वसंक्षेप

अनंत अवकाश है।
उसमे जड-चेतनात्मक विश्व रहा है।
विश्वमर्यादा दो अमूर्त द्रव्योंसे है,
जिनकी संज्ञा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय है।
जीव और परमाणु पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं।
सर्व द्रव्य द्रव्यत्वसे शाश्वत हैं।
अनंत जीव हैं।
अनंत अनंत परमाणु पुद्गल हैं।
धर्मास्तिकाय एक है।

अधर्मास्तिकाय एक है।
आकाशास्तिकाय एक है।
काल द्रव्य है।
विश्वप्रमाण क्षेत्रावगाह कर सके ऐसा एक-एक जीव है।

---

५ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ १३]

नमो जिणाणं जिदभवाणं

जिसकी प्रत्यक्ष दशा ही बोधरूप है, उस महापुरुषको धन्य है।

जिस मतभेदसे यह जीव ग्रस्त है, वही मतभेद ही उसके स्वरूपका मुख्य आवरण है।

वीतराग पुरुषके समागमके बिना, उपासनाके बिना, इस जीवको मुमुक्षुता कैसे उत्पन्न हो? सम्यग्ज्ञान कहाँसे हो? सम्यग्दर्शन कहाँसे हो? सम्यक्‌चारित्र कहाँसे हो? क्योंकि ये तीनों वस्तुएँ अन्य स्थानमें नहीं होती।

वीतरागपुरुषके अभाव जैसा वर्तमानकाल है।

हे मुमुक्षु! वीतरागपद वारंवार विचार करने योग्य है, उपासना करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है।

---

६ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ १५]

जीवके बंधनके मुख्य हेतु दो—
राग और द्वेष
रागके अभावसे द्वेषका अभाव होता है।
रागकी मुख्यता है।
रागके कारण ही संयोगमें आत्मा तन्मयवृत्तिमान है।
वही कर्म मुख्यरूपसे है।

ज्यों ज्यो रागद्वेष मंद, त्यो त्यों कर्मबंध मंद और ज्यो ज्यों रागद्वेष तीव्र, त्यो त्यों कर्मबंध तीव्र। जहाँ रागद्वेषका अभाव वहाँ कर्मबंधका सांपरायिक अभाव।

रागद्वेष होनेके मुख्य कारण—
मिथ्यात्व अर्थात्
असम्यग्दर्शन है।
सम्यग्ज्ञानसे सम्यग्दर्शन होता है।
उससे असम्यग्दर्शनकी निवृत्ति होती है।
उस जीवको सम्यक्‌चारित्र प्रगट होता है,
जो वीतरागदशा है।
संपूर्ण वीतरागदशा जिसे रहती है उसे चरमशरीरी जानते हैं।

---

७ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ १७]

हे जीव! स्थिर दृष्टिसे तू अंतरंगमें देख, तो सर्व परद्रव्यसे मुक्त ऐसा तेरा स्वरूप तुझे परम प्रसिद्ध अनुभवमें आयेगा।

हे जीव ! असम्यग्दर्शनके कारण वह स्वरूप तुझे भासित नहीं होता। उस स्वरूपमें तुझे शंका है, व्यामोह और भय है।

सम्यग्दर्शनका योग प्राप्त करनेसे उस अभासन आदिकी निवृत्ति होगी।

हे सम्यग्दर्शनी ! सम्यक्चारित्र ही सम्यग्दर्शनका फल घटित होता है, इसलिये उसमें अप्रमत्त हो।

जो प्रमत्तभाव उत्पन्न करता है वह तुझे कर्मबंधकी सुप्रतीतिका हेतु है।

हे सम्यक्चारित्री ! अब शिथिलता योग्य नहो। बहुत अंतराय था, वह निवृत्त हुआ तो अब निरंतराय पदमें शिथिलता किसलिये करता है ?

---

८ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ २१]

दुःखका अभाव करना सब जीव चाहते हैं।

दुःखका आत्यंतिक अभाव कैसे हो ? वह ज्ञात न होनेसे जिससे दुःख उत्पन्न हो उस मार्गको दुःखसे छूटनेका उपाय जीव समझता है।

जन्म, जरा, मरण मुख्यरूपसे दुःख है। उसका बीज कर्म है। कर्मका बीज रागद्वेष है, अथवा इस प्रकार पाँच कारण हैं—

मिथ्यात्व

अविरति

प्रमाद

कषाय

योग

पहले कारणका अभाव होनेपर दूसरेका अभाव, फिर तीसरेका, फिर चौथेका, और अंतमें पाँचवें कारणका यों अभाव होनेका क्रम है।

मिथ्यात्व मुख्य मोह है।

अविरति गौण मोह है।

प्रमाद और कषायका अविरतिमें अंतर्भाव हो सकता है। योग सहचारीरूपसे उत्पन्न होता है। चारों नष्ट हो जानेके बाद भी पूर्व-हेतुसे योग हो सकता है।

---

९ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ २५]

हे मुनियो ! जब तक केवल समवस्थानरूप सहज स्थिति स्वाभाविक न हो तब तक आप ध्यान और स्वाध्यायमें लीन रहें।

जीव केवल स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हो वहाँ कुछ करना बाकी नहीं रहा।

जहाँ जीवके परिणाम वर्धमान, हीयमान हुआ करते हैं वहाँ ध्यान कर्तव्य है। अर्थात् ध्यानलीनतासे सर्व बाह्य द्रव्यके परिचयसे विराम पाकर निजस्वरूपके लक्ष्यमें रहना उचित है।

उदयके धक्केसे वह ध्यान जब जब छूट जाये तब तब उसका अनुसंधान बहुत त्वरासे करना।

बीचके अवकाशमें स्वाध्यायमें लीनता करना। सर्व पर-द्रव्यमें एक समय भी उपयोग संग प्राप्त न करे ऐसी दशाका जीव सेवन करे तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

---

१० [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ २७]

एकांत आत्मवृत्ति।
एकांत आत्मा।
केवल एक आत्मा
केवल एक आत्मा ही।
केवल मात्र आत्मा।
केवल मात्र आत्मा ही।
आत्मा ही।
शुद्धात्मा ही।
सहजात्मा ही।
निर्विकल्प, शब्दातीत सहज स्वरूप आत्मा ही।

---

११ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ २९]

७-१२-५४*
३१-११-२२

यों काल बीतने देना योग्य नहीं। प्रत्येक समयको आत्मोपयोगसे उपकारी बनाकर निवृत्त होने देना योग्य है।

अहो इस देहकी रचना! अहो चेतन! अहो उसका सामर्थ्य! अहो ज्ञानी! अहो उनकी गवेषणा! अहो उनका ध्यान! अहो उनकी समाधि! अहो उनका संयम! अहो उनका अप्रमत्त भाव! अहो उनकी परम जागृति! अहो उनका वीतराग स्वभाव! अहो उनका निरावरण ज्ञान! अहो उनके योगकी शांति! अहो उनके वचन आदि योगका उदय!

हे आत्मन्! यह सब तुझे सुप्रतीत होनेपर भी प्रमत्तभाव क्यों? मंद प्रयत्न क्यों? जघन्य मंद जागृति क्यो? शिथिलता क्यों? आकुलता क्यो? अंतरायका हेतु क्या?

अप्रमत हो, अप्रमत्त हो।

परम जागृत स्वभावका सेवन कर, परम जागृत स्वभावका सेवन कर।

---

१२ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३०]

तीव्र वैराग्य, परम आर्जव, बाह्याभ्यंतर त्याग।
आहारकी जय।
आसनकी जय।
निद्राकी जय।
योगकी जय।
आरंभ-परिग्रह विरति।
ब्रह्मचर्यमे प्रतिनिवास।

---

*संवत १९५४, १२वाँ मास आसोज सुदी ७; ३१वाँ वर्ष ११वाँ मास, २२वाँ दिन। [जन्म-तिथि सं० १९२४, कार्तिक सुदी १५ होनेसे सं० १९५४ आसोज सुदी ७ को ३१वाँ वर्ष, ११वाँ मास और २२वाँ दिन आता है।]

एकांतवास ।
अष्टांगयोग ।
सर्वज्ञध्यान ।
आत्म ईहा ।
आत्मोपयोग ।
मूल आत्मोपयोग ।
अप्रमत्त उपयोग ।
केवल उपयोग ।
केवल आत्मा ।
अचिंत्य सिद्धस्वरूप ।

---

*१३ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३१]

जिनचैतन्यप्रतिमा ।
सर्वांगसंयम ।
एकांत स्थिर संयम ।
एकांत शुद्ध संयम ।
केवल बाह्यभाव निरपेक्षता ।

आत्मतत्त्वविचार ।
जगततत्त्वविचार ।
जिनदर्शनतत्त्वविचार ।
अन्य दर्शनतत्त्वविचार । } समाधान

धर्मसुगमता ।
लोकानुग्रह । } पद्धति

यथास्थित शुद्ध सनातन
सर्वोत्कृष्ट जयवंत
धर्मका उदय } वृत्ति

---

* इस योजनाका उद्देश्य यह मालूम होता है कि 'एकात स्थिर संयम', 'एकात शुद्ध संयम' और 'केवल बाह्यभाव निरपेक्षता' पूर्वक 'सर्वाङ्गसंयम' प्राप्तकर, उसके द्वारा 'जिनचैतन्यप्रतिमारूप' होकर, अर्थात् अडोल आत्मावस्था पाकर जगतके जीवोंके कल्याणके लिये अर्थात् मार्गके पुनरुद्धारके लिये प्रवृत्ति करनी चाहिये । यहाँ जो 'वृत्ति,' 'पद्धति' और 'समाधान' शब्द आये हैं, सो उनमें 'वृत्ति क्या है ?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'यथास्थित शुद्ध सनातन सर्वोत्कृष्ट जयवंत धर्मका उदय करना' यह वृत्ति है। उसे 'किस पद्धतिसे करना चाहिये ?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि जिससे लोगोंको 'धर्मसुगमता हो और लोकानुग्रह भी हो ।' इसके बाद 'इस वृत्ति और पद्धतिका परिणाम क्या होगा ?' इसके समाधानमें कहा गया है कि 'आत्मतत्त्व-विचार, जगततत्त्व-विचार, जिनदर्शनतत्त्व-विचार और अन्य दर्शनतत्त्व-विचारके संबंधमें संसारके जीवोंका समाधान करना ।'

इसी संस्मरण-पोथीके आंक १८ में कहा गया है कि "परानुग्रह परम कारुण्यवृत्तिकी अपेक्षा भी प्रथम चैतन्य जिनप्रतिमा हो। चैतन्य जिनप्रतिमा हो ।"—इस वाक्यसे भी यह बात अधिक स्पष्ट होती है ।

यहाँ यह स्पष्टीकरण श्रीमद् राजचंद्रकी गुजराती आवृत्तिके संशोधक श्री मनसुखभाई रवजीभाई मेहताके नोटके आधारसे लिखा गया है ।

[श्री परमश्रुतप्रभावक-मंडल, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'श्रीमद् राजचन्द्र' (हिन्दी) के पृष्ठ ७२९ के फुटनोटसे उद्धृत ।]

१४ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३२]

स्वपर परमोपकारक परमार्थमय सत्यधर्म जयवंत रहे।

आश्चर्यकारक भेद पड़ गये हैं।

खंडित है।

संपूर्ण करनेका साधन दुर्गम दिखायी देता है।

उस प्रभावमे महान अन्तराय है।

देश, काल आदि बहुत प्रतिकूल हैं।

वीतरागोंका मत लोकप्रतिकूल हो गया है।

रूढिसे जो लोग उसे मानते हैं उनके ध्यानमे भी वह सुप्रतीत मालूम नहीं होता। अथवा अन्यमतको वीतरागोंका मत समझ कर प्रवृत्ति करते रहते हैं।

वीतरागोंके मतको यथार्थ समझनेकी उनमे योग्यताकी बहुत कमी है।

दृष्टिरागका प्रबल राज्य चलता है।

वेषादि व्यवहारमे बड़ी विडंबना कर मोक्षमार्गको अंतराय कर बैठे हैं।

विराधकवृत्तिवाले तुच्छ पामर पुरुष अग्रभागमे रहते हैं।

किंचित् सत्य बाहर आते हुए भी उन्हे प्राणघाततुल्य दुःख लगता हो ऐसा दिखायी देता है।

---

१५ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३४]

तब आप किसलिये उस धर्मका उद्धार चाहते हैं?

परम कारुण्य-स्वभावसे।

उस सद्धर्मके प्रति परमभक्तिसे।

---

१६ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३५]

एवंभूत-दृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर।

ऋजुसूत्र-दृष्टिसे एवंभूत स्थिति कर।

नैगम-दृष्टिसे एवंभूत प्राप्ति कर।

एवंभूत-दृष्टिसे नैगम विशुद्ध कर।

संग्रह-दृष्टिसे एवंभूत हो।

एवंभूत-दृष्टिसे संग्रह विशुद्ध कर।

व्यवहार-दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा।

एवंभूत-दृष्टिसे व्यवहार विनिवृत्त कर।

शब्द-दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा।

एवंभूत-दृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर।

समभिरूढ-दृष्टिसे एवंभूत अवलोकन कर।

एवंभूत-दृष्टिसे समभिरूढ स्थिति कर।

एवंभूत-दृष्टिसे एवंभूत हो।

एवंभूत-स्थितिसे एवंभूत-दृष्टि शांत कर।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

१७ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३७]

मैं असंग शुद्धचेतन हूँ।
वचनातीत निर्विकल्प
एकांत शुद्ध
अनुभवस्वरूप हूँ।
मैं परम शुद्ध, अखंड चिद्‌धातु हूँ।
अचिद्‌धातुके संयोगरसका यह आभास तो देखें!
आश्चर्यवत्, आश्चर्यरूप, घटना है।
कुछ भी अन्य विकल्पका अवकाश नही है।
स्थिति भी ऐसी ही है।

---

१८ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३९]

परानुग्रह परम कारुण्यवृत्तिकी अपेक्षा भी प्रथम चैतन्य जिनप्रतिमा हो।
चैतन्य जिनप्रतिमा हो।

वैसा काल है?
उस विषयमें निर्विकल्प हो।
वैसा क्षेत्रयोग है?
खोज।
वैसा पराक्रम है?
अप्रमत्त शूरवीर हो।
उतना आयुबल है?
क्या लिखना? क्या कहना?
अंतर्मुख उपयोग करके देख।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

---

१९ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ४१]

हे काम! हे मान! हे संग-उदय!
हे वचनवर्गणा! हे मोह! हे मोहदया!
हे शिथिलता! आप किसलिये अंतराय करते हैं?
परम अनुग्रह करके अब अनुकूल हो जायें! अनुकूल हो जायें।

---

२० [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ४५]

हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन! तुझे अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार हो!

इस अनादि-अनन्त संसारमे अनंत-अनंत जीव तेरे आश्रयके बिना अनंत-अनंत दुःखका अनुभव करते हैं।

तेरे परमानुग्रहसे स्वस्वरूपमें रुचि हुई, परम वीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय हुआ, कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिन वीतराग ! आपको अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। आपने इस पामरपर अनंत-अनंत उपकार किया है।

हे कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानमे इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। इसके लिये मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

हे श्री सोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ, उसके लिये तुझे नमस्कार करता हूँ।

---

२१ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ४७]

जैसे भगवान जिनेन्द्रने निरूपण किया है वैसे ही सर्व पदार्थका स्वरूप है।

भगवान जिनेन्द्रका उपदिष्ट आत्माका समाधिमार्ग श्री गुरुके अनुग्रहसे जानकर, परम प्रयत्नसे उसकी उपासना करें।

---

२२ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ४९]

[1]बंधविहाण विमुक्कं, वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं।
[2]सिरिवीर जिणं वंदिअ, कम्मविभागं समासओ वुच्छं।
कीरई जिएण हेऊहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं॥
[3]कम्मदव्वेहिं सम्मं, संजोगो होई जो उ जीवस्स।
सो बंधो नायव्वो, तस्स विओगो भवे मुक्खो॥

---

२३ [संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ५१]

केवल समवस्थित शुद्ध चेतन

मोक्ष

उस स्वभावका अनुसंधान वह

मोक्षमार्ग

प्रतीतिरूपमें वह मार्ग जहाँसे शुरू होता है वहाँ सम्यग्दर्शन।

देश आचरणरूप		वह	पंचम गुणस्थानक।
सर्व आचरणरूप		वह	षष्ठ गुणस्थानक।
अप्रमत्तरूपसे उस आचरणमें स्थिति		वह	सप्तम ,,
अपूर्व आत्मजागृति		वह	अष्टम ,,
सत्तागत स्थूल कषाय बलपूर्वक स्वरूपस्थिति		वह	नवम ,,
सत्तागत सूक्ष्म	,, ,,		दशम ,,
उपशांत	,, ,,		एकादशम ,,
क्षीण	,, ,,		द्वादशम ,,

---

१ यह सम्पूर्ण गाथा इस प्रकार है—बंधविहाण विमुक्कं, वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं। गईआईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं। अर्थात् कर्मबंधकी रचनासे रहित श्री वर्धमान जिनको नमस्कार करके गति और चौदह मार्गणाओं द्वारा संक्षेपसे बंधस्वामित्वको कहूँगा।

२. भावार्थ—श्री वीर जिनको नमस्कार करके संक्षेपसे कर्मविपाक नामक ग्रन्थको कहूँगा। जो जीवसे किसी हेतु द्वारा किया जाता है, उस कर्म कहते हैं।

३. अर्थके लिये देखें व्याख्यानसार–२ का आंक ३०।

संस्मरण-पोथी ३

१ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३]

ॐ नमः

सर्वज्ञ जिन वीतराग

सर्वज्ञ है।

रागद्वेषका आत्यंतिक क्षय हो सकता है।
ज्ञानका प्रतिबंधक रागद्वेष है।
ज्ञान, जीवका स्वत्वभूत धर्म है।
जीव, एक अखण्ड संपूर्ण द्रव्य होनेसे उसका ज्ञानसामर्थ्य संपूर्ण है।

---

२ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ७]

सर्वज्ञपद वारंवार श्रवण करने योग्य, पठन करने योग्य, विचार करने योग्य, ध्यान करने योग्य और स्वानुभवसे सिद्ध करने योग्य है।

---

३ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ९]

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
उपशममूल धर्म

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
दयामूल धर्म

सर्वज्ञ देव
निर्ग्रंथ गुरु
सिद्धांतमूल धर्म

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
जिनाज्ञामूल धर्म

सर्वज्ञका स्वरूप
निर्ग्रंथका स्वरूप
धर्मका स्वरूप

सम्यक् क्रियावाद

---

४ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ११]

ॐ नमः

प्रदेश
समय
परमाणु

द्रव्य
गुण
पर्याय

जड
चेतन

---

५ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १३]

ॐ नमः

मूल द्रव्य शाश्वत।
मूल द्रव्य :—जीव, अजीव।

पर्याय :—अशाश्वत।
अनादि नित्य पर्याय :—मेरु आदि।

---

६ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १५]

ॐ नमः

सब जीव सुखको चाहते हैं।
दुःख सबको अप्रिय है।
दुःखसे मुक्त होना सब जीव चाहते हैं।
उसका वास्तविक स्वरूप समझमे न आनेसे वह दुःख नष्ट नही होता।
उस दुःखके आत्यंतिक अभावका नाम मोक्ष कहते है।
अत्यन्त वीतराग हुए बिना आत्यंतिक मोक्ष नही होना।
सम्यग्ज्ञानके बिना वीतराग नहीं हुआ जा सकता।
सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान असम्यक् कहा जाता है।

वस्तुकी जिस स्वभावसे स्थिति है, उस स्वभावसे उस वस्तुकी स्थिति समझमें आना उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

[संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १६]

सम्यग्ज्ञानदर्शनसे प्रतीत हुए आत्मभावसे आचरण करना चारित्र है।
इन तीनोंकी एकतासे मोक्ष होता है।
जीव स्वाभाविक है।
परमाणु स्वाभाविक है।
जीव अनंत हैं।

परमाणु अनंत हैं।

जीव और पुद्गलका संयोग अनादि है।

जब तक जीवको पुद्गल-सम्बन्ध है, तब तक सकर्म जीव कहा जाता है।

भावकर्मका कर्ता जीव है।

भावकर्मका दूसरा नाम विभाव कहा जाता है।

भावकर्मके हेतुसे जीव पुद्गलको ग्रहण करता है।

उससे तैजस आदि शरीर और औदारिक आदि शरीरका योग होता है।

[संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १७]

भावकर्मसे विमुख हो तो निजभाव परिणामी हो।

सम्यग्दर्शनके बिना वस्तुतः जीव भावकर्मसे विमुख नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन होनेका मुख्य हेतु जिनवचनसे तत्त्वार्थ प्रतीति होना है।

---

७ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ १९]

मैं केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप सहज निज अनुभवस्वरूप हूँ।

व्यवहार दृष्टिसे मात्र इस वचनका वक्ता हूँ।

परमार्थसे तो मात्र उस वचनमे व्यंजित मूल अर्थरूप हूँ।

आपसे जगत भिन्न है, अभिन्न है, भिन्नाभिन्न है?

भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न, ऐसा अवकाश स्वरूपमे नहीं है।

व्यवहारदृष्टिसे उसका निरूपण करते हैं।

—जगत मेरेमे भासमान होनेसे अभिन्न है, परन्तु जगत जगतस्वरूपमे है, मैं स्वस्वरूपसे हूँ, इसलिये जगत मुझसे सर्वथा भिन्न है। इन दोनों दृष्टियोंसे जगत मुझसे भिन्नाभिन्न है।

ॐ शुद्ध निर्विकल्प-चैतन्य।

---

८ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ २३]

ॐ नमः

केवलज्ञान।

एक ज्ञान।

सर्व अन्य भावोंके संसर्गसे रहित एकांत शुद्धज्ञान।

सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सर्व प्रकारसे एक समयमें ज्ञान।

उस केवलज्ञानका हम ध्यान करते है।

निजस्वभावरूप है।

स्वतत्त्वभूत है।

निरावरण है।

अभेद है।

निर्विकल्प है।

सर्व भावोंका उत्कृष्ट प्रकाशक है।

---

९ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ २४]

मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ।

ऐसा सम्यक् प्रतीत होता है।

वैसा होनेके हेतु सुप्रतीत हैं।

सर्वं इंद्रियोंका संयम कर, सर्वं परद्रव्यसे निजस्वरूपको व्यावृत्त कर, योगको अचलकर, उपयोगसे उपयोगकी एकता करनेसे केवलज्ञान होता है।

---

१० [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ २७]

आकाशवाणी

तप करें, तप करे, शुद्ध चैतन्यका ध्यान करें, शुद्ध चैतन्यका ध्यान करें।

---

११ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ २९]

मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ।

असंख्यात प्रदेशात्मक निजावगाहना प्रमाण हूँ।

अजन्म, अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र निर्विकल्प द्रष्टा हूँ।

---
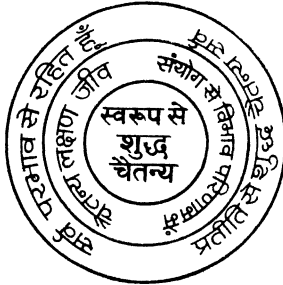
१२ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३१]

शुद्ध चैतन्य।

शुद्ध चैतन्य। शुद्ध चैतन्य।

सद्भावकी प्रतीति–सम्यग्दर्शन।

शुद्धात्मपद।

ज्ञानकी सीमा कौनसी ?
निरावरण ज्ञानकी स्थिति क्या ?
अद्वैत एकांतसे घटित होता है ?
ध्यान और अध्ययन।
उ० अप०

---

१३ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३५]

ॐ

'ठाणांगसूत्र'मे निम्नलिखित सूत्र क्या उपकार होनेके लिये लिखा है, इसका विचार करें।

'एगे समणे भगवं महावीरे इमीसेणं उस्सप्पिणीए चउवीसं तित्थयराणं चरिमे तित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे सव्वदुःखप्पहीणे।

---

१४ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३७]

आभ्यंतर भान अवधूत,
विदेहीवत्,
जिनकल्पीवत्,

सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त, निज स्वभावके भानसहित, अवधूतवत्, विदेहीवत्, जिन-कल्पीवत् विचरते हुए पुरुषरूप भगवानके स्वरूपका ध्यान करते हैं।

---

१५ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ३९]

प्रवृत्तिके कार्योंसे विरति।

संग और स्नेहपाशको तोड़ना (अतिशय विषम होते हुए भी तोड़ना, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नही है।)

आशंका—जो स्नेह रखता है, उसके प्रति ऐसी क्रूर-दृष्टिसे वर्तन करना, क्या यह कृतघ्नता अथवा निर्दयता नही है ?

समाधान—

---

१६ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४०]

स्वरूपबोध।
योग निरोध।
सर्वधर्म स्वाधीनता।
धर्ममूर्तिता।
सर्वप्रदेश संपूर्ण गुणात्मकता।
सर्वांग संयम।
लोकपर निष्कारण अनुग्रह।

---

१. भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर एक है। वे इस अवसर्पिणी-कालमें चौबीस तीर्थंकरोंमें अंतिम तीर्थंकर हैं, वे सिद्ध हैं, बुद्ध है, मुक्त हैं, परिनिर्वृत है, और उनके सब दुःख क्षीण हो गये हैं।

१७ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४१]

ॐ नमः

सर्वज्ञ—वीतरागदेव

(सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सर्व प्रकारसे ज्ञाता, रागद्वेषादि सर्व विभावोंको जिसने क्षीण किया है वह ईश्वर है।)

वह पद मनुष्यदेहमें संप्राप्त होने योग्य है।

जो संपूर्ण वीतराग हो वह संपूर्ण सर्वज्ञ होता है।

संपूर्ण वीतराग हुआ जा सकता है, ऐसे हेतु सुप्रतीत है।

---

१८ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४५]

प्रत्यक्ष निज अनुभवस्वरूप हूँ, इसमे सशय क्या ?

उस अनुभवमें जो विशेष संबंधी न्यूनाधिकता होती है, वह यदि दूर हो जाये तो केवल अखडाकार स्वानुभव स्थिति रहे।

अप्रमत्त उपयोगसे वैसा हो सकता है।

अप्रमत्त उपयोग होनेके हेतु सुप्रतीत है। उस तरह वर्तन किया जा सकता है, वह प्रत्यक्ष सुप्रतीत है।

अविच्छिन्न वैसी धारा रहे तो अद्भुत अनंत ज्ञानस्वरूप अनुभव सुस्पष्ट समवस्थित रहे—

---

१९ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४७]

सर्व चारित्र वशीभूत करनेके लिये, सर्व प्रमाद दूर करनेके लिये, आत्मामे अखड वृत्ति रहनेके लिये, मोक्षसंबंधी सर्व प्रकारके साधनोंकी जय करनेके लिये 'ब्रह्मचर्य' अद्भुत अनुपम सहायकारी है, अथवा मूलभूत है।

---

२० [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ४९[

ॐ नमः

संयम

---

२१ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५०]

जागृत सत्ता।

ज्ञायक सत्ता।

आत्मस्वरूप।

---

२२ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५२]

सर्वज्ञोपदिष्ट आत्माको सद्गुरुकी कृपासे जानकर निरंतर उसके ध्यानके लिये विचरना, संयम और तपपूर्वक—

---

२३ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५२]

अहो ! सर्वोत्कृष्ट शांत रसमय सन्मार्ग—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांत रसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शात रसको जिन्होंने सुप्रतीत कराया ऐसे परमकृपालु सद्‌गुरुदेव—
इस विश्वमे सर्वकाल आप जयवत रहे, जयवत रहें।

---

२४ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५४]

ॐ नमः

विश्व अनादि है।
आकाश सर्वव्यापक है।
उसमें लोक स्थित है।
जड-चेतनात्मक लोक संपूर्ण भरपूर हैं।
धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्‌गल ये जड द्रव्य हैं।
जीव द्रव्य चेतन है।
धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार अमूर्त्त द्रव्य हैं।
वस्तुत. काल औपचारिक द्रव्य है।
धर्म, अधर्म, आकाश एक एक द्रव्य हैं।
काल, पुद्‌गल और जोव अनत द्रव्य हैं।

[संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५५]

द्रव्य गुणपर्यायात्मक है।

---

२५ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५७]

परम गुणमय चारित्र (बलवान असंगादि स्वभाव) चाहिये।
परम निर्दोष श्रुत।
परम प्रतीति।
परम पराक्रम।
परम इद्रियजय।

---

१. मूलका विशेषत्व।
२. मार्गके आरंभसे अंतपर्यंतकी अद्‌भुत सकलना।
३. निर्विवाद—
४. मुनिधर्मप्रकाश।
५. गृहस्थधर्मप्रकाश।
६ निर्ग्रंथ परिभाषानिधि—
७. श्रुतसमुद्र प्रवेशमार्ग।

---

२६ [संस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५८]

स्वपर-उपकारका महान कार्य अब कर ले ! त्वरासे कर ले !
अप्रमत्त हो—अप्रमत्त हो।
क्या कालका क्षणवारका भी भरोसा आर्य पुरुषोंने किया है ?
हे प्रमाद ! अब तू जा, जा।
हे ब्रह्मचर्य ! अब तू प्रसन्न हो, प्रसन्न हो।

हे व्यवहारोदय ! अब प्रबलतासे उदय आकर भी तू शांत हो, शांत।

हे दीर्घसूत्रता ! सुविचारका, धैर्यका, गंभीरताका परिणाम तू क्यों होना चाहती है ?

हे बोधबीज ! तू अत्यंत हस्तामलकवत् वर्तन कर, वर्तन कर।

हे ज्ञान ! तू दुर्गमको भी अब सुगम स्वभावमे ला दे।

[सस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ५९]

हे चारित्र ! परम अनुग्रह कर, परम अनुग्रह कर।

हे योग ! आप स्थिर होवें; स्थिर होवें।

हे ध्यान ! तू निजस्वभावाकार हो, निजस्वभावाकार हो।

हे व्यग्रता ! तू चली जा, चली जा।

हे अल्प या मध्य अल्प कषाय ! अब आप उपशांत होवें, क्षीण होवें। हमें आपके प्रति कोई रुचि नहीं रही।

हे सर्वज्ञपद ! यथार्थ सुप्रतीतरूपसे तू हृदयावेश कर, हृदयावेश कर।

हे असंग निर्ग्रंथपद ! तू स्वाभाविक व्यवहाररूप हो।

हे परम करुणामय सर्व परमहितके मूल वीतरागधर्म ! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो।

हे आत्मन् ! तू निजस्वभावाकार वृत्तिमें ही अभिमुख हो ! अभिमुख हो। ॐ

[सस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ६१]

हे वचनसमिति ! हे काय-अचपलता ! हे एकांतवास और असंगता ! आप भी प्रसन्न होवें, प्रसन्न होवें।

खलबली करती हुई जो आभ्यंतर वर्गणा है उसका या तो आभ्यंतर ही वेदन कर लेना, या तो उसे स्वच्छपुट देकर उपशात कर देना।

जैसे नि स्पृहता बलवान, वैसे ध्यान बलवान हो सकता है, कार्य बलवान हो सकता है।

---

२७ [सस्मरण-पोथी ३, पृष्ठ ६३]

[1]इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुणंसंसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं विज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंविद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति। तहा तंमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसियामो तहा सुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामोत्ति।

२८

शरीरसंबंधी दूसरी बार आज अप्राकृत क्रम शुरू हुआ।

ज्ञानियोका सनातन सन्मार्ग जयवंत रहे !

फागुन वदी १३, सोम, सं० १९५७

---

१. **भावार्थ**—यह ही निग्रंथ-प्रवचन सत्य, अनुत्तर—श्रेष्ठ, सर्वज्ञका, प्रतिपूर्ण संशुद्ध—सर्वथा संशुद्ध, न्याययुक्त, शल्यको काटनेवाला, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, विज्ञानमार्ग, निर्वाणमार्ग, अवितथ—सत्य, असंदिग्ध और सर्व दुःख नाशक है। इस मार्गमे स्थित हुए जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाणको प्राप्त होते हैं और सर्व दुःखोंका अन्त करते हैं। उसकी आज्ञासे उस प्रकारसे चलें, रहें, बैठें, करवट बदलें, खायें, बोलें, गुरु आदिके सामने खड़े होवें और वर्तें कि प्राणभूत जीवसत्वोकी हिंसा न हो। ऐसे संयमका आचरण हो।

२९

द्वि० आ० शु० १, १९५४

ॐ नमः

सर्व विकल्पका, तर्कका त्याग करके

मनका वचनका कायाका इन्द्रियका आहारका निद्राका	जय करके

निर्विकल्परूपसे अंतर्मुखवृत्ति करके आत्मध्यान करना। मात्र निर्बाध अनुभवस्वरूपमे लीनता होने देना, दूसरी चिन्तना न करना। जो जो तर्क आदि उठें उन्हे विस्तृत न करते हुए उपशमन करना।

३०

वीतरागदर्शन संक्षेप

मंगलाचरण—शुद्ध पदको नमस्कार।

भूमिका—मोक्ष प्रयोजन।

उस दुःखके मिटनेके लिये भिन्न भिन्न मतोका पृथक्करण कर देखते हुए उनमे वीतराग दर्शन पूर्ण और अविरुद्ध है, ऐसा सामान्य कथन।

उस दर्शनका विशेष स्वरूप।

उसकी जीवको अप्राप्ति तथा प्राप्तिमे अनास्था होनेके कारण।

मोक्षाभिलाषी जीव उस दर्शनकी कैसे उपासना करे।

आस्था—उस आस्थाके प्रकार और हेतु।

विचार—उस विचारके प्रकार और हेतु।

विशुद्धि—उस विशुद्धिके प्रकार और हेतु।

मध्यस्थ रहनेके स्थान—उसके कारण।

धीरजके स्थान—उसके कारण।

शंकाके स्थान—उसके कारण।

पतित होनेके स्थान—उसके कारण।

उपसहार।

आस्था—

पदार्थका अचिंत्यत्व, बुद्धिमे व्यामोह, कालदोष।

श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथ

समाप्त

परिशिष्ट १

अवतरणोंकी वर्णानुक्रम-सूची

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
अखे (खै) पुरुष (ख) अेक वरख हे (है)	[एक सवैया]	४७१-११
अजेयंष्टव्यम्	[उत्तरपुराण प० ६७, ३२९]	७६-११
अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए । किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गइं न गच्छिज्जा ॥	(उत्तराध्ययन ८-१)	३५-३०
अनुक्रमे संयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायिकभाव रे । सयम श्रेणी फूलडेजी, पूजु पद निष्पाव रे ॥		३१५-७,१४; ३१६-२
शुद्ध निरजन अलख अगोचर, एहि ज साध्य सुहायो रे । ज्ञानक्रिया अवलंबी फरस्यो, अनुभव सिद्धि उपायो रे ॥ राय सिद्धारथ वश विभूषण, त्रिशला राणी जायो रे । अज अजरामर सहजानदी, ध्यानभुवनमा ध्यायो रे ॥ [सयमश्रेणी स्तवन १-२ पडित उत्तमविजयजी, प्रकरणरत्नाकर भाग २ पृ० ६९९]		३१६-४
अन्य पुरुषकी दृष्टिमे, जग व्यवहार लखाय । वृन्दावन जब जग नही, कौन (को) व्यवहार बताय ॥	[विहारवृन्दावन]	५०७-९
अलखनाम धुनि लगी गगनमे, मगन भया मन मेराजी । आसन मारी सुरत दृढ धारी, दिया अगम घर डेराजी, दरश्या अलख देदाराजी ॥ [छोटम, अध्यात्म भजनमाला पद १३३ पृ० ४९, प्र० कहानजी धर्मसिंह मुबई १८९७]		२६०-३१
अल्पाहार निद्रा वश करे, हेत स्नेह जगथी परिहरे । लोकलाज नवि धरे लगार, एक चित्त प्रभुथी प्रीत धार ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१६३-२७
[सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे ।] अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं ॥	[दशवैकालिक अ. ६-२२]	८२०-३६
अहर्निश अधिको प्रेम लगावे, जोगानल घटमाहि जगावे । अल्पाहार आसन दृढ धरे, नयन थकी निद्रा परिहरे ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानदजी]	१६४-१३
अहो जिणेहि असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ । मुक्खसाहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा ॥	[दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ५-९२]	६३८-४
अहो निच्चं तवो कम्मं सव्वबुद्धेहि वण्णिअं । जाव लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोयणं ॥	[दशवैकालिकसूत्र अध्ययन ६-२३]	६३८-९
अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानांजनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥	[गुरुगीता, ४५]	६३७-३२; ६९१-२५
आणाए धम्मो आणाए तवो ।	[उपदेशपद-हरिभद्रसूरि]	२६३-१०

अवतरण | **स्थल** | **पृष्ठ-पंक्ति**

एक अज्ञानीके कोटि अभिप्राय है, और कोटि ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है। [अनाथदास] ७०१-३६

एक कहे सेवीए विविध किरिया करी, फल अनेकांत लोचन न देखे।
फल अनेकात किरिया करी बापडा, रडवडे चार गतिमांहि लेखे ॥
[आनंदघन चोवीशी-अनंतजिन स्तवन] ७१६-१६

एक देखिये जानिये, [रमि रहिये एकठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ॥]
[समयसार नाटक जीवद्वार २० पृ० ५० पं० बनारसीदास, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बबई] २७७-१४

एक परिनामके न करता दरव दोई,
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोई दर्व कबहूं न करै,
दोई करतूति एक दर्व न करतु है।
जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप, कोउ न टरतु है।
जड़ परिनामनिको, करता है पुद्गल,
चिदानंद चेतन सुभाव आचरतु है ॥
[समयसार-नाटक-कर्ताकर्म-क्रियाद्वार १० पृ० ९४] ३१७-२४, ३१८-५; ६१४-११

एगे समणे भगवं महावीरे इमीए ओसप्पिणीए
चउव्वीसाए तित्थयराणं चरिमतित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते
परिनिव्वुडे (जाव) सव्वदुक्खप्पहीणे।
[ठाणागसूत्र ५३ पृ० १५, आगमोदय समिति] ८४५-१०

एमुं स्वप्ने जो दर्शन पामे रे, तेनुं मन न चढे बीजे भामे रे।
थाय कृष्णनो लेश प्रसग रे, तेने न गमे ससारनो सग रे ॥१॥
हसता रमता प्रगट हरि देखुं रे, मारुं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे,
मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे, ओधा जीवनदोरी अमारी रे ॥२॥
[उद्धवगीता क. ८८-७, ८७-७ मुक्तानदस्वामी] २५१-१०

[मिगचारियं चरिस्सामि] एवं पुत्ता जहासुखं,
[अम्मापिऊहिं अणुण्णाओ जहाइ उवहिं तओ] [उत्तराध्ययन-१९-८५] ५४-३०

(तूठो तूठो रे मुज साहिब जगनो तूठो)
ए श्रीपाळनो रास करंता ज्ञान अमृतरस वूठ्यो (वूठो) रे ॥ मुज०
[श्रीपालरास खड ४ पृ० १८५ विनयविजय यशोविजयजी] ४७५-१२

ऐसा भाव निहार नित, कीजे ज्ञान विचार।
मिटे न ज्ञान विचार बिन, अंतर-भाव-विकार ॥ [स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी] १६४-२७

कम्मदव्वेहिं सम्मं,संजोगो होइ जो उ जीवस्स।
सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो ॥
[आचारांग अ० ७. १. निर्युक्ति गा० २६०] ७९९-२; ८१७-१५; ८४०-१

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
बिनसारी न्यारी, परजंक न्यारौं, सेज न्यारी, चादरि भी न्यारी, ईहाँ जूठी मेरी थपना । अतीत अवस्था सैन, निद्रावाहि कोऊ पै न, विद्यमान पलक न, यामें अब छपना । स्वास औ सुपन दोउ, निद्राकी अलग बुझे, सूझैं सब अंग लखि, आतम दरपना । त्यागी भयौ चेतन, अचेतनता भाव त्यागि, भालै दृष्टि खोलिकै, संभालै रूप अपना ।।	[समयसार-नाटक निर्जराद्वार १५ पृ. १७६-७]	६१३-२५
चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे ।	[आनन्दघन चोवीशी-नमिनाथजिन स्तवन]	६७८-३
जं ण जं णं दिस इच्छइ त णं तं णं दिसं अप्पडिबद्धे	[आचाराग ?]	२२२-३१
जबहीतैं चेतन विभावसों उलटि आपु, समै पाई अपनो सुभाव गहि लीनो है । तबही तैं जो जो लेने जोग सो सो सब लीनो जो जो त्याग जोग सो सो सब छाडि दीनो है । लेवेको न रही ठोर, त्यागीवेको नाही और, बाकी कहा उबर्योजु, कारज नवीनो है । संगत्यागी, अंगत्यागी, वचनतरंगत्यागी, मनत्यागी, बुद्धित्यागी, आपा शुद्ध कीनो है ।।	[समयसार-नाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०९ पृ० ३७७-८]	३२२-१३
जारिस सिद्धसहावो तारिस सहावो सव्वजीवाण । तम्हा सिद्धतरुई कायव्वा भव्वजीवेहिं ।।	[सिद्धप्राभृत]	५८२-९
जिन थई जिनने जे आराधे, ते सही जिनवर होवे रे । भृगी इलिकाने चटकावे, ते भृगी जग जोवे रे ।।	[आनन्दघन चोवीशी नमिनाथजिन स्तवन]	३१७-८, ३४४-१८; ३४६-१४, ३४७-२५
जिनपूजा रे ते निजपूजना (रे प्रगटे अन्वय शक्ति । परमानन्द विलासी अनुभवे रे, देवचन्द्र पद व्यक्ति ।।)	[वासुपूज्यजिन-स्तवन-देवचन्द्रजी]	५८२-१३
जीव तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवु होय ते करे । चित्त तु शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे ।		३८०-१३
	[दयाराम, पद-३४ पृ० १२८ भक्तिनीति काव्यसंग्रह]	३८०-१३
जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा, पुग्गलाधार नही तास रंगी । परतणो ईश नही अपर ऐश्वर्यता, वस्तुधर्मे कदा न परसंगी ।।	[सुमतिजिन-स्तवन-देवचन्द्रजी]	३२०-३
जूवा आमिष मदिरा दारी, आहे(खे)टक चोरी परनारी । ऐई सप्त व्यसन दुःखदाई दुरितमूल दुरगतिके भाई [भाई] ।।	[समयसार नाटक साध्यसाधकद्वार २७, पृष्ठ ४४४]	६८७-२१

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो । असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो ॥ जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो । सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो ॥	[सूत्रकृतांग १-८-२२,२३ पृ० ४२]	६८६-२६
जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥	[आचारांग १-३-४-१२२]	१९१-२९
जे (ये) जाणइ अरिहंते दव्वगुणपज्जवेहिं य । सो जाणइ नियअप्पं मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥	[प्रवचनसार १-८०, पृ० १०१ कुन्दकुन्दाचार्य]	५८१-२१
जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो, मृगतृष्णाजळ त्रैलोक; जीव्युं धन्य तेहनुं । दासी आशा पिशाची थई रही, काम क्रोध ते केदी लोक; जीव्युं० दीसे खाता पीता बोलता, नित्ये छे निरंजन निराकार; जीव्युं० जाणे संत सलूणा तेहने, जेने होय छेल्लो अवतार; जीव्युं० जगपावनकर ते अवतर्या, अन्य मात उदरनो भार; जीव्युं० तेने चौद लोकमा विचरता अंतराय कोईए नव थाय; जीव्युं० रिद्धि सिद्धि ते दासीओ थई रही, ब्रह्मानन्द हृदे न समाय जीव्युं०	[मनहरपद-मनोहरदासकृत]	६४६-३
जे पुमान परधन हरै, सो अपराधी अज्ञ । जो अपनो धन विवहरै, सो धनपति धर्मज्ञ ॥	[समयसार नाटक मोक्षद्वार १८ पृ० २८६]	७९०-६
जेम निर्मलता रे रत्न स्फटिक तणी, तेमज जीवस्वभाव रे । ते जिनवीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे ॥	[नयरहस्य श्री सीमंधरजिन-स्तवन २-१७ यशोविजय]	४६५-१२, १७; ८२१-३४
जैसें कंचुकत्यागसें, बिनसत नहीं भुजंग । देहत्यागसें, जीव पुनि, तैसें रहत अभंग ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१६५-१
जैसें मृग मत्त वृषादित्यकी तपति माही, तृषावन्त मृषाजल कारण अटतु है । तैसें भववासी मायाहीसौ हित मानि मानि, ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है । आगेकों धुकत धाई, पीछे बछरा चबाई जैसें नैन हीन नर जेवरी बटतु है । तैसें मूढ चेतन सुकृत करतूति करै । रोवत हसत फल खोवत खटतु है ॥	[समयसार नाटक बंधद्वार २, पृ० २४२]	३६५-१
जैसौ निरभेद रूप निहचै अतीत हुतौ, तैसौ निरभेद अब, भेदकौ न गहैगौ ! दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान, पायौ निज थान फिर बाहरि न बहैगौ ।		

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
कबहू कदापि अपनौ सुभाव त्यागि करि, राग रस राचिकै न परवस्तु गहैगौ अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ याहि भाति आगम अनंत काल रहैगौ ॥	[समयसारनाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०८ पृ. ३७६-७]	६१४-२
(यो) जोगा पयडिपदेसा [ठिदि अणुभागा कसायदो होंति]	[द्रव्यसंग्रह-३४]	७८८-१३
जं किंचिवि चिंततो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू । लद्धूणय एयत्त तदा हु तं तस्स णिच्चयं झाणं ॥	[द्रव्यसंग्रह ५६]	६४१-३
जंगमनी जुक्ति तो सर्वे जाणीए, समीप रहे पण शरीरनो नहि संग जो, एकाते वसवुं रे एक ज आसने, भूल पडे तो पडे भजनमा भंग जो, ओधवजी अबला ते साधन शुं करे ?	[ओधवजीनो सदेशो गरबी ३-३ रघुनाथदास]	४७५-२६
जं सम्मं ति पासहा तं मोण ति पासहा (जं मोण ति पासहा त सम्म ति पासहा)	[आचारांग १-५-३]	५४५-११
(ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो ।) णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥	[षट्प्राभृतादि संग्रह-सूत्रप्राभृत २३-कुंदकुंदाचार्य]	७९०-१६
णमो जहट्ठियवत्थुवाईणं ।	[?]	१६२-१४
तरतम योगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार, पंथडो०	[आनन्दघन चोवीशी-अजितनाथ स्तवन]	६७६-१९
तहा रुवाणं समणाणं	[भगवती]	५८८-१०
(यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।) तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥	[ईशावास्य उपनिषद ७]	२६८-१५
ते माटे ऊभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहीए रे । समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहीए रे ॥	[आनंदघन चोवीशी।नमिनाथजिन स्तवन]	५७७-२८, ६६५-१९
दर्शन सकळना नय ग्रहे, आप रहे निज भावे रे । हितकरी जनने संजीवनी, चारो तेह चरावे रे ॥	[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय-यशोविजयजी]	३१५-१७
दर्शन जे थया जूजवा, ते ओघ नजरने फेरे रे, भेद थिरादिक दृष्टिमा समकितदृष्टिने हेरे रे ॥	[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय-यशोविजयजी]	३१५-२०
दुःखसुखरूप करमफळ जाणो, निश्चय एक आनंदो रे । चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे ॥	[आनंदघन चोवीशी-वासुपूज्यजिन स्तवन]	३२१-३०
देवागमनभोयानचामरादिविभूतय । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥	[आप्तमीमासा १ समंतभद्र]	६८४-८, ७८८-२५

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रह ॥	[लोकतत्त्वनिर्णय ३८ हरिभद्रसूरि]	१९१-१५
(क्यु जाणु क्यु बनी आवशे, अभिनदन रस रीति हो मित्त ।) पुद्गल अनुभव त्यागथी करवी जमु परतीत हो ॥	[अभिनदनजिन स्तुति-देवचद्रजी]	५१५-२१
पुद्गलसे रातो रहे	[?]	६५९-१६
प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्म प्रसन्न वदनकमलमंक. कामिनीसगशून्य । करयुगमपि यत्ते शस्त्रसबधवंध्य तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥	[धनपाल कवि]	६८३-२, ७८४-१९
बधविहाण विमुक्कं वदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंद । (गईआईसु वुच्छ समासओ वधसामित्तं ॥)	[कर्मग्रथ तीसरा १ देवेन्द्रसूरि]	८४०-१४
भीसणनरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुयगईए । पत्तोसि तिव्वदु ख भावहि जिणभावणा जीव ।	[षट् प्राभृतादि सग्रह भावप्राभृत ८]	६५६-३५
भोगे रोगभय कुले च्युतिभय वित्ते नृपालाद् भय माने दैन्यभयं बले रिपुभय रूपे तरुण्या भयं । शास्त्रे वादभय गुणे खलभयं काय कृतान्ताद् भय सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणा वैराग्यमेवाभयम् ॥	[वैराग्यशतक-३४ भर्तृहरि]	३४-२१
मन महिलानु रे वहाला उपरे, बीजा काम करत । तेम श्रुत धर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवत ॥	[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय ६/६—यशोविजयजी]	३४५-१४, ३०, ३४६-१२, १८, ३४७-३४, ३४९-७
मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु । थिरमिच्छह जइ चित्त विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह । परमेट्ठिवाचयाण अण्णं च गुरुवएसेण ॥	[द्रव्यसग्रह ४९-५०]	६४०-३२
मारु गायु गाशे, ते झाझा गोदा खाशे । समजीने गाशे ते वहेलो वैकुठ जाशे ॥	[नरसिंह मेहता]	६७९-२६
मारे काम क्रोध सब, लाभ माह पीसि डारे, इन्द्रिहु कतल करी, कियो रजपूतो है. मार्यो महा मत्त मन, मारे अहकार मीर, मारे मद मछर हु, ऐसो रन रूतो है । मारी आशातृष्णा पुनि, पापिनी, सापिनी दोउ, सबको संहार करि, निज पद पहूतो है, सुदर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर, वैरि सब मारिके निश्चित होई सूतो है ॥	[सुन्दरविलास शूरातन अग २१-११ सुन्दरदासजी]	५००-३; ५०१-२५
मेरा मेरा मत करे, तेरा नहि है कोय । चिदानद परिवार का मेला है दिन दोय ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानन्दजी]	१६४-२३
मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तार कर्मभूभृतां । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥	[तत्त्वार्थसूत्र टीका]	६३७-३०, ६८४-२३; ६९१-२९ ७८८-३७

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
योग असंख जे जिन कह्या, घटमाही रिद्धि दाखी रे । नवपद तेम ज जाणजो, आतमराम छे साखी रे ।।	[श्रीपालरास चतुर्थखंड विनयविजय-यशोविजयजी]	३४०-१३, ४९७-४
योगनां बीज इहा ग्रहे, जिनवर शुद्ध प्रणामो रे । भावाचारज सेवना, भव उद्वेग सुठामो रे ।।	[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय १-८ यशोविजयजी]	३१५-२३
रविके उद्योत अस्त होत दिन दिन प्रति, अजुलीके जीवन ज्यौ जीवन घटतु है, कालके ग्रसत छिन-छिन, होत छीन तन, आरेके चलत मानो काठसौ कटतु है । एते परि मूरख न खोजै परमारथको, स्वारथके हेतु भ्रम भारत ठगतु है, लगौ फिरै लोगनिसौ, पग्यौ परै जोगनिसौ, विषैरस भोगनिसौ, नेकु न हटतु है ।।	[समयसार-नाटक, बधद्वार २६]	३६४-२७
रूपातीत व्यतीतमल, पूर्णानदी ईश, चिदानद ताकु नमत, विनय सहित निज शीस ।	[स्वरोदयज्ञान-चिदानदजी]	१६२-१६
राडी रुए, माडी रुए, पण सात भरतारवाली तो मोढ़ुज न उघाडे ।	[लोकोक्ति]	४७५-३२
लेवेको न रही ठोर, त्यागिवेको नाहि और । बाकी कहा उबर्योजु, कारज नवीनो है ।।	[समयसार नाटक सर्वविशुद्धिद्वार]	३२३-६
[पुरिमा उज्जुजडा उ] वक (वक्क) जडा य पच्छिमा । [मज्झिमा उजुपन्नाओ तेण धम्मो दुहाकओ]	[उत्तराध्ययनसूत्र-२३-२६]	९९-१९
व्यवहारनी झाळ पादडे पादडे परजळी ।	[?]	४७१-२०
[जोई द्रिग ग्यान चरनातमम बैठी ठौर, भयौ निरदौर पर वस्तुकौ न परसै,] शुद्धता विचारे ध्यावै शुद्धतामे केली करे, शुद्धतामे थिर व्हे अमृतधारा बरसै, [त्यागि तन कष्ट व्है सपष्ट अष्ट करमकौ, करि थान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै. सोतौ विकलप विजई अलपकाल माहि, त्यागी भौ विधान निरवान पद परसै]	[समयसार नाटक पृ० ३८२]	३२२-२६, ३९४-१९
श्रद्धा ज्ञान लह्या छे तो पण, जो नवि जाय पमायो रे, वध्य तरु उपम त पामे, सयम ठाण जो नायो रे । गायो रे गायो, भले वीर जगतगुरु गायो ।।	[सयमश्रेणी स्तवन ४-३ प० उत्तमविजयजी]	४९६-२३
सकल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे, मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निष्कामी रे,	[आनदघनचोवीशी, श्रेयासनाथजिन स्तवन]	५७७-१७; ६१८-३१
सत्यं परं धीमहि	[श्रीमद् भागवत स्कध १२, अ० १३, श्लो० १९]	३१३-८
समता, रमता, ऊरधता, ज्ञायकता सुखभास, वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास ।	[समयसार नाटक उत्थानिका २६]	३७३-३; ३७४-२३
[कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोव चिट्ठइ लंबमाणए । एव मणुयाण जीविय] समय गोयम मा पमायए ।।	[उत्तराध्ययनसूत्र १०-२]	९७-५

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
संसारविषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे । काव्यामृतरसास्वाद आलाप सज्जनै सह ॥	[पञ्चतंत्र]	३१-२४
सिरिवीरजिणं वंदिअ कम्मविवागं समासओ वुच्छ । कीरई जिएण हेउहिं जेण तो भण्णए कम्मं ॥	[प्रथम कर्मग्रन्थ-देवेन्द्रसूरि]	८४०-१५
[हासीमैं विषाद बसै विद्यामैं विवाद बसै, कायामैं मरन गुरु वर्तनमैं हीनता, सुचिमैं गिलानी बसै प्रापतिमैं हानि बसै, जैमैं हारि सुदर दसामै छवि छीनता, रोग बसै भोगमैं, सजोगमैं वियोग बसै, गुनमैं गरब बसै सेवामाहि दीनता, और जगरीति जेती गर्भित असाता सेती,] सुखकी सहेली है अकेली उदासीनता	[समयसार नाटक]	१९७-६
सुखना सिंधु श्री सहजानंदजी, जगजीवन के जगवंदजी, शरणागतना सदा सुखकंदजी, परम स्नेही छो (!) परमानंदजी	[धीरजाख्यान १—निष्कुलानंद]	२९२-२४
सुहजोगं पडुच्च अणारंभी, असुहजोगं पडुच्च आयारंभी, परारंभी, तदुभयारंभी	[भगवतीजी]	२१९-२२
सो धम्मो जथ्थ दया दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो । सोहु गुरु जो नाणी आरंभपरिग्गहा विरओ ॥	[?]	८३२-३६
संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो । एगंतदुक्खे जरिएव लोए, सक्कम्मणा विप्परियासुवेइ ॥	[सूत्रकृतांग १-७-११]	४००-१७
स्वरका उदय पिछानिये, अति थिरता चित्तधार, ताथी शुभाशुभ कीजिये, भावि वस्तु विचार ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१६३-९
हम परदेशी पंखी साधु, आ रे देशके नाही रे ।	[?]	३०९-३
हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारस दोस विवज्जिए देवे । निग्गंथे पवयणं सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥	[षट् प्राभृतादि संग्रह मोक्षप्राभृत-९०]	५८९-२९
[नलिनीदलगतजलवत्तरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलं ।] क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका ॥	[मोहमुद्गर-शंकराचार्य]	२२७-२
क्षायोपशमिक असंख्य क्षायक एक अनन्य	[अध्यात्मगीता १-६ देवचन्द्रजी]	६६१-३५
ज्ञान रवि वैराग्य जस, हिरदे चंद समान तास निकट कहो क्यों रहे, मिथ्यातम दुःख जान ।	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१६४-३१

परिशिष्ट २

आत्मसिद्धिशास्त्रके दोहोंकी वर्णानुक्रमणिका

परिशिष्ट ३

पत्रोंके सम्बन्धमें विशेष जानकारी

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
१					
२					
३					
४					
५					
६		मोरबी			
७		बंबई			
८		,,			
९					
१०					
११					
१२					
१३					
१४		जेतपुर		का० सु० १५,	१९४१
१५					
१६					
१७					
१८	रवजीभाई देवराज	ववाणिया			१९४२
१९					
२०					
२१					
२२		बबई		कार्तिक	१९४३
२३					
२४					
२५					
२६	चत्रभुज बेचर	ववाणिया			१९४३
२७	,,	बंबई			१९४३
२८	,,	,,		सोम	१९४३
२९	,,	,,		का० सु० ५,	१९४४
३०	,,	,,	जेतपुर	पौ० व० १०,	,,
३१		ववाणिया		प्र० चै० सु० ११॥ रवि	,,
३२		,,		आ० व० ३, बुध	,,
३३		,,		आ० व० ४, शुक्र	,,
३४		,,		श्रा० व० १३ सोम	,,

आंक	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
३५		ववाणिया		श्रा० व० ३०,	१९४४
३६	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	कलोल	भा० व० १ शनि	,,
३७	,, ,,	,,	अहमदाबाद	आसोज व० २ रवि	,,
३८					,,
३९					,,
४०		बंबई			,,
४१	जूठाभाई ऊजमसी	भरुच	अहमदाबाद	मग० सु० ३, गुरु	१९४५
४२	,, ,,	,,	,,	मग० सु० १२,	,,
४३	,, ,,	बंबई	,,	मग० व० ७ भौम	,,
४४	,, ,,	,,	,,	मग० व० १२ शनि	,,
४५	,, ,,	,,	,,	मग० व० ३०	,,
४६	,, ,,	,,	,,	मग०	,,
४७	(खीमजी देवजी)	ववाणिया	बंबई	माघ सु० १४ बुध	,,
४८		ववाणिया		मा०	,,
४९	जूठाभाई ऊजमसी	,,	अहमदाबाद	माघ व० ७, शुक्र	,,
५०		,,		माघ व० ७, शुक्र	,,
५१		,,		माघ व० ७, शुक्र	,,
५२	(खीमजी देवजी)	,,	बंबई	माघ व० १०, सोम	,,
५३	जूठाभाई ऊजमसी	,,	अहमदाबाद	फा० सु० ६, गुरु	,,
५४		,,		फा० सु० ९,	,,
५५		,,		फा० सु० ९, रवि	,,
५६	जूठाभाई ऊजमसी	मोरबी	अहमदाबाद	चै० सु० ११, बुध	,,
५७	,, ,,	,,		चै० व० ९,	,,
५८	खीमजी देवजी (दयालजी)	,,	बंबई	चैत्र व० १०,	,,
५९	जूठाभाई ऊजमसी	ववाणिया	अहमदाबाद	वै० सु० १,	,,
६०		ववाणिया		वैशाख	,,
६१	मनसुखराम सूर्यराम	,,		वै० सु० ६, सोम	,,
६२	खीमजी देवजी (दयालजी)	,,	बंबई	वै० सु० १२,	,,
६३		,,		वै० व० १३,	,,
६४	मनसुखराम सूर्यराम	,,		ज्ये० सु० ४, रवि	,,
६५	जूठाभाई ऊजमसी	मोरबी		ज्ये० सु० १०, सोम	,,
६६	मनसुखराम सूर्यराम	अहमदाबाद		ज्ये० व० १२, मगल	,,
६७	खीमजी देवचंद	बलवाणकॅम्प	बंबई	आ० सु० ८, शनि	,,
६८	मनसुखराम सूर्यराम	बजाणा		आ० सु० १५, शुक्र	,,
६९	जूठाभाई ऊजमसी	ववाणिया		आ० व० १२, बुध	,,
७०		भरुच		श्रा० सु० १, रवि	,,

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
७१	मनसुखराम सूर्यराम	भरुच		श्रा० सु० ३, बुध	१९४५
७२	खीमजी देवजी	,,	बंबई	श्रा० सु० १०,	,,
७३	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	अहमदाबाद	श्रा० व० ७, शनि	,,
७४	(जूठाभाई ऊजमसी)	ववाणिया	(अहमदाबाद)	भा० सु० २,	,,
७५	जूठाभाई ऊजमसी	बंबई	अहमदाबाद	भा० व० ४, शुक्र	,,
७६		बंबई		आसोज व० १०, शनि	,,
७७					,,
७८					,,
७९					,,
८०					,,
८१					,,
८२					,,
८३	मनसुखराम सूर्यराम				,,
८४					१९४६
८५		बंबई			,,
८६					,,
८७	मनसुखराम सूर्यराम	बंबई		का० सु० ७, गुरु	,,
८८		,,		कार्तिक	,,
८९		,,		का० सु० १५,	,,
९०		,,		कार्तिक	,,
९१		,,		कार्तिक	,,
९२		,,		,	,,
९३		,,		,,	,,
९४	जूठाभाई ऊजमसी	,,		मग० सु० ९, रवि	,,
९५		,,		पौष	,,
९६		,,		पौ० सु० ३, बुध	,,
९७		,,		पौ० सु० ३,	,,
९८	शाह चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	बंबई	अहमदाबाद	पौ० व० ९,	,,
९९		बंबई		पौष	,,
१००		बंबई		पौष	,,
१०१		,,		,,	,,
१०२					
१०३		बंबई		माघ	,,
१०४	चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	,,		माघ व० २,	,,

आंक	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
१०५		बबई	अहमदाबाद	फा० सु० ६,	१९४६
१०६	चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	,,	अहमदाबाद	फा० सु० ८,	,,
१०७					
१०८		,,		फा० व० १,	,,
१०९		,,		फागुन	,,
११०					
१११		बंबई		फागुन	,,
११२		,,		चैत्र	,,
११३		,,		वै० ब० १२,	,,
११४	जूठाभाई ऊजमसीभाई	मोरबी	अहमदाबाद	आ० सु० ४,	,,
११५	अबालाल, त्रिभोवन आदि	बबई	खभात	आ० सु० ५,	,,
११६		,,		वै० सु० ३,	,,
११७		,,		आ० सु० १०,	,,
११८	अबालाल लालचंद	,,	खभात	आ० सु० १५	,,
११९	त्रिभोवनदास माणेकचद	,,	,,	आ० ब० ७,	,,
१२०	मनसुखराम सूर्यराम	,,		आ० ब० ३०,	,,
१२१	अबालाल लालचद	,,	खंभात	आषाढ	,,
१२२	,,	,,	,,	,	,,
१२३		,,		,,	,,
१२४	खीमजी देवजी	ववाणिया	बबई	श्रा० ब० ५,	,,
१२५	,,	,,	,,	श्रा० ब० १३,	,,
१२६	मनसुखराम सूर्यराम	ववाणिया		प्र० भा० सु० ३,	,,
१२७	खीमजी देवजी	,,	बबई	प्र० भा० सु० ४,	,,
१२८	अबालाल लालचद	,,	खभात	प्र० भा० सु० ६,	,,
१२९	चत्रभुज बेचर	,,	जेतपर	प्र० भा० सु० ७,	,,
१३०	खीमजी देवजी	,,	बंबई	प्र० भा० सु० ११,	,,
१३१	अबालाल लालचद	जेतपर	खभात	प्र० भा० ब० ५,	,,
१३२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	प्र० भा० ब० १३,	,,
१३३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	द्वि० भा० सु० २,	,,
१३४	त्रिभोवन, अबालाल	,,	खभात	द्वि० भा० सु० ८,	,,
१३५	,, ,,	,,	,,	द्वि० भा० सु० १४,	,,
१३६	खीमजी देवजी	,,	बबई	द्वि० भा० सु० १४,	,,
१३७	त्रिभोवन माणेकचंद	मोरबी	खभात	द्वि० भा० ब० ४,	,,
१३८	अबालाल लालचद	,,	,,	द्वि० भा० ब० ६,	,,
१३९	,, ,,	,,	,,	द्वि० भा० ब० ७,	,,

आंक	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
१४०	त्रिभोवन माणेकचंद	मोरबी	खंभात	द्वि० भा० व० ८,	१९४६
१४१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	द्वि० भा० व० १२,	,,
१४२	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	द्वि० भा० व० १३,	,,
१४३	खीमजी देवजी	,,	बंबई	द्वि० भा० व० १३,	,,
१४४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	द्वि० भा० व० ३०,	,,
१४५	खीमजी देवजी	,,	बंबई	आसो० सु० २,	,,
१४६	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आसो० सु० ५,	,,
१४७	खीमजी देवजी	,,	बंबई	आसो० सु० ६,	,,
१४८	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आसो० सु० १०,	,,
१४९		,,		आसो० सु० १०,	,,
१५०		,,		आसोज,	,,
१५१				आसोज,	,,
१५२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	आसो० सु० ११,	,,
१५३	त्रिभोवन माणेकचंद	ववाणिया	खंभात	आसो० सु० १२,	,,
१५४		मोरबी		आसोज,	,,
१५५		बंबई			,,
१५६		बंबई			,,
१५७					,,
१५८					,,
१५९					
१६०					,,
१६१					,,
१६२					,,
१६३					,,
१६४					,,
१६५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	का० सु० ५,	१९४७
१६६	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,	खंभात	का० सु० ६,	,,
१६७	त्रिभोवन तथा अंबालाल			का० सु० १२,	,,
१६८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	का० सु० १३,	,,
१६९	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० १३,	,,
१७०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		का० सु० १४,	,,
१७१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० १४,	,,
१७२	मुनिश्री लल्लुजी	,,	,,	का० सु० १४,	,,
१७३	त्रिभोवन आदि	,,	,,	का० व० ३,	,,
१७४	अंबालाल लालचंद	,,	,,	का० व० ५,	,,
१७५	अंबालाल लालचंद	,,	,,	का० व० ८,	,,

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
१७६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	मोरबी	का० व० ९,	१९४७
१७७	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	का० व० १४,	,,
१७८	अंबालाल लालचंद	,,	,,	का० व० ३०,	,,
१७९		,,		कार्तिक	,,
१८०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		मगसिर सु० ४,	,,
१८१	छोटालाल माणेकचंद	बंबई	खंभात	मगसिर सु० ९,	,,
१८२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	मग० सु० १३,	,,
१८३		,,		मग० सु० १४,	,,
१८४	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० सु० १५,	,,
१८५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	मग० व० ७,	,,
१८६	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० व० १०,	,,
१८७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		मग० व० ३०,	,,
१८८	अंबालाल लालचंद	,	खंभात	पौष सु० २,	,,
१८९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	पौष सु० ५,	,
१९०	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	पौष सु० ९,	,,
१९१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	पौष सु० १०,	,,
१९२	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	पौष सु० १४,	,,
१९३	,, ,,	,,	,,	पौष व० २,	,,
१९४	मुनिश्री लल्लुजी	,,		पौष,	,,
१९५		,,		पौष,	,,
१९६	मुनिश्री लल्लुजी	,,		माघ सु० ७,	,,
१९७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		माघ सु० ९,	,,
१९८	मुनिश्री लल्लुजी	,,		माघ सु० ११,	,,
१९९	(अंबालाल लालचंद)	,,	खंभात	माघ सु० ११,	,,
२००	मणिलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	माघ सु०	,,
२०१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		माघ व० ३,	,,
२०२	चत्रभुज बेचर	,		माघ व० ३,	,,
२०३	अंबालाल लालचंद	,,		माघ व० ४,	,
२०४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	माघ व० ७,	,,
२०५	,, ,,	,,	,,	माघ व० ११,	,,
२०६	,, ,,	,,	,,	माघ व० १३,	,,
२०७	मुनिश्री लल्लुजी	,,		माघ व० ३०,	,,
२०८		,,		माघ व० ३०,	,,
२०९					
२१०	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	मोरबी	माघ व० ३०,	,,
२११	(अंबालाल लालचंद)	,,	खंभात	माघ व० ३०,	,,

आंक	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
२१२	त्रिभोवन माणेकचद	बंबई	खभात	माघ ब०	१९४७
२१३	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई)	,,		फा० सु० ४,	,,
२१४	सोभाग्यभाई लल्लुलाई	,,	मोरबी	फा० सु० ५,	,,
२१५	,, ,,	,,	,,	फा० सु० ८,	,,
२१६					
२१७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		माघ सुदी,	,,
२१८	,, ,,	,,	मोरबी	फा० सु० १३,	,,
२१९	,, ,,	,,		फा० ब० १,	,,
२२०	,, ,,	,,	मोरबी	फा० ब० ३,	,,
२२१	,, ,,	,,	,,	फा० ब० ८,	,,
२२२	,, ,,	,,	,,	फा० ब० ११,	,,
२२३	,, ,,	,,	,,	फा० ब० १४,	,,
२२४		,,		फा० ब० २,	,,
२२५	अबालाल लालचद	,,	खभात	फा० ब० ३,	,,
२२६	छोटालाल माणेकचद	,,	,,	फागुन,	,,
२२७		,,		फागुन,	,,
२२८		,,		फागुन,	,,
२२९		,,		फागुन,	,,
२३०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र सु० ४,	,,
२३१	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० ७,	,,
२३२	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	चैत्र सु० ९,	,,
२३३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र सु० १०,	,,
२३४	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० १०,	,,
२३५	,, ,,	,,		चैत्र सु० १४,	,,
२३६	अबालाल लालचंद	,,	खभात	चैत्र सु० १५,	,,
२३७	त्रिभोवन माणेकचंद	बबई		चैत्र ब० २,	,,
२३८	,, ,,	,,		चैत्र ब० ३,	,,
२३९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र ब० ७,	,,
२४०	अंबालाल लालचंद	,,	खभात	चैत्र ब० ९,	,,
२४१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र ब० १४,	,,
२४२	(अंबालाल लालचंद)	,,		चैत्र,	,,
२४३		,,		वै० सु० २,	,,
२४४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	वै० सु० ७,	,,
२४५	अबालाल लालचद	,,	खभात	वै० सु० १३,	,,
२४६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	वै० ब० ३,	,,
२४७	,, ,,	,,	,,	वै० ब० ८,	,,

आङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
२४८	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	वै० व० ८,	१९४७
२४९		,,		जे० सु० ७,	,,
२५०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		जे० सु० १५,	,,
२५१	,, ,,	,,	मोरबी	जे० व० ६,	,,
२५२		,,		जे० सु०,	,,
२५३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आ० सु० १,	,,
२५४	(खंभातके मुमुक्षुओपर)	,,	,,	आ० सु० ८,	,,
२५५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		आ० सु० १३,	,,
२५६	,, ,,	,,	मोरबी	आ० व० २,	,,
२५७	,, ,,	,,	,,	आ० व० ४,	,,
२५८	,, ,,	,,		आषाढ,	,,
२५९	,, ,,	,,		श्रा० सु० ११,	,,
२६०	,, ,,	,,	मोरबी	श्रा० सु० ९,	,,
२६१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	श्रा० सु० ९,	,,
२६२	ऊगरीबहेन	,,	कलोल	श्रा० सु०	,,
२६३	खीमजी देवजी	राळज	बंबई	भा० सु० ८,	,,
२६४		,,		भा० सु० ८,	,,
२६५		,,		भा० सु० ८,	,,
२६६				भा० सु० ८,	,,
२६७		राळज		भाद्रपद,	,,
२६८		,,		भाद्रपद,	,,
२६९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	भा० व० ३,	,,
२७०		,,		भा० व० ४,	,,
२७१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	भा० व० ४,	,,
२७२	कुंवरजी मगनलाल	ववाणिया	कलोल	भा० व० ४,	,,
२७३	खीमजी देवजी	,,	बंबई	भा० व० ५,	,,
२७४		,,		भा० व० ५,	,,
२७५	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई)	,,		भा० व० ५,	,,
२७६	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	भा० व० ७,	,,
२७७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	भा० व० ७,	,,
२७८	,, ,,	,,		भा० व० १०,	,,
२७९	मगनलाल खीमचंद	,,	लींबडी	भा० व० ११,	,,
२८०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		भा० व० १२,	,,
२८१	खीमजी देवजी	,,	बंबई	भा० व० १३,	,,
२८२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		भा० व० १४,	,,
२८३	,, ,,	,,		भा० व० ३०,	,,

आंक	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
२८४		ववाणिया		आसो० सु० ६,	१९४७
२८५	(अंबालाल लालचंद ?)	,,		आसो० सु० ७,	,,
२८६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	आसो० सु०,	,,
२८७	,, ,,	,,	अंजार	आसो० व० १,	,,
२८८	,, ,,	,,	,,	आसो० व० ५,	,,
२८९	,, ,,	,,		आसो० व० १०,	,,
२९०					
२९१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आसो० व० १२,	,,
२९२		,,		आसो० व० १२,	,,
२९३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	आसो० व० १३,	,,
२९४		बंबई			,,
२९५		,,			,,
२९६		,,			,,
२९७		,,			,,
२९८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	का० सु० ४,	१९४८
२९९		,,		का० सु० ७,	,,
३००	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० ८,	,,
३०१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	का० सु० ८,	,,
३०२	,, ,,	,,	मोरबी	का० सु० १३,	,,
३०३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० १३,	,,
३०४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	का० सु०,	,,
३०५	त्रिभोवन माणेकचन्द	,,		का० व० १,	,,
३०६	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	का० व० ७,	,,
३०७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	आणंद	मोरबी	मगसिर सु० २,	,,
३०८	,, ,,	बंबई	सायला	मग० सु० १४,	,,
३०९	,, ,,	,,	,,	मग० व० ३०,	,,
३१०	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	पौष सु० ३,	,,
३११		,,		पौष सु० ३,	,,
३१२	अंबालाल लालचंद	,,	,,	पौष सु० ५,	,,
३१३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		पौष सु० ७,	,,
३१४		,,		पौष सु० ११,	,,
३१५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	पौष सु० ११	,,
३१६	,, ,,	,,	,,	पौष व० ३	,,
३१७	,, ,,	,,	,,	पौष व० ९,	,,
३१८	कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	पौष व० १३,	,,
३१९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	माघ सु० ५,	,,

आङ्क	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
३२०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	,,	माघ सु० १३	१९४८
३२१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	माघ व० २,	,,
३२२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई		मोरबी	रविवार,	,,
३२३	,, ,,	,,	,,	माघ व० २,	,,
३२४	,, ,,	,,	,,	माघ व० ४,	,,
३२५	,, ,,	,,	,,	माघ व० ९,	,,
३२६	,, ,,	,,	,,	माघ व० ११,	,,
३२७	,, ,,	,,	,,	माघ व० १४,	,,
३२८	,, ,,	,,	,,	माघ व० ३०,	,,
३२९	,, ,,	,,	,,	माघ वदी,	,,
३३०	किसनदास आदि	,,	खभात	माघ,	,,
३३१		,,		माघ,	,,
३३२	अबालाल लालचद	,,	खभात	फा० सु० ४,	,,
३३३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	फा० सु० ४,	,,
३३४	,, ,,	,,	,,	फा० सु० १०,	,,
३३५	,, ,,	,,	,,	फा० सु० १०,	,,
३३६	कुवरजी मगनलाल	,,	कलोल	फा० सु० ११,	,,
३३७		,,		फा० सु० ११॥,	,,
३३८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	फा० सु० १३,	,,
३३९		,,		फा० सु० १४,	,,
३४०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	फा० सु० १५,	,,
३४१	,, ,,	,,	,,	फा० व० ४,	,,
३४२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बबई	मोरबी	फा० व० ६,	,,
३४३	,, ,,	,,	,,	फा० व० ७,	,,
३४४	,, ,,	,,	,,	फा० व० १०,	,,
३४५				फा० व० ११,	,,
३४६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बबई	मोरबी	फा० व० १४,	,,
३४७	,, ,,	,,	,,	फा० व० ३०,	,,
३४८	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० [illegible],	,,
३४९	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० ४,	,,
३५०	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० ६,	,,
३५१	कुंवरजी मगनलाल		कलोल	चैत्र सु० ९	,,
३५२	चत्रभुज बेचर		जेतपर	चैत्र सु० ९,	,,
३५३	अंबालाल लालचंद		खभात	चैत्र सु० १२,	,,
३५४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र सु० १३,	,,
३५५	,, ,,	,,	,,	चैत्र व० १,	,,

आङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
३५६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	चैत्र व० १,	१९४९
३५७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र व० ५,	,,
३५८	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	चैत्र व० ५,	,,
३५९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र व० ८,	,,
३६०	,, ,,	,,	,,	चैत्र व० १२,	,,
३६१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	वै० सु० ३,	,,
३६२	,, ,,	,,	,,	वै० सु० ४,	,,
३६३	,, ,,	,,	,,	वै० सु० ५,	,
३६४	,, ,,	,,	,,	वै० सु० ९,	,,
३६५	,, ,,	,,	,,	वै० सु० ११,	,,
३६६	,, ,,	,,	,,	वै० सु० १२,	,,
३६७	,, ,,	,,	,,	वै० व० १,	,,
३६८	,, ,,	,,	,,	वै० व० ६,	,,
३६९	,, ,,	,,	,,	वै० व० ९,	,,
३७०	,, ,,	,,	,,	वै० व० ११,	,,
३७१	कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	वै० व० १३,	,,
३७२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	वै० व० १४,	,,
३७३	धारसीभाई तथा नवलचंदभाई	,,	,,	वै० व० १४,	,,
३७४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	,,	वैशाख,	,,
३७५	मुनिश्री लल्लुजी	,,		वैशाख,	,,
३७६	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	वैशाख व०,	,,
३७७		बंबई		वैशाख,	,,
३७८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	जेठ सु० १०,	,,
३७९	,, ,,	,,	,,	जेठ व० ३०,	,
३८०	(मुनिश्री लल्लुजी ?)	,,		जेठ,	,,
३८१	,, ,,				,,
३८२	,, ,,				,,
३८३		बंबई		जेठ,	,,
३८४	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,		आ० सु० ९,	,,
३८५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		आषाढ,	,,
३८६		,,		आ० व० ३०,	,,
३८७		,,		श्रा० सु०	,,
३८८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		श्रा० सु० ८,	,,
३८९		,,		श्रा० सु० १०,	,,
३९०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		श्रा० सु० १०,	,,
३९१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	श्रा० सु० १०,	,,

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिली	
३९२		बंबई		श्रा० सु० १०,	१९४८
३९३	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,		श्रा० सु० १०,	,,
३९४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		श्रा० व० १०,	,,
३९५		,,		श्रा० व०	,,
३९६		,,		श्रा० व०	,,
३९७	त्रिभोवन माणेकचद आदि	,,	खभात	श्रा० व० ११,	,,
३९८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० व० १४,	,,
३९९	अबालाल लालचद	,,	खभात	श्रावण	,,
४००	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		श्रा० व०	,,
४०१	मणिलाल रायचंद गाधी	,,	बोटाद	भा० सु० १,	,,
४०२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	भा० सु० ७,	,,
४०३		,,		भा० सु० १०,	,,
४०४	कृष्णदास आदि	,,	खभात	भा० सु० १०,	,,
४०५	मनसुख देवसी	,,	लीबडी	भा० सु० १०,	,,
४०६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	भा० सु० १२,	,,
४०७	मणिलाल रायचद गाधी	,,	भावनगर	भा० व० ३,	,,
४०८		,,		भा० व० ८,	,,
४०९		,,		आसोज सु० ११,	,,
४१०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० सु० ७,	,,
४११	,, ,,	,,	,,	आसो० सु० १०,	,,
४१२		बंबई		आसो० व० ६,	,,
४१३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	आसो० व० ८,	,,
४१४		,,		आसोज,	,,
४१५		,,		आसोज,	,,
४१६		,,		आसोज,	,,
४१७		,,		आसोज,	,,
४१८		,,			,,
४१९		,,			,,
४२०		,,			,,
४२१		,,		आसोज,	,,
४२२		बंबई		का० सु०	१९४९
४२३	कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	का० व० ९,	,,
४२४	कृष्णदास	,,	खंभात	का० व० १२,	,,
४२५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		मग० व० ९,	,,
४२६		,,		मग० व० १३,	,,
४२७	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	माघ सु० ९,	,,

आङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
४२८	अबालाल लालचन्द	बबई	खभात	माघ व० ४,	१९४९
४२९		,,		माग व० ११,	,,
४३०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		माघ व० ३०,	,,
४३१	,, ,,	,,		फा० सु० ७,	,,
४३२	अबालाल लालचद	,,	खंभात	फा० सु० ७,	,,
४३३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		फा० सु० १४,	,,
४३४	,, ,,	,,	मोरबी	फा० व० ९,	,,
४३५		,,		फा० व० ३०,	,,
४३६		,,		चै० सु० १,	,,
४३७		,,			
४३८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चै० सु० १,	,,
४३९	,, ,,	,,	सायला	चै० सु० ६,	,,
४४०	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	चै० सु० ९,	,,
४४१	मनसुख देवसी	,,	लीबडी	चै० सु० ९,	,,
४४२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र व० १,	,,
४४३	,, ,,	,,	,,	चैत्र व० ८,	,,
४४४	,, ,,	,,	,,	चै० व० ३०,	,,
४४५	अबालाल लालचंद	,,	खभात	चै० व० ३०,	,,
४४६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	वै० व० ६,	,,
४४७		,,		वै० व० ८,	,,
४४८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		वै० व० ९,	,,
४४९	कृष्णदास (आठ पत्रोंका पत्र)	,,	खभात	जेठ सु० ११,	,,
४५०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		जेठ सु० १५,	,,
४५१	अबालाल लालचन्द	,,	खंभात	प्र० आ० सु० ९,	,,
४५२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	प्र० आ० सु० १२,	,,
४५३	,, ,,	,,	,,	प्र० आ० व० ३,	,,
४५४	अबालाल आदि मुमुक्षु	,,	खभात	प्र० आ० व० ४,	,,
४५५	अबालाल लालचद	,,		प्र० आ० व० १३,	,,
४५६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	प्र० आ० व० १४,	,,
४५७		,,		द्वि० आ० सु० ६,	,,
४५८	त्रिभोवन माणेकचद	,,	खंभात	द्वि० आ० सु० १२,	,,
४५९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		द्वि० आ० व० ६,	,,
४६०	कुवरजीभाई तथा झबेरीबहेन	,,	कलोल	द्वि० आ० व० १०,	,,
४६१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० सु० ४,	,,
४६२		,,		श्रा० सु० ५,	,,
४६३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० सु० १५	,,

आङ्क	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
४६४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	श्रा० व० ४,	१९४९
४६५	,, ,,	,,	,,	श्रा० व० ५,	,,
४६६		पेटलाद		भा० सु० ६,	,,
४६७	(त्रिभोवन माणेकचद ?)	खंभात		भाद्रपद,	,,
४६८		बंबई		भाद्रपद,	,,
४६९		,,		भा० व० ३०,	,,
४७०	त्रिभोवन माणेकचद	,,	खभात	आसोज सु० १,	,,
४७१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० सु० ५,	,,
४७२	सोभाग्यभाई तथा डुगरसीभाई	,,	,,	आसो० सु० ९,	,,
४७३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	,,	आसो० व० ३,	,,
४७४	,, ,,	,,	सायला	आसो० व०,	,,
४७५	,, ,,	,,	मोरबी	आसो० व० १२,	,,
४७६		,,		आसोज,	,,
४७७		,,		का० सु० ९,	१९५०
४७८	अंबालाल लालचंद	,,	खभात	का० सु० १३,	,,
४७९	अबालाल लालचंद	,,	खभात	मगसिर सु० ३,	,,
४८०	,, ,,	,,	,,	पौष सु० ५,	,,
४८१	,, ,,	,,	,,	पौष व० १,	,,
४८२	,, ,,	,,	,,	पौष व० १४,	,,
४८३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अजार	माघ व० ४,	,,
४८४	,, ,,	,,	,,	माघ व० ८,	,,
४८५	,, ,,	,,	,,	फा० सु० ४,	,,
४८६	,, ,,	,,	,,	फा० सु० ११,	,,
४८७	अबालाल लालचद	,,	खभात	फा० सु० ११,	,,
४८८	,, ,,	,,	,,	फा० व० १०,	,,
४८९	,, ,,	,,	,,	फा० व० ११,	,,
४९०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		फा० व० ११,	,,
४९१		,,		फागुन,	,,
४९२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फागुन,	,,
४९३	मुनिश्री लल्लुजी	,,		फागुन,	,,
४९४	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,		चैत्र सु०	,,
४९५	त्रिभोवन माणेकचंद	,,		चैत्र व० ११,	,,
४९६		,,		चैत्र व० १४,	,,
४९७		,,		चैत्र व० १४,	,,
४९८	त्रिभोवन माणेकचद	,,	खंभात	वै० सु० १,	,,
४९९		,,		वै० सु० ९,	,,

आङ्क	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
५००	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	सूरत	वै० सु० ९,	१९५०
५०१	,, ,,	,,	,,	वै० सु० ७,	,,
५०२	मुनिश्री लल्लुजी तथा देवकरणजी	,,	,,	फा० सु० ६,	१९५३
५०३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	वै० ब० ३०,	१९५०
५०४		,,		वैशाख,	,,
५०५					
५०६		,,		वैशाख,	,,
५०७	अबालाल लालचद	,,	खभात	जेठ सु० ११,	,,
५०८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		जेठ सु० १४,	,,
५०९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	आ० सु० ६,	,,
५१०	त्रिभोवन माणेकचद	,,	खभात	आ० सु० ६,	,,
५११	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अजार	आ० सु० ६,	,,
५१२	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	आ० सु० १५,	,,
५१३	मुनिश्री लल्लुजी	,,	,,	श्रा० सु० ११,	,,
५१४		,,		श्रा० सु० १४,	,,
५१५	अबालाल लालचद	,,	खभात	श्रा० सु० १४,	,,
५१६	केशवलाल नथु	,,	लीबडी	श्रा० ब० १,	,,
५१७	अबालाल लालचंद	,,	खभात	श्रा० व० ७,	,,
५१८	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	श्रा० ब० ९,	,,
५१९	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,		श्रा० ब० ९,	,,
५२०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० व० ३०,	,,
५२१		,,		श्रावण,	,,
५२२	अबालाल लालचद	,,	खभात	भा० सु० ३,	,,
५२३	सोभाग्यभाई तथा डुगरसीभाई	,,	सायला	भा० सु० ४,	,,
५२४	अबालाल लालचद आदि मुमुक्षु	,,	खभात	भा० सु० ८,	,,
५२५		,,		भा० सु० १०,	,,
५२६	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	भा० ब० ५,	,,
५२७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	भा० ब० १२,	,,
५२८		,,		आसोज सु० ११,	,,
५२९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० व० ३,	,,
५३०	मोहनलाल करमचंद गांधी (महात्मा गाँधीजी)		डरबन	आसो० ब० ६,	,,
५३१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	आसो० ब० ३०,	,,
५३२	,, ,,	,,	,,	आसो० ब० ३०,	,,
५३३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० सु० १,	१९५१
५३४	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	का० सु० ३,	,,
५३५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० सु० ३,	,,

आङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
५३६	अंबालाल लालचंद	बंबई	खंभात	का० सु० ४,	१९५१
५३७	अंबालाल आदि मुमुक्षु	,,	,,	का० सु० ७,	,,
५३८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० सु० ९,	,,
५३९		,,		का० सु० १४,	,,
५४०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० सु० १४,	,,
५४१		,,			
५४२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० सु० १५,	,,
५४३	कुंवरजी आणंदजी	,,		कार्तिक	,,
५४४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० व० १३,	,,
५४५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	मगसिर व० १,	,,
५४६		,,		मग० व० ६,	,,
५४७		,,		मग० व० ८,	,,
५४८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		मग० व० ९,	,,
५४९	,, ,,	,,			
५५०	,, ,,	,,		मग० व० ११,	,,
५५१	,, ,,	,,	सायला	मगसिर,	,,
५५२	,, ,,	,,	,,	मगसिर,	,,
५५३	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	पौष सु० १,	,,
५५४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	पौष सु० १०,	,,
५५५	,, ,,	,,	मोरबी	पौष० सु० १०,	,,
५५६	,, ,,	,,	,,	पौष व० २,	,,
५५७	,, ,,	,,	,,	पौष व० ९,	,,
५५८	(खीमजी देवजी ?)	,,	लींबडी	पौष व० १०,	,,
५५९	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	पौष व० ३०,	,,
५६०	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,		पौष,	,,
५६१	कुंवरजी आणंदजी	,,	भावनगर	माघ सु० २,	,,
५६२		,,		माघ सु० ३,	,,
५६३	कुंवरजी आणंदजी	,,	,,	माघ सु० ८,	,,
५६४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	माघ सु० ८,	,,
५६५	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	फा० सु० १२,	,,
५६६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० सु० १३,	,,
५६७	,, ,,	,,	,,	फा० सु० १५,	,,
५६८	,, ,,	,,	,,	फागुन,	,,
५६९	,, ,,	,,	,,	फा० व० ३,	,,
५७०	मोहनलाल करमचंद गांधी (महात्मा गांधीजी)	,,	डरबन	फा० व० ५,	,,

आङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
५७१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बबई	सायला	फा० व० ५,	१९५१
५७२	अबालाल लालचंद	,,	खभात	फा० व० ७,	,,
५७३	मुनिश्री लल्लुजी	,,	,,	फा० व० ११,	,,
५७४		,,	,,	फागुन,	,,
५७५		,,	,,	फागुन,	,,
५७६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	चैत्र सु० ६,	,,
५७७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	चै० सु० १३,	,,
५७८		,,		चै० सु० १४,	,,
५७९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चै० सु० १५,	,,
५८०	अबालाल लालचद	,,	खभात	चै० व० ५,	,,
५८१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		चै० व० ८,	,,
५८२	कुवरजी आणंदजी	,,	भावनगर	चै० व० ८,	,,
५८३		,,		चै० व० ११,	,,
५८४		,,		चै० व० ११,	,,
५८५	सोभाग्यभाई तथा डुगरसीभाई	,,		चै० व० ११,	,,
५८६	सोभाग्य भाई लल्लुभाई	,,		चै० व० १२,	,,
५८७		,,		चै० व० १२,	,,
५८८	मुनिश्री लल्लुजी	,,		चै० व० १२,	,,
५८९	,, ,,	,,		चै० व० १३,	,,
५९०		,,		चै० व० १४,	,,
५९१		,,		चैत्र,	,,
५९२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	वै० सु०,	,,
५९३		,,		वै० सु० १५,	,,
५९४		,,		वै० सु० १५,	,,
५९५	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	वै० व० ७,	,,
५९६		,,		वै० व० ७,	,,
५९७		,,		वै० व० ७,	,,
५९८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	वै० व० १०,	,,
५९९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	वै० व० १४,	,,
६००	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	जेठ सु० २,	,,
६०१	,, ,,	,,	,,	जेठ सु० १०,	,,
६०२		,,		जेठ सु० १०,	,,
६०३		,,		जेठ सु० १०,	,,
६०४	अबालाल लालचन्द	,,	खंभात	जेठ सु० १२,	,,
६०५	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	जेठ व० २,	,,
६०६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	जेठ व० ५,	,,
६०७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खंभात	जेठ व० ७,	,,

आङ्क	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
६०८	कुंवरजी आणंदजी	बबई	भावनगर	जेठ व० १०,	१९५१
६०९		,,		जेठ,	,,
६१०	मगनलाल खीमचन्द	,,	लीबडी	आ० सु० १,	,,
६११		,,		आ० सु० १,	,,
६१२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आ० सु० १,	,,
६१३	(त्रिभोवनभाई ?)	,,		आ० सु० ११,	,,
६१४					
६१५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आ० सु० १३,	,,
६१६	अबालाल तथा त्रिभोवनभाई	,,	खंभात	आ० व०,	,,
६१७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आ० व० ७,	,,
६१८	,, ,,	,,	,,	आ० व० ११,	,,
६१९	,, ,,	,,	,,	आ० व० १४,	,,
६२०	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सुरत	आ० व० ३०,	,,
६२१	अबालाल लालचंद	,,	खंभात	आ० व० ३०,	,,
६२२	(त्रिभोवनभाई आदि ?)	,,	,,	आ० व० ३०	,,
६२३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० सु० २,	,,
६२४	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सुरत	श्रा० सु० ३,	,,
६२५		ववाणिया		श्रा० सु० १०,	,,
६२६	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सुरत	श्रा० सु० १२,	,,
६२७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० सु० १५,	,,
६२८	,, ,,	,,	,,	श्रा० व० ६,	,,
६२९	सोभाग्यभाई तथा डुङ्गरसी		,,	श्रा० व० ११,	,,
६३०	,, ,,	,,	,,	श्रा० व० १२,	,,
६३१	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,	,,	श्रा० व० १४,	,,
६३२	अबालाल लालचद	ववाणिया	खंभात	श्रा० व० १४,	,,
६३३	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सुरत	श्रा० व० १४,	,,
६३४	चत्रभुज बेचर	,,	जेतपर	भा० सु० ७,	,,
६३५	अंबालाल लालचन्द	,,	खभात	भा० सु० ७,	,,
६३६	कुंवरजी आणंदजी	,,	भावनगर	भा० सु० ९,	,,
६३७	खीमचन्द लखमीचंद	,,	लीबडी	भा० सु० ९,	,,
६३८	धारसीभाई कुशलचंद	राणपुर	मोरबी	भा० व० १३,	,,
६३९		,,		आसोज सु० २,	,,
६४०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई		आसो० सु० ११,	,,
६४१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		आसो० सु० १२,	,,
६४२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		आसो० सु० १३,	,,
६४३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आसो० सु० १३,	,,

आङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
६४४	अंबालाल लालचन्द	बबई	खंभात	आसो० व० ३,	१९५१
६४५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० व० ११,	,,
६४६		,,		आसोज,	,,
६४७		,,		आसोज,	,,
६४८		,,		आसोज,	,,
६४९		,,		आसोज,	,,
६५०		,,		आसोज,	,,
६५१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		कार्तिक,	१९५२
६५२	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सुरत	का० सु० ३,	,,
६५३	,, ,,	,,	,,	का० सु० १३,	,,
६५४	अबालाल लालचन्द	,,	खभात	का० सु० १३,	,,
६५५	,, ,,	,,	,,	का० व० ८,	,,
६५६	,, ,,	,,	,,	मगसिर सु० १०,	,,
६५७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	कठोर	मग० सु० १०,	,,
६५८	,, ,,	,,	,,	पौष सु० ६,	,,
६५९	अंबालाल लालचन्द	,,	खभात	पौष सु० ६,	,,
६६०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	पौष सु० ६,	,,
६६१	मुनिश्री लल्लुजी	,,	कठोर	पौष सु० ८,	,,
६६२		,,		पौष व०	,,
६६३		,,		पौष	,,
६६४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	पौष व० २,	,,
६६५		,,		पौष व० ९,	,,
६६६	खीमचन्द लखमीचन्द	,,	लीबडी	पौष व० १२,	,,
६६७	अबालाल लालचन्द	,,	खभात	पौष व० १२,	,,
६६८	,, ,,	,,	,,	माघ सु० ४,	,,
६६९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	माघ व० ११,	,,
६७०		,,		फा० सु० १,	,,
६७१	सोभाग्य भाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० सु० ३,	,,
६७२	,, ,,	,,	,,	फा० सु० १०,	,,
६७३	मुनिश्री लल्लुजी	,,		फा० सु० १०,	,,
६७४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० व० ३,	,,
६७५	अबालाल लालचन्द	,,	खंभात	फा० व० ५,	,,
६७६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० व० ९,	,,
६७७	कुंवरजी आणदजी	,,	भावनगर	चैत्र सु० १,	,,
६७८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	चैत्र सु० २,	,,
६७९	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० ११,	,,

आंक	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
६८०		बंबई		चैत्र सु० १३,	१९५२
६८१	कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	चैत्र व० १,	,,
६८२	अंबालाल लालचन्द	,,	खभात	चैत्र व० १,	,,
६८३		,,		चैत्र व० ७,	,,
६८४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	चैत्र व० १४,	,,
६८५	अंबालाल लालचंद	,,	खभात	चैत्र व० १४,	,,
६८६	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	चैत्र व० १४,	,,
६८७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	वै० सु० १,	,,
६८८	अंबालाल लालचद	,,	खंभात	वै० सु० ६,	,,
६८९	माणेकचंद आदि	ववाणिया	,,	वै० व० ६,	,,
६९०	छोटालाल माणेकचंद	बंबई	,,	द्वि० जे० सु० २,	,,
६९१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	द्वि० जे० व० ६,	,,
६९२	अंबालाल लालचद	,,	खभात	द्वि० जे० व० ९,	,,
६९३		,,		आषाढ सु० २,	,,
६९४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आ० सु० ७,	,,
६९५		,,		आ० सु० ५,	,,
६९६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		आ० व० ८,	,,
६९७	अबालाल लालचंद	,,	खंभात	आ० व० ८,	,,
६९८		,,		श्रा० सु० ५,	,,
६९९		,,		श्रावण,	,,
७००	सोभाग्यभाई लल्लुभाई(?)	काविठा		श्रा० व०	,,
७०१		राळज		श्रा० व० १३,	,,
७०२	अनुपचद मलुकचंद	,,	भरुच	श्रा० व० १४,	,,
७०३		,,		भा० सु० ८,	,,
७०४		,,		भा० सु० ८,	,,
७०५	खीमचद लक्ष्मीचद	वडवा (स्तभतीर्थ)		भा० सु० ११,	,,
७०६	केशवलाल नथुभाई	वडवा	लीबडी	भा० सु० ११,	,,
७०७		,,		भा० सु० ११,	,,
७०८	अंबालाल, त्रिभोवन आदि	राळज	खंभात	भाद्रपद,	,,
७०९		,,		भाद्रपद,	,,
७१०		वडवा (स्तंभतीर्थ)		भा० सु० १५,	,,
७११		राळज		भाद्रपद,	,,
७१२		आणंद		भा० व० १२,	,,
७१३		,,		आसोज,	,,

आङ्क	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
				सं०,	१९५२
७१४					
७१५		आणंद		आसो० सु० १,	,,
७१६	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खंभात	आसो० सु० २,	,,
७१७	मोहनलाल करमचंद गाँधी (महात्मा गाँधीजी)	,,	डरबन	आसो० सु० ३,	,,
७१८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई आदि	नडियाद		आसो० व० १,	,,
७१९	मुनिश्री लल्लुजी तथा मुनि देवकरणजी आदि	,,	खंभात	आसो० व० १०,	,,
७२०	रवजीभाई पचाणजी	,,	ववाणिया	आसो० व० १२,	,,
७२१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० व० ३०,	,,
७२२	,, ,,	ववाणिया	,,	का० सु० १०,	१९५३
७२३		,,		का० सु० ११,	,,
७२४		,,		कार्तिक,	,,
७२५		,,		का० व० २,	,,
७२६		,,		का० व० ३०,	,,
७२७		,,		मगसिर सु० १,	,,
७२८	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	मग० सु० ६,	,,
७२९	कुंवरजी आणदजी	ववाणिया	भावनगर	मग० सु० १०,	,,
७३०	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० सु० १२,	,,
७३१		,,		मग० सु० १२,	,,
७३२	मुनिश्री लल्लुजी आदि	,,	वसो	मग० व० ११,	,,
७३३	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	मग० व० ११,	,,
७३४	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० व० ११,	,,
७३५		,,		पौष सु० १०,	,,
७३६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	पौष सु० ११,	,,
७३७	झवेरभाई भगवानभाई	,,	काविठा	पौष व० ४,	,,
७३८		,,		सं०	,,
७३९	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	नडियाद	माघ सु० ९,	,,
७४०	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	माघ सु० ९,	,,
७४१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	माघ सु० १०,	,,
७४२	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	माघ व० ४,	,,
७४३	मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	माघ व०, ४	,,
७४४	त्रिभोवन माणेकचंद	ववाणिया	खंभात	माघ व० १२,	,,
७४५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० सु० २,	,,
७४६		,,		फा० सु० २,	,,
७४७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	फा० सु० २,	,,
७४८		,,		फा० सु० ४,	,,

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
७४९	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	फा० व० ११,	१९५३
७५०-५०२	मुनिश्री लल्लुजी तथा मुनि देवकरणजी आदि	,,		फा० सु० ६,	,,
७५१		,,		फा० व० ११,	,,
७५२	धारसीभाई कुशलचंद तथा नवलचंद डोसा	,,	मोरबी	फा० व० ११,	,,
७५३		,,			,,
७५४					,,
७५५					,,
७५६					,,
७५७					,,
७५८					,,
७५९					,,
७६०					,,
७६१					,,
७६२					,,
७६३					,,
७६४					,,
७६५					,,
७६६					,,
७६७	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	खभात	चैत्र सु० ३,	,,
७६८	केशवलाल नथुभाई	,,	भावनगर	चैत्र सु० ४,	,,
७६९		,,		चैत्र सु० ४,	,,
७७०		,,		चैत्र सु० ४,	,,
७७१		,,		चैत्र सु० ५,	,,
७७२		,,		चैत्र सु० १०,	,,
७७३		,,		चैत्र सु० १५,	,,
७७४					
७७५	मुनिश्री लल्लुजी तथा मुनि देवकरणजी	ववाणिया	खभात	चैत्र व० ५,	,,
७७६		सायला		वै० सु० १५,	,,
७७७	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	वै० व० १२,	,,
७७८	अंबालाल लालचंद	ईडर	खभात	वै० व० १२,	,,
७७९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई (काव्य-पत्र)	बंबई	सायला	जे० सु०	,,
७८०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	,,	जे० सु० ८,	,,

आंक	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
७८१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	बंबई	सायला	जे० ब० ६,	१९५३
७८२	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	,,	,,	जे० ब० १२	,,
७८३	,, ,,	,,	,,	आषाढ सु० ४,	,,
७८४		,,		आ० सु० ४,	,,
७८५	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आ० ब० १,	,,
७८६	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	आ० ब० १,	,,
७८७	(मुनिश्री लल्लुजी ?)	,,		आ० ब० १,	,,
७८८	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	आ० ब० ११,	,,
७८९	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	आ० ब० १४,	,,
७९०	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	श्रा० सु० ३,	,,
७९१	अंबालाल लालचद	,,	खंभात	श्रा० सु० १५,	,,
७९२	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	श्रा० सु० १५,	,,
७९३	त्रबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	श्रा० सु० १५,	,,
७९४	मणीलाल सोभाग्यभाई	,,	,,	श्रा० ब० १,	,,
७९५	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	श्रा० ब० ८,	,,
७९६		,,		श्रा० ब० ८,	,,
७९७	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	श्रा० ब० ८,	,,
७९८	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	श्रा० ब० १२,	,,
७९९	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	श्रा० ब० १२,	,,
८००	मगनलाल खीमचद	,,	लीबडी	श्रा० ब० १२,	,,
८०१	रवजीभाई पचाणभाई	,,	ववाणिया	भा० सु० ६,	,,
८०२		,,		भा० सु० ९,	,,
८०३	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	भा० सु० ९,	,,
८०४	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	भा० सु० ९,	,,
८०५	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	भा० सु० ९,	,,
८०६	डुंगर आदि मुमुक्षु	,,	सायला	भा० ब० ८,	,,
८०७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	भा० ब० ३०,	,,
८०८	,, ,,	,,	,,	आसोज सु० ८,	,,
८०९		,,		आसोज सु० ८,	,,
८१०	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	आसोज सु० ८,	,,
८११	मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	आसोज सु० ८,	,,
८१२	त्रबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	आसोज सु० ८,	१९५३
८१३	अंबालाल लालचद	,,	खंभात	आसोज ब० ७,	,,
८१४	,, ,,	,,	,,	आसोज ब० १४,	,,
८१५	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	का० ब० १,	१९५४
८१६	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० ब० ५,	,,

आङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
८१७	मुनदास प्रभुदास	बंबई	सुणाव	का० व० १२,	१९५४
८१८	मुनिश्री लल्लुजी	,,	वसो	मगसिर सु० ५,	,,
८१९	अंबालाल लालचद	,,	खभात	मग० सु० ५,	,,
८२०	त्रबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	मग० सु० ५,	,,
८२१	,, ,,	,,	,,	पौष सु० ३,	,,
८२२	अबालाल लालचद	आणद	खभात	पौष व० ११,	,,
८२३	त्रबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	पौष व० १३,	,,
८२४	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी		माघ सु० ४,	,,
८२५	झवेरचदभाई तथा रतनचदभाई	,,	काविठा	माघ सु० ४,	,,
८२६	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमग्राम	माघ सु० ४,	,,
८२७	खीमजी देवजी	ववाणिया	बबई	माघ व० ४,	,,
८२८	मुनिश्री लल्लुजी	बबई	वसो	माघ व० ३०,	,,
८२९	अंबालाल लालचद	मोरबी	खंभात	माघ व० ३०,	,,
८३०	,, ,,	,,	,,	चैत्र व० १२,	,,
८३१	मुनिश्री लल्लुजी आदि	,,	सोजीत्रा	चैत्र व० १२,	,,
८३२		ववाणिया		ज्येष्ठ,	,,
८३३		,,		ज्ये० सु० १,	,,
८३४	अंबालाल लालचद	,,	खभात	ज्ये० सु० ६,	,,
८३५	रायचद मनजी देसाई	बबई	ववाणिया	ज्ये० व० ४,	,,
८३६					,,
८३७				स०	,,
८३८	मुनिश्री लल्लुजी	बबई	खेडा	ज्ये० व० १४,	,,
८३९	(अबालाल लालचद ?)	,,		आ० सु० ११,	,,
८४०		,,		श्रा० सु० १५,	,,
८४१		,,		श्रा० व० ४,	,,
८४२	रायचद मनजी देसाई	काविठा	ववाणिया	श्रा० व० १२,	,,
८४३		वसो		प्र० आसो० सु० ६,	,,
८४४				आसोज,	,,
८४५				आसोज,	,,
८४६		वनक्षेत्र उत्तरसंडा		प्र० आसो० व० ९,	,,
८४७	झवेरभाई भगवानदास	खेडा	काविठा	द्वि० आसो० सु० ६,	,,
८४८	रेवाशंकर जगजीवन	,,	बबई	द्वि० आसो० सु० ९,	,,
८४९		,,		द्वि० आ० व०,	,,
८५०				आसोज,	,,
८५१		बंबई		का० सु० १४,	१९५५
८५२		,,		मग० सु० ३,	,,

आंक	किसके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
८५३	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	मग० सु० १४,	१९५५
८५४	(पोपटलाल मोहकमचद ?)	,,		मग० सु० १५,	,,
८५५		,,		मग० सु० १५,	,,
८५६	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	मग० व० ४,	,,
८५७	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० व० ३०,	,,
८५८		,,		पौष,	,,
८५९	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	पौष सु० १५,	,,
८६०	छगनलाल नानजी	मोरबी	लीबडी	फा० सु० १,	,,
८६१	पोपटलाल मोहकमचद	,,	अहमदाबाद	फा० सु० १,	,,
८६२		,,		फा० सु० १,	,,
८६३	नगीनदास धरमचन्द	ववाणिया	अहमदाबाद	फा० व० १०,	,
८६४	मुनिश्री लल्लुजी(देवकरणजी)	,,	अंजार	फा० व० ३०,	,,
८६५	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेरालु	चैत्र सु० १,	,,
८६६	धारसीभाई कुशलचन्द	,,	मोरबी	चैत्र सु० ५,	,,
८६७	मुनिश्री देवकरणजी	,,	ध्रांगध्रा	चैत्र व० २,	,,
८६८	घेलाभाई केशवलाल (मुनिश्री लल्लुजी)	,,	प्रांतिज	चैत्र व०, २,	,,
८६९	वाडीलाल मोतीलाल	मोरबी	अहमदाबाद	चैत्र व० ९,	,,
८७०	मुनिश्री लल्लुजी	,,		वै० सु० ६,	,,
८७१	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	खंभात	वै० सु० ७,	,,
८७२	मनसुख देवसी	ववाणिया	लीबडी	वै० सु० ७,	,,
८७३	मुनिश्री लल्लुजी	ईडर		वै० व० ६,	,,
८७४	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	वै० व० १०,	,,
८७५	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई		जेठ,	,,
८७६	,, ,,	,,	खेडा	जेठ सु० ११,	,
८७७	मनसुखलाल कीरतचन्द	,,	मोरबी	जेठ व० २,	,,
८७८	पोपटलाल मोहकमचन्द	,,	अहमदाबाद	जे० व० ७,	,,
८७९	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	आषाढ सु० ८,	,,
८८०	मुनिश्री लल्लुजी	बंबई	नडियाद	आषाढ सु० ८,	,,
८८१	,, ,,	,,	,,	आषाढ व० ६,	,,
८८२	मनसुखलाल कीरतचंद	,,	अहमदाबाद	आषाढ व० ८,	,,
८८३	मगनलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	आषाढ व० ८,	,,
८८४				श्रा० सु० ३,	,,
८८५	मनसुख देवसी	बंबई		श्रा० सु० ७,	,,
८८६	अबालाल लालचद	,,	खंभात	श्रा० व० ३०,	,,
८८७		,,			

अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
८८८	मनसुखलाल कीरतचंद	बंबई	अहमदाबाद	मा० सु० ५, १९५५
८८९	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	मा० सु० ५, ,,
८९०	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मा० सु० ५, ,,
८९१	बनारसीदास तलसीभाई	,,		मा० सु० ५, ,,
८९२	झवेरचंदभाई तथा रतनचंदभाई	,,	काविठा	मा० सु० ५, ,,
८९३	पोपटलाल मोहकमचंद	,,	अहमदाबाद	मा० सु० ५, ,,
८९४	मुनिश्री लल्लुजी	,,	वसो	मा० सु० ५, ,,
८९५	मनसुखलाल कीरतचंद	,,		आसोज, ,,
८९६	मुनिश्री लल्लुजी	,,		कार्तिक, १९५६
८९७	मनसुखलाल कीरतचंद	,,	वाकानेर	का० सु० ५, ,,
८९८	झवेरचंदभाई तथा रतनचंदभाई	,,	काविठा	का० सु० ५, ,,
८९९	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० ५, ,,
९००	मुनिश्री लल्लुजी	,,		का० सु० ५, ,,
९०१	,, ,,	,,		का० सु० १५, ,,
९०२		,,		का० व० ११, ,,
९०३		,,		का० व० ११, ,,
९०४		,,		का० व० ११, ,,
९०५		,,		पौष व० १२, ,,
९०६	हेमचंद कुशलचंद	,,	खंभात	माघ व० १०, ,,
९०७	अंबालाल लालचंद	,,	,,	माघ व० ११, ,,
९०८	,, ,,	,,	,,	माघ व० १४, ,,
९०९	,, ,,	धर्मपुर	,,	चैत्र सु० ८, ,,
९१०	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० ११, ,,
९११	मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	चैत्र सु० १३, ,,
९१२	,, ,,	,,	,,	चैत्र व० १, ,,
९१३	वनमालीभाई उमेदराम	,,	गोधावी	चैत्र व० ४, ,,
९१४	मुनिश्री लल्लुजी	,,		चैत्र व० ५, ,,
९१५	,, ,,	,,		चैत्र व० ६, ,,
९१६	,, ,,	,,		चैत्र व० १३, ,,
९१७	,, ,,	अहमदाबाद		वै० सु० ६, ,,
९१८		ववाणिया		वैशाख, ,,
९१९	अंबालाल लालचंद	,,		वै० व० ८, ,,
९२०	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	वै० व० ८, ,,
९२१	मनसुखलाल कीरतचंद	,,	मोरबी	वै० व० ९, ,,
९२२	मुनिश्री लल्लुजी	,,	साणंद	वै० व० ९, ,,
९२३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	वै० व० ९, ,,

अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
९२४	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	वसो	वै० व० १३, १९५६
९२५	,, ,,	,,		वै० व० ३०, ,,
९२६	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	वै० व० ३०, ,,
९२७	कुवरजी मगनलाल	,,	कलोल	वै० व० ३०, ,,
९२८		,,		जेठ सु० ११, ,,
९२९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	वसो	जेठ सु० १३, ,,
९३०	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	जेठ सु० १३, ,,
९३१	चत्रभुज बेचर	,,	मोरबी	जेठ व० ९, ,,
९३२	सुखलाल छगनलाल	,	वीरमगाम	जेठ व० १०, ,,
९३३				
९३४	मनसुखलाल कीरतचंद	,,	मोरबी	जेठ व० ३०, ,,
९३५	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	जेठ व० ३०, ,,
९३६		,,		जेठ व० ३०, ,,
९३७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	आषाढ सु० १, ,,
९३८	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आषाढ सु० १, ,,
९३९	सुखलाल छगनलाल	मोरबी	वीरमगाम	आषाढ व० ९, ,,
९४०	मुनिश्री लल्लुजी	,,		आषाढ व० ९, ,,
९४१	मुनदास प्रभुदास	,,	सुणाव	श्रा० व० ४, ,,
९४२	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	श्रा० व० ५, ,,
९४३	,, ,,	,,	,,	श्रा० व० ७, ,,
९४४	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	,,	श्रा० व० १०, ,,
९४५		,,		श्रा० व० १०, ,,
९४६				
९४७		वढवाण केम्प		का० सु० ५, १९५७
९४८		बंबई शिव		मगसिर व० ८, ,,
९४९		तिथ्यल-वलसाड		पौष व० १०, ,,
९५०	मुनिश्री लल्लुजी	वढवाण केम्प		फा० सु० ६, ,,
९५१		राजकोट		फा० व० ३, ,,
९५२	सुखलाल छगनलाल	,,		फा० व० १३, ,,
९५३	,, ,,	,,	भरुच	चैत्र सु० २, ,,
९५४		,,		चैत्र सु० ९, ,,
९५५	रेवाशंकर जगजीवन	मोरबी	बंबई	चैत्र सु० ११॥, ,,

परिशिष्ट ४

किसके ऊपर कौन-कौनसे पत्र हैं उसकी सूची

नाम	पत्रांक
अनुपचंद मलुकचंद	७०२.
अंबालाल लालचंद	११५–११८–१२१–१२२–१२८–१३१–१३८–१३९–१४६–१४८–१६९–१७१–१७४-
,,	१७५–१७८–१८४–१८६–१८८–१९०–१९२–१९३–१९९–२०३–२११–२२५–२३६-
,,	२४०–२४२–२४५–२४८–२५३–२५४–२६१–२७१–२७६–२८५–२९१–३००–३०३-
,,	३०६–३१२–३२१–३३२–३५३–३५६–३५८–३७६–३९१–३९९–४२७–४२८–४३२-
,,	४४५–४५१–४५४–४५५–४७८–४७९–४८०–४८१-४८२–४८७–४८८–४८९–५०३-
,,	५०७–५१५–५१७–५२२–५२४–५३६–५३७-५७२–५८०–६०४–६१६–६२१–६३८-
,,	६३५–६४३–६४४–६५४–६५५–६५६–६५९-६६७-६६८–६७५–६८२–६८५–६८८-
,,	६९२–६९७–७०८–७३०–७३४–७४०–७४२–७४९–७७८–७८५–७९१-८१०–८१३-
,,	८१४–८१६–८१९–८२२–८२९–८३०–८३४–८३९–८४७–८५९-८८६–८९०–८९९-
,,	९०७–९०८–९०९–९१०–९१९–९२३–९३५–९३८–९४२–९४३.
ऊगरी बहेन	२६२
कुवरजी आणदजी	५६१–५६३–५८२–६०८–६३६–६७७–७२९.
कुवरजी मगनलाल	३१८–३३६–३५१–३७१–४६०–९२७
कृष्णदास	३३०–४०४–४२४–४४९.
केशवलाल नथुभाई	५१६–७०६–७६८
खीमजी देवजी	४७–५२–५८–६२–६७–७२–१२४–१२५ – १२७–१३०–१३६–१४३–१४५ –१४७–
,,	२६३–२८१–५५८–८२७.
खीमजी लक्ष्मीचंद	६३७–६६६.
घेलाभाई केशवलाल	८६८.
चत्रभुज बेचर	२६–२७–२८–२९–३०–१२९–२०२–३५२–६३४–९३१.
चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	९८–१०४–१०६.
छगनलाल नानजी	८६०.
छोटालाल माणेकचंद	१८१–२२६–६९०.
जूठाभाई ऊजमसी	३६–३७–४१–४२–४३–४४–४५–४६–४९–५३–५६–५७–५९–६५–६९–७३–७४ –
,,	७५–९४–११४.
झवेरभाई भगवानदास	७३७–८२५–८४७–८९२–८९८.
डुंगरसी कलाभाई (गोसलिया)	८०६
त्रबकलाल सोभागभाई	७८२–७८३–७८९–७९३–७९७–८१२–८२०–८२३.
त्रिभोवन तथा अंबालाल	१३४–१३५–१६७.
त्रिभोवन माणेकचंद	११९–१३७–१४०–१४२–१५३–१७३–१७७–२१२–२३२–२३७–२३८–३०५– ३१०
,,	३९७–४५८–४६७–४७०–४९५–४९८–५१०–६१३–६२२–७२८–७४४–८०५–९४४.
धारसीभाई कुशलचंद	३७३–६३८–७५२–८६६.
नगीनदास धरमचन्द	८६३.
पोपटलाल मोहकमचन्द	८५४–८६१–८७८–८९३.
मनसुखलाल देवसी	४४१–८७२–८८५.
मनसुखलाल कीरतचन्द	८७७–८८२–८८८–८९५–८९७–९२१.

परिशिष्ट ५

विशिष्ट शब्दार्थ

अ

अकर्मभूमि—भोगभूमि। असि, मसि, कृषि आदि षट्-कर्मरहित भोगभूमि, मोक्षके अयोग्य क्षेत्र।

अकाल—असमय।

अगुरुलघु—गुरुता और लघुतारहित ऐसा पदार्थका स्वभाव।

अगोप्य—प्रगट।

अघ—पाप।

अचित—जीव रहित।

अचेतन—जड पदार्थ।

अज्ञान—मिथ्यात्व सहित ज्ञान। देखें आक ७६८।

अज्ञान परिषह—सत्पुरुषका योग मिलने पर भी जीवको अज्ञानकी निवृत्ति करनेका साहस न होता हो, उलझन आ पडती हो कि इतना सारा पुरुषार्थ करते हुए भी ज्ञान प्रगट क्यों नहीं होता इस प्रकारका भाव। देखें आक ५३७।

अठारह दोष—पाँच प्रकारके अतराय (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य), हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा और काम। (मोक्षमाला)

अणलिङ्ग—जिसका कोई विशिष्ट बाह्य चिह्न नही है, किसी प्रकारके वेषसे भिन्न।

अणु—सूक्ष्म, अल्प, पुद्गलका छोटेसे छोटा भाग।

अणुव्रत—अल्पव्रत, जिन व्रतोको श्रावक धारण करते है।

अतिक्रम—मर्यादाका उल्लघन।

अतिचार—दोष (व्रतको मलिन करे ऐसा व्रतभगकी इच्छा बिना लगनेवाला दोष)।

अतिपरिचय—गाढ सम्बन्ध, हदसे ज्यादा परिचय।

अतीत काल—भूतकाल।

अथसे इति—प्रारम्भसे अत तक।

अदत्तादान—बिना दिये हुए वस्तुका ग्रहण करना। चोरी।

अद्धासमय—कालका छोटेसे छोटा अश, वस्तुके परिवर्तनमें निमित्तरूप एक द्रव्य।

अद्वैत—एक ही वस्तु। एक आत्मा या ब्रह्मके बिना जगतमें दूसरा कुछ नही है ऐसी मान्यता।

अधर्म द्रव्य—जीव और पुद्गलोकी स्थितिमें उदासीन सहायक कारण, छह द्रव्योंमेंसे एक द्रव्य।

अधिकरण क्रिया—तलवार आदि हिंसक साधनोंके आरंभ-समारंभके निमित्तसे होनेवाला कर्मबन्धन (आक ५२२)।

अधिष्ठान—हरि भगवान, जिसमेसे वस्तु उत्पन्न हुई, जिसमे वह स्थिर रही और जिसमें वह लयको प्राप्त हुई। (आक २२०)

अधोदशा—नीची अवस्था।

अध्यात्म—आत्मा सम्बन्धी।

अध्यात्ममार्ग—यथार्थ समझमे आनेपर परभावसे आत्यतिक निवृत्ति करना यह अध्यात्ममार्ग है। (आक ९१८)

अध्यात्मशास्त्र—जिन शास्त्रोमे आत्माका कथन है। 'निज स्वरूप जे किरिया साधे, तेह अध्यातम लहीए रे।'—श्री आनन्दघनजी।

अध्यास—मिथ्या आरोपण, भ्रान्ति।

अनगार—मुनि, साधु; घर रहित।

अनधिकारी—अधिकार रहित, अपात्र। (आत्मसिद्धि गाथा ३१)

अनन्यभाव—उत्कृष्ट भाव; शुद्ध भाव।

अनन्य शरण—जिसके समान अन्य शरण नही है।

अनभिसंधि—कषायसे वीर्यकी प्रवर्तना।

अनतकाय—जिसमें अनन्त जीव हो ऐसे शरीरवाले, कंदमूलादि।

अनंत चारित्र—मोहनीयकर्मके अभावमे आत्मस्थिरतारूप दशा।

अनंत ज्ञान—केवलज्ञान।

अनंत दर्शन—केवलदर्शन।

अनंतराशि—अपार राशि।

अनाकार—आकारका अभाव।

अनाचार—पाप; दुराचार, व्रतभंग।

अनाधता—निराधारता; अशरणता।

अनादि—जिसकी आदि न हो।

अनारंभ—सावद्य व्यापार रहित; जीवको उपद्रव न करना, निष्पाप।

अनारंभी—पाप न करनेवाला।

अनिमेष—स्थिर दृष्टि, निमेषरहित टकटकीके साथ देखना।

अनुकम्पा—दु:खी जीवोपर करुणा। (आंक ५८, १३५)

अनुग्रह—दया, उपकार, कृपा।

अनुचर—सेवक।

अनुपचरित—अनुभवमे आने योग्य विशेष सम्बंध-सहित (व्यवहार)। (आंक ४९३)

अनुप्रेक्षा—भावना; विचारणा; स्वाध्यायका एक प्रकार।

अनुभव—प्रत्यक्षज्ञान, वेदन। "वस्तुविचारत ध्यावते मन पावे विश्राम, रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम।"—श्री बनारसीदास।

अनुष्ठान—धार्मिक आचार, क्रिया।

अनेकांत—अनंतधर्मात्मक वस्तुकी स्वीकृति, जो केवल एक दृष्टिरूप न हो।

अनेकांतवाद—सापेक्षरूपमे एक पदार्थके अनेक धर्मोमे-से अमुक धर्मको कहनेवाली वचन पद्धति।

अन्योक्ति—वह अलकार जिसमे अर्थसाधर्म्यके अनुसार वर्णित वस्तुओके अलावा दूसरी वस्तुओपर घटाया जाय। कटाक्षरूप वचन।

अन्योन्य—परस्पर।

अन्वय—एकके सद्भावमे दूसरेका अवश्य होना, परस्पर सम्बन्ध।

अपकर्ष—पतन; कम होना।

अप्काय—पानी ही जिसका शरीर है ऐसे जीव।

अपरिग्रहव्रत—परिग्रहत्यागकी प्रतिज्ञा।

अपवर्ग—मोक्ष।

अपवाद—नियमोंमें छूट; निन्दा।

अपरिच्छेद—यथार्थ; सम्पूर्ण।

अपरिणामी—जो परिणमनको प्राप्त न हो।

अपलक्षण—दोष।

अपेक्षा—इच्छा, अभिलाषा।

अप्रतिबद्ध—आसक्तिरहित।

अप्रमत्त गुणस्थान—सातवाँ गुणस्थान। अप्रमत्तरूपसे आचरणमें स्थिति। (पृ० ८४०)

अप्रमादी—आत्मदशामें जागृति रखनेवाला।

अप्रशस्त—बुरा, अशुभ।

अबंध परिणाम—जिन परिणामोंसे बंध न हो। राग-द्वेषरहित परिणाम।

अबोधता—अज्ञानता।

अभक्ष्य—न खाने योग्य।

अभयदान—रक्षण देना; जीवोको बचाना।

अभव्य—जिसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति न हो सके ऐसा जीव।

अभाव—क्षय, जिसका अस्तित्व न हो। (आंक ६७४)

अभिधेय—प्रतिपादन करने योग्य।

अभिनिवेश—आसक्ति; आग्रह; हठ। (आंक ६७७ लौकिक अभिनिवेश)

अभिमत—सम्मत।

अभिवंदन—नमस्कार।

अभिसंधिवीर्य—बुद्धि या आशयपूर्वक की गई क्रियाके रूपमे परिणमनेवाला वीर्य, आत्माकी प्रेरणासे वीर्यका प्रवर्तन; वीर्यका एक प्रकार।

अभ्यंतर—भीतरका।

अभ्यंतरमोहनी—वासना, राग-द्वेष। (पुष्पमाला-६६)

अभ्यास—मुहावरा, टेव; अध्ययन।

अमर—देव; आत्मा।

अमाप—असीम, अपरिमित।

अमूर्तिक—जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श नही हैं। निराकार।

अयोग—योगका अभाव, मन, वचन, कायारूप योगका अभाव, सत्पुरुषके साथ संयोगका नही होना।

अराग—रागरहित दशा।

अरिहंत—केवली भगवान।

अरूपी—जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पुद्गलके गुण न हों।

अर्थपर्याय—प्रदेशत्व गुणके सिवाय अन्य समस्त गुणोंकी अवस्था। (देखें जैनसिद्धांतप्रवेशिका)

अर्थांतर—दूसरा आशय या तात्पर्य।

अर्धदग्ध—अधूरे ज्ञानवाला। ज्ञानी जैसा समझदार भी नहीं और अज्ञानी जैसा जिज्ञासु भी नहीं।

अर्हंत—देखें अरिहंत।

अलौकिक—लोकोत्तर; अद्भुत, अपूर्व; असाधारण, दिव्य ।

अल्पज्ञ—कम समझा, तुच्छ बुद्धिका; थोडा ज्ञान रखनेवाला ।

अल्पभाषी—कम बोलनेवाला ।

अवगत—ज्ञात, जाना हुआ ।

अवगाह—व्याप्त होनेका भाव ।

अवगाहन—अध्ययन; पढना-विचारना, गहन अभ्यास करना ।

अवग्रह—आरभका मतिज्ञान । मतिज्ञानका एक भेद । (देखें जैनसिद्धातप्रवेशिका)

अवधान—एक समयमे अनेक कार्योंमे उपयोग देकर स्मरणशक्ति तथा एकाग्रताकी अद्भुतता बताना । (अक ५८)

अवधिज्ञान—जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादासहित रूपी पदार्थको जाने ।

अवनी—पृथ्वी, जगत ।

अवबोध—ज्ञान ।

अवर्णवाद—निन्दा ।

अवशेष—बाकी ।

अवसर्पिणीकाल—उतरता हुआ काल, जिसमे जीवोकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जाय । दस कोडाकोडी सागरका यह काल होता है ।

अवाच्य—न कहने योग्य, जो न कहा जा सके ।

अविवेक—विचारशून्यता; सत्यासत्यको न समझना ।

अव्याबाध—बाधा, पीडारहित ।

अशरीरी—जिसे शरीरभावका अभाव हो गया है, आत्ममग्न; सिद्ध भगवान ।

अशातना—अविनय ।

अशुभ—खराब ।

अशौच—मलिनता ।

अश्रद्धा—अविश्वास ।

अष्टमभक्त—तीन उपवास ।

अष्टावक्र—एक ऋषिका नाम । जनक राजाको ज्ञान देनेवाले ।

अष्टांगयोग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग ।

असाता—दुःख ।

असंग—मूर्च्छाका अभाव, पर द्रव्यसे मुक्त; परिग्रहरहित ।

असंगता—आत्मार्थके सिवाय संगप्रसगमें नही पडना (आक ४३०, ६०९) ।

असंयतिपूजा—जिसे ज्ञानपूर्वक सयम न हो उसकी पूजा ।

असंयम—उपयोग चूक जाना (उपदेशछाया)

असिपत्रवन—नरकमे एक वन, जिसके पत्ते शरीर पर गिरनेसे तलवारकी भाँति अगोको छेद देते हैं ।

असोच्याकेवली—केवली आदिके निकट धर्मको सुने बिना (असोच्चा = अश्रुत्वा) जो केवलज्ञान पावे । (आक ५४२)

अस्त—छिपा हुआ, तिरोहित, अदृश्य, नष्ट, डूबा हुआ ।

अस्ति—सत्ता; विद्यमानता; होनेका भाव ।

अस्तिकाय—बहुत प्रदेशोंवाला द्रव्य ।

अस्तित्व—मौजूदगी, सत्ताका भाव ।

अहंता—अहकार, गर्व ।

अहंभाव—मैं-पनेका भाव; अभिमान ।

अंतरंग—अन्दरका ।

अंतरात्मा—सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी आत्मा ।

अंतराय—विघ्न, बाधा ।

अंतर्ज्ञान—स्वाभाविक ज्ञान, आत्मिक ज्ञान ।

अंतर्दशा—आत्माकी दशा ।

अंतर्दृष्टि—आत्मदृष्टि, ज्ञानचक्षु ।

अंतर्धान—लोप, छिपाव ।

अंतर्मुख—आत्मचिंतन, जिसका लक्ष्य अदरकी ओर हो ।

अंतर्मुहूर्त—एक मुहूर्तके भीतरका काल (एक मुहूर्त = दो घडी, ४८ मिनिट); एक मुहूर्तमे कम समय ।

अंतर्लापिका—ऐसी काव्यरचना कि जिसके अक्षरोंको अमुक प्रकारसे लगानेपर किसीका नाम या दूसरा अर्थ निकले ।

अंतर्वृत्ति—अन्दरका वर्तन; आत्मामें वृत्ति ।

अंतःकरण—मन; चित्त; अन्दरकी इन्द्रिय ।

अंतःपुर—महलके भीतर स्त्रियोंके रहनेकी जगह; रानिवास ।

आ

आकाशद्रव्य—जीवादि समस्त द्रव्योंको अवकाश देनेवाला द्रव्य ।

आकांक्षा मोहनीय—मिथ्यात्वमोहनीयका एक प्रकार; सांसारिक सुखकी इच्छा करना ।

आक्रोश—क्रोध करना; गाली देना; निन्दा ।

आगम—धर्मशास्त्र, ज्ञानीपुरुषोंके वचन ।

आगमन—आना ।

आगार—घर, व्रतोंमें छूटछाट ।

आग्रह—इच्छानुसार करने-करानेकी वृत्ति, हठ, दृढ मान्यता ।

आचरण—व्यवहार; वर्ताव ।

आचार्य—जो साधुओंको दीक्षा, शिक्षा देकर चारित्रका पालन कराते हैं ।

आज्ञा—आदेश, अनुमति, हुक्म ।

आज्ञा-आराधक—आज्ञानुसार चलनेवाला ।

आज्ञाधार—आज्ञापूर्वक । (आत्मसिद्धि दोहा-३५)

आठ समिति—तीन गुप्ति और पाँच समिति ।

आतापनयोग—धूपमें बैठकर या खडे रहकर ध्यान करना ।

आत्मवाद—आत्माको बतानेवाला; आत्मस्वरूपको कहनेवाला ।

आत्मवीर्य—आत्माकी शक्ति ।

आत्मसंयम—आत्माको वशमें करना ।

आत्मश्लाघा—अपनी प्रशंसा ।

आत्मा—ज्ञानदर्शनमय अविनाशी पदार्थ ।

आत्मार्थी—आत्माकी इच्छावाला । "कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष, भवे खेद, प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास ।" (आत्मसिद्धि दोहा-३८)

आत्मानुभव—आत्माका साक्षात्कार ।

आत्यंतिक—पूर्णरूपसे; अत्यंतरूपसे; सम्पूर्ण ।

आदि अंत—प्रारंभ और अंत ।

आदिपुरुष—परमात्मा ।

आदेश—आज्ञा ।

आधार—सहारा; आश्रय ।

आधि—मानसिक व्यथा; चिंता ।

आधुनिक—वर्तमान समयका; नवीन; अर्वाचीन ।

आनंदघन—आनंदसे परिपूर्ण; श्री लाभानन्दजी मुनिका दूसरा नाम ।

आप्त—जिसके विश्वासपर मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति की जा सके । (आक ७७७) सर्व पदार्थोंको जानकर उनके स्वरूपका सत्यार्थ प्रगट करनेवाला । (पृष्ठ ७७५)

आम्नाय—सम्प्रदाय; परम्परा, परिपाटी ।

आरंभ—किसी भी क्रियाकी तैयारी, हिंसाका काम ।

आरा—काल चक्र, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीका विभाग । देखें मोक्षमाला पाठ ८१ ।

आराधना—पूजा; उपासना; साधना ।

आराध्य—आराधना करने योग्य ।

आर्त्त—पीडित ।

आर्त्तध्यान—किसी भी पर पदार्थमें इच्छाकी प्रवृत्ति है और किसी भी पर पदार्थके वियोगकी चिन्ता है, उसे श्री जिन आर्त्तध्यान कहते हैं । आक ५५१

आर्य—उत्तम । (आर्य शब्दसे जिनेश्वर, मुमुक्षु और आर्यदेशमें रहनेवालेको सम्बोधित किया जाता है)

आर्य आचार—मुख्यत. दया, सत्य, क्षमा आदि गुणोंका आचरण करना । (आक ७१७)

आर्य देश—उत्तम देश । जहाँ आत्मा आदि तत्त्वोंकी विचारणा हो सके, आत्मोन्नति हो सके ऐसी अनुकूलतावाला देश ।

आर्य विचार—मुख्यत' आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, वर्तमानकाल तक उस स्वरूपका अज्ञान तथा उस अज्ञान और अभानके कारणोंका विचार । (आक ७१७)

आलेखन—लिपिबद्ध करना, चित्र बनाना ।

आवरण—परदा, विघ्न ।

आवश्यक—अवश्य करने योग्य कार्य या नियम । संयमीके योग्य क्रिया ।

आविर्भाव—प्रगट होना; उत्पत्ति ।

आशंका मोहनीय—जो स्वयंको समझमें न आवें; सत्य जानते हुए भी उसके प्रति यथार्थ भाव (रुचि) न प्रगटे । (उपदेशछाया)

आशुप्रज्ञ—जिसकी बुद्धि तत्काल काम करे । विचक्षण; हाजिरजवाब ।

आश्रम—विश्रामका स्थान; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त इन जीवन-विभागोंमेंसे कोई भी एक ।

आसक्त—अनुरक्त; लीन; लिप्त; मोहित, मुग्ध ।
आसक्ति—गाढ़ मोह; लीनता ।
आस्तिक्य—जिनका परम माहात्म्य है ऐसे निस्पृही पुरुषोंके वचनमें ही तल्लीनता । (आंक १३५)
आस्रव—ज्ञानावरणादि कर्मोंका आना ।
आस्रवभावना—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आस्रव हैं, वे रोकने या टालने योग्य हैं ऐसा चिंतन करना । (भावनाबोध)

इ

इतिहास—भूतकालका वृत्तान्त ।
इन्द्र—स्वर्गका अधिपति, देवोंका स्वामी ।
इन्द्राणी—इन्द्रकी पत्नी ।
इंद्रिय—ज्ञानका बाह्य साधन ।
इन्द्रियगम्य—जो इन्द्रियसे जाना जाय ।
इंद्रियनिग्रह—इन्द्रियोंको वश करना ।
इष्टदेव—जिस पर श्रद्धा जम गई हो ऐसे आराध्यदेव ।
इष्टसिद्धि—इच्छित कार्यकी सिद्धि ।

ई

ईर्यापथिकी क्रिया—कषायरहित पुरुषकी क्रिया, चलनेकी क्रिया ।
ईर्यासमिति—दूसरे जीवोंकी रक्षाके लिये चार हाथ जमीन आगे देखकर ज्ञानीकी आज्ञानुसार चलना ।
ईश्वर—जिसमें ज्ञानादि ऐश्वर्य है । "ईश्वर शुद्ध स्वभाव" (आत्मसिद्धि दोहा ७७)
ईश्वरेच्छा—प्रारब्ध; कर्मोदय; उपचारसे ईश्वरकी इच्छा, आज्ञा ।
ईषत्प्राग्भारा—आठवीं पृथ्वी, सिद्धशिला ।

उ

उच्चगोत्र—लोकमान्य कुल ।
उजागर—आत्मजागृतिरूप दशा ।
उत्कट—प्रबल, तीव्र ।
उत्कर्ष—समृद्धि; श्रेष्ठता; उत्तमता । हर्ष, अहंकार ।
उत्तरोत्तर—आगे-आगे, क्रमशः, अधिक-अधिक ।
उत्पाद—उत्पत्ति ।
उत्सर्पिणीकाल—बढ़ते हुए छह कालचक्र पूरे हों, उतना समय । दस कोडाकोडी सागरका बढ़ता हुआ काल । जिसमें आयु, वैभव, बल आदि बढ़ते जावें ऐसा कालप्रवाह ।

उत्सूत्रप्ररूपणा—आगमविरुद्ध कथन ।
उदक पेढाल—सूत्रकृताङ्ग नामक दूसरे अंगमें इस नामका एक अध्ययन है ।
उदय—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको लेकर कर्म जो अपनी शक्ति दिखाते हैं उसे कर्मका उदय कहते हैं । स्थिति पूर्ण होनेपर कर्मफलका प्रगट होना ।
उदासीनता—समभाव; वैराग्य, शान्तता, मध्यस्थता ।
उदीरणा—स्थिति पूरी किये बिना ही कर्मोंका फल तपादिके कारणसे उदयमें आवे उसे उदीरणा कहते हैं ।
उपजीवन—आजीविका (आंक ६४)
उपयोग—चैतन्य परिणति, जिससे पदार्थका बोध हो ।
उपशमभाव—कर्मोंके शांत होनेसे उत्पन्न हुआ भाव ।
उपशमश्रेणी—जिसमें चारित्र-मोहनीय कर्मकी २१ प्रकृतियोंका उपशम किया जाय । (जैनसिद्धान्त-प्रवेशिका)
उपाधि—जंजाल ।
उपाध्याय—जो साधु शास्त्रोंका अध्ययन करावे ।
उपाश्रय—साधु साध्वियोंका आश्रयस्थान ।
उपासक—पूजाभक्ति करनेवाला, साधुओंकी उपासना करनेवाला श्रावक ।
उपेक्षा—अनादर, तिरस्कार, विरक्ति; उदासीनता ।

ऊ

ऊर्ध्वगति—ऊँची गति ।
ऊर्ध्वप्रचय—पदार्थमें धर्मका उद्भव होना, क्षण-क्षणमें होनेवाली अवस्था ।
ऊर्ध्वलोक—स्वर्ग, मोक्ष ।
ऊहापोह—तर्क-वितर्क, सोच-विचार ।

ऋ

ऋषभदेव—जैनोंके आदि तीर्थंकर ।
ऋषि—जो बहुत ऋद्धियोंके धारी हों । ऋषिके चार भेद हैं —१ राज०, २ ब्रह्म०, ३ देव०, ४ परम० । राजर्षि=ऋद्धिवाले, ब्रह्मर्षि=अक्षीण महान ऋद्धिवाले, देवर्षि=आकाशगामी मुनिदेव, परमर्षि=केवलज्ञानी ।

ए

एकत्वभावना—यह मेरा आत्मा अकेला है वह अकेला आया है, अकेला जायेगा, अपने किये हुए कर्म

अकेला भोगेगा, ऐसा अन्तःकरणसे चिन्तन करना सो एकत्वभावना (भावनाबोध)

एकनिष्ठा—एक ही वस्तुके प्रति पूर्ण श्रद्धा।

एकभक्त—दिनमें एक ही बार खाना।

एकाकी—अकेला।

एकान्तवाद—वस्तुको एक धर्मस्वरूप मानना।

ओ

ओघसंज्ञा—जिस क्रियाको करते हुए जीव लोककी, सूत्रकी या गुरुके वचनकी अपेक्षा नहीं रखता; आत्माके अध्यवसाय रहित कुछ क्रियादि किया करे। (अध्यात्मसार)

औ

औदयिकभाव—कर्मके उदयसे होनेवाला भाव; कर्म बंधे ऐसा भाव। कर्मके उदयके साथ सम्बन्ध रखनेवाला जीवका विकारी भाव।

औदारिक शरीर—स्थूल शरीर। मनुष्य और तिर्यंचोंको यह शरीर होता है।

क

कदाग्रह—दुराग्रह, खोटी मान्यताकी दृढ़ता। इन्द्रियोंके निग्रहका न होना, कुलधर्मका आग्रह, मान-श्लाघाकी कामना और अमध्यस्थता, यह कदाग्रह है। (उपदेशछाया-९)

कपिल—सांख्यमतके प्रवर्तक।

करुणा—दया, दूसरेके दुःख या पीड़ा-निवारणकी इच्छा।

कर्म—जिससे आत्माको आवरण हो या वैसी क्रिया।

कर्मादानी धंधा—पन्द्रह प्रकारके कर्मादानी व्यापार। श्रावक (सद्गृहस्थ) को न करने कराने योग्य कार्य, कर्मोंके आनेका मार्ग।

कर्मप्रकृति—कर्मोंके भेद।

कर्मभूमि—जहाँ मनुष्य व्यापारादिके द्वारा आजीविका चलाते हैं; मोक्षके योग्य क्षेत्र।

कलुष—पाप; मल।

कल्पकाल—बीस कोडाकोडी सागरका काल, जिसमें एक अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणीका काल होता है।

कल्पना—जिससे किसी कार्यकी सिद्धि न हो ऐसे विचार; मनकी तरंग।

कल्याण—मंगल; सत्पुरुषकी आज्ञानुसार चलना।

कषाय—जो सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र तथा यथाख्यात-चारित्ररूप परिणामोंका घात करे अर्थात् न होने दे। (गो० जीवकांड) जो आत्माको कषे अर्थात् दुःख दे उसे कषाय कहते हैं। कषायके चार भेद हैं:— अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। जिन परिणामोंसे संसारकी वृद्धि हो वह कषाय है। (उपदेशछाया)

कषायाध्यवसायस्थान—कषायके अंश, कि जो कर्मोंकी स्थितिमें कारण हैं।

काकतालीयन्याय—कौएका ताड पर बैठना और अचानक ताड़फलका गिर जाना इसी प्रकार संयोगवश किसी कार्यका अचानक सिद्ध हो जाना।

कामना—इच्छा; अभिलाषा।

कामिनी—स्त्री।

कायोत्सर्ग—शरीरका ममत्व छोड़कर आत्माके सन्मुख होना, आत्मध्यान करना। छह आवश्यकोंमेंसे एक आवश्यक।

कार्मणशरीर—ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप शरीर।

कार्मणवर्गणा—अनंत परमाणुओंका स्कन्ध, जो कार्मण शरीररूप परिणमता है। (जैनसिद्धान्तप्रवेशिका) "मन वचन काया ने, कर्मनी वर्गणा" (अपूर्व अवसर गा० १७)

कालक्षेप—समय गवाना, समय खोना।

कालधर्म—समयके योग्य धर्म, मौत; मरण।

कालाणु—निश्चय कालद्रव्य।

कुगुरु—मिथ्या वेषधारी आत्मज्ञानरहित ऐसे जो गुरु बन बैठे हैं।

कुपात्र—अयोग्य; किसी विषयका अनधिकारी; व जिसे दान देना शास्त्रमें निषिद्ध है।

कूर्म—कछुआ।

कूटस्थ—अटल; अचल।

कृत्रिम—नकली; बनावटी; बनाया हुआ।

केवलज्ञान—मात्र ज्ञान; केवल स्वभाव परिणामी ज्ञान (संस्मरण-पोथी तथा देखें आत्मसिद्धि-दोहा ११३)

कैवल्य कमला—केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी।

कौतुक—आश्चर्य; कुतूहल।

कांक्षा—इच्छा; आकांक्षा।

कांक्षामोहनीय—तप आदि करके परलोकके सुखकी अभिलाषा करना। कर्म तथा कर्मके फलमें तन्मय होना या अन्य धर्मोंकी इच्छा करना (पंचाध्यायी)

कंचन—स्वर्ण; सोना।

क्रम—अनुक्रम; एकके बाद एक आये ऐसी सकलना।

क्रियाजड—जो मात्र बाह्यक्रियामें ही अनुरक्त हो रहे है, जिनका अन्तर कुछ भिदा नही है और जो ज्ञानमार्गका निषेध किया करते है। (आत्मसिद्धि, दोहा ४)

क्रीडा-विलास—भोगविलास।

क्षण—समय या कालका छोटा भाग।

क्षपक—कर्मक्षय करनेवाला साधु; जैन तपस्वी।

क्षपकश्रेणी—जिसमे चारित्रमोहनीयकर्मकी २१ प्रकृतियोका क्षय किया जाय ऐसी क्षण-क्षणमे बढ़ती हुई दशा।

क्षमा—चित्तकी एक प्रकारकी वृत्ति जिससे मनुष्य दूसरे द्वारा पहुँचाया हुआ कष्ट सह लेता है और उसके प्रतिकार या दंडकी अभिलाषा नही करता। क्रोध न करना। माफी देना।

क्षमापना—भूलकी माफी माँगना।

क्षायिकचारित्र—मोहनीयकर्मके क्षयसे जो चारित्र (आत्मस्थिरता) उत्पन्न हो।

क्षायिकभाव—कर्मके नाशसे जो भाव उत्पन्न हो जैसे कि केवलदर्शन, केवलज्ञान।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके अभावमे जो आत्मप्रतीति, अनुभव उत्पन्न हो।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—जो दर्शन मोहनीयकर्मके क्षय और उपशमसे हो ऐसी आत्मश्रद्धा।

क्षीणकषाय—(क्षीणमोह) बारहवाँ गुणस्थान, जो मोहनीयकर्मके सर्वथा क्षय होनेसे यथाख्यातचारित्रके धारक मुनिको होता है।

ख

खल—दुष्ट।

खंती दंती प्रव्रज्या—जिस दीक्षामें क्षमा तथा इन्द्रिय-निग्रह है।

ग

गच्छ—समुदाय; गण; संघ; साधुसमुदाय; एक आचार्यका परिवार।

गजसुकुमार—श्रीकृष्ण वासुदेवके छोटे भाई। देखें 'मोक्षमाला' शिक्षापाठ ४३।

गणधर—तीर्थंकरके मुख्य शिष्य। आचार्यकी आज्ञानुसार साधुसमुदायको लेकर पृथ्वीमंडलपर विचरनेवाले समर्थ साधु।

गणितानुयोग—जिन शास्त्रोंमे लोकका माप तथा स्वर्ग, नरक आदिकी लबाई आदिका एवं कर्मके बध आदिका वर्णन हो। (व्याख्यानसार १-१७३)

गतभव—पूर्वभव, पूर्वजन्म।

गतशोक—शोकरहित।

गति आगति—गमनागमन; जाना आना।

गुमान—अहकार, अभिमान।

गुणनिष्पन्न—जिसे गुण प्राप्त हुए है।

गुणस्थान—मोह और योगके निमित्तसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्माके गुणोकी तारतम्यरूप अवस्थाविशेषको गुणस्थान कहते हैं। (गोम्मटसार), गुणोकी प्रगटता वह गुणस्थान।

गुरुता—बडप्पन, महत्त्व; गुरुपन।

गोकुलचरित्र—श्रीमनसुखराम सूर्यरामका लिखा हुआ श्री गोकुलजी झालाका जीवनचरित्र।

गौतम—भगवान महावीरके प्रधान शिष्य, गणधर। इनका दूसरा नाम इन्द्रभूति था।

ग्रंथ—पुस्तक; शास्त्र; बाह्य, अभ्यंतर परिग्रह, गाँठ। (आत्मसिद्धि, दोहा १००)

ग्रंथि—रागद्वेषकी निबिड गाँठ। मिथ्यात्वकी गाँठ।

ग्रंथि-भेद—जड़ और चेतनका भेद करना। मिथ्यात्वकी गाँठका टूटना।

गृहस्थी—श्रावक; गृहवासी; घरमे रहनेवाला।

ग्यारहवाँ गुणस्थान—उपशान्तमोह।

घ

घटपरिचय—हृदयकी पहिचान।

घटाटोप—बादलोंके समान चारो ओरसे घेर लेनेवाला दल या समूह। चारो ओरसे आच्छादित झुंड।

घनघातीकर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अतराय, ये चार कर्म। आत्माके मूल गुणोंको आवरण करनेवाले होनेसे इन्हे घनघातीकर्म कहते हैं।

घनरज्जु—जिसकी लबाई, चौडाई और मोटाई समान हो, उस प्रकार रज्जुका परिमाण करना वह।

मध्यलोक पूर्वसे पश्चिम एक रज्जुप्रमाण है, उतना ही लम्बा, चौड़ा और ऊँचा लोकका विभाग ।

घनवात—घनोदधि अथवा विमान आदिको आधारभूत एक प्रकारकी कठिन वायु ।

घनवातवलय—वलयाकारसे रही हुई घनवायु ।

च

चक्ररत्न— चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक ।

चक्रवर्ती—सम्राट; भरत आदि क्षेत्रके छह खंडोंका अधिपति ।

चक्षुर्दर्शन—आँखसे दीखनेवाली वस्तुका प्रथम जो सामान्य बोध हो ।

चक्षुर्दर्शनावरण—दर्शनावरणीय कर्मकी एक ऐसी प्रकृति कि जिसके उदयमें जीवको चक्षुदर्शन (आँखसे होनेवाला सामान्य बोध) न हो ।

चतुर्गति—चार गति । देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति तथा नरकगति ।

चतुष्पाद—पशु, चार पैरोंवाला प्राणी ।

चयविचय—जाना आना ।

चयोपचय—जाना आना, परन्तु प्रसंगवशात् आना जाना, गमनागमन । आदमीके आने जानेमें यह लागू नहीं होता, श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्मक्रियामें लागू होता है ।

चरणानुयोग—जिन शास्त्रोंमें मुनि तथा श्रावकके आचारका कथन हो । (व्याख्यानसार १-१७३)

चरमशरीर—अंतिम शरीर, कि जिस शरीरसे उसी भवमें मोक्षप्राप्ति हो ।

चर्मरत्न—चक्रवर्तीका एक रत्न, कि जिसे पानीमें बिछानेसे जमीनकी भाँति उस पर गमन किया जाता है, घरकी तरह उस पर रहा जा सकता है ।

चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यस्त ।

चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ।

चार वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।

चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।

चारित्र—अशुभ कार्योंका त्याग करके शुभमें प्रवृत्त करना वह व्यवहार चारित्र है, आत्मस्वरूपमें रमणता और उसीमें स्थिरता यह निश्चयचारित्र है ।

चार्वाक—नास्तिक मत; जो जीव, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग, मोक्ष नहीं हैं ऐसा मानते हैं; दिखाई दे उतना ही माननेवाले ।

चित्—ज्ञानस्वरूप आत्मा ।

चूर्णि—महात्माकृत भिन्न-भिन्न पदकी व्याख्या (सर्व विद्वानोंके मदको चूरे वह चूर्णि ।)

चूवा—सुगंधित पदार्थ, एक प्रकारका चंदन ।

चैतन्य—ज्ञानदर्शनमय जीव ।

चैतन्यघन—ज्ञानादि गुणोंसे भरपूर ।

चौठाणिया रस—चतुर्थस्थानरूप रस । पुण्य पापरूप प्रकृतियोंमें तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अति तीव्रतमरूप रस; पापमें कटु, कटुतर, कटुतम और अत्यंत कटुतम तथा पुण्यमें मधुर, मधुरतर, मधुरतम और अत्यंत मधुरतम; इस प्रकार चार रसोंमें चतुर्थस्थानरूप रस । नीम और इक्षुरसके दृष्टांतसे । (देखें शतकनामा पंचम कर्मग्रन्थ गाथा ६३ प्रकरणरत्नाकरके भाग ४ में पृ० ६५२) प्रस्तुत ग्रन्थके पृ० ७९९ पर व्याख्यानसार २-३० में 'पुण्यका चौठाणिया रस नहीं है' अर्थात् चतुर्थस्थानरूप श्रेष्ठ पुण्य (अत्यन्त तीव्रतम-एकान्त साता) का उदय नहीं है ।

चौदह पूर्व—उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वीर्यानुवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणवादपूर्व क्रियाविशालपूर्व, त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व, ये चौदह पूर्व कहे जाते हैं । (गोम्मटसार जीवकांड)

चौदहपूर्वधारी—चौदह पूर्वके ज्ञाता । श्रुतकेवली । श्रीभद्रबाहुस्वामी चौदह पूर्वके ज्ञाता थे ।

चौभंगी—चार भंगरूप कथन ।

चौविहार—रात्रिमें चार प्रकारके आहारका त्याग ।
(१) खाद्य—जिससे पेट भरे, जैसे—रोटी आदि,
(२) स्वाद्य—स्वाद लेनेयोग्य जैसे कि इलायची,
(३) लेह्य—चाटने योग्य पदार्थ, जैसे—रबड़ी,
(४) पेय—पीने योग्य, जैसे पानी, दूध इत्यादि ।

चौबीसदंडक—१ नरक, १० असुरकुमार, १ पृथ्वीकाय, १ जलकाय, १ अग्निकाय, १ वायुकाय, १ वनस्पतिकाय, १ तिर्यंच, १ द्वीन्द्रिय, १ तेइन्द्रिय, १ चतुरिन्द्रिय, १ मनुष्य, १ व्यंतर, १ ज्योतिषीदेव, और १ वैमानिकदेव, इस प्रकार २४ दंडक हैं ।

च्यवन—एक देहको छोड़कर अन्य देहमें जाना ।

छ

छट्ठ छट्ठ—दो उपवास करके पारणा करे, और फिर दो उपवास करे, इस प्रकारके क्रमसे चलना ।

छद्मस्थ—आवरणसहित जीव, जिसे केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है ।

छह काय—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय ।

छह खंड—इस भरतक्षेत्रके छह खंड है, जिनमें १ आर्यखंड और ५ म्लेच्छखंड है ।

छह पर्याप्ति—आहार, शरीर, इंद्रिय, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन । (विशेष स्पष्टीकरणके लिये देखें गोम्मटसार जीवकांड)

छंद—अभिप्राय; इच्छा, मनमाना आचरण ।

ज

जघन्यकर्मस्थिति—कर्मकी कमसे कम स्थिति ।

जड़ता—अज्ञानता, मूर्खता, जडपन ।

जंजालमोहिनी—संसारकी उपाधि ।

जातिवृद्धता—जातिकी अपेक्षासे श्रेष्ठता , उत्तमता ।

जिज्ञासा—तत्त्वको जाननेकी इच्छा । "कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष भवे खेद अन्तरदया ते कहिये जिज्ञास" (आत्मसिद्धि दोहा १०८)

जिन—रागद्वेषको जीतनेवाले ।

जिनकल्प—उत्कृष्ट आचार पालनेवाले साधु जिनकल्पीकी व्यवहारविधि, एकाकी विचरनेवाले साधुओंके लिये निश्चित किया हुआ जिनमार्ग या नियम । (पृष्ठ ७९५ व्याख्यानसार)

जिनकल्पी—उत्तम आचार पालनेवाला साधु ।

जिनधर्म—जिनभगवानका कहा हुआ धर्म । वीतरागद्वारा उपदिष्ट मोक्षका मार्ग ।

जिनमुद्रा—वीतरागताकी आकृति । जिनमुद्रा दो प्रकारकी हैं—कायोत्सर्ग और पद्मासन । (देखें पृष्ठ ७८४ व्याख्यानसार)

जिनेन्द्र—तीर्थंकर भगवान ।

जीव—आत्मा; जीवपदार्थ ।

जीवराशि—जीवोंका समुदाय ।

जीवास्तिकाय—ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मा । वह आत्मा असंख्यातप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहा जाता है ।

ज्ञानानल—ध्यानरूपी अग्नि ।

ज्ञात—विदित; अवगत, जाना हुआ ।

ज्ञातपुत्र—भ० महावीर; ज्ञात नामक क्षत्रिय वंशके ।

ज्ञाता—जाननेवाला, आत्मा, प्रथमानुयोगके सूत्रका नाम ।

ज्ञान—जिसके द्वारा पदार्थ जाने जायें । आत्माका गुण । ज्ञान आत्माका धर्म है ।

ज्ञानधारा—ज्ञानका प्रवाह ।

ज्ञानवृद्ध—जो ज्ञानमें विशेष है ।

ज्ञानाक्षेपकवंत—सम्यग्दृष्टि आत्मा, ज्ञानप्रिय; विक्षेपरहित विचार-ज्ञानवाला । देखें आंक ३९५.

ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ ।

त

तत्त्व—रहस्य, सार, सत्पदार्थ; वस्तु; परमार्थ, यथावस्थित वस्तु ।

तत्त्वज्ञान—तत्त्वसम्बन्धी ज्ञान ।

तत्त्वनिष्ठा—तत्त्वोंकी श्रद्धा ।

तत्पर—तैयार; उद्यत, सज्ज; एकध्यानरूप ।

तदाकार—उसीके आकारका; तन्मय; लीन ।

तद्रूप—किसी भी पदार्थमें लीनता ।

तनय—पुत्र ।

तप—इन्द्रियदमन; तपस्या; इच्छाका निरोध; तपके अनशन आदि बारह भेद है ।

तम—अंधकार ।

तमतमप्रभा—सातवाँ नरक ।

तमतमा—गाढ़ अन्धकार वाला सातवाँ नरक ।

तस्कर—चोर ।

तंतहारक—वादविवादको नाश करनेवाले ।

तादात्म्य—एकता, लीनता ।

तारतम्य—न्यूनाधिकता, एक दूसरेकी तुलनामें कमीबेशीका विचार ।

तिरोभाव—छिपाव; ढँकाव ।

तिर्यक्प्रचय—पदार्थके प्रदेशोंका सचय; बहुप्रदेशीपन ।

तीर्थ—धर्म; तिरनेका स्थान; शासन, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप संघसमुदाय, गंगा, जमुना आदि लौकिक तीर्थ हैं ।

तीर्थंकर—धर्मके उपदेष्टा; जिनके चार घनघातीकर्म नष्ट हुए हैं, तथा तीर्थंकर नामकर्मकी प्रकृतिका जिन्हें उदय है । धर्म तीर्थके स्थापक ।

तीन मनोरथ—(१) आरंभ-परिग्रहका त्याग (२) पाँच महाव्रतोंका धारण, (३) मरणकालमें आलोचनापूर्वक समाधिमरणकी प्राप्ति।

तीन समकित—(१) उपशम समकित, (२) क्षायोपशमिक समकित, (३) क्षायिक समकित, अथवा (१) आप्तपुरुषके वचनकी प्रतीतिरूप, आज्ञाकी अपूर्व रुचिरूप, स्वच्छंदनिरोधपूर्वक आप्तपुरुषकी भक्तिरूप, यह समकितका पहला प्रकार है। (२) परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशरूप प्रतीति यह समकितका दूसरा प्रकार है। (३) निर्विकल्प परमार्थ अनुभव यह समकितका तीसरा प्रकार है। (आंक ७५१)

तीव्रज्ञानदशा—सर्व विभावसे उदासीन और अत्यंत शुद्ध निजपर्यायका सहजरूपसे आश्रय। आंक ५७२

तीव्रमुमुक्षुता—प्रतिक्षण संसारसे छूटनेकी भावना; अनन्य प्रेमसे मोक्षके मार्गमें प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना। (देखें आंक २५४)

तुच्छसंसारी—अल्पसंसारी।

तुष्टमान—प्रसन्न; राजी, खुश।

त्रस—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको त्रस कहते हैं।

त्रिदंड—मनदंड, वचनदंड, कायदंड।

त्रिपद—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य; या ज्ञान, दर्शन, चारित्र।

त्रिराशि—मुक्तजीव, त्रसजीव और स्थावरजीव; या जीव, अजीव और दोनोंके संयोगरूप अवस्था।

त्रेसठशलाकापुरुष—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, ९ बलभद्र, इस प्रकार ६३ उत्तम पुरुष माने गये हैं।

द

दम—इन्द्रियोंको वश करना।

दश अपवाद—इन दश अपवादोंको आश्चर्य भी कहते हैं। (१) तीर्थंकर पर उपसर्ग, (२) तीर्थंकरका गर्भहरण, (३) स्त्री-तीर्थंकर, (४) अभावित परिषद्, (५) कृष्णका अपरकंका नगरीमें जाना, (६) चंद्र तथा सूर्यका विमानसहित म० महावीरकी परिषद्में आना, (७) हरिवर्षके मनुष्यसे हरिवंशकी उत्पत्ति, (८) चमरोत्पात, (९) एक समयमें १०८ सिद्ध, (१०) असंयतिपूजा; ये दश अपवाद हैं। (ठाणांगसूत्र)

दश बोल विच्छेद—श्री जम्बूस्वामीके निर्वाणके बाद इन दश वस्तुओंका विच्छेद हुआ—(१) मन पर्यवज्ञान, (२) परमावधिज्ञान, (३) पुलाकलब्धि, (४) आहारक शरीर, (५) क्षपकश्रेणी, (६) उपशमश्रेणी, (७) जिनकल्प, (८) तीन संयम—परिहारविशुद्धि संयम, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात-चारित्र, (९) केवलज्ञान, (१०) मोक्षगमन (प्रवचनसारोद्धार)।

दशविध यतिधर्म—उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप धर्म।

दशविध वैयावृत्य—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी आदि दस प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना यह दस प्रकारका वैयावृत्य तप है। (देखें मोक्षशास्त्र अ० ९, सूत्र २४)

दर्शन—जगतके किसी भी पदार्थका रसगंधादि भेदरहित निराकार प्रतिबिम्बित होना, उसका अस्तित्व ज्ञात होना, निर्विकल्परूपसे 'कुछ है' ऐसा दर्पणकी झलककी भाँति पदार्थका भास होना, यह दर्शन है, विकल्प होनेपर 'ज्ञान' होता है।

दर्शनपरिषह—परमार्थ प्राप्त होनेके विषयमें किसी भी प्रकारकी आकुलता-व्याकुलता। (आंक ३३०)

दर्शनमोहनीय—जिसके उदयसे जीवको निजस्वरूपका भान न हो, तत्त्वरुचि न हो।

दीर्घशंका—शौचादि क्रिया।

दुरंत—जिसका पार पाना कठिन है, तथा जिसका परिणाम खराब है।

दुरिच्छा—खोटी इच्छा।

दुर्धर—कठिनतासे धारण करनेयोग्य; प्रबल; प्रचंड।

दुर्लभ—कठिनतासे प्राप्त होने योग्य।

दुर्लभबोधि—सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्तिकी दुर्लभता।

दुषमकाल (कलियुग)—पंचमकाल। वर्तमानमें पंचमकाल चल रहा है, अन्य दर्शनकारोंने इसे ही कलियुग कहा है। जिनागममें इस कालको 'दुषम' संज्ञा कही है। (आंक ४२२)

दृष्टिराग—धर्मका ध्येय भूलकर व्यक्तिगत राग करना।

देखतभूली—दर्शनमोह; देहाध्यास; पदार्थको देखते ही उस पर रागादि भाव करना। (आंक ६४१)

देह-अवगाहना—देह जितने क्षेत्रको घेरे; देहप्रमाण क्षेत्र।

दोगुंदकदेव—अत्यधिक क्रीडा करनेवाले देव; तीव्र विषयाभिलाषी देव।

दोरंगी—दो रंगवाला, चंचल।

द्रव्य—गुण-पर्यायके समूहको द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणादिरूप कर्मपरमाणुओंको द्रव्यकर्म कहते हैं। वे मुख्यरूपसे आठ हैं।

द्रव्यमोक्ष—आठ कर्मोंसे सर्वथा छूट जाना।

द्रव्यलिंग—सम्यग्दर्शनरहित मात्र बाह्य साधुवेश।

द्रव्यानुयोग—जिन शास्त्रोंमें मुख्यरूपसे जीवादि छह द्रव्य और सात तत्त्वोंका कथन हो। (देखें व्याख्यानसार १-१७३)

द्रव्यार्थिकनय—जो वचन वस्तुकी मूलस्थितिको कहे; शुद्ध स्वरूपको कहनेवाला; द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय।

ध

धर्म—जो प्राणियोंको संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम आत्मसुख दे। (रत्नकरण्डश्रावकाचार)

धर्मकथानुयोग—जिन शास्त्रोंमें तीर्थंकरादि महापुरुषोंके जीवनचरित्र हो। (व्याख्यानसार १-१७३)

धर्मद—धर्म देनेवाला।

धर्मध्यान—धर्ममें चित्तकी लीनता। यह धर्मध्यान चार प्रकारसे है: आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। (विशेषके लिये देखें मोक्षमाला पाठ ७४, ७५, ७६)

धर्मास्तिकाय—एक द्रव्य, जो गतिपरिणत जीव तथा पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायभूत हो, जैसे पानी मछलियोंको चलनेमें सहायक है। (द्रव्यसंग्रह)

ध्रुवेइ वा—(ध्रौव्य) वस्तुमें किसी प्रकारसे परिणमन होते हुए भी वस्तुका कायम रहना। (मोक्षमाला)

न

नपुंसकवेद—जिस कषायके उदयसे स्त्री तथा पुरुष दोनोंमें रमण करनेकी इच्छा हो।

नमस्कारमंत्र—नवकार मंत्र।

नय—वस्तुके एक देश (अंश) को ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। जैन शास्त्रोंमें मुख्यरूपसे दो नयोंका वर्णन है: द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। इन नयोंमें सब नयोंका समावेश हो जाता है।

नरकगति—जिस गतिमें जीवोंको अत्यंत दुःख है। नरक सात हैं: रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा (तमस्तमप्रभा)। (देखें—तत्त्वार्थसूत्र)

नरगति—मनुष्यगति।

नव अनुदिश—दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें ऊर्ध्वलोकमें नव ग्रैवेयकके ऊपर नौ विमान और माने हैं जिन्हें नव अनुदिश कहते हैं। इनमें सम्यग्दृष्टि जीव ही जन्म लेते हैं, तथा वहाँसे निकलकर जीव उत्कृष्ट दो भव धारण करके मोक्ष जाते हैं।

नवकारमंत्र—जैनोंका अत्यंत मान्य महामंत्र—"नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं।" (मोक्षमाला शिक्षापाठ ३५)

नवकेवललब्धि—चार घनघाती कर्मोंके क्षय होनेसे केवली भगवानको नौ विशेष गुण प्रगट होते हैं:—अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, अनंतउपभोग, अनंतवीर्य। (देखें सर्वार्थसिद्धि अ० २)

नवग्रैवेयक—स्वर्गोंके ऊपर नवग्रैवेयकोंकी रचना है, वहाँ सभी अहमिन्द्र होते हैं। उन विमानोंके नाम इस प्रकार हैं:—सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध, यशोधर, सुभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस, प्रीतिंकर। (त्रिलोकसार)

नवतत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। (मोक्षमाला पाठ ९३)

नवनिधि—चक्रवर्ती नवनिधिके स्वामी होते हैं। उन नवनिधियोंके नाम इस प्रकार हैं:—कालनिधि, महाकालनिधि, पांडुनिधि, माणवकनिधि, शंखनिधि, नैसर्पनिधि, पद्मनिधि, पिंगलनिधि और रत्ननिधि।

नव नोकषाय—अल्प कषायको नोकषाय कहते हैं। उसके नौ भेद इस प्रकार हैं:—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

नवपद—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तप।

नाभिनंदन—नाभिराजाके पुत्र, भगवान ऋषभदेव।

नारायण—परमात्मा; श्रीकृष्ण।

नास्ति—अभाव।

नास्तिक—आत्मा आदि पदार्थोंको नहीं माननेवाला ।

निकाचित कर्म—जिन कर्मोंमें संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि द्वारा परिवर्तन न हो, किन्तु निश्चित समयपर ही उदयमें आकर फल दें ।

निगोद—एक शरीरमें अनंत जीव हों ऐसी अनंतकाय ।

निज छंद—अपनी इच्छानुसार चलना ।

निदान—धर्मकार्यके फलमें आगामी भवमें सांसारिक सुखकी अभिलाषा करना, कारण ।

निदिध्यासन—अखंड चिन्तन ।

निबंधन—बंधन; बाँधा हुआ ।

नियति—नियम; भाग्य; होनी, जो अवश्य होकर रहे ।

निरंजन—कर्म-कालिमारहित ।

निरुपक्रम आयुष्य—जो आयु बीचमें टूटे नहीं; निकाचित आयु ।

निर्ग्रन्थ—साधु, जिसकी मोहकी गाँठ टूटी है ।

निर्ग्रन्थिनी—साध्वी ।

निर्जरा—आत्मासे कर्मोंका आंशिकरूपमें क्षय होना ।

निर्युक्ति—शब्दके साथ अर्थको जोड़नेवाली, टीका ।

निर्वाण—आत्माकी शुद्ध अवस्था, मोक्ष ।

निर्विकल्प—निराकार दर्शनोपयोग, उपयोगकी स्थिरता; विकल्पोंका अभाव ।

निर्विचिकित्सा—सम्यग्दर्शनका तीसरा अंग, महात्माओंके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि न करना ।

निर्वेद—संसारसे वैराग्य होना ।

निर्वेदनी कथा—जिस कथामें वैराग्यरसकी प्रधानता हो

निश्चयनय—शुद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला ज्ञान ।

निहार—मल-त्याग, शौचक्रिया ।

निःश्रेयस—मोक्ष, दुःखका अभाव ।

नेकी—भलाई, उपकार, ईमानदारी ।

नेपथ्य—पर्देके पीछेका स्थान; अंतर ।

नैष्ठिक—निष्ठावान, श्रद्धावान; दृढ़ ।

नौतम—नवीन (नवतम)

प

पतंग—एक प्रकारका वृक्ष, जिसकी लकड़ीमेंसे लाल कच्चा रंग निकलता है; कागजकी पतंग ।

पतित—पापी; अधोदशावाला ।

पदस्थ—ध्यानका एक भेद, जिसमें अरिहंतादि परमेष्ठियोंका चिन्तन किया जाता है ।

पद्मवन—कमलवन ।

पद्मासन—एक प्रकारका आसन ।

परधर्म—अन्य मत । पुद्गलादि द्रव्योंका धर्म आत्माके लिये परधर्म है ।

परभाव—परद्रव्यका भाव ।

परमधाम—उत्तम स्थान, अतिशय तेज ।

परमपद—मोक्ष; शुद्ध आत्मस्वभाव ।

परम सत्—आत्मा, परमज्ञान; सर्वात्मा । आंक २०९

परम सत्संग—अपनेसे ऊँची दशावाले महात्माओंका समागम ।

परमाणु—पुद्गलका छोटेसे छोटा भाग ।

परमार्थ सम्यक्त्व—जिस पदार्थको तीर्थंकरने 'आत्मा' कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो । (आंक ४३१)

परमार्थ संयम—निश्चयसंयम, स्वस्वरूपमें स्थिति । (आंक ६६४)

परमावगाढ सम्यक्त्व—केवलज्ञानीका सम्यक्त्व परमावगाढ सम्यक्त्व है ।

परसमय—अन्य दर्शन, समय अर्थात् आत्मा, उसे भूलकर दूसरे पदार्थोंमें वृत्तिका जाना या लीन होना ।

पराभक्ति—उत्तम भक्ति, ज्ञानीपुरुषके सर्व चरित्रमें ऐक्यभावका लक्ष होनेसे उसके हृदयमें विराजमान परमात्माका ऐक्यभाव । (आंक २२३)

परिग्रह—वस्तुपर ममता, मूर्च्छाभाव ।

परिवर्तन—घुमाव, फेरा, हेरफेर, रूपान्तर ।

पर्यटन—परिभ्रमण ।

पर्याय—पदार्थकी बदलती हुई अवस्था । प्रत्येक वस्तु पर्यायवाली है, उसमें परिणमन होता ही रहता है ।

पर्यायवृद्धता—उमरमें बड़ाई; दीक्षामें बड़ा ।

पर्यायालोचन—एक वस्तुको दूसरी तरहसे विचारना ।

पर्युषण—जैनोंका एक महान पर्व ।

पल—२४ सैकंड प्रमाण समय; ६० विपल ।

पंथ—सम्प्रदाय, मत, मार्ग ।

पंद्रह भेदसे सिद्ध—तीर्थ, अतीर्थ, तीर्थंकर, अतीर्थंकर, स्वयंबुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, बुद्धबोधित, स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग, नपुंसकलिंग, अन्यलिंग, जैनलिंग, गृहस्थलिंग, एक, अनेक । (व्याख्यानसार २-५)

पादप—वृक्ष ।

पादाम्बुज—चरणकमल ।

पापी जल—अयोग्य जल, जिस पानीको पीनेसे पाप हो ।

पार्थिवपाक—सत्तासे उत्पन्न ।

पार्श्वनाथ—तेईसवें तीर्थंकर ।

पिशुन—चुगलखोर, इधरकी उधर लगानेवाला ।

पुण्यानुबंधी पुण्य—जो पुण्योदय आगे-आगे पुण्यका कारण होता जाय ।

पुद्गल—वह अचेतन पदार्थ, जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श हो ।

पुरंदर—इन्द्र ।

पुरंदरी चाप—इन्द्रधनुष ।

पुराणपुरुष—परमात्मा, सनातन पुरुष । आत्मा ही सनातन है ।

पुरुषवेद—जिस कषायके उदयसे जीवको स्त्रीसंभोगकी इच्छा हो ।

पुलाकलब्धि—जिस लब्धिके बलसे जीव चक्रवर्तीके सैन्यका भी नाश कर सके ।

पूर्णकामता—कृतकृत्यता ।

पूर्व पश्चात्—आगे-पीछे ।

पूर्वानुपूर्व—पूर्व-क्रमानुसार पहले प्राप्त हुई वस्तु ।

पूर्वापर अविरोध—आगे-पीछे जिसमें विरोध न हो ।

प्रकृतिबंध—मोहादिजनक तथा ज्ञानादि घातक स्वभाववाले कार्मण पुद्गलस्कंधोंका आत्मासे संबंध होनेको प्रकृतिबंध कहते है । (जैनसिद्धांत प्रवेशिका)

प्रज्ञा—बुद्धि ।

प्रज्ञापना—प्ररूपणा, निरूपण ।

प्रज्ञापनीयता—जतानेयोग्य वर्णन ।

प्रतिक्रमण—हुए दोषोंका पश्चात्तापकर पीछे हटना ।

प्रतिपल—प्रतिक्षण, हर समय ।

प्रतिबंध—परवस्तुओंमें मोह, रुकावट, विघ्न, बाधा ।

प्रतिश्रोती—स्वीकारनेवाला ।

प्रत्याख्यान—वस्तुका त्याग करना । (विशेष देखें मोक्षमाला शिक्षापाठ ३१)

प्रत्येकबुद्ध—किसी वस्तुका निमित्त पाकर जिसे बोध हुआ हो, जैसे—करकंडु आदि पुरुष ।

प्रत्येकशरीर—हरेक जीवका अलग-अलग शरीर ।

प्रभुत्व—स्वामीपन, बड़ाई, महत्त्व ।

प्रदेश—आकाशके जितने भागको एक अविभागी पुद्गलपरमाणु रोकता है उसमें अनेक परमाणुओंको स्थान देनेका सामर्थ्य होता है ।

प्रदेशबंध—बँधनेवाले कर्मोंकी संख्याके निर्णयको प्रदेशबंध कहते हैं, अर्थात् आत्माके साथ कितने कर्मपरमाणु बँधे हैं इसका निर्णय ।

प्रदेशसंहारविसर्प—शरीरके कारण आत्माके प्रदेशोंका संकुचित होना और फैलना ।

प्रदेशोदय—कर्मोंका प्रदेशोंमें उदय होना, रस दिये बिना ही खिर जाना ।

प्रमाण—सम्यग्ज्ञान, वस्तुको सम्पूर्णरूपसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान ।

प्रमाणाबाधित—प्रमाणसे विचारते हुए जिसमें विरोध न आये ।

प्रमाद—धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य और कषाय ये सब प्रमादके लक्षण हैं । (मोक्षमाला-५०)

प्रमोद—अंशमात्र भी किसीका गुण देखकर उल्लासपूर्वक रोमांचित होना । (आंक ६२)

ब

बारह अंग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृतदशांग, अनुत्तरौपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ।

बारह गुण—अरिहंत भगवानके बारह गुण हैं — (१) वचनातिशय, (२) ज्ञानातिशय, (३) अपायापगमातिशय, (४) पूजातिशय, (५) अशोकवृक्ष, (६) कुसुमवृष्टि, (७) दिव्यध्वनि, (८) चामर, (९) आसन, (१०) भामंडल, (११) भेरी, (१२) छत्र । इनमें चार अतिशय और आठ प्रातिहार्य कहे जाते हैं ।

बारह तप—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ।

बारह व्रत—श्रावकके बारह व्रत हैं :—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ये पाँच अणुव्रत कहे जाते हैं । दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत हैं । सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, ये चार शिक्षाव्रत हैं ।

बालजीव—अज्ञानी आत्मा ।

बाह्यपरिग्रह—बाहरके वे पदार्थ जिनमें जीव मोह करता है, इसके दस भेद है —क्षेत्र, घर, चाँदी, सोना, धन (गाय भैस आदि पशु), धान्य, दासी, दास, कपडे और बर्तन ।

बाह्यभाव—लौकिकभाव, ससारभाव ।

बीजज्ञान—सम्यग्दर्शन ।

बीजरुचि सम्यक्त्व—परमार्थसम्यक्त्ववान पुरुषमें निष्काम श्रद्धा । (आक ४३१)

बोधबीज—सम्यग्दर्शन ।

ब्रह्मचर्य—आत्मामें रमणता, स्त्रीमात्रका त्याग ।

ब्रह्मरस—आत्म-अनुभव ।

ब्रह्मविद्या—आत्मज्ञान ।

ब्रह्मांड—सम्पूर्ण विश्व ।

ब्राह्मीवेदना—आत्मासम्बधी वेदना; आतरिक पीडा ।

भ

भक्ति—वीतरागी पुरुषोंके गुणोंमें लीनता । उनके गुण गाना, स्तुति करना आदि क्रिया रूप भक्ति है ।

भद्रभरण—सज्जन पुरुषोंको पोषण देनेवाले ।

भद्रिकता—सरलता, उत्तमता ।

भय—एक मनोविकार जो आपत्ति या अनिष्टकी आशंकासे मनमें उत्पन्न होता है, डर ।

भयभंजन—भयको टालनेवाले ।

भयसंज्ञा—जिस प्रकृतिसे जीवको भय लगा करता है ।

भरत—भगवान ऋषभदेवके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती ।

भर्तृहरि—एक महान योगी हो गये हैं ।

भवनपति—एक प्रकारके देव । भवनोंमें रहते हैं इसलिये भवनवासी भी कहे जाते है ।

भवभ्रमण—ससारमे परिभ्रमण ।

भवस्थिति—ससारमे रहनेकी मर्यादा ।

भवितव्यता—प्रारब्ध, भाग्य, होनहार ।

भव्य—मोक्ष पानेकी योग्यतावाला ।

भामिनी—स्त्री ।

भाव—परिणाम, गुण, पदार्थ, अभिप्राय ।

भाव आस्रव—आत्माके जिन भावोंसे कर्मोंका आगमन हो ऐसे रागद्वेषादि परिणाम ।

भावनय—जो नय भावको ग्रहण करे ।

भावनिद्रा—मिथ्यात्व, रागद्वेषादि परिणाम ।

भावशून्य—भावरहित, बिना भावके ।

भावश्रुत—श्रवणके द्वारा जिस ज्ञानकी उत्पत्ति हो ।

भावसमाधि—आत्माकी स्वस्थता ।

भाष्य—विस्तारवाली टीका, किसी गूढ़ विषयका विस्तृत विवेचन ।

भिन्नभाव—भिन्नता, अलगाव, भेद ।

भेदज्ञान—जड़ चेतनका ज्ञान, स्वपर-विवेक ।

भूरसी दक्षिणा—रिश्वत; निश्चित राशिकी दक्षिणा ।

भ्रांति—मिथ्याज्ञान, असदारोप, भ्रम, संशय ।

म

मतार्थी—"नहि कषाय उपशातता, नहि अतर वैराग्य । सरळपणु न मध्यस्थता ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥" देखें आत्मसिद्धि दोहा ३२ ।

मतिज्ञान—इन्द्रिय तथा मनके निमित्तसे जो ज्ञान हो ।

मध्यमा वाचा—मध्यम वाणी, बहुत जोरसे भी नही और बहुत धीरेसे भी नही ऐसी वाणी ।

मध्यस्थता—उदासीनता, तटस्थता, रागद्वेषरहितता ।

मनन—विचार ।

मनःपर्यायज्ञान—जो द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादासहित दूसरेके मनमें स्थित विकारी भावको स्पष्ट जाने ।

महा आरम्भ—अतिशय आरभ, अर्थात् अत्यत हिंसक व्यापारादि कार्य ।

महाप्रतिमा—अभिग्रहविशेष ।

महामिथ्यात्व—गाढ विपरीतता, अत्यत अज्ञान कि जिसके उदयमें सदुपदेश भी जीवको न रुचे ।

महाविदेह—क्षेत्रविशेष, जहांसे जीव सदैव मोक्षको पा सके ।

महाव्रत—जिन व्रतोंको साधु स्वीकारते हैं ।

मंत्र—गुप्त रहस्यपूर्ण बात, वे अक्षर, शब्द या वाक्य, जिनका इष्टसिद्धिके लिये जाप किया जाता है, देवता अधिष्ठित अक्षरविशेष ।

माया—भ्राति, कपट ।

मायिकसुख—संसारका कल्पित सुख ।

मार्गानुसारी—'आत्मज्ञानी पुरुषकी निष्काम भक्ति निराबाधरूपसे प्राप्त हो ऐसे गुण जिस जीवमें हों वह जीव मार्गानुसारी है ऐसा श्री जिन कहते हैं ।' (आंक ४३१)

मिताहारी—थोड़ा-परिमित भोजन करनेवाला।

मिथ्यादृष्टि—आत्मभानसे रहित।

मिथ्यावासना—खोटे धर्मको सच्चा मानना, धर्मके नामपर सासारिक इच्छाओका पोषण (आक १९९)

मिश्रगुणस्थान—सम्यक्‌मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जीवके न तो केवल सम्यक्त्व-परिणाम होते है और न केवल मिथ्यात्वरूप परिणाम होते है ऐसी भूमिकाका नाम मिश्रगुणस्थान है।

मुक्तिशिला—सिद्धस्थानके नीचे रही हुई ४५ लाख योजनप्रमाण सिद्धशिला।

मुनि—जिसे अवधि, मन पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान हो।

मुमुक्षु—मोक्षकी इच्छावाला, ससारमे छूटनेकी अभिलाषावाला।

मुमुक्षुता—सर्व प्रकारकी मोहासक्तिसे अकुलाकर एक मोक्षका ही यत्न करना। (आक २५४)

मुंहपत्ती—मुँहके आगे रखनेका कपडेका टुकडा।

मूर्च्छाभाव—परपदार्थके प्रति आसक्ति।

मूढदृष्टि—अज्ञानभाव, सद्‌असद्‌के विवेकरहित मान्यता।

मृषा—असत्य, झूठ।

मेधावी—बुद्धिमान, तीव्र प्रज्ञावंत।

मेषोन्मेष—आँखका खुलना-मिचना।

मैत्री—सर्व जगतमे निर्वैरबुद्धि (आक ५७)

मोक्ष—सर्वकर्मरहित आत्माकी शुद्ध अवस्था। आत्मामे कर्मोका सर्वथा छूट जाना।

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रकी एकता यह मोक्षमार्ग है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।' (तत्त्वार्थसूत्र)

मोक्षसुख—अलौकिक सुख, अनुपमेय अकथ्य आत्मानद। (देखें मोक्षमाला, शिक्षापाठ ७३)

मोह—जो आत्माको पागल बना दे, स्व व परका भान भुला दे, परपदार्थमे एकत्वबुद्धि करा दे।

मोहनीयकर्म—आठ कर्मोमेसे एक कर्म, जिसे कर्मोका राजा कहते हैं। इसके प्रभावसे जीव स्वरूपको भूलता है।

मोहमयी—बंबई।

य

यति—ध्यानमें स्थिर होकर श्रेणी चढ़नेवाला।

यतना—किसी भी जीवकी हिंसा न हो वैसे प्रवृत्ति करना। (देखें मोक्षमाला शिक्षापाठ २७)

यथार्थ—वास्तविक।

यशनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे यश फैले।

याचकता—माँगनेका भाव।

यावज्जीवन—जब तक जीवन रहे, आजीवन।

युगलिया—भोगभूमिके जीव।

योग—मन वचन कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका चचल होना, मोक्षके साथ आत्माका जुडना; मोक्षके कारणोकी प्राप्ति, ध्यान।

योगक्षेम—जो वस्तु न हो उसकी प्राप्ति और जो हो उसका रक्षण, कुशलमगल।

योगदशा—ध्यानदशा।

योगदृष्टिसमुच्चय—योगका एक ग्रथ।

योगबिन्दु—श्रीहरिभद्राचार्यका योगसबधी ग्रथ।

योगवासिष्ठ—वैराग्यपोषक एक ग्रथका नाम।

योगस्फुरित—ध्यानदशासे प्रगटित।

योगानुयोग—योग आ मिलनेसे, सयोगवशात्।

योगीन्द्र—योगियोमे उत्तम।

योनि—उत्पत्तिस्थान।

र

रहनेमि—भगवान नेमिनाथका भाई।

राजसीवृत्ति—रजोगुणवाली वृत्ति, खाना-पीना और मजा करना, पुद्‌गलानदी भाव।

राजेमती—भगवान नेमिनाथकी मुख्य शिष्या।

रुचकप्रदेश—मेरुके मध्यभागमे आठ रुचकप्रदेश माने गये है कि जहाँसे दिशाओका प्रारम्भ होता है। आत्माके भी आठ रुचकप्रदेश है, जिन्हे अबध कहा गया है। (विशेषके लिये देखे आक १३९)

रूपी—जिसमे रूप, रस, गध और स्पर्श हो उसे रूपी पदार्थ कहते हैं।

रौद्र—विकराल, भयानक।

रौद्रध्यान—दुष्ट अभिप्रायवाला ध्यान। इसके चार भेद है :—हिंसानदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी और विषयसंरक्षणानंदी, अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रहमें 'आनंद मानना। यह ध्यान नरकगतिका कारण हैं।

ल

लब्धि—वीर्यान्तराय कर्मके क्षय या क्षयोपशमसे प्राप्त होनेवाली शक्ति, आत्माके चैतन्यगुणकी क्षयोपशम-हेतुक प्रगटता। श्रुतज्ञानके आवरणका क्षयोपशम प्राप्त होना।

लब्धिवाक्य—अक्षर कम होते हुए भी जिस वाक्यमे बहुत अर्थ समाया हुआ है, चमत्कारी वाक्य।

लावण्य—अत्यन्त सुन्दरता।

लिंगदेहजन्यज्ञान—दश इन्द्रिय, पाँच विषय और मनरूप जीवके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न हुआ ज्ञान, अमुक चिह्न या साधनके निमित्तसे उत्पन्न ज्ञान।

लेश्या—कषायसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति। जीवके कृष्ण आदि द्रव्यकी तरह भासमान परिणाम (आक ७५२)

लोक—सब द्रव्योंको आधार देनेवाला।

लोकभावना—चौदहराजूप्रमाण लोकस्वरूपका चिन्तन।

लोकसंज्ञा—शुद्धका अन्वेषण करनेसे तीर्थका उच्छेद होना संभव है, ऐसा कहकर लोक प्रवृत्तिमे आदर तथा श्रद्धा रखते हुए वैसा प्रवर्तन किये जाना, यह लोकसंज्ञा है। (अध्यात्मसार)

लोकस्थिति—लोकरचना।

लोकाग्र—सिद्धालय।

लौकिक अभिनिवेश—द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, दैहिक मान, कुल, जाति आदि सबधी मोह (आक ६७७)

लौकिकदृष्टि—ससारवासी जीवों जैसी दृष्टि। इस लोक अथवा ससारसे सम्बन्धित दृष्टि।

व

वक्रता—टेढ़ापन, असरलता।

वनिता—स्त्री।

वर्गणा—समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक कर्म परमाणुके समूहको वर्ग कहते है और ऐसे वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। (जैनसिद्धातप्रवेशिका)

वंचनाबुद्धि—सत्सग, सद्गुरु आदिमे सच्चे आत्मभावसे माहात्म्यबुद्धि होनी चाहिये सो नही होना, और अपने आत्मामे अज्ञानता ही निरतर चली आई है इसलिये उसकी अल्पज्ञता, लघुता विचारकर अमाहात्म्यबुद्धि करनी चाहिये सो नही करना। ठगनेकी बुद्धि। विशेषके लिये देखे आक ५२६।

वाचाज्ञान—कहनेमात्र ज्ञान, परतु आत्मामे जिसका परिणमन नही हुआ है। "सकल जगत ते ऐठवत् अथवा स्वप्न समान, ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान" (देखे आत्मसिद्धि दोहा १४०)

वारांगना—वेश्या।

वाल्मीकि—आदि कवि और रामायणके रचयिता।

वासना—मिथ्या विचार या इच्छा, सस्कार।

विकथा—खोटी कथा, ससारकी कथा। इसके चार भेद है—स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा, राजकथा।

विगमे वा—व्यय नाश होना। (मोक्षमाला, शिक्षापाठ ८७, ८८, ८९)

विचारदशा—'विचारवानके चित्तमे संसार कारागृह है, समस्त लोक दुःखसे आर्त्त है, भयाकुल है, रागद्वेषके प्राप्त फलसे जलता है।' ऐसे विचार जिस दशामे उत्पन्न हो वह विचारदशा। (आक ५३७)

विच्छेद—बीचमे क्रम टूटना, नाश, वियोग।

विचिकित्सा—जुगुप्सा, ग्लानि, सदेह।

विदेही दशा—देहके होते हुए भी जो अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमे रहता है ऐसे पुरुषकी दशा वह विदेहीदशा। जैसे श्रीमद् राजचन्द्र स्वय विदेहीदशावाले थे।

विपरिणाम—परिवर्तन, रूपातर, विपरीत परिणाम।

विपर्यास—विपरीत, मिथ्या।

विभंगज्ञान—मिथ्यात्वसहित अवधिज्ञान, कुअवधिज्ञान।

विभाव—रागद्वेषादि भाव, विशेष भाव, आत्मा स्वभावकी अपेक्षा आगे जाकर 'विशेषभाव' से परिणमे वह विभाव। (व्याख्यानसार १-२०५)

विमति—विशेष बुद्धि, मिथ्या बुद्धि।

विरोधाभास—दो बातोंमें दीख पडनेवाला विरोध; मात्र विरोधका आभास।

विवेक—सत्यासत्यको उनके स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है। (मोक्षमाला, शिक्षापाठ ५१)

विषयमूर्च्छा—पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति।

विसर्जन—परित्याग, छोडना।

विस्रसापरिणाम—सहज परिणाम।

वीतराग—जिसने सासारिक वस्तुओं तथा सुखोंके प्रति राग अथवा आसक्ति बिलकुल छोड़ दी है। सर्वज्ञ, केवली भगवान।

वीर—भ० महावीर, बलवान ।

वीर्य—शक्ति, बल, पराक्रम, सामर्थ्य ।

वीर्यांतरायकर्म—आत्मशक्तिमें बाधक कर्मका प्रकार ।

वृंद—समूह ।

वृत्ति—परिणति, परिणाम, स्वभाव, प्रकृति ।

वेद—नोकषायके उदयसे उत्पन्न हुई जीवकी मैथुन करनेकी अभिलाषाको भाववेद कहते हैं और नामकर्मके उदयसे आविर्भूत देहके चिह्नविशेषको द्रव्य-वेद कहते हैं । इस वेदके तीन भेद हैं, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद । (जैनसिद्धांतप्रवेशिका)

वेदनीयकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीव साता या असाता भोगे, सुखदु:खकी सामग्री प्राप्त करे ।

वेदान्त—वेदोंके अंतिम भाग (उपनिषद् तथा आरण्यक आदि) जिसमें आत्मा, ईश्वर, जगत आदिका विवेचन है, छह दर्शनोंमेंसे एक, जिसका उत्तरमीमांसामें समावेश हैं । (विशेष देखें आंक ७११)

वैराग्य—गृहकुटुंबादि भावमें अनासक्तबुद्धि होना । (आंक ५०६)

व्यतिरेक—साध्यके अभावमें साधनका अभाव, जैसे अग्निके अभावमें धूमका अभाव, भेद, भिन्नता ।

व्यवच्छेद—नाश, पृथकता, विभाग, खण्ड ।

व्यवहार—सामान्य बरताव ।

व्यवहार आग्रह—बाह्य वस्तु, बाह्य क्रियाका आग्रह । जैसे कि इतना तो अवश्य करना चाहिये ।

व्यवहारनय—जो अभेद वस्तुको भेदरूपसे ग्रहण करे ।

व्यवहारशुद्धि—आचारशुद्धि, शुद्ध आचरण, जो संसार प्रवृत्ति इस लोक और परलोकमें सुखका कारण हो उसका नाम व्यवहारशुद्धि है (आंक ४८)

व्यवहारसंयम—परमार्थसंयमके कारणभूत अन्य निमित्तोंके ग्रहण करनेको 'व्यवहारसंयम' कहा है । (आंक ६६४)

व्यसन—बुरी लत, खराब आदत । सामान्यरूपसे व्यसनके सात प्रकार है - जुआ, मांस, मदिरा, वेश्यागमन, शिकार, चोरी और परस्त्रीका सेवन । ये सातों व्यसन अवश्य त्यागने योग्य हैं ।

व्यंजनपर्याय—वस्तुके प्रदेशत्व गुणकी अवस्था (जैनसिद्धान्तप्रवेशिका)

व्यास—महाभारत और पुराणोंके रचयिता ।

श

शतक—सौका समुदाय ।

शतावधान—एक साथ सौ बातोंपर ध्यान देना (शतावधानके प्रकारके लिये देखें पृ० १३६)

शर्वरी—रात्रि ।

शंकर—महादेव, सुख देनेवाला ।

शाल्मलीवृक्ष—नरकके एक वृक्षका नाम ।

शास्त्र—वीतरागी पुरुषोंके वचन । धर्मग्रन्थ ।

शास्त्रकार—शास्त्र रचनार ।

शास्त्रावधान—शास्त्रमें चित्तकी एकाग्रता ।

शिक्षाबोध—न्यायनीतिका उपदेश, अच्छी शिक्षा ।

शिथिलकर्म—जो कर्म विचार आदिसे दूर किया जा सके ।

शुक्लध्यान—जीवोंके शुद्ध परिणामोंसे जो ध्यान होता है ।

शुद्धोपयोग—रागद्वेषरहित आत्माकी परिणति ।

शुभ उपयोग—मंदकषायरूप भाव । वीतरागपुरुषोंकी भक्ति, जीवदया, दान, संयम आदि रूप भाव ।

शुभद्रव्य—जिस पदार्थके निमित्तसे आत्मामें अच्छे—प्रशस्तभाव हो ।

शुष्कज्ञानी—जिसे भेदज्ञान न हो, कथनमात्र अध्यात्मवादी । (विशेषके लिये देखें आत्मसिद्धि दोहा ५,६)

शैलेशीकरण—पर्वतोंमें बड़ा जो मेरु उसके समान निश्चल, अचल । (व्याख्यानसार)

श्रमण—साधु, मुनि ।

श्रमणोपासक—श्रावक, वीतरागमार्गका उपासक गृहस्थ ।

श्रावक—ज्ञानीके वचनोंको सुननेवाला । (विशेष देखें पृष्ठ ७४२ उपदेशछाया)

श्रुतज्ञान—मतिज्ञानसे सम्बन्ध लिये हुए किसी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । जैसे—'घट' शब्द सुननेके अनन्तर उत्पन्न हुआ कम्बुग्रीवादिरूप घटका ज्ञान । (जैनसिद्धान्तप्रवेशिका)

श्रेणिक—भ० महावीरके समयमें मगधदेशका एक प्रतापशाली राजा, भ० महावीरका परम भक्त ।

श्रेणी—लोकके मध्यभागसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यग्दिशामें क्रमसे रेखाबद्ध रचनावाले प्रदेशोंकी पंक्ति; जहाँ चारित्रमोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंका क्रमसे

उपशम तथा क्षय किया जाय ऐसी आत्माकी उत्तरोत्तर वर्द्धमान होती हुई दशा।

श्रेयिक सुख—मोक्ष सुख।

श्वासोच्छ्वास—सास लेना और छोडना।

ष

षट्पद—आत्मा है, वह नित्य है, कर्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्षका उपाय है। (आक ४९३)

षट् सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, और श्रद्धा, ये वेदान्तमे षट् सम्पत्ति मानी गई है।

षड्दर्शन—(१) बौद्ध, (२) नैयायिक, (३) सांख्य, (४) जैन, (५) मीमासक, और (६) चार्वाक। (आक ७११)

षड्द्रव्य—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

स

सकाम—इच्छासहित।

सकामनिर्जरा—उदयकाल प्राप्त होनेसे पहले आत्माके पुरुषार्थ द्वारा जो कर्म आत्मासे अलग हो जाये वह सकामनिर्जरा है, इसे अविपाक निर्जरा भी कहते है।

सजीवनमूर्ति—देहधारी महात्मा।

सत्पुरुषार्थ—आत्माको कर्मबधनसे मुक्त कर सके ऐसा प्रयत्न।

सत्मूर्ति—ज्ञानीपुरुष।

सत्संग—जो सत्यका रग चढाये वह सत्सग है। (मोक्षमाला शिक्षापाठ २४), सन्मार्गमे अपनी जैसी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोका सग। (आक २४९)

सनातन—शाश्वत, अत्यन्त प्राचीन, अनादिकालसे चला आया हुआ।

सप्तदशविधि संयम—सत्रह प्रकारका सयम। हिंसादि पाँच पाप, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रिय, चार कषाय तथा मन-वचन-कायरूप तीन दण्डका निग्रह।

समकित—सम्यग्दर्शन। (आक ७१५ मूलमार्ग ७)

समदर्शिता—पदार्थमे इष्टानिष्ट-बुद्धिरहितता, इच्छा-रहितता और ममत्वरहितता। विशेष देखें पत्राक ८३०। शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार तिरस्कार आदि भावोके प्रति समता। (आत्मसिद्धि दोहा १०)

समय—कालका सूक्ष्मतम विभाग।

समवायसम्बंध—अभेद सम्बन्ध।

समश्रेणी—समभावकी चालू रहनेवाली परिणति।

समस्वभावी—समान स्वभावाले।

समाधिमरण—समतापूर्वक देहत्याग।

समिति—सावधानीपूर्वक गमनादि क्रियाओमे प्रवर्तन। (आंक ७६७ तथा व्याख्यानसार)

समुद्‌घात—मूल शरीरको छोडे बिना आत्माके प्रदेशोका बाहर निकलना। समुद्‌घातके सात भेद है —वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणातिक, तैजस, आहारक और केवलीसमुद्‌घात।

सरिता—नदी।

सलिल—पानी।

संज्वलनकषाय—यथाख्यातचारित्रको रोकनेवाला अधिकसे अधिक पन्द्रह दिनकी स्थितिवाला कषाय।

संज्ञा—ज्ञानविशेष, कुछ भी आगे-पीछेकी चिन्तनशक्ति-विशेष अथवा स्मृति। (आक ७५२)

संयति—सयममे प्रयत्न करनेवाला।

संयम—इन्द्रियों तथा मनको वश रखकर पृथ्वी आदि छहकायके जीवोकी रक्षा करना, आत्माकी अभेद चितना, सर्वभावसे विराम पानेरूप। (विशेष देखें आक ६६४, ७६७, ८६६)

संयमश्रेणी—सयमके गुणकी श्रेणी।

संवत्सरी—वर्षसम्बन्धी, वार्षिक उत्सव।

संवर—आते हुए कर्मोको रोकना, कर्मोके आनेके द्वार बध कर देना।

संवृत—संवरसहित, आस्रवका निरोध करनेवाला।

संवेग—वैराग्यभाव, मोक्षकी अभिलाषा, धर्म और धर्मके फलमे प्रीति।

संसार—जीवोके परिभ्रमणका स्थान; वह चार गतिरूप है।

संसारानुप्रेक्षा—ससार अपार दुःखरूप है उसमें यह जीव अनादिकालसे भटक रहा है, ऐसा विचार करना।

संसाराभिरुचि—ससारके प्रति तीव्र आसक्ति।

संस्थान—आकार।

संहनन—शरीरमे हाड आदिका बंधनविशेष—गठन।

साखी—ज्ञानसम्बंधी दोहे या पद्य।

सातावेदनीय—जिस कर्मके उदयसे जीवको सुखकी सामग्री मिले।

साधु—जो आत्मदशाको साधे, सज्जन, सामान्यतः गृहवासका त्यागी, मूलगुणोका धारक।

सामायिक—समभावका लाभ, मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे हिंसादि पाच पापोका त्याग करना, दो घडी तक समताभावमे रहना।

सिद्ध—आठ कर्मोसे मुक्त शुद्धात्मा, सिद्ध परमेष्ठी।

सिद्धांतबोध—पदार्थका जो सिद्ध हुआ स्वरूप है, ज्ञानीपुरुषोंने निष्कर्षसे जिस प्रकारसे अन्तमे पदार्थको जाना है, वह जिस प्रकारसे वाणी द्वारा कहा जा सके उस प्रकार बताया है, ऐसा जो बोध है वह 'सिद्धान्तबोध' है। (आक ५०६)

सिद्धि—कार्य पूर्ण होना, सफलता, निश्चय, निर्णय, प्रमाणित होना, मुक्ति, योगकी अष्ट सिद्धियाँ मानी गई हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

सिद्धिमोह—सिद्धियाँ प्राप्त करने और चमत्कार दिखानेका लालच।

सुखद—सुख देनेवाला।

सुखाभास—कल्पित सुख, सुख नही होनेपर भी सुख जैसा लगना।

सुधर्मास्वामी—भ० महावीरके एक गणधर, इनके रचे हुए आगम वर्तमानमें विद्यमान है।

सुधारस—मुखमें झरनेवाला एक प्रकारका रस, जिसे आत्मस्थिरताका साधन माना है, अनुभवरस।

सुलभबोधि—जिसे सहजमें सम्यग्दर्शन हो सके।

सूर्यपुर—सूरतका पुराना नाम।

सोपक्रम आयुष्य—शिथिल, जिसे एकदम भोग लिया जाये। (व्याख्यानसार)

स्कंध—दो अथवा दोसे अधिक परमाणुओंके समूहको स्कध कहते हैं।

स्तंभतीर्थ—खंभातका ऐतिहासिक नाम।

स्त्रीवेद कर्म—जिस कर्मके उदयसे पुरुषसयोगकी इच्छा हो।

स्थविरकल्प—जो साधु वृद्ध हो गये है उनके लिये शास्त्रमर्यादासे वर्तन करनेका बाँधा हुआ—निश्चित किया हुआ मार्ग या नियम। (पृ० ७९५ व्याख्यानसार)

स्थितप्रज्ञदशा—मनमे रही हुई सर्व वासनाओंको जीव छोड दे और अन्तरात्मामे ही सतुष्ट रहकर आत्मस्थिरता पाये ऐसी दशा। (गीता अ० २)

स्थितिबंध—कर्मकी काल मर्यादा।

स्थितिस्थापकदशा—वीतरागदशा, मूलस्थितिमे फिरसे आ जाना।

स्यात्पद—कथचित्, किसी एक प्रकारसे। उभयनय विरोधध्वसिनि स्यात्पदाके० (देखे समयसार कलश-४)

स्याद्वाद—प्रत्येक वस्तु अनेकात अर्थात् अनेक धर्मसहित होती है, वस्तुके उन धर्मोको लक्षमे रखते हुए वर्तमानमे पदार्थके किसी एक धर्मको कहना स्याद्वाद या अनेकातवाद है।

स्व उपयोग—आत्माका उपयोग।

स्वच्छंद—अपनी इच्छानुसार चलना। "परमार्थका मार्ग छोडकर वाणी कहता है यही अपनी चतुराई, और इसीको स्वच्छद कहा है। (पृ० ७०८ उपदेशछाया)

स्वद्रव्य—अनतगुणपर्यायरूप अपना आत्मा ही स्वद्रव्य है। (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके लिये देखे पृष्ठ ८०१, आभ्यतरपरिणामावलोकन क्रम ७)

स्वधर्म—आत्माका धर्म, वस्तुका अपना स्वभाव।

स्वसमय—अपना दर्शन, मत, अपना शुद्ध आत्मा, अपने स्वभावमे परिणमनरूप अवस्था।

स्वात्मानुभव—स्वसवेदन, अपने आत्माका अनुभव, एक सम्यक् उपयोग हो तो स्वयको अनुभव हो जाता है कि कैसी अनुभवदशा प्रगट होती है।
(पृ० ७३७ उपदेशछाया)

ह

हस्तामलकवत्—हाथमे लिये हुए आँवलेकी तरह; स्पष्ट।

हावभाव—शृगारयुक्त चेष्टा।

हुंडावसर्पिणीकाल—अनेक कल्पोके बाद आनेवाला भयकरकाल, जिसमे धर्मकी विशेष हानि होकर मिथ्या धर्मोका प्रचार होता है।

हेय—तजने योग्य पदार्थ।

परिशिष्ट ६

सूची—१

विशेष नाम

(यहाँ पृष्ठांक दिये गये हैं। कोष्ठक ( ) में दिये हुए पृष्ठांक फुटनोटके सूचक हैं।)

सूची २
ग्रंथनाम

सूची ३

स्थल नाम

सूची ४
विषयसूची

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	१४	भागना	भोगना	५८९	२१	भिन्न	सर्वथा भिन्न
२४	अंतिम	ऐसा	मैने ऐसा	६९७	१८	भुलानेके	भुलावेके
१२८	३०	होती	होता	७०८	१८	दिशा	दशा
१३६	११	अथ	अर्थ	,,	२१	करना	करता
२४८	१	२३वाँ वर्ष	२४वाँ वर्ष	,,	२४	वभावदशा	विभावदशा
२५७	२५	कालमे जन्मा	कालका जन्मा	७०९	१	वृत्तिका	वृत्तिका
,,	२७	आ सब	हुआ सब	७१०	२७	धका	बधका
२८०	२२	मुमुक्षु	मुमुक्षुता	७:६	१३	नही	न
२८१	३४	परच्छानुचारी	परेच्छानुचारी	७२०	९	गाडंमे	छकडंमे
३२२	१२	१२५	३२५	७२५	२३	ज्ञानका	ज्ञानको
३३४	९	प्राणविनियम	प्राणविनिमय	७४१	६	बचाता	चबाता
४10	१३	५०२	[1]५०२	७६९	३४	बदल भातर	बदले भीतर
४४८	७	ज्ञानको ज्ञानीकी	ज्ञानीको ज्ञानकी	७८०	१२	हुन्नर	हुनर
				७९६	३५	वीर्य दी	वीर्य दो
५६३	१	आकार	आकर	८२७	१८	किस तरह	भी किस तरह
५६९	३४	सान	सात	८४०	१५	कम्मविभाग	कम्मविवाग